हीरक जयंती ग्रंथ

संपादक

श्रीकृष्ण लाल

करुणापति त्रिपाठी



नागरीप्रचारिणी सभा, काशी

संवत् २०११ वि०

[मध्यप्रदेश सरकार के अनुदान से प्रकाशित]

प्रकाशक : नागरीप्रचारिणी सभा, काशी

मुद्रक : महताब राय, नागरी मुद्रण, काशी

प्रथम संस्करण, सं० २०११ वि०, १००० प्रतियाँ

मूल्य १०)

नागरीप्रचारिणी सभा के अन्यतम संस्थापक

स्व० डॉ० श्यामसुंदर दास



जन्म : आषाढ़ शु० ११, सं० १९३२ निधन : श्रावण कृ० ३०, सं० २००२

आभार

नागरीप्रचारिणी सभा, काशी की हीरक जयंती की योजना प्रारंभ करने के समय यह निश्चय किया गया था कि उस अवसर पर एक 'जयंती ग्रंथ' का प्रकाशन किया जाय। इसका उद्देश्य यह था कि इस ग्रंथ में सभा के गत साठ वर्षों के कार्यों का संक्षिप्त विवरण, जयंती-समारोह-कार्यक्रम का उल्लेख तथा हिंदी एवं अन्य भारतीय भाषाओं और साहित्य के विगत साठ वर्षों का सिंहावलोकन किया जायगा। सभा अपने जीवन के प्रारंभ से ही हिंदी के साथ साथ समस्त भारत की सांस्कृतिक एकता और सामंजस्य का प्रचार करती रही है और यह मानती रही है कि भारत की समष्टि के विकास और उन्नयन से ही नागरी और हिंदी का विकास और उन्नयन संभव है। सभा की धारणा में नागरी और हिंदी उस एकता और सामंजस्य के प्रतीक और माध्यम हैं। उनके द्वारा इस जयंती ग्रंथ में समस्त भारत की भारती मुखरित हुई है।

इस ग्रंथ के निर्माण और प्रकाशन में भारत के सभी प्रदेशों के विद्वानों की सहायता और प्रोत्साहन प्राप्त हुए हैं। सभा उन सभी के प्रति चिरऋणी है। जयंती कार्यक्रम के कार्याध्यक्ष आचार्य पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी के प्रयास और प्रभाव से ही यह ग्रंथ इस रूप में निकल सका; इसलिये हम उनके कृतज्ञ हैं। जयंती ग्रंथ के संपादकद्वय श्री डॉ० श्रीकृष्णलाल तथा पं० करुणापति त्रिपाठी ने इस ग्रंथ के संपादन में अथक परिश्रम और कार्यकुशलता का परिचय दिया। इसके लिये हम उनको हार्दिक आभार अर्पित करते हैं। सहायक मंत्री श्री शंभुनाथ वाजपेयी, मुद्रण तथा कार्यालय ने जिस तत्परता से इस ग्रंथ के लिये काम किया है, वह सराहनीय है।

मध्य भारत की सरकार द्वारा इस समय जो हिंदी की सेवा हो रही है वह देश-प्रसिद्ध है। प्रस्तुत जयंती ग्रंथ उसके उदार अनुदान से ही प्रकाशित हो रहा है। इस सहज, ठोस तथा सामयिक सहायता के लिये सभा सदैव कृतज्ञ रहेगी।

८ चैत्र, २०११

राजबली पांडेय
प्रधान मंत्री

संपादकीय वक्तव्य

दो शब्द

नागरीप्रचारिणी सभा का हीरक जयंती ग्रंथ निर्धारित समय से एक वर्ष पश्चात् प्रकाशित हो रहा है, इसके लिये क्षमा-याचना करते हुए भी हमें संतोष है कि अनेक कठिनाइयों का सामना करके हम इसे प्रस्तुत रूप में निकालने में समर्थ हो सके हैं। जिस समय इस ग्रंथ की योजना बन रही थी उस समय हमें इन कठिनाइयों की कल्पना भी न थी। इसीलिये सोचा गया था कि दो-तीन मास में ही यह ग्रंथ प्रकाशित हो जायगा। परंतु जब प्रकाशन प्रारंभ हुआ और लगभग ४०० पृष्ठ की छपाई भी हो गई तब पता चला कि इसी गति से कार्य होता रहा तो ग्रंथ निर्धारित समय तक छप तो अवश्य जायगा, परंतु वह पाठकों को कितना संतोष दे सकेगा इसमें पूरा संदेह था, कारण, हीरक जयंती के अन्य अतिव्यस्त कार्यक्रम के साथ इस ग्रंथ की छपाई में मुद्रण की त्रुटियाँ असह्य होती गईं। मुद्रण की त्रुटियों का एक सीधा-सा कारण यह था कि दक्षिण की भाषाओं के जो विगत साठ वर्षों के विवरण प्राप्त हुए थे उनके हस्तलेखों में कवियों, लेखकों, पत्र-पत्रिकाओं के नाम तथा लेख के अंतर्गत उद्धृत अन्य भाषाओं के उद्धरणों को ठीक-ठीक बाँचने और समझने की क्षमता न तो मुद्रण के कर्मचारियों और अधिकारियों में थी और न ग्रंथ के संपादकों में। लेखकों के पास प्रूफ संशोधन के लिये सामग्री भेजने का समय नहीं था, अस्तु, मुद्रण की अशुद्धियाँ जब इस सीमा पर पहुँच गईं कि उन्हें पाठकों के पास भेजना उचित नहीं जान पड़ा, तब मुद्रण की गति धीमी कर देनी पड़ी। इतना ही नहीं, कुछ लेख तो फिर से छपाने पड़े और इसीलिये इसके प्रकाशन में इतना अधिक विलंब हुआ। इतना होने पर भी प्रस्तुत ग्रंथ में अशुद्धियाँ या त्रुटियाँ नहीं हैं या कम हैं इसका दावा भी हम नहीं कर सकते।

मूल योजना के अनुसार हीरक जयंती ग्रंथ में निम्न बातों का समावेश करना निश्चित हुआ—

(१) नागरीप्रचारिणी सभा के विगत ६० वर्षों का सिंहावलोकन,
(२) हिंदी-साहित्य के विगत ६० वर्षों का सिंहावलोकन,
(३) भारत की प्रांतीय भाषाओं के विगत साठ वर्षों का सुलभ इतिहास,
तथा (४) विश्व साहित्य के विगत साठ वर्षों का संक्षिप्त विवरण।

परंतु आगे चलकर प्रांतीय भाषाओं—तमिल, तेलुगु, मलयालम, कन्नड, मराठी, गुजराती, बँगला, उड़िया, असमिया और पंजाबी—के अतिरिक्त संस्कृत, उर्दू और नेपाली को भी संमिलित करने का निश्चय किया गया। संस्कृत आधुनिक भारतीय भाषाओं में अधिकांश की जननी है और जिनकी जननी नहीं है उन्हें भी उसने प्रभावित अवश्य किया है; अस्तु, संस्कृत का भी एक संक्षिप्त विवरण देना उचित जान पड़ा। विश्व-साहित्य के स्थान पर आधुनिक यूरोपीय साहित्य के विगत ६० वर्षों का विवरण देना अधिक उपयोगी जान पड़ा। कारण यह था कि एक तो विश्व-साहित्य का विवरण

संक्षिप्त होने पर भी उसके पर्याप्त बड़े होने की संभावना थी, दूसरे विश्व-साहित्य के संक्षिप्त विवरण लिखनेवाले विद्वानों से संपर्क स्थापित करना दुस्साध्य जान पड़ा, तीसरे आधुनिक भारतीय भाषाओं पर अधिकांश प्रभाव यूरोपीय साहित्य का ही पड़ा है।

परिशिष्ट में हीरक जयंती महोत्सव का कार्यक्रम, स्वागताध्यक्ष माननीय श्री डा० संपूर्णानंद का स्वागत-भाषण, तत्रभवान् राष्ट्रपति श्री डा० राजेंद्रप्रसाद का उद्घाटन भाषण, माननीय पं० गोविंद वल्लभ पंत की शुभाशंसा तथा विविध संमेलनों के उद्घाटनकर्त्ता, अध्यक्ष और संयोजकों के भाषण भी संमिलित कर दिए गए जिससे उन पाठकों को भी उनके महत्वपूर्ण और प्रेरक विचार उपलब्ध हो सकें जिन्हें जयंती महोत्सव में उपस्थित होने का सुअवसर प्राप्त नहीं हो सका।

हीरक जयंती ग्रंथ का प्रकाशन विविध लेखकों के अमूल्य सहयोग से ही संभव हो सका है। जिन लेखकों से लेख के लिये प्रार्थना की गई उन्होंने कार्यव्यस्त रहते हुए भी हमें अपने लेखों से सहायता की इसके लिये हम उनके प्रति कृतज्ञ हैं। असमिया और मलयालम भाषा के विवरण प्रयत्न करने पर भी हमें समय पर उपलब्ध न हो सके। असमिया का एक संक्षिप्त विवरण डा० राकेश गुप्त ने हमारे अनुरोध पर पी० ई० एन० के तत्वावधान में हुए अखिल भारतीय लेखक संमेलन, जयपुर में श्री नीलमणि फूकन द्वारा पढ़े गए अंग्रेजी निबंध के आधार पर प्रस्तुत कर दिया, परंतु मलयालम का विवरण अंत तक हमें न मिल सका। इसके लिये हमें खेद है।

प्रस्तुत ग्रंथ में हमें सभी लेखकों का जो अमूल्य सहयोग प्राप्त हुआ है उसके लिये एक बार हम फिर अपना आभार प्रदर्शन करते हैं।

नागरीप्रचारिणी सभा, काशी
१५ चैत्र, सं० २०११ वि०

श्रीकृष्ण लाल
करुणापति त्रिपाठी

विषय-सूची

परिशिष्ट

नागरीप्रचारिणी सभा के विगत ६० वर्षों का सिंहावलोकन

निवेदन

हीरक जयंती के अवसर पर सभा के गत साठ वर्षों के इतिहास का सिंहावलोकन करने में विशेष प्रकार के आनंद का अनुभव हो रहा है। एक छोटे प्रारंभ से क्रमशः सभा के वर्तमान विस्तार तक एक मनोरंजक कहानी है। अपने स्वल्प साधनों से अनेक कठिनाइयों का सामना करते-करते, सभा ने अपना वर्तमान रूप ग्रहण किया है। नागरी और हिंदी राज्य तथा जीविकार्थी वर्ग से तिरस्कृत एवं उपेक्षित थी। परंतु इसके पीछे कोटि-कोटि जनता का बल तथा आशीर्वाद था और तपस्वी साहित्यिकों की साधना। इसी शक्ति और संबल को लेकर सभा अपने पथ पर आगे चलती रही है। पिछले साठ वर्षों में देश में अनेक प्रकार के राजनैतिक तथा सांस्कृतिक आंदोलन चलते रहे हैं, जिनकी सभा के ऊपर छाप है और जिन्हें सभा अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित भी करती रही है। आज परम संतोष है कि हिंदी भाषा राष्ट्रभाषा स्वीकृत हो चुकी है और इस राज्य तथा शासन से प्रश्रय तथा प्रोत्साहन मिल रहा है। सभा की सफलताएँ और विफलताएँ देश और समाज की सफलताएँ और विफलताएँ हैं। किंतु इस शुभ और पवित्र अवसर पर हम कृतसंकल्प हैं सभा की साहित्यिक परंपरा की रक्षा करने के लिये और इसके भावी संवर्द्धन तथा विकास के लिये।

इस वर्ष के कार्यों में हीरक जयंती समारोह का कार्य प्रमुख रहा है। इसको सफल बनाने में देश के उन्नायकों, साहित्यिकों तथा श्रीमंतों का विशेष हाथ रहा है। सभा की साधारण - सभा, प्रबंध समिति, हीरक जयंती उपसमिति, संयोजक समितियाँ, कार्यालय, मुद्रणालय आदि सभी का पूरा सहयोग इसमें प्राप्त हुआ है। एतदर्थ इन सभी के हम आभारी हैं।

राजबली पांडेय
प्रधान मंत्री

सभा के संस्थापक—

१. श्री बाबू श्यामसुंदर दास २. श्री पं० रामनारायण मिश्र ३. श्री ठा० शिवकुमार सिंह

पूर्व सभापति—

श्री राधाकृष्ण दास
श्री लक्ष्मीशंकर मिश्र
श्री सुधाकर द्विवेदी
श्री आदित्यराम भट्टाचार्य
श्री गौरीशंकर हीराचंद ओझा
श्री पं० मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या
श्री श्यामविहारी मिश्र
श्री श्यामसुंदर दास
श्री गौरीशंकर प्रसाद
श्री महावीरप्रसाद द्विवेदी
श्री काशीप्रसाद जायसवाल
श्री रामनारायण मिश्र
श्री पंड्या बैजनाथ
श्री रामचंद्र शुक्ल
श्री शिवकुमार सिंह
श्री कमलाकर द्विवेदी
श्री संपूर्णानंद
श्री मैथिलीशरण गुप्त
श्री राय कृष्णदास
श्री आचार्य नरेंद्रदेव
श्री आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी
श्री रा० ब० डा० हीरालाल

वर्तमान प्रबंध समिति—

सभापति श्री पं० अमरनाथ झा, **उपसभापति (१)** श्री पं० गुरुसेवक उपाध्याय **उपसभापति (२)** श्री ठा० शिवकुमार सिंह, **प्रधान मंत्री** श्री डॉ राजबली पांडेय, **साहित्य मंत्री** श्री डॉ श्रीकृष्णलाल, **अर्थ मंत्री** श्री मुरारीलाल केडिया, **प्रकाशन मंत्री** श्री कृष्णानंद, **प्रचारमंत्री** श्री पं० करुणापति त्रिपाठी

सदस्य—

श्री आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी
श्री पं० बलराम उपाध्याय
श्री आचार्य नरेंद्रदेव
श्री सुधाकर पांडेय
श्री मोसी सिंह
श्री मैथिलीशरण गुप्त
श्री गोपालचंद्र सिंह
श्री मोतीलाल मेनारिया
श्री मेघराज मुकुल
श्री डॉ दशरथ ओझा
श्री सर्वजीत
श्री ना० नागप्पा
श्री ए० जी० शिरफ
श्री रैल्फ टर्नर
श्री डॉ राकेश गुप्त
श्री डॉ रमाशंकर त्रिपाठी
श्री डॉ वासुदेवशरण अग्रवाल
श्री प्रतापनारायण सिंह
श्री देवीनारायण
श्री डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या
श्री शिवराम उपाध्याय
श्री अशोक जी
श्री डॉ० बाबूराम सक्सेना
श्री विद्याधर शास्त्री
श्री जगन्नाथ पुच्छरत
श्री शिवपूजन सहाय
श्री डॉ० ओम् प्रकाश
श्री पं० बलदेव उपाध्याय
श्री उदयशंकर शास्त्री
श्री सहदेव सिंह
श्री लक्ष्मीनारायण गर्दे
श्री चंद्रबली पांडेय
श्री डॉ० मोतीचंद
श्री पं० नंददुलारे वाजपेयी
श्री पं० श्रीनारायण चतुर्वेदी
श्री डॉ धीरेंद्र वर्मा
श्री महाराजकुमार डॉ० रघुवीरसिंह
श्री शांतिप्रिय आत्माराम
श्री सत्यनारायण
श्री श्रीप्रकाश

नागरीप्रचारिणी सभा के विगत ६० वर्षों का सिंहावलोकन

१—स्थापना

सभा का बीज-वपन आज से साठ वर्ष पूर्व क्वींस कालीजिएट स्कूल की पाँचवीं कक्षा में पढ़नेवाले कतिपय उत्साही छात्रों ने किया था, जिनका मूल उद्देश्य एक वाद-समिति की स्थापना करना था। उन्होंने स्थिर किया था कि नागरी-प्रचार को उद्देश्य बनाकर एक सभा की स्थापना की जाय। और इस निश्चय के अनुसार २७ फाल्गुन, १९४९ (१० मार्च, १८९३) को सभा की स्थापना हुई, जिस का नाम 'नागरीप्रचारिणी सभा' रखा गया। उस समय सर्वश्री गोपालप्रसाद खत्री, रामसूरत मिश्र, उमराव सिंह, शिवकुमार सिंह तथा रामनारायण मिश्र उसके प्रमुख कार्यकर्ता थे।

सभा की लोकप्रियता बढ़ने से उसे छात्रावास से बाहर आ नगर में स्थान ढूँढ़ना पड़ा और श्री जीवनदास जी के एक कमरे में उसे आश्रय मिला। ग्रीष्मावकाश भर सभा का कार्यक्रम स्थगित रहा, परंतु ग्रीष्मावकाश समाप्त होने पर २५ आषाढ़, १९५० वि० (९ जुलाई, सन् १८९३ ई०) को पुनः सब लोग श्री जीवनदास के कमरे में एकत्र हुए। उस दिन श्री गोपालप्रसाद और श्री रामनारायण मिश्र के उद्योग से कई नए सज्जन सभा में पधारे जिनमें श्री श्यामसुंदरदास का नाम विशेष उल्लेखनीय है।

उस दिन कुछ सज्जनों ने सभा का नाम और कार्य-प्रणाली बदल देने के लिये अपने प्रस्ताव उपस्थित किए, जिन पर बहुत वाद-विवाद हुआ। वाद-विवाद दूसरी बैठक ३२ आषाढ़,१९५० (१६ जुलाई १८९३) में भी चलता रहा। अंत में जो निश्चय हुआ उसका सारांश यह था—

१—सभा का नाम 'नागरीप्रचारिणी सभा' ही रहे।

२—इसके स्थापनकर्ता श्री गोपालप्रसाद माने जायँ।

३—उद्देश्य और नियम परिवर्त्तित तथा परिवर्द्धित किए जायँ।

४—सभा का जन्म दिन ३२ आषाढ़, सं० १९५० वि० (१६ जुलाई, १८६३ ई०) माना जाय।

५—श्री श्यामसुंदरदास सभा के मंत्री बनाए जायँ।

इसी निश्चय के अनुसार नागरीप्रचारिणी सभा का जन्म ३२ आषाढ़, १९५० वि० (१६ जुलाई, १८९३ ई०) माना जाता है। इससे पहले भी यद्यपि इसका नाम नागरी-प्रचारिणी सभा ही था और हिंदी-हित-साधन के बीज इसमें विद्यमान थे, तथापि उस समय

यह स्कूली छात्रों की वाद-समिति मात्र थी। सभा का जो रूप हम आज देख रहे हैं, वास्तव में उसकी रूपरेखा ३२ आषाढ़, १९५० (१६ जुलाई, सन् १८९३ ई०) की बैठक में ही बना।

श्री श्यामसुंदरदास के मंत्रिपद स्वीकार करते ही इस बात का उद्योग होने लगा कि भारतेंदुजी के अनुयायी तथा अन्य सभी हिंदी-हितैषी विद्वान् सभा में संमिलित किए जायं। उसे बाल-सभा मात्र समझ कर बड़े बूढ़े आने में संकोच करते थे, परंतु सदस्यों के उद्योग से वे क्रमशः आकृष्ट होने लगे और इस प्रकार सभा को अपनी शैशवावस्था में ही सर्वश्री राधाकृष्णदास, महामहोपाध्याय सुधाकर द्विवेदी, रायबहादुर लक्ष्मीशंकर मिश्र, डाक्टर छन्नूलाल और रायबहादुर प्रमदादास मित्र जैसे हिंदी-हितैषी प्रतिष्ठित विद्वान् पथ-प्रदर्शक के रूप में प्राप्त हो गए। धीरे धीरे सभा अपनी ओर भारत भर के हिंदी-प्रेमियों का ध्यान खींचने लगी। सर्वश्री महामना मदनमोहन मालवीय, कालाकांकर-नरेश राजा रामपाल सिंह, राजा शशिशेखर राय, कांकरौली-नरेश महाराज बालकृष्ण लाल, अंबिकादत्त व्यास, बदरीनारायण चौधरी, राधाचरण गोस्वामी, श्रीधर पाठक, ज्वालादत्त शर्मा (लाहौर), नंद-किशोरदेव शर्मा (अमृतसर) कुँवर जोधसिंह मेहता (उदयपुर), समर्थदान (अजमेर), डाक्टर ग्रियर्सन जैसे अनेक लब्धप्रतिष्ठ विद्वानों ने पहले ही वर्ष सभा की संरक्षकता और सदस्यता स्वीकार कर ली।

सभा ने आरंभ में ही जिन कार्यों को अपने हाथ में लेने का विचार किया उनमें से कुछ ये हैं—

१—हिंदी की प्राचीन हस्तलिखित पुस्तकों की खोज कराना।
२—हिंदी के एक बड़े कोश का निर्माण कराना।
३—प्रमुख हिंदी लेखकों और पत्र-संपादकों के जीवनचरित तैयार कराना।
४—हिंदी हस्तलिपि की परीक्षा आरंभ करना।
५—हिंदी भाषा के इतिहास का निर्माण कराना।
६—हिंदी उपन्यासों का इतिहास लिखाना।
७—भारतवर्ष का इतिहास तैयार कराना।
८—यात्राओं के वर्णन तैयार कराना।
९—हिंदी भाषा के सामयिक पत्रों का इतिहास लिखाना।
१०—विज्ञान संबंधी भिन्न भिन्न विषयों के ग्रंथ लिखाना।
११—हिंदी के प्राचीन पद्यग्रंथों को प्रकाशित कराना।

इस प्रकार सभा ने हिंदी की ठोस सेवा करने का उद्योग स्थापना के प्रथम वर्ष से ही आरंभ कर दिया और इस पथ पर पूर्ण वेग से अग्रसर हो चली। एक के पूरे होने के पहले ही दूसरा महत्वपूर्ण काम हाथ में लिया जाने लगा। कार्यों की यह शृंखला आज तक अटूट चली आ रही है।

सभा की स्थापना में यद्यपि अनेक छात्रों ने योग दिया था, पर दो तीन वर्ष बीतते न बीतते यह छात्र-मंडली बिखरने लगी। श्री श्यामसुंदरदास के अतिरिक्त श्री शिवकुमार सिंह और श्री रामनारायण मिश्र ये ही दो सज्जन ऐसे थे जो सभा की स्थापना से लेकर

जीवन पर्यंत सभा की सक्रिय सेवा करते रहे। इस त्रिमूर्ति ने सभा का पालन-पोषण अपनी संतान के समान किया तथा अनेक कठिनाइयों से इसे उबारा। इसीलिये ये तीनों सभा के संस्थापक ही नहीं, पालक और पोषक भी हैं। इसी कारण सभा के संस्थापक होने का श्रेय इस त्रिमूर्ति को ही प्राप्त है।

२—राजभाषा तथा राजलिपि

(१) संयुक्त प्रदेश के न्यायालयों में नागरी

नागरी-प्रचार के उद्देश्य से ही इस सभा की स्थापना की गई थी और प्रथम वर्ष से ही इसके प्रत्येक पक्ष पर सभा ने ध्यान देना आरंभ कर दिया था। सन् १८३७ में अँग्रेजी सरकार ने फारसी को सर्वसाधारण के लिये दुरूह मानकर देशी भाषा जारी करने की आज्ञा दी जिसके फलस्वरूप बंगाल में बँगला, उड़ीसा में ओड़िया, गुजरात में गुजराती और महाराष्ट्र में मराठी में काम होने लगा। संयुक्तप्रांत, बिहार और मध्य-प्रदेशमें 'हिंदुस्तानी' जारी की गई। परंतु उस समय अँग्रेज हाकिमों को अदालती अमलों ने अपनी सुविधा और स्वार्थ-सिद्धि के लिये यह समझा दिया कि उर्दू ही हिंदुस्तानी है और इस प्रकार इन प्रांतों में उर्दू अदालती भाषा हो गई। प्रयत्न करने पर बिहार और मध्य प्रदेश की सरकारों ने सन् १८८१ में इस भ्रम को समझा और अपने यहाँ उर्दू के स्थान पर हिंदी प्रचलित की, पर संयुक्त प्रांत की सरकार ने इस ओर विशेष ध्यान नहीं दिया। नागरी-प्रचार के अन्य कार्यों के साथ सभा का ध्यान इस ओर भी गया और उसने इसके लिये उद्योग आरंभ कर दिया। सन् १८८२ में प्रांतीय बोर्ड आव् रेवेन्यू का ध्यान इस बात की ओर आकृष्ट किया गया था कि सन् १८७५ और १८८१ के क्रमशः १९ वें और १२ वें विधानों के अनुसार 'समन' आदि हिंदी और उर्दू दोनों में भरे जाने चाहिएँ। दो वर्ष तक इसका कोई उत्तर नहीं मिला। अतः प्रांतीय सरकार के पास निवेदनपत्र भेजा गया। सन् १८९४ के नवंबर मास (सं० १९५१) में प्रांतीय गवर्नर काशी आने वाले थे। सभा ने उन्हें एक अभिनंदन-पत्र देना निश्चित किया, जिसमें हिंदी भाषा के साथ न्याय करने और सभा की उद्देश्य-पूर्ति में सहायता करने की प्रार्थना की गई थी। किंतु किन्हीं कारणों से उनका आगमन नहीं हो सका, अतएव अभिनंदन-पत्र उनके पास डाक से भेज दिया गया। गवर्नर की ओर से जो उत्तर मिला था उसका आशय था कि—

"गवर्नर महादेय ने अभिनंदनपत्र रुचिपूर्वक पढ़ा। इसमें जिस मुख्य प्रश्न की चर्चा की गई है, अर्थात् अदालती भाषा उर्दू की जगह हिंदी कर दी जाय, उसपर गवर्नर महोदय अपनी कोई संमति अभी प्रकट नहीं कर सकते। फिर भी वे यह अवश्य स्वीकार करते हैं कि सभा की प्रार्थना ध्यानपूर्वक विचार करने योग्य है और वे भविष्य में समुचित अवसर पर उसपर अवश्य विचार करेंगे।"

इन्हीं दिनों रोमन लिपि को दफ्तर की लिपि बनाने का भी कुछ प्रयत्न आरंभ हुआ था। इसपर सभा ने अपने ६ भाद्रपद, सं १९५२ (२५ अगस्त, १८९५) के निश्चयानुसार नागरीलिपि और रोमन अक्षरों के विषय में एक पुस्तिका तैयार करके अँग्रेजी में प्रकाशित की और सरकारी पदाधिकारियों तथा जनता में

इसकी कई सौ प्रतियां वितरित कराई। इसमें अनेक उदाहरणों और प्रमाणों से सिद्ध किया गया था कि शुद्धता, सरलता और उपयोगिता की दृष्टि से यहाँ की अदालतों के लिये नागरी लिपि ही सर्वोत्तम है। इस उद्योग का फल यह हुआ कि बोर्ड आव रेवेन्यू विषयक सभा की प्रार्थना सरकार ने स्वीकार कर ली और सब जिलों के अधिकारियों को सूचना दे दी गई कि बोर्ड आव रेवेन्यू के समन आदि सब कागज हिंदी में भी जारी किए जायँ।

इस सफलता से उत्साहित होकर इस कार्य को और अधिक आगे बढ़ाने के उद्देश्य से सभा ने १८ श्रावण, १९५३ वि० (३ अगस्त, १८९६) को निश्चय किया कि प्रांतीय गवर्नर की सेवा में प्रतिनिधि-मंडल भेजकर निवेदन पत्र (मेमोरियल) उपस्थित किया जाय, जिसमें प्रार्थना की जाय कि संयुक्त प्रांत के राजकीय कार्यालयों में देवनागरी लिपि को स्थान दिया जाय। मिर्जापुर, गाजीपुर, बलिया, गोरखपुर, गोंडा, बहराइच, बस्ती, फैजाबाद, लखनऊ, कानपुर, बिजनौर, इटावा, मेरठ, सहारनपुर, मुजफ्फरनगर, झांसी ललितपुर, जालौन आदि नगरों में इस मेमोरियल पर लगभग साठ हजार व्यक्तियों के हस्ताक्षर कराए गए।

सभा के इस उद्योग में महामना श्री मदनमोहन मालवीय ने, जो उस समय इलाहाबाद हाईकोर्ट में वकालत करते थे, बहुत परिश्रम किया था। सबसे बड़ा काम जो उन्होंने इस विषय में किया वह उनका 'कोर्ट कैरेक्टर ऐंड प्राइमरी एजुकेशन' नामक एक बड़ा निबंध है, जिसे उन्होंने दो वर्ष के परिश्रम से तैयार किया था। प्रतिनिधि-मंडल १८ फाल्गुन सं १९५४ (२ मार्च, १८९८) को इलाहाबाद के गवर्नमेंट हाउस में प्रांत के गवर्नर सर ऐंटानी मैकडानेल से मिला और इनके संमुख साठ हजार हस्ताक्षरों की सोलह जिल्दों तथा मालवीयजी के 'कोर्ट कैरेक्टर ऐंड प्राइमरी एजुकेशन' की एक प्रति के साथ निवेदनपत्र उपस्थित किया गया।

यह आवेदनपत्र दे देने के बाद पंडित मदनमोहन मालवीय की प्रेरणा पर श्री श्यामसुंदरदास और श्री कृष्ण बलदेव वर्मा ने लखनऊ, शाहजहाँपुर, बरेली, मुरादाबाद, सहारनपुर, मुजफ्फरनगर, मेरठ, आगरा और मथुरा की यात्रा की और सब जगहों में देवनागरी के सहायकों का संघटन करके उन्हें इस कार्य में सहायता करने के लिये उद्यत किया। इसके कुछ ही दिन बाद सर ऐंटानी मैकडानेल महोदय ने इन नगरों का दौरा किया। उस समय इस संघटन ने बड़ी मुस्तैदी और सफलता से इस आंदोलन में सहयोग प्रदान किया और अदालतों में देवनागरी के प्रचार में सहायता दी।

सभा ने हिंदी को अदालतों में स्थान दिलाने के लिये बहुत बड़ा आंदोलन खड़ा कर दिया था। चारों ओर नागरी-प्रचार की धूम मच गई थी। अवश्य ही कतिपय विरोधियों ने इस उद्योग की सफलता में विघ्न डालने का प्रयत्न किया, हिंदू-मुसलिम-वैमनस्य बढ़ने का भी भय दिखाया गया, किंतु कितने ही सुयोग्य मुसलमान सज्जनों ने इस कार्य में सभा का पूर्ण समर्थन किया। इनमें हैदराबाद के तत्कालीन मंत्री प्रसिद्ध विद्वान् शमसुलउल्मा मौलवी सैयदअली बिलग्रामी का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इन्होंने स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया था कि मुसलमानों में शिक्षा का कम प्रचार होने का मुख्य कारण बेढंगी

फारसी लिपि ही है। इसे ठीक तरह से सीखने के लिये जहाँ कम से कम दो वर्ष चाहिए वहाँ नागरी के लिये महीने दो महीने ही पर्याप्त होते हैं।

सभा के प्रस्ताव के समर्थन में संयुक्त प्रांत के प्रायः सब नगरों से सहस्रों हस्ताक्षरों के साथ पत्र पर पत्र गवर्नर महोदय के पास पहुँचने लगे थे। सभा ने अंग्रेजी में 'शुद्ध नागरी बी इंट्रोड्यूस्ड इन कोर्टस' नाम की एक पुस्तिका छपवाकर उसकी हजारों प्रतियाँ चारों ओर वितरित कराईं। समाचारपत्रों में भी खूब आंदोलन हुआ। इस प्रकार तीन वर्षों तक निरंतर प्रयत्न करते करते सभा को अपने उद्योग में आंशिक सफलता सं० १९५७ (सन् १९००) में प्राप्त हुई। १८ अप्रैल, सन् १९०० को संयुक्त प्रांत की सरकार ने इस विषय की जो आज्ञा निकाली उसका आशय था—

(१) सभी अपनी इच्छा के अनुसार नागरी वा फारसी लिपि में लिखकर प्रार्थनापत्र दे सकते हैं।

(२) सरकारी न्यायालयों के प्रधान अधिकारियों की ओर से जो समन, सूचनापत्र या अन्य प्रकार के कागज पत्रादि प्रकाशित किए जायँगे, वे सब नागरी और फारसी दोनों लिपियों में छापे जायंगे और नागरी अक्षरों में भी भरे जा सकेंगे।

(३) ऐसे दफ्तरों को छोड़कर जहाँ केवल अँग्रेजी में काम होता है, हिंदी न जाननेवाला कोई व्यक्ति सरकारी दफ्तरों में नियुक्त न हो सकेगा, और यदि ऐसा कोई व्यक्ति नियुक्त किया जायगा जो, दोनों में से केवल एक भाषा जानता होगा, तो उसे नियुक्ति की तारीख से एक वर्ष के भीतर दूसरी भाषा सीख लेना आवश्यक होगा।"

इस विषय की सरकारी आज्ञाओं और वायसराय की सभा में प्रश्नोत्तरों के हिंदी अनुवाद सभा ने 'पश्चिमोत्तर प्रदेश में नागरी प्रचार - विषयक लेखसमुच्चय' नामक पुस्तिका में प्रकाशित कर दिए थे।

नागरी प्रचार के लिए अदालतों में सभा की ओर से वैतनिक लेखक नियुक्त किए गए, जो प्रति वर्ष सहस्रों प्रार्थनापत्र नागरी में लिखते थे। किंतु आर्थिक सहायता के अभाव में बनारस को छोड़ अन्य जिलों में लेखकों की वैतनिक नियुक्ति सभा के लिये अधिक समय तक संभव न हुई। केवल बनारस की कलक्टरी और जजी में सभा के दो वैतनिक लेखक संवत् १९७० तक कार्य करते रहे। सं० १९७१ में यहाँ भी एक लेखक कम करना पड़ा। सं० १९७४ में सभा ने वकालतनामे; इजरायडिगरी और मेहनताने आदि के फार्म हिंदी में छपवाकर बिक्री के लिये बनारस की दीवानी कचहरी में रखे। इनसे भी बहुत सहायता मिली।

सभा का विचार था कि हिंदी जाननेवाले मुहर्रिर तैयार किए जायँ और अरबी फारसी के जिन कठिन शब्दों का प्रयोग अदालतों में होता है और जिनके कारण सर्वसाधारण को उर्दू जाननेवालों की शरण लेनी पड़ती है, उनका हिंदी कोश तैयार किया जाय। बनारस के प्रसिद्ध वकील श्री गौरीशंकर प्रसाद और उनके मुहर्रिर ब्रह्मचारी विवेकानंद ने पहली योजना को सफल बनाने में बहुत सहायता की। उन्होंने हिंदी के मुहर्रिर तैयार करने के लिये अपने यहाँ उनकी कक्षा खोल दी और अपने पास से १०० रु० उसके

प्रारंभिक खर्च के लिये प्रदान करने की भी कृपा की। उनके प्रयत्न से कई सुयोग्य हिंदी मुहर्रिर तैयार हुए जिन्होंने कई अदालतों में वर्षों तक हिंदी का बहुत कार्य किया।

सरल भाषा में कचहरी हिंदी कोश की तैयारी भी आरंभ कर दी गई। यह कार्य सभा के प्रचार मंत्री श्री माधवप्रसाद के अधीन था। इस कोश को तैयार कराने का प्रस्ताव भी उन्होंने ही किया था। यह कोश सं० १९८९ में (प्रस्तावित रूप में) छपकर तैयार हुआ।

सं० १९८४ में सभा ने अदालतों में नागरीलिपि के प्रार्थनापत्रादि देने के संबंध में सवा लाख सूचनापत्र छपवाकर संयुक्त प्रांत के प्रत्येक जिले में वितरित कराए थे। उसने सं० १९८५ में अपनी यह योजना चलाई कि नागरी में दावे आदि लिखनेवाले मुहर्रिरों को प्रत्येक अर्जीदावे के लिये चार आना तथा प्रत्येक इजरायडिगरी की दरख्वास्त के लिये दो आना पुरस्कार दिया जाय। इस योजना से भी पर्याप्त सफलता मिली। सं० १९९२ से अर्थाभाव के कारण सभा को यह पुरस्कार-योजना बंद कर देनी पड़ी। किंतु काशी की कचहरी में सभा के वैतनिक लेखक यथापूर्व अपना कार्य करते रहे। आगे चलकर आर्थिक कठिनाई के कारण इनको भी हटाना पड़ा।

यद्यपि अर्थाभाव के कारण मुहर्रिरों को पुरस्कार आदि देना और कचहरियों में वैतनिक लेखक नियुक्त करना बंद कर दिया गया किंतु सभा इस ओर से उदासीन न थी। अन्य दूसरे रूपों में उसका एतद्विषयक उद्योग बराबर चल रहा था। संवत् १९९७ में श्री चंद्रबली पांडे ने सभा की ओर से लखनऊ, मेरठ, देहरादून, सहारनपुर, हरद्वार और बरेली आदि स्थानों में हिंदी प्रचार के लिये यात्रा की। उनके प्रयत्न से बरेली की कचहरी में वहाँ के कुछ उत्साही हिंदी-प्रेमियों ने एक हिंदी लेखक की नियुक्ति की। उसके खर्च के लिये सभा ने भी एक वर्ष के लिये ५ रु० मासिक सहायता देना स्वीकार किया था।

संवत् २००४ तक सभा राजकाज में सर्वत्र देवनागरी लिपि और हिंदी भाषा के व्यावहारिक प्रयोग के लिये निरंतर उद्योग करती रही। संवत् २००४ में इस कार्य में उल्लेखनीय सफलता मिली तथा संयुक्त प्रांत (अब उत्तर प्रदेश) की सरकार ने अपनी राजभाषा और राजलिपि का प्रतिष्ठित पद हिंदी और देवनागरी को देना स्वीकार किया।

(२) केंद्र की राजभाषा तथा राजलिपि

संवत् २००५ तक केंद्रीय सरकार अपनी राजभाषा और राजलिपि का प्रश्न हल नहीं कर सकी थी। इसी वर्ष भारतीय संविधान सभा के आधे से अधिक सदस्यों ने हिंदी और नागरी के समर्थन में अपने लिखित विचार केंद्रीय सरकार के समक्ष उपस्थित किए थे। इस सभा के तत्वावधान में हिंदी-प्रेमियों की एक बहुत बड़ी सार्वजनिक सभा इसी वर्ष २० ज्येष्ठ को हुई, जिसमें निम्नलिखित प्रस्ताव सर्वसंमति से स्वीकार किए गए—

(१) काशी के नागरिकों, साहित्यसेवियों तथा पत्रकारों की यह सभा भारत सरकार की हिंदी तथा नागरी लिपि संबंधी नीति के संबंध में चिंता प्रकट करती है। सरकार की तद्विषयक नीति के संबंध में जो प्रवाद देश में फैल रहा है उससे हिंदी-प्रेमियों के मन में क्षोभ उत्पन्न हो गया है। सभा का भारत सरकार से अनुरोध है कि वह हिंदी के

संबंध में अपनी नीति स्पष्ट कर दे। सभा का यह निश्चित मत है कि विधान की भाषा नागरी लिपि में लिखी जानेवाली हिंदी ही हो सकती है, क्योंकि भारत की अन्य प्रांतीय भाषाओं के वही निकटतम है। इसलिये सभा का अनुरोध है कि भारत सरकार नागरी और हिंदी को ही भारत की राजभाषा तथा राष्ट्रभाषा घोषित करे।

(२) काशी के नागरिकों, साहित्यसेवियों तथा पत्रकारों की यह सभा देश के सभी हिंदी प्रेमियों, साहित्य संस्थाओं एवं अन्य जनता से अनुरोध करती है कि हिंदी को विधान की भाषा एवं राजभाषा का तथा नागरी को राजलिपि का रूप देने के लिये प्रबल आंदोलन करे और जिस समय विधान परिषद् की बैठक विधान पर विचार करने के लिये हो, उस समय एक संघटित शांतिपूर्ण प्रदर्शन का आयोजन करे तथा देश के कोने कोने से दिल्ली में प्रदर्शनकारी एकत्र हों। यह प्रदर्शन उस समय तक जारी रहे जब तक देवनागरी लिपि में लिखित हिंदी विधान की भाषा और राजभाषा घोषित न हो जाय। सभा यह भी निश्चय करती है कि इस प्रदर्शन में योग देने के लिये काशी की ओर से एक जत्था भेजा जाय।

ये प्रस्ताव पं० जवाहरलाल नेहरू, मौ० अबुलकलाम आजाद, डा० राजेंद्रप्रसाद एवं सरदार वल्लभभाई पटेल के पास अविलंब भेज दिए गए। इनका समर्थन सभा की प्रायः समस्त संबद्ध संस्थाओं तथा इतर भाषा संबंधी संस्थाओं ने भी किया।

किंतु फिर भी यह प्रश्न लगातार टलता चल रहा था। संवत् २००५ में सभा ने समय समय पर अनेक वक्तव्य प्रकाशित करके अन्यान्य संस्थाओं तथा व्यक्तियों को इस समस्या के प्रति जागरूक बनाया। श्रद्धेय डा० भगवानदास तथा श्री डा० सुनीति कुमार चाटुर्ज्या ने अँग्रेजी के प्रायः सभी प्रमुख पत्रों में इसकी चर्चा की। अंततः विशाल और प्रबल लोकमत की विजय हुई तथा देवनागरी लिपि में लिखी जानेवाली हिंदी को राजभाषा के पद पर प्रतिष्ठित कर दिया गया। आज से ६० वर्ष पहले जिन संकल्पों के साथ इस सभा ने जन्म लिया था, उनमें से एक मुख्य संकल्प इस वर्ष पूरा हो गया।

इस प्रकार हिंदी और नागरी राजभाषा तथा राजलिपि घोषित तो कर दी गई, किंतु प्रतिगामी शक्तियाँ बहुत दिनों तक भीतर ही भीतर क्रियाशील रहीं। संविधान की भाषा संबंधी कुछ धाराओं को खींचतान कर यह सिद्ध करने की चेष्टा की जाती रही कि उसमें जिस हिंदी 'का उल्लेख है उससे अभिप्राय उस भाषा से नहीं है जो हिंदी-भाषा-भाषी प्रांतों में बोली जाती है। हिंदुस्तानी के समर्थक उसकी ऊलजलूल व्याख्या करके अपना ही पक्ष पुष्ट करने की व्यर्थ चेष्टा करते रहे। किंतु इन सबसे हिंदी की निश्चित गति में कोई व्याघात नहीं पहुँचा और वह निरंतर अपने मार्ग पर आगे बढ़ती गई। स्कूल-कालेजों तथा विश्वविद्यालयों की परीक्षाओं में हिंदी का अध्ययन करनेवाले विद्यार्थियों की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती गई तथा केवल हिंदी के माध्यम से शिक्षण-परीक्षण की स्वतंत्र व्यवस्था करनेवाली संस्थाओं की परीक्षाएँ भी उत्तरोत्तर लोकप्रिय होती गईं।

३—लिपि संस्कार

समस्त भारतपर्ष के लिये एक लिपि की आवश्यकता का आंदोलन वर्तमान युग के आरंभ में जस्टिस श्री शारदाचरण मित्र ने आरंभ किया था। मित्र महाशय ने "एकलिपि-

विस्तार-परिषद्'' नामक एक संस्था की स्थापना की थी, जिसके तत्वावधान में 'देवनागर' नामक एक पत्र भी वे निकालते थे। नागरीप्रचारिणी सभा भी हिंदी भाषा और देवनागरी लिपि का प्रचार समान भाव से बहुत दिनों तक करती रही। किंतु ज्यों ज्यों मुद्रण, टंकण, तार, टेलिप्रिंटर इत्यादि भिन्न भिन्न प्रकार के यंत्रों का आविष्कार होता गया, त्यों त्यों देवनागरी लिपि में सुधार और संस्कार करके उसे रोमन लिपि के समान सुविधाजनक रूप देने पर गंभीरता से विचार करना आवश्यक हो गया। हिंदी साहित्य संमेलन के इंदौर अधिवेशन में इस विषय की विशद चर्चा हुई और वहीं इस विषय पर देश के विद्वानों से विचार विमर्श करके विवरण उपस्थित करने के लिये एक उपसमिति संघटित कर दी गई। संमेलन के नागपुर वाले अधिवेशन में इस उपसमिति में अपनी संमति उपस्थित की। अंतिम स्वीकृति के लिये यह संमति संमेलन की स्थायी समिति में भेजी गई। स्थायी समिति ने जो मंतव्य निश्चित किया उसमें प्रचलित लिपि में मुख्यतः निम्नलिखित परिवर्तन सुझाए गए थे:—

१—'अ' की बारहखड़ी।

२—ह्रस्व एकार तथा ओकार के लिये नए रूपों का निर्धारण।

३—फारसी-अरबी-अँगरेजी आदि के उच्चारण के लिये 'क', 'ख', 'ग', रूपों का प्रचलन।

४—'ख' के स्थान पर गुजराती 'ख' का प्रचलन।

५—'भ' तथा 'ध' के रूपों में किंचित परिवर्तन।

संमेलन की लिपि संबंधी योजना में कुल १४ सूत्र थे, किंतु उपर्युक्त पाँच सूत्रों के अतिरिक्त शेष नौ सूत्रों में या तो प्रचारार्थ आए हुए सुधार आदि अग्राह्य ठहराए गए थे अथवा अत्यंत सामान्य कोटि के परिवर्तन थे।

इसके पश्चात् यह प्रश्न धीरे धीरे राष्ट्रव्यापी होता गया। हिंदी भाषा का प्रचार ज्यों ज्यों बढ़ता जा रहा था, देवनागरी लिपि में भी उसी त्वरा से कार्य-संचालन करने की क्षमता लाने की ओर विचारकों का ध्यान लगा हुआ था, जिस त्वरा से रोमन लिपि में कार्य-संचालन होता है। भारतीय पत्रकारिता के दो मुख्य स्तंभ—हिंदी तथा मराठी—पूर्ण रूप से आत्म-निर्भर होने में मुख्यतः लिपि की असुविधा के कारण ही सफल नहीं हो रहे थे। न तो नागरी की तार-प्रणाली प्रचलित हुई थी, न टेलिप्रिंटर था, न मोनोटाइप और न लाइनोटाइप। संमेलन की योजना के पश्चात् समय समय पर इस विषय की अनेक नवीन योजनाएँ पत्र-पत्रिकाओं में निकलती रहीं। इनमें दो प्रकार की योजनाएँ थीं—एक तो वे जो चिंतन और मननपूर्वक निर्धारित की गई थीं, दूसरी वे जिनके पीछे इन गुणों का सर्वथा अभाव था और जो केवल नाम के लिये गढ़ ली गई थीं।

संवत् १९९८ में काशी के अध्यापक श्री भगवानदास सिडनी ने इस विषय का एक व्याख्यान सभा की 'प्रसाद' व्याख्यानमाला के अंतर्गत दिया था, जिसमें उन्होंने अपनी योजना की विशेषताएँ चित्रों द्वारा समझाई थीं। इस अवसर पर सभा की प्रबंध-समिति के सदस्य तथा इस विषय में रुचि रखनेवाले अन्य विद्वानों को विशेष रूप से आमंत्रित किया गया था। इसके बाद से सभा ने लिपि-समस्या पर गंभीरतापूर्वक विचार आरंभ किया। समय समय पर इसकी चर्चा होती रही। अंततः संवत् २००१ में सभा ने एक लिपि-उप-

समिति का संघटन इस विचार के लिए किया कि वर्तमान युग में नागरी-लिपि में सुधार तथा संस्कार आवश्यक है या नहीं। २४ तथा २५ ज्येष्ठ सं० २००२ को इस उपसमिति की बैठकें हुई जिनमें सर्वसंमति से निम्नलिखित मंतव्य स्थिर किए गए :—

'काशी नागरीप्रचारिणी सभा की प्रबंध समिति ने देवनागरी लिपि के संबंध में जो निश्चय अपने गत ७ अप्रैल ४५ में किया है उसपर हम लोगों के अधिवेशन ने विचार किया। हम लोग इस विषय में एक मत हैं कि देवनागरी का बहुसंमत जो रूप इस समय प्रचलित है उसमें सुधार और संस्कार आवश्यक है। भारत की अन्यान्य भाषाओं तथा विदेशी भाषाओं की ध्वनियों को भी ठीक ठीक लिपिबद्ध करने में देवनागरी को सक्षम बना लेने को आवश्यकताहै। निम्नलिखित भाषाएँ लिखने के लिये जिन ध्वनियों के संकेत नहीं हैं, उनके लिये नवीन संकेत स्थिर करना आवश्यक है :

क. हिंदी

ख. विभिन्न प्रांतीय भाषाएँ

ग. अन्य विदेशी भाषाएँ

हिंदी में ऐसी कई ध्वनियाँ हैं जिनके लिये स्वतंत्र चिह्नों का अभाव है। उदाहरणार्थ 'जेहि' आदि में उच्चरित होनेवाला ह्रस्व एकार। ऐसी समस्त ध्वनियों के लिए स्वतंत्र चिह्नों की आवश्यकता है। इसके अनंतर हमें अन्यान्य भारतीय भाषाओं और तदनंतर विदेशी भाषाओं की ध्वनियों को भी नागरी में लेखबद्ध करने का मार्ग निकालना है।

"जहाँ तक केवल हिंदी का संबंध है, हमारे मत से केवल उन्हीं ध्वनिया के लिये संकेत स्थिर करना आवश्यक है, जिनके संकेत नहीं है। हिंदी के अंतर्गत 'कांग्रेस' 'डाक्टर' आदि विदेशी भाषा के शब्दों का ठीक उच्चारण व्यक्त करने के लिये 'आ' की मात्रा के ऊपर जो अर्द्धचंद्राकार चिह्न लगाया जाता है, उसका तथा उसी प्रकार के अन्य चिह्नादि के प्रयोग का समर्थन हम नहीं कर सकते, क्योंकि उनकी कोई उपयोगिता उन लोगों के लिये नहीं रह जाती जो वह विदेशी भाषा नहीं जानते।

"यदि देवनागरी लिपि का स्वरूप परिवर्तन किया जाय तो इस बात का ध्यान रखना होगा कि नव-स्थिर रूप निम्नलिखित गुणों से सन्निविष्ट हो।'

क. ध्वनि की परंपरा से अनुच्छेद तथा समस्त अक्षरों की रक्षा।

ख. लेखन-सौकर्य

ग. मुद्रण-सौकर्य

घ. संकेत की अभ्रमात्मक व्यंजकता

ङ. सौंदर्य

"परंतु हमारी यह धारणा है कि अक्षरों के वर्तमान रूप में परिवर्तन करके परिवर्तित लिपि को भी देवनागरी कहना उचित नहीं होगा। मुद्रण-सौकर्य को ध्यान में रखते हुए हम लोगों ने समस्त मात्राएँ दाहिनी ओर लगाने का एक सिद्धांत स्थिर करने का प्रयत्न किया, परंतु हम इस सामान्य सिद्धांत पर भी एक मत न हो सके; एक सदस्य ने यह स्वीकार नहीं किया कि ह्रस्व इकार की मात्रा भी दाहिनी ओर लगाई जाय। अतएव किसी सुधार वा संस्कार पर अपनी स्वीकृति देने के पहले सभा के लिये यह आवश्यक है कि वह इस संबंध

में देश भर के विद्वानों और संस्थाओं का मत भी जान ले, अन्यथा इस प्रयत्न द्वारा अभीष्ट फल की प्राप्ति संभव नहीं है। हम लोगो के विचार से सभा का सर्वप्रथम कर्तव्य यह है कि नागरी लिपि में सुधार और संस्कार संबंधी जितने प्रयत्न अबतक किए गए हैं, वह उन सबका एकत्र संग्रह करके प्रकाशित करे। इसके साथ प्रस्तावना के रूप में एक लेख रहे, जिसमें सुधारों और संस्कारों के कारण तथा आधार एवं प्रत्येक प्रयत्न की विशेषता और न्यूनता भी बताई जाय। अनंतर यदि आवश्यकता हो तो इसे पुस्तिका रूप में छपवाकर देश भर के विद्वानों के पास संमति के लिए भेजा जाय। हिंदी के अतिरिक्त अन्य प्रांतीय भाषाओं में यदि लिपि संबंधी सुधार और संस्कार हुए हों, तो वे भी विचार-सहायतार्थ मँगा लिए जायँ। इन सब प्रयत्नों और संमतियों पर पूर्ण रूप से विचार कर लेने के पश्चात् ही कोई निर्णय करना सभा के लिए उचित होगा।"

उपर्युक्त निश्चय को कार्यान्वित करने के लिये देश के प्रमुख हिंदी पत्रों में यह प्रार्थना प्रकाशित की गई थी कि इस दिशा में कार्य करनेवाले सज्जन और संस्थाएँ अपने अपने प्रयत्न की सूचना और सामग्री सभा की उपसमिति के पास भेजने की कृपा करें।

उपसमिति का दूसरा अधिवेशन ६ श्रावण संवत् २००२ को हुआ। उपसमिति ने निश्चय किया कि:

१. "अभी केवल हिंदी और संस्कृत के लिये उपयुक्त लिपि का ही सुधार किया जाना चाहिए।

२. "पठन-पाठन और लेखन में सरलता लाने का उद्देश्य सिद्ध करने के लिये लिखित और मुद्रित लिपि का रूप एक होना चाहिए।

३. "यद्यपि प्रचलित रीति के अनुसार संयुक्ताक्षरों को ऊपर नीचे लिखने तथा मात्राओं को ऊपर, नीचे, आगे, पीछे लगाने की स्वतंत्रता हस्तलिपि में बरती जा सकती है, तथापि मुद्रण-सौकर्य के लिये यह आवश्यक है कि नागरी लिपि के संयुक्ताक्षर और मात्राएँ दाहिनी ओर बगल में एक ही पंक्ति में लगाई जायँ।"

इसके पश्चात् उपसमिति ने आगत और प्राप्त २२ प्रयत्नों और योजनाओं पर विचार किया। स्वरों और व्यंजनो के संबंध में जो सुझाव और सुधार इनमें दिखाई दिए उनका संक्षेप नीचे दिया जाता है:—

क. स्वरों के संबंध में एक को छोड़कर प्रायः सभी योजनाओं में 'अ' की बारहखड़ी बनाई गई थी।

ख. संयुक्त व्यंजनों को प्रायः एक ही पंक्ति में रखने की विधि स्वीकृत की गई थी।'

"सुधार के इन प्रयत्नों में केवल श्री श्रीनिवास जी का प्रयत्न समिति को विशेष संगत प्रतीत हुआ। इन्होंने समूचे 'अ' की बारहखड़ी नहीं की थी, जो विज्ञान और व्यवहार दोनों की दृष्टि से भ्रामक और अशुद्ध है। उन्होंने 'अ' के असंकेतित अतएव निरर्थक अंश 'उ'के साथ मात्राओं का प्रयोग करके स्वरों का बोध कराया था। ऐसा करने से स्वरों में समानता भी आ गई थी और प्रत्येक स्वर का लिपिगत रूप भी भिन्न हो गया था। इनकी स्वर लिपि में एकमात्रिक ह्रस्व और द्विमात्रिक दीर्घ परंपरा का निर्वाह भी

था। श्री श्रीनिवास जी प्रत्येक वर्ण की खड़ी रेखा (पूर्ण या अपूर्ण) को स्वर की मानते थे और उसके प्रयोग से वर्ण को सस्वर और अप्रयोग से अस्वर समझते थे। इसी प्रकार प्रत्येक वर्ग के प्रथम और तृतीय वर्णों में महाप्राण का कल्पित चिह्न लगाकर द्वितीय और चतुर्थ वर्णों का बोध कराया गया था। पंचम वर्णों की आकृति भी नितांत भिन्न नहीं थी, अपने अपने वर्ग के किसी अल्पप्राण वर्ण में अनुस्वार का चिह्न लगाकर उन्हें व्यक्त किया गया था, जैसे 'प' में अनुस्वार का चिह्न '०' लगाकर 'म' होता है।

यद्यपि ये कल्पनाएँ नवीन थीं और प्राचीन रूपों से इनमें पार्थक्य बहुत था, तथापि टाइपराइटर या लाइनोटाइप द्वारा मुद्रण में इनसे बड़ी सुगमता की संभावना थी। इस संबंध के कतिपय अन्य सुझावों से इनका यह सुझाव सर्वथा सरल और व्यवस्थित था, इसमें संदेह नहीं। इन सुझावों में समिति को दो बातें खटकीं; एक तो महाप्राण का चिह्न इतना सूक्ष्म था कि उसके स्पष्ट न होने से 'भाप' 'बाप' हो जाता था और दूसरे पंचम वर्ण लिखने में अनुस्वार का चिह्न किस अल्पप्राण में जोड़ा जाय, यह अनिश्चित था। श्री श्रीनिवास जी से समिति ने अनुरोध किया है कि वे इन दोषों को दूर करने की चेष्टा करें।"

अंत में उपसमिति ने सभा को यह परामर्श दिया कि वह श्री श्रीनिवास जी द्वारा प्रतिसंस्कृत इस लिपि को देश के अधिकारी विद्वानों, विश्वविद्यालयों, साहित्य-संस्थाओं, मुद्रण-कार्यालयों तथा टाइपराइटर और लाइनोटाइप निर्माताओं के पास आलोचना, संमति या समुन्नति की प्रार्थना के साथ भेजकर सबका मत संग्रह करे और अनुकूल मत प्राप्त होने पर इसके प्रचार का उपाय करे।

इस प्रतिसंस्कृत वर्णमाला का स्वरूप निम्नलिखित है—

सभा द्वारा प्रस्तावित लिपि-संस्कार जिन सरकारों के पास भेजा गया था उनमें से उत्तर प्रदेश की सरकार ने अपने ३१ जुलाई १९४७ (१५ श्रावण संवत् २००४) की

राजाज्ञा द्वारा आचार्य नरेंद्रदेवजी की अध्यक्षता में एक समिति का संघटन किया। उक्त समिति ने नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रस्तावित प्रतिसंस्कार के सुझावों की परीक्षा की और इस योजना के मुख्य निर्माता श्री श्रीनिवास जी को भी समिति में साक्ष्य के लिये आमंत्रित किया। परंतु श्री श्रीनिवास जी के एकमात्रिक और द्विमात्रिक आदि स्वरों के भेद समिति को मान्य नहीं हुए।

उत्तर प्रदेशीय सरकार द्वारा देवनागरीलिपि—सुधार समिति का संघटन होने के बाद ही विधान परिषद् ने भी संकेतलिपि (शार्टहैंड), टंकण (टाइपराइटिंग) तथा टेलिप्रिंटर आदि समस्याओं पर विचार करने तथा उनके तरीकों में एकरूपता लाने के उद्देश्य से श्री काका कालेलकर की अध्यक्षता में एक समिति का संघटन किया था और उत्तरप्रदेशीय समिति ने उसके मंतव्यों पर भी यथोचित दृष्टि रखते हुए अपना विवरण उपस्थित किया था। लिपि में सुधार और संस्कार का प्रश्न हाथ में लेते समय सभा के समक्ष जो उद्देश्य था उसकी पूर्ति उत्तरप्रदेशीय सरकार की समिति द्वारा और अच्छी तरह से होती देखकर सभा की प्रबंध समिति ने अपने १ पौष २००७ के अधिवेशन में इस विषय पर पुनर्विचार करके यह निश्चय किया कि अभी इस संबंध में तटस्थ नीति बरती जाय।

४—आर्यभाषा पुस्तकालय

अपनी स्थापना के प्रथम वर्ष में ही सभा ने हिंदी का पुस्तकालय स्थापित करने का विचार किया था और धीरे धीरे पुस्तकों का संग्रह भी आरंभ हो गया था। जिन नवयुवक छात्रों ने मिलकर सभा की स्थापना की थी वे आरंभ में एक दूसरे से लेकर कुछ थोड़ी सी पुस्तकें एकत्र कर सके थे। इस पुस्तकालय का नाम 'नागरी-भंडार' रखा गया। १० चैत्र सं० १९५० (२४ मार्च, १८९४) की बैठक में खड्गविलास प्रेस, बाँकीपुर, पटना के स्वामी कुँवर रामदीनसिंह ने अपनी सब पत्रिकाएँ और पुस्तकें सभा को देने का वचन दिया। पुस्तकालय के लिये यह पहला दान था। धीरे धीरे 'भारतजीवन' पत्र के संपादक तथा भारतजीवन प्रेस के स्वामी श्री रामकृष्ण वर्मा ने अपनी प्रकाशित समस्त पुस्तकें बिना मूल्य देना स्वीकार किया, इसी प्रकार श्री उमाप्रसाद ने भी अपने यहाँ की सब पुस्तकें देने का वचन दिया, राजा रामपाल सिंह अपना दैनिक पत्र, 'हिंदोस्तान' बिना मूल्य देने लगे तथा श्री बदरी नारायण चौधरी का 'नागरी नीरद', श्री जगन्नाथदास 'रत्नाकर' का 'साहित्य सुधानिधि', प्रयाग से निकलने वाला 'प्रयाग समाचार' और जबलपुर का 'शुभचिंतक' बिना मूल्य आने लगे। संवत् १९५३ में श्री राधाकृष्णदास के उद्योग से बंबई के सेठ खेमराज श्रीकृष्णदास की प्रकाशित हिंदी की ११२ पुस्तकें पुस्तकालय में आ गई। संवत् १९६३ में सेठजी पुस्तकालय को देखकर बहुत प्रसन्न हुए और पाँच सौ रुपयों की पुस्तकें उसे और प्रदान कीं।

उन दिनों काशी के हनुमान सेमिनरी स्कूल की देखरेख में आर्यभाषा पुस्तकालय नाम का एक पुस्तकालय था जिसमें लगभग दो हजार पुस्तकें थीं और जिसे श्री गदाधरसिंह ने

सं० १९४१ वि० (सन् १८८४ ई०) में मिर्जापुर में स्थापित किया था। मिर्जापुर से अपने स्थानान्तरण के कारण उन्होंने भारत पुस्तकालय मिर्जापुर से बनारस लाने का निश्चय किया और उसका प्रबन्ध बनारस के हनुमान सेमिनरी स्कूल को सौंपा दिया। उचित देखरेख न होने के कारण पुस्तकालय की उन्नति होना तो दूर रहा उलटे अवनति होने लगी। उसकी यह दुर्दशा देख सभा ने ११ भाद्रपद, संवत् १९५१ वि० (२७ अगस्त; १८९४) की बैठक में यह निश्चय किया कि—

"एक प्रस्ताव सभा से मिर्जापुर के बाबू गदाधरसिंह के पास, जो कि अब इटावे में हैं, भेजा जावे कि वे अपनी लायब्रेरी को, जो यहाँ बड़ी दुर्दशा में है, नागरी प्रचारिणी सभा में मिला दें।"

श्री गदाधरसिंह सभा के सदस्य बन चुके थे। सभा का सुप्रबंध देखकर वे विशेष प्रभावित हुए और अपना 'आर्यभाषा पुस्तकालय' सभा के प्रबंध में देने के लिये सहमत हो गए। उनकी शर्तों में मुख्य शर्त यह थी कि सभा के 'नागरी भंडार' और उनके आर्यभाषा पुस्तकालय के संयुक्त 'संग्रह का नाम' 'आर्यभाषा पुस्तकालय' ही रहे। सभा ने इसे स्वीकार कर लिया। अगले वर्ष (सं० १९५४) से आर्यभाषा पुस्तकालय का कार्य नियमित रूप से चल निकला। १७ पौष, १९५४ (१ जनवरी; १८९८) से प्रतिदिन प्रातः और सायं दोनों समय जनता के लिये इसके खुलने का प्रबंध कर दिया गया।

पुस्तकों की सूची का छपना सं० १९५९ में आरंभ हो गया और वह सं० १९६० में छपकर तैयार हो गई जिसका मूल्य २ आना रखा गया। यह सूची पुस्तकों के नामानुक्रम से थी, जिसमें समस्त विषयों की पुस्तकें थीं। १८ भाद्रपद, सं० १९६१ (३ सितंबर, १९०४) की बैठक में निश्चय हुआ कि पुस्तकालय की पुस्तकों की एक सूची विषयक्रम से तैयार की जाय। कई वर्ष तक यह कार्य चलता रहा और प्रयत्न करने पर भी सं० १९९० से पूर्व पूरा न हो सका। पूरी सूची बनकर तैयार हो जाने पर भी अर्थाभाव के कारण वह प्रेस में न दी जा सकी। सं० १९९६ में विषय-क्रम से नवीन रीति के अनुसार संख्या लगाने तथा उनको निर्धारित विषयों में विभक्त करके अलग अलग रखने का कार्य किया गया। आधुनिक रीति से पुस्तकों का वर्गीकरण धन-जन-सापेक्ष है और सभा के पास धन का अभाव था। फिर भी सभा ने यह कार्य जैसे तैसे चलाए रखा। नवीन प्रणाली के अनुसार पुस्तकालय की दाशमिक वर्गीकृत नवीन सूची छपने के लिये तैयार तो हो गई पर अनेक कठिनाइयों के कारण छप न सकी। आगे जो पुस्तकें आती गईं उनको भी इस सूची में संमिलित करना आवश्यक था। यह कार्य सं० १९९९ में प्राप्त पुस्तकों की सूची सहित सं० २००० के आरंभ में पूरा हुआ।

डेवी की दाशमिक प्रणाली के अनुसार प्रस्तुत पुस्तकालय की उक्त सूची का छपना संवत् २००० में ही आरंभ हो गया था। संवत् २००१ में इसका प्रथम भाग प्रकाशित हो गया जिसमें दर्शनशास्त्र, धर्मशास्त्र, समाजशास्त्र, भाषाशास्त्र, विज्ञान, उपयोगी कला और ललित कला विषय की पुस्तकें आ गईं। तब से लेकर इस समय तक निरंतर प्रयत्न करते रहने पर भी इस सूची का शेषांश, जिसमें साहित्य के अध्येताओं के लिये अपेक्षाकृत अधिक आवश्यक विषयों के ग्रंथों का समावेश है, अभी तक मुद्रित नहीं हो सका है।

हस्तलिखित ग्रंथों की विवरणात्मक सूची के अभाव में अध्येताओं और अनुशीलन-कर्त्ताओं को, तथा उनकी सहायता करने में सभा के कर्मचारियों को, जो असुविधा और कठिनाई होती रहती थी उसकी ओर भी सभा की दृष्टि थी किंतु कई कारणों से यह का पिछले कई वर्षों से टलता आ रहा था। पिछले १०-१५ वर्षों में शोध और अनुशीलन करनेवालों की संख्या में जिस द्रुत-गति से वृद्धि हुई। उसे देखते हुए हस्तलिखित ग्रंथों की विवरणात्मक सूची तैयार करने का कार्य और आगे टालना उचित प्रतीत नहीं हुआ तथा सवत् २००९ में इसके लिये एक पृथक् कर्मचारी की नियुक्ति करके कार्य आरंभ कर दिया गया। ग्रंथों की रक्षा के लिये संवत् २००९ में ही लोहे की ६ बड़ी आलमारियां ले ली गईं और उनमें समस्त हस्तलिखित ग्रंथ, जिनकी संख्या ४३७९ है, रख दिए गए हैं। संवत् २००९ के अंत तक लगभग ६०० ग्रंथों की सूची तैयार हो गई, जिनमें ग्रंथों का निर्माणकाल, लिपिकाल, ग्रंथकार, पृष्ठ-संख्या आदि के विवरणों के अतिरिक्त यह भी उल्लेख है कि एक ही ग्रंथ की कौन कौन सी विभिन्न प्रतियां पुस्तकालय के अन्यान्य संग्रहों में हैं।

संवत् १९८० में हिंदी के सुप्रसिद्ध विद्वान साहित्य सेवी आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने अपना जुहीवाला समस्त संग्रह पुस्तकालय को प्रदान किया। इसमें २४३४ प्राचीन प्राप्य-अप्राप्य भिन्न-भिन्न भाषाओं के ग्रंथ, मासिक पत्रिकाएँ तथा अलभ्य चित्रों का संग्रह है जो हिंदी के विद्वान साहित्यसेवियों के लिये अत्यंत महत्व की सामग्री है। इस संग्रह में 'सरस्वती' के संपादन-काल में द्विवेदीजी द्वारा संपादित समस्त लेखों की हस्तलिखित प्रतियों, उनपर किये गये द्विवेदीजी के संशोधनों सहित ज्यों की त्यों विद्यमान हैं। संवत् १९८४ में अपने अमूल्य संग्रह से द्विवेदीजी ने पुनः ८७१ पुस्तकें, १५४ पत्रिकाएँ और १४१ पत्रिकाओं की फुटकर संख्याएँ पुस्तकालय को प्रदान कीं। संवत् १९९९ में स्वर्गीय द्विवेदीजी के संग्रह की १५०७ पुस्तकें उनके भागिनेय श्री कमलाकिशोर त्रिपाठी से पुस्तकालय को प्राप्त हुईं। अब इस संग्रह में कुल ४३१८ पुस्तकें हैं।

संवत् १९८९ में स्वर्गीय श्री जगन्नाथदास 'रत्नाकर' के सुयोग्य पुत्र श्री राधेकृष्णदास ने अपने पूज्य पिता के ग्रंथों का संपूर्ण संग्रह सभा को प्रदान किया, जिसमें ११८९ पुस्तकों तथा पत्रिकाओं के अतिरिक्त सूर बिहारी और नंददास के हस्तलिखित ग्रंथों का भी अच्छा संग्रह है। यह संग्रह भी द्विवेदी संग्रह के समान ही 'रत्नाकर संग्रह' के नाम से पृथक अलमारियों में सजाकर रख दिया गया है। इस संग्रह में ३३८ प्राचीन हस्तलेख हैं जिनमें से कितनों में एक से अधिक ग्रंथ संमिलित हैं।

संवत् १९९८ में श्री रामनारायण मिश्र ने ४१३ पुस्तकों का अपना एक संग्रह (श्रीशचन्द्र शर्मा संग्रह) पुस्तकालय को प्रदान किया। पुस्तकों के अतिरिक्त इसमें पत्रिकाओं का भी संग्रह था। इसके बाद भी मिश्र जी जीवनपर्यंत इस संग्रह के लिये ग्रंथों से सहायता करते रहे और सं० २००९ के अंत में इस संग्रह के पुस्तकों की संख्या १०७३ हो गई। डाक्टर हीरानंद शास्त्री का संग्रह भी इसी वर्ष प्राप्त हुआ। इस संग्रह में १०१२ ग्रंथ हैं, जिनमें २५५ हस्तलिखित पुस्तकें हैं। संवत् २००० में श्री मयाशंकर याज्ञिकजी का यह हस्तलिखित ग्रंथों का सुप्रसिद्ध संग्रह पुस्तकालय को प्राप्त हुआ। याज्ञिकजी का यह संग्रह

हिन्दी में विख्यात है। इसकी प्राप्ति के लिए कई संस्थाएँ सचेष्ट थीं। इसमें ११७९ हस्त-लिखित ग्रंथ हैं।

पुस्तकालय में सभा के खोज विभाग द्वारा संगृहीत हस्तलिखित पुस्तकों का भी एक संग्रह है, जिसमें लगभग २७०० हस्तलिखित ग्रंथ संगृहीत हैं। पुस्तकालय के ग्रंथों की संख्या प्रतिवर्ष बढ़ती रहती है। संवत् २००० में पुस्तकालय के समस्त विभागों की पुस्तकों का योग लगभग ३०००० था, जो संवत् २००९ के अन्त में लगभग ३६००० हो गया। पुस्तकालय को जो सरकारी तथा अर्द्धसरकारी सहायता मिलती है, वह इसके महत्व तथा उपयोगिता को देखते हुए नगण्य है।

अपने वार्षिक विवरणों में सभा सरकार का तथा सर्वसाधारण का ध्यान बराबर स्थानाभाव, चालू प्रबन्ध, साज-सज्जा तथा नवीन ग्रंथों को क्रय करने के निमित्त द्रव्य की आवश्यकता की ओर दिलाती रही है जिनकी पूर्त्ति, अन्य किसी स्रोत से अर्थागम न होने के कारण, सभा को अपनी सीमित आय में से करनी पड़ती है। पिछले १०-१५ वर्षों में हिंदी का प्रकाशित साहित्य जिस वेग से अभिवृद्ध हुआ है, उस वेग से पुस्तकालय में संगृहीत नहीं हो सका, जिसके अभाव में पुस्तकालय के ऐतिहासिक पक्ष की हानि हो रही है, उसका परिहार भविष्य में हो सकेगा या नहीं इसमें संदेह है।

स्थान तथा साज-सज्जा की कमी के कारण पुस्तकालय की व्यवस्था भी मनोनुकूल नहीं हो पाती, जिससे उसका उपयोग करनेवालों को वांछित सुविधा नहीं मिल पाती। संवत् १९९६ के आसपास जहां वर्ष में चार छः शोध-छात्र पुस्तकालय से लाभ उठाने आया करते थे, वहां अब २० से भी अधिक अध्येता प्रतिवर्ष आने लगे हैं। पुस्तकालय के प्रातः तथा सायं के नियमित समय के अतिरिक्त दिन में भी अपना कार्य करने की अपेक्षा इन अध्येताओं को होती है, और सभा यथासाध्य उन्हें प्रत्येक प्रकार की सुविधा देने के लिये सदैव प्रस्तुत रहती है। आवश्यकता केवल इस बात की है कि जनता तथा सरकार दोनों इसके द्वारा की जानेवाली सेवाओं के प्रति आकृष्ट हों और इसके लिये थोड़ी सहायता तथा सुविधा की व्यवस्था कर दें। थोड़ी सी सहायता मिलने पर भी पुस्तकालय अपनी सर्वश्रेष्ठता अवश्य स्थिर रख सकेगा।

पिछले दस वर्षों से पुस्तकालय के नियमित, आजीवन तथा साधारण सदस्यों की संख्या में जिस प्रकार यथेष्ट वृद्धि हुई, उसी प्रकार दैनिक पाठकों की संख्या भी उत्तरोत्तर बढ़ती रही है। संवत् २००० के अन्त में पुस्तकालय के १७ आजीवन तथा १६७ साधारण सहायक थे, जिनकी संख्या सं० २००६ के अन्त में क्रमशः ५७ तथा ४५६ हो गई। इसी प्रकार पुस्तकालय से संबद्ध वाचनालय में जहां संवत् २००० में १४० पत्र-पत्रिकाएँ आती थीं वहां संवत् २००६ में २०१ पत्र-पत्रिकाएँ आईं।

सभा के हाल में कबीर, सूर और तुलसी से लेकर आधुनिक युग के प्रतिनिधि साहित्य-निर्माताओं के, समान आकार प्रकार के, प्रामाणिक तैल-चित्रों का अलभ्य संग्रह है।

५—हस्तलिखित ग्रंथों की खोज

हस्तलिखित हिंदी ग्रंथों की व्यवस्थित खोज कराने, उसका विस्तृत विवरण प्रस्तुत करने तथा ग्रंथों के संग्रह और संरक्षण का कार्य सभा संवत् १९५७ (सन् १९००) से कर रही है। इसके पूर्व बंगाल एशियाटिक सोसायटी ने सभा के ही अनुरोध पर कुछ दिनों तक अपनी संस्कृत के हस्तलिखित ग्रंथों की खोज के साथ, हिंदी के ग्रंथों की खोज का कार्य किया था, जिसके फलस्वरूप ६०० प्राचीन ग्रंथों के विवरण संवत् १९५२ (सन् १९८५) में लिए गए थे; जिनसे हिंदी साहित्य के इतिहास संबंधी अनेक नए तथ्यों का उद्‌घाटन हुआ। बंगाल एशियाटिक सोसायटी द्वारा खोज का कार्य बंद कर दिए जाने पर सभा ने प्रांतीय सरकार को लिखा कि सरकार यदि खोज के कार्य के लिये कुछ वार्षिक व्यय स्वीकार करे, तो सभा यह महत्त्वपूर्ण कार्य अपने तत्त्वावधान में करा सकती है। सरकार ने सभा की प्रार्थना स्वीकार करते हुए यह कार्य सभा को सौंप दिया और ४००) वार्षिक सहायता निश्चित कर दी।

सभा के दो वर्षों में जो कार्य हुआ उसकी प्रगति से संतुष्ट होकर संवत् १९५९ में सरकार ने वार्षिक सहायता बढ़ाकर ५००) कर दी। आरंभ में यह निश्चय किया गया था कि खोज के कार्य की रिपोर्ट प्रति वर्ष प्रकाशनार्थ सरकार के पास भेजी जाया करेगी। इसी निश्चय के अनुसार संवत् १९५७ (सन् १९००) तथा सं० १९५८ (सन् १९०१) की वार्षिक रिपोर्टें प्रकाशित की गईं। इनकी प्रतियाँ सरकार ने देश-विदेश के अनेक विद्वानों के पास भेजीं, जिनमें से डाक्टर हार्नली, डा० ग्रियर्सन, श्री ग्रिफिथ आदि ने खोज के निरीक्षक श्री श्यामसुंदरदास जी को व्यक्तिगत-रूप से पत्र लिखकर इस कार्य की बड़ी सराहना की।

संवत् १९६२ में श्री श्यामसुंदरदास जी ने खोज-कार्य के संबंध में एक बड़ी उपादेय योजना प्रस्तुत की। हिंदी ग्रंथों की खोज का कार्य तब तक संस्कृत ग्रंथों की खोज की पद्धति के अनुसार हो रहा था और उसकी रिपोर्टें प्रति वर्ष प्रस्तुत की जाया करती थीं। इस पद्धति से जिन बातों का पता एक वर्ष में लगता था, उनमें प्रायः अगले वर्षों की खोज के फलस्वरूप परिवर्तन करना पड़ता था। और जब तक समस्त रिपोर्टें देख न ली जायँ, तब तक वास्तविकता का ठीक ठीक ज्ञान प्राप्त करना अनिश्चित रहता था। यह योजना सरकार ने भी स्वीकृत की और तदनुसार संवत् १९६३ से खोज की रिपोर्टें त्रैवार्षिक प्रकाशित होने लगीं।

संवत् १९६५ के अंत में समयाभाव के कारण श्री श्यामसुंदरदासजी खोज के निरीक्षक पद से पृथक् हो गए और उनके स्थान पर श्री श्यामबिहारी मिश्र निरीक्षक चुने गए। संवत् १९६९ में सरकारी सहायता बंद हो जाने के कारण खोज कार्य संवत् १९७०-७१ में प्रायः बंद रहा। किंतु संवत् १९७१ में सरकार ने पुरानी सहायता मद्धे १२५०) प्रदान किए तथा सं० १९७२ से वार्षिक सहायता ५००) से बढ़ाकर १०००) कर दी।

संवत् १९७६ में खोज कार्य के संबंध में विशेष रूप से विचार करने के लिये श्री श्यामसुंदरदास जी के प्रस्ताव पर एक उपसमिति संघटित की गई, जिसने इस कार्य के सभी पक्षों पर विस्तार के साथ विचार करके अपनी संमति उपस्थित की। इस

संमति के सभी आवश्यक अंश सभा द्वारा प्रकाशित 'हस्तलिखित हिंदी पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण' के प्रथम भाग और 'हस्तलिखित हिंदी ग्रंथों की खोज का पिछले ५० वर्षों का परिचयात्मक विवरण' में उद्धृत किए गए हैं। उपसमिति ने मुख्यतः दो बातों पर विशेष जोर दिया था। एक तो जिन जिन प्रांतों में ग्रंथों के मिलने की संभावना हो, उनमें खोज का कार्य जितनी शीघ्रता के साथ किया जा सके, उतनी शीघ्रता के साथ किया जाय; क्योंकि ग्रंथ-स्वामियों की उपेक्षा के कारण न जाने कितने ग्रंथ नष्ट हो गए और निरंतर नष्ट होते जाते हैं; दूसरे, संयुक्त प्रदेश (अब उत्तर प्रदेश) में कार्य के दो विभाग कर दिए जायँ और दो अन्वेषकों द्वारा कार्य कराया जाय। इस निश्चय के अनुसार पंजाब, बिहार, मध्य प्रदेश की सरकारों तथा राजपूताने की रियासतों से प्रार्थना की गई कि वे भी अपने अपने प्रांतों में हस्तलिखित ग्रंथों की खोज के लिये यथोचित सहायता करें। तदनुसार पंजाब सरकार ने सभा को तीन वर्षों तक ५००) वार्षिक सहायता देना स्वीकार किया। बिहार-उड़ीसा की सरकार ने खोज का कार्य अपने यहाँ की यशस्वी संस्था 'विहार ऐंड उड़ीसा रिसर्च सोसा-यटी' को सौंप दिया। पंजाब में लगभग दो वर्षों तक श्री जगद्धर शर्मा गुलेरी के निरीक्षण में कार्य हुआ, जिसकी रिपोर्ट संवत् १६८७ में सभा द्वारा प्रकाशित कर दी गई।

संयुक्त प्रांत की सरकार से भी अनुरोध किया गया कि वह अपनी १०००) की सहायता बढ़ाकर २०००) वार्षिक कर दे। संवत् १९७९ सन् १९२२-२३ में सरकार ने तीन वर्षों के लिये २०००) वार्षिक सहायता देना स्वीकार किया और तब से अब तक यह सहायता बराबर मिल रही है।

हिंदी पुस्तकों की खोज के पहले १२ वर्षों में जिन ग्रंथों का पता लगा था, उनकी सूची (हस्तलिखित हिंदी ग्रंथों का संक्षिप्त विवरण भाग, १) संवत् १९८० में सभा द्वारा प्रकाशित कर दी गई। इसमें १४५० कवियों और उनके आश्रयदाताओं तथा २७५६ ग्रंथो का उल्लेख था; साथ ही इनके संबध में विशेष जानकारी प्राप्त करने के लिये विभिन्न वर्षों की रिपोर्टों में उनके उल्लेख का स्थान-निर्देश कर दिया गया था।

संवत् १९८७ में दिल्ली के चीफ़ कमिश्नर ने दिल्ली प्रांत में खोज कराने के लिये ५००) की सहायता सभा को दी और लगभग ८ मास तक वहाँ कार्य होता रहा, जिसमें २०७ ग्रंथों का पता चला। दिल्ली खोज के निरीक्षक श्री हरिहरनाथ टंडन थे। किंतु समया-भाव के कारण वे खोज की रिपोर्ट तैयार नहीं कर सके। यह कार्य श्री डा० पीतांबरदत्त बड़थ्वाल को करना पड़ा। सभा ने संवत् १९९६ में यह रिपोर्ट भी प्रकाशित कर दी।

श्री श्यामबिहारी मिश्र संवत् १९६६ से लेकर सं० १९७७ तक खोज कार्य का निरीक्षण करने के उपरांत पृथक् हो गए। तदनंतर लगभग एक वर्ष तक श्री शुकदेव-बिहारी मिश्र ने यह कार्य संचालित किया। किंतु समयाभाव के कारण उन्हें भी यह कार्य छोड़ देना पड़ा। संवत् १९७६ में पुनः श्री श्यामसुंदरदास जी को निरीक्षक चुना गया। एक वर्ष के उपरांत श्री श्यामसुंदरदास जी पुनः पृथक् हो गए और खोज का निरीक्षण कार्य रायबहादुर डा० हीरालाल जी को सौंपा गया। डा० हीरालाल जी संवत् १६६० तक खोज विभाग का कार्य देखते रहे। उनकी मृत्यु के उपरांत यह कार्य संवत् १६६१ में डाक्टर पीतांबरदत्त बड़थ्वाल को सौंपा गया, जिसे वे संवत् १६६७ तक संपादित करते रहे।

संवत् १९९७ तक खोज कार्य की यह व्यवस्था चलती रही कि सभा द्वारा नियुक्त वैतनिक अन्वेषक मुहल्ले मुहल्ले, गांव गांव में जाकर ग्रंथों का पता लगाने के लिये, जो कार्यक्रम स्वयं बनाते थे, उसी के अनुसार आगे का कार्य होता था। संवत् १९९८ में सभा ने यह विचार किया कि अन्वेषकों के कार्यक्षेत्र में रहने वाले विद्वानों से भी यदि स्थानीय देखरेख और परामर्श का कार्य लिया जाय, तो समय और श्रम की बहुत बचत होगी तथा कार्य भी सुचारु रूप से होगा। तदनुसार संवत् १९९८ में प्रयाग का जो कार्य हुआ, उसकी देखरेख में श्री देवीदत्त जी शुक्ल (सरस्वती के संपादक) और बलिया के कार्य की स्थानीय देखरेख में श्री परशुराम जी चतुर्वेदी ने बड़ी सहायता की। इस वर्ष श्री विद्याभूषण मिश्र प्रधान निरीक्षक तथा श्री रामबहोरी शुक्ल सहायक निरीक्षक रहे।

संवत् १९९९ में खोज का कार्य बलिया, आजमगढ़ और इलाहाबाद जिलों तथा सभा के आर्यभाषा पुस्तकालय में होता रहा। पहले दो जिलों में क्रमशः श्री परशुराम चतुर्वेदी और श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' की देखरेख में तथा इलाहाबाद में श्री देवीदत्त जी शुक्ल की देखरेख में कार्य हुआ। इसी वर्ष देशव्यापी आंदोलन (सन् १९४२ की अगस्त क्रांति) छिड़ जाने के कारण अन्वेषक उन ग्रंथों का विवरण लेने में लगा दिए गए, जो विभिन्न स्रोतों से सभा के पुस्तकालय में पिछले कई वर्षों में एकत्र हुई थीं। इस वर्ष डा० वासुदेवशरण अग्रवाल निरीक्षक और श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र संयुक्त निरीक्षक रहे।

संवत् १९८० में हस्तलिखित हिंदी पुस्तकों का जो संक्षिप्त विवरण ग्रंथों तथा ग्रंथकारों की अनुक्रमणिका के रूप में प्रकाशित हुआ था, उसमें केवल आरंभ के १२ वर्षों की खोज का परिणाम संमिलित हो सका था। संवत् १९९९ तक केवल सन् १९२६–२८ की त्रैवार्षिक रिपोर्ट प्रकाशित हो सकी थी और उसकी आगे की छपाई का कार्य गवर्नमेंट प्रेस की अत्यंत व्यस्तता के कारण अवरुद्ध था। इस परिस्थिति के कारण खोज के कार्यों से अध्येता-समाज सुविधापूर्वक कोई लाभ उठाने में असमर्थ था। अतएव सभा ने विचार किया कि त्रैवार्षिक रिपोर्टों के प्रकाशन की प्रतीक्षा न करके हस्तलिखित हिंदी ग्रंथों का एक ऐसा संक्षिप्त विवरण (ग्रंथों तथा ग्रंथकारों की अनुक्रमणिका) प्रकाशित किया जाय, जिसमें संवत् २००० तक की समस्त प्राप्त सामग्री का समावेश हो जाय। श्री रामचंद्र वर्मा को इसके संपादन का भार सौंपा गया। यह विवरण तैयार तो हो गया, किंतु अर्थ तथा छपाई की सामग्री की कठिनाई के कारण १० फर्मों तक छपकर रुक गया और अब तक बराबर रुका हुआ है।

संवत् १९५७ से लेकर संवत् २००० तक ४४ वर्षों में सब मिलाकर १३७३७ ग्रंथों के विवरण लिए गए थे तथा लगभग १५०० ग्रंथ सभा के लिये प्राप्त हुए थे। खोज कार्य का विवरण विस्तारपूर्वक सभा के अर्द्धशती इतिहास तथा हस्तलिखित ग्रंथों के संक्षिप्त विवरण में दे दिया गया है। अतएव उस समय तक के कार्य का ऊपर दिग्दर्शन मात्र कराया गया है। संवत् २००१ से लेकर अब तक की इस विभाग की प्रगति के संबंध में नीचे थोड़े विस्तार के साथ आवश्यक बातें दी जा रही हैं।

संवत् १९७६ में बनी नवीन योजना के अनुसार विस्तृत खोज का कार्य अभी उत्तर प्रदेश में पूरा नहीं हुआ है। इसी योजना में यह भी निर्देश है कि अन्य प्रांतों—यथा मध्यप्रदेश, मध्यभारत, राजपूताना, बिहार तथा पंजाब—में भी इसी प्रकार की खोज होनी चाहिए। किंतु अभी तक उत्तर प्रदेश का कार्य समाप्त न होने के कारण अन्यत्र कार्य आरंभ नहीं हो सका था। अपनी अर्द्धशताब्दी के समय सभा ने जो नवीन रचनात्मक कार्य आरंभ किए, उनमें राजस्थान के हस्तलिखित ग्रंथों की खोज और उनके संरक्षण का कार्य भी था। सभा की प्रबंध समिति ने अपने ६ माघ तथा ३ फाल्गुन २००० के अधिवेशनों में इस संबंध में निम्नलिखित मंतव्य स्थिर किया—

"१. इस बात का अनुसंधान करते रहना कि राजपूताना में किन किन संस्थाओं, व्यक्तियों, रियासतों, नगरों और ग्रामों में हस्तलिखित पुस्तकें हैं तथा उनकी रक्षा किस प्रकार हो रही है अथवा हो सकती है। इस अनुसंधान का विवरण 'राजस्थानी साहित्य रक्षा निधि' से प्रकाशित करना।

"२. संयुक्त प्रांत की भाँति राजस्थान में भी हस्तलिखित ग्रंथों की खोज करना।

"३. महत्त्वपूर्ण ग्रंथों को बालाबक्ष-राजपूतचारण-पुस्तकमाला में अथवा स्वतंत्र रूप से प्रकाशित करना।"

उक्त उद्देश्यों की पूर्ति के लिये सभा ने रायबहादुर श्री रामदेव चोखानी की अध्यक्षता में १६ सज्जनों की एक उपसमिति संघटित कर दी, जिसमें राजस्थानी साहित्य के उच्च कोटि के विद्वान तथा राजपूताना की लगभग उन सभी रियासतों और क्षेत्रों के प्रतिनिधि थे, जिनमें हस्तलिखित ग्रंथों की प्रचुरता है। किंतु इसके निमित्त जो निधि मिलि थी, उसमें संवत् २००० में श्री चोखानी जी द्वारा संकलित राजस्थानी साहिस्य का महत्व' नामक पुस्तक के प्रकाशन तथा काँकरोली के विद्या विभाग में संरक्षित २०० ग्रंथों के विवरण लेने के बाद जो द्रव्य शेष रहा, उससे आगे कोई महत्त्वपूर्ण कार्य नहीं किया जा सका।

संवत् २००१ में श्री दौलतराम जुयाल ने आजमगढ़ और गोरखपुर जिलों में क्रमशः श्री अयोध्यासिंह जी उपाध्याय 'हरिऔध' एवं श्री विंध्येश्वरीनारायण चंद्र वकील की देख-रेख में कार्य किया। दोनों जिलों में मिलाकर ११६ ग्रंथों के विवरण लिए गए। इनके अतिरिक्त कांकरली विद्या विभाग में संग्रहीत १०० हस्तलिखित ग्रंथों के विवरण वहाँ से प्राप्त हुए। इस प्रकार इस वर्ष कुल २१६ ग्रंथों का पता लगा, जिसमें ५१ ग्रंथों के रचयिता अज्ञात थे। शेष १६५ ग्रंथ १३४ ग्रंथकारों के रचे हुए थे; जिनमें कुछ महत्वपूर्ण खोज इस प्रकार हैं:—(१) जन बैकुंठ रचित भक्ति विषयक पदावली (२) संत कवि द्वारिकादास की बानी, (३) नाथ गुरु के नाम से रचित सूक्ष्मवेद; जिसके संबंध में यह धारणा होती है कि इसके रचयिता संभवतः गोरखनाथ हैं; (४) संवत् १७०१ में हुई किसी ग्राम पंचायत का एक न्यायपत्र, जिसमें तत्कालीन पूर्वी अवधी का बड़ा सुंदर उदाहरण मिलता है; (५) दल-जीत-रचित सुदामाचरित्र (लिपिकाल सं० १९१८), (६) मतिराम रचित बरवै नायिका-भेद; (७) स्वामी नवरंगदास (प्राणनाथी धामी पंथ वाले) रचित लीलाप्रकाश; (८) फेकद्विज कृत विरहचेतनी नामक वियोग श्रृंगार विषयक रचना और प्रबंध काव्य रामरहरी (लिपिकाल सं० १८०९)।

संवत् २००२ में खोज का कार्य गोरखपुर में विंध्येश्वरीनारायण चंद्र; इलाहाबाद में लक्ष्मीप्रसाद पांडेय, गाजीपुर में श्री रामनाथ शर्मा एवं श्री भागवतप्रसाद मिश्र की देख-रेख में हुआ। दो अन्वेषक, श्री दौलतराम जुयाल और श्री कृष्णकुमार बाजपेयी ने कुल २०७ ग्रंथों के विवरण के लिए जिनमें ३२ ग्रंथों के रचयिता अज्ञात थे तथा शेष १७५ ग्रंथ २१६ ग्रंथकारों के रचे हुए थे। इनमें काव्य, प्रेमकथा तथा उपदेश और नीति विषयक ग्रंथों की प्रधानता रही। कुछ महत्वपूर्ण ग्रंथ इस प्रकार हैं—हरि चरित्र विराट् पर्व, लेखक लखनसेनि; प्रेम कथानक, लेखक जानकवि (यह बहुत बड़ा संग्रह-ग्रंथ है, जिसमें छोटे बड़े ७० ग्रंथ हैं) लक्ष्मणशतक, लेखक समाधान; सबदी, लेखक चरणदास; वियोग सागर और मोहनी, लेखक शेख अहमद; सत्यनामी संप्रदाय के संतों का वृहत् संग्रह शब्दावली; जैन कवि मुनिमान रचित कविविनोद तथा सखेश्वरदास कृत निर्गुन लीला। गोस्वामी तुलसी-दास कृत रामचरितमानस की संवत् १७४९ वि० की लिखी एक प्रति भी इस वर्ष की खोज में प्राप्त हुई।

संवत् २००३ में जौनपुर और सुलतान पुर जिलों में कार्यारंभ किया गया। इलाहा-बाद का कार्य श्री दौलतराम जुयाल ने श्री लक्ष्मीप्रसाद पांडेय की देखरेख में तथा गाजीपुर और जौनपुर का कार्य श्री कृष्णकुमार बाजपेयी ने क्रमशः श्री रामनाथ शर्मा तथा श्रीमान् राजा यादवेंद्र दत्त दुबे की देखरेख में किया। जौनपुर जिले का कार्य प्लेग के प्रकोप के कारण जब अधूरा छोड़ देना पड़ा, तब दोनों अन्वेषक सुलतानपुर जिले में श्री गोपालचंद्र सिंह की देखरेख में कार्य करने के लिए भेज दिए गए। श्री दौलतराम जुयाल ने १८४ तथा श्री कृष्णकुमार बाजपेयी ने १३६ ग्रंथों के विवरण लिए, जिनमें ५६ ग्रंथों के रचयिताओं का नाम ज्ञात नहीं हो सका। शेष २६४ ग्रंथ १५९ रचयिताओं के रचे हुए थे। जिन ग्रंथों का रचनाकाल ज्ञात हो सका, वे ११ वीं से लेकर १४ वीं शती तक के थे। अधिकांश रचनाएँ १७ वीं और १९ वीं शती के बीच की थीं। विषय की दृष्टि से सबसे अधिक रचनाएँ काव्य, ज्ञानोपदेश, नीति, श्रृंगार, भक्ति तथा वैद्यक संबंधी थीं। उपलब्ध सामग्री की दृष्टि से खोज का कार्य इस वर्ष यथेष्ट सफल रहा—अनेक नवीन ग्रंथकारों तथा अनेक महत्वपूर्ण ग्रंथों का पता चला।

हस्तलिखित ग्रंथों की खोज के अंतर्गत उन महत्वपूर्ण ग्रंथों के विवरण लेने की परंपरा रही है, जो भारत में मुद्रणयुग के आरंभिक चरण (संवत् १९३७ तक) में छपी थीं। इस वर्ष ऐसी कई पुस्तकें प्राप्त हुईं, जिनसे मुद्रणयुग के इतिहास, तत्कालीन शिक्षा पद्धति, लोकरुचि आदि बातों पर यथेष्ट प्रकाश पड़ता है।

संवत् २००४ में तीन मास तक सुलतानपुर जिले में कार्य करने के उपरांत दोनों अन्वेषक संवत् २००१-०३ की त्रैवार्षिक रिपोर्ट तैयार करने के लिए काशी बुला लिये गए। खोज की रिपोर्टें आरंभ से ही 'अंगरेजी में छपा करती थीं। ऐसी व्यवस्था मुख्यतः अंगरेजी शासन के कारण करनी पड़ती थी। हिंदी ग्रंथों की खोज का विवरण अंगरेजी में होने के कारण उन अध्येताओं को बड़ी कठिनाई उठानी पड़ती थी, जो अंगरेजी से अनभिज्ञ होते थे। हिंदी न जाननेवाले अंगरेजी के विद्वानों के लिये खोज रिपोर्टों की कोई आवश्यकता न थी। अतएव सरकार से यह आग्रह किया गया कि प्रत्येक दृष्टि से

इन रिपोर्टों का हिंदी में ही प्रकाशन अभीष्ट और उचित हैं। प्रसन्नता की बात हैं कि सरकार ने यह युक्ति-संगत बात स्वीकार कर ली और रिपोर्ट आगे से हिंदी में लिखी जाने लगी। इस वर्ष तक संवत् १९८३–८४–८५ (सन् १९२६–२८) की त्रैवार्षिक रिपोर्ट भी गवर्नमेंट प्रेस में, अप्रकाशित पड़ी हुई थी। उसको शीघ्र छपने की कोई संभावना नहीं थी। अतएव उसे भी हिंदी में भाषांतरित करने के लिए वापस मंगाया गया, किंतु वापस मिलने पर देखा गया कि रिपोर्ट अत्यंत नष्ट भ्रष्ट अवस्था में है। बड़े परिश्रम से उसे ठीक करके उसका हिंदी रूपांतर अगले वर्ष (संवत् २००५ में) गवर्नमेंट प्रेस भेज दिया गया।

संवत् २००४ में तीन मास तक जो कार्य हुआ उसमें १०५ ग्रंथों के विवरण लिए गए, जिनमें १७ ग्रंथों के रचयिता अज्ञात थे तथा शेष ८८ ग्रंथ ७१ ग्रंथकारों द्वारा रचे गए थे। इन ग्रंथकारों में से ३९ व्यक्तियों के रचनाकाल का पता नहीं चला। शेष ३२ ग्रंथकार १७ वीं से लेकर २० वीं शती तक के थे। इस वर्ष की खोज में भक्ति-विषयक रचनाओं की प्रधानता रही; पर ज्ञानोपदेश, नीति, शृंगार; काव्य आदि विषयों की भी पर्याप्त रचनाएँ प्राप्त हुईं। इस वर्ष की खोज से सत्यनामी ग्रंथ के प्रवर्त्तक स्वामी जगजीवन दास के संबंध में नवीन तथ्यों का पता चला। पिछली रिपोर्टों में इन्हें दादूदयाल का शिष्य कहा गया था, परंतु इस वर्ष की खोज से प्रकट हुआ कि जगजीवनदास जिन्होंने 'सत्यनामी पंथ' के नाम से पंथ चलाया बिसेसरपुरी और बुल्लासाहब के शिष्य थे।

देशकाल की परिवर्त्तित स्थिति के अनुसार खोज कार्य का नए सिरे से पुनः संघटन करने की आवश्यकता पर सभा कुछ दिनों से विचार कर रही थी। इसके निमित्त २०००) की जो वार्षिक सहायता सरकार दिया करती थी, उससे ग्रंथों के क्रय करने, उन्हें संपादित और प्रकाशित करने तथा खोज संबंधी अन्य आवश्यक व्यय करने की तो बात ही दूर रही, अन्वेषकों का वेतन भी सभा पूरा पूरा नहीं दे पाती थी और उसे पर्याप्त व्यय अपनी अन्य आय में से बराबर करना पड़ता था। इन सब कार्यों को सम्यक् रूप से चलाने के निमित्त २५०००) की एककालीन सहायता प्रदान करने तथा २०००) की वार्षिक सहायता को बढ़ाकर ५०००) कर देने के लिये एक आवेदन पत्र इस वर्ष सरकार के पास भेजा गया। इस पर विचार करने में सरकार को एक वर्ष से भी अधिक समय लगा, फिर भी उसने न तो वार्षिक सहायता में कोई वृद्धि की और न किसी प्रकार की एककालीन सहायता ही दी। ग्रंथों को प्रकाशित करने के लिये अवश्य २०००) की सहायता संवत् २००६ में मिली, जो आगे चलकर स्थायी हो गई। खोज कार्य की वास्तविक कठिनाई इससे दूर नहीं हुई और संवत् २००७ में श्री दौलतराम जुयाल के अतिरिक्त इस विभाग के शेष समस्त कार्यकर्ताओं को बाध्य होकर पृथक् कर देना पड़ा।

संवत् २००५ में श्री दौलतराम जुयाल रायबरेली जिले में श्री गोपालचंद्र सिंह की तथा लखनऊ नगर में श्री डा० दीनदयाल गुप्त की देखरेख में कार्य करते रहे। श्री कृष्णकुमार वाजपेयी ने जौनपुर तथा सुलतानपुर जिलों का शेष कार्य श्रीराम उपाध्याय की देख रेख में पूरा करके प्रतापगढ़ जिले में श्री शीतलाप्रसाद एडवोकेट तथा श्री कुँवर सुरेशसिंह की देखरेख में कार्यारंभ किया। जुयाल जी ने २५२ तथा वाजपेयी जी ने १६५ ग्रंथों के विव-

रण लिए; जिनमें से ५३ ग्रंथों के रचयिता अज्ञात थे तथा शेष ३६४ ग्रंथ २४३ ग्रंथकारों के रचे थे। २१२ ग्रंथों का रचनाकाल ज्ञात नहीं हो सका; शेष ग्रंथ १४ वीं से लेकर २० वीं शती तक के थे। इनमें भक्ति, अध्यात्म तथा, दर्शन, काव्य, साहित्य-शास्त्र तथा ज्ञानोपदेश विषयक महत्त्वपूर्ण ग्रंथों की प्रचुरता रही। इनके अतिरिक्त इतिहास, संत-साहित्य, दर्शन तथा संगीत के भी अनेक नवीन और महत्त्वपूर्ण ग्रंथ मिले। इस वर्ष की खोज में स्वामी चेतनदास रचित प्रसंगपारिजात नामक एक विशेष महत्त्वपूर्ण और विलक्षण ग्रंथ मिला, जिसकी रचना देशबाडी प्राकृत में पिशाच भाषा के सांकेतिक शब्दों के योग से अदना छंदों में हुई है। इसमें स्वामी रामानंद का समस्त जीवनवृत्त दिया हुआ है। रचनाकाल संवत् १५१७ तथा लिपिकाल संवत् १९९९ है। इसकी भाषा यद्यपि हिंदी से भिन्न है, तथापि रामानंद, कबीर. रैदास, खुसरो और पीपा से घनिष्ट संबंध होने के कारण यह खोज के अंतर्गत संमिलित कर ली गई। इस रचना का पूरा विवरण श्रीबलदेव उपाध्याय ने अपने भागवत संप्रदाय नामक ग्रंथ में दिया है।

संवत् २००६ में श्री दौलतराम जुयाल ने श्री डा० दीनदयालु गुप्त की देखरेख में रायबरेली तथा लखनऊ जिलों में कार्य किया तथा श्रीकृष्णकुमार वाजपेयी ने प्रतापगढ़ और बस्ती जिलों में क्रमश; श्री शीतलाप्रसाद ऐडवोकेट और श्रीपति शर्मा की देखरेख में कार्य किया। इस वर्ष प्रतापगढ़ जिले का कार्य समाप्त हो गया। श्री दौलतराम जुयाल ने २४६ तथा श्री कृष्णकुमार वाजपेयी ने २०७ ग्रंथों के विवरण लिए, जिनमें से ४३ ग्रंथों के रचयिता अज्ञात थे तथा शेष ४१० ग्रंथ ३२० ग्रंथकारों के रचे थे। २१० ग्रंथों का रचनाकाल ज्ञात नहीं हुआ। शेष ग्रंथ १४ वीं शती से लेकर २० वीं शती तक के थे, जिनमें १७ वीं से लेकर १६ वीं शती तक के ग्रंथों का परिमाण सर्वाधिक रहा। इस वर्ष की खोज में विशुद्ध साहित्य कोटि में परिगणित होनेवाले महत्त्वपूर्ण ग्रंथों की प्रधानता रही। कई ऐसे ग्रंथ भी मिले, जिनमें मध्यकालीन ऐतिहासिक वृत्तों का संग्रह है। इनके अतिरिक्त भक्ति, संत-साहित्य, परिचयी (जीवनवृत्त) संबंधी भी उपयोगी रचनाओं के विवरण इस वर्ष लिए गए। इस वर्ष लखनऊ के जिन दो प्रमुख जैन-मंदिरों में खोज का कार्य हुआ, उनमें जैन संप्रदाय के अनेक महत्त्व के धार्मिक तथा साहित्यिक ग्रंथ मिले, जिनसे पता चला कि अधिकांश जैन वाङमय का हिंदी भाषांतर बहुत पहले ही हो चुका था। इनमें पद्य के अतिरिक्त गद्य रचनाएँ भी मिली हैं, जो भाषाशास्त्र के अध्ययन के लिये विशेष उपयोगी सिद्ध हो सकती हैं। इस वर्ष सभा के लिये १३२ हस्तलिखित ग्रंथ भी प्राप्त किए गए।

संवत् २००७ में श्री दौलतराम जुयाल ने डा० दीनदयालु गुप्त की देखरेख में रायबरेली तथा लखनऊ जिलों में और श्री कृष्णकुमार वाजपेयी ने श्री श्रीपति शर्मा की देखरेख में बस्ती जिले में कार्य किया। यह कार्य केवल दो मास तक हुआ और १०० ग्रंथों के विवरण लिए गए, जिनमें से ७ ग्रंथों के रचयिता अज्ञात थे तथा शेष ९३ ग्रंथ ६४ ग्रंथकारों के रचे थे। ४४ ग्रंथों का रचनाकाल अज्ञात रहा तथा शेष ग्रंथ १५ वीं से लेकर २० वीं शती तकके थे, जिनमें सर्वाधिक रचनाएँ १८ वीं शती की थीं। विषय की दृष्टि से ज्ञानोपदेश, भक्ति, धर्म, पुराण, कथावार्ता आदि की रचनाएँ अधिक थीं।

संवत् २००८ में भी सं० २००४-०६ की त्रैवार्षिक रिपोर्ट प्रस्तुत करने का कार्य श्री दौलतराम जुयाल द्वारा होता रहा। यह रिपोर्ट लगभग १२०० पृष्ठों की हुई। इस त्रैवार्षिक रिपोर्ट के अतिरिक्त अन्वेषक ने निम्नलिखित विवरण और प्रस्तुत किए—

१. संवत् २००१ से २००३ तक की खोज का संक्षिप्त विवरण।
२. सन् १६०० से १९५० तक की खोज का परिचयात्मक विवरण।
३. संवत् २००४ से २००६ तक की खोज का संक्षिप्त विवरण तथा इन तीन वर्षों में मिले ग्रंथों एवं ग्रंथकारों की सूची।

संवत् १९८३-८५ (सन् १९२६-२८) की त्रैवार्षिक रिपोर्ट का हिंदी रूपांतर गवर्नमेंट प्रेस भेजे पर्याप्त समय हो चुका था; किंतु उसके शीघ्र प्रकाशन की कोई संभावना नहीं दिखाई पड़ी। पिछले पचीस वर्षों के भीतर खोज संबंधी जो कुछ कार्य हुआ था, उसका अत्यंत संक्षिप्त उल्लेख मात्र सभा के वार्षिक विवरणों तथा नागरीप्रचारिणी पत्रिका में हुआ करता था। इस बीच जो सामग्री उपलब्ध हुई थी, वह इतनी महत्त्वपूर्ण थी कि साहित्य और इतिहास का विशेष अध्ययन करनेवाले विद्वान् खोज के पूरे विवरणों को शीघ्र से शीघ्र प्रकाशित देखने के लिये अत्यंत उत्सुक थे। फलतः खोज के निरीक्षक श्री डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने उनके प्रकाशन की एक बहुत उपयोगी और व्यावहारिक योजना इस वर्ष प्रबंध समिति के समक्ष उपस्थित की, जिसमें कहा गया था कि यतः गवर्नमेंट प्रेस अपने अन्य कार्यों के कारण खोज रिपोर्ट मुद्रित करने की स्थिति में नहीं है, अतएव सरकार को चाहिए कि पिछले लगभग २५ वर्षों के विवरणों को, विस्तृत रूप में न सही तो किंचित् संक्षिप्त करके, तीन जिल्दों में प्रकाशित करने के लिये सभा को विशेष अनुदान देने की कृपा करे, और सभा उन्हें स्वयं प्रकाशित कर दे। तीनों जिल्दों में कुल मिलाकर २०७००) के व्यय का अनुमान किया गया था। अपनी २७ दिसंबर १९५२ की राजाज्ञा द्वारा सरकार ने एतदर्थ १००००) का अनुदान स्वीकृत किया। संपूर्ण अनुमित व्यय की स्वीकृति न मिलने के कारण योजनानुसार तीन जिल्दों में रिपोर्टों का प्रकाशन संभव नहीं प्रतीत हुआ; अतएव उसमें किंचित् परिवर्तन करके उसे ऐसा स्वरूप दे दिया गया, जिसमें प्राप्त अनुदान के भीतर ही खोज के समस्त विशेष आवश्यक और उपादेय अंश आ गए। यह विवरण सभा बहुत तेजी से छाप रही है। आशा है यह शीघ्र ही प्रकाशित हो जायगा और विस्तृत रिपोर्टों के अभाव में अनुसंधायकों को जो कठिनाइयाँ उठानी पड़ती थीं वे दूर हो जायँगी।

संवत् २००९ में श्री दौलतराम जुयाल भाद्रपद मास तक सन् १९४४-१६५० तक के खोज कार्य का संक्षिप्त विवरण तैयार करते रहे। तत्पश्चात् पौष मास तक वे सभा के आर्यभाषा पुस्तकालय में संगृहीत ग्रंथों का विवरण लेते रहे। माघ मास में वे अपने कार्यक्षेत्र गाजीपुर चले गए और वहाँ श्री गोपालचंद्र सिंह की देखरेख में कार्य करते रहे। उन्होंने कुल ३५६ ग्रंथों के विवरण लिए जो १८५ ग्रंथकारों के रचे हुए थे। इनमें २६७ ग्रंथों का रचनाकाल अज्ञात था तथा शेष ग्रंथ १४वीं से लेकर २०वीं शती तक के थे। ज्ञात रचनाकाल वाले ग्रंथों में १४वीं–१५वीं तथा १७वीं–१८वीं शती की रचनाएँ अधिक रहीं। इस वर्ष की खोज में जो ग्रंथ मिले, विषय की दृष्टि से उनमें भक्ति, ज्ञानोपदेश, स्तुति, माहात्म्य

तथा परिचयी (जीवनवृत्त) की प्रधानता रही। ऐसे अनेक मध्यकालीन संतों की रचनाएँ इस वर्ष प्रकाश में आईं जिनका पता खोज में पहले कभी नहीं लगा था।

ऊपर संवत् २००८ के विवरण के अंतर्गत खोज के जिस ५० वर्षीय परिचयात्मक विवरण का उल्लेख हुआ है, वह पहले नागरीप्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ५७ (संवत् २००९), अंक १ में प्रकाशित हुआ था और तदनंतर पृथक् पुस्तकाकार भी प्रकाशित हुआ। इस विवरण के प्रारंभ में खोज विभाग के तत्कालीन निरीक्षक श्री डा० वासुदेवशरण अग्रवाल की प्रस्तावना है, जिसमें खोज कार्य की सांप्रतिक समस्याओं, यथा अनछपे विवरणों को शीघ्र प्रकाशित करने, संगृहीत सामग्री का विद्वानों द्वारा उपयोग किए जाने, न मिल सकनेवाले ग्रंथों की प्रतिलिपि के लिये फोटोस्टैट यंत्र की व्यवस्था होने, ग्रंथ-स्वामियों द्वारा मूल ग्रंथ सुरक्षार्थ सभा को दिए जाने तथा हिंदी क्षेत्र के अन्य भागों में व्यवस्थित खोज की जाने आदि की चर्चा है। विवरण के अंतर्गत आरंभ में खोज विभाग का अब तक का संक्षिप्त इतिहास देकर तत्संबंधी मुख्य मुख्य बातों की चर्चा निम्नलिखित क्रम से की गई है।—

१. स्थापना
२. अध्यक्ष (निरीक्षक) तथा अन्वेषक
३. कहाँ कहाँ खोज हुई
४. व्यय का विवरण
५. प्रकाशित रिपोर्टों का विवरण
६. कितने ग्रंथों के विवरण लिए गए
७. शताब्दी क्रम से ग्रंथों तथा ग्रंथकारों की संख्या
८. सभा के लिये प्राप्त ग्रंथों की संख्या
९. महत्त्वपूर्ण ग्रंथों तथा रचयिताओं का विवरण।

इस परिचयात्मक विवरण के अंत में प्रकाशित तथा अप्रकाशित समस्त खोज रिपोर्टों में आए हुए लगभग ५५० ग्रंथों की सूची रचयिता, रचनाकाल तथा लिपिकाल के साथ देकर रिपोर्टों में उनके उल्लेख का स्थान-निर्देश भी कर दिया गया है। यह सूची बड़ा उपादेय है, किंतु स्थान-संकोच के कारण वह उद्धृत नहीं की जा रही है।

६—प्रकाशन

प्रकाशन के संबंध में सबसे पहले सं० १९५१ में श्री राधाकृष्णदास का यह प्रस्ताव स्वीकृत हुआ था कि हिंदी भाषा के प्रसिद्ध पत्र-संपादकों, ग्रंथकारों तथा लेखकों के जीवन-चरित लिखवा कर प्रकाशित किए जायँ। उसी वर्ष आगे चलकर प्रकाश्य ग्रंथों की एक योजना सभा ने बनाई, जिसके अंतर्गत सर्वप्रथम प्रकाशित होने का श्रेय भी श्री राधाकृष्णदास रचित 'हिंदी भाषा के सामयिक पत्रों का इतिहास' को ही मिला। दूसरे वर्ष तो हिंदी व्याकरण और हिंदी कोश की तैयारी का उद्योग भी आरंभ हो गया। तीसरे वर्ष नागरीप्रचारिणी पत्रिका का जन्म हुआ। इस प्रकार सभा प्रतिवर्ष हिंदी साहित्य के निर्माण और प्रकाशन में उत्तरोत्तर आगे ही बढ़ती गई।

(१)—नागरीप्रचारिणी पत्रिका

संवत् १९५३ में पत्रिका का प्रकाशन आरंभ हुआ। इसके प्रथम संपादक श्री श्यामसुंदरदास थे। आरंभ में पत्रिका त्रैमासिक थी और उसमें डिमाई आकार के ६ फर्मे की वाचन सामग्री हुआ करती थी। लेखों का चयन विषयों की उपयोगिता की दृष्टि से किया जाता था, जिसके लिये एक परीक्षक समिति संघटित थी। पत्रिका के पहले वर्ष में परीक्षक समिति के निम्नलिखित सदस्य थे—रायबहादुर श्री लक्ष्मीशंकर मिश्र, श्रीराधाकृष्ण दास, श्री कार्त्तिकप्रसाद, श्री जगन्नाथदास रत्नाकर तथा श्री देवकीनंदन खत्री।

परीक्षक समिति की अनुमति के बिना कोई भी लेख पत्रिका में प्रकाशित नहीं हो सकता था। भाषा के विषय में सभा की तत्कालीन नीति कैसी थी, यह उसके १८ श्रावण सं १९५३ (३.८.१८९६) के निम्नलिखित निश्चय से स्पष्ट होता है—

"सभा की ओर से लिखे हुए जो लेख वा रिपोर्ट आदि प्रकाशित हों, उनमें ठेठ हिंदी के शब्द रहा करें, अर्थात् न बड़े संस्कृत के शब्द हों और न अरबी फारसी भाषाओं के हों। जो लेख सभा द्वारा प्रकाशित होने के लिए कहीं से आएँ, उनमें यदि फारसी अरबी के शब्द भरे रहें तो परीक्षक कमेटी उन्हें स्वीकृत न करे।"

पाँचवें वर्ष तक पत्रिका का संपादन श्री श्यामसुंदर दास परीक्षक-समिति के निरीक्षण में करते रहे। छठे वर्ष उन्होंने स्वतंत्र रूप से पत्रिका का संपादन किया। सातवें वर्ष महामहोपाध्याय श्री सुधाकर द्विवेदी उसके संपादक रहे। आठवें वर्ष पुनः श्री श्यामसुंदर दास को ही पत्रिका के संपादन का कार्य सौंपा गया और नवें वर्ष श्री किशोरीलाल गोस्वामी उनके सहायक नियत किए गए। दसवें वर्ष श्री कालिदास ने पत्रिका का संपादन किया और ग्यरहवें वर्ष श्री राधाकृष्णदास।

बारहवें वर्ष अनेक सभासदों के विशेष अनुरोध करने पर सभा ने पत्रिका को त्रैमासिक से मासिक कर दिया, किंतु मूल्य में कोई वृद्धि नहीं की। इस वर्ष से श्री श्यामसुंदरदास को फिर संपादन का कार्य सौंपा गया। तेरहवें वर्ष में भी उन्होंने ही संपादन किया।

चौदहवें वर्ष में पत्रिका के आकार और विषय दोनों में बहुत कुछ परिवर्तन किया गया। अब तक उसमें केवल लेख ही छपते थे और वह डिमाई अठपेजी आकार में निकलती थी, किंतु १० श्रावण सं० १९६६ को सभा की प्रबंधकारिणी ने निश्चय किया कि—

'पत्रिका अधिक रोचक बनाई जाय। उसके १२ पृष्ट डिमाई चौपेजी आकार में निकाले जायँ, उसमें हिंदी के संबंध के सब समाचारों पर टिप्पणियाँ रहें, सभा के सभासदों में से जो कोई हिंदी की सेवा करे उसका उल्लेख रहे, सभा संबंधी सब समाचार रहें और साथ ही साहित्य संबंधी छोटे छोटे लेख रहें।'

इस निश्चय के अनुसार आश्विन, १९६६ वि० से संपादन का भार श्री रामचंद्र शुक्ल को दिया गया। शुक्ल जी चौदहवें से लगाकर उन्नीसवें वर्ष तक संपादक रहे। अठारहवें बर्ष में श्री रामचंद्र वर्मा उनके सहकारी बनाए गए, जो उन्नीसवें वर्ष तक उनके साथ कार्य करते रहे।

सोलहवें वर्ष में पत्रिका का आकार पुनः बदला गया। अनेक पाठकों के यह शिकायत करने पर कि पत्रिका में बहुत सा स्थान सभा के कार्यविवरण से भर जाता है और उसमें पढ़ने योग्य लेख कम रहते हैं, माघ सं० १९६९ से उसका आभार डिमाई चौपेजी से क्राउन चौपेजी किया गया और पृष्ठ संख्या १२ से १४ कर दी गई।

बीसवें वर्ष (सं० १९७२) में श्री रामचंद्र वर्मा, जो दो वर्षों से सहकारी संपादक का कार्य कर रहे थे, पत्रिका के वैतनिक संपादक नियुक्त हुए। बाईसवें वर्ष (सं १९७४) में संपादक श्री वेणी प्रसाद रहे। तेईसवें वर्ष (सं १९७५) में श्री रामचंद शुक्ल पुनः पत्रिका के संपादक बनाए गए। चौबीसवें वर्ष (सं० १६७६) में शुक्लजी की अस्वस्थता और समयाभाव के कारण पत्रिका के केवल पाँच अंक निकल सके।

इस वर्ष के साथ एक प्रकार से पत्रिका के इतिहास का प्रथम अध्याय समाप्त होता है। इन चौबीस वर्षों में पत्रिका की जो संख्याएँ प्रकाशित हुईं, उनको वर्षक्रम से २४ भागों में विभक्त करके पुनर्मुद्रण भी कराया गया था।

सं० १६९७ से पत्रिका मासिक से फिर त्रैमासिक कर दी गई। उसमें पुरातत्त्व, इतिहास तथा अन्यान्य शोध संबंधी गंभीर लेख प्रकाशित करने का आयोजन किया गया। प्रत्येक अंक में रायल अठपेजी आकार के १२० पृष्ठ देने का निश्चय हुआ। संपादन का भार सर्वश्री रायबहादुर गौरीशंकर हीराचंद ओझा, श्यामसुंदरदास, चंद्रधर शर्मा गुलेरी और मुंशी देवीप्रसाद को सौंपा गया।

विद्वानों ने पत्रिका के इस रूप का बहुत आदर किया। प्रसिद्ध विद्वान डा० ग्रियर्सन ने रायल एशियाटिक सोसाइटी की पत्रिका में इसके विषय में बहुत अच्छी संमति प्रकट की थी, जिसका कुछ अंश इस प्रकार है—

"हम वास्तव में एक गंभीरतापूर्ण पत्रिका को प्रकाशित करने पर सभा का अभिवादन करते हैं। इसका संपादन उस ढंग पर हो रहा है, जो पश्चिमी विद्वानों को भी प्रिय होगा।"

छब्बीसवें वर्ष (सं० १९७८) में पत्रिका के ६ अंक प्रकाशित करके सं० १९७७ के दो अंकों की कमी पूरी कर दी गई। इस वर्ष संपादन का भार ओझाजी और गुलेरी जी पर रहा। सत्ताईसवें वर्ष (सं० १९७९) में गुलेरी जी का देहांत हो जाने के कारण अकेले ओझा जी पर ही पत्रिका के संपादन का पूरा भार रहा। अट्ठाईसवें वर्ष (सं० १९८०) में भी वे ही संपादक रहे। उनतीसवें वर्ष (सं० १९८१) से श्रीश्यामसुंदरदास उनके सहायक बनाऐ गए और एकतीसवें वर्ष (सं० १९८९) तक ये ही दोनों विद्वान पत्रिका का संपादन करते रहे। इस प्रकार संवत् १९७७ से सं० १९८९ तक पूरे तेरह वर्ष ओझा जी पत्रिका के प्रधान संपादक रहें। इनके संपादन-काल में पत्रिका ने बहुत उन्नति की और विद्वानों में उसकी प्रतिष्ठा भी बहुत बढ़ गई। हिंदी भाषी विद्वानों में तो इसका विशेष आदर हुआ ही, पाश्चात्य देशों के विद्वानों तथा पुरातत्त्व संबंधी संस्थाओं में भी इसका आदर दिन दिन बढ़ता गया।

अड़तीसवें वर्ष (सं० १९९०) में आर्थिक कठिनाई के कारण पत्रिका का आकार कुछ छोटा कर दिया गया, पर पृष्ठ-संख्या कुछ बढ़ा दी गई। इस वर्ष से श्री श्यामसुंदर दास प्रधान संपादक हुए, जो सं० १९९४ तक कार्य करते रहे।

तैतालीसवें वर्ष (सं० १९९५) में पत्रिका के उद्देश्यों का विस्तार किया गया और उसके आकार प्रकार में थोड़ा परिवर्तन कर उसे और सुन्दर बनाने का निश्चय हुआ। नए उद्देश्यों के अनुसार पत्रिका में ये पांच स्कंध रखे गए—

१. नागरी लिपि और हिंदी भाषा का संरक्षण तथा प्रसार,
२. हिंदी साहित्य के विविध अंगों का विवेचन,
३. भारतीय इतिहास वौर संस्कृति का अनुसंधान,
४. प्राचीन तथा अर्वाचीन शास्त्र, विज्ञान और कला का पर्यालोचन
५. सभा की प्रगति।

इस वर्ष पत्रिका के संपादन के लिये भिन्न भिन्न विषयों के विद्वानों का एक संपादक-मंडल बनाया गया जिसमें ये ६ सदस्य थे—सर्वश्री रामचंद्र शुक्ल, मंगलदेव शास्त्री, केशवप्रसाद मिश्र, जयचंद्र नारंग, लल्लीप्रसाद पाण्डेय और कृष्णानंद (संयोजक)। चौवालीसवें वर्ष (सं. १९९६) के लिए भी एक श्री लल्लीप्रसाद पांडेय को छोड़कर शेष पांचों सज्जन सपादक-मंडल में यथापूर्व रहे। पैंतालीसवें वर्ष (सं० १९९७) में भी इसी संपादक मडल ने कार्य किया। छियालीसवें वर्ष (सं० १९९८) के लिये सर्वश्री केशवप्रसाद मिश्र, वासुदेवशरण अग्रवाल, पद्मनारायण आचार्य और कृष्णानंद (संपादक) इन चार सदस्यों का संपादक-मंडल बनाया गया। सैंतालीसवें वर्ष (सं० १९९९) में भी इसी मंडल ने संपादन कार्य किया।

संवत् २००० में अपनी अर्द्धशताब्दी के साथ महाराज विक्रम की द्विसहस्राब्दी मनाने का भी निश्चय किया था और उसी अवसर पर पत्रिका के इस वर्ष के चारो अंकों का एक संमिलित अंक 'विक्रमांक' प्रकाशित करने का निश्चय हुआ था। सभा ने इस अंक को सुदूर अतीत से लेकर इस युग तक की साहित्यिक, सांस्कृतिक, ऐतिहासिक और सामाजिक गति विधि का प्रतीक अंक बनाने की भरसक चेष्टा की और इस अंक के लिये श्री डा० वासुदेवशरण अग्रवाल को संपादक मनोनीत किया। किन्तु कागज की कमी के कारण विक्रमांक के दो खंड करने पड़े। पूर्वार्द्ध संवत् २००० में तथा उत्तरार्द्ध संवत् २००१ में प्रकाशित हुआ।

संवत् २००९ तक पत्रिका के संपादन, तत्संबंधी पत्राचार, छपाई, प्रूफ आदि का समस्त उत्तरदायित्व अवैतनिक संपादकों पर रहा करता था। किंतु युग की परिवर्तित परिस्थितियों के कारण अवैतनिक संपादकों के लिये यह सारा उत्तरदायित्व अकेले सँभालना उत्तरोत्तर कठिन से कठिनतर होता जा रहा था और पत्रिका के अंक बराबर पीछे पड़ते जा रहे हैं। अतः संवत् २००२ में पत्रिका के (अवैतनिक) प्रधान संपादक श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र और वैतनिक सहायक संपादक श्री शिवनाथ नियुक्त किए गए। परंतु युद्ध के कारण कागजपर प्रतिबंध होजाने से एक ओर तो पत्रिका की पृष्ठ संख्या कमकर देनी पड़ी और दूसरी ओर मुद्रण संबंधी कठिनाई के कारण वह अपने घटे हुए आकार में भी समय से प्रकाशित न हो सकी। यह व्यतिक्रम संवत् २००४ में जाकर दूर हुआ। सं० २००६ में पत्रिका के प्रधान संपादक श्री कृष्णानंद जी हुए तथा सहायक संपादक श्री पुरुषोत्तमलाल श्रीवास्तव।

संवत् २००७ में सभी अंक समय पर निकले और पत्रिका का प्रकाशन अद्यतन हो गया। सभा ने निश्चय किया था कि इस वर्ष होनेवाले भारतेंदु जन्मशती महोत्सव के अवसर पर दो अंकों का एक विशेषांक भारतेंदु जन्मशती महोत्सव के अवसर पर दो अंकों का एक विशेषांक भारतेंदु जन्मशती विशेषांक के रूप में प्रकाशित किया जाय। इस अंक में भारतेंदु जी से संबद्ध प्रायः समस्त विषयों की श्रेष्ठ सामग्री प्रस्तुत करने में अधिकारी विद्वानों का पूरा पूरा सहयोग तत्परतापूर्वक मिला। इसी वर्ष से पत्रिका में विमर्श नाम से एक नया स्तंभ आरंभ किया गया, जिसमें विद्वानों के विशेषतः पत्रिका में प्रकाशित लेखों और मतों पर समीक्षात्मक लेख प्रकाशित होते हैं। इस वर्ष के चौथे अंक से एक संपादन-परामर्श-मंडल की व्यवस्था की गई, जिसके सदस्य निम्नलिखित थे—श्री केशवप्रसाद मिश्र, श्री रायकृष्णदास, श्री डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी तथा श्री डा० वासुदेवशरण अग्रवाल।

संवत् २००७ के अंत में आचार्य केशवप्रसाद जी मिश्र का निधन हो गया। संवत् २००८ में सभा ने निश्चय किया कि इस वर्ष का तृतीय चतुर्थ अंक केशव स्मृति अंक के रूप में प्रकाशित किया जाय। स्व० आचार्य केशवप्रसाद मिश्र भाषाशास्त्र, साहित्य, व्याकरण, दर्शन आदि विषयों के मार्मिक विद्वान एवं सभा के संमानित सदस्य थे। उक्त विशेषांक इसी वर्ष यथेष्ट सफलता के साथ प्रकाशित हुआ।

सं० २०१० में आचार्य डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी तथा श्री कृष्णानंद जी प्रधान संपादक हैं ताथ श्री पुरुषोत्तम लाल श्रीवास्तव सहायक संपादक। पत्रिका का यह ५८ वाँ वर्ष चल रहा है। इसके प्रत्येक अंक में औसत से रायल (२० × १६ इंच) अठपेजी आकार के ९६ पृष्ठ रहते हैं। संप्रति इसके स्थायी स्तंभ ये हैं—

१. लेख, जिसमें विभिन्न विषयों पर मुख्यतः शोध संबंधी मौलिक सामग्री होती है;

२. विमर्श, जिसके अंतर्गत (साधारणतः पत्रिका में प्रकाशित लेखों में प्रतिपादित मतों पर समीक्षात्मक विस्तृत टिप्पणियाँ होती हैं;

३. चयन, जिसमें अन्यान्य पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित साहित्य, इतिहास, आदि सबधी अत्यंत विशिष्ट सामग्री उद्धृत होती हैं;

४. निर्देश, जिसके अंतर्गत हिंदी तथा अँगरेजी की पत्रिकाओं में प्रकाशित शोध सबंधी लेखों का पूरा परिचय तथा उनमें प्रतिपादित विषयवस्तु की संक्षिप्त सूचना होती है;

५. समीक्षा;

६. विविधि, जिसमें विविध महत्त्वपूर्ण विषयों पर संपादकीय तथा अन्य टिप्पणियाँ रहती हैं; तथा

७. सभा की प्रगति।

(२) हिंदी शब्दसागर

८ ज्येष्ठ सं० १९५१ को श्री राधाकृष्णदास के प्रस्ताव पर सर्वप्रथम सभा ने यह निश्चय किया था कि हिंदी का एक बड़ा कोश तैयार किया जाय। इस निश्चय को कार्या-

न्वित करने के लिये सबसे बड़ी आवश्यकता धन की थी। कई वर्षों तक यह प्रश्न सभा के समक्ष विचाराधीन रहा; किंतु द्रव्य की संतोषजनक व्यवस्था न हो सकने के कारण कोई उल्लेखनीय प्रगति नहीं हुई। तथापि कोश का अभाव निरंतर खटक रहा था और सभा के तत्कालीन सदस्य उसे दूर करने का उपाय ढूँढ निकालने का प्रयत्न बराबर कर रहे थे। २४ भाद्रपद १९५७ के अधिवेशन में रेवरेंड ई० ग्रीव्स ने कोश विषयक प्रश्न सभा की प्रबंध समिति के समक्ष पुनः उपस्थित किया और इसकी पूर्ति के लिये अपने विचार भी प्रकट किए। ग्रीव्स महाशय के सुझाव ऐसे व्यावहारिक थे कि प्रबंध समिति ने तत्काल एक उपसमिति इस विषय पर सलाह और योजना प्रस्तुत करने के लिये संघटित कर दी। इस उपसमिति ने अपनी विस्तृत योजना २३ मार्गशीर्ष १९६४ की प्रबंध समिति के समक्ष प्रस्तुत की। आरंभ में कुल मिलाकर ३००००) व्यय का अनुमान किया गया था। इस कार्य को आरंभ कराने का यश सर सुंदरलाल जी को प्राप्त है। यदि वे आरंभ में १०००) देकर सभा को उत्साहित न करते, तो कदाचित् इस कार्य को आरंभ करना उस समय कठिन हो जाता। आरंभ में यह आशा की गई थी कि ग्रंथों से शब्दों के संग्रह का बहुत कुछ कार्य अवैतनिक लोग करेंगे। पर इसका कोई फल नहीं हुआ। अंत में यह निश्चय किया गया कि कुछ व्यक्ति इस कार्य के लिये वेतन पर नियुक्त किए जायँ। तदनुसार भाद्रपद, १९६६ में यह कार्य आरंभ हुआ। संवत् १९६६ के अंत में १५ व्यक्ति शब्द संग्रह के कार्य पर नियुक्त थे और उन पर ३००) मासिक व्यय होता था। श्री श्यामसुंदरदास इसके प्रधान संपादक बनाए गये। उन्हें इनकी सहायता के लिये सहायक संपादक के रूप में कार्य करने के लिये सर्वश्री बालकृष्ण भट्ट, अमीरसिंह, भगवानदीन और रामचंद्र शुक्ल चुने गये थे।

संवत् १९६७ में शब्द-संग्रह का कार्य समाप्त हो गया। निर्धारित स्थानों के अतिरिक्त अन्य अनेक स्थानों से भी शब्द संगृहीत हुए थे। भिन्न भिन्न व्यापार व्यवसाय आदि पर जो ग्रंथ गवर्नमेंट की ओर से समय समय पर प्रकाशित हुए थे, उन सबको मँगाकर उनमें से भी आवश्यक शब्दों का संकलन किया गया था। अँगरेजी तथा अन्य भाषाओं में जो कोश तब तक प्रकाशित हो चुके थे, उनमें से भी शब्द चुने गए। डिंगल भाषा तथा पुरानी हिंदी के शब्द-संग्रह में श्री देवीप्रसाद तथा श्री भवानीदत्त जोशी से भी सहायता ली गई। जहाँ तक संभव था, शब्दों के संग्रह का पूरा प्रयत्न किया गया था और इस प्रकार शब्दों की कोई १० लाख चिटें (स्लिपें) तैयार की गई थीं।

वैशाख, सं० १९६९ से कोश का छपना आरंभ हुआ। वैशाख और ज्येष्ठ मास में प्रधान संपादक श्री श्यामसुंदरदास ने जो उस समय कार्यवश कश्मीर चले गए थे, काशी में ठहरकर इस कार्य की देखभाल की और जहाँ जहाँ जो सुधार करना आवश्यक जान पड़ा उसका प्रबंध कर दिया। इसके बाद बहुत दिनों तक वे बीमार रहे, फिर भी कोश के कार्य की देखभाल के लिये बराबर कार्यालय आते रहे। उन दिनों को छोड़कर जब वे उठने-बैठने तक में असमर्थ थे, उनका कार्यालय आना एक दिन के लिये भी नहीं छूटा। बीच में बाहर जाने के भी प्र ताव आए, पर उनको अस्वीकार करके वे कोश के कार्य के लिये काशी में ही बने रहे।

संवत् १९८१ में कोश के संबंध में एक बड़ी हानिकर दुर्घटना हो गई। कोश विभाग से बहुत सी चिटें चोरी हो गईं। ये चिटें संपादित तथा अ-संपादित सभी प्रकार की थीं। यद्यपि इन शब्दों का संग्रह तथा संपादन दुबारा बड़ी सावधानी से कराया गया फिर भी उनमें कुछ न कुछ त्रुटि रह जाना अनिवार्य था।

संवत् १९८४ में कोश का प्रधान अंश समाप्त हो गया। केवल उन्हीं शब्दों का संग्रह और संपादन शेष रहा, जो किसी कारण छूट गए थे, छपने से रह गए थे अथवा नए प्रचलित हुए थे। यह कार्य भी स० १९८५ में समाप्त हो गया। छूटे हुए शब्दों का संग्रह और संपादन करने में अवश्य ही आशा से अधिक समय लगा, पर वह अनिवार्य था। इसके अतिरिक्त कोश की प्रस्तावना लिखने में भी बहुत अधिक समय लगा। यह महदनुष्ठान अंततः सवत् १९८५ में संपूर्ण हुआ और पूरा कोश छपकर जनता के हाथों में पहुँच गया।

इस प्रकार संपूर्ण शब्दसागर में सब मिलाकर ९३११५ शब्द और ४२८१ पृष्ठ हैं। इस वृहत् कोश की तैयारी में सं० १९६४ से १९८५ (सन् १९०८ से १९२९) तक लगभग २२ वर्ष लगे और १०८७१९ रु० १४ आ० ६ पा० व्यय हुए।

(३) कोशोत्सव और कोशोत्सव स्मारक संग्रह

इतने बड़े कार्य की सफल समाप्ति पर उत्सव मनाने की इच्छा होना स्वाभाविक था। अतः २५ मार्गशीर्ष संवत् १९८४ (११ दिसंबर, १९२७) को सभा की प्रबंध समिति ने निश्चय किया कि कोश की समाप्ति पर सभा एक विशेष उत्सव का आयोजन करे और उस उत्सव में कोश के संपादकों का यथासाध्य संमान किया जाय, जिन्होंने अपने जीवन का बहुत बड़ा अंश इस कोश को प्रस्तुत करने में व्यतीत किया है। कोश के प्रधान संपादक तथा सहायक संपादकों को एक एक दुशाला, एक एक सोने की जेब घड़ी और एक एक फाउंटेन-पेन भेंट किया जाय। किंतु कोश के प्रधान संपादक श्री श्यामसुंदरदास ने सभा से किसी तरह की भेंट लेना स्वीकार नहीं किया। ऐसी स्थिति में सभा ने निश्चय किया कि कोश के सहायक सपादकों का सत्कार तो उक्त रीति से ही किया जाय और प्रधान संपादक का संमान करने और उनके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करने के लिये 'कोशोत्सव-स्मारक-सग्रह' नाम से एक अभिनदनात्मक लेख संग्रह प्रकाशित किया जाय। महामहोपाध्याय श्री गौरी-शंकर हीराचंद ओझा को इसके संपादन का कार्य सौंपा गया। ग्रथ छपकर तैयार होने पर बड़े समारोह के साथ उत्सव का आयोजन किया गया और ओझा जी के हाथों वसत पंचमी (२ फाल्गुन) को कोश के प्रधान संपादक श्री श्यामसुंदरदास जी को समर्पित किया गया।

(४) संक्षिप्त हिंदी शब्दसागर

हिंदी शब्दसागर एक वृहत् कोश है। उस समय उसका मूल्य ५०) था। जो लोग इतना मूल्य देकर उसे खरीदने में असमर्थ थे उनके और कालेज के विद्यार्थियों के सुभीते के विचार से संवत् १९८१ में सभा ने इसका संक्षिप्त संस्करण प्रकाशित करने का निश्चय किया था और उसका संपादन श्री रामचंद्र शुक्ल को सौंपा था। शुक्ल जी शब्दसागर के संपादन

का कार्य तो कर ही रहे थे और उसे दोहराने का कार्य भी उन्हीं के हाथ में था; इस कारण वे संक्षिप्त संस्करण का काम अधिक नहीं कर सके। सवत् १९८५ के मध्य तक केवल तृतीयांश का ही संक्षेप प्रस्तुत हो सका। अतः सभा ने संवत् १९८६ न श्री रामचंद्र वर्मा को यह कार्य सौंप कर इसकी शीघ्र समाप्ति का प्रबंध किया। संवत् १६७७ में इसका छपना आरंभ हो गया। आशा की जाती थी कि १६८८ में पूरा ग्रंथ छपकर तैयार हो जायगा, पर प्रेस की ढिलाई के कारण ऐसा न हो सका, तब तक उसका तीन चौथाई ही छप पाया। हिंदी प्रेमी और विशेषकर विद्यार्थी इस संस्करण के लिये बहुत उत्सुक थे। अस्तु, संवत् १८८६ में संक्षिप्त हिंदी शब्दसागर छपकर तैयार हुआ और १२०० पृष्ठों के इस ग्रंथ की सजिल्द प्रति का मूल्य ४) मात्र रखा गया। यह संस्करण विद्यार्थियों के लिये बड़े ही काम का है। प्राचीन काव्यों तथा आधुनिक गद्य पद्य साहित्य में जो कठिन शब्द मिलते हैं वे इसमें विशेष रूप से दिए गए हैं।

सं० १६६३ में इस कोश का दूसरा संस्करण छपा और संवत् १६६६ में तीसरा।

(५) कोशों का संशोधन

लगभग ३० वर्षों तक हिंदी शब्दसागर तथा संक्षिप्त हिंदी शब्दसागर ज्यों के त्यों छपते रहे। इस बीच हिंदी में हजारों नए शब्द प्रचलित हुए पूर्व प्रचलित शब्दों के अर्थ में भी विस्तार तथा संकोच हुआ। अतएव कुछ दिनों से हिंदी प्रेमियों को तथा स्वयं सभा को भी इस बात की आवश्यकता प्रतीत होने लगी कि इन दोनों कोशों का संशोधन अपेक्षित है। संवत् १६६७ में संक्षिप्त हिंदी शब्दसागर के चौथे संस्करण के लिये संशोधन का कार्य श्री रामचंद्र वर्मा को सौंपा गया। किंतु इसी बीच उसके पुनर्मुद्रण में हाथ लग गया था और बहुत सा अंश पुनर्मुद्रित भी हो चुका था। यह पुनर्मुद्रित संस्करण सं० २००२ के आरंभ में प्रकाशित हुआ। इसके लिये वर्मा जी ने जो संशोधन, परिवर्द्धन किया था, वह परिशिष्ट के रूप में अंत में संमिलित कर दिया गया। इस संस्करण की ५००० प्रतियाँ छपी थीं जो ३-४ महीने में ही समाप्त हो गईं, फिर भी इसकी माँग ज्यों की त्यों बनी रही। इस संस्करण में जो अंश परिशिष्ट के रूप में दिया गया था, अगले संस्करण के लिये वह मूल कोश में यथास्थान संनिविष्ट कर लिया गया था तथा अनेक नवीन शब्द भी अर्थ सहित बढ़ाए गए थे। किंतु कई अनिवार्य कठिनाइयों के कारण इसकी छपाई की व्यवस्था संवत् २००६ के पूर्व नहीं की जा सकी। मुख्य कठिनाई द्रव्य की थी। संवत् २००६ के अंत में जब सभा ने देखा कि इसका संशोधन ५-७ वर्ष पूर्व होने के कारण इसमें वे सब शब्द नहीं आ पाए हैं, जो इस बीच हिंदी के राज-भाषा स्वीकृत हो जाने के कारण प्रचलित हुए हैं, तो उसने निश्चय किया कि ग्रंथ के अंत में ऐसे समस्त शब्द पुनः परिशिष्ट के रूप में दे दिए जायँ। इसके लिये सभा ने एक पृथक् वैतनिक कर्मचारी की नियुक्ति की तथा श्री करुणापति त्रिपाठी के निरीक्षण में परिशिष्ट-संकलन का कार्य आरंभ हुआ। आरंभ में यह अनुमान किया गया था कि इस संस्करण के प्रकाशन में लगभग ३५०००) व्यय होगा। किंतु नवीन सामग्री के कारण कोश का आकार बहुत

बढ़ गया। इसमें कुल ७४५३५।।=)।। व्यय हुए, जिसके लिये उत्तरप्रदेशीय सरकार से ३ प्रतिशत सूद पर ३५०००) ऋण लेने पड़े। इस संशोधित और प्रवर्द्धित संस्करण की १०,००० प्रतियाँ छपी थीं। प्रकाशन के पश्चात् कुछ दिनों तक इसकी बिक्री इतनी तेजी से हुई कि नवीन संस्करण की तैयारी करना आवश्यक प्रतीत होने लगा। नवीन शब्दों के संकलन तथा कोश की वर्तमान सामग्री का संशोधनादि संवत् २००६ के आश्विन मास तक बराबर होता रहा। किंतु वर्तमान संस्करण की बिक्री आरंभ में जिस तेजी से हुई थी उसमें उत्तरोत्तर कमी होती गई। आश्विन मास में इसके निरीक्षक श्री डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने अपनी अनिवार्य कठिनाइयों के कारण निरीक्षण कार्य करते रहने में असमर्थता प्रकट कर दी, फलतः प्रबंध समिति ने अपने २५ आश्विन के अधिवेशन में कोश विभाग को विघटित कर दिया।

हिंदी शब्दसागर के संशोधन का कार्य भी संवत् १९९८ में श्रीरामचंद्र वर्मा को सौंपा गया था। उस समय कागज की जैसी स्थिति थी उसमें ऐसी आशा नहीं थी कि साल दो साल में उसका पुनर्मुद्रण हो सकेगा। अतएव इस बीच उसका भी संशोधन करके अगला संस्करण संशोधित रूप में प्रकाशित करने का निश्चय किया गया। कोश के व्युत्पत्तिवाले अंश में जो दोष और भूलें रह गई हैं, उनके सुधार का कार्य श्रीकेशवप्रसाद मिश्र तथा श्रीपद्मनारायण आचार्य को सौंपा गया था। २९ श्रावण संवत् २००० के अधिवेशन में संशोधन कार्य में परामर्श देते रहने के लिये सात सज्जनों की एक परामर्शदात्री उपसमिति संघटित की गई थी, जिसकी संमति के अनुसार यह निश्चय किया गया कि संशोधन कार्य यथासंभव सर्वांगपूर्ण करने के लिये धन का प्रबंध होते ही एक अलग विभाग खोल दिया जाय। यह भी निश्चय किया गया कि कोश की भूमिका के रूप में जो हिंदी साहित्य का इतिहास दिया गया है उसके स्थानपर संशोधित संस्करण में एक लेख हिंदी भाषा के विकास क्रम तथा निरुक्त के संबंध में रखा जाय, क्योंकि कोश का उपयोग करनेवालों के लिये ये ही विषय अधिक उपादेय हैं। श्रीरामचंद्र वर्मा मूल कोश के संशोधन और परिवर्द्धन आदि का कार्य बराबर करते रहे, किंतु व्युत्पत्तिवाले भाग के लिये जो व्यवस्था की गई थी वह यथोचित रूप में आगे नहीं बढ़ी। संवत् २००४ में दो सहायक संपादकों—श्रीवेदमित्र व्रती तथा श्रीरामप्रसाद दुबे की नियुक्ति करके इसके लिये एक पृथक् विभाग की स्थापना कर दी गई। इसी वर्ष उत्तर प्रदेशीय सरकार की ओर से सभा को १००००) की एक विशेष सहायता मिली। सभा ने निश्चय किया कि इस सहायता का उपयोग हिंदी शब्दसागर के संशोधित संस्करण के प्रकाशन में किया जाय, किंतु संवत् २००५ से राजकीय कोश का कार्य सामयिक आवश्यकता के कारण बहुत तेजी से आरंभ हुआ और हिंदी शब्दसागर के संशोधित संस्करण की छपाई में हाथ नहीं लगाया जा सका तथा सरकारी दान का उपयोग संक्षिप्त हिंदी शब्दसागर की छपाई में किया गया।

(६) हिंदी वैज्ञानिक शब्दावली

सभा ने अन्य अनेक उपयोगी ग्रंथों के साथ विज्ञान संबंधी विभिन्न विषयों के ग्रंथ निर्माण कराने का भी विचार सं० १९५१ में किया था। किंतु कई वर्ष तक प्रयत्न करने

पर भी उसे इस कार्य में सफलता नहीं मिली। इसका मुख्य कारण था विज्ञान के पारिभाषिक शब्दों का हिंदी में अभाव। अँगरेजी आदि भाषाओं से ऐसे ग्रंथों का हिंदी में अनुवाद इसी कारण संभव नहीं था। इसलिये सभा ने पहले इसी अभाव की पूर्ति करने का निश्चय किया और सं० १९५५ (३१, अक्टूबर, १८९८) में एक उपसमिति इस कार्य के लिये बना दी। इस उपसमिति ने ज्योतिष, रसायन, भौतिक विज्ञान, गणित, वेदांत, भूगोल, अर्थशास्त्र आदि के विषयों के शब्द एकत्र किए। फिर उनके हिंदी पर्याय नियत किए गए, उन्हें सात भागों में विभिन्न विषयों के अनुसार नमूने के रूप में छपवाया गया और संमति के लिये शिक्षा विभागों के विशेषज्ञ विद्वानों और अन्य अनेक मनीषियों के पास संमत्यर्थ भेजा गया। कलकत्ते के विद्वानों से मिलने के लिए श्री श्यामसुंदरदास और बंबई के विद्वानों के पास श्री माधवराव सप्रे भेजे गए। कलकत्ते में श्री श्यामसुंदरदास ने सर्वश्री जगदीशचंद्र बोस, डाक्टर प्रफुल्लचंद्र राय और रामेंद्र सुंदर त्रिवेदी से मिलकर परामर्श किया। बंबई में सप्रे जी सर्वश्री टी० के० गजदर, डा० रामकृष्ण गोपाल भंडारकर डाक्टर एम० जी० देशमुख आदि महानुभावों से मिले। इन दोनों सज्जनों के लौट आने पर सेंट्रल हिंदू स्कूल में सभा का आयोजन किया गया। ५ आश्विन से १३ आश्विन सं १९५७ तक इसकी बैठकें प्रतिदिन दोपहर को १२ बजे से ४॥ बजे तक होती रहीं। इस सभा में नीचे लिखे विद्वान् संमिलित हुए थे—सर्व श्री डा० भगवान्‌दास, भगवतीसहाय, दुर्गाप्रसाद, गोविंददास, खुशीराम, माधवराम सप्रे, रामावतार शर्मा, श्यामसुंदरदास, सुधाकर द्विवेदी, वनमाली चक्रवर्ती और विनायक राव।

इन नौ दिनों की बैठकों में यह सभा ज्योतिष और भूगोल के संपूर्ण भाग को और गणित के कुछ अंश को दुहराकर ठीक कर सकी। कार्य अधिक होने के कारण दर्शन और अर्थशास्त्र के लिये इस सभा ने दो उपसमितियाँ बना दीं, जिनमें दर्शन उपसमिति के सदस्य सर्वश्री डा० भगवानदास, वनमाली चक्रवर्ती, रामावतार शर्मा और इंद्रनारायण सिंह तथा अर्थशास्त्र उपसमिति के सर्वश्री गोविंददास, माधवराव सप्रे और श्यामसुंदरदास चुने गये। इन दोनों उपसमितियों ने अपना कार्य शीघ्र ही समाप्त कर दिया। ५ पौष से उक्त सभा की बैठकें पुनः आरंभ हुईं और २४ पौष, सं० १९६०ु तक नित्य होती रहीं। इसमें संमिलित होनेवाले विद्वान थे—सर्वश्री अभयचरण सान्याल, भगवानदास, भगवतीसहाय, दुर्गाप्रसाद, खुशीराम, एन० बी० रानाडे, रामावतार शर्मा, सुधाकर द्विवेदी, श्यामसुंदरदास, ठाकुरप्रसाद, टी० के० गजदर तथा वनमाली चक्रवर्ती। इस बार गणित का शेष अंश और रसायन का पूरा भाग दोहराकर ठीक किए गए। विज्ञान के शब्दों को ठीक करने के लिये सर्वश्री ए० सी० सान्याल, दुर्गाप्रसाद, खुशीराम और एन० बी० रानाडे की उपसमिति बना दी गई। इस उपसमिति ने भी अपना कार्य शीघ्र ही समाप्त कर दिया।

सब शब्दों के दुहराए जाने पर संशोधित कोश के संपादन का कार्य श्री श्यामसुंदर दास के निरीक्षण में श्री ठाकुरप्रसाद को सौंपा गया और इस कार्य में सहायता देने के लिये सर्वश्री विनायक राव, खुशीराम, एन० बी० रानाडे, भगवतीसहाय, सुधाकर द्विवेदी, दुर्गा प्रसाद और भावानदास चुने गए।

संपादन और छपाई का कार्य साथ साथ चलता रहा। संवत् १९६२ में पूरा कोश छपकर तैयार हो गया। इस कार्य में लगभग आठ वर्ष लगे और कई हजार रुपए व्यय हुए। भारतीय भाषाओं में वैज्ञानिक कोश होने का सर्वप्रथम सौभाग्य नागरीप्रचारिणी सभा के उद्योग से हिंदी को ही प्राप्त है। इस कोश का एक संस्करण कन्नड में प्रकाशित हुआ तथा बँगला, गुजराती और मराठी के कोशों में इसके शब्द संमिलित होने लगे और मद्रास की भाषाओं में जो विज्ञान विषयक ग्रंथ उस समय लिखे गए उनमें इसी कोश से सहायता ली गई। संवत् १९८५ में जब इसकी सब प्रतियाँ समाप्त प्राय हो गई तब इसके नवीन संस्करण का निश्चय किया गया। इतने वर्षों में वैज्ञानिक शब्दावली में भी बहुत उन्नति हो चुकी थी। प्रत्येक विषय की शब्दावली को तैयार करने का भार अलग अलग विद्वानों को सौंपा गया। प्रत्येक शब्द पर विद्वानों की एक उपसमिति में विचार होता था। उनके निर्णय के अनुसार ही शब्द निर्धारित किए जाते थे। वास्तव में इस नवीन संस्करण में इतने परिवर्तन हुए कि वह एक प्रकार से सर्वथा नया ग्रंथ ही बन गया। इस प्रकार संवत् १९८६ में डाक्टर निहालकरण सेठी द्वारा संकलित भौतिक विज्ञान और प्रोफेसर फूलदेव सहाय वर्मा द्वारा संकलित रसायन शास्त्र प्रकाशित हुए। संवत् १९८७ में गणित विज्ञान की पारिभाषिक शब्दावली और १९८८ में ज्योतिष शास्त्र की पारिभाषिक शब्दावली प्रकाशित की गई। इसके बाद अभी तक और कोई शब्दावली प्रकाशित नहीं हुई।

(७) कचहरी हिंदी कोश

अदालतों में नागरी-प्रचार के सिलसिले में कचहरी में प्रयुक्त होनेवाले शब्दों के हिंदी कोश की आवश्यकता अनुभव की गई और तत्कालीन प्रचार मंत्री श्री माधवप्रसाद के प्रस्ताव पर संवत् १९८३ में सभा ने कचहरी हिंदी कोश तैयार कराने का निश्चय किया। यह कार्य श्री माधवप्रसाद खन्ना को ही सौंपा गया। इसे तैयार करने की योजना इस प्रकार रखी गई थी कि श्री माधवप्रसाद कोश तैयार करते जायँ और संशोधन के उद्देश्य से उसकी छपाई भी आरंभ कर दी जाय। ज्यों ज्यों फार्म छपते जायँ संशोधन के लिये लगभग पचास विद्वानों के पास पहुँचते जायँ और वहाँ से लौटने पर पुनः एक उपसमिति उनपर विचार करे, तब वह संशोधित प्रति छापी जाय। इस विधि से इस कोश में फारसी, अँगरेजी और हिंदी तीन भाषाओं के शब्दों का संकलन बड़े परिश्रम से किया गया। श्री रेवरेंड ई० ग्रीव्स--विलायत से--संशोधन करके इसकी प्रतियां भेजा करते थे। यह कोश संवत् १९८९ में प्रस्तावित रूप में छपकर तैयार हो गया। सभा का विचार था कि एक विद्वत् परिषद् बुलाई जाय, जिसमें प्रांतीय सरकारों और देशी राज्यों के प्रतिनिधि भी निमंत्रित किए जायँ और उस परिषद् के संमुख संशोधन के लिये यह कोश उपस्थित किया जाय, जिससे यह सर्वमान्य हो सके। किंतु यथेष्ठ सहयोग न मिलने के कारण सभा का यह विचार पूरा न हो सका।

(८) राजकीय शब्द कोश

कचहरी हिंदी कोश यद्यपि अंतिम रूप से प्रकाशित नहीं हो सका, तथापि ऐसे कोश का अभाव दिन प्रतिदिन खटक रहा था। हिंदी का प्रचार ज्यों ज्यों अधिकाधिक होता

जा रहा था, त्यों त्यों जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अपनी भाषा और अपनी लिपि का प्रयोग करने में उपयुक्त पारिभाषिक शब्दों का अभाव बहुत बड़ी कठिनाई के रूप में सामने आने लगा था। १००–१५० वर्षों से लगातार अँगरेजी अथवा उर्दू में कार्य करने के अभ्यासियों को इच्छा होते हुए भी हिंदी का प्रयोग करने में जो बाधा थी, उसे दूर करने का एकमात्र उपाय यही था कि राजकाज में प्रयुक्त होनेवाले अँगरेजी के प्रत्येक पारिभाषिक शब्द के लिये हिंदी का प्रतिशब्द सुलभ कर दिया जाय। संवत् २००० में सभा के कार्याध्यक्ष श्री पं० रामनारायण मिश्र जी कार्यवश जब टेहरी गए थे तब वहाँ के श्री मन्महाराजदेव जी ने भी अपने सभी विभागों में हिंदी-नागरी का प्रयोग किए जाने की इच्छा व्यक्त करते हुए उपयुक्त हिंदी शब्दावली का अभाव दूर करने की चर्चा की और कहा कि यह कार्य सभा को ही अपने हाथ में लेना चाहिए। उन्होंने १००००) की सहायता भी इस कार्य के लिये देना स्वीकार किया। संवत् २००० में ही उन्होंने ५०००) दे दिए। सभा ने इस कोश के प्रणयन की योजना बनाकर कार्य आरंभ कर दिया। सभा ने निश्चय किया था कि योग्य संपादकों के एक मंडल के तत्वावधान में एक संपादक, एक सहायक संपादक, सामग्री संग्रह के लिये एक पर्यटक तथा आवश्यकतानुसार अन्य लेखकों की नियुक्ति करके एक स्वतंत्र विभाग खोल दिया जाय। आरंभ में अनुमान किया गया था कि इस कोश की तैयारी में लगभग २ वर्ष लगेंगे तथा कुल व्यय लगभग २५०००) होगा। संवत् २००० में इस विभाग का कार्य व्यवस्थित रूप में आरंभ कर दिया गया। श्रीरामचंद्र वर्मा को इसका प्रधान सपादक बनाया गया तथा उनकी सहायता के लिये एक सहायक संपादक तथा दो लेखक नियुक्त कर दिए गए। राजकाज का संबंध प्रायः समस्त विषयों से रहता है। कचहरियाँ तथा कानून यद्यपि उसकी सीमा के भीतर मुख्य विषय रहते हैं, तथापि कल-कारखाने, रेल, तार, डाक, यहाँ तक कि चिकित्सा, वातावरण, जलवायु आदि के शब्दों की आवश्यकता भी राजकाज में प्रायः पड़ती रहती है। इस प्रकार इस कोश का विस्तार बहुत व्यापक था। संवत् २००१ में ही भिन्न भिन्न विषयों के प्रायः २५-२६ कोषों से इसके लिये शब्द-संग्रह किया गया।

इस संबंध में ग्वालियर के श्रीहरिहरनिवास द्विवेदी से सभा को बड़ी सहायता मिलने की आशा थी। वे ग्वालियर में इस विषय का कार्य बहुत दिनों से कर रहे थे और उन्होंने 'शासन-शब्द-संग्रह' नामक एक कोश भी प्रकाशित किया था। इसके अतिरिक्त उन्होंने बहुत से कानूनों और विधान आदि के अनुवाद भी किए थे। अतएव यह उचित समझा गया कि इस प्रकार के कार्यों के लिये दो अलग अलग स्थानों से अलग अलग प्रयत्न न होकर यदि एक ही संमिलित प्रयत्न हो तो अधिक उत्तम होगा। उनसे परामर्श करके दोनों योजनाएँ एक कर दी गईं और यह निश्चित किया गया कि श्रीरामचंद्र वर्मा तथा श्रीहरिहरनिवास द्विवेदी दोनों सज्जन राजकीय कोश के प्रधान संपादक रहें। संमिलित योजना के अनुसार इस कोश को निम्नलिखित चार भागों में प्रकाशित करना स्वीकार किया गया था—

प्रथम भाग — इसमें हिंदी शब्दों की व्याख्या तथा उनके अँगरेजी प्रतिशब्द रहें साथ ही मराठी, गुजराती एवं बँगला भाषाओं में उनके (हिंदी शब्दों के) प्रयोग की संभावना पर प्रकाश डाला जाय।

द्वितीय भाग इसमें अँगरेजी के शब्द रहें तथा उनकी व्याख्या हिंदी में देकर हिंदी प्रतिशब्द दिए जायँ।

तृतीय भाग इसमें राजकीय व्यवहार में आनेवाले समस्त फार्मों का हिंदी रूप दिया जाय।

चतुर्थ भाग इसमें पाँच परिशिष्ट रखे जायँ। हिंदी-अंगरेजी, अंगरेजी-हिंदी एवं अरबी-फारसी-हिंदी शब्द-सूचियों के तीन परिशिष्ट। चौथा परिशिष्ट स्मृतियों में प्रयुक्त शब्दावली का तथा पाँचवें में छत्रपति शिवाजी का 'राज-व्यवहार-कोश'।

संवत् २००३ में सभा ने शब्द-संग्रह का अपना कार्य लगभग पूरा कर लिया था। 'ए' 'बी' तथा 'सी' के शब्दों का संपादन भी इसी वर्ष हो चुका था, किंतु श्रीहरिहरनिवास द्विवेदी इस वर्ष अन्य कार्यों में व्यस्त रहने के कारण राजकीय कोश का कार्य नहीं कर सके। आगे भी उनसे इस कार्य में कोई सहयोग नहीं प्राप्त हुआ।

सं० २००३ तक सभा का राजकीय कोश विभाग अपना कार्य करता रहा। संवत् २००४ में प्रांतीय सरकार ने हिंदी-नागरी को अपनी राजभाषा तथा राजलिपि स्वीकार कर लिया, किंतु इस विषय की राजाज्ञा में भी हिंदी में कार्य करने में उपयुक्त पारिभाषिक शब्दों के अभाव की कठिनाई स्पष्ट रूप से व्यक्त की गई थी। अतएव सभा ने यह विचार किया कि यदि प्रांतीय सरकार इस कोश का प्रणयन अपने संरक्षण में करावे तो अधिक अच्छा होगा। तदनुसार संवत् २००४ में उसने इस संबंध में प्रांतीय सरकार से लिखा-पढ़ी आरंभ कर दी। सरकार ने इसके संपादन में सहायता देने के लिये रायबरेली के तत्कालीन सिविल जज श्रीगोपालचंद्र सिंह जी को अपनी ओर से सभा में भेज दिया तथा ६०००) की सहायता देना भी कृपापूर्वक स्वीकार किया।

संवत् २००४ तथा २००५ में राजकीय कोश का कार्य बड़ी तत्परता के साथ हुआ। श्री गोपालचंद्र सिंह जैसे विधि-विशेषज्ञ का सहयोग सभा के लिये बड़ा मूल्यवान सिद्ध हुआ। संवत् २००५ के अंत तक लगभग ८००० शब्दों का संकलन तथा उनके हिंदी प्रतिशब्दों का निरूपण हो चुका था। इस कार्य में काशी के अग्रगण्य विद्वानों का सहयोग भी सभा को बराबर मिलता रहा और जो शब्दावली प्रस्तुत हुई, उसकी प्रामाणिकता से प्रांतीय सरकार बड़ी प्रभावित हुई। निम्नलिखित महानुभावों ने इस कार्य में विशेषरूप से सभा को अपना सक्रिय सहयोग प्रदान किया—सर्वश्री केशवप्रसाद मिश्र, महादेव शास्त्री, मूलचंद तिवारी, सुधीरकुमार बसु, कांतानाथ शास्त्री तैलंग, व्रजरत्नदास, विश्वनाथ शास्त्री, करुणापति त्रिपाठी तथा श्रीनिवास। बड़े कोश के प्रकाशन में विलंब देखकर सभा ने छोटी छोटी विभागीय शब्दावलियों को पहले प्रकाशित कर देना आवश्यक समझा और तदनुसार पुलीस विभाग में प्रयुक्त होनेवाली शब्दावली 'आरक्षिक शब्दावली' के नाम से तथा म्यूनिसिपल बोर्ड एवं डिस्ट्रिक्ट बोर्ड में प्रयुक्त होनेवाली शब्दावली 'स्थानिक परिषद् शब्दावली' के नाम से पहले ही प्रकाशित कर दी गई। एतदर्थ काशी के प्रसिद्ध दानवीर तथा विद्यानुरागी श्री गौरीशंकर गोयनका से सभा को ११००) की सहायता प्राप्त हुई थी। उक्त शब्दावलियों के अतिरिक्त इस कोश कार्य से संबद्ध 'शब्दार्थ विवेचन', 'भारतीय संविधान के प्रालेख का प्रतिमान' (संविधान के चार पृष्ठों का हिंदी नमूना) आदि

सामग्री भी प्रकाशित करके इस उद्देश्य से प्रचारित की गई, जिसमें हिंदी पर प्रत्यक्ष और परोक्ष-रूप में होनेवाले आक्रमणों का परिहार हो। इस कार्य में यथेष्ट सफलता मिली।

हिंदी के राजभाषा घोषित कर देने के उपरान्त प्रांतीय सरकार के लिये यह आवश्यक हो गया था कि उसका संपूर्ण कार्य हिंदी में ही हो। अतएव उसके व्यवहार में आनेवाले सभी आकारपत्रों (फार्मों) और विधानों के हिंदी रूप की तुरंत आवश्यकता थी। तात्कालिक आवश्यकता को देखते हुए सभा ने भी इस कार्य पर विशेष ध्यान दिया। संवत् २००५ में मुख्यतः आकारपत्रों एवं विधानों के अनुवाद का कार्य ही पूरी शक्ति के साथ होता रहा। इनमें प्रयुक्त नवीन शब्दों का संकलन भी साथ साथ होता चल रहा था। इस वर्ष के अंत में इस विभाग में नौ व्यक्ति कार्य कर रहे थे। सभा को आशा थी कि यह कार्य पूरा करने के लिये प्रांतीय सरकार पूरी पूरी आर्थिक सहायता प्रदान करेगी किंतु उपर्युक्त ६०००) के अतिरिक्त उसने और कोई अनुदान नहीं दिया। यह कार्य इतना व्ययसाध्य था कि पर्याप्त आर्थिक संरक्षण के अभाव में सभा इसका भार वहन करने में नितांत असमर्थ थी। फलतः संवत् २००६ के १ आश्विन से सभा को बाध्य होकर यह विभाग बंद कर देना पड़ा। इस संबंध के समस्त सरकारी आकार-पत्र आदि एवं अन्य सामग्री जो श्री गोपालचंद्र सिंह के निरीक्षण में संकलित और संपादित हुई थी, सरकार को सौंप दी गई और उसने उनके अनुवाद की व्यवस्था लखनऊ में ही कर ली।

सरकारी कार्यभार ग्रहण करने के पूर्व सभा ने राजकीय कोश का जितना कार्य किया था उसकी छपाई सं० २००६ में आरंभ हो चुकी थी, किंतु २-३ फर्मे छपने के अनंतर द्रव्याभाव के कारण वह रुक गई और अभी तक रुकी हुई है।

(६) हिंदी व्याकरण

हिंदी में एक अच्छे व्याकरण की आवश्यकता सभा ने पहले ही वर्ष अनुभव की थी। दूसरे वर्ष उसके लिये एक स्वर्ण पदक की घोषणा भी की गई, किंतु कोई अच्छा व्याकरण तैयार न हो सका। तब सभा ने व्याकरण संबंधी संदिग्ध विषयों पर भाषातत्वज्ञ विद्वानों की संमति संग्रह करके उसे स्वयं तैयार करने का निश्चय किया। सर्वश्री जगन्नाथदास रत्नाकर श्यामसुंदरदास और किशोरीलाल गोस्वामी को यह कार्य सौंपा गया, पर कोई विशेष फल न हुआ। सं० १९६४ में सभा ने इस कार्य के लिये ५००) के पुरस्कार की घोषणा की जो सभा द्वारा प्रस्तुत रूपरेखा के आधार पर लिखे गए ग्रंथ पर देना निश्चित हुआ था। किंतु इसका भी कोई विशेष संतोषजनक फल न हुआ। संवत् १९६० में तीन व्याकरण सभा को मिले। इन पर विचार करने के लिये सर्वश्री श्यामसुंदरदास, रामावतार पांडेय, गोविंदनारायण मिश्र, महावीरप्रसाद द्विवेदी, श्यामविहारी मिश्र, श्रीधर पाठक और लक्ष्मीनारायण त्रिपाठी की एक उपसमिति बनाई गई। परंतु इस उपसमिति की संमति में इनमें से कोई व्याकरण पुरस्कार के योग्य नहीं ठहरा। सभाने श्री गंगाप्रसाद को, जिनके व्याकरण का एक अंश उत्तम था और श्री रामकरण को, जिनके व्याकरण का दूसरा अंश उत्तम था, क्रमशः १५०) और ५०) पुरस्कार दिए। पीछे इन दोनों व्याकरणों के आधार पर एक सर्वांगपूर्ण व्याकरण तैयार करने का भार श्री कामताप्रसाद गुरु को सौंपा गया। वे इसे सं० १९७६ में पूरा

तैयार कर पाए। सभा की लेख माला में संवत् १९७४ से ही इसका छपना आरंभ हो गया था जो संवत् १९७६ तक बराबर उसी में प्रकाशित होता रहा। पीछे यह पुस्तकाकार प्रकाशित कर दिया गया। इसी को संक्षिप्त करके हाई स्कूल के लिये 'संक्षिप्त हिंदी व्याकरण' का निर्माण हुआ और मिडिल कक्षा के विद्यार्थियों के लिये मध्य हिंदी व्याकरण नाम से एक और संस्करण प्रकाशित किया गया। आरंभिक कक्षाओं के लिये इसका सबसे छोटा संस्करण प्रथम हिंदी व्याकरण भी तैयार हुआ।

(१०) पुस्तक मालाएँ

(क) नागरीप्रचारिणी ग्रंथमाला

सभा ने संवत् १९५७ (सन् १९००) में नागरीप्रचारिणी ग्रंथमाला नाम की एक पुस्तकमाला प्रकाशित करने का निश्चय किया, जिसकी पृष्ठ संख्या ६४ और मूल्य आठ आने रखा गया। वर्ष में इसके चार अंक निकालने का निश्चय हुआ था, जिसके अनुसार उसी वर्ष इसका प्रथम अंक प्रकाशित हो गया। इस अंक के संपादक श्री राधाकृष्णदास थे। संवत् १९७६ तक यह ग्रंथमाला बराबर प्रकाशित होती रही। किसी वर्ष २, किसी वर्ष ३, किसी वर्ष ४ और किसी वर्ष ५ अंक निकलते रहे। इस प्रकार १६ वर्षों में इसके ६४ अंक प्रकाशित हुए।

संवत् १९५७ से ६१ तक इस माला के संपादक श्री राधाकृष्णदास रहे, १९६२ से ६५ तक महामहोपाध्याय श्री सुधाकर द्विवेदी, १९६६ से ६७ तक श्री माधवप्रसाद पाठक और १९६८ से ७६ तक श्री श्यामसुंदरदास। संवत् १९६१ में प्रांतीय सरकार ने पाँच वर्ष के लिये ३००) की वार्षिक सहायता इस ग्रंथमाला को प्रकाशित करने के लिये सभा को प्रदान किया। यह सहायता मिलते ही सभा ने इसकी पृष्ठ संख्या तो ६४ से ८० कर दी, पर मूल्य आठ आने ही रहने दिया।

संवत् १९७६ तक इस ग्रंथमाला में ग्रंथ खंडशः प्रकाशित होते थे। किंतु संवत् १९७७ में निश्चय हुआ कि प्रत्येक प्राचीन ग्रंथ का उत्तम संस्करण प्रकाशित हो, पुस्तकें खंड खंड करके न प्रकाशित की जायँ, प्रत्युत एक एक पुस्तक संपूर्ण छापकर, उत्तम और मजबूत जिल्द बँधवाकर प्रकाशित की जाय। तब से इस ग्रंथमाला में पूरे ग्रंथ प्रकाशित होने लगे और इसका त्रैमासिक पत्रिका के रूप में निकलना बंद हो गया। संवत् १९७९ में अलवर-नरेश ने इस ग्रंथमाला के प्रकाशन के लिये सभा को ५०००) की सहायता प्रदान की। संवत् २००४ से उत्तर प्रदेशीय सरकार एतदर्थ २०००) वार्षिक सहायता बराबर दे रही है। अब तक इसमें ३८ ग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं।

(ख) नागरीप्रचारिणी लेखमाला

संवत् १९६६ में यह लेखमाला निकालने का निश्चय किया गया था। इसका वार्षिक मूल्य २) था। इसके सर्वप्रथम संपादक श्री माधवप्रसाद पाठक चुने गए थे। संवत् १९६६ में इसकी तीन संख्याएँ निकलीं।

संवत् १६७७ तक लेखमाला की ३८ संख्याएँ प्रकाशित हुईं और फिर यह बंद हो गई।

(ग) मनोरंजन पुस्तकमाला

सभा ने संवत् १९७० में यह माला निकालने का निश्चय किया। इसमें विविध विषयों के सर्वोत्तम १०० ग्रंथ निकालने की योजना बनाई गई थी। इस योजना के अनुसार ग्रंथों का कागज, जिल्द, आकार और मूल्य सब एक ही रखना निश्चित हुआ। इनकी भाषा और विषय आदि के विषय में कहा गया था कि 'प्रत्येक ग्रंथ की भाषा सरल, मुहावरेदार तथा पुष्ट होगी और पुस्तक के किसी भाग में ऐसी कोई बात न आएगी जो माता अपने पुत्र से, पिता अपनी कन्या से अथवा भाई अपनी बहन से कहने में संकोच करे। इस माला के संपादन का भार श्री श्यामसुंदरदास को सौंपा गया। आरंभ में ही लगभग चालीस चुने हुए विद्वानों ने इसके लिये ग्रंथ लिखने का वचन दिया था। प्रत्येक पुस्तक का मूल्य ।॥) आना रखा गया था। इस माला की सर्वप्रथम पुस्तक श्री रामचंद्र शुक्ल लिखित 'आदर्श जीवन' है जो संवत् १६७१ में प्रकाशित हुई थी। तब से अब तक इसमें ५४ पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। आजकल इसकी प्रत्येक पुस्तक का मूल्य १॥) है।

(घ) देवीप्रसाद ऐतिहासिक पुस्तकमाला

जोधपुर निवासी स्वर्गीय मुंशी देवीप्रसाद मुंसिफ ने बंबई बंक के सात हिस्सों के रूप में सभा को सं० १९७५ वि० (सन् १९१८ ई०) में एक निधि इसलिए प्रदान की थी कि उसकी आय से हिंदी में ऐतिहासिक पुस्तकें प्रकाशित की जायँ। सन् १९२१ में ये हिस्से इंपीरियल बंक के सात हिस्सों के रूप में परिवर्तित हुए और इंपीरियल बंक के १४ नए हिस्से भी खरीदे गए। इसकी आय से अब तक कुछ १८ पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं।

(ङ) सूर्यकुमारी पुस्तकमाला

शाहपुरा के श्रीमान् महाराजकुमार उम्मेद सिंह जी की स्वर्गीया धर्मपत्नी श्रीमती सूर्यकुमारी जी के स्मारक में यह पुस्तकमाला स्थापित की गई है। श्रीमती ने अपने अंतिम समय में अपने एक लाख रुपये मूल्य के आभूषण हिंदी प्रचार के लिये दान किए थे। उन्हीं एक लाख रुपयों के सूद में से श्रीमान् ने सभा को सं० १९७७ से १९८० तक भिन्न भिन्न तिथियों में कुल १९९८४) प्रदान किए, जिनसे यह पुस्तकमाला प्रकाशित की जाती है। यह पुस्तकमाला विशेष रूप से हिंदी का प्रचार करने तथा उसके भांडार को उत्तमोत्तम ग्रंथरत्नों से भरने के उद्देश्य से स्थापित की गई है। अब तक इस माला में २१ पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी है।

(च) बालाबक्स-राजपूत-चारण-पुस्तकमाला

जयपुर के ग्राम हणूतिया निवासी स्वर्गीय बारहट बालाबक्षजी ने सं० १९७९–८० में सभा को ७०००) इसलिए दिया था कि वह उसके ब्याज से राजपूतों और चारणों की रची हुई डिंगल और पिंगल भाषा की पुस्तकें प्रकाशित करे। सभा ने इस धन से १२०००)

के ३॥ प्रतिशत सूदी सरकारी कागज खरीद लिए जिनसे होनेवाली ब्याज की आय इस माला के प्रकाशन में व्यय होती है। अब तक इस माला में ६ पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं।

(छ) देव-पुरस्कार ग्रंथावली

श्रीवीरेंद्र केशव साहित्य परिषद् (ओड़छा) की देव-पुरस्कार समिति ने संवत् १९९४ में पुरस्कार योग्य कोई कृति न आने के कारण अपने नियमों के अनुसार इस ग्रंथावली के नाम से उच्च कोटि की साहित्यिक पुस्तकें प्रकाशित करने के लिये सं० १९९५ में सभा को १०००) दिया था। इस धन से यह ग्रंथावली प्रकाशित की जा रही है। इसमें उत्तम कोटि के साहित्य और कला आदि की पुस्तकें प्रकाशित होती हैं। अब तक इस ग्रंथावली में ३ पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं।

(ज) श्रीमती रुक्मिणी तिवारी पुस्तकमाला

सभा के पुराने सभासद् अजमेर के स्वर्गवासी राय साहब श्री चंद्रिकाप्रसाद तिवारी की सुपुत्री श्रीमती रामदुलारी दुबे ने अपनी स्वर्गीय माता की स्मृति में महिलाओं और शिशुओं के लिये एक उपयोगी पुस्तकमाला निकालने के लिये सभा को २०००) प्रदान किया था। अब तक इस माला में ४ पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं।

(झ) श्रीरामविलास पोद्दार स्मारक ग्रंथमाला

नवलगढ़ (राजपूताना) की श्रीरामविलास पोद्दार स्मारक समिति ने अपने द्वारा संचालित श्री रामविलास पोद्दार स्मारक ग्रंथमाला का प्रबंध सं० १६९८ से सभा को सौंप दिया है। इस ग्रंथमाला में समिति द्वारा प्रकाशित निम्नलिखित पुस्तकें भी सभा को प्राप्त हुई थीं।

१—संस्कृत साहित्य का इतिहास, भाग १,—लेखक श्री कन्हैयालाल पोद्दार
संस्कृत साहित्य का इतिहास, भाग २, ले० ,,
२—अमर जीवन की ओर,—अनुवादक श्री शिवप्रसाद सिंह विश्वेन

इनकी बिक्री से जो आय हुई वह भी इसी ग्रंथमाला की उन्नति में लगाई गई। अब तक इसमें ३ पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं।

(ञ) श्री महेंदुलाल गर्ग विज्ञान ग्रंथावली

युक्त प्रांत के कृषि-विभाग के भूतपूर्व डिप्टी डाइरेक्टर श्रीप्यारेलाल गर्ग ने हिंदी के पुराने और प्रतिष्ठित लेखक अपने स्वर्गवासी पिता डाक्टर महेंदुलाल गर्ग की स्मृति में उक्त ग्रंथावली प्रकाशित करने के लिये सभा को १०००) प्रदान किया है। इस माला में अब तक ५ पुस्तकें छप चुकी हैं।

(ट) नव-भारत ग्रंथमाला

कलकत्ते के ख्यातनामा व्यापारी श्री सेठ बाबूलाल राजगढ़िया के दान से सं० १९९९ में इस ग्रंथमाला की स्थापना हुई। श्री राजगढ़िया जी ने इस कार्य के लिए सभा को १००१) प्रदान किया और अन्य श्रीमानों से सहायता दिलाने का भी आश्वासन इस शर्त पर दिया कि इस माला में जो पुस्तक जिस दाता की आर्थिक सहायता से छपेगी, उसपर

उस दाता का नाम रहा करेगा। पुस्तकों की बिक्री आदि से होनेवाली माला की आय भी माला की ही संपुष्टि में लगाई जायगी। इस माला में अब तक दो पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं।

(ठ) महिला पुस्तकमाला

संवत् १९६१ के माघ मास में भिनगा के राजा साहब ने सभा को एक पत्र लिखकर स्त्री-शिक्षा की उत्तम पुस्तक तैयार करके प्रकाशित करने के लिये ३००) की सहायता देने की इच्छा प्रकट की थी। सभा ने यह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। इस पुस्तक के संपादन का भार श्री श्यामसुंदरदास को सौंपा गया और उनको इस विषय में परामर्श देने के लिये सर्वश्री रामनारायण मिश्र, राधाकृष्णदास और माधवप्रसाद चुने गए। सं० १९६२ में यह पुस्तक छपकर प्रकाशित हो गई और इसका नाम 'वनिता-विनोद' रखा गया। इस पुस्तक में विभिन्न बारह लेखकों के स्त्री-शिक्षा-संबंधी सोलह लेख रखे गए थे। इसके प्रकाशित करने में ५००) व्यय हुए जिनमें ३००) भिनगा नरेश से प्राप्त हुए और शेष सभा ने लगाए। वनिता-विनोद का बहुत आदर हुआ। बँगला में भी इसका अनुवाद निकला। इससे उत्साहित होकर सभा ने समय समय पर महिलोपयोगी और भी कई पुस्तकें प्रकाशित कीं। अब तक इस माला के अंतर्गत सात पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं।

(ड) अर्द्धशती याज्ञिक ग्रंथावली

सभा की अर्द्धशताब्दी के अवसर पर याज्ञिक बंधुओं (श्री जीवनशंकर याज्ञिक तथा श्री डा० भवानीशंकर याज्ञिक) ने अपने पूज्य पितृव्य श्री मयाशंकर याज्ञिक के हस्तलिखित ग्रंथों के प्रख्यात संग्रह के साथ १००१) की एक निधि उक्त ग्रंथमाला के प्रकाशन के लिए प्रदान की थी। इस माला में हस्तलिखित संग्रह के महत्त्व के अप्रकाशित ग्रंथ तथा अन्य उपयोगी ग्रंथ प्रकाशित होंगे। अभी तक इस माला में कोई पुस्तक प्रकाशित नहीं हुई है।

(ढ) प्रकीर्णक पुस्तकमाला

इस पुस्तकमाला के लिये कोई निधि जमा नहीं है। इस माला की पुस्तकें सभा अपने धन से प्रकाशित करती है। इस माला के लिये कोई निर्धारित विषय भी नहीं है। सभा की नीति के अ-विरुद्ध हिंदी की कोई भी उत्कृष्ट पुस्तक इस माला के अंतर्गत प्रकाशित हो सकती है।

(११) अभिनंदन ग्रंथ

(क) द्विवेदी अभिनंदन ग्रंथ

सभा की यह परंपरा आरंभ से ही चली आती है कि वह समय समय पर हिंदी के गण्यमान्य साहित्य-सेवियों और विद्वानों का अभिनंदन करती रही है। सभा की ओर से दिया गया सबसे पहला अभिनंदन ग्रंथ 'कोशोत्सव स्मारक संग्रह' था जिसकी चर्चा 'शब्द कोश; शीर्षक प्रकरण के अंतर्गत ऊपर की जा चुकी है।

दूसरा द्विवेदी 'अभिनंदन ग्रंथ' जो आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के सत्तरवें वर्ष में पदार्पण करने के उपलक्ष्य में दिया गया।

इसके लिये देश विदेश के विद्वान् साहित्यिकों ने अपनी उत्कृष्ट रचनाएँ भेजीं। यहाँ तक कि महात्मा गांधी ने भी इस ग्रंथ के लिये शुभकामना का संदेश भेजा था। सर्वश्री नूट हाम्ज़न (नारवे के नोबुल पुरस्कार विजेता साहित्यिक), सर जार्ज ग्रियर्सन, डाक्टर थियोडोर वैन विंटरस्टीन (जर्मनी के इंडिया इंस्टिट्यूट के संस्थापक और अध्यक्ष) और भाई परमानंद जैसे महानुभावों ने सद्भावना के संदेश भेजे थे।

सभा ने इस ग्रंथ के संपादन का भार सर्वश्री श्यामसुंदरदास और राय कृष्णदास को सौंपा था। उनके संपादकत्व में बड़ी सजधज के साथ यह ग्रंथ प्रकाशित हुआ तथा ११ वैशाख, सं० १९९० (२ मई १९३३ ई०) को आचार्य द्विवेदी जी की ७० वीं वर्षगांठ के अवसर पर महाराज सवाई महेंद्र वीरसिंह जू देव के सभापतित्व में आचार्यवर को समर्पित किया गया। इस अभिनंदन ग्रंथ की सामग्री और साजसज्जा में साहित्य तथा कला का जैसा सुंदर समन्वय हुआ वैसा हिंदी के किसी पूर्वप्रकाशित ग्रंथ में तो था ही नहीं, अब तक भी उसकी टक्कर का दूसरा ग्रंथ देखने में नहीं आया।

(ख) श्री संपूर्णानंद अभिनंदन ग्रंथ

श्री संपूर्णानंद जी को उनकी ६० वीं वर्षगांठ के अवसर पर सभा ने अभिनंदन ग्रंथ भेंट करने का निश्चय किया था। श्री संपूर्णानंदजी को १७ वैशाख सं० २००६ को यह ग्रंथ भेंट किया गया। इस अभिनंदन ग्रंथ में संस्कृत और हिंदी के प्रतिनिधि विद्वानों ने अत्युत्कृष्ठ मौलिक सामग्री का अर्घ्य उपस्थित किया। आरंभ में १०४ पृष्ठों में संस्कृत के लेख हैं जिनमें भारतीय दर्शन के विभिन्न अंगों का विवेचन, साहित्य संबंधी गवेषणात्मक निबंध, प्राचीन भारतीय संस्कृति विषयक अनुसंधानात्मक रचनाएँ एवं अन्यान्य विषयों के विवादग्रस्त प्रश्नों की मीमांसा है। हिंदी की रचनाएँ दो खंडों में हैं—एक में स्वतंत्र रचनाएँ हैं, दूसरे में संस्मरणात्मक लेख। स्वतंत्र रचनाओं में विज्ञान, इतिहास, काव्य, पुरातत्त्व, दर्शन, संगीत, साहित्य इत्यादि विभिन्न विषयों पर धुरंधर विद्वानों के विशिष्ट लेख हैं। संस्मरण खंड में उन चतुर्दश विद्वानों की कृतियाँ हैं जिन्हें श्री संपूर्णानंद जी को बहुत निकट से देखने-समझने का अवसर मिला है। ग्रंथ में श्री संपूर्णानंद जी के सन् १९१८ से लेकर अब तक विभिन्न अवसरों के अनेक चित्र हैं, इनके अतिरिक्त भारतीय शिल्प समृद्धि एवं संस्कृति के परिचायक दर्जनों चित्रों से यह ग्रंथ अलंकृत है।

(१२) हिंदी

हिंदी भाषा और नागरीलिपि के प्रचार और उस पर अनेक ओर से होनेवाले आघातों से उसकी रक्षा करने के उद्देश्य से सभा ने संवत् १९९७ में हिंदी नाम की एक मासिक पत्रिका अपने तत्त्वावधान में प्रकाशित करना आरंभ किया। इसके संपादक, प्रकाशक और मुद्रक श्री चंद्रवली पांडे थे।

भारत में 'हिंदी' का वार्षिक मूल्य ।।) रखा गया था। इंडियन प्रेस यद्यपि इस पत्रिका का मुद्रण बिना मूल्य करता रहा तथापि आरंभ से ही इसके प्रकाशन में घाटा रहा। हिंदी

के अल्पायु होने का यही मुख्य कारण हुआ। अपने प्रकाशन के साथ ही अपनी सेवाओं के बल पर इसने जो लोकप्रियता प्राप्त की वह उत्तरोत्तर बढ़ती गई। जैसे जैसे इसकी ग्राहक-संख्या बढ़ रही थी वैसे ही वैसे घाटे का परिमाण भी बढ़ रहा था। संवत् १९९९ में अनिच्छापूर्वक इसका वार्षिक मूल्य ।।) से बढ़ाकर ।।।) कर देना पड़ा। संवत् २००० में जैसे तैसे पिछले वर्ष की ११ संख्याएँ छपीं। संवत् २००० के समस्त अंकों का एक संमिलित अंक प्रकाशित होने के अनंतर सभा से इसका संबंध विच्छिन्न हो गया। इसके बाद भी कुछ दिनों तक यह पत्रिका काशी के सरस्वती मंदिर (जतनबर) से निकलती रही, तदनंतर बिलकुल बंद हो गई। इसमें संदेह नहीं कि हिंदी जिस उद्देश्य को लेकर अवतरित हुई थी, अपने अल्पकालीन जीवन में ही उसकी बहुत कुछ पूर्ति उसने कर ली।

७—नागरी पाठशाला

जबलपुर के श्री नंदलाल दुबे के प्रस्ताव पर सभा की प्रबंध समिति ने २७ दिसम्बर १८९७ को नागरी की शिक्षा के लिए एक स्कूल खोलने का निश्चय किया और १ जनवरी १८९८ से एक छोटी सी पाठशाला केवल नागरी की शिक्षा देने के लिये सभा की ओर से खोली गई थी। पाठशाला का नाम नागरी पाठशाला रखा गया। प्रतिदिन सुबह शाम यह खुलती थी। यहाँ छोटे बालक नागरी की प्रारंभिक शिक्षा प्राप्त करते थे। आगे चलकर २५ ज्येष्ठ, १९५५ वि० (८ जून, १८९८) की प्रबंध समिति और ३० ज्येष्ठ, १९५५ वि० (१२ जून १८९८) की साधारण सभा के निश्चयानुसार प्रबंध में कुछ अड़चनें पड़ने के कारण पाठशाला-समिति तोड़ दी गई और पाठशाला के प्रबंध का कार्य भी पुस्तकालय समिति को ही सौंप दिया गया। इस कार्य में श्री गदाधरसिंह की विशेष अभिरुचि थी और वे ही इस पाठशाला के संचालन का अधिकांश कार्य किया करते थे। ११ श्रावण, १९५५ वि० (२७ जुलाई, १८९८) को अचानक उनका देहांत हो गया। उनके स्थान पर श्री श्यामसुंदरदास २७ भाद्रपद (१२ सितंबर) को पुस्तकालय कमेटी में चुने गए। उसी दिन उन्होंने साधारण बैठक में प्रस्ताव किया कि "सभा की नागरी पाठशाला १४ आश्विन (३० सितंबर) से बंद कर दी जाय और अग्रवाल समाज को लिखा जाय कि यदि वे लोग उचित समझें तो निज स्कूल में अन्य जाति के लड़कों के पढ़ने का भी प्रबंध करें।" प्रस्ताव सर्वसंमति से स्वीकृत हो गया और नागरी पाठशाला १४ आश्विन १९५५ वि० (३० सितंबर १८९८) से बंद कर दी गई।

८—हिंदी हस्तलिपि परीक्षा

आज जिस प्रकार नागरी लिपि की विशेषताएँ संसार प्रसिद्ध हैं, ५० वर्ष पहले उनकी ओर वैसी लोकदृष्टि नहीं थी। फारसी और रोमी लिपियाँ प्रधानता प्राप्त करने के लिये आगे आना चाहती थीं और हिंदी को लोकदृष्टि और राजदृष्टि दोनों से ही ओझल रखकर पीछे हटा देने का प्रयत्न कर रही थीं। जो लिपि सुंदर, स्पष्ट, शुद्ध और शीघ्र लिखी जा सके उसी का विशेष आदर होना स्वाभाविक है। उन दिनों फारसी और रोमी लिपियों की परीक्षाएँ पारितोषिक की घोषणा के साथ स्कूलों और कालेजों में आरंभ की गई थीं।

पर नागरी लिपि, जिसमें उस समय भी देश की अधिकांश जनता अपना कार्य करती थी, इसके लिये सर्वथा विस्मृत थी। सभा ने नागरी लिपि के प्रति इस उपेक्षा का अनुभव किया और इसके फलस्वरूप संवत् १९५० में (४ जून, १८९४) की बैठक में तत्कालीन मंत्री श्री श्यामसुंदरदास के प्रस्ताव पर वर्नाक्यूलर स्कूलों में उत्तम नागरी लिपि लिखनेवाले छात्रों को उत्साहित करने के लिये पारितोषिक देने का निश्चय किया। इस निश्चय के अनुसार शिक्षा विभाग के डाइरेक्टर से पत्रव्यवहार किया गया। उन्होंने सभा का प्रस्ताव स्वीकृत कर लिया। सभा ने वर्नाक्यूलर स्कूलों के विद्यार्थियों में सर्वोत्तम नागरी अक्षर लिखनेवाले छात्रों को प्रति वर्ष क्रमशः १०), ८) और ५) कुल २३) के तीन पारितोषिक देना स्वीकार किया। शिक्षा विभाग के डाइरेक्टर ने सभा द्वारा निर्धारित इस परीक्षा का बहुत अच्छा प्रबंध कर दिया। स्कूलों के डिप्टी और सब-डिप्टी इंस्पेक्टरों की व्यवस्था से प्रथम वर्ष ही इस परीक्षा में बनारस डिविजन के इंस्पेक्टर के अधीन प्रायः सभी वर्नाक्यूलर स्कूलों ने योग दिया।

प्रथम वर्ष सं० १९५१ में पुरस्कृत होनेवाले छात्रों के नाम निम्नलिखित हैं—

१—बजरंगी लाल, बैरिया स्कूल, जि० बलिया १०)
२—रामअवधलाल, खलीलाबाद स्कूल, बस्ती ८)
३—कुबेरसिंह, निजामाबाद स्कूल, आजमगढ़ ५)

इनके अतिरिक्त भी कतिपय विद्यार्थियों ने सुंदर अक्षर लिखे थे। उन्हें केवल प्रशंसापत्र दिए गए और फकीरा नामक एक बालक को २ रु० का एक विशेष पारितोषिक दिया गया। पारितोषिक पानेवाले विद्यार्थियों को 'हरिप्रकाश प्रेस' के प्रबंधकर्ता बाबू जगन्नाथप्रसाद वर्मा ने 'काश्मीर कुसुम' नामक पुस्तक और साहित्याचार्य श्री अंबिकादत्त व्यास ने 'साहित्य नवनीत' नामक पुस्तक की ७ प्रतियाँ उपहार दी थीं।]

संवत् १९५३ तक यह परीक्षा बनारस डिविजन के वर्नाक्यूलर स्कूलों में ही होती रही। किंतु संवत् १९५४ में सरकार ने यह परीक्षा पूरे पश्चिमोत्तर प्रदेश और अवध प्रांत (आधुनिक उत्तर प्रदेश) भर के लिये जारी कर दी। इस पर सभा ने पारितोषिक की संख्या ५ के बदले १० कर दी तथा उनका परिमाण इस प्रकार हो गया—

प्रथम १०), द्वितीय ८), तृतीय ५), चतुर्थ ४), पंचम ३), कुल योग ३०) वार्षिक।

यह परीक्षा पूरी व्यवस्था और पाबंदी के साथ होती थी तथा शिक्षा विभाग भी इसमें गंभीरतापूर्वक सहयोग देता था। जैसा कि संवत् १९५५ में निर्धारित एतद्विषयक सर्व-प्रथम नियमावली से स्पष्ट होता है। यह नियमावली निम्नलिखित है:—

१—हस्तलिपि सफेद फुलिस्केप कागज के आधे ताव पर लिखी जाय और उसमें कम से कम १० और अधिक से अधिक २५ पंक्तियां हों।

२—हस्तलिपि कागज के एक ही ओर हो, बेल बूटे आदि न बने हों और काली व ब्लूब्लैक स्याही को छोड़कर दूसरी स्याही काम में न लाई जाय।

३—प्रत्येक बालक को (१) नाम, (२) क्लास, (३) स्कूल, (४) तहसील और (५) जिला लिखना चाहिए। इनमें से यदि एक बात भी छूट जायगी तो उस हस्तलिपि पर विचार न किया जायगा।

४. इस बात पर पूरा ध्यान रहे कि हस्तलिपियाँ बालकों की ही लिखी हों।

५. प्रत्येक डिविजन के असिस्टेंट इंसपेक्टर अपने अधीनस्थ स्कूलों की लिपियों में से १५ लिपियाँ चुन और उन्हें नंबरवार लगा कर प्रतिवर्ष के फरवरी मास के अंत तक असिस्टेंट इंसपेक्टर बनारस के पास भेज देंगे।

६. असिस्टेंट इंस्पेक्टर बनारस इन सब लिपियों को मंत्री नागरीप्रचारिणी सभा, काशी के पास भेज देंगे।

७. सभा एक सब-कमेटी नियत करेगी, जिसके सभासद् तीन वा पाँच होंगे। इसमें असिस्टेंट इंस्पेक्टर बनारस और मंत्री नागरीप्रचारिणी सभा अवश्य सभासद् रहेंगे। कमेटी समस्त लिपियों को देखकर उन १५ बालकों के नाम नंबरवार सभा के पास लिख भेजेगी, जिन्होंने सबसे उत्तम लिखा होगा।

८. प्रतिवर्ष सभा की ओर से ५ पारितोषिक १०) ८), ५) ४) और ३) के तथा १० प्रशंसापत्र दिए जायँगे।

इसके पश्चात् समय समय पर इनमें आवश्यक परिवर्तन-संशोधन होते रहे, जिनके कारण यह परीक्षा उत्तरोत्तर लोकप्रिय होती गई।

संवत् १९६० में ग्वालियर में नागरी का विशेष प्रचार हुआ। उसी प्रसंग में सभा ने यह निश्चय किया कि ग्वालियर राज्य के विद्यार्थियों के लिये भी हिंदी हस्तलिपि परीक्षा का प्रबंध किया जाय और प्रतिवर्ष ५), ३), और २) के तीन पारितोषिक तथा ६ प्रशंसा-पत्र वहाँ के लिये भी नियत किए जायँ। संवत् १९६१ से ग्वालियर के स्कूलों में भी यह परीक्षा आरंभ हो गई और यह क्रम संवत् १९७७ तक निरंतर चलता रहा। संवत् १९७८-७९ और ८० में लगातार तीन वर्षों तक ग्वलियर का कोई छात्र पारितोषिक के योग्य नहीं समझा गया, अतः वहाँ के किसी छात्र को पारितोषित नहीं दिया जा सका। निदान संवत् १९८१ से यह परीक्षा स्वतः बंद हो गई। संवत् १९६१ में काश्मीर के बालकों को भी पारितोषिक देने का निश्चय किया गया था, किंतु वहाँ के स्कूलों की शिथिलता के कारण यह कार्य आगे न बढ़ सका। संवत् १९६२ में वृंदावन के श्री राधाचरण गोस्वामी ने 'ललिता पारितोषिक' के नाम से ५) का एक पारितोषिक मथुरा जिले के स्कूलों की उस कन्या को देना निश्चित किया था, जिसकी नागरी हस्तलिपि सबसे अच्छी समझी जाय। यह पारितोषिक संवत् १९६२ से १९७२ तक दिया जाता रहा, किंतु उसके पश्चात् मथुरा के बालिका-विद्यालयों की शिथिलता के कारण बंद हो गया।

संवत् १९७५ तक हिंदी हस्तलिपि परीक्षामें केवल वर्नाक्यूलर स्कूलों के विद्यार्थी संमिलित हो सकते थे, किंतु संवत् १९७६ से सब प्रकार के स्कूल कालिजों के छात्र-छात्राओं को उक्त परीक्षा में संमिलित करने का निश्चय किया गया और सभा ने पारितोषिक की रकम ३०) से बढ़ाकर ५३) वार्षिक कर दी। परीक्षाओं का यह क्रम संवत् १९९३ तक निरंतर चलता रहा, पर संवत्१९९३–९४ में सभा पर बहुत भारी आर्थिक संकट आ गया। अतएव प्रबंध समिति ने निश्चय किया कि " ५४) का लिपि पुरस्कार इस वर्ष से बंद कर दिया जाय और केवल प्रमाणपत्र दिए जाएँ। शिक्षा विभाग के डाइरेक्टर को इसकी

सूचना दे दी जाय और नियमों में परिवर्तन करके उनके पास भेज दिया जाय।" इस निश्चय के अनुसार पारितोषिक देना बंद कर दिया गया और इसकी सूचना शिक्षा विभाग को दे दी गई। यद्यपि सभा ने परीक्षा बंद नहीं की और प्रमाण-पत्र देने का निश्चय यथा पूर्व ही रहने दिया, पर बालकों के लिये पारितोषिक में जो आकर्षण था वह प्रमाणपत्रों में कब हो सकता था। इसलिए परीक्षाओं में छात्रों का संमिलित होना बंद हो गया और १९९४ से कोई बालिका वा बालक इनमें नहीं बैठा। तब से ये परीक्षाएँ बिलकुल बंद हैं।

९—व्याख्यान-माला

(१) सुबोध व्याख्यानमाला

देशकी अशिक्षा दूर करने और सर्वसाधारण को विज्ञान और स्वास्थ्य आदि विषयों के सिद्धांतों से परिचित करने में सहायता देने के उद्देश्य से सभाने व्याख्यानमाला चलाने का निश्चय किया था। संवत् १९२१ में इसके लिये सभा ने सर्वश्री रेवरेंड ई० ग्रीव्स, राधाकृष्णदास, डा० छन्नूलाल, श्यामसुन्दरदास और रामनारायण मिश्र (मंत्री) की उपसमिति भी बनाई थी। इस समिति के उद्योग से पहले ही वर्ष सात व्याख्यान हुए। यह व्याख्यानमाला सोलह वर्ष (सं० १९७६) तक बराबर चलती रही। संवत् १९७७ से यह 'सुबोध व्याख्यानमाला' बन्द हो गई।

(२) 'प्रसाद' व्याख्यानमाला

इसके बाद संवत् १९८८ में स्वर्गीय श्री जयशंकर प्रसाद ने ९००) की निधि 'साहित्य परिषद' के लिये सभा को दान दी। उसके उद्देश्य की पूर्ति के लिये 'साहित्यगोष्ठी' स्थापित की गई, जिसके द्वारा साहित्य प्रेमियों को समय समय पर स्थानीय तथा बाहर के अनेक विद्वानों और कवियों के व्याख्यान और रचनाएँ सुनने के अवसर मिलते रहते हैं। किंतु सर्वसाधारण को इससे विशेष लाभ होता न देख गोष्ठी को अधिक उपयोगी और आकर्षक बनाने के लिये सं० १९९४ से इसके अंतर्गत 'प्रसाद' व्याख्यानमाला की आयोजना की गई। जिसमें समय समय पर विद्वानों के सुबोध व्याख्यान हुआ करते हैं। सुबोध व्याख्यानमाला का यह पुनर्जन्म भी श्री रामनारायण मिश्र जी की प्रेरणा से हुआ। उन्होंने कई वर्ष 'प्रसाद' व्याख्यानमाला को काशी के जनसमाज के सभी वर्गों में लोकप्रिय बनाने के उद्देश्य से विविध विषयों पर अधिकारी एवं अनुभवी विद्वानों के व्याख्यानों की व्यवस्था की थी। स्वास्थ्य, मनोविज्ञान, वास्तुकला, समाजवाद, प्राचीन तथा अर्वाचीन इतिहास, राजनीति आदि विषयों के सचित्र, मनोरंजक और ज्ञानवर्द्धक व्याख्यान पहले ही वर्ष हुए थे। सं० २००३ से इसके अन्तर्गत सम्मेलन की उत्तमा परीक्षा के विद्यार्थियों के लाभार्थ विशेषज्ञ विद्वानों के व्याख्यानों की व्यवस्था भी की गई। यह व्याख्यान माला इसी रूप में अब तक चल रही है।

१०—पुरस्कार और पदक

संवत् १९५१ में सभा ने सर्वप्रथम दो पदक—एक चाँदी का पदक हिंदी भाषा के इतिहास के लिए तथा दूसरा सोने का पदक हिंदी के व्याकरण के लिए—देना निश्चित

किया था। बहुत प्रतीक्षा के बाद भी इतिहास की कोई रचना नहीं आई। व्याकरण की कुछ पुस्तकें अवश्य आई थीं, किंतु वे पदक के योग्य नहीं समझी गईं। संवत् १९५७ में उत्तमोत्तम लेखों की रचना को उत्साहित करने के उद्देश्य से प्रतिवर्ष दो रजत पदक देने का निश्चय किया गया और इसके लिये एक संक्षिप्त नियमावली बना दी गई। संवत् १९७१ तक ये पदक दिए जाते रहे। इनमें से एक का नामकरण 'राधाकृष्णदास पदक' तथा दूसरे का 'रेडिचे पदक किया गया था। इनके अतिरिक्त अन्य सज्जन भी उत्तमोत्तम पुस्तकों, लेखों आदि को प्रोत्साहित करने के उद्देश्य से समय समय पर विभिन्न पारितोषिक तथा पदक सभा द्वारा दिया करते थे।

संवत् १९७३ से स्थायी रूप से पुरस्कार-पदक दिए जाने के लिये निधियों की व्यवस्था आरंभ हुई। इसका क्रमानुसार विवरण निम्नलिखित है—

(१) **राजा बलदेवदास बिडला पुरस्कार—२००)** का यह पुरस्कार अध्यात्म, सदाचार, मनोविज्ञान और दर्शन के सर्वोत्तम ग्रंथपर प्रति चौथे वर्ष दिया जाता है।

(२) **बटुकप्रसाद पुरस्कार—२००)** का यह पुरस्कार सर्वोत्तम मौलिक नाटक या उपन्यास के लिये प्रति चौथे वर्ष दिया जाता है।

(३) **रत्नाकर पुरस्कार (१)—२००)** का यह पुरस्कार व्रजभाषा के सर्वोत्तम ग्रंथ के लिए प्रति चौथे वर्ष दिया जाता है।

(४) **रत्नाकर पुरस्कार (२)—२००)** का यह पुरस्कार व्रजभाषा के सदृश हिंदी की अन्य भाषाओं (यथा, डिंगल, राजस्थानी, अवधी, बुंदेलखंडी, भोजपुरी, छत्तीसगढ़ी, आदि) की सर्वोत्तम रचना अथवा सुसंपादित ग्रंथ के लिये प्रति चौथे वर्ष दिया जाता है।

(५) **छन्नूलाल पुरस्कार**—स्व० श्री रामनारायण मिश्र की दी हुई निधि से २००) का यह पुरस्कार विज्ञान विषयक सर्वोत्तम ग्रंथ पर प्रति चौथे वर्ष दिया जाता है।

(६) **जोधसिंह पुरस्कार—२००)** का यह पुरस्कार सर्वोत्तम ऐतिहासिक ग्रंथ के लिये प्रति चौथे वर्ष दिया जाता है।

(७) **माधवीदेवी महिला पुरस्कार—१००)** का यह पुरस्कार गृहशास्त्र संबंधी सर्वोत्तम पुस्तक की रचयित्री को प्रति चौथे वर्ष दिया जायगा।

(८) **डा० श्यामसुंदरदास पुरस्कार**—सभा ने मह निश्चय किया है कि राय-बहादुर डा० श्यामसुंदरदास की पुण्य स्मृति में १०००) तथा २००) के दो पुरस्कार प्रति चौथे वर्ष दिए जाया करें जिनका क्रम इस प्रकार हो—

१. १०००) का एक पुरस्कार संवत् २००५ से प्रति चौथे वर्ष दिया जाया करे।

२. २००) का एक पुरस्कार संवत् २००३ से प्रति चौथे वर्ष ऐसे लेखक की सर्वश्रेष्ठ कृति पर दिया जाय, जिनकी मातृ-भाषा हिंदी न हो तथा जो प्रधानतः अहिंदी भाषी प्रांत में निवास करते हों।

इन दोनों पुरस्कारों के लिये सभा को १००००) की स्थायी निधि संकलित करनी है। सर्वप्रथम दिए जानेवाले दोनों पुरस्कार सभा ने अपनी साधारण आय में से देना निश्चित किया है। किंतु स्थायी निधि के लिए १००००) की आवश्यकता है, जिसकी पूर्ति अभी तक नहीं हो सकी है।

(९) **भैरवप्रसाद स्मारक पुरस्कार**—प्रति वर्ष अखिल भारतीय हिंदी साहित्य संमेलन की प्रथमा परीक्षा में उत्तर प्रदेश में सर्वप्रथम आनेवाले विद्यार्थी को ३) का यह पुरस्कार दिया जाता है।

(१०) **मांडलिक पुरस्कार**—मध्यभारत के श्री कृष्णचंद्र जी मांडलिक ने १८००) की निधि सभा को इसलिए प्रदान की है कि इसके ब्याज से २००) का एक पुरस्कार प्रति चौथे वर्ष स्वतंत्र भारत के उत्थान और विकास को प्रेरित करनेवाले सर्वोत्तम ग्रंथ पर दिया जाय। प्रथम पुरस्कार सं० २०११ तक के ग्रंथ पर दिया जायगा।

(११) **डा० हीरालाल स्वर्णपदक**—यह स्वर्णपदक पुरातत्त्व, मुद्राशास्त्र, हिंद-विज्ञान (इंडोलोजी), भाषा विज्ञान तथा पुरालिपिशास्त्र (एपीग्राफी) संबंधी हिंदी में लिखित सर्वोत्तम मौलिक पुस्तक अथवा गवेषणापूर्ण निबंध पर प्रति दूसरे वर्ष दिया जाता है।

(१२) **द्विवेदी स्वर्णपदक**—प्रति वर्ष यह स्वर्णपदक हिंदी में लिखित सर्वोत्तम पुस्तक के रचयिता को दिया जाता है।

(१३) **सुधाकर पदक**—यह रौप्य पदक बटुकप्रसाद पुरस्कार पानेवाले सज्जन को दिया जाता है।

(१४) **ग्रीव्ज पदक**—यह रौप्य पदक डा० छन्नूलाल पुरस्कार पानेपाले सज्जन को दिया जाता है।

(१५) **राधाकृष्णदास पदक**—यह रौप्य पदक रत्नाकर पुरस्कार (१) पानेवाले सज्जन को दिया जाता है।

(१६) **बलदेवदास पदक**—यह रौप्य पदक रत्नाकर पुरस्कार (२) प्राप्त करने-वाले सज्जन को दिया जाता है।

(१७) **गुलेरी पदक**—यह रौप्य पदक जोधसिंह पुरस्कार पानेवाले सज्जन को दिया जाता है।

(१८) **रेडिचे पदक**—यह रौप्य पदक बिड़ला पुरस्कार पानेवाले सज्जन को दिया जाता है।

(१९) **बसुमति पदक**—यह रजत पदक मांडलिक पुरस्कार प्राप्त करनेवाले सज्जन को दिया जायगा।

(२०) **भगवानदेवी बाजोरिया पदक**—यह रजत पदक माधवीदेवी महिला पुरस्कार पानेवाली लेखिका को दिया जायगा।

(२१) **पुच्छरत पदक**—प्रति वर्ष यह रजतपदक पंजाब विश्वविद्याय की हिंदी रत्न-परीक्षा में सर्वप्रथम होनेवाले छात्र को दिया जाता है।

११—अनुशीलन

हिंदी भाषा और साहित्य के शोध संबंधी कार्यों के निमित्त विशेष अध्ययन करनेवाले अनुसंधायकों के लिये इस पुस्तकालय से किसी न किसी रूप में सहायता लेना अनिवार्य रूप से आवश्यक है। डा० हीरानंदशास्त्री-संग्रह तथा श्री मयाशंकर याज्ञिक हस्तलिखित

संग्रह की पुस्तकें मिलने के पहले ही सभा के पास हस्तलेखों और आकर ग्रंथों की इतनी प्रभूत सामग्री एकत्र हो चुकी थी कि अनेक विषयों पर डी० फिल०, पी एच० डी०, डी० लिट्, आदि के लिये शोध करनेवाले छात्रों को समस्त आवश्यक सामग्री यहीं उपलब्ध हो जाती थी। विश्वविद्यालयों के तत्वाधान में होनेवाले शोध कार्यों में यद्यपि इस सामग्री का उपयोग बराबर हो रहा था, तथापि ऐसे अनेक विषयों की ओर कोई ध्यान नहीं दिया जा रहा था, जिनके संबंध में व्यवस्थित रूप से कार्य होने पर साहित्य के इतिहास पर नवीन प्रकाश पड़ने की संभावना सभा समझती थी। ऐसी स्थिति में उसने स्वयं अपने तत्त्वावधान में अनुसंधान कार्य की व्यवस्था करना निश्चित किया। संवत् १९९८ में श्री राय कृष्णदास की अध्यक्षता में १० सज्जनों की एक उपसमिति संघटित करके 'अनुशीलन विभाग' की स्थापना कर दी गई। इस उपसमिति के परामर्श के अनुसार सभा ने हिंदी की जनपदीय बोलियों के वैज्ञानिक अध्ययन से कार्यारंभ करना निश्चित किया। किंतु यह निश्चय कई कठिनाइयों के कारण कार्यान्वित नहीं हो सका।

संवत् १९९९ में डा० हीरानंदशास्त्री का संग्रह तथा संवत् २००० में श्री मयाशंकर याज्ञिक का सुप्रसिद्ध हस्तलिखित संग्रह सभा में आ जाने के कारण इस विभाग का कार्य व्यवस्थित रूप में आगे बढ़ाना नितांत आवश्यक हो गया; अतएव सं० २००० में श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र की अध्यक्षता में इस विभाग का पुनस्संगठन किया गया। इसके अनुसार सभा ने निश्चय किया था कि द्रव्य की व्यवस्था होनेपर छात्रवृति देकर अनुशीलन का कार्य कराया जाय। श्री रामनारायण मिश्र के उद्योग से कानपुर के सेठ सर पद्मपत सिंहानियाजी ने तीन वर्षों तक ५०) मासिक इस कार्य के लिये प्रदान करना स्वीकार किया। सभा की अर्द्धशती के उपलक्ष्य में मिलनेवाली इस वृत्ति का नाम 'सिंहानिया अर्द्धशती वृत्ति' रखा गया।

आश्विन संवत् २००१ से श्री बटेकृष्ण, एम० ए० (आनर्स) अनुसंधायक नियुक्त किए गए। अनुसंधान की सामग्री के संकलन के सिलसिले में उसी वर्ष यह ज्ञात हुआ कि मध्यकालीन हस्तलिखित ग्रंथों में भारतीय इतिहास की बहुत महत्त्वपूर्ण सामग्री है। औरंगजेब के पुत्र मुअज्जम शाह तथा हिंदी के प्रसिद्ध कवि गंग के संबंध में भी बहुमूल्य ऐतिहासिक सामग्री मिली। किंतु साहित्यिक दृष्टि से जो अत्यंत मूल्यवान सूत्र मिला वह था भारतीय प्रेमाख्यानक प्रबंध काव्यों का। उस समय तक हिंदी साहित्य में जहाँ तक प्रेमप्रधान प्रबंध काव्यों का संबंध है, केवल सूफियों की रचनाएँ उपलब्ध थीं। इस नवीन सूत्र को पकड़कर आगे बढ़ने पर ज्ञात हुआ कि हिंदी में भारतीय परंपरा के प्रेमप्रबंधों की भी एक शाखा है, जो रहस्यवाद से अछूती होने के कारण अपनी विशेषता रखती है। अतएव निश्चय किया गया कि इसी विषय पर अनुसंधान कराया जाय। तदनुसार इस विषय पर कार्य होने लगा। 'सिंहानिया वृत्ति' यद्यपि संवत् २००४ में समाप्त हो गई तथापि श्री बटेकृष्ण जी उसके पश्चात् भी इस विषय का कार्य करते रहे। रस, अलंकार, विषय वस्तु वर्णन, आदि प्रबंध काव्यों की भिन्न भिन्न विशेषताओं की दृष्टि से सामग्री की छानबीन करने पर अनेक विशिष्ट उपलब्धियाँ हुईं, जो लेखबद्ध होकर नागरीप्रचारिणी पत्रिका में प्रकाशित हुईं। इस कोटि के कई प्राचीन प्रेम-प्रबंध, मिले जिनमें से 'छिताई चरित'

नामक ग्रंथ की छानबीन करने पर अनेक नवीन तथ्य प्रकट हुए। संवत् २००५ के उपरांत छात्रवृत्ति की व्यवस्था न हो सकने के कारण अनुशीलन विभाग बंद हो गया।

१२—हिंदी संकेत लिपि तथा टंकण

संवत् १९५१ में ही सभा ने हिंदी में त्वरित लेख प्रणाली के अभाव का भी अनुभव किया तथा उसी वर्ष इसके लिये संकेत बनाने और उन्हें प्रचलित कराने का निश्चय किया। संवत् १९५५ में साहित्याचार्य श्री अंबिकादत्त व्यास ने त्वरित लेखन के चिह्न तैयार किए। सभा का विचार था कि यदि इसका परीक्षण सफल हुआ तो वह इस विषय का एक ग्रंथ प्रकाशित करेगी और इस प्रणाली के प्रचार का उद्योग भी किया जायगा। किंतु व्यास जी के रुग्ण हो जाने के कारण परीक्षण न हो सका और उनके संकेतों की बात जहाँ की तहाँ रह गई। इसके बाद संवत् १९७४ में सभा ने एक शीघ्र लिपि प्रणाली स्वयं तैयार कराई और श्री श्रीशचंद्र बसु तथा श्री निष्कामेश्वर मिश्र से उसका संपादन कराया। परंतु भारत में उसे लिथो पर भी छापने के लिये कोई प्रेस तैयार नहीं हुआ। अतएव इसे इंगलैंड भेजा गया। हार्टफोर्ड के स्टीफन आस्टिन ऐंड संस के यहाँ से सं० १६६६ में पुस्तक छपकर आ गई, किंतु उस समय इस विषय की शिक्षा का समुचित प्रबंध न हो सका। कई वर्ष बाद जब कांग्रेस की प्रांतीय सरकारों द्वारा हिंदी की शीघ्र लिपि प्रणाली के ज्ञाताओं को प्रोत्साहन मिलने की आशा हुई, तब उसकी शिक्षा के प्रबंध का पुनः उद्योग किया गया, और सवत् १९९४ की विजयादशमी को संयुक्तप्रांतीय लेजिस्लेटिव एसेंबली के अध्यक्ष माननीय श्री पुरुषोत्तमदास टंडन के कर कमलों से सभा के संकेत लिपि-शिक्षा की कक्षा का उद्घाटन हुआ। इस कक्षा में काशी के श्री निष्कामेश्वर मिश्र बी० ए० द्वारा तैयार की हुई प्रणाली की शिक्षा का प्रबंध किया गया था, क्योंकि उस समय यही प्रणाली सर्वोत्तम समझी जाती थी। वे ही इस विभाग के अवैतनिक अध्यक्ष थे तथा जीवन पर्यंत उस पद पर बने रहकर सभा की सेवा करते रहे। कांग्रेस के अधिवेशनों में सन् १९२१ से अब तक इसी प्रणाली से पूरा विवरण लिया जाता रहा है। मिश्र जी ही कक्षा के प्रधानाध्यापक थे और उनके साथ सर्वश्री गोवर्धनदास तथा श्रीराम श्रीवास्तव बी० ए० अवैतनिक रूप से कार्य करते थे। पहले वर्ष इस कक्षा में ३० विद्यार्थियों ने निःशुल्क शिक्षा प्राप्त की और उसी वर्ष यहाँ के सीखे हुए दो छात्रों की नियुक्ति संयुक्त प्रांत की एसेंबली में हो गई। शनैः शनैः इसका प्रचार बढ़ने लगा और अन्य प्रांतों के छात्र भी यहाँ आने लगे। संवत् १९९५ से यहाँ हिंदी टंकण (टाइप राइटिंग) की शिक्षा का भी प्रबंध किया गया। इसी वर्ष से इस कक्षा का नाम 'संकेतलिपि-विद्यालय' कर दिया गया और श्री गोवर्धनदास इसके अवैतनिक प्रधानाध्यपक बनाए गए।

संवत् १९९६ में सभा में हुए अट्ठाइसवें हिंदी साहित्य संमेलन के अवसर पर, विद्यालय की वार्षिक परीक्षा तथा अखिल भारतीय हिंदी संकेत लिपि प्रतियोगिता का आयोजन किया गया था। इसमें यहाँ के विद्यार्थियों ने सफलतापूर्वक प्रमाणपत्र और पुरस्कार प्राप्त

किए। प्रतियोगिता का प्रथम पुरस्कार १७५ शब्द प्रति मिनट की गति से लिखनेवाले यहीं के एक छात्र श्री बालकृष्ण शर्मा को मिला था।

सरकार के खुफिया विभाग में उर्दू संकेतलिपि का ही व्यवहार होता था। किंतु बारह मास तक शिक्षा पाने पर भी इसे सीखनेवाले सरकारी उम्मेदवारों की गति १०० शब्द प्रति मिनट से अधिक नहीं हो पाती और यहाँ हिंदी संकेत लिपि में आठ मास में ही विद्यार्थी १५० की गति प्राप्त कर लेते थे। यह देख सं० १९९६ से सरकार ने अपने उक्त विभाग में हिंदी संकेत लिपि जाननेवालों को भी लेना आरंभ कर दिया।

संवत् १९९६ में इस विद्यालय में ४७ छात्रों ने निःशुल्क शिक्षा प्राप्त की और १९९७ में ३२ ने। काशी नगर में अन्यत्र इस विषय की शिक्षा देने के लिये दूसरे विद्यालय खुल जाने, प्रांतों में कांग्रेस सरकार के त्यागपत्र दे देने, छात्रों को काम मिलने में कठिनता होने और सभा को इस कार्य के लिये कहीं से आर्थिक सहायता न मिलने के कारण यह विद्यालय संवत् १९९८ में कुछ दिनों के लिये बंद कर दिया गया।

हिंदी और नागरी को राजभाषा तथा राजलिपि का पद प्राप्त होने पर हिंदी की संकेत लिपि (शार्टहैंड) और टंकण (टाइपराइटिंग) जाननेवालों की बढ़ती हुई माँग को देख कर सभा ने उक्त विद्यालय का कार्य सं० २००४ से पुनः चालू किया। उसी वर्ष माघ मास के अंत में शिक्षार्थियों की संख्या १३० तक पहुँच गई। सभाभवन में स्थान न होने के कारण शिक्षा का प्रबंध स्थानीय हरिश्चंद्र कालेज और दयानंद स्कूल के भवन में किया गया। इसी वर्ष टंकण की शिक्षा के लिये महिलाओं का भी एक विभाग अलग खोल दिया गया।

प्रांतीय शासन द्वारा तीन टंकण यंत्रों के लिये २५०० रु० की सहायता भी सभा को मिली, जिसके कारण विद्यालय की शिक्षा-योजना सफलतापूर्वक कार्यान्वित होने लगी। विद्यालय के अध्यक्ष श्री निष्कामेश्वर मिश्र तथा प्रधानाध्यापक श्री बालकृष्ण मिश्र बनाए गए। संवत् २००५ में भी कक्षाएँ सभा में स्थान-संकोच के कारण उपर्युक्त विद्यालयों में लगती रहीं। इस वर्ष ३१ विद्यार्थियों ने शिक्षा ग्रहण की तथा इनमें से प्रायः समस्त विद्यार्थी सरकारी अथवा अर्द्धसरकारी कार्यालयों एवं व्यापारिक प्रतिष्ठानों नियुक्त कर लिए गए।

सवत् २००६ में उत्तर प्रदेशीय सरकार के आरक्षा (पुलिस) विभाग ने अपने कर्मचारियों को इसी प्रणाली से संकेतलिपि में प्रशिक्षित करने का निश्चय किया। अतएव प्रधानाध्यापक श्री बालकृष्ण मिश्र तदर्थ लखनऊ चले गए। उनके स्थान पर श्री बैकुंठनाथ उपाध्याय प्रधानाध्यापक नियुक्त किए गये। इस वर्ष ३७ विद्यार्थियों ने संकेतलिपि तथा टंकण की शिक्षा ग्रहण की।

पिछले तीन वर्षों में जो प्रशिक्षित व्यक्ति तैयार हुए थे, उनमें से कई व्यक्तियों ने काशी में तथा अन्यत्र इसी विषय की शिक्षा देने के लिये अपने अपने निजी विद्यालय खोल लिए। अनेक संस्थाओं ने भी इस विषय की शिक्षा की व्यवस्था अपने यहाँ कर ली। अतएव सं० २००७ में विद्यार्थियों की संख्या बहुत घट गई। इस वर्ष केवल ६ विद्यार्थी

आए। संवत् २००८ के अंत में विद्यार्थियों के अभाव में विद्यालय का कार्य बिलकुल बंद हो गया था। सात मास तक यही स्थिति रही। संवत् २००९ में २२ ज्येष्ठ को उसका कार्य पुनः आरंभ हुआ। इस वर्ष से विद्यालय के लिये सभाभवन में एक स्वतंत्र कक्ष पृथक् कर दिया गया और आवश्यक साज-सज्जा की भी व्यवस्था कर दी गई। इस वर्ष के अंततक श्री बैकुंठनाथ उपाध्याय अध्यापन कार्य कराते रहे, तदनंतर वे निजी कारणों से पृथक् हो गए। इस वर्ष ३० शिक्षार्थियों ने शिक्षा ग्रहण की। संवत् २०१० से श्री बालकृष्ण मिश्र पुनः अध्यापन कार्य कर रहे हैं। इस विभाग के अवैतनिक अध्यक्ष इस वर्ष श्री डा० राकेश गुप्त हैं।

१३—सत्यज्ञान निकेतन

सभा को उसकी अर्द्धशताब्दी के उपलक्ष्य में अनेक महानुभावों से अनेक प्रकार की सहायता मिली, जिसका उल्लेख इस विवरण में यथास्थान कर दिया गया है। इसमें सबसे सात्विक दान परिव्राजक स्वामी सत्यदेव जी का 'सत्यज्ञान निकेतन' है, जिसकी आधार-शिला संवत् १९९२ में उन्होंने रखी थी। यह निकेतन हरिद्वार के पास ज्वालापुर नामक स्थान में है। जिस समय यह निकेतन सभा को प्राप्त हुआ, उस समय उसका मूल्य लगभग २५०००) आँका गया था। इस समय भूमि, भवन, सामग्री आदि का समस्त मूल्य अनुमानतः एक लाख से भी ऊपर होगा।

स्वामी जी के इस दान का मुख्य उद्देश्य यह था कि इस निकेतन को देश के पश्चिमी भागों में हिंदी प्रचार का सुदृढ़ केंद्र बनाया जाय तथा यहां एक पुस्तकालय और व्याख्यानमाला की भी व्यवस्था की जाय, जिसमें उक्त उद्देश्य की पूर्ति करने में सफलता मिले। निकेतन के साथ ही स्वामी जी ने सभा को वहाँ का पुस्तकालय भी प्रदान कर दिया, जिसमें उस समय २११ हिंदी के तथा १२६ अँगरेजी के ग्रंथ थे। स्वामी जी की 'सत्यज्ञान पुस्तकमाला' में प्रकाशित १४ पुस्तकों की ६८७० प्रतियाँ भी सभा को प्राप्त हुईं, जिनका अंकित मूल्य ३७८२॥) था।

संवत् २००० में सभा ने वहाँ पश्चिम-भारत-हिंदी-प्रचार-केंद्र की स्थापना कर दी तथा वहाँ का संपूर्ण प्रबंध करने के लिये श्री पं० रामनारायण मिश्र जी की अध्यक्षता में पाँच सज्जनों की एक उपसमिति संघटित कर दी। स्थानीय देखरेख और व्यवस्था के लिये पहले स्वामी नमः शिवाय जी की नियुक्ति हुई, जो कुछ दिनों तक अवैतनिक रूप से यह कार्य करते रहे, तदनंतर फाल्गुन मास से श्री वेदव्रत शास्त्री वहाँ के लिये व्यवस्थापक नियुक्त किए गए। इसी वर्ष सभा ने 'पंजाब में हिंदी की प्रगति' नामक एक पुस्तिका प्रकाशित की, जिसमें पंजाब प्रांत में हिंदी भाषा और साहित्य तथा देवनागरी लिपि की स्थिति और एतदर्थ हुए तब तक के कार्यों का समस्त ब्यौरा संक्षेप में दिया गया था।

व्याख्यानमाला

११ आषाढ़ सं० २००१ (२५ जून १९४४) को सरस्वती व्याख्यानमाला आरंभ कर दी गई। उस समय से अब तक प्रति वर्ष बराबर व्याख्यान होते आ रहे हैं। गोस्वामी

तुलसीदास, महामना मालवीय जी, भारतेंदु हरिश्चंद्र, श्री जयशंकर प्रसाद, आदि की जयंतियां नियमित रूप से प्रायः प्रतिवर्ष मनाई जाती हैं तथा हिंदी से संबद्ध विभिन्न विषयों और समस्याओं पर विद्वानों के भाषण होते हैं।

यहां के सत्यज्ञान पुस्तकालय का उद्‌घाटन २९ चैत्र सं० २००१ (१२ अप्रैल १९४५) को अर्धकुंभी के शुभ अवसर पर महामंडलेश्वर श्री स्वामी भगवदानंद जी के कर-कमलों से हुआ था। निकेतन का संचालन-भार ग्रहण करने के अनंतर सभा ने यहाँ के पुस्तकालय को व्यवस्थित और संवर्द्धित करने का प्रयत्न आरंभ कर दिया। उसने अपनी प्रकाशित समस्त प्राप्य पुस्तकें वहाँ भेज दीं तथा अन्य प्रकाशकों से भी पुस्तकों की सहायता प्राप्त की। संवत् २००३ के अंत में पुस्तकों की संख्या लगभग १२०० हो गई। अतएव सभा ने उसका सूचीपत्र नवीन प्रणाली के अनुसार तैयार करके दो भागों में प्रकाशित कर दिया।

सूचीपत्र छपने के बाद बहुत सी पुस्तकें और आ गई हैं, जिनका उल्लेख तीसरे भाग में किया गया है, पर वह अभी छपा नहीं है। सं० २००८ में श्रीमती रामदुलारी दुबे ने अपने स्वर्गीय पिता रायसाहब श्री चंद्रिकाप्रसाद तिवारी की पुण्य स्मृति में पुस्तकालय भवत के निर्माण के लिये १५०००) प्रदान किया। इस सहायता से पुस्तकालय का पृथक् भवन सं० २००९ में बनकर पूरा हो गया तथा उसका उद्‌घाटन १६ आश्विन (२-१०-५२) को श्री अलगूराय शास्त्री द्वारा संपन्न हुआ। इस भवन के बरामदों में संत कवियों की सूक्तियाँ संगमरमर पर उत्कीर्ण कराकर लगाई गई हैं। सभा-भवन में स्वामी सत्यदेव जी, गोस्वामी तुलसीदास जी, महामना मालवीय जी तथा श्री चंद्रिकाप्रसाद तिवारी के तैलचित्र भी हैं, जिनका समय समय पर प्रसिद्ध विद्वानों द्वारा उद्‌घाटन कराया गया था।

मोक्षदायिनी सप्तपुरियों में मायापुरी (हरद्वार) का विशिष्ट स्थान है। पश्चिम भारत के पड़ोस में ऐसा प्रख्यात दूसरा तीर्थ नहीं है। यहाँ वर्ष भर निरंतर उस अंचल के तीर्थयात्री आते रहते हैं, अतएव प्रचार का सुयोग तो बराबर रहता है; किंतु यहाँ पर जैसा जन-समागम कुंभ और अर्द्धकुंभ पर होता है, वैसा प्रयाग को छोड़कर अन्यत्र कहीं नहीं होता। अतएव इन अवसरों पर वहाँ घर बैठे अल्प व्यय से प्रचार संबंधी बहुत प्रभावशाली कार्य के होने की संभावना देख सभा ने निकेतन का संचालन-भार ग्रहण करने के दूसरे ही वर्ष उसे कार्यरूप में परिणत करने का आयोजन किया।

सं० २००१ में अर्द्धकुंभी के अवसर पर यहाँ हिंदी प्रचार का एक बृहत् आयोजन किया गया। १८ चैत्र सं० २००१ (१ अप्रैल १६५४) को सभा के तत्कालीन प्रधान मंत्री (श्री पं० रामनारायण मिश्र) के सभापतित्व में ज्वालापुर महाविद्यालय में राष्ट्रभाषा संमेलन हुआ। २० चैत्र (३ अप्रैल) को गुरुकुल कांगड़ी में भी उनका भाषण हुआ। २४ चैत्र स० २००१ (७ अप्रैल १९४५) को हर की पौड़ी के उस पार सभा के पंडाल में योरप के लटविया देश के निवासी श्री ई० जिंगर का हिंदी की जननी संस्कृत भाषा की व्यापकता पर भाषण हुआ। इस पंडाल में प्रतिदिन थोड़ा बहुत प्रचार होता रहा। ६ अप्रैल को प्रधान मंत्री के सभापतित्व में अखिल भारतवर्षीय सनातन धर्म सभा के पंडाल में, जिसमें पंजाब' सीमाप्रांत आदि से आए हुए आठ दस हजार नर नारी एकत्र थे, राष्ट्रभाषा-संमेलन हुआ।

२ वैशाख २००२ से ४ वैशाख २००२ (१५ से १७ अप्रैल) तक हृषीकेश में निकेतन की ओर से प्रचार कार्य हुआ। पहले दिन वहाँ के श्रीभरतमंदिर के महंत श्री परशुराम जी ने सभापति का आसन ग्रहण किया, जिसमें गीता प्रेस के भक्तप्रवर श्री जयदयाल गोयनका और अन्य सज्जनों के व्याख्यान हुए। दूसरे दिन साहित्य संमेलन के भूतपूर्व अध्यक्ष गोस्वामी गणेशदत्त जी एवं तीसरे दिन स्थानीय नोटीफाइड एरिया के चेयरमैन रायसाहब लाला सेवकराम के सभापतित्व में संतोषजनक प्रचार हुआ। व्याख्यानदाताओं में कालीकमलीवाले, गोयनका-सत्संग, पंजाब-सिंध-सत्र, वैदिकाश्रम, पंजाब हिंदी-साहित्य-संमेलन, काश्मीर, हिंदी प्रचारिणी-सभा, पंजाब-सनातन-धर्म-सभा, ऋषिकुल-ब्रह्मचर्याश्रम, महावीर-दल, मोहनी-आश्रम आदि संस्थाओं के प्रतिनिधि थे। जनता में बहुत अधिक पंजाब निवासी थे, जिनपर इन व्याख्यानों का पर्याप्त प्रभाव पड़ा।

२ आषाढ़ सं० २००१ (१६ जून १६४४) को एक हिंदी विद्या-मंदिर की स्थापना की गई, जिसका उद्देश्य पंजाबी बालक-बालिकाओं को हिंदी साहित्य संमेलन और पंजाब की हिंदी परीक्षाओं के लिये तैयार करना था। इसका उद्‌घाटन श्रीयुत इंद्र विद्या-वाचस्पति ने किया था। प्रौढ़ लोगों के लिये रात्रि में भी पाठशाला चलाई गई, जिसका उद्‌घाटन १२ आषाढ़ सं० २००५ (२६ जून १६४८) को डाक्टर धीरेंद्र वर्मा ने किया था। पंजाब के विभाजन के कारण बहुत से शरणार्थी हरिद्वार आ गए थे। उनकी कन्याओं को हिंदी पढ़ाने में इस विद्यामंदिर ने संतोषजनक कार्य किया था, पर धनाभाव के कारण ३१ श्रावण सं० २००६ (१६ अगस्त १६४६) को यह बंद कर दिया गया। निकेतन में अब भी कई परीक्षाओं का केंद्र है।

२० आश्विन २००५ से १४ कार्तिक २००५ (६ अक्टूबर १९४८ से ३१ अक्टूबर १६४८) तक निकेतन के संचालक ने सभा के एक स्थायी सदस्य की कृपा से हिंदी प्रचार के लिये पूर्वी पंजाब में—१ अमृतसर, २ जालंधर, ३ होशियारपुर ४ चिंतपर्णी, ५ ज्वालामुखी, ६ काँगड़ा, ७ धर्मशाला, ८ पठानकोट, ६ गुरुदासपुर, १० धारीवाल, ११ बटाला, १२ फीरोजपुर, १३ फाजिलका, १४ अबोहर, १५ लुधियाना, १६ अंबाला, १७शिमला तथा १८ सोलन का दौरा किया और लौटते समय दिल्ली भी गए। उन्होंने उन समाचार पत्रों के संचालकों से भेंट की जिनकी भाषा हिंदी है पर लिपि फारसी। इन सज्जनों ने बताया कि पंजाब की उथल पुथल से हुई आर्थिक हानि, हिंदी का अपना नया प्रेस खोलने की कठिनाई और सबसे अधिक उनके सहस्रों पुराने ग्राहकों के, जो शरणार्थी होकर देश के भिन्न भिन्न प्रांतों में फैले हुए हैं, उर्दू से ही परिचित होने के कारण अभी उन्हें विवश होकर फारसी लिपि ही रखनी पड़ रही है। उन्होंने यह आश्वासन दिया कि यथासंभव धीरे धीरे उनके पत्रों की लिपि भी नागरी हो जायगी।

अर्द्धकुंभ पर जो कुछ प्रचार कार्य हुआ उससे प्रोत्साहित होकर पूर्णकुंभ पर फिर वहाँ संमेलन करने का विचार हुआ। कुछ मित्रों और हिंदी प्रेमियों, विशेषकर रा० ब० श्री रामदेव जी चोखानी की सहायता से कुंभनिधि स्थापित करने के लिये कलकत्ते में कुछ धन जमा किया गया। १८ फाल्गुन से लेकर २६ चैत्र तक पूर्णकुंभ के अवसर पर प्रचार

कार्य किया गया, जिसमें गुरुकुल काँगड़ी, विभिन्न साधु संप्रदायों, ऋषिकुल ब्रह्मचर्याश्रम, सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, रविदास आश्रम, आदि के सहयोग से सभाओं और व्याख्यानों का आयोजन हुआ तथा प्रचार संबंधी साहित्य वितरित किए गए। २३, २४, २५, चैत्र २००६ को राष्ट्रभाषा और मानस संमेलन का आयोजन श्री चंद्रबली पांडेय जी के सभापतित्व में हुआ। संमेलन के अनंतर सभा की तरफ से २७ चैत्र को श्री हरिकृष्ण प्रेमी के रक्षाबंधन पर आधारित 'चिता की राख' और २९ चैत्र को श्री मानखलाल चतुर्वेदी कृत 'कृष्णार्जुन युद्ध' नाटक का अभिनय हुआ।

इस पूर्णकुंभ के समय सभा ने उपसमिति के निम्नलिखित प्रस्ताव स्वीकृत किए—

"(क) पंजाब निवासी की लिखी हुई और पंजाब के किसी प्रेस में छपी हुई पंजाबी भाषा के नवीन तथा प्राचीन साहित्य की देवनागरी लिपि में मुद्रित सर्वोत्तम पुस्तक पर प्रति वर्ष निकेतन द्वारा २००) वार्षिक पुरस्कार दिया जाय।

"(ख) शरणार्थी सिक्खों और सिंधियों में हिंदी और नागरी के अध्ययन में विशेष प्रगति उत्पन्न करने के उद्देश्य से निकेतन द्वारा उस सिक्ख या सिंधी विद्यार्थी को दो वर्ष तक प्रति मास दस रुपया छात्रवृत्ति दी जाय जो, मैट्रिक परीक्षा में हिंदी साहित्य में सर्वप्रथम होकर इंटरमीडिएट में हिंदी लेकर पढ़े। छात्रवृत्ति प्रति वर्ष दस महीने दी जाएगी।"

हरिद्वार के पास पहाड़ी-भाषा-भाषी बहुत बड़ी संख्या में रहते हैं, जिनकी भाषा हिंदी ही का एक रूप है, पर उसके साहित्य से हिंदी के विद्वानों का बहुत कम परिचय है। इसलिए उसके संबंध में भी निम्नलिखित प्रस्ताव स्वीकृत हुआ—

("निकटस्थ गढ़वाल, कमायूँ आदि स्थानों की भाषाओं और अन्य पर्वतीय भाषाओं पर गवेषणापूर्ण लेख लिखने या व्याख्यान देनेवालों को पुरस्कार देने की व्यवस्था की जाए।")

२००) का उक्त पुरस्कार विद्वानों की संमति के अनुसार डा० भाई बीरसिंह जी को उनकी पुस्तक 'वीर वचनवाली' पर संवत् २००८ में अर्पित किया गया।

निकेतन का संचालन आरंभ से ही श्री पं० रामनारायण मिश्र जी की देखरेख में होता रहा। उन्हीं के प्रयत्न से यह प्रचार केंद्र सभा को प्राप्त हुआ था और अपने जीवन पर्यंत वे इसकी उन्नति में तत्पर रहे। उनके निधन के पश्चात् संवत् २००९ के अंत में सभा ने श्री सेठ नारायणदास जी बाजोरिया को वहाँ का संचालक चुना। संप्रति श्री देवीनारायण जी पश्चिम-भारत-हिंदी-प्रचार-उपसमिति के संयोजक तथा श्री बाजोरिय जी संचालक हैं।

१४—सभाभवन

२५ आषाढ़, १९५५ वि० (९ जुलाई १८९८) की बैठक में सभा का अपना भवन हो जाने के विषय में सबसे पहला प्रस्ताव रखा गया। कार्यकर्ताओं की दृष्टि प्रारंभ से ही कंपनी बाग के उस अंश की ओर थी जो बिश्वेश्वरगंज की ओर था। सं० १९५७ वि० तक सभा का कार्य बहुत बढ़ गया था और सभा के संचालक उसके लिये निजी भवन

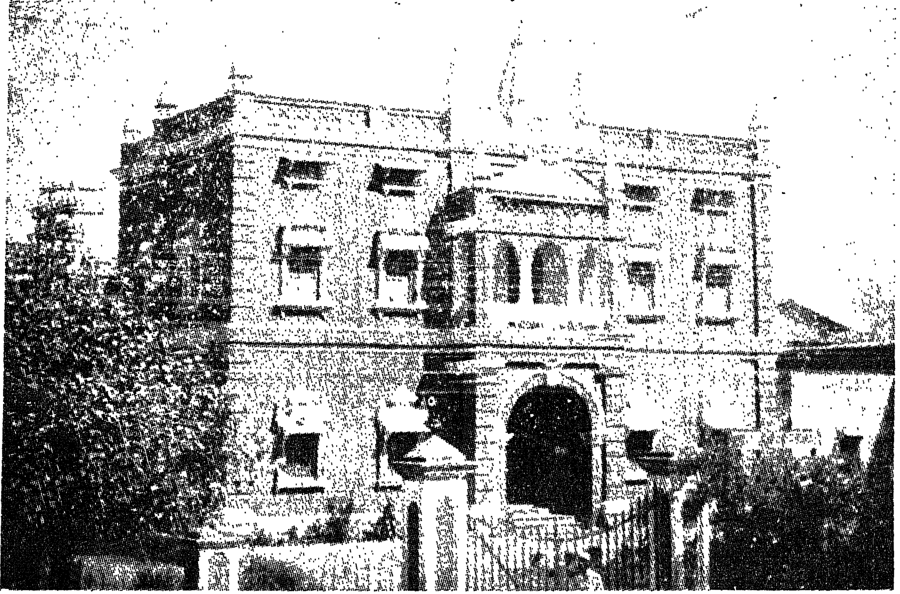
की आवश्यकता विशेष रूप से अनुभव करने लगे थे। प्रबंध-समिति ने अपनी १० वैशाख १९५७ वि० (२३ अप्रैल, १९००) की बैठक में निश्चय किया कि :—

इस भूमि को प्राप्त करने का उद्योग किया जाय, कंपनी बाग का एक नक्शा बनवाया जाय और इस विषय में सब प्रकार का उद्योग करने के लिये निम्नलिखित महाशयों को पूर्ण अधिकार दिया जाय,—१. बाबू गोविंददास, २. बाबू रामप्रसाद चौधरी, ३. बाबू राधाकृष्णदास, ४. बाबू श्यामसुंदरदास, ५. राय शिवप्रसाद (मंत्री)।

४. सभा के संचालकों को तत्कालीन जिला मजिस्ट्रेट रेडिचे महोदय का सहयोग प्राप्त था। ये रेवरेंड एडविन ग्रीव्स और श्री गोविंददास के उद्योग और रेडिचे महोदय के सहयोग का ही फल था कि सभा को १८० फुट लंबी और १३७ फुट चौड़ी कंपनी बाग की भूमि ३५००) में मिल गई। ६ पौष, १९५९ वि० (२१ दिसंबर, १९०२) को श्रीमान् काशीनरेश महाराज सर प्रभुनारायण सिंह बहादुर जी० सी० आई० ई० के करकमलों द्वारा सभा के भवन का शिलान्यास करा दिया गया। एक वर्ष के उपरांत सभाभवन बन जाने पर बृहस्पतिवार ६ फाल्गुन, १९६० वि० (१८ फरवरी, १९०४) को सभाका गृहप्रवेशोत्सव बड़े समारोह के साथ सभाभवन के सामने विशाल मंडप में मनाया गया। पर ज्यों ज्यों सभा का कार्य बढ़ता गया, स्थान की कमी बहुत अधिक खटकने लगी। स्थान की इतनी कमी थी कि सभा को बिक्री की पुस्तकों का स्टाक रखने के लिये भैरव बावली में एक मकान किराए पर लेना पड़ा। सं० १९८३ में सभा ने इस अभाव की पूर्ति का आयोजन आरंभ कर दिया।

सभा अब तक भूमि, भवन-निर्माण और मेज कुरसी आदि में सब मिलाकर ३९०००) खर्च कर चुकी थी। स्थान की कमी दूर करने के लिये अभी कुछ और भूमि खरीदने की आवश्यकता थी, जिसमें १००००), खर्च होने का अनुमान किया गया था। भवन-परिवर्द्धन के लिये २७०००), नया हाल बनवाने के लिये ६८०००), लकड़ी के सामान के लिये १६०००) और अन्य फुटकल कार्यों के लिये ३४००)। इस प्रकार सब मिलाकर १२४४००) की सभा को और आवश्यकता थी। यदि ३९०००) भी इसमें जोड़ दिया जाय, तो सभाभवन पर सभा का १६३४००) लगना निश्चित था। सभा ने इसके लिये प्रांतीय सरकार को लिखा था और प्रार्थना की, कि वह इस रकम का आधा सभा को प्रदान करने की कृपा करे। इस कार्य के निमित्त सर्व श्री गौरीशंकर प्रसाद, रामानारायण मिश्र तथा श्यामसुंदरदास नैनीताल गए और वहाँ युक्त प्रदेश के शिक्षा-विभाग के अध्यक्ष श्री ए० एच० मेकेंजी तथा शिक्षा मंत्री राय राजेश्वरबली से मिले और उनके सामने सभा की आवश्यकताएँ उपस्थित करके सरकार से सहायता दिलाने की प्रार्थना की। यह यात्रा बड़ी सफल रही। सन् १९२७-२८ के बजट में इस काम के लिये २३४००) की सहायता सभा को देने का निश्चय हुआ। अब तक जनता से भी ६०००) इस कार्य के लिये प्राप्त हो चुके थे। शेष की प्राप्ति के लिये भी सभा ने यत्न करना आरंभ कर दिया था।

सभा भवन के कुछ भाग को दो मंजिला बनाने का जो विचार किया गया था, वह संवत् १९८४ में पूरा हो गया और आवश्यकतानुसार लकड़ी का सामान भी बनवा लिया



सभाभवन

गया। इस वर्ष प्रांतीय सरकार से भी २२६००) सभा को मिल गए। हाल बन जाने पर स्थान की कमी बहुत कुछ दूर हो गई थी। पर पुस्तकालय के लिये जितना स्थान दिया गया था, सं० १६८६ आते आते वह भी कम पड़ गया। क्योंकि श्री रायकृष्णदास की कृपा से भारत-कला-परिषद् सभा में संमिलित कर दी गई और उसके 'कलाभवन' की सामग्री से सभाभवन के ऊपरी भाग का सारा स्थान भर गया। सभाभवन के पीछेवाली भूमि जो ४०००) में मोल ली गई थी, नए बड़े हाल के लिये काफी नहीं थी। पर यह कमी भी श्री रायकृष्णजी की उदारता से संवत् १९८५ में दूर हो गई। उन्होंने सभा की भूमि के दक्षिणपूर्व की ओर का १५०००) मूल्य का अपना मकान सभा को दान कर दिया। इस मकान के मिल जाने से नए हाल के लिये सभा के पास पर्याप्त भूमि हो गई।

हिंदी शब्दसागर की समाप्ति के उपलक्ष्य में इसी वर्ष वसंतपंचमी के अवसर पर २ और ३ फाल्गुन सं० १९५५ वि० (१४ और १५ फरवरी १९२९) को सभा ने कोशोत्सव मनाने का आयोजन किया और यह भी निश्चय किया कि नई खरीदी-हुई जमीन पर जो नया हाल बनेगा, उसका शिलान्यास भी इसी दिन महामना श्री मदनमोहन मालवीय जी के कर-कमलों द्वारा सम्पन्न करा लिया जायगा। निश्चयानुसार गुरुवार, २ फाल्गुन, सं० १९८५ वि० (१४ फरवरी, १९२९) को वसंतपंचमी के दिन प्रातःकाल महामना मालवीय जी ने शास्त्र-विधि से नए हाल का शिलान्यास संस्कार अनेक गण्य मान्य विद्वानों की उपस्थिति में संपन्न किया। एक प्रस्तर मंजूषा में ताम्रपत्र, सभा की नियमावली, कोशोत्सव का पूरा कार्यक्रम, नागरीप्रचारिणी पत्रिका की एक प्रति, मध्य हिंदी व्याकरण, सभा का ३५ वर्षों का कार्य विवरण और प्रचलित सिक्के रखे गए और वह मंजूषा नींव में रख दी गई। इस मंजूषा में जो ताम्रपत्र रखा गया है उस पर खुदा है—

'भारतेंदु हरिश्चंद्र के गोलोकवास के आठ वर्ष के उपरांत हिंदी भाषा और नागरी-लिपि के प्रचार, प्रसार, तथा उन्नति के उद्देश्य से सं० १९५० में काशी नागरीप्रचारिणी सभा की स्थापना हुई। उसने अपने ३९ वर्ष के जीवन में अब तक हिंदी भाषा और नागरीलिपि की अमूल्य तथा गौरवप्रद सेवा की है। इस काल में इस सभा के उद्योग से हिंदी भाषा ने राष्ट्रभाषा और देवनागरी लिपि ने राष्ट्रलिपि बनने की योग्यता प्राप्त कर ली है, और शनैः शनैः सभी प्रांत उसको उस रूप में ग्रहण करते जा रहे हैं। हिंदी के पठन-पाठन में आशातीत उन्नति हुई है। उसका अध्ययन, अध्यापन वर्तमान विश्वविद्यालयों की उच्चतम कक्षाओं में भी होता है। उसके गद्य और पद्य साहित्य की भाषा प्रायः एक ही रही और उसकी अक्षयनिधि नित्य नए रत्नों से सुशोभित होती जाती है। उसका प्रचार दूरस्थ द्रविड़ तथा कामरूप प्रांतों तक में हो रहा है। अब हिंदी न जानना और उसका आदर न करना देश-काल की अनभिज्ञता का सूचक माना जाता है। इस सभा का पहला भवन जो इस नवीन भवनके दक्षिण ओर है सं० १९६० में बना था। आज माघ शुक्ल ५, गुरुवार, संवत् १९८५ को इसके दूसरे नवीन भवन का शिलान्यास संस्करण देश के पूज्य नेता पंडित मदनमोहन मालवीय जी द्वारा संपन्न हुआ है। ईश्वर इस सभा की नित्य उन्नति करे, हिंदी भाषा तथा नागरीलिवी का स्वावलंबी भारतवर्ष में अखंड राज्य हो और इनके द्वारा भारतवासीमात्र एकता के सूत्र में बँधकर राष्ट्र के निर्माण में सफल प्रयत्न हों।

श्यामसुंदरदास—सभापति

माधवप्रसाद खन्ना—प्रधान मंत्री'

सं० १९९५ में श्री मुरारीलाल केडिया ने अपनी स्वर्गीया बहन और बहनोई के स्मारक स्वरूप कलाभवन के मूर्ति-विभाग के आंगन को पाटने और उसे गैलरी के रूप में परिणत करा देने के लिये १००१) सभा को प्रदान किया। इससे आधुनिक ढंग की प्राकृतिक तथा कृत्रिम प्रकाशयुक्त सुंदर गैलरी तैयार करा ली गई, और इस नए हाल का नाम 'श्री काशीदेई चंडीप्रसाद मूर्तिमंदिर रखा गया। इस नए हाल से कलाभवन का कुछ काम तो चल गया, पर नए भवन की कमी ज्यों की त्यों बनी रही।

सभा भवन के पूर्व की ओर गोदाम के पास एक स्टाक रूम भी सं० १९९७ में बनाया गया। संवत् १९९८ (१३ जुलाई, १९४१) की बैठक में मूर्ति मंदिर के ऊपर एक बड़ा कमरा बनवाने के लिये कुछ रुपये की स्वीकृति सभा ने दी और उसका कार्य आरंभ कर दिया गया। सं० १९९८ में इस कार्य पर ७५०) व्यय हुए, किंतु इतने से पूरा कमरा न बन सका और अर्थाभाव के कारण कुछ दिनों तक यह कार्य रोकना पड़ा। सं १९९९ में ७७५) और व्यय हुए तब कहीं यह कमरा बनकर तैयार हुआ।

स्थान की कमी का अनुभव उत्तरोत्तर हो रहा था, किंतु आर्थिक स्थिति अनुकूल न होने के कारण इस दिशा में कोई व्यावहारिक प्रयत्न शीघ्र नहीं हो सका। संवत् २००४ में ६०००) के व्यय से पुस्तकों के भांडार के लिये एक कमरा बनवाने का निश्चय किया गया था और आय-व्ययक में इसका संनिवेशन भी करा दिया गया था, किंतु अर्थ की व्यवस्था न होने के कारण उस वर्ष यह कार्य नहीं हो सका। सं० २००६ में पूर्व की ओर वाला खपरेल का गोदाम तोड़कर ४३६२=)। से एक कमरा बनवाया गया। कई वर्षों से सभा की इच्छा थी कि उसका अपना निजी मुद्रणालय हो, पर आर्थिक प्रतिकूलता के कारण यह कार्य भी टलता आ रहा था। सं० २००७ में इसकी स्थापना हुई और ५१७०॥—) के व्यय से उत्तर-पूरब की ओर कुएँ के पासवाली भूमि पर उसके लिये एक बड़ा कमरा बनवाया गया।

संवत् २००७ में भारत कला भवन हिंदू विश्वविद्यालय को हस्तांतरित कर दिया गया। पिछले १०—१५ वर्षों से इस संग्रहालय का प्रसार जिस तीव्र गति से होता चल रहा था, उसके कारण सभाभवन का समस्त ऊपरी खंड तथा नीचे का भी पर्याप्त अंश उसके लिये छोटा प्रतीत होने लगा था। कलाभवन के विश्वविद्यालय में चले जाने के कारण सभा के स्थानाभाव की समस्या कुछ दिनों के लिये सुलझ गई थी, पर अब पुनः स्थान-संकोच के कारण असुविधा होने लगी है। मुद्रणालय के लिये जो कमरा उत्तर-पूरब की ओर बनवाया गया था, उसे संप्रति जिल्दबंदी विभाग के लिये दे दिया गया है, तथा मुद्रणालय कलाभवन के मूर्तिमंदिर वाले कमरों में स्थानांतरित कर दिया गया है। ऊपरी खंडों के कुछ अंश को प्रकाशन-भांडार के लिये ले लिया गया है, तथा खपरैलवाले गोदाम के स्थान पर बने कमरे में संप्रति संकेतलिपि विद्यालय है। ऊपर के जिस बड़े हाल में कला-भवन का चित्रमंदिर था, वह समय समय पर होनेवाले सभा के आयोजनों के उपयोग में आ रहा है। मूर्तिमंदिर के ऊपरवाला अंश पुस्तकालय के उपयोग में है।

फिर भी स्थान की कमी अभी बनी हुई है। मुद्रणालय के विकास के लिये इस समय कोई अतिरिक्त स्थान सभा के पास नहीं है। इस बीच पुस्तकालय का जितना विकास हुआ है, और विशेषतः जिस रूप में इतने बड़े पुस्तकालय को सज्जित और व्यवस्थित रखने की आवश्यकता है, उसे देखते हुए समूचा भवन अकेले उसी के लिये पर्याप्त नहीं प्रतीत होता। खोज विभाग, पत्रिका विभाग, साहित्य विभाग, मुद्रणालय आदि के लिये जो स्थान संप्रति निश्चित हैं, वे अत्यंत असुविधाजनक हैं। महामना मालवीय जी ने जिस नवीन भवन की नीवं डाली थी, उसका कोई कार्य भी द्रव्याभाव के कारण नहीं हो सका। संवत् १९९७ में सभा ने स्व० आचार्य रामचंद्र शुक्ल की स्मृति में एक अतिथिशाला बनवाने का निश्चय किया था, पर खेद है कि इसके लिये कोई प्रभावकारी सहायता नहीं मिल सकी। बाहर से आनेवाले विद्वानों, अनुसंधायकों तथा सभा के अतिथियों के लिये सभा के पास कोई स्थान न होना सचमुच बड़े परिताप की बात है।

सौभाग्य की बात है कि इस वर्ष अतिथिशाला के निर्माण के लिये कलकत्ते के श्री सेठ राजकुमार जी भुवालका ने १५०००) का दान देना स्वीकार कर लिया है और निकट भविष्य में ही अतिथि शाला भी बन जायगी।

१५—'सरस्वती'

'सरस्वती' का प्रकाशन भी सभा के महत्वपूर्ण कार्यों में से है। हिंदी जगत् में 'सरस्वती' अपने ढंग की सबसे प्राचीन मासिक पत्रिका है। मासिक पत्रिकाओं के इतिहास में 'सरस्वती' ने एक नवीन युग का प्रवर्तन किया है। किंतु यह बात बहुत कम लोग जानते हैं कि 'सरस्वती' की स्थापना भी सभा के ही अनुमोदन पर उसी की सहायता से और उसी के हाथों से हुई है। संवत् १९५६ में इंडियन प्रेस के स्वामी के अनुरोध पर सभा ने पत्रिका के लिये सर्वश्री श्यामसुंदरदास, राधाकृष्णदास, जगन्नाथदास 'रत्नाकर', कार्त्तिकप्रसाद और किशोरीलाल गोस्वामी इन पांच विद्वानों की एक संपादक समिति नियत की थी। इसी समिति के संपादकत्व में सभा के अनुमोदन पर संवत् १९५६ (जनवरी १९०० ई०) में इंडियन प्रेस से 'सरस्वती' प्रकाशित हुई। उसके मुखपृष्ठ पर 'काशी नागरीप्रचारिणी सभा के अनुमोदन से प्रतिष्ठित' छपा रहता था और संपादक समिति के सदस्यों के नाम इस क्रम से दिए जाते थे।

सम्पादक समिति

१—बा० कार्त्तिकप्रसाद खत्री
२—पं० किशोरीलाल गोस्वामी
१—बा० जगन्नाथदास बी० ए०
४—बा० राधाकृष्णदास
५—बा० श्यामसुंदरदास बी० ए०

प्रथम वर्ष में 'सरस्वती' का संपादन उक्त संपादक समिति करती रही। दूसरे वर्ष से सभा ने यह कार्य अकेले श्री श्यामसुंदरदास को सौंप दिया, जो तीसरे वर्ष तक 'सरस्वती'

का संपादन बड़ी सफलता के साथ करते रहे। संवत् १९५९ में (चौथे वर्ष; जनवरी, १९०३) से श्री महावीरप्रसाद द्विवेदी उसके संपादक नियत हुए। द्विवेदी जी के संपादकत्व में भी तीन वर्ष (सन् १६०३ से १९०५) तक 'सरस्वती' का संबंध सभा से पूर्ववत ही बना रहा, परंतु उसके बाद किसी कारणवश टूट गया। यह पत्रिका अब तक नियमित रूप से प्रकाशित हो रही है।

१६—हिंदी साहित्य संमेलन

हिंदी साहित्य संमेलन हिंदी प्रचार का कार्य करनेवाली देश की प्रधान संस्था है। हिंदी प्रचार, साहित्य सेवा और अपनी परीक्षाओं के लिये वह समस्त भारतवर्ष में ही नहीं, विदेशों में भी पर्याप्त ख्याति प्राप्त कर चुका है। किंतु इस बात को संभवतः सब लोग नहीं जानते कि हिंदी साहित्य संमेलन की जननी 'नागरीप्रचारिणी सभा' है। सभा की प्रबंधसमिति ने ही सं० १९६७ में श्री श्यामसुंदरदास के प्रस्ताव पर हिंदी साहित्य संमेलन आयोजित करने का निश्चय किया था। संमेलन का यह पहला अधिवेशन महामना मालवीय जी के सभापतित्व में २४, २५ और २६ आश्विन, सं० १९६७ (१०, ११ और १२ अक्टूबर १९१०) को विशेष समारोहपूर्वक नागरीप्रचारिणी सभा में हुआ। विभिन्न प्रांतों के ३०० प्रतिनिधि इसमें संमिलित हुए थे। दैनिक, अर्ध साप्ताहिक, साप्ताहिक, पाक्षिक, मासिक और त्रैमासिक पत्रों के ४२ संपादक और सहकारी संपादक इस अवसर पर पधारे थे।

संमेलन में पढ़े जाने के लिये अनेक विद्वानों के लेख आए थे। कितने ही विद्वान् अपने लेखों के साथ स्वयं उपस्थित हुए थे। इनमें कुछ लेख तो पढ़े जा सके और कुछ समय न मिलने के कारण रह गए। इसलिए संमेलन की स्वागतकारिणी समिति ने बाद में सब लेखों को पुस्तकाकार छपवाकर प्रकाशित कर दिया।

हिंदी प्रेमियों के इस प्रथम मेले की आयोजना में सभा को आशातीत सफलता हुई और संमेलन सब प्रकार से सफल रहा। इसका दूसरा अधिवेशन प्रयाग में वहाँ की नागरी-प्रवर्द्धिनी सभा की ओर से संवत् १९६८ के आश्विन मास में होना निश्चित हुआ। वहीं से इसे एक पृथक् अखिल भारतवर्षीय संस्था का रूप मिला।

सं० १९९६ में संमेलन का अट्ठाईसवाँ अधिवेशन भी काशी में ही नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा आमंत्रित किया गया था। इस संमेलन के सभापति श्री अंबिकाप्रसाद वाजपेयी थे और स्वागताध्यक्ष महामना श्री मदनमोहन मालवीय।

१७—पंचांग शोध

जिस समय सभा की ओर से विक्रम की द्विसहस्राब्दी मनाने का निश्चय किया गया था, उसी समय यह भी निश्चय हुआ था कि इस उत्सव के कार्यक्रम में प्रचलित पंचांग के, जो विक्रम का सबसे बड़ा संस्मारक है, संशोधन को भी स्थान दिया जाय। इस संबंध में सभा के सभापति श्री संपूर्णानंद ने २५ माघ, १९९८ को पंचांग संबंधी नीचे लिखे कुछ प्रश्न विशेष रूप से विचार के लिये उपस्थित किए:—

१. संक्रांति की जो तिथियाँ पंचांगों में दी रहती हैं और हमारे घरों में मनाई जाती हैं, वे दृश्यगणित की तिथियों से, जो वस्तुस्थिति पर निर्भर हैं, नहीं मिलतीं। वर्तमान संवत् के लिये यह अंतर इस प्रकार है:—

संक्रांति	दृश्य	विश्व पंचांगगत
मेष	२३ मार्च १९४१	१३ अप्रैल १९४१
कर्क	२१ जून १९४१	१६ जुलाई १६४१
तुला	२३ सितंबर १९४१	१६ अक्टूबर १९४१
मकर	२४ दिसंबर १९४१	१३ जनवरी १९४१

२. चंद्र मास कहीं शुक्ल पक्ष से आरंभ होते हैं, कहीं कृष्ण पक्ष से। श्रीकृष्ण जन्माष्टमी जिस दिन होती है, उसको कहीं तो भाद्र कृष्ण अष्टमी कहते हैं, कहीं श्रावण कृष्ण अष्टमी; शुक्ल पक्ष में नाम मिल जाता है।

३. पुराने ज्योतिष ग्रंथों में ग्रहों की गतिविधि के संबंध में जो अंक दिए गए हैं, उनके अनुसार ग्रहों के जो स्थान आते हैं, वे उन स्थानों से भिन्न हैं, जहाँ पर ग्रह सचमुच हैं। एक दो उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जायगी—

सौर वर्ष का मान

आर्य भट्ट

३६५ दिन ६ घंटा १२ मिनट २९. ६४ से०

सूर्यसिद्धांत

३६५ दिन ६ घंटा १२ मिनट ३६. ५६ से०

अर्वाचीन

३६५ दिन ६ घंटा ९ मिनट ९ से०

यदि दशमलव के दूसरे तीसरे स्थान में भी कुछ भूल हो, तो वह सैकड़ों वर्षों में बड़ा रूप धारण कर लेती है। हमारे ज्योतिषी इस बात को जानते हैं। अब महत्त्व का प्रश्न यह है कि फलित ज्योतिष के लिये इन दृश्य स्थानों से काम लिया जाय या अदृश्य से। इस विषय में बड़ा मतभेद है।

राजाश्रय के बिना ज्योतिष में यह सब गड़बड़ी आ गई है और इसका सुधरना भी कठिन है, फिर भी प्रयत्न करना चाहिए। मुझे विश्वास होता है कि इस काम में हमको विद्वानों के अतिरिक्त नरेशों और धनिकों का भी सहयोग प्राप्त हो सकेगा। पर्याप्त प्रचार होना चाहिए।

इसलिये मेरा प्रस्ताव है कि कुछ विद्वानों की एक समिति बुलाई जाय, वह विचार करे कि (१) इन प्रश्नों पर विचार करना उचित और व्यावहारिक है या नहीं, (२) ऐसे विचार के लिये काशी में एक संमेलन बुलाना ठीक होगा या नहीं, (३) यदि ठीक हो तो उसमें किस किस को बुलाया जाय, (४) संमेलन के सामने कौन कौन से प्रश्न रखे जायँ और (५) संमेलन का आयोजन करने और उसकी रिपोर्ट निकालने में कितना व्यय होगा।

१४ चैत्र १९९८ को सभा की प्रबंध समिति ने एक पंचांग शोध समिति नियुक्त की जिसके संयोजक श्री संपूर्णानंद जी और निम्नलिखित सज्जन सदस्य बनाए गए—

१. सर्वश्री रामव्यास ज्योतिषी, हिं० वि० वि०, काशी ।

२. बलदेव मिश्र ज्यो०, श्री सरस्वती भवन, काशी ।

३. रघुनाथ शर्मा ज्यो०, नई बस्ती, काशी ।

४. डाक्टर गोरखप्रसाद, प्रयाग वि० वि० प्रयाग ।

५. डाक्टर अवधेशनारायण सिंह, गणित विभाग, लखनऊ वि०, लखनऊ ।

६. महावीरप्रसाद श्रीवास्तव, फर्रुखाबाद ।

७. रा० ब० कमलाकर द्विवेदी, खजुरी, बनारस ।

८. पद्माकर द्विवेदी, खजुरी, काशी ।

९. चंडीप्रसाद जी, चेतगंज, काशी ।

१०. हजारीप्रसाद द्विवेदी, शांतिनिकेतन ।

प्रारंभिक विचार विनिमय के बाद समिति की एक बैठक २६ ज्येष्ठ १९९९ को और दूसरी ५ मार्गशीर्ष, १९९९ को हुई । संयोजक के जेल चले जाने के कारण उनका भार श्री पं० रामव्यास जी ने स्वीकार कर लिया था । समिति ने मूलविंदु, अयनांश, वर्षमान आदि कई प्रश्नों पर विचार करने के उपरांत यह निश्चय किया कि निम्नलिखित प्रश्नों पर विद्वानों की संमति माँगी जाय और सब संमतियों के आ जाने पर समिति की बैठक फिर की जाय ।

पंचांग शोधन का स्वरूप-निर्णय, अर्थात् पंचांग में किस प्रकार के परिवर्तन हों, इस संबंध में निम्नलिखित बातें देश के विद्वानों के समक्ष रखी गई—

क. पंचांग दृश्य गणनानुसार बनना चाहिए या प्राचीन गणनानुसार ।

ख. यदि प्राचीन गणनानुसार बने तो किस सिद्धांत के अनुसार और क्यों ?—या

ग. यदि आपके मतानुसार किसी उपायांतर का अवलंबन करना ठीक हो तो उसका क्या स्वरूप हो ?

घ. यदि दृश्य गणनानुसार पंचांग बनेंगे तो उनसे व्रतादिक धार्मिक कृत्यों के संबंध में अथवा धर्मशास्त्रियों की दृष्टि से जो बाधाएँ उपस्थित होंगी, उनके निवारण के लिये आपकी संमति में क्या उपाय होना चाहिए ?

इन पत्रों के उत्तर में लगभग ३५ विद्वानों की संमतियाँ तथा अनेकों के बृहत् लेख आए । इनमें अधिकांश की संमति थी कि व्रतोपवास के लिये सूर्य सिद्धांतानुसार तिथि, नक्षत्र-योग बनाए जायँ और दृश्य ग्रहण, शृंगोन्नत्यादि के लिये दृश्य गणित का व्यवहार हो । कुछ लोगों का मत दृश्य गणनानुसार पंचांग बनाने के पक्ष में भी था ।

समिति की अंतिम बैठक ३ माघ, १९९९ को हुई । उपस्थित सदस्यों में से तीन अर्थात् सर्वश्री चंडीप्रसाद, डाक्टर गोरखप्रसाद और अवधेशनारायण सिंह इस मत के थे कि पंचांग सर्वथा दृश्य गणना के अनुसार बनाया जाय । दूसरी ओर सर्वश्री रामव्यास पांडेय और पद्माकर द्विवेदी का कहना था कि सूर्य सिद्धांत का अनुसरण ही होता रहे ।

श्रीबलदेव मिश्र की यह संमति थी कि पंचांग का आधार सूर्य सिद्धांत ही रहे, परंतु तद्गत गणनाओं में बीज संस्कार किया जाय और ग्रहों का उदयास्त आदि दृश्य गणित के अनुसार दिया जाय।

ऐसे प्रश्न पर जिनकी सहज जटिलता को धार्मिक विश्वासों और सैकड़ों वर्षों की गतानुगति से उत्पन्न आग्रहों ने पुष्ट कर रखा है, सहसा ऐकमत्य की आशा भी नहीं थी। परंतु इससे भी संतोषजनक बात यह हुई कि जनता का ध्यान इस ओर आकृष्ट हुआ। किंतु देश की राजनीतिक परिस्थिति उन दिनों ऐसी थी कि इस ओर कोई विशेष प्रभावकारी कार्य नहीं हो सका। अंत में सभा ने यह निश्चय किया कि इस समय ऐसी सारणियाँ प्रकाशित कर दी जायँ, जिनमें ग्रहों का स्पष्ट भोगांश, शर, लंबन परम क्रांति, बिंब आदि का ज्ञान ठीक ठीक हो सके। तदनुसार श्री डा० गोरखप्रसाद द्वारा लिखित चंद्रमा तथा सूर्य की सारणियाँ क्रमानुसार संवत् २००२ तथा २००५ में प्रकाशित कर दी गईं।

१८—भारत-कला-भवन

कविकुलगुरु रवींद्रनाथ ठाकुर के सभापतित्व में संवत् १६७७ में (१ जनवरी १९२० को) काशी में 'भारत-कला-परिषद्' नामक एक संस्था की स्थापना की गई थी, जिसका मुख्य उद्देश्य कलापूर्ण वस्तुओं के संग्रहालय एवं चित्र तथा संगीत-शिक्षालय के माध्यम से राष्ट्र की कला-भावना को उन्नत और विकसित करना था। आगे चलकर आर्थिक कठिनाइयों के कारण संग्रहालय के साथ चित्र और संगीत-विद्यालय चलाना संभव नहीं जान पड़ा, फलतः संवत् १६८० में कवींद्र के आदेशानुसार सारी शक्तियाँ केवल संग्रहालय में केंद्रित कर दी गईं। पर अपना स्थान न होने के कारण परिषद् को बड़ी अड़चन का सामना करना पड़ता था। संवत् १९८३ से परिषद् के प्रदर्शन का कार्य स्थानीय सेंट्रल हिंदू स्कूल में चलने लगा था। किंतु ज्यों ज्यों समय बीतता जाता था, परिषद् का संग्रह बढ़ता जाता था। दो तीन वर्षों में ही हिंदू स्कूल जैसी शिक्षा-संस्था का संरक्षण परिषद् के लिये संकुचित प्रतीत होने लगा। उन्हीं दिनों सभा में भी एक संग्रहालय खोलने की चर्चा चल रही थी। संवत् १९८५ के अंत में सभा के अधिकारियों ने परिषद् के मंत्री श्री रायकृष्णदास जी से अनुरोध किया कि भारत-कला-परिषद् के संग्राहालय को सभा में संमिलित कर दें। तदनुसार उक्त संग्रहालय 'भारत-कला-भवन' के नाम से संवत् १९८६ में सभा में आ गया।

इस संग्रहालय में पर्याप्त सामग्री थी, जो सब धीरे धीरे सभाभवन के नए बने हुए ऊपरी भाग में पहुँचा दी गई। इस सामग्री का मूल्य उस समय लगभग एक लाख कूता गया था। इस संग्रहालय को अपने साथ संमिलित करने के लिये बड़ी बड़ी संस्थाओं के संचालक उत्सुक थे, किंतु सर्वश्री रायकृष्णदास और श्यामसुंदरदास के उद्योग से काशी नागरीप्रचारिणी सभा को ही प्राप्त हुआ।

इसी वर्ष सभा की ओर से कलाभवन के लिये एक अपील प्रकाशित कराई गई, जिसमें सर्वसाधारण का ध्यान इस बात की ओर आकृष्ट किया गया और उनसे आग्रह किया गया

कि कलाभवन के संग्रह को सर्वांगपूर्ण बनाने में चित्रों, सिक्कों, कलापूर्ण बर्तन-भाँड़ों, अलंकृत वस्त्रों, मूर्तियाँ आदि का जो संग्रह घरों में पड़ा पड़ा नष्ट हो रहा है, अथवा विदेशी व्यापारियों के कारण सात समुद्र पार चला जा रहा है, उसकी सुरक्षा के लिये कलाभवन की सहायता करें। यह अपील महात्मा गांधी ने अपने 'यंग इंडिया' में भी प्रकाशित की थी और अपनी टिप्पणी में उसका अनुमोदन तथा समर्थन किया था। इस अपील के फलस्वरूप पहले वर्ष से ही कलाभवन को बहुमूल्य चित्रों, चित्रित ग्रंथों, सिक्कों, मूर्तियों के दान प्राप्त होने लगे। संवत् १९८९ में रूस के विख्यात चित्रकार श्री निकोलस डि रोरिक ने अपने बारह मौलिक चित्र कलाभवन को प्रदान किए। संवत् १९९१ में कलाभवन की ओर से बैराट नामक स्थान में खुदाई का कार्य आरंभ करने का विचार किया गया। यह स्थान काशी से उत्तर-पूरब की ओर लगभग २२ मील की दूरी पर है, जहाँ मीलों तक अत्यंत प्राचीन टीले फैले हुए हैं। इन टीलों की प्राचीनता इसी से स्पष्ट है कि इनकी ऊपरी सतह पर ही मौर्यकालीन मिट्टी के बर्त्तनों के टुकड़े, शुंगकालीन वस्तुएँ, कुशनकालीन सिक्के आदि पड़े हुए मिलते हैं। इस संबंध में यद्यपि कलाभवन की ओर से पर्याप्त उद्योग किया गया और भारतीय पुरातत्व विभाग के अधिकारियों ने भी कलाभवन के उद्देश्यों के प्रति पर्याप्त सहानुभूति प्रकट की, किंतु विशेषज्ञों के अभाव में इस संकल्प को व्यावहारिक रूप नहीं दिया जा सका। संवत् १९९२ में कलाभवन ने मेघदूत का खड़ी बोली में श्री केशवप्रसाद मिश्र कृत पद्यानुवाद प्रकाशित किया। इस सुंदर ग्रंथ में ठाकुर शैली के प्रसिद्ध चित्रकार श्री शैलेंद्र दे के बनाए हुए १२ रंगीन और १ सादा चित्र दिए गए। संवत् १९९० में सभा ने आचार्य महावीरप्रसाद जी द्विवेदी को जो अभिनंदन ग्रंथ समर्पित किया, उसकी सजावट की जैसी अभूतपूर्व योजना उक्त ग्रंथों में हुई, वैसी आजतक हिंदी के ही नहीं अन्य भाषाओं के ग्रंथों में भी दुर्लभ है।

कलाभवन का संग्रह जिस गति से दिन प्रतिदिन बढ़ता जा रहा था, उसी गति से उसके लिये अर्थ की कठिनाई भी बढ़ती जा रही थी। भारतकला परिषद् और सभा के बीच जो समझौता हुआ था, उसके अनुसार सभा ६००) वार्षिक कलाभवन पर व्यय करने के लिये वचनबद्ध थी किंतु ८ वर्षों में (सन् १९२९ से १९३६ तक) कलाभवन के मद में वह १३८३१ रु० ६ आना व्यय कर चुकी थी, जिनमें से ४८३३ रु० ९ आना ७ पाई चंदे से प्राप्त हुए थे, और शेष ८९९६ रु० १२ आ० सभा ने अपने पास से व्यय किए थे। इस प्रकार सभा निश्चित वार्षिक व्यय से कहीं अधिक व्यय कलाभवन पर कर रही थी। कलाभवन की उपयोगिता को देखते हुए, यह अनिवार्य था कि उसका व्यय प्रतिवर्ष बढ़ता जाय। किंतु अपनी प्रतिकूल आर्थिक स्थिति के कारण यह व्यय-भार उठाना दिन प्रतिदिन सभा की शक्ति के बाहर होता जा रहा था। अतएव सं० १९९३ में यह संग्रह कलापरिषद् को लौटाने के प्रश्न पर सभा ने विचार किया। किंतु भारत-कला परिषद् का वैधानिक अस्तित्व निश्चित न होने के कारण वैसा नहीं हो सका। इस प्रश्न को लेकर कलाभवन के कार्यों में जो गतिरोध आ गया था वह संवत् १९९४ के मध्य तक बना रहा, किंतु तदनंतर वह दूर हो गया और संग्रह आदि का कार्य पुनः जोरों से चल निकला। संवत् १९९५ में कलाभवन को बहुत अधिक संख्या में वस्तुएँ प्राप्त हुईं, जिनमें भारत-सरकार द्वारा प्रदत्त सारनाथ की

प्रस्तर-सामग्री प्रमुख थी। इसी वर्ष कलाभवन ने भारतीय-इतिहास-परिषद् के अधिवेशन के अवसर पर एक प्रदर्शनी का आयोजन किया, जिसमें यहाँ की रक्षण-विधि तथा प्रदर्शन की रीति की मुक्त कंठ से प्रशंसा की गई। संवत् १९९६ में भी अनेक उत्कृष्ट वस्तुएँ कलाभवन के संग्रह में आईं। इसी वर्ष स्थानीय काशी स्टेशन और राजघाट के किले का मध्यवर्ती भूभाग रेलवे की ओर से खोदा जाना आरंभ हुआ। इस स्थान से अनेक महत्वपूर्ण वस्तुएँ मिलीं, जिनके संरक्षण और प्रदर्शन के लिये कलाभवन में एक स्वतंत्र विभाग खोल दिया गया। संवत् १९९८ में पुरातत्व विभाग ने मोहेनजोदड़ो से प्राप्त वस्तुओं का एक अच्छा सेट प्रदान किया। सं० १९९९ से प्रांतीय सरकार भी कलाभवन को २५००) वार्षिक स्थायी सहायता देने लगी।

अपनी अर्द्धशताब्दी के सिलसिले में सभा ने अपने विभिन्न विभागों को विकसित और संपुष्ट करने का जो उद्योग आरंभ किया था, उसके परिणाम स्वरूप संवत् २००० से ही कलाभवन के विभिन्न विभागों में एक ओर तो दान, परिवर्तन, क्रय आदि साधनों से उत्कृष्ट सामग्री का संग्रह होने लगा और दूसरी ओर उनके समुचित प्रदर्शन और संरक्षण की चेष्टा की जाने लगी। संवत् २००० में चित्रों की सजावट भी शैलीक्रम से करके उनपर हिंदी-अंग्रेजी दोनों भाषाओं में परिचय-पत्र लगाए गए। पहाड़ी तथा राजस्थानी चित्रों के पूर्व प्रदर्शित सेट के बदले पिछले २–३ वर्षों में संगृहीत चित्र प्रदर्शनार्थ लगा दिए गए। इसी वर्ष तालपत्र पर लिखी हुई १२ वीं शती की प्रज्ञापारमिता की सचित्र प्रति प्राप्त हुई, जिसमें कुल १२ चित्र थे तथा दोनों ओर के लकड़ी के पटरे भी चित्रित थे। पत्रों का माप २२$\frac{1}{2}$ इंच × २$\frac{5}{8}$ इंच है। इसी वर्ष कौशांबी, भीटा, मसौन, आदि ऐतिहासिक स्थानों से अब तक के प्राप्त रत्नों एवं उपरत्नों के प्राचीन मनकों को भी शो-केसों में पहली बार प्रदर्शित किया गया। संवत् २००० में ही म्युनिसपल म्यूजियम, इलाहाबाद से परिवर्त्तन में प्राप्त भारहुती यक्षिणी की शुंग-कालीन, एवं भारत-सरकार से प्राप्त गोवर्धनधारी कृष्ण की गुप्त-कालीन विशाल मूर्तियों के खंडित अंशों की मरम्मत एक कुशल कारीगर से कराई गई जिससे दर्शकों को मूर्तियों के वास्तविक रूप एवं सौंदर्य का आभास मिल सके। सौर चैत्र २००० (मार्च १९४४) में बुद्ध की दो गुप्तकालीन मूर्त्तियां कलाभवन के लिये खरीदीं गईं। इनमें बड़ी और विशिष्ट मूर्त्ति गुप्तपूर्व काल की थी। मूर्त्तिमंदिर की संपूर्ण सजावट भी बिलकुल नए सिरे से करके महत्वपूर्ण वस्तुओं पर परिचय-पत्र लगा दिए गए।

इसी वर्ष राजघाट मंदिर में राजघाट से प्राप्त समस्त वस्तुएं स्थायी रूप से सजा दी गईं। इनके लिये पर्याप्त धन व्यय करके कितने ही नए शो-केस बनवाए गए। भारत सरकार से प्राप्त महाराज गोविंदचंद्र का सं० ११९७ वि० का दो पत्रों वाला ताम्रशासन भी पाठ की प्रतिलिपि एवं हिंदी अनुवाद सहित प्रदर्शित कर दिया गया। राजघाट की बहुत कुछ बड़ी बड़ी वस्तुएं एवं इमारती पत्थर सभा भवन के पूरब ओर एक खुली वीथी में सजाए गए। मोहेंजोदड़ों की सामग्री पूरब के गलियारे से पच्छिम के गलियारे में स्थानांतरित कर दी गई और वहीं कलाभवन में संग्रहीत सब स्थानों की उत्तमोत्तम मृण्मूर्तियां भी ६ नए कीमती शो-केसों में प्राप्ति-स्थान के अनुसार सजा दी गईं।

कला-भवन के साहित्य-विभाग की भी पर्याप्त उन्नति हुई। सभा के पुस्तकाध्यक्ष स्व० श्री शंभुनारायण जी चौबे के उद्योग से रामचरित मानस की सं० १७२१ वि० की एक हस्तलिखित प्रति प्राप्त हुई। यह प्रति मानस की ज्ञात प्रतियों में सबसे प्राचीन, अर्थात् गोसाईं जी के मृत्युकाल के ४१ वर्ष बाद की, तथा विशेष प्रामाणिक है। दूसरी महत्वपूर्ण वस्तु महर्षि दयानंद का आद्योपांत उन्हीं के हस्ताक्षर में शनिवार ता० १ मार्च १८७९ का पत्र था, जिसे उन्होंने श्री श्यामजी कृष्ण वर्मा के नाम लिखा था।

युद्ध के कारण सं० २००० तक देश के प्रमुख संग्रहालय या तो बंद कर दिए गए थे, अथवा वहां से अध्ययन की सुविधाएँ हटा ली गई थीं; फलतः प्राचीन भारतीय कला एवं प्रत्नतत्त्व संबंधी विषयों का अध्ययन-अनुशीलन करनेवाले छात्रों की दृष्टि कला-भवन की ओर आकृष्ट होना स्वाभाविक था। सच पूछा जाय तो कला-संबंधी सामग्री के संग्रह, संरक्षण तथा प्रदर्शन का मुख्य ध्येय यही है कि राष्ट्र की सुप्त कला-चेतना उद्बुद्ध हो। मूर्तियों के ढार, वस्तुओं के फोटो अथवा प्रतिकृतियों की मांग उत्तरोत्तर बढ़ते चलने के कारण यह आवश्यक प्रतीत होने लगा कि आधुनिकतम उपकरणों और यंत्रों से सज्जित वर्कशाप, स्टूडियो, अध्ययन-कक्ष आदि की व्यवस्था भी कला-भवन के लिये शीघ्र हो जानी चाहिए। इस राष्ट्रीय संग्रहालय के मूल में जो विशाल कल्पना थी, उसे इस रूप में मूर्तिमान होते देख एक ओर जहां स्वाभाविक पुलक और आनंद हो रहा था, दूसरी ओर अपने साधनों पर दृष्टिपात करने से यह कार्य असाध्य-साधन सा प्रतीत हो रहा था। फिर भी जो कुछ सुलभ था उसे लेकर कलाभवन अपने पथ पर आगे बढ़ता रहा।

संवत् २००१ में नवीन वस्तुओं का संग्रह यद्यपि परिमाण की दृष्टि से अधिक नहीं रहा, तथापि विशिष्टता की दृष्टि से प्रत्येक उल्लेखनीय वस्तुएं आईं, जिनमें उड़ीसा शैली के गीत-गोविंद के पांच चित्र, दकनी शैली के रागमाला के इक्कीस चित्र, छः नैपाली चित्रपट और दो नेपाली काष्ठमूर्त्तिया प्रमुख थीं। स्व० उस्ताद रामप्रसाद के पुत्र श्री शारदाप्रसाद द्वारा १५ वीं शती से लेकर १८ वीं शती तक के एक सौ विशिष्ट भारतीय पुरुषों की एक चित्र-माला बनवाने का कार्य भी इस वर्ष आरंभ किया गया। कलाभवन के साहित्य-विभाग में हिंदी की सभी प्रकार की पत्र-पत्रिकाओं की प्रथम संख्या तथा महत्वपूर्ण लेखकों की रचनाओं की पांडुलिपियां रखने की व्यवस्था थी। स्थान-संकोच के कारण इस विभाग की सामग्री प्रायः बंद रहा करती थी, किंतु इस वर्ष से इस विभाग की चुनी हुई सामग्री के प्रदर्शन की भी व्यवस्था कर दी गई। कलाभवन के उप-संग्रहाध्यक्ष श्री उदयशंकर शास्त्री पुरातत्व विभाग द्वारा संचालित उत्खनन-शिक्षण-केंद्र में शिक्षाग्रहण करने के लिये तक्षशिला भेजे गए। इसी वर्ष सभा ने कलाभवन के लिये निम्नलिखित नवीन विधान बनाया, जिसमें सभा के अहाते का पिछवाड़ा कलाभवन की नई इमारत के लिये अलग कर दिया।

इस विधान का बड़ा शुभ प्रभाव कलाभवन के हितेच्छुओं और सहायकों पर पड़ा तथा दूसरे ही वर्ष संवत् २००२ में कलाभवन को उनसे लगभग ६००० रु० की आर्थिक सहायता प्राप्त हुई। यद्यपि यह सहायता इतनी नहीं थी कि इसके द्वारा इमारत का कार्य आरंभ कराया जाता, फिर भी संग्रह और संरक्षण के लिये यह विशेष लाभप्रद हुई। इस वर्ष बंबई में होनेवाली विक्रम प्रदर्शनी में कलाभवन की उत्कृष्ट वस्तुएँ प्रदर्शनार्थ भेजी

गई जहां उनकी अच्छी प्रशंसा हुई और स्थानीय पत्रों में विद्वानों ने उन पर लेख भी लिखे। काशी की थियासाफिकल सोसायटी की ओर से भी दो प्रदर्शनियां हुईं, जिनमें एक मुगल शैली तथा दूसरी राजस्थानी शैली के चित्रों की थी। दोनों का आयोजन कलाभवन की ओर से किया गया था। 'प्रसाद' जी तथा राष्ट्रकवि श्री मैथिलीशरण जी गुप्त की सामग्री के प्रदर्शन भी इस वर्ष किए गए। श्रद्धेय डाक्टर भगवान्दास जी की काँसे की एक मूर्ति बनाने का संकल्प कई वर्ष पूर्व कलाभवन ने किया था, जो सामग्री के अभाव में टलता आ रहा था। अतएव इस वर्ष निश्चय किया गया कि यह मूर्ति काँसे की न बनवा कर संगमरमर की बनवाई जाय। संवत् २००४ में यह मूर्ति बनकर तैयार हो गई।

संवत् २००७ तक कलाभवन का संग्रह बहुत बढ़ गया। यहां तक कि उसके विकास और प्रसार को देखते हुए सभाभवना का समूचा ऊपरी खंड तथा नीचे का भी यथेष्ट अंश संगृहीत सामग्री के समुचित प्रदर्शन के लिये पर्याप्त नहीं पड़ रहा था। चेष्टा करने पर भी सभाभवन के पीछे की भूमि पर इमारत बनाने का कार्य आरंभ नहीं हो पा रहा था। कलाभवन के संस्थापक संग्रहाध्यक्ष श्री रायकृष्णदास की विराट कल्पना सभा में यहाँ तक साकार होकर संवत् २००७ में हिंदू विश्वविद्यालय में स्थानांतरित हो गयी।

१९—सभा की अर्द्धशताब्दी

संस्थाओं के जीवन में ५० वर्ष की अवधि बहुत अधिक नहीं होती। विदेशों में सौ सौ, दो दो सौ वर्षों की संस्थाएँ वर्तमान हैं, जो निरंतर अपना कार्य सुचारु रूप से करती रही हैं। किंतु इस देश में वैसी स्थिति नहीं है। यहाँ की संस्थाओं को सुचारु रूप से कार्यशील बनाए रखने के पहले इसकी चिंता करनी पड़ती है कि संस्थाएँ किस प्रकार केवल जीवित रखी जायँ। ऐसी स्थिति में पचास वर्षों तक कार्य करने के उपरांत अपनी स्वर्ण जयंती मनाना इस देश में किसी भी संस्था के लिये बड़े गौरव की बात समझी जाती है। यह गौरवपूर्ण अवसर संवत् २००० में इस सभा को प्राप्त हुआ था। विशेष प्रसन्नता इस बात की थी कि उस समय इसके वे तीनों संस्थापक जीवित थे, जिन्होंने पचास वर्ष पूर्व इसका बीजारोपण किया था। अर्द्धशताब्दी मनाने का निश्चय सभा ने कई वर्ष पूर्व किया था और उसके लिये बराबर तैयारी हो रही थी। सभा का यह संकल्प था कि उसकी अर्धशताब्दी उत्सव मात्र न होकर एक ऐसा रचनात्मक अनुष्ठान होगा, जिससे उसके प्रत्येक अंग को पुष्टि और स्फूर्ति मिलेगी, जिससे आनेवाले वर्षों में वह नवीन उत्साह और नवीन प्रेरणा से कार्य कर सके। ईश्वर की कृपा से उसका यह आयोजन उसी रूप में संपन्न हुआ। संवत् २००० में वसंत पंचमी के अवसर पर सभा की स्वर्ण जयंती समारोहपूर्वक मनाई गई।

संवत् २००० में ही राय बहादुर डा० श्यामसुंदरदास ने अपना पुस्तक-संग्रह तथा अपने उपाधिपत्र, प्रमाणपत्र, पदक, विभिन्न अवस्थाओं के फोटो आदि सभा को प्रदान कर दिए। उनके चित्रों आदि का उद्‌घाटन प्रसिद्ध देशभक्त श्री श्रीप्रकाशजी के कर कमलों से ३१ आषाढ़ को हुआ। वस्तुतः इसी समारंभ से अर्धशताब्दी संबंधी उत्सवों का श्रीगणेश हुआ।

दूसरा आयोजन भारत-कलाभवन की राजघाट शिल्प-वीथी का उद्‌घाटन था, जो २६ श्रावण को पुरातत्त्व विभाग के अध्यक्ष श्रीयुत् काशीनाथ नारायण दीक्षित द्वारा संपन्न हुआ। आर्य-भाषा पुस्तकालय के लिये प्राप्त नवीन विशेष संग्रहों का उद्‌घाटन अर्धशताब्दी संबंधी तीसरा आयोजन था, जो ३१ आश्विन को काशी हिंदू विश्वविद्यालय के प्राध्यापक श्री जीवनशंकर याज्ञिक के हाथों संपन्न हुआ।

अर्द्धशताब्दी उत्सव का मुख्य कार्यक्रम १२ माघ से आरंभ हुआ। उस दिन सायंकाल ५ बजे काशीस्थ टाउनहाल में सुप्रसिद्ध दार्शनिक और देशभक्त श्रद्धेय डा० भगवान्‌दास की ७५ वीं वर्षगाँठ के उपलक्ष्य में काशी के नागरिकों की ओर से उनका अभिनंदन किया गया था। इसी अवसर पर सभापति श्री संपूर्णानंद जी ने सभा की ओर से उन्हें मानपत्र अर्पित किया।

कई वर्ष पूर्व सभा के वर्तमान अर्थमंत्री श्री मुरारीलाल केडिया के प्रस्ताव पर सभा ने यह निश्चय किया था कि स्थानीय क्वींस कालेज के प्रिंसिपल स्व० श्री रेल्फ टामस हाचकिन ग्रिफिथ महोदय ने कालेज के हाते में जिस अशोक वृक्ष के नीचे बैठकर महर्षि बाल्मीकि कृत रामायण का अँग्रेजी में पद्यबद्ध सुंदर अनुवाद करके उसके गौरव को विदेशियों पर प्रकट किया था, वहाँ एक शिला लगाई जाय। केडिया जी ने इस आयोजन का संपूर्ण व्यय भी देना स्वीकार किया था। सभा ने उनका प्रस्ताव सहर्ष स्वीकार करके शिला लगाने की अनुमति भी प्रांतीय सरकार से प्राप्त कर ली थी, किंतु कई कारणों से यह कार्य टलता आ रहा था। प्राच्य साहित्य की महत्ता को पाश्चात्य विद्वानों के संमुख उपस्थित करनेवाले विद्वानों में ग्रिफिथ महोदय का विशिष्ट स्थान है। वाल्मीकि रामायण के अतिरिक्त उन्होंने वेदों का भी अँगरेजी भाषांतर किया था। पत्थर की जिस मेज पर ग्रिफिथ महोदय ये सब कार्य करते थे, वह भी सौभाग्यवश सुरक्षित रूप में मिल गई थी। केडिया जी के दान से आयोजित यह शिला-संस्कार गुरुवार १४ माघ को डा० मंगलदेव शास्त्री की अध्यक्षता में श्रद्धेय डा० भगवान्‌दास जी के हाथों संपन्न हुआ।

शुक्रवार १५ माघ को स्व० आचार्य रामचंद्र शुक्ल के स्थानीय दुर्गाकुंड वाले निवास-स्थान पर शिलालेख लगाया गया। यह पुण्य कार्य काशी विश्वविद्यालय के हिंदी-विभाग के अध्यक्ष श्री केशवप्रसाद मिश्र के हाथों संपन्न हुआ।

इसी दिन अपराह्न में सभा-भवन के पीछे की ओर बनवाए गए विशाल सुसज्जित पंडाल में अर्द्धशताब्दी उत्सव का मुख्य कार्य स्वामी भवानीदयाल संन्यासी के सभापतित्व में आरंभ हुआ। वेदपाठ और मंगलगान के अनंतर सभा के सभापति श्री संपूर्णानंद ने समागत सज्जनों का स्वागत करते हुए हिंदी की वर्तमान अवस्था का संक्षेप में वर्णन किया। तत्पश्चात् बधाई और शुभकामना के संदेश पढ़े गए। इसके अनंतर राय बहादुर डा० श्यामसुंदरदास ने सभा के ५० वर्षों के मुख्य मुख्य कार्यों की चर्चा की। सभा का यह परम सौभाग्य था कि उसके संस्थापकत्रय उस समय उसके बीच वर्तमान थे और उसी उत्साह और लगन से उसके कार्यों पर दृष्टि रखते थे। इस त्रिमूर्ति के प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करने का विचार बहुत पहले से स्थिर हो चुका था। तदनुसार कार्य विवरण

सुनाए जाने के अनंतर श्रीसंपूर्णानंद जी ने तीनों संस्थापकों को मानपत्र अर्पित किया। अंत में उत्सव के सभापति श्री भवानीदयाल संन्यासी ने अपना मुद्रित भाषण पढ़ा, जिसमें भारत तथा बृहत्तर भारत में हिंदी भाषा की तत्कालीन अवस्था का सिंहावलोकन कराते हुए उसकी विभिन्न समस्याओं का बहुत सुंदर ढंग से विवेचन किया गया था। रात्रि में सभा के पंडाल में पहले अवधवासी साधु सेवानंद जी (भूतपूर्व रायबहादुर श्री कौशलकिशोर) का मैजिक लालटेन की सहायता से 'अयोध्या' के संबंध में व्याख्यान हुआ। तदनंतर स्थानीय रूपलेखा-भवन में काशी के कतिपय अभिनेताओं द्वारा श्री जयशंकर 'प्रसाद' लिखित 'चंद्रगुप्त' नाटक का अभिनय यथेष्ट सफलता के साथ हुआ, यद्यपि स्थानाभाव के कारण दर्शकों को असुविधा हुई। दूसरे दिन रात्रि में भी उक्त अभिनय हुआ था और उसके अनंतर नागरी-नाटक-मंडली द्वारा श्री द्विजेंद्रलाल राय लिखित 'पर पारे' नाटक के 'आशा' नामक हिंदी अनुवाद के कुछ दृश्य अभिनीत हुए।

१६ माघ को प्रातः काल का आयोजन स्थानीय हरिश्चंद्र कालेज में अबोहर के श्रीस्वामी केशवानंद के सभापतित्व में हुआ, जिसमें हिंदी भाषा और देवनागरी लिपि की आवश्यकताओं के संबंध में प्रधान मंत्री श्री रामचंद्र वर्मा लिखित निबंध का पाठ तथा देश के कोने कोने में व्यापक रूप से हिंदी का प्रचार करने के संबंध में सर्वश्री गुरुप्रसाद टंडन, चद्रबली पांडेय आदि के भाषण हुए। उपस्थित सज्जनों ने सिनेमा और रेडियो की भाषा-संबंधी नीति की निंदा करते हुए एक प्रस्ताव द्वारा उनके अधिकारियों का ध्यान इस बात पर दिलाया कि वे सिनेमा तथा रेडियो विभाग की भाषा को ऐसा रूप दें, जिससे भारत में बसनेवाली अधिकांश जनता उसे आसानी से समझ सके।

इसी दिन अपराह्न ४ बजे स्थानीय टाउनहाल में श्री माधवप्रसाद खन्ना की अध्यक्षता में कचहरी-प्रचार-सभा हुई, जिसमें कचहरियों में हिंदी के प्रचार की आवश्यकता पर विभिन्न वक्ताओं के भाषण हुए। महामना पं० मदनमोहन मालवीय जी ने इस दिन पधारने की कृपा की थी और लगभग आधे घंटे तक भाषण दिया था। अपने भाषण में उन्होंने ५० वर्ष पूर्व कचहरियों में हिंदी-प्रचार के लिये किए गए प्रयत्न तथा उसमें क्रमशः मिलनेवाली सफलता की चर्चा की और उसे सुसंगठित रूप में पुनः आरंभ करने की आवश्यकता बताई। पहले सभा ने १२ माघ से १७ माघ तक कचहरियों में हिंदी प्रचार के संबंध में सप्ताह मनाने का विचार किया था। इसके अनुसार सभा से संबद्ध संस्थाओं तथा देश की अन्य हिंदी-प्रचारिणी-संस्थाओं को सप्ताह के कार्यक्रम की भी सूचना दी गई थी। निम्नलिखित संस्थाओं ने अपने यहाँ इसे कार्यान्वित किया था—(१) सुहृद संघ, मुजफ्फरपुर, (२) लोकमान्य समिति, छपरा, (३) भारती भूषण पुस्तकालय, परहपुर, गया, (४) हिंदी-प्रचार-मंडल, बदायूँ, (५) हिंदी-प्रचार-समिति, हुबली, (६) हिंदी-साहित्य संमेलन, जौनपुर, (७) भारतेंदु-साहित्य-संघ, मोतिहारी तथा (८) हिंदी-प्रचारिणी-सभा, बाँदा।

अर्द्ध शताब्दी के अंतर्गत सभा ने हस्तलिखित ग्रंथों, पत्र पत्रिकाओं तथा भारतीय चित्रकला की प्रदर्शनी करना भी निश्चित किया था। कलाभवन के हाल में चित्रों तथा महत्त्वपूर्ण हस्तलिखित ग्रंथों और बड़े बड़े पुराने लेखकों के पत्रों आदि की एवं रायकृष्णजी

हाल में पत्र-पत्रिकाओं की प्रदर्शिनी आयोजित की गई थी। कचहरी-प्रचार-सभा के अनंतर कला-भवन के संग्रहाध्यक्ष श्री रायकृष्णदास ने संग्रहीत सामग्री की विशेषताएँ बताई और उनके अनुरोध पर प्रयाग विश्वविद्यालय के वाइस चांसलर श्री डॉ० अमरनाथ झा ने उक्त प्रदर्शनियों का उद्‌घाटन किया।

इसके उपरांत कवि-दरबार हुआ, जिसमें हिंदी-सेवियों ने सूरदास, तुलसीदास, मीरा, केशवदास, रसखान, घनानंद, देव, पद्माकर, रत्नाकर तथा प्रसाद की भूमिका में उनकी चुनी हुई कविताएँ सुनाईं। यह आयोजन अपने ढंग का अनूठा और बहुत सफल रहा। सभा ने हिंदी के निम्नलिखित वर्तमान प्रतिनिधि कवियों का समादर करना भी निश्चित किया था—

सर्वश्री अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', मैथिलीशरण गुप्त, लक्ष्मीनारायण सिंह 'ईश', श्रीनारायण चतुर्वेदी 'श्रीवर', गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही', जगदंबाप्रसाद मिश्र 'हितैषी', सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला', उदयशंकर भट्ट, हरदयालु सिंह, सुमित्रानंदन पंत, रामधारी सिंह 'दिनकर', हरिवंश राय 'बच्चन', श्यामनारायण पांडेय, सुभद्राकुमारी चौहान तथा महादेवी वर्मा। किंतु चिह्नित कवि इस समादर में संमिलित न हो सके। जिन कवियों ने पधारने की कृपा की, उनमें से प्रायः सबने अपनी अपनी उत्कृष्ट रचनाओं का रसास्वादन उपस्थित जनता को कराया।

२०—विक्रमादित्य की द्विसहस्राब्दी

तीसरे दिन सभा का तथा अखिल भारतीय विक्रम-परिषद् का संमिलित विक्रम-अभिनंदन-उत्सव सभा के पंडाल में विद्वद्वर श्री डॉ० अमरनाथ झा के सभापतित्व में हुआ। यहाँ उल्लेख कर देना आवश्यक प्रतीत होता है कि अतीत-कालीन इतिहास और राष्ट्र के विविध क्षेत्रों में, जिस विक्रम ने तीव्र प्रेरणा भरी है, उसकी द्विसहस्राब्दी के अवसर पर समुचित रूप में अभिनंदन करने का सर्वप्रथम प्रस्ताव सभा ने ही देश के समक्ष उपस्थित किया था। लोक ने श्रद्धा के साथ इसे अपनाया। देश के सभी प्रांतों में साधन की सुविधा के अनुसार अभिनंदनोत्सव हुए। सभा में उस दिन विश्वविद्यालय के प्राध्यापक श्रीकृष्ण व्यंकटेश पुणतांबेकर का विक्रम का संदेश विषयक तथ्यपूर्ण व्याख्यान हुआ था। सभापति के भाषण के अनंतर हिंदी के वयोवृद्ध साहित्यिकों का अभिनंदन किया गया। सभा ने इस अवसर पर निम्नलिखित महानुभावों का अभिनंदन करना निश्चित किया था—

सर्वश्री जगन्नाथप्रसाद भानु, डा० नलिनीमोहन सान्याल, महामहोपाध्याय रायबहादुर डा० गौरीशंकर हीराचंद ओझा, पुरोहित हरिनारायण शर्मा, अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध', गोपालराम गहमरी*, कन्हैयालाल पोद्दार, रावराजा डा० श्यामबिहारी मिश्र, राय बहादुर शुकदेवविहारी मिश्र*, ब्रजनंदन सहाय*, कामताप्रसाद गुरु, अंबिकाप्रसाद वाजपेयी*, हरिकृष्ण जौहर तथा बाबूराव विष्णु पराड़कर*।

इनमें से केवल* चिन्हित सज्जन ही यहाँ पधार सके। शेष सज्जनों के मानपत्र आदि उत्सव के अनंतर डाक द्वारा उनके पास भेज दिए गए। अभिनंदन के पश्चात् पुरस्कार और पदक वितरित किए गए।

इसके पश्चात् हरदोई के सिविल जज श्री गोपालचंद्र सिंह का व्याख्यान हुआ, जिसमें उन्होंने फारसी लिपि में लिखे ऐसे प्राचीन ग्रंथों का परिचय दिया, जो भाषा और विषय की दृष्टि से हिंदी के हैं। अंत में सभा के प्रधान मंत्री ने सभा की भावी योजनाओं पर प्रकाश डालते हुए उसकी आवश्यकताओं का उल्लेख किया; और उनकी पूर्ति के लिए ६ लाख रुपयों की अपील की।

रात्रि में स्थानीय ट्रेनिंग कालेज की रंगशाला में अखिल भारतीय विक्रम-परिषद् की ओर से अतिथियों को 'कालिदास' नाटक दिखाया गया।

अर्द्धशताब्दी के अवसर पर सभा ने निम्नलिखित ग्रंथ प्रकाशित करना निश्चित किया था—

१—अर्द्धशताब्दी इतिहास (तीन खंडों में)

२—खोज में ज्ञात प्राचीन हस्तलिखित ग्रंथों की सूची।

३—सभा के आर्यभाषा पुस्तकालय में संगृहीत ग्रंथों की सूची।

४—भारत-कला-भवन में संगृहीत वस्तुओं की सूची।

५—नागरीप्रचारिणी पत्रिका का विक्रमांक।

इनमें से अर्द्धशताब्दी इतिहास का प्रथम खंड, जिसमें सभा की स्थापना से लेकर उसका ५० वर्षों तक का क्रमबद्ध विस्तृत परिचय है, तथा नागरीप्रचारिणी पत्रिका के विक्रमांक का पूर्वार्द्ध ही अर्द्धशताब्दी के अवसर पर प्रकाशित हो सके।

अर्द्धशताब्दी इतिहास के दूसरे खंड में देश-विदेश में हिंदी-प्रचार का विस्तृत विवरण, प्रांतीय भाषाओं की प्रगति का विवरण तथा हिंदी-प्रचारिणी संस्थाओं की तालिका और तीसरे खंड में भारतेंदु-काल से लेकर आधुनिक काल तक की हिंदी की प्रगति का इतिहास देने का निश्चय हुआ था, किंतु अनिवार्य कारणों से वह कार्यान्वित नहीं हो सका।

उत्सव में संमिलित होने के लिये संयुक्त प्रांतीय सरकार ने काशीस्थ क्वींस कालेज के प्रिंसिपल राय साहब श्री परमानंद एम० ए० को, हिंदू विश्वविद्यालय ने अपने हिंदी विभाग के अध्यक्ष श्री केशवप्रसाद मिश्र को, पटना विश्वविद्यालय ने अपने वाइसचांसलर डा० सच्चिदानंद सिंह को तथा लखनऊ विश्वविद्यालय ने अपने हिंदी विभाग के प्राध्यापक डा० केसरीनारायण शुक्ल को अपना प्रतिनिधि नियुक्त किया था। संयुक्त प्रांतीय सरकार ने प्रतिनिधि भेजने के अतिरिक्त ५००) की सहायता भी प्रदान की थी। उपर्युक्त प्रतिनिधियों में से केवल डा० सच्चिदानंद सिंह अस्वास्थ्य के कारण उत्सव में संमिलित नहीं हो सके, शेष सभी प्रतिनिधि उत्सव में संमिलित हुए थे।

उत्सव की सफलता और सभा के प्रति शुभकामना के संदेश देश के कोने कोने से आए थे। संदेश भेजनेवाले सज्जनों में से कुछ ये हैं—सर्वश्री महामहोपाध्याय राय बहादुर गौरीशंकर हीराचंद ओझा, निकोलस डि रोरिक, सरोजिनी नायडू, मैथिलीशरण गुप्त, ए० जी० शिरेफ, दीवान बहादुर हरविलास शारदा आदि।

आर्थिक स्थिति

सभा ने जैसे बड़े बड़े कार्य किए हैं और सभा का जितना नाम है, आर्थिक दृष्टि से उसकी वैसी स्थिति नहीं है। विगत साठ वर्षों में उसके द्वारा हुई हिंदी की ठोस सेवाओं, हिंदी-भाषी जनता और हिंदी-प्रेमियों की संख्या को देखते हुए यह आशा करना स्वाभाविक है कि सभा के स्थायी कोष में २०—२५ लाख अवश्य जमा होगा। किंतु यहाँ डेढ़ लाख भी नहीं है। आश्चर्य तो इस बात का है कि आर्थिक कठिनाइयों के होते हुए भी सभा ने इतना कार्य किस प्रकार कर दिखाया। विगत प्रकरणों को पढ़ने से ज्ञात होता है कि किस प्रकार इधर-उधर से जुटाकर सभा अपना काम चलाती रही है। सभा के प्रारंभिक वर्षों में तो स्थिति यह थी कि यदि किसी से एक रुपया चंदा मिल जाता, तो बड़ा आनंद मनाया जाता था और सभा की ओर से दाता को अनेक धन्यवाद दिए जाते थे। आर्थिक कठिनाइयों की परवा न कर सभा का जीवन इस प्रकार खेते आने का श्रेय उसके उन कर्णधारों को है, जिन्होंने इस नौका में बैठकर निःस्वार्थ भाव से सरस्वती की आराधना की, जिनके हृदयों में हिंदी-सेवा की लगन थी और जिन्होंने कभी अपने आर्थिक लाभ का लोभ सभा से नहीं किया। इन कर्णधारों के लिये यह गौरव की बात अवश्य है। किंतु हिंदी-प्रेमी जनता के लिये नहीं। जनता का गौरव इसी में था कि ऐसी उपयोगी संस्था को आर्थिक कष्ट का सामना कुछ भी न करना पड़ता और आज उसके स्थायी कोष में २०-२५ लाख जमा होते। बात यह है कि सभा ने अपनी बड़ाई के ढोल नहीं पीटे। सभा के संचालकों को कार्य की धुन थी, पैसे की नहीं। कार्य की पूर्त्ति के लिये जितने धन की आवश्यकता पड़ती थी, ज्यों त्यों करके उतना जुटाने का प्रयत्न किया जाता था। स्थायी कोष स्थापित करने की बात भी उस समय उठी जब सभा को अपना भवन बनवाने की आवश्यकता पड़ी। सभा की उपयोगिता को देखते हुए उसे चिरस्थायी बनाना आवश्यक था, जिसके लिये अपना भवन और स्थायी कोष अनिवार्य थे। संवत् १९५५ में भवन-निर्माण का निश्चय हुआ और उसके लिये उद्योग आरंभ किया गया। दो वर्ष में जो धन एकत्र हो सका, उसी को सं० ९९५७ में स्थायी कोष का रूप दिया गया। इस प्रकार स्थायी कोष की स्थापना का दृढ़ निश्चय हो जाने पर सभा के आठवें वार्षिक अधिवेशनमें ३२ आषाढ़, सं० १९५८ (१६ जुलाई, १९०१) को स्थायी कोष के लिये निम्नलिखित नियम स्वीकृत हुए—

"(१) निम्नलिखित महाशय स्थायी कोषके ट्रस्टी और बाबू गोविंददास उसके मंत्री नियत किए जायँ और इन महाशयों से प्रार्थना की जाय कि वे अपने लिये नियम बनाकर सभा में स्वीकारार्थ उपस्थित करें।

१—श्रीमान् आनरेबुल महाराज सर प्रतापनारायण सिंह बहादुर के० सी० आई० ई०, अयोध्या।

२—राजा कमलानंद सिंह बहादुर श्रीनगर, पूर्णिया।

३—आनरेबुल राजा पंडित सूर्य कौल सी० आई० ई०, लाहौर।

४—आनरेबुल मुंशी माधोलाल, काशी।

५—म० म० पं० सुधाकर द्विवेदी, काशी।

६—ला० हंसराज बी० ए०, लाहौर।

७—पं० मदनमोहन मालवीय, बी० ए०, एल-एल० बी०, प्रयाग।

८—बाबू गोविंददास, काशी।

९—राय शिवप्रसाद, काशी।

१०—बाबू इंद्रनारायण सिंह, काशी।

११—मंत्री नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी।

(२) इस कोष का हिसाब बनारस के बैंक बंगाल में खोला जाय और हिंदी के प्रेमियों को सूचना दी जाय कि वे अपने दान का रुपया सीधे बैंक में भेज सकते हैं।

(३) जो कुछ धन एकत्रित हो उसमें से एक गृह सभा के लिये बनवाया जाय और बाकी रुपया जमा कर दिया जाय तथा केवल उसके सूद से ही सभा का कार्य चले और उसके उद्देश्यों की पूर्ति हो।

(४) इस स्थायी कोष के मूलधन में से रुपया व्यय न किया जाय जब तक सभा के सभासदों का ३/४ भाग वैसा करने की आज्ञा और संमति न दे।

(५) जो लोग एक रुपए वा उससे अधिक की सहायता इस कोष की पूर्ति के लिये दें, उनके नाम दान की संख्या सहित सभा की पत्रिका में प्रकाशित किए जायँ।

(६) हिंदी के प्रेमियों को अधिकार होगा कि जितना चाहें इस कोष की सहायता के लिये दें।

(७) जब एक लाख रुपया एकत्रित हो जाँय, तो इस विषय का एक वृहत् विवरण प्रकाशित किया जाय, जिसमें सब दाताओं के नाम दान की संख्या सहित प्रकाशित किए जायँ। यह रिपोर्ट सबके पास बिना मूल्य भेजी जाय।

(८) दाताओं के अधिकार इस प्रकार हों—

१—जो लोग २००) से लेकर १०००) रु० तक से इस कोष की सहायता करें, उनके अधिकार स्थायी सभासदों के हों और उनके नाम एक साधारण पत्थर पर खोदकर सभा-भवन में लगा दिए जायँ।

२—जो लोग १०००) से ५०००) तक से सभा की सहायता करें, उन्हें भी स्थायी सभासदों के अधिकार हों, पर उनका नाम संगमर्मर के पत्थर पर खोदकर सभाभवन में लगा दिया जाय।

३—जो लोग ५०००) अथवा इससे अधिक दें, उनका चित्र सभा के भवन में लगाया जाय और उनके नाम स्वर्णाक्षरों में खोदकर लगाए जायँ तथा उन्हें स्थायी सभासदों के अधिकार हों।

४—जो इससे भी विशेष धन से सभा की सहायता करें, उनका संमान विशेष रूप से किया जाय। इन लोगों तथा ५०००) या उससे अधिक दान देनेवालों के नाम प्रति वर्ष सभा के वार्षिक विवरण में छापे जायँ।

(५) जो लोग ५००) अथवा उससे अधिक दें, उन्हें अधिकार हो कि कई बेर करके वे उसे एक वर्ष में पूरा कर दें, और जो ५०००) अथवा उससे अधिक दें, उन्हें अधिकार हो कि कई बेर करके वे अपने दान को दो वर्ष में पूरा कर दें।

(६) प्रबंधकारिणी सभा की अनुमति से सहायकों को अधिकार हो कि वे दो वा अधिक नामों से दान दें, पर स्थायी सभासद् के अधिकार उनमें से केवल एक को ही हों।

(७) ट्रस्टी कम से कम ९ और अधिक से अधिक २५ हों। प्रबंधकारिणी सभा जब कभी उचित समझे कुछ लोगों के ट्रस्टी नियत किए जाने का प्रस्ताव साधारण सभा में करे। उनमें से जो लोग चुने जायँ, उनमें से ट्रस्टियों को अधिकार हो जिसको चाहे चुनें। इस प्रकार जो लोग चुने जायँ उन्हें ट्रस्टियों के पूर्ण अधिकार हों।

(८) ट्रस्टी अपनी ओर से हिसाब जाँचनेवाला नियत कर दें।

(९) प्रबंधकारिणी सभा मासिक आय-व्यय के हिसाब पर यथा समय स्वयं विचार कर लिया करे।

(१०) ट्रस्टियों को प्रथम श्रेणी के सभासदों के अधिकार हों।

(११) यदि किसी विशेष कारण से किसी महाशय का ट्रस्टियों में से अलग किया जाना आवश्यक समझा जाय, तो बोर्ड आफ ट्रस्टीज और साधारण सभा के परस्पर प्रस्ताव और विचार पर उसका निर्णय सभा के वार्षिक अधिवेशन में अधिक संमति से किया जाय।

बोर्ड आफ ट्रस्टीज के नियम

अगले वर्ष अर्थात् सभा के नवें वर्ष में 'बोर्ड आफ ट्रस्टीज' के लिये सभा ने निम्न-लिखित नियम स्वीकार किए। ट्रस्टियों में लाहौर के राजा सूर्य कौल का नाम नहीं रहा और काशी के सर्वश्री साँवलदास, रामप्रसाद और राधाकृष्णदास के नाम संमिलित किए गए।

(१) काशी-नागरीप्रचारिणी सभा के स्थायी कोष का पूरा अधिकार बोर्ड आफ ट्रस्टीज को होगा। उसका यह कर्तव्य होगा कि इस कोष से जो आमदनी हो, उसे नागरी-प्रचारिणी सभा के उद्देश्यों की पूर्ति के लिये ही केवल उस सभा की प्रबंधकारिणी सभा द्वारा व्यय करे।

(२) स्थायी कोष के मूलधन में से रुपया व्यय न किया जायगा जब तक काशी-नागरीप्रचारिणी सभा के सभासदों का ⅔ भाग वैसा करने की स्पष्ट आज्ञा और संमति न दे।

(३) बोर्ड आफ ट्रस्टीज के सभासद कम से कम ९ और अधिक से अधिक २५ होंगे। ये यावज्जीवन सभासद रहेंगे अथवा जब तक कि ये स्वयं उसे छोड़ न दें। नागरी-प्रचारिणी सभा का मंत्री बोर्ड का एक सभ्य होगा।

(४) जब बोर्ड के या सभा के विचार में नए ट्रस्टियों का चुना जाना आवश्यक हो, तो पारी पारी से बोर्ड और सभा की ओर से ट्रस्टी चुन लिए जायँगे, जिनकी संख्या अधिक से अधिक एक बार में तीन होगी।

(५) यदि बोर्ड का कोई अधिकारी या सभासद कोई ऐसा कार्य करेगा जिससे सभा की हानि हो या उसका किसी प्रकार से उपहास हो तो वह विचारपूर्वक अपने पद से च्युत किया जायगा। इसका प्रस्ताव बोर्ड सभा के वार्षिक अधिवेशन में करेगा और निर्णय अधिक संमति द्वारा होगा।

(६) बोर्ड अपना सभापति, दो उपसभापति, और एक सहायक मंत्री चुनेगा जो ५ वर्ष तक अपने पद का कार्य करेंगे, यदि इस बीच में बोर्ड उन्हें निज पद से अलग करना

उचित न समझे। पाँच वर्ष के अनंतर ये फिर भी उस पद को ग्रहण कर सकेंगे। मंत्री सभा के वार्षिक अधिवेशन में चुने जायँगे। ५ वर्ष मंत्रित्व का काम करेंगे (यदि इस बीच में सभा उन्हें अपने पद से अलग करना न चाहे) और पुनः इस पद को ५ वर्ष के पीछे ग्रहण कर सकेंगे।

(७) सभापति और उनकी अनुपस्थिति में उपसभापति सभापति का सब कार्य करेंगे और किसी विषय पर संमति का समभाग होने से उनकी संमति दो के बराबर होगी।

(८) सभापति और उपसभापति दोनों की अनुपस्थिति में उपस्थित सभासदों में से कोई महाशय सभापति चुन लिए जायँ और उनकी संमति भी सम-विभाग होने पर दो के बराबर समझी जायगी।

(९) बोर्ड के साधारण अधिवेशन वर्ष में दो बार अर्थात् आश्विन नवरात्र और अप्रैल में होंगे। परंतु विशेष अधिवेशन सभापति अथवा मंत्री कभी भी कर सकते हैं। किंतु तीन सभासदों के लिखने पर ऐसा अधिवेशन अवश्य किया जायगा।

(१०) बोर्ड के साधारण अधिवेशनों की सूचना नियत तिथि के कम से कम १५ दिन पहिले दी जायगी और जहाँ तक संभव होगा उस अधिवेशन में क्या क्या कार्य होंगे इसकी सूचना भी दे दी जायगी। साधारण अधिवेशन में ३ और विशेष अधिवेशन में ५ सभासदों के उपस्थित होने पर कार्य हो सकेगा; परंतु यदि कोई अधिवेशन कोरम पूरा न होने के कारण न हुआ, तो वह दूसरे दिन के लिये टाल दिया जायगा और उसमें बिना इस बात का विचार किए हुए कि कोरम हुआ हैं या नहीं कार्य का निर्वाह किया जायगा। ऐसे अधिवेशन की सूचना केवल स्थानीय सभासदों को ही दी जायगी।

(११) ट्रस्टीज को सभा के संबंध में वे ही अधिकार रहेंगे जो नागरीप्रचारिणी सभा के प्रथम श्रेणी के सभासदों को उसके नियमानुसार प्राप्त हैं।

(१२) बोर्ड की साधारण सभाओं में अन्य आवश्यक कार्यों के अतिरिक्त निम्नलिखित कार्यों का निर्वाह होगा—

१—आडीटरों का चुना जाना—इनका अवधिकाल १ जुलाई से ३० जून पर्यंत होगा। (अप्रैल)

२—नागरीप्रचारिणी सभा की प्रबंधकारिणी सभा के स्थायी कोष संबंधी बजट पर विचार। (अप्रैल)

३—स्थायी कोष की आय से जो जो कार्य हुए हों उनकी रिपोर्ट पर, जो प्रबंध-कारिणी सभा प्रतिवर्ष देगी, विचार। (आश्विन)

४—सभासदों और कार्यकर्त्ताओं का चुनाव जब आवश्यक हो। (अप्रैल और आश्विन)

(१३) बोर्ड के अधिवेशनों का कार्यविवरण सभा की पत्रिका में छाप दिया जाया करेगा।

(१४) मंत्री और उसकी अनुपस्थिति में सहायक मंत्री का यह कार्य होगा कि रुपया लें, उसकी रसीद दें, उससे गवर्नमेंट प्रामेसरी नोट मोल लें, रुपया या प्रामेसरी नोट या दोनों को बैंक-बंगाल या सेविंग बंक में (जैसा कि समय समय पर बोर्ड निश्चय करे) जमा

करावें, लौटा लेवें अथवा उन पर चेक दें और अन्य ऐसे कार्य करें जिन्हें समय समय पर बोर्ड निश्चित करे।

(१५) इन नियमों में जब कभी कुछ परिवर्तन करने की आवश्यकता होगी, तो बोर्ड के विशेष अधिवेशन में उस पर विचार होगा और परिवर्तन साधारण सभा की स्वीकृति से किया जायगा।

संवत् १९८० तक संरक्षक-मंडल (बोर्ड आवट्रस्टीज) के अधीन स्थायी कोष का कार्य होता रहा। समय समय पर यथानियम उसके सदस्यों में परिवर्तन होता रहा और उसके नियमों में भी आवश्यकतानुसार संशोधन प्रवर्धन होते रहे। पहले वर्ष ४१६ दाताओं से ९०९१॥) इस कोष के लिये एकत्र हुए। अनेक दाताओं से एक एक रुपया ही प्राप्त हुआ। सभा के कई सदस्यों को कई नगरों में इसके लिये घूमना पड़ा और इस प्रकार स्थायी कोष की नींव पड़ी। उस समय सभा के संचालकों का विचार था कि इस कोष में इतना धन एकत्र कर लेना चाहिए कि भवन-निर्माण का खर्च निकालकर उसमें कम से कम एक लाख बच रहे। इस धन-राशि के संचय और उसकी आय का उचित व्यय करने के लिये ही संरक्षक मंडल (बोर्ड आव् ट्रस्टीज) का निर्माण किया गया था। तेईस वर्ष तक इसने कार्य किया। किंतु बोर्ड की बैठकें करने में बड़ी कठिनता होती थी। उनके अधीन जो कार्य थे, उनके अधिक रोचक अथवा विशेषत्व-पूर्ण न होने के कारण उसके सभासद् प्रायः इसकी ओर विशेष ध्यान नहीं देते थे। इसलिये श्री श्यामसुंदरदास के सुझाव के अनुसार और प्रबंधसमिति के प्रस्ताव करने पर ३ वैशाख, सं० १९८१ (१६ अप्रैल, १९२४) की बैठक में सभा ने निश्चय किया कि बोर्ड तोड़ दिया जाय और हिसाब जाँचनेवालों का चुनाव भी वार्षिक अधिवेशन में ही हुआ करे। अंतिम निर्णय के लिये यह प्रस्ताव १२ ज्येष्ठ १९८१ वि० (२५ मई, १९२४) को सभा के इकतीसवें वार्षिक अधिवेशन में भी उपस्थित किया गया और स्वीकृत हो गया। इस वर्ष स्थायी कोष में कुछ भी शेष नहीं था। इकतीसवें वर्ष में 'बोर्ड आव्ट्रस्टीज' के निम्नलिखित सदस्य थे—

१—सर्वश्री राजा मोतीचंद, काशी (सभापति), २—रामप्रसाद चौधरी, काशी (उपसभापति) ३—श्यामसुंदरदास, काशी (मंत्री), ४—मदनमोहन मालवीय, काशी ५—बटुकप्रसाद खत्री, काशी, ६—भगवान्दास, एम० ए०, काशी, ७—हीरालाल बी० ए०, डिप्टी कमिश्नर, नागपुर, ८—रामनारायण मिश्र, काशी, ९—गौरीशंकरप्रसाद, एडवोकेट, काशी, १०—माधवप्रसाद, काशी, ११—जस्टिस सर आशुतोष मुकर्जी, कलकत्ता, १२—वेणीप्रसाद, काशी, १३—राय बहादुर, गौरीशंकर हीराचंद ओझा. अजमेर।

बोर्ड के ये ही अंतिम सदस्य थे। बोर्ड के टूट जाने पर भी कोष के लिये प्रयत्न होता रहा। संवत् १९९४ से इसकी ओर विशेष ध्यान दिया गया। तब से अपने जीवनकाल तक श्री रामनारायण मिश्र इसके लिये निरंतर उद्योग कर रहे थे और इसका अधिकांश श्रेय उन्हीं को है कि आज स्थायी कोश में ११०२००) जमा हैं।

अब स्थायी कोष का धन व्यय नहीं होता। उसका ब्याज ही खर्च किया जाता है। स्थायी कोष में स्थायी सदस्यों का पूरा चंदा, साधारण सदस्यों के चंदे का कम से कम बीसवाँ अंश, उसी के निमित्त दिया हुआ धन प्रति वर्ष जमा होता रहता है।

आर्थिक दृष्टि से सभा के निम्नलिखित विभाग किए जा सकते हैं—

खर्च खाते	वार्षिक आय के स्रोत
१—(क) देवीप्रसाद ऐतिहासिक पुस्तकमाला	इंपीरियल बैंक के हिस्सों का व्याज तथा पुस्तको की बिक्री
(ख) बालाबख्श राजपूत चारण पुस्तकमाला	प्रामिसरी नोट का व्याज तथा पुस्तकों की बिक्री
२—(क) पदक तथा पुरस्कार	प्रामिसरी नोट का व्याज
(ख) साहित्य परिषद्	,, ,, ,,
३—(क) सूर्यकुमारी पुस्तकमाला	पुस्तकों की बिक्री
(ख) देव पुरस्कार ग्रंथावली	,, ,,
(ग) महेंदुलाल गर्ग वि. ग्रं.	,, ,,
(घ) रुक्मिणी देवी ग्रंथमाला	,, ,,
(ङ) रामविलास पोद्दार स्मा०	,, ,,
(च) नव भारत ग्रंथमाला	,, ,,
(ज) हिंदी संकेतलिपि विद्यालय	विद्यार्थियों का शुल्क
४—(क) याज्ञिक ग्रंथमाला	पर्याप्त द्रव्य न होने के कारण अभी प्रकाशन का कार्य रुका है
(ख) सिद्धवाणी संग्रह	,, ,, ,,
(ग) आधारित कोष	,, ,, ,,
(घ) हस्तलिखित हिंदी पु० की खोज राजस्थान	पर्याप्त द्रव्य न होने के कारण कार्य नहीं हो रहा है
५—(क) हस्तलिखित हिंदी पुस्तकों की खोज उ. प्रदेश	सरकारी सहायता
(ख) आर्य भाषा पुस्तकालय	सरकारी सहायता; म्युनिसपल बोर्ड की सहायता, चंदा
(ग) नागरीप्रचारिणी ग्रंथमाला	सरकारी सहायता
६—(क) नागरीप्रचारिणी पत्रिका	सभासदों का चंदा, ग्राहक शुल्क
(ख) नागरी मुद्रण	छपाई
७—(क) पुस्तक प्रकाशन (ख) कार्यालय वेतन (ग) डाक व्यय (घ) फुटकर (ङ) हिंदी प्रचार (च) भवन संस्कार तथा निर्माण (छ) यात्रा व्यय (ज) ऋण भुगतान	पुस्तकों की बिक्री स्थायी कोष का व्याज पुस्तक मालाओं की बिक्री से कार्यालय व्यय २५%
८—(क) सत्य ज्ञान निकेतन	विशेष चंदा
(ख) उत्सव आदि	,,

उक्त विभागों में पहले विभाग की आय दाताओं की दी हुई निधियों के व्याज से होती है, इसलिए सभा को अपने पास से कुछ लगाना नहीं पड़ता। दूसरे विभास की मदों में पदक तथा पुरस्कार के अंतर्गत स्वर्गीय डाक्टर श्यामसुंदरदास की पुण्य स्मृति में डाक्टर श्यामसुंदरदास पुरस्कार की स्थायी निधि की स्थापना करने का निश्चय सं० २००४ में सभा ने किया था। इस स्थायी निधि में सभा प्रति वर्ष अपने साधारण आय से २००) जमा करती है। सभा का दिया हुआ द्रव्य तथा चंदा मिला कर अब तक लगभग ३३००) इसमें जमा हुआ है। जिसमें से १०००) इस वर्ष पुरस्कार दिया जा रहा है। इस निधि में कम से कम १००००) प्राप्त हो जाने पर सभा १०००) का पुरस्कार प्रति चौथे वर्ष दे सकेगी। प्रत्येक हिंदी भाषी तथा प्रत्येक हिंदी प्रचारिणी संस्था से सभा का आग्रह है कि वह हिंदी के उस परम संरक्षक के निमित्त किए गए सदनुष्ठान में यथासाध्य अधिक से अधिक आर्थिक योग देकर इसकी पूर्ति में सहायक हों। साहित्य परिषद् की जो स्थायी निधि है, उससे वर्ष में केवल ३६) व्याज मिलता है, जो स्व० हिंदी साहित्य सेवियों की जयंतियाँ मनाने के लिये पर्याप्त नहीं है। सभा को इस मद में अपने साधारण आय से कुछ न कुछ व्यय करना पड़ता है।

तीसेरे विभाग की मदों की स्थायी निधि नहीं है, पर उनमें जो वार्षिक आय होती है उसी में से खर्च किया जाता है।

चौथे विभाग की मदों में इतना कम द्रव्य प्राप्त हुआ है कि अभी तक कार्य रुका है। पांचवें विभाग की पदों में सरकारी सहायता आदि प्राप्त होती है, किंतु आय से अधिक व्यय होता है, जिसकी पूर्ति सभा को अपनी साधारण आय में से करनी पड़ती है। छठेविभाग में नागरीप्रचारिणी पत्रिका के प्रकाशन में सभासदों के चंदे तथा ग्राहक शुल्क से जो आय होती है, वह पर्याप्त नहीं है। इस मद में जो कमी होती है उसकी पूर्ति सभा को अपनी साधारण आय में से करनी पड़ती है। नागरी मुद्रण में छपाई का द्रव्य जो प्राप्त होता है, उससे इसका कार्य चल जाता है; किंतु इसको स्थापित करने में जो सभा ने द्रव्य लगाया है ,वह अभी नहीं निकल रहा है; क्योंकि इसके लाभकी रकम अभी इसकी अभिवृद्धि में लगायी जा रही है। सातवें विभाग में के सब खर्चों के लिये सभा को अपनी साधारण आय पर ही निर्भर रहना पड़ता है, किंतु आय कम होने के कारण प्रति वर्ष कुछ न कुछ घाटा उठाना पड़ता है। इस समय लगभग १०००००) का ऋण सभा के ऊपर है। अर्द्ध शताब्दी के अवसर पर उस समय तक जो ऋण था वह चुका दिया गया था, किंतु इधर १० वर्षों में यह पुनः हो गया है। यह ऋण मुख्यतः नागरी मुद्रण की स्थापना तथा संक्षिप्त हिंदी शब्द सागर के प्रकाशन में हुआ है। सभा का आवश्यक व्यव इतना अधिक है कि इनसे जो आय होती है, उससे ऋण चुकाना संभव नहीं है।

आठवें विभाग में सत्य ज्ञान निकेतन की रक्षा तथा उसकी अभिवृद्धि के निमित्त सभा को अपनी साधारण आय से प्रति वर्ष १५००) व्यय करना पड़ता है। चंदे से उसकी पूर्ति नहीं हो रही है।

सभा के विगत ६० वर्षों के आय-व्यय का विस्तृत लेखा परिशिष्ट में दिया गया है। विभिन्न निधियों की स्थायी संपत्ति प्रामिसरी नोट आदि का अंकित मूल्य १६११५०) है।

बचत का जो ३५३५५।≡) ४ है, वह साधारण आय का द्रव्य नहीं है, वरन् विभिन्न निधियों का नगद द्रव्य है।

सभा की आवश्यकताएँ

जैसा कि पहले बताया गया है, यदि सभा को आर्थिक सुविधा मिल जाय, तो वह अपने उन अनेक उपयोगी कार्यों को पूरा कर सकती है, जो आर्थिक अभाव के कारण या तो अभी तक आरंभ ही न हो सके, अथवा यथेष्ट प्रगति के साथ नहीं किया जा सके। जिस प्रकार सभा के कार्य बढ़ गए हैं और वह हिंदी भाषा और नागरी लिपि की अधिकाधिक सेवा करने का प्रयत्न कर रही है, उसी प्रकार उसकी आर्थिक सुविधा में भी वृद्धि होना आवश्यक है।

१—सभा वर्षों से प्राचीन हस्तलिखित ग्रंथों की खोज का कार्य कर रही है और बहुत सा कार्य उसने इन वर्षों में किया है, किंतु भारतवर्ष जैसे महादेश में यह कार्य अभी एक प्रतिशत के बराबर भी नहीं हुआ है। राजस्थान में तो एक प्रकार से कुछ हुआ ही नहीं। वहाँ हस्तलिखित ग्रंथों के अनेक भांडार भरे पड़े हैं। न जाने कितने ग्रंथरत्न मिट्टी में मिल गए, कितनों को कीड़े चाट गए और चाटते ही चले जा रहे हैं। क्या इस साहित्यनिधि की रक्षा करना हिंदीप्रेमियों का कर्त्तव्य नही है ? राजस्थान में ही नहीं, मध्यप्रदेश, मध्यभारत और पंजाब में भी अनेक भांडार विद्यमान हैं; जिनमें खोज का कार्य कुछ भी नहीं हुआ। इस कार्य को सुचारुरूप से चलाने के लिये प्रांतीय सरकारों की सहायता के अतिरिक्त कम से कम एक लाख का स्थायी कोष सभा के पास होना आवश्यक है।

२—खोज में प्राप्त हुए प्राचीन ग्रंथों का प्रकाशन भी सभा वर्षों से कर रही है, किंतु इसके लिये धन का कोई स्थायी प्रबंध न होने के कारण यह कार्य यथेष्ट परिमाण में नहीं हो पाता; कभी कभी तो आर्थिक अभाव के कारण काम रोक देना पड़ता है। हस्तलिखित ग्रंथों को प्राप्त कर सुरक्षित रखना और उन्हें संपादित कराके प्रकाशित करना अत्यंत आवश्यक है। इस कार्य के लिये भी एक लाख की स्थायी निधि सभा के पास होनी चाहिए।

३—सभा ने जो अनुशीलन विभाग खोला उसे अर्थाभाव के कारण बंद कर देना पड़ा। फिर से चालू करने के लिये भी धन की आवश्यकता है। ऐतिहासिक और आकर ग्रंथों का समृद्ध संग्रह उसमें रहना चाहिए। अनुशीलन करनेवाले छात्रों के अध्ययन और रहने के लिये अध्ययन-मंदिर तथा अतिथिशाला भी अनुशीलन-छात्रावास के रूप में होना आवश्यक है।

४—सभा के प्रायः सभी विभागों की अनुदिन वृद्धि होती जा रही है, किन्तु समुचित स्थान न होने के कारण बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ रहा है। स्थान का बहुत संकोच है। इस कठिनाई को दूर करने के लिये कम से कम दो लाख रुपए का प्रबंध अविलंब होना चाहिए।

५ हिंदी शब्दसागर के छपे बहुत दिन हो गए; उसके पश्चात् हिंदी का विपुल साहित्य निर्मित हुआ और अनेक प्राचीन पुस्तकें प्रकाशित हुईं। इन सब सामग्रियों का उपयोग करके वैज्ञानिक ढंग से एक सर्वांग पूर्ण कोश का अभाव आज भी हिंदी संसार को अनुभव हो रहा है। सभा बहुत दिनों से एक ऐसा कोश प्रस्तुत करना चाहती है और उसके लिये प्रयत्न भी होते रहते हैं, परंतु अर्थाभाव के कारण उसे, अपना कोश विभाग भी बंद कर देना पड़ा। कोश का काम अत्यन्त व्ययसाध्य है। उसके लिये भी सभा को ५ लाख रुपयों की आवश्यकता है।

६—इसी प्रकार भारत के पश्चिमी प्रांतों में भी हिंदी के सुसंघटित प्रचार की बहुत बड़ी आवश्यकता है। श्री स्वामी सत्यदेवजी की कृपा से सभा ने इस ओर कदम तो उठाया है, किन्तु पर्याप्त धनराशि के बिना यह कार्य आगे नहीं बढ़ाया जा सकता। फिर भी भारत के बाहर उपनिवेशों में जो भारतीय बसे हैं, वे हिंदी को भूल रहे हैं। उनमें हिंदी का प्रचार करना अत्यावश्यक है। सभा इसके लिये भी उपयुक्त आयोजन करना चाहती है।

७—इन सब आवश्यकताओं के समान ही सभा का स्थायी कोष पूरा करने की भी आवश्यकता है। इस कोष में कम से कम पाँच लाख रहना अत्यावश्यक है, जिसमें केवल ११०२००) एकत्र हो सका है, शेष भी शीघ्र हो जाना चाहिए।

२०—हीरक जयंती

सभा की अर्द्धशताब्दी के बाद ही सभा ने संवत् २०१० में सभा की हीरक जयंती का आयोजन करने का निश्चय किया था। संवत् २०१० के आरंभ से ही इसकी चिंता होने लगी थी और जयंती के विभिन्न आयोजनों की तैयारी आरंभ कर दी गई थी। जिस प्रकार अर्द्धशताब्दी महोत्सव पर सभा ने रचनात्मक कार्यों का अनुष्ठान किया था, उसी प्रकार हीरक जयंती पर भी विभिन्न विभागों की संपुष्टि और चालू कार्यों की सम्यक् पूर्ति के अतिरिक्त नवीन योजनाओं के अनुसार, जो रचनात्मक कार्यक्रम स्थिर किया गया, उसका मुख्यांश निम्नलिखित है—

१. जयंती ग्रंथ का प्रकाशन : इसके अंतर्गत
   क. सभा के गत साठ वर्षों का विवरण
   ख. पिछले साठ वर्षों में भारतीय साहित्य की प्रगति का सिंहावलोकन
२. नागरीप्रचारिणी पत्रिका का विशेषांक
३. आर्यभाषा पुस्तकालय का विस्तार और संवर्द्धन
४. नागरीमुद्रण का विकास
५. अतिथिभवन का निर्माण
६. विभिन्न प्रकाशन

इन संकल्पों के अनुसार व्यवस्था करने के लिये वर्ष के आरंभ में ही एक उपसमिति का संघटन करके कार्यारंभ कर दिया गया। हीरक जयंती उपसमिति में निम्नलिखित सज्जन रहे:—

डॉ० अमरनाथ झा	पं० चंद्रबली पांडेय
पं० गुरुसेवक उपाध्याय	श्री गोपालचंद सिंह
ठा० शिवकुमार सिंह	बाबा राघवदास
डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी (कार्याध्यक्ष)	श्री सुधाकर पाण्डेय
श्री करुणापति त्रिपाठी	श्री विश्वनाथ राय
श्री बलराम उपाध्याय	श्री पद्मनारायण आचार्य
डॉ० श्रीकृष्ण लाल	श्री उदयशंकर शास्त्री
डॉ० राकेश गुप्त	श्री विशुद्धानंद पाठक
श्री ठाकुरप्रसाद सिंह	श्री मंगलनाथ सिंह
श्री कृष्णानंद जी	श्री मुरारीलाल केडिया
श्री बचन सिंह	श्री नारायणदास बाजोरिया
श्री गोविन्दप्रसाद केजरीवाल	श्री बैजनाथ सिंह 'विनोद'

डा० राजबली पांडेय (संयोजक)

अर्थ-संग्रह

अपनी उपर्युक्त योजनाओं को कार्यान्वित करने के लिये सभा को सबसे बड़ी आवश्यकता धन की थी। एतदर्थ पत्रों में अपील प्रकाशित की गई, शिक्षा संस्थाओं से अनुरोध किया गया कि कम से कम ५) अपनी अपनी संस्थाओं की ओर से भेजें तथा सभा के सदस्यों और अन्य संबद्ध सज्जनों से आग्रह किया गया कि कम से कम अपनी एक दिन की आय इस कार्य के लिये प्रदान करें। यह भी निश्चय किया गया कि सभा का शिष्टमंडल प्रमुख नगरों में जाकर धन एकत्र करे। तदनुसार कलकत्ता, पटना, लखनऊ तथा दिल्ली नगरों में शिष्टमंडल ने दौरा किया। मंडल को अर्थसंग्रह के कार्य में यथेष्ट सफलता मिली। इस मंडल में डॉ० अमरनाथ झा, पं० गुरुसेवक उपाध्याय, डॉ हजारीप्रसाद द्विवेदी, श्री मुरारीलाल केडिया, श्री गोविंदप्रसाद केजरीवाल, श्री बैजनाथ सिंह 'विनोद' और डॉ राजबली पांडेय थे। शिष्टमंडल को कलकत्ते में श्री सीताराम जी सेकसरिया, श्री भागीरथ जी कनोडिया, श्री मूलचंद जी अग्रवाल (संचालक—"विश्वमित्र") पं० सूर्यनाथ पाण्डेय (संपादक "सन्मार्ग") दिल्ली में पं० बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' और पं० बनारसी दास चतुर्वेदी तथा पटना में श्री लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु' जी से विशेष सहायता मिली। जिन श्रीमंतों ने सभा को विशेष सहायता प्रदान की उनके नाम निम्नलिखित हैं:—

नाम दाता	धन	प्रयोजन	विशेष
श्री महाराज विभूतिनारायण सिंह	५००)		
भारत सरकार, नई दिल्ली	१२५०००)	कोश और प्रकाशन	(संभावित)
श्री सेठ घनश्यामदास बिड़ला, नई दिल्ली	२५०००)	हिंदी प्राचीन ग्रंथों के प्रकाशनार्थ	
श्री सेठ रामकुमार भुवालका, कलकत्ता	१५०००)	अतिथि शाला	
उत्तर प्रदेश सरकार, लखनऊ			(संभावित)
बिहार सरकार, पटना	६०००)		
मध्य प्रदेश सरकार, नागपुर	५०००)		
अशोक मार्केटिंग कं०, कलकत्ता	५०००)		
श्री विश्वनाथ मोर, कलकत्ता	२०००)		
श्री जनरल फाइबर्स लि०, कलकत्ता	१५००)		
श्री रामकुमार केजरीवाल, कलकत्ता	११०१)		
विंध्य प्रदेश सरकार, रीवाँ	१०००)		
श्री जयदयाल डालमियाँ, दिल्ली	५००)		
श्री राज्यपाल उत्तर प्रदेश, लखनऊ	५००)		
श्री राज्यपाल मद्रास, मद्रास	५००)		
श्री सोहनलाल दुग्गड़, कलकत्ता	५००)		
फुटकर तथा स्वागत समिति का चंदा	२०१५।।।=)		
	१९१११६।।।=)		

हीरक जयंती के अवसर पर संपन्न होनेवाले कार्यों के निमित्त धन से सहायता करने के लिये प्रायः समस्त प्रादेशिक सरकारों तथा केंद्रीय सरकार से भी अनुरोध किया गया था। इनमेंसे ५०००) रु० मध्यप्रदेश की सरकार ने पत्रिका के विशेषांक के लिये तथा १००० रु० विंध्यप्रदेश की सरकार ने अपने प्रांत में हस्तलिखित ग्रंथों की खोज के लिये प्रदान करने की स्वीकृति दी है। उत्तर प्रदेश तथा कतिपय अन्य सरकारों से भी सहायता मिलने की आशा है।

केंद्रीय सरकार से जयंती आयोजन के अतिरिक्त हिंदी भाषा का एक बृहत् प्रामाणिक कोश तैयार करने तथा अन्य प्रकाशनों के लिये सहायता मांगी गई तथा स्थायी अनुदान की प्रार्थना की गई थी। शिष्ट मंडल ने इस संबंध में राष्ट्रपति डा० राजेंद्रप्रसाद तथा केंद्र के शिक्षामंत्री से मिककर कोश की प्रस्तावित योजना के संबंध में आवश्यक बातें उनके

समक्ष रखी थीं, जिनपर उन लोगों ने सहानुभूतिपूर्वक विचार किया तथा यथोचित सहायता देने का आश्वासन दिया। हिंदी के वृहत् प्रामाणिक कोश तथा आकर ग्रंथों के प्रकाशन की योजनाएँ केंद्रीय सरकार ने स्वीकार कर ली है तथा एतदर्थ एक लाख पचीस हजार रुपये देने का वचन भी दिया है।

हीरक जयंती के अतिरिक्त सभा की विभिन्न प्रवृत्तियाँ इस वर्ष बराबर चलती रही हैं। आर्यभाषा पुस्तकालय में पुस्तकों के संग्रह और संरक्षण का कार्य यथापूर्व होता रहा है। हस्तलिखित ग्रंथों के विवरण का कार्य इस वर्ष भी होता रहा तथा लगभग १००० ग्रंथों का विवरण छप गया है। उत्तर प्रदेशीय सरकार ने पिछड़ी रिपोर्टों के प्रकाशन के लिये १००००रु० का अनुदान दिया था, जिससे बहुत दिनों से रुका हुआ यह कार्य तीव्र गति से अग्रसर हो रहा है। सभा का प्रकाशन कार्य भी इस वर्ष यथापूर्व होता रहा। इस वर्ष निम्नलिखित नवीन पुस्तकें प्रकाशित हुई।

१. हस्तलिखित हिंदी पुस्तकों का तेरहवाँ त्रैवार्षिक विवरण
२. कहानी से मनोरंजक सच्ची घटनाएँ
३. भागवत संप्रदाय
४. श्रीनिवास ग्रंथावली
५. श्यामास्वप्न
६. भारतेंदु ग्रंथावली भाग ३

साहित्य गोष्ठी और प्रसाद व्याख्यानमाला के अंतर्गत होनेवाले नियमित आयोजन इस वर्ष भी होते रहे। इनके अतिरिक्त श्री पं० परशुराम जी चतुर्वेदी की साठवीं वर्षगांठ के उपलक्ष में उनका तथा समागत अतिथि श्री आचार्य क्षितिमोहन सेन का अभिनंदन किया गया।

परिशिष्ट क

THE NAGARI MEMORIAL

(From the Pioneer, Thursday, March 3, 1808)

A Deputation waited upon His Honour the Lieutenant: Governor, N. W. P., and Chief Commissioner of Oudh, at Government House, Allahabad yesterday, to present a Memorial praying for the introduction of the Nagri character in Courts and Public offices in the United Provinces. The deputation consisted of the following gentlemen:—

Maharaja Sir Pratap Narayan Sinh, Bahadur K.C.I.E., of Ajodhya.

Raja Balwant Sinh, C. I. E., of Awa, (Etah.)

Raja Ghanshyam Sinh of Mursan, (Aligarh)

Raja Rampratap Sinh of Manda, (Allahabad).

Munshi Ram Prasad, Advocate, High Court, N.W, P, and President, Kayasth Pathshala Committee, (Allahabad).

Pandit Sundarlal, B.A., Advocate, High Court, N.W.P, and Fellow of the Allahadad University, (Allahabad).

Rai Siddheshwari Prasad Narayan Sinh Bahadur, of Salemgarh. (Gorakhpur).

Rai Kuar Misr Harcharan, Bahadur (Bareilly).

Rai Nihal Chand Bahadur, (Muzaffarnagar).

Rai Kishen Sahai Bahadur, (Meerut).

Raja Lachmandas, C. I. E., (Muttra).

The Hon'ble Raja Rampal Sinh of Rampur, Member, Legislative Council, N.W.P. and Oudh, (Pratabgarh).

The Hon'ble Seth Raghubar Dayal, Member, Legislative Council, N. W. P. and Oudh, (Sitapur).

The Hon'ble Rai Sriram Bahadur, M. A., B. L., Advocate, Judicial Commissioner's Court, Lucknow, Fellow of the Allahabad University, and Member, Legislative Council N- W. P. and Oudh, (Lucknow).

Munshi Madho Lal, retired Subordinate Judge, (Benares) .

Rai Pramada Das Mitter Bahadur, Fellow of the Allahabad University, (Benares) .

Pandit Madan Mohan Malaviya, B. A., LL. B., Vakil, High Court, N. W. P. , (Allahadad) .

The memorial ran as follows:—

May it Please Your Honour,

We, the undersigned residents of the North-Western Provinces and Oudh, beg most respectfully to approach Your Honour with this humble memorial regarding a matter which deeply affects the administration of justice and the progress of primary education in these provinces, namely, the use of the Persian character for writing the vernacular pleadings and proceedings of Courts and public offices.

2. It is more than sixty years since the Goverment of India, holding that it was reasonable and just that the proceedings of judicial and revenue courts should be conducted in a language familiar to the litigant parties and to the people at large, ordered the vernaculars of the different provinces to be substituted for Persian, in which language those proceedings were conducted since the days of Mahomedan rule. Accordingly in 1839 Bengali was substituted in Bengal and Uriya in Orissa. In the vast tract of country known as Hindustan, where the prevailing vernacular was, as it now is, Hindi, written in the Nagri character or some of its variations, Urdu written in the Persian character was generally substituted for Persian under the impression that it was the veruacular of Hindustan. As your honour is aware, the necessary reform was carried out in Behar in 1881, when it was ordered that the Proceedings of courts should be written exclusively in the Nagri or (Kaithi) character; and in the Central provinces also in the same year, when strict orders were issued for the use of the Hindi language and the Nagri

character in the courts of law. And we humbly submit that the reasons which led to the change in those provinces, apply with equal force here.

3. The Sunder Dewany Adawlut, N. W. P. directing the substitution of the vernacular for Persian, laid down that pleadings and proceednigs should be recorded in clear intelligible Urdu or Hindi (where that dialect is current) The direction about the use of Hindi has been ignored. Orders have repeatedly been issued deprecating 'the unnecessary admixture of difficult Persian and Araibic words and phrases in the vernacular proceedings of courts, and enjoining the use of a style as near to the language of ordinary conversation as possilbe. But notwithstanding these orders, such words and phrases continue to be used in those proceedings to such an extent as to make them imperfectly intellegible to the vast majority of those who are vitally interested in them. The reason of this, we believe, lies, to a great extent, in the use of the Persian character for writing the vernacular. The use of the indigenous character, Nagri, will, we submit, exercise a salutary check upon this practice, and will lead eventually to the avoidance of all such Persian and Arabia words as have not become assimilated into the speech of the people.

4. The use of the Nagri character is further necessary in order that the object of substituting the vernacular for Persian, viz, to make it easy for the people to be able to read and comprehend the proceedings of courts may be carried out in its entirety. That object cannot be so carried out when the vernacular is written in a foreign character, which the mass of the people cannot be expected or induced to learn. Notwithstanding the fact that the Persian character has been in use in the courts of these provinces for several centuries, its knowledge is still confined to very small section of the populaton. The vast majority of those who sign and verify plaints and petitions

and legal documents written in the Persian character, are unable to read what is written in them, and when processes of courts are issued in that character, most of those to whom they are addressed are put to needless trouble and expense in finding out their contents.

5. Besides the fact of its being foreign and unfamiliar to the people, the inherent defects of the Persian character make it unsuited to be the medium of public business. As it is written in courts, it is, to use the words of Prof. Sir Monier Williams, a 'species of hopelessly difficult stenography'. It is not only difficult to decipher it but doubts and disputes often arise in courts of justice regarding the correct reading of words or phrases written in shikasta. It is impossible to say that all such cases are correctly decided, but assuming that they are, there can be no recompense for the trouble and expense to which honest people are subjected in establishing their claim or making good their defence, and no justification for the waste of public time and money caused by the proceedings of courts being recorded in such faulty characters. "In the absence of diacritical marks, and these are, as a rule, ommitted to a great extent in ordinary writing, two words which have not a letter in common, nor the slightest resemblance in sound, may have a precisely identical appearance on paper. For purposes of record, an alphabet of this character is obviously as bad a one as it is possible to conceive". (The Pioneer, July 10th, 1873). On the other hand, the Nagri character, being formed on the phonetic basis, is not only free from the defects mentioned above, but has been pronounced by eminent linguists to be 'the most perfect and symmetrical of all known alphabets,' when "it is once written, it is as clear as print, and so definite that a sentence expressed in it can be read with faultless pronunciation by a person who has not the remotest idea of its meaning". (The Pio-

neer, 10th July, 1873). And adove all, it is the character with which the great bulk of the people of these Provinces are most familiar.

6. The only objection which has sometimes been urged against the Nagri is that it is not written as fast as the shikasta. Even assuming that it is so, the time gained in writing the shikasta is more than counterbalanced by what is lost in reading it, while any little loss of time which may occur in writing the Nagri, would be compensated by the ease and certainty with which it can be read over afterwards. The Nagri has long been in use in courts in places such as Kumaon and the Central Provinces and is undeniably written with as much speed and facility as is necessary for an efficient discharge of public business.

7. We further submit that the substitution of the Nagri character for the Persian in courts and public offices is still more imperatively necessary in the interests of primary education, which is at present the crying need of the country. It has long been settled that the mass of the people can only be instructed through the medium of the native tongue. And there can be no boubt that that tongue is Hindi, ordinarily written in the Nagri character, so far as these provinces are concerned. But in order that a knowledge of the vernacular language and character may be appreciated, it must be made a useful and respectable possession, the mere love of knowledge, as pointed out by the Education Commission, having in all countries been found to be an insufficient stimulus to the general advancement of learning. And the adoption of the vernacular language written in its proper character as the medium of public business, make its knowledge valuable, and therefore supplies a strong incentive to the people at large to acquire it. In places where this has been done, in Bombay, Madras, Bengal, Behar and the Central Provinces, for instance, primary education has advanced by leaps and bounds; but where a foreign language, or the native tongue written in a

foreign character, is in exclusive use in courts, and a knowledge of the vernacular language and character is consequently found to be useless in the transaction of public business, as is the case in the North Western Provinces & the Punjab, primary education has made very little progress among the people. It is thus that the North-Western Provinces, which were the pioneers of the policy of extending primary education amongst the masses, and of providing adequate fu ds by means of local rates, have come to be the most ig orant provinces in the Indian Empire. From 1870-71 to 1895-96, while the number of boys under instruction in primary schools have risen from 1,59,628 to 5,00,122 or 213 p. c. in Bombay from 68237 to 5,10,063 or 647 p. c. in Madras, from 68, 543 to 12,06,619 or 1,660 p. c. in Bengal, it has increased from 1, 53, 252 to 1, 55, 552, or 1. 5 p. c. only in the N. W.P. Since 1872, when the Government declared itself in favour of the use of the indigenous language and character in Behar, the number of boys in primary schools has increased there from 33, 430 to 2, 63, 471 or 679 p. c. In the Central Provinces, since 1881, the year in which the Nagri character was practically intrcduced into the courts there, the number has risen from 74, 529 to 1, 17,896 or 58 p. c.; while during the same period it has increased from 93, 660 to 1,09,852 or only 17 p. c. in the Punjab, though the population of the Punjab is nearly double that of the Central Provinces, and the Government spends there twice as much per head of the population on education as in the latter provinces, and in the N. W. P. and Oudh, where the encouragement of Urdu and the consequent discouragement of Hindi have gone farther than anywhere else, the number of boys has fallen off by 49,000. It is still more important to note that in these very Provinces and under the same department of Public Instruction, primary education has been steadily advancing and has made three times as much progress in Kumaon, where the Nagri character is in use in courts, as in the rest of N. W.P.

where the business of courts is conducted exclusively throuh the Persian character. Ihe truth is, Urdu, surcharged with Persian and Arabic words and written in Persian characters, is too difficult for the masses to acquire, and the time, trouble and expense necessary to enable a man to learn it, prove practically forbidding to almost all but those who are candidates for the public service or the profession of law.

8. The unsuitability of the Persian character as a medium of popular instruction, is, we submit, hardly open to dispute. As the late Professor Blochmann has observed, "a sentence in Urdu, Persian, Arabic, or Turkish, on account of the absence of vowel points, must first be understood before it can be read out aloud, and this is a great obstacle to elementary education, which can be only very partially overcome or lessened by introducing clear lithographs. To read a book in Persian characters is always more less a work, and but rarely a pleasure. "On the other hand, it is undeniable that the Nagri character is the best medium for such instruction. As Sir Erskine Perry has said," the perfection of a written character seems to be that it should convey through the eye an accurate idea of the pronunciation of each word, and this attribute is fully possessed by the devnagri in which Sanskrit is written and by all the best native alphabets.*** The value of this characteristic is tested by the fact that Hindu children are able to read directly they have learnt the value of each letter, so that an accomplishment for which years are often needed in Europe, is acquired in India in three months. But the exclusive encouragement of Urdu as the officially recognised vernacular, has made a knowledge of Hindi written in the Nagri character useless in nearly all that relates to public business, and has thus left the people with little stimulus to learn the only vernacular which they can be expected to learn. It is our firm belief that if the proceedings of civil, revenue and criminal courts, of municipal and District Boards and of other

public offices begin to be written in Nagri and their summonses, decrees and notices begin to issue in that character, the advantages of being able to read and write it will be very soon brought home to the minds of the people, and that this will give a great impulse to the progress ef education, and will lead them not only to avail themselves fully of the instructions provided by the state, but also to set up schools of their own and thus to e onomise and supplement the educational resources of Government.

9. We do not ask for any order regarding the language to be used in the proceedings of courts, as the orders which are already extant make it unnecessary to do so. All that we pray for, is,to use the words of the late Rev.Mr. Budden, that "the written character of the immense majority of the people should be used in the Government courts, and all summonses, decisions and decrees should be issued in that character. This need not exclude the use of Persian Uadu writing or English either, for similar purposes when necessary, nor would it necessitate the use of any other than the current, technical, and legal terms in which Government business is at present transacted. It merely means that the character in habitual use in the courts should be that of the people generally and not a foreign one; and that the language written in it should not be predominantly that of any one class of the people; that it should neither select nor reject terms simply because they are either of Hindu or Muhammadan affinity or origin; but take those which are the most generally and easily intelligible to the largest number of the people, and write them in the character which the majority understand."

10. It is deeply gratifying to us to know that Your Honour regards the extension of primary education conveyed in the vernacular and confined to the simplest branches of knowledge as a duty which rests upon the Govern-

ment, and we are thankful for the efforts which you have already made to promote it. It seems to be generally agreed now that primary education lies at the root of all other improvements, social, moral and economical, in the condition of the masses. And it is under a sense of the duty which, we believe, we owe to the Government and to the people in this connection, that we humbly beg to state it as our conviction that the adoption of the Nagri character as the medium of public business and of popular instruction, is absolutely essential to the success of mass education in these provinces. We think it unnecessary to take up Your Honour's time by dilating on the advantages of the change we have the honour to advocate, because, in the first place, you have yourself seen the beneficial effects of the substitution of the Nagri (Kaithi) character for the Persian in making the administration of justice popular and in stimulating the progress of vernacular education in Behar, and secondly, because the subject has been fully discussed in the note on "Court Character and Primary Education," which we beg to append to this memorial for Your Hononr's consideration.

11. We earnestly hope the matter will receive that attention from Your Honour which its importance demands, and that, after a full consideration of the subject, Your Honour will be graciously pleased to order that the Nagri character may be adopted for writing the vernacular pleadings and proceedings of courts and public offices in these Provinees.

And we will, as in duty bound, ever pray.

बचत का ब्योरा

५८८।=)॥ रोकड़ सभा में

२४२१-)। इलाहाबाद बंक लि० चलता खाता

५७५।-)८ ,, ,, ,, से० बंक कुंभनिधि

३०००) ,, ,, ,, फिक्स्ड डिपाजिट ,,

२३६=) पंजाब नेशनल बंक लि० चलता खाता

५९३३।= ॥। ,, ,, ,, से० बंक हरद्वार

१९०≡)॥। सेंट्रल बंक आव इण्डिया चलता खाता

७८२७।-)१० ,, ,, ,, ,, से० बंक जमानत, सं० को०

५६।=)। ,, ,, ,, ,, देव पुरस्कार ग्रं०

१५॥।) पोस्ट आफिस से० बंक हरद्वार गार्डन फंड

१२) ,, ,, ,, ,, लाइब्रेरी

३१॥-)८ ,, ,, ,, बनारस देवीप्रसाद ऐ० पु० मा०

२६॥≡)। ,, ,, ,, ,, संचित कोष

४००।≡) ,, ,, ,, ,, सभा

१६५॥=)४ ,, ,, ,, ,, सूर्यकुमारी पु० मा०

५०६५॥)॥। ,, ,, ,, ,, फुटकर निधियाँ

४६८-)॥ पोस्ट आफिस सेविंग्स बंक पुस्तकालय

७५१७॥=)१० ,, ,, ,, एंडाउमेंट ट्रस्ट फंड

८२२॥=) ,, ,, ,, स्थायी कोष

३५३५५।≡)४

परिशिष्ट (ख) ४

प्रारंभ से सं० २००६ तक दाताओं की सूची जिन्होंने ५०० या इससे अधिक धन दिया।

भारत सरकार	५०००)	प्रकाशन
दिल्ली सरकार	५००)	हस्त लिखित हिंदी पुस्तकों की खोज
पंजाब सरकार	१५००)	,, ,, ,, ,,
मध्य प्रादेशिक सरकार	२०००)	१०००) पुस्तकालय, १०००) प्रकाशन
बिहार सरकार	१२५००)	कलाभवन
उत्तर प्रदेशीय शासन	२१३२२०)	८३६००) ह० हिं० पु० की खोज
		२६४२०) पुस्तकालय·
		१८२००) कलाभवन
		४७७००) प्रकाशन
		२३४००) भवन
		१६००) तिजोरी
		२५००) टंकण यंत्र
		६०००) राजकीय कोष
		५००) अर्द्ध शताब्दी
नगरपालिका, बनारस	१६९२०)	१५७२०) पुस्तकालय
		१२००) कलाभवन
डिस्ट्रिक्ट बोर्ड, बनारस	५५०)	फुटकर
श्रीमान् महाराजा जयसिंह जू देव बहादुर, अलवर	६५००)	६०००) प्रकाशन
		५००) भवन
श्रीमान् महाराजा वीरसिंह जू देव बहादुर, ओड़छा	१०००)	पुस्तकालय
श्रीमान् महाराणा सर तुकोजी राव होल्कर तृतीय, इन्दौर	५००)	प्रकाशन
श्रीमान् महाराणा साहब भूपाल सिंह, बहादुर, उदयपुर	३०००)	२०००) फुटकर
		१०००) कलाभवन
श्रीमान् महाराजा सर प्रताप सिंह बहादुर, काश्मीर	२०५०)	१०५०) प्रकाशन
		१०००) फुटकर
श्रीमान् महाराजा प्रभुनारायण सिंह बहादुर, काशी	२०००)	१०००) भवन
		१०००) प्रकाशन
श्रीमान् महाराजा विभूतिनारायण सिंह जी, काशी	५५१)	श्री संपूर्णानंद अभिनंदन ग्रंथ
श्रीमान् महाराजा सर उम्मेद सिंह बहादुर, कोटा	२५००)	२०००) भवन
		५००) कलाभवन

श्रीमान् महाराजा सर माधव राव सिंधिया बहादुर, ग्वालियर	१०००)	प्रकाशन
श्रीमान् महाराजा सर विश्वनाथ सिंह जू देव बहादुर, छतरपुर	४०३०)	२०००) प्रकाशन १३००) भवन ५००) ह० हि० पु० की खोज २३०) फुटकर
श्रीमान् महाराजा सर नरेन्द्र शाह बहादुर, टेहरी-गढ़वाल	१०५००)	१००००) राजकीय कोश ५००) कलाभवन
श्रीमान् महाराजा साहब बहादुर डूंगरपुर	७५०)	६००) भवन १५०) फुटकर
श्रीमान् महाराजा साहब बहादुर, नेपाल	२०००)	भवन
श्रीमान् महाराजा सर सयाजीराव गायकवाड़ बहादुर, बड़ोदा	१०००)	भवन
श्रीमान् महाराजा सर गंगासिंह बहादुर, बीकानेर	२६००)	१६००) प्रकाशन १०००) भवन
श्रीमान् महाराजा श्री शार्दूलसिंह बीकानेर	१०००)	५००) कलाभवन ४००) अर्द्धशती १००) स्थायी कोष
श्रीमान् महाराजा सर भवानीसिंह जी बहादुर, भावनगर	१५००)	१०००) भवन ५००) प्रकाशन
श्रीमान् महाराजा सर वेंकटरमण सिंह जू देव बहादुर, रीवाँ	५६४९)	३४००) भवन १८००) प्रकाशन ४४९) फुटकर
श्रीमान् महाराजा सर उम्मेदसिंह बहादुर, शाहपुरा	१९९८४)	प्रकाशन, सूर्यकुमारी पुस्तक माला
श्रीमान् राजा सर रामसिंह जी बहादुर सीतामऊ	६००)	४००) प्रकाशन २००) भवन
श्रीमान् महाराजकुमार डा० रघुवीर सिंह जी, सीतामऊ	५०१)	१००) स्थायी कोष ४०१) नागरी प्रचार
श्रीमान् महाराजकुमार दिग्विजय सिंह जी, सैलाना स्टेट	१७५१)	कलाभवन
श्रीमान् राजा उदयप्रताप सिंह बहादुर, भिनगा	५६००)	३८००) प्रकाशन १७००) फुटकर १००) भवन

श्रीमान् राव नारायणसिंह रावसाहब मसूदा, अजमेर	५००)	१००) स्थायी कोष ४००) अर्द्धशती
श्रीमान् महाराज सर प्रतापनारायण सिंह, महामहोपाध्याय, अयोध्या	१०००)	भवन
श्रीमान् राजा बलवंत सिंह, आवागढ़	५००)	भवन
श्रीमान् राजा सर मोतीचंद, बनारस	८५०)	६००) फुटकर २५०) भवन
श्रीमान् राजा मुंशी माधोलाल, काशी	५१५)	भवन
श्री गो० व्रजभूषण लाल जी महाराज कांकरोली	५००)	३००) अर्द्ध शताब्दी १००) पुस्तकालय १००) स्थायी कोष
श्रीमान् राजा सर रावणेश्वर प्रसाद सिंह, गिद्धौर	५००)	प्रकाशन
रा० ब० राजा व्रजनारायण सिंह पडरौना, गोरखपुर	५००)	१००) स्थायी कोष ४००) अर्द्धशताब्दी
श्री गोस्वामी दामोदर लाल जी, नाथद्वारा, मेवाड़	१०००)	भवन
श्रीमान् राजा कमलानंद सिंह पूर्णिया	२०००)	भवन
श्री कुमार तारानंद सिंह बी० ए० पूर्णियां	५०१)	१००) स्थायी १००) पुस्तकालय ३०१) अर्द्ध शताब्दी
श्रीमान् निमिराज महाराज सर विजय चंद्र महताब बहादुर, बर्द्धवान	३६००)	२०००) भवन १५००) प्रकाशन १००) फुटकर
श्री० महाराज सर पटेश्वरी प्रसाद सिंह, बलरामपुर	१०००)	५००) कलाभवन ३००) अर्द्ध शताब्दी १००) स्थायी कोष १००) पुस्तकालय
श्री कुंवर राजेन्द्र सिंह, सीतापुर	१२००)	१०००) प्रकाशन २००) भवन
श्री राजा बहादुर डा० सूरजबख्श सिंह, सीतापुर	५००)	अर्द्ध शताब्दी
श्री राजा पन्नालाल बंशीलाल हैदराबाद	५००)	१००) स्थायी कोष ४००) सूरसागर
बिड़ला ब्रदर्स, कलकत्ता	५००)	कुंभनिधि सत्यज्ञान निकेतन

श्री सेठ कृष्णकुमार बिडला कलकत्ता	५७००)	४०००) कलाभवन १०००) हिंदी सेवक मंडल ५००) अद्‌र्धशताब्दी १००) स्थायी कोष १००) पुस्तकालय
श्री सेठ घनश्यामदास बिडला कलकत्ता	२०२८०॥≡)॥।	१८१५१) कलाभवन १४००) अद्‌र्ध शताब्दी १००) स्थायी कोष ५७६॥≡)॥। फुटकर ५०) हिंदी सं० लिपि २०२८०॥≡)॥
श्री सेठ जुगुलकिशोर बिडला कलकत्ता	२१००)	कलाभवन १००) कुंभ निधि सत्यज्ञान निकेतन
श्री० राजा बलदेवदास बिडला काशी	१८२५)	१०००) पुरस्कार ५००) भवन ३२५) फुटकर
श्री सेठ ब्रजमोहन बिडला कलकत्ता	१०००)	५००) सत्यज्ञान निकेतन ३७०) हि० सं० लिपि १३०) स्थायी कोष
श्री सेठ माधोप्रसाद बिडला कलकत्ता	६००)	कोष
श्री सेठ लक्ष्मीनिवास बिडला कलकत्ता	१०५९५)	७६४५) कलाभवन १०००) हिंदी सेवक मंडल (स० ज्ञा० नि०) १०००) ह० हिंदी पुस्तकों की खोज ५००) हिंदी १००) स्थायी कोष २५०) नागरी प्रचार १००) पुस्तकालय १०५९५)
श्री सेठ अमरचंद जी, जालौन	५००)	कलाभवन
श्री सेठ आनंदीलाल जी पोद्दार, कलकत्ता	५०१)	२५०) कलाभवन १०१) स्थायी कोष १५०) सत्यज्ञान निकेतन, कुंभ निधि

श्री इन्द्रचंद केजरीवाल, कलकत्ता	५०१)	१००)	स्थायी कोष
		१५१)	फुटकर
		२५०)	सत्यज्ञान निकेतन, कुंभ निधि
श्री कमलावती देवी, कानपुर	१०००॥=)	१००)	स्थायी
		६०००॥=)	सत्यज्ञान निकेतन
श्री सेठ बी० कानोडिया कलकत्ता	५००)		फुटकर
श्री कालीचरण, मैनेजिंग डाइरेक्टर	१०००)	१००)	स्थायी कोष
कानपुर रोलिंग मिल्स, कानपुर		९००)	फुटकर
श्री डा० काशीप्रसाद जायसवाल	७४५॥)		भवन
श्री किशनलाल पोद्दार, कलकत्ता	६००)		सत्यज्ञान-निकेद्रन
श्री बाबू किशोरीरमण प्रसाद जी, काशी	६०३)	२०१)	प्रकाशन
		१२६)	कलाभवन
		२५)	रामप्रसाद समादर कोष
		१००)	पुस्तकालय
		१००)	स्थायी कोष
		५१)	भारतेन्दु जन्मशती
श्री रायकृष्ण जी तथा राय	१५२००)	१५०००)	भूमिदान
श्रीकृष्ण जी		२००)	भवन
श्री कृष्णचंद मांडलिक, धार	१७००)		मांडलिक पुरस्कार
श्री कृष्णचंद अग्रवाल, कलकत्ता	५०१)	१०१)	स्थायी कोष
		१००)	पुस्काल्य
		३००)	सत्यज्ञान निकेतन
श्री राय कृष्णदास जी, काशी	१८२५॥)	१७२४॥)	कलाभवन
		१०१)	श्री संपूर्णानंद अ० ग्र०
सौ० कुंवर रानी हरिश्चन्द्र, पीलीभीत	५००)		कलाभवन
श्री सेठ खुशालचंद डागा	५०१)+१०१)	२०१)	स्थायी कोष
बीकानेर		४०१)	राजस्थानी
श्री गंगावख्श कानोडिया	७५१)	५०१)	सत्यज्ञान निकेतन
कलकत्ता			
		१५०)	कलाभवन
		१००)	स्थायी कोष
श्री सेठ गजाधर सोमाली	५००)	१००)	स्थायी कोष
बंबई		४००)	अर्द्धशती
		१२०)	सत्यज्ञान निकेतन
		१५९)	अद्र्धती
श्री गणेशप्रसाद सिंह	५०१)		सत्यज्ञान निकेतन

श्री गदाधर सिंह काशी	२०००)	फुटकर
—गुप्तदान—	२८५१)	२७००) भवन
		१५१) फुटकर
रा० ब० सेठ गूजरमल मोदी मोदी नगर, मेरठ	५००)	१००) स्थायी कोष
		४००) सत्यज्ञान निकेतन, अतिथिशाला
श्री गोपीकृष्ण कानोडिया, कलकत्ता	७००)	५००) कलाभवन
		१००) स्थायी कोष
		५०) अद्‌र्धशती
		५०) रामप्रसाद समादर कोष
		१५१) अद्‌र्धशती
श्री रायगोविंद चंद, काशी	७१६)	१०१) भारतेन्दु जंम शती
		४१५) कलाभवन
		२००) प्रकाशन
श्री चंडीप्रसाद जगनानी (बाबू मुरारी लाल केडिया), बनारस	५०१)	भवन
श्री चिंतामणि घोष, प्रयाग	२०००)	भवन
श्री रा० ब० सेठ चिरंजीलाल बागला हाथरस	७००)	५००) प्रकाशन
		२००) भवन
श्री सेठ चिरंजीलाल जी लोयलका बंबई	५००)	१००)स्थायी कोष
		४००) अद्‌र्धशती
श्री जगन्नाथ पुच्छरत, साहित्य सदन, अमृतसर	५२२)	पुच्छरत पदक
श्री जगन्नाथदास 'रत्नाकर' काशी	१८३५)	पुरस्कार
श्री जगमोहनप्रसाद गोयनका कमला मिल्स, बम्बई	५००)	१००) स्थायी कोष
		४००) अद्ध शती
जयपुरिया कं०, काशी	५०१)	सत्यज्ञान निकेतन, कुंभ निधि
श्री जयशकर प्रसाद, काशी	९००)	साहित्य गोष्ठी, स्थायी निधि
प्रो० श्री जीवनशंकर याज्ञिक, काशी	१००१)	याज्ञिक ग्रंथमाला (११७९ ह० लि० पुस्तकें)
श्री मेहता जोधसिंह, उदयपुर	१०००)	पुरस्कार
श्री ज्योतिभूषण गुप्त, काशी	१७२६)+१०१)	१००) स्थायी कोष
		१०००) बेसिक रीडर
		५००) भूषण पदक
		१०१) फुटकर
		२५) कलाभवन
		१०१) श्री संपूर्णानंद, अ० ग्रंथ

डालमियां जैन ट्रस्ट, शाहाबाद	५००)	कलाभवन
श्री डा० सर तेजबहादुर सप्रू, प्रयाग	२३००)	२२००) भवन
		१००) कलाभवन
श्री सेठ दाऊदयाल जी कोठारी	५०१)	१०१) स्थायी कोष
बीकानेर		१००) पुस्तकालय
		१००) राजस्थानी
		२००) सत्यज्ञान निकेतन
श्री दीपचंद किशनलाल पोद्दार	८००)	२५०) कलाभवन
काशी		१००) स्थायी कोष
		३००) पुस्तकालय
		१५०) अद्र्धशती
श्री मुंशी देवीप्रसाद मुंसिफ	१२२५०)	प्रकाशन—मुंशी देवीप्रसाद ऐ०
जोधपुर		पुस्तक माला
श्री सेठ द्वारकादासजी, बम्बई	५००)	१००) स्थायी कोष
		४००) अद्र्धशती
श्री नंदलाल भुवालका, काशी	७५१)	५००) हिन्दीसेवक मण्डल
		२५१) श्री भारतेन्दु जंमशती
श्री नंदलाल भुवालका, कलकत्ता	७०१)	२०१) स्थायी कोष
		१००) भवन
		४००) सत्यज्ञान निकेतन, अतिथिशाला
श्री नारायणदासजी, बीकानेर	५०१)	१००) पुस्तकालय
		४०१) सत्यज्ञान निकेतन कुंभनिधि
श्री सेठ नारायणदास बाजोरिया	१३३२)	२०१) पुरस्कार
		५०१) सत्यज्ञान निकेतन, अतिथिशाला
		१०१) स्थायी कोष
		३०१) अर्द्ध शती
		१००) पुस्तकालय
		१२८) सत्यज्ञान निकेतन
श्री एस० एन० पंडित, राजकोट	२२५०)	भवन
श्री सर पद्मपत सिंहानिया, कानपुर	६९००)	४०००) अर्द्धशती
		१००) स्थायी कोष
		१०००) कलाभवन
		१८००) अनुशीलन-छात्रवृत्ति
श्री प्यारेलाल गर्ग, कानपुर	१०००)	प्रकाशन
श्री पुरुषोत्तमदास हलवासिया	१०५०)	४५०) कूप की मरम्मत
कलकत्ता		६००) कलाभवन

श्री पुरुषोत्तमलाल जेतली, प्रयाग	५०१)	१०१) स्थायी कोष
		४००) सत्यज्ञान निकेतन
श्री पूर्णचंद वर्मन, कलकत्ता	२१०२)	२००२) कलाभवन
		१००) स्थायी कोष
श्री कुंवर फतहलाल मेहता, उदयपुर	५००)	४००) कलाभवन
		१००) स्थायी कोष
श्री राय बहादुर बाबू बटुकप्रसाद खत्री काशी	१०००)	पुरस्कार
श्री सर बदरीदास गोयनका, कलकत्ता	१००१)	४०१) फुटकर
		१००) स्थायी कोष
		५००) कलाभवन
श्री बदरीदास डागा, बीकानेर	५०१)	१०१) स्थायी कोष
		२००) राजस्थानी सा० र० नि०
		२००) सत्यज्ञान निकेतन
श्री बंशीधर जालान, कलकत्ता	५००)	४००) फुटकर
		१००) स्थायी कोष
श्री ब्रजरत्नदास वकील, काशी	३७५)	१००) पदक
		१००) प्रकाशन
		१००) स्थायी कोष
		७५) फुटकर
		(पुस्तकें ५३१।) अंकित मूल्य की)
श्री बांकेबिहारी सेठ, कानपुर	५००)	सत्यज्ञान निकेतन
श्री बाबूलाल राजगढ़िया, कलकत्ता	१०५१)	१००१) प्रकाशन (नवभारतीय ग्रंथमाला)
		५०) फुटकर
श्री बारहट बालाबक्षजी, जयपुर	७०००)	प्रकाशन बालाबक्ष रा० चा० पु० मा०
श्री बृजलाल खेमका, काशी	५०१)	१०१) स्थायी कोष
		४००) सत्यज्ञान निकेतन (कुंभनिधि)
श्री बैजनाथजी म्लरिया, बम्बई	५००)	१००) स्थायी कोष
		४००) अर्द्धशती
श्री सेठ भंवरलाल रामपुरिया, बीकानेर	५०१)	२००) सत्यज्ञान निकेतन
		२००) राजस्थानी सा० र० नि०
		१०१) स्थायी कोष
श्री भगीरथ कनोडिया, कलकत्ता	१३५१)	११५१) कलाभवन
		२००) अर्द्धशती
श्री भूपेंन्द्रकुमारजी, काशी	५०१)	कलाभवन

श्री मंगतूराम जैपुरिया, कलकत्ता	७५२)	५०१)	साधारण
		१५१)	फुटकर
		१००)	स्थायी कोष
श्रीमती मनीबाई शाह	५००)		कलाभवन
श्री मनोहरदास भैरामल, बम्बई	५००)	१००)	स्थायी कोष
		४००)	अर्द्ध शती
श्री आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी रायबरेली	१२००)	१०००)	पदक
		२००)	फुटकर
सेठ माणिकचन्द डागा, बीकानेर	५०१)	१०१)	स्थायी
		४००)	सत्यज्ञान निकेतन
श्री मुरारीलाल केडिया, काशी	१०१३॥=)	५००)	भवन
		५०)	मूर्ति मंदिर, कलाभवन
		२५)	रामप्रसाद समादर कोष
		३८७॥=)	ग्रिफिथ शिलारोपण
		५१)	भारतेन्दु जन्मशती
श्री मूलचन्द अग्रवाल, कलकत्ता	११५०)	१००)	स्थायी
		२००)	अर्द्ध शती
		२५०)	सत्यज्ञान निकेतन, कुंभनिधि
		४५०)	कलाभवन
		१५०)	फुटकर
श्री सेठ मूलचन्द मीमानी, बीकानेर	५०१)	१०१)	स्थायी कोष
		२००)	राजस्थानी
		२००)	सत्यज्ञान निकेतन
श्री मोहनलाल जालान, कलकत्ता	५०१)		राजस्थानी सा० र० निधि
श्री रत्नचंद कालिया, कानपुर	६००)	१००)	स्थायी कोष
		५००)	अर्द्ध शती
श्री सेठ गोविंददास सेकसरिया, बंबई	१०००)	१००)	स्थायी कोष
		६००)	अर्द्धशती
श्री गौरीशंकर गोयनका, काशी	१३००)	११००)	राजकीय कोश
		१०८)	स्थायी कोष
		१००)	पुस्तकालय
घनश्यायदास पोद्दार, बंबई	७५१)	५००)	अर्द्धशती
		१५०)	अर्द्धशती
		१०१)	स्थायी कोष

श्री रतनदेवी डागा, बीकानेर	५०१)	१०१)	स्थायी कोष
		१००)	पुस्तकालय
		३००)	सत्यज्ञान निकेतन, कुंभ निधि
श्रीमती रमादेवी जैन, डालमिया	६००)	५००)	अर्द्ध शती
		१००)	स्थायी कोष
श्री राय राधारमण, इलाहाबाद	५००)		भवन
श्री राधाकृष्ण मोहता, बीकानेर	५०१)	१००)	स्थायी कोष
		१००)	पुस्तकालय
		५०)	सत्यज्ञान, निकेतन कुंभ निधि
		२५०)	हाता सुधार
श्री सेठ राधाकृष्ण चमड़िया, कलकत्ता	५०१)	१००)	स्थायी कोष
		४०१)	अर्द्ध शती
श्री रामकुमार केजरीवाज कलकत्ता	१०००)+२५०)	१००)	स्थायी कोष
		५००)	अर्द्ध शती
		४००)	कोश
		२५०)	भारतेंदु जयन्ती
श्री सेठ रामकृष्ण डालमिया डालमिया नगर, बिहार	८१६)	१०१)	स्थायी कोष
		७१५)	पुस्तकालय
श्री रामचन्द्र जी, कानपुर	१०००)	१००)	स्थायी कोष
		९००)	फुटकर
श्री रामदहिन मिश्र, बांकीपुर	७२४)	१००)	स्थायी कोष
		३९९)	सत्यज्ञान निकेतन
		१००)	फुटकर
		१२५)	कला भवन
श्री रामदुलारी दूबे	१७२०१)	१५०००)	सत्यज्ञान निकेतन
		२०००)	प्रकाशन
		१००)	स्थायी कोष
		१०१)	अद्‌र्धशती
श्री सेठ रामदेव चोखानी, कलकत्ता	१४२५।≡)	१०१)	स्थायी कोष
		१००)	नागरी प्रचार
		२००)	भूषण पदक
		२५१)	अद्‌र्धशती
		२४)	फुटकर
		२५)	कलाभवन
		३८४।≡)	राजस्थानी सा० र० निधि

		१००) पुस्तकालय
		२५०) सत्यज्ञान निकेतन कुंभनिधि
श्री सेठ रामदेव जी पोद्दार, बंबई	१०००)	१००) स्थायी कोष
		९००) अर्द्धशती
श्री सेठ रामनाथ डागा, बीकानेर	५०१)	१०१) स्थायी कोष
		१००) पुस्तकालय
		३००) अर्द्धकुंभी
श्री पं० रामनारायण मिश्र, काशी	१४००)	१२००) पुरस्कार
		१००) पदक
		१००) भवन
श्री रामभरोसे सेठ, कानपुर	५०१)+१००)	५०१) सत्यज्ञान निकेतन
		१००) स्थायी कोष
श्री रामरत्न गुप्त, कानपुर	२००३)	१२०१) कला भवन
		६०२) अर्द्धशती
		१००) स्थायी कोष
		१००) पुस्तकालय
श्री सेठ रामरिखदास परसराम पुरिया, बंबई	५००)	१००) स्थायी कोष
		४००) अर्द्धशती
श्री सेठ रामरिख जी केडिया, बंबई	५००)	१००) स्थायी कोष
		४००) अर्द्धशती
श्री रामविलास पोद्दार स्मारक समिति, बंबई		४००) प्रकाशन रामविलास पोद्दार स्मारक ग्रंथ १६४८।।।) की पुस्तकें
श्री रा०ब०रामेश्वरप्रसाद बागला, कानपुर	१०००)	१००) स्थायी कोष
		९००) फुटकर
श्री लालचन्दजी सेठी रा० ब०, उज्जैन	१०१)+५०१)	१०१) स्थायी कोष
		१००) पुस्तकालय
		४०१) अर्द्धशती
श्री विनयकृष्ण रोहतगी, कलकत्ता	५०१)	२५०) सत्यज्ञान निकेतन, कुंभनिधि
		१५१) फुटकर
		१००) स्थायी कोष
श्री विशुद्धानन्द, हरद्वार	५०१)	सत्यज्ञान निकेतन
श्री सेठ विश्वम्भरलालजी, बम्बई	५००)	१००) स्थायी
		४००) अर्द्धशती

श्री विष्णुदास वासिल, नयी दिल्ली	६००)	१००) स्थायी कोष
		५००) अर्द्धशती
श्री वीरेन्द्र केशव साहित्य परिषद्, ओड़छा	१०००)	प्रकाशन
		देवपुरस्कार ग्रंथ
श्री सेठ शांतिप्रसाद जैन, डालमिया	२५००)	१०१) स्थायी कोष
		१८९९) सत्यज्ञान निकेतन
		५००) कलाभवन
श्री शांतिप्रसाद जैन, कलकत्ता	१०००)	हिंदी सेवक मण्डल
श्री राय शिवप्रसाद राय शंभुप्रसाद, काशी	२०००)	भवन
श्री शुकदेव पांडेय, पिलानी	११००)	१००) स्थायी कोष
		१०००) माधवी देवी महिला पुरस्कार
श्री श्रीप्रकाश, काशी	५२१)	२००) कलाभवन
		२५) रामप्रसाद समादर कोष
		१००) अर्द्धशती
		१००) श्री संपूर्णानंद अ० ग्रंथ
		१००) पुस्तकालय
श्री स्वामी सत्यदेवजी, हरद्वार		२५००) भूमि, सत्यज्ञान निकेतन
		३७८२॥) की पुस्तकें
श्री सत्येन्द्रकुमार, काशी	५००)	१००) स्थायी कोष
		४००) अर्द्धशती
श्री सेठ सनेहीरामजी भुवालका, बम्बई	५००)	१००) स्थायी कोष
		४००) अर्द्धशती
श्री सौ० सरस्वती देवी, डालमिया	१०००)	कलाभवन
श्री सीताराम सेकसरिया, कलकत्ता	६००)	१००) स्थायी कोष
		२५०) कलाभवन
		२५०) सत्यज्ञान निकेतन, कुंभनिधि
श्री डा० सर सुंदरलाल, ८१६ प्रयाग	१५००)	१०००) प्रकाशन
		५००) भवन
श्री सूरजमल नागरमल, कलकत्ता	१०००)	८००) अर्द्धशती
		१००) पुस्तकालय
		१००) स्थायी कोष
श्री लाला सेवकरामजी नागलिया	५०१)	१०१) स्थायी कोष
हृषिकेष, देहरादून		४००) सत्यज्ञान निकेतन
श्री सोहनलाल खन्ना, लाहौर	१०००)	१००) स्थायी कोष
		९००) सत्यज्ञान निकेतन

स्वदेशी काटन मिल्स	१००१)		श्री संपूर्णानंद अ० ग्रं०
श्री रा० ब० हर प्रसाद, पीलीभीत	५००)		भवन
श्री सर हरगोविंद मिश्र, कानपुर	५००)		श्री संपूर्णानंद अ० ग्रंथ
श्री हरिकेशव घोष, इलाहाबाद	१७५०)	१०००)	श्याम निधि
		२००)	कलाभवन
		५००)	भवन
		५०)	रामप्रसाद स्मा० नि०
श्री हीरानन्द शास्त्री, बड़ौदा	१००)		स्थायी कोष (१०१२ पुस्तकें)
श्री रा० ब० डा० हीरालाल कटनी	११००)	१०००)	पदक
		१००)	प्रकाशन
श्री हीरालाल चौधरी काशी	५००)	१००)	स्थायी कोष
		४००)	सत्यज्ञान निकेतन

परिशिष्ट (ग)—१

१. पुस्तकालय के संग्रह तथा दुर्लभ हस्तलिखित ग्रंथ

१ हिंदी	२१७१४	२ संस्कृत	७९०	३ बंगला	२०७
४ मराठी	१२४	५ गुजराती	२९८	६ गुरमुखी	३७
७ उर्दू	१२२	८ अंगरेजी	६२५	९ अनुशीलन	१९४
१० नेपाली	३४	११ रूसी	१४	१२ थामिल आदि	१४

आर्य भाषा पुस्तकालय में ६ विशिष्ट संग्रह हैं—

सभा संग्रह—जिसमें १३ भाषाओं की २८००० के आस पास पुस्तकें हैं और शेष संग्रहों में

संग्रह—

२ द्विवेदी संग्रह	४३१८
३ डा० हीरानंद शास्त्री संग्रह	१०६६
४ रत्नाकर संग्रह	११८४
५ याज्ञिक संग्रह	११७९
६ श्रीशचंद्र शर्मा संग्रह	१०७३ पुस्तकें हैं

इस प्रकार इस समय पुस्तकालय में ३६००० के लगभग पुस्तकें हैं।

परिशिष्ट (ग)—२

२. **सभा के दुर्लभ हस्तलिखित ग्रंथ**

१ पृथ्वीराज रासो, महोत्रा खंड	चंदवरदाई	१७४७ वि०
२ बीसलदेव रासो	नरपतनाल्ह	१६६६ वि०
३ मधुमालती—३ अ.	चतुर्भुजदास	
४ खुम्मान रासो		
५ प्रबोधचंद्रोदय नाटक		
६ बिहारी सतसई		१६९१ वि०
७ इंद्रावत	नूरमुहम्मद	
८ अखरावट	मलिकमुहम्मद जायसी	
९ पुहुपावती	दुखहरन	१७२६ वि०
१० मुक्तिरत्नाकर		१७५५ वि०
११ वाराणसी विलास		१८०७ वि०
१२ नानक प्रकाश		
१३ रस रतन	पुहकर	
१४ रसराज	मतिराम	
१५ भक्तबछल	मलूकदास	१८८७ वि०
१६ कामरूप का किस्सा		
१७ मदालसा ख्यान		
१८ करुणाभरण नाटक	लछिराम	
१९ चित्रविलास	अमृत कवि	१७८४ वि०
२० जहाँगीर चंद्रिका	केशवदास	१६६६ वि०
२१ पथैनारायण	चतुरराय	
२२ रसपीयूषनिधि	सोमनाथ	
२३ रामचंद्रिका	केशवदास	१८३८ वि०
२४ योगवासिष्टसार	कवींद्राचार सरस्वती	१७१४ वि०
२५ भक्तमाल प्रियादास टीक		१७६९ वि०
२६ सूरसागर	सूरदास	१९००
२७ जयसिंह प्रकाश		१७७१
२८ आलमके कवित्त		
२९ गोरखनाथ की वाणी		लि० पि० १८५५ वि०
३० हंसनाकोपनिषद		
३१ कबीर परिचयी	अनंतदास	१८५६ वि०
३२ माधवानल कामकंदला	आलम	१८१७ वि०
३३ इंद्रावत और महामनि (प्राणनाथ)		
३४ ककहरा	यारी साहब	

३५ रसचंद्रिका	इस्वी खां	
३६ कणेरीपा की सबदी		१८५५ वि०
३७ कबीर बाणी		
३८ ,,	,,	१५६१
३९ बीजक	कबीर साहब	
४० रस कल्लोल	करन कवि	
४१ कविप्रिया	केशवदास	
४२ रसिक प्रिया	केशवदास	१८२६ वि०
४३ खुदाबख्श का बारहमास	खुदाबख्श	
४४ गोपीचंद चरित्र	षेमदास	१७६८ वि०
४५ श्रीपति रामायण	गुरुदयाल	१८९८ वि०
४६ रस प्रबोध	गुलामनबी रसलीन	१७९८
४७ सहस्रनाम	गुलाल साहब	
४८ गोपीचंद की सबदी	गोपीचंद	१८५५
४६ गोरखनाथ की बाणी	गोरख	१८५५
५० हमीर हठ	ग्वाल	१८८० वि०
५१ चैनदासजी के सबद	चैनदास	१७९८
५२ जगजीवन दासजी बाणी	जगजीवनदास	१६१३ वि०
५३ चित्रमीमांसा	जगत सिंह	
५४ अनन्य सार	जतनलाल गोसाँई	१८७४ वि०
५५ जलंधरी पाव की सबदी	जलंधर नाथ	१८५५ वि०
५६ समर सार	तुरसी दास	१८५६ वि०
५७ ज्ञान दीपक	दरिया साहब	१८३०
५८ मुक्तिरत्नाकर	दलेल सिंह	१७५५ वि०
५९ दादू दयाल की बानी	दादूदयाल	१८०६
६० अष्टयाम	देवकवि	१८७७ वि०
६१ शब्दरसायन	,,	
६२ कल्प पचीसी	दयानतराय	१७८४ वि०
६३ उधव प्रसंग	धरनी दास	
६४ रसमुक्तावली	ध्रुवदासहित	१८३४
६५ लोहे सोने का बाहु	नरहरि महापात्र	
६६ रास रसलता (२३ ग्रंथों के साथ)	नागरी दास	
६७ नाथ पद मंजरी	नाथ कवि	
६८ नामदेवजी के पद	नामदेव	
६९ जगद्विनोद	पद्माकर	
७० बखनाजी की बाणी	बखना	१७९७ वि०

७१ बिहारी सतसई (जुल्फकार खां की कुं.)	जुल्फकार खाँ	१६०३ वि०
७२ रसराज	मतिराम	
७३ भक्तबछावली	मलूकदास	
७४ अंजनासुंदरी की चउपई	मुनिलाल	१६९८ वि०
७५ रज्जब जी के कवित्त	रज्जबजी	१७९७ वि०
७६ आनंद लहरी	रतन कवि	
७७ नेमनाथजी का मंगल	लाल	१८६९ वि०
७८ सुंदर श्रृंगार	सुंदर कवि	१६८८ वि०
७९ बयालिस लीला	ध्रुवदास	
८० पुहुप प्रकाश	देवेश्वर माथुर	
८१ रस रहस्य	कुलपति मिश्र	
८२ रूपबिलास	रूपसाह	१८१३ वि०
८३ स्वरोदय	चरणदात	
८४ कलि चरित्र	रमई पाठक के पुत्र वाणकवि	१६७४ वि०
८५ दस्तूर मालिका	फतहसिंह	१८८० वि०
८६ दोहासार संग्रह	दारा शाह	१७१० वि०
८७ नलपुराण	सेवाराम	१८९३ वि०
८८ बाजनामा		१८२०
८९ बूढ़ा रासो	चंदपरतिष (?)	१८३२ वि०
९० भाषाभूषण	जसवंत सिंह	१८१७ वि०
९१ मतिराम सतसई	मतिराम	
९२ मुक्ति बिलास	ताहिर कवि	
९३ रसचंद्रिका	उजियारे कवि	
९४ रसचंद्रोदय	उदयनाथ	
९५ विरहबिलास	रसनायक	१८७२
९६ सदैवच्छ सांवलिया की बात	सूरसेन	
९७ समयसार नाटक	बनारसी	
९८ जेहली जवाहर	प्राणनाथ सोती	
९९ अमृतधारा	भगवानदास निरंजनी	
१०० कवित्त रत्नाकर	सेनापति	
१०१ स्यामसगाई	नंददास	

परिशिष्ट (घ)

सभा के विशिष्ट प्रकाशन

१ भक्त नामावली
२ अकबरी दरबार ३ भागों में
३ मआसिरुलउमरा या मुगल दरबार ४ भागों में
४ हुमायूँनामा
५ भारतेंदु-ग्रंथावली भाग १, २, ३
६ चित्रावली
७ तुलसी ग्रंथावली भाग २, ३
८ कबीर ग्रंथावली
९ जायसी ग्रंथावली
१० कीर्तिलता (प्रेस में)
११ सूरसागर आठ संख्याएँ (सेट)
१२ सूरसागर संपूर्ण सस्ता संस्करण (दो भागों में)
१३ हम्मीर रासो
२९ मोहेंजोधड़ो प्रेस में
३० यूनान का इतिहास
३१ राज्यप्रबंध शिक्षा
३२ भारतीय वास्तुकला
३३ भारतीय मूर्तिकला
३४ खारवेल प्रशस्ति
३५ मुहणोत नैणसी की ख्यात २ भागों में
३६ हस्तलिखित हिंदी पुस्तकों का ५० वर्षों का विवरण
३७ हस्तलिखित हिंदी पुस्तकों का विवरण
३८ हिंदी हस्तलिखित ग्रंथों का त्रयोदश त्रैवार्षिक विवरण
१४ बुद्धचरित
१५ ढोला मारू रा दूहा
१६ बाँकीदास ग्रंथावली, तीन भागों में
१७ ब्रजनिधि ग्रंथावली
१८ रघुनाथ रूपक
१९ राजरूपक
२० पृथ्वीराज रासो (पूर्ण सेट २२ संख्या में)
२१ बीसलदेव रासो
२२ हिम्मत बहादुर विरुदावली
२३ अन्योक्ति कल्पद्रुम
२४ रामचरितमानस
२५ नंददास ग्रंथावली
२६ श्रीनिवास ग्रंथावली प्रेस में
२७ अशोक की धर्मलिपियाँ
२८ अंधकार युगीन भारत
३९ हिंदी साहित्य का इतिहास
४० रसमीमांसा
४१ द्विवेदी अभिनंद ग्रंथ
४२ श्रीसंपूर्णानंद अभिनंदन ग्रंथ
४३ भागवत संप्रदाय
४४ हिंदी शब्दसागर खंड, ९, २, ४, ५,
४५ संक्षिप्त हिंदी शब्दसागर
४६ कृषि शब्दावली
४७ रूपनिघंटु, दो भागों में,
४८ संक्षिप्त हिंदी व्याकरण
५० हिंदी रसगंगाधर
५१ ज्ञानदीपक
५२ राधाकृष्ण ग्रंथावली

परिशिष्ट (ङ)

सभा द्वारा दिये गये पुरस्कार

अब तक की सभा द्वारा पुरस्कृत पुस्तकों की सूची लेखक, पुरस्कार और पदकों के नाम सहित संवत् क्रम से निम्नलिखित हैं :—

संवत् १९७६ **प्राचीन लिपिमाला** (श्री गौरीशंकर हीराचंद ओझा) जोधसिंह पुरस्कार, गुलेरी पदक और राधाकृष्णदास पदक

१९७९ **भारतवर्ष के प्राचीन राजवंश** (श्री विश्वेश्वरनाथ रेऊ) जोधसिंह पुरस्कार, गुलेरी पदक और राधाकृष्णदास पदक

१९८० **हमारे शरीर की रचना** (डाक्टर त्रिलोकीनाथ) डाक्टर छन्नूलाल पुरस्कार, ग्रीव्स पदक और रेडिचे पदक

१९८१ **बुद्धचरित** (पं० रामचंद्र शुक्ल) रत्नाकर पुरस्कार, राधाकृष्णदास पदक

१९८३ **अजातशत्रु** (श्री जयशंकर प्रसाद) बटुक प्रसाद पुरस्कार सुधाकर पदक

१९८४ **गंगावतरण** (श्री जगन्नाथदास 'रत्नाकर') रत्नाकर (१) पुरस्कार, राधाकृष्णदास पदक

१९८५ (१) **कायाकल्प** (श्री प्रेमचंद) बटुकप्रसाद पुरस्कार, सुधाकर पदक (२) मौर्य साम्राज्य का इतिहास (श्री सत्यकेतु विद्यालंकार) जोधसिंह पुरस्कार, गुलेरी पदक और राधाकृष्णदास

१९८६ (१) **मानव शरीर रहस्य** (डाक्टर मुकुंदस्वरूप वर्मा) डाक्टर छन्नूलाल पुरस्कार और ग्रीव्स पदक ३) काव्य में रहस्यवाद (पं० रामचंद्र शुक्ल) द्विवेदी स्वर्ण पदक

१९८७ **हिंदी भाषा और साहित्य** (श्री श्यामसुंदरदास) द्विवेदी स्वर्ण पदक

१९८८ (१) **गढ़ कुंडार** (श्री वृंदावनलाल वर्मा) बटुकप्रसाद पुरस्कार, सुधाकर पदक

(२) बुद्धचर्या (श्री राहुल सांकृत्यायन) जोधसिंह पुरस्कार, गुलेरी पदक और राधाकृष्णदास पदक

(३) मातृभूमि और उसके निवासी (श्री जयचंद विद्यालंकार) द्विवेद स्वर्ण पदक

१९८९ (१) **सौर परिवार** (डाक्टर गोरखप्रसाद) डाक्टर छन्नूलाल पुरस्कार, ग्रीव्स पदक और रेडिचे पदक

(२) **गुंजन** (सुमित्रानदन पंत) द्विवेदी स्वर्ण पदक

१९९१ (१) **शिक्षा मनोविज्ञान** (श्री चंद्रावती लखनपाल एम० ए०) बलदेवदास बिडला पुरस्कार, रेडिचे पदक

(२) **तितली** (श्री जयशंकर प्रसाद) बटुकप्रसाद पुरस्कार, सुधाकर पदक
(३) **आधुनिक हिंदी साहित्य का इतिहास** (श्री कृष्णशंकर शुक्ल) द्विवेदी स्वर्णपदक

१९९२ (१) **प्रतापचरित** (श्री बारहट केसरीसिंह) रत्नाकर बलदेवदास पदक
(२) **नूरजहाँ** (श्री गुरुभक्त सिंह) 'रत्नाकर' (२, पुरस्कार, बलदेवदास पदक
(३) **क्षयरोग** (डाक्टर शंकरलाल गुप्त) डाक्टर छन्नूलाल पुरस्कार और ग्रीव्स पदक
(४) **संक्षिप्त शल्य बिज्ञान** (डाक्टर मुकुंदस्वरूप वर्मा) डाक्टर छन्नूलाल पुरस्कार, ग्रीव्स पदक
(५) **भाषा रहस्य** (श्री पद्मनारायण आचार्य) द्विवेदी स्वर्णपदक

१९९७ (१) **बाल मनोविज्ञान** (श्री लालजीराम शुक्ल) बलदेवदास बिड़ला पुरस्कार रेडिचेपदक
(२) **भारत की चित्रकला** (श्री राय कृष्णदास) द्विवेदी स्वर्णपदक

१९९८ **नारी** (श्री सियारामशरण गुप्त) बटुकप्रसाद पुरस्कार, सुधाकर पदक

२००० (१) **दैत्यवंश** (श्री हरदयालु सिंह , रत्नाकर पुरस्कार (१) राधाकृष्णदास पदक
(२) **बादली** (श्री चंद्रसिंह) रत्नाकर पुरस्कार (२) बलदेवदास पदक
(३) **सूर्य सिद्धांत** (श्री महावीरप्रसाद श्रीवास्तव) डा० छन्नूलाल पुरस्कार, ग्रीव्ज पदक
(४) **वाङ्मय विमर्श** (श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र) द्विवेदी स्वर्णपदक

२००२ (१) **भारतीय दर्शन** (श्री बलदेव उपाध्याय बिड़ला पुरस्कार, रेडिचे पदक
(२) **गणेश** श्री संपूर्णानंद) डा० हीरालाल स्वर्णपदक
(३) **स्मृति रेखाएँ** (श्री महादेवी वर्मा) द्विवेदी स्वर्णपदक
(४) **चीन और च्यांग** (श्री कमलापति त्रिपाठी) द्विवेदी स्वर्णपदक

२००४ (१) **घनआनंद और आनंदघन** (श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र) रत्नाकर पुर कार (१) राधाकृष्णदास पदक
(२) **शेखर एक जीवनी भाग २** श्री अज्ञेय) बटुकप्रसाद पुरस्कार, सुधाकर पदक
(३) **जौहर** (श्री श्यामनारायण पांडेय) द्विवेदी स्वर्णपदक

२००७ (१) **स्वप्न दर्शन** (श्री राजाराम शास्त्री) बिड़ला पुरस्कार, रेडिचे पदक
(२) **अचल मेरा कोई** (श्री वृंदावनलाल वर्मा) बटुकप्रसाद पुरस्कार (यह पुरस्कार सहृदय लेखक ने असम के भूकंप-पीड़ितों के लिये उत्सर्ग कर दिया) सुधाकर पदक
(३) **राजस्थानी भाषा** (श्री डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या) रत्नाकर पुरस्कार (२) बलदेवदास पदक

(४) **प्राचीन भारतीय शासन पद्धति** (श्री डा० अनंत सदाशिव अल-तेकर) जोधसिंह पुरस्कार, गुलेरी पदक

(५) **कुरुक्षेत्र** (श्री रामधारी सिंह 'दिनकर') द्विवेदी स्वर्णपदक

(६) **बाणभट्ट की आत्मकथा** (श्री डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी) द्विवेदी स्वर्णपदक

(७) आत्मकथा (देशरत्न डा० राजेंद्रप्रसाद जी (द्विवेदी स्वर्णपदक)

सभा द्वारा प्रदत्त अन्य पुरस्कार तथा पदक

भैरवप्रसाद पुरस्कार सं० २००२ श्री चंद्रभानु यादव
२००३ श्री प्यारेलाल
२००४ श्री रामप्रसाद कटारा
२००५ श्री भृगुनाथ सहाय

पुन्छरत पदक सं० २००४ श्री चंद्रकांत
२००५ श्री रामकुमार
२००६ श्री स्वर्णलता नागपाल
२००७ श्री जयनारायण रस्तोगी
२००८ श्री शकुंतला मल्लिक

हीरक जयंती के अवसर पर दिये गये पुरस्कार

१. रत्नाकर पुरस्कार : १ : सं० २००३।०९ तक की रचनाओं पर : पर : 'ब्रज लोक संस्कृति' ब्रज की लोक कहानियाँ पर डा० सत्येन्द्र को २०० रु० का पुरस्कार तथा साथ में श्री राधाकृष्णदास रजत पदक।

१. बिड़ला पुरस्कार : सं० २००४।०९ की रचनाओं पर : 'मनोविज्ञान और जीवन' पर श्री लालजी राम शुक्ल, काशी को २०० रु० का पुरस्कार और साथ में रेडिचे रजत पदक।

३. रत्नाकर पुरस्कार : २ : : सं० २००४।०७ : तक की रचनाओं पर : 'भोजपुरी लोक गीत' पर श्रीकृष्णदेव उपाध्याय को २०० रु० का पुरस्कार और साथ में श्री बलदेव-दास रजत पमक।

४. डा० छन्नूलाल पुरस्कार सं० २००१।०४ की रचनाओं पर 'औपसर्गिक रोग' पर श्री डा० घाणेकर को २०० रु० का पुरस्कार और साथ में श्री ग्रीब्ज रजत पदक।

५. डा० छन्नू लाल पुरस्कार : सं० सं० ५।०८ तक की रचनाओं पर : 'धातु विज्ञान' पर श्री डा० दयास्वरूप को २०० रु० का 'पुरस्कार और साथ में श्री ग्रीब्ज रजत पदक।

६. मेहता जोधसिंह पुरस्कार : सं० २००६।०९ तक की रचनाओं पर : 'भारतीय 'व्यापार का इतिहास' पर श्री कृष्णदत्त वाजपेयी को २०० रु० का पुरस्कार, साथ में श्री गुलेरी रजत पदक।

७. माधवी देवी महिला पुरस्कार : सं० २००४।०७ तक की रचनाओं पर : 'आपका मुन्ना' पर श्री सावित्री वर्मा को १०० रु० का पुरस्कार और साथ में भगवान देवी बाजोरिया पदक।

८. डा० हीरालाल स्वर्ण पदक ; सं० २००२।०४ : की रचनाओं पर : 'भारतीय वास्तुकला' पर श्री परमेश्वरी लाल गुप्त को

९. डा० हीरालाल स्वर्ण पदक : सं० २००५ ०६।०७ की रचनाओं पर : 'भारतीय सिक्के' पर श्री वासुदेव उपाध्याय को

१०. आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी स्वर्ण पदक : सं० २००६।०७ : की रनचाओं पर 'मृगनैनी' पर श्री वृंदावनलाल वर्मा को

११. आचार्य महावीरप्रसाद विवेदी स्वर्ण पदक : सं० २००८,०९ की रचनाओं पर 'रश्मिरीथ' पर श्री दिनकर को।

१२. डा० श्यामसुंदर दास पुरस्कार श्री अंबिका प्रसाद वाजपेयी को १००० रु० का पुरस्कार।

कार्याध्यक्ष का वक्तव्य

कार्याध्यक्ष का वक्तव्य

आज से साठ वर्ष पूर्व काशी नागरीप्रचारिणी सभा का जन्म हुआ था। तब से भारतवर्ष के सांस्कृतिक जीवन के सभी पक्षों में अनेक उथल पुथल और परिवर्तन हुए हैं। सभा ने हिंदी भाषा और साहित्य को अपना कार्यक्षेत्र चुना था। इस दिशा में पिछले साठ वर्षों में इसने बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य किए हैं। नाना स्थानों में बिखरे हुए हस्तलिखित ग्रंथों की खोज का काम सभा ने अपने जन्म के थोड़े दिन बाद ही अपने हाथ में लिया। इस खोज-कार्य से एक ओर जहाँ हिंदी भाषा के धारावाहिक इतिहास की सामग्री प्राप्त हुई वहाँ दूसरी ओर पिछले हजार वर्षों के उत्तर भारतीय संस्कृति और धर्म-साधना के क्षेत्र में भी अविश्रांत भाव से किए गए प्रयत्नों का स्वरूप स्पष्ट हुआ। सभा की खोज में अनेक धर्म-साधनाओं के साधकों की रचनाएँ उपलब्ध हुईं और भारतीय इतिहास को जीवंत रूप देनेवाले उपादान भी प्राप्त हुए। सभा के प्रयत्नों से अनेक साहित्य-स्रष्टा और धर्म-साधना-प्रवर्त्तक संतों के ग्रंथ सुसंपादित होकर प्रकाशित हुए। कबीर, सूरदास, तुलसीदास, नंद-दास, मलिक मुहम्मद जायसी, दादूदयाल आदि संतों की वाणी केवल हिंदी साहित्य के लिये ही गौरव की वस्तु नहीं हैं बल्कि समूचे भारतवर्ष के साहित्यिक, सांस्कृतिक और धार्मिक जीवन के गौरवभूत ग्रंथ हैं। देश ने इन महात्माओं की वाणी को इसी दृष्टि से देखा भी है। सभा ने पृथ्वीराज रासो, बीसलदेव रासो, हम्मीर रासो, राजविलास आदि ऐतिहासिक काव्यों का प्रकाशन किया और मध्ययुग के भारतीय इतिहास को नये पार्श्व से देखने की दृष्टि सुलभ की। सभा के प्रकाशित ऐतिहासिक काव्यों में से कई की प्रामाणिकता के बारे में संदेह भी किया गया, परंतु कई दृष्टियों से उनका भी ऐतिहासिक महत्त्व स्वीकार किया ही जाता है। सभा ने हिंदी शब्द-सागर जैसे विशाल कोश का निर्माण कराया और अनेक विद्वानों से व्याकरण, इतिहास, दर्शन, विज्ञान आदि विषयों पर प्रामाणिक पुस्तकें लिखाकर प्रकाशित कीं। इस प्रकार सभा ने हिंदी भाषा और साहित्य के प्रत्येक क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण योग दिया। आज के हिंदी साहित्य की बहुमुखी समृद्धि के मूल में सभा के तपस्वी कार्यकर्त्ताओं की ज्ञात और अज्ञात निष्ठा और तपस्या है।

आरंभ से ही सभा का दृष्टिकोण बहुत व्यापक था। उसने यद्यपि हिंदी भाषा और साहित्य के उन्नयन को ही प्रधान रूप से अपना लक्ष्य बनाया था, तथापि उसकी दृष्टि हिंदी भाषा में लिखी गई पोथियों तक ही सीमित नहीं थी। अशोक की धर्म-लिपियों से लेकर मध्यकालीन राजपूत इतिहास तक के संकलन और संपादन का काम उसने यथाशक्ति किया। बँगला, उर्दू आदि अन्य पार्श्ववर्ती भाषाओं से उत्तम ग्रंथों के अनुवाद का कार्य भी उसने किया और संस्कृत के भांडार से अनेक ग्रंथ-रत्नों को चुनकर उनका हिंदी रूपांतर देने का प्रयास भी किया। सब मिलाकर उसने भारतीय सांस्कृतिक जीवन का परिपूर्ण चित्र हिंदी पाठकों के सामने रखने का प्रयास किया। पिछले साठ वर्षों में सभा ने विभिन्न क्षेत्रों में जो काम किया है वह इस बात का साक्षी है।

इन पिछले साठ वर्षों में भारतवर्ष की विभिन्न प्रादेशिक भाषाओं में भी अभूतपूर्व उन्नति हुई है। वैसे तो लगभग सभी प्रादेशिक भाषाओं में नवीन साहित्य का उदय बहुत पहले हो चुका था, परंतु सभा के जन्म के पहले भारतवर्ष की सभी प्रादेशिक भाषाओं में मध्य-युग का प्रभाव बना हुआ था। विभिन्न प्रादेशिक भाषाओं में मात्रा में अंतर अवश्य था।

जब से भारतवर्ष का परिचय अँगरेजों से हुआ और उनकी भाषा अँगरेजी के माध्यम से पश्चिम में उत्पन्न हुई नवीन भाव-धारा से योग हुआ तभी से भारतवर्ष की भाषाओं में कुछ कुछ नये ढंग का साहित्य निर्मित होने लगा। बँगला इस विषय में सबसे अग्रणी भाषा थी। हिंदी के नवीन साहित्य का प्रारंभ भी कलकत्ते में ही हुआ। साहित्य में नये युग का आविर्भाव गद्य के रूप में ही हुआ। छापे की मशीन ने गद्य लिखने को प्रोत्साहन दिया और उपन्यास, निबंध, समाचारपत्रों के साहित्य तथा अन्य अनेक प्रकार के नवीन साहित्य को प्रोत्साहित किया। इस प्रकार के नये साहित्य में परिपाटी-विहित रसज्ञता और रूढ़िभूत साहित्यिक मान्यताओं के स्थान पर व्यक्ति के स्वयं-अनुभूत विचारों का प्राधान्य होता गया। समाचारपत्रों और सामयिक साहित्य के प्रकाशन की बढ़ंती के साथ साथ वैयक्तिक स्वतंत्र मान्यताओं की भी बढ़ंती होती गई। सन् ई० की १९वीं शताब्दी में यद्यपि इस नवीन चेतना का जन्म हो चुका था, किंतु उस समय भी मध्यकालीन काव्य-रूपों और अलंकारों का प्रभाव समाप्त नहीं हुआ था। उस समय भी अनेक प्रादेशिक भाषाओं के साहित्य में, गद्य और पद्य दोनों ही क्षेत्रों में, पुरानी शैली के अलंकरणों और काव्यरूपों का प्रभाव बना हुआ था। गद्य की भी कादंबरी की शैली पर लिखने की प्रथा बनी हुई थी। वस्तुतः नये उत्थान का आरंभ होने के साथ ही साथ देश भर में पुनरुत्थानवादी स्वर प्रबल हो गया था। यद्यपि वैयक्तिक स्वाधीन चिंतन का प्रवेश हमारे देश के साहित्य में प्रायः सर्वत्र हो चुका था, तथापि उसका स्वरूप स्पष्ट नहीं हो पाया था। रह रहकर हमारे साहित्यकार संस्कृत साहित्य के गद्य और पद्य में निबद्ध काव्यरूपों को अपना आदर्श मानकर उन्हीं के अनुकरण पर साहित्य रचना करने लगते थे। प्रायः सर्वत्र नाटकों, महाकाव्यों, कथा, आख्यायिका, और चंपू-काव्यों के अनुकरण पर काव्य रचना करने की प्रवृत्ति दिखाई देती है। धीरे धीरे वैयक्तिक स्वाधीनतावाले विचार ने हमारे साहित्यिकों को प्रभावित किया और उनके मन में न केवल विभिन्न काव्यरूपों के संबंध में प्रश्न उठे, बल्कि गद्य-शैली और छंदों के संबंध में भी संदेह जाग्रत हुए और परिपाटी-विहित रसज्ञता और रूढ़िभूत काव्यरूपों तथा छंदों के स्थान पर नये सिरे से सोचे हुए रूपों का प्रयोग आरंभ हुआ। परंतु यह सत्य है कि संस्कृत का महान् साहित्य हमारे देश को निरंतर प्रभावित करता रहा है। यह पूरा साहित्यिक-युग गद्ययुग कहा जा सकता है। नवीन गद्य के प्रयोगों में भी संस्कृत के गद्य रूपों का प्रभाव बहुत बाद तक सर्वत्र बना रहा। तुलना करने के उद्देश्य से पिछले साठ वर्षों के साहित्यिक प्रयत्नों के इस विवरण में संस्कृत गद्य रूपों का भी एक संक्षिप्त परिचय दे दिया गया है। पाठक देखेंगे कि दंडी, सुबंधु, बाण आदि महान् गद्यकारों की शैली का अनुकरण तो किया ही गया है, परवर्ती काल की द्वात्रिंशत्-पुत्तलिका, वेताल पंचविंशति, शुक-सप्तति आदि रचनाएँ भी १६ वीं शताब्दी के हमारे गद्यकारों को थोड़ा-बहुत चालित करती रही हैं।

परंतु यह भूलना नहीं चाहिए कि आधुनिक साहित्य में व्यक्तिगत चिंतन का प्रमुख स्थान रहा है। शुरू शुरू में हमारे साहित्यिकों में यह भाव इतना स्पष्ट नहीं हुआ था, परंतु ईसवी सन् की १९वीं शताब्दी के बाद वह अत्यंत स्पष्ट और शक्तिशाली होकर प्रकट हुआ। यूरोप में भी यद्यपि इसका जन्म बहुत पहले हो चुका था, परंतु विज्ञान और शिल्प कला की उन्नति के साथ साथ उसमें और स्पष्टता आई। वस्तुतः यह वैयक्तिक स्वाधीन चिंतन पुरानी परंपरा (कन्वेंशन) और युक्तिवाद (रीज़न) के संघर्ष का परिणाम है। परंपरा-प्राप्त रूढ़ विचारधारा जब इतनी घिस जाती है कि उसमें अपने आप चलने की शक्ति नहीं रह जाती तभी व्यक्ति में तर्क-बुद्धि जाग्रत होती है और वह सोचने लगता है कि क्या जिस लक्ष्य के लिये इन रूढ़ रूपों का प्रयोग हो रहा है वे उचित हैं ? क्या वे लक्ष्य तक ले जाने में समर्थ हैं ? क्या वर्तमान परिस्थितियों में वर्तमान काल के लिये उपयुक्त विचार-धारा को अपने लक्ष्य तक पहुँचाने में इनसे कोई सहायता मिलती है या बाधा पहुँचती है ? साहित्यकार के सामने जब ऐसे प्रश्न आते हैं तब वह परिपाटी-विहित साहित्य-रूपों को और परंपरा-प्राप्त माध्यमों को तर्क-बुद्धि की कसौटी पर कसने लगता है। इसी से नये नये काव्यरूपों का जन्म होता है, पुरानी रूढ़ मान्यताओं का त्याग होता है और साहित्य में नई शैली और नई भाव-धारा का जन्म होता है।

जैसा कि ऊपर बताया गया है, नवीन प्रादेशिक साहित्यों में इस प्रकार की नई शैली और भाव-धारा की उद्भावना आरंभ से ही दिखाई देने लगती है। तथापि मध्यकालीन-साहित्य का प्रभाव चलता रहता है। यह आश्चर्यजनक संयोग है कि सभा के जन्म के बाद समूचे भारतीय साहित्य में पहले से चले आते हुए वैयक्तिक स्वाधीन चिंतन के रूप में स्पष्टता और निखार आ जाता है। पुनरुत्थानवादी स्वर में भी परिवर्तन आता है और यद्यपि हमारे देश के साहित्यकार अपने प्राचीन गौरव से चालित होते हुए निरंतर प्रेरणा ग्रहण करते ही रहते हैं, तथापि १९ वीं शती के बाद इस प्रेरणा का स्वरूप बदलने लगता है।

१९ वीं शती के पूर्वार्द्ध में ही राजा राममोहन राय द्वारा प्रवर्तित ब्राह्म समाज का आंदोलन प्रारंभ हुआ था। ब्राह्म-समाज ने सामाजिक और धार्मिक मान्यताओं को नई दृष्टि से देखने का प्रयत्न किया और बंगाल में १६ वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में ही प्रायः सभी क्षेत्रों में परंपरा-प्राप्त विश्वासों और वैयक्तिक मनीषा का संघर्ष शुरू हो गया। इसका थोड़ा-बहुत प्रभाव प्रायः समूचे भारतवर्ष पर पड़ा और बंगाल में नये ढंग का साहित्य बड़ी तेजी से विकसित होने लगा। १६ वीं शताब्दी के बँगला साहित्य ने हिंदी साहित्य को ही नहीं अन्य अनेक प्रादेशिक साहित्यों को भी प्रभावित किया। उत्तर भारत में स्वामी दयानंद सरस्वती द्वारा प्रवर्तित आर्यसमाज ने सामाजिक और धार्मिक मान्यताओं के परंपरा-प्राप्त रूप को जबरदस्त धक्का दिया। इस आंदोलन ने जहाँ उत्तर-भारत के लोगों के चित्त में परंपरा-प्राप्त विश्वासों और स्वाधीन वैयक्तिक-मनीषा के संघर्ष का बीजारोप किया, वहाँ अनेक प्रकार की प्रचार-मूलक पुस्तकों, व्यंग्य-विनोदों, और उत्तर-प्रत्युत्तर-मूलक साहित्य की रचना करके भाषा को नई शक्ति और अभिव्यक्ति-भंगिमा से समृद्ध भी किया। इस प्रकार १६ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में उत्तर भारत की जनता के चित्त में प्राचीन मान्यताओं और नवीन विचारों का मंथन तेजी से होने लगा।

नवीन शिक्षा-पद्धति ने तो प्रत्यक्ष रूप से हमारे साहित्य को नई दिशा में चालित करने में सहायता प्रदान की। आरंभ में ईसाई मिशनरियों ने धर्म-प्रचार के उद्देश्य से शिक्षालयों की स्थापना की थी। सन् १७९७ ई० में कलकत्ते के निकटस्थ श्रीरामपुर ग्राम में विलियम केरे, मार्समैन और वार्ड ने डैनिश मिशन की स्थापना की थी और उसी समय से ईसाई धर्म-ग्रंथों का अनुवाद भिन्न-भिन्न भारतीय भाषाओं में होने लगा। इन मिशनरियों का प्रधान उद्देश्य धर्म-प्रचार करना था। बड़ी सूझ, लगन और तत्परता के साथ उन्होंने अपना काम आरंभ किया। देश की समूची जनता को उनकी रहन-सहन, रीति-रिवाज, भाषा-भाव, सामाजिक मर्यादा और धार्मिक विश्वास आदि को, गहन अध्ययन के द्वारा समझने का प्रयत्न इन ईसाइयों ने ही प्रारंभ किया। उन्होंने देश की विभिन्न भाषाओं का अध्ययन किया, उनकी लिपियों के लिये टाइप ढलवाए, देश के विभिन्न भागों में स्कूल, कालेज और चिकित्सालय इत्यादि लोकोपकारी संस्थाओं की स्थापना की और इस प्रकार भारतीय जनता को अपने अनुकूल बनाने का प्रयत्न किया। संयोग से मिशनरी विदेशी शासकों की जाति के थे, इसलिये वे बराबर जनता की शंका के ही विषय बने रहे। फिर इन ईसाई धर्म-प्रचारकों को भारतवर्ष के अत्यंत प्राचीन और समृद्ध धर्म-मत से टक्कर लेना पड़ा था, इसलिये इनका उद्देश्य तो बहुत अधिक सफल नहीं हुआ, पर अप्रत्यक्ष रूप से इन्होंने देशी भाषाओं के अध्ययन और प्रचार का मार्ग सुगम कर दिया।

शुरू-शुरू में कंपनी सरकार की इच्छा अँगरेजी भाषा के माध्यम से शिक्षा देने की नहीं थी, तथापि आगे चलकर उसे इसी भाषा का प्रचार करना पड़ा। सन् १८१३ ई० में कंपनी सरकार ने एक ऐक्ट पास किया था, जिसके अनुसार संस्कृत और फारसी शिक्षा-प्रणाली को प्रोत्साहन मिला था। राजा राममोहन राय इस ऐक्ट के विरोधी थे, वे देश में नये ढंग की शिक्षा-प्रणाली प्रचलित करना चाहते थे। वे समझते थे कि यदि पुरानी शैली की पढ़ाई जारी रही तो देश की जनता में सामाजिक सुधारों की उमंग नहीं पैदा की जा सकेगी। सन् १८१३ ई० में इंगलैंड की पार्लियामेंट ने भारतवर्ष में ज्ञान-विज्ञान की पढ़ाई के लिये जो एक लाख रुपये का अनुदान स्वीकार किया था, वह संस्कृत और फारसी की पढ़ाई पर ही खर्च किया गया। जब सन् १८३४ ई० में इन रुपयों के बारे में तत्कालीन कानून सदस्य लार्ड मेकाले की राय माँगी गई, तो उन्होंने बड़े खेद के साथ पार्लियामेंट को यह सूचना दी कि जो रुपया ज्ञान-विज्ञान की उन्नति के लिये दिया गया था, वह संस्कृत और फारसी की पिछड़ी हुई शिक्षा-प्रणाली पर खर्च करके नष्ट कर दिया गया! उनके इस कथन का बड़ा व्यापक प्रभाव पड़ा और तत्कालीन भारत-सरकार की शिक्षा-विषयक नीति में बड़ा परिवर्तन हो गया। १८३५ ई० में अँगरेजी भाषा के माध्यम से नवीन शिक्षा - प्रणाली का प्रवर्त्तन हुआ जिससे आज तक भारतवर्ष का पिंड नहीं छूट सका!

इस नवीन शिक्षा-प्रणाली ने जहाँ एक ओर भारतवर्ष के नवशिक्षितों को पुरानी परंपरा से एकदम विच्छिन्न करके अपने ही देश में अजनबी बना दिया, वहाँ इसने यूरोप में फैले हुए नवीन विचारों के लिये दरवाजा भी खोल दिया। पुरानी परंपरा से विच्छिन्न होने और अपने प्राचीन साहित्य से बिलकुल अपरिचित होने के कारण

आरंभ में नवशिक्षितों के चित्त में अपने देश के धर्म और संस्कृति के प्रति अश्रद्धा का भाव भी उदित हुआ। कई प्रतिभाशाली युवक ईसाई धर्म की ओर भी आकृष्ट हुए। उन लोगों ने नवीन चिंतन-प्रणाली और ईसाई धर्म को एक समझने की गलती की। उधर अँगरेजी सरकार की नीति सुरसा की भाँति अपना मुँह फैलाए जा रही थी, और एक के बाद दूसरे देशी राज्यों को हड़पने लगी थी। जो नये वैज्ञानिक साधन प्राप्त हुए थे, वे देश की राजसत्ता को नष्ट करने के साधन समझे गए। अंत में १८५७ ई० में भारतवासियों ने अँगरेजी सत्ता के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। परंतु यह समझना बड़ी भूल होगी कि यह विद्रोह केवल राजनीतिक संघर्ष मात्र था। वस्तुतः १९ वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध केवल परस्पर-विरोधी राजनीतिक, धार्मिक, और सामाजिक शक्तियों के केवल टकराने का ही नहीं, बल्कि एक नवीन युग के जन्म लेने का काल था। यहाँ से हमारा देश नई मोड़ पर आकर खड़ा हो गया। हमारी सामाजिक चेतना के साथ ही साथ साहित्यिक चेतना भी उद्‌बुद्ध हुई और उसने नये नये प्रयत्नों के माध्यम से अपने आपको अभिव्यक्त करने का उद्योग किया। १९ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में ही भारतवर्ष की नवीन साहित्यिक चेतना की जड़ें मजबूत हुईं। यहीं से शिक्षित समुदाय के चित्त में उस नवीन दृष्टि को पोषण मिला जिसने मनुष्य के सामाजिक और अंतर्वैयक्तिक संबंधों के मूल्यों में परिवर्तन ला दिया और धीरे धीरे पुराने संस्कारों से मुक्त उस नवीन भाव-धारा को जन्म दिया जिसने भारतवर्ष के राजनीतिक, साहित्यिक, सांस्कृतिक और धार्मिक क्षेत्रों में हलचल पैदा की। यहीं से भारतवर्ष के मनीषियों ने अपने देश को अपनी आँखों से देखने का संघटित प्रयत्न शुरू किया। भारतवर्ष के कुछ प्रदेशों में यह कार्य तो पहले भी आरंभ हो चुका था, लेकिन समूचे भारतवर्ष में प्रबल शक्ति के रूप में यह भाव-धारा १९ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में ही प्रकट हुई। इस समय तक नवीन शिक्षा - प्रणाली पर्याप्त जड़ जमा चुकी थी और भारतवर्ष के नवशिक्षित मनीषी इसके दोष - गुणों से परिचित होने लग गए थे। देश में स्वाभिमान की मात्रा जाग्रत हो चुकी थी और इन विषयों के पोषक साहित्य की रचना होने लगी थी। सभा का जन्म ऐसे ही समय में हुआ।

यद्यपि यूरोप से आनेवाले लोगों में से अधिकांश भारतवर्ष का शासन करने या उसकी जनता में ईसाई धर्म तथा संस्कृति का प्रचार करने आए थे, तथापि उनमें कई महाप्राण व्यक्ति भी थे। उन्होंने इस देश का पुराना इतिहास समझने का प्रयत्न किया। उन दिनों तक पुरानी लिपियों के अध्ययन का अभ्यास समाप्त हो चुका था। भारतवर्ष में अशोक की लिपियों का पढ़नेवाला कोई नहीं मिल सका था। बौद्ध धर्म और पाली भाषा लगभग पूर्ण रूप से भुला दी गई थी। संस्कृत की पढ़ाई के नाम पर भी कुछ थोड़ी-सी पुस्तकों का ही पठन-पाठन चालू था। यूरोप से मानवतावादी विशाल दृष्टि लेकर आए हुए कई अन्वेषकों ने इस देश की प्राचीन लिपियों की खोज की; शिलालेखों, ताम्रपत्रों और मुद्राओं पर उपलब्ध लेखों का उद्धार किया; टूहों भग्नावशेषों और खँडहरों में छितराई हुई विभिन्न सामग्रियों के द्वारा भारत के इतिहास को जीवंत रूप में गठित करने का प्रयास किया; लंका, बर्मा, स्याम, कंबोडिया, जावा, तिब्बत, चीन, मंगोलिया, तुर्किस्तान आदि प्रदेशों में छितराए हुए भारतीय अवशेषों का आकलन किया गया।

महान् बौद्ध धर्म के मूल और अनूदित ग्रंथों का संधान पाया गया; अजंता, एलोरा, बाग़ आदि की गुफाओं में प्राचीन भित्ति-चित्रों का उद्धार किया गया; साँची, भरहुत, सारनाथ, तक्षशिला, आदि से भारतीय कारीगरी के अवशेष प्राप्त किए गए और भिन्न-भिन्न स्थानों की खोज करके संस्कृत, पाली, प्राकृत, अपभ्रंश आदि के ग्रंथों का संधान प्राप्त किया गया जिनकी संख्या लगभग एक लाख तक पहुँच गई। इस प्रकार देशी और विदेशी विद्वानों के परिश्रम से १९ वीं शताब्दी के अंत में सहस्रों वर्ष के अत्यंत उज्ज्वल और गौरवपूर्ण रूप का परिचय प्राप्त हुआ। भारतवर्ष के शिक्षित मनुष्यों ने अग्रदूत होकर इस महान् गौरवशाली भारतवर्ष को देखा। कौन कहता है कि भारतवर्ष पराधीन रहने के लिये ही बना है, कौन कहता है कि भारतवर्ष अर्द्ध सभ्य और असभ्य लोगों का देश है, संसार का कौन सा देश ऐसा है जिसका इतिहास गौरव-गाथाओं से निरंतर तरंगित होनेवाला इतना बड़ा और महान् हो? जो लोग यह प्रचार कर रहे थे कि भारतवर्ष को अभी शिक्षित बनाना है, उसे शांति और व्यवस्था भेंट करनी है, उसको शासन-सूत्र संचालन करने के योग्य बनाने के लिये नई शिक्षा देनी है, उनका प्रचार फेन-बुदबुद की भाँति विलीन हो गया!

एक तरफ अँगरेजी शिक्षा से गाढ़ परिचय होने के कारण यूरोपीय देशों में जन्मी हुई नवीन राष्ट्रीयता और प्रजातंत्र के सिद्धांत इस देश के सोचने-समझनेवाले लोगों में भारतवर्ष की राजनीतिक स्वाधीनता प्राप्त करने की उमंगें जाग्रत करने लगे थे और दूसरी तरफ देश के गौरवपूर्ण इतिहास का उत्साहवर्द्धक चित्र सामने आता जाता था। इतिहास ने हमारे मनीषियों के चित्त में स्वाभिमान और गौरव का भाव जाग्रत किया, और यूरोपीय इतिहास की नवीनतम जानकारियों ने देश को स्वाधीन करने की नई उमंगें पैदा कीं। सभा के जन्म के समय ये दोनों ही बातें प्रबल भाव से भारतीय युवकों को आलोडित-विलोडित कर रही थीं। जिन नौजवानों ने इस सभा की स्थापना की उनके चित्त में भी भारतवर्ष के प्राचीन गौरव का उत्साह-वर्द्धक चित्र था और अपने देश में अपनी भाषा और अपनी संस्कृति को युगानुरूप शक्ति से संपन्न बनाने की उमंग थी। साहित्य में नाना भाव से प्राचीन गौरव-बोध जाग्रत होता रहा। शुरू शुरू में तो राजपूताने की वीर-दर्प-पूर्ण कहानियाँ और चुने हुए पौराणिक चरित्र ही साहित्य को प्रेरणा देने का काम करते रहे पर १९ वीं शताब्दी के अंतिम भाग में मौर्य और गुप्तकाल ने साहित्यिकों को अधिक प्रभावित किया। मध्ययुग के इतिहास में राणा प्रताप, छत्रपति शिवाजी आदि वीरों ने भी साहित्यकारों के चित्त को प्रेरणा दी। इस प्रकार १९ वीं शताब्दी के अंतिम अंश में समूचा भारतवर्ष अपने प्राचीन इतिहास के गौरव से उल्लसित था और अपने को पराधीनता के पाश से मुक्त करने के लिये संसार में श्रेष्ठ राष्ट्रों के समान संमानार्ह पद प्राप्त करने को व्याकुल था।

यहाँ यह भी समझ लेना चाहिए कि इस समय यूरोप में जो प्रबल ज्ञान-पिपासा जाग्रत हो उठी थी उसने नाना देश में फैली हुई, सभ्यता के नाना स्तरों पर विराजमान मानव-मंडलियों के रीति-रस्म, आचार-विचार आदि का निपुण अध्ययन प्राप्त किया, समुद्रों, जंगलों, पहाड़ों और रेगिस्तानों में पाए जानेवाले जीव-जंतु और पेड़-पौधों के विषय में

जानकारी संग्रह की, और इस प्रकार सारे भूमंडल में फैली हुई प्राणधारा को उचित परिपार्श्व में रखकर समझने का प्रयास किया। यूरोप में १६ वीं शताब्दी में अनेक महाप्राण विचारक उत्पन्न हुए। उपलब्ध ज्ञान-राशि ने उन्हें अत्यंत उदार और सहृदय बना दिया। दो बातें निश्चित रूप से स्वीकार कर ली गईं, एक तो यह कि दुनियाँ का सब कुछ क्रमशः विकसित होता आ रहा है। कुछ भी वैसा ही नहीं बनकर आया जैसा आज दीख रहा है। इस सिद्धांत ने यूरोप को उस मध्यकालीन मनोवृत्ति से मुक्त किया जो आप्त वाक्यों और धर्म-गुरुओं के निर्देशों से चालित हो रही थी। ज्ञान-विज्ञान की प्रत्येक शाखा का अध्ययन इस विकास-क्रम के अनुसार होने लगा। धर्म और ईश्वर भी इस लपेट से नहीं बचे। दूसरा प्रधान विश्वास यह था कि मनुष्य-जीवन का चरम लक्ष्य उसे परलोक में सुखी बनाना नहीं है, बल्कि इसी मर्त्यलोक में इसी नश्वर काया के भीतर उसे रोग-शोक और नाना विपदाओं के चंगुल से छुड़ाना ही है। मनुष्य इस संसार का सर्वश्रेष्ठ जीव है। भारतवर्ष में जो नवीन शिक्षा प्रणाली प्रवर्तित हुई थी वह इन दो विचारों से पूर्ण रूप से प्रभावित थी। इस शिक्षा-पद्धति से पढ़े हुए लोग मनुष्य की महिमा में अपार विश्वास लेकर विद्यालयों से निकले थे। कई बार यह विश्वास उनके चित्त में अनजान रूप में ही काम करता रहा। प्राचीन धर्म-भावना में मनुष्य को परलोक में सुखी बनाने की इच्छा थी। नई मानवता पर आधारित धर्म-भावना में मनुष्य को नश्वर काया में सुखी देखने की लालसा थी। धीरे धीरे नवशिक्षितों में प्रच्छन्न रूप से एक ऐसी दृष्टि विकसित हुई जो पुरानी धर्म-भावना के प्रतिकूल जाती थी। अब मंदिर और धर्मशाला बनवाने के स्थान पर स्कूल, कालेज और अस्पताल बनवाने को अधिक उत्तम माना जाने लगा; विधवा-विवाह और अछूतोद्धार की ओर सहानुभूति उत्पन्न होने लगी; वृद्ध-विवाह, बाल-विवाह और अनमेल विवाह आदि को व्यंग्य और कटाक्ष का विषय माना जाने लगा। सभी प्रादेशिक भाषाओं के साहित्य में इस प्रकार की भाव-धारा परिलक्षित होती है। सभा के जन्मकाल के समय देश के सोचने-समझनेवाले जन-समुदाय में सामाजिक कुरीतियों को समूल नष्ट करने की उमंग भी दिखाई देती है। साहित्य में उसका प्रतिफलन भी हुआ है।

इस प्रकार सभा के जन्म के समय देश को प्राचीन गौरव के पद पर प्रतिष्ठित करने, देश-वासियों को नवीन ज्ञान-विज्ञान से परिचित बनाने, सामाजिक कुरीतियों को समूल नष्ट करने और देश को पराधीनता के पाश से मुक्त करने की उमंग पूर्ण मात्रा में थी। सभा के जन्म के बाद की लगभग आधी शताब्दी देशवासियों के भयंकर संघर्ष की कहानी है। स्वाधीनता प्राप्त करने का आंदोलन भी पहले पहल बंगाल से शुरू हुआ और देखते देखते समूचे देश में व्याप्त हो गया। इन पचास वर्षों के साहित्य में भारतवर्ष के संमुख सबसे बड़ी समस्या विदेशी सत्ता को उखाड़ फेंकने की थी। हमारे देश के साहित्यकारों ने पूरी ताकत लगाकर स्वतंत्रता के युद्ध के लिये मर मिटने की प्रेरणा जगाई, परंतु आंतरिक समस्याओं को वे कभी नहीं भूले। वे समाज को कमजोर बनानेवाली कुरीतियों को नष्ट करने का वातावरण भी प्रस्तुत करते रहे। नाटकों, कहानियों, कविताओं, व्याख्यानों संपादकीय मंतव्यों और निबंधों के माध्यम से वे जनता में आत्म-शुद्धि का संदेश प्रचारित

करते रहे, और साथ ही साथ देश के सबसे बड़े कलंक पराधीनता को समाप्त करने की प्रेरणा भी देते रहे।

सभा की इस हीरक जयंती के अवसर पर जब हम पिछले साठ वर्षों के इतिहास को देखते हैं और उसमें सहस्रों छोटे बड़े साहित्यकारों को देश के कोने कोने में प्रेरणा संचारित करते देखते हैं तो रोमांच हो आता है। कितनी विकट तपस्या की है इन साहित्यकारों ने! कई बार निर्धन और निरन्न रहकर भी ऐसे महाप्राण साहित्य की सृष्टि की है जिसे देखकर चकित रह जाना पड़ता है। साहित्यिकों के संघर्ष का पिछले साठ वर्षों का इतिहास एक रोमांचकर कहानी है। विघ्नों और बाधाओं से निरंतर जूझते रहने वाले और प्रायः सब ओर से उपेक्षित साहित्यकारों ने तपस्या की आग में अपनी ही आहुति दे-देकर देशवासियों को अंधकार में भटकने से बचाया। उन्होंने देश की आत्मा को निरंतर तेजोदृप्त बनाया है, देशवासियों को आशा के उज्ज्वल संदेश सुनाए हैं, उदात्त और अविस्मरणीय चरित्रों की सृष्टि करके दृढ़ता से खड़े रहने योग्य चरित्र-भूमि प्रस्तुत की है, और देश और विदेश में जितने भी काव्य-रूप प्रचलित हुए हैं उन्हें अपनी अपनी मातृभाषाओं में ले आने का उल्लासकर प्रयत्न किया है। हीरक जयंती के अवसर पर सभा ने समूचे भारतवर्ष के साहित्यिक इतिहास का सिंहावलोकन करने का जो प्रयास किया है, उससे इसी महिमा-मंडित कहानी का चित्र उभरा है। पाठक अपने देश के साहित्यिक मनीषियों के विविध प्रयत्नों से परिचित होकर इसी प्रेरणादायक कहानी को और स्पष्ट रूप से हृदयंगम करेंगे।

इस सामग्री को जुटाने में कई मित्रों ने दिल खोलकर सहायता दी है। कई हिंदीतर भाषा के साहित्यिकों ने स्वयं हिंदी में अपना वक्तव्य लिखकर दिया है, और कई लोगों ने अपनी मातृभाषा में ही लिखा है। हमने उनका हिंदी अनुवाद करा लिया है। इन सब सहृदय लेखकों के प्रति हम अपनी आंतरिक कृतज्ञता प्रकट करते हैं। उनके इन प्रयत्नों से भारतवर्ष के पिछले साठ वर्षों के साहित्यिक गौरव की पूरी झलक मिल जाती है। यह प्रयत्न अभी आरंभिक ही है, इसलिये इसमें दोष, त्रुटियों का रह जाना स्वाभाविक ही है। फिर भी यथासंभव शुद्ध और प्रामाणिक विवरण देने का प्रयत्न किया गया है। मेरे मित्र डा० श्रीकृष्णलाल और प्रो० करुणापति त्रिपाठी ने बड़ी तत्परता और लगन के साथ इस ग्रंथ का संपादन किया है। ये लोग तो अपने परम आत्मीय ही हैं, इन्हें धन्यवाद देने में भी संकोच हो रहा है। एक बार मैं फिर उन सभी सहृदय मित्रों के प्रति आभार प्रकट करता हूँ जिनकी सहायता से यह महान् कार्य संपन्न हुआ।

मध्यप्रदेश की सरकार ने इस ग्रंथ को प्रकाशित करने के लिये पाँच हजार रुपए की उदार सहायता दी है, यदि यह सहायता समय पर न मिल गई होती, तो हमें ग्रंथ के प्रकाशन में कठिनाई होती। इस उदार सहायता के लिये हम मध्य-प्रदेशीय सरकार के प्रति हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करते हैं।

काशी :
२८ वैशाख, सं० २०११ वि०

हजारीप्रसाद द्विवेदी
कार्याध्यक्ष

संस्कृत गद्य—उसके प्रतीक

[श्री सूर्यकांत]

विद्वानों का मत है कि साहित्य में गद्य की अपेक्षा पद्य का आविर्भाव पहले हुआ है; और भिन्न भिन्न देशों में प्राप्त होनेवाले साहित्य से इस बात की पुष्टि भी होती है। ईसा से पूर्व २००० बरस से ६०० बरस तक के युग में प्राचीन बेबिलोनियन, हिताइत, एसीरियन तथा अर्वाचीन बेबिलोनियन में रचा गया गिल्गमिश महाकाव्य छंदों में है; और ग्रीस के इलियड तथा ओडेस्सी महाकाव्य, जिनकी रचना होमर ने ईसा से पूर्व लगभग आठवीं शती में की थी, दोनों पद्यबद्ध हैं। नार्वे की प्रख्यात प्राचीन रचना 'दि एल्डर एड्डा' और इंगलंड का पुराना वीरकाव्य 'बियोवुल्फ' छंदों में है; और यही बात लागू होती है फ्रांस, जर्मनी, रूस तथा अन्य देशों के प्राचीन साहित्य पर। इतिहास की दृष्टि से कहा जा सकता है कि साहित्य का शैशव पद्य की मनोरम कड़ियों में बीता है।

हम आस्तिक लोग अपने वेदों को अपौरुषेय एवं अनादि मानते हैं और सचमुच भाषा तथा वस्तुतत्त्व की दृष्टि से साहित्य-जगत् में वेद हैं भी सुतरां विलक्षण। उनकी इस सहज विलक्षणता को ही साहित्यिक भाषा में 'अपौरुषेयता' कहा जा सकता है। अपौरुषेय शब्द की साहित्यिक अभिव्यंजना पर ध्यान न देकर शब्द-शास्त्रियों तथा मीमांसकों ने ध्वन्यात्मक वेद की अपौरुषेयता एवं नित्यता पर फक्किकाएँ रच डालीं और शब्द के स्फोटात्मा को सामने रखकर वेद की शब्दराशि तथा उसकी आनुपूर्वी तक को नित्य-सतत सिद्ध करने का ऊहापोह प्रवर्तित कर दिया। किंतु इस गहन दृष्टि से विचार करने पर तो विश्व का शब्दजात नित्य ठहरता है और सभी रचनाओं की आनुपूर्वी नित्य-सतत सिद्ध हो जाती है। किंतु साहित्य के मधुवर्षी क्षेत्र में तर्कबालु का प्रसार अवांछनीय है; और यदि हम वेदों को, उनके शाश्वत वस्तुतत्त्व तथा उनकी व्यापक अभिव्यंजकता की दृष्टि से ही अपौरुषेय मान लें तो भी उनकी महत्ता में किसी प्रकार की न्यूनता नहीं आने पाती।

कुछ भी हो हमारे वेद-सविता भी पद्य-रश्मियों में अनुस्यूत होकर ही धराधाम पर उतरे हैं; और भाषा तथा वस्तुतत्त्व की दृष्टि से उनसे कुछ कुछ मिलनेवाली ईरान की प्राचीन अवेस्तन गाथाएँ भी साहित्य-पुरुष के पद्य-पाणि द्वारा आकुंचित होकर ही मुखरित हो पाई हैं।

संसार के किसी भी साहित्यासारी देश को ले लीजिए—सभी जगह साहित्य का आविर्भाव पद्य में हुआ दीख पड़ेगा और ऐसा होना था भी नितरां स्वाभाविक; क्योंकि साहित्य कहते ही "सान्द्र आवेगों के द्रवित मुखरण" को हैं; और भावना तथा आवेगों का द्रवण जैसा पद्य की संगीतमय लहरियों में होता है वैसा गद्य में नहीं।

निश्चय ही आदि मानव-युगलों को इस असीम विश्व-प्रपंच को देख महान् विस्मय हुआ होगा और निश्चय ही मायामय सत्ता-तरु के मधुर फल को खाकर उनके मन में एक

दूसरे के मनोरम चिह्नों को देख एक विस्मय और टीस-भरे स्नेह की लहरी बही होगी — आदिमानव के इन्हीं विस्मय-वेदना-मय आवेगों के संहित मुखरण को हम 'पद्य' कहा करते हैं।

शास्त्र कहते हैं कि इस असीम विश्व-प्रपंच का उद्गम प्रकृति और पुरुष के प्रणय-पाश में है, जब कि तांत्रिक आगम इसे कामखिन्न विराट् पुरुष के सहजात प्रणय का उन्मेष बताता है। तांत्रिकों की दृष्टि में प्रणय के उन्मेष एवं परिपाक के लिये एक बंधन-विंदु अपेक्षित है, एक परिधि अथवा उपाधि की अपेक्षा है, जिसके आकार में ढलकर ही विराट् पुरुष अपनी विराट् वासना को साकार बनाता है। विराट् पुरुष के इसी साकार भाव को हम 'रचना' या 'सृष्टि' कहते हैं। और क्योंकि रचना नाम ही 'बंधन में बँधने' का है इसलिये मानव की साहित्यिक रचना का उदय भी पद्य की परिधि में ही होना स्वाभाविक है। पद्य की परिधि में आवृत होकर शब्द-मणि द्रवित हो उठता है और उसके अंतस् में निहित वस्तुतत्त्व शतधा मुखरित हो जाता है।

साहित्यिक मर्म की दृष्टि से यदि यह प्रक्रिया अन्य देशों की भाषाओं पर पचास प्रतिशत लागू होती है तो हमारे देश की सुर-भारती पर शत-प्रतिशत; क्योंकि हमारा तो जीवन ही आदिकाल से आध्यात्मिक एवं साहित्यिक रहता आया है। फलतः हम देखते हैं कि हमारी सुरभारती न केवल अपनी एक विशिष्ट रसवाही आनुपूर्वी को लेकर वेद की पद्य-मय सरणि में प्रवाहित हुई है, अपितु उसका एक एक शब्द एक अलबेली अदा के साथ संघ-टित होकर पद्यमय संपन्न हुआ है। उदाहरण के लिये दुग्धवर्षी 'जीमूत' को ले लीजिए। 'जीमूत' का अर्थ है काला भारी बादल, जिसमें बिजली झमकती हो और जो अब गिरा, अब बरसा ऐसा दीख पड़ता हो। कितना व्यापक अर्थ है, किंतु शब्द कितना छोटा और गँठा बँधा! अब आइए इसकी कवित्वमयी योजना पर। 'ज्या' का अर्थ है धनुष की मौर्वी और 'मीव्' धातु का अर्थ है 'फेंकना, धक्का देना'। स्वरस्तरण (Vowel Gradation) के अनुसार 'या' 'ई' में बदल जाता है और ईव् का ऊ में परिवर्तन 'सूत्र' और 'मूत्र' में देखा गया है, जिनकी व्युत्पत्ति सीव् तथा मीव् धातु से है। समूचे जीमूत का अर्थ हुआ 'वह (बादल), जिसमें (धनुष की) मौर्वी कौंदती हो।' आकाश के इंद्रधनुष की डोरी बिजली है—आशय हुआ, बादल, जिसमें बिजली कौंदती हो। वैदिक भारती के किसी भी प्रसन्न-गंभीर अभिव्यंजक शब्द को ले लीजिए, उसमें आपको भावों का एक अनोखा ही आसार छलछलाता मिलेगा; एक अजीब जादू अथवा माया मिलेगी जिसे उघाड़ते चले जाइए, आप पार न पायँगे। अभिव्यंजना की इसी गरिमा के आधार पर हम अपने वेदों को अपौरुषेय कहा करते हैं।

चारों संहिताओं में ऋग्वेद तो समग्र ही पद्य में है और सामवेद के पूर्वार्चिक तथा उत्तरार्चिक में वे पद्यबद्ध ऋचाएँ संकलित हैं, जो विभिन्न अवसरों पर विविध सामों (लयों) के रूप में गाई जाती हैं। सामवेद की अपनी निजू संपत् बहुत थोड़ी है, केवल ७८ मंत्र इसके अपने हैं। शेष सब कुछ इसे ऋग्वेद से मिला है।

ऋग्वेद की आयु पर बहुत कुछ लिखा जा चुका है, किंतु सूरज की उम्र किस मर्त्य ने आँकी है और आदि मनु की आयु का लेखा जोखा किस भृगु ने रखा है? कहावत

है कि मार्कंडेय, व्यास और हनुमान् कभी मरते नहीं, अलबत्ता बूढ़े वे सदा चलते ही रहते हैं। यह एक अनोखा उपलक्षण है जो हमारी जाति की दार्शनिक साहित्यिकता को ख्यापित करता है। वसिष्ठ, विश्वामित्र आदि ऋषि इन लोगों से कहीं प्राचीन हैं। उनका दिन फिर किस मानव ने देखा है?

ऋग्वेद में आता है कि वरुण ने एक दिन वसिष्ठ को नौका में चिटा दिया। वसिष्ठ ने समुद्र में खूब सैर की, मनमाने हिलोरे लिए; चलते-चलते वह वरुण के सहस्रद्वार प्रासाद पर जा पहुँचा। वहाँ चारों ओर सुवर्ण ही सुवर्ण था; चारों ओर आमोद, प्रमोद, आनंद और उन्माद खिलखिला रहा था। उन्माद के उस उन्मेष में वसिष्ठ हक्काबक्का रह गया। सुंदर वर्णन है। हो सकता है एक रूपक हो; हो सकता है ध्रुवदेशीय उषा की ओर यह एक इशारा हो; संभव है इसका संकेत मनु के जलप्लावन की ओर हो। किंतु इन बातों से वेद की आयु का क्या ताल्लुक? वह तो इन घटनाओं से कहीं परे है। ऐतिहासिक आधार पर वेद की आयु को कूतना दिन में तारे ढूँढ़ना है।

हाँ, भाषा का पल्ला भारी है; और वैदिक भारती का ईरान की अवेस्तन के साथ संतुलन करने पर कुछ विद्वान् वेद को ईसा से दो तीन सहस्र बरस पहले का बताते हैं। किंतु भाषा एक अजीब लचकीली देन है, जो जाति-जाति के साथ अपनी विशेषता लिए हुए है। ग्रीक में भारी परिवर्तन हुए हैं और जल्दी जल्दी हुए हैं। योरप की अन्य भाषाओं में भी परिवर्तन आशुगामी दीखे हैं। वैदिक भारती पर यह बात किस सीमा तक लागू हो सकती है इस बात को हम आज भी गवेषण के लिये छोड़ देते हैं।

भाव और भाषा दोनों की दृष्टि से वेद की आयु अनिश्चित रहने पर भी कहा जा सकता है कि भारत-योरपीय साहित्य में वेद सबसे प्राचीन है, और यद्यपि भाषा की दृष्टि से ऋग्वेद की अपेक्षा अथर्ववेद भले ही कुछ अर्वाचीन हो, तथापि इसके कुछ वस्तु-तत्त्व यदि ऋग्वेद से प्राचीन नहीं तो उससे अर्वाचीन भी नहीं हैं। इस अथर्ववेद में वैदिक गद्य का आभास मिल जाता है, जो यजुर्वेद में आनेवाले गद्य द्वारा उपबृंहित होकर उत्तरवर्ती साहित्य में प्रसरण करता है।

निश्चय ही अथर्ववेद के गद्य को गीति की कूक नहीं मिली और निश्चय ही इसके कलेवर पर पद्य की ओप-उदोत भी नहीं; किंतु इसका जीवन अपना एक निजू जीवन है, जिसमें भावना की अपेक्षा साधना की अर्चना और उड़ान की जगह उत्थान और चलन की प्रवृत्ति है। पद्य के संहत जव को खोकर भले ही यह मितद्रु बन गया है, किंतु इन कमियों को इसने अपनी व्यावहारिक उपादेयता के द्वारा पूरा कर लिया है।

ऋग्वेद से हटते ही आप अमरों के ऋत-लोक से खिसक मर्त्यों के धराधाम पर उतर आते हैं; और आपकी बोली-चाली भी कुछ कुछ छितरा सी जाती है। अब आपके पंख कट जाते और पैर गतिमान् बन जाते हैं; और आप एक ऐसी जगती में विचरने लगते हैं, जहाँ चारों ओर यज्ञ का वितान फैला हुआ है और जहाँ का खिसियाया-सा मानव अपनी खोई शेवधि को आंतरिक प्रतिभा और संगीतियों के द्वारा नहीं अपितु कर्मकांड के द्वारा, नानाविध श्रौत तथा गृह्य पद्धतियों के द्वारा हस्तगत करना चाहता है।

यज्ञ तो वह ऋग्वेद के जमाने में भी करता ही था, किंतु उस यज्ञ में उसको उन सभी उषःकालीन प्रवृत्तियों का प्रसार जागृत था जो पार्थिव जीवन को स्वर्णिल बना दिया करती हैं, जो मानव को भौतिक जगत् में विचरने पर भी उत्तान खड़ा किए रहती हैं—उसकी ये प्रवृत्तियाँ यज्ञ युग में सीमित होने लगती हैं और वह एक ऐसा जाल बुनने में खो जाता है, जो देवताओं को फाँसने की जगह स्वयं उसे ही फाँस लेता है। यह भला हो चाहे बुरा इससे क्या बहस ? इसमें सूक्ष्मता के स्थान में स्थूलता है; यहाँ भावना के स्थान में कायिक व्यापार है। मानव की ये सारी ही स्फुरणाएँ उसकी वाणी में साकार हो जाया करती हैं—और इसीलिये वेद का गद्य उसके पद्य की अपेक्षा कुछ स्थूल किंतु व्यावहारिक दृष्टि से उपादेय सिद्ध हुआ है।

हमारी धरती की धूप और चाँदनी में अपनी ही प्रखरता और आह्लादकता है। हमारे देश की नदियाँ जब बहने पर उतरती हैं तब धरती अंबर एक कर देती हैं और ऐसी टापें मारती हैं कि हाथी भी इनके आगे हो लेते हैं। हमारे देश के हिमवान् की चोटी पर इतिहास में तेनसिंह ने पहली बार कदम रखा है। भारत के अणु को अणु-भेदी यंत्र द्वारा फोड़िए तो वह विश्व-भेदी घोष में चीख उठेगा "अतिशय, अतिशय, और अतिशयोक्ति"।

अपने अतिशयोन्मुख जीवन में जब हम यज्ञमन्या बनकर यागानुष्ठान की ओर अग्रसर हुए तब हमने भौतिक जगत् की चर्चा भुला दी और यज्ञ यागादि के अगणित उपकरणों की अर्चना में ही विराट् पुरुष के वैभव की इतिश्री देख डाली। अतिशयोक्ति के उत्कर्ष में आकर हमने चमस द्वारा पूरब की ओर वेदि में घी डालने पर पूर्व दिशा पर आधिपत्य स्थापित कर लिया और उत्तर दिशा की ओर घी डालने पर उत्तर दिशा के कैलाश पर विजय हासिल कर ली। और हमारे शास्त्रियों ने हमारी इस अतिशयोक्ति को अर्थवाद का नाम देकर इसकी अर्चना की और हम बे सिर-पैर की ऊहाओं की ऐसी भ्रमि में फँस गए कि अब अकेले हम रह गए और हमारा कर्मकांड रह गया। तभी तो पतंजलि ने एक स्थान पर ऐसे सूत्रों का संकेत किया है जिन्हें बाबा आरंभ करते थे और पोते परिपूर्ण करते थे। जीवन की कितनी भव्य सतत प्रवृत्ति थी यह इस देश के कर्मकांडी कवियों की, किंतु कितनी अबोध निवृत्ति थी यह इन नवरत्नों के धराधाम के हिरण्मय वैभव और उत्कर्ष से ? प्रवृत्ति के इस अतिशय में ही इस देश की याग प्रक्रिया का वितान हुआ और इस सारी ही याग प्रक्रिया का विवेचन वैदिक गद्य के द्वारा संपन्न हुआ, जो हमारे ब्राह्मण ग्रंथों में अपने प्रसन्न-गंभीर निखरे रूप में प्राप्त होता है।

मैंने हाल ही इस धरती की निजू देन अतिशायी प्रवृत्ति की ओर संकेत किया था। इसके साथ ही हमारी एक और चिरसंगिनी विशेषता जागरूक रहती आई है—वह है हमारी प्रतीपगामिता अर्थात् एक साथ दो प्रतीपी दिशाओं की ओर अग्रसर होने की टेव। और सचमुच जहाँ एक यागवितान के ऊहापोह में हमने भारती की कलम सदा के लिये तोड़ दी वहाँ दूसरी ओर इसके अमित विस्तार को संक्षिप्त सूत्रों की पिटारी में बंद करने में भी हमने कमाल कर दिखाया। एक साथ अतुल विस्तार तथा लघुतम संक्षेप का ऐसा पेशल उदाहरण संसार में नहीं मिलता।

हमारी श्रौत तथा गृह्य पद्धतियों का विवेचन करनेवाले ये सभी सूत्र गद्य में निकले हैं; किंतु इनका गद्य समाधिस्थ होकर कुछ कुछ पद्य के पीछे चला है, जिसमें अनपेक्षित शब्दाडंबर का आटोप नहीं और जिसमें संघटन तथा संघात की प्रक्रिया परिनिष्ठित होकर साकार बन गई है।

ब्राह्मण ग्रंथों के गद्य की अपेक्षा सूत्र ग्रंथों का गद्य इसीलिये कुछ कठिन सा, कुछ जरूरत से ज्यादा ठोस, गठीला और उस पहलवान जैसा संपन्न हुआ है जो देखने में तो कुछ बौना और भौंडा-सा है किंतु मार जिसकी गजब की तीखी, तरेरी और जादू की-सी है।

भाषा और भाव दोनों की दृष्टि से विद्वानों ने शतपथ ब्राह्मण को अन्य ब्राह्मणों से अर्वाचीन बताया है और संभवतः आंशिक रूप से उनकी यह ऊहा ठीक भी हो। आंशिक रूप से इसलिये कहता हूँ कि मुझे आज भी इस बात के मानने में हिचक सी है कि कोई भी ब्राह्मण हमारे संमुख अपने मौलिक रूप में आ पाया है या नहीं। उम्र चाहे शतपथ की कुछ भी हो, वस्तु-तत्त्व में इसके एक प्रकार की नवीनता एवं प्रौढ़ता है; और इसमें मनु के जलप्लावन का संक्षिप्त वर्णन आता है, जो तरतीब और संक्षेप की दृष्टि से अपने उन सभी रूपांतरों से प्राचीन ठहरता है जो कि हमें 'अत्राखसिस' तथा गिल्गमिश आख्यानों के रूप में उपलब्ध होते हैं।

अत्राखसिस तथा गिल्गमिश आख्यानों से शतपथीय जलप्लावन का उपाख्यान प्राचीन हो या अर्वाचीन, भारतीय साहित्य में यह निःसंदेह सबसे पुराना है। इसमें मत्स्यदेव मनु को भविष्य में आनेवाले जलप्लावन की चेतावनी देकर उसे एक नौका के निर्माण तथा इसके द्वारा अपनी रक्षा करने का सुझाव देते हैं। जलप्रलय की भविष्य-वाणी सही उतरती है और समग्र सृष्टि जलमग्न हो जाती है। एकमात्र मनु अपनी रची नौका में बैठकर बच जाता है। इसी नौका के द्वारा वह हिमालय के शिखर पर जा पहुँचता है। तरणी को शैल-शिखर से बाँधकर मनु यज्ञ करता है। यज्ञ में डाली गई आहुति से एक वपुषी उभर आती है। इडा, इरा अथवा इला इसी वपुषी के नाम हैं। मनु और इडा मिलकर मानव-संतति का युग प्रवर्तित करते हैं।

मनोरम उपाख्यान है; और पौराणिक दृष्टि से संसृति के उद्गम का सारा ही सार इसमें आ जाता है। मनु! इडा! संसृति! इनके अनोखे संगम से भारत में अनेकानेक उपाख्यान प्रवर्तित हुए हैं और उनकी कलामय नीराजना में अनेक कविपुंगवों ने अपनी वाणी को साकार बनाया है। हिंदी के अमर कवि जयशंकर 'प्रसाद' की कामायनी का प्रसर्ग इसी अमरकंटक पर हुआ है और इसी आदिम उपाख्यान की गरिमा ने उनकी रचना को अमर बनाया है।

शतपथीय गद्य की कतिपय विशेषताओं की ओर संकेत कर देना अप्रासंगिक न होगा। जहाँ आदिम मंत्रद्रष्टाओं के उन्मेष सुतरां स्वच्छंद एवं नानामुख थे वहाँ उन्हें मुखरित करने की उनकी भाषा भी उतनी ही स्वच्छंद, सबल एवं नानारूपा थी। कारण यह था कि वैदिक मानव का 'ऋत' एक गतिशील मौलिक तत्व था—जिसे चीनी में 'टेओ' और बुद्धिज्म में 'धम्म' कहते हैं—इस 'ऋत' को जीभ देनेवाली वैदिक भारती भी सूनृता

(= सु + ऋता) और विश्वरूपा थी। फलतः वेद में हमें 'कृ' धातु के 'करोति' आदि रूपों के साथ साथ 'कृणोति' आदि रूप अधिक संख्या में मिलते हैं; और जहाँ पाणिनीय धातु-पाठ में 'शी' और 'इण्' धातु केवल अदादिगण में परिपठित हैं वहाँ वेद में 'शीञ्' के 'शयते' आदि भ्वादिगणीय रूप और 'इण्' के 'इनोति, ऐनोत्' आदि स्वादिगणीय रूप भी पर्याप्त संख्या में मिलते हैं। रूपों की यह आजादी और विविधता धातुपाठ की अपेक्षा प्रातिपदिकों के क्षेत्र में और भी अधिक फलवती होकर खिल उठती है क्योंकि भारतीय दर्शन ने क्रिया की अपेक्षा कर्ता को हमेशा तरजीह दी है; उनकी दृष्टि में क्रिया कर्ता ही का प्रसार मात्र है, जैसे कि यह असीम रचना विराट् पुरुष ही का विकार या विवर्त मात्र है।

वेद की भाषा-विषयक स्वतंत्रता शतपथ में पहुँचकर कुंठित हो जाती है; और अब आर्यों की 'विश्वरूपा गौ' पर एक प्रकार का सांद्र-गहन आवरण पड़ने लगता है, जो उसके उग्र वपुष् को और उसके सहजात तवस्, त्वरा और सौंदर्य को ढक-सा लेता है। और ऐसा होना था भी स्वाभाविक ही—क्योंकि शतपथीय भारती का विकास उत्तर-पश्चिम के वाज-प्रधान (= अश्वसंपन्न) सैंधव (सिंधुनदीय) प्रदेशों में न होकर पूरब की स्वप्नालु धरती पर हुआ है; और उसमें हमें स्वप्न और सुस्ती की वही खुमारी दीख पड़ती है जो गंगा से पूरब की ओर की धरती की सदा से अपनी निजू संपत्ति रहती आई है। फलतः शतपथ में पहुँचकर वेद की ऋतंभरा भारती चोजभरी चंचला षोडशी न रहकर चालीस बरस की प्रौढ़ा रमणी बन जाती है, जिसके अशेष आवेग और इंगित पूरी तरह से सध चुके हैं और जो मंथर गति से एक नायक-विशेष की ओर एक शैली-विशेष के साथ अभिसार के लिये अग्रसर होती है।

उम्र भर जाने पर भी शातपथी भारती को कभी कभी अपना बालापन सता जाता है और रभसा उसके मुँह से 'बिभरासै', 'अतिवर्धै', 'अभ्यवहरासि', 'आपद्यासै', 'अन्ववसर्पासि', 'ईषाते', 'छैत्सीत्', और 'पिब्दमाना' जैसे स्वच्छंद प्रयोग निकल जाते हैं। निश्चय ही शतपथ की भारती जीवन के उस स्तर पर आ पहुँची है जहाँ कि एक कनीज माता-पिता की तीक्ष्ण नजरों के नीचे आकर अपने चितचोर से दूर सरकती है, किंतु फिर भी आँख चुराकर उसे पी ही लेती है। शातपथी भारती के डग आज भी यहाँ-वहाँ तिरछे पड़ जाते हैं और वह भागती-दौड़ती उत्तम पुरुष के बहुवचन में 'मः' के साथ 'मसि', और प्रथम पुरुष के एक-वचन में 'ते' के साथ केवल 'ए' भी बोल जाती है। उसके मुँह से 'ध्वम्' के साथ 'ध्व' और लोट् के मध्यमपुरुषैकवचन में 'हि' के साथ 'ध्वात्' और 'धि' भी निकल जाता है। 'तुम्' के साथ 'तवै' और 'त्वा' के साथ 'त्वी' और 'त्वाय' भी उसे याद आ जाते हैं। अकारांत शब्दों के तृतीयैकवचन में 'ए' के साथ 'आ', प्रथमा-द्वितीया के द्विवचन में 'औ' के साथ–'आ', बहुवचन में–'आनि' के साथ–'आ' और–'आसः', तृतीया के बहुवचन में–ऐः के साथ–एभिः, षष्ठी बहुवचन में–आनाम् के साथ–आम् और नकारांत शब्दों की सप्तमी के एकवचन में–नि के साथ–अन् भी शतपथ में कभी-कभी मिल ही जाते हैं।

ये और ऐसे ही कतिपय अन्य प्रयोग हमें शतपथ में जहाँ-तहाँ मिल जाते हैं जो वैदिक सूतरी की उस आजाद जिंदगी की याद दिला देते हैं, जब कि वह सभी प्रकार के

बंधनों से बरी थी और अब मंत्रद्रष्टा उसकी इन अदाओं को एक अल्हड़ षोडशी की अठखेलियाँ समझ बाग-बाग हो जाया करते थे और इष्ट की प्रशंसा के गीत गाते हुए अमर बन जाया करते थे।

ब्राह्मण ग्रंथों के अनंतर उनके अनुबंधी आरण्यकों में भी कहीं-कहीं भाषा-स्वातंत्र्य की झलक मिल जाती है, किंतु आरण्यकों में पहुँचकर वैदिक भारती अपनी स्वच्छंद मुद्रा को खो-सी बैठी है; और खो भी क्यों न देती? आखिर आरण्यकों में पहुँचकर भारत का आर्य अपनी ग्रीक नृम्णता और व्यावहारिकता को भुलाकर तितिक्षु वैरागी का बाना भर लेता है, जो जगत् की लोकसंग्रहात्मक प्रवृत्ति तक को एक प्रकार का वृजिन समझ उससे उपरत हो अरण्यों में बसेरा ढूँढ़ता और वहाँ के निविड, निर्जीव नीडों में आत्मिक सौख्य की ऊहा करता है।

ब्राह्मण और आरण्यकों के आत्म-खोजी खंड ही उनसे पृथक् होकर उपनिषद् बन जाते और अपने ही समान इतर उपनिषदों का चक्र प्रवर्तित करते हैं। इन उपनिषदों के द्वारा ही ब्राह्मण साहित्य उत्तरवर्ती साहित्य में प्रसरण करता है।

उपनिषदों में पहुँचकर भारत के आर्य का सहजात अल्हड़पन एकदम खो जाता है; और अब वह आर्जीक सोम के हरित-पीत तिरमिराते बिंदुओं को देख उन्हें रथयुग् अश्वों की उपमा न देकर उनमें सिकता का आभास देखने लगता है, और कुछ और आगे चलकर सारे ही विश्व प्रपंच को ब्रह्म का विवर्त मान, उसे शुक्ति में रजत का अध्यास बता, चिरंतनी नानारूप सत्ता के मूल पर ही कुठारपात कर देता है। भौतिक प्रपंच से इस प्रकार ऊबे हुए साधक के लिये यज्ञयागादि भी अपना महत्व खो बैठते हैं और अब उनके छायारूप की ऐसी अनोखी मीमांसा प्रवर्तित होती है, जो सूक्ष्म गवेषणा और गहन तत्त्वज्ञान में अपनी उपमा अपने आप ठहरती है।

आरोप, अध्यास और विवर्त की यह भ्रमि क्रूरता के साथ अपना रूप पसारती है और अब भारतीय आर्य का न केवल कर्मकांड ही सूक्ष्म शरीर में पिहित हो जाता है अपितु उसकी समृद्ध भारती भी अपने ऋत-धर्म को भुलाकर सुसंयत संस्कृत भाषा बन जाती है। अब हमें उसके प्रसार में रूपों का वह वैभव नहीं मिलता, जिसके कारण वैदिक ऋषि इसे 'विश्वरूपा गौ' कहकर रिझाते थे और जो सुम्नायु उषा का अवतार होते ही नानारूप बन-कर आर्यों के हर द्वार में प्रतिध्वनित हो उठती थी।

तैत्तिरीय उपनिषद् में शिष्य के प्रति आचार्य का उपदेश और ब्रह्म के स्वरूप का निरूपण अनूठा संपन्न हुआ है और बृहदारण्यक उपनिषद् में आत्मा के स्वरूप और महत्व के संबंध में याज्ञवल्क्य और मैत्रेयी का संवाद तत्त्वज्ञान की हिमावृत कोटि पर जा पहुँचा है। मृत्यु और उससे बचने के साधनों में त्याग और तितिक्षा की गरिमा गाई गई है और जगत् के दृश्यमान रूप और क्रियाकलाप का माया की सर्चलाइट में कुछ ऐसा छितराता-सा निदर्शन किया गया है जो उत्तरवर्ती दार्शनिक एवं धार्मिक साहित्य की लोकालोक आधारशिला बनकर जगत् के साहित्य में प्रपंचित हुआ है।

उपनिषदों के गद्य पर ध्यान देने से यह झलक जाता है कि उनके स्तर पर पहुँच-कर पूर्व-निर्दिष्ट वैदिक रूप तत्त्वतः लुप्त हो गए हैं और ऋषियों की भारती अब सचमुच

भाषा अर्थात् संस्कृत बन गई है। किंतु फिर भी औपनिषद् गद्य शैली की दृष्टि से स्वच्छंद और स्वाभाविक है; इसमें आख्यात रूपों की सुंदर छटा है, पदों की पुनरुक्ति रुचिकर है और लंबे लंबे समासों का प्रायः अभाव है।

विशाल वैदिक वाङ्मय शनैः शनैः विविध शाखा-प्रशाखाओं में पल्लवित होता गया, यहाँ तक कि पतंजलि के युग में वैदिक शाखाएँ हजारों तक जा पहुँची क्योंकि नाम मात्र की उच्चारण-च्युति हो जाने पर भी मूलभूत वेदतरु से पार्थक्य हो जाता था; और क्योंकि प्रवक्ता एक प्रौढ़ मंत्रद्रष्टा होता था इसलिये वह अपनी त्रुटि को त्रुटि न मानकर अपनी एक पृथक् शाखा चला देता था; और उसकी शाखा कालक्रमानुसार एक अच्छा खासा पंथ बन जाती थी।

वेदतरु की और उक्त प्रकार से पल्लवित हुई उसकी शाखा-प्रशाखाओं की सुरक्षा के निमित्त बहुविध प्रातिशाख्यों की उद्भावना की गई, जिनमें उच्चारण, संधि, छंद, स्वर तथा इसी प्रकार के अन्य उपकरणों पर मार्मिक प्रकाश डाला गया और अक्षर-ब्रह्म की ऐसी अनूठी आराधना की गई जो अपनी व्यापकता और गहनता की दृष्टि से संसार में सदा के लिये आदर्श बन गई।

वेदों के प्रातिशाख्य शिक्षा-रूप व्याकरण के साथ-साथ लौकिक व्याकरण का परिष्कार चलता रहा जो ईसा से लगभग ५०० बरस पहले भगवान् पाणिनि की अष्टाध्यायी में परिनिष्ठा को प्राप्त हुआ। औदव्रजि, शाकटायन और स्फोटायन जैसे आचार्यों के परस्परातिशायी व्याकरण भाषा की अर्चना करते-करते यास्क के निरुक्त में लौकिक और वैदिक दोनों प्रकार के व्याकरणों का समन्वित मार्ग दिखा चुके थे—पाणिनि ने अपने अष्टध्यायी में लौकिक और वैदिक दोनों ही प्रक्रियाओं का निरूपण करके यास्क की सरणि को चार चाँद लगाए और अपनी अपौरुषेय प्रतिभा द्वारा विश्वरूपा भारती के अगणित रूप-रूपांतरों की इतनी संक्षिप्त किंतु इतनी अधिक गहन मीमांसा की कि उनकी रचना के संमुख सारे ही पूर्ववर्ती व्याकरण फीके पड़ गए और उन सब के तिरोहित हो जाने पर संस्कृत जगत् में—क्या भारत में और क्या संस्कृताधिकृत अन्य देशों में—पाणिनि की अष्टाध्यायी की शाश्वत काल के लिये गहरी छाप बैठ गई।

दाक्षीपुत्र भगवान् पाणिनि की रचना शिष्ट जगत् में कल्पकल्पांतरों के लिये अमर बनकर अवतीर्ण हुई और इसने अपने सुघटित दूरभेदी नियमों के द्वारा भारती को सदा के लिये ऐसी शृंखला में बाँध दिया कि अब उसका हर उन्मेष-निमेष गिना जाने लगा और वह बिचारी सदा के लिये घर की पालतू मैना बन गई।

पाणिनि पर कात्यायन ने कुछ वार्तिक रचे और ईसा से पूर्व लगभग तीसरी शती में पतंजलि ने पाणिनि के सूत्रों और कात्यायन ने वार्तिकों पर महाभाष्य की रचना की जो गद्य की दृष्टि से एक आदर्श रचना संपन्न हुई।

पतंजलि ने पाणिनि को भगवान् कहकर पुकारा है और उन्होंने पाणिनि के अक्षर अक्षर की सफलता तथा चरितार्थता ख्यापित करके ही अपने जीवन को धन्य बनाया है। यही कारण है कि उनके विशाल महाभाष्य में एक भी प्रयोग ऐसा नहीं मिलता जो पाणिनि

की अष्टाध्यायी के विपरीत हो अथवा जिसमें उनके सामकादि संकेतों में से किसी एक की भी अवहेलना की गई हो।

गद्य की दृष्टि से परम परिष्कृत महाभाष्य अपने वस्तुतत्त्व की दृष्टि से भी भारत की भद्रतम निधि रहता आया है। इसी परम पुनीत सततवाही प्रस्रोत से भारत की उत्तरवर्ती व्याकरण-सरिता समृद्ध होकर बहती रही है और इसी में निष्णात हुए स्नातक को भौतिक सुख और पारलौकिक सौख्य का आश्वासन दिया गया है।

व्याकरण के पठन-पाठन को अनिवार्य घोषित करते समय पतंजलि ने उसका उत्तम उपयोग शुद्ध प्रयोगों का उचित प्रयोग बताया है और एलान किया है कि 'हेरयो हेरयः' के स्थान में 'हेलयो हेलयः' बोलने पर कुछ लोग जाति से छेके गए थे और असुर कहलाए थे—यदि हम लोग भी उन्हीं की भाषा का अशुद्ध प्रयोग करेंगे तो हम भी म्लेच्छ बन जायँगे।

पंतजलि के इस चलते संकेत में पाली तथा पैशाची आदि सभी भाषाओं के उद्‌गम का सार निहित है—क्योंकि यह सच ही है कि संस्कृत से च्युत हुई भाषा ही आगे चलकर पाली (ग्रामीण) भाषा बनी और पाली से भी कुछ च्युत हो जाने पर पैशाची का आविर्भाव हुआ। पतंजलि के अनुसार असुर, म्लेच्छ अथवा पिशाच कोई जाति-विशेष नहीं, अपितु अशुद्ध उच्चारण करनेवाला हर व्यक्ति असुर, म्लेच्छ अथवा पिशाच बन सकता है। अपकृष्ट उच्चारण करनेवाले व्यक्तियों की भाषा ही पैशाची है—यही कारण है कि पैशाची के हेमचंद्र-निर्दिष्ट लक्षण यदि उत्तर-पश्चिम भारत में मिलते हैं तो उसी संख्या में दक्षिण भारत में भी उनका चलन मौजूद है।

पतंजलि के कथनानुसार व्याकरण का काम भाषा को घड़ना नहीं, अपितु शिष्टों में प्रचलित हुई शब्द-राशि का विवरण करना है। यह एक सुनहरा सिद्धांत है, जिसपर यदि आज हम हिंदी भाषा-भाषी चलें तो राष्ट्रभाषा का भारी उपकार कर सकते हैं—क्योंकि आज हममें से बहुतों में हिंदी को घड़ने की प्रवृत्ति बलवती होती दीख रही है, और यदि किसी भाषा को किसी बात ने जिंदा ही मारा है तो वह है भाषा को घड़ने का गंदा सिद्धांत। अस्तु, शिष्टों में प्रचलित इसी संस्कृत के चलते गद्य में पतंजलि ने अपने महाभाष्य की रचना की है; यही कारण है कि उनका गद्य गजब का प्रांजल, प्रसर्पी एवं अभिव्यंजनशील संपन्न हुआ है। इसके वाक्य छोटे छोटे मोती जैसे विशद एवं सारगर्भ हैं। इसके क्रियापदों की उठ बैठ देखते ही बनती है और इसके सारे ही नामिक देश की प्रचलित भाषा से चुने गए हैं। अपने गद्य में पतंजलि ने न तो अवांछनीय संक्षेप का सहारा लिया है और न श्रुतिमधुर समासों को ही आने दिया है।

पतंजलि के व्याकरण विषयक कथन से यह बात झलक जाती है कि उनके समय में शिष्ट समाज में संस्कृत का चोखा चलन था और भद्र लोग संस्कृत को बोल और समझ लेते थे। इस प्रकार के शिष्ट समाज में संस्कृत के नाटकों और उसमें लिखी प्रशस्तियों का चलन कुछ अचरज की बात नहीं है; फलतः पतंजलि के काल के लगभग हमें संस्कृत के काव्यमय गद्य का अवतार होता दीख जाता है।

सरलता के बाद परिष्कार का युग आया ही करता है, किंतु पतंजलि के बाद परिष्कार की प्रथा ने एक अजीब रुख पलटा और शनैः शनैः संस्कृत के लिखाड़ियों की प्रवृत्ति नियमन, तनूकरण और अपाकरण की ओर तेजी से बढ़ी; यहाँ तक कि अंत में संस्कृत और प्राकृतों के प्रयोग को वर्ग, लिंग और प्रदेश के आधार पर निर्धारित किया जाने लगा और संस्कृत की शब्दराशि में से आख्यातों को निकाल उनकी जगह नामिक अपनाए जाने लगे। विभक्तियाँ झाड़ दी गईं और उनका काम लंबे-लंबे समास देने लगे।

अलंकारों का मनोरम संविधान तो वैदिक ऋचाओं में भी जगह जगह मिलता है; और हमारी बोलचाल की भाषा में प्रयुक्त होनेवाले रुचिर अलंकार वैदिक मंत्रों में जगह जगह अँगूठी में नगों की न्याईं सजे मिलते हैं। किंतु अलंकारों के इस विधान में खोज और प्रयास की गंध तक नहीं। ये तो परिंदों की न्याईं मंत्रद्रष्टाओं के प्रतिभा-मंच से अनायास ही आ उतरे हैं। पतंजलि के बाद और उनके द्वारा निर्दिष्ट वाररुच आदि पद्यमय काव्यों के अनंतर लिखाड़ियों की आँख अलंकारों की खोज में रहने लगी।

पतंजलि के गद्य में और इन प्रशस्तियों के गद्य में आकाश-पाताल का अंतर है। कहा जा सकता है कि इस भेद का कारण दोनों के विषय का मौलिक अंतर है; किंतु ध्यान देने योग्य बात यह है कि जहाँ पतंजलि के गद्य में आख्यात पर्याप्त संख्या में उपलब्ध होते हैं वहाँ प्रशस्तियों के गद्य में वे प्रायः चल बसे हैं और उनका यह स्थान नामिक शैली ने ले लिया है। विभक्तियाँ इसमें ढूँढ़े ही मिलती हैं; अब उनका काम लंबे लंबे समास देने लगे हैं। देवताद्वंद्व और बहुव्रीहि तो ऋग्वेद में भी मिलते हैं और पर्याप्त संख्या में मिलते हैं; किंतु दो देवताओं के द्वंद्व के रूप में और दो शब्दों के बहुव्रीहि के रूप में; इसके विपरीत प्रशस्तियों के गद्य में दस दस शब्दों को एक ही द्वंद्व में टाँग दिया गया है और बहुव्रीहि समासों में तो मनमाने शब्दव्रीहि भर दिए गए हैं।

इन ऐतिहासिक गद्यकाव्यों की परंपरा हिंदू युग में चिरकाल तक चलती रही। इन प्रशस्तियों में आश्रयदाता सामंत को किसी ऐतिह्यप्रसिद्ध गाथानायक के समान दिव्य एवं चमत्कारी गुणों से अलंकृत करके उसका यशोगान किया जाता था और उसकी यशः-ख्यापना के उद्रेक में ऐतिहासिक तथ्यों की अवहेलना कर दी जाती थी।

हरिषेण का गद्य-गुच्छ स्पष्ट रूप से शब्दाडंबर-बहुला रचना शैली का राजदूत है। आगे चलकर दंडी, सुबंधु तथा बाण की प्रौढ़ रचनाओं में यही शैली परिनिष्ठा लाभ करती है। संभवतः इन्हीं प्रशस्तियों से रूढ़िबद्ध काव्यों के घटक तत्त्व कथा-साहित्य में अवतीर्ण हुए, जिनके कारण कथा-साहित्य की मौलिक सरलता में, जो कि उनका निजू गुण रहता आया था, मार्मिक परिवर्तन उपस्थित हुआ। यह बात गुणाढ्य के ग्रंथ-निर्देशों से झलक जाती है, जो कि अपनी कथा का सरल, स्वाभाविक तथा क्षिप्र गति से प्रतिपादन करता है। इसके विपरीत उसके दोनों ही रूपांतरकारों ने अपनी उर्वर प्रतिभा का उपयोग वर्णन के विस्तार-प्रपंच में ही करके संतोष लाभ किया है। दंडी स्पष्ट रूप से इस सिद्धांत का नेतृत्व कर रहा है कि काव्य में कथा-संवाहन एक, केवल एक, गौण अस्थिपंजर है और काव्य की वास्तविक सारवस्तु वर्णन की प्ररोचना है।

आख्यायिका और कथा के पारस्परिक भेद के संबंध में बहुत कुछ कहा गया है। यह माना जाता है कि आख्यायिका न्यूनाधिक रूप में एक गंभीर रचना है जो अनुभूति के तथ्यों का प्रतिवेदन करती है। इसमें कुछ कुछ आत्मकथा की पद्धति और रूढ़ या अर्ध-ऐतिहासिक रुचिरता का पुट भी रहता है। इसके विपरीत कथा तो मौलिक रूप से काल्पनिक वृत्तांत का प्रतिवेदन करती है। कभी कभी इसके वर्णन में उत्तम पुरुष का प्रयोग रहता है, किंतु निश्चय ही इसकी रोचकता का प्रमुख उपकरण कथानक के आविष्करण में है। सच पूछिए तो कहानी आखिर है ही कहानी। हर्षचरित जैसी ऐतिहासिक रचना में भी अत्यंत चमत्कृत वर्णन और अलंकारबहुला शैली इतिहास के सूक्ष्म तंतु को सचमुच तनुता की पराकाष्ठा पर पहुँचा देती है।

दंडी-रचित दशकुमार के एक संदर्भ का उन्मेष विश्रुत की कहानी में होता है किंतु ग्रंथकार ने इस कथानक को अधूरा ही छोड़ दिया है। दशकुमारचरित नाम से आभास होता है कि इस ग्रंथ में दस राजकुमारों के वीरोचित उद्योगों का वर्णन होगा, किंतु दंडी की अपनी रचना आठ उच्छ्वासों में आठ ही कुमारों के चरित का वर्णन करती है। इसकी पीठिका भी असंबद्ध-सी है। इसीलिये इसके प्रारंभ में पूर्व पीठिका जोड़ी गई है, जिसमें न केवल कथानकों के मुख्य ढाँचे का दिग्दर्शन कराया गया है, अपितु दो और राजकुमारों की विलुप्त कथाओं का भी निर्देशन कराया गया है। अंत में उत्तर पीठिका दंडी के ग्रंथ के अंतिम उच्छ्वास में अधूरी छोड़ी हुई विश्रुत की कथा की पूर्ति करती है।

दंडी के परम पेशल गद्यकाव्य में जो बात स्पष्ट रूप से झलकती है वह है, इस कवि की यथार्थता की धारणा। और सचमुच दंडी की इसी धारणा ने उसे काव्य की एक चिरंतन परंपरा का उल्लंघन करने के लिये प्रेरित किया, जिसके अनुसार गद्यकाव्य में भी किसी उदात्त विषय का प्रतिवेदन होना चाहिए और उसका नायक भी शालीन, धीर एवं लोकातीत गुणों से अलंकृत व्यक्ति होना चाहिए। और इसीलिये जैसा कि हमारी लहू मांस की इस दुनिया के अनुरूप है—दशकुमारचरित की कथाओं में जूआ, सेंध मारना, छल, कपट, कूट, आरोप, हिंसा, परदारापहरण और अवैध प्रेम आदि का स्थान स्थान पर उल्लेख आता है, जो कि दंडी के लिये किसी प्रकार भी लज्जा की बात नहीं; क्योंकि ये सभी प्रवृत्तियाँ हमारे निशदिन के इस संसार में हमारे सहजात आवेगों का परिणाम हैं, जिनसे हम बचने पर भी बच नहीं पाते और जिनमें फँसकर भी हम दुनिया के इस धंधे को आगे बढ़ाते रहते हैं।

हाँ, तत्त्वतः तथ्यात्मक होने पर भी दंडी का संसार सचमुच निराला है; यही एक ऐसा काल्पनिक चित्र है, जिसे जादू और मंत्र के ब्रश से चीता गया है और यही दो उपकरण हमारी स्वप्नालु धरती के चिरंतन सहकारी रहते आए हैं। फलतः हमें दशकुमार चरित में एक अंजन मिलता है, जिसके लगाते ही आदमी कोको (अदृश्य) बन जाता है; एक बंदी की बेड़ियाँ अछरी बन जाती हैं और एक ऐंद्रजालिक के छूमंतर से अछरियाँ अचेतन सो जाती हैं। सचमुच यह सब कुछ इस देश की चिरंतन देन है और ये बातें प्रायः सभी देशों के इस विद्या के साहित्य में जहाँ तहाँ मिलती हैं। अथर्ववेद में प्रस्वाजादूपक का

निर्देश है और साथ ही कुछ ऐसे वशीकरणों का संकेत है, जो इस देश के रमते रामों के पास बहुधा मिला करते हैं। दंडी ने इन सभी का उपयोग निराले ढंग से किया है। उसने हमें एक सांद्र रोचक साहित्यिक रचना दी है, जिसमें यथार्थ और अयथार्थ का, तथ्य और कल्पना का बड़ा ही मनोरम संमिश्रण हुआ है।

और यदि दंडी अपने प्रणयाख्यानकों को जीवन की यथार्थता से सजीव बनाने में सफल हुए तो इसका श्रेय उनकी चरित्रचित्रण की अनुपम क्षमता को है। इसी के सहारे उनके कल्पना-खचित रंगमंच के साधारण पात्र भी जीवन की यथार्थता से झिलमिला उठे हैं। यह बात नवयुवक राजा अनंतवर्मा और उसके अनन्य हितचिंतक मंत्री वसुरक्षित के चित्रण से स्पष्ट हो जाती है। अनंतवर्मा वसुरक्षित की उपेक्षा करता है—इसलिये कि अमात्य का क्षेम-परामर्श उसे अपनी अभिरुचि की पहुँच के बाहर दीख पड़ता है। इसी प्रकार मंदमति किंतु वाचाल विहारभद्र का चित्रण है, जिसकी जादूभरी मंत्रणा राजा और राज्य दोनों के मूलोच्छेद का कारण बनती है।

समग्र ग्रंथ में ओत-प्रोत हास्य, वाक्पटुता एवं उन्मेष की उर्वरता के साथ साथ दंडी में जीवन के अपावरण की क्षमता भी अभीष्ट मात्रा में विद्यमान है। उसमें लावण्य, सौष्ठव और सामनस्य भी प्रचुर मात्रा में है और यही एक सफल कलाकर के उपकरण होते हैं। सामंजस्य एवं सौष्ठव की मानसिक सज्जा से प्रेरणा लेकर दंडी ने अपने कथानकों को इस प्रकार क्रमबद्ध किया है कि वे सर्वथा न्याय्य, सुसंगत एवं सुसंघटित गुलदस्ते बन गए हैं। उनके प्रतिवेदन में उसका गद्य पूर्णतया समर्थ हुआ है।

दंडी के गद्य का विन्यास सुसंहत एवं सोपपत्तिक है; अभिव्यंजना उसमें जगह-जगह फूटी पड़ती है; और यही एक उपकरण है, जो कलाकार की आकृति को पाताल से निकाल-कर धरती पर ला सजाता है। दंडी कभी कभी साहित्यिक प्रसाधन तथा अलंकरण में भी फँस जाता है, किंतु उसकी ये कलाबाजियाँ प्रभावशाली, परिच्छिन्न एवं प्ररोचक बन पड़ी हैं, दुरूह और अरुचिकर नहीं। सुललित एवं अभिव्यंजक गद्य के लेखन में दंडी निष्णात हो चुका है; और उसकी एकमात्र रचना कला से चमत्कृत सामाजिक चुनौतियों के कारण एक अति महान् तथा भव्य रचना के रूप में संपन्न हुई है।

दंडी ने यह सब कुछ किया और उसकी करामात इससे भी कहीं अधिक है। किंतु उसके हाथ में आकर संस्कृत गद्य की क्या गति हुई? मिलाइए उसके किसी भी एक वाक्य को पतंजलि के गद्य की छोटी-छोटी मीठी मोरियों के साथ। आप अवाक् रह जायँगे इस अंतर को देखकर—एक ओर मोटे मोटे खिले गेंदे की ठोककर बुनी हुई माला और दूसरी ओर चमेली, जूही, मौलसरी और अधखिली गुलाब की कलियों की रसभीनी माला। लंबे लंबे समासों में पाठक खो-सा जाता है, समासों के इस महामरु में आख्यात-जल का स्रोत तो कहीं पन्नों बाद जाकर हाथ लगता है।

कहा जा चुका है कि दंडी भारतीय गद्य-साहित्य के उस युग के राजदूत बनकर आए थे जिसमें प्रतिपाद्य विषय की अपेक्षा प्रतिपादन के बाह्य घटकों की छानबीन पर अधिक ध्यान दिया जाने लगा था और जब कि काव्य का प्रधान अवलंब क्षिप्रवेदी आत्मा न रहकर

श्रोत्रेंद्रिय बन गई थी। परिवर्तन के इसी युग में अलंकारशास्त्रियों ने यह सिद्धांत स्थिर किया कि गद्य-काव्य का उत्कर्ष शब्द-विन्यास के सौष्ठव, वर्णन की प्ररोचना, अलंकारों की छटा, दीर्घ और समस्त पदों की निवेश-चातुरी, वाक्यों के संहत विस्तार और ध्वनि तथा ध्वन्य के साटोप स्वनन और उत्थान-पतन में निगूढ़ है। इस प्रकार के गद्य काव्य की छटा अपने निरिक्त रूप में हमें सबंधु की वासवदत्ता में मिलती है जहाँ वर्णन की प्रचुरता ने वस्तु-तत्व के तनु-तंतु को इतना ढक लिया है कि हमें उर्दू का निम्नलिखित शेर याद आ जाता है—

इंतहाए लागरी से जब नजर आया न मैं।
हँस के वो कहने लगे बिस्तर को झाड़ा चाहिए॥

सुबंधु की यह प्रतिज्ञा "प्रत्यक्षरश्लेषमयप्रपञ्चविन्यासवैदग्धनिधिं प्रबंधम्" उनकी प्रवृत्ति को स्पष्ट कर देती है, जो इस बात की घोषणा करती है कि सुबंधु का ध्येय वस्तु-तंतु को लेकर उसके सहारे अलंकारों का झिलमिलाता मखमली थान प्रस्तुत करता था।

दंडी की शैली का प्रकृष्ट उद्रेक हमें हर्षचरित तथा कादंबरी के निर्माता महाकवि बाण में उपलब्ध होता है, जिन्होंने अपनी सदा नवोन्मेषिणी प्रतिभा के द्वारा इसमें चार चाँद लगा दिए और अपनी कादंबरी में संस्कृत गद्य को उत्कर्ष की उस पराकाष्ठा पर पहुँचा दिया जहाँ वाणी और अर्थ मिलकर एक हो जाते हैं और दोनों का पल्ला एक दूसरे से भारी दीखा करता है।

बाण के जीवन की कुछ छितराती झाँकियाँ हमें हर्षचरित के पहले दो उच्छ्वासों में मिलती हैं। इनमें बाण ने अपने शाही आश्रयदाता महाराज हर्षवर्धन के वर्णन में अपना और अपने परिवार का कुछ संकेत किया है। बाण वात्स्यायन-गोत्रीय ब्राह्मण था। अपने वंशवृक्ष का उद्भव उसने वत्स से बताया है और उनके दिव्य गुणों की ओर भी थोड़ा सा संकेत किया है। वत्स को उसने दधीचि और सरस्वती के पुत्र शारद्वत का पितृश्वसेय कहा है। इसी वंश में एक कुबेर का भी उल्लेख है, जिसकी गुप्त-वंशीय राजाओं में खासी आव-भगत थी। कुबेर का सबसे छोटा पुत्र पाशुपत था। पाशुपत का पुत्र अर्थपति और अर्थपति के अनेक पुत्रों में से एक चित्रभानु था, जो बाण का पिता था। ये लोग हिरण्यबाहु या शोण नदी के तट पर प्रीतिकूट में रहा करते थे। बचपन में ही बाण की माता का देहांत हो गया। पिता भी चल बसे। अब बाण इधर-उधर भटकने लगा और बुरी सोहबत में पड़ गया, अंत में आचारच्युत एवं बदनाम होकर जीवन के अनुभव प्राप्त करके वह घर लौटा और एकांततः अध्ययन में जुट गया।

एक बार अजिरवती नदी के तट पर मणितारा नगर के निकट महाराज हर्षवर्धन अपने शिविर में उतरे हुए थे। वहाँ पर बाण को न्यौता गया। पहले तो उसका कुछ उपेक्षित-सा स्वागत हुआ, किंतु बाद में वह महाराज का विश्वसभाजन बन गया। कुछ दिन बाद जब बाण घर लौटा तब उसके संबंधियों ने उससे महाराज के संबंध में कुछ सुनाने को कहा। बाण ने अपनी कथा यह कहकर आरंभ की कि महाराज हर्षवर्धन के गुणों का ठीक ठीक लेखा सुनाना असंभव है। आगे के पाँच उच्छ्वासों में हर्ष का चरित कहा गया है, परंतु इसे अधूरा ही छोड़ दिया गया है। कदाचित् बाण का विचार ही इसे

पूरा करने का न रहा हो—क्योंकि वह साफ कहता है कि 'हर्ष के पराक्रमपूर्ण उद्योगों की पूरी कथा को मैं जन्म-जन्मांतरों में भी पूरा करने की आशा नहीं करता।' बाण के इसी एक वाक्य से उसकी काव्यकला संबंधी मनोवृत्ति झलक जाती है।

हर्षचरित का कथानक स्थाण्वीश्वर और वहाँ के महामहिम सामंतों के वर्णन से आरंभ होता है। ये राजा पुष्यभूति के वंशधर थे और इन्हीं में से हर्ष के पिता प्रभाकरवर्धन जन्मे थे। हर्ष के बड़े भाई राज्यवर्धन थे और उनकी बहिन राज्यश्री का परिणय कान्य-कुब्जों के मौखरी-वंशीय राजा ग्रहवर्मा से हुआ था। इसके अनंतर प्रभाकरवर्धन की बीमारी और उनकी मृत्यु का कारुणिक चित्रण है, जिसमें हूणों के साथ टक्कर लेने के बाद बहादुर राजा राज्यवर्धन के घर लौटने और पिता की मृत्यु के बाद राजगद्दी पर न बैठने का निर्बंध दिखाने पर रानी यशोवती के चितारोहण ने दर्द भरी सांद्रता पैदा कर दी है। इससे पहले कि हर्ष राजगद्दी पर बैठता, दूसरे अनभ्र वज्रपात का समाचार आ पहुँचता है कि मालवराज ने ग्रहवर्मा को मारकर राज्यश्री को बंदी बना लिया है। राज्यवर्धन मालवराज पर चढ़ाई करता है और उसे युद्ध में हरा देता है; किंतु गौडराज धोखा करके उसे मार गिराता है। तदनंदर हर्षवर्धन राज्यश्री को छुड़ाने के लिये निकलता है। किंतु इसी बीच राज्यश्री बंदीघर से स्वयं बच निकलती है और एक बौद्ध भिक्षु उसकी देखभाल करता है। जब हर्ष और राज्यश्री का मिलाप होता है और राज्यश्री आपबीती सुना रही होती है, तब बीच में ही ग्रंथ सहसा समाप्त हो जाता है। इस प्रकार हमें हर्षचरित में न तो हर्षवर्धन के पिछले जीवन का कोई इतिवृत्त मिलता है और न बाण के ही जीवन की कोई निश्चित सूचना।

स्मरण रहे—हर्ष और राज्यश्री का क्षेम-संमिलन हो जाने पर सहसा ग्रंथ समाप्त कर देने में ही बाण के दर्शन तथा कला-कौशल का पर्यवसान है—क्योंकि भाई-बहिन का यह संमिलन पुरुष और प्रकृति के उस निष्पाप संमिलन का प्रतीक है, जो कि एक विवेकी साधक के अंतरात्मा में, उसके काम-कर्दम में से गुजरने के पश्चात्, विवेक-सविता का उदय होने पर, संपन्न होता है, और इसके संपन्न हो जाने पर जगती के विवर्त का बंद हो जाना ही मानव धर्म की इतिश्री है। अपने ग्रंथ को इसी विंदु पर पूरा करके बाण ने भारतीय दर्शन की अनोखी गरिमा का परिचय दे दिया है।

साहित्यिक होने के साथ-साथ बाण पहुँचे हुए दार्शनिक भी थे; और उनकी दृष्टि में जगती के असंख्य व्यक्तियों की सत्ता ब्रह्म-समष्टि का विवर्त मात्र थी। बाण का परम ध्येय तो इन व्यक्तियों के पीछे प्रवर्तमान सच्चिदानंद समष्टि की उद्भावना करना था, जिसका स्फोटात्मक विकास यदि बोलती व्यष्टियों के रूप में हुआ है तो स्तिमित विकास प्रकृति के अमित मौन प्रतीकों में उघड़ा है; इन असंख्य मौन प्रतीकों के कलामय मुखरण में ही बाण ने अपनी सरस्वती को सरसाया है।

प्रकृति के इन मौन प्रतीकों में प्रातःकाल की अलबेली उषा और सायंकाल की फुलझड़ियोंवाली संध्या के रूप-विहार ही को इस प्रतिभाशाली कवि ने अपनी नीराजना का प्रमुख लक्ष्य बनाया है; और इसके वर्णन में प्रकृति की जितनी भी भव्य विभूतियाँ उसके

संमुख आ सकी हैं वे सारी ही अपनी इस सर्या में अनोखी तरतीब और अदा के साथ सजाकर रख दी हैं। असीम निसर्ग के असंख्य भासमान विंदुओं को एक अलौकिक क्रम में खड़ा करके बाण ने स्वर्ग पहुँचने का वह सोपान उठाया है जिसके स्वर्ग तक पहुँचने में कुछ ओछा रह जाने में ही मानव की अकिंचनता का दर्द इस दार्शनिक कवि ने मुखरित कर दिया है। बाण की कला का परिपाक सत्ता के इसी लोकालोक पर संपन्न हुआ है।

और सचमुच लोग आजतक समझते आए हैं कि बाण का हर्षचरित महाराज हर्षवर्धन की जीवनी का एक लेखा है, जिसे पूरा करने में वे असमर्थ रहे हैं। इन समालोचकों की दृष्टि में एक जीवन-लेखक में दो गुण होने आवश्यक हैं; एक कथा का संक्षेप, जिसमें हर प्रकार के अनपेक्षित विस्तार का बहिष्कार हो, पर अर्थवती बात एक भी न छूटने पावे; दूसरा यह कि लेखक अपने आत्मतत्व को पूरी तरह अक्षुण्ण एवं स्वतंत्र बनाए रखने में सफल बना रहे। इस कसौटी पर कसने से तो कदाचित् बाण निपट निठल्लू कलाकार सिद्ध हो; किंतु इस प्रकार की समालोचना से तो हम अपने बाण के जीवन-लक्ष्य को ही खो बैठेंगे। निश्चय ही बाण का यह उद्देश्य कदापि न था कि वे हर्ष के जीवन की अनेकानेक घटनाओं की तालिका तैयार करके जनता के संमुख प्रस्तुत करते। उनकी दृष्टि में तो हर्ष-व्यक्ति और उनके जीवन की घटनाएँ नितरां भौतिक, क्षणिक एवं थोड़ी थीं। बाण के दर्शन में तो यथार्थ जगत् की उद्भूति कल्पना से होती है और उनके उस जगत् की तथा उनकी अपनी स्थिति भी उस कल्पना में ही है। इस कल्पना के उन्मेषरूप जगत् को अपेक्षा है फड़कते चित्रण की; और निष्णात् कलाकार वही है जो अपने चित्रण में जगती की सभी स्फुरणाओं को केंद्रित कर देता है, और अपनी तूलिका-निर्मित तसवीर में ऐसी जान भर देता है कि ताना देनेवालों का यह ताना कि—

'तसवीर तेरी दिल मेरा बहला न सकेगी'

झूठा पड़ जाता है; और जो इस तसवीर को ऐसी विदग्ध मधुमती कूक देता है कि दुनिया इसे सुन मंत्रमुग्ध रह जाती है। बाण की जीवन-लेखन-योजना में हर्ष तो साध्य-सिद्धि का उपकरण मात्र है, केवल एक प्रतीक, एक छाया, जिसका उपयोग बुनने की उस खड्डी से अधिक नहीं, जिसके सहारे वह अपनी कल्पना के प्रपंचपट का उत्थान करता है, और जिसे ध्यान में रखकर वह अपनी आराध्य देवी सरस्वती का सलमेदार क्षौमपट बुनता ही जाता है। बाण की चरितकारिता सचमुच एक झिलमिलाती लचकीली चित्रपटी है, जिसपर उसकी सर्वप्रसू कल्पना ने निरिक्त-सूक्ष्म सौंदर्य की असंख्य चित्रकृतियाँ प्रस्तुत कर दी हैं।

और यदि उत्थान और पतन के द्वारा प्रत्यावर्ती लय—और इस लय के समोह को ही हम अमर संगीत कहा करते हैं—किसी काव्य-रचना को महान् और उत्कृष्ट बनाता है, तो उसका भद्रतम उद्रेक हमें बाण की कादंबरी में उपलब्ध होता है। कारण यह है कादंबरी एक ऐसी रचना है; जिसका प्रत्येक लयवाही वाक्य ऐसी सफाई से गूँफा गया है मानो वह लघु आकार में मुद्रित एक परिपूर्ण संदर्भ हो; एक ऐसा अवयवी जो निर्माण व अलंकरण संबंधी उपकरणों का चरम निष्कर्ष है; एक ऐसा ग्रंथ जिसमें अर्थ-तत्त्वों को धरती-अंबर से चुन-चुनकर कला की छनती में छान-छानकर परिपूत एवं प्रसाधित करके मुखरित किया गया है; जहाँ शब्द-पिटकों में ठोस जगत् के सारे ही भव्य रूप भर दिए गए हैं

और जहाँ प्रकृति-वपुषी के सारे ही निगूढ़ आवेग कमनीय बोलती मूर्तियों में साकार हो उठे हैं। इस उदात्त एवं परम कमनीय प्रेमगाथा के मुद्रित आवरण के पीछे एक निष्णात चित्रकार अवस्थित है, जो एक शून्य हिम-शीतल मन को लेकर अपने कारखाने में आता है; यहाँ वह अपनी उपकरण-पेटिका को खोलता और अपना काम आरंभ कर देता है। थोड़ी देर बाद उसके हाथ की तूलिका का स्पर्श ही उसे कुछ उत्तेजित-सा कर देता है; उसके मन का ठंढा इंजन गरमाने लगता है। तवस् और त्वरा के वाष्प में वह थरथराने लगता है; तब इस विप्र (वेपनशील) के मन में विभूतिमत् सत्त्वों के प्रति कौतुक और जिज्ञासा की चिनगारी जल उठती है। उसका प्रतप्त प्रजवी-मन हाथों को स्फूर्ति प्रदान करता है और उसकी तूलिका एक अनोखी अदा और पेशलता के साथ चल निकलती है। कलाकार की अशेष अधिकृत मनःशक्तियों में अनोखी उत्सुकता जाग उठती है। उन्मेष, आवेग, भाव, मूर्तियाँ, स्मृतियाँ, अनुभूतियाँ, टीस और कसक एक दूसरी से होड़ करती हुई उसे घेर लेती हैं और वह अपने ऊपर आश्चर्य करने लगता है कि क्या वह अपनी तूलिका को इस दिव्य उद्रेक के अनुरूप चला सकेगा। और लीजिए, आप के देखते ही देखते वह इस स्तर से कहीं ऊँचा उठ गया है और जब तक वह इस स्थिति में है तब तक निराले ढंग की आध्यात्मिक आकृति और तदनुरूप अनोखे हस्तलाघव से संपन्न रहता है और गजब की सुगमता एवं अनूठे आत्मविश्वास के साथ जीवन के नानावर्ण तंतुओं को एक नवीन रूप में देखता है—ऐसे जैसे कि झरोखे की धूप में तिरमिराते त्रसरेणु—वह इन्हें आँकता है, जोखता है और फिर रभसा बोलती रेखाओं में एक नए संसार को, अछरीपुर जैसे स्तिमित-विशद चारुहासी संसार को अंकित कर देता है—कलाकार की अपनी एक अनूठी सृष्टि! यह आदिकाल से मनु को ऋत की ओर रुझानेवाली अरमति उषा! यह अलबेली संध्या जो उषा की सांध्य प्रतिरूप है! एक अनोखा कौतुक। रंग, पराग और प्रकाश का जादू भरा विप्लव। इसी मुद्रा में कलाकार अपनी सोने की दुनिया को चीतता जाता है, और यदि वह उन्मेष के इस उद्रेक को, इस आध्यात्मिक और पारिभाषिक शक्तियों के पारस्परिक उद्दीपन को यथेष्ट समय तक स्थिर रखने में समर्थ हो जाता है, तो इसका परिणाम होता है कला की एक अति निरिक्त रचना—एक अति महान् अश्वत्थ तरु, जिसका पल्लव-वितान हारीत जैसे भूतदर्शी शुकों के कथोपकथन से संनिनादित है, एक पावन मुनि-आश्रम जहाँ के वानर भी प्रज्ञाचक्षु मुनियों को उनका दंड पकड़कर यज्ञशाला की ओर ले जाते हैं।

एक जाबालि ऋषि, जो तपश्चरण के परिपूत आदर्श की भद्रतम परिनिष्ठा है; एक शुकनासोपदेश, जो शिष्टाचार एवं कर्तव्यपरायणता पर अत्यंत क्षेमकारी एवं आवेशपूर्ण प्रवचन है; एक महाश्वेता, जिसके अछूते नैसर्गिक कुमारीत्व की अलबेली लचक पशुपक्षियों तक को मंत्रमुग्ध कर देती है; एक पावन अच्छोद-सर, जिसकी कुछ कहती-सी लहरियाँ भौतिक जगत् के मांस-तट को चाटा चाहती हैं, एक पुंडरीक तापस-युवा, जिसमें विविक्त जगत् की सारी ही प्यारी खूबियाँ आ बसी हैं: संक्षेप में एक कादंबरी। किंनरलोक से उतरी एक अलबेली कामसिक्त किंनर-वपुषी और बाण की सर्वप्रसू लेखनी से उभरी एक लोकातिशायी रचना! एकदम नवीन! पावन! मनोरम! शब्द, अर्थ और इन दोनों के सौष्ठव का

अनोखा समन्वय ! अमित ब्रह्मांड के लक्षवर्ण प्रपंचों से पाठक को पुलकित कर देनेवाली महा प्रशस्ति !

तो सचमुच ऐसी ही है बाण की कादंबरी। इसी तथ्य के आधार पर हम कहा करते हैं—"बाणोच्छिष्टं जगत् सर्वम्"। इस कादंबरी को भी बाण ने पूर्वार्ध पूरा करके ही समाप्त कर दिया है—क्योंकि उनकी रचना का प्रमुख लक्ष्य तो शिष्ट जगत् को कादंबरी का रसपान कराना था; और सचमुच बाण की निकाली कादंबरी का इतना ही रसासार सहृदय जगत् को रसमय अचेतना में प्लावित कर देने के लिये पर्याप्त है। इतने ही ग्रंथभाग में अमर कलाकार अपनी प्रतिभा और कला का पूरा उन्मेष दिखा गए हैं।

यह सब कुछ सही है; और निश्चय ही बाण ने गद्य के क्षेत्र में उन्मेष और कला का वही निरेक पा लिया है जो पद्य के क्षेत्र में कालिदास को उपलब्ध हुआ था, किंतु इस जादू-भरी रचना में संस्कृत गद्य की क्या दशा हुई ? नामिक शैली ने आख्यातों को एक प्रकार से नमस्कार ही कर लिया है, यहाँ तक कि 'राजकुल' के समासभरित प्रलंब वर्णन में दस पृष्ठों के बाद एक 'बभूव' आख्यात पद की उपलब्धि हो पाती है। बाण का विदग्ध गद्य बोलचाल के क्षेत्र से बलात् योजनों दूर जा पड़ा है, यह एकमात्र पढ़ने और रस लेने का माया-पिटक बन गया है। समाज के भद्र लोग इसमें संभाषण नहीं कर सकते, प्रेमी जन इसमें अपनी दिलचलियों को पाती नहीं पठा सकते और सामान्य जनता इस प्रकार की अलंकृत-संहित भाषा में लिखे नाटकों को समझ नहीं सकती। स्पष्ट है कि बाण के युग में संस्कृत एक ऐसी सरणि में ढल रही थी जो लोक-सामान्य से सुतरां दूर सरक रही थी।

फिर भी रूढ़ि बलवती है और हमारी धरती का तो लक्षण ही गद्य के साथ साथ रूढ़िप्रेम रहता आया है। लोकसंपर्क से दूर हो जाने पर भी पंडित लोग संस्कृत में ही व्याकरण, साहित्य, दर्शन एवं धर्मग्रंथों की रचना करते रहे, जिनका क्षेत्र निश्चय ही पंडितों का अपना क्षेत्र रहा, लोक-सामान्य का नहीं। लोकसंपर्क-विमुक्त साहित्यिक क्षेत्र में गद्य अपनी परंपरागत प्रौढ पद्धति में परिपुष्ट होता चला गया, जिसका आभास हमें भिन्न भिन्न विषयों पर लिखे गए उन दुरूह ग्रंथों में मिलता है जिनका परिपाक नव्य व्याकरण, नव्य न्याय एवं नव्य वेदांत की फक्किकाओं एवं पंक्तियों में संपन्न हुआ है।

गद्य के इस परम विस्तृत क्षेत्र में शंकराचार्य का गद्य ऊसर में जलस्रोत की न्याईं रुचिकर बनकर हमारे संमुख आता है और पतंजलि के सैकड़ों बरस पश्चात् एक बार फिर हमें गद्य के प्रसन्न-गंभीर एवं प्रांजल रूप का दर्शन कराता है।

शंकर के समान गद्य के लेखक बाद में कम पैदा हुए और संस्कृत गद्य की वह ऋतावरी सरस्वती वाचस्पति पर पहुँचकर सहसा परिष्कार-मरु में लुप्त-सी हो जाती है।

आधुनिक युग में संस्कृत का लोक-समाज में चलन न रह जाने पर भी हृषीकेश भट्टाचार्य तथा अंबिकादत्त व्यास आदि ने संस्कृत गद्य में संदर्भ-रचना का अनुकरणीय प्रयत्न किया; किंतु इन सभी की रचनाओं में बाण का अनुकरण मुँह उठाए बैठा दीख पड़ता है; और यही एक कमी इन आचार्यों के यशोविस्तार में बाधक सिद्ध हुई है।

यह हुई भारत-भारती के गद्य पर एक विहंगम दृष्टि। इससे स्पष्ट हो जाता है कि किस प्रकार और किन कारणों से आर्यों का तवस्, त्वरा एवं प्रांजलता से संपन्न गद्य बाद के

युगों में पहुँचकर भारी, भड़कीला, अपने ही में मस्त है और इसीलिये लोकसंपर्क से दिनों दिन दूर सरकता चला गया है।

संस्कृत को पुनर्जीवित करने के लिये उसके गद्य को सरल, सुबोध एवं व्यावहारिक बनाने की आवश्यकता है। संस्कृत की पठन-पाठन-प्रणाली में बुरी तरह धँसे रूढ़िवाद को तोड़ इस भाषा में फिर से तवस्, त्वरा, चोज एवं चटक पैदा करने की जरूरत है, संक्षेप में इसे ऊहा के क्षेत्र से निकाल साहस के आँगन में ला बिठाने की जरूरत है। पंडितों की प्रथा - पूजक शिशिर परिधि में बंद रहते रहते संस्कृत-भारती पियरा गई है; इसे फिर से सजीव एवं सुंदर बनाने के लिये रोगी को जनता के धूप-भरे खेतों, खलिहानों और गुलशनों में घुमाना होगा। भारत में फिर से वैदिक जीवन प्रवर्तित करने का यही एक उपाय है। हमें अपने जीवन की संध्या को इसी अनुष्ठान में लगा देना है।

हिंदी साहित्य के विगत ६० वर्षों का सिंहावलोकन

१—उपक्रम

इस समय हिंदी के विपुल और विशाल साहित्य को देखकर इस बात की कल्पना भी नहीं की जा सकती कि आज से लगभग ८० वर्ष पूर्व इसकी दशा अत्यंत दयनीय थी। परंतु सच तो यही है कि १९ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हिंदी का अस्तित्व भी एक धागे से लटक रहा था; उसका कोई सहारा नहीं था। भारतेंदु हरिश्चंद्र ने हिंदी की इसी दुर्दशा को देखकर अत्यंत दुःख और क्षोभ के साथ लिखा था कि—

भोज मरे अरु विक्रम हू किनको अब रोइकै काव्य सुनाइये।
भाषा भई उरदू जग की इन ग्रंथन नैन के नीर डुबाइये॥

हिंदी की इस दुर्दशा का एक मार्मिक वर्णन बिहार के उच्च शिक्षाधिकारी भूदेव मुखोपाध्याय (१८७६–७७) ने इस प्रकार उपस्थित किया था—

मुसलमानों को अपनी फारसी भाषा पर ममता है; कायस्थ लोग उसी से प्रेम रखते हैं क्योंकि अनेक पीढ़ियों से वे इसके अध्ययन में परिश्रम करते चले आते हैं। कचहरी की भाषा (उर्दू) अपने बल पराक्रम के लिये फारसी ही का मुँह जोहती है, हिंदी भाषा का कहीं ठिकाना नहीं। बिहार में संस्कृत तो अनेक दिन पूर्व से ही ऐसी बहिष्कृत हो गई जैसी बंगाल से भी नहीं हुई; हिंदी है जीवित क्योंकि इसकी मृत्यु हो ही नहीं सकती।[1]

हिंदी की दयनीय दशा का एक ही वाक्य में कैसा मार्मिक चित्र है—हिंदी जीवित है अवश्य क्योंकि उसकी मृत्यु हो ही नहीं सकती; वह मर सकती ही नहीं क्योंकि सूर, तुलसी, कबीर और मीराँ ने उसे उसके शैशव काल में ही अपनी अमृत वाणी का घूँट पिला दिया था। इसीलिये मृत्युशैया पर पड़ी हुई भी हिंदी साँस ले रही थी। फारसी और उर्दू के पक्षपातियों ने हिंदी का गला घोट देने का पूरा कुचक्र रच रखा था, फिर भी हिंदी जो जीवित रही उसका कारण यही था कि वह मर सकती ही नहीं थी—एक ओर सूर, तुलसी और कबीर की वाणी ने उसका हृत्कंपन शिथिल नहीं पड़ने दिया दूसरी ओर उस दयनीय अवस्था में भी उसे भारतेंदु हरिश्चंद्र जैसे सपूत की सेवा का सौभाग्य प्राप्त हो गया जिसने अपने देशबंधुओं को अपनी गंभीर वाणी में उद्बोधित किया कि—

प्रचलित करहु जहान मैं निज भाषा करि जत्न।
राज काज दरबार मैं फैलावहु यह रत्न॥

---

१. आरा नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा संपादित और प्रकाशित 'साहित्य पत्रिका' खंड ८, संख्या १०, जनवरी १९१४, पृ० ७।

भाषा सोधहु आपनी, होइ सबै एकत्र।
पढ़हु, पढ़ावहु, लिखहु मिलि छपवावहु कछु पत्र ॥

परंतु हिंदी के दुर्भाग्य से १८८५ में केवल ३४ वर्ष की अल्प अवस्था में भारतेंदु की वह गंभीर वाणी भी सर्वदा के लिये मूक हो गई; फिर भी उनके दिए हुए मंत्र को लेकर अनेक नवयुवकों ने हिंदी की सेवा का व्रत लिया और उनके उद्योग से हिंदी उठ खड़ी हुई।

उन्नींसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हिंदी अत्यंत उपेक्षित थी। मदरसे में मौलवी साहब की कक्षा तो 'थिएटर की रंगभूमि' के समान भरी रहती थी, परंतु पंडित जी की कक्षा खँडहर की भाँति एकदम सूनी रहती थी।[1] हिंदी को उर्दू वालों ने गँवारी भाषा करार दिया था। उर्दू के चटपटे शेर लोगों की जबान पर रहते थे। हिंदी में पुस्तकें भी बहुत कम प्रकाशित हो रही थीं क्योंकि उनका पढ़नेवाला कोई न था। संयुक्त प्रांत (उत्तर प्रदेश)में १८९४-९५ में केवल ३५४ हिंदी पुस्तकें प्रकाशित हुईं जब कि उर्दू पुस्तकों की संख्या ६२३ थी। इससे पूर्व हिंदी की पुस्तकें और भी कम प्रकाशित होतीं थीं—१८९३-९४ में केवल ३०६ हिंदी पुस्तकें प्रकाशित हुईं और १८९२–९३ में केवल २०८। इसके विपरीत उर्दू की पुस्तकें अधिक संख्या में प्रकाशित हो रही थीं और उसके पढ़नेवाले भी बहुत थे। हिंदी की इस उपेक्षा का एक प्रमुख कारण राजकीय शासन और शिक्षा में उर्दू की प्रधानता थी। अस्तु, १८९३ में जब नागरीप्रचारिणी सभा की स्थापना हुई, उस समय उसके कर्णधारों के समक्ष सबसे बड़ी समस्या राजकीय शासन और शिक्षा में हिंदी भाषा और नागरी लिपि को उसका स्वाधिकार प्राप्त कराना था और इसी कार्य को सभा ने प्रमुखता दी।

अदालतों में सभी जगह उर्दू का ही प्राधान्य था। १८३७ में जब अदालतों का कार्य फारसी के स्थान पर लोकभाषा में कर दिया गया उस समय बंगाल में बँगला, उड़ीसा में ओड़िया तथा अन्य प्रांतों की प्रांतीय भाषाओं को अदालतों में स्थान मिला, परंतु हिंदी के विशाल भूखंड में हिंदुस्तानी के रूप में उर्दू का आधिपत्य स्थापित हो गया। १८८१ में बिहार और मध्य प्रदेश में तो उर्दू लिपि के स्थान पर अदालतों में कैथी और नागरी लिपि स्वीकृत हो गई, परंतु पश्चिमोत्तर प्रदेश तथा अवध (आज का उत्तर प्रदेश) में उर्दू का ही एकछत्र राज्य रहा। सभा ने अदालतों में हिंदी को स्थान दिलाने का अथक प्रयत्न किया और १८९८ में महामना मालवीय जी के नेतृत्व में सभा ने प्रांत के तत्कालीन उपराज्यपाल को एक स्मृतिपत्र[2] (memorial) भी प्रदान किया और नगरों में हिंदी के पक्ष में जनमत भी तैयार किया गया। इसके परिणाम-स्वरूप १९०० ई० में हिंदी को भी अदालतों में उर्दू के समान ही अधिकार प्राप्त हो गया, परंतु व्यावहारिक रूप में अदालतों में उर्दू का प्रभुत्व ज्यों का त्यों बना रहा।

अदालतों में हिंदी का अधिकार सुरक्षित रखने से कहीं अधिक महत्वपूर्ण कार्य शिक्षा में हिंदी का प्रवेश करना था। उच्च शिक्षा में हिंदी की पूर्णतः उपेक्षा हो रही थी और प्रारंभिक शिक्षा में भी हिंदी को शिक्षा और परीक्षा का माध्यम स्वीकार नहीं किया जा रहा था। इस

१. देखिए लाला हरदयाल का लेख 'पंजाब में हिंदी की जरूरत', सरस्वती, सितंबर १९०७

२. इस Memorial की प्रतिलिपि इसी ग्रंथ में पृ० ८६ ६४ पर दी गई है।

क्षेत्र में सभा ने सराहनीय प्रयत्न किया। उच्च शिक्षा में हिंदी का प्रवेश कराने से पूर्व हिंदी का साहित्य-भंडार भरना आवश्यक था और इसके लिये सभा ने हस्तलिखित पुस्तकों की खोज और उसके संपादन तथा प्रकाशन का प्रयत्न आरंभ किया। उसी के प्रयत्नों से अनेक पुस्तकों की खोज हुई और उनका संपादन और प्रकाशन हो जाने पर काशी हिंदू विश्वविद्यालय और प्रयाग विश्वविद्यालय ने उच्च कक्षाओं में हिंदी को स्थान दिया। हिंदी शब्दसागर के निर्माण और हिंदी व्याकरण की एक सर्वमान्य पुस्तक के प्रकाशन से भी हिंदी की शिक्षा में बड़ी सहायता मिली। माध्यमिक स्तर तक हिंदी को शिक्षा और परीक्षा का माध्यम स्वीकार कराने के लिये सभा ने वैज्ञानिक शब्दकोश का निर्माण कराया और इस प्रकार क्रमिक प्रयत्न और आंदोलन द्वारा धीरे धीरे हिंदी को उच्च शिक्षा में स्थान मिला और शिक्षा तथा परीक्षा के माध्यम के रूप में भी हिंदी का अधिकार स्वीकार किया जाने लगा। यद्यपि उसको व्यावहारिक रूप देने में अनेक कठिनाइयाँ थीं, फिर भी धीरे धीरे हिंदी ने शिक्षा के क्षेत्र में अपना अधिकार प्राप्त कर लिया।

विश्वविद्यालयों में हिंदी को उच्च शिक्षा में स्थान मिल जाने पर खोज का काम भी चल निकला। इस क्षेत्र में भी काशी और प्रयाग विश्वविद्यालय ने नेतृत्व किया और पिछले २० वर्षों से हिंदी में शोध कार्य की अपूर्व उन्नति हुई और आज काशी, प्रयाग, लखनऊ, आगरा, पटना, राजस्थान, नागपुर, दिल्ली और सागर विश्वविद्यालयों में सैकड़ों विद्यार्थी डाक्टर ऑव फिलासफी और डाक्टर ऑव लिटरेचर की उपाधियों के लिये शोध कार्य कर रहे हैं और इस प्रकार हिंदी का साहित्य-भंडार भरता जा रहा है।

राजकीय शासन और शिक्षा में हिंदी को उसका उचित अधिकार दिलाने के लिये जहाँ नागरीप्रचारिणी सभा ने अपना प्रयत्न पिछले साठ वर्षों से जारी रखा है, वहाँ हिंदी के मौलिक साहित्य-निर्माण के लिये भी इन साठ वर्षों में कुछ कम आंदोलन नहीं हुआ। भारतेंदु युग में हिंदी के लेखकों और पाठकों की संख्या अत्यंत अल्प थी। लोग बड़े उत्साह से पत्र-पत्रिकाएँ प्रकाशित करते थे, परंतु पाठकों के अभाव में वे चल नहीं पाती थीं। हिंदी के विस्तार और विकास के लिये नए लेखकों और पाठकों की संख्या में वृद्धि होनी आवश्यक थी। यों तो देवकीनंदन खत्री के उपन्यासों ने हिंदी पाठकों की संख्या में अभूतपूर्व वृद्धि की, परंतु अमृतसर से लेकर भागलपुर और हिमाचल प्रदेश से नागपुर तक के विस्तृत भूखंड में जितनी संख्या लेखकों और पाठकों की होनी चाहिए थी, उसके शतांश भी हिंदी के लेखक और पाठक न थे। सरस्वती के स्वनामधन्य संपादक आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने हिंदी के लेखकों और पाठकों की संख्या बढ़ाने का साहसपूर्ण कार्य किया। आधुनिक युग में हिंदी की व्यापकता में सबसे बड़ी बाधा काव्य की भाषा थी। भूखंड की साधारण शिक्षित जनता के लिये वह बोधगम्य न थी। आचार्य द्विवेदी ने काव्य की व्रजभाषा के स्थान पर गद्य की स्वीकृत भाषा खड़ीबोली को ही काव्य की भाषा बनाने का आंदोलन प्रारंभ किया। खड़ीबोली का यह आंदोलन मूल रूप में १८८७ में ही मुजफ्फरपुर के अयोध्याप्रसाद खत्री ने चलाया था, जब कि उनकी 'खड़ीबोली का आंदोलन' नाम की पुस्तिका ने हिंदी-क्षेत्र में एक हलचल सी मचा दी थी। इंगलैंड से पिन्काट साहब ने इस पुस्तिका का रंगबिरंगा संस्करण प्रकाशित कर इसे महारानी विक्टोरिया के शासन की

स्वर्णजयंती का सबसे महत्वपूर्ण कार्य स्वीकार किया था और इस आंदोलन से उत्तर भारत की साहित्यिक एकता और दृढ़ता की भविष्यवाणी की थी; परंतु हिंदी के कवियों और विद्वानों द्वारा भीषण विरोध के कारण यह आंदोलन शिथिल पड़ गया। १६०० में सरस्वती के प्रकाशन से इस आंदोलन को पुनः बल प्राप्त हुआ और १६०३ में आचार्य द्विवेदी के संपादकत्व में सरस्वती ने खड़ीबोली को हिंदी काव्यभाषा के रूप में प्रतिष्ठित करने का जो आंदोलन चलाया, वह अनेक कवियों और विद्वानों के विरोध करने पर भी पूर्ण सफल रहा। बात यह थी कि बीसवीं शताब्दी में साहित्य और काव्य का केंद्र राजदरबारों से हटकर साधारण शिक्षित जनता में आ गया था और साधारण शिक्षित जनता को ब्रजभाषा और नायिका-भेद तथा रीति-ग्रंथों में कोई रुचि न थी, वह तो साधारण बोलचाल की भाषा में सामान्य विषयों पर लिखी रचनाओं को ही समझती और रुचिपूर्वक पढ़ती थी। इसका परिणाम यह हुआ कि खड़ीबोली की टूटी फूटी तुकबंदी का भी इतने उत्साह से स्वागत हुआ, जितना ब्रजभाषा की अलंकार-व्यंजना से पूर्ण साहित्यिक रचना का भी न हो सका और खड़ीबोली काव्य-भाषा के रूप में चल निकली।

हिंदी के लेखकों और पाठकों की संख्या बढ़ाने के लिये आचार्य द्विवेदी को गद्य की भाषा का भी नव-निर्माण करना पड़ा। १८७३ में भारतेंदु हरिश्चंद्र ने 'हरिश्चंद्री हिंदी' चलाई थी, जिसमें बोलचाल के तद्भव शब्दों की प्रधानता थी और जो विशेष रूप से उच्चारण-संमत भाषा थी। उच्चारण-संमत भाषा का अर्थ है, जिस शब्द का जैसा उच्चारण हो ठीक वैसा ही लिखा जाय। अस्तु, भारतेंदु युग में उस्के, उस्से, उस्पर, सक्ता आदि लिखा जाता था जब कि व्याकरण-संमत शब्द उसके, उससे, उसपर, सकता आदि हैं। 'हरिश्चंद्री हिंदी' भारतेंदु युग के लिये तो ठीक थी, परंतु द्विवेदी युग में आकर उससे अनेक कठिनाइयाँ उत्पन्न हो गईं। हिंदी के अत्यंत व्यापक क्षेत्र में एक ही शब्द के अनेक तद्भव रूप भिन्न भिन्न क्षेत्रों में चल रहे थे और उच्चारण की विषमता भी इस व्यापक भूखंड में कुछ कम न थी। अस्तु, पंजाब के लेखक द्वारा लिखी हिंदी पूर्वी बिहार के पाठकों के लिये बोधगम्य न रह गई। आचार्य द्विवेदी ने इस कठिनाई को दूर करने के लिये 'प्रांतज' शब्दों के स्थान पर व्यापक शब्दों के व्यवहार पर बल दिया और उच्चारण-संमत भाषा के स्थान पर व्याकरण-संमत भाषा लिखने की प्रथा चलाई।

आचार्य द्विवेदी की व्यापक क्षेत्रों में प्रयुक्त शब्दों से युक्त व्याकरण-संमत भाषा का बहुत विरोध हुआ, क्योंकि यह भाषा तत्समप्रधान होने के कारण सरल नहीं रह गई थी। उन्नीसवीं शताब्दी के अंत से ही ठेठ और सरल भाषा लिखने की प्रवृत्ति बढ़ रही थी और इस प्रवृत्ति को विदेशी शासकों का समर्थन प्राप्त था। हरिऔध जी ने १८६८ में 'ठेठ हिंदी का ठाठ' लिखा, जिसकी ग्रियर्सन ने मुक्तकंठ से प्रशंसा की और उसे आई० सी० एस० के पाठ्यक्रम में स्थान प्राप्त हुआ। काशी के महामहोपाध्याय सुधाकर द्विवेदी सरल भाषा के पक्षपाती थे और हिंदी में तत्सम शब्दों के व्यवहार को अच्छा नहीं समझते थे। दूसरी ओर उर्दू के पक्षपाती हिंदी को उच्च हिंदी कहकर आसमान सिर पर उठा रहे थे। ऐसे वातावरण में महावीरप्रसाद द्विवेदी की भाषा-नीति का घोर विरोध हुआ, परंतु द्विवेदी जी के प्रभावशाली व्यक्तित्व के संमुख सभी विरोध शिथिल पड़ गए।

द्विवेदी जी की तत्सम-प्रधान व्याकरण-संमत भाषा ने हिंदी को अन्य प्रांतीय भाषाओं—बँगला, मराठी, गुजराती आदि—के निकट ला दिया, क्योंकि इन सभी प्रांतीय भाषाओं में तत्सम शब्दों का प्रयोग-बाहुल्य था, साथ ही उर्दू से वह दूर होती गई। द्विवेदी जी की प्रेरणा और प्रयत्न से हिंदी के लेखकों और पाठकों की संख्या में निरंतर वृद्धि होती गई, जिसके परिणाम स्वरूप साहित्य का भंडार भरा जाने लगा। हिंदी गद्य को द्विवेदी जी ने अंग्रेजी गद्य साहित्य के साँचे में ढालने का प्रयत्न किया। अंग्रेजी लेखन की विराम-पद्धति और अनुच्छेद-पद्धति के अनुकरण से हिंदी-लेखन-पद्धति अधिक स्पष्ट और शृंखलाबद्ध हो गई। फिर पाश्चात्य साहित्य के विविध साहित्य-रूपों—उपन्यास, कहानी, निबंध, आलोचना आदि—का भी विकास और विस्तार होने लगा और हिंदी साहित्य प्रगति के पथ पर अग्रसर हुआ।

काव्य की भाषा में परिवर्तन और गद्य की भाषा में परिष्कार और साहित्यिकता के योग से द्विवेदी युग में हिंदी साहित्य का कायाकल्प हो गया और उसे एक नवीन जीवन-शक्ति प्राप्त हुई। हिंदी को गँवारी भाषा समझनेवाले भी अब हिंदी की ओर आकृष्ट होने लगे और प्रेमचंद तथा सुदर्शन जैसे उर्दू के प्रौढ़ लेखक हिंदी के साहित्य महारथी बनने लगे। अंग्रेजी पढ़े लिखे शिक्षितों का ध्यान भी हिंदी की ओर आकृष्ट हुआ और संस्कृत के पंडित भी हिंदी को संस्कृत की उत्तराधिकारिणी मानकर उसका संमान करने लगे। हिंदी का लेखक-समाज और पाठक-वर्ग उत्तरोत्तर आत्मविश्वास के साथ अग्रसर हुआ।

परंतु हिंदी की प्रगति में बाधाएँ उपस्थित होती रहीं। द्विवेदी युग की तत्सम-प्रधान भाषा उर्दू से दूर पड़ती गई और उर्दू के पक्षपातियों का हिंदी-विरोध उग्र होता गया। इस विरोध को दूर करने के लिये कुछ राजनीतिक नेताओं ने हिंदुस्तानी नाम की एक नई भाषा ढूँढ़ निकाली, जिसमें तत्सम और विदेशी शब्दों की एक विचित्र खिचड़ी पकाई गई थी। कांग्रेस की हिंदू-मुसलिम एकता की नीति के अनुरूप ही हिंदुस्तानी एक समझौते की भाषा थी, परंतु उर्दू के पक्षपातियों ने उर्दू को ही हिंदुस्तानी कहना प्रारंभ किया और हिंदी का विरोध किया। अस्तु, हिंदुस्तानी का विरोध करना हिंदी के लिये आवश्यक हो गया और हिंदुस्तानी के विरोध में जो आंदोलन चला उससे हिंदी की शक्ति क्षीण करने का प्रयत्न किया गया। नागरीप्रचारिणी सभा, काशी, और हिंदी साहित्य संमेलन, प्रयाग, दोनों ने मिलकर हिंदुस्तानी का विरोध किया। शासक हिंदुस्तानी के समर्थक थे, भारत की प्रमुख राजनीतिक संस्था कांग्रेस हिंदुस्तानी की पक्षपातिनी थी और सबसे बढ़कर युग-पुरुष महात्मा गांधी की शक्तिशाली वाणी भी हिंदुस्तानी के समर्थन में उठी थी। इतने प्रबल विरोधों के संमुख भी हिंदी आगे बढ़ती ही गई और भारत के स्वतंत्र होने पर हिंदुस्तानी एक प्रकार से मर सी गई, यद्यपि अब भी उसके कुछ समर्थक उसे जिलाने के प्रयत्न में लगे हुए हैं।

हिंदी-हिंदुस्तानी का झगड़ा अभी चल ही रहा था कि हिंदी क्षेत्र में एक नया आंदोलन प्रारंभ हो गया, जिसे जनपद साहित्य का आंदोलन कहा जाता है। हिंदी का क्षेत्र अत्यंत विस्तृत है और इस विशाल भूखंड में अनेक बोलियाँ बोली जाती हैं, जिनमें कुछ में तो अत्यंत समृद्ध प्राचीन साहित्य है और आज भी कुछ न कुछ साहित्य निर्मित हो रहा

है। इन अनेक बोलियों में मैथिली, भोजपुरी, बुंदेलखंडी और राजस्थानी क्षेत्र से यह माँग की गई कि हिंदी का विकेंद्रीकरण किया जाय और मैथिली, भोजपुरी, बुंदेलखंडी और राजस्थानी में भी साहित्य की रचना हो और इन्हें भी शिक्षा और परीक्षा का माध्यम कुछ दूर तक स्वीकार किया जाय। जहाँ तक साहित्य-निर्माण की बात है, इस बात से किसी का विरोध नहीं है कि मैथिली, भोजपुरी, अवधी, बघेलखंडी, छत्तीसगढ़ी, बुंदेलखंडो, ब्रजभाषा और राजस्थानी में भी अधिकाधिक साहित्य का निर्माण हो, परंतु जहाँ तक शिक्षा और परीक्षा के माध्यम का प्रश्न है, चाहे वह प्रारंभिक स्तर ही क्यों न हो, यह प्रस्ताव हिंदी की एकता और शक्ति को विच्छिन्न करनेवाला है। कुछ लोगों का तो यह भी अनुमान है कि इस जनपद आंदोलन के पीछे कुछ राजनीतिक स्वार्थ की भावना है। कुछ लोग इस आंदोलन में मैथिली, भोजपुरी, आदि के अलग प्रांत बनाने की चेष्टा का भी गंध पाते हैं, परंतु इस आंदोलन के पीछे चाहे जो भी स्वार्थ छिपा हो, इससे हिंदी की शक्ति क्षीण ही होगी और वह छिन्न-विच्छिन्न हो जायगी। सच तो यह है कि हिंदी को इस विशाल भूखंड की भाषा बनाने के लिये न तो कभी कोई आंदोलन चला, न इसके लिये किसी प्रकार के प्रचार की व्यवस्था की गई। १८०० ई० के आस पास न जाने किस अंतःप्रेरणा से अंबाला से भागलपुर और हिमांचल से नागपुर तक के विशाल भूखंड ने हिंदी को अपनी भाषा मान लिया था और शिक्षा तथा परीक्षा के माध्यम के रूप में इसे स्वीकार किया था। उस समय किसी ने भी यह नहीं सोचा कि भोजपुरी, राजस्थानी अथवा बुंदेलखंडी हिंदी से स्वतंत्र भाषा है और सबने मिलकर हिंदी की उन्नति और विकास में अपना योगदान किया। फिर हिंदी की काव्यभाषा को ब्रजभाषा से खड़ीबोली में परिवर्तित करने का प्रथम प्रयास उन्हीं क्षेत्रों से हुआ जो आज अपने को हिंदी से स्वतंत्र करने का आंदोलन चला रहे हैं। इस पृष्ठभूमि में सोचने से यह निश्चित जान पड़ता है कि जनपद आंदोलन के पीछे कुछ राजनीतिक स्वार्थ की भावना अवश्य है। हिंदी एक संमिलित परिवार के समान है और इस संमिलित परिवार में जब तक एकता और विश्वास बना रहेगा तब तक इसकी स्थिति अत्यंत सुदृढ़ रहेगी और इसके विकास का द्वार खुला रहेगा, परंतु यदि कोई इस संमिलित परिवार से निकलकर अपने स्वतंत्र अस्तित्व की घोषणा करता है, तो इससे न केवल हिंदी की शक्ति क्षीण होगी, स्वयं उसका भी बल कम हो जायगा।

हिंदी का जनपद आंदोलन अभी तक चल रहा है, यद्यपि इसका वेग बहुत शिथिल हो गया है। १९४७ में स्वतंत्रता की प्राप्ति और १९४९ में हिंदी के राजभाषा पद पर प्रतिष्ठित हो जाने से जहाँ हिंदी का गौरव बहुत बढ़ गया है, वहाँ उसका उत्तरदायित्व भी बहुत बढ़ चला है। अब अनेक स्थानों से हिंदी के साम्राज्यवाद की आवाज सुनाई पड़ रही है। परंतु हिंदी से इस प्रकार की आशंका व्यर्थ है। हिंदी स्वयं अपना विकास करना चाहती है और अन्य प्रांतीय भाषाओं का भी विकास चाहती है। हिंदी का प्राचीन इतिहास इसका साक्षी है। बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में हिंदी ने अपनी पड़ोसी प्रांतीय भाषाओं से मिलकर विकास किया; अनेक नए शब्द बँगला, मराठी, गुजराती से प्राप्त किए; उन भाषाओं की अनेक पुस्तकों का अनुवाद कर अपना भंडार भरा, यह सच है कि दक्षिण भारत की भाषाओं

से हिंदी का आदान-प्रदान अभी तक नहीं हुआ, परंतु अनुकूल परिस्थितियाँ आने पर हिंदी सभी भाषाओं से निकट संबंध स्थापित करेगी इसमें कोई संदेह नहीं।

हिंदी के ऊपर अनेक प्रकार के अनेक प्रहार होते रहे हैं और आज तक हिंदी संघर्षों के बीच ही पल्लवित और विकसित होती आई है। हिंदी का उदय ही उस समय हुआ था, जिस समय पश्चिमोत्तर से आक्रमणकारी मुसलमान टिड्डी दल के समान उत्तर भारत पर छा रहे थे; जिस समय मंदिर, प्रासाद, पुस्तकसंग्रह और विहार भस्म किये जा रहे थे; जिस समय उत्तर भारत के राजवंश एक के बाद एक विदेशी आक्रमणकारियों से त्रस्त और विपन्न हो रहे थे। राहुग्रस्त रवि के समान हिंदी का विपन्नावस्था में ही उदय हुआ और उसी विपन्नावस्था में वह विकसित होती रही और आज तक वह संघर्षों के बीच ही पली है। इसी कारण हिंदी की शक्ति अजेय है।

हिंदी का विगत साठ वर्षों में अभूतपूर्व विस्तार हुआ है। मुद्रण यंत्र के विस्तार के साथ ही गद्य साहित्य अपने अनेक शाखा प्रशाखाओं में प्रस्फुटित हुआ। उपन्यास, कहानी, नाटक निबंध, आलोचना के साथ ही जीवन-चरित, यात्रा-विवरण और विविध उपयोगी साहित्य का निर्माण होने लगा। गद्य के साथ काव्य-साहित्य का भी बहुमुखी विकास इस युग में हुआ। काव्य-रूप की दृष्टि से महाकाव्य, खंडकाव्य, आख्यानक गीति, नाटक-काव्य, मुक्त, गीति काव्य और सुभाषित आदि सभी का निर्माण हुआ। नाटकों में अनेकांकी नाटकों के साथ एकांकी नाटकों का नया विकास हुआ। पत्र-पत्रिकाओं का नया प्रकाशन और खोज संबंधी कार्यों का विस्तार भी इस युग में पर्याप्त हुआ। सारांश यह कि विगत साठ वर्षों में हिंदी साहित्य का सर्वतोमुखी विकास अत्यंत आशाप्रद रहा।

हिंदी हमारी राष्ट्रीय चेतना की प्रतीक है। आधुनिक हिंदी के जनक भारतेंदु हरिश्चंद्र ने राष्ट्रीय कांग्रेस के जन्म से पूर्व ही हिंदी में राष्ट्रीयता का जो भाव भर दिया था, वह भाव हिंदी से कभी विलग नहीं हुआ। कविवचन-सुधा के प्रकाशन के समय १८६७ में ही भारतेंदु ने अपने पत्र के उद्देश्यों में भारत का अपना स्वत्व ग्रहण[1] भी एक उद्देश्य रखा था और उन्होंने जीवन भर हिंदी साहित्य में भारत के स्वत्व-ग्रहण की बात का विस्मरण नहीं होने दिया। भारतेंदु की मृत्यु के पश्चात् श्रीधर पाठक, मैथिलीशरण गुप्त, प्रेमचंद, प्रसाद, माखनलाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा नवीन, दिनकर, सुभद्रा कुमारी चौहान आदि कवि और लेखकों ने हिंदी पाठकों और शिक्षित जनता की राष्ट्रीय भावना की सुंदर अभिव्यक्ति की। हिंदुओं के अनेक देवी-देवताओं में भारत माता भी एक देवी के रूप में प्रतिष्ठित हुई। बंकिमचंद ने वंदेमातरम् लिख कर भारत माता की एक मूर्ति की कल्पना की थी, मैथिलीशरण गुप्त ने सर्वेश की सगुण मूर्ति के रूप में भारत माता का चित्र इस प्रकार अंकित किया :

नीलांबर परिधान हरित पट पर सुंदर है।
सूर्य-चंद्र युग मुकुट मेखला रत्नाकर है।

---

१. देखिये—उपधर्म छूटे स्वत्व निज भारत गहे कर दुख बहे।

नदियाँ प्रेम-प्रवाह, फूल तारे मंडन हैं।
बंदीजन खग वृंद, शेष-फन सिंहासन है।
करते अभिषेक पयोद हैं, बलिहारी इस वेष की।
हे मातृभूमि तू सत्य ही सगुण मूर्ति सर्वेश की।

और हिंदी के एक अन्य सपूत शिवप्रसाद गुप्त ने काशी में भारत माता का भौतिक मंदिर स्थापित कर कवि की इस भावना को साकार कर दिया।

भारत के अतीत गौरव का ऐतिहासिक चित्र उपस्थित कर प्रसाद ने राष्ट्र के सांस्कृतिक महत्व की स्पष्ट अभिव्यक्ति की। चंद्रगुप्त नाटक में प्रसाद ने सिल्यूकस की पुत्री कार्नेलिया के मुख से कहलवाया है कि अन्य सब देश मनुष्यों की जन्मभूमि हैं, परंतु भारत मानवता की जन्मभूमि है। इस प्रकार हिंदी राष्ट्रीय चेतना से ओतप्रोत है।

राष्ट्रीय चेतना के अतिरिक्त हिंदी सर्वदा ही युग चेतना के साथ डग मिलाती अग्रसर होती रही है। वैज्ञानिक विचार-धारा, मनोवैज्ञानिक विवेचन पद्धति, जनतांत्रिक चेतना और सांस्कृतिक पुनरुत्थान की भावना इन सभी युग-चेतनाओं को हिंदी ने भली प्रकार आत्मसात किया। युग के साथ विचार, भावना, कला और अभिव्यक्ति सब में समुचित परिवर्तन करते रहना हिंदी ने भली प्रकार जाना है। रीतिकालीन नायिका-भेद, लक्षण ग्रंथों और नख-शिख के वर्णनों से सहसा जयद्रथ-बध, भारत भारती और प्रिय-प्रवास की आधुनिक विचारधारा की सहज अभिव्यक्ति पर पहुँच जाना हिंदी के लिये किस प्रकार संभव हो सका है यह इतिहास के विद्यार्थियों के लिये अत्यत आश्चर्यजनक है और फिर एक ही दशाब्दी पश्चात् जयद्रथ बध से प्रसाद के 'आंसू' और पंत के 'परिवर्तन' जैसी छायावादी रचनाओं तक पहुँचना हिंदी की अद्भुत प्रगति का परिचायक है। १८९३ के पश्चात् हिंदी जिस गति से आगे बढ़ी है वह साहित्य के इतिहास में अभूतपूर्व है। १८९३ से पूर्व हिंदी की दयनीय दशा का चित्रण पहले हो चुका है। बीसवीं शताब्दी में हिंदी उठ खड़ी हुई और वामन ने जैसे विराट् रूप धारण किया था, उसी प्रकार हिंदी ने द्विवेदी युग, छायावाद युग और प्रगतिवाद-प्रयोगवाद युग के तीन डग भर अपने विराट् रूप का प्रमाण उपस्थित किया। हिंदी के उपन्यास साहित्य ने १८९१ में चंद्रकांता के रूप में अपनी आँखें खोलीं और कुछ ही दिन में असंख्य उपन्यास-पाठक उर्दू और अंग्रेजी छोड़ हिंदी सीखने लगे। देवकीनंदन खत्री के ऐयारी और तिलस्मी उपन्यास ऐसे ही आकर्षक थे। फिर दो ही दशाब्दी में प्रेमचंद के हिंदी उपन्यासों ने एक क्रांति मचा दी। हिंदी की यह प्रगति केवल इसी कारण हो सकी कि इसने युग-चेतना के साथ डग बढ़ाया।

हिंदी की एक अन्य विशेषता उसकी संतुलन और समन्वय की भावना है। हिंदी की जातीय विशेषता—यदि इस प्रकार की कोई विशेषता होती हो तो उसकी समन्वय भावना है। दो छोरों के बीच मध्य का मार्ग ग्रहण करना, दूसरे साहित्य की विशेषताओं को ग्रहण करते समय उसे अपनी प्राचीन परंपरा में समन्वित करते रहना, हिंदी की एक महत्व-पूर्ण विशेषता है। द्विवेदी युग में जिस समय हिंदी के ऊपर अनेक गद्य-शैलियों का प्रभाव पड़ रहा था—एक ओर संस्कृत का शब्दाडंबर, अलंकार-प्रियता और वर्णन-नैपुण्य; दूसरी ओर

बंगला-भाषा की रसात्मकता और भावुकता की बाढ़, कोमलकांत पदावली तथा व्यंजनापूर्ण विशेषण; तीसरी ओर मराठी साहित्य की आलंकारिकता और तर्कशील रुक्षता और गंभीरता, चौथी ओर उर्दू का उक्ति-वैचित्र्य, भाषा की उछल-कूद, नाज व अंदाज तथा विनोदप्रियता और अंग्रेजी की स्पष्ट और सरल व्यंजना तथा प्रभावशालीता अपने प्रभाव डाल रहे थे—उस समय हिंदी ने अंग्रेजी की स्पष्ट भाव-व्यंजकता, बंगला की सरसता और माधुर्य, मराठी की गंभीरता और उर्दू का प्रवाह ग्रहण किया और इस प्रकार एक संतुलित और समन्वित भाषा-शैली और भाव-धारा का विकास किया। यह बात नहीं कि हिंदी में अतिवाद है ही नहीं, अतिवाद हिंदी में ही क्या सभी भाषाओं के साहित्य में पाए जाते हैं, परंतु हिंदी में अति-बाद का समर्थन अधिक समय तक नहीं हो सका—समन्वय और संतुलन की शक्तियों ने अतिवाद को अधिक देर तक ठहरने नहीं दिया। मध्यदेश की सांस्कृतिक समन्वय की चेतना का प्रभाव हिंदी पर इसी रूप में पड़ा है।

हिंदी संस्कृत की समस्त साहित्यिक और सांस्कृतिक परंपराओं की उत्तराधिकारिणी है और उसने अपने उत्तराधिकार को संपूर्णतः सुरक्षित रखा है। सूर, तुलसी, कबीर, विद्यापति, मीराँबाई जैसे महाकवियों और गायकों की साहित्य-निधि से सपन्न हिंदी की सप्राणता अतुलनीय है। विरोधी शक्तियों ने कितनी ही बार हिंदी के लिये कठिन परिस्थितियाँ उत्पन्न कर दीं, परंतु अपनी सप्राणता के कारण हिंदी सर्वदा सब कुछ झेलने में समर्थ रही और अवसर पाकर उसने प्रगति भी पर्याप्त की। पिछले एक सहस्र वर्ष से हिंदी एक विजित, पददलित और निराश जनसमूह की भाषा है, फिर भी अपनी सप्राणता के कारण वह आज भी जीवित है, जीवित ही नहीं चैतन्य है और चैतन्य ही नहीं गतिशील भी है।

—श्रीकृष्ण लाल

२—नाटक

नागरी प्रचारिणी सभा की स्थापना के बाद का एक दशक भारतेंदु काल के अंतर्गत आता है। हिंदी नाटक-साहित्य के ५० वर्षों का इतिहास प्रस्तुत करते समय इस काल की सामान्य नाट्य प्रवृत्तियों पर विचार करना आवश्यक हो जाता है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने 'हिंदी साहित्य का इतिहास' में लिखा है—'विलक्षण बात यह है कि आधुनिक गद्य साहित्य की परंपरा का प्रवर्तन नाटकों से हुआ।' लेकिन गंभीरतापूर्वक विचार करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि विलक्षण बात तो तब होती जब हिंदी गद्य परंपरा का प्रवर्तन नाटकों से न हुआ होता। तत्कालीन परिस्थितियों में यही स्वाभाविक था। नाटक साहित्य के अन्य रचना-प्रकारों की अपेक्षा कहीं अधिक प्रभावोत्पादक तथा मोहक प्रकार है। यह भौतिक जगत से घनिष्टतम रूप से संबद्ध है। राष्ट्रीय चेतना की अभिव्यक्ति की दृष्टि से भी यह सर्वोत्तम रचना-विधान है। दृश्य-काव्य होने के कारण रंगमंच से अलग करके इस पर विचार नहीं किया जा सकता। रंगमंच के माध्यम से भावों और विचारों को प्रेक्षकों तक प्रेषणीय बनाने का यह अत्यधिक समर्थ और सुगम साधन है। विभिन्न देश और काल के व्यक्तियों तथा परिस्थितियों की अवतरणा नाटक में बहुत ही अधिक रुचिकर ढंग से की जा सकती है। भारतेंदु हरिश्चंद्र तथा उनके मंडल के अन्य लेखक देश की सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक विधि के प्रति पूर्ण जागरूक थे। इनकी अभिव्यंजना के लिये नाटक से बढ़कर दूसरा और कौन रचना प्रकार अपनाया जाता ? हिंदी-गद्य-साहित्य के प्रवर्तन में नाटकों के महत्त्व को समझने के लिये अपने देश की परंपरा पर भी विचार करना होगा। हमारे देश की साहित्यिक परंपरा में नाटक प्रभूत मात्रा में उपलब्ध होते हैं। आख्यायिका साहित्य नाटकों की भाँति कभी भी लोकप्रिय नहीं हो सका। मात्रा की दृष्टि से विचार करने पर नाटक साहित्य संस्कृत केअन्य रचना-प्रकारों को पीछे छोड़ देता है। भारतेंदु मंडल के लेखकों का नाट्य-रचना-संकल्प इसी परंपरा के मेल में है।

विषय और रूप-विधान का अन्योन्याश्रित संबंध है। भारतेंदु मंडल के लेखकों की उद्देश्यपूर्ति नाट्य रचना-द्वारा अधिक सफलतापूर्वक हो सकती थी। द्विवेदी युग के जिस सुधारवादी आंदोलन की चर्चा प्रायः की जाती है, उसका सूत्रपात भारतेंदु के समय में ही हो चुका था। 'सत्य हरिश्चंद्र' नाटक की भूमिका में भारतेंदु ने स्वयं लिखा है कि यदि पाठक के चरित्र में इससे कुछ भी सुधार हुआ, तो मैं अपना श्रम सार्थक समझूँगा। खड्ग बहादुर मल्ल ने 'हरि तालिका नाटिका' की भूमिका में अपने उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए कहा है—'एक दिन यही विचार करते रहे और सोचते रहे थे कि इन विद्योत्साहिनी कुल-बधुओं के लिये कैसे नाटकों की आवश्यकता है ? तो यही बात मन में स्थिर हुई कि उनके विश्वास के अनुसार पातिव्रत धर्म्म और गृहकार्यादि कथा संयुक्त मनोहर रूपक अधिक

हृदयग्राही और उपयुक्त होंगे।' यह सोद्देश्यता उस काल के नाटकों की सामान्य विशेषता रही है।

भारतेंदु तथा उनके मंडल के लेखकों ने जीवन की व्यापक समस्याओं को अपने नाटकों का विषय बनाया। विषय की विविधता संस्कृत नाट्य परंपरा में प्रायः नहीं पाई जाती। इस सोद्देश्यता को अच्छी तरह समझने के लिये हमें देखना होगा कि इन नाटककारों ने किन समस्याओं को उपस्थित किया ? ये नाटक कौन सा संदेश वहन करते हैं ? वे सामाजिकों को क्या दिशा-ज्ञान देते हैं ? उनके हँसी के आलंबन क्या हैं ? उनके व्यंग की चोट कहाँ पड़ती है ?

परंपरा से चली आती हुई साहित्यिक धारा से विच्छिन्न होकर साहित्य में सहसा किसी नई धारा का प्रादुर्भाव नहीं होता। भारतेंदु के आगमन के पूर्व रीतिकालीन कविताओं में शृंगारिक, धार्मिक तथा नीतिपरक अभिव्यक्तियाँ पाई जाती हैं। अपने नाटकों के लिये इन लेखकों ने इन क्षेत्रों से विषय ग्रहण किए। अंग्रेजों के संपर्क में आने पर जिस राष्ट्रीय चेतना का उदय हुआ उसकी अभिव्यक्ति भी नाटकों में हुई। धार्मिक नाटकों में पौराणिक नाटकों (राम-कृष्ण तथा रामायण, महाभारत से संबद्ध) की गणना की जायगी। शृंगारिक नाटकों की रचना सुखांत कथानकों के आधार पर की गई है। नीतिक नाटकों को हम सामाजिक नाटक कह सकते हैं। राष्ट्रीय चेतना की दो धाराएँ हैं—ऐतिहासिक तथा राजनीतिक। यों ऐतिहासिक धारा को पृथक् वर्ग में नहीं रखा जाना चाहिये, क्योंकि इनका उद्देश्य प्राचीन गौरव-गाथा के आधार पर जागरण का नया संदेश देना है।

पाश्चात्य संस्कृति के अंधड़ को रोकने के लिये बंगाल तथा उत्तर भारत में सांस्कृतिक जागरण का जो तीव्र आलोक फैला, उसकी प्रतिध्वनि इस काल के नाटकों में विविध प्रकार से हुई। राम-कृष्ण की लीलाओं से अपनी विस्मृत संस्कृति को याद किया गया, पौराणिक चरित्रों की अवतारणा से सत्य, दान, पातिव्रत्य का आदर्श उपस्थित करने का प्रयास हुआ। बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह आदि कुरीतियों के करुण-चित्र खींचे गए। गो-संकट की आवाज उठाई गई। देश-दुर्दशा के चित्रण से राष्ट्रीय भावना जगाने का प्रयत्न किया गया।

इस समय के प्रहसनों के प्रमुख आलंबन हुए धर्म की ओट में अपना उल्लू सीधा करनेवाले पंडे, पुरोहित, धर्मगुरु, वेश्यागामी पुरुष और पाश्चात्य संस्कृति में डूबे हुए नवशिक्षित 'तन मन धन श्री गोसाईं जी के अर्पण' 'कलि कौतुक' आदि में धर्म के नाम पर अनेक प्रकार के कुकृत्य करनेवाले साधुओं, गोसाइयों इत्यादि को व्यंग का लक्ष्य बनाया गया है। वेश्यागामी पुरुषों पर व्यंग करने के लिये उनके विरोध में स्त्रियों के सतीत्व का पक्ष रखा गया है। पाश्चात्य संस्कृति का अंधानुकरण करनेवालों को 'देशी कुतिया विलयती बोल'' ऐसे प्रहसनों में व्यंग का आलंबन बनाया गया है।

यद्यपि भारतेंदुकाल के प्रारंभिक नाटकों में संस्कृत नाटकों की परिपाटी का अनुवर्तन किया गया, किसी सभा की स्थापना के समय तक संस्कृत की नाटकीय पद्धति का लदाव बहुत कुछ कम हो चला था। स्वगत कथन और लंबे कथोपकथन की परिपाटी ज्यों की त्यों चलती रही। ऐतिहासिक-पौराणिक नाटकों की कथाओं में कथा की नवीन उद्भावना

और दृष्टिकोण की नवीनता नहीं मिलेगी। इनके कथानकों में शिक्षाप्रद भावना अपने आप मिल जाती है। जब नाटककारों के स्थूल उद्देश्यों की पूर्ति सहज में ही हो जाती है, तब नई उद्भावनाओं की आवश्यकता ही क्या थी। सामाजिक नाटकों के कथानक तत्कालीन वातावरण से ग्रहण किए गए। प्रेम-प्रधान नाटकों के कथानक कल्पना-प्रसूत हैं, इनके विकास में जिस आकस्मिकता का विधान किया गया है, वह नाटकीय नहीं है। इन नाटकों की कथावस्तु का विकास कथानक रूढ़ियों के विधान पर होता है। पत्रलेखन, योगिनी का वेश धारण करना, अहेर के समय आकस्मिक भेंट, कथानक रूढ़ियों के अंतर्गत आते हैं। चरित्रों का व्यक्तित्व, नाटककारों के व्यक्तित्व से लिपटा रह गया, उनकी स्वतंत्र स्थिति नहीं बन सकी। रीतिकालीन कविता के प्रभाव से चमत्कार प्रदर्शन की प्रवृत्ति भी दिखाई पड़ी।

द्वितीय युग में सुधारवाद पर विशेष जोर दिया गया। इस सुधारवाद पर आर्य समाजी नैतिकता और गांधीवादी सात्विकता का गहरा प्रभाव पड़ा। पारसी रंगमंच के कुरुचिपूर्ण वातावरण से भारतेंदु युग के लेखक भी परिचित थे, किंतु रंगमंच को सुरुचि-संपन्न बनाने का सचेत-प्रयास इस युग में किया गया। राजनीतिक चेतना का प्रतिफलन भी इस युग में कुछ दूसरे ढंग से हुआ। सांस्कृतिक जागरण से प्रेरणा प्राप्त कर कुछ सांस्कृतिक नेताओं को भी नाटक का विषय बनाया गया।

द्विवेदी युग में जिस शुद्धिवादी दृष्टि का प्रादुर्भाव हुआ, उसकी नींव भारतेंदु युग में ही पड़ चुकी थी। किंतु इस काल में उसपर विशेष बल दिया जाने लगा। सन् १९०० ई० से १९२१–२२ तक इस प्रवृत्ति को सर्वत्र देखा जा सकता है। सभा का आर्यभाषा पुस्तकालय, कदाचित् एक विशेष दृष्टि की सूचना देता है। 'सावित्री नाटक' (१९०० ई०) की भूमिका में नाटक के तीन प्रयोजन बतलाए गए हैं—

(१) प्राचीन युग में विधवा विवाह की रीति प्रचलित न थी।

(२) स्त्री-शिक्षा का प्रचार था, और स्त्रियों को वेदादि सत्य शास्त्रों तक पढ़ने का अधिकार था।

(३) चतुर और धर्मात्मा स्त्रियाँ किस प्रकार अपने पति की सहायता कर सकती हैं। सन् १९२१ में प्रकाशित 'पत्नी व्रत' की भूमिका देखिए—

'अब समय बताता है हमको नाटक के दृश्य मार्मिक हों।
सब खेल खेल के साथ सामाजिक और धार्मिक हों॥'

सब मिल कर विचार किया जाय तो भारतेंदु और द्विवेदी युग में नारी के उत्थान के संबंध में संख्या की दृष्टि से काफी अधिक नाटक लिखे गए। यह सांस्कृतिक जागरण का युग था। हमारे सांस्कृतिक जागरण का मूल प्रेरक तत्त्व था पाश्चात्य संस्कृति। रेलगाड़ी, समाचार-पत्र, नवीन वैज्ञानिक साधन, नागरिक और राजनीतिक जीवन ने पुरानी रूढ़ियों को जबरदस्त धक्का दिया। नारी-उत्थान उस समय के नाटकों की प्रमुख टेक थी।

इस काल में जो पौराणिक नाटक लिखे गए, उनमें बलदेवप्रसाद मिश्र का 'प्रभास-मिलन' बदरी नाथ भट्ट का 'कुरुवन-दहन' और 'वेनचरित' माधव शुक्ल का 'महाभारत'

और 'रामायण', माखनलाल चतुर्वेदी का 'कृष्णार्जुन युद्ध नाटक', मैथिलीशरण गुप्त का 'चंद्रहास' और 'तिलोत्तमा', चंद्रराज भंडारी का 'सिद्धार्थ कुमार', कौशिक का 'भीष्म' और मिश्रबंधु का 'पूर्व भारत' विशेष उल्लेखनीय हैं। कहना न होगा ये पौराणिक नाटक सांस्कृतिक जागरण के प्रतीक हैं। इन नाटकों के द्वारा हिंदी में रोमानी प्रवृत्ति का जन्म और विकास हुआ। इस प्रवृत्ति से एक लाभ यह हुआ कि प्राचीन काल के उदात्त आदर्शों को सामने रखकर पाश्चात्य संस्कृति से बचने का प्रयास किया गया। किंतु इस प्रकार की रोमानी प्रवृत्ति के साथ एक जबरदस्त खतरा लगा रहता है। नवीन सांस्कृतिक प्रवृत्तियों का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है और अपने सांस्कृतिक आदर्शों का मोह हमें प्रतिक्रियावादी बना देता है। पौराणिकता का अत्यधिक मोह इन नाटकों के अधिकांश पात्रों को मानवीय धरातल पर नहीं उतारने देता। वीरपूजा की भावना से रंगे हुए पात्र दर्शकों में एक प्रेरणा, आशावाद और स्फूर्ति का संचार अवश्य करते हैं, किंतु उनकी अतिमानवता से अभिभूत दर्शक उन्हें आदर्श कोटि में बैठा देता है।

ऐतिहासिक नाटकों के लिये वे ही पात्र उपयुक्त समझे गए, जो जीवन पर सात्विक प्रभाव डाल सकें। जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी का 'तुलसीदास' और वियोगी हरि का 'प्रबुद्ध यामुन' ऐसे ही नाटक हैं। प्रहसन के लिये अब और व्यापक क्षेत्र मिला। बदरीनाथ भट्ट ने नये वातावरण के अनुकूल नये विषयों का चुनाव किया। विवाह-विज्ञापन' और 'मिस अमेरिका' ऐसे ही प्रहसन हैं। विवाह-विज्ञापन' में कृत्रिम साजसज्जा (मेकअप) और रूप पर व्यंग है। इस प्रहसन में पाश्चात्य सभ्यता के 'मेकअप' जन्य रूप पर आकृष्ट होनेवाले व्यक्तियों पर व्यंग किया गया है। 'मिस अमेरिका' योरोपीय सभ्यता और संस्कृति का प्रतिनिधित्व करती है। मिस अमेरिका के जीवन का एकांत लक्ष्य धन है। मिस अमेरिका के माता पिता पूर्वीय आध्यात्मिकता को केवल वायवी वस्तु समझते हैं। रंग-भेद की नीति में उनकी अटूट आस्था है। आज भी 'मिस अमेरिका' का अथानक पश्चिम के अधिकांश देशों, विशेषरूप से अमेरिका का प्रतिनिधित्व करता है। इस प्रहसन का आलंबन भी पाश्चात्य संस्कृति है।

(२)

सभा की स्थापना के कुछ दिन बाद हिंदी का रंगमंच स्थापित करने का प्रयास किया गया, किंतु खेद है कि आजतक हिंदी रंगमंच की स्थापना को कौन कहे उसकी रूपरेखा भी नहीं निश्चित की जा सकी। भारतेंदु तथा उनके सहयोगी पारसी रंगमंच के कुरुचिपूर्ण वातावरण से अच्छी तरह परिचित थे। अपने 'नाटक' में उन्होंने लिखा है—"काशी में पारसी नाटकवालों ने नाच-घर में जब शकुंतला नाटक खेला और उसमें धीरोदात्त नायक दुष्यंत खेमटे-वालियों की तरह कमर पर हाथ रखकर मटक मटक कर नाचने और 'पतरी कमर बल खाय' यह गाने लगा तो डा० थिबो, बाबू प्रमदादास मित्र प्रभृति विद्वान यह कह कर उठ आए कि अब देखा नहीं जाता। ये लोग कालिदास के गले पर छुरी फेर रहे हैं।" इन कंपनियों का व्यावसायिक दृष्टिकोण किसी प्रकार स्वस्थ नहीं कहा जा सकता। इनका चरम लक्ष्य पैसा कमाना था। देश का सांस्कृतिक परिष्कार इनकी कल्पना के बाहर की वस्तु थी। सन् १९०३ मे 'हिंदी प्रदीप' के संपादकीय में पारसी-थियेटर की कड़ी

आलोचना की गई। 'रामवनगमन' (१९१०) की भूमिका में इसकी ओर संकेत करते हुए लिखा है—"पारसी लोग जो हिंदू संबंधी नाटक खेलते हैं, उसकी भाषा प्रायः उर्दू होती है, वो भाव भी प्रायः हिंदुओं के विरुद्ध ही होता है।" पारसी थियेटर के विरोध में द्विवेदी युग में कुछ अव्यावसायिक मंडलियाँ स्थापित की गईं। इस समय कानपुर, प्रयाग और काशी हिंदी के तीन प्रमुख केंद्र थे। कानपुर में, भारतेंदुकाल में, कुछ नाट्यमंडलियाँ स्थापित की गईं, किंतु वे अकाल में काल-कवलित हो गईं। सन् १८९८ ई० में प्रयाग में 'रामलीला नाटक मंडली' स्थापित की गई। सन् १९०८ में इस मंडली का पुनरुद्धार माधव शुक्ल ने किया। इस मंडली ने महाराणा प्रताप और माधव शुक्ल का महाभारत आदि नाटकों को रंगमंच पर सफलतापूर्वक खेला।

इस संबंध में काशी की नाट्य मंडलियों का विशेषरूप से उल्लेख करना होगा। अन्य स्थानों की अपेक्षा यहाँ पर इनकी स्थापना में अधिक उत्साह दिखाई पड़ा। सन् १९०८ में स्थानीय हिंदू स्कूल में राधाकृष्णदास का 'राणाप्रताप' खेला गया। उस नाटक को देखने के लिये काशी के प्रसिद्ध नगर सेठ बीसू जी के पौत्र बा० कृष्णदास साह गए हुए थे। बा० कृष्णदास जी उस नाटक से इतने अधिक प्रभावित हुए कि दूसरे दिन हरिदास माणिक और धर्मदत्त शास्त्री को बुलाकर 'राणाप्रताप' के अभिनय के संबंध में परामर्श किया। उनका विचार था कि इसका अभिनय कहीं शहर में किया जाय। अर्थाभाव के कारण माणिक जी तथा शास्त्री जी ने इसके अभिनय में असमर्थता व्यक्त की। इस संबंध में काशी के रईसों की एक सभा बुलाई गई और एक नाट्यमंडली की स्थापना की गई। इसका नाम रखा गया 'नागरी नाट्यकला प्रवर्तक मंडली' इसके नामकरण पर 'नागरी प्रचारिणी सभा' के नाम का प्रभाव स्पष्ट दिखाई पड़ता है। उस मंडली के नाम के आगे 'नागरी' शब्द का जोड़ा जाना सभा के प्रभाव का सूचक है। 'नाट्यकला प्रवर्तक' के मूल में पारसी नाटक कला की प्रतिक्रिया अनुस्यूत है। बाद में पारस्परिक मतभेद के कारण यह नाटक मंडली दो मंडलियों में बँट गई— नागरी नाटक मंडली और भारतेंदु नाटकमंडली। नागरी नाटक मंडली ने पं० सुधाकर द्विवेदी को सभापति बनाया। नागरी नाटक मंडली सभा के संस्थापक श्यामसुंदरदास से साहित्यिक परामर्श लिया करती थी। कृष्णगढ़ नरेश की सहायता से इस मंडली ने कबीरचौरा में एक रंगमंच का निर्माण भी किया है, जो अभी अधूरा है। माधव शुक्ल ने कलकत्ते में 'हिंदी नाट्य परिषद' के नाम से एक नाटक मंडली की स्थापना की।

इन नाट्य मंडलियों के लिये लिखे गए नाटक रंगमंचीय नाटक थे। इनके संबंध में विचार करने के पूर्व इनके अविर्भाव काल की परिस्थितियों को देख लेना होगा। यद्यपि इन नाटकों का प्रणयन पारसी थियेटर की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप हुआ था। फिर भी पारसी कंपनियाँ इन्हें विरासत के रूप में मिली थीं। विरासत को छोड़ कर सहसा नई परंपरा का प्रवर्तन संभव नहीं है। पारसी नाटक कंपनियाँ देश में जिस कुरुचिपूर्ण और गंदे वातावरण की सृष्टि कर रही थीं, उसे परिष्कृत करने के निमित्त इन नाट्य मंडलियों को कार्यक्षेत्र में अवतरित होना पड़ा। पारसी थियेटर से अभ्यस्त जनता को धीरे-धीरे नई सांस्कृतिक रुचि की ओर मोड़ा जा सकता था। वास्तव में जनता पारसी

थियेटर की वाह्य साजसज्जा की ओर अधिक आकृष्ट होती थी। अव्यवसायी कंपनियों ने अंशतः उनकी सज्जा, नृत्य-गान, हाव-भाव और धूमधाम को ग्रहण किया। जनता में नई रुचि उत्पन्न करने के लिये यह अत्यन्त आवश्यक था। इन अव्यवसायी कंपनियों के पास इतना धन नहीं था कि अपने पैसे से नाटक खेलतीं। नाटक खेलने में जो कुछ व्यय होता था, उसे दर्शकों से प्राप्त करना भी इनका उद्देश्य होता था। ऐसी स्थिति में पारसी नाटक परंपरा से सर्वथा संबंध विच्छेद कर लेना इनके लिये स्वाभाविक नहीं था।

पारसी थियेटर के बाह्य उपकरणों को ग्रहण करते हुए भी इन नाटकों की आत्मा उससे सर्वथा भिन्न थी। विषय तथा उनका प्रतिपादन दोनों दृष्टियों से इनमें पर्याप्त गंभीरता का पुट दिखाई पड़ेगा। उर्दू के शोखी और बाजारू गाने के लिये यहाँ कोई स्थान नहीं। इनका हास्य अपेक्षाकृत अधिक गंभीर और संयत है। इन नाटकों द्वारा सबसे महत्वपूर्ण कार्य जो हुआ वह है मर्यादित रुचि का निर्माण। हिंदी के भावी नाटकों के लिये इसने भूमि भी तैयार की।

इस काल में रंगमंचीय नाटक और साहित्यिक नाटक में समन्वय स्थापित करनेवाले नाटककार हैं माखनलाल चतुर्वेदी। इनके नाटक 'कृष्णार्जुन युद्ध' की मूल कथा-वस्तु में कोई उल्लेखनीन परिवर्तन तो नहीं दिखाई पड़ेगा, किंतु इसपर तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों की छाप स्पष्ट देखी जा सकती है। इनके अतिरिक्त रंगमंचीय नाटक लिखने वाले व्यक्तियों में जमुनादास गुप्त और बलदेव प्रसाद खरे के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

(३)

प्रसाद का आविर्भाव हिंदी नाट्य साहित्य में एक नया अध्याय जोड़ता है। हिंदी नाटकों का उन्होंने नवीन शैली से शृंगार किया और उनमें नूतन प्राण-प्रतिष्ठा की। शैली-गत औपचारिकता के कारण वे नई दिशा के निर्देशक नहीं ठहराए जा सकते हैं। अब तक के हिंदी नाटकों के पात्र नाटककार की छाया मात्र थे, प्रसाद ने उन्हें स्वतंत्र व्यक्तित्व प्रदान किया। अपने नाटकों में प्रसाद ने पात्रों के शीलनिरूपण का जो प्रयास किया वह हिंदी के लिये नई बात थी। हिंदी-नाटकों का बहुत अधिक विकास हो जाने पर भी शीलनिरूपण के पुरस्कर्ता के रूप में उनका महत्त्व अक्षुण्ण रहेगा।

यद्यपि प्रसाद ने मुख्यरूप से ऐतिहासिक नाटक ही लिखे तथापि अन्य प्रकार के नाटकों का भी दिशा-निर्देश किया। राज्यश्री, विशाख, अजातशत्रु, स्कन्दगुप्त, चन्द्रगुप्त और ध्रुवस्वामिनी उनके ऐतिहासिक नाटक हैं। 'जनमेजय का नाग यज्ञ' पौराणिक नाटक है। 'ध्रुवस्वामिनी ऐतिहासिक होते हुए भी मूलतः समस्या नाटक है। 'कामना' अन्यापदेशिक नाटक है। 'एक घूँट' को आलोचकों ने हिंदी का पहला एकांकी माना है। गीतिनाट्य के क्षेत्र में भी वे अग्रगण्य हैं। 'करुणालय' हिंदी का पहला गीतिनाट्य है। पहले हम प्रसाद के ऐतिहासिक नाटक तथा उसकी परवर्ती परंपरा पर विचार करेंगे।

प्रसाद ने 'विशाख' की भूमिका में लिखा है—"इतिहास का अनुशीलन किसी भी जाति को अपना आदर्श संगठित करने के लिये अत्यंत लाभदायक सिद्ध होता है।......'

क्योंकि हमारी गिरी दशा को उठाने के लिये हमारी जलवायु के अनुकूल जो हमारी अतीत सभ्यता है, उससे बढ़कर उपयुक्त और कोई भी आदर्श हमारे अनुकूल होगा कि नहीं इसमें मुझे पूर्ण संदेह है······मेरी इच्छा भारतीय इतिहास के अप्रकाशित अंश में से उन प्रकाण्ड घटनाओं का दिग्दर्शन कराने की है, जिन्होंने हमारी वर्तमान स्थिति को बनाने का बहुत प्रयत्न किया है"। ऐतिहासिक नाटक लिखते समय प्रसाद ने जो दृष्टिकोण अपनाया था उसका संकेत उपर्युक्त भूमिका में कर दिया गया है। उक्त कथन से हम तीन निष्कर्ष निकालते हैं—(१) ऐतिहासिक घटनाएँ हमारे आदर्श को संघटित करने के लिये लाभदायक हैं अर्थात वे साधन हैं साध्य नहीं; (२) जलवायु के अनुकूल होने के कारण वे हमारी सांस्कृतिक परंपरा के संकेत-चिह्न हैं और (३) उनमें उन परिस्थितियों के अंकन का प्रयत्न किया गया है, जो हमें आज की स्थिति में ले आने के लिए जिम्मेदार हैं।

ऊपर के निष्कर्षों से भ्रम फैल सकता है कि प्रसाद सांस्कृतिक पुनरुत्थानवाद के समर्थक हैं। इसमें संदेह नहीं कि उन्होंने सांस्कृतिक पृष्ठभूमि पर भारतीय संस्कृति के संस्कृति के प्रभावोत्पादक चित्रों को खूब उभारकर अंकित किया है। किंतु भारतीय संस्कृति के ह्रासोन्मुख रूढ़ियों को यथास्थान चित्रित करने का उनका प्रयास कम सराहनीय नहीं है। उनके ऐतिहासिक, सांस्कृतिक चित्रों में वर्तमान और भविष्य के लिये जीवन्त संदेश भरे पड़े हैं। देशभक्ति और राष्ट्रीयता का भी उनके नाटकों में पूरा पूरा समावेश हुआ है। दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि राष्ट्रीय जागरण तथा उसकी त्रुटियों को अंकित करने के लिये उन्होंने इतिहास का आच्छादन ग्रहण किया था। विभिन्न संस्कृतियों के पारस्परिक संघर्ष तथा अवांतर संस्कृतियों के वैषम्य को दिखाते हुए भी वे मूलवर्तिनी भारतीय सांस्कृतिक धारा को बनाए रखने में पूर्ण समर्थ दिखाई पड़ते हैं।

प्रसाद कोरे ऐतिहासिक नाटककार नहीं हैं। यद्यपि इतिहास की सीमाओं में बँधे रहने के कारण उनकी कल्पना को स्वच्छन्द विहार का अवसर नहीं प्राप्त हुआ तथापि उन्होंने स्वतंत्र अनैतिहासिक पात्रों और घटनाओं की योजनाएँ प्रस्तुत की हैं। देवसेना, विजया, जयमाला, मंदाकिनी आदि ऐसे ही पात्र हैं। भटार्क और अनंत देवी का संबंध-स्थापन, तक्षशिला के गुरुकुल में चाणक्य और चन्द्रगुप्त का सामीप्य ऐसी योजनाएँ हैं, जिनका कोई ऐतिह्य नहीं है। कथा की कड़ियो को मिलाने के लिये ऐसा करना आवश्यक था।

भारतीय नाटकों में दुःखांत के लिये कोई स्थान नहीं है। प्रसाद ने इस परंपरा का निर्वाह किया है। फलस्वरूप उनके नाटकों में आशावादिता का संदेश सर्वत्र सुनाई पड़ता है ? नियतिवाद से अत्यधिक अभिभूत होने के कारण वे आशावादिता को आधुनिक अर्थ में नहीं ग्रहण कर पाए हैं। स्कंदगुप्त में नियतिवाद अपने पूरे उत्कर्ष पर है। पूरे नाटक पर अवसाद की धुँधली छाया दिखाई पड़ती है। आधुनिक अर्थ में इसे ट्रेजिडी कहा जायगा। प्रमुख पात्र का अवसान ही दुःखांत की पहचान नहीं है। न तो मानवीय सुख और दुख का चित्रण ही एक नाटक को सुखांत और दूसरे को दुःखांत बना सकता है। वास्तव में सुखांत और दुखांत के निर्णायक तत्त्व वे संवेगात्मक मूल्य (इमोशनल वैल्यूज) होते हैं

जो नाटक के अंत में प्रतिफलित होते हैं। जातीय जीवन की रक्षा में अपना सब कुछ गवाँ देने पर भी स्कंदगुप्त का जीवन जिस खिन्नता और उदासीनता से भरा हुआ दिखाई पड़ता है, उसका प्रभाव पाठकों पर भी पड़ता है। भारतीय नाट्यशैली की दृष्टि से ही इसे सुखांत कहा जा सकता है।

प्रसाद ने चरित्रनिरूपण पर विशेष जोर देकर अब तक चली आती हुई रस-प्रधान नाट्यधारा को जबरदस्त मोड़ दिया है। अनेक प्रकार की परिस्थितियों के बीच अपने पात्रों को खड़ा करके उन्होंने जिन अंतर्द्वन्द्वों का विधान किया है वे आधुनिक मनोविज्ञान के अनुकूल हैं। विरोधी विचार वाले पात्रों की संघर्ष-योजना में उन्हें अधिक सफलता मिली है। स्कंद गुप्त भटार्क, अजातशत्रु-विंसार भिन्न भिन्न प्रवृत्तियों के विरोधी चरित्र हैं। चाणक्य प्रसाद की सर्वोत्तम सृष्टि है। इतना सशक्त व्यक्तित्व, दृढ़ इच्छा-शक्ति, अदम्य उत्साह तथा प्राणवत्ता अन्यत्र नही मिलती। नारी-चरित्रों की अनेक विधि-कल्पना के वे अद्भुत शिल्पी हैं।

संस्कृत नाटकों का काव्यात्मक वातावरण प्रसाद के नाटकों में भी पाया जाता है। प्रसाद मूलतः कवि हैं। उनका कवि क्या नाटक क्या कहानी सर्वत्र विद्यमान रहता है। कवि की भावुकता उसे यथार्थवादी भूमि पर नहीं उतरने देती। प्रसाद के अधिकांश पात्र भावुका हैं। यह भावुकता पात्रों के भाषणों तथा कार्यपद्धतियों में पाई जाती है।

रंगमंच की दृष्टि से प्रसाद के नाटक अभिनेय नहीं हैं। घटना-विस्तार, लंबे दार्शनिक भाषण, भाषा की क्लिष्टता, स्वागत-कथन की अस्वाभाविकता आदि अनेक ऐसी बातें हैं, जो अभिनेता और सामाजिक के मार्ग में खाई का काम करती हैं। सच पूछिए तो उनके अधिकांश नाटक रंगमंचीय नाटक नहीं हैं। वे पाठ्य नाटक कहे जा सकते हैं।

ऐतिहासिक नाटककारों में हरिकृष्ण 'प्रेमी', उग्र, गोविंदवल्लभ पंत, उदयशंकर भट्ट और सेठ गोविंददास के नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं। गणना के लिये मिलिन्द का नाम भी जोड़ा जा सकता है। प्रेमी ने अपने नाटकों की कथावस्तु भारत के मध्यकालीन इतिहास से ग्रहण की है। अपने 'शपथ' की कथावस्तु का चुनाव हूणोंके बर्वर आक्रमण से लिया गया है। किंतु प्रेमी की ख्याति उनके 'रक्षाबंधन' तथा 'शिवासाधना' पर विशेष रूप से आधारित है। प्रेमी के मध्यकालीन भारतीय इतिहास से सामग्री ग्रहण करने के मूल में उनकी सम-सामयिक राजनीतिक परिस्थिति निहित है। प्रेमी के नाटकों में हिंदू-मुस्लिम ऐक्य और सौहार्द की अभिव्यक्ति बड़ी मार्मिक पद्धति पर हुई है। इसके लिये अनुकूल कथावस्तु का चुनाव तथा प्रतिपादन की स्वाभाविकता दोनों समान रूप से दायी हैं। प्रेमी ने प्रसाद की अलंकृत-शैली नहीं अपनाई है। प्रसंगानुकूल संवाद-योजना में प्रेमी काफी कुशल हैं। प्रसाद के नाटकों की भाँति इनके नाटक दार्शनिकता के बोझ से बोझिल नहीं हैं। रंगमंच की दृष्टि से भी इनके नाटक काफी सफल कहे जायँगे। नाटक के वाह्य पक्ष में प्रेमी ने प्रसाद की अपेक्षा अधिक आधुनिक शैली अपनाई है। किंतु नाटक के आंतरिक औदात्य और अंदर्द्वंद्व की जो गंभीरता प्रसाद के नाटकों में पाई जाती है, वह 'प्रेमी' के नाटकों में नहीं दिखाई पड़ती।

उग्र का 'महात्मा ईसा' रंगमंच की दृष्टि से सफल कहा जा सकता है, किंतु इसकी ऐतिहासिकता त्रुटिपूर्ण है। उदयशंकर भट्ट का 'दाहर वा सिंधपतन' और 'विक्रमादित्य' ऐतिहासिक नाटक हैं। 'सिंधपतन' में नाना प्रकार के आंतरिक विरोध दाहर के पतन के कारण बताए गए हैं। भट्ट जी के विचार से यह हिंदी का प्रथम दुःखांत नाटक है, किंतु भारतेंदु की 'नीलदेवी' भी एक दुखांत एकांकी कहा जायगा। स्वयं भारतेंदु ने इसको 'वियोगांत' कहा है। लेकिन अमीर के बध के उपरांत जिस संयोगात्मक मूल्य की उपलब्धि होती है वह आज के अर्थ में कदाचित् दुःखांत नहीं है। फिर 'नीलदेवी' एक एकांकी है। अतः भट्ट जी के कथन में तथ्य दिखाई पड़ता है। 'सिंधपतन' की भूमिका में भट्ट जी ने लिखा है—'नाट्य-कला का जो वास्तविक तत्त्व है वह वियोगांत नाटकों में ही प्रतिफलित होता है। संयोग की कल्पना तथा उसका सुख ससीम होता है, उसमें अनुभूतियों को बहुत हाथ-पैर नहीं मारने पड़ते, किंतु वियोग की अनुभूति मनुष्य को तन्मय बना देती है। वियोग या दुःख में अनुभूतियों में विस्तार और गहराई दोनों आती है। नाटक में अनुभूतियों की गहराई की अपेक्षा उसका विस्तार अधिक दिखाई पड़ेगा। 'सिंधपतन' के विविध कारणों को नाटकीय कथावस्तु का अंग बनाने का अच्छा प्रयास किया गया है।

गोविंदबल्लभ पंत के राजमुकुट का सारा विन्यास बड़ी ऋजु पद्धति पर चला है। सेठ गोविंददास का 'हर्ष' भी अच्छा नाटक है। इनके अतिरिक्त कुछ और नाटकों का भी उल्लेख किया जा सकता है। चन्द्रगुप्त विद्यालंकार का 'अशोक' और 'रेवा' कैलाशनाथ भटनागर का 'कुणाल' और 'श्री वत्स', लक्ष्मीनारायण मिश्र का 'अशोक', 'वत्सराज', जगदीशचंद्र माथुर का 'कोणार्क' आदि ऐतिहासिक नाटकों की श्रेणी में रखे जायंगे।

अपने ऐतिहासिक नाटकों द्वारा प्रसाद ने जिस परंपरा का प्रवर्तन किया वह बराबर चलती रही। इन नाटककारों ने ऐतिहासिक परिपार्श्व में देश की नवीन समस्याओं को भी रखा। भारतेंदु तथा द्विवेदी युग में नारी की असहायवस्था के प्रति जो दया, दाक्षिण्य उत्पन्न करने का प्रयास किया गया वह इस युग में बदल गया। नारी जागरण की नई लहर ने उन्हें अपने अधिकारों के प्रति सचेत कर दिया। देश की सांस्कृतिक परंपरा के अनुकूल मानवीय गुणों की अभिव्यक्ति प्रायः सर्वत्र की गई। त्याग, क्षमा, बलिदान और उत्सर्ग की भावना से अभिमंडित पात्र नई स्फूर्ति और प्रेरणा भरने में पूर्ण समर्थ हैं। प्रसाद के परवर्ती ऐतिहासिक नाटककारों ने रंगमंच को भी बराबर ध्यान में रखा है।

(४)

प्रसाद के पौराणिक नाटक 'जनमेजय का नागयज्ञ' का उल्लेख किया जा चुका है। इसमें महाभारत युद्ध के पश्चात परीक्षित-कालीन कथानक लिखा गया है। इस नाटक में आर्यों 'अनार्यों के आदर्शों और संस्कृतियों के संघर्ष और समन्वय का चित्र उपस्थित किया गया है। नाटक के पात्रों में जीवंतममता नहीं मिलती। एक दूसरे से उलझे हुए पात्रों की स्पष्ट रूपरेखा निश्चित नहीं की जा सकती। अंकों और दृश्यों के विभाजन में कोई सुश्रृंखल योजना नहीं दिखाई पड़ती। इसका सनसनीखेज वातावरण इसे मेलो ड्रामा बना देता है।

पौराणिक नाटक लिखनेवाले साहित्यकारों में उदयशंकर भट्ट का प्रमुख स्थान है। ये इस धारा के प्रतिनिधि लेखक हैं। 'अंबा' और 'सगर-विजय' इनके पौराणिक नाटक हैं। अंबा में नारीत्व की नई चेतना का आकलन हुआ है। महाभारत की कथा को आधुनिक नारी-जागरण की दृष्टि से चित्रित करने में भट्ट जी को सफलता मिली है। उक्त नाटक की भूमिका में उन्हों ने लिखा है—'हम लोग संसारी जीव हैं। संसार की परिधि के बाहर देखने के आदी हमलोग जरूर रहे हैं, परंतु यह मैं कैसे कहूँ कि वह भ्रांत कल्पना थी। इतना कहने के लिये जिस साहस की आवश्यकता है वह मुझ में नहीं है। होने पर देखा जायगा। मैं तो केवल इतना कहूँगा कि हमें अपने संसार को भी देखना चाहिए।' इससे स्पष्ट है कि भट्ट जी ने इन पौराणिक पात्रों में नवीन युग-चेतना को देखा है। महाभारत-काल की सांस्कृतिक स्थिति अच्छी नहीं थी। उसे हम एक प्रकार से ह्रासोन्मुख काल कह सकते हैं। नारी की स्थिति तो उस काल में सर्वाधिक शोचनीय हो गई थी। नारी की सामाजिक स्थिति का जो पतन महाभारत-काल में हुआ वह आधुनिक काल के आरंभ तक थोड़ा बहुत ज्यों का त्यों बना रहा। सच पूछिये तो अंबा का यह कथन कि—'अनादि काल से पुरुष में स्त्री के प्रति तुच्छता का विचार रहा है। सभ्यता के उत्कर्ष में भी स्त्रियों का स्थान बहुत ऊँचा नहीं हुआ।'—एक ऐतिहासिक सत्य की घोषणा करता है। कथानक, संवाद तथा संकलन त्रय की दृष्टि से यह सफल नाटक कहा जायगा। 'सगर विजय' राष्ट्रीय भावनाओं से अनुप्राणित नाटक है। इन्हों ने इसके भीतर नवयुग के सामाजिक संघर्षों को देखा है। वस्तु-संगठन की दृष्टि से 'सगर-विजय' काफी शिथिल कहा जायगा। 'स्वगत' भाषण की अतिशयता तथा संवादों की दीर्घता के कारण यह रंगमंच के अनुकूल नहीं हो पाता।

सुदर्शन ने 'अंजना' में पौराणिक पात्रों को मानवीय भूमि पर उतारने का सफल प्रयास किया है। ऐसा करने के लिये उन्हें संभवतः द्विजेन्द्रलाल राय से प्रेरणा मिली है। गोविंदबल्लभ पंत की 'वरमाला' का कथानक मार्कंडेय पुराण से लिया गया है। सम्पूर्ण नाटक का वातावरण रोमानी है। कथानक में दोहरी-तिहरी कथाओं की लड़ी नहीं है। कथानक बिना किसी वक्रता के सीधी रेखा की भाँति आगे बढ़ता गया है। कथोपकथन प्रसंगानुकूल, सरल तथा प्रभावोत्पादक हैं। रंगमंच पर इसे सफलतापूर्वक उतारा जा सकता है। उनका 'गंगा का बेटा' साधारण नाटक है।

आधुनिक युग में पौराणिक नाटक ऐतिहासिक नाटकों की अपेक्षा संख्या में कम लिखे गए हैं। जहाँ तक नाटकीय औदात्य का प्रश्न है ये नाटक ऐतिहासिक नाटकों की सीमा का स्पर्श नहीं कर सके हैं। बौद्धिकता के विकास के साथ साथ पौराणिक पात्रों के कल्पित चरित्रों में लोगों की आस्था कम हो गई है। इतिहास के निर्माण और पठन-पाठन ने अनेक विस्मृत महापुरुषों को प्रकाश में ला खड़ा किया। इन ऐतिहासिक महापुरुषों से संबद्ध सांस्कृतिक वातावरण की अवतारणा के साथ ही उसके अनुकूल राष्ट्रीय जागरण के अंकन के सुअवसर को ये नाटककार खोना नहीं चाहते थे।

इस युग के पौराणिक नाटक अपने पूर्ववर्ती पौराणिक नाटकों से भिन्न हैं। भारतेंदु-द्विवेदी युग में मौलिक उद्भावनाओं की नितान्त कमी है। उनकी अपनी सीमाएँ थीं। नए

युग की करवट के साथ नए विचारों का जन्म हुआ और पौराणिक वातावरण को नए युग के प्रकाश में देखने का अवसर मिला। अतिप्राकृत प्रसंगों, अतिरंजित घटनाओं तथा अयथार्थ दृश्य विधानों से दूर हट कर इस काल में उन्हें मानवीय धरातल पर देखने का प्रयास किया गया। इसे आज की बौद्धिकता का ही आग्रह समझना चाहिए।

अच्छे सामाजिक और राजनीतिक नाटकों की हिंदी में कमी ही समझना चाहिए। संस्कृत में नाटक प्रायः ऐतिहासिक और पौराणिक कथानकों के आधार पर ही रचे जाते रहे। सामाजिक-राजनीतिक समस्याओं को नाटकों में अंकित करने की परंपरा यहाँ पर नहीं रही, अतः इस प्रकार के नाटकों की कमी अस्वाभाविक नहीं है। सामाजिक-राजनीतिक समस्याओं को सांगोपांग चित्रित करने के लिये साहित्य में एक नए रचना-प्रकार का जन्म हो चुका था। इस तरह की समस्याओं को अंकित करने के लिये उपन्यास का माध्यम अपनाया गया। यह सामाजिक-राजनीतिक नाटकों के अभाव का दूसरा कारण है। रंगमच की अनिर्णीत अवस्था भी इसके लिये उत्तरदायी है। जो कुछ नाटक लिखे भी गए उनमें कोई प्रथम श्रेणी का नहीं कहा जा सकता। उग्र के 'चुंबन' और 'आवारा' में अश्लीलता का काफी उभार है। गोविंद वल्लभ पंत का 'अंगूर की बेटी' नाट्यविधान की दृष्टि से नाटक नहीं कहा जा सकता। यह चित्रपट के लिये लिखा गया है। उदयशंकर भट्ट के 'कमला' और 'अंतहीन अंत' में नवीनता का आग्रह तो जरूर मिलेगा, किंतु इसके कारण सुरुचि-संपन्नता को काफी धक्का भी लगा है।

सेठ गोविन्ददास सामाजिक-राजनीतिक (सोशिओ-पोलिटिकल) धारा के प्रमुख लेखक हैं। इनके अधिकांश नाटकों में गांधीवादी दर्शन को मूल आधार माना गया है। सेठ जी राष्ट्रीय संग्राम के एक सक्रिय कार्यकर्त्ता रहे हैं। राष्ट्रीय-जीवन की अनुभूतियों को इन्होंने अपने नाटकों में रूपायित किया है। 'प्रकाश', 'पाकिस्तान' आदि इनके ऐसे ही नाटक हैं। वृन्दावनलाल वर्मा का 'धीरे धीरे' गांधीवादी सिद्धांत के तथाकथित अनुयायियों पर गहरा व्यंग है। उग्र के 'डिक्टेटर' को भी इसी कोटि में गिनना चाहिए।

(५)

समस्या नाटकों का प्रथम पुरस्कर्ता इब्सन है। १९ वीं शताब्दी ईस्वी के उत्तरार्ध में उसने नाटकों के क्षेत्र में ऐसी क्रांति उपस्थित की कि शेक्सपियर के काव्यात्मक प्रभाव के स्थान पर एक बौद्धिक चेतना का उदय हुआ। उससे प्रेरणा ग्रहण करके शा ने समाज की पिटी परंपराओं तथा सुदृढ़ रोमानी कल्पनाओं पर प्रबल कशाघात किया। हिंदी में इस धारा का प्रवर्तन लक्ष्मीनारायण मिश्र ने किया। अपने नाटकों में मिश्र जी ने विभिन्न सामाजिक स्थितियों के मनुष्य का अध्ययन किया और नई समस्याओं का विश्लेषण उपस्थित किया। ऐतिहासिक नाटकों का आदर्शवादी दृष्टिकोण अपने सीमित घेरे के बाहर नई सामाजिक समस्याओं का स्पर्श नहीं कर सकता था। 'संन्यासी', 'राक्षस का मंदिर', 'मुक्ति का रहस्य', 'सिन्दूर की होली' और 'आधी-रात' में इन्होंने मुख्य रूप से विवाह और काम की समस्याएँ प्रस्तुत की हैं। 'संन्यासी' में रोमानी प्रेम पर कशाघात किया गया है। मालती और किरणमयी काम और प्रेम के संबंध में वैयक्तिक स्वच्छंदता को अधिक महत्त्व देती हैं। मालती अपने रोमांटिक प्रेमी

विश्वकांत की चिंता न करते हुए प्रो० रमाशंकर से विवाह कर लेती है। किरणमयी मुरलीधर को भूल कर दीनानाथ से संसार चलाने के लिये समझौता कर लेती है। मालती और किरणमयी शा के विचारों से प्रभावित ज्ञात होती हैं। उनकी दृष्टि में संसार चलाने का समझौता प्रेम से अधिक श्रेयस्कर है।

'राक्षस का मंदिर' में मुनीश्वर चार्वाक दर्शन के आनंदवाद (निहिलिज्म , में विश्वास करता है। वह विवाह की पवित्रता की हँसी उड़ाता है। ललिता और असगरी के रोमांटिक प्रेम पर लेखक ने प्रहार किया है। 'मुक्ति का रहस्य' भी रोमानी प्रेम और भावुकता पर कड़ा व्यंग है। रोमांस विरोधी विचारों की अभिव्यक्ति स्पष्ट रूप से बर्नर्ड शा के विचारों से प्रभावित है। उसके 'आर्म्स एण्ड दी मैन' में रोमानी प्रेम का भंडाफोड़ किया गया है। 'मैन एण्ड सुपरमैन' का नायक डान जुआन सतीत्व की खूब खिल्ली उड़ाता है। इसमें और भी अनेक मान्यताओं पर आक्षेप किए गए हैं। शा अपनी बातों को एक विशेष ढंग से उपस्थित करता है। उसके कथन का अनोखापन, वाग्वैदग्ध्य और व्यंग की तीव्रता मिश्र जी में नहीं मिलेगी। शा की तल स्पर्शिनी दृष्टि और उसके प्रतिपादन का ढंग भी यहाँ नहीं दिखाई पड़ेगा। फिर भी मिश्र जी का दृष्टिकोण हिंदी के लिए एक नई वस्तु है। इन्होंने समस्याओं का अध्ययन एक रोमांटिक बुद्धिवादी के रूप में किया है। लेकिन जिस संसार की कल्पना वे करते हैं, वह बहुत कुछ आदर्शवादी है। 'सिंदूर की होली', जो उनका सर्वश्रेष्ठ नाटक कहा जाता है, उनके पिछले नाटकों से भिन्न है। विवाह और प्रेम की समस्या यहाँ पर भी है, किंतु इनके प्रतिपादन में उनकी पहले की दृष्टि बदल गई है। जिस रोमानी प्रेम का उनके पहले के नाटकों में उपहास किया गया है, उसी को इस नाटक में आदर्श मान लिया गया है। 'चंद्रकला' के लिये प्रथम दर्शन का प्रेम उसके जीवन का सर्वस्व हो जाता है। एक अपरिचित व्यक्ति के नाम पर वह जन्म भर वैधव्य धारण करने के लिये प्रस्तुत हो जाती है। 'चंद्रकला' को साधारण चरित्र नहीं कहा जा सकता। वह असाधारण (एबनार्मल) पात्र है, उसे न्यूरोटिक भी कहा जा सकता है। जिस भावुकता और रोमानी प्रेम की अन्य नाटकों में हँसी उड़ाई गई है, चंद्रकला उनके सामने प्रश्नवाचक चिह्न लगा देती है। मनोरमा 'वैधव्य' की आदर्शवादिता में पूर्ण आस्था रखनेवाली महिला है। इस प्रकार मिश्र जी के विचारों में एक विरोध (कांट्राडिक्शन) दिखाई पड़ता है।

मिश्रजी ने हिंदी को एक नया दृष्टिकोण ही नहीं दिया उसे नई शैली भी दी है। शा के नाटकों की भाँति इनके नाटकों में भी तीन ही अंक होते हैं। गीत प्रायः नहीं होते, सभी घटनायें एक ही स्थान पर घटित होती हैं। रंगमंच की दृष्टि से इनकी उपादेयता निर्विवाद है। एक ही सेटिंग पर नाटक का अभिनय सफलतापूर्वक किया जा सकता है। संवादों में नाटकीय स्फूर्ति, लघुता और तीव्रता की ओर ध्यान दिया है। आवश्यकतानुसार कहीं कहीं गीतों का भी विधान किया गया है। सन्यासी की किरणमयी एक निश्चित वातावरण में गाती हुई दिखाई पड़ती है। हिंदी के पिछले नाटकों में इन बातों का अभाव है। हिंदी के कुछ और नाटकों पर भी 'समस्या नाटक' का लेबुल दिखाई पड़ता है। किंतु केवल लेबुल के आधार पर उन्हें समस्या नाटक नहीं कहा जा सकता।

[६]

'प्रबोध चंद्रोदय' की भाँति हिंदी के छायावादी काल में दो अन्यापदेशिक नाटक लिखे गए। छायावाद के प्रसिद्ध कवि प्रसाद और पंत ने क्रम से 'कामना', और 'ज्योत्स्ना' अन्याप देशिक नाटक लिखे। 'कामना' में प्रसाद का जीवन-दर्शन व्यक्त हुआ। नाना मनोविकारों का मानवीकरण एक विशिष्ट जीवन-दर्शन भले ही व्यक्त कर ले, किंतु नाटकीय दृष्टि से वह कभी प्रभावोत्पादक नहीं हो सकता। नाटक का ठोस जीवन से गहरा लगाव होता है। मनोविकारों को मूर्त्त रूप में रंगमंच पर उतारना बहुत कुछ पलायनवादी मनोवृत्ति का सूचक है। इस प्रकार के अन्यायदेशिक नाटक बहुत कुछ निश्चित विचार (आइडियोलाजी) को रूपायित करते हैं। ऐसे नाटकों के पात्रों पर सिद्धांतों का इतना जबरदस्त आच्छादन रहता है कि नाटककार उन्हें व्यक्तित्व प्रदान करने में असमर्थ दिखाई पड़ते हैं। खेत के धोखे की भाँति मानवीय वेशभूषा धारण करनेवाले ये सिद्धांत प्राण की ऊष्मा से रिक्त होते हैं। प्रसाद जी ने कामना के पात्रों को वास्तविकता का रूप देने का प्रयास किया है किंतु उन्हें इसमें अत्यल्प सफलता प्राप्त हुई है।

'कामना' में स्वर्ण और मदिरा के प्रचार द्वारा तारा की भोली संतानों में विलास, प्रवंचना, उच्छृंखलता आदि का बीज बोया जाता है। इसका फल यह होता है कि उन संतानों के देश की सुख-शांति नष्ट हो जाती है। विदेशी संस्कृति की कुरीतियों से आक्रांत भारतीय संस्कृति की रक्षा ही इस नाटक का मुख्य उद्देश्य जान पड़ता है। पश्चिम के भौतिकवाद की प्यास मनुष्य को गर्त में ढकेल दे रही है, इसके नियमन के लिए संतोष और विवेक की आवश्यकता है आदि बातें इस नाटक की प्रतिपाद्य हैं।

'ज्योत्स्ना' का चित्रफलक 'कामना' की अपेक्षा बड़ा है। इस नाटक में नवीन मानवतावाद का स्पष्ट स्वर सुनाई पड़ता है। इसमें राष्ट्रीयता और अंतर्राष्ट्रीयता की भावनाओं की चर्चा के साथ साथ मानव-मानव की समता का संगीत सुनाई पड़ता है। इस नाटकीय परंपरा का चलन हिंदी में नहीं हुआ इसे शुभ लक्षण समझना चाहिए।

[७]

अमानत की 'इन्दरसभा' को छोड़ दिया जाय तो प्रसाद का 'करुणालय' हिंदी का प्रथम गीति-नाट्य ठहरता है। 'करुणालय' को गीतिनाट्य का ढाँचा मात्र समझना चाहिए, इसमें नाट्य तत्त्व नहीं के बराबर हैं। निराला का 'पंचवटी प्रसंग' आधुनिक अर्थ में हिंदी का प्रथम गीति-नाट्य है। 'पंचवटी-प्रसंग' की रचना हिंदी के भद्दे कथोपकथनों को दूर रखने के लक्ष्य से ही की गई थी। कथोपकथन की स्वाभाविकता, नाटकीय-कार्य तथा शील-वैचित्र्य सभी दृष्टियों से यह एक श्रेष्ठ गीति-नाट्य है। उदयशंकर भट्ट ने 'विश्वामित्र', 'मत्स्यगंधा' और 'राधा' तीन गीतिम्नाट्य लिखे हैं। भट्ट जी के इन गीति-नाट्यों की नारियाँ आधुनिक चेतना से अभिमंडित हैं। 'विश्वामित्र' की उर्वशी का कथन आज की नारी के सर्वथा अनुकूल है—

'मैं करती हूँ घृणा मनुज से इसलिए
जग का साधन हमें बना सुख ले रहा'

भगवती, चरण वर्मा का 'तारा' एक गीति-नाट्य है। इधर 'कर्ण' नाम का एक गीति-नाट्य उन्हों ने और लिखा है, जो लखनऊ रेडियो से प्रसारित भी हो चुका है। 'कर्ण' महाभारत काल का सबसे अधिक तेजस्वी व्यक्तित्व है। उसे वर्मा जी ने नई मानवतावादी दृष्टि से देखा है। कुछ पौराणिक स्थलों को वैज्ञानिक ढंग से उपस्थित किया गया है। पंत जी के गीति-नाट्यों का संग्रह 'रजत-शिखर' नाम से प्रकाशित हुआ है। इसमें छः गीति-नाट्य हैं। ये अपने संक्षिप्त रूप में रेडियो से प्रसारित भी हो चुके हैं। 'रजत-शिखर' में संगृहीत गीति नाट्यों में प्रवाह ले आने के लिये यति का क्रम गति के अनुरूप परिवर्तित कर दिया गया है। आलाप का भी यथेष्ट ध्यान रखा गया है। सभी नाटक प्रतीकात्मक हैं। इनमें मानव-मन के ऊर्ध्व और समतल के सामंजस्य, आध्यात्मिकता और भौतिकता के समन्वय, विश्व मानवतावाद आदि के संदेश हैं। इन नाटकों पर अरविंद-दर्शन की छाप स्पष्ट देखी जा सकती है।

(८)

इधर हिंदी में एकांकी नाटक अधिक लिखे और खेले जा रहे हैं। स्कूल कालेज और विश्वविद्यालयों में सामान्यतः एकांकी ही अभिनीत होते हैं। इन्हें रंगमंच पर उतारने में समय कम लगता है, पैसे और शक्ति की भी बचत होती है। भारतेंदु युग के नाटकों का सीधा संबंध आज के एकांकी नाटकों से नहीं जोड़ा जा सकता। उन नाटकों में न रंग-निर्देश है न कार्य-गति की क्षिप्रता। संवाद की चुस्ती का भी अभाव है। संस्कृत के नाटकों की सारी कला-स्थूलता से बोझिल आधुनिक युग के इस पौदे का सूख जाना स्वाभाविक था। हिंदी के समीक्षकों ने प्रसाद के 'एक घूँट' को हिंदी का प्रथम एकांकी माना है। यद्यपि अपने नाटकों के टेकनीक में प्रसाद ने पूर्वी और पश्चिमी दृष्टियों के समन्वय की ओर ध्यान दिया है तथापि 'एक घूँट' आधुनिक अर्थ में एकांकी नहीं कहा जा सकता। संवाद, कार्य, गत्वरता आदि दृष्टियों से एक घूँट का पल्ला पुरानी परिपाटियों से नहीं छूट पाया है। फिर भी शास्त्रीय विधानों की हूबहू नकल न करने के कारण प्रसाद की खुली दृष्टि ने नव्यतर आदर्शों और नवीन शिल्प-विधानों की उपेक्षा नहीं की है। हिंदी एकांकी का विकास-क्रम निर्धारित करने के लिये 'एकघूँट' को प्रथम हिंदी एकांकी मान लेना असंगत न होगा।

सन् १९३५ में भुवनेश्वर प्रसाद के 'कारवाँ' का प्रकाशन हिंदी एकांकी के क्षेत्र में नया प्रयोग था। 'कारवाँ' संग्रह की वस्तु तथा शैली दोनों पर पाश्चात्य विचार-धारा की स्पष्ट छाप है। लेखक शा और इब्सन के विश्वासों तथा कला-रूपों से अत्यधिक प्रभावित ज्ञात होता है। समाज के रूढ़ वैवाहिक विश्वासों का उच्छेदन 'कारवाँ' का प्रतिपाद्य है। भारतीय नैतिक मूल्यों की उपयोगिता पर विचार न कर विदेशी मूल्यों के चलन का आग्रह बौद्धिक दासता या शुद्ध प्रतिक्रिया का द्योतक है। यह सच है कि विज्ञान ने देश और काल की सीमाओं को अत्यधिक संकुचित कर दिया है। विश्व के सभी देश एक दूसरे के काफी निकट आ गए हैं। ऐसी स्थिति में हम अपने आदर्श मूल्यों की रक्षा एक कठघरे में बंद करके कहीं कर सकते। विभिन्न विचार-धाराओं का अंतरावलंबन आज की स्थिति में अत्यंत आवश्यक है। किंतु किसी भी विचारधारा को किसी देश विशेष में लागू

करने के पूर्व वहाँ की अपनी स्थिति के अनुरूप अपेक्षित संशोधन करना होगा। इस दृष्टि से 'कारवाँ' में विचारों का संतुलन तो न मिलेगा पर भाषा की शक्ति, उपमानों की नवीनता मनोरम शब्द-चित्र-विधान तथा रचना-शिल्प की नूतनता के कारण उसमें अपूर्व आकर्षण आ गया है।

डा० रामकुमार वर्मा एकांको नाटक के जन्मदाताओं में हैं। 'एक घूंट' के बाद वर्माजी ने कुछ एकांकी लिखे। किंतु वे उनकी प्रारंभिक कृतियां थीं। उनमें नवीन दृष्टि का अभाव है। बाद में लिखे गए एकांकी उनकी नाट्यकला की प्रौढ़ता के द्योतक हैं। वर्मा जी के आदर्श भारतीय हैं। त्याग, दया, करुणा आदि सात्विक मनोवृत्तियों का संनिवेश उनके नाटकों में प्रायः सर्वत्र मिलेगा। इनके मध्यवर्गीय पात्र सुशिक्षित तथा सुसंस्कृत नागरिक हैं, अतः उनके नाटकों का वातावरण मध्यवर्गीय विशेषताओं तथा कमजोरियों से भरा-पुरा है। ऐतिहासिक पात्रों के मनोवैज्ञानिक सूत्रों की पकड़ उनमें खूब है। पृथ्वीराज की आंखें, रेशमी टाई, चारुमित्रा, विभूति, सत्यकिरण, रूपरंग, कौमुदी महोत्सव, तीन एकांकी आदि इनके एकांकी - संग्रह हैं।

हरिकृष्ण प्रेमी हिंदी के सुप्रसिद्ध नाटककार हैं। जिस तरह अपने नाटकों के लिये उन्होंने मध्यकालीन ऐतिहासिक कथाओं का सहारा लिया है, उसी तरह एकांकी नाटकों के लिये भी वहीं से मर्मस्पर्शी लघु सूत्रों को ग्रहण किया है। मध्यकालीन राजपूती शौर्य, आत्माभिमान, आन-बान का चित्रांकन करने में प्रेमी जी को अद्भुत कौशल प्राप्त है। चलती हुई मुहावरेदार भाषा पाठकों और सामाजिकों को उनकी भावाभिव्यक्ति के अत्यधिक समीप ला देती है। सेठ गोविंददास के एकांकी नाटकों में गांधीवादी विचार-धारा सर्वत्र दिखाई पड़ेगी। समस्याओं की व्याख्या तथा उनका स्थूल हल ढूंढ़ निकालने के लिये उनमें पर्याप्त सतर्कता पाई जाती है। मन के सूक्ष्म स्पंदनों की गहराई में पैठने का प्रयास सेठजी ने नहीं किया है। सप्तरश्मि, चतुष्पथ, नवरस, स्पर्धा, पंचभूत और एकादशी इनके एकांकी संग्रह हैं।

उदयशंकर भट्ट ने जीवन को निकट से देखा है। अपने पौराणिक कथावस्तु को भी उन्होंने नए संसर्ग (एसोसिएशन) दिए हैं। उनके मतानुसार नाटकों में रस संचार के अतिरिक्त किसी सुनिश्चित सामाजिक उद्देश्य का होना भी परमावश्यक है। उच्च और मध्यवर्ग की जीवन-विडंबनाओं को चकित कर उन पर गहरी चोट करना इनकी एक प्रमुख विशेषता है। समस्या का अंत, चार एकांकी नाटक, अभिनव एकांकी, स्त्री का हृदय, अस्तोदय क्रांतिकारी और पर्दे के पीछे आदि इनके एकांकी संग्रह हैं।

उग्र, सद्गुरुशरण अवस्थी और गणेशप्रसाद द्विवेदी आदि ने इस क्षेत्र में उल्लेखनीय कार्य किया है। उपेन्द्रनाथ अश्क इस क्षेत्र में बाद में आए किंतु थोड़े ही दिनों में उन्होंने अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान बना लिया। वे आज के प्रमुख एकांकी नाटककारों में हैं। इन्होंने मुख्य रूप से मध्यवर्गीय जीवन की समस्याएँ ली हैं। इनके पात्र हमारे जाने-पहचाने लगते हैं। पारिवारिक जीवन के भीतर पैठकर उनकी समस्याओं का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करने में अश्क काफी कुशल हैं। 'चरवाहे' की सांकेतिकता अपने ढंग की अनूठी चीज है। जीवन की वेदना, तड़प, हास्य, व्यंग, परिहास सभी के चित्रण में एक अनोखापन

है। ये कथावस्तु का चुनाव जीवन के व्यापक क्षेत्रों से करते हैं। वर्गगत संकीर्णताएँ इन्हें अपनी सीमाओं में नहीं बाँध सकी हैं। अभिनेयता इनके नाटकों का प्रधान गुण है। देवताओं की छाया में, तूफान के पहले, चरवाहे, आदिमार्ग, पक्कागाना और पैंतरे इनके एकांकी नाटकों के संग्रह हैं।

रंगमंच और कलात्मक प्रयोग की दृष्टि से जगदीशचन्द्र माथुर का 'भोर का तारा' विशेष उल्लेखनीय है। उक्त संग्रह के परिशिष्ट में रंगमंच के संबंध में उपयोगी सुझाव दिए गए हैं। भारतीय रंगमंच की पूर्णता के लिये ये संगीत को नाटक का आवश्यक तत्त्व मानते हैं। नवीन नाटककारों में विष्णु प्रभाकर ने सामाजिक दृष्टि से अच्छे एकांकी लिखे हैं। 'क्या वह दोषी था ?' नामक उनका एकांकी संग्रह अभी हाल में ही प्रकाशित हुआ है।

इधर विभिन्न रेडियो स्टेशनों पर प्रसारित करने के लिये एकांकियों की माँग हुई और फलस्वरूप बहुत से पुराने नाटककार भी इस क्षेत्र में उतरे। लक्ष्मीनारायण मिश्र, वृन्दावन लाल वर्मा, भगवतीचरण वर्मा आदि को इस दिशा में कार्य करने की प्रेरणा बहुत कुछ रेडियो से ही मिली है।

रेडियो स्टेशनों से प्रसारित किए जानेवाले नाटक दो प्रकार के होते हैं—ध्वनि-एकांकी (रेडियो फीचर) और ध्वनिरूपक (रेडियो ड्रामा)। इनमें रंगमंचका कार्य ध्वनि से लिया जाता है। कायिक अभिनय तथा विभिन्न भावों का प्रदर्शन ध्वनि-भंगिमा पर निर्भर करता है। ध्वनि रूपक में पात्रों के कथोपकथन के अतिरिक्त बहुत सा वर्णन - विवरण सूत्रधार या नैरेटर के माध्यम से दिया जाता है। कुछ कुशल नाटककार अपने नाटकों में आंगिक अभिनय और ध्वनि का ऐसा नीर-क्षीर मिश्रण करते हैं कि वे सफलतापूर्वक अभिनीत भी हो सकते हैं और रेडियो स्टेशनों से प्रसारित भी। इधर रेडियो की कृपा से हिन्दी में रेडियो रूपक और रेडियो फीचर भी लिखे जाने लगे हैं।

(९)

इधर हिंदी-रंगमंच के निर्माण की चर्चा तो बहुत हुई किंतु इस दिशा में क्रियात्मक उद्योग प्रायः नहीं हुआ। किसी स्थायी और बड़े रंगमंच की आशा छोड़कर लोक रंगनंच के निर्माण में कुछ लोगों ने स्तुत्य कार्य किया। इस संबंध में बबई के इपटा का नाम लिया जा सकता है। इपटा अव्यावसायिक संस्था है। इसके निःस्वार्थ कर्मी सदस्यों ने खुले थियेटर (ओपेन एअर थियेटर) की संपूर्ण सादगी प्रारम्भ कर इपटा को काफी लोकप्रिय बनाया। हिंदी रंगमंच के पुनर्निर्माण में सबसे बड़ा और सफल प्रयास पृथ्वीराज कपूर ने किया है। यद्यपि पृथ्वीराज कपूर का 'पृथ्वी थियेटर' एक व्यावसायिक संस्था है फिर भी पृथ्वीराज में एक धुन है, मिशनरी लगन है। देश में विभिन्न स्थानों का दौरा करके पृथ्वीराज ने अपने नाटकों का प्रदर्शन किया है। उन्होंने केवल चार नाटकों—पठान, गद्दार, दीवार और कलाकार को रंगमंच पर उतारा। देश भर में लोगों ने इनकी मुक्त कंठ से प्रशंसा की। सवाक् चित्रपटों की अपेक्षा इन नाटकों में जो स्वाभाविकता, सरलता और अयान्त्रिकता है उसकी जितनी प्रशंसा की जाय थोड़ी है। अपने अभिनय से पृथ्वीराज ने

इन्हें और भी चमका दिया है। पृथ्वीराज की जो कला चित्रपटों पर बहुत कुछ सीमित और स्थिर (स्टेटिक) हो गई थी उसके विकास का यहाँ पर पूरा अवसर मिला है। (पठान) में एक ही सेटिंग है। इसी सेटिंग पर पूरा नाटक अभिनीत होता है। इस सेटिंग पर गढ़ी का अहाता है, इसमें सामने की ओर एक बुर्ज है। इस बुर्ज पर चढ़कर शत्रु पक्ष की कार्य-वाहियों का निरीक्षण किया जाता है। दाईं और बाईं ओर दो दरवाजे हैं। बाईं ओर का दरवाजा अन्तःपुर से संबद्ध है और दाईं ओर का दरवाजा बाहर गली में खुलता है। गढ़ी की इस सेटिंग पर खाँ साहब की युवावस्था से वृद्धावस्था तक की सारी क्रियाओं का अभिनय किया जाता है। अपने नाटकों में इन्होंने नृत्य का विधान किया है यद्यपि संगीत उड़ा दिया गया है। नृत्य और संगीत भारतीय जीवन से इस तरह बँधे हुए हैं कि यथार्थवाद के नाम पर इनको उड़ा देना अयथार्थवाद का परिचय देना है। लोकमंच का निर्माण करने के लिए लोक के भीतर से ही कलाकारों का चुनाव करना होगा। रंगमंच के निर्माण के लिए गाँव की बनी हुई अधिक से अधिक वस्तुओं का ही उपयोग अधिक समीचीन प्रतीत होता है। अपनी कला को हीन समझने वाले ग्रामीण कलाकारों की सुषुप्त चेतना जब तक उद्बुद्ध नहीं की जायगी तब तक कुछ व्यक्तियों के सफल प्रयोगों से ही इस दिशा में सफलता नहीं प्राप्त हो सकती।

—बच्चन सिंह

२—हिंदी कथा-साहित्य

विगत ६०-७० वर्ष हिंदी कथा-साहित्य के इतिहास में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं। इस संक्षिप्त अवकाश में ही कथा-साहित्य की जो अप्रतिहत, वेगवती एवं बहुमुखी प्रगति हुई है वह हिंदी के इतिहास में अभूतपूर्व है। विस्मयकारक, कुतूहल-वर्धक एवं कथा-प्रधान उपन्यास-कहानियों से आरंभ करके सूक्ष्मतम चरित्र-सृष्टि की जिस कला का विकास हुआ है, देश-काल के स्थूल इतिवृत्तात्मक वर्णनों से आगे आकर वातावरण के सजीव-संश्लिष्ट चित्रण के जिस शिल्प-कौशल को सिद्ध किया गया है वह इस बात का परिचायक है कि उपन्यास-कहानियों द्वारा वर्त्तमान जटिल जीवन के विभिन्न पक्षों की अभिव्यक्ति अपेक्षाकृत अधिक सफलता एवं यथार्थता के साथ की जा सकती है। आज यह तथ्य सर्वस्वीकृत सा हो गया है कि सामयिक जीवन का प्रतिनिधित्व करने की सर्वाधिक क्षमता साहित्य के इसी रूप को उपलब्ध है। अब कथा-साहित्य केवल बालकों, स्त्रियों अथवा अल्प सिक्षितों के दिलबहलाव का साधन मात्र न रहकर सामाज की प्रत्येक श्रेणी के व्यक्तियों के आकर्षण का विषय बन गया है। इसका कारण यह है कि इस कला-रूप में अत्यधिक व्यापकता एवं विविधता संभव है। कविता के क्षेत्र में अनेक प्रयोग किए गए और किए जा रहे हैं कि वह जीवन की जटिलता को, उसकी यथार्थता को उसी रूप में अपना ले किंतु इन प्रयोगों में वह अपना रसात्मक रूप ही खो बैठती है। उपन्यास-कहानियों ने यह कार्य संभव कर दिखाया है।

उपन्यास

अपनी कृतियों में प्रथम बार विश्वसनीय कथा-वस्तु, यथार्थ परिस्थिति, सजीव वातावरण एवं सप्राण चरित्र की सृष्टि करके प्रेमचंद सहज ही एक नवीन दिशा-दर्शक प्रकाश-स्तंभ के रूप में सामने आ जाते हैं। उनका पहला उपन्यास 'सेवासदन' १९१८ ई० में प्रकाशित हुआ था, इसी समय प्रथम विश्व युद्ध भी समाप्त हुआ। अतएव १९१८ तक हिंदी उपन्यास का प्रथम चरण माना जा सकता है जिसमें अधिकतर घटना-चमत्कार की ही प्रधानता रही। १९१८ से हिंदी उपन्यास का द्वितीय चरण आरंभ होता है जिसमें मानवीय चरित्र-सृष्टि की कला का विकास हुआ।

प्रथम चरण

सभी देशों की भाँति भारतवर्ष में भी कथा-कहानियों की साहित्यिक एवं मौखिक परंपरा अत्यंत प्राचीन काल से चली आ रही है। मुसलमानों के आगमन से अरब-फारस की कहानियां भी इस देश में प्रचलित हुईं। सन् १८०० ई० के आस-पास जब हिंदी गद्य का आविर्भाव हुआ तब संस्कृत-फ़ारसी की इन चली आती हुई कहानियों को अनूदित करके अथवा उन्हीं को आश्रय करके हिंदी में भी अनेक कहानियाँ आईं। इन कथा-कहानियों में 'रानी केतकी की कहानी', 'सिंहासन बत्तीसी', 'बैताल पच्चीसी', 'माधवानल काम कंदला',

आलोच्य काल के पूर्व

'शकुंतला', प्रेम सागर', 'नासिकेतोपाख्यान', 'किस्सा तोता मैना', किस्सा साढ़े तीन यार', 'चहार दर्वेश', 'बागो बहार', तथा 'किस्सा हातिमताई' आदि प्रमुख हैं। यद्यपि इन कहानियों में बाल-कौतूहल को ही तृप्त करने की सामग्री है किंतु उस समय की साधारण जनता इन्हीं के द्वारा अपना मनोरंजन करने लगीं। बहुत दिनों बाद जब भारतेंदु हिंदी साहित्याकाश से अवतरित हुए तो उन्होंने साहित्य के इस अंग की ओर भी दृष्टि डाली और उनके प्रोत्साहन से कितने ही बँगला उपन्यासों का अनुवाद हुआ और कुछ मौलिक उपन्यास भी लिखे गए। स्वयं भारतेंदु ने भी इस कार्य में योग दिया था। हिंदी का पहला मौलिक उपन्यास लाला श्रीनिवास दास का 'परीक्षागुरु' (१८८२ ई०) है। स्वयं लेखक ने वक्तव्य में इसके विषय में यह दावा किया है कि "अपनी भाषा में यह नई चाल की होगी।" यह पुस्तक सोद्देश्य है और इसमें उपदेश-वृत्ति प्रधान है किंतु कहानी वास्तविक जीवन से संबंधित है। समाज-जीवन से संबंधित इसी उद्देश्य-प्रधान परंपरा में बालकृष्ण भट्टकृत 'नूतन ब्रह्मचारी' (१८८६) तथा 'सौ अजान एक सुजान' राधाकृष्णदास का 'निस्सहाय हिंदू' (१८९०), देवदत्त का "सच्चामित्र" (१८९१) आदि उपन्यास आते हैं। किशोरीलाल गोस्वामी के "त्रिवेणी वा सौभाग्य-श्रेणी" (१८८९) 'स्वर्गीय कुसुम' (१८८९ "लवंगलता' (१८९०) आदि उपन्यासों में नैतिक शिक्षा तथा स्वच्छंद प्रेम का मिश्रण है। राधाचरण गोस्वामी की 'विधवा विपत्ति' (१६८८) समाज-सुधार की भावना से प्रेरित है।

इस प्रकार सामाजिक उपन्यासों की एक परंपरा चल पड़ी थी जिसमें तत्कालीन समाज की बुराइयों का वर्णन करके उनके निराकरण का प्रयास परिलक्षित होता है। 'लवंगलता' (१८९०) के द्वारा किशोरीलाल गोस्वामी ऐतिहासिक उपन्यास का सूत्रपात भी कर चुके थे। इसी समय देवकीनंदन खत्री अपनी 'चंद्रकांता' (१८९२) लेकर उपन्यास-क्षेत्र में आए जिसकी अभूतपूर्व लोकप्रियता ने अन्य लेखकों का ध्यान भी इसी प्रकार के विस्मयकारक उपन्यास लिखने की ओर आकृष्ट किया और तिलस्मी-ऐयारी उपन्यासों की हिंदी में धूम मच गई। घटना-प्रधान उपन्यासों के प्रति साधारण जनता की यह रुचि लक्ष्य कर गोपालराम गहमरी ने जासूसी उपन्यासों को प्रकाशित करना आरंभ किया और इस प्रकार के उपन्यासों की भी भरमार हो गई। इस प्रकार हिंदी उपन्यास के प्रथम चरण में सामाजिक, ऐतिहासिक, ऐयारी-तिलस्मी तथा जासूसी ये चार प्रकार के उपन्यास मिलते हैं। उस युग के लेखकों में देवकीनंदन खत्री, किशोरीलाल गोस्वामी तथा गोपालराम गहमरी प्रधान हैं।

सामाजिक उपन्यास

तत्कालीन समाज को आधार बनाकर उपन्यास लिखनेवालों ने समाज की कुछ साधारण समस्याओं को अंकित करने का हल्का प्रयास किया। अंग्रेजी शिक्षा के प्रभाव से उन दिनों अंग्रेजी चाल-ढाल, रीति-नीति एवं वेश-भूषा का प्रचलन बढ़ रहा था; ईसाई धर्म का प्रचार भी जोर पर था। आर्य समाज के अभ्युदय से हिंदू धर्म एवं संस्कृति के ह्रास की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट हुआ और साथ ही हिंदू समाज में कतिपय सुधार के आंदोलन आरंभ हुए। पुराने ढंग के सनातनधर्मी प्राचीन रीति-नीति एवं विश्वासों का अनुमोदन

कर रहे थे। प्रारंभिक युग के लेखकों ने अधिकतर नीति-उपदेश-प्रधान उपन्यास लिखे जिनमें आदर्श विद्यार्थी कैसा हो, आदर्श गृहिणी के क्या गुण हैं, आदर्श मित्र कैसा होना चाहिए, हिंदुत्व के क्या आदर्श हैं, चरित्र-बल में कितनी शक्ति है, सत्यपालन की क्या महत्ता है, जुआखोरी, मद्यपान एवं कुसंगति से क्या हानियाँ होती हैं—प्रायः इन्हीं को प्रदर्शित करने का प्रयास किया गया। बालकृष्ण भट्टकृत 'नूतन ब्रह्मचारी', तथा 'सौ अजान एक सुजान', अमृतलाल चक्रवर्तीकृत 'सती सुखदेवी', लोचनप्रसाद पाण्डेयकृत 'दो मित्र', लज्जाराम शर्माकृत 'आदर्श दंपति' तथा 'बिगड़े का सुधार' तथा जगतचंद्र रमोला कृत 'सत्यप्रेम' आदि इसी प्रकार के उपन्यास हैं। गोपालराम गहमरी ने 'नए बाबू' में सनातनधर्म के आदर्शों का प्रतिपादन करते हुए विधवा-विवाह तथा स्त्रीस्वातंत्र्य की निंदा की है। उन्होंने कौटुम्बिक जीवन से संबंधित 'सात पतोहू', 'डबल बीबी', 'देवरानी-जेठानी', 'दो बहन', 'तीन पतोहू' जैसे उपन्यास भी लिखे। सामाजिक उपन्यासों में सबसे अधिक संख्या प्रेम-संबंधी उपन्यासों की है। इनमें रीतिकालीन नायिका-भेदवाले प्रेम को प्रधानता दी गई है और हाव, भाव, उत्कंठा, मान तथा अभिसार की व्यंजना कराई गई है। कुछ उपन्यासों में उर्दू वाली शोखी, शरारत और चुहल भी दिखाई पड़ती है। किशोरीलाल गोस्वमीकृत 'अंगूठी का नगीना', 'चंद्रावली', 'लीलावती', 'चन्द्रिका' आदि तथा मोरेश्वर पोतदार कृत 'प्रणयी माधव', हरिप्रसाद जिंजल कृत 'शीला', 'कामोदकंदला' आदि प्रेम-प्रधान उपन्यास हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रेमचंद के पूर्व तक हिंदी में जो सामाजिक उपन्यास लिखे गए उनमें समाज के वास्तविक स्वरूप एवं उसकी गभीर समस्याओं के यथार्थ चित्रण का प्रयास नहीं के बराबर है।

इस युग में ऐतिहासिक उपन्यास भी बहुत से लिखे गए जिनमें अधिकांश मुस्लिम शासन काल से संबंधित हैं। इनको पढ़ने से ऐसा विदित होता है कि न तो इनके लेखकों को इतिहास का सम्यक् ज्ञान था और न अतीत वातावरण को सजीव कर देने की कल्पना-शक्ति। अतएव इन उपन्यासों में प्रायः ऐतिहासिक वातावरण का अभाव सा है। घटनाओं एवं तत्कालीन रीति-नीति, आचार-विचार, वेशभूषा, आदि के वर्णन में स्थान स्थान पर काल-दोष परिलक्षित होता है। कुछ उपन्यास अपनी इति वृत्तात्मकता के कारण कोरे इतिहास से लगते हैं और कुछ ऐतिहासिक भूमिका में वर्णित रोमांस हैं जिनमें ऐयारी-तिलस्मी तथा जासूसी सभी प्रकार के करिश्मे दिखाए गए हैं। इन उपन्यासों में घटना की मनोरंजकता पर अधिक ध्यान दिया गया है, पात्रों की सजीवता पर कम। प्रेम प्रसंगों में उसका वासनात्मक रूप अधिक उभर आया है। किशोरीलाल गोस्वामी ने सबसे अधिक ऐतिहासिक उपन्यास लिखे जिनमें 'लवंगलता', 'कुसुमकुमारी', 'राजकुमारी', 'तारा', 'चपला', 'शाही महलसरा' आदि प्रमुख हैं। इनके अतिरिक्त बल्देवप्रसाद मिश्र, गंगाप्रसाद गुप्त, जयरामदास गुप्त, बलभद्र सिंह, दुर्गादास खत्री आदि अनेक लेखकों ने बहुत से ऐतिहासिक उपन्यासों की रचना की।

ऐतिहासिक उपन्यास

ऊपर कहा जा चुका है कि इस युग में सर्वाधिक लोकप्रियता तिलस्मी ऐयारी उपन्यासों को मिली। सन् १८९२ तथा उसके बाद देवकीनंदन खत्री के 'चंद्रकांता' एवं

चंद्रकांता संतति' नामक उपन्यास प्रकाशित हुए जिनसे हिंदी 'जगत में एक धूम सी मच गई। कहते हैं कितने ही उर्दूदाँ लोगों ने इनके पढ़ने के लिए हिंदी सीखी और इस प्रकार के उपन्यासों की माँग बढ़ चली।

ऐयारी तिलस्मी उपन्यास

'चंद्रकांता' में एक ही कुमारी के दो प्रेमियों के संघर्ष की कथा वर्णित है। यह संघर्ष अस्त्र-शस्त्र का ही नहीं बौद्धिक कौशल का भी है। विजयगढ़ के राजा जयसिंह की कन्या अनुपम सुंदरी है। उसके रूप गुण की प्रशंसा सुनकर नौगढ़ के राजा सुरेंद्र सिंह का कुमार वीरेंद्रसिंह उससे प्रेम करने लगता है। चंद्रकांता भी उससे स्नेह करती है, किंतु दोनों के मिलन में बाधा स्वरूप विजयगढ़ के वजीर का लड़का क्रूरसिंह आ उपस्थित होता है। क्रूरसिंह चाहता है कि चंद्रकांता उसी का वरण करे। इसी बात को लेकर वह वीरेंद्रसिंह से संघर्ष छेड़ देता है। अपनी शक्ति को अपर्याप्त पाकर वह चुनारगढ़ के राजा को भड़काता है, और वह भी उसी के पक्ष में होकर युद्ध करने लगता है। दोनों पक्षों में सधे हुए ऐयार हैं जो अपनी अद्‌भुत कारीगरी दिखाते हैं। इन ऐयारों में जीतसिंह, तेजसिंह, बद्रीनाथ और पन्नालाल प्रमुख हैं। यह संघर्ष बहुत दिनों तक चलता रहता है। अंत में वीरेंद्रसिंह और चंद्रकांता का विवाह हो जाता है।

इस प्रकार के अधिकांश उपन्यासों की कथा 'चंद्रकांता' की उपर्युक्त कथा से मिलती जुलती है। प्रायः सभी में प्रेम के कारण संघर्ष होता है और दोनों पक्ष के ऐयारों के अद्‌भुत अलौकिक कार्यों के घात-प्रति-घात से कथानक जटिल होता हुआ आगे बढ़ता है। अपने कार्य-साधन के लिए वे तिलस्म का उपयोग भी करते हैं। इन तिलस्मों की बनावट तथा इनमें प्रवेश करने की रीति अत्यधिक आश्चर्यजनक तथा रहस्यपूर्ण होती है। ये तिलस्म या तो अपार धन राशि एवं अद्‌भुत रहस्यों के आगार होते हैं अथवा इनसे अभेद्य बंदी गृह का काम लिया जाता है। अंत में नायक-नायिका के शुभचिंतक ऐयार प्रतिद्वंदी ऐयारों को विफल-प्रयत्न कर तथा मिलस्मों को तोड़ मार्ग की बाधाएं दूर कर देते हैं और धूम धाम के साथ नायक-नायिका का विवाह होता है। इस प्रकार ये प्रेम कहानियां अधिकतर सुखांत हैं जिनमें अनेक प्रकार की विपत्तियों दुर्घटनाओं आदि के आवर्त में पड़कर भी नायक-नायिका सुरक्षित निकल आते हैं।

देवकीनंदन खत्री ने तिलस्म की प्रेरणा फारसी के 'तिलस्म होश रुबा' जैसे ग्रंथों से ग्रहण की थी किंतु उन्हों ने अपनी असाधारण कल्पना-शक्ति से उसे ऐसा अद्‌भुत रूप प्रदान किया कि उसमें अभूतपूर्व चमत्कार एवं आकर्षण आ गया है। इसी प्रकार उनके ऐयारों का कौशल भी निराला है। वे विचित्र सूझ-बूझ के व्यक्ति हैं जो कठिन से कठिन कार्य संपन्न कर सकते हैं। उनके झोले में रूप बदलने, बेहोश करने, होश में लाने, मरहम पट्टी करने के सभी सामान होते हैं।। वे ऐसी जड़ी-बूटियां जानते हैं, कि घातक चोटों को ठीक कर दें। वे जैसा भी चाहें रूप धारण कर लेते हैं, जहां भी चाहें पहुँच जाते हैं, जिसे भी चाहें बेहोश कर देते हैं। बेहोशी दूर करने की सबसे अच्छी बूटी 'लखलखा' उनके पास रहती है। उनके कुछ अपने संकेत होते हैं जो ऐयार ही समझ सकते हैं। वे अपने कौशल से मोम के ऐसे मनुष्य बना देते हैं जिन्हें देख वास्तविक मनुष्यों का निश्चयात्मक

भ्रम हो जाता है। ये ऐयार बड़े ही वीर, उदार, स्वामिभक्त, नीतिपरायण तथा धर्मज्ञ होते हैं। इन्हें देख बारहवीं शताब्दी के वीराख्यानक काव्यों के वीरों की याद आ जाती है।

ये उपन्यास घटना-प्रधान हैं, जिनका प्रधान उद्देश्य मनोरंजन करना है; अतएव इनमें एक से एक बढ़कर चमत्कारपूर्ण घटनाओं का वर्णन मिलता है। ऐयारों की करामातें, तिलस्मों की जटिलता एवं उनके तोड़ने का कौशल सभी अत्यधिक कुतूहलवर्धक होते हैं। पाठकों का आकर्षण पात्रों के प्रति नहीं बल्कि उनके अद्भुत क्रिया-कलापों के प्रति होता है। भूतनाथ, चपला वा तेजसिंह का चरित्र नहीं उनका ऐयारी झोला ही हमें अधिक आकर्षित करता है। 'अब वे क्या करेंगे ?' इसी की ताक में हमारी जिज्ञासा उद्‌बुद्ध रहती है। इस प्रकार के उपन्यासों का एक मात्र उद्देश्य पाठकों की उत्सुकता को बराबर उदबुद्ध एवं तृप्त करते जाना ही है। इनमें मानव के मूलभूत भाव, राग-द्वेष, क्रोध-करुणा, प्यार-घृणा आदि को उद्वेलित करने का कोई प्रयास नहीं मिलता। इसके पात्र जीवन के चित्र नहीं, इच्छाओं के काल्पनिक विधान हैं। इनमें जिस प्रेम का वर्णन किया गया है, वह पूर्ण रूप से कल्पनाश्रित, उन्मुक्त एवं स्वच्छंद हैं। साहित्य की दृष्टि से ऐयारी-तिलस्मी उपन्यासों का मूल्य नगण्य है। इनका जो कुछ आकर्षण है वह घटना-योजना की दृष्टि से। घटनाओं का एक सघन, दुरूह जाल दूर तक फैलाकर फिर अंत में अपनी विलक्षण स्मृति के बल पर इन फैले हुए तथ्यों को समेट लेना भी बड़े कौशल का काम है। यही कारण है कि आज भी देवकीनंदन खत्री की रचनाएँ कुछ न कुछ कुतूहल का विषय बनी हुई हैं।

'चंद्रकांता' एवं 'चंद्रकांता संतति' के अतिरिक्त देवकीनंदन खत्री ने 'नरेंद्रमोहिनी' 'वीरेंद्रवीर', 'कुसुम कुमारी', 'नौलखाहार', 'काजल की कोठरी' आदि अनेक उपन्यास लिखे। इनकी देखा-देखी अन्य उपन्यासकार भी इस क्षेत्र में आए और इस ढंग के अनेक उपन्यास धड़ाधड़ निकल पड़े। इन्हीं से मिलते-जुलते एक दूसरे प्रकार के साहसिक उपन्यास भी, जिनमें रोमांचकारी डकैती तथा हत्या आदि का वर्णन रहता है, बड़ी मात्रा में लिखे गए।

घटना-प्रधान उपन्यासों के प्रति जनता की अत्यधिक अभिरुचि देख गोपालराम गहमरी अपने जासूसी उपन्यास लेकर साहित्य-क्षेत्र में आए। उन्होंने जासूसी उपन्यास का 'जासूस' नामक एक पत्र ही निकालना आरंभ कर दिया, जो अब तक चला जा रहा है। इसी पत्र में गहमरी जी के जासूसी उपन्यास धारावाहिक रूप में निकलते रहे। हिंदी में जासूसी उपन्यास पूर्ण रूप से योरोप, विशेषकर इंगलैंड की देन हैं। फिलिप ओपेनहम, एडगर वैलेस आदि उपन्यासकारों ने इस विषय पर बड़ी मनोरंजक रचनाएँ की हैं। अँग्रेजी साहित्य की यह प्रवृत्ति हिंदी में गहमरी जी के द्वारा व्यक्त हुई और खूब सफल भी रही।

जासूसी उपन्यास

जासूसी उपन्यासों का संबंध आधुनिक जीवन से होता है और उनमें थोड़ा बहुत चरित्र-चित्रण भी मिलता है। परंतु यह चित्रण उतना ही होता है, जितना घटनाएँ अपेक्षा करती हैं। पात्रों में साहस, निर्भयता, चातुर्य आदि गुणों का अवस्थान करके निभाने का प्रयास किया जाता है। इन उपन्यासों का दृष्टिकोण अत्यधिक बौद्धिक एवं वैज्ञानिक होता है, इसलिए जासूसों की सूझ-बूझ, उनके क्रिया-कलाप मानव-शक्ति के भीतर

ही होते हैं, अतिमानव से नहीं। यही कारण है कि ऐयारी उपन्यासों की अपेक्षा जासूसी उपन्यास अधिक विश्वसनीय होते हैं, यद्यपि उनका प्रधान ध्येय भी घटना-वैचित्र्य ही होता है। एक आश्चर्यजनक एवं सनसनी फैलानेवाली घटना—कोई खून, कोई डकैती, किसी व्यक्ति का अपहरण आदि—घटित हो जाती है, उसके भेद का पता लगाने के लिये अपराधी को पकड़ने के लिए जासूसों को सूचना दी जाती है। स्थल पर पहुँच कर जासूस बड़ी सूक्ष्मता के साथ स्थान का निरीक्षण करता है, संबंधित व्यक्तियों से प्रश्न पूछता है और छोटे से रहस्य बीज के सहारे अपराधी को ढूँढ़ निकालने के प्रयास में संलग्न हो जाता है। इस प्रकार जासूसी उपन्यास विश्लेषण-प्रधान होते हैं। इन उपन्यासों की घटनाओं में पूर्वापर संबंध होता है और प्रत्येक घटना का एक निश्चित क्रम होता है। घटनाओं के इस प्रकार कार्य-कारण रूप में गुथे होने से इनके द्वारा पाठकों में ऐयारी उपन्यासों की अपेक्षा आशा, निराशा, भय, आशंका आदि की तीव्रतर भावनाएँ उद्दीप्त कराई जा सकती हैं। गहमरी जी के उपन्यासों में कुछ ये हैं—'बेकसूर की फाँसी', 'सरकती लाश', 'खूनी कौन', 'बेगुनाह का खून' आदि। इनके अतिरिक्त रुद्रदत्त शर्मा, किशोरीलाल गोस्वामी, जयराम दास गुप्त तथा ईश्वरीप्रसाद शर्मा आदि ने अनेक जासूसी उपन्यास लिखे।

आलोच्य युग में श्री व्रजनंदन सहाय ने 'सौंदर्योपासक', 'राधाकांत', 'राजेंद्र-मालती' जैसे उपन्यास लिखे, जो न घटना-प्रधान हैं और न चरित्र-प्रधान ही। इन्हें भाव-प्रधान उपन्यास कह सकते हैं। उनमें अत्यंत आलंकारिक भाषा में किसी व्यक्ति के हृदयोद्‌गारों की व्यंजना है। कथातत्त्व का प्रायः अभाव है। ये उपन्यास गद्यकाव्य के अधिक निकट हैं। घटना-परिस्थिति के नितांत अभाव के कारण इनमें कोई गति नहीं है।

भाव-प्रधान उपन्यास

संख्या की दृष्टि से अत्यधिक समृद्ध हिंदी उपन्यास के प्रथम चरण में उपन्यास-कला का वांछनीय विकास न हो सका। वह युग एक प्रकार से कथा-प्रधान था, जिसमें लेखक स्वयं अपने श्रोताओं को कहानी सुनाता हुआ आगे बढ़ता जाता है। वह क्षण भर के लिये भी उनकी उपस्थिति को विस्मृत नहीं कर पाता और यथास्थान उनको संबोधित भी करता चलता है, जैसे—"प्यारे पाठक! इधर का तो यह हाल था, अब उधर का सुनिए कि जोहरा के जाने के बाद घंटे भर तक बेगम चुपचाप बैठी हुई तालाब की ओर और कभी कभी अपनी सहेलियों की ओर निहारती रही।" (कि० ला० गो० कृत रज़िया बेगम से)। कथा-क्रम में लेखक पांडित्य-प्रदर्शन का अवसर भी हाथ से जाने नहीं देता और प्रायः सभी विषय को लेकर टीका-टिप्पणी करने लगता है। ऐसे स्थलों पर कथा-प्रवाह में अनावश्यक व्याघात उपस्थित हो जाता है और पाठक का धैर्य भी छूटने लगता है। कहीं-कहीं तो लेखक स्वयं दर्शक बन कर अपनी भावनाओं का वर्णन करने लगता है, जैसे—"हाय-हाय। यह नारकीय पिशाच क्या किया चाहता है? क्या यह नर-राक्षस इस घर को श्मशान बनावेगा। असह्य-असह्य!!" (मदन मोहिनी से)। कथा-प्रसंगों के वर्णन में प्रायः अनुपात का अभाव लक्षित होता है। किसी महत्त्वहीन प्रसंग का अनावश्यक विस्तार हो गया है और किसी महत्त्वपूर्ण एवं मार्मिक प्रसंग की नितांत उपेक्षा हो गई है। प्रभावपूर्ण रूप-

वर्णन-कला

व्यापारों का चयन करके उनके संश्लिष्ट चित्रण का कौशल अज्ञात सा ही था। फिर भी कहीं-कहीं दृश्यों का अच्छा वर्णन मिल जाता है। यथार्थ जीवन-व्यापारों एवं स्थितियों की अपेक्षा दैवी संयोग, आकस्मिकता तथा आश्चर्यजनक व्यापारों की प्रवृत्ति अधिक परिलक्षित होती है।

पात्रों के शील-स्वभाव की सूचना अधिकतर लेखक के ही मुख से मिलती है। कुछ लेखकों ने चरित्रगत सामान्य-स्थूल विशेषताओं के चित्रण का प्रयास भी किया। कहीं कहीं मनोवैज्ञानिक दृष्टि की झलक भी मिलने लगी थी; किंतु जिस रूप में मनोविज्ञान का समावेश होना चाहिए था नहीं हुआ। किशोरीलाल गोस्वामी जैसे कुछ लेखकों ने उपन्यास में नाटकीय ढंग के संभाषण एवं स्वगतचिंतन का समावेश किया, जिसे उपन्यास-कला की प्रगति में एक विशेष चरण समझना चाहिए; इन संभाषणों में कहीं कहीं पर्याप्त सजीवता भी है, किंतु उनके द्वारा व्यक्तिगत वैचित्र्य की अभिव्यक्ति सुलभ न हो सकी। उस युग के उपन्यासकार अपने पात्रों को व्यक्तित्व प्रदान करने में समर्थ न हो सके। यह कला आगे चल कर प्रेमचंद द्वारा विकसित हुई।

किशोरीलाल गोस्वामी

प्रथम चरण के प्रधान उपन्यासकारों में देवकीनंदन खत्री ने केवल ऐयारी-तिलस्मी उपन्यास लिखे जिनकी प्रमुख विशेषताओं का वर्णन किया जा चुका है; इसी प्रकार प्रधान-तया जासूसी उपन्यास लिखनेवाले गोपालराम गहमरी पर भी विचार हो चुका है। इनमें किशोरीलाल गोस्वामी ही ऐसे लेखक हैं, जिन्होंने सामाजिक, ऐतिहासिक, ऐयारी, तिलस्मी सभी प्रकार के उपन्यासों की रचना की। सन् १८९८ में इन्होंने 'उपन्यास' मासिक-पत्र निकाला और अपने जीवन-काल में ६५ छोटे बड़े उपन्यास लिखकर प्रकाशित किए।

गोस्वामी जी वैष्णव थे, उनके ऊपर सनातन धर्म का गहरा संस्कार पड़ा था, अतएव वे हिंदू धर्म एवं संस्कृति के समर्थक थे। ईसाई एवं इस्लाम धर्मों से अपने धर्म तथा भाषा की रक्षा वे प्रत्येक हिंदू का कर्तव्य समझते थे। अतएव अपने उपन्यासों में उन्होंने स्थान स्थान पर हिंदुत्व की महत्ता का प्रतिपादन किया है और अपने पाठकों को धर्म एवं नीति संबंधी शिक्षाएँ दी हैं। गोस्वामी जी का सांसारिक अनुभव खरा था और अपने समाज के अनेक बाह्याडंबरों के खोखलेपन से वे अवगत भी थे, किंतु उनमें ऐसा साहस न था कि उनका खुल कर विरोध करते। उस समय तक आर्य समाज का आंदोलन भी चल पड़ा था, किंतु उन्होंने इस समाज-सुधार के आंदोलन का अपने उपन्यासों में समुचित उपयोग नहीं किया। स्थान-स्थान पर आर्य समाज की अपेक्षा सनातन धर्म को श्रेष्ठ सिद्ध करने का प्रयास किया है। तात्पर्य यह कि उनके उपन्यासों में तत्कालीन समाज का, उसकी बहुविध समस्याओं का यथार्थ चित्र देखने को नहीं मिलता। उनके सामाजिक उपन्यासों में किसी न किसी रूपमें प्रेम-प्रसंग का वर्णन ही प्रधान हैं। प्रेम-प्रसंगों में भी उन्होंने परंपरा का ही अधिकतर पालन किया है और कहीं कहीं निम्नकोटि की वासनाओं को प्रदर्शित करनेवाले चित्रों की प्रधानता हो गई है। उनके उपन्यासों के नामकरण से ही विदित हो जाता है कि अधिकांश के मूल में कोई न कोई स्त्री है, चाहे वह 'चपला', 'मस्तानी', 'प्रेममयी', 'वनविहंगिनी', 'लावण्यमयी', 'प्रणयिनी', 'हृदय हारिणी', 'आदर्श-

बाला' हो अथवा 'कुलटा'। इन उपन्यासों के पढ़ने से ऐसा विदित होता है कि गोस्वामी जी के प्रायः सभी नायक एक से कामुक हैं और नायिकाएँ एक सी सुंदरी। किसी उपन्यास में तो उन्होंने कामशास्त्र के अंगों से ही परिच्छेदों का नामकरण तक कर डाला है।

गोस्वामीजी ने ऐतिहासिक पुस्तकों का पर्याप्त अध्ययन किया था, किंतु उनमें ऐसी प्रतिभा न थी कि उपन्यासों में ऐतिहासिक वातावरण को सजीवता प्रदान कर सकते। ऐतिहासिक घटनाओं को भी विकृत कर दिया गया है। इस संबंध में 'तारा' की भूमिका में स्वयं उन्होंने स्वीकार किया है—"इसलिए हमने अपने बनाए उपन्यासों में ऐतिहासिक घटना को 'गौण' और अपनी कल्पना को मुख्य रखा है और कहीं-कहीं कल्पना के आगे इतिहास को दूर ही से नमस्कार भी कर दिया है।" यही कारण है कि उनके उपन्यासों में वर्तमान घटनाओं एवं पात्रों की बहुलता हो गई है। ऐतिहासिक उपन्यासों में भी गोस्वामीजी ने अपने समसामयिक समाज का प्रतिबिंब लाने का प्रयास किया है, जिससे उनके उपन्यास ऐसे हो गए हैं मानों जहाँगीर और शाहजहाँ को कोट पतलून पहनाया गया हो। उनके अधिकांश ऐतिहासिक उपन्यास मुसलमान शासन काल से संबंधित हैं। इनमें उहोंने बेगमों-बाँदियों, शाहजादों आदि के प्रेम-प्रसंगों तथा उनके ऐयारी और जासूसी कारनामों का ही अधिकतर वर्णन किया है। 'लखनऊ की कब्र या शाही महलसरा' का वर्णन बिल्कुल ऐयारी-तिलस्मी ढंग का है। प्रसिद्ध उपन्यास 'तारा' या क्षत्र-कुल-कमलिनी' में शाहजहाँ के अंतिम दिनों के आगरे तथा शाही परिवार का चित्रण किया गया है। इसकी नायिका तारा महाराणा अमर सिंह की पुत्री है, जो उन दिनों राजनीतिक कारणों से आगरे में ही रहा करते थे। इस उपन्यास में आगरे का राजमहल कुत्सित वासनाओं के रहस्यमय अखाड़े के रूप में चित्रित किया गया है। राजपूत गौरव की उज्ज्वलता दिखाने जाकर भी अपनी अनभिज्ञता के कारण गोस्वामीजी ने राजपूत आदर्श को कलंकित ही किया, अन्यथा वे मेवाड़-बालिका तारा के कामुक मुसलमान आशिकों को छकाने, धोखा देने और छिपकर उनकी प्रेमोक्तियों में आनंद लेने की उत्सुकता चित्रित न करते। इसमें भी ऐयारी की ही प्रधानता है। तात्पर्य यह कि उनके ऐतिहासिक उपन्यासों में भिन्न-भिन्न कालों की सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों का वास्तविक चित्रण देखने को नहीं मिलता।

गोस्वामीजी की लगन सच्ची और उत्साह असीम होने पर भी घटना-प्रधानता के उस युग की परिस्थितियों से वे अपने को स्वतंत्र न रख सके और उनके उपन्यासों में चरित्र-चित्रण की ओर आग्रह स्पष्ट होने पर भी घटना-चमत्कार का ही आधिक्य रहा। किंतु यह स्वीकार करना पड़ेगा कि उस युग के लेखकों में इन्हीं के सामाजिक चित्रण में कुछ सजीवता है। अपने सामाजिक उपन्यासों में उन्होंने कहीं कहीं वातावरण के चित्रण का भी प्रयास किया है। अतएव उनके उपन्यासों का ऐतिहासिक मूल्य बहुत अधिक है। उनके उपन्यास जासूसी-तिलस्मी उपन्यासों और प्रेमचंद जी के चरित्र-प्रधान उपन्यासों के बीच की कड़ी हैं। चरित्र-चित्रण के लिये उत्साह दिखा कर नवीन उत्थान के लिये उन्होंने भूमि को उर्वर बनाया।

द्वितीय चरण (१६१८–१६५३)

प्रेमचंद का सेवासदन (१६१८) हिंदी उपन्यास में एक नवीन दिशा का सूचक होकर आया। इस, तथा प्रेमचंद की अन्य कृतियों द्वारा हिंदी उपन्यास के नवीन रूप तथा आदर्श की प्रतिष्ठा हुई और वह जीवन को उसकी समग्रता में व्यक्त करने का श्रेष्ठतम साधन बना। इन ३५ वर्षों में हिंदी उपन्यास निरंतर प्रगतिशील रहा है और उसमें वस्तु तथा कलागत विविधता एवं प्रौढ़ता आई है। एक प्रकार से यह समय सामाजिक उद्बोधन का; राष्ट्रीय जागर्ति का, आध्यात्मिक तथा मौलिक आदर्शों के परीक्षण का, नवीन मानववादी विचार-धारा के प्रचार का, वर्ग-चेतना के उदय का, एवं मानव-मन-विश्लेषण का युग रहा है। इस युग ने दो महायुद्धों की विभीषिका देखी है और परमाणु बम की विनाशकारी संभावनाओं से त्रस्त है। इसी अवकाश में भारतवर्ष विभाजित होकर स्वतंत्र हुआ और परिणामस्वरूप नवीन सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक समस्याएं उठ खड़ी हुईं। इस अवधि में प्रणीत हिंदी उपन्यासों में इन युगीन प्रभावों की स्पष्ट छाप पड़ी है और उनमें तदनुकूल अनेकरूपता आई है। विषय-निर्वाचन, जीवन-दर्शन तथा चित्रण-कला तीनों ही क्षेत्रों में उपर्युक्त प्रभाव स्पष्टता से परिलक्षित हैं।

भ्रांत धारणाओं से जर्जर हिंदू-समाज के सुधार का आंदोलन स्वामी दयानंद सरस्वती तथा राजा राममोहनराय प्रभृति महानुभावों द्वारा बहुत पहले ही आरंभ हो चुका था।

युग-जीवन और हिंदी उपन्यास

पाश्चात्य शिक्षा एवं सभ्यता के प्रचार ने हमें वस्तुओं को परखने की नवीन वैज्ञानिक दृष्टि दी और परिणामस्वरूप सामाजिक, धार्मिक, नैतिक तथा राजनीतिक मान्यताओं के पुनर्मूल्यांकन की आवश्यकता प्रतीत हुई। प्रथम विश्व-युद्ध के बाद विश्व के साथ हमारा संपर्क बढ़ा और हमारी नव जागरित चेतना को बल मिला। गांधीजी के सामाजिक राजनीतिक क्षेत्र में आते ही एक प्रबल आंदोलन चल पड़ा जिसे वास्तविक अर्थ में जनवादी आंदोलन कहा जा सकता है। इस आंदोलन के तीन पक्ष थे—व्यक्ति को उत्पीड़ित करने-वाली सामाजिक-धार्मिक रूढ़ियों के विरुद्ध आंदोलन, गांवों की व्यापक निर्धनता के कारण-स्वरूप आर्थिक व्यवस्था के विरुद्ध आंदोलन तथा विदेशी शासन-सत्ता के विरुद्ध-आंदोलन। तत्कालीन उपन्यास ने, जिसका प्रवर्तन प्रेमचंद द्वारा हुआ, इस जन-जागरणवादी आंदोलन के विभिन्न पक्षों को अपने चित्रण का आधार बनाया और नारी-वर्ग की विभिन्न समस्याएँ, धर्म एवं जातिगत भेद-भाव, परंरागत सामाजिक कुरीतियां तथा अंधविश्वास धार्मिक-नैतिक बाह्याडंबर, ग्रामीणों की शोचनीय आर्थिक, सामाजिक स्थिति, सरकारी कर्म-चारियों के अन्याय-अत्याचार तथा विभिन्न राष्ट्रीय आंदोलन आदि में से एक या अनेक उनकी कथा-वस्तु के प्रतिपाद्य बने।

प्रेमचंद ने 'सेवासदन', 'प्रेमाश्रम', (२६२२), 'रंगभूमि' (१९२५), 'काया-कल्प' (१९२६), 'निर्मला' (१९२८), 'प्रतिज्ञा' (१९२६), 'गबन' (१९३१), 'कर्म-भूमि' (१९३२), तथा 'गोदान' (१६३६) नामक उपन्यासों की रचना की। इनमें उन्होंने दहेज प्रथा के भीषण परिणाम, विधवाओं-वेश्याओं की दयनीय दशा, किसानों की

सामाजिक-आर्थिक दुरवस्था, जमींदारों के अत्याचार, पुलिस के हथकंडे, अफसरों तथा उनके मातहतों की धाँधली, सम्मिलित कुटुंब की सबलता-दुर्बलता, हिंदू-मुसलिम ऐक्य, साहुकारों द्वारा अबोध किसानों का शोषण, जाति-बिरादरी संबंधी कुरीतियाँ तथा सत्याग्रह आंदोलन आदि तत्कालीन जीवन की विभिन्न समस्याओं को चित्रण का आधार बनाया। प्रसाद ने 'कंकाल' (१९२९) में धार्मिक-नैतिक संस्थाओं के भीतर रहनेवाले पात्र तथा सामाजिक बंधनों एवं व्यक्ति की सहज प्रवृत्तियों के संघर्ष से उद्भूत समस्याओं का मार्मिक चित्रण किया है। 'तितली' (१९३४) में उन्होंने नारी का आदर्श चित्रित करते हुए ग्रामीण नव-निर्माण संबंधी अपने सुझाव रखे हैं। कौशिक ने 'माँ' (१९२९) में यह चित्रित करने का प्रयास किया कि मनुष्य का जीवन बहुत कुछ माता की योग्यता पर निर्भर रहता है। 'भिखारिणी' में कुछ सामाजिक कुरीतियों की शिकार बनी, एक युवक द्वारा प्रवंचित नारी का आदर्श वर्णित है। शिवपूजनसहाय कृत 'देहाती-दुनिया' (१९२६) गांवों की समस्याओं तथा उनकी शोचनीय दशा का चित्रण करता है। तेजरानी दीक्षित कृत 'हृदय का कांटा' (१९२८) चंद्रशेखर शास्त्री कृत 'विधवा के पत्र' (१९३३), चतुरसेन शास्त्री कृत 'अमर अभिलाषा' (१९३३) तथा उस युग के अनेक अन्य उपन्यासों में वैधव्य जीवन की समस्याओं का वर्णन किया गया। भगवतीप्रसाद बाजपेयी ने विवाह-संबंध, दांपत्य-जीवन, विधवा-जीवन को लक्ष्य बनाकर 'मीठी चुटकी' (१९२७), 'अनाथ पत्नी' (१९२८), 'प्रेम-निर्वाह' (१९३४) आदि अनेक उपन्यास लिखे। सियारामशरण गुप्त के 'गोद' (१९३२) तथा 'नारी' (१९२८) में ग्रामीण अंध-संस्कारों तथा सदाचार-विकृत भावनाओं के कारण उत्पीड़ित नारी का मार्मिक चित्रण है। इन दोनों ही उपन्यासों में हिंदू संस्कृति के कुछ आधारभूत तथ्यों का बड़ा ही कलात्मक अंकन मिलता है। इनके अतिरिक्त ऋषभचरण जैन, श्रीनाथ सिंह आदि अनेक अन्य उपन्यासकारों ने भी तत्कालीन समस्याओं को लेकर उपन्यास लिखे। कुछ आलोचकों ने उपर्युक्त कोटि के उपन्यासों को सुधार-जागरणवादी की संज्ञा दी है। ये अधिकांश सोद्देश्य हैं जिनमें किसी न किसी प्रकार की बुराई के सुधार का लक्ष्य गर्भित है। इनमें अधिकतर भारतीय नैतिक मूल्यों के पोषण का प्रयास है तथा व्यक्तिगत सदाचार की आवश्यकता पर आग्रह है। आर्थिक, राजनीतिक आंदोलन के चित्रण में गांधी-नीति का समर्थन किया गया है।

अंग्रेजी शिक्षा एवं सभ्यता के प्रचार से बड़े-बड़े शहरों में विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों, प्रोफेसरों, अफसरों, वकील-बैरिस्टरों आदि का एक नया वर्ग अस्तित्व में आया। इनकी बाह्य जीवन-रीति बहुत कुछ अंग्रेजी ढंग की है, जिसमें क्लब की पार्टियों, टेनिस के मैदानों, सिनेमा-गृह, 'काफी हाउस', 'होटल', 'रेस्त्राँ'; ड्राइंगरूम, मोटर पर हवाखोरी आदि की प्रमुखता है। पुराने विश्वासों के प्रति संदेहशील होकर भी इस नए वर्ग ने नूतन विश्वासों एवं मूल्यों को पूरी तरह ग्रहण नहीं किया है। परिणाम-स्वरूप उनके भीतर प्राचीन नैतिक मूल्यों एवं नवीन स्वातंत्र्य-प्रवृत्ति के संघर्ष से उद्भूत अनेक प्रकार की भावनाएँ उठती रहती हैं। इस वर्ग के जीवन का चित्रण प्रारंभिक उपन्यासों में नहीं सा है। प्रतापनारायण श्रीवास्तव ने प्रथम बार अपने 'विदा' (१९२८) नामक उपन्यास में उच्च शिक्षित वर्ग के जीवन को चित्रित करने का प्रयास किया और यह दिखाया कि पाश्चात्य जीवन रीति

अपनाकर भी यह वर्ग भारतीय आदर्शों का पोषक है। भगवतीचरण वर्मा का 'तीन वर्ष' विश्वविद्यालय के एक विद्यार्थी को आधार बनाकर लिखा गया है। यह उपन्यास उन सब शंकाओं, अनिश्चयों और नैतिक दुर्बलताओं को चित्रित करता है, जो पाश्चात्य सभ्यता की विशेषताएँ हैं। रांगेय राघव के 'घरौंदे' नामक उपन्यास में विश्वविद्यालय के जीवन तथा वातावरण का अच्छा वर्णन मिलता है। इधर के आधुनिकतम उपन्यासों में तो उपर्युक्त वर्ग के चित्रण की प्रधानता दिखाई देने लगी है। धर्मवीर भारती के 'गुनाहों के देवता' में इस नवीन जीवन की अच्छी झाँकी मिलती है।

स्वतंत्रता-आंदोलन के दिनों में तीन प्रमुख राजनीतिक विचार-धाराएँ कार्य कर रहीं थीं। एक थी हिंसात्मक क्रांति एवं आतंक में विश्वास रखने वाली विचार-धारा, दूसरी असहयोग एवं सत्याग्रह को अपना कर चलनेवाली गांधी-विचार-धारा और तीसरी वर्ग-संघर्ष में आस्था रखनेवाली साम्यवादी विचार-धारा। गांधीवादी आंदोलनों का चित्रण प्रेमचंद ने सबसे अधिक किया। 'दादा कामरेड' में यशपाल ने क्रांतिकारी प्रणालियों को चित्रित करने का प्रयास किया। उनके 'देशद्रोही' में साम्यवादी सिद्धांतो के प्रतिपादन एवं चित्रण का प्रयास है। भगवतीचरण वर्मा के 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' (१४४६) में सामंतवादी, गांधीवादी, क्रांतिकारी एवं साम्यवादी सभी विचार-धाराओं के वर्णन का एक साथ प्रयत्न है। इनके अतिरिक्त 'सुनीता' जैसे अन्य उपन्यासों में भी यत्रतत्र क्रांतिकारी अथवा साम्यवादी आंदोलन के संकेत मिलते हैं।

स्त्री-पुरुष के संबंधों तथा यौन-नैतिकता पर युग की विभिन्न विचार-धाराओं का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। कहा जाने लगा है कि 'मैथुन' तो 'आहार' एवं 'निद्रा' की भांति एक मूल प्रवृत्ति है और जब आहार एवं निद्रा में कोई पाप नहीं तो इसी को क्यों पाप समझा जाय। इस दृष्टि से कुमारियों एवं विधवाओं को खुल कर प्रेम करने की स्वतंत्रता तो मिल ही गई, विवाहित स्त्रियों का पर पुरुष के साथ अवैध संबंध भी अनुचित नहीं रहा। कम्युनिज्म के प्रचार से इस भावना को थोड़ा बल मिला। शिक्षित समाज में उपर्युक्त भावनाओं के छिटपुट निदर्शन भी मिलने लगे। परिणाम-स्वरूप हिंदी उपन्यासों में सफल तथा निष्फल, वैध तथा अवैध प्रेम-कथाओं एवं स्त्री-पुरुष संबंधों की अधिकाधिक रचना होने लगी। जैनेंद्र ने व्यक्ति के, प्रधानतया नारी के यौन संबंधी स्खलन को प्रवृत्तिमूलक मानते हुए उसके प्रति सहानुभूति जगाने की चेष्टा की। अज्ञेय ने 'नदी के द्वीप' में एक नारी के अनेक पुरुषों से प्रेम-यौन-संबंध का वर्णन किया है। इलाचंद्र जोशी के 'संन्यासी', 'पर्दे की रानी', 'प्रेत और छाया' आदि प्रायः सभी उपन्यासों में अवैध यौन-संबंधों का वर्णन है। सर्वदानंद वर्मा ने 'नरमेध' में विवाहित स्त्री और पर-पुरुष के प्रेम संबंध का वर्णन किया है। शरच्चंद्र आदि के बंगाली उपन्यासों के ढंग पर स्वाभाविक प्रेमाकर्षण के साथ-साथ त्याग एवं कर्तव्यनिष्ठा को प्रदर्शित करने वाले उपन्यास भी निकले। पर जैनेंद्र का 'परख' इस कोटि का उत्कृष्ट उपन्यास है। धर्मवीर भारती का 'गुनाहों का देवता' बड़ा ही भावपूर्ण एवं कलात्मक उपन्यास है।

द्वितीय महायुद्ध के अवकाश में तथा उसके बाद अनेक प्रकार की आर्थिक एवं नैतिक विषमता फैल गई। महंगी, चोरबाजारी, घूसखोरी एवं भ्रष्टाचार का बोलबाला था।

सन् १६४२ में एक महान् क्रांति हुई जिसमें विद्यार्थियों एवं अन्य निरीह जनता पर फौज तथा पुलिस द्वारा बड़े ही अमानुषिक अत्याचार किए गए। सन् १६४७ में देश विभाजित होकर स्वतंत्र हुआ। उन दिनों सीमा के दोनों ओर बर्बरता का नग्न नृत्य हुआ। सन् १६४८ में महात्मा गांधी एक हिंदू की गोली के शिकार हुए। इधर साम्यवादियों का प्रभाव भी कुछ बढ़ा। इन सब तथ्यों को लेकर पिछले कुछ वर्षों में अनेक उपन्यास लिखे गए हैं। इनमें गुरुदत्त के उपन्यास पर्याप्त सफल रहे हैं। उन्होंने सन् १९२० के बाद के विभिन्न आंदोलनों से संबंधित 'स्वाधीनता के पथ पर', 'पथिक', 'स्वराज्यदान' (१९४९), 'देश की हत्या' (१९५३) आदि अनेक उपन्यास लिखे हैं, जिनमें आज तक की राजनीतिक-सामाजिक अवस्था का वर्णन मिलता है। गुरुदत्त के अधिकांश उपन्यास सोद्देश्य हैं। मन्मथनाथ गुप्त का 'दो दुनिया' भी स्वराज्य-प्राप्ति के बाद की समस्याओं को आधार बना कर लिखा गया है।

हास्य प्रधान उपन्यास

हास्य और व्यंग को प्रधानता देकर उपन्यास लिखनेवालों में गंगाप्रसाद श्रीवास्तव (जी० पी० श्रीवास्तव) प्रमुख हैं। उन्होंने समाज और व्यक्ति की बाह्य-विकृतियों के व्यंगात्मक चित्र उपस्थित किए हैं। इनके विषय में प्रायः लोगों की शिकायत रहती है कि उनके हास्य में रुचि-परिष्कार का अभाव है। इन्होंने अनेक उपन्यास लिखे हैं जिनमें 'लतखोरी लाल' अधिक प्रसिद्ध हुआ। जी० पी० श्रीवास्तव की अपेक्षा अन्नपूर्णानंद वर्मा का हास्य अधिक परिष्कृत होता है।

ऐतिहासिक उपन्यास

हिंदी में ऐतिहासिक उपन्यास अपेक्षाकृत कम लिखे गए हैं। इन उपन्यासों का एक अलग ही महत्त्व और उद्देश्य होता है। किसी अतीत युग की रीति-नीति, आचार-विचार, रहन-सहन, रंग-ढंग एवं सामाजिक-राजनीतिक परिस्थिति आदि का जो विशद, सजीव एवं हृदयग्राही चित्र एक सफल उपन्यासकार दे सकता है, वह अनेक इतिहासकार मिलकर भी नहीं दे सकते। भारतवर्ष जैसे प्राचीन देश के इतिहास में उपन्यास की प्रचुर सामग्री है। हिंदी में ऐतिहासिक उपन्यासों की रचना का श्रेय सबसे अधिक वृंदावनलाल वर्मा को दिया जा सकता है। 'गढ़ कुंडार' (१९३०), 'विराटा की पद्मिनी' (१६३६) 'मुसाहबजू', 'झाँसी की रानी' (१६४६), 'कचनार', 'मृगनयनी' (१६५०) आदि उनके उच्चकोटि के ऐतिहासिक उपन्यास हैं। इनके अतिरिक्त भगवतीचरण वर्मा कृत 'चित्रलेखा', राहुल सांकृत्यायन कृत 'वोल्गा से गंगा' तथा 'सिंह सेनापति', गोविन्दवल्लभ पंत कृत 'अमिताभ', चतुरसेन शास्त्री कृत 'वैशाली की नगर वधू' यशपाल की 'दिव्या' तथा हजारी-प्रसाद द्विवेदी कृत 'वाण भट्ट की आत्म-कथा' उत्कृष्ट कोटि के उपन्यास हैं। 'वैशाली की नगर वधू' एक विस्तृत भूमिका में बहुत बड़ी आकांक्षा लेकर लिखा गया है। इसका संबंध भारतीय इतिहास के एक महत्त्वपूर्ण काल (६०० ई० पू० से ५०० ई० पू०) से है, जिसमें गांधार से लेकर मगध और अंग तक के राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक अवस्था का चित्रण है। इसमें बड़ी आकर्षक, तथा कहीं कहीं आश्चर्यजनक घटनाएँ संनिहित हैं। कहानी में कुतूहल बराबर बना रहता है। यह अवश्य है कि लेखक की कल्पना

एवं व्यक्तिगत रुचि अनेक स्थलों पर इतिहास पर हावी हो गई है। 'चित्रलेखा' ऐतिहासिक वातावरण में पाप-पुण्य की समस्या के समाधान के लिये लिखा गया है। इसमें वातावरण का बड़ा सजीव एवं आकर्षक चित्रण है। यशपाल की 'दिव्या' में बौद्ध युग की चित्रमय भूमिका में मानव की कुछ सार्वकालीन एवं सार्वदेशीय समस्याओं के चित्रण का सफल प्रयत्न किया गया है। 'वाणभट्ट की आत्मकथा' हिंदी में एक अभिनव तथा अनुपम कृति है। इसकी भाषा बड़ी ही अलंकृत, चित्रमयी, एवं वेगवती है। इस उपन्यास में ऐतिहासिक वातावरण तथा तत्कालीन संस्कृति सजीव हो उठी है।

चित्रण-कला

द्वितीय चरण के उपन्यासों की सबसे महत्वपूर्ण देन एवं भेदक विशेषता है चरित्र-चित्रण में स्वाभाविकता का प्रवेश। इस युग में आकर ही ऐसे जीते जागते पात्रों की निर्माण कला का विकास हुआ, जिनके क्रिया-कलापों की मनोविज्ञान के प्रकाश में व्याख्या की जा सकती है। विभिन्न परिस्थितियों की मानव-मन पर क्या प्रतिक्रिया होती है तथा अपने स्वभाव-संस्कार के अनुसार व्यवहार करता हुआ मनुष्य किस प्रकार नवीन मानसिक एवं बाह्य परिस्थितियों का निर्माण करता है, इसका अंकन प्रेमचंद के द्वारा आरंभ हुआ, जो बराबर कलात्मक पूर्णता की ओर बढ़ता गया। अब उपन्यासों के पात्र नितांत मनःकल्पित न रहकर स्वाभाविक हो गए हैं और उनके विचारों, कर्मों, एवं अनुभूतियों में मानवोचित सगति देखी जा सकती है। मनोवैज्ञानिक चरित्र-सृष्टि के लिए तथा वातावरण को वास्तविकता प्रदान करने के लिये इस युग के लेखकों ने यथार्थवादी शैली का उपयोग किया। वस्तु संगठन, कथनोपकथन तथा वातावरण आदि के विधान में सूक्ष्म निरीक्षण पर आश्रित तथा सावधानी एवं सतर्कता से नियोजित व्यंजक ब्यौरों के द्वारा उपन्यास को मूर्त्तता तथा वास्तविकता प्रदान की गई। इस नवीन मूर्त-विधायिनी कला से आधुनिक उपन्यास में बड़ी विशालता, विस्तार, गांभीर्य, शक्ति तथा सौंदर्य आ गया है और हमें सहज ही उनके द्वारा वास्तविक जीवन का भ्रम हो जाया करता है। प्रेमचंद, प्रसाद, वृंदावनलाल वर्मा, जैनेंद्र, भगवतीचरण वर्मा, अज्ञेय तथा अश्क जैसे उत्कृष्ट लेखकों के द्वारा इस मनोवैज्ञानिक एवं यथार्थवादी कला का उत्तरोत्तर विकास होता गया है।

इस युग के उपन्यासों में चरित्र-सृष्टि के संबंध में हमें दो प्रकार की प्रवृत्ति स्पष्ट दिखाई पड़ती है। एक तो प्रेमचंद द्वारा प्रवर्तित वहिर्मुखी प्रवृत्ति और दूसरी जैनेंद्र द्वारा प्रादुर्भूत अंतर्मुखी प्रवृत्ति।

वहिर्मुखी प्रवृत्ति

जीवन का वहिर्मुख वर्णन करनेवाला उपन्यास पात्र एवं उसके क्रिया-कलापों को सामाजिक भूमिका में देखता है; उसका धरातल अधिकतर भौतिक है और इसीलिए जीवन का व्यावहारिक पक्ष ही उसका प्रतिपाद्य बन पाता है। यहाँ व्यक्ति का जीवन समूह-सापेक्ष्य है, वह समाज का प्राणी है और सामाजिक परिस्थितियों के प्रकाश में ही उसका चरित्र स्पष्ट हो पाता है। यह बात नहीं कि इस कोटि के चित्रण में पात्रों के मनोविकारों एवं अनुभूतियों के लिये स्थान न हो, ऐसा होने पर तो उपन्यास का कोई मानवीय मूल्य ही न रह जायगा। मनोविकार उठते हैं, किंतु उनका संबंध अधिकतर चेतना के ऊपरी स्तर से होता है, उनमें प्रधानता वाह्य द्वंद्वों की होती है, अंतर्द्वंद्व की नहीं। यही कारण

है कि इस प्रकार के उपन्यास अत्यधिक जीवनवत् एवं विश्वसनीय होते हैं। उनकी वर्णन-प्रणाली सीधी-सादी तथा कथावस्तु सुगठित होती है। उनमें रंजन-शक्ति भी अधिक होती है, क्योंकि चरित्र घटना-साक्षेप होते हैं।

अंतर्मुख उपन्यासों में व्यक्ति-जीवन को लक्ष्य बनाकर, व्यक्ति के मानसिक संघर्ष तथा उसकी परिस्थिति-जन्य समस्याओं के चित्रण को ही प्रधानता दी जाती है। आत्मा की गहराइयों में उतर कर उसके प्रत्येक कंपन-स्पंदन को चित्रित करने की इस प्रवृत्ति का आरंभ जैनेंद्र ने किया। इस अंतर्मुखी प्रवृत्ति की प्रेरक शक्ति आधुनिक मनोविज्ञान है, जिसके अनुसार मन की एक अखंड सत्ता है और व्यक्ति के विचार-वितर्क एवं उसके क्रिया-कलाप उसके चेतन मन से ही नहीं, अवचेतन मन से भी अनुशासित होते हैं। अधिकांश मनुष्य विभिन्न प्रकार के काम-अर्थ मूलक कुंठाओं से ग्रस्त हैं, अतएव प्रत्येक व्यक्ति पर परिस्थिति की विभिन्न प्रतिक्रिया होती है और तदनुरूप उसके मनोविकार एवं कार्य-विधि का स्वरूप भी निर्दिष्ट होता चलता है। अंतर्मुखी प्रणाली को अपना कर चलनेवाला लेखक चेतना वा सूक्ष्मतम विकास को चित्रित करने का प्रयास करता है। उसके अनुसार मनुष्य के कार्य-कलाप का उतना महत्त्व नहीं होता, जितना उसकी प्रेरक शक्ति का। प्रत्येक भाव एवं मनोविकार के मूल तक पहुँचने के प्रयत्न में कथा के बीच में लंबे लंबे विचारात्मक स्थल स्वतः आ जाते हैं। इस प्रकार के उपन्यासों के पात्र अधिकतर आत्मलीन होते हैं। कलाकार की व्यक्तिगत रुचि, मानसिक संगठन तथा उसकी प्रतिभा के अनुसार अंतर्द्वंद्व-प्रधान उपन्यासों के स्वरूप में भी अंतर आ जाया करता है।

अंतर्मुखी प्रवृत्ति

मनोविश्लेषणात्मक पद्धति के प्रयोग से हिंदी के औपन्यासिक पात्रों में अधिक वैयक्तिकता, गंभीरता, सप्राणता एवं शक्तिमत्ता आई है, इससे इन्कार नहीं किया जा सकता, किंतु इस पद्धति की कतिपय त्रुटियाँ भी सामने आने लगी हैं। उदाहरण के लिये जैनेंद्र ने अपने 'त्याग-पत्र' में सामाजिक मूल्यों की नितांत अवहेलना करके एक स्वतंत्र एवं वैयक्तिक मनःतर्कवाद की प्रतिष्ठा की है। अज्ञेय के 'शेखरः एक जीवनी' में बड़ा परिपक्व शिल्प-कौशल हैं; किंतु शेखर की वैयक्तिक चेतना इतनी प्रखर हो गई है कि वह एक निरुद्देश्य विद्रोही मात्र बनकर रह जाता है; यहाँ पर अत्यधिक मनोविश्लेषण की प्रवृत्ति उपन्यासकार के मार्ग की बाधा बन गई है। इलाचंद्र जोशी मनोविश्लेषण के सिद्धांतों का पूर्वग्रह लेकर चले हैं और उनके पात्र विभिन्न प्रकार की मानसिक कुंठाओं के निदर्शन-से प्रतीत होते हैं।

प्रेमचंद, वृंदावनलाल वर्मा, कौशिक, प्रतापनारायण श्रीवास्तव आदि की कृतियों में बहिर्द्वंद्व की प्रधानता है। प्रसाद के पात्रों में अपेक्षाकृत अधिक आंतरिकता है। वे केवल भौतिक स्तर पर न रह कर सांस्कृतिक स्तर पर भी हैं। जैनेंद्र, अज्ञेय तथा इलाचंद्र का आग्रह मनोविश्लेषण पर ही अधिक है। यशपाल, भगवतीचरण वर्मा तथा उपेन्द्रनाथ 'अश्क' में दोनों ही प्रणालियों का संमिश्रण है। हिंदी उपन्यास मन की ओर बढ़ता हुआ धीरे धीरे अधिक सूक्ष्म एवं सांस्कृतिक होता जा रहा है।

प्रेमचंद के पात्र अधिकतर वर्गों के प्रतीक हैं। उस सुधार-जागरणवादी परंपरा के उपन्यासकार की दृष्टि अधिकतर समूह पर रही और उनके पात्र किसी संस्था या वर्ग-विशेष का प्रतिनिधित्व करते हैं। धीरे-धीरे व्यक्तित्व-प्रधान उपन्यास की कला का विकास होता गया। स्वयं प्रसाद के उपन्यासों में, विशेषकर 'कंकाल' में व्यक्ति-वैचित्र्य मिलने लगता है। जैनेंद्र तथा उनके बाद के उपन्यासों में व्यक्ति को महत्ता मिली और कहीं कहीं तो लेखक का सारा आग्रह व्यक्ति पर ही है। इधर के उपन्यासों में बड़ी सफलता के साथ व्यक्ति-वैशिष्ट्य का चित्रण होने लगा है। अज्ञेय, इलाचंद्र जोशी, भगवतीचरण वर्मा, उपेंद्रनाथ 'अश्क' आदि की कृतियों में अनेक प्रकार के विभिन्न प्रवृत्ति के पात्रों का सजीव वर्णन मिलता है। इधर के लेखकों में सीताराम गोयल का 'एकाकी' धर्मवीर भारती का 'गुनाहों के देवता', नागार्जुन का 'बलचनमा' आदि में बड़ी सुंदर चरित्र-सृष्टि के दर्शन होते हैं।

हिंदी उपन्यासों में प्रायः तीन दृष्टिकोण देखने को मिलते हैं— यथार्थवादी, रोमानी तथा आदर्शवादी। यथार्थवादी उपन्यासकार वस्तु को जैसी वह है वैसी ही देखता है और वर्णन करता है; उसकी दृष्टि विश्लेषणात्मक होती है, भावनामय या काव्यमय नहीं। किंतु रोमानी उपन्यासकार वस्तु पर अपनी भावना और कल्पना का आरोप कर देता है और उसे अपने स्वप्नों के सतरंगी अवगुंठन में आवृत करके देखता और चित्रित करता है। इन दोनों से अलग आदर्शवादी लेखक वस्तु में भाव और विवेक का रंग देकर उसे अपने आदर्श के अनुकूल चित्रित करने का प्रयास करता है। उसकी दृष्टि अधिकतर मानव-मंगल पर रहती है, केवल मनोरंजन पर नहीं। प्रेमचंद के अतिरिक्त प्रसाद, कौशिक, सियारामशरण गुप्त, प्रतापनारायण श्रीवास्तव प्रधानतया आदर्शवादी लेखक हैं। एक विशेष अर्थ में जैनेंद्र भी आदर्शवादी हैं, उन्होंने सामाजिक दृष्टि से स्खलित पात्रों को भी इस प्रकार चित्रित किया है कि वे स्वयं में बड़े महिमामय होकर हमारे हृदय की संपूर्ण सहानुभूति के पात्र बन गए हैं।

विभिन्न दृष्टिकोण
आदर्शवादी

हिंदी उपन्यास के क्षेत्र में हमें दो प्रकार के यथार्थवादी मिलते हैं। एक तो वे जो यथार्थता के अर्थ समझते हैं—यथातथ्य चित्रण, अपनी ओर से व्याख्या; व्यक्तिगत दृष्टि आदि का समावेश न करना तथा पात्रों का स्वयं अपनी व्याख्या या व्यंजना करना। दूसरे वे जो जीवन के दलित-गलित, क्षुद्र, तुच्छ और मलिन अंश को ही चुनते हैं। द्वितीय कोटि के उपन्यासकारों में प्रमुख हैं 'उग्र'। उन्होंने 'दिल्ली का दलाल' (१९२७) में स्त्रियों का कुत्सित व्यापार करने वाले गुंडों का यथातथ्य चित्रण किया है। स्त्रियों का वर्णन जिन ब्यौरों के साथ किया गया है, वह अश्लील-सा हो गया है। उनके 'बुधुवा की बेटी', 'शराबी', 'सरकार तुम्हारी आँखों में' नामक उपन्यास भी इसी कोटि के हैं। चतुरसेन शास्त्री के उपन्यास अधिकतर नारी-समस्या से संबंधित हैं और किसी हद तक सोद्देश्य हैं, किंतु वे भी यथार्थवाद के अश्लील रूप की ओर झुके हुए हैं। ऋषभचरण जैन ने आरंभ में प्रेमचंदी ढंग के दो एक उपन्यास लिखे, किंतु बाद में उन्होंने भी उग्र की भाँति 'दिल्ली का व्यभिचार' 'दिल्ली का कलंक', 'दुराचार के अड्डे' जैसे उपन्यास लिखने आरंभ किए, जो अश्लील हैं।

यथार्थवादी दृष्टिकोण

स्वस्थ और स्वाभाविक यथार्थवाद का सुंदर स्वरूप हमें भगवतीचरण वर्मा तथा उपेंद्रनाथ 'अश्क' के सामाजिक उपन्यासों में दिखाई पड़ा। इन दोनों ही लेखकों ने जीवन के कुछ पक्षों की सबलता-दुर्बलता को बड़ी ही कलात्मक निःसंगता के साथ चित्रित किया है। इधर अनेक नवीन लेखक उपन्यास के क्षेत्र में आए हैं और उनका दृष्टिकोण अधिकतर यथार्थवादी है। इनमें सीताराम गोयल तथा नागार्जुन प्रमुख हैं। गोयल का 'एकाकी' एक सफल व्यक्ति-प्रधान वस्तुवादी उपन्यास है। नागार्जुन के 'बलचनमा' में एक गरीब मजदूर किसान का बड़ा ही स्वाभाविक चित्रण किया गया है।

रोमानी दृष्टिकोण

रोमांस को हम यथार्थवाद तथा आदर्शवाद से बिलकुल अलग नहीं कर सकते। यथार्थवाद तथा आदर्शवाद दोनों ही में रोमांस की अनेक साहित्यिक रीतियों का प्रयोग प्रायः मिलता है। उग्र के 'चंद हसीनों के खतूत' वृंदावनलाल वर्मा के 'प्रेम की भेंट' तथा 'विराटा की पद्मिनी' एवं अन्य ऐतिहासिक उपन्यासों में, तथा इधर के 'गुनाहों के देवता' जैसे प्रेम संबंधी उपन्यासों में रोमांस की प्रमुखता है। अज्ञेय के उपन्यास भी एक दृष्टि से रोमानी ही हैं।

सैद्धांतिक दृष्टिकोण

कुछ उपन्यास ऐसे भी हैं जिन्हें परंपरित रूप में न तो आदर्शवादी कह सकते हैं और न यथार्थवादी और न रोमानी। ये उपन्यास किसी आर्थिक राजनीतिक या मनोविश्लेषण संबंधी सिद्धांतों के प्रतिपादन अथवा निदर्शन के लिये लिखे गए हैं, अतएव इन्हें सैद्धांतिक कहा जा सकता है। यशपाल तथा इलाचंद्र जोशी की कृतियाँ इसी कोटि में आती हैं।

प्रमुख उपन्यासकार

उपर्युक्त विवेचन में हिंदी के प्रमुख उपन्यासकारों का संक्षिप्त उल्लेख हो चुका है। प्रेमचंद, प्रसाद, वृंदावनलाल वर्मा, कौशिक, उग्र, भगवतीप्रसाद बाजपेयी, जैनेंद्रकुमार, इलाचंद्र जोशी, सियारामशरण गुप्त, प्रतापनारायण श्रीवास्तव, भगवतीचरण वर्मा, यशपाल, अज्ञेय, अश्क, हजारीप्रसाद द्विवेदी, आदि अनेक लेखकों ने उपन्यास वाङ्मय की अभिवृद्धि की है। यहाँ उन सबका विवेचन संभव नहीं है। इधर कुछ नवयुवक लेखक अपनी उत्कृष्ट रचनाएँ लेकर इस क्षेत्र में आते जा रहे हैं। इनमें रांगेय राघव, धर्मवीर भारती, सीताराम गोयल आदि में अच्छी औपन्यासिक प्रतिभा है। किंतु इनके विवेचन का भी यहाँ अवकाश नहीं है। यहाँ संक्षेप में हिंदी उपन्यास के युगविधायक कलाकारों—प्रेमचंद, प्रसाद, वृंदावनलाल वर्मा, जैनेंद्र, इलाचंद्र जोशी, भगवतीचरण वर्मा, यशपाल, अज्ञेय तथा उपेंद्रनाथ 'अश्क' के कृतित्व का वर्णन किया जायगा।

प्रेमचंद

साहित्यकार की महत्ता के मापदण्डों में हृदय की विशालता का प्रमुख स्थान है। इस युग के साहित्यकारों में यह गुण सर्वाधिक मात्रा में प्रेमचंद को ही उपलब्ध था। उनमें ऐसी व्यापक सहानुभूति थी, ऐसी उदार दृष्टि थी कि निम्न वर्ग से लेकर उच्च वर्ग की अनेकानेक कठिनाइयों—समस्याओं को वे निर्लिप्त भाव से देख सके, हृदयंगम कर सके। उनके उपन्यासों में प्रधानतया शोषित-उत्पीड़ित वर्ग को स्वर मिला। उनमें विधवाएँ हैं, वेश्याएँ हैं, बूढ़े

पति की युवती पत्नियाँ हैं; उनमें अंध-संस्कारों से ग्रस्त, अभावमय परिस्थितियों में पले, कर्ज में आकंठ डूबे, जमींदार के सिपाही-कारिंदों से त्रस्त, हाकिम-अमलों की हरी-बेगारी से आतंकित; सिपाही-दारोगा के हथकंडों के शिकार, बिरादरी की भोज-भात प्रथा से परेशान, थके-हारे किसान हैं; उनमें युगों से उत्पीड़ित अछूत भी हैं, अनाथ, भूखे और भिखमंगे भी हैं। इन सबको प्रेमचंद का विशेष स्नेह मिला है, किंतु समाज का सम्पन्न सुखी और तथाकथित शोषक—उत्पीड़क वर्ग—राजा-महाराजा, जमींदार, साहूकार, उद्योगपति, सरकारी अफसर-कर्मचारी आदि—भी उनकी सहानुभूति से बंचित नहीं रह सका। वे अत्याचार-अनाचार से घृणा करते थे और उसके लिये अनेक उपन्यासों में विभिन्न प्रकार के दंडों के विधान भी हैं, किंतु अत्याचारी-अनाचारी व्यक्ति के प्रति उनके मन में कभी मैल नहीं रहा। यह उनके स्वस्थ व्यक्तित्व एवं व्यापक मानववादी दृष्टिकोण का परिणाम था। इस व्यापक सहानुभूति के कारण ही उनके उपन्यासों का क्षेत्र बड़ा विस्तृत हो गया है। उन्होंने परिवार की छोटी से छोटी घटनाओं से लेकर समाज और राष्ट्र की बड़ी से बड़ी समस्याओं का चित्रण किया और उनके उपन्यास तत्कालीन युग-जीवन के कलात्मक इतिहास हो गए।

प्रेमचंद कला को केवल मनोरंजन की सामग्री न समझ कर मानव-मंगल एवं मानव-मन-परिष्कार का एक श्रेष्ठतम साधन समझते थे। केवल मनोरंजन करना तो वे 'भाँड़ों और मदारियों, विदूषकों और मसखरों का काम' समझते थे। उनके विचार से 'साहित्यकार हमारा पथ-प्रदर्शक होता है, वह हमारे मनुष्यत्व को जगाता है, हममें सद्भावों का संचार करता है, हमारी दृष्टि को फैलाता है।' इस आदर्शवादी दृष्टिकोण के अनुसार ही उनके उपन्यास ध्येयोन्मुखी हो गए हैं। उनमें किसी न किसी प्रकार के नैतिक उपदेश एवं समाज-सुधार का लक्ष्य प्रमुख हो उठा है। प्रायः सभी उपन्यासों में कोई न कोई आदर्श पात्र मिलेगा, जैसे 'सेवासदन' में पद्मसिंह, 'प्रेमाश्रम' में 'प्रेमशंकर', 'रंगभूमि' में सूरदास, 'कायाकल्प' में चक्रधर तथा 'कर्मभूमि' में अमरकांत। इनके द्वारा सेवा, समत्व, सहानुभूति, आत्मत्याग, देशानुराग आदि उच्च भावनाओं का प्रतिपादन कराया गया है। अंत में चलकर अधिकांश दुर्जन पात्र या तो मृत्यु, आत्महत्या के द्वारा हटा दिए जाते हैं या उनका सुधार हो जाता है। अधिकतर उपन्यासों का अंत घटनाओं के स्वाभाविक क्रम के अनुसार न होकर प्रेमचंद के आदर्शवादी दृष्टिकोण के अनुसार होता है। इससे कला की स्वाभाविक सुंदरता नष्ट हो जाती है और प्रेमचंद का उपदेशक-सुधारक रूप सामने आ जाता है। इस कलात्मक त्रुटि से केवल 'रंगभूमि' और 'गोदान' किसी हद तक बचे हुए हैं। प्राचीन भारतीय नैतिक मूल्यों में प्रेमचंद की आस्था थी और उहोंने सामाजिक सदाचार के खोखलेपन को अनावृत कर व्यक्तिगत सदाचार पर अधिक जोर दिया। प्रेमचंद न तो कभी संदेहशील हुए और न पराजयवादी क्योंकि मनुष्य की मनुष्यता पर उन्हें अडिग विश्वास था। उन्होंने पतन और स्खलन का भी वर्णन किया है; किंतु सामान्य मानव-सुलभ दुर्बलता के रूप में—उसमें आसक्ति नहीं दिखलाई। उहोंने जीवन का ऐसा चित्रण किया है कि उससे यथार्थ का भ्रम हो जाता है, किंतु उनकी दृष्टि आदर्शवादी ही है।

सर्वप्रथम प्रेमचंद ने ही ऐसे जीते-जागते पात्रों के चित्र दिए जिनके क्रिया-कलापों एवं भाव-बिचारों की मनोविज्ञान के प्रकाश में व्याख्या की जा सकती है; किंतु प्रेमचंद का

मनोविज्ञान व्यावहारिक धरातल पर रहता है,मनोविश्लेषण के सूक्ष्म स्तर तक पहुँच नहीं पाता। उनके चरित्रों में बाह्य-द्वंद्वों की प्रमुखता हैं, अंतर्द्वंद्व की नहीं। इसका यह भी कारण है कि उनके पात्र अधिकतर वर्गों के प्रतीक हैं, व्यक्ति नहीं हैं। उनका प्रत्येक पात्र किसी न किसी वर्ग की विशेषताओं का प्रतिनिधित्व करता है। व्यक्ति-चरित्र की आंतरिक जटिलताओं में वे कभी नहीं उलझे। उहोंने अधिकतर चेतना के ऊपरी सतह पर बनने-मिटने वाली भाव-तरंगों का ही चित्रण किया। कोई पात्र किसी विशेष परिस्थिति में अपने प्रत्यक्ष स्वभाव के विपरीत क्यों और कैसे नितांत अप्रत्याशित आचरण कर बैठता है, इसके विश्लेषण का प्रयास उनकी कृतियों में नहीं मिलता। शायद यही कारण है कि उनके उपन्यासों में जितनी व्यापकता है उतनी गहराई नहीं। उनके पात्र सीधे-सादे हैं, जिनमें कोई मानसिक उलझन या कुंठा नहीं है और परिस्थितियों की प्रतिक्रिया उनपर सदैव ऐसी ही होती है, जैसी किसी भी स्वस्थ एवं साधारण आदमी पर हो सकती है।

प्रेमचंद के उपन्यासों में 'प्रेमाश्रम', 'रंगभूमि', 'कायाकल्प' तथा 'कर्मभूमि' किसी न किसी प्रकार के आंदोलनों से संबंधित हैं। 'प्रेमाश्रम' में किसान-जमींदार संघर्ष है, 'रंगभूमि' में सामंतवाद तथा पूँजीवाद के विरुद्ध आंदोलन है, 'कायाकल्प' की कथावस्तु में यद्यपि पुनर्जन्म की अलौकिक कहानी ही प्रमुख है, किंतु उसमें भी हिंदू-मुस्लिम संघर्ष तथा ऐक्य आंदोलन और किसान-मजदूर समस्या आ ही गई है। 'कर्मभूमि' में लगान-बदी आंदोलन का वर्णन है। इन उपन्यासों में एक पारिवारिक अनुरूपता है और इनमें न्यस्त बहुत सी घटनाएँ परस्पर मिलती जुलती हैं। सब मिलाकर गांधी - युग के तीन चरण का सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक इतिहास इनमें मिल जायगा। उपर्युक्त सभी उपन्यासों का अंत प्रायः संघर्ष की समाप्ति एवं दलित वर्ग की आध्यामिक विजय में होता है। इन उपन्यासों में 'रंगभूमि' का क्षेत्र बहुत विस्तृत है और यह वास्तविक अर्थों में गांधीवादी उपन्यास है। इसकी कथा का प्रधान अंग सत्याग्रह-संग्राम और उसमें निष्काम भाव से अग्रसर होनेवाले वीरों की आध्यात्मिक विजय होते हुए भी इसमें जीवन की अनेक मार्मिक दशाओं का बड़ा ही विशद वर्णन मिलता है। पांडेपुर गाँव के बजरंगी, जगधर, भैरो, सूरदास, ताहिरअली आदि के पारस्परिक संबंध एवं पारिवारिक जीवन से लेकर पादरी ईश्वर सेवक, कुँवर भरतसिंह, राजा महेंद्रसिंह, मिस्टर क्लार्क, और यहाँ तक कि जसंवत-नगर के दीवान और महाराजा के अंतरंग पारिवारिक एवं राजनीतिक जीवन का भी बड़ा विश्वसनीय वर्णन मिलता है। इस 'रंगभूमि' में हिंदू, मुसलमान, ईसाई, राजा, जमींदार, उद्योगपति, किसान-मजदूर, पंडे, गुंडे, देश-सेवक, देशद्रोही सभी मिल जायँगे। यह विस्तृत राष्ट्रीय रंगभूमि है। 'रंगभूमि' में जितने धीरोदात्त पात्रों की सृष्टि हुई है, उतने प्रेमचंद के अन्य किसी उपन्यास में नहीं मिलते। 'प्रेमाश्रम' एवं 'कायाकल्प' की अपेक्षा इसके रचना-कौशल में भी अधिक प्रौढ़ता है। 'सूरदास' को एक बड़ा ही सबल व्यक्तित्व प्रदान किया गया है, जो हमारी स्मृति में चिरकाल तक जीवित रहता है।

'सेवासदन', 'निर्मला', 'गबन' और 'गोदान' प्रधानतया सामाजिक और पारिवारिक जीवन से संबंध रखते हैं और इनमें प्रत्येक की अपनी विशेषता है। 'सेवासदन' की कथा-वस्तु बड़ी सुगठित है। सारी कथा का केंद्र-विंदु 'सुमन' है और उसके व्यक्तित्व के साथ

उपन्यास की सारी घटनाएँ बड़ी दृढ़ता से जुड़ी हैं। आरंभ से अंत तक हमारी दृष्टि उसपर से नहीं हटती। दहेज देकर अच्छी जगह उसका विवाह करने के अभिप्राय से उसके सीधे-सादे, धर्म-भीरु, कर्तव्य-परायण पिता घूस लेते हैं और परिणाम-स्वरूप जेल जाते हैं; इसी विषम परिस्थिति में उसका विवाह होता है; गृह-कलह और विपन्नता में ही विवाहित जीवन बीतता है; पति द्वारा निष्कासन से वेश्यावृत्ति ग्रहण करने को बाध्य होती है और फिर आंतरिक प्रेरणा से अनाथाश्रम की स्थापना कर सेवावृत्ति में उसके जीवन का अवसान होता है। उसकी बहिन 'शांता' की प्रासंगिक कहानी का परिचालन भी 'सुमन' की मूल कथा से ही होता है। चरित्र, घटना और परिस्थिति में असामान्य सामंजस्य है। 'निर्मला' की कथावस्तु में भी बड़ी एकान्विति है। 'गबन' में पात्र और परिस्थिति का बड़ा ही मनोवैज्ञानिक घात-प्रतिघात दिखाया गया है। अन्य उपन्यासों के पात्र किसी समस्या के अधीन हैं, गबन में ऐसा नहीं हैं, यहाँ वे परिस्थिति के अधीन हैं। बिसाती वाली एक छोटी सी घटना ने जालपा के बाल-स्वभाव को प्रभावित किया और वह छोटा सा प्रभाव ही घर और गाँव के वातावरण में पल्लवित होकर उत्कृष्ट-आभूषण प्रेम के रूप में प्रकट हुआ। इस आभूषण-प्रेम ने ही जालपा और रमानाथ के सारे कष्टों की सृष्टि की। पत्नी को आभूषणों से प्रसन्न करने के लिए ही रमानाथ घूस लेता है, कर्ज लेता है और कर्ज चुकाने के लिये एक दिन दफ्तर के कुछ रुपए ले लेने के लिए भी बाध्य होता है। कल्पित भय और आशंका से वह कलकत्ते में स्वयं ही पुलिस के हाथों फँस जाता है और प्रलोभनों में पड़कर मुखबिर बनता है। अंत में जालपा अपने सबल व्यक्तित्व से उसका उद्धार करती है। इस उपन्यास में प्रत्येक चरित्र-परिवर्तन के मूल में कोई न कोई घटना है और प्रत्येक घटना चरित्र की विशेषता का फल है।

प्रेमचंद का सर्वश्रेष्ठ उपन्यास गोदान है, जिसमें दो स्वतंत्र कथाएँ—मालती-मेहता तथा उनके मित्रों की और होरी की—समानांतर चलती चली गई है। कहानियाँ ही नहीं बल्कि दो प्रकार का जीवन भी साथ-साथ चित्रित किया गया है और एक के प्रकाश में दूसरे की अच्छी व्याख्या हो गई है। 'होरी' की जीवन-कथा अपने आपमें पूर्ण है। इसके चित्रण में प्रेमचंद ने जैसी कलात्मक निःसंगता दिखाई है, वैसी उनके अन्य उपन्यासों में दुर्लभ है। इसमें प्रेमचंद ने किसी समस्या का समाधान दिखाने का प्रयत्न नहीं किया है, केवल जीवन को उसकी संपूर्ण सबलता-दुर्बलता में चित्रित कर दिया है। इस दृष्टि से यह उपन्यास स्वस्थ और स्वाभाविक यथार्थवाद का सुंदर उदाहरण है। नगर वाली कहानी में अवश्य आदर्शवादी पुट है। 'होरी' में हमें भारतीय किसान का एक जीता जागता चित्र मिलता है, जिसमें अच्छाइयाँ-बुराइयाँ दोनों ही हैं। वह अपने परिवार से प्रेम करता है, ईश्वर से डरता है, सामाजिक मर्यादा को स्वीकार करके चलता है। दुनियाँ की मार ने उसे अनुभवी बना दिया है। वह जानता है कि 'जब दूसरों के पाँव तले अपनी गर्दन दबी है, तो उन पावों को सहलाने में ही कुशल है।' व्यक्तिगत सदाचार की अपेक्षा सामाजिक सदाचार पर उसकी अधिक दृष्टि रहती है। शत्रुवत् व्यवहार करनेवाले भाई के घर की पुलिस तलाशी ले इसे वह सहन नहीं कर सकता; किंतु लोगों की दृष्टि बचाकर छोटे-मोटे स्वार्थ भी साध लेता है। वह एक कठिनाई सुलझा नहीं पाता की दूसरी उपस्थित

हो जाती है। वंश-मर्यादा की रक्षा में वह दिन-दिन महाजनों के चंगुल में फँसता जाता है और एक दिन ऐसा आता है कि उसका घर-बार, हल-बैल, सब उन्हीं के पेट में समा जाता है; महतो मजदूर बन जाते हैं। ग्रीष्म की दुपहरिया में मजदूरी करते समय उसे लू लग जाती है और वह चारपाई पर पड़ जाता है। अवस्था बिगड़ जाने पर हीरा ने कहा—'भाभी दिल कड़ा करो, गोदान करा दो, दादा चले।' और कई आवाजें आईं 'हाँ गोदान करा दो यही समय है।' धनियाँ यंत्र की भाँति उठी, आज जो सुतली बेची थी, उसके बीस आने पैसे लाई और पति के ठंडे हाथ में रखकर सामने खड़े दातादीन से बोली—"महाराज घर में न गाय है, न बछिया, न पैसा, यही पैसे हैं, यही इनका गोदान है" और पछाड़ खाकर गिर पड़ी। यही गोदान का अंत है, जो प्रेमचंद के अन्य उपन्यासों से सर्वथा भिन्न है।

'गोदान' ग्रामीण जीवन तथा समाज का एक निष्पक्ष चित्र है। जमींदार, सरकार तथा साहूकार की भिन्न-भिन्न शोषण-प्रणालियों के अतिरिक्त सामाजिक उत्पीड़न का भी गोदान में स्थान-स्थान पर मार्मिक वर्णन मिलता है। किसानों के सिर पर सदैव बिरादरी का भूत सवार रहता है, जो शादी-ब्याह, मूड़न-छेदन, जन्म-मरण सब का नियामक है। यदि बिरादरी द्वारा निर्धारित कृत्रिम नियमों का पालन व्यक्ति करता जाता है, तो बिरादरी सिर न उठाएगी, किंतु यदि तनिक भी चूक हुई तो मनुष्य को कठोर से कठोर दंड भुगतना पड़ता है। 'होरी' इसी बिरादरी के अत्याचारों के नीचे पिस गया। किंतु अब धीरे-धीरे गावों में चेतना आने लगी है—गोबर, मातादीन, सिलिया, झुनिया आदि इसके उदाहरण हैं।

प्रेमचंद में अद्भुत पर्यवेक्षण शक्ति थी। मध्यवर्ग एवं ग्रामीण जीवन का कोई भी पक्ष उनसे छूटा नहीं था। वर्णन करने की उनमें अद्भुत क्षमता भी थी। यद्यपि उनके उपन्यासों में प्रायः निरर्थक विस्तार मिलता है और उद्देश्य पर दृष्टि रहने के कारण कथा के सहज प्रवाह में कृत्रिम मोड़ दिखाई पड़ते हैं। फिर भी जीवन का इतना सजीव वर्णन कम ही उपन्यासकारों में मिलता है। प्रेमचंद का महत्त्व इससे नहीं आँकना चाहिए कि उनके पात्रों में कितना चिंतन और दर्शन है, अथवा वे कितने जटिल, वैयक्तिक एवं गंभीर हैं, रोमानी एवं भावुकता-पूर्ण वर्णनों द्वारा पाठक के हृदय को भावाभिभूत कर देने की क्षमता भी उनके महत्त्व का मापक नहीं बन सकती। उनका महत्व तो इस बात में है कि उन्होंने नैतिक एवं व्यावहारिक जीवन को अपनी कृतियों में सजीव कर दिया है। उनकी जैसी स्वस्थ, संतुलित एवं व्यापक दृष्टि इस युग के किसी भी अन्य उपन्यासकार में नहीं है।

जयशंकर प्रसाद

कवि की मधुमयी प्रतिभा, नाटककार का कौशल, दार्शनिक की दृष्टि तथा प्रचुर व्यावहारिक अनुभव लेकर प्रसाद जी उपन्यास के क्षेत्र में आए और 'कंकाल' (१९२९) तथा 'तितली' (१९३४) दो उपन्यासों की रचना की। उनके निधन के उपरांत उनका अधूरा ऐतिहासिक उपन्यास 'इरावती' निकला, जिसका संबंध शुंगकाल से है। इसकी वर्णन-प्रणाली अपनी रमणीयता में 'करुणा' और 'शशांक' से भी आगे बढ़ गई है। यदि यह पूरा हो

गया होता तो भारत के ऐतिहासिक उपन्यासों में इसका एक विशेष स्थान होता। 'कंकाल' और 'तितली' सामयिक जीवन को पार्श्वभूमि बनाकर लिखे गए हैं।

'कंकाल' में धार्मिक-सामाजिक बंधनों तथा व्यक्ति की जन्मजात प्रवृत्तियों के संघर्ष से उद्भूत विषमताओं का कलात्मक वर्णन किया गया है। उत्तर भारत के प्रधान तीर्थ-स्थानों—प्रयाग, काशी, हरद्वार, मथुरा, वृंदावन—में ही 'कंकाल' की अधिकांश घटनाएँ घटित होती हैं। इन पवित्र स्थानों में धर्म की ओट में मनुष्य की निम्नगा प्रवृत्तियाँ किस प्रकार सक्रिय रहती हैं और कैसे कैसे खेल दिखलाती हैं, 'कंकाल' में अधिकतर इसी का वर्णन है। तपश्चर्या में जीवन व्यतीत करनेवाले तथा ब्रह्मानंद के रस में डूबे रहनेवाले युवक साधु देवनिरंजन का मन भी प्रयाग में कुंभ के अवसर पर श्रोताओं के बीच अपनी बाल्य सहेली युवती किशोरी को देख चंचल हो उठता है। पुत्र-प्राप्ति की अभिलाषा से हरद्वार में आई हुई पर-पत्नी किशोरी के यौवन-रस में ये आकंठ निमग्न हो जाते हैं। अपने इस पतन को भी वे एक दार्शनिक रूप दे देते हैं—"जगत तो मिथ्या है ही, इसके जितने कर्म हैं वे भी माया हैं, प्रमाता जीव भी प्राकृत हैं, क्योंकि वह भी अपरा प्रकृति है, जब विश्व मात्र प्राकृत है तो इसमें अलौकिक अध्यात्म कहाँ। यही खेल यदि जगत बनानेवाले का है तो मुझे भी खेलना चाहिए।" और साधु देवनिरंजन 'किशोरी' तथा विधवा 'रामा' से खेल खेल चलते हैं, जिसके परिणाम-स्वरूप क्रमशः विजय और तारा का जन्म होता है। मंगलदेव जिनमें साहस और सदाशयता है, तथा जिसने मेले से भगाई हुई तारा का वेश्यालय से उद्धार किया था, उसे गर्भवती बना ठीक विवाह के दिन यह जानकर भाग खड़ा होता है कि तारा दुश्चरित्रा माँ की संतान है; यद्यपि मंगलदेव स्वयं भी संभवतः अवैध संबंध से उत्पन्न व्यक्ति है। विजय यमुना बनी तारा से प्रेम करता है और उधर से निराश होकर बाल-विधवा घंटी की ओर उन्मुख होता है। किंतु सामाजिक बाधा के कारण इससे विवाह करने में असफल होता है। डाकू बदन गूजर की कन्या 'गाला' भी उसे इसलिए अस्वीकार कर देती है कि वह उसका आश्रित है। मंगलदेव, जिसने तारा जैसी पवित्र स्त्री का परित्याग कर दिया था, विवाह करता है डाकू बदन की मुसलमान स्त्री से उत्पन्न कन्या गाला से। इधर ईसाई पादरी बाथम घंटी को अपनी वासना का लक्ष्य बनाना चाहता है। इस प्रकार 'कंकाल' में हम समाज के कंकाल रूप को देखते हैं। धर्म की आड़ में मनुष्य की वासना कैसे कैसे रूप धारण करती है और सामाजिक मान्यताओं के नीचे किस प्रकार व्यक्ति पिस उठता है इसका इस उपन्यास में अच्छा दिग्दर्शन कराया गया है। इस उपन्यास का अंत बड़ा प्रभावपूर्ण एवं प्रतीकात्मक है। जमुना अपने भाई विजय का कंकाल लिए सड़क के किनारे बैठी है। उधर से धर्म संघ का जुलूस निकलता है, जिसमें मंगलदेव जैसा व्यक्ति धर्म की ध्वजा उठाए चल रहा है। वह जलूस हमारे धर्म तथा समाज का बाहरी स्वरूप है तथा वह 'कंकाल' उसकी नग्न वास्तविकता।

'कंकाल' के द्वारा प्रसाद जी ने हिंदू-समाज में स्त्रियों की नितांत असहाय परिस्थिति को चित्रित करने का प्रयत्न किया है। इस उपन्यास में अधिकांश स्त्रियाँ पुरुषों द्वारा प्रवंचित हैं। तारा मंगलदेव द्वारा छली जाती है, किशोरी देवनिरंजन से तथा लतिका

बाथम से। तीनों ही पुरुष पात्र ऐसे हैं जिन्होंने अपने चारों तरफ सज्जनता और धार्मिकता का एक आवरण डाल रखा है। पादरी बाथम की लोलुप दृष्टि घंटी पर भी पड़े बिना नहीं रहती। यमुना ठीक कहती है—"जब मैं, स्त्रियों के ऊपर दया दिखाने का उत्साह पुरुषों में देखती हूँ, तो जैसे कट जाती हूँ, ऐसा जान पड़ता है कि वह सब कोलाहल, स्त्री जाति की लज्जा की मेघमाला है। उनकी असहाय परिस्थितियों का व्यंग उपहास है।"

इस उपन्यास में सभी मान्य सामाजिक संस्थाओं के थोथेपन को अनावृत किया गया है और भारत संघ के रूप में एक नवीन समाज के संगठन की कामना की गई है, जिसमें बाहरी सुधार की अपेक्षा व्यक्ति के मानसिक सुधार पर अधिक आग्रह है। इस उपन्यास में मनुष्य के प्रवृत्तिजन्य पतन का वर्णन है किंतु उग्र की भाँति उसमें रस लेने का प्रयास नहीं मिलता। इसके सभी पतित पात्र अंत में पश्चाताप भी करते हैं और दुर्वह मानसिक-शारीरिक वेदना के समय भी ईश्वर को अस्वीकार नहीं करते। पाप और पुण्य, महत्ता और तुच्छता की एक नवीन तथा अधिक मानवीय व्याख्या की गई है। इसमें समाज की वास्तविक स्थिति दिखाते हुए भी आदर्शवाद का सामंजस्य स्थिर किया गया है।

'कंकाल' शुद्ध चरित्र-प्रधान उपन्यास है जिसमें विभिन्न परिस्थितियों में डालकर कुछ पात्रों के चरित्र के विशेष पक्षों को अनावृत करने का प्रयास किया गया है। इसके लिए पात्र अनेक स्थानों में लेखक के संकेत पर घूमते फिरे हैं। लेखक जब भी चाहता है दो पात्रों को एकत्र कर देता है, जिससे कहीं कहीं कृत्रिमता आ गई है। पात्रों को मनमानी विभिन्न परिस्थितियों में डालते रहने के अतिरिक्त प्रसाद जी ने सुविधा के अनुसार भाग्य के कुछ और खेल भी दिखाए हैं, जैसे देवनिरंजन का मठाधीश हो जाना, गाला को डाके का धन मिलना, मोहन का श्रीचन्द्र का दत्तक पुत्र होना आदि। इससे उपन्यास की कलात्मकता में बाधा पहुँची है। किंतु इस उपन्यास में नाटकीय ढंग के भाग्य-विडम्बन एवं व्यंग का स्थान-स्थान पर बड़ा मार्मिक प्रयोग हुआ है। यह व्यंग घटनाओं में भी है तथा व्यक्तियों के संवादों और आचरणों में भी। साधु देवनिरंजन तथा किशोरी का अवैध संबंध आद्यंत व्यंगपूर्ण है। सदाचार का ढोंग रचनेवाला मंगलदेव तारा जैसी पवित्र बाला को गर्भवती बनाकर छोड़ जाता है और व्याह करता है गाला से—मानो वह बड़ी कुलीन हो। धर्म का उपदेशक पादरी बाथम अनाथ बालिका घंटी का उपभोग करना चाहता है। देवनिरंजन के भंडारे में मोटे और भी मोटे बनते हैं तथा बाहर भिखमंगों की भीड़ पत्तलों पर टूटती है। किशोरी का पुत्र विजय काशी की सड़कों पर भीख माँगता है जब कि किशोरी एक दूसरे बालक को गोद लेती है। इसी प्रकार के कितने ही स्थल हैं, जिनमें व्यक्ति, समाज, परिस्थिति एवं नियति का मार्मिक व्यंग दिखाया गया है। वास्तव ने यह संपूर्ण उपन्यास व्यंग-प्रधान है।

'तितली' उनका दूसरा उपन्यास है जिसमें प्रसाद जी के हृदय की नारी-भावना तितली के रूप में अवतीर्ण हुई है। आर्य संस्कृतिक के पोषक एवं समाज-सुधारक बाबा रामनाथ के आश्रम में रहते हुए तितली और मधुबन में स्वाभाविक साहचर्य-अन्य प्रेम उद्भूत हो जाता है और दोनों बाबाजी के द्वारा विवाह-बंधन में बाँध दिए जाते हैं।

जमींदार इंद्रदेव भी तितली की ओर उन्मुख थे और उनके आदमी इस विवाह में विघ्न डालना चाहते थे किंतु तितली ने बड़ी दृढ़तापूर्वक निर्धन मधुबन को वरण करने का अपना निर्णय दे डाला। तितली और मधुबन के दांपत्य-जीवन की स्निग्धता के स्थल-स्थल पर बड़े सुंदर चित्र अंकित किए गए हैं। दुराचारी महंत को मारने के अपराध में जब मधुबन को कारावास हो जाता है तो तितली के अपूर्व धैर्य, उसकी कर्तव्यनिष्ठा, कार्य-कुशलता, एवं आत्म-संमान का चित्रण करके प्रसाद ने भारतीय नारीत्व एवं सतीत्व को मूर्तिमान कर दिया है। तितली के साथ इंद्रदेव द्वारा इंगलैंड से लाई गई अंग्रेज बाला शैला का चित्रण करके उन्होंने भारतीय एवं पाश्चात्य संस्कारों का तुलनात्मक चित्रण किया है। शैला का इंद्रदेव से परिचय कराकर यह दिखला दिया है कि सच्चा प्रेम, देश, जाति और वर्ण सबके बंधनों से ऊँचा है। इंद्रदेव के परिवारवालों की कूटनीति और असंतोष का चित्रण करके आधुनिक सम्मिलित कुटुंब की विशेषताओं को चित्रित किया गया हैं। 'तितली' उपन्यास में प्रेमचंद के प्रायः सभी प्रिय विषयों का समाहार हो गया है; केवल सत्याग्रह आंदोलन छूट गया है।

कथावस्तु का चयन, उसकी संघटन तथा निर्वाह की दृष्टि से प्रसाद के उपन्यास प्रेमचंद के उपन्यासों से एक चरण आगे हैं। प्रेमचंद के समान प्रसाद में विषय का अनावश्यक विस्तार नहीं है। वे उतना ही कहते हैं जितना कहना चाहिए और उपयुक्त स्थल पर नाटकीय ढंग से कहानी समाप्त भी कर देते हैं। कथानक का उत्थान, विकास एवं उसकी समाप्ति तीनों ही बड़े क्रमिक तथा नाटकीय होते हैं। दोनों ही उपन्यासों में कुछ स्थल जैसे 'कंकाल' में गोस्वामी कृष्णशरण तथा 'तितली' में बाबा रामनाथ के द्वारा संस्कृति-प्रतिपादन या लंबे लंबे उपदेश—ऐसे हैं जहाँ कहानी की गति में थोड़ा व्याघात पहुँचता है; परंतु ऐसे स्थल इने गिने ही हैं। प्रसाद जी के पात्र प्रेमचंद जी के पात्रों की अपेक्षा एक बड़े समाज से लिए गए हैं और यद्यपि प्रेमचंद जैसा व्यावहारिक चरित्र-चित्रण नहीं मिलता फिर भी उन्हें विकास-स्वातंत्र्य अधिक मिला है। प्रसाद ने मानसिक अंतर्द्वंद्वों के चित्रण का भी प्रयास किया है। मनोभावों के द्वंद्व से जिस प्रकार हृदय व्याकुल हो उठता है, उसी प्रकार उसके व्यक्त प्रभाव से शरीर भी उद्विग्न, अव्यवस्थित और चंचल; तन और मन की उस गूढ़ दशा का चित्रण प्रसाद के उपन्यासों में स्थान-स्थान पर मिलता है। इस अंतर्वृत्ति-निरूपिणी कला का आगे चलकर जैनेंद्र द्वारा अच्छा विकास हुआ। प्रेमचंद और प्रसाद में चरित्र-संबंधी जो दूसरा अंतर स्पष्ट लक्षित होता है, वह यह है कि प्रसाद के पात्रों में प्रेमचंद के पात्रों की अपेक्षा वैयक्तिकता अधिक है। उनके प्रायः सभी प्रधान पात्रों में अपनी वैयक्तिक विशेषताएँ हैं, जिनके द्वारा हम उन्हें जानते पहचानते हैं। कुछ पात्रों में वर्गगत विशेषताएँ भी हैं, किंतु वर्ग का चित्रण प्रसाद उतनी कुशलता से नहीं कर पाए हैं। प्रसाद के पात्रों में प्रेमचंद के पात्रों की अपेक्षा स्वाभाविकता कम और काल्पनिकता अधिक मिलती है। शैली की दृष्टि से प्रसाद में प्रेमचंद की अपेक्षा गंभीरता और कवित्व का पुट अधिक है। उपन्यास के क्षेत्र में आकर भी उनका कवि सजग रहा है और इसीलिए उनके उपन्यासों में भावों को आंदोलित करने की अधिक क्षमता है। स्थान-स्थान पर चित्रमय सूक्तियों का प्रयोग तथा कला और संस्कृति-विषयक

विचार प्रचुरता से मिलते हैं। आधुनिक समस्याओं का वर्णन भी काव्यमय ढंग से किया गया है। जहाँ तक दृष्टिकोण का संबंध है प्रसाद जी भी प्रधानतया आदर्शवादी थे और उनके उपन्यास भी सुधार-जागरण को ही लक्ष्य बनाकर लिखे गए हैं।

वृंदावनलाल वर्मा ने सामाजिक और ऐतिहासिक दोनों ही प्रकार के उपन्यास लिखे हैं। सामाजिक उपन्यासों में प्रमुख हैं 'लगन', 'कुंडली चक्र', 'कभी न कभी', 'प्रेम की भेंट', 'प्रत्यागत', 'अचल मेरा कोई', तथा 'अमरबेल' (१९५३)। ऐतिहासिक उपन्यासों में 'गढ़कुंडार' (१९२९), 'विराटा की पद्मिनी' (१९३६) 'झाँसी की रानी', (१९४६), 'कचनार' तथा 'मृगनयनी' (१९५०) आदि प्रमुख हैं। वर्माजी अनवरत गति से लिखते जा रहे हैं और 'माधव जी सिंधिया', 'सत्रह सौ उन्तीस' 'आनंदघन', 'राणा साँगा' तथा 'टूटे काँटे' आदि बहुत से अन्य उपन्यासों के भी निकट भविष्य में प्रकाशित होने की आशा है। वर्मा जी की ख्याति का अधिकांश श्रेय उनके ऐतिहासिक उपन्यासों को है। इनके द्वारा उन्होंने हिंदी साहित्य के एक बहुत बड़े अभाव की पूर्ति की है।

वृंदावनलाल वर्मा

'गढ़कुंडार' में चौदहवीं शती के बुंदेलखंड की राजनीतिक परिस्थिति की एक मार्मिक झलक मिलती है। सोहनपाल बुंदेला अपने ही भाई द्वारा प्रवंचित होकर सहायता की आशा में सकुटुंब इधर उधर भटक रहा था। खंगार राजा दुरमतसिंह का राजकुमार नागदेव बुंदेला राजकुमारी हेमवती के सौंदर्य पर रीझ गया और सोहनपाल को सहायता का आश्वासन देकर कुंडार में ही टिका दिया। राजकुमार नाग ने अवसर पाकर हेमवती से प्रणय-निवेदन किया किंतु जातीय श्रेष्ठता के गर्व में राजकुमारी ने उसका तिरस्कार कर दिया। इस पर उसने हेमवती को हरण करने की योजना बनाई, किंतु सोहनपाल के मंत्री धीर के पुत्र दिवाकर की सतर्कता एवं वीरता से नाग असफल हुआ और राजकुमार सहजेंद्र तथा दिवाकर हेमवती को लेकर कुंडार के बाहर चले गए। बुंदेलों ने छलपूर्वक मदिरोन्मत्त खंगारों का नाश किया और कुंडार में सोहनपाल का राज्य स्थापित हुआ। इस उपन्यास की प्रमुख घटनाएँ तथा प्रधान पात्र ऐतिहासिक हैं। कहा जाता है कि खंगारों का नाश संवत् १३४५ में हुआ था। मूल घटना एक ऐतिहासिक सत्य है, यद्यपि खंगारों के नाश के कारणों में मतभेद है।

गढ़कुंडार का प्रधान विषय है युद्ध और प्रेम। अधिकतर युद्ध इतिहासमूलक हैं तथा अधिकांश प्रेम कल्पनाश्रित। इसमें तीन प्रेम-कथाएँ हैं—नाग का हेमवती के प्रति प्रेम, नाग के मित्र अग्निदत्त पांडे का खंगार कुमारी मानवती से प्रेम तथा दिवाकर का अग्निदत्त की बहिन तारा से प्रेम। इनमें तारा और दिवाकर का प्रेम आदर्श है। पुस्तक समाप्त करने के बहुत दिनों बाद तक तारा का तलघरे से दिवाकर को निकालनेवाली घटना स्मृति में सजग रहती है। ये तीनों ही प्रेम-कथाएँ परस्पर एवं मूल कथा से संबद्ध हैं और पाठक का मनोरंजन भी सर्वाधिक इन्हीं के द्वारा होता है।

'विराटा की पद्मिनी' ऐतिहासिक भूमिका में प्रस्तुत एक रोमांस मात्र है। अनेक कालों की घटनाएँ, जैसा कि लेखक ने स्वयं स्वीकार किया है, उठाकर एक काल में रख

दी गई हैं। लेखक के अनुसार घटनाएँ सत्यमूलक हैं, यद्यपि उनमें से कोई इतिहास-प्रसिद्ध नहीं हैं। यह वह समय था जब कि मुगल साम्राज्य का अस्त-सा हो चुका था और भारत के शासन की बागडोर फरुखसियर के निर्बल हाथों में थी, किंतु वास्तविक शासन सैयद भाई करते थे और इनके मरते ही आराजकता-सी फैल गई और धड़ाधड़ छोटे-बड़े प्रदेश स्वतंत्र होने लगे। पूर्वीय बुंदेलखंड में भी अनेक स्वतंत्र राज्य थे, जो मामूली बहाना लेकर लड़ जाया करते थे। ऐसे ही वातावरण में वर्माजी ने अपनी कहानी की स्थापना की है।

कथा इस प्रकार है—पालर में एक दाँगी के घर 'कुमुद' नामक अनुपम लावण्यमयी कन्या थी। उसके रूप, शील एवं स्वभाव में कुछ ऐसी अलौकिकता थी कि पालरवालों ने उसे देवी दुर्गा का अवतार घोषित कर दिया था और दूर-दूर से उसकी पूजा के लिये भक्त आने लगे। पास ही के दिलीपनगर का कामुक राजा उसपर आसक्त हो गया था किंतु उसकी मृत्यु हो गयी। उसके दासी-पुत्र कुंजरसिंह तथा कुमुद का साक्षात्कार हुआ और कुंजर अत्यधिक प्रभावित हो गया। दरबारियों के छल-कपट से कुंजरसिंह राजा न हो सका और इधर-उधर भटकने लगा। दिलीपनगर के सिंहासन पर देवीसिंह नामक एक दूसरा ही व्यक्ति बैठा। कुमुद की ख्याति सुनकर कालपी का नवाब अलीमर्दान उसे हस्तगत करने की घात में लगा। रक्षा के लिये 'कुमुद' का पिता नरपति उसे लेकर विराटा की गढ़ी में चला गया जहाँ का राजा भी दाँगी था। पता लगाकर कुंजर भी वहीं पहुँचा और उसकी रक्षा के विचार से वहीं रहने लगा। अलीमर्दान ने विराटा पर आक्रमण किया; देवीसिंह रक्षा के लिये आया, किंतु कुछ कर न सका। दाँगियों ने जौहर किया, वीरता के साथ लड़ता हुआ कुंजरसिंह मारा गया और 'कुमुद' ने बेतवा को आत्मसमर्पण किया। कुमुद भी कुंजर को मन ही मन प्यार करती थी और जब कि तोपें धायँ धायँ आग उगल रही थीं, उसका धैर्य जाता रहा और वह एक सूखे फूलों की माला उसके गले में डालकर उससे लिपट गई थी। यह उनका अंतिम और क्षणिक मिलन था।

'विराटा की पद्मिनी' में अतीत वातावरण को सजीवता देने के साथ ही साथ कुछ ऐसे पात्रों की कल्पना की गई है जो अपनी सप्राणता में शाश्वत हैं। आकर्षण का प्रधान केंद्र कुमुद है, उसी को लेकर संघर्ष का आरंभ भी होता है और अंत भी। आरंभ और अंत दोनों में ही नाटकीय आकर्षण है। स्थान-स्थान पर घटनाओं, पात्रों के क्रिया-कलापों एवं संवादों में व्यंग का सुंदर संकेत है। जीवन के प्रति एक स्थायी दृष्टिकोण है और वह यह है कि प्रेम की अनुभूति मनुष्यता का लक्षण है; वास्तविक प्रेम जीवन की शक्ति है, दुर्बलता नहीं। इस उपन्यास के सभी प्रधान पात्रों में व्यक्तिगत विशेषताएँ हैं। कुमुद एवं कुंजर के प्रेम का विकास ऐसी कलात्मकता से किया गया है कि कुंजर के प्रति कुमुद के भाव के संबंध में पाठक अंत तक भ्रम में ही पड़ा रहता है। कुमुद ने अपने को अंत तक बड़ा संयत रखा। रचना की दृष्टि से यह उपन्यास 'गढ़कुंडार' की अपेक्षा अधिक कलात्मक है। सभी प्रधान घटनाएँ 'कुमुद' के चारों ओर घूमती रहती हैं। यह कथा दुःखांत है और इसीलिए इसमें तीव्रता भी अधिक आ गई है।

'झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई' शुद्ध ऐतिहासिक उपन्यास है। इसके अधिकांश पात्र एवं प्रसंग इतिहासानुमोदित हैं। स्थानों तक का वास्तविक विवरण देने का प्रयत्न किया गया है। जहाँ इस प्रकार का कोरा इतिहास है वहाँ पर्याप्त इतिवृत्तात्मकता आ गई है और औपन्यासिकता दब सी गई है। किंतु अधिकतर ऐतिहासिक सामग्री को कलात्मक रूप देने में वर्माजी सफल रहे हैं। गंगाधर राव के स्वभाव, रानी की लोकप्रियता, उनकी शासन-कुशलता, झाँसी की तत्कालीन सामाजिक परिस्थिति आदि का दिग्दर्शन कराने के लिये बहुत से छोटे-छोटे प्रसंगों का वर्णन किया गया है जिसमें पर्याप्त सजीवता है।

एक तरह से यह उपन्यास महारानी लक्ष्मीबाई का जीवनचरित्र है। उनके चरित्र के विषय में ज्ञातव्य सामग्री को लेकर तथा उसमें कल्पना से रंग भरकर एक शक्तिशाली व्यक्तित्व का निर्माण किया गया है। बाल्यकाल से लेकर मृत्युपर्यंत रानी के चरित्र में असाधारण एकलयता दिखाने में लेखक सफल हुआ है। बचपन में उनके चरित्र की जो झाँकी हमें मिलती है वही अपनी पूर्णता के अंतिम क्षणों में नेत्रों को प्रकाशपूरित कर तिरोहित हो जाती है। स्त्री-सुलभ कोमलता के साथ-साथ पुरुषार्थ एवं कर्मठता का ऐसा निदर्शन साहित्य में कम ही देखने को मिलेगा। अधेड़ अवस्थावाले पति के प्रति भी उनकी भावना किसी अन्य नारी से भिन्न न थी। 'हरदी कूँ कूँ' के पर्व पर जब मुंदर उन्हें माला पहिनाने लगी उन्होंने कहा, 'मुंदर एक तो तू कुमारी है, दूसरे तेरे हाथ के फूल तो नित्य ही मिल जाते हैं। बख्शिन जू के फूलों का आशीर्वाद लेना चाहती हूँ।' प्रजा और सेना उन्हें देवी की तरह पूजती थी क्योंकि उनका व्यवहार ही ऐसा था। अपने सैनिकों के प्रति उनके हृदय में बड़ा कोमल स्थान था। तोप चलाती हुई बख्शिन की मृत्यु पर बख्शी ने कहा—"उससे बढ़कर झाँसी और झाँसी की रानी है; शाम को देखूँगा, तब तक दाह न करना।" किंतु लोगों ने देखा "झाँसी की रानी वहाँ धूल में बैठी बख्शिन के शव से लिपटी हुई थीं।" यद्यपि उनके चरित्र में अनावश्यक हल्की भावुकता कहीं नहीं मिलती किंतु स्थान-स्थान पर उनकी भावप्रवणता के ऐसे सुंदर संकेत दिए गए हैं जो उनके चरित्र को बड़ी मानवीयता प्रदान कर देते हैं। उनके जीवन के अंतिम दृश्य बड़े ही आलोकपूर्ण हैं।

अपने अन्य उपन्यासों की भाँति ही रोचकता लाने के लिये इस उपन्यास में भी कई प्रेम-कहानियों की उद्भावना की गई है। इनमें कुछ तो नितांत काल्पनिक हैं और कुछ जनश्रुति पर आश्रित। अधिकांश प्रेम ऐसा है जिसमें वासना का लेश भी नहीं है और जो कर्तव्य बुद्धि से संयत है। दांपत्य-प्रेम की भी बड़ी सुंदर झाँकियाँ दिखाई गई हैं। इस उपन्यास के प्रमुख पात्रों में पर्याप्त सजीवता है। तत्कालीन वातावरण का भी बड़ा यथार्थ चित्रण किया गया है। अंग्रेजों की छावनियों का वातावरण, झाँसी के पर्व और उत्सव,, हाट के दिन सामान्य जनता की बुंदेलखंडी में बातचीत, जनेऊ के लिए शूद्रों आंदोलन, आदि को बड़े ही स्वाभाविकता से अंकित किया गया है। किले की मोर्चे-बंदी तथा प्राचीन ढंग के युद्धों का भी बड़ा अच्छा वर्णन किया गया है।

'मृगनयनी' में मानसिंह तोमर (१४८६ से १५१६) की गूजरी रानी मृगनयनी की जीवन-कथा अंकित है। इस प्रयत्न में वर्माजी ने तत्कालीन राजनीतिक वातावरण का

भी अच्छा चित्र उपस्थित किया है। इसके भी अधिकांश पात्र ऐतिहासिक हैं, घटनाएँ भी या तो इतिहासानुमोदित हैं या जनश्रुति पर आधारित। मृगनयनी राई ग्राम की एक गूजर कन्या है, जिसमें अपूर्व शक्ति और सौंदर्य है। मुसलमानों के आक्रमण से ध्वस्त निधन किसानों के उस गाँव राई में निन्नी (मृगनयनी) और उसकी सखी लाखा साथ साथ सूअरों तथा जंगली जानवरों का शिकार करती हुई जीवन बिता रही थीं। मृगनयनी की अलौकिक शक्ति एवं सौंदर्य की चर्चा सुनकर मानसिंह उस गाँव में आया और मृग-नयनी के अद्‌भुत साहस एवं कौशल से प्रसन्न होकर उसे विवाह कर ले गया। इस नव-परिणीता गूजरी रानी की प्रेरणा से ही राजा ने मानमंदिर और गूजरीमहल की रचना कराई थी, जिनका वास्तु-कौशल अपूर्व है। बैजूबावरा मानसिंह के गायक थे और मंगल गूजरी, गूजरी, टोड़ी आदि राग मृगनयनी के ही नाम पर बने हैं। इस उपन्यास में मृगनयनी के चरित्र का बड़ा अच्छा विकास किया गया है।

वर्मा जी के सामाजिक उपन्यास भी साधारणतः अच्छे हैं। उनमें विषय का विस्तार और वैचित्र्य नहीं मिलता, परंतु तीव्रता अधिक है। उनमें न कोई आभ्यंतर उद्देश्य है, न सिद्धांत-प्रतिपादन; केवल एक सीधी सी कहानी कहनी है, जिसे लेखक स्वाभाविक ढंग से कह जाता है।

वर्माजी के प्रायः सभी ऐतिहासिक-सामाजिक उपन्यासों का मूलाधार कोई न कोई किंवदंती होती है। कुछ घटनाएँ सच्ची होती हैं, कुछ कल्पित; परंतु मुख्य घटना अधिक-तर किसी ख्यात घटना को ही पकड़ कर चलती है, चाहे वह इतिहाससम्मत हो, वास्तविक हो, अथवा बुंदेलखंड की जनता में प्रचलित कोई कहानी हो। वर्मा जी कथा के मार्मिक स्थलों को पहचानते हैं और निश्चित ध्येय की ओर सीधे अग्रसर हो जाते हैं। न कहीं तोड़-मरोड़ होती है, न अनावश्यक वाग्जाल और न दिमागी कसरत हो। उनके अधिकांश उपन्यासों में रोमांस तत्व की प्रधानता रहती है। यह रोमांस उच्चकोटि का है, जिसमें प्रेम की शक्ति का वर्णन है, अकर्मण्यता का नहीं। इस रोमानी प्रवृत्ति के कारण ही इनके अधिकांश उपन्यास परिस्थिति-प्रधान हैं। जिनमें चरित्र-विकास घटनाओं एवं परिस्थितियों पर आश्रित रहता है। ये परिस्थितियां अपने आप बनती चली जाती हैं। इनके प्रत्येक उपन्यास में कुछ ऐसी हृदय को छूनेवाली स्थितियाँ एवं घटनाएँ मिलती हैं, उनकी योजना ही इस प्रकार की होती है कि वे हृदय में मँडराया करती हैं। 'विराटा की पद्मिनी' का अंतिम दृश्य ही लीजिए। पुस्तक बंद करने के अनंतर भी यह जान पड़ता है मानों अभी अभी थोड़ी देर पहले किसी की उँगली की अँगूठी ने सूर्य की किरणों से होड़ लगाई थी, अभी अभी थोड़ी देर पहले उस जल-राशि पर छम्म से कुछ हुआ था। पुस्तक बंद करने पर भी मानो लहरों पर पवन में वह गीत गूँजा करता है—"उड़ गए फुलवा रह गई बास।"

वर्माजी को बुंदेलखंड की भूमि का नजदीकी परिचय प्राप्त है। प्रत्येक पहाड़-पहाड़ी, नदी-नाले खोह-भरके, गढ़ियाँ, किले, वन-मैदान आदि वे अपनी आँखों से देख चुके हैं। यह परिचय उनके उपन्यासों को वास्तविकता का पुट देने में बड़ा सहायक होता है। इस दृष्टि-संविधान की दृष्टि से हम उनकी तुलना प्रसिद्ध अंग्रेजी उपन्यासकार टामस हार्डी से कर सकते हैं। हार्डी ने अपने उपन्यासों में एक प्रदेश का निर्माण किया है, जिसे उन्होंने 'वेसेक्स' नाम

दिया है। नाम कल्पित है परंतु नाम के अतिरिक्त और सब वास्तविक है। वर्माजी ने नाम भी नहीं बदले हैं—ऐतिहासिक उपन्यासों में इसकी आवश्यकता भी नहीं। इनके उपन्यासों को यदि हम बुंदेलखंडी उपन्यास कहें तो अनुचित न होगा। वास्तविकता का पुट देने के लिये स्थान-स्थान पर पात्रों द्वारा बुंदेलखंडी भाषा का भी प्रयोग कराया गया है।

बुंदेलखंडी के सभी वर्ग के लोगों का अच्छा ज्ञान होने के कारण उनके चरित्रों में कहीं भी अस्वाभाविकता नहीं आने पाई है। किसानों की निराशा, युवकों की प्रेम-पिपासा, वीरों के रणोल्लास, कायरों की भीरुता आदि का उन्हें समान रूप से ज्ञान है। नायिकाओं के चित्रण में वर्माजी को अत्यधिक सफलता प्राप्त हुई है। तारा, रतन, पूना, सरस्वती, कुमुद, मुंदर, एक से एक बढ़कर चित्र हैं। इन सब में सौंदर्य, कोमलता, भावुकता के साथ साथ असीम साहस, शक्ति, त्याग और बलिदान है। उनमें भावनाओं को दबा रखने की अपूर्व शक्ति है। हृदय के संपूर्ण कोने से किसी व्यक्ति को प्यार करते हुए भी वे उसका आभास नहीं मिलने देतीं। पुस्तक के अंत में हम उस प्यार को पहचान पाते हैं और तब वह अपने अप्रत्याशित रूप, विशालता, तीव्रता, आत्मत्याग एवं बलिदान द्वारा हमें अभिभूत कर लेता है। उनके ऐतिहासिक उपान्यासों में यद्यपि पात्रों की बहुलता हो गई है, फिर भी सबका अलग अलग व्यक्तित्व है। वर्माजी के सभी ऐतिहासिक उपन्यासों में शृंगार और वीररस का सुंदर मेल मिलता है।

जैनेंद्र कुमार

श्री जैनेंद्र कुमार का हिंदी उपन्यास के विकास में एक विशेष स्थान है। प्रेमचंद द्वारा प्रवर्तित बाह्य-वर्णन-प्रधान शैली के विपरीत इन्होंने अंतर्भाव-व्यंजक शैली का प्रवर्त्तन किया। बड़े-बड़े घटना-व्यापारों, अनेकमुखी समस्याओं तथा नाना प्रकार के व्यक्तियों के व्यावहारिक वर्णन के स्थान पर जैनेंद्र ने किसी विशेष परिस्थिति में, इने-गिने पात्रों को रखकर परिस्थिति की प्रतिक्रिया से उद्भूत उनके मनोद्वेगों, विचार-सरणियों, एवं कर्म-व्यापारों के चित्रण को अपनी कला का ध्येय बनाया। इस प्रकार इनकी कृतियाँ नितांत बौद्धिक धरातल से उठकर चेतना के धरातल तक पहुँची और प्रेरणा के मूल स्रोतों को समझने का प्रयास किया गया। इनमें मनःतर्क तथा भावुकता का, यथार्थ और आदर्श का, लौकिकता तथा आध्यात्मिकता का अपूर्व सम्मिलन है। नारी-पुरुष संबंधों को ही अपनी कला का विषय बनाने के कारण इनकी कृतियों का अनुरंजनकारी मूल्य भी सुधार-जागरण-वादी लेखकों की अपेक्षा अधिक हो गया है। इनके सभी उपन्यासों में उच्चकोटि के स्नेह, समर्पण, आत्मत्याग आदि की प्रतिष्ठा है। अपनी व्यापक मानव-सहानुभूति एवं संवेदना के द्वारा जैनेंद्र ने हिन्दू समाज के सबसे उत्पीड़ित वर्ग नारी को उसकी दयनीयता एवं पतन में भी उत्कर्ष प्रदान किया है। इसी दृष्टि से वे आदर्शवादी हैं। यह अवश्य है कि जैनेंद्र का क्षेत्र अत्यधिक संकुचित है, उनके कथानक भी सूक्ष्म हैं किंतु उनमें गहराई अधिक है। उनके सभी प्रमुख पात्र—जो प्रधानतया स्त्रियाँ हैं—वैयक्तिक विशेषताओं से समन्वित हैं और पाठक के ऊपर अपनी स्थायी छाप छोड़ जाते हैं। उनके भीतर बुद्धि और अन्तस् का एक अविराम संघर्ष छिड़ा रहता है, जिसके ही प्रकाश में उनके व्यवहारों की व्याख्या की जा सकती है।

जैनेंद्र के 'परख' (१९२९), 'तपोभूमि' (१९३६), 'सुनीता' (१९३६), 'त्यागपत्र' (१९३७) 'कल्याणी' (१९४०), 'सुखदा' और 'विवर्त' (१९५३) कई उपन्यास निकल चुके हैं। इन सबमें एक पारिवारिक अनुरूपता है और सभी—'विवर्त को छोड़कर' नायिका-प्रधान हैं। 'परख' की बाल-विधवा, नटखट, हसोड़, देहातिन कट्टो प्राकृतिक नियम के आग्रह से अपने हृदय की सारी श्रद्धा, सारा अनुराग, संपूर्ण विश्वास अपने मास्टर सत्यधन के चरणों पर अनायास ही समर्पित कर देती है। किंतु सत्यधन की व्यावहारिक-सामाजिक बुद्धि इस स्वर्गीय समर्पण को स्वीकार नहीं कर पाती। बिहारी के द्वारा सत्यधन की वास्तविक मनोवृत्ति जानकर कट्टो के हृदय के तीव्र वेग पर बुद्धि का अनुशासन हो जाती है और वह अपनी व्यथा को हृदय में दबाकर, अपने को नियंत्रित करके हँसते हँसते उदारतापूर्वक सब कुछ झेल जाती है—कहीं तनिक भी कटुता नहीं, अविश्वास नहीं। बिहारी के साथ कट्टो के वैधव्य-बंधन को लेखक ने एक आध्यात्मिक रहस्यात्मकता दे दी है।

'तपोभूमि' जैनेंद्र और ऋषभचरण की सम्मिलित कृति है। इसकी नायिका धरणी भी विधवा है। पुरुष के प्रलोभन को न समझ कर तथा प्राकृतिक भूख की प्रेरणा से वह पाप करती है, उससे पाप कराया जाता है। किंतु उस पाप के परिणाम से पुरुष भयभीत हुआ और उसे भीषणतर पाप से धोने का प्रस्ताव किया। मातृवेदना संयुक्त धरणी ने पुरुष के इस पाप-प्रस्ताव को स्वीकार न किया और गंगा में कूद पड़ी। इस दृश्य से अत्यधिक व्याकुल नवीन ने अपनी इस बाल्य सखी को इलाहाबाद की एक प्रसिद्ध वार-विलासिनी के रूप में पाया। किंतु चारों ओर पाप पंक से घिरे रहने पर भी वह ऐसे ही निर्लिप्त थी जैसे जल में कमल पत्र। नवीन शशि को प्यार करता है किंतु समाज के गुरु प्रायश्चित को संपन्न करने के लिए वह धरणी के पास से अलग नहीं होना चाहता। शशि नवीन को प्यार करती हुई भी सामाजिक कर्तव्य के रूप में सतीश से विवाह कर लेती है और पूरी सतर्कता से उसका निर्वाह करती है। किंतु सतीश ही नवीन की संदेह में हत्या कर डालता है और शशि की स्थिति अत्यधिक दयनीय हो उठती है। धरणी, नवीन तथा शशि इन तीनों का जीवन समाज के प्रायश्चित-स्वरूप उत्सर्ग की उज्ज्वल कहानी है।

जैनेंद्र के उपन्यासों में 'सुनीता' का विशेष स्थान है। कहानी का हरिप्रसन्न एक राष्ट्रीय कार्यकर्ता है। वह अपने मित्र श्रीकांत के यहाँ रहने लगता है। श्रीकांत उसके निरुद्देश्य बढ़ते हुए जीवन-प्रवाह को अधिक संयमित देखना चाहते हैं; उसकी स्त्री सुनीता भी हरि को समझने का प्रयत्न करती है। हरिप्रसन्न जिसका जीवन बड़े संकुचित दायरे में पला था अपनी इस भाभी की ओर आकर्षित होने लगता है और धीरे धीरे यह आकर्षण आसक्ति का रूप धारण कर लेता है। श्रीकांत सुनीता के द्वारा हरि को बाँधने के लिए अधिक उपयोगी बनाने के लिए, कुछ दिनों को अकेले छोड़ जाता है। सुनीता हरि के दल का संगठन देखने के लिए उसके साथ अकेली चली जाती है। हरि की कामुकता भभक उठती है और वह सुनीता को 'समूची' पाना चाहता है। इस मोहमुग्ध पुरुष के सामने बिल्कुल नग्न होकर सुनीता उसके मोह को करुणा की तरलता में घुला देने का प्रयत्न करती है। हरि का मोह टूटता है। सुनीता को घर लौटा कर वह सदैव के लिए चला जाता है

और सुनीता जिसने पति के आदेश से ही हरि को बाँधना चाहा था पति के प्रेम में अपने को छिपा लेती है।

एक प्रकार से इस उपन्यास के पात्र, परिस्थितियाँ तथा घटनाएँ सभी अविश्वसनीय हैं। इनकी स्थिति व्यावहारिक जगत में न होकर कलाकार के कल्पना-लोक में ही है किंतु वे जैसे हैं अपने आप में पर्याप्त महत्वपूर्ण हैं। कथानक का निर्माण अत्यंत सूक्ष्म उपादानों से किया गया है और कहानी की अपेक्षा एक विशेष उद्देश्य के प्रकाश में चरित्र का अध्ययन ही इसका ध्येय है। इस उद्देश्य को जैनेंद्र ने अपने 'विचार' में स्वयं स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। रवि बाबू के 'घर और बाहर' नामक उपन्यास से प्रेरणा लेकर एक अमूर्त्त समस्या को 'सुनीता' में मूर्त्त रूप देने का प्रयास किया गया है। कवि रवींद्र ने 'घर' में 'बाहर' का प्रवेश कराया है जिससे 'घर' विक्षुब्ध हो उठा है और यदि संदीप (बाहर का प्रतीक) पलायन न कर जाता तो 'घर' के टूट जाने की आशंका थी। किंतु 'सुनीता' में न तो 'घर' टूटा है और न 'बाहर' के प्रति उसे बंद ही किया गया है। घर (सुनीता-श्रीकांत) और 'बाहर' (हरिप्रसन्न) दोनों ही परस्पर सहानुभूतिशील हैं। यह एक उच्च आदर्श है और इसे प्राप्त करने में लेखक सफल रहा है किंतु श्रीकांत जैसे मनुष्य जो अपनी पत्नी के द्वारा दूसरे को बाँधने का प्रयत्न करते हों संसार में बिरले ही मिलेंगे। श्रीकांत, सुनीता, हरिप्रसन्न तीनों ही के चित्रण में बड़ी सजग एवं सतर्क कला है।

'कल्याणी' की नायिका श्रीमती असरानी डाक्टरनी हैं, उनके पति डाक्टर हैं किंतु गृहस्थी की आर्थिक गति श्रीमती असरानी के परिश्रम की ही अपेक्षा करती है। उन्होंने स्वतंत्र जीवन का स्वाद लिया हैं और लगता है उसका मूल्य भी मँहगा पड़ा है किंतु वैवाहिक बंधन में बँधकर वे उसकी मर्यादा मानकर चलने का प्रयत्न करती हैं। किंतु पुराने संस्कारों के पति उन्हें बिलकुल घरेलू स्त्री के समान रखना चाहते हैं। यहीं पर समस्या उठ खड़ी होती है—शादी और डाक्टरी, पत्नीत्व और निजत्व—ये परस्पर कैसे निभें? इन्हीं का परस्पर संघर्ष कल्याणी की करुण कहानी है।

'त्यागपत्र' की नायिका मृणाल अपने प्रेमी से न ब्याही जाकर एक अधेड़ व्यक्ति से ब्याह दी जाती है जो उसपर संदेह करके उसे घर से निकाल देता है। परिस्थितियों से बाध्य होकर मृणाल को एक सामान्य कोयले के व्यापारी का आश्रय लेना तड़ता है जो उसे गर्भवती बना छोड़कर चला जाता है। उसकी बच्ची भी ९ महीने की होकर मर जाती है। इसके उपरांत प्रायः बीस बर्षों तक संसार के कष्टों को झेलती हुई वह मृत्यु के द्वारा छुटकारा पा जाती है। जज विनोद जब जब अपनी इस बुआ को देखता है उसे पानी पर लहराते हुए कमलपत्र के समान पवित्र ही पाता है। उसकी मृत्यु का समाचार सुनकर उसने जजी से त्यागपत्र दे दिया और दुनियाँ से विरक्त हो गया। इस उपन्यास में सामायिक नैतिकता की नितांत अवहेलना करनेवाली मृणाल को महिमामयी चित्रित किया गया है।

'विवर्त्त' में समस्या वही है जो 'सुनीता' में है और उसका समाधान भी कुछ कुछ उसी प्रकार का है; किंतु इसमें समस्या पर उतना आग्रह नहीं है जितना मनोग्रंथि पर।

अपनी प्रेमिका मोहिनी का दूसरे पुरुष से विवाह कर लेने पर नायक जितेन के मन में बड़ी प्रबल ग्रंथि पड़ जाती है, वह अपराध की राह पर चल पड़ता है। "अपराध उसका स्वभाव नहीं है। मानों कहीं दबाव है, ग्रंथि है, विवर्त है, जिसके कारण स्वभाव विभाव को अपना उठा है। विवर्त के अंत में विभाव का शमन होता है और नायक जितेन के चित्त का यह परिष्कार कथा की भुवनमोहिनी के असंदिग्ध पर मर्यादाशील स्नेह के प्रभाव से ही निष्पन्न होता है" इस उपन्यास में भुवनमोहिनी, उसके पति नरेश तथा जितेन तीनों के चरित्र के कुछ विशेष पक्षों को बड़ी कलात्मकता के साथ उभारने का प्रयत्न किया गया है। कई दृष्टियों से जैनेंद्र के उपन्यासों में यह सर्वश्रेष्ठ है।

इस प्रकार हमने देखा कि जैनेंद्र ने अधिकतर आधुनिक नारी की कुछ समस्याओं के चित्रण का ही प्रयास किया और उनका एक आदर्शवादी अथवा आध्यात्मिक समाधान दिखाया है। उनकी नारियों का चित्रण हिंदी में अपूर्व है और वे बहुत दिनों तक हमारे स्मृति-पट पर बनी रहती हैं। उनके भीतर कर्तव्य एवं भावना, बुद्धि एवं अंतस् का अवि-राम संघर्ष हैं और लेखक ने दोनों के ही समन्वय में अपूर्व कौशल का परिचय दिया है। उनकी शैली में भी एक विशेष मोहकता है, उसमें व्यंजना की बड़ी शक्ति है।

मनोविश्लेषण के सिद्धांतों को आधार बनाकर उपन्यास लिखनेवालों में इलाचंद्र जोशी का प्रमुख स्थान हैं। अंतर्मन के अतल में दबी पड़ी पशु-प्रवृत्तियाँ किस प्रकार मनुष्य के संपूर्ण कार्य व्यवस्था का संचालन करती हैं इसीका निदर्शन करने के हेतु जोशीजी के अधिकांश उपन्यास लिखे गए हैं। उनके अब तक कई उपन्यास—'घृणामयी', 'संन्यासी', 'पर्दे की रानी', 'प्रेत और छाया', 'लज्जा' तथा 'निर्वासित' आदि निकल चुके हैं। उपन्यासकार के रूप में जोशी जी 'संन्यासी' के द्वारा ही प्रसिद्ध हुए। यह उपन्यास एक व्यक्ति—नंदकिशोर—की आत्मकथा है जिसने क्रमशः दो स्त्रियों से प्रेम किया किंतु अपने भीतर की संदेहशीलता एवं प्रबल अहंकार के कारण न तो उन स्त्रियों को सुखी कर सका न स्वयं सुखी हो सका। इस संदेह शीलता एवं अहंकार के मूल में उसके अवचेतन मन की पशु प्रवृत्ति है। यह शुद्ध चरित्र-प्रधान उपन्यास है जिसमें प्रायः आधे दर्जन पात्रों का चरित्र अध्ययन किया गया है। इस उपन्यास के दो भाग हैं—पहले में है नंदकिशोर एवं शान्ति का एक दूसरे के लिए आकर्षण, काशी से पलायन, प्रयाग में सहवास, बल्देव से साक्षात्कार, नंदकिशोर का शांति के प्रति संदेह, तथा नंदकिशोर के भाई द्वारा तिरस्कृत शांति का गृहत्याग; दूसरे भाग में नंदकिशोर का जयंती के लिए आकर्षण, उसके साथ विवाह, वैवाहिक जीवन के अनुभव, कैलाश का जयंती के प्रति संदेह, कैलाश का अपमान, जयंती की चूल्हे पर बैठकर आत्महत्या। तीसरा भाग जिसे उपसंहार कहना चाहिए बहुत ही संक्षिप्त है—इसमें अशांत नंदकिशोर का निरुद्देश्य भ्रमण, शान्ति से भेंट, उसका उदासीन व्यवहार तथा पुत्र का मोह बंधन छोड़कर सदैव के लिए अदृश्य हो जाने का वर्णन है। साधारणतः यह उपन्यास सफल कहा जा सकता है।

इलाचंद्र जोशी

'पर्दे की रानी' में मानसिक कुंठाओं के निदर्शन की प्रवृत्ति और भी स्पष्ट हो गई है। इसकी नायिका है 'निरंजना' जिसकी मां वेश्या थी एवं पिता हत्यारा; किंतु सोलह वर्ष की अवस्था तक यह सभ्य बालिकाओं की भाँति अपनी वास्तविक हीनावस्था का बोध हुए बिना कालेज में पढ़ती रही। इसी के द्वारा इस उपन्यास की कथा वर्णित है। निरंजना के भीतर दो प्रेरक शक्तियाँ हैं। एक तो उसका शिक्षित एवं संस्कृत तर्क-बुद्धि समन्वित सतह पर लहरानेवाला मन तथा दूसरा इस मन के अतल में बाड़वाग्नि की तरह छिपा हुआ अवचेतन मन जिस में वेश्या माँ और हत्यारे पिता के संस्कार थे। अपने भीतरी मन की इस परोक्ष क्रिया को वह स्वयं भी कभी कभी लक्ष्य करती है—"मेरे भीतर वेश्या के संस्कार पूर्ण मात्रा में वर्त्तमान हैं। यदि ऐसा न होता तो मैं इंद्रमोहन जी को अपनी भाव-भंगिमा से रिझाने की चेष्टा न करती और उन्हें इच्छानुसार नचाकर अकारण परेशान न करती और होटलवाली घटना और उसके बाद की दुर्घटना का कारण न बनती। जिस दिन से उसने अपने माता-पिता के पतित जीवन की कहानी जानी थी उसके मन में एक विचित्र ग्रंथि पड़ गई थी। इंद्रमोहन शरीफ बदमाश का बड़ा अच्छा उदाहरण है; उसका चरित्र पर्याप्त सहज एवं स्वाभाविक है। उपन्यास में रमणीयता है और कुछ वार्तालाप बड़े ही मार्मिक एवं अनुभूतिमूलक हैं।

'प्रेत और छाया' में लेखक ने नायक पारसनाथ को विभिन्न परिस्थितियों में डाल कर उसके क्रिया-कलापों तथा मनोग्रंथियों में सामजस्य स्थापित करने का प्रयास किया है। पिता के द्वारा अपने जन्म की मिथ्या कलंकपूर्ण कहानी सुनकर उसके अवचेतन मन में बड़ी प्रबल ग्रंथि पड़ गई थी जिसके फलस्वरूप उसकी चेष्टाएँ अत्यधिक रहस्यमयी हो गईं। उसके जीवन में बराबर व्यक्त तथा अव्यक्त मन का संघर्ष चलता रहा। स्वयं दुखी होने के कारण उसने दुखिया मंजरी के साथ सहानुभूति प्रकट की और अपने यहाँ आश्रय दिया। किंतु मंजरी के साथ यौन-संबंध स्थापित होते ही उसके स्वभाव में परिवर्तन हो चला। यह संबंध उसे अपनी माँ के कलंकित जीवन की स्मृति दिलाने लगा और वह मंजरी से कतराने लगा। जब मंजरी को बच्चा हुआ तो उसका व्यक्त मन शिशु-स्नेह से भर उठा किंतु इस शिशु ने उसे अपने जन्म की स्मृति दिलाकर एक विचित्र कड़ुवाहट घोल दी। जिस प्रकार उसके पिता ने उसका परित्याग कर दिया था उसी प्रकार अपने बच्चे का परित्याग करके उसका अव्यक्त मन प्रतिशोधन की भावना से संतुष्ट हुआ। किंतु इस कार्य ने उसके मन में अपराध की एकऔर ग्रंथि डाल दी। इसी प्रकार मन के द्वंद्वों के द्वारा उसकी जीवन-कथा आगे बढ़ती है। अव्यक्त मन की ग्रंथि के खुलते ही वह एकाएक साधारण हो उठता है। जहाँ तक दृश्य मन की रूपरेखा खींचने का प्रयत्न है जोशीजी पर्याप्त सफल रहे हैं। किंतु जिस प्रकार उनके नायक का व्यक्तित्व अव्यक्त मन की उलझनों से आच्छन्न हो उठा हैं उसी प्रकार जोशीजी की कला उनके सिद्धांतों से आक्रांत हो उठी है; सिद्धांत आगे आ गए हैं कला पीछे पड़ गई है। 'निर्वासित' में भी मानसिक द्वंद्वों का सफलता के साथ चित्रण किया गया है।

जोशी जी के प्रायः सभी उपन्यासों में एक तरह की पारिवारिक अनुरूपता है। इनकी कथा एवं पात्रों में भी समानता है। अभिव्यंजना-प्रणाली भी एक सी ही है।

'संन्यासी' में एक पुरुष दो स्त्रियों से प्रेम करता है किंतु अपनी संदेहशीलता के कारण एक के साथ भी निर्वाह नहीं कर पाता। 'पर्दे की रानी' का इंद्रमोहन भी दो स्त्रियों का प्रेमी है। 'प्रेत और छाया' में भी एक पुरुष की कई स्त्रियों से प्रेम करने की कथा है। 'निर्वासित' में महीप खन्ना परिवार की तीन लड़कियों से क्रमशः प्रेम करता है। 'लज्जा' में डाक्टर क्रमशः दो स्त्रियों से प्रेम करता है। 'संन्यासी' की शांति तथा 'प्रेत और छाया' की मंजरी में बड़ी अनुरूपता है; निरंजना एवं नंदिनी भी मिलती-जुलती हैं। नंदकिशोर, इंद्रमोहन तथा पारसनाथ प्रेम में विश्वासघात करने में एक से हैं।

जोशीजी में उच्चकोटि की कला-विधान की प्रतिभा है किंतु मनोविज्ञान के सिद्धांतों ने उनको इतना अभिभूत कर लिया है कि प्रायः कला दब जाती है। उनकी भारी भरकम भाषा भी उपन्यास के उपयुक्त नहीं है।

कवि भगवतीचरण वर्मा के अभी तक चार उपन्यास—'चित्रलेखा' (१९३४), 'तीन वर्ष' 'टेढ़े मेढ़े रास्ते' (१९४६) तथा 'आखिरी दाँव' प्रकाशित हो चुके हैं और

भगवतीचरण वर्मा

तीनों ही अपने आप में पर्याप्त महत्त्वपूर्ण हैं। चंद्रगुप्त मौर्य के शासन-काल की चित्रमयी भूमिका में 'चित्रलेखा' की कहानी का निर्माण हुआ है। इसमें एक समस्या है और है मानव-जीवन की तथा उसकी अच्छाइयों और बुराइयों को देखने का लेखक का निजी दृष्टिकोण। "पाप क्या है और उसका निवास कहाँ है?"—यही समस्या है। इसका हल पाने के लिए लेखक ने दो विरुद्ध प्रकृति के बड़े ही सबल पात्रों की अवतारणा की है। बीजगुप्त मूर्तिमान अनुराग है, कुमारगिरि विराग; किंतु परिस्थितियों के आवर्त्त में योगी कुमारगिरि का संयम स्खलित होता है, इधर परिस्थितियों के प्रवाह में ही भोगी बीजगुप्त एक महान् त्यागी बन जाता है। जगत इन दोनों पात्रों को विभिन्न दृष्टिकोण से पापी भी कह सकता है और पुण्यात्मा भी। इन दोनों दृष्टियों से ऊपर उठकर लेखक अपनी दृष्टि से महाप्रभु रत्नांबर के द्वारा पाप-पुण्य की समस्या का समाधान कराता है—"संसार में पाप कुछ भी नहीं है, वह केवल मनुष्य के दृष्टिकोण की विषमता का दूसरा नाम है × × × मनुष्य अपना स्वामी नहीं परिस्थितियों का दास है—विवश है × × × हम न पाप करते हैं न पुण्य करते हैं, हम केवल वही करते हैं जो हमें करना पड़ता है।"

किंतु यह तो समस्या का केवल एक पक्ष हुआ उसका समाधान नहीं। व्यक्ति की सीमा को स्वीकार करते हुए भी हम उसकी कर्म-स्वतंत्रता को पूर्णतया नकार नहीं सकते। स्वभाव के बंधन से विमुक्त आत्मा की अपनी स्वतंत्र सत्ता भी रहती है जो सदैव प्रकृति की अनुगामिनी ही नहीं कही जा सकती। अतएव "हम केवल वही करते हैं जो हमें करना पड़ता है" में केवल आंशिक सत्य ही स्वीकार किया जा सकता है। इस तथ्य की पूर्णता को स्वीकार करके ही लेखक ने पाप को मनुष्य की दृष्टिगत विषमता का परिणाम कहा है, अतएव इस कथन में भी एकांगिता का दोष आ गया है।

आत्मपक्ष की अवहेलना को छोड़कर वास्तविकता की दृष्टि से वर्माजी का प्रयत्न बहुत ही ठीक-ठिकाने का, अनुभवजनित एवं तर्कसंगत है। अधिकांश देखने में यही आता है कि बेचारा मनुष्य निरुपाय सा परिस्थितियों की लहरों में उठता-गिरता रहता है और कला

इसी उठते-गिरते मानव का भावात्मक इतिहास है। मानव के इस भावात्मक इतिहास का अंकन वर्माजी ने पूर्ण सचाई के साथ किया है। किसी हद तक 'चित्रलेखा' हिंदी में अपने ढंग का प्रथम उपन्यास है। यह एक प्रकार से योगी कुमारगिरि, बीजगुप्त तथा चित्रलेखा के जीवन का इतिहास है। बीजगुप्त तथा कुमारगिरि की जीवन-कथाओं का संबंध-सूत्र है नर्तकी चित्रलेखा। इस चित्रलेखा का व्यक्तित्व भी बड़ा सबल है। इन तीनों ही पात्रों के मानसिक द्वंद्व का, परिस्थिति-जन्य उत्थान-पतन का, वर्माजी ने बड़ी कुशलता से चित्रण किया है। भाषा में बड़ी रमणीयता एवं व्यंजना है, कथोपकथन बड़े ही मार्मिक एवं पात्रानुकूल हैं। कथानक बहुत गठित एवं कलात्मक है। इसके प्रमुख पात्र एवं उनकी कथा कल्पित है। सामयिक वातावरण एवं संस्कृति को सजीवता देने के लिए नागरिकों की वेषभूषा, रहन-सहन, बातचीत, राज-सभा की मर्यादा आदि का सतर्कता के साथ इतिहास-सम्मत वर्णन किया गया है। 'कुमारगिरि' नाम में अवश्य कालदोष है।

'तीनवर्ष' एक आदर्शवादी विद्यार्थी रमेश की कहानी है, जिसने यूनिवर्सिटी में प्रविष्ट होने से पूर्व अपना सारा समय पुस्तकों में ही बिताया है। उसका परिचय अजित से होता है जो एक राजा का पुत्र है और जीवन की वास्तविकता को उपेक्षा की दृष्टि से देखता है। परंतु उसके इस बाह्य आवरण के भीतर एक दार्शनिक बैठा है जो जीवन के विषय में चिंतनशील है; यही नहीं, उसके जीने में भी एक कला है। जीवन की कठोर वास्तविकता के प्रति उसकी जो उपेक्षा है वह बुद्धि के अभाव या दुर्बलता के कारण नहीं है बल्कि एक विचित्र नैतिक जटिलता के कारण है जो उसके रहन-सहन के ढंग से उपस्थित हो गई है। उसने जीवन में अत्यधिक अनुभव प्राप्त किए हैं किंतु उन्हें यों ही जाने दिया है। अजित के चरित्र की कल्पना जिस रूप में की गई है वह बड़ी ही सफल है। उसके चरित्र में केवल थोड़ी-सी यह त्रुटि दिखाई पड़ती है कि पुस्तक समाप्त होते-होते वह रमेश का भाग्य-विधाता बन बैठता है और साधु एवं सुधारक बनने की आकस्मिक प्रवृत्ति प्रदर्शित करता है। एकाएक उसे परोपकार के देव के रूप में देखकर हमारा विश्वास डिगने लगता है। इसके विपरीत रमेश का चरित्र-परिवर्त्तन कोई आश्चर्य की बात नहीं है—आदर्शवादियों की रीति ही यही है—वे एक सीमा से बिलकुल दूसरी सीमा तक पहुँच जाते हैं, जिसे रोकने के लिए वास्तविकता की भावना नहीं उपस्थित होती। परंतु वह इतनी आसानी से नवीन वातावरण एवं समाज की आधुनिक रीति-नीति से अभ्यस्त हो जाता है कि थोड़ा अस्वाभाविक-सा जान पड़ने लगता है। आगे चलकर तो वह बिलकुल ही रूप बदल देता है और अध्ययनशील लज्जा-शील रमेश दानव बन बैठता है।

इस उपन्यास की रचना और उपादान विधान में पर्याप्त कौशल का आभास मिलता है। इसका विषय भारतीय समाज का एक ऐसा अंग है जिस पर पाश्चात्य सभ्यता का सबसे अधिक प्रभाव पड़ा है और जो थोड़ा बहुत उन सब संशयों, अनिश्चयों और नैतिक दुर्बलताओं को प्रतिबिंबित करता है जो पश्चिम की विशेषताएँ हैं। वर्माजी ने विश्वविद्यालय के एक विद्यार्थी की वास्तविक परिस्थिति को समझाने का यथार्थ प्रयत्न किया है। उन्होंने जिन दो प्रकार के चरित्रों को चित्रण का ध्येय बनाया है वे अपने आप में

पर्याप्त महत्वपूर्ण हैं और उनका अंकन भी बड़े कौशल से हुआ है। छोटे छोटे विवरण तथा विद्यार्थियों की बातचीत के द्वारा उन्होंने विश्वविद्यालय के वातावरण को सजीव करने का प्रयत्न किया है और उसमें पर्याप्त सफल रहे हैं।

'टेढ़े मेढ़े रास्ते' में सत्याग्रह-आंदोलन के वातावरण को अपना कर चला गया है और एक ही परिवार में सभी प्रकार के राजनीतिक वर्गों के प्रतिनिधि एकत्र किए गए हैं। सामंतशाही के प्रतीक हैं पंडित रमानाथ तिवारी जिन्होंने स्थान-स्थान पर अपने वर्ग के दृष्टिकोण को स्पष्ट किया है। विधि की विडंबना से इनके तीनों पुत्रों ने टेढ़े मेढ़े मार्गों को ही अपनाया। बड़े लड़के दयानाथ को उन्होंने कांग्रेस का सक्रिय सदस्य होने के कारण सदा के लिए त्याग दिया। छोटा लड़का प्रभानाथ क्रांतिकारी बन बैठा और डाके तथा हत्या के अभियोग में गिरफ्तार हुआ और अपनी प्रेमिका तथा सहकारिणी वीणा से विष प्राप्त कर जेल में ही आत्महत्या कर ली। मँझला लड़का उमानाथ कम्युनिस्ट है और उस पर भयंकर अभियोग है। प्रायः सभी पुत्रों को अपनी अहम्मन्यता के कारण अपने से अलग करके उपन्यास के अंत में रमानाथ स्वयं में बड़े दयनीय हो उठते हैं। इस उपन्यास में रमानाथ तिवारी के व्यक्तित्व का निर्माण बड़ी सतर्कता से किया गया है।

'आखिरी दाँव' में बंबई के फिल्म-जीवन का बहुत ही यथार्थ चित्रण किया गया है। इसके नायक और नायिका दोनों के चित्रण में लेखक को बड़ी सफलता मिली है। नायिका के परिस्थिति-जन्य पतन तथा प्रेमी के प्रति प्रेम एवं कर्तव्य-निर्वाह का बड़ा ही कलात्मक अंकन किया गया है।

वर्माजी के उपन्यासों में अत्यधिक यथार्थ दृष्टिकोण मिलता है। उन्होंने केवल जीवन के चित्र दिए हैं, अच्छा या बुरा कहने का प्रयत्न नहीं किया है। छोटे छोटे व्यंजक व्योरों के द्वारा वातावरण-निर्माण में वर्माजी को बड़ी सफलता मिली है। किंतु इनके उपन्यासों में कुछ पात्र अयथार्थ से लगते हैं। 'तीन वर्ष' के रमानाथ तथा 'टेढ़ेमेढ़े' रास्ते के उमानाथ में स्वाभाविकता का अभाव है। इसका कारण शायद यह है कि वर्माजी अपने पात्रों की गतिविधि का नियंत्रण स्वयं अपने आप करते हैं, उनपर केवल परिस्थितियों का ही नियंत्रण नहीं रहने देते। इनके उपन्यासों में स्थान-स्थान पर व्यंग एवं भाग्य-विडंबन का बड़ा सफल प्रयोग मिलता है। यह व्यंग घटनाओं में भी होता है, पात्रों में भी तथा उनकी बातचीत में भी। 'टेढ़े मेढ़े रास्ते' में कवियों और लेखकों के जो व्यंग चित्र दिए गए हैं उनमें बड़ी स्वाभाविकता है। इनके चित्रण को देखकर ऐसा लगता है कि यदि वर्माजी व्यंग का अधिकाधिक उपयोग करें तो उनकी कृतियाँ और भी मनोरंजक हो जायं। व्यंग के लिए एक विशेष प्रकार की प्रतिभा अपेक्षित है और यह प्रतिभा वर्माजी में पर्याप्त मात्रा में है।

यशपाल में उच्चकोटि की विधायक कल्पना है। उन्होंने 'दादा कामरेड' 'देशद्रोही' 'दिव्या', मनुष्य के रूप' आदि कई उपन्यास लिखे हैं और सभी अपने आप में पर्याप्त महत्वपूर्ण हैं। यशपाल अपने राजनीतिक विचारों में साम्यवादी तथा सामाजिक विचारों में प्रकृतिवादी हैं। उनके उपन्यास एक विशेष उद्देश्य से—उनकी सामाजिक एवं राजनीतिक धारणाओं को स्वर देने के लिए—लिखे गए हैं। उद्देश्य तथा सिद्धांत-प्रतिपादन पर अधिक दृष्टि

यशपाल

रहने के कारण कहानी की गति में, परिस्थितियों की योजना में, चरित्र के निर्माण में सूत्र सदैव लेखक के हाथ में ही रहता है। जिस प्रकार इलाचंद्र जोशी के पात्र मानसिक कुंठाओं के उदाहरण हैं, उसी प्रकार यशपाल के पात्र उनके राजनीतिक सिद्धांतों के मूर्त्त रूप। इस दृष्टि से उनके उपन्यास सैद्धांतिक हैं। स्थान-स्थान पर विचार-प्रतिपादन का प्रयत्न किया गया है जिससे लगता है मानो लेखक उपन्यासकार न रहकर राजनीतिक इतिहासकार हो। यदि यशपाल अपने उपन्यासों को सिद्धांत-प्रतिपादन का माध्यम न बनाकर केवल जीवन-चित्रण का ही माध्यम बनाते तो उनमें और भी उत्कृष्ट कलात्मकता के दर्शन होते।

'दादा कामरेड' में क्रांतिकारी जीवन एवं विचार-प्रणाली का वर्णन किया गया है। इस विषय पर एक तरह से यह प्रथम उपन्यास है। यदि उसमें यशपाल थोड़ी सी कलात्मक तटस्थता रख पाते तो यह अपने ढंग का उत्कृष्ट कोटि का उपन्यास होता। हरीश, बी० ए०, दादा, शैला, यशोदा अख्तर सभी पात्रों के चरित्र में कुछ न कुछ विशेषता है, सभी का व्यक्तित्व अलग है यद्यपि उन्हें विकास-स्वातंत्र्य नहीं मिला है।

यशपाल का दूसरा उपन्यास 'देशद्रोही' (१९४३) एक अभागे जीवन की व्यर्थता की कहानी है। इसका नायक भगवानदास खन्ना लेखक के इशारे पर संपूर्ण जीवन देश और विदेश में भटकता रहा और अंत में नितांत असहाय अवस्था में मर गया। उसका व्यक्तित्व बड़ा ही निर्बल है और लेखक अपने मनोनुकूल उसे एक वातावरण से उठा कर नवीन वातावरण में रखता चला गया है। वातावरण की उसके चरित्र पर जो प्रतिक्रिया दिखाई गई है वह अत्यंत क्षीण है, वातावरण-निर्माण में भी उसके व्यक्तित्व का अत्यल्प योग है। इस प्रकार पात्र, घटना एवं चरित्र सभी में एक प्रकार की कृत्रिमता-सी प्रतीत होती है। इस उपन्यास के पात्रों को यदि थोड़ी स्वतंत्रता दी गई होती तो उपन्यास का अंत जिस रूप में हुआ है न होता। जिस उद्देश्य से इस उपन्यास की रचना हुई वह उद्देश्य भी पूरा नहीं हो सका। लेखक ने कांग्रेस कार्यक्रम की अपेक्षा कम्यूनिस्ट पार्टी के कार्यक्रम को अधिक उपयोगी सिद्ध करने का प्रयत्न किया है किंतु जिन पात्रों के द्वारा इस उद्देश्य की अभिव्यक्ति हो सकती वे इतने निर्बल हैं, व्यक्तित्व की उनमें इतनी कमी है कि उनका कोई कार्यक्रम ही नहीं स्पष्ट हो सका। हाँ, लेखक ने संवादों एवं व्यंग्योक्तियों के द्वारा कांग्रेस कार्यक्रम की खिल्ली उड़ाने का अवश्य सफल प्रयत्न किया है। कांग्रेस के अनुयायियों के व्यंग चित्रण में लेखक को बड़ी सफलता मिली है।

'देशद्रोही' के रचना-कौशल में प्रौढ़ता है। केवल पुस्तकीय अनुभव एवं कल्पना के सहारे लेखक ने वजीरिस्तान एवं रूस के कुछ प्रदेशों, वहाँ के व्यक्तियों, उनकी रीति-नीति, आचार-विचार, धार्मिक तथा सामाजिक भावनाओं आदि का बड़ा ब्योरेवार चित्रण किया है। वजीरियों का वर्णन विशेष रूप से आकर्षक है। वातावरण तथा प्रकृति को सजीव कर देने की यशपाल में पूर्ण क्षमता है। जहाँ कहीं लेखक राजनीतिक सिद्धांतों से ऊपर उठकर मानवीय भावनाओं के चित्रण में लगा है वहाँ पर्याप्त रसमयता आ गई है। स्त्रियों की चेष्टाओं, उनकी वेशभूषा, उनकी भावनाओं का जहाँ भी वर्णन हुआ है वह

मोहक है। इस उपन्यास में स्त्रियों के कई प्रकार देखने को मिलते हैं, यद्यपि उनको पर्याप्त विकास-स्वातंत्र्य नहीं मिला है। 'राज' का चित्रण बहुत सफल कहा जा सकता है, उसके चरित्र में जितने भी परिवर्तन दिखाए गए हैं उन सबकी मनोविज्ञान के प्रकाश में व्याख्या की जा सकती है। अधिकांश पात्रों के अंतर्द्वंद्व का चित्रण न करके उनके व्यवहारों का ही चित्रण किया गया है, किंतु खन्ना के मानसिक द्वंद्व का थोड़ा चित्रण करने का प्रयास भी किया गया है।

'दिव्या' (१९५४) एक ऐतिहासिक उपन्यास है जिसमें बौद्ध युग की चित्रमय भूमिका में मानव की कुछ सार्वकालीन एवं सार्वदेशीय समस्याओं के चित्रण का प्रयत्न किया गया है। दिव्या मद्र देश के ब्राह्मण श्रेष्ठ धर्मस्थ की प्रपौत्री है किंतु उसका प्रेम होता है एक दास-पुत्र से। हृदय का आवेग जाति - बंधन को स्वीकार नहीं करता। समाज द्वारा निर्मित मिथ्या मान्यताओं के कारण उसका गर्भ उसकी लज्जा का कारण बना और उस उच्चकुलोद्भवा दिव्या को दास- जीवन की यंत्रणा सहनी पड़ी। क्रेता स्वामी ने अपने शिशु के पोषणार्थ उससे गाय का सा व्यवहार किया। उस दयनीय अवस्था में न तो संघ उसे शरण दे सका और न राज्य ही उसकी रक्षा कर सका और जब वही दिव्या नर्तकी के रूप में पुनः समाज में आई तो बड़े बड़े सामंत उसके सामीप्य-लाभ के लिए लालायित रहने लगे। ब्राह्मणत्व पर गर्व करने वाले आचार्य रुद्रधीर तथा अनीश्वरवादी दार्शनिक मारिश दोनों ने ही उससे अपना प्रणय - निवेदन किया। नारी के रूप का आकर्षण देश, काल और व्यक्ति का भेद नहीं मानता।

एक प्रकार से मारिश चारवाक के द्वारा ही यशपाल ने अपने सिद्धांतों की स्थापना का प्रयत्न किया है, किंतु ये सिद्धांत कथा में बड़े ही कलात्मक ढंग से न्यस्त हैं। प्रत्यक्ष जगत की वास्तविकताएँ लेख के लिए अधिक सत्य हैं। मारिशके शब्दों में—"दुख की भ्रांति में भी जीवन का शाश्वत क्रम इसी प्रकार चलता है। वैराग्य भीरु की आत्मप्रवंचना मात्र है। जीवन की प्रवृत्ति प्रबल और असंदिग्ध सत्य है।" ऐतिहासिक वातावरण की सृष्टि करने में यशपाल अत्यधिक सफल रहे हैं। वर्णनों, संवादों एवं घटनाओं के द्वारा इस उद्देश्य को पूरा करने का प्रयास किया गया है। तत्कालीन प्रयुक्त शब्दों का प्रचुरता से प्रयोग किया गया है। बाह्य वर्णनों के साथ साथ मानसिक आवेगों का भी सफल चित्रण है। कहीं कहीं तो भाव परिवर्त्तन का बड़ा ही स्वाभाविक क्रम दिखाया गया है। स्थान - स्थान पर प्रकृति के मनोरम चित्र मिलते हैं। एक विशेष दृष्टिकोण से लिखा जाकर भी यह उपन्यास पर्याप्त कलात्मक है—कहानी में कृतिमता नहीं आने पाई है। प्रवाह सहज है, संवाद पात्रानुकूल हैं, वातावरण, वेशविन्यास, रीति-नीति सभी के चित्रण में सतर्कता से काम लिया गया है। आरंभ और अंत दोनों में ही हृदय पर प्रभाव डालने की शक्ति है। कथा-नायिका का जीवन एक तीव्र व्यंग एवं भाग्य-विडंबन से पूर्ण है।

यशपाल का चौथा उपन्यास है 'मनुष्य के रूप' (१९४९) जिसमें सामाजिक विषमता से उत्पन्न मानव के भावनागत् एवं बाह्य जीवन संबंधी परिवर्तनों का यथार्थ अंकन उद्दिष्ट है। इस उपन्यास में भी जीवन के प्रति एवं मनुष्य-निर्मित संस्थाओं के प्रति

लेखक का दृष्टिकोण व्यंगात्मक है। परिस्थितियाँ मनुष्य में अभूतपूर्व परिवर्त्तन ला देती हैं। शारीरिक सुख की अभिलाषा ने सोमा जैसी लजीली स्नेहशीला स्त्री को भी अनेक रूप-परिवर्त्तन के लिए बाध्य किया। वर्त्तमान समाज की ऐसी स्थिति है कि नारी उसमें या तो पत्नी बनकर ही सुरक्षित रह सकती है या वेश्या बनकर। पहाड़ी क्षेत्रों में स्त्रियों की दुर्दशा, भारतीय पुलिस की धाँधली, कामुक पुरुषों की असहाय स्त्रियों के प्रति कुचेष्टाएँ, पूँजीपतियों की अनैतिकता, सन् १९४२ के आंदोलन में पुलिस के अत्याचारों, फिल्म जीवन की बुराइयों, गत युद्ध में भारतीय सैनिकों के जीवन एवं आजाद हिंद फौज की अवस्था, कम्यूनिस्टों की कार्य-प्रणाली एवं उनके सिद्धांतों आदि का इस उपन्यास में यथार्थ चित्रण किया गया है। सत्य पर आवरण डालकर मनुष्यों को पशुओं के स्तर पर लानेवाली पूँजी-वादी सभ्यता के जर्जर अंगों के घिनौने स्वरूप का बड़ा ही यथातथ्य उद्घाटन किया गया है। साभिप्राय होने के कारण घटनाओं एवं पात्रों का लेखक ने मनमाने ढंग से संचालन किया है किंतु कहीं पर कृत्रिमता नहीं आने पाई है। मनुष्य की मानसिक स्थिति का सहज, स्वाभाविक एवं संगत विकास दिखाया गया है।

अज्ञेयः

अपनी उत्कृष्ट कहानियों से हिंदी जगत को आकृष्ट करके श्री अज्ञेय 'शेखर: एक जीवनी' के रूप में एक नितांत नवीन कृति लेकर सामने आए। हिंदी में यह अनुपम रचना है और इसे पर्याप्त ख्याति मिल चुकी है। इसमें अभि-व्यंजना एवं चित्रण-संबंधी बड़ी ही प्रौढ़ कला है। किंतु इसे न तो जीवनी ही कह सकते हैं और न उपन्यास ही। यह एक कल्पित व्यक्ति की उसी के द्वारा वर्णित आत्मकथा है, जिसमें बड़ी ही गम्भीरता, तल्लीनता, वैज्ञानिक विश्लेषण तथा दार्शनिक विवेचन है। आत्मजीवनी में एक स्वाभाविक गति, हार्दिकता व्यंग-विनोद की प्रवृत्ति आदि रहा करती हैं जिनका इस ग्रंथ में नितांत अभाव है। इसे उपन्यास कहने में भी हिचक होती है क्योंकि इसमें न तो कोई सुनियोजित कथानक है, न घटनाओं का क्रमिक विकास, और न विविध प्रकार के सजीव पात्रों एवं उनके क्रिया-कलापों का वर्णन। पहला भाग शुद्ध संस्मरण है, दूसरे भाग में कथा किंचित सम्बद्ध है, इस लिए कहानी का मोह रखने वाले प्रथम की अपेक्षा द्वितीय भाग को ही अधिक पसंद करते हैं। तीसरा भाग अभी तक नहीं निकल सका है।

इस उपन्यास का कथानायक है शेखर जो जीवन का अधिकांश जी चुकने के बाद विगत जीवन-पथ की घटनाओं, परिस्थितियों आदि का स्मृति के बल पर मूल्यांकन करने बैठा है। शेखर में अत्यधिक वैयक्तिकता है और व्यक्तियों, वस्तुओं एवं घटनाओं को देखने की अपनी दृष्टि। उसका अहं इतना प्रबल है, बुद्धि इतनी वैज्ञानिक है कि संस्कार-जन्य भावनाओं को अंतिम सत्य के रूप में वह कभी नहीं ग्रहण कर पाया। प्रत्येक घटना को तर्क के प्रकाश में विश्लिष्ट करके ही वह समझ पाता है। दैनिक जीवन की छोटी से छोटी घटना उसके मन को आंदोलित कर जाती है और वह अंतर्मुख होकर उसके मूल सत्य के विश्लेषण का प्रयत्न करता है। उसके मनःतर्क में विद्रोह बृत्ति प्रधान है जिसके कारण वह एक विचित्र असामाजिक प्राणी हो गया है जिसका व्यवहार से जैसे कोई संबंध ही न

हो। यह विद्रोह वृत्ति सर्वग्रासी है—जिसके भीतर व्यक्ति, समाज, धर्म, नैतिकता यहाँ तक कि ईश्वर तक आ जाते हैं। किंतु तर्कशील होने के साथ साथ वह सहानुभूतिशील भी है और इस दूसरे गुण ने ही उसकी जीवनी को कलात्मक मूल्य दे रखा है।

जीवनी के पहले भाग में 'शेखर' अपने बाल-जीवन की छोटी से छोटी घटनाओं की भी बड़ी सतर्कता से छानबीन करता है। वे घटनाएँ जिस रूप में चित्रित की गई हैं उनमें पूर्ण सजीवता है। प्रायः ६ वर्ष की अवस्था तक लखनऊ में रहकर वह पिता की बदली हो जाने पर परिवार के साथ काश्मीर चला जाता है। काश्मीर-निवास-काल की छोटी-छोटी स्मृतियाँ भी बुद्धि एवं भावना के नवीन प्रकाश में रँगकर चित्रित की गई हैं। बाल शेखर के चरित्र की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह अनौचित्य से कभी समझौता नहीं कर पाता। मार-पीट, डाट-फटकार से वह काबू में आने का नहीं। जिस बात को वह अनुचित समझता है उसका जी-जान से विरोध करता है। उसके चरित्र का दूसरा पक्ष यह है कि प्यार एवं सहानुभूति से वह वश में कर लिया जा सकता है। बड़ी बहिन सरस्वती के प्रति अत्यधिक आदर एवं मोह इसी वृत्ति का परिणाम है। बचपन के दिनों में उसके ऊपर सबसे अधिक प्रभाव दो बालिकाओं का पड़ा था—एक थी उसकी बहिन सरस्वती और दूसरी मुँहबोली मौसी की लड़की शशि। शशि का उसके चारित्रिक विकास में बड़ा महत्त्वपूर्ण हाथ रहा। काश्मीर से नौकरी के सिलसिले में ही पिता को सपरिवार दक्षिण जाना पड़ा, उस समय तक शेखर किशोर हो चला था। यहाँ एक मद्रासी बालिका शारदा के संपर्क में आकर उसने सर्वप्रथम स्त्री-पुरुष के नैसर्गिक आकर्षण का अनुभव किया किंतु सामाजिक बंधनों के कारण उसे अपने प्रेम में निराशा मिली। प्रेम की इस विफलता ने उसके मन में अनेक ग्रंथियाँ डाल दीं। वहाँ से निराश शेखर लाहौर चला आता है। जीवनी के दूसरे भाग में युवक शेखर के कालेज-जीवन, जेल-जीवन तथा शशि के संबंध का वर्णन है। जेल में कुछ कैदियों के जीवन का उसपर बड़ा असर पड़ा और वहाँ की यातना ने उसे अंतर्दृष्टि प्रदान की। जेल से छूटकर वह शशि के पति-गृह गया और बराबर जाता रहा, पति ने संदेहवश उसे एक दिन घर से निकाल दिया और वह शेखर के पास चली आई और दोनों एक ही घर में रहने लगे। दुख से जर्जर शशि एक दिन इस लोक को छोड़कर चली जाती है और शेखर का जीवन शून्य हो जाता है।

शेखर का चरित्र जिन उपकरणों से संगठित किया गया है उससे वह किंचित असाधारण हो उठा है। स्थान-स्थान पर मानसिक कुंठाओं एवं मनोग्रंथियों का प्रचुरता से निदर्शन है। उसकी अत्यधिक अंतर्मुखी प्रवृत्ति उसे नितांत अव्यवहारिक बना देती है। लेखक ने यद्यपि बड़ी ही ईमानदारी के साथ, वैज्ञानिक दृष्टि से शेखर के जीवन के प्रत्येक पक्ष को अनावृत करने का प्रयास किया है किंतु शेखर के प्रति उसकी जो स्वनिष्ठा है वह घटनाओं का उचित विवेचन नहीं करने देती; चरित्र-निर्माण में भी इससे बाधा पड़ी है—शेखर बिखरी हुई संवेदनाओं का समूह मात्र बनकर रह गया है। मानसिक यातना में व्यतीत उसके दुखमय जीवन के प्रति पाठक की उपयुक्त सहानुभूति नहीं उत्पन्न हो पाती केवल वैचित्र्य-विस्मय की भावना ही उदित होती है।

'नदी के द्वीप' अज्ञेय का दूसरा उपन्यास है और यह सचमुच उपन्यास है। इसमें एक पूर्व नियोजित कथानक भी है और घटनाओं का तारतम्य भी किंतु मनोविश्लेषण की प्रवृत्ति इसमें भी प्रबल है और प्रायः सभी प्रमुख पात्र अंतर्मुख हैं। कथानायक भुवन विज्ञान का डाक्टर है; वह अत्यधिक संकोची, संवेदनशील तथा भावुक है। कथा-नायिका भी एक बुद्धिमती, व्यवहारकुशल एवं संवेदनशील रमणी है। वह पति द्वारा प्रवंचित विवाहिता स्त्री है, जिसके विवाह का प्रधान उद्देश्य पति की मानसिक कुंठाओं के कारण प्रतिफलित न हो सका था। उसके व्यक्तित्व से सभी मान्य सामाजिक,नैतिक धारणाओं के विरुद्ध एक प्रच्छन्न विद्रोह की धारा फूट कर प्रवाहित होती रहती है। नायक की अपेक्षा उसका व्यक्तित्व अधिक सबल है, उसकी इच्छा-शक्ति में अधिक वेग है। भुवन पर आसक्त होकर वह स्वयं प्रार्थिनी हो उठती है और बार बार अपने रूप लावण्य से उस कल्पना-जीवी व्यक्ति को आमंत्रित सी करती रहती है। अंत में काश्मीर की एक सुरम्य उपत्यका में स्त्री और पुरुष का शारीरिक समागम सम्पन्न होता है, स्त्री की भूख तृप्त होती है, वह कृतकृत्य हो उठती है। उस समागम का सहज स्वाभाविक परिणाम नारी के उदर में विकसित होने लगा। इसी बीच परदेश में रहनेवाला पति विवाह-विच्छेद की कार्यवाही आरंभ कर देता है जिससे आतंकित होकर—प्रेमी की सम्मान-रक्षा को दृष्टि में रख कर नायिका किसी दवा के द्वारा अपने सामाजिक कलंक को धो डालना चाहती है। पत्र पाकर भुवन जब उसके पास पहुँचा तो वह असह्य प्रसव-पीड़ा में थी और किसी अन्य व्यक्ति के पास न रहने के कारण सभी आवश्यक कृत्य भुवन को ही करने पड़े। यहाँ वर्णन में किंचित् नग्नता आ गई है।

भुवन के प्रति एक और लड़की भी आकृष्ट है और भुवन भी उस ओर किंचित् उन्मुख है किंतु उपर्युक्त परिस्थितयों के कारण वह लाचार है। अपने को भ्रूण हत्या का दायी समझ कर भुवन एक विचित्र मानसिक कुंठा एवं त्रास से भर जाता है और सेना में भर्ती हो बर्मा चला जाता है। यह जानकर कि एक अन्य किशोरी भुवन से अत्यधिक प्यार करती है तथा भुवन भी उसके प्रति कोमल है नायिका चरम त्याग करती है और स्वतः कलकत्ते के एक डाक्टर से विवाह करके उनके मार्ग से हट जाती है।

जहाँ तक चरित्र-चित्रण का संबंध है इस उपन्यास में भी पर्याप्त कलात्मक पूर्णता है—भावों का उत्थान-पतन, चरित्र पर परिस्थितियों की प्रतिक्रिया, बुद्धि और अंतस् के संघर्ष से उद्भूत मानसिक आवेग आदि का सफल, सजीव तथा यथार्थ चित्रण है। देश-काल के वर्णन में भी पर्याप्त स्वाभाविकता है। बड़े शहरों का वातावरण, पहाड़ी प्रकृति, बर्मा के जंगलों, लड़ाई की पद्धति आदि का सुंदर चित्रण किया गया है। इस उपन्यास की प्रधान त्रुटि सभी प्रकार के नैतिक-सामाजिक मूल्यों की नितांत अवहेलना है। यह यथार्थवाद के उग्र रूप की ओर झुकता हुआ सा है। बीच-बीच में विचार-वितर्क की सी बहुलता हो गई है। अंग्रेजी ग्रंथों के काव्यात्मक एवं दार्शनिक उद्धरणों से पाठक का धैर्य विगलित होने लगता है। इस उपन्यास को भी अज्ञेय जी का एक प्रयोग ही समझना चाहिए।

उपेंद्रनाथ अश्क के दो उपन्यास 'सितारों के खेल' (१९३८) तथा 'गिरती दीवारें' (१९४७) प्रकाशित हो चुके हैं। 'गिरती दीवारें' का ही एक संक्षिप्त छात्रोपयोगी संस्करण 'चेतन' के नाम से निकला है। 'सितारों के खेल' में एक रोमांटिक कथा है। यह सामान्यतः अच्छा उपन्यास है। 'गिरती दीवारें' इस युग के सर्वश्रेष्ठ उपन्यासों में से एक है। इसकी वर्णनशैली बड़ी ही प्रौढ़, सुगठित एवं कलात्मक है। जीवन की गति की भाँति ही इसकी धारा भी बिना किसी पूर्व निश्चित योजना के स्वाभाविक गति से आगे बढ़ती जाती है। लेखक ने 'गोदान' वाली यथार्थ शैली का उपयोग करके एक विस्तृत भूमिका में जीवन के अनेक पक्षों के जीते-जागते चित्र उपस्थित किए हैं। इस उपन्यास का कथानायक है निम्न मध्यवर्ग का एक युवक चेतन जिसके पाँच वर्ष की जीवन-घटनाओं को आधार बनाकर इस वर्ग को ही जैसे सजीव कर दिया गया है। इसके लिए लेखक ने अधिकतर पात्रों की बातचीत, व्यंजक घटना-व्यापारों एवं क्रिया-कलापों का सहारा लिया है; अपनी ओर से वर्णन एवं व्याख्या को अधिक से अधिक बचाया गया है। अज्ञेय अथवा जैनेंद्र के उपन्यासों की भाँति इसमें लंबे लंबे विचारात्मक अथवा दार्शनिक स्थल नहीं है। यहाँ तो जीवन को उसकी स्वाभाविक गति में, समस्त सबलताओं-दुर्बलताओं के साथ सामने रख दिया गया है जिसमें से स्वयं ही एक व्यवस्थित जीवन-दृष्टि स्पष्ट हो उठती है। बाह्य एवं आंतरिक द्वंद्वों का ऐसा गंगा-जमुनी संयोग हिंदी उपन्यासों में कम ही देखने को मिलेगा। जैनेंद्र, अज्ञेय, इलाचंद्र आदि किसी पूर्वग्रह को लेकर आगे बढ़े हैं और यही कारण है कि बड़े ही सतर्क, सतेज एवं आधुनिकतम टेकनीक को अपना कर भी जीवन को उसकी वास्तविकता में प्रत्यक्ष नहीं कर सके हैं। यह कार्य अश्क ने इस उपन्यास में बड़ी सफलता से संपन्न किया है। अपनी प्रौढ़ शैली एवं चित्रण कला के कारण 'गिरती दीवारें' सचमुच ही हिंदी में एक अनुपम कृति है।

उपेंद्रनाथ अश्क :

इस उपन्यास में चेतन; उसके कठोर ममत्वशून्य शराबी पिता शादी राम; स्नेह, संतोष एवं आत्मत्याग की मूर्ति माँ लज्जावती; यौवन में छलकती हुई साली नीला; सीधी सादी पत्नी चंदा; धूर्त, शोषक वैद्य रामदास; इतमीनान की जिंदगी बितानेवाले चेतन के भाई साहब, रंग जमानेवाले शायर 'हुनर' तथा सरदार जगदीश सिंह आदि अनेक पात्रों का इतना सफल, सजीव एवं स्वाभाविक चित्रण किया गया है कि वे अपनी एक अमिट छाप पाठक के मन पर छोड़ जाते हैं। व्यक्तियों के अतिरिक्त स्थानों, घटनाओं, प्राकृतिक दृश्यों आदि को सजीव करने की भी अनुपम कला का अश्क ने इसमें परिचय दिया है। वातावरण का ऐसा सजीव एवं गोचर चित्रण प्रेमचंद को छोड़ अन्य हिंदी के लेखकों में मिलना दुर्लभ है।

'गर्म राख' अश्क की नवीनतम कृति है। इसमें लेखक ने 'गिरती दीवारें' की ही भांति समाज का बड़ा ही सुंदर और यथार्थ चित्र उपस्थित किया है। 'अश्क' की प्रवृत्ति जैनेंद्र और अज्ञेय की भांति अंतर्मुखी नहीं है इसीसे वे समाज का बड़ा ही मार्मिक और यथार्थ चित्र अंकित करने में समर्थ हुए हैं।

कहानी

पहले कहा जा चुका है कि आरंभ में संस्कृत, फारसी, अरबी आदि की प्राचीन कहानियाँ ही अनूदित होकर हिंदी में प्रकाशित हुईं। इसके उपरांत ऐयारी-तिलस्मी उपन्यासों का ताँता लगा। गोपालराम गहमरी के 'जासूस' नामक मासिक पत्र में बँगला से अनूदित होकर कुछ जासूसी कहानियाँ छपीं, गहमरी जी की लिखी हुई कतिपय मौलिक जासूसी कहानियाँ भी इसी पत्र में निकलती रहीं। राधाचरण गोस्वामी ने बहुत पहले 'सौदामिनी' नामक एक कहानी प्रकाशित कराई थी, 'हीरे का मोल' नामक एक और कहानी भी १९०० ई० के आसपास छपी थी; किंतु ये दोनों ही कहानियाँ बँगला से अनूदित थीं। राधाचरण गोस्वामी ने कहानियों के लिए उपन्यास के जोड़ पर 'नवन्यास' नाम चलाने का प्रयत्न किया किंतु वह चला नहीं। इस प्रकार सन् १६०० ई० तक कहानियों के क्षेत्र में कोई उल्लेखनीय कार्य नहीं हुआ। जो जासूसी कहानियाँ लिखी गईं उनमें घटना-चमत्कार की ही प्रधानता थी।

बंगला में 'गल्प' नाम से अंग्रेजी ढंग की छोटी कहानियों का सूत्रपात हो चुका था; जिनमें जीवन के किसी एक पक्ष का मार्मिक तथा भावपूर्ण चित्र रहा करता था। सन् १९०० ई० में इंडियन प्रेस से 'सरस्वती' नामक पत्रिका का प्रकाशन आरंभ हुआ। कुछ दिनों तक इसमें बँगला से अनूदित या उसकी छाया लेकर लिखी गई कहानियाँ निकलती रहीं। प्रारंभिक कहानी-लेखकों में इंडियन प्रेस के मैनेजर श्री गिरजाकुमार घोष जो कहानियों में अपना नाम लाला पार्वतीनंदन रखते थे, प्रमुख हैं। मिर्जापुर की 'बंग महिला' ने भी अनेक कहानियाँ लखीं। इनकी मौलिक कहानियों में 'दुलाईवाली' (१९०७) अधिक प्रसिद्ध हुई। अन्य हिंदी लेखकों की मौलिक कृतियाँ भी 'सरस्वती' में प्रकाशित होती रहीं जिनमें किशोरीलाल गोस्वामी कृत 'इंदुमती' (१९००), मास्टर भगवानदास कृत 'प्लेग की चुड़ैल' (१६०२), रामचंद्र शुक्ल कृत 'ग्यारह वर्ष का समय' (१६०३), गिरजादत्त बाजपेयी कृत ,पंडित और पंडितानी' (१६०६) उल्लेखनीय हैं। इनमें से 'इंदुमती', 'ग्यारह वर्ष का सिमय' तथा 'दुलाईवाली' अधिक मार्मिक हैं।

प्रथम उत्थान

'ग्यारह वर्ष का समय में तीन लंबी लंबी कथाएँ हैं—प्रथम स्वयं कहानीकार के मुख से, द्वितीय कथा-नायक के मुख से और तृतीय नायिका के मुख से। कहानी का आरंभ गाँव के एक खंडहर से होता है और उसका कथानक क्रमशः बनारस और कलकत्ता तक ग्यारह वर्ष के अवकाश में फैला हुआ एक दैवी संयोग से समाप्त होता है। कथानक का निर्माण आश्चर्यजनक भाग्य-व्यापारों को लेकर किया गया है जिसमें स्थान-स्थान पर आकस्मिकता का पुट है। वर्णन में पर्याप्त इतिवृत्तात्मकता है और कहानी आरंभ से समाप्ति तक पूरी पूरी वर्णित है। इस कहानी में भावों को आंदोलित करनेवाले मार्मिक स्थल भी हैं किंतु कथन का ढंग किंचित् पुराना ही है। 'दुलाईवाली' में अपेक्षाकृत अधिक सजीवता तथा मार्मिकता है। सन् १९०६ ई० तक 'सरस्वती' में प्रकाशित अधिकांश कहानियों—जैसे बंग महिला कृत 'कुम्भ ने छोटी बहू', लक्ष्मीधर बाजपेयी कृत 'तीक्ष्ण छुरी', चतुर्वेदी कृत 'भूलभुलैया' वृंदा-वनलाल वर्मा कृत 'राखीबंद भाई' आदि—में अधिकतर उपर्युक्त 'ग्यारह वर्ष का समय'

का ही ढाँचा अपनाया गया है। प्राय: सभी में अथ से इति तक इतिवृत्तात्मक ढंग से पूरी कहानी कहने की प्रवृत्ति, वर्णन के द्वारा कथानक-विस्तार तथा दैवी संयोग का पुट मिलता है। चरित्र गौण हैं कथानक ही प्रधान है। भिन्न भिन्न मानवीय घटनाओं एवं परिस्थितियों की योजना के द्वारा प्रभाव उत्पन्न कराने का प्रयत्न है, चरित्र-अध्ययन का प्रयास नहीं है।

सन् १९०९ ई० में काशी से 'इंदु' नामक मासिक पत्रिका का प्रकाशन आरंभ हुआ जिससे कहानी-लेखन को नवीन प्रेरणा मिली। प्रसाद जी कहानियों का एक नितांत नवीन कलेवर लेकर इस क्षेत्र में आये और उनकी कहानियाँ 'इंदु' में ही प्रकाशित होने लगीं। इस प्रकार इधर 'इंदु' और उधर 'सरस्वती' इन दोनों पत्रिकाओं के माध्यम से ही कहानी-कला का विकास हुआ। प्रसाद जी की 'ग्राम' नामक पहली कहानी 'इंदु' में १९११ ई० में छपी। उसके बाद चार कहानियाँ और निकलीं, इन पाँचों का संग्रह १९१२ में 'छाया' नाम से प्रकाशित हुआ। 'इंदु' में ही श्री जी० पी० श्रीवास्तव की पहली हास्यरस की कहानी सन् १९११ में निकली। १९१२ में विश्वम्भरनाथ जिज्जा की 'परदेशी' नामक कहानी प्रकाशित हुई जो कई दृष्टियों से बड़ी सफल है। सन् १९१३ ई० राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह की सुंदर कहानी 'कानों में कंगना' प्रकाशित हुई जिसका कथानक बड़ा मनोरंजक एवं प्रभावपूर्ण है। इस कहानी में बड़ी ही उपर्युक्त एवं परिष्कृत भाषा भी प्रयुक्त हुई है, आगे चलकर राजा साहब की भाषा ने बिलकुल चोला ही बदल लिया।

द्वितीय उत्थान

'सरस्वती' में भी कहानियाँ निकलती रहीं। १९१३ में श्री विश्वंभरनाथ शर्मा 'कौशिक' की पहली कहानी 'रक्षा-बंधन' प्रकाशित हुई जिसमें बड़े ही सजीव संवादों के द्वारा कहानी का विकास हुआ है। कौशिकजी तब से बराबर कहानियाँ लिखते रहे और इनके पाँच कहानी-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। १९१४ में ज्वालादत्त शर्मा की एक कहानी 'सरस्वती' में छपी और तदनंतर ये बराबर कहानियाँ लिखते रहे। इनकी कहानियों में नीति-उपदेश की प्रवृत्ति अधिक परिलक्षित होती है। सन् १९१५ में चंद्रधर शर्मा गुलेरी की 'उसने कहा था' नामक प्रसिद्ध कहानी सरस्वती में प्रकाशित हुई जिसमें कहानी-कला का बड़ा ही प्रौढ़ और उत्कृष्ट रूप सामने आया। उसके पूर्व गुलेरी जी दो कहानियाँ 'सुखमय जीवन' (१९११) तथा 'बुद्धू का काँटा' लिख चुके थे किंतु उनमें कलात्मक पूर्णता नहीं है। श्री प्रेमचंद उर्दू में बहुत पहले से कहानियाँ लिख रहे थे। सन् १९१६ ई० में उनकी पहली हिंदी कहानी 'पंच परमेश्वर' सरस्वती में प्रकाशित हुई जिसमें एक नवीन यथार्थ-शैली के दर्शन हुए। वास्तव में प्रसाद, गुलेरी और प्रेमचंद उस युग के तीन दिशादर्शक कहानी-लेखक हैं। गुलेरी जी की तो एक ही कहानी उल्लेख योग्य है किंतु प्रेमचंद और प्रसाद ने बहुत सी कहानियाँ लिखीं। प्रेमचंद की संपूर्ण कहानियों का संग्रह 'मानसरोवर' नाम से कई भागों में प्रकाशित हुआ है। प्रसाद जी के पाँच कहानी-संग्रह प्रकाशित हैं।

प्रयाग से निकलनेवाली 'गृहलक्ष्मी' स्त्रियोपयोगी एक अच्छी मासिक पत्रिका थी। इसमें भी बराबर कहानियाँ निकलती रहीं। चतुरसेन शास्त्री की पहली कहानी 'गृहलक्ष्मी'

में ही प्रकाशित हुई और तदुपरांत उनकी अनेक कहानियाँ निकलीं। अनेक त्रुटियों के होते हुए भी शास्त्रीजी की भाषा-शैली का उनकी कहानियों में विशेष आकर्षण रहता है। रायकृष्णदास १९१७ में, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' १९१८ में तथा चंडीप्रसाद 'हृदयेश' और गोविंदवल्लभ पंत १९१९ में कहानी-क्षेत्र में आये। प्रेमचंद जी के ही समान सुदर्शन भी पहले उर्दू में कहानियाँ लिखा करते थे। सन् १९२० से उन्होंने हिंदी में कहानी-लेखन आरंभ किया और बराबर लिखते रहे। उग्र १९२२ में, भगवतीप्रसाद बाजपेयी १९२४ में, विनोदशंकर व्यास १९२५ में तथा वाचस्पति पाठक १९२७ में कहानीकार के रूप में सामने आये। इन लेखकों के अतिरिक्त भी अनेक लेखक कहानी-रचना करते रहे। १९२७ के उपरांत नवीन भावना, नई आकांक्षा तथा नूतन विधान लेकर अनेक नए कहानी-लेखक इस क्षेत्र में आए और एक नवीन दिशा का संकेत मिला। अतएव कहानी का द्वितीय उत्थान यहीं समाप्त होता है। इसके पहले कि हम तृतीय उत्थान की चर्चा करें हमें द्वितीय उत्थान के कला-विकास पर विचार कर लेना चाहिए।

ऊपर कहा जा चुका है कि प्रथम उत्थान में कथा-कथन की प्रवृत्ति अधिक थी, चरित्र-चित्रण की कम। विभिन्न घटनाओं, परिस्थितियों, क्रिया-कलापों, भाग्य-व्यापारों आदि के वर्णन से एक विस्तृत कथानक का निर्माण किया जाता था संचालन-सूत्र पात्रों के हाथ में न रहकर लेखक के ही हाथ में रहता था। इस द्वितीय उत्थान में आकर चरित्र और कथानक दोनों को समान महत्त्व मिला और घटनाओं, परिस्थितियों एवं क्रिया-कलापों का सूत्र पात्रों के हाथ में आया। घटना और चरित्र में अन्योन्याश्रित संबंध स्थापित हुआ और दोनों के घात-प्रतिघात से कहानी आगे बढ़ने लगी। इससे कथानक में अधिक सजीवता एवं विश्वसनीयता आई। यह बात नहीं कि कथानक-विस्तार में कमी आ गई हो अथवा दैवी-संयोग, भाग्य-विधान आदि को अस्वीकार कर दिया गया हो। इन सबके होते हुए भी चरित्र तथा परिस्थिति-चित्रण में अधिक स्वाभाविकता आई। प्रसाद जी के 'सिकन्दर की शपथ', 'जहाँनारा', 'अशोक', 'चित्तौर-उद्धार', गुलेरीजी के 'सुखमय जीवन', 'बुद्धू का काँटा' 'उसने कहा था' तथा प्रेमचंद की 'रानी सारंधा', 'पाप का अग्निकुंड' 'नमक का दारोगा' 'पंच परमेश्वर', 'बड़े घर की बेटी' आदि में कथानक-विस्तार पर्याप्त है किंतु इनमें कहानी का विकास पात्रों और परिस्थितियों के द्वारा हुआ है केवल वर्णन के सहारे नहीं।

उच्च कोटि की साहित्यिक कहानियों की रचना हिंदी में प्रसाद जी के द्वारा आरंभ हुई। वे प्रचुर भाव-विभूति, चित्र-विधायिनी कल्पना तथा रससिक्त भाषा-शैली लेकर साहित्य के क्षेत्र में आये और भावमूलक कहानियों का प्रारंभ किया। उन्होंने प्रागैतिहासिक, ऐतिहासिक, धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक पृष्ठभूमियों में कहानियों की रचना की। कुछ कहानियों में घटना की बहुलता है और कुछ में चरित्र-चित्रण की किंतु अभिव्यंजना की रमणीयता के कारण रसात्मकता सर्वत्र बनी हुई है। प्रसादजी ने अतीतकालीन वातावरण में कहानियों का विधान करके प्राचीन भारतीय संस्कृति को पुनर्जीवित किया है। उनकी कहानियों में कवित्व एवं नाटकीयता का अपूर्व सम्मिलन हुआ है। इनकी कहानी-कला के विकास-क्रम को सहज ही अनुभव किया जा सकता है। प्रारंभ में ऐतिहासिक इतिवृत्त को लेकर लिखी गई कहानियों

में कथानक-विस्तार अधिक है और जीवन के, अपेक्षाकृत, विस्तृत क्षेत्र को चित्रित करने का प्रयास है। किंतु उसी समय की उन कहानियों में जिनमें कल्पना और भावना की प्रधानता है, अधिक सूक्ष्म-संक्षिप्त कथानक एवं कलात्मक चित्रण मिलता है। 'प्रलय', 'प्रतिमा', 'दुःस्वप्न' जैसी कहानियों में जीवन के पक्ष-विशेष की बड़ी सुंदर झाँकी मिलती है। इनमें आग्रह घटनाओं पर नहीं हैं किसी एक भाव पर है। आगे चलकर 'आकाशदीप' में संग्रहीत कहानियों में अधिक रंजकता एवं व्यंजकता भी आई। इनमें 'स्वर्ग के खंडहर में', 'आकाशदीप' 'चूड़ीवाली' के कथानक अपेक्षाकृत लम्बे हैं किंतु 'वैरागी', 'अपराधी', 'रूप की छाया' आदि के कथानक संक्षिप्त हैं और उनमें प्रभावान्विति पर अधिक ध्यान दिया गया है। कुछ कहानियों में अंतर्द्वंद्व का बड़ा ही सुंदर चित्रण है। अधिकांश कहानियाँ संवादों से आरंभ होती हैं, बाह्य और आंतरिक द्वंद्व से उनका विकास होता है, संकेतों द्वारा परिस्थिति का बोध कराया जाता है और चरमसीमा पर लाकर एक तीव्र संवेदना में उनका अंत कर दिया जाता है। प्रसाद की कहानियों में मनुष्य को उनके हृदय की पूरी सहानुभूति मिली है, उन्होंने व्यक्ति की परिस्थितियों को समझने का प्रयास किया है और उसके आंतरिक आलोक को शब्द-बद्ध कर दिया है। भूमिका-स्वरूप व्यवहृत प्रकृति के मनोरम संकेत-चित्र प्रसाद की कहानियों में स्थान-स्थान पर मिलते हैं। मनोवृत्तियों के सूक्ष्म निरीक्षण तथा विश्लेषण में, सांस्कृतिक एवं सामाजिक वातावरण के निर्माण में, मनोभावों के उतार-चढ़ाव में, विरोधी भावनाओं के अंतःसंघर्ष में प्रसाद ने विलक्षण कौशल का परिचय दिया है। 'पुरस्कार', 'आँधी', 'नीरा', 'दासी', 'गुंडा' आदि उनकी कहानियाँ एक से एक बढ़ कर हैं। प्रसाद जी ने एक नितांत नवीन कथा-विधान को जन्म दिया है जिसमें घटना और संलाप दोनों में ही गूढ़ व्यंजना एवं मार्मिक कल्पना मिलती है।

उस युग में 'उसने कहा था' में अभूतपूर्व कलात्मक प्रौढ़ता के दर्शन हुए। अमृतसर के बम्बूकार्ट वालों के बीच से आरंभ होकर फ्रांस की युद्धभूमि तक तथा लहना और सूबेदारिनी के बचपन से लेकर संध्यावस्था तक पच्चीस वर्षों के विस्तृत देश-काल में यह कहानी फैली हुई है किंतु कहीं से भी कथानक में कोई शिथिलता या लचरपन नहीं दृष्टि-गोचर होता। हमारे मानस-नेत्रों के समक्ष एक के उपरांत दूसरे दृश्य जैसे खुलते चले जा रहे हों। इसमें 'एक राजा था' से आरंभ करके 'जैसे उसका राजपाट लौटा वैसे सबका लौटे' की कथा-कथनवाली वर्णनात्मक प्रवृत्ति का सर्वथा अभाव है। आरंभ के लंबे परिच्छेद में बम्बूकार्ट वालों के शब्द-चित्र देकर अमृतसर की एक सड़क का दृश्य गोचर कर दिया गया; इसी वातावरण में एक बालक और बालिका प्रायः महीने भर तक दूकान पर मिलते रहे—वेशभूषा एवं बातचीत के संक्षिप्त संकेत से दोनों सजीव कर दिए गए हैं। यहीं पर बड़े ही सूक्ष्म स्पर्शों से बालिका के लिए बालक के महत्व का—'कुड़माई' का समाचार पाकर व्यवहारों में प्रतिबिंबित उसकी मानसिक अवस्था का चित्र अंकित करके दृश्य बदल जाता है। हमारे सामने फ्रांस की लड़ाई का मैदान, सिक्ख सैनिक, उनकी हँसी-दिल्लगी, किस्से-कहानियाँ, खाँई की चिपचिपी भूमि, बंदूकों की धाँय-धाँय, सिपाहियों की कर्तव्य-निष्ठा एवं वीरता, लड़ाई का टेकनीक, सब जैसे प्रत्यक्ष हो उठते हैं। हमको अमृत-सर के दृश्य तथा इस दृश्य के बीच कोई संगति नहीं दिखाई पड़ती और हमारा कुतूहल

बढ़ता जाता है। अंत के दृश्य में संगति मिल जाती है और हम पाते हैं कि अमृतसर का वह बालक ही जमादार लहनासिंह है, बचपन की वह सुखद स्मृति उसने आजीवन हृदय में सँजो रखी थी और भेंट होने पर उसने सूबेदारिनी (बचपन की बालिका) को जो वचन दिए थे उनका पालन किया। लहनासिंह का वह स्वर्गीय, किंतु अत्यधिक मानवीय ममत्व हमारे हृदय पर सदैव के लिए एक स्थायी छाप छोड़ जाता है। चरित्र का ऐसा कलात्मक अंकन, भावनाओं का ऐसा मूर्त्त प्रत्यक्षीकरण, वातावरण का ऐसा यथार्थ चित्रण हिंदी की कम कहानियों में मिलेगा। चरित्र तथा घटनाएँ अन्योन्याश्रित सी हैं। ऐसा लगता है मानों सब कुछ हमारी आँखों के सामने हो रहा हो। पचीस वर्षों के उपरांत लहना का सूबेदारिनी से मिलन दैवी संयोग ही है किंतु लेखक के कौशल ने उसे विश्वसनीय बना दिया है, स्वाभाविकता दे दी है। लहनासिंह के हृदय के महत्व को बड़े ही कोमल स्पर्शों से दृष्टिगोचर कर दिया गया है।

प्रेमचंद ने कहानी के क्षेत्र में यथार्थ शैली का प्रवर्त्तन किया। इनकी कहानियों में ग्राम्य-जीवन, ग्रामीण वातावरण तथा मध्य वर्ग के लोगों का बड़ा ही सजीव चित्रण मिलता है। प्रेमचंद की कहानी-कला क्रमशः विकसित होती हुई पूर्णता की ओर बढ़ी है। 'सप्त सरोज', 'नव-निधि' तथा 'प्रेम-पचीसी' में संग्रहीत उनकी प्रारंभिक कहानियों के कथानक बहुत विस्तृत हैं—उनमें जीवन के अनेक पक्षों तथा अनेक संवेदनाओं के चित्रण की चेष्टा है। उस सामग्री को लेकर एक उपन्यास भी लिखा जा सकता है। उनमें व्यक्ति के पूरे जीवन अथवा परिवार या गाँव के पूरे वातावरण को प्रत्यक्ष करने की आकांक्षा निहित है। परिणामस्वरूप प्रधान कथा के साथ-साथ कहीं कहीं प्रासंगिक कथाओं की भी आवश्यकता पड़ी है, जिससे कथानक के कलेवर में वृद्धि हुई है। बहुपक्षीय जीवन को चित्रित करने के प्रयास में प्रायः प्रभावान्विति में व्याघात उपस्थित हुआ है। किंतु पात्रों एवं वातावरण को दृष्टिगोचर कर देने की यथार्थ कला इन कहानियों में दिखाई पड़ने लगी थी। प्रथम उत्थान के लेखकों की भाँति केवल वर्णनात्मकता पर ही आश्रित न रहकर चरित्र-सूत्रों पर अधिक ध्यान रखा गया है। यहाँ चरित्र को प्रकाशित करने के साधन-स्वरूप कथानक का व्यवहार हुआ है।

'प्रेमप्रसून' 'प्रेमद्वादशी' आदि संग्रहों में जो कहानियाँ निकलीं उनके कथानक अपेक्षाकृत संक्षिप्त हैं। इनमें संपूर्ण जीवन के चित्रण की आकांक्षा नहीं है, उसके किसी पक्ष-विशेष को चित्रण का विषय बनाया गया है। इनमें कथानक की अपेक्षा चरित्र पर अधिक बल दिया गया है और केवल वे ही घटनाएँ, परिस्थितियाँ या कार्य-व्यापार न्यस्त किए गए हैं जिनसे चरित्र का उद्दिष्ट पक्ष पूरी तरह प्रकाशित हो उठे। चरित्र अधिकतर मनोवैज्ञानिक आधार पर निर्मित हैं। 'बूढ़ी काकी', 'शतरंज के खिलाड़ी', 'आत्माराम', 'मैकू' 'वज्रपात' 'डिग्री के रुपए' आदि कहानियों में प्रधान पात्रों का ऐसा मनोवैज्ञानिक चित्रण है कि उनमें वैयक्तिकता आ गई है, उनके चरित्र का एक विशेष पक्ष पूरी तरह उभर आया है। घटनाएँ, कार्य-व्यापार, वार्तालाप, वातावरण सभी एक ही लक्ष्य की ओर उन्मुख हैं। पात्र हमारे सामने सजीव हो उठे हैं; हम कथानक भूल जाते हैं किंतु 'आत्माराम' का महादेव सुनार, पत्तलों को चाटने वाली भूखी 'बूढ़ी काकी', शतरंज खेलनवाले मीर और मिर्जासाहब

हमें याद रहते हैं। बाद की कहानियों में और भी कलात्मक पूर्णता आती गई है; कथानक संक्षिप्त होते गए हैं और चरित्र के पक्ष-विशेष को अथवा भाव-विशेष को सूक्ष्म स्पर्शों द्वारा मूर्तिमत्ता प्रदान की गई है। 'कुसुम', 'गुल्लीडंडा', 'मिस पद्मा' जैसी कहानियों में गम्भीरता अधिक है विस्तार कम। बाह्य परिस्थिति की मन पर क्या प्रतिक्रिया होती है इसका सुंदर चित्रण 'दो कब्रें', 'अलग्योझा', 'नया विवाह' जैसी कहानियों में हुआ है। अनेक कहानियाँ ऐसी भी हैं जिनकी भूमि प्रधानतया मनोविज्ञान है, यहाँ व्यंजना से अधिक काम लिया गया है। 'कफन' ऐसी ही कहानी है। प्रेमचंद की कला में व्यंजक घटनाओं एवं संवादों के साथ साथ लेखक की मार्मिक व्याख्या भी मिलती है।

द्वितीय उत्थान के अन्य लेखकों में विश्वंभरनाथ शर्मा 'कौशिक', ज्वालादत्त शर्मा, विनोदशंकर व्यास, सुदर्शन, सियारामशरण गुप्त आदि ने प्रेमचंद द्वारा प्रवर्तित उपर्युक्त शैली को ग्रहण किया। इस शैली में व्यंजक घटनाओं और परिस्थितियों के वर्णन के साथ साथ लेखक भी अपनी ओर से व्याख्या करता जाता है। रायकृष्णदास ने किसी अंश तक प्रसाद जी के मार्ग का अनुसरण किया; इनकी कहानियों में भावुकता के साथ साथ रमणीय कल्पना एवं काव्यात्मक व्यंजना मिलती है। भगवतीप्रसाद वाजपेयी की कुछ कहानियों में प्रेमचंद के मार्ग का अनुसरण है किंतु 'निंदिया लागी', तथा 'पेंसिल स्केच' जैसी कहानियों में 'उसने कहा था' की भाँति अत्यंत व्यंजक घटनाओं तथा संवादों का विधान करके किसी गंभीर संवेदना या मनोभाव में कहानी का अंत किया गया है। 'उग्र' की कहानियों में भाषा की शक्ति के कारण एक विशेष आकर्षण आ गया है। उनकी भाषा मुहाविरेदार, सप्राण एवं वेगवती है; ऐसा लगता है जैसे कोई जोरदार भाषण दे रहा हो, व्यंग के मार्मिक छींटे भी स्थान-स्थान पर मिलते हैं। किंतु इनकी कुछ कहानियों में निम्न जीवन के चटकीले चित्र भी मिलते हैं। इनकी 'भुनगा' जैसी कहानियाँ प्रतीकात्मक हैं। चंडीप्रसाद 'हृदयेश' ने एक नितांत नूतन कलेवर को जन्म दिया। यहाँ घटनाएँ अत्यल्प होती हैं; परिस्थितियों की विशद, मार्मिक, रमणीय तथा अलंकृत वर्णनों द्वारा कहानी बड़ी ही मंद गति से आगे बढ़ती है और किसी मार्मिक परिस्थिति के बीच सहसा समाप्त हो जाती है। बीच-बीच में प्रकृति के अलंकृत वर्णन भी मिलते हैं।

हास्य-विनोद को लक्ष्य बनाकर कहानी लिखनेवालों में जी० पी० श्रीवास्तव, अन्नपूर्णानंद वर्मा तथा कांतानाथ चोंच प्रमुख हैं। इनमें जी० पी० श्रीवास्तव की कहानियों में रुचि-परिष्कार का अभाव परिलक्षित होता है। सामान्य जीवन के कुछ भोंडे तथा विकृत रूप-चेष्टाओं के द्वारा ये साधारण जनता के हास्य की सामग्री प्रस्तुत करते हैं। अन्नपूर्णानंद वर्मा का परिहास परिष्कृत एवं उच्चकोटि का होता है। अभी तक हमारे कहानी साहित्य में उच्चकोटि के हास्य-व्यंग-विनोद-युक्त कहानियों का अभाव ही बना हुआ है।

सन् १९२७ तक कहानी के क्षेत्र में पर्याप्त प्रगति हो चुकी थी; विषय एवं शैली दोनों ही दृष्टियों से हिंदी कहानी में पर्याप्त विविधता दिखाई पड़ने लगी थी। गांधी जी के असहयोग आंदोलनों ने देश में एक नवीन जाग्रति पैदा कर दी थी और नवयुवकों में विद्रोह की भावना प्रबल हो उठी थी। उधर एक क्रांतिकारी आंदोलन भी चल रहा था।

साम्यवादी सिद्धांतों पर चलकर रूस जिस अप्रत्याशित गति से उन्नति कर रहा था उससे भी भारत का बुद्धिजीवी युवक अत्यधिक प्रभावित हुआ। धर्म और नीति के प्राचीन मापदंडों में संदेह सा होने लगा और रूढ़ियों में जकड़े हुए मनुष्य को उसके मुक्त रूप में देखने की कामना अधिक प्रबल हो उठी। स्त्री-पुरुष के संबंधों को अधिक उदारता से देखने का एक क्षीण आंदोलन भी चल रहा था। मनोविज्ञान के नवीनतम निष्कर्षों--अर्थ एवं काममूलक ग्रंथियों के तन तथा मन पर व्यापक प्रभाव का सिद्धांत—ने मनुष्यों को नए ढंग से देखने की दृष्टि दी। वर्तमान युग के बुद्धिजीवी युवक पर मार्क्स और फ्रायड का अत्यधिक प्रभाव पड़ा है। दोनों महायुद्धों के बीच तथा बाद की देश-विदेश की हलचलों ने युग के मन में संदेह तथा अनास्था की भावना भर दी है। इस युग के कहानी-साहित्य पर इन सबका व्यापक प्रभाव पड़ा है। इस युग में वैयक्तिक, सामाजिक, पारिवारिक, राजनीतिक, ऐतिहासिक, सैद्धांतिक, मनोवैज्ञानिक सभी प्रकार की कहानियाँ प्रचुर मात्रा में लिखी गई हैं। वर्ग-वैषम्य को चित्रित करने वाली कहानियों की संख्या इधर बढ़ गई है। नारी-पुरुष के संबंधों को लेकर लिखी गई कहानियों में उच्छृंखलता एवं विद्रोह की भावना अधिक दृष्टिगोचर हो रही है। इधर की कहानियों में व्यक्ति, समाज, ईश्वर आदि पर तीखे व्यंग की प्रवृत्ति भी बढ़ रही है। जैसे जैसे जीवन जटिल होता गया है मनुष्य के मन में ग्रंथियाँ पड़ती गई हैं। वह अनेक प्रकार की चिंताओं, आशंकाओं, एवं अविश्वासों से ग्रस्त हो गया है। परिणाम-स्वरूप आधुनिकतम कहानियों में मनुष्य के इस जर्जर मानस लोक के चित्रण की प्रवृत्ति अधिक परिलक्षित हो रही है।

१६२७ को द्वितीय युग की सीमा मानी गई है। तृतीय युग का आरंभ जैनेंद्र कुमार से होता है। इनकी 'खेल' तथा 'फाँसी' नामक कहानियाँ १९२८ के लगभग लिखी गई थीं—'फाँसी' नामक प्रथम कहानी संग्रह १९२६ में प्रकाशित हुआ था। इसी के आस-पास इलाचंद्र जोशी भी कहानी के क्षेत्र में आए। चंद्रगुप्त विद्यालंकार की पहली कहानी १९२८ में 'विशाल-भारत' में प्रकाशित हुई और इनके अनेक कहानी-संग्रह निकल चुके हैं। भगवतीचरण वर्मा सक्रिय रूप से १९३१ से कहानी-क्षेत्र में आए, यद्यपि उनकी एक कहानी १९२१ में ही छप चुकी थी। इनके भी 'इंस्टालमेंट', 'दो बाँके' आदि अनेक कहानी-संग्रह निकल चुके हैं। 'अज्ञेय' की पहली कहानी १६२४ में एलाहाबाद की स्काउट-पत्रिका 'सेवा' में छपी थी किंतु इनकी कहानियाँ १९३२ से पत्र-पत्रिकाओं में निकलने लगीं। उपेंद्रनाथ 'अश्क' पहले उर्दू में कहानियाँ लिखते थे, सन् १६३२ में इनकी पहली हिंदी कहानी 'हंस' में छपी और उसके बाद से आप बराबर हिंदी में ही कहानियाँ लिखते रहे हैं। सन् १९३५-३६ के आसपास यशपाल कहानी-क्षेत्र में आए और अत्यंत मार्मिक कहानियों की रचना करने लगे। 'ज्ञान-दान' तथा 'पिंजरा' इनकी कहानियों के संग्रह हैं। इनके अतिरिक्त रामवृक्ष शर्मा बेनीपुरी, बलराज साहनी, हरदयाल मौजी, पहाड़ी, चंद्र-किरण सौनरेक्सा आदि ने इस क्षेत्र में बड़ा स्तुत्य कार्य किया है। आधुनिकतम युवक लेखकों में प्रभाकर माचवे, रांगेय राघव, जनार्दन मुक्तिदूत, मोहन राकेश, कृष्णनंदन

सिन्हा, धर्मवीर भारती, मदन वात्स्यायन, ओंकार शरद, सत्येंद्र, शमशेर, रामचंद्र तिवारी, वीरेंद्र कुमार, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, तथा लक्ष्मीनारायण लाल आदि प्रमुख हैं।

हिंदी कहानी-कला के विकास-क्रम में प्रसाद, गुलेरी तथा प्रेमचंद के उपरांत मानव-चरित्र के दो बड़े ही कुशल-शिल्पी जैनेंद्रकुमार तथा अज्ञेय का नाम लिया जा सकता है। इन दोनों ही कलाकारों ने कथानक-निर्माण तथा चित्रण-शैली में अनेक सफल प्रयोग किए और चरित्र पर ही संपूर्ण ध्यान केंद्रित करके बड़े ही सूक्ष्म स्पर्शों से चरित्र-गत विशेषताओं को रूप देने का प्रयत्न किया। इस कार्य में इन्हें मनोविज्ञान के नवीनतम निष्कर्षों तथा मनोविश्लेषण पद्धति से अत्यधिक सहायता मिली। जैनेंद्र की अनेक कहानियों में चरित्र को केंद्र विंदु तो बनाया गया है किंतु जीवन के कुछ विस्तृत अंगों को लेने के कारण कथानक में भी विस्तार आ गया है। यहाँ घटना और चरित्र दोनों ही एक दूसरे के पूरक हैं और उन्हीं की क्रिया-प्रतिक्रिया से कहानी आगे बढ़ती चली जाती है। ऐसी कहानियों का प्रतिनिधित्व 'मास्टरजी' द्वारा पूरी तरह हो जाता है। 'एक रात' जैसी कुछ इस कोटि की कहानियाँ भी हैं जिनमें बौद्धिकता की प्रधानता है और चरित्रों के मानसिक ऊहा-पोह से ही कथानक का निर्माण होता है। बाह्य घटनाओं तथा कार्य-व्यापारों के अभाव में यहाँ कथानक अत्यधिक सूक्ष्म हो गया है और इनको समझने के लिए पाठक को भी बौद्धिक धरातल पर आना पड़ता है।

तीसरे प्रकार की कहानियाँ वे हैं जिनमें किसी एक भाव को कहानी के द्वारा मूर्त्तरूप देने का प्रयास किया गया है। यहाँ चरित्र और कथानक का जैसे कोई अस्तित्व ही नहीं हैं, वे हैं इसलिए कि उनके माध्यम से ही उक्त भाव व्यंजित होता है। 'क्या हो' इसी वर्ग की कहानी है। कुछ कहानियाँ ऐसी भी हैं जिनमें मनोविश्लेषण की वैज्ञानिक प्रक्रिया से अधिक काम लिया गया है। चरित्र की जटिलताओं, उलझनों आदि को चित्रित करना ही इनका ध्येय है। 'मित्र विद्याधर', तथा 'अपना पराया' इसी कोटि की कहानियाँ हैं। उपन्यासों का विवेचन करते हुए जैनेंद्र की शैली संबंधी जो विशेषताएँ आगे कही गई हैं वे उनकी कहानियों में भी वर्तमान हैं। जैनेंद्र की भाषा में एक विशेष प्रकार का साहित्यिक बाँकपन है। रायकृष्णदास के शब्दों में 'इसमें केवल कंठ का स्वर नहीं हृदय का मर्म भी है।'

इस प्रकार जैनेंद्र ने एक विशेष 'टेकनीक'—जिसमें कथानक के उपकरण सूक्ष्मतर होते गए हैं, चरित्र अंतर्मुख होते गए हैं, मनोविश्लेषण की प्रवृत्ति प्रबल होती गई है—का विकास किया। अज्ञेय इसी टेकनीक को अपना कर चले किंतु वे और भी अंतर्मुख हो गए। उनकी कहानियों के भी तीन वर्ग किए जा सकते हैं। कुछ कहानियों में उन्होंने आलोचनात्मक दृष्टि से सामाजिक एवं बंदी जीवन के चित्र भी उपस्थित किए हैं। इनमें कथानक अपेक्षाकृत विस्तृत एवं व्यावहारिक हैं। 'रोज' इसी कोटि की कहानी है। कुछ कहानियों में वे मनोग्रंथियों या कुंठाओं को लेकर चले हैं और यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि मनुष्य के कार्य-व्यवहार एवं चरित्र पर इनका क्या प्रभाव पड़ता है। 'पुरुष का भाग्य' ऐसी ही कहानी है। इस

प्रकार की रचनाओं में कहीं कहीं अज्ञेय का साहित्यकार दब गया है और वैज्ञानिक प्रबल हो उठा है। ऐसा लगता है मानों मानसिक कुंठाओं के उदाहरण एकत्र किए गए हों। मानसिक द्वंद्वों एवं उद्वेगों को रूप देने के लिए कुछ कहानियों में प्रतीक पद्धति का भी व्यवहार हुआ। इनमें या तो आत्म-निरीक्षण तथा वैयक्तिक संवेदनाओं का चित्रण है अथवा छोटी छोटी जीवनानुभूतियों के शब्द-चित्र। 'पठार का धीरज', 'सिगनेलर', 'साँप' 'पुलिस की सीटी' आदि कहानियों में मानसिक हलचल के चित्रण के लिए प्रतीकों का सफल उपयोग किया गया है।

भगवतीचरण वर्मा की कहानियों में व्यंग एवं विद्रोह का स्वर प्रबल है किंतु कुछ शाश्वत मानव मूल्यों में उनका विश्वास है। मानव की दुर्बलताओं, दयनीयताओं तथा परवशताओं के व्यंग चित्रण में भी आस्तिकता, आदर्शवाद एवं नैतिकता का संदेश निहित रहा करता है। वर्माजी की शैली अपेक्षाकृत अधिक व्यावहारिक है। इलाचंद्र जोशी की कहानियों में भी अनेक रूप हैं किंतु उनकी प्रतिनिधि कहानियाँ वे हैं जिनमें व्यक्ति-विश्लेषण ही प्रधान है। मनोविश्लेषण के सैद्धांतिक पक्ष पर इनका आग्रह विशेष रहता है। 'यशपाल' और 'अश्क' इस युग के दो बड़े ही प्रतिभासंपन्न लेखक हैं। यशपाल का साम्यवादी दृष्टिकोण उनकी कहानियों में प्रायः रहा करता है। स्त्री-पुरुष संबंधों के अनेक पक्षों को लेकर इन्होंने बहुत सी सुंदर कहानियाँ लिखी हैं। 'अश्क' में अधिक व्यावहारिक यथार्थता है। इन दोनों ही लेखकों में व्यंजक विवरणों द्वारा सजीव वातावरण के निर्माण की अपूर्व क्षमता है। चरित्र और कथानक का भी इनमें प्रायः सामंजस्य मिलता है। इधर के नवयुवक लेखक जिनका ऊपर उल्लेख हो चुका है कथा-वस्तु की दृष्टि से भगवतीचरण वर्मा, 'अश्क' या यशपाल की भाँति प्रगतिशील हैं। सभी प्रकार की प्राचीन मान्यताओं, आर्थिक, सामाजिक व्यवस्थाओं तथा मानव-संबंधों को एक नितांत नवीन दृष्टिकोण से—किंचित् वैज्ञानिक दृष्टिकोण से—देखने का प्रयास किया जा रहा है। कथानक-निर्माण में नए प्रयोग हो रहे हैं, अधिक से अधिक दुरूह और जटिल चरित्रों की सृष्टि की जा रही है। मनोविश्लेषण पर अधिक आग्रह होते के कारण में एक प्रकार की निष्क्रियता या गतिहीनता होती है, वे अधिकाधिक आत्मनिमजित होते जा रहे हैं। नाना प्रकार की मनोग्रंथियों के चित्रण की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है और इतिवृत्त सूक्ष्मतम होते जा रहे हैं। विभिन्न प्रकार की घटनाओं, परिस्थितियों, क्रिया-कलापों के चित्रण के स्थान पर मात्र-चरित्र-अध्ययन की प्रवृत्ति प्रबल हो उठी है। इससे कथा की मनोरंजकता पर किंचित् आघात पहुँचा है।

इनके अतिरिक्त कुछ अन्य कहानी लेखक भी अपनी व्यक्तिगत विशिष्टता लेकर कहानी लिख रहे हैं। बिहार के सफल कहानीकार राधाकृष्ण हास्य रस की कहानियों के साथ गंभीर और मार्मिक कहानियों की भी सफल रचना कर रहे हैं। कहानी लेखिकाओं में सुभद्राकुमारी चौहान, महादेवी वर्मा, होमवती, कमला चौधरी, उषादेवी मित्रा और सत्यवती मलिक ने भी अच्छी कहानियाँ लिखीं। वर्तमान समय में चंद्रकिरण सोनरिक्सा की कहानियाँ अधिक सबल और प्रभावशाली हैं। विष्णु

प्रभाकर भी आजकल के सफल कथाकार हैं परंतु सबसे उल्लेखनीय व्यक्तित्व कृश्नचंदर का है जो पहले उर्दू के चोटी के कहानी-लेखकों में थे परंतु आजकल उन्होंने हिंदी में भी लिखना प्रारंभ कर दिया है।

हिंदी कहानियों का विकास बड़ी द्रुत गति से हो रहा है। अनेक पत्रिकाएँ केवल कहानी साहित्य की ही प्रकाशित हो रही हैं और उसकी लोकप्रियता बढ़ती जा रही है।

—शिवनारायण लाल श्रीवास्तव

निबंध

निबंध आधुनिक हिंदी-गद्य साहित्य के आरंभिक काल की एक विशिष्ट रचनात्मक प्रवृत्ति था। भारतेंदु हरिश्चंद्र और उनके समसामयिक लेखकों ने तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं में खूब निबंध लिखे हैं। भारतेंदु युग के साहित्य पर भक्ति युग और रीति युग का संमिलित प्रभाव तो परंपरा प्राप्त था पर उस काल की मूलवर्तिनी संचालिका एक प्रकार की स्वच्छंद भावना रही है जिसने लेखकों को युगानुरूप नई प्रवृत्तियाँ ग्रहण करके अभिनव प्रयोगों के लिए उद्यत किया। यह स्वच्छंद भावना गद्य के क्षेत्र, विशेषतः निबंधों, में अधिक प्रकाशित हुई है क्योंकि इस क्षेत्र में कोई ऐसी निर्धारित परंपरा नहीं थी जो रचना के मार्ग में पहले से बने बनाए नियमों और उपनियमों की शृंखला बिछाती। ऐसी स्थिति में कुछ निबंध-लेखकों ने तो संस्कृत गद्य की आलंकारिक शैली और काव्य के कतिपय अन्य उपादानों को लेकर लिखना आरंभ किया और कुछ ने जीवित भाषा से संपर्क स्थापित कर सजीव और स्वाभाविक शैली में निबंध-रचना का विकास किया। इस दूसरे प्रकार के लेखकों में भारतेंदु हरिश्चंद्र, बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र और राधाचरण गोस्वामी जैसे लोग थे। कहने की आवश्यकता नहीं कि इन्हीं लेखकों ने आधुनिक निबंधों की परंपरा स्थापित की और उसे आगे बढ़ाया। इन लोगों के निबंध-रचना-संबंधी प्रयास वैयक्तिक अतः स्वछंद ढंग के थे। इसलिए इनकी रचनाओं में ताजगी और आत्मीयता का आकर्षण मिलता है। बदरीनारायण उपाध्याय 'प्रेमघन' और अंबिकादत्त व्यास जैसे लेखकों के लेखों का भी ऐतिहासिक मूल्य विस्मृत नहीं किया जा सकता।

संवत् १९५० (१६ जुलाई सन् १८९३ ई०) में जब नागरीप्रचारिणी सभा की स्थापना हुई उस समय तक भारतेंदु युग के कुछ निबंधकार स्वर्गवासी हो चुके थे, कुछ जो बच रहे थे उनकी रचनाओं की पूर्वकालीन स्फूर्ति समाप्तप्राय थी और उनकी सर्वोत्तम रचनाएँ पहले प्रकाशित हो चुकी थीं। 'प्रेमघन' की 'आनंदकादंबिनी' और बालकृष्ण भट्ट का 'हिंदी प्रदीप'—ये दो प्रतिष्ठित साहित्यिक पत्र इस समय चल रहे थे जिनमें प्रायः उक्त दोनों लेखकों के ही निबंध या लेख अधिक छपते थे। कुछ अन्य लेखकों में 'प्रेमघन' के अनुज उपाध्याय हरिश्चंद्र शर्मा का नाम उल्लेख्य है। ये तीनों ही महत्त्वपूर्ण निबंध लेखक हैं और विशेषतः बालकृष्ण भट्ट तो अत्यंत जागरूक और असाधारण प्रतिभा वाले लेखक थे। इन्होंने विभिन्न शैलियों में विविध प्रकार के अनेक उच्चकोटि के निबंध लिखे हैं जिनमें से अधिकांश 'हिंदी प्रदीप' की ३२ वर्ष की फाइलों में बंद हैं (भट्ट निबंधावली और भट्ट निबंधमाला के संपादक के अनुसार उनके निबंधों और लेखों की अनुमित संख्या एक हजार है)। भारतेंदुयुगीन निबंधों की आलोचनात्मक प्रवृत्तिवाली व्यंगविनोदपूर्ण निबंध रचनाएँ और विषयनिष्ठ विचारप्रधान रचनाएँ किसी न किसी

रूप में अब भी चल रही थीं पर उनमें अब वह प्रत्यग्रता न रही, वह आकर्षण न रहा। ऐसा लगता है कि उस समय के संपूर्ण साहित्य-क्षेत्र में एक प्रकार की स्तब्धता आ गई थी और नवीन प्रतिभाओं की प्रतीक्षा में प्रगति मंद पड़ गई थी। इसी समय नागरीप्रचारिणी सभा की स्थापना हमारे साहित्य की गति में एक मोड़ की सूचना देती है।

यह संक्राति का काल प्रायः दस वर्ष तक रहा। जब 'सरस्वती' में आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी आए तब से भाषा और साहित्य के निर्माण और नियमन के लिए नए उत्साह से कार्य प्रारंभ हुआ। रचनात्मक साहित्य की दृष्टि से पिछले दस वर्षों का इतिहास विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं रहा, यद्यपि नवीन प्रवृत्तियों का आगमन होने लगा था और आशापूर्ण भविष्य के संकेत भी मिलने लगे थे। इस संक्रांति काल के समाप्त होते होते निबंध के क्षेत्र में बालमुकुंद गुप्त का आगमन होता है। इन्होंने गद्य को माँज कर प्रांजल बनाया और व्यंग को शालीनता सिखा कर उसे अधिक सांकेतिक और व्यंजक बनाया। अमृतलाल चक्रवर्ती ने लिखा है कि 'प्रेमघन' जी 'हिंदी बंगवासी' (जब बालमुकुंद गुप्त उसके संपादक थे) को 'भाषा गढ़ने की टकसाल बतलाते थे। उस टकसाल का कोई सिक्का बाबू बालमुकुंद गुप्त की छाप के बिना नहीं निकलता था।'

गुप्तजी की युगानुकूल सजगता राजनीतिक विचारों के क्षेत्र में अधिक दिखाई देती है। अतीत-गौरव की भावना, जो तत्कालीन लेखकों की एक सामान्य प्रवृत्ति थी, इन में भी पाई जाती है। भारतीयों के कुचले आत्मसम्मान को जिलाए रखने और उन में नया उत्साह भरने के लिए यह आवश्यक भी था। उन्होंने कई जीवन-चरित तथा हिंदी भाषा, लिपि, व्याकरण, राष्ट्रभाषा आदि के संबंध में लेख लिखे हैं पर निबंध-लेखक के रूप में उनकी ख्याति का आधार मुख्यतः उनके व्यंग-विनोदमय निबंध 'शिवशंभु के चिट्ठे' और 'खत' हैं जिन्हें उन्होंने 'भारतमित्र' के संपादन-काल में लिखा था। इन रचनाओं के द्वारा वे एक प्रतिनिधि पत्रकार-निबंधकार के रूप में सामने आते हैं। गंभीर बातों को भी विनोदपूर्ण या व्यंगात्मक ढंग से कहते कहते अपने हृदय का क्षोभ और दुःख अत्यंत प्रभावपूर्ण ढंग से संयत रूप में व्यक्त करना उनकी अपनी विशेषता है। शैली को आकर्षक और विनोदपूर्ण बनाने के न जाने कितने ढंग उन्हें मालूम थे। उनके 'चिट्ठों' में लार्ड कर्जन के अनेक अर्थ-मय व्यंगचित्र बड़े प्रभावशाली हुए हैं। 'व्यक्ति' को 'व्यक्ति' द्वारा संबोधित करके लिखे जाने के कारण इन रचनाओं में एक तरह की नाटकीयता आ गई है और कहीं कहीं भाषण शैली का सा ओज और प्रवाह दृष्टिगोचर होता है।

सन् १९०३ में जब आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी 'सरस्वती' के संपादक नियुक्त हुए तब हमारे गद्य साहित्य के सामने नई समस्याएँ उपस्थित थीं। भारतेंदु और उनके सहयोगी लेखकों ने गद्य साहित्य के विभिन्न रूपों का प्रचलन कर दिया था पर उनके विन्यास के नियमन और भाषा के परिष्कार की आवश्यकता अब प्रतीत होने लगी थी। भावनाओं की स्वच्छंद क्रीड़ा और व्यंग-विनोद के स्थान पर अब निबंध में गंभीर समालोचनात्मक प्रवृत्ति ले आने की चेष्टा प्रारंभ हुई। जिन मासिक पत्रों में निबंध छपते थे उन्होंने भी अब

अपनी मुद्रा गंभीर कर ली। निबंधकार धीरे धीरे शिक्षित और 'शिष्ट' समाज के अधिक समीप आता गया। द्विवेदीजी ने निबंध लेखकों को संस्कृत ढंग से, शिष्टतापूर्वक ज्ञानवर्द्धक बातें लिखने के लिए प्रेरित किया जिस से लोग साहित्य को उपयोगी समझकर उसका आदर करें। भारतेंदु-युग में राधाचरण गोस्वामी ने 'क्षत्रिय पत्रिका' में प्रकाशित 'नापित स्तोत्र' नामक अपने विनोदपूर्ण लेख की भूमिका में यह विचार प्रकट किया था कि इस प्रकार के लेख हम इसलिए लिखते हैं कि 'हास्य के मिष से भी लोगों को भाषा-पुस्तकों के पठन-पाठन में रुचि हो तो देशोपकार हो।' पर अब स्थिति दूसरी थी। पढ़े लिखे लोगों में आधुनिक गद्य-साहित्य के प्रति आदर उत्पन्न करने के लिए अब परिमार्जित शैली और गंभीर विषयों की आवश्यकता का अनुभव किया जाने लगा था। भाषा के साथ ही विचारों को शालीन बनाने का काम अपने आप होता गया। निबंधों के विकास के इस दूसरे युग में नैतिकता का स्वर विचारों को नियंत्रित करने लगा। निबंध बौद्धिक अधिक हो गए, उनकी हार्दिकता कम हो गई। द्विवेदी जी या उनके प्रभाव में लिखे गए अधिकतर निबंध विविध विषयों की जानकारी कराने के साधन बन गए। इस युग के निबंधकारों ने इसी प्रवृत्ति के कारण दूसरी भाषा के निबंधकारों की ओर देखा भी तो अंगरेजी के बेकन और मराठी के चिपलूकण के निबंधों की ओर उनकी दृष्टि गई और उनके अनुवाद भी प्रस्तुत हुए। पर इनके निबंधों में गंभीर चिंतन नहीं आ पाया।

यह सब तो इस काल की मुख्य प्रवृत्तियाँ हैं पर इस काल में भी रोचक और भावपूर्ण निबंध लिखे गए। द्विवेदी काल की पत्र पत्रिकाएँ उलटने पर अनेक ऐसी रचनाएँ मिलती हैं। स्वयं द्विवेदी जी ने भी कुछ रोचक और भावपूर्ण निबंध लिखे हैं पर ऐसी कृतियाँ उनकी प्रधान प्रवृत्ति का द्योतन नहीं करतीं। द्विवेदी जी ने लिखा है कि साहित्य ज्ञान-राशि का संचित कोश है। उनके 'साहित्य की महत्ता' 'कवि और कविता' 'कवि-कर्त्तव्य' 'प्रतिभा' 'नाटक' 'उपन्यास'—जैसे निबंध ज्ञान के संचित भांडार ही हैं। उनके अधिक लेख सरल और सुबोध शैली में पाठकों को विविध विषयों की जानकारी कराने के उद्देश्य से लिखे गए हैं।

द्विवेदी जी ने थोड़े से ऐसे निबंध भी लिखे हैं जिनमें उनकी शैली की रोचकता, स्वच्छंद मनोदशा और थोड़ी आत्मीयता के दर्शन होते हैं। 'दण्डदेव का आत्मनिवेदन', 'नल का दुस्तर दूत कार्य' 'गोपियों की भगवद्भक्ति' 'कालिदास के मेघदूत का रहस्य' 'कालिदास की दिखाई हुई प्राचीन भारत की एक झलक' आदि निबंध इसी प्रकार के हैं। इन निबंधों में अर्जित ज्ञान ही है पर उसे अपना बनाकर आत्मीय ढंग से प्रकट करने और अक्सर एक रमणीय वातावरण उपस्थित करने में लेखक को पूरी सफलता मिली है।

बाबू श्यामसुंदर दास, मिश्रबंधु और श्री गुलाबराय आदि निबंधकार भी द्विवेदी जी की श्रेणी में आते हैं यद्यपि इनका स्वतंत्र विकास हुआ। द्विवेदी जी ने पेशे से अध्यापक न होते हुए भी अपने अधिक निबंधों द्वारा शिक्षक का कार्य किया तो बाबू साहब ने अध्यापक पद से, एक विद्वान शिक्षक की भाँति व्यवस्थित ढंग से विशेषतः साहित्यिक

विषयों, जैसे 'समाज और साहित्य', 'भारतीय साहित्य की विशेषताएँ', 'कला का विवेचन' आदि पर कुछ निबंध लिखे।

मिश्रबंधुओं ने भी अनेक निबंध लिखे जिन का शिक्षामूलक महत्त्व है। श्री गुलाब राय के सामाजिक और नैतिक निबंध एक तर्कशास्त्री की लिखी गद्य-रचनाएँ हैं जिनमें प्रस्तुत विषय का अच्छे ढंग से व्यवस्थित विवेचन है। समीक्षात्मक निबंध भी इन्होंने प्रचुर परिमाण में लिखे हैं और लिखते चले जा रहे हैं पर विनोदमयी शैली में संस्मरणात्मक ढंग से लिखे गए इसके निबंध, निबंध की दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी का उल्लेख भी इस प्रसंग में आवश्यक है जिन्होंने साहित्यिक विषयों पर कई आलोचनात्मक लेख लिखे हैं पर निबंध के अधिक अच्छे गुण उनकी बाद की रचनाओं में प्रस्फुट हुए। इनका विचार आगे किया जायगा।

अब तक जो कुछ लिखा गया उसे इस समय की प्रमुख प्रवृत्ति समझना चाहिए। पर द्विवेदी जी के प्रभाव से बाहर रहकर कुछ निबंध लेखकों ने उच्चकोटि की रचनाओं से गद्य-साहित्य को समृद्ध बनाया। श्री माधवप्रसाद मिश्र, श्री चंद्रधर शर्मा गुलेरी और सरदार पूर्ण सिंह ऐसे ही निबंधकार थे। श्री माधवप्रसाद मिश्र की मृत्यु सन् १९०७ में हुई अतः ये द्विवेदी युग के आरंभिक काल में ही कार्य कर सके। त्योहारों, तीर्थस्थानों आदि पर लिखे निबंधों में इनका देशप्रेम, भारतीय संस्कृति तथा सनातनधर्म के प्रति इनकी विवेकपूर्ण निष्ठा और सामाजिक संबंधभावना तथा राजनीतिक जागरूकता भली-भाँति लक्षित होती है। इनके 'सब मिट्टी हो गया'—जैसे निबंध में एक अत्यंत मार्मिक निबंधकार के दर्शन होते हैं। इस में बच्चे के मुँह से निकला यह छोटा सा वाक्य लेखक के हृदय का द्वार खोलकर उसके सरस देशप्रेम आदि का मनोरम उद्घाटन करता है।

श्री चंद्रधर शर्मा गुलेरी ऐसे निबंधकार हैं जो विचार और शैली की दृष्टि से द्विवेदी-युग के संभवतः सबसे अधिक प्रगतिशील और रचना-प्रवृत्ति के विचार से भारतेंदु युगीन निर्बंध निबंध की परंपरा को एक नई ज्ञान-प्रदीप्त दिशा की ओर विनोद-वक्र-गति से ले चलनेवाले समर्थ लेखक हैं। इनके हाथों में पड़कर व्यंग भारतेंदु-युग की अपेक्षा अधिक परिमार्जित और अपने समय के अन्य लेखकों की अपेक्षा अधिक वीर्यवान और भास्वर हुआ। इनके 'कछुआ धर्म' नामक निबंध में हिंदुओं की पलायनप्रियता, प्रतिरोध की शक्ति के अभाव और अंधी रूढ़िवादिता पर जो जोरदार व्यंग किया गया है वह उस समय के शिष्ट समाज के किसी अन्य लेखक के बूते की बात न थी। अब तक के लेखकों में सबसे अधिक विकसित ऐतिहासिक और सांस्कृतिक चेतना इन्हीं की थी। 'मारेसि मोहिं कुठाँव' और 'संगीत' आदि अनेक निबंधों में इनके ज्ञान-समृद्ध मस्तिष्क, मौजी मन और अत्यंत कुशल लेखनी का चमत्कार तथा विचारों की प्रगतिशीलता अच्छी तरह दिखाई देती है। इन्होंने रोचक शैली में बहुत से गंभीर अनुसंधानात्मक लेख भी लिखे हैं।

निर्बंध निबंधों की परंपरा को एक नई लय और गति के साथ नये मानवतावादी मार्ग पर ले जाने का कार्य उदार-प्रकृति और परमभावुक लेखक सरदार पूर्ण सिंह ने किया। श्रम, श्रमिक, सरल जीवन, आत्मिक उन्नति आदि के विषय में इनके निबंध नई चेतना

प्रदान करते है। इन्होंने विविध संप्रदायों के बाहरी विधि-विधान को हटाकर उन सबके भीतर एक आत्मा का स्पंदन, एक सार्वभौम मानव-धर्म का स्वरूप देखा और अपने पाठकों को दिखाने की चेष्टा की। सभ्य आचरण और प्रेम तथा आत्मिक दृढ़ता के द्वारा ही ये समाज का कल्याण देखते थे। कहीं इन्होंने आध्यात्मिक उन्नति पर बल दिया है तो कहीं सांसारिक कर्तव्य का पालन करने पर जोर दिया है। इनकी प्रवाहमयी भाषा-शैली के बीच बीच में लक्षणा और व्यंजना का चमत्कार देखने ही योग्य है। भावों को मूर्त्तिमत्ता के साथ प्रस्तुत करने में इन्हें अद्भुत क्षमता प्राप्त थी। इनके निबंध पहले से चली आती भावात्मक शैली के भीतर नहीं आते, इन्हें प्रभावाभिव्यंजक कहना अधिक उपयुक्त होगा, क्योंकि सजीव चित्रोपम वर्णन, मार्मिक भाव-व्यंजना, गंभीर विचार-संकेत और भाषण-शैली की ओजस्विता—इन सबकी सहायता से ये बराबर विशेष प्रभाव की सृष्टि करते हैं।

श्री पद्मसिंह शर्मा ने भी कुछ निबंध लिखे जो इनकी फड़कती शैली के कारण विशेष आकर्षक हो गए हैं। आलोचनात्मक निबंधों और जीवनियों के अतिरिक्त इन्होंने कुछ मार्मिक संस्मरणात्मक निबंध भी लिखे। द्विवेदी युग में अत्यधिक संख्या में विभिन्न प्रकार के निबंध और लेख लिखे गए हैं। यद्यपि इस युग की मुख्य प्रवृत्ति बौद्धिक रही और परिस्थितियों के आग्रह से अधिकतर निबंध परिचयात्मक ढंग के ही लिखे गये पर, जैसा कि ऊपर के विवरण से ज्ञात होगा, इस समय कुछ उच्चकोटि के लेखक भी इस क्षेत्र में दिखलाई पड़े। पत्र-पत्रिकाओं में छिट-फुट अच्छे निबंध लिखने वालों की संख्या तो काफी होगी। इस समय भारतेंदु-युगीन निबंधों की कुछ प्रवृत्तियाँ भी कभी कभी दिखाई पड़ जाती है, जैसे स्वयं द्विवेदी जी ने स्तोत्र, संवाद, चरित्र-चित्रण आदि की शैलियों में कुछ रचनाएँ कीं और अन्यों ने भी इनका यदा-कदा व्यवहार किया। कुछ पद्य-निबंध भी इस काल में रचे गए और द्विवेदी जी की 'हे कविते' नामक इस प्रकार की रचना तो उस समय प्रसिद्ध भी हो गई थी। पर ये सभी पहले से चली आती हुई परंपरा-गत प्रवृत्तियाँ मरणशील प्रवृत्तियाँ हैं जिनमें नवीन रचनात्मक प्रतिभा का उन्मेष नहीं दिखाई देता।

द्विवेदी युग में विषय-वैविध्य के साथ ही विभिन्न विषयों के विशेषज्ञ लेखक और निबंधकार साहित्य के क्षेत्र में आने लगे। साहित्य को अपना विशेष क्षेत्र चुनने वाले तो बहुत हुए पर अधिकतर लेखकों की रचनाओं में अर्जित ज्ञान की पुनरावृत्ति तथा उपदेश की प्रवृत्ति ही अधिक मिलती है। ऐसे समय में आचार्य रामचंद्र शुक्ल के विषय-निष्ठ गंभीर विचारात्मक निबंधों का प्रादुर्भाव होता है। शुक्लजी के निबंधों में उनके 'अंतः प्रयास से निकली विचारधारा' है जो पाठकों को एक 'नवीन उपलब्धि' के रूप में दिखाई पड़ी। इनके कुछ निबंध साहित्य-सिद्धांतों से संबंध रखते हैं और कुछ मनोविकारों से। ये निबंध साहित्य के क्षेत्र में लोकमंगल की भावना की प्रतिष्ठा नवीन और प्रभावपूर्ण ढंग से करते हैं। नैतिकता को शुक्ल जी ने व्यावहारिक बनाया। रूढ़िवादी नैतिकता का विरोध करके इन्होंने 'भावयोग' का महत्त्व दिखलाया। यह कार्य स्वतंत्रचेता मस्तिष्क और भावुक हृदय के योग से ही संभव हो सका। इस प्रकार शुक्लजी ने अपने 'व्यक्तिगत प्रयास' से मानवजीवन की उच्चता और उसमें छिपी नई संभावनाओं को दिखलाया। श्री प्रताप-

नारायण मिश्र, भट्ट जी और द्विवेदी जी, सबने नैतिक उपदेश देनेवाले शिक्षात्मक लेख भी लिखे—अंतिम दो ने मनोविकारों पर भी लिखा, पर विचार की दृष्टि से उनमें वह वैयक्तिक प्रयास नहीं जिसके द्वारा पाठक को कोई नवीन उपलब्धि हो। 'लोभ' और 'क्रोध' पर द्विवेदी जीने लिखा अवश्य पर इसलिए लिखा कि लोग इनके अवगुणों से परिचित हो जायँ और इनसे बचें। वही इंद्रियनिग्रह वाली पुरानी निषेधात्मक धार्मिक नैतिकता। पर शुक्लजी कहते हैं कि 'मनुष्य की सजीवता मनोवेग या प्रवृत्ति में ही है। नीतिज्ञों और धार्मिकों का मनोवेगों को दूर करने का उपदेश घोर पाखंड है।' क्रोध से बराबर बचते रहने का उपदेश वे नहीं देते। उनके विचार से तो 'सामाजिक जीवन के लिए क्रोध की बड़ी आवश्यता है।' उन्होंने लोभ की आवश्यकता और उपयोगिता भी दिखलाई है। इस तरह की बातें कह कर शुक्ल जी एक व्यावहारिक दर्शन का साहित्य और जीवन से मंगलमय संबंध स्थापित करना चाहते हैं।

शुक्लजीके निबंधों में गहन विचार-वीथियों के बीच-बीच में सरस भाव-स्रोत मिलते हैं। 'लोभ और प्रीति' 'करुणा' तथा 'श्रद्धाभक्ति' आदि निबंधों में जगह-जगह उनकी तन्मयता देखने ही योग्य है। वैयक्तिकता-प्रदर्शक संस्मरणात्मक संकेत, व्यंग-विनोद के छींटे और कहीं कहीं मनोरम विषयांतर भी उनके निबंधों में मिलते हैं पर प्रतिपाद्य विषय के गंभीर विवेचन की ओर उनका ध्यान बराबर बना रहता है।

शास्त्रीय गद्य-शैली को एक नया रूप देकर शुक्लजी ने उसको समृद्ध बना दिया। विषय के विश्लेषण और पर्यालोचन की दृष्टि से उनमें वैज्ञानिक की सूक्ष्मता और सतर्कता दिखाई देती है और भावों को प्रेषित करने की दृष्टि से कविसुलभ सहृदयता के दर्शन होते हैं। उनके घनीभूत वाक्यों की ध्वनि दूर तक जाती है।

शुक्लजी की ही परंपरा में कतिपय उन निबंधकारों का भी उल्लेख होना चाहिए जो विचार और शैली की दृष्टि से तो उनसे बहुत नहीं मिलते, पर जीवन के बारे में जो कुछ कहना है उसे प्रायः साहित्य के माध्यम से कहते हैं और साहित्य के विशेषज्ञ माने जाते हैं। अंतःप्रयास से निकली उनकी विचारधाराएँ अनेक दिशाओं की ओर जाती हैं। पं० नंददुलारे वाजपेयी, पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी, श्री अज्ञेय, श्री शिवदान सिंह चौहान, डा० नगेंद्र, डा० रामविलास शर्मा, डा० देवराज आदि ऐसे ही लेखक हैं। इन लेखकों ने साहित्य और जीवन के विषय में महत्वपूर्ण चिंतन किया है।

प्रसिद्ध भावुक आलोचक श्री शांतिप्रिय द्विवेदी की प्रकृति आलोचक से अधिक निबंधकार की प्रकृति है। जो स्वच्छंदता और संवेदनशीलता निबंधकार के लिए अपेक्षित है वह द्विवेदी जी में मौजूद है। इनके साहित्यिक निबंधों में साहित्य का प्रभाव ग्रहण करने के लिए तत्पर एक भावुक और संस्कृत हृदय की झलक मिलती है।

साहित्यिक या आलोचनात्मक निबंधों की चर्चा करते समय छायावाद के चारों प्रसिद्ध कवियों, प्रसाद, पंत, निराला और महादेवी का भी उल्लेख होना चाहिए। इन सबके निबंध-संग्रह उपलब्ध हैं। निराला के निबंधों में स्वच्छंद मनःस्थिति और मौलिक विचार-धारा तथा विद्रोह का स्वर बराबर मिलता है। प्रसाद ने भी आलोचना-विषयक गंभीर लेख या निबंध लिखे हैं। संस्कृति, साहित्य, कला, छायावादी काव्य की आत्मा और रूप-विन्यास

आदि पर पंतजी ने सुचिंतित विचार प्रकट किये हैं। काव्य के उद्देश्य, छायावाद, रहस्यवाद आदि पर महादेवी जी के संतुलित विचार उनकी काव्यमयी जटिल शैली में बँधे होने पर भी पठनीय और मननीय हैं। उनकी 'शृंखला की कड़ियाँ' संग्रह के नारी-जीवन-संबंधी मार्मिक और विचारोत्तेजक सामाजिक निबंध अपना अलग मूल्य रखते हैं। कवि 'दिनकर' के प्रवाहमयी शैली में लिखे गए आलोचनात्मक और भावात्मक निबंध भी उल्लेखनीय हैं। इन सबके अतिरिक्त और भी कुछ कवियों तथा लेखकों की निबंध-रचनाएँ ढूँढ़ी जा सकती हैं जो सामान्यतः अच्छी कही जाएँगी।

निबंधों की भावात्मक शैली, जो भारतेंदु के 'सूर्योदय' और भट्ट जी के 'चंद्रोदय' जैसे निबंधों में अलंकार-सज्जित थी, धीरे धीरे रागात्मक स्पंदन से युक्त होती गई और बंगला साहित्य के भावात्मक गद्य के संपर्क में आकर उसने नवीन रूप धारण किया। छायावाद-काल में लघुकाय होकर वह राय कृष्णदास, वियोगी हरि और चतुरसेन शास्त्री आदि के गद्य-काव्यों में प्रतीक, व्यंजना और भावोच्छ्वास से रंजित हो गई। छायावाद के युग में अनेक लघु भावात्मक गद्य-निबंध लिखे गए जिनमें काव्य की सरसता थी पर अब इनका प्रचलन नहीं के बराबर है। पं० माखनलाल के भावात्मक निबंधों में अन्यों की अपेक्षा अधिक विषय-वैविध्य और विस्तार मिलता है। आध्यात्मिक प्रेम और राष्ट्रीयता की भावनाओं की इन्होंने अनेकविध व्यंजना की है। पर इतिहासज्ञ डा० रघुवीर सिंह के निबंधों में छायावादी अस्पष्टता कहीं नहीं मिलती। इनके ख्यातिप्राप्त निबंधसंग्रह 'शेष-स्मृतियाँ' में ऐतिहासिक इतिवृत्त का आधार लेकर मुगल राजवंश के उत्कर्ष, पतन और कोमल मानवीय संबंधों की मार्मिक व्यंजना हुई है।

प्राकृतिक दृश्यों के सुंदर चित्र और यात्राओं के रोचक विवरण प्रस्तुत करनेवाले अनेक सुंदर निबंध लिखे गए हैं और लिखे जा रहे हैं। इस प्रकार की रचना करनेवालों में स्वामी सत्यदेव, राहुल सांकृत्यायन और देवेंद्र सत्यार्थी आदि प्रसिद्ध हैं। श्री श्रीराम शर्मा के शिकार-संबंधी लेख भी हिंदी में अपने ढंग के अकेले हैं।

संस्मरण और रेखा-चित्र इधर बहुत लिखे जा रहे हैं। द्विवेदी युग के संस्मरण-लेखकों में श्री पद्मसिंह शर्मा अग्रगण्य रहे हैं जिनकी भावनासंवलित, विदग्ध और मर्म-स्पर्शिनी शैली प्रसिद्ध है। विभिन्न साहित्यकारों की स्मृति में निकले पत्र-पत्रिकाओं के विशेषांकों, और कभी कभी साधारण अंकों में भी अनेक सुंदर संस्मरण छपे हैं। सन् १९३२ में 'हंस' ने 'आत्मकथांक' प्रकाशित किया था जिसमें कई प्रसिद्ध लेखकों के संस्मरण छपे थे। पं० बनारसीदास चतुर्वेदी, श्री ब्रजमोहन वर्मा और श्री मोहनलाल महतो 'वियोगी' तथा श्री किशोरीदास वाजपेयी आदि ने अच्छे संस्मरण लिखे हैं। चतुर्वेदी जी ने प्रसिद्ध नेताओं और साहित्यिकों से लेकर अति सामान्य लेखकों और समाज सेवकों तक के रोचक संस्मरण लिखे हैं जिनमें से कुछ 'संस्मरण' और 'रेखाचित्र' नामक पुस्तकों में संकलित हैं।

श्री गुलाबराय की 'मेरी असफलताएँ' में संगृहीत संस्मरणात्मक निबंध अलग अलग होते हुए भी एक-दूसरे से मिलकर एक क्रमबद्ध आत्मचरित का रूप धारण कर लेते हैं। एक

अनुभव-समृद्ध साहित्यिक के शालीन और प्रसंगगर्भ शैली में लिखे गए ये व्यंगविनोदमय रोचक निबंध अपने ढंग के अकेले हैं।

श्रीमती महादेवी वर्मा ने 'अतीत के चलचित्र' और 'स्मृति की रेखाएँ' में समाज के उपेक्षित और अभाव तथा अत्याचार से जर्जर व्यक्तियों के अत्यंत मर्मस्पर्शी रेखाचित्र प्रस्तुत किये हैं। समाज के महत्त्वहीन समझे जानेवाले व्यक्तियों के जीवन की महत्ता, उनके दुःख-दर्द, हिंदू नारी के साधनामय करुण जीवन आदि का इन रचनाओं में अनूठा चित्रण हुआ है। शैली की दृष्टि से महादेवी जी का गद्य छायावादी कविता के शैली-संबंधी गुणों से अलंकृत है। विनोदपूर्ण बातें कहते हुए कहीं चुटीले सामाजिक व्यंग करना और कहीं करुणा की भावना से अभिभूत कर लेना महादेवी जी की एक विशेषता है। इन रचनाओं में कहानी की साकांक्षता, काव्य की भावमयता और चित्र-कला का चित्रण-कौशल है। लेखिका का सहानुभूतिपूर्ण व्यक्तित्व और अत्याचारी समाज, विशेषतः पुरुष-समाज, के प्रति उसका तीव्र असंतोष नाना रंगों में प्रकट हुआ है।

रेखाचित्र लिखनेवालों में श्री प्रकाशचंद्र गुप्त और श्री रामवृक्ष शर्मा बेनीपुरी, दो अन्य प्रसिद्ध लेखक हैं। प्रकाशचंद्र जी के चित्र यथार्थवादी हैं तो बेनीपुरी के चित्र यथार्थ का ऐसा रूप सामने लाते हैं जो भावना-रंजित भी होता है। गतिमय चित्रों की योजना और रसमय दृश्यों की अवतारणा में बेनीपुरी को जितनी सफलता प्राप्त है उतनी ही सफलता उन्हें दुःख-दर्द भरे जीवन को रेखांकित करने में भी मिली है।

अंग्रेजी में जिन्हें 'पर्सनल एसे' कहा जाता है कुछ कुछ उस ढंग के निर्बंध निबंध भारतेंदु युग में तो लिखे गए पर परवर्तीकाल में विषयनिष्ठ निबंधों की धारा जितनी पुष्ट हुई उतनी रचना-विषयक नियमानुवर्तिता छोड़कर नये ढंग से कम या अधिक स्वच्छंदता-पूर्वक रोचक शैली में लिखे गए निबंधों की नहीं। द्विवेदी युग का नैतिक आग्रह भी इसमें कम बाधक नहीं हुआ। यद्यपि उस युग में भी गुलेरी जी और पूर्णसिंह जैसे लेखक हुए जिनमें वह मानसिक स्वच्छंदता मिलती है जो निर्बंध निबंध के लिए आवश्यक है, पर ये लोग भी इस नये मार्ग पर अधिक आगे न बढ़ पाए। शुक्ल जी की 'विचारवीथी' (जिसका संशोधित और परिवर्द्धित संस्करण आगे चलकर 'चिंतामणि' के नाम से प्रकाशित हुआ) के प्रकाशन के चार वर्ष बाद ही सन् १९३४ में श्री लक्ष्मीकांत झा का 'मैंने कहा' निबंध संग्रह प्रकाशित हुआ जिसमें अंगरेजी के व्यक्तिनिष्ठ निर्बंध निबंधकारों से प्रभावित 'एक नई ही शैली' के प्रयोग की चेष्टा थी। इस प्रकार के और भी छिट-फुट प्रयोग उस समय की पत्र-पत्रिकाओं में मिल जाते हैं पर यह अनुकरण जहाँ का तहाँ रह गया और हिंदी-निबंध नए-नए मार्ग अपनाकर धीरे-धीरे आगे बढ़ता रहा। शैली के फेर में न पड़कर और अपने यहाँ के विद्वानों की गुरु-गंभीर कथन-शैली को छोड़कर जिन्हें सचमुच कुछ महत्त्वपूर्ण कहना रहा उन्होंने कहा ही। मनोरंजन इनका साधन रहा, साध्य कभी नहीं। इस प्रकार के निबंध-लेखक अंगरेजी के व्यक्तिनिष्ठ निबंधकारों से थोड़े-बहुत प्रभावित अवश्य हैं पर इन्होंने उनका अंधाधुंध अनुकरण नहीं किया, केवल उनकी स्वच्छंद प्रकृति अपनाकर अपने लिए नया मार्ग निकाला। श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, श्री सियारामशरण गुप्त और श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी आदि ऐसे ही निबंधकार हैं।

साहित्यालोचन विषयक निबन्ध बख्शी जी बहुत पहले से लिखते आ रहे थे, जिसे 'ज्ञान की संचित राशि' ही कहना अधिक ठीक होगा। निबंधकार के रूप में उनकी अपनी प्रतिभा के दर्शन 'कुछ' तथा 'और कुछ' में संगृहीत निबंधों में मिलते हैं। बख्शी जी ने जीवन, समाज, धर्म, साहित्य आदि पर बड़े रोचक ढंग से कहानी की रंजकता, नाटकीयता और चरित्र-चित्रण-विधि अपना कर निबंध लिखे हैं। मनुष्य की महत्ता में इनका विश्वास है, कोरे यथार्थवाद को ये साहित्य के उपयुक्त नहीं मानते, जीवन में वैषम्य को अनिवार्य मानते हैं और कथा-साहित्य में घटना वैचित्र्य और प्रच्छन्न आदर्श की निहिति आवश्यक समझते हैं। इनके निबंधों की शैली अत्यंत रोचक और व्यंजक होती है।

कवि सियारामशरण जी ने निबंध के क्षेत्र में मनोहर प्रतिभा का परिचय दिया है। गांधीवाद की सारी सहजता, आस्तिकता, करुणा और मानव-प्रेम इनकी रचनाओं में प्रतिफलित हुई है तो कवि-सुलभ भावुकता और तत्त्वचिंतन की स्वतंत्र वृत्ति भी दिखाई देती है। कहीं ये अपनी 'अपूर्णता' के महत्त्व से प्रभावित होते दिखाई देते हैं, कहीं 'धन्यवाद' के माध्यम से आधुनिक कृत्रिम शिष्टाचार पर व्यंग करते हैं और कहीं स्त्रियों का 'घूँघट' इन्हें बतलाता है कि हर आदमी एक तरह से नकाबपोश ही है! संस्मरण, यात्रा-विवरण, साहित्य और समाज की अनेक समस्याओं पर विनोदपूर्ण ढंग से लिखे इनके निबंध मनोरंजक भी हैं और मार्मिक भी।

पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी विद्वत्तापूर्ण अनुसंधानात्मक लेख लिख सकते हैं, कबीर और नाथपंथ के साहित्य के मूल सांस्कृतिक स्रोत का पता लगा कर उनका गंभीर साहित्यिक मूल्यांकन कर सकते हैं लेकिन अनौपचारिक ढंग से जब पाठक से बात करने बैठेंगे तो चर्चा का विषय होगा 'नाखून क्यों बढ़ते हैं', 'आम फिर बौरा गए!', 'एक कुत्ता और एक मैना', 'अशोक के फूल', 'शिरीष के फूल'। सरसता और विद्वत्ता का विरल संयोग निबंधकार द्विवेदी में मिलता है। गुलेरी जी के पांडित्य की तीक्ष्णता और विराजमानता को इन्होंने सरस और कांत बनाया है। सरलता के साथ व्यंग और विनोद की परिष्कृत भावना निबंधकार द्विवेदी के व्यक्तित्व का अविच्छेद्य अंग है। विकसित ऐतिहासिक चेतना के कारण इनके दृष्टिकोण में व्यापकता और उदारता आ गई है। द्विवेदीजी ने साहित्य समाज, संस्कृति, ज्योतिष आदि अनेक विषयों पर लिखा है पर इनकी रचनात्मक प्रतिभा का अत्यंत रुचिर रूप इनके निबंध निबंधों में ही दिखाई देता है। रवींद्रनाथ के मानवतावाद की इनपर गहरी छाप है।

श्री जैनेंद्रकुमार ने बहुत से निबंध निबंध भी लिखे हैं पर उनमें से मार्मिक निबंध वे ही हैं जिनमें लेखक गंभीर दार्शनिक की मुद्रा त्याग कर थोड़े बहुत आत्मीय के रूप में सामने आता है। 'आप क्या करते हैं?', 'रामकथा', 'कहानी नहीं', बाजार दर्शन' आदि ऐसे ही निबंध हैं। अक्सर प्रश्नोत्तर की रोचक शैली में, व्यंजनापूर्ण ढंग से गंभीर समस्याओं या तथ्यों का उद्घाटन इनकी ऐसी रचनाओं की विशेषता है। इनका व्यंग विधान कहीं शब्द प्रयोग पर अवलंबित रहता है और कहीं पूरे वाक्य की ध्वनि पर। इनकी बिनसँवारी मालूम होनेवाली भाषा तथा बातचीतवाली शैली आत्मीयता और बेतकल्लुफी का वातावरण तैयार करने में सहायक होती हैं।

इस प्रसंग में सर्वश्री सद्गुरुशरण अवस्थी, भगवतीचरण वर्मा, देवेंद्र सत्यार्थी, भदंत आनंद कौसल्यायन आदि का नामोल्लेख किया जा सकता है जिन्होंने निबंध के क्षेत्र में कुछ सुंदर और सफल प्रयोग किये हैं। श्री प्रभाकर माचवे के व्यंगविनोदपूर्ण नई शैली में लिखे गए रोचक निर्बंध निबंध अपने ढंग के काफी अच्छे और पठनीय हैं।

व्यक्तिप्रधान निर्बंध निबंधों के अतिरिक्त शुद्ध व्यंग-प्रधान निबंध भी आलोच्यकाल में लिखे गए। निराला ने सामाजिक और साहित्यिक विषयों पर तीखे व्यंग-लेख लिखे हैं। श्री विश्वंभरनाथ शर्मा 'कौशिक' ने पत्र-शैली में विजयानंद दुबे के नाम से और वार्तालाप की शैली में 'दिव्यचक्षु' के नाम से सामयिक विषयों पर चुभते हुए व्यंग लिखे हैं। संवादों द्वारा प्रभावपूर्ण ढंग से व्यंग की व्यंजना करना इनकी अपनी विशेषता है। 'दो घड़ी' के लेखक श्री शिवपूजन सहाय के हल्की फुल्की मुहावरेदार शैली में लिखे गए व्यंग-विनोदपूर्ण लेख भी उल्लेखनीय हैं। श्री हरिशंकर शर्मा का 'चिड़िया घर' भी अच्छी रचना है। श्री बेढब बनारसी के कुछ राजनीतिक व्यंग-चित्र काफी अच्छे उतरे हैं। श्री गोपालप्रसाद व्यास इस ढंग के नवयुवक लेखकों में उल्लेखनीय हैं।

सभी प्रकार के व्यंगों में मूलवृत्ति आलोचना की ही रहती है। पर नई पीढ़ी के नवयुवक लेखकों में सामाजिक क्रांति की भावना बलवत्तर रूप में प्रकट हुई। इन लेखकों के विचार से जमाना ऐसा आ गया है कि हिंदी के पूर्ववर्ती लेखकों या रोमांटिक युग के अंगरेज निबंधकारों की तरह सहृदयता, करुणा और ममत्व दिखाने का अवसर अब नहीं है बल्कि जीर्ण शीर्ण रूढ़ियों और ह्रासोन्मुखी प्रवृत्तियों पर जोरदार प्रहार करने की जरूरत है। वह बात क्या जो तीखी न हो और वह तीखापन क्या जो तिलमिला न दे। फलतः निबंधों की व्यंगात्मकता वक्रोक्ति और कटूक्ति से सजकर इनके निबंधों में सामने आई। इस प्रकार की रचनाएँ पत्र-पत्रिकाओं में आजकल अक्सर देखने को मिल जाती हैं। अपने 'विप्लव' में श्री यशपाल ने निर्बंध निबंध लेखक के मूड में कुछ सुंदर व्यंग लेख लिखे है।

इस तरह हिंदी का निबंध साहित्य अपने थोड़े जीवन-काल के भीतर विविध रूप-रंगों में विकसित होता चला आ रहा है। आगे साहित्य में विषय वैविध्य ज्यों ज्यों बढ़ता जायगा, 'विशेषज्ञ' लेखक भी बढ़ते जायँगे और विशेषज्ञों के हाथ में पड़कर निबंध भी अलग-अलग रुचि के लोगों की गंभीर जिज्ञासा-पूर्ति के साधन बनते जायँगे। यह प्रवृत्ति यदि एक ओर विषयनिष्ठ या परिबंध निबंधों को गंभीर और गूढ़ बना कर उनका पाठक-समाज सीमित करती जायगी तो दूसरी ओर सामान्य पाठकों के थके मस्तिष्क को स्फूर्ति प्रदान करने वाले निर्बंध निबंधों के प्रणयन और पठन में प्रेरक-रूप भी होगी।

—विजयशंकर मल्ल

गद्यकाव्य

युग-युग में नवीन उद्भावना की आकांक्षा से प्रेरित होकर नव-नव व्यवस्थाएँ और साधन उत्पन्न होते रहते हैं। उस समय प्राचीन रूढ़िगत स्वरूपों का या तो त्यागन ही श्रेष्ठ समझा जाने लगता है अथवा अनुकूल परिष्कार करके उन्हीं को आवश्यकता के अनुरूप ढालने की चेष्टा की जाती है। पुरातन गद्य, पद्य और चंपू इत्यादि विभिन्न काव्य स्वरूपों से पूरा पड़ता न देखकर ही आधुनिक साहित्यों में नवीन रचना पद्धतियों को प्रश्रय मिलने लगा है। जैसे कविता के क्षेत्र में वर्णवृत्त अथवा छंद-विधान की अनावश्यकता दिखाते हुए कविगण मुक्तछंदों में सुंदर से सुंदर रचना करने लगे हैं और काव्य के भीतर एक नवीन मार्ग अथवा स्वरूप प्रवेश पा गया है उसी प्रकार गद्य की परिधि के भीतर भी रचना की एक आधुनिक परिपाटी ने स्थान बना लिया है। इस पद्धति के अनुसार गद्य में भी कविता लिखने की व्यवस्था हो गई। मुक्त छंद में लिखी कविताओं में फिर भी किसी न किसी रूप में संगीतात्मक ध्वनि के उतार चढ़ाव का क्रम दिखाई पड़ता है, साथ ही उनमें पदान्वय की आकांक्षा भी बनी रहती है। इतने ही के कारण वे शुद्ध गद्य होने से बच जाती हैं और उनकी भेदकता फिर भी बनी रहती है। पर गद्य के उक्त स्वरूप में सब कुछ कविता का सा रहता है, केवल आवरण अथवा माध्यम गद्य का होता है अर्थात् उसमें न तो किसी प्रकार के पदान्वय की आवश्यकता प्रतीत होती और न संगीत का ही क्रमन्यास लक्षित होता। इसी लिए उसे मूलतः गद्य का ही एक नवीन रचना-प्रकार माना गया है और उसके लिए गद्यकाव्य की संज्ञा निर्धारित की गई है।

थोड़े में इसका तात्पर्य यह समझना चाहिए कि जो गद्य कविता की तरह रमणीय, सरस, अनुभूतिमूलक और ध्वनिप्रधान हो साथ ही जिसकी अभिव्यंजना प्रणाली अलंकृत एवं चमत्कारी हो उसे गद्यकाव्य कहना चाहिए। इसमें भी इष्ट कथन के लिए कविता की भाँति न्यूनातिन्यून अथवा केवल आवश्यक पदावली का प्रयोग किया जाना चाहिए, अग्निपुराण के संक्षेपाद्वाक्यमिष्टार्थ व्यवच्छिन्ना पदावली के अनुसार संक्षिप्त काव्य विधान का विचार इसमें भी रहना चाहिए। कविता के समस्त गुणधर्मों के अनुरूप संगठित होने के कारण गद्यकाव्य में भी प्रतीक भावना अथवा आध्यात्मिक संकेत के लिए आग्रह दिखाई पड़ता है। इसमें भी भावापन्नता का वही रूप मिलता है जिसका आधुनिक प्रगीतात्मक रचनाओं में आधिक्य रहता है। यदि मूल प्रकृति का विचार किया जाय तो इसकी संगति शुद्ध प्रगीतात्मक कविता के साथ अच्छी तरह बैठती है क्योंकि इसके साध्य और साधन उसी की कोटि के होते हैं, कविता की भाँति इसमें भी कारण रूप से प्रतिभा ही काम करती है।

ऐतिहासिक दृष्टि से हिंदी में इस प्रकार की रचना का आरंभ सर्वथा नवीन है। यों तो गद्य रचना के क्षेत्र में काव्यमय अभिव्यंजना प्रणाली का प्रयोग हरिश्चंद्र युग में

भी मिलता है। प्रेमघन जी और गोविंदनारायण मिश्र प्रभृति समर्थ लेखकों की शैली मूलतः अलंकृत और काव्यात्मक कही जायगी, पर भाषा के अलंकृत एवं काव्यात्मक होने से ही वास्तविक गद्यकाव्य का स्वरूप प्रतिष्ठित नहीं हो सकता। उसका वस्तुविधान भी कविता का होना चाहिए। तभी काव्य की भाँति उसमें विषयनिर्वाचन और उसके साथ अभिव्यंजना की चमत्कारपूर्ण संगति संभव होगी, तभी उसके पढ़ने अथवा सुनने में कविता का सा आनंद उत्पन्न होगा। अपनी संपूर्ण विशेषताओं से संयुक्त होकर गद्य का यह रचना प्रकार हिंदी में कुछ देर से आया। पहले इसका अंकुरण और पल्लवन बंगला साहित्य में दिखाई पड़ा। वहाँ भावापन्नता से प्रेरित कल्पना बड़ी सजधज के साथ गद्य के क्षेत्र में उतरी थी। भावावेशवाली भाषाशैलियाँ ही हृदयस्पंदन में योग देती हैं और उसमें यदि वस्तुविधान भी भावयोजना से अनुप्राणित हो तो कहना ही क्या।

यथार्थ बात तो यह है कि बंगीय साहित्य में इस प्रकार की रचना ने स्फूर्ति ग्रहण की नाटकीय संवादों से। उनमें भाव की तरलता और वेग दोनों मिला रहता है; विशेषकर बंगला के नाटकों की अपनी यह विशेषता आरंभ से ही थी और पीछे भी निरंतर बनी रही। 'उद्‌भ्रांत प्रेम' के लेखक चंद्रशेखर मुखोपाध्याय अथवा इस प्रकार के अन्य लेखकों की रचनाओं को देखने से यह सरलता से समझा जा सकता है कि रोमांचिक भावुकता से आपूर्ण संवाद यदि कुछ प्रसार के साथ लिख दिए जायं तो गद्य काव्य से ही लगेंगे। हिंदीवाले यदि इस सत्यता का आभास प्राप्त करना चाहें तो भारतेंदु हरिश्चंद कृत 'चंद्रावली' नाटिका के प्रलापपूर्ण संवादों को पढ़ें अथवा वर्तमान महाराजकुमार रघुवीर सिंहजी के भावात्मक निबंध देखें। ये रचनाएँ गद्यकाव्य के अति समीप मालूम होंगी। अंतर केवल इतना ही रहेगा कि ये विषय को पकड़ कर चलती दिखाई पड़ेंगी और शुद्ध गद्यकाव्य ध्वनि प्रधान अथवा प्रतीकात्मक बनने की चेष्टा करता है। इस पद्धति की नवागत रचनाओं में रहस्योन्मुख आध्यात्मिकता का आरोप करने वाले सर्वप्रथम कृतिकार रवींद्र बाबू और उनकी अति प्रसिद्ध कृति 'गीतांजलि' हुई। अन्योक्तिविधान से अनुशासित होकर गीतांजलि की पद्धति ने गद्य का एक सर्वथा नवीन रूप सामने रखा। आचार्य रामचंद्र शुक्ल इस साहित्यिक अभिव्यंजना पद्धति का मूल उद्‌गम ईसाई साधु संतों की कथन प्रणाली से मानते हैं। जो भी हो रवींद्र बाबू के इस काव्यात्मक गद्य ने अपना एक निखरा हुआ रूप स्थिर कर लिया है। इस ढंग की कोई अन्य रचना अभी तक इतना प्रसार नहीं पा सकी है।

हिंदी में इस प्रकार की रचना का उदय बीसवीं शताब्दि के द्वितीय दशक में हुआ है। भले ही पहले ईसाई धर्मात्माओं में अथवा अन्य साहित्यों में इसका आरंभ मिलता हो पर हिंदी में जब से भी ऐसे गद्यकाव्य लिखे जाने लगे तभी से उनमें अपनापन दिखाई पड़ने लगा था। इन विषयों में ऐतिहासिक क्रम का उतना महत्व नहीं मानना चाहिए जितना अभिव्यंजना पद्धति के निखार का। इस विचार से हिंदी में जब भी गद्यकाव्य की रचना को प्रश्रय मिला हो, आरंभ में ही उसमें परिष्कार एवं प्रौढ़ता भरी मिलती है। सच बात तो यह है कि हिंदी में रचना का यह नवीन प्रकार अधिक चला नहीं लेकिन जितना भी लिखा गया है उतना उत्तम कोटि का है इसमें विवाद के लिए कोई स्थान नहीं है।

'उद्भ्रांत प्रेम' की पद्धति हो अथवा 'गीतांजलि' की सभी ढंग से हिंदी में लिखा गया है। सामान्यतः इस प्रकार की नवीन काव्य प्रणालियों को पल्लवित करने में प्रतिभा का पूरा पूरा योग अपेक्षित होता है। इसलिए न तो साधारण सहृदय इसका आनंद ले सकते और न चाँड़ के बल से खड़े होने वाले साधारण लेखक योग्यतापूर्वक ऐसी चीजें लिख ही सकते। इसके अतिरिक्त आज के व्यावसायिक युग में काव्यमूलक अभिव्यंजना से भरी पुरी पुस्तकें अधिक बिक भी नहीं सकतीं। इसलिए किसी भी साहित्य में क्यों न हो इस प्रकार की कृतियों अथवा कृतिकारों की वृद्धि नहीं हो सकती। अस्तु।

हिंदी में शुद्ध गद्यकाव्य के प्रधान तीन ही लेखक हैं—रायकृष्णदास, चतुरसेन शास्त्री और वियोगी हरि। इनमें से चतुरसेन शास्त्री ने थोड़ा बहुत जो कुछ भी लिखा है वह उस शैली पर जिसमें बंगला का 'उद्भ्रांत प्रेम' लिखा गया है। उनके 'अंतस्तल' में विविध भावात्मक विषयों पर लिखे गए छोटे छोटे निबंध हैं, जो मनःस्थिति के अनुरूप उमड़ती हुई काल्पनिक अनुभूतियों के हलके हलके लघु प्रसार वाले स्रोत हैं। उनमें भावावेश वाली भाषाशैली ही मुखर रहती है। भावापन्नता से उद्भूत रहस्यामकता जागरित करने का अवसर इसमें नहीं मिल पाता। यों तो इस पद्धति पर लिखी गई अन्य ढंग की रचनाएँ भी हो सकती हैं। इसी को यदि भिन्न उपकरण और आवरण मिल जाए तो चंडीप्रसाद 'हृदयेश' की काव्यात्मक कहानी तैयार हो सकती है अथवा महाराजकुमार रघुवीर सिंह के भावात्मक निबंध स्वरूप ग्रहण कर लेंगे। परंतु उसका अपना शुद्ध स्वरूप तो वही है जो शास्त्रीजी के अंतस्तल में प्राप्त होता है।

इसके अतिरिक्त फिर तो केवल 'गीतांजलि' वाली प्रणाली ही रह जाती है। हिंदी में उसका पूरा पूरा अनुसरण रायकृष्णदास और वियोगी हरि में दिखाई पड़ता है। विषय और शीर्षक का निर्वाचन, परोक्ष आलंबन के प्रति मनोनिवेश, अनुभूति की तीव्रता, पदावली की व्यावहारिक सरलता इत्यादि के विचार से दोनों में अत्यधिक साम्य है। शुद्ध गद्यकाव्य का प्रकृत रूप इन्हीं में मानना चाहिए क्योंकि कविता की भांति इन कृतियों में भी उक्ति भंगिमा के वैशिष्ट्य के द्वारा लक्ष्य की ध्वन्यात्मक पुष्टि मिलती है। अवश्य ही इन दोनों कृतिकारों ने कवींद्र रवींद्र से प्रेरणा ग्रहण की है ऐसा स्पष्ट मालूम पड़ता है। पर प्रेरणा ग्रहण करने का अर्थ न तो नकल है और न श्रेणी भेद। जिस ढंग की रचनाएँ रायकृष्णदास अथवा वियोगी हरि की हैं उनका पूर्ण परिचय पाकर कोई भी सहृदय यह स्वीकार किए बिना नहीं रहेगा कि उनमें अपनी स्वतंत्रता और व्यक्तित्व है। साथ ही यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि भाषा पर पूर्ण अधिकार होने के कारण इनकी अभिव्यंजना में सर्वत्र स्पष्टता और प्रौढ़ता दिखाई पड़ती है। इस क्षेत्र में राय साहब की 'साधना' और वियोगी हरि का 'अंतर्नाद' दोनों हिंदी की अनुपम कृतियाँ हैं। यों तो इस विषय की इनकी अन्य रचनाएँ भी उतनी ही सुंदर उतरी हैं। 'साधना' के साथ राय कृष्णदास के 'छायापथ' और 'प्रवाल' भी उसी ढंग की रचनाएँ हैं और 'अंतर्नाद' के अतिरिक्त वियोगीहरि की 'भावना' भी उतनी ही सफलता के साथ लिखी गई है। पर क्रम में पहले लिखे जाने के कारण प्रथम सफल कृति ही ऐसा प्रसार पा जाती है कि उसी शैली पर लिखी उपरान्त की कृति दृष्टिपथ में अधिक नहीं आ पाती।

वियोगी हरि की एक उत्तम रचना और है 'तरंगिणी'। उसकी छटा सर्वथा निराली है। लोग उसे प्रायः भूल सा गए हैं पर प्रकाशित होने पर कुछ दिनों तक उसका बड़ा स्तवन होता रहा। उसके विस्मृत होने का मुख्य कारण था उसकी भाषा। भाषा का अत्यधिक अलंकरण और समासांत पदावली का अधिक और दीर्घ विस्तार पाठक अथवा अध्येता के मस्तिष्क का इतना अधिक मंथन कर डालता है कि संकेतपक्ष अथवा परोक्ष आलंबन की ओर झुकने का अवसर ही नहीं बच पाता। ऐसी अवस्था में विषय का सर्वांग दर्शन बड़ा कठिन हो जाता है और साधारणतः सामान्य पढ़नेवालों से अधिक मनोयोग पाना संभव नहीं। जो भी हो इस ढंग की चमत्कारमयी और समासगुंफित अन्य रचना हिंदी में फिर आई नहीं।

उक्त लेखकों के उपरांत भी इस क्षेत्र में प्रयत्न चलता रहा और विभिन्न कृतिकारों की रचनाएँ देखने में आई हैं। उनमें दिनेशनंदिनी चोरड्या, सत्यवती मल्लिक और दुर्गेशनंदिनी डागा का कृतित्व विशेष सराहनीय है। इनमें डागा और मल्लिक की 'एकतान', 'ध्वनि का गीत', कवि के प्रति' प्रभृति फुटकल रचनाएँ 'हंस' में समय समय पर छप चुकी हैं। इस क्षेत्र में चोरड्या की उद्भावना अधिक बलवती और स्फुट हो सकी है। 'शबनम', 'उनमन', 'शारदीया', 'मौक्तिक माल', प्रभृति ग्रंथों में उनकी प्रतिभा का सच्चा स्वरूप उतर आया है। अधिक मात्रा में लिखने के कारण उनकी अभिव्यंजना मे पर्याप्त सफाई और निखार दिखाई पड़ता है। इन देवियों के अतिरिक्त इस पद्धति की सफल रचनाओं में नोखेलाल शर्मा की 'मणिमाला' और रामप्रसाद विद्यार्थी की 'पूजा' 'शुभ्रा' इत्यादि प्रमुख हैं। इनमें अप्रस्तुत के प्रति संवेदनपरक अच्छी अभिव्यंजनाएँ प्रकाशित हुई हैं। आगे चलकर तेजनारायण काक, त्रिलोचन शास्त्री, ब्रह्मदेव, जगदीश आदि की कृतियों को भी देखकर यह स्पष्ट मालूम पड़ता है कि यदि इस क्षेत्र में भी काव्यप्रतिभा को खुल खेलने का अवसर मिले और उसकी नई नई शैलियों की सर्जनात्मक परीक्षा की जाय तो कविता को नवीन पर मूलतः प्रभावशाली एक स्वरूप और मिल सकता है। साथ ही अन्योक्ति पद्धति से रहस्यात्मक प्रतीकों की सुंदर कल्पना सिद्ध की जा सकती है। परंतु दुःख है, इन पंक्तियों के लेखक को अब इसकी संभावना कम दिखाई पड़ती है, क्योंकि देशकाल से आक्रांत बुद्धिवाद की कठोर भूमि पर काव्यमूलक सुकुमार बेलि नहीं पल्लवित हो सकती।

—जगन्नाथप्रसाद शर्मा

आलोचना

ऐतिहासिक दृष्टि से यद्यपि आधुनिक हिंदी आलोचना का जन्म भारतेंदु-युग में ही हो चुका था पर उसका क्रमिक विकास न हो सका। नागरीप्रचारिणी सभा ने सन् १८९७ में 'नागरीप्रचारिणी पत्रिका' का प्रकाशन आरंभ किया। पत्रिका के प्रथम भाग में ही पोप के 'एसे आन क्रिटिसिज्म' का रत्नाकर-कृत पद्य-बद्ध अनुवाद 'समालोचनादर्श' और गंगाप्रसाद अग्निहोत्री का 'समालोचना' नामक लेख (जो कुछ ही दिनों पूर्व पुस्तिका रूप में छप चुका था) प्रकाशित हुआ। अग्निहोत्री ने समालोचना की आवश्यकता और उसके उपयोग की चर्चा की। उन्होंने लिखा कि 'हमारे देश में यह प्राचीन समय में जैसी चाहिए वैसी न थी और अर्वाचीन काल में तो लुप्तप्राय हो गई थी पर अभी दस पंद्रह वर्षों से ही अंग्रेजी ग्रंथकर्ताओं के परिचय से केवल कहीं कहीं इसका आरंभ हो चला था। मूल ग्रंथ का ज्ञान, सत्य प्रीति, शांत स्वभाव और सहृदयता ('जिस ग्रंथ की आलोचना करनी हो उसमें अंतष्करण के पूर्ण अभिनिवेश की योग्यता')—ये गुण आलोचक के लिए उन्होंने आवश्यक बतलाए। स्पष्ट ही उनका ध्यान इन बातों को लिखते समय केवल व्यावहारिक समीक्षा की ओर था। आलोचना संबंधी उक्त दोनों रचनाओं को तत्कालीन साहित्यिक चेतना का द्योतक इस अर्थ में समझा जा सकता है कि नवीन समीक्षा-संबंधी कार्य की आवश्यकता का अनुभव पूर्वापेक्षा अधिक सतर्कता से किया जाने लगा था और यह भी कि आलोचना के क्षेत्र में नवीन प्रणाली की स्थापना आवश्यक है। पर इस चेतना का प्रतिफलन द्विवेदी-काल में, सन् १९०० के बाद ही दिखाई पड़ा।

द्विवेदी काल में हिंदी साहित्य के सामने नई समस्याएँ उपस्थित थीं। सब से प्रमुख समस्या खड़ी बोली गद्य के परिमार्जन, नियमन तथा खड़ी बोली को काव्य-भाषा के रूप में ग्रहण की थी। काव्य की विषय-वस्तु के आदर्शमूलक विस्तार और उसकी संयत अभिव्यक्ति का प्रश्न भी उपस्थित था। रीतिकालीन छंद आदि बाह्य उपकरणों और अनावश्यक काव्य-रूढ़ियों के परीक्षण, त्याग और ग्रहण के विषय में नए सिरे से विचार करना भी जरूरी हो गया था। इन सब समस्याओं को सुलझाने के प्रयत्न में इस समय की आलोचना बाह्य-पक्ष-प्रधान हो गई और द्विवेदी जी द्वारा पोषित काव्यधारा भी बहुत कुछ बौद्धिक और इतिवृत्तात्मक होकर रह गई पर यह नहीं भूलना चाहिए कि आधुनिक आलोचना संबंधी यह आरंभिक कार्य आगे की समीक्षा के विकास के लिए आधार प्रस्तुत करनेवाला और साहित्य के संवर्द्धन के लिए बहुत ही महत्त्वपूर्ण था।

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी आधुनिक आलोचना की परंपरा स्थापित करनेवाले पहले आलोचक हैं जिन्होंने रीतिकालीन साहित्यिक मानों और हिंदी कविता की विषय और रूप-विधान संबंधी अनावश्यक रूढ़ियों का तिरस्कार कर नवीन आदर्शवादी समीक्षा का प्रचलन करने का प्रयास किया। रीतिकालीन कवियों की तुलना में भक्त कवियों को श्रेष्ठ

बतलाना तथा कालिदास, भवभूति, भारवि और श्रीहर्ष के साथ ही भारतेंदु की रचनाओं की प्रशंसा करना ऐसी बातें हैं जो उनके युगानुरूप दृष्टि विस्तार की सूचना देती हैं। विषय और शैली की दृष्टि से कविता को युग के अनुकूल, सर्वसुलभ और उच्चादर्शों से युक्त बनाने की प्रेरणा उन्होंने बराबर दी। उस समय की स्थिति को देखते हुए उनका यह कार्य, जो तत्कालीन नए लेखकों के लिए प्रेरक रूप था, अवश्य ही महत्त्वपूर्ण माना जाएगा। पर द्विवेदी जी स्वयं इस क्षेत्र में कोई स्थायी महत्त्व का कार्य न कर सके। संस्कृत कवियों पर लिखी उनकी आलोचनाएँ दोष अथवा गुण-निदर्शन वाली पुरानी स्थूल प्रणाली को ही अपना कर चली हैं। 'सरस्वती' में प्रकाशित बहुसंख्यक पुस्तक-समीक्षाओं का मूल्य नियमन और नियंत्रण की ही दृष्टि से है, रचना-सौंदर्य के उद्घाटन की दृष्टि से नहीं। इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार्य द्विवेदी ने सैद्धान्तिक अथवा व्यावहारिक आलोचना संबंधी कोई ठोस और मार्ग-निर्देशक रचना नहीं प्रस्तुत की, इसके लिए 'सरस्वती' संपादक को अवकाश भी कहाँ था, पर साहित्यालोचन के नवीन आदर्श-स्थापन के योग्य मनोभूमि उन्होंने अवश्य तैयार की, और यह एक असाधारण कार्य था।

हिंदी कवियों की क्रमबद्ध और सुनियोजित आलोचना का आरंभ द्विवेदीजी के समकालीन मिश्रबंधुओं ने किया। चंद से लेकर भारतेंदु हरिश्चंद्र तक नौ श्रेष्ठ हिंदी-कवियों का जो विवेचन उन्होंने 'हिंदी-नवरत्न' में किया है उसमें किसी नए ढंग की आलोचना-प्रणाली का व्यवहार नहीं है, आधार रूप में रस-अलंकार वाली स्थूल पद्धति को ही अपनाया गया है पर, आलोच्य कवियों की साधारण विशेषताओं का बहुत कुछ व्यवस्थित ढंग से अच्छा परिचय दिया गया है। मिश्रबंधु अंग्रेजी साहित्य के ज्ञाता थे पर उसकी सहायता से नए आलोचनादर्श का कोई रूप वे न प्रस्तुत कर सके। उनका दूसरा महत्वपूर्ण कार्य वृहत् 'मिश्रबंधु विनोद' का प्रणयन है जिसमें उन्होंने हिंदी साहित्य के इतिहास को विभिन्न युगों में बाँटकर अपने ढंग से कवियों और लेखकों का परिचय प्रस्तुत किया है। यह ग्रंथ हिंदी साहित्य के इतिहास लेखकों के लिए आज भी आवश्यक बना हुआ है।

किसी एक हिंदी-कवि पर, अन्य कवियों से उसकी तुलना करते हुए, विस्तृत आलोचना का कार्य श्री पद्मसिंह शर्मा ने 'बिहारी सतसई' पर तुलनात्मक समालोचना लिख कर किया। आर्यसमाजी होते हुए भी शर्मा जी रीतिकालीन श्रृंगार-परक रचनाओं के प्रेमी, ब्रजभाषा के हिमायती और मूलतः चमत्कारवादी आलोचक थे। उनका कहना था कि 'जिस काव्य में जितना चमत्कार होगा, वह उतना ही उत्कृष्ट और आदरणीय होगा।' उन्होंने बिहारी की तारीफ और उनकी तुलना में अन्य कवियों को नीचा दिखलाने में अतिशयोक्ति से काम लिया है। अपने प्रिय कवि की प्रशंसा उन्होंने महफिली तर्ज पर की है। बिहारी के काव्य के विवेचन में उनकी दृष्टि मुख्यतः चमत्कार-सौंदर्य पर ही रही है। पर यह सब होते हुए भी शर्मा जी की यह तुलनात्मक समालोचना अत्यंत पांडित्यपूर्ण और अपने ढंग की अनूठी है। सतसई की परंपरा के उद्घाटन और बिहारी की कलात्मक विशेषताओं के परिचय में उन्होंने अपूर्व क्षमता का परिचय दिया है। किसी भी साहित्यिक रचना का मूल्यांकन ठीक ढंग से तभी हो सकता है जब अन्य कवियों की तुलना में रख कर उसकी प्रतिभा की परीक्षा की जाय। यह बात यद्यपि शर्मा जी की आलोचना में हद से ज्यादा हो गई है,

उनकी दृष्टि प्रगल्भ उक्तियों की ओर ही आकृष्ट रह गई है, पर उसका अपना महत्त्व है अवश्य। शर्मा जी के काव्य-प्रतिमान पुराने ही थे पर उसके आधार पर बिहारी की कला विषयक एक एक बारीकी का उन्होंने विस्तृत विवेचन किया है।

मिश्रबंधुओं ने अपने 'नवरत्न' के प्रथम संस्करण में देव को बिहारी से बड़ा तो बताया ही, हिंदी का सर्वोत्तम कवि भी कहा। शर्मा जी ने रीतिकालीन कवियों में बिहारी को उच्चतम स्थान दिना। उनको उत्तर देने के लिए श्री कृष्णबिहारी मिश्र ने 'देव और बिहारी' लिखा। लाला भगवानदीन ने 'बिहारी और देव' लिख कर पुनः बिहारी की श्रेष्ठता दिखलाने की चेष्टा की। इन लोगों की समीक्षा-पद्धति भी पुरानी ही थी पर श्री कृष्णबिहारी मिश्र में अपेक्षाकृत अधिक संतुलित काव्य-विवेक दिखलाई पड़ता है। लाला जी ने सूर और केशव पर भूमिका रूप में आलोचना भी प्रस्तुत की है लेकिन उनका असली महत्त्व प्राचीन काव्य-कृतियों की टीका और व्याख्या के कारण ही है।

[२]

द्विवेदी जी के समय में इस प्रकार आलोचना विषयक आरंभिक और उपयोगी कार्य हुए पर नवीन प्रतिमानों की स्थापना तथा काव्य की सर्वांगीण और गंभीर व्यावहारिक आलोचना का आविर्भाव आचार्य रामचंद्र शुक्ल के द्वारा हुआ। आचार्य शुक्ल समीक्षा के क्षेत्र में युगप्रवर्तक मनीषी सिद्ध हुए। ज्ञातव्य है कि ये श्री बदरीनारायण उपाध्याय 'प्रेमघन' के घनिष्ठ संपर्क में रह चुके थे और द्विवेदी काल में इनके साहित्यिक संस्कार विकसित हुए थे फिर भी इनकी प्रखर साहित्यिक चेतना समय को देखते हुए बहुत ही प्रगतिशील थी और वह भारतेंदु या द्विवेदी युगीन सीमाओं में बँधी नहीं। आलंकारिक साज-सज्जा को भाषा का आदर्श मानने वाले 'प्रेमघन' की 'आनंद कादंबिनी' (ज्येष्ठ से अग्रहायण, सं० १९६४—सन् १९०७ ई०) में, 'अपनी भाषा पर विचार' शीर्षक लेख में तत्कालीन समस्याओं का ध्यान रखते हुए उन्होंने 'शब्द विस्तार' और नवीन 'शब्द योजना' आदि की आवश्यकता दिखलाई और रूढ़िवादियों का तीव्र विरोध किया। भाषा की प्रेषणीयता पर विचार करते हुए उन्होंने स्पष्ट लिखा कि भाषा का काम विचार प्रेषित करना है, नाद से रिझाना नहीं जो संगीत का धर्म है। यह बात लिखते हुए उनका ध्यान अवश्य ही प्रेमघन की अलंकृत भाषा पर रहा होगा। पुरानी लकीर के फकीर पंडितों को लक्ष्य कर उन्होंने लिखा, 'अब भी यदि हमारे कोरे संस्कृतज्ञ पंडितों से कोई बात छेड़ी जाती है तो वे चट कोई न कोई श्लोक उपस्थित कर देते हैं और उसीके शब्दों के भीतर चक्कर खाया करते हैं, हजार सिर पटकिए वे उसके आगे एक पग भी नहीं बढ़ते। यदि कोई जाल वा धोखे से किसी की संपत्ति हर ले तो पंडित जी कदाचित उसके संमुख उसके कार्य की आलोचना इसी चरण (?) से करेंगे—'स्वकार्य्यं साधयेद्धीमान'। उनकी विचारशक्ति इन श्लोकों से चारों ओर जकड़ी हुई है, उसको अपना हाथ पैर हिलाने की स्वच्छंदता कभी नहीं मिलती।'

शुक्ल जी की स्वतंत्र चिंतन की वह प्रवृत्ति जिसका संकेत ऊपर की पंक्तियों से मिलता है विकसित होती गई और आगे चल कर उनकी समीक्षात्मक प्रतिभा का बड़ा ही

भव्य रूप दिखलाई पड़ा। जायसी, तुलसी और सूर की नए ढंग से उन्होंने अत्यंन्त मार्मिक और विशद आलोचना की और हिंदी में व्यावहारिक आलोचना का अभिनव रूप प्रस्तुत किया। शुक्ल जी उच्चकोटि के रसज्ञ, गंभीर विचारक और लोकादर्श के पक्के हिमायती युगद्रष्टा आलोचक हैं। द्विवेदी युग में रूढ़िमुक्त नवीन आलोचना के लिए जो मनोभूमि तैयार हुई थी उसका सर्वोत्तम प्रतिफलन शुक्ल जी की समीक्षाओं में हुआ और युग की सर्वोच्च आलोचनात्मक संभावना इनमें केंद्रित हो गई। आलोच्य कवि को उसके सामाजिक और सांस्कृतिक परिवेश तथा उसकी साहित्यिक परंपरा के परिपार्श्व में रख कर उसकी 'अंतः प्रकृति की छानबीन' और 'उसकी विशेषताओं का अन्वेषण' करके उन्होंने जायसी, तुलसी और सूर की अत्यंन्त मार्मिक और विस्तृत आलोचनाएँ प्रस्तुत कीं। 'हिंदी साहित्य का इतिहास' में उन्होंने पहली बार हिंदी के समूचे इतिहास को प्रवृत्तियों के विचार से विभाजित किया, साहित्यिक-प्रवृत्तियों की निर्मात्री 'राजनीतिक, सामाजिक, सांप्रदायिक तथा धार्मिक' परिस्थितियों का सार्थक रूप में परिचय दिया, प्रत्येक साहित्यिक युग की सामूहिक विशेषताओं का दिग्दर्शन कराया और अलग-अलग कवियों तथा लेखकों की सारगर्भ संक्षिप्त समीक्षा की। इतिहास लिखने में तथ्यों के संकलन की अपेक्षा शुक्ल जी की दृष्टि साहित्यिक युग और उसके व्यक्तित्वों के साहित्यिक मूल्यांकन की ओर अधिक रही अतः गंभीर आलोचना की दृष्टि से भी उसका विशिष्ट महत्त्व है।

आचार्य शुक्ल को अपने साहित्यिक आदर्श महाकवि तुलसीदास में मिले हैं। उनका लोकादर्शवाद, 'अभिव्यक्तिवाद' और 'सामंजस्यवाद' तुलसी के काव्य में अपने सर्वोत्तम रूप में प्रदर्शित हुआ है। शुक्ल जी की आदर्श-चेतना की व्यापकता और सीमा-रेखा का सबसे अच्छा निर्देशक तुलसी का 'रामचरित मानस' है।

'चिंतामणि' के सैद्धांतिक निबंधों तथा अपूर्ण और उनकी मृत्यु के बाद संकलित 'रस मीमांसा' में शुक्ल जी के काव्य-सिद्धांत की स्पष्ट रूप-रेखा मिलती है। वे रसवादी थे और आधुनिक मनोविज्ञान की सहायता से उसकी अधुनातन व्याख्या करके उसे उन्होंने एक नवीन संस्कार दिया; इस दृष्टि से वे प्राचीन आचार्यों की श्रेणी में आते हैं। रस-सिद्धांत को लोक मंगल की भावना से संयुक्त करके उन्होंने सामाजिक दृष्टि से और भी व्यापक बनाया। रस-सिद्धांत की त्रुटियों की ओर भी उनका ध्यान गया और उनका बहुत कुछ परिहार करने की चेष्टा उन्होंने की।

'आनंद कादंबिनी' वाले लेख में उनकी जिस आरंभिक स्वतंत्र चेतना का पता मिलता है उसका पुष्ट रूप उनकी आलोचना-संबंधी नवीन स्थापनाओं में मिलता है। साधारणीकरण की नवीन व्याख्या, स्वभावोक्ति के अलंकारत्व का निषेध, 'हाव' को विभाव के अंतर्गत रखने के औचित्य का प्रतिपादन, रस की और रसानुभूति की एकाधिक कोटियों की कल्पना, वाच्यार्थ में ही काव्य के चमत्कार की निहिति बतलाना, प्रत्यक्ष रूप-दर्शन से उत्पन्न अनुभूति को काव्यात्मक रसानुभूति के समकक्ष स्थापित करना, विभावमात्र की योजना से पूर्ण रस-प्रतीति की संभावना व्यक्त करना आदि ऐसे मंतव्य हैं जो उनके गहरे स्वतंत्र चिंतन का परिचय देते हैं।

काव्य में लोकमंगल की प्रतिष्ठा के आग्रह, पुराने काव्य-सिद्धांतों के पुनर्परीक्षण और अपनी स्वतंत्र सैद्धांतिक प्रतिपत्तियों के द्वारा शुक्ल जीने हिंदी आलोचना का स्तर कितना ऊँचा कर दिया और अपने युग के विचार से वे कितने अधिक प्रगतिशील थे इसका ठीक अनुमान वे ही कर सकते हैं जिनमें उनके पूर्ववर्ती साहित्यिक वातावरण को सजीव रूप में कल्पित कर सकने की क्षमता होगी और उनकी परवर्ती आलोचना की गहराई मापने का पूर्वग्रहमुक्त विवेक होगा।

आचार्य शुक्ल का पांडित्य अप्रतिहत और रस-सवेदना अत्यंत पुष्ट थी। वे जितने बड़े रसज्ञ थे उतने ही समर्थ काव्य-सौंदर्य के सर्वग्राह्य मार्मिक विश्लेषण में भी थे। इतना होने पर भी आचार्य छायावादी काव्य को आरंभ में अपनी सहानुभूति न दे सके। जिस व्यक्ति में इतनी गहरी रसज्ञता हो, जो इतना बड़ा काव्य मर्मज्ञ हो, वह नवीन कविता के रस से बहुत दिनों तक असंपृक्त बना रहा, यह बात आश्चर्य की मालूम होती है। पर इस में आश्चर्य कुछ नहीं है, यह तथ्य केवल इस वास्तविकता का उद्‌घाटन करता है कि प्रत्येक व्यक्ति की, चाहे वह कितना ही महान् हो, सीमाएँ होती हैं। आचार्य शुक्ल के जो साहित्य-संस्कार भारतेंदु युगीन लेखकों से लेकर द्विवेदी युगीन लेखकों तक के संसर्ग में रह कर बने थे वे अपने आरंभिक युग के विचार से व्यापक और उदार थे, पर उनका नवीनतम काव्य प्रवृत्तियों से एक हद तक ही समझौता हो सकता था। आलोचकों ने लक्ष्य किया है कि आचार्य शुक्ल का मर्यादावाद, नैतिक आग्रह और उनकी वैयक्तिक रुचियाँ तथा संस्कार छायावादी काव्य के मूल्यांकन में उनके लिए बाधक बने।

इस समय के अन्य प्रमुख आलोचक बाबू श्यामसुंदर दास हैं जिन्होंने 'साहित्यालोचन' के अतिरिक्त (डा० बड़थ्वाल के साथ) तुलसीदास पर एक आलोचना पुस्तक लिखी, 'रूपक रहस्य' में प्राचीन नाट्य सिद्धांतों का विवेचन किया और हिंदी साहित्य का इतिहास लिखा। ऐतिहासिक दृष्टि से 'साहित्यालोचन' का महत्त्व इसलिए है कि पूर्वी और पश्चिमी साहित्य सिद्धांतों का इस पुस्तक के द्वारा हिंदी-पाठकोंको पहले पहल विस्तृत परिचय मिला। इसी समय श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी का 'विश्वसाहित्य' और 'हिंदी साहित्य विमर्श' भी निकले जिनमें पाश्चात्य साहित्य-सिद्धांतों का परिचय दिया गया और साहित्य के विविध रूपों के बाह्य और आंतरिक पक्ष का नए ढंग से विचार किया गया।

आचार्य शुक्ल के समय में और उनके बाद भी उनकी आलोचना-प्रणाली का अनुगमन करनेवाले अनेक लेखक हुए। इनमें से कई ने शुक्ल जी की वैयक्तिक रुचियों, नैतिकता के आग्रह और जीवन-दर्शन को न्यूनाधिक मात्रा में छोड़ दिया है पर शुक्ल जी की ही तरह उन्होंने अपने युग के अनुकूल किसी नवीन जीवन-दर्शन की उद्भावना नहीं की। यद्यपि शुक्ल जी द्वारा आविष्कृत नई स्थापनाओं को लेकर उनका थोड़ा बहुत विवेचन करने की प्रवृत्ति भी इनमें से अधिकांश लेखकों में नहीं पाई जाती पर भाव या रस विवेचन तथा पूर्व निर्दिष्ट कलात्मक विश्लेषण के मार्ग पर चलनेवाली इनकी शास्त्रीय समीक्षा का साहित्यिक दृष्टि से विशिष्ट महत्त्व अवश्य है।

शुक्ल जी की आलोचना परिपाटी को ग्रहण कर चलनेवाले वर्तमान समीक्षकों में सर्व श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, श्री कृष्णशंकर शुक्ल, रामकृष्ण शुक्ल 'शिलीमुख', चंद्रबली पांडे, श्रीलक्ष्मीनारायण सिंह 'सुधांशु' आदि प्रमुख हैं। श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र मध्यकालीन, विशेषत: रीतिकालीन कविता के विशेषज्ञ और शास्त्र के मर्मज्ञ हैं। इन्होंने 'घनानंद' और 'भूषण' के संबंध में अत्यंत महत्त्व के अनुसंधान किए हैं और घनानंद ग्रंथावली, केशवग्रंथावली, पद्माकर पंचामृत आदि का विद्वत्तापूर्ण संपादन किया है। कवितावली आदि पर इनकी टीकायें भी हैं। 'बिहारी' में इन्होंने कवि की विस्तृत और गंभीर आलोचना प्रस्तुत की है। श्रीकृष्णशंकर शुक्ल ने 'केशव की काव्य-कला' 'कविवर रत्नाकर' और 'आधुनिक हिंदी साहित्य का इतिहास' लिखा है। आलोच्य कवियों की भावात्मक और कलात्मक विशेषताओं का इन्होंने सुंदर उद्घाटन किया है। श्री रामकृष्ण 'शिलीमुख' एक प्रौढ़ समीक्षक हैं। विभिन्न लेखकों, कवियों और साहित्यांगों पर 'शिलीमुख' ने अच्छी विवेचना की है। श्री चंद्रबली पांडे ने 'तसव्वुफ और सूफीमत' नामक प्रसिद्ध ग्रंथ के अतिरिक्त तुलसी आदि कई कवियों और मूलभूत साहित्यिक समस्याओं पर विद्वत्तापूर्ण तथा अनुसंधान-पुष्ट अध्ययन प्रस्तुत किये है। सुधांशु जी की 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' अपने विषय की प्रसिद्ध पुस्तक है। उनकी दूसरी पुस्तक 'जीवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धांत' में सैद्धांतिक प्रतिपादन के साथ ही विभिन्न कवियों पर आलोचनाएँ भी संलग्न हैं। श्रीसूर्यबली सिंह, श्री रामलाल सिंह आदि और भी कई लेखक इसी परिपाटी के भीतर आते हैं।

यहीं उन लेखकों का भी उल्लेख होना चाहिए जो शुक्ल जी के अनुवर्ती हैं और जिन्होंने गद्य के क्षेत्र को अपने लिए चुना है। श्री जगन्नाथ प्रसाद शर्मा, जनार्दनप्रसाद झा 'द्विज' आदि ऐसे ही लेखक हैं। शर्मा जी की तीन पुस्तकें हैं—'हिंदी गद्य शैली का विकास' 'प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन' और 'हिंदी गद्य के युग निर्माता'। पहली रचना अपने विषय की पहली पुस्तक थी। दूसरी महत्त्वपूर्ण पुस्तक में यद्यपि शास्त्रीय दृष्टि से प्रसाद के नाटकों का सांगोपांग और विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत किया गया है पर पाश्चात्य नाट्य सिद्धांत के मूलतत्त्वों की ओर भी लेखक की दृष्टि रही है और उसने दोनों नाट्यादर्शों में एक सीमा तक सामंजस्य स्थापित किया है। तीसरी पुस्तक में विभिन्न गद्य लेखकों का विवेचन है। 'द्विज' जी ने 'प्रेमचंद की उपन्यास कला' पर पहली पुस्तक लिखी है। श्री शिवनारायण लाल का 'हिंदी उपन्यास' अपने विषय की काफी अच्छी और उपयोगी पुस्तक है।

'साहित्य संदेश'—संपादक श्री गुलाबराय भी इसी स्कूल के आलोचक हैं पर विभिन्न विचारकों से संपर्क स्थापित कर इन्होंने अपना दृष्टिकोण अपेक्षाकृत व्यापक बनाया है। 'सिद्धांत और अध्ययन' तथा 'काव्य के रूप' में इन्होंने सैद्धांतिक विवेचन किया है और विविध साहित्य-रूपों का परिचय दिया है तथा 'काव्य विमर्श' आदि कई पुस्तकों में विभिन्न लेखकों और कवियों की व्यावहारिक समीक्षा प्रस्तुत की है।

[३]

स्वच्छंद भावावेग, उन्मुक्त कल्पना और रूढ़ि विद्रोही स्वभाव के कारण छायावादी

काव्य साहित्य के आचार्यों के निकट रोष और असंतोष का कारण बना। उन्होंने छायावादी कवियों की 'उच्छृंखलता', अस्पष्टता और 'विवेकहीनता' की भर्त्सना की।* ऐसे छायावाद-विरोधी वातावरण में श्री नंददुलारे वाजपेयी नए कवियों का पक्ष लेकर आलोचना के क्षेत्र में उतरे। शुक्ल जी ने छायावादी कविता को विदेशी रंग में सराबोर और केवल शैलीगत चमत्कार से परिवेष्टित घोषित किया, वाजपेयी जी ने उसे हिंदी-काव्य का अभिनव उन्मेष,

---

* नवीन सामाजिक परिवेश, साहित्यिक संस्कार तथा स्वच्छंद भावना का आवेग लिए हुए नवयुवक छायावादी कवियों ने जब काव्य-सर्जन का कार्य शुरू किया तो उनके सामने लिखने के अतिरिक्त रुचि निर्माण का भी प्रश्न उपस्थित हुआ क्योंकि काव्य के क्षेत्र में उन्होंने विषय और रूप—विन्यास इन दोनों ही दृष्टियों से विद्रोह किया था अतः पुराने आचार्यों से तथा हिंदी के सामान्य पाठकों से उन्हें सहानुभूति नहीं मिल सकती थी। रूढ़ियों के प्रति तीव्र तिरस्कार-भावना के साथ सौंदर्य, प्रेम और वेदना के इन स्वच्छंद गायकों ने अपनी कृतियों के लिए उपयुक्त रुचि के निर्माण और उनके महत्त्व स्थापन के प्रयत्न में समय समय पर जो विवेचनाएँ प्रस्तुत कीं उन के द्वारा अनजान में ही कवियों द्वारा लिखी एक विशेष प्रकार की नई समीक्षा का निर्माण हो गया जिसे स्वच्छंदतावादी आलोचना के नाम से अभिहित किया जा सकता है। इस दृष्टि से, श्री सुमित्रानंदन पन्त के 'पल्लव' की भूमिका का ऐतिहासिक महत्त्व मानना चाहिए जिसमें पहले पहल छायावादी कविता की कलात्मक बारीकियों का बड़ा ही मार्मिक उद्‌घाटन हुआ है। निराला के निबंधों और 'रवींद्र कविता कानन' ने भी नई कविता के आत्मपक्ष और बाह्यपक्ष के स्पष्टीकरण में सहायता दी। प्रसाद और महादेवी के गंभीर निबंधों में आधुनिक काव्य के दार्शनिक और भावात्मक सौंदर्य का विवेचन हुआ है। रामकुमार वर्मा ने भी छायावाद की विशेषताओं को प्रकाशित करने का प्रयत्न किया। आगे चलकर पंत और महादेवी ने प्रगतिवादी काव्य धारा के संबंध में भी अपने सामंजस्यमूलक विचार प्रस्तुत किये हैं। 'दिनकर' ने साहित्य और समाज के अनेकरूपात्मक संबंधों का विश्लेषण करते हुए विविध साहित्यिक समस्याओं पर विचार किया है। और भी कुछ कवियों ने इस प्रकार के आलोचनात्मक मंतव्य प्रकट किये हैं। उल्लिखित सभी कवियों के समीक्षात्मक निबंधों के संकलन प्राप्य हैं। छायावाद काल के बाद प्रगतिवाद और प्रयोगवाद का जमाना आया तब प्रयोगवाद के पुरस्कर्ता कवियों ने भी अपनी कविताओं के भाव और रचना-वैशिष्ट्य का परिचय दिया। 'तारसप्तक' और 'दूसरा सप्तक' में संकलित कवियों के वक्तव्य और भूमिका के अतिरिक्त पत्र पत्रिकाओं में भी इनके द्वारा प्रयोगवादी काव्य संबंधी लेख छपे हैं। प्रगतिवादी धारा में भी कुछ कवियों ने इस प्रकार के प्रयत्न किये।

पूर्व युग में हरिऔध और मैथिलीशरण गुप्त ने भी इस प्रकार के विवेचन प्रस्तुत किये। पर छायावादी और परवर्ती कवियों के विश्लेषण और विचार नए ढंग के हैं और आलोचना के क्षेत्र में एक नए वर्ग की स्थापना करते हैं। ये विवेचन उक्त काव्य धाराओं की विशेषताओं को समझने के लिए उपर्याप्त पयोगी माने जाएँगे।

नई सांस्कृतिक जागर्ति का सूचक और युगानुकूल काव्य-संस्कार से युक्त बतलाया। छायावाद के सूत्रपातकर्ता पंत, प्रसाद और निराला के काव्य-सौंदर्य का अपने लेखों में उन्होंने उद्घाटन भी किया। इस प्रकार प्रबल नैतिक आग्रह और बाह्य उपचारों से दबी काव्य-चेतना को मुक्त करके तथा नवीन साहित्यिक उत्थान में सतर्कतापूर्वक योग देकर उन्होंने ऐतिहासिक महत्त्व का कार्य किया।

वाजपेयी जीने हिंदी समीक्षा को पूर्वापेक्षा अधिक उदार और व्यापक दृष्टि दी तथा स्थूल बाह्योपचार और नैतिक आग्रह पर बल न देकर काव्य के अंतरंग सौंदर्य को उद्घाटित करने का प्रयत्न किया। काव्य की भाव-चेतना और सौंदर्य-सत्ता का नए ढंग से इन्होंने सूक्ष्म विवेचन तो किया पर इनकी समीक्षा इन्हीं बातों तक सीमित न रही। वह आरंभ से ही मूलतः व्यापक आधारों को लेकर चली थी। रत्नाकर, मैथिलीशरण जी तथा अन्य परवर्ती लेखकों पर लिखी इनकी अनेक समीक्षाएँ इसका प्रमाण हैं। उन्होंने अपने काव्यालोचन के त्रिकोण की तीन रेखाओं को इस प्रकार निर्दिष्ट किया है—१. परिस्थितियों का परिचय, अर्थात् आलोच्य वस्तु के देश काल, परिस्थितियों, सामयिक समस्याओं और विचारणाओं का अध्ययन, २. शैलियाँ, वाद और जीवन-दृष्टि, ३. काव्य-संवेदना। काव्य संवेदना के विश्लेषण को समीक्षा के लिए अपेक्षाकृत अधिक महत्त्व का बतला कर वाजपेयी जी ने साहित्य की अपनी विशिष्ट सत्ता को स्पष्टतः स्वीकार किया है पर उनके अनेक समीक्षात्मक निबंधों में आवश्यकतानुसार इन तीन बातों में से किसी एक पर अधिक बल रहता है इसलिए उनकी सब समीक्षाओं को देखे बिना उनकी समीक्षापद्धति का रूप स्पष्ट नहीं हो सकता। सब समीक्षाओं को दृष्टि में न रखने से ही कभी कभी किसी को यह भ्रम हो जाता है कि वे कलावादी या सौंदर्यवादी हैं। यह बात ध्यान देने की है कि उन्होंने किसी रचनाकार पर तो समग्र रूप से विचार किया है, किसी पर शुद्ध साहित्यिक दृष्टि से और किसी पर सामाजिक दृष्टि से। इससे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि जिन रचनाओं में सामाजिकता और कलात्मकता का तादात्म्य नहीं हो सका है और किसी एक पक्ष की अति हो गई है उस पर वाजपेयी जी ने दूसरे पक्ष से विचार करके संतुलित दृष्टिकोण का आग्रह किया है। जयशंकर प्रसाद के संपूर्ण साहित्य का वाजपेयी जी ने अत्यंत मार्मिक, मौलिक और विस्तृत विवेचन किया है। इधर सूरदास पर भी इनकी महत्त्वपूर्ण समीक्षा प्रकाशित हुई है। 'हिंदी साहित्य' बीसवीं सदी' और 'आधुनिक साहित्य' में आधुनिक साहित्य और साहित्यकारों आदि के संबंध में लिखी गई स्वतंत्र उद्भावनाओं से युक्त महत्त्वपूर्ण समीक्षाएँ हैं।

श्री शांतिप्रिय द्विवेदी ने छायावादी काव्य के भाव-सौंदर्य को भाव-द्रुत शैली में ही सहृदयतापूर्वक प्रदर्शित किया है। ये हिंदी के प्रमुख प्रभाववादी भावुक आलोचक हैं। आधुनिक साहित्य और समस्याओं पर इनके विचार 'कवि और काव्य' 'संचारिणी' साहित्यिकी' 'सामयिकी' तथा 'युग और साहित्य नामक पुस्तकों में देखने को मिल सकते हैं।

लोकचेतना और संस्कृति के इतिहास के अध्ययन से प्राप्त आलोक में हिंदी साहित्य की प्रगति का निरीक्षण करने का कार्य श्री हजारी प्रसाद द्विवेदी ने किया। श्री हजारी

प्रसाद द्विवेदी की उदार मानवतावादी दृष्टि और ऐतिहासिक चेतना उन्हें हिंदी की समीक्षा में एक नया अध्याय जोड़ने के उपक्रम में प्रयत्नशील रसग्राही विद्वान के रूप में उपस्थित करती है। उन्होंने अविच्छिन्न भारतीय चिंताधारा का परिचय देते हुए हिंदी साहित्य को उसके स्वाभाविक विकास के रूप में देखा फलतः उनकी दृष्टि पूर्वग्रहमुक्त होकर साहित्य की प्रवृत्तियों और उनकी मूलप्रेरक सांस्कृतिक और सामाजिक शक्तियों के अन्वेषण में संलग्न हुई। द्विवेदी जी साहित्य का उद्देश्य मनुष्य को महान् बनाना मानते हैं और साहित्य की निर्माणात्मक शक्ति को स्रष्टा की समकालीन लोकचेतना और सांस्कृतिक परिवेश के बीच से ढूँढ़ निकालते हैं। वर्त्तमान साहित्य के समीक्षण और मूल्यविवेचन में उनका सबसे बड़ा सहायक मानवतावादी दृष्टिकोण है जो स्वयं उदात्त मानवीय आदर्शों पर आधारित है। इन्होंने हिंदी साहित्य के विभिन्न युगों (विशेषतः आदिकालीन और पूर्वमध्यकालीन) की सामग्री का आकलन और परीक्षण अपने नए आदर्शों के अनुसार किया है। द्विवेदी जी आधुनिक युग के एक विशिष्ट चिंतक और अन्वेषक-आलोचक हैं। 'हिंदी साहित्य की भूमिका' 'हिंदी साहित्य का आदि काल' 'कबीर' और 'नाथ संप्रदाय' तथा 'साहित्य का मर्म' आदि इनके प्रसिद्ध ग्रंथ हैं। 'साहित्य का साथी' में साहित्य का विवेचन और परिचय है। साहित्यिक तथ्यान्वेषण और विगत युगों की साहित्यिक प्रवृत्तियों के निरूपण की दृष्टि से द्विवेदी जी की आलोचनाएँ अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं।

[४]

शुक्लोत्तर काल के द्वितीय उत्थान में समीक्षा का अनेकमुखी विकास हुआ है। बदलती हुई सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों तथा नए ज्ञान-विज्ञान से हमारे बढ़ते हुए परिचय ने लेखकों को साहित्यिक समस्याओं पर विभिन्न दृष्टियों से विचार करने के लिए उद्यत किया। आधुनिक आलोचना पर फ्रायड और मार्क्स का प्रभाव तो स्पष्ट रूप से लक्षित होता है पर अन्य विचारकों ने भी लेखकों को समय-समय पर प्रभावित किया है। विभिन्न प्रकार के आदर्शों से परिचालित जो विशिष्ट नए आलोचक दिखाई पड़े उनमें सर्वप्रथम उल्लेख्य सर्वश्री नगेंद्र, अज्ञेय, शिवदान सिंह चौहान, रामविलास शर्मा और देवराज हैं।

आधुनिक हिंदी-साहित्य और आलोचना-प्रणाली पर किसी न किसी रूप में फ्रायड का प्रभाव अवश्य पड़ा है। फ्रायड के अनुसार मनुष्य का व्यक्तित्व अचेतन और चेतन मन से मिलकर बना है। अचेतन मन अधिक विस्तृत और प्रायः चेतन मन का जन्मदाता होने के कारण सर्वाधिक महत्त्व का है। इस अचेतन मन की छिपी हुई वृत्तियों को ढूँढ़ निकालना मनोविश्लेषण शास्त्र का आधारभूत कर्त्तव्य है। अचेतन मन में छिपी घोर स्वार्थमयी आदिम वृत्तियाँ (जिनमें काम-वृत्ति प्रमुख और सब के मूल में स्थित है) अपना परितोष चाहती हैं। लेकिन सामाजिक और नैतिक मर्यादा का ध्यान रखने वाला चेतन मन इन्हें प्रकाश में आने से रोक देता है। अचेतन मन में बंदिनी पड़ी हुई ये अपरितुष्ट वृत्तियाँ तरह-तरह की 'ग्रंथियों' या 'कुंठाओं' का सर्जन करती हैं। जो थोड़ी वृत्तियाँ प्रकाश में आने पाती हैं उनको रूप बदल कर, अच्छे संस्कृत ढंग से (उदात्तीकृत होकर) आना पड़ता है। इन्हीं उदात्तीकृत वृत्तियों

का काव्य या अन्य कलाओं में स्पष्ट प्रदर्शन रहता है। जो वृत्तियाँ या वासनाएँ अपरितुष्ट रह जाती हैं उनमें से कुछ की अभावपूर्ति स्वप्न या कविता में होती है, जब कि हमारा चेतन मन जाग्रत नहीं रहता। इसलिए स्वप्न और काव्य की चित्र-कल्पना में मूलतः कोई अंतर नहीं। फ्रायड ने आगे चल कर यह भी प्रतिपादित किया कि मनुष्य के जो महत्तम कार्य हैं वे चेतन मन के प्रतिबंध के कारण अतृप्त रह गई वासनाओं की अभावपूर्ति के द्वारा संभव हुए हैं। अतः काव्य आदि को जीवन की कठिनाइयों से थोड़ी देर के लिए पलायन का ही एक रूप समझना चाहिए। फ्रायड के शिष्य एडलर ने हीनता की भावना को प्रमुखता दी है। उसके अनुसार प्रत्येक मनुष्य इस दुनिया में दीन हीन और परावलंबी व्यक्ति के रूप में जन्म लेता है जिससे उसके मन में हीनता की भावना पैदा हो जाती है। इस भावना से प्रेरित होकर वह अपने अभावों की क्षतिपूर्ति नाना रूपों में करता रहता है। मनोविश्लेषण शास्त्र के एक अन्य विचारक युंग ने जीवनेच्छा को प्रमुखता दी है। इस विचारधारा का सभी देशों के साहित्य पर किसी न किसी रूप में व्यापक प्रभाव पड़ा है। अज्ञेय, इलाचंद्र जोशी और नगेंद्र की आलोचना पर यह प्रभाव अधिक स्पष्ट है।

श्री नगेंद्र पर फ्रायड आदि मनोविश्लेषणशास्त्रियों का प्रभाव तो है पर वे उसे एक सीमा तक ही स्वीकार करते हैं अतः उन्हें फ्रायडवादी कहना उनके महत्त्वपूर्ण साहित्य-विवेचन के प्रति अन्याय होगा। अतृप्त वासना, काम-केंद्रित व्यक्तिगत कुंठाओं से उद्भूत प्रतीकों और आत्म-रक्षण की प्रवृत्ति को उन्होंने कहीं कहीं जो काव्यात्मक सार्थकता प्रदान की है उसने उनकी गहरी रस-संवेदना और उच्चकोटि की विश्लेषण-क्षमता को संकुचित नहीं बनाया है। पूर्वी और पश्चिमी काव्य-सिद्धांतों का उन्होंने गहरा अध्ययन किया है। वे छायावाद के विवेचकों में विशिष्ट स्थान रखते हैं और उन्होंने साहित्यिक समस्याओं पर गंभीर विचार प्रस्तुत किये हैं। रस-सिद्धांत के विषय में मनोवैज्ञानिक आधार पर उन्होंने जो विवेचन किया है और 'साधारणीकरण' के विषय में नवीन स्थापना की है वह विचारोत्तेजक और महत्व की है। देव की कविता और रीतिकालीन काव्य प्रवृत्ति का उन्होंने अत्यंम सूक्ष्म उद्घाटन किया है। उनकी व्यावहारिक आलोचनाएँ आलोच्य वस्तु के सौंदर्योद्घाटन में खूब समर्थ, व्यवस्थित और उच्चकोटि की विश्लेषण शक्ति का परिचय देती हैं। 'रीतिकाव्य की भूमिका', 'देव और उनकी कविता' 'विचार और अनुभूति' 'विचार और विवेचन', 'सुमित्रानंद पंत', 'आधुनिक काव्य की प्रवृत्तियाँ' आदि इनकी प्रसिद्ध पुस्तकें हैं।

श्री अज्ञेय ने थोड़े ही आलोचनात्मक निबंध लिखे हैं पर साहित्य की आधारभूत समस्याओं पर विचार करनेवाले प्रमुख लेखकों में इनका स्थान है। इनपर एक ओर मनोविश्लेषण शास्त्र का प्रभाव है तो दूसरी ओर इन्होंने टी० एस० इलिअट के समीक्षा सिद्धांतों को आत्मसात कर लिया है। इलिअट 'परंपरावादी' समीक्षक है जिसने परंपरा को एक नया अर्थ दिया है। उसके अनुसार परंपरा का मतलब अंधानुकरण नहीं बल्कि ऐतिहासिक नैरंतर्य और ऐतिहासिक समग्रता का आयाससाध्य सूक्ष्मबोध (सेन्सिबिलिटी) है। उसका दूसरा प्रमुख सिद्धांत 'निर्वैयक्तिकता' का है जिसके अनुसार कवि तटस्थ होकर

ही अपने विचारों और संवेगों को पाठकों के लिए ग्राह्य बनाता है और इस प्रकार कविता व्यक्तित्व की व्यंजना नहीं बल्कि व्यक्तित्व से पलायन है। सैद्धांतिक विवेचन करते समय अज्ञेय मूलतः इन सिद्धांतों को मानकर चलते हैं। साहित्य के आंतरिक सामर्थ्य और सौंदर्य को पहचानने में इनकी दृष्टि अचूक है। ये मुख्यतः कवि और कथाकार हैं पर साहित्य की आधारभूत समस्याओं पर गंभीर चिंतन की प्रवृत्ति के कारण आधुनिक आलोचना के क्षेत्र में भी इनका एक स्थान अवश्य मानना होगा।

प्रगतिवाद के आविर्भाव के साथ ही हिंदी आलोचना में साहित्य और समाज के पारस्परिक संबंधों को लेकर दूसरे ढंग से विचार शुरू हुआ। इस समीक्षाप्रणाली का सूत्रपात श्री शिवदान सिंह चौहान ने किया। इन्होंने मार्क्सवादी दर्शन को माननेवाले समीक्षक काडवेल के आधार पर पहले पहल साहित्य की भौतिकवादी व्याख्या प्रस्तुत की। प्रगतिवादी समीक्षा का दार्शनिक आधार मार्क्सीय 'द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद' है। इसके अनुसार सृष्टि का मूल भौतिक पदार्थ या भूततत्त्व है। यह सृष्टि दो विरोधी तत्त्वों के द्वन्द्व से स्वयं गतिशील होती रहती है। इन दो विरोधी तत्त्वों या शक्तियों में एक ह्रासोन्मुख होती है और दूसरी विकासोन्मुख। इन्हें पहचान कर ह्रासोन्मुख शक्तियों के नाश में सहायता देना और विकासोन्मुख शक्तियों का साथ देना विवेकशील व्यक्ति का कर्त्तव्य है। आज के समाज में पूंजीवाद और समाजवाद ये दो शक्तियाँ हैं जिनमें पहली नाशोन्मुख और दूसरी विकासोन्मुख है। मार्क्स ने अपने इस दर्शन के अनुसार 'इतिहास की आर्थिक व्याख्या' की। उसका कहना था कि जिस प्रकार सृष्टि का मूलभूत तत्त्व या भौतिक पदार्थ है उसी प्रकार समाज के संघटन का मूल आधार उसकी आर्थिक व्यवस्था है। इसी आर्थिक ढाँचे पर मनुष्य की समस्त कार्यप्रणालियाँ (जिनमें साहित्य भी है) आश्रित हैं।

इस दर्शन को अपनाकर प्रगतिवादी आलोचना चली। इसने साहित्य की सामाजिक उपयोगिता और साहित्यकार के सामाजिक दायित्व की समस्या पर विस्तारपूर्वक विचार किया। अधिकतर राजनीतिक मतवाद का आग्रह विशेष होने के कारण यह अनेक अवसरों पर बहुत संकीर्ण भी हो गई और साहित्य के विशिष्ट स्वरूप को भूल गई। इसने साहित्य को सामाजिक विकास के लिए एक अस्त्र के रूप में ग्रहण किया। और इस प्रकार साहित्य की स्थूल सामाजिक उपयोगिता पर बहुत बल दिया। कुछ समीक्षकों ने उदार दृष्टि से भी इन समस्याओं पर विचार किया। मानना होगा कि अपनी संकीर्णताओं के बावजूद इसने साहित्य की सामाजिक चेतना को प्रबल रूप से उद्‌बुद्ध करके एक आवश्यक कार्य किया और मार्क्सवादी दृष्टिकोण को सर्वांश में न माननेवाले साहित्यिकों में भी प्रगतिवादी विचारधारा एक ऐसी सजगता ले आ सकी जिसका परिणाम शुभ हुआ। प्रगतिवादी आलोचना ने पिछले दिनों में हिंदी साहित्य को व्यापक रूप से प्रभावित किया है।

प्रगतिवादी समीक्षकों में सर्वश्री शिवदान सिंह चौहान, रामविलास शर्मा, प्रकाशचंद्र गुप्त और अमृतराय आदि प्रसिद्ध हैं। चौहान का दृष्टिकोण अपेक्षाकृत अधिक उदार रहा है। इन्होंने साहित्यिक समस्याओं पर विचार करते हुए स्थूल सैद्धांतिक आरोपों का तीव्र विरोध किया और साहित्य की मर्यादा को निभाते हुए उसके समाजशास्त्रीय विवेचन का आग्रह किया। 'प्रगतिवाद' और 'साहित्य की परख' इनके समीक्षात्मक निबंधों के संग्रह हैं।

अन्य विशिष्ट प्रगतिवादी आलोचक श्री रामविलास शर्मा हैं जो अपनी पैनी और व्यंगगर्भ शैली में जोश के साथ अपना मतवादी आग्रह प्रकट करते हैं। श्री शर्मा ऐसे क्षमता-संपन्न लेखक को उनको राजनीतिक मान्यता साहित्य की अपनी विशेषताओं का विश्लेषण करने का उचित अवसर नहीं देती यह एक दुःखद बात हैं। 'भारतेंदु युग' 'कवि निराला' और 'प्रेमचंद और उनका युग' इनकी विशिष्ट पुस्तकें हैं जिनमें आलोच्य वस्तु का मार्क्सवादी दृष्टिकोण से गंभीर अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। 'प्रगति और परंपरा' तथा 'संस्कृति और साहित्य' इनके समीक्षात्मक निबंधों के संग्रह हैं। श्री प्रकाशचंद्र गुप्त भी एक जागरूक प्रगतिवादी आलोचक हैं। श्री अमृतराय की पुस्तक का नाम 'नई समीक्षा' है।

श्री देवराज गंभीर चिंतन करनेवाले अपने ढंग के अकेले समीक्षक हैं जिनकी कुछ उपपत्तियाँ चौंकाने वाली होती हैं तो कुछ सचमुच ही महत्त्वपूर्ण और विचारणीय भी। अपने यहाँ के समीक्षकों और रचनाकारों की 'बौद्धिक अप्रौढ़ता' से काफी परेशान रहते हैं। ऐसी हालत में इन्होंने पश्चिमी और पूर्वी साहित्यकारों तथा हिंदी के कवियों को श्रेणीबद्ध करने का उत्तरदायित्व भी उठाया है। यह सच है कि इन्होंने मूल्यानुचिंतन और साहित्य-विवेचन की कुछ महत्त्वपूर्ण समस्याओं को ढंग से उठाया है और 'छायावाद का पतन' तथा 'साहित्य चिंता' नामक पुस्तकों में समीक्षा का व्यापक मानदण्ड स्थिर करने के निमित्त कुछ विचारोत्तेजक सामग्री प्रस्तुत की है।

इनके अतिरिक्त विभिन्न विचारों वाले वर्तमान आलोचकों में सर्वश्री नलिन विलोचन शर्मा, विनयमोहन शर्मा, शिवनाथ, जानकीवल्लभ शास्त्री, कन्हैयालाल सहल, श्रीकृष्णलाल, केसरीनारायण शुक्ल, सत्येंद्र, प्रभाकर माचवे, विश्वंभर 'मानव' आदि प्रसिद्ध हैं। इनकी महत्त्वपूर्ण समीक्षात्मक कृतियों से आधुनिक आलोचना-साहित्य भरा-पुरा है। श्री रामनाथ सुमन की 'कवि प्रसाद की काव्य साधना' प्रसाद पर लिखी गई अपने ढंग की पहली पुस्तक है। श्री शंभूनाथ सिंह ने अपने सारगर्भ ग्रंथ 'छायावाद युग' में सामाजिक, मनो- वैज्ञानिक और कला-सौष्ठव की दृष्टि से पहली बार छायावाद का सांगोपांग विशद विवेचन किया है। प्रगतिवादी सिद्धान्तों की विरोधी आलोचना श्री धर्मवीर भारती ने 'प्रगतिवाद—एक समीक्षा' में प्रस्तुत की है। श्री बच्चनसिंह ने कौटुंबिक और सामाजिक परिस्थितियों के बीच में रखकर 'क्रांतिकारी कवि निराला' की काव्य-प्रतिभा का विवेचन किया है। श्री यशदेव ने सुमित्रानंदन पंत के जीवनादर्श का गंभीर विवेचन करते हुए उनके काव्य का अपने ढंग से नया मूल्यांकन किया है। मन्मथनाथ गुप्त, हंसराज रहबर और इंद्रनाथ मदान ने प्रेमचंद की विशेषताओं का अपने अपने ढंग से अच्छा उद्घाटन किया है। तुलसी, सूर, मीरा, कबीर आदि तथा आधुनिक लेखकों और कवियों पर कई आलोचकों ने पुस्तक रूप में अपने विवेचन प्रस्तुत किये हैं। कुल मिलाकर इधर हिंदी आलोचना का इतना अधिक प्रसार हुआ है और इतने लेखक सामने आए हैं कि यहाँ उन सब का नाम गिनाना भी कठिन होगा।

उपाधि-निरपेक्ष और उपाधि-सापेक्ष खोज-संबंधी अनेक ग्रंथ इधर प्रकाशित हुए हैं पर समीक्षा की दृष्टि से इनमें से कुछ का ही महत्त्व है। ऐसी पुस्तकों में इधर हाल में प्रकाशित श्री परशुराम चतुर्वेदी की 'उत्तरी भारत की संत परंपरा' का विशेष महत्त्व है।

हिंदी में नए ढंग से अनुसंधान कार्य डा० पीतांबर दत्त बड़थ्वाल से आरंभ होता है जिन्होंने निर्गुण संप्रदाय के काव्य पर अपना महत्त्वपूर्ण अध्ययन प्रस्तुत किया।

हमारे आलोच्य काल में शास्त्र चर्चा बराबर होती आई है। छंद अलंकार और रस सिद्धांत का परिचय देनेवाली अनेक पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। सर्वश्री जगन्नाथ प्रसाद 'भानु' मिश्रबंधु, लाला भगवानदीन, अर्जुनदास केडिया, गुलाबराय, कन्हैयालाल पोद्दार, रमाशंकर शुक्ल रसाल, हरिशंकर शर्मा आदि इस प्रकार का कार्य करने वाले प्रमुख लेखक हैं। अपने 'काव्यलोक' और 'काव्य-दर्पण में श्री रामदहिन मिश्र ने भारतीय आलोचना सिद्धांतों का विशद विवेचन किया है। श्री बलदेव उपाध्याय ने दो भागों में 'भारतीय साहित्य-शास्त्र' का सम्यक परिचय दिया है। अपने 'समीक्षादर्शन' में श्री रामलालसिंह ने भी संस्कृत के आलोचना सिद्धांतों का परिचय प्रस्तुत किया है।

अंगरेजी समीक्षा-शास्त्र का परिचय देनेवाले ग्रंथ भी इधर प्रकाशित हुए हैं। देवराज उपाध्याय का 'रोमांटिक शास्त्र', एस० पी० खत्री का 'आलोचना—इतिहास तथा सिद्धांत' तथा 'नाटक की परख' और लीलाधर गुप्त का 'पाश्चात्य साहित्यालोचन के सिद्धांत' ऐसे ग्रंथ हैं।

—विजयशंकर मल्ल

काव्य प्रवृत्तियों का विवेचन

भारतेंदु-युग—(प्रथम उत्थान) नागरीप्रचारिणी सभा की स्थापना जिस समय हुई, उस समय हिंदी साहित्य के क्षेत्र में भारतेंदु हरिश्चंद्र का प्रभाव चतुर्दिक् व्याप्त था। यद्यपि भारतेंदु अस्त हो चुका था तथापि उस मंडल के साहित्यकार और कवि, उस इंदु के आलोक को विकीर्ण कर रहे थे, इसी कारण हिंदी साहित्य के आधुनिक लेखक उस समय को भारतेंदु-युग का अंश समझते हैं। उस समय की काव्य-प्रवृत्ति का ठीक-ठीक परिचय प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि भारतेंदु-कालीन साहित्य-सर्जना के स्वरूप का ज्ञान हो। भारतेंदु-युग का विकास कैसी परिस्थितियों के बीच हुआ, किन प्रेरणाओं से अनुप्राणित हो कर अग्रसर होता रहा और किन-किन प्रवृत्तियों का उद्भव और संगम उसमें होता रहा—इसकी संक्षिप्त रूपरेखा अंकित करना यहाँ अनावश्यक न होगा।

युग का परिचय—यद्यपि भारतेंदु का जन्म सन् १८५० ई० में हो गया था, तथापि उनके साहित्यिक जीवन का आरंभ सन् १८६५ ई० के आसपास हुआ। और इसी प्रकार सन् १८८५ ई० के लगभग उनका निधन हो जाने पर भी भारतेंदु-मंडल के कलाकार उसी साहित्यिक चेतना के आलोक में लगभग १९०० ई० तक हिंदी साहित्य के क्षेत्र में अभिनव पथका निर्माण करते रहे। 'सरस्वती' के प्रकाशन और आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के आगमन के साथ-साथ, हिंदी-साहित्य की धारा एक नई मोड़ लेती है। वहाँ से एक नया युग प्रारंभ होता है, जिसकी चर्चा आगे की जायगी।

पूर्वावस्था—भारतेंदु-युग के पूर्व हिंदी कविता में रीतिकालीन प्रवृत्तियों का साम्राज्य था। अप्रौढ़ लक्षण-ग्रंथों की रचना के अप्रौढ़ लक्षणोंका उदाहरण देने के लिए काव्यकी रचना अधिक होती थी, कवि-हृदय की अनुभूति-आकुलता के कारण कम। संयोग और वियोग—द्विविध शृंगार रस की उदाहरणात्मक परंपरा-बद्ध काव्यरचना में कवित्व-शक्ति का अधिकतः अपव्यय किया जाता था। अन्य रसों की विवेचना नगण्य थी, शृंगारमात्र का सांगोपांग विवेचन होता था। नायिकाभेद, नखशिख, नायिका के हाव-भाव, उनकी विलास-चेष्टा आदि का वर्णन बड़े मनोयोग से किया जाता था। राधा-कृष्ण को भी माध्यम के रूप में लेकर शृंगार की अश्लीलतम चेष्टाएँ कह दी जाती थीं। उपमानों और उपमेयों के रूढ़िगत प्रयोगों की योजना से चमत्कारिक अलंकार-योजना शोभाहीन होती जा रही थी। भाषा का बंधन, छंदों का बंधन, प्रवृत्तियों का बंधन, काव्य के सुकुमार कलेवर को जकड़ता जा रहा था।

इन बंधनों के साथ-साथ कवियो का संसर्ग अधिकतः आश्रयदाता राजाओं और उनकी राजसभा से ही रहा। अतः उनकी दृष्टि जीवन की अनुभूतियों से दूर पड़ गई थी। जन-सामान्य की वेदना और पीड़ा, प्रजाका प्रेम और शोक, लोक की वीरता और विभीषिका

की पुकार कदाचित् उनकी भाववीणा के तारों को मुखरित नहीं कर पाते थे। बंधनों से चतुर्दिक् ग्रस्त कविता, रीति परंपरा की कारामें बंदिनी होकर शक्तिहीन हो रही थी। पर इसका उत्तरदायित्व केवल कवियों पर ही नहीं था। उक्त परंपरा के निर्माण में देश की परिस्थिति का सब से प्रमुख प्रभाव था। राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों ने देश में जिस अकर्मण्यता, आलस्य, विलासप्रियता और सुखोपासना की सृष्टि कर दी थी, उससे देश, समाज और संस्कृति के सभी क्षेत्र प्रभावित हो गए थे। साहित्यिक जीवन और साहित्यिक प्रेरणा भी उन्हीं परिस्थितियों से बहुत-कुछ प्रभावित थी।

परिवर्त्तन का आगमन—किंतु देश के जीवन-क्रम में परिवर्त्तन आया। मुसलमानों का साम्राज्य समाप्त हुआ। मराठों और सिक्खों की शक्ति पर अंग्रेजी ईस्ट इंडिया कम्पनी ने विजय प्राप्त की। पश्चिम के ज्ञान-विज्ञान, नीति—आचार एवं राष्ट्रीयता तथा जन-स्वातंत्र्य से भारतीयों का संपर्क बढ़ा। साथ ही भारतीय समाज की अनेकानेक कुरीतियों, अन्ध-परंपराओं की आलोचना होने लगी। विदेशियों द्वारा भारत के आर्थिक उद्योग-व्यवसायका, हस्त-कौशल और कुटीर-उद्योग का वैज्ञानिक एवं यान्त्रिक साधनों से विनाश होने लगा। भारत की संपत्ति का शोषण होने लगा और भारत का बहुसंख्यक वर्ग दरिद्रता, उत्पीड़न शोषण और विदलन के भार से चूर्ण-विचूर्ण होने लगा।

फलतः भारत में सांस्कृतिक और राष्ट्रीय चेतना के अंकुर पनपने लगे। स्वातंत्र्य और व्यक्तिगत अधिकारों की प्राप्ति के लिए भारत ने विद्रोह किया। सन् १८५७ ई० में विद्रोहाग्नि भड़क उठी। पर भारत उस युद्ध में असफल हुआ, अपनी ही दुर्बलताओं के कारण। और उसके विद्रोह-दमन के नाम पर शस्त्र-बल के द्वारा भारत की राष्ट्रीय चेतना का निर्मम दलन किया गया। साथ ही कंपनी के हाथ से शासन-सत्ता ब्रिटिश पार्लियामेंट ने अपने हाथों में ले ली।

इस घोर दमन की विभीषिका से भारत की जगी हुई राष्ट्रीय चेतना लगभग तीस वर्षों के लिए पुनः सो गई और उसका पुनर्जागरण १८८५ में कांग्रेस की स्थापना के साथ हुआ। एक ओर तो राष्ट्रीयता का भाव कुचल दिया गया, दूसरी ओर महारानी विक्टोरिया की ओर से धार्मिक निरपेक्षता, शिक्षण-व्यवस्था, न्याय-स्थापना एवं देश को उन्नत बनाने का पूर्ण आश्वासन दिया गया। अंग्रेजी शिक्षा का प्रसार होने लगा।

इन परिस्थितियों के बीच राष्ट्रीयता के भाव राजनीतिक क्षेत्र में निष्क्रिय अवश्य हो गए थे, पर सामाजिक जीवन के क्षेत्रों में देश-प्रेम बहुमुखी धारा के रूप में बहने लगा। इसके परिणामस्वरूप विचारशील भारतीयों का ध्यान, अपने देश की दुर्दशा, समाज की दुर्बलताएँ, मनोवृत्ति की अनुदारता, रूढ़ियों का अंधानुसरण, जाति-उपजाति की अनन्तता और धार्मिक कट्टरता की ओर आकृष्ट हुआ। समाज-सुधार का आंदोलन राजा राममोहन-राय, स्वामी दयानंद आदि के द्वारा पहले से ही चल रहा था। भारतेंदु—युग, तत्कालीन युग-ध्वनियों से प्रतिध्वनित होने लगा।

वह काल साहित्यिक दृष्टि से संक्रांति-काल था। पुराने बंधनों को तोड़-फोड़कर, पुरानी-रूढ़ियों के संकीर्ण कक्ष से निकल कर स्वस्थ और व्यापक क्षेत्र की ओर साहित्य-

चेतना अग्रसर हुई। बुद्धिसंगत परिवर्तनों की ओर बढ़ना, आत्म-स्वरूप को पहचानते हुए अपने अतीत महत्व और गौरव के अनुकूल बनने की चेष्टा करना, पश्चिम से आई हुई युगानुरूप विचारधारा से परिचित होना और अपने देश के उत्थान में उसका प्रयोग करना तथा रूढ़ि परंपराओं का अन्धानुसरण त्याग कर तर्क-संगत उदारवृत्ति को अपनाना—ये थीं उस समय की कुछ प्रमुख सामाजिक चेतनाएँ, जो भारतेंदु-युग के साहित्य में प्रतिबिंबित दिखाई पड़ती हैं। भारतेंदु और उनके मंडल के साहित्यकारोंने देश-जागरण के इस युग में साहित्यिक चेतना को भी प्रबुद्ध करने का प्रयत्न प्रारंभ किया। भारतेंदु हरिश्चंद्र के नेतृत्व में इस नवयुग के प्रवर्त्तन का यज्ञ साहित्य-माध्यम से प्रारंभ हुआ।

वे युगद्रष्टा और युगस्रष्टा दोनों थे। अतः उन्होंने देखा कि साहित्य का विकास नूतन युग के संवादी स्वर में होना चाहिए, तभी अभिनव साहित्य-चेतना द्वारा युग का प्रतिनिधित्व हो सकता है। उन्होंने अनुभव किया कि साहित्य-चिंतन और साहित्य-निर्माण के क्षेत्र के लिए यह आवश्यक हो गया है कि वह नवयुग की चेतना के साथ-साथ चले। उसमें राष्ट्र के नवादर्शों की उन्नति के नवीन चित्रों की आकांक्षा मुखरित हो, उसमें जन-जीवन की आशा-निराशा, भय-उत्साह आदि का स्वर हो। अतः काव्य की रीतिकालीन राजनीष्ठित भावना को उन्होंने लोक-निष्ठ बनाना प्रारंभ किया। संपन्न सामंत वर्ग के प्रासाद से बाहर आकर काव्य-सरिता जनभूमि पर बहने लगी। उन्होंने गद्य की भाषा का परिष्कार करते हुए उसे साहित्यिक और व्यवस्थित बनाने के साथ-साथ काव्य की भाषा—ब्रजभाषा को भी परिष्कृत किया।

भारतेंदु-युग का कृतित्व—पद्य की ब्रजभाषा में ऐसे बहुत से प्राचीन शब्द चल रहे थे जो लोक-व्यवहार में विलुप्त हो चुके थे, केवल परंपरागत होने के कारण प्रयुक्त हो रहे थे। अनेक प्राकृत और अपभ्रंश के पुराने शब्द भी धड़ल्ले के साथ कवि-प्रयोग में चल रहे थे। तोड़-मरोड़कर मनमाने ढंग से भी शब्दों का प्रयोग किया जाता था। इन प्रवृत्तियों के परिणामस्वरूप जिस प्रकार रीतिकालीन भावधारा लोक-भावना की अभिव्यक्ति में असमर्थ हो रही थी, उसी प्रकार काव्य की ब्रजभाषा भी, भारतेन्दु के पूर्व लोक-भाषा से दूर जा पड़ी थी। भारतेंदु ने उसका परिष्कार करते हुए उसे सरल और अधिक जनबोध्य बनाने का प्रयास किया। काव्य-क्षेत्र में उन्होंने ब्रजभाषा को परिष्कृत और सरल तो किया पर अपने आसन से उसे हटाया नहीं। क्योंकि बहिष्कार करने पर बहुत संभव था कि काव्य-सृष्टि पर घोर आघात होता। हो सकता था, काव्य-निर्माण का मार्ग पूर्णतः अवरुद्ध हो जाता। क्योंकि काव्य की भाषा का मँजी-निखरी, अर्थ-बोधक और समर्थ होना आवश्यक होता है। फिर भी प्रयोगरूप में भारतेंदु और उनके मंडल ने खड़ी बोली को भी कभी-कभी काव्य-रचना का माध्यम बनाया। काव्य के वर्ण्य-विषय में गति-शीलता, अग्रगामिता, जागर्त्ति और राष्ट्रचेतना का नवोन्मेष होने पर भी, उस युग की भाषा और उसके छन्द वही रहे। भारतेंदु-युग की साहित्य-प्रवृत्ति या काव्य-प्रवृत्ति में संक्रांतिकालीन समन्वय-भावना स्वाभाविक थी। शिक्षा-प्रसार और तत्कालीन विविध जागर्त्ति-आंदोलनों की प्रेरणा से स्पंदित युग-मर्मज्ञ साहित्यकार के लिए जहाँ एक ओर आगे बढ़ना, अग्रगामी गतिशीलता को अपनाना

आवश्यक था, वहीं परंपरा के प्रवाह से संबंध बनाए रखने के लिए, राष्ट्र की साहित्य-परंपरा से विच्छिन्न न हो जाने के लिए, उसके साथ आंशिक समन्वय स्थापित करना आवश्यक था। वर्ण्य-विषय में व्यापक दृष्टि और युग-चेतना के स्वरों के साथ संवादन बनाए रखने पर भी, भाषा और छन्द एवं अंशतः रीतिकालीन वर्ण्य-वस्तु से बिना नाता तोड़े भी, गतिशील भावनाओं को भारतेंदु-मंडल ने उद्भावित किया।

राष्ट्रीय जागरण की भावना—भारतेंदु और उनके मंडल के कवियों में राष्ट्रीय जागरण की भावना पूर्णतः प्रस्फुटित दिखाई देती है। उनकी कविताओं या पद्यों में राष्ट्रीयता, राष्ट्र के अधिकार, देश की दुर्दशा, उसकी आर्थिक दुरवस्था, उद्योग और व्यवसायों की हीनावस्था, इन सबके स्वर स्पष्ट सुनाई पड़ते हैं। यद्यपि आरंभिक काल में राजभक्ति का राग सबसे अधिक मुखरित हुआ है, तथापि वह सकारण था।

मुसलमानी और मराठी शासन की विषम परिस्थितियों और संघर्षों की चपेट से पिसी और त्रस्त जनता ने नवीन व्यवस्था का स्वागत किया और राजभक्ति में अपनी निष्ठा प्रकट की। शासन द्वारा आत्मोन्नति की आशा से जनता ने हर्ष प्रकट किया। कदाचित् इस राजभक्ति और हर्ष-प्रदर्शन के मूल में विप्लव-दलन की निर्ममता से उद्भूत भय भी था। उस निर्दयता को देखकर आत्म-रक्षा के लिए राजशक्ति के प्रति भक्ति-प्रदर्शन आवश्यक था। भारतेंदु की 'विजयिनी विजय वैजयंती, भारत भिक्षा, विजयवल्लरी' आदि, प्रेमघन की 'भारत बधाई, हार्दिक हर्षादर्श' आदि, अंबिकादत्त व्यास का 'देवपुरुष दृश्य' और राधाकृष्ण दास का 'विजयिनी-विलाप'—इन सभी काव्य-कृतियों में राजभक्ति मुखरित है। ये कवि स्वागत भी करते हैं, आनंद के अवसरों पर हर्ष और दुःख के अवसरों पर शोक भी प्रकट करते हैं। कभी-कभी विक्टोरिया की शक्ति और वैभव के प्रशंसा-गीत भी गाते हैं। देशी-रियासतों के आलस्य और अकर्मण्यता से अत्यंत दुःखी भी देखे जाते हैं।

किंतु इस राजभक्ति और शासन-प्रशंसा के साथ-साथ उनके हृदय में अपने देश की वर्तमान पतनावस्था को देखकर, देश की दरिद्रता और दुर्दशा की अनुभूति से घोर खेद था। इसी कारण समय-समय पर अपनी अतीत गरिमा के गीत गाकर वे दासता-मूर्च्छित जनता के उद्बोधन का प्रयास भी करते दिखाई देते हैं। उनके कोमल अन्तःकरण में यह बात घोर पीड़ा पहुँचाती थी कि जिस देश का अतीत सभी दृष्टियों से गौरवान्वित रहा हो, वह आज पतन की ओर क्षिप्रगति से प्रसन्नतापूर्वक बढ़ता चला जाय। देश का दारिद्रय, देश की दुरवस्था उन्हें पीड़ित कर रही थी। इसी से उनका करुण-हृदय बारंबार देश के धन को विदेश जाते देख, कर के बोझ से असहाय जनता को पिसते देख, अपना असंतोष और मनोव्यथा व्यक्त करता रहता है। इस असंतोष के भीतर ब्रिटिश शासन की साम्राज्य-संचालित पूंजीवादी नीति की परंपरा या कटु आलोचना निहित है। राजसभा में भारत का प्रतिनिधि रहे—यह माँग भी इनकी कविता में मिलती है। दादाभाई नौरोजी के पार्लमेंट-सदस्य चुने जाने पर प्रेमघन जी बधाई देते हैं और उन्हें 'काला' कहने पर शासित की विवशता और शासक के उच्छृंखल अहंभावना का स्वरूप देखकर 'नागरी नीरद' में वे अपना असहाय क्षोभ भी प्रकट करते हैं।

अंग्रेज शासकों की घोषणा केवल एक राजनीतिक चाल थी, इसका अनुभव होने पर, भारतेंदु का असंतोष 'प्रेस एक्ट' और 'आर्म्स एक्ट' की नीति देख कर उग्र हो उठता है। नरम स्वभाव के होने से प्रेमघन में यह असंतोष उत्पन्न होकर भी उग्र नहीं होता। इस असंतोष का उग्रतर रूप दिखाई पड़ता है बालमुकुंद गुप्त की रचनाओं में जो भारतेंदु युग के आरंभिक कवियों की भाँति कोरी राजभक्ति के गीत नहीं गाते। वस्तुतः गुप्त जी का साहित्यिक जीवन भारतेंदु युग के अंतिम वर्षों से प्रारंभ होकर भी मुख्यतः पल्लवित और विकसित होता है द्विवेदी-युग में। इसीलिए उनकी राष्ट्रीय चेतना और देशभक्ति में असंतोष की कटुता अधिक उग्र दिखाई देती है।

आर्थिक क्षेत्र में भी ये कवि देश को स्वावलंबी बनाने के समर्थक हैं। इसी से स्वदेशी वस्तुओं को हेय और विदेशी वस्तुओं को उत्कृष्ट समझनेवालों के प्रति इनकी उक्तियों में व्यंग्य-प्रहार मिलता है। विदेशी-वस्तुओं के व्यवहार से देश की आर्थिक क्षति की ओर ये जागरूक थे और जिस समय कांग्रेस के स्वदेशी-आंदोलन की चर्चा भी नहीं थी, उस समय ये कवि अपने देश की वस्तुओं के व्यवहार का अनुरोध करते पाए जाते हैं (प्रबोधिनी तथा हिंदी की उन्नति)। अपने देश की औद्योगिक उन्नति के हेतु देश के लोगों से विदेश जाकर ज्ञान-विज्ञान, उद्योग-व्यवसाय सीखने का भी अनुरोध करते हैं (हिंदी की उन्नति)। प्रेमघन जी का विश्वास था कि शिल्प-कला की उन्नति के बिना देश की आर्थिक उन्नति नहीं हो सकती (स्वागत)। बिलायत के सामान से पटा हुआ 'हाट' आर्थिक अवनति का उन्हें साक्षी दिखाई देता है (आर्याभिनंदन)।

इस प्रकार की भावनाएँ भारतेंदु, प्रेमघन, प्रतापनारायण मिश्र, राधाकृष्णदास आदि की काव्य-रचनाओं में बिखरी दिखाई देती हैं (नाटक के पद्यों में भी वे मिलती हैं)। वैज्ञानिक प्रणाली से खेती की शिक्षा पर भी प्रेमघन जोर देते हैं। (स्वागत)। बाल-मुकुंद गुप्त भी ओजस्विनी और प्रभावमयी भाषा में किसानों की करुण दुर्दशा और धनिकों की तीव्र भर्त्सना करते हैं, और भारतीय धन का सैनिक-व्यवस्था के लिए अपव्यय होते देख कर क्षोभपूर्ण अभिव्यक्ति करते हैं।

समाज-सुधार की भावना

मुसलमानी शासन काल में हिंदू-समाज जिन कट्टरताओं, अंध-विश्वासों, कुरीतियों और अनुदार परंपराओं का घोर दास हो गया, जाति उपजाति के बहुसंख्यक शाखाओं में विभक्त होकर अपना बल खो रहा था एवं (विशेष रूप से स्त्रियों में भी) जिस भांति देश में अशिक्षा की बदली घिरकर ज्ञान-भास्कर की दीप्ति को ढँकती जा रही थी और इन सब के संमिलित परिणाम स्वरूप हिंदू जाति जिस प्रकार पतन के अंध गर्त्त में गिर रही थी, उसे दूर करने के लिए ब्राह्मसमाज और आर्यसमाज आदि प्रयत्नशील थे। स्वामी राम-कृष्ण, और उनके शिष्य स्वामी विवेकानंद और स्वामी रामतीर्थ के आंदोलन भी अतीत गौरव और वर्त्तमान की दुर्दशा का चित्र खींच कर भारत को जगाने के लिए अपने ढंग का कार्य कर रहे थे। इन सब में प्रबल वेग था आर्यसमाज का, स्वामी दयानंद के आंदोलन का—जो सामाजिक कुरीतियों का क्रांतिकारी विरोध कर रहा था।

आर्यसमाज के इस आंदोलन से समाज-जागरण की जो लहर उठ गई थी, उससे इस युग के कवि प्रभावित ही नहीं हुए वरन् अपनी रचनाओं से उन्होंने जन-जागर्त्ति और सुधार-प्रसार में पूर्ण योग दिया। इस जन-जागरण में अंग्रेजी शिक्षा और अंग्रेजों के संपर्क का भी पर्याप्त प्रभाव रहा। इन कवियों में राधाचरण गोस्वामी आदि जैसे कट्टरपंथी सुधारक भी थे, जिनकी दृष्टि में सुधार का मार्ग था वर्णाश्रम-व्यवस्था का, धर्मानुमोदित कर्ममार्ग का अनुसरण (दे० हरिश्चंद्र चंद्रिका, मोहन चंद्रिका, कला ६, २,)। अंबिकादत्त व्यास (दे०—मन की उमंग—भारत धर्म) और बालमुकुंद गुप्त का (दे०—श्री राम स्तोत्र, विधवा-विवाह, सभ्य बीबी की चीठी आदि में) जात-पाँति के समर्थक और विधवा-विवाह के विरोधी हैं। फिर भी अपने ढंग से ये समाज-सुधार चाहते थे ही—भले ही वह ढंग अव्यावहारिक और प्रतिक्रियावादी रहा हो।

पर स्वयं भारतेंदु बड़े ही दृढ़ सुधारवादी थे। 'भारत दुर्दशा' की कविताओं में हिंदू-समाज के थोथे आडम्बरों और उसकी समाज-घातक त्रुटियों का प्रभावशाली चित्र अंकित हुआ है। शैवशाक्त आदि अनेक संप्रदाय, और उनके वाद-विवाद, जाति-उपजाति के शत-सहस्र भेद-विभेद, छुआ-छूत का अभिशाप, खान-पान संबंधी अनुदारता, बहुविवाह, विधवा-विवाह का अप्रचलन, विदेश यात्रा-निषेध, बहुदेवों और भूत-प्रेतों की पूजा आदि को भारतेंदु भारत की दयनीय दुरवस्था का हेतु बताते हैं। अपनी पत्र-पत्रिकाओं एवं अन्य साहित्यिक कृतियों में स्त्री-शिक्षा पर भारतेंदु जी ने जोर देते हुए अनेकाधिक बार कहा है कि बिना उसके भारत-नारी सच्ची अर्द्धांगिनी नहीं बन सकेगी। स्त्री-सुधार के अभिप्राय से उन्होंने बाला-बोधिनी पत्रिका भी निकाली थी। प्रेमघन जी की भी सुधार भावनाओं का संकेत 'आनंद अरुणोदय' और 'हार्दिक हर्षादर्श' में मिल जायगा। प्रेमघन जी ईसाई-पादरियों के धर्म-प्रचार और परिवर्त्तन के आंदोलन से भी सशंक हैं।

राधाकृष्णदास और प्रतापनारायण मिश्र में भी सुधारोन्मुख दृष्टि यद्यपि दिखाई देती है तथापि उन लोगों में भारतेन्दु की सी क्रांतिशील दृढ़ता एवं अग्रगामी उदारता नहीं है। पर दूसरी ओर आर्यसमाजी कवियों ने 'पोप छंदों' में एवं भारत-दुर्दशा प्रवर्त्तक' में तथा 'शुभचिंतक' में कट्टर आर्य समाजी सिद्धांत के अनुसार रूढ़ि और परंपरा के अन्धानुगामी हिन्दुओं की खिल्ली उड़ाते हुए उनकी तीव्र आलोचना की है।

संस्कृति-प्रेम—सुधार के प्रबल समर्थक होते हुए भी भारतेन्दु और उनका मंडल, जहाँ एक ओर अन्ध-विश्वास का तीव्र विरोधी था वहीं दूसरी ओर पश्चिम के प्रबल संस्कृति-प्रवाह को भी सशंक दृष्टि से देखता था। उन्हें भय था कि कदाचित् अपनी संस्कृति और भारतीय-चेतना को भूल कर भारतीय भीतर बाहर से पूर्णतः पश्चिम के अंधानुगामी न हो जाँय। इसलिए हिंदूपन, भारतीयता, अपनी भाषा, अपना भोजन और वेष, इन्हे अपनाए रहने का वे संदेश सुनाते रहते थे। वे चाहते थे कि हिंदू अपनी अतीत गरिमा को केवल याद ही नहीं रखें वरन् उसके प्रकाश में अपनी सांस्कृतिक मूर्ति को भी आँखों से एक क्षण के लिए भी ओझल न होने दें। ऐसे उद्गार उस मण्डल के सभी कवियों की रचनाओं में यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं।

इस प्रकार निःसंकोच रीति से कहा जा सकता है कि भारतेंदु और उनके मंडल के कवि देश और युग की परिस्थितियों, समस्याओं और त्रुटियों से पूर्णतः परिचित थे। उनकी पद्य-रचनाओं में युग की सर्वतोमुखी संवेदना प्रतिध्वनित हुई है। भारतेंदु-कालीन साहित्य अथवा काव्य-धारा की सबसे प्रमुख विशेषता है उसका सर्वांगीण विकास। इस सर्वांगीणता की परिधि के भीतर जन-जीवन के समस्त प्रश्नों का स्पर्श ही नहीं किया गया है—वरन् समस्याओं के समाधान भी आत्म-विश्वास के साथ व्यक्त किये गये हैं। इसमें जन-जीवन की समस्त मनोभावनाओं की प्रतिध्वनि है, सामाजिक सुधारों की पुकार है, आर्थिक उत्पीड़न की वेदना है, नैतिक आदर्शों का चित्रांकन है, राजनीतिक दासता के प्रति असंतोष हैं, प्राचीन संस्कृति की गरिमा को स्मरण दिलाने की चेष्टा है और मानव को उन्नत बनानेवाली नवीनता को ग्रहण करने का आग्रह है। काव्य में संक्षिप्तरूप से मुकुलित होनेवाली विचारधारा तत्कालीन गद्य-साहित्य में पूर्णतः विकसित हुई है।

उनकी दृष्टि—ऊपर दिए हुए विवरण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि तत्कालीन कवियों की दृष्टि यथार्थ जीवन को समझने में जागरूक ही नहीं रही वरन् पूर्ण निष्ठा और मनोयोग के साथ अपने कर्त्तव्य के पालन में तत्पर रही। फलतः परंपरागत वर्ण्य-विषयों की संकीर्ण कारा से काव्यचेतना को उन्मुक्त कर उक्त युग ने स्वतंत्र और उन्मुक्त दृष्टि दी। काव्यानुभूतियों का, कविचेतना का, जीवन के कठोर सत्यों से जो विच्छेद रीति-कालीन कवियों के युग में हो गया था—उस महात्रुटि को दूर करने का पूर्ण प्रयास इस युग में हुआ। काव्य के विकास में यह युग अतीव गतिशील रहा। काव्य और उसके विषय राज प्रासादों और सभाओं की मनोरंजन-सामग्रीमात्र न रह कर जनजीवन की प्रतिध्वनि हुई। काव्य का वर्ण्य राजसौध की तृप्ति मात्र न रह कर झोपड़ी का कोलाहल हो गया।

प्राचीनधारा—पर इस युग की काव्य-सृष्टि में एक दूसरी धारा भी वेगमयी गति से प्रवहमान थी। उक्त धारा को हम प्राचीन काव्यधारा का अनुसरण कह सकते हैं। भक्ति-कालीन और रीति-युगीन हिंदी काव्य में जो भावनाएँ और शैलियाँ चल रही थीं, उनके आधार को लेकर उत्तम कोटि के काव्य का निर्माण भी इस युग में होता रहा, भक्ति-विषयक और शृंगारी—दोनों भाँति की रचनाएँ होती रहीं।

रामकृष्ण-विषयक भक्तिभाव की रचनाएँ इस मंडल के प्रायः सभी कवि करते रहे। प्रेमाभक्ति की, कृष्ण भक्ति की रचनाएँ 'भारतेंदु-ग्रंथावली' में भरी पड़ी हैं। इन रचनाओं में भारतेंदु की अंतःसाधना के भावमय उद्गार प्रभावशाली ढंग से व्यक्त हुए हैं। 'प्रेमघन ग्रंथावली' में भी भावपूर्ण, भक्तिविह्वल उद्गारों की प्रचुरता है। बालमुकुंद गुप्त का रामस्तोत्र ओजपूर्ण रचना है। इसी प्रकार की प्रवृत्तियाँ प्रायः उस युग के सभी कवियों में दिखाई पड़ती है।

इन भक्ति-काव्यों में कभी-कभी सांसारिक क्षणभंगुरता आदि के (देखिए—भारतेंदु ग्रंथावली-पृ० २९९-३००, राधाकृष्ण ग्रंथावली, पृ० ४०, प्रेमपुष्पावली-वसंत) व्यक्त हुए हैं। इसी प्रकार धार्मिक मत-मतांतरों की संकीर्ण वृत्ति को भी दूर करने का प्रयास इन कवियों में उपलब्ध होता है।

भारतेन्दु-मंडल के बाहर के भी अनेक कवियों ने (बाबा रघुनाथदास, ललित किशोरी एवं रीवाँ-नरेश आदि ने) भक्ति-काव्य के निर्माण की परंपरा को जीवित रखी।

इस भक्ति-धारा के अतिरिक्त रीतिकालीन परंपरा भी उस युग में पूर्ण कलात्मकता के साथ चलती रही। भारतेंदु और उनके मंडल के कवि ने जहाँ एक ओर काव्य में नवयुग प्रवर्त्तन का कार्य किया वहीं दूसरी ओर रीतिकालीन परंपरा के साथ भी अपना संबंध अविच्छिन्न रखा। स्वयं भारतेंदु, प्रतापनारायण मिश्र, प्रेमघन जी, रामकृष्ण वर्मा, अंबिकादत्त व्यास, तथा ठाकुर जगमोहन सिंह आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। नायिका-भेद और अलंकार शास्त्र के ग्रंथों की रचना भी इस युग में होती रही। राजवंश के चरितकाव्य, वीर-रस की कृतियाँ, शृंगार की बहुल काव्य-निर्मिति एवं समस्यापूर्त्ति का प्रवाह भी बहता रहा। कवि-संमेलनों में भी इस प्रकार की काव्य-क्रीडा हुआ करती थी, कवि-संमेलन भी ऐसे-ऐसे हुआ करते थे जो तीन-तीन दिनों तक अखंड रूप से चला करते।

भारतेंदु ने ऐसे कवि-समाजों की स्थापना की थी, जिनमें समस्यापूर्त्ति और सरस शृंगारी कविताओं का पाठ हुआ करता था। कवि-वचन-सुधा में काव्य-रचनाएँ छपा करती थीं। कवित्त, सवैये, दोहे, कुंडलियाँ आदि में शृंगारी अभिव्यक्ति, उक्ति और अलंकार-चमत्कार उन दिनों कवि वर्ग की प्रिय कला थी।

भारतेंदुमंडल के अतिरिक्त भी कुछ कवि—राजा लक्ष्मणसिंह, सरदार, सेवक, ललित किशोरी, लछिराम, नवनीत चौबे आदि इस परंपरा के अच्छे और प्रौढ़ कवि थे। प्राचीन परंपरा के काव्य-निर्माण में इन लोगों का पूर्ण योग रहा। इसके अतिरिक्त ब्रजभाषा में रीति परंपरा के काव्य-निर्माण का ऐसा प्रचलन था कि हिंदी भाषी-प्रदेश के बाहर भी ऐसी रचनाएँ हुआ करती थीं। कश्मीर और कुमाऊँ-गढ़वाल, गुजरात और नागपुर में भी इस परंपरा के कवि थे। इस धारा की परंपरा आगे तक चलती रही और प्रगीत मुक्तकों के युग में आज भी इसकी परंपरा चली आ रही है।

नकछेदी तिवारी, विजयानंद, लाला सीताराम आदि को इसी प्रवाह के अंतर्गत समझना चाहिए। निजामाबाद के बाबा सुमेरसिंह के यहाँ भी कवि-समाज जुटा करता था। हरिऔधजी भी पहले इसी परंपरा के ब्रजभाषा-कवि थे, और उनकी रचनाएँ बड़ी सरस हुआ करती थीं। श्रीधर पाठक भी पहले ब्रजभाषा के एक निपुण कवि थे। इसी धारा में जगन्नाथदास रत्नाकर का आविर्भाव हुआ, जिनकी रचना, रीतिकालीन सर्वश्रेष्ठ कवियों के टक्कर की होती थी। इनकी कविता में भाषा और भाव का गुंफन अपूर्व सौन्दर्य के साथ प्रकट हुआ। छायावाद युग के प्रवर्त्तक जयशंकरप्रसाद जी ने भी आरंभ में ब्रजभाषा की ही रचनाएँ की थीं जिनमें से प्रमुख रचनाओं को खड़ी बोली में रूपांतरित कर दिया। देवी प्रसाद पूर्ण, वियोगी हरि, राजा पंडा आदि भी भक्ति-रीति धारा के ही प्रसाद हैं, जिनकी रचनाओं का महत्व आज स्वीकृत हो चुका है। लाला भगवानदीन और रामचंद्र शुक्ल की रचनाएँ प्रौढ़ होती रहीं। गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' भी बड़ी सरस कविता के कलाकार माने जाते हैं। बस्ती के द्विजेश जी प्राचीन धारा के एक बड़े ही समर्थ कवि थे। इनके अतिरिक्त देशी रजवाड़ों के आश्रय में तथा हिंदी-भाषी प्रांतों में और उसके बाहर

तक भी इस परंपरा के सैकड़ों-हजारों कवियों की काव्य-साधना रीति-भक्ति-काल की परंपरा को जीवित बनाए हैं। भक्ति-विषयक रचना में अवधेश जी को (पं० अयोध्यानाथ जी को) बड़ी सफलता मिली है। उनकी कृतियोंमें भक्ति और देव-विषयक रति के बड़े भावमय और ललित काव्य मिलते हैं। इस परंपरा में बहुत से ऐसे कवि भी हैं जिन्होंने अपनी शैली, अभिव्यक्ति के उपादान, छंद और वर्ण्य-विषय तो पुराने ही ढर्रे पर रखा है पर उनकी भाषा खड़ी बोली है और दूसरी ओर पं० रामचन्द्र शुक्ल के समान कवि भी हुए हैं जिन्होंने माध्यम तो बनाया ब्रजभाषा को, पर वर्ण्य-विषय की दृष्टि से उनका अपना विशेष स्थान है।

काव्य के उपादान—

भाषा, शैली, छंद और अभिव्यक्ति

भारतेंदु-युग में गद्य के क्षेत्र में तो भाषा का परिष्कार महत्वपूर्ण रहा पर पद्य क्षेत्र में काव्य की भाषा मुख्यतः ब्रजभाषा ही बनी रही। जैसा पहले कहा जा चुका है, ब्रजभाषा का स्वरूप अधिक सुसंस्कृत और जनगम्य हो गया। शब्द-शोधन और प्रचलित शब्दों के लोक-प्रयुक्त रूपों का ग्रहण होने से भाषा की लोकप्रियता बढ़ गई। भाषा में सरलता, प्रवाह, सजीवता और प्रभावशीलता का उदय हुआ। भारतेंदु की भाषा और शैली सचमुच ही बड़ी परिष्कृत और संपन्न है। भाषा की इस समर्थता और स्वच्छता का विकास भक्ति-रीति-कालीन परंपरा को लेकर चलनेवाले काव्यों में ही अधिक हुआ है।

भक्ति-भावना और रीतियुगीन मनोवृत्तियों को लेकर जो काव्य रचना हुई उसमें अलंकार, कल्पना, काव्यशास्त्रीय रूढ़िपालन, उपमान-योजना, उपमेय-चित्रण, उक्तिभंगिमा, अभिव्यंजन-वक्रता एवं शब्दार्थ-क्रीड़ा आदि की दृष्टि से भारतेंदु-युग के कवियों ने पुरानी ही परंपरा का अनुगमन किया। उनके लिए अभिव्यक्ति के उपकरणों को ढूँढ़ने की आवश्यकता नहीं रही, प्रचलित एवं परंपरागत शैली के भीतर भाषा शैली का केवल परिष्कार करना था। अतः इसमें भी भारतेंदु ने पथ-प्रदर्शन किया और युग को प्रशंसनीय सफ़लता मिली। पर इसके साथ ही दूसरी ओर नवीनता के भाव को लेकर चलनेवाली कविता में, नूतन वर्ण्य-विषय, परिवर्त्तन, जागरण और सुधारवादी मनोवृत्ति को लेकर चलनेवाली अभिनव काव्यधारा में भी, यद्यपि प्रायः परिष्कृत ब्रजभाषा का प्रयोग किया गया तथापि काव्योचित भावुकता और शैलीगत सरस-प्रभावोत्पादकता की दृष्टि से उन रचनाओं का महत्व अल्प है। भारतेंदु-युगीन इस नवीन काव्यधारा में गद्यात्मक रूक्षता अधिक रही, काव्यात्मक सरसता कम।

पर उस युग के और उस मंडल के उदारदृष्टि कवियों ने, जो गद्य के क्षेत्र में खड़ी बोली का आश्रय लेकर साहित्य, देश और समाज की सेवा में दत्तचित्त थे, काव्य भाषा होनेवाली, खड़ी बोली का महत्त्व समझ लिया था। इसीलिए कभी-कभी खड़ी बोली में भी काव्य-रचना हो जाया करती थी। क्योंकि पत्र-पत्रिकाओं के अध्ययन से जो भाषा जगजीवन का अंग बनती जा रही थी, उसे काव्य में अपनाने की आवश्यकता का अनुभव होने लगा था। अतः कहा जा सकता है कि काव्य के लिए खड़ी भाषा का प्रयोग भारतेंदु

एवं अन्य तत्कालीन कवि कभी-कभी कर दिया करते थे। उर्दू छंदों की अनेक रचनाओं में प्रयुक्त उर्दू भी खड़ी बोली के अधिक समीप है। लावनियों की भाषा भी प्रायः खड़ी बोली है।

भारतेंदु-युग की उदार दृष्टि ही उसकी सबसे बड़ी देन है। जीवन से दूरीभूत काव्य-रचना पुनः भारतेंदु की प्रेरणा से मानव-जीवन तथा उसके देश और समाज के निकट आकर समस्त समस्याओं को देखने और उसके सुधारने की चेष्टा करने लगी।

भारतेंदु-काल इसी कारण काव्य-क्षेत्र में क्रांतिजनक कहा जाता है। इस क्रांति के दो प्रमुख पक्ष हो जाते हैं—

(१) रीतिकालीन संकीर्ण परंपरानुसारी काव्य-क्षेत्र की संकीर्ण सीमाओं से काव्य-कला को ऐसी स्वतंत्रता प्रदान करना जिससे उसके वर्ण्य विषय का क्षेत्र-विस्तार हुआ। इसके फल-स्वरूप काव्य-विषय की गति-व्याप्ति छोटे से छोटे और बड़े से बड़े विषयों तक हो गई। देश, समाज, सुधार, विकास, सभी कुछ सीमा के भीतर आ गए। जनभाव, जीवन की समस्त समस्याएँ, समाज के सभी प्रश्न—इन सबकी ओर कवि देखने का प्रयास करने लगा और सभी भावनाओं और विचारों को उसकी वाणी मुखरित करने लगी। कवि की दृष्टि परंपरामुक्त, अव्यावहारिक और अयथार्थ न रहकर यथार्थवादिनी हो गई। कविता मनोरंजन का साधन मात्र न रहकर जीवनोन्नायक, जनोद्बोधक, समाज-सुधारक और युगद्रष्टा हो गई।

(२) काव्य ने साहित्यकारों को युग और उसकी समस्याओं को सुलझाने के लिए प्रेरित किया। साहित्य ने नवजागरण और समाज-सुधार के आंदोलन में अपने माध्यम से सक्रिय योग दिया। जन जागरण और सुधार-कार्यों के प्रवर्त्तन में उसका महत्वपूर्ण हाथ रहा।

इसके अतिरिक्त साहित्यिक प्रयास ने आत्मचेतना, राष्ट्रीयता और आत्मदुर्दशा का परिचय भी कराया।

अपनी भाषा और संस्कृति के प्रति प्रेम जगाकर, उन्नति और विकास के मूल्य में 'निज भाषा उन्नति' को सर्वप्रेरक शक्ति उद्घोषित कर फारसी-उर्दू या अंग्रेजी को ही सब कुछ माननेवालों को चेतावनी दी गयी। हिंदी के महत्व को संकटावस्था से बचाने और उसको एक दृढ़ आधार-भूमि देने का श्रेय भी इसी युग को है। आज की हिंदी-प्रतिष्ठा का तरु इसी बीज के अंकुर से विकसित हुआ।

उक्त युगीन काव्य-क्रांति के महत्व को मानते हुए भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि भारतेंदुयुगीन काव्य की इस नवीन धारा में भाषाभिव्यंजन-शैली गद्यात्मक हो उठी। उसी काल की भक्ति और शृंगार आदि की रचनाओं की शैली में जो प्रौढ़ता, अभिव्यंजन-चारुता और साहित्यिक सरसता है उसकी यहाँ बड़ी कमी रही। इस धारा की कविता में रूक्षता और गद्यात्मक नीरसता का पर्याप्त मात्रा दिखाई पड़ती है। अभिव्यक्ति-चारुता और भावुकता की कमी के कारण अपनी ओर जनमन को आकृष्ट करने की शक्ति का काव्य में

अभाव रहा। कविता में प्रचारकता और अखबारी अभिव्यक्ति की पुट अधिक रही। इस युग में इस मंडल के प्रायः सभी कवि पत्रकार थे। अतः पत्रकार के विचारात्मक लेख का रूखापन इस युग के काव्य में स्वाभाविक ही रहा। पर इसका यह अर्थ नहीं कि सभी कविताएँ भावहीन रहीं, असमर्थ रहीं। भारतेंदु, प्रेमघन, बालमुकुंद गुप्त आदि की अनेक देशभक्ति-विषयक रचनाएँ बड़ी भावमय और अभिव्यंजन-समर्थ हैं। उनकी अपनी महत्ता है और समाज तथा राष्ट्र के निर्माण में उनका महत्वपूर्ण योग है।

द्विवेदी-युग—(द्वितीय उत्थान)

पहले की पंक्तियों में भारतेंदुयुग की प्रमुख भावनाओं और प्रवृत्तियों की चर्चा हुई है, द्विवेदी-युग में उन्हीं का समुचित और संतुलित विकास हुआ। भारतेंदु-युग को यदि हम जागरण-युग कहें तो द्विवेदी-युग को तैयारी या साधन-संग्रह का युग कह सकते हैं। अनेक शताब्दियों की दासता के कारण भारत की जनता में रूढ़ियों की जड़ता घोर निद्रा के रूप में छा गयी थी। उसकी मोह-निद्रा टूट चुकी थी और भारत अपनी अधोगति देखने एवं उसका दुष्परिणाम समझने लगा था। त्रुटियों की ओर लोक का ध्यान आकृष्ट कर उन्हें दूर करने का प्रयत्न आरंभ हो चुका था वर्तमान के प्रति विद्रोह-भावना जन्म ले चुकी थी।

खड़ीबोली का आंदोलन—आर्य-समाज का आंदोलन, स्वामी रामकृष्ण-विवेकानंद के उपदेश, समाज-सुधार के कार्य और कांग्रेस की स्थापना—सभी उस युग की वर्त्तमान परिस्थिति के प्रति असंतोष और विद्रोह की भावनाओं के लक्षण थे। भारतेंदु-मंडल के साहित्यकारों में भी वह असंतोष सभी क्षेत्रों में व्यक्त हुआ। पर उसमें पूर्वनिद्रा की तंद्रा के कारण उग्रता का विकास न हो पाया था। वह अभी शैशव में था, उसमें प्रौढ़ता का अभाव था। इसी कारण भारतेंदुकाल की आरंभिक राष्ट्रीय चेतना में राजभक्ति की रागिनी गूंजती दिखाई पड़ती है। किंतु आगे चलकर ब्रिटिश साम्राज्य की साम्राज्यवादी नीति के खोखलेपन का यथार्थ ज्ञान होने पर राज्यभक्ति, राज्य के प्रति असंतोष में परिणत हो गयी थी। उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम वर्षों में कांग्रेस की स्थापना के कुछ वर्षों पूर्व से ही भारतेंदु-मंडल के कवियों की रचनाओं में शासन-व्यवस्था के प्रति असंतोष अधिकाधिक विद्रोहात्मक होने लगा था। इन वर्षों में प्रचलित काव्य-भाषा (ब्रजभाषा) के विरुद्ध सन् १८८७ में बाबू अयोध्याप्रसाद खत्री के प्रयास से खड़ी बोली को काव्य-भाषा बनाने का आंदोलन प्रारंभ हो गया था। भारतेंदु और उनके मंडल के कवियों ने खड़ी बोली को हिंदी काव्य का माध्यम बनाने का यद्यपि विरोध किया था तथापि स्वयं भारतेंदु और उनके सहयोगियों ने कदाचित् प्रयोगात्मक रूप में खड़ी बोली के पद्य-निर्माण का आरंभ कर दिया था। खड़ी बोली की काव्य-रचना का वेग बराबर बढ़ता जा रहा था। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि खड़ी बोली में काव्य रचना का पक्ष बलशाली होता जा रहा था। क्रमशः खड़ी बोली की महत्ता प्रतिष्ठित और साहित्यिक क्षेत्र में स्वीकृत हो गई। इस प्रकार पुरानी काव्य-भाषा के प्रति विद्रोह की भावना ने काव्य के क्षेत्र में खड़ी बोली को आसनारूढ़ किया।

कहने का तात्पर्य यह कि देश-जागरण के साथ-साथ भारतेंदु युग में साहित्यिक जागरण भी हुआ। यह साहित्यिक जागर्ति पत्रकारिता को प्रोत्साहन देने के साथ-साथ

राष्ट्र में नवचेतना, नूतन दृष्टि, नवशासन-स्थापना, युगानुरूप समाज की कल्पना आदि की भावना जगाने में सफल हुआ। साहित्य के क्षेत्र में आज जिन विचारधाराओं का विकास दिखाई पड़ रहा है, देशकाल की परिस्थिति के अनुकूल उसका अंकुर उसी युग में प्रकट हो चुका था।

द्विवेदी युग में काव्य इन विचारों के पथ पर अग्रसर होता रहा, अपने अंग-प्रत्यंग को प्रौढ़ बनाकर भविष्यत् के लिए शक्ति एकत्र करता रहा। नव-जागरण के बाद भावी संघर्ष के लिए काव्य-रचना नए साधनों, शस्त्रास्त्रों के संग्रह द्वारा अपने को बलशाली बनाने का प्रयास कर रही थी।

भारतेंदु-युग में 'निज भाषा-उन्नति' का महत्त्व स्वीकृत हो जानेपर भी उसके मान्य और शुद्ध आदर्श स्वरूप की प्रतिष्ठा नहीं हो पाई थी। गद्य और पद्य में जिस खड़ी बोली के साधनत्व का सिद्धांत उन्नीसवीं शती के अंत में स्वीकृत हो चुका था--उसके परिष्कार और संस्कार का कार्य इस युग में आरंभ हुआ। लावनी, कजली और उर्दू के छंदों से बाहर निकल कर हिंदी और संस्कृत के छंदों के साँचे में परिष्कृत भाषा को माजकर ढालने का इस युग में स्तुत्य प्रयास हुआ। अभिव्यक्ति के क्षेत्र में भी रूढ़ि-भेदन और स्वच्छंद वृत्ति का प्रयास हुआ। अतः यह कहना अनुचित न होगा कि भारतेन्दु-युग के साहित्य में जो जागर्ति और नवचेतना स्पंदित हुई, वह द्विवेदी युग में परिष्कृत, परिपुष्ट और नवोपकरण से सज्जित होकर भावी काव्य-निर्माण के अनुरूप शक्ति, सामर्थ्य, शैली और वर्ण्य वस्तु से सज्जित हुई।

द्विवेदी-युग की प्रवृत्तियाँ (१—भाषा, छंद और शैली)—पूर्व की पंक्तियों में भारतेंदु-मंडल द्वारा काव्य-भाषा के जिस सैद्धांति विरोध की (व्यावहारिक नहीं, क्योंकि उन लोगों ने भी खड़ी बोली में कुछ कविताएं लिखीं) चर्चा की गयी है, उससे यह स्पष्टहो चुका है कि लोक-जीवन में प्रचलित गद्य भाषा को काव्य का माध्यम बनाने की प्रवृत्ति भारतेन्दु-युग में जन्म ले चुकी थी और उसका आन्दोलन भी प्रारंभ हो चुका था। १९ वीं शती के अन्त तक वह प्रायः काव्य के लिए स्वीकार भी कर ली गई थी। लावनी और उर्दू-छन्दों में खड़ी बोली की काव्य-रचना का प्रयोग भी हो चुका था।

इसी परंपरा का अनुसरण करते हुए, श्रीधर पाठक ने लावनी छंद में खड़ी बोली का प्रथम महत्वपूर्ण काव्य 'एकांतवासी-योगी' का निर्माण किया। इसके साथ-साथ उन्होंने खड़ी-बोली के पद्य के लिए 'सुंदर लय और चढ़ाव-उतार के कई नए ढाँचे भी प्रस्तुत किए।' आगे के वर्षों में भी गया प्रसाद शुक्ल 'सनेही' और लाला भगवानदीन उर्दू-छंदों के इस पथ पर चलते रहे। कभी-कभी मैथिलीशरण गुप्त भी उर्दू-छंदों का प्रयोग कर दिया करते थे। खड़ी बोली के विरोधी या ब्रजभाषा के प्रशंसक खड़ी बोली-पद्य के लिए उर्दू-वृत्तों के सक्षम मानते थे। उनसे अतिरिक्त अन्य छंदों में समुचित काव्य-रचना को संभव न समझते थे।

श्रीधर पाठक ने ऋतु-संहार का संस्कृत-छंदों में सफल अनुवाद किया तथा महावीर प्रसाद द्विवेदी ने भी सिद्ध किया कि संस्कृत के वृत्तों में खड़ी बोली की काव्य-रचना सफ-

लतापूर्वक हो सकती है। उन्होंने भी 'ऋतु-संहार' का हिंदी अनुवाद तथा 'सेवावृत्ति', 'विगर्हणा', 'कविते' आदि रचनाओं को सामने रखकर मानो घोषणा की कि अब काव्य-निर्माण, लोक-भाषा खड़ी बोली में ही करना चाहिए। 'पूर्ण' जी, 'गुप्त' जी, रूपनारायण पांडेय जी आदि ने इस कार्य में द्विवेदी जी के पथ का अनुगमन किया। हरिऔध जी के प्रिय-प्रवास की रचना ने संस्कृत वृत्तों को खड़ी बोली के लिये पूर्णतः समर्थ सिद्ध कर दिया।

आगे चलकर द्विवेदी-युग के अनेक कवियों ने व्रजभाषा के मँजे हुए 'कवित्त', 'सवैया' आदि छंदों में खड़ी बोली काव्यरचना का सफल प्रयोग किया। मैथिलीशरण गुप्त ने 'गीतिका', 'हरगीतिका' आदि हिंदी-वृत्तों के काव्य-निर्माण का आदर्श भी सफलता के साथ सामने रखा। जिस प्रकार हरिऔध जी खड़ी बोली में संस्कृत-छंदों के पथ-दर्शक हुए उसी प्रकार गुप्त जी हिंदी-वृत्तों के। अब हिंदी-कवियों के लिए छंदों का बंधन न रह गया। अपनी रुचि और योग्यता के अनुसार वे किसी भी वृत्त का आधार लेने में स्वतंत्र हो गए। किंतु इस स्वतंत्रता के मिलने पर भी नवीन वृत्तों की उद्भावना अब तक प्रचलित न हुई। परंपरागत संस्कृत-उर्दू-हिंदी के छंदों का ही आश्रय लिया जाता रहा। श्रीधर पाठक जी अवश्य नव-वृत्त-विधान में यहाँ तक संलग्न रहे कि उन्होंने कुछ रचनाओं में स्वच्छंद-छंद का भी प्रयोग प्रस्तुत किया। द्विवेदी-युग के अंतिम वर्षों में गुप्त-बंधुओं ने (मैथिलीशरण गुप्त और सियारामशरण गुप्त ने) सफलता के साथ नए वृत्तों की उद्भावना की। छंद और भाषा के क्षेत्र में इतना सब कुछ होने पर भी तथ्य यह है कि इस परिपाटी के प्रमुख कवियों का ध्येय उस आरोप के खंडन में रहा जिसके द्वारा काव्य-भाषा के रूप में खड़ी बोली का प्रयोग, कटु आलोचना का विषय था। अपने प्रयत्नों द्वारा इन लोगों ने उक्त आरोप की व्यर्थता सिद्ध कर दी। पर नित-नूतन लयाश्रित छंदों की बहुल उद्भावना आगे चलकर 'छायावाद-युग' में समुचित रूप से विकसित हुई।

भाषा परिष्कार—इस युग में दूसरा महत्वपूर्ण कार्य हुआ भाषा-परिष्कार का। इस युग के आरंभिक वर्षों में भाषा अव्यवस्थित थी, व्रजभाषा और अवधी के अनेक शब्दों का मिश्रण कर दिया जाता था, बिना हिचकिचाहट के पूर्वी हिंदी के शब्द प्रयुक्त होते थे, तुक मिलाने के लिये या छंद की गति बनाए रखने के लिए व्याकरण-संमत रूपों की उपेक्षा की जाती थी और वाक्यों में भी शैथिल्य रह जाता था। कारण यह था कि इस युग के कवियों का आरंभिक वर्षों में न तो भाषा पर अच्छा अधिकार हो पाया था और न शब्द-शुद्धि के प्रति आवश्यक ध्यान ही दिया गया था। श्रीधर पाठक जैसे समर्थ कवियों तक में यह प्रवृत्ति चल रही थी।

द्विवेदी जी ने 'सरस्वती' का संपादन प्रारंभ करने पर इस ओर विशेष ध्यान दिया। भाषा की शिथिलता और अनुपयुक्त प्रयोगों के बहिष्कार का भार उठाकर बड़े श्रम और सहानुभूति के साथ भाषा-शुद्धि का कार्य उन्होंने किया। स्वयं खड़ी बोली के काव्य का आदर्श प्रस्तुत करते हुए अन्य कवियों को प्रेरणा दी। इन्होंने प्रोत्साहन भी दिया, संपादन-क्रम में त्रुटियों को ठीक करते रहने का अथक प्रयास भी किया और भाषा की शुद्धि, परिष्कृति एवं समर्थता का प्रभावशाली शब्दों में समर्थन भी किया। अशुद्धि और अव्यवस्था की

कटु आलोचना भी वे करते रहे। गद्य-भाषा-लेखन की शिक्षा के साथ-साथ पद्य में भी शुद्ध भाषा और समर्थ शैली की शिक्षा देते रहे। सरल जन-भाषा के समर्थक होकर भी द्विवेदी जी अपनी काव्यरचना को संस्कृत-बहुलता और लंबे-लंबे समस्त-पद-प्रयोग से बचा न सके। पर भाषा-परिष्करण के प्रयास में उन्हें पूर्ण सफलता मिली।

भाषा-शुद्धि में बहुत बड़ी सफलता पाकर भी द्विवेदी जी काव्य में काव्योचित भाव मयी सरसता का उद्भावन न कर सके। उनके काव्य में संस्कृत भाषा के साथ-साथ मराठी-काव्य-रचना का भी पर्याप्त प्रभाव माना जाता है। संस्कृत काव्यों की भाव-माधुरी और हृदयहारिणी शैली की उद्भावना उनके काव्यों में प्रायः नहीं मिलती। अलंकार आदि का प्रयोग संस्कृत-परंपरागत होने पर भी न तो भणिति-भंगिमा का सर्जन कर सका और न भाव-लालित्य का। शैली की दृष्टि से, भावाभिव्यक्ति की चारुता के विचार से इस युग के काव्य में कान्ता-संमित काव्य-माधुरी का विकास न हुआ। लाक्षणिक और व्यंजक शब्दों के प्रयोग से, प्रतीकों और ललित उपमानों के सहारे शैली की अभिव्यंजकता और प्रभावशीलता, मनोहारिता और मर्मस्पर्शिता सिद्ध न हुई। काव्य अधिकतः इतिवृत्तात्मक बना रहा।

फिर भी अपनी सीमा में द्विवेदी जी का कृतित्व स्वयं युग के लिए इतना महत्वपूर्ण रहा कि बिना किसी संकोच के उन्हें युगप्रवर्तक कहना चाहिए। पूर्णजी, किशोरीलाल गोस्वामी, गुप्त जी, सनातन शर्मा आदि की रचनाएँ खड़ी बोली में निर्मित और सरस्वती में प्रकाशित होती रहीं। श्रीधर पाठक ने 'एकांतवासी योगी' के पश्चात् 'श्रांत पथिक' प्रकाशित किया। उन्होंने अन्य भी अनेक स्फुट रचनाएँ खड़ी बोली में की। यद्यपि कभी-कभी ब्रजभाषा-मिश्रित हिंदी भी वे लिखते रहे और 'ऊजड़ ग्राम' में ब्रजभाषा को ही अपनाया, तथापि खड़ीबोली-काव्य-रचना के वे अपने युग में महत्वपूर्ण कवि थे। उनमें शब्दशोधन की प्रवृत्ति थी। चलती और संस्कृतनिष्ठ—उभयविध भाषा पर उनका समान अधिकार था। उनकी रचना में परिष्कृति, भावमयता, सुरुचि और प्रवाह था। पदविन्यास, छंदोविधान आदि में नवोद्भावना की क्षमता और सूझ थी। वर्ण्य-विषय की सीमा का भी उन्होंने विस्तार किया। उनकी दृष्टि से कोई भी विषय काव्य-वर्ण्य हो सकता था। विधवाओं की वेदना आदि अनेक समाज-सुधार के विषयों को भी उन्होंने अपनाया।

सबसे बड़ी बात थी उनका प्रकृति-प्रेम। हिंदी साहित्य के आदि युग से ही प्रकृति-प्रेम उपेक्षित रहा। प्रकृति की गोचर इंद्रिय-साक्ष्य-सुषमा को मानव-प्रेम के आलंबन रूप में हिंदी-कवि उपेक्षित करता आ रहा था। पाठकजी ने अपनी रचनाओं द्वारा यह संकेत किया कि अनंत और चिर सुंदर प्रकृति में मानव हृदय को आकृष्ट करने की अगाध शक्ति है और कवि का भावुक हृदय, यदि उससे दूर रहता है तो वह, काव्य के एक प्रमुख आवश्यक वर्ण्य विषय का तिरस्कार करता है। हिंदी के कुछ कवियों ने अपनी साधना के कोलाहल में इसे भुला दिया था, कुछ ने राजप्रशस्ति की आतुरता में पड़कर इधर ध्यान नहीं दिया था, कुछ ने भगवान् की रहस्यात्मक कल्पित अथवा आरोपित महिमा-गरिमा के कीर्तिगान की व्यस्तता में इसकी उपेक्षा की थी और कुछ ने विलासी सामंतों के मादक मनोरंजन और विलास-तर्पण की प्रवृत्ति के कारण इस दृश्यमान अनंत सौंदर्य-रत्नाकर की प्रभाव-

व्याप्ति का अनुभव नहीं किया था। ऐसे सौंदर्य के उद्‌घाटन की अपेक्षा, जिसका अनुभव संप्रदाय-विशेष या वर्ग-विशेष के व्यक्ति का हृदय ही कर सकता है, प्रकृति का सुषमांकन एक ऐसी कला है जिसकी आनंद-मंदाकिनी में सर्वजन का चित्त रम सकता है। पाठकजी ने इस नए वर्ण्य विषय की ओर काव्य-कर्ताओं और कला-रसिकों का ध्यान आकृष्ट करके काव्य-क्षेत्र में नए पथ का संकेत किया। आगे के कवियों में प्रकृति-सुषमा का चित्रांकन नवीन साधनों और उपादानों के योग से अतीव उत्कृष्ट रूप में विकसित हुआ।

हरिऔध जी ने भी अपनी रचना से इसमें योग दिया। यद्यपि प्रिय-प्रवास और आगे चलकर चौपदों की रचना से काव्य-क्षेत्र में संस्कृतनिष्ठ और ठेठ—द्विविध भाषा की गुंफन-सफलता उन्होंने प्रकट की, संस्कृत पदावली की बहुलता का आधार लेकर संस्कृत वृत्तों में सफल काव्य-निर्माण का पथ प्रशस्त किया, मुहाविरेदार ठेठ चलती भाषा को काव्य के ढाँचे में ढाला, तथापि 'प्रिय प्रवास' में, 'वैदेही-वनवास' में तथा अनेक स्फुट कविताओं में उन्होंने अपने प्रकृतिप्रेम का परिचय दिया है। साथ ही युगानुरूप लोकसंग्रह की भावना को भी उन्होंने अपनाया और यह संकेत किया कि काव्य के नायक-नायिका, सुदूर अतीत युग के ही क्यों न हों, युग-मानव की आदर्श प्रतिष्ठा से अनुप्राणित किये जा सकते हैं। 'प्रिय-प्रवास' और 'वैदेही-वनवास' आदि में यह प्रवृत्ति स्पष्ट झलकती है। हरिऔधजी की कृतियों में पदावली की मधुर भंगिमा कोमलकांतता एवं ललित-गुंफन दिखाई पड़ता है। युग-प्रवर्त्तक द्विवेदी जी काव्य-भाषा में कोमलकांत पद-विन्यास और माधुर्य-सौकुमार्य की सृष्टि नहीं कर सके थे। कारण यह था, जैसा कि कहा जा चुका है, मराठी काव्य-रचना की गद्य-तुल्यता से वे प्रभावित थे और साथ ही उनका सिद्धांत यह था कि गद्य-भाषा की भाँति पद्य में भी जनबोध्य सरल भाषा का प्रयोग हो। स्वयं वे अपने सिद्धांत में कितने सफल हुए—यह दूसरी बात है। अतः काव्य-पदावली में संस्कृत पदों की मधुरता का झंकार उत्पन्न करने की सफल चेष्टा हरि-औध जी ने की। 'कुमारसंभवसार' नामक अनुवाद में द्विवेदी जी की काव्यगत इतिवृत्तात्मकता नहीं है, भावों के अनुवाद में वहाँ द्विवेदीजी का कृतित्व प्रौढ़ है।

पर द्विवेदी जीकी प्रेरणा ने उत्कृष्ट और ऐतिहासिक कलाकारों का आविष्कार किया। लगभग १९०३ से गुप्तजी की कविताएँ सरस्वती में छपती रहीं और तीन वर्षों बाद उनका प्रथम लघु-प्रबंध-काव्य 'रंग में भंग' निकला। इसका आधार राजपूती वीरता है। इसके अनंतर उनकी स्फुट कविताएँ और प्रबंधकाव्य—दोनों का क्रम बराबर चलता आ रहा है। युग की काव्य-रचना-प्रवृत्तियों के अनुसार यथाशक्ति अपने को ढालने का प्रयत्न गुप्त जी सदैव करते रहे। भारत भारती उनकी एक ऐसी रचना है, जिसकी ओर लोग बहुत आकृष्ट हुए। इसके द्वारा भारत के अतीत वैभव और वर्त्तमान अधोगति—दोनों का चित्र खींचकर तुलना करते हुए ह्रासजन्य वर्त्तमान वैषम्य का सुंदर चित्रण हुआ है। काव्यगत चारुता की कमी के रहने पर भी मार्मिक तथ्योक्ति के कारण युवक-हृदयों पर उसका बड़ा प्रभाव पड़ा। सांस्कृतिक चेतना और तज्जन्य राष्ट्रप्रेम को जगाने में इस कृति ने गद्यात्मक शब्दाडंबरयुक्त होने पर भी बड़े महत्व का कार्य किया।

इस ढंग की, अनेक वर्षों में रचित गुप्तजी की अन्य स्फुट रचनाएँ 'मंगलघट' में संगृहीत हैं। गुप्तजी हमारे सौभाग्य से अबतक वर्त्तमान हैं और उनकी काव्य-कृतियाँ बराबर निकलती जा रही हैं। जयद्रथ-वध, विकट-भट, किसान, गुरुकुल, यशोधरा, सिद्धराज, पंचवटी, द्वापर और साकेत आदि प्रबंध-काव्य की उनकी कुछ प्रमुख रचनाएँ हैं, जिनमें निरंतर अभिव्यक्ति-कला का क्रमिक विकास होता गया। बंगला की मधुरता और युग की नूतन अभिव्यक्ति-प्रणालियों को यथासंभव अपनाने की चेष्टा भी गुप्तजी में बराबर दिखाई पड़ती है। द्विवेदी-युगीन इतिवृत्तात्मकता की सीमा से बढ़कर प्रगीत-मुक्तकों की कल्पना, छंदोविधान, अभिव्यंजन-वैदग्ध्य आदि की ओर अग्रसर होने की भी गुप्तजी चेष्टा करते रहे।

गुप्तजी अपने काव्यों द्वारा काव्यात्मक-चारुता, अभिव्यंजन-निपुणता एवं साहित्यिक सरसता के सर्जन में उतने सफल न हो पाए जितनी सफलता उन्हें, सांस्कृतिक चेतना, राष्ट्रभक्ति, भ्रातृभावना, पारस्परिक प्रेम, वीर-पूजा, आदर्श-अर्चना और गांधीवादी सिद्धांत-स्थापना आदि में मिली। भारत के अतीत महापुरुषों, मध्यकालीन राजपूत वीरों और सांस्कृतिक आदर्शों के आराधान में गुप्तजी को आशातीत सफलता मिली है। छायावाद-रहस्यवाद के कवि देश के उत्थान और चरित्र-निर्माण की प्रेरणा के लिये वह शक्ति प्रस्तुत नहीं कर सके, गुप्तजी जिसे करने में समर्थ हुए। छायावादी-रहस्यवादी प्रवृत्ति की काव्य-योजना में उन्हें महत्व की सफलता नहीं मिल पाई। 'झंकार' की संगृहीत कविताएँ इसकी साक्षी हैं। गुप्तजी की शैली निरंतर विकास की ओर बढ़ती गई और युग-प्रवृत्ति के साथ चलने की चेष्टा भी उन्होंने की। उनकी आरंभिक इतिवृत्तात्मकता में बंगला-काव्य के प्रभाव से कोमलता आई और प्रगीतमुक्तकों की भी उन्होंने रचनाएँ कीं। आगे की उनकी कुछ रचनाओं में संगीत की लय और माधुरी का सुघर मिश्रण है।

संस्कृत के पंडित और कवि होने के कारण रामचरित-उपाध्याय की रचनाओं में संस्कृत-काव्याभिव्यंजनकी शैली का आभास मिलता है। भाषण की विदग्धता और अभिधान-शक्ति की समर्थता उनकी छोटी रचनाओं में भी है और प्रबंध-काव्य में भी 'संवाद'-विदग्धता के रूप में दिखाई पड़ती है। भाषा में स्वच्छता और प्रवाह है, यद्यपि गद्यात्मकता भी है। गिरिधर शर्मा नवरत्न की रचनाएँ भी यद्यपि खड़ी बोली में होने लगी थीं, पर उनके अनुवादों या स्वतंत्र रचनाओं में भाषा की स्वच्छता का अच्छा विकास नहीं है। ब्रजभाषा के कवि होने से ब्रजभाषा आदि के कुछ शब्दों का योग मिलता है। गद्यात्मक रूक्षता भी बनी है। इसी भाँति लोचनप्रसाद पाण्डेय की रचना में भी खड़ी बोली की निखरी हुई स्वच्छ भाषा-शैली नहीं मिलती, यद्यपि वर्ण्य-विषयों में हृदय की महान् उदारता स्पष्ट है। दया, सहानुभूति और करुणा की अभिव्यक्ति होने पर भी काव्य में इतिवृत्तात्मकता है। स्फुट और प्रबंध—दोनों शैली में इनकी रचनाएँ हैं।

इन प्रमुख कवियों के अतिरिक्त भी द्विवेदी-युग में खड़ी बोली की काव्य-रचनाएँ पत्र-पत्रिकाओं में भरी रहती थीं। किन्तु काव्यगत सरसता और भावमयी चारुता की सृष्टि की कमी और गद्यात्मक इतिवृत्ति का आधिक्य—इस युग की विशेषता रही। फलतः खड़ी बोली की कविता को बहुधा लोग पद्यमात्र समझते थे, कविता नहीं।

संक्षेप में कहा जा सकता है सन् १९०० से १९१० की काव्य—रचना का प्रतिनिधित्व, भाषा, शैली, छंदोविधान और रचना-कौशल की दृष्टि से द्विवेदी जी की काव्यभाषा करती है। यद्यपि आरंभिक कुछ वर्षों का स्वरूप समझने में पाठक जी की कृतियाँ अधिक सहायक सिद्ध होती हैं। द्विवेदी जी में संस्कृत-पदों की बहुलता है, पर संस्कृत की कोमल—कांत पदावली का विकास हरिऔधजी में हुआ है। गुप्त जी की रचनाओं में लगभग १९१४ ई० से अभिव्यक्ति-पद्धति में नूतनता दिखाई पड़ने लगी। शैली में शब्दाडंबर की कमी होती चली और सरसता का विकास होने लगा। भाषा की कर्कशता दूर हुई और अभिधान-शक्ति विकसित।

द्विवेदी-युगने खड़ी बोली को व्यवस्थित, परिष्कृत, स्वच्छ और साधन संपन्न बनाया, काव्य के साँचे और छंदों में उसे ढालने का प्रयास किया, नए छंदों के उद्भावन का क्रम प्रारंभ किया और उसमें सशक्त अभिव्यंजन के अनुकूल प्रौढ़ता की सृष्टि की।

वर्ण्य विषय की सीमा—भारतेंदु-युग में वर्ण्य विषय की सीमा में जो विस्तार हुआ था, इस युग में उसका विकास होता चला। सामाजिक कुरीतियों—विधवा की दुर्दशा, बाल-विवाह, छुआछूत, जात-पाँत की संकीर्णता, स्त्रीशिक्षा का अभाव, निरक्षता का आधिक्य, कर्त्तव्य-पालन में असमर्थता आदि सामाजिक समस्याओं और सामाजिक त्रुटियों को सुलझाने और दूर करने का प्रयास सभी कवियों में है। पाठक जी, हरिऔध जी, ठाकुर गोपालशरण सिंह, गुप्तजी, रूपनारायण पांडेय, नाथूराम प्रेमी आदि सब की कविताओं में थोड़ा-बहुत, मंद-तीव्र सुधार की भावना है। इस सुधार-भावना में समाज की संकीर्णताओं के प्रति एक प्रकार का विद्रोह है। इन्हीं विभिन्न त्रुटियों के कारण हिंदू जाति अनेक शताब्दियों से दासता का अभिशाप भोगती आ रही है। इन्हीं के कारण शक्तियाँ विभक्त और विच्छिन्न होकर भारत को निर्बल बनाती रही हैं। इनके कारण देश का सामाजिक, नैतिक, बौद्धिक और चारित्रिक अधःपतन होता चला आ रहा था। अतः उक्त व्यवस्था के प्रति कवियों के हृदय का विद्रोह उनकी कृतियों में मुखर हो उठा।

पर यह विद्रोह एकांतिक नहीं, संतुलित है। अपने अतीत-गौरव की गाथा से, भूत के उच्च आदर्शों से, प्राचीन और मध्यकालीन वीरता से और पुरातन त्याग-तपस्या से प्रेरणा पाकर ये कवि शक्ति-संचय करना और सांस्कृतिक चेतना को उद्बुद्ध करना चाहते हैं। देश में चलते हुए आर्य-समाज के आंदोलन के प्रभाव से इनके हृदय में संवादी स्वर मुखरित हो रहे थे। एक ओर स्वामी श्रद्धानंद की वाणी और दूसरी ओर स्वामी रामतीर्थ और स्वामी विवेकानन्द के व्याख्यानों का देशव्यापी गुंजन इनको भी प्रेरित कर रहा था। समाज-सुधार के आंदोलनों का वेग भारतीय-लोक-जीवन में बढ़ रहा था और काव्य भी उससे पूर्णतः प्रतिध्वनित हो रहा था। सांस्कृतिक जातीयता और समाज-सुधार की इन भावनाओं को राजनीतिक जागर्त्ति से कदाचित् सर्वतोधिक उत्प्रेरणा प्राप्त हो रही है। राजनीतिक उत्पीड़न से त्रस्त राष्ट्र का जब उद्बोधन हुआ तब वह अपने पतन का सर्वांगीण विश्लेषण करनेमें लग गया और उसने पाया कि राजनीतिक दासता से मुक्ति हो सकती है तभी जब राष्ट्र चरित्रवान् हो। छुआछूत, रूढ़ि, जात-पाँत,

आदि की विषमता-व्याधि से ग्रस्त समाज आत्मोद्धार नहीं कर सकता। राष्ट्रीय स्वातंत्र्य की प्राप्ति के लिए जनजीवन का सर्वांगीण विकास, चरित्र-निर्माण और रूढ़िगत वर्गों के भेद-विभेद का दूरीकरण आवश्यक है। अतः राष्ट्रीय जागर्त्ति के साथ ही देश ने, और देश के कवियों ने भी देखा कि सामाजिक जीवन की अधोगति के कारण ही हमारा उत्पीड़न, निर्दलन, अपमान हो रहा है। दूसरे के अन्याय और अत्याचार के विरुद्ध लड़ने के पूर्व अपने घर में प्रतिक्षण होते रहनेवाले सामाजिक रूढ़ियों के अन्याय और अत्याचार को उखाड़ फेंकने पर ही साध्य की ओर अग्रसर हुआ जा सकता है। कवि ने भी युग की पुकार सुनी और उसे व्यक्त किया। अतः तत्कालीन सामाजिक सुधार का मूलस्रोत अंशतः राजनीतिक चेतना थी। राजनीतिक दासता की मुक्ति के लिए यह आवश्यक था कि हम शक्तिशाली बनें, कर्मठ बनें, सुसंघटित हों।

मानवतावाद का प्रभाव—इस सामाजिक दृष्टि में क्रांति उत्पन्न होने का कदाचित् एक कारण और था। योरप में जिस मानवतावादी दृष्टि की प्रतिष्ठा हो चुकी थी, उसके अनुसार अज्ञात, अदृश्य, कल्पित परलोक को महत्त्व न देकर इस लोक को ही सुखमय बनाना आदर्श माना गया था। सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्थाओं का सबसे उच्च आदर्श मानवमात्र को समुन्नत, सुखी, संपन्न और स्वस्थ बनाना उद्घोषित हुआ। यह भी स्वीकार किया गया कि हजारों-लाखों वर्षों के निरंतर प्रयास के बाद मानव आज का विकसित मानव बन सका है। इस भूतल का वह सबसे श्रेष्ठ, विकसित, संस्कृत और बौद्धिक प्राणी है। अतः मानवमात्र को सुखी बनाना सबसे बड़ा धर्म माना गया। योरप की शिक्षा के साथ-साथ यह मानवतावादी, भौतिक विज्ञानवादी दृष्टि भारत में भी आई। हिंदी के कवियों में भी वह मुखरित हुई।

इसी मानवतावादी दृष्टि के परिणामस्वरूप एक ओर श्रीधर पाठक, हरिऔध, नाथूरामशंकर, गोपालशरण सिंह आदि विधवा - दुर्दशा से व्यथित, बाल-विवाह से खिन्न, स्त्री-अशिक्षा से असंतुष्ट और दहेज-प्रथा के नाशकारी फल से क्षुब्ध दिखाई पड़ते हैं तो दूसरी ओर मैथिलीशरण गुप्त, रूपनारायण पांडे, सियाराम जी आदि पश्चिमी रहन-सहन एवं सामाजिक दृष्टि की अंधानुकृति के विरोधी और भारतीय आदर्श एवं संस्कृति के उपासक होते हुए भी छूआछूत, विधवा-पीड़ा आदि का प्रबल विरोध करते हैं। पातिव्रत्य और सतीत्व-रक्षा के लिए प्राण देनेवाली राजपूत रमणी का गुणगान करते हुए जो तृप्त नहीं होता वह विधवा-विवाह का समर्थन करता दिखाई पड़ता है। वह समझता है कि मानव भोग्य सुख और संतोष से, रूढ़ि के नाम पर नारी को वंचित करके, स्वर्ग - प्राप्ति की संदिग्ध आशा में जीवन को नरक बना देना अमानवीय नृशंसता है।

इसी मानवतावादी दृष्टि के फलस्वरूप इस युग के कवियों की धर्म-भावना उदात्त और उदार हो उठी है। परंपरागत धर्म की चर्चा और रामकृष्ण का गुणगान भी हुआ, पर कम। मानवधर्म की, लोककल्याणकारी समाजधर्म की ओर आग्रह अधिक रहा। यदि गोपालशरण सिंह को मानवता की सेवा और विश्वप्रेम में मुक्ति-द्वार का दर्शन होता है तो मुकुटधर पांडे को ईश्वर का दर्शन 'वाद-विहीन उदार धर्म' और 'समतापूर्ण ममत्व

धर्म' में होता है। इस प्रकार धार्मिक भावना का रूप मानव-सेवा, त्याग, दया और परदुःखकातरता में अधिक स्थिर दिखाई देता है। विश्वबंधुत्व का प्रचार और ऊँच-नीच का, छोटे-बड़े का भेद-विभेद दूर करना, अधिक धर्मसंगत जान पड़ता है। इसी कारण उपदेशात्मक एवं शिक्षात्मक अथवा संप्रदायगत धर्म-प्रचारात्मक रचनाओं का क्रमशः अभाव होता गया। अन्योक्तियों के सहारे कभी - कभी केवल चेतावनी दे देना या इसी प्रकार की अन्य उद्भावना होती रही। बदरीनाथ भट्ट अहंकार से बचने की स्मृति दिलाते हैं और रायकृष्ण दास भौतिक आकर्षण से बचने के लिए सावधान करते हैं।

इसी के साथ सियारामशरण गुप्त जैसे सफल कवियों ने भावपूर्ण विनय और आत्मसमर्पण की पंक्तियाँ भी लिखी हैं जिनमें भक्ति-भावना एवं तज्जन्य आत्मतल्लीनता दिखाई देती है (सरस्वती खंड २०, संख्या ४, सन् १९१९)। मुकुटधर भी परम सत्ता की झलक पाने के लिए विकल हैं। इस प्रकार की भावना मैथिलीशरण गुप्त जी में भी कहीं-कहीं उन दिनों व्यक्त होती दिखाई पड़ती है। छायावाद-रहस्यवाद युग में आगे चलकर जिस रहस्यात्मकता का विकास हुआ, 'प्रसाद' आदि में जो प्रवृत्ति विकसित हुई, उसी का इसे पूर्वाभास समझना चाहिए। इस प्रवृत्ति का इस खेवे के कवियों में सबसे अधिक अंकुरण मुकुटधर पांडेय में दिखाई पड़ता है। सियाराम जी में भी यह भावना विकसित होती गई। पर इन लोगों की रहस्यात्मकता गीतांजलि से प्रभावित होकर भी कुछ सगुण भक्ति और कुछ सूफियों की प्रेमसाधना का पुट लेकर चलती दिखाई देती है। यह धार्मिक भक्ति की काव्यात्मक अभिव्यक्ति है। इसमें लोकसेवा की प्रेरणा अधिक मुखरित है, रहस्यात्मक प्रेमसाधना कम।

वस्तुतः ऊपर कहे हुए लौकिक मानवतावाद के विकास में भारतीय धार्मिक भावना के योग ने इस प्रवृत्ति को अग्रसर किया। आगे चलकर ज्यों-ज्यों कवींद्र-रवींद्र के काव्यालोक का प्रकाश अपनी दीप्तिमाला के साथ अधिक लोकप्रिय होता गया, अंग्रेजी के रोमांटिक कवियों से परिचय बढ़ता गया, त्यों-त्यों हिंदी-काव्य का छायावाद अधिकाधिक स्पष्ट होता गया।

देश-भक्ति और वीरपूजा—भारतेन्दु-युग की अपेक्षा इस युग में देश-भक्ति का भाव अधिक तीव्र, अधिक क्रांतिकारी एवं अधिक विद्रोहात्मक असंतोष से मुखरित है। कांग्रेस का प्रभाव बढ़ रहा था। शासकों की शोषण-नीति प्रत्यक्ष होने लगी थी। ब्रिटिश व्यापार के लिए भारतीय व्यापार-वाणिज्य को नष्ट करने की अंग्रेज-चातुरी लोग समझने लगे थे। सांप्रदायिक भेद-नीति का अंग्रेजों द्वारा प्रवर्त्तन देखकर देशभक्त चिंतित होने लगे थे। बंग-भंग को रोकने के प्रयत्नों के होने पर भी जनमत को ठुकरा कर निरंकुश शासन करना, मुसलमानों को हिंदुओं के विरुद्ध करके सांप्रदायिकता का विष फैलाना आदि अनेक कारण थे जिनसे राष्ट्रीयता की भावना तीव्र होती जा रही थी। १९०५ के कांग्रेस अधिवेशन में उग्रवादी-दल के भावों का विस्फोट हुआ। लोकमान्य तिलक के विद्रोह-विकल व्यक्तित्व ने राष्ट्रीय-क्रांति की भावना को तीव्रतर किया। १९०६ ई० में शासन-सुधार के स्थान पर स्वराज्य का नारा लगने लगा। विपिनचंद्र पाल, लोकमान्य आदि का विदेशी-बहिष्कार

आंदोलन प्रारंभ हो चला था। अरविंद घोष के 'वंदे मातरम्' पत्र ने क्रांति की वेगवती धारा से समस्त बंगाल को आलोडित कर दिया। बंगाल की धार्मिक—सांस्कृतिक चेतना से उत्प्रेरित और महाराष्ट्र की सामाजिक धर्म-भावना से उद्बोधित उग्र दल के विचार देश को आंदोलित करने लगे।

अंग्रेजी शिक्षा, स्वतंत्र देशों का ज्ञान, अपनी हीनता, अपने पुरातन इतिहास के महत्व से परिचय और तज्जन्य भारत की अतीत गरिमा का बोध—इन सब ने मिल-जुल कर राष्ट्रीयता और देशभक्ति की भावना को प्रज्वलित किया। आगे चलकर एनीबेसेंट का होमरूल आंदोलन और अफ्रीका-विजयी गांधी के व्यक्तित्व ने भी भारत की राष्ट्र-चेतना को उग्रतर बनाया। बंगाल में इसी उग्र विद्रोह ने वह हिंसात्मक मार्ग ग्रहण किया, रासबिहारी घोष, विपिनचंद्र पाल आदि जिसके उत्प्रेरक थे।

अतः द्विवेदी-युग के कवियों में, काव्याभिव्यक्ति और भावोद्बोधन की दृष्टि से जो बहुत अधिक समुन्नत नहीं थे, देशभक्ति की भावना बढ़ती दिखाई देती है। लोक को, जनता को, मजदूरों-किसानों को, छात्रों-अध्यापकों को, इन कवियों ने उद्बोधित किया और उनसे आग्रह किया देश-हितार्थ अपनी बलि चढ़ाने की। सांप्रदायिक एकता, पारस्परिक स्नेह, बन्धुभावना आदि के पद्य इन लोगों की लेखनी से निरंतर निर्मित होते रहे। मातृभूमि के प्रति, उसकी अतीत गरिमा के प्रति, उसकी नैसर्गिक सुषमा के प्रति कवियों का प्रेम और उनकी श्रद्धा प्रचुर मात्रा में प्रकट हुई है। श्रीधर पाठक, रामनरेश त्रिपाठी आदि की कविताओं में देश-प्रेम वस्तुतः भक्ति की कोटि तक पहुँच गया है।

अतीत की गुणगाथा द्वारा आत्मबोधन में श्री गोपालशरण सिंह, सियाराम जी, मैथिलीशरण जी, राम नरेश त्रिपाठी आदि अधिक प्रयत्नशील दिखाई पड़ते हैं। वे आधुनिक अधोगति का चित्र खींचते हुए पुरुषार्थ द्वारा अपने को उन्नत और संमान-भाजन बनाने का आग्रह करते दिखाई देते हैं। देवीप्रसाद 'पूर्ण', 'सनेही', 'त्रिशूल' रामचरित उपाध्याय, प्रभृति सभी ने भारत की गरीबी, जमींदारों के अत्याचार, किसानों की दुर्गति आदि के चित्र खींचे हैं और इनकी कटु आलोचना की है। पर मैथिलीशरण जी की स्नेहानुभूति अधिक सक्रिय है। कुछ कवियों में क्रांतिकारी भावना का आभास भी दिखाई पड़ता है।

इस युग की देशभक्ति में भारतेन्दु-युग की आरंभिक याचना और दीनता का अभाव है, शासकों की प्रशंसा के स्थान पर कटु-कटुतर आलोचना है, निराशा के स्थान पर उत्साह और आशा है, सफलता में विश्वास है। गुप्त जी का 'स्वर्गीय-संगीत' उक्त प्रवृत्ति-वाली रचनाओं का परिचायक है। रूपनारायण पांडेय, रामचरित उपाध्याय आदि, सभी में यथानुरूप यह भावना वर्त्तमान है। माखनलाल जी देशभक्तों की महिमा के सामने नत मस्तक होने में अपना गौरव समझते हैं। देशभक्त कवियों में इनका स्वर बड़ा ऊँचा है।

इस राजनीतिक चेतना का वीरपूजा के रूप में भी विकास हुआ। पुरातत्वान्वेषण और टाडके इतिहास ने सांस्कृतिक गरिमा और वीरा की पवित्र मूर्त्ति हमारे सामने रखी। फल यह हुआ कि अपनी हीन दशा में भी कवि अपने प्राचीन वीरों की भावमयी स्मृति से शक्ति-सर्जन की ओर झुका।

पौराणिक और ऐतिहासिक—दोनों प्रकार के वीर, काव्य के आलंबन बने। परशुराम और अर्जुन, जयद्रथ और अभिमन्यु आदि के साथ-साथ चंद्रगुप्त और समुद्रगुप्त भी काव्य की प्रेरणा लेकर हमारे समाने आए। हमारे भाव अधिक रमे राजपूती वीरपूजा में। पद्मिनी और उसका जौहर, आन पर मर मिटना, अपने सिद्धांत पर सर्वस्व निछावर कर देना—तनिक सा अपमान होने पर लड़ते-लड़ते मर जाना—इत्यादि बातों में विलक्षण आकर्षण दिखाई पड़ा। बुद्धि-तुला पर तोलने से जहाँ कदाचित् मूर्खता लक्षित होती, वहीं भाव-तुला ने इन चित्रों में अद्भुत रमणीयता की सृष्टि की। 'रंग में भंग', 'विकट भट', 'वीर-क्षत्राणी' आदि रचनाएँ इसी भाँति की हैं।

माखनलाल चतुर्वेदी, 'त्रिशूल', गुप्तजी, आदि ने अहिंसाव्रती वीरों की वीरता पर सुंदर कविताएँ प्रस्तुत की हैं। तात्पर्य यह कि इस युग के कवि देश की गति के साथ, देश के आंदोलनों के साथ, देश की प्रवृत्तियों के साथ एवं राष्ट्र की जागर्त्ति के साथ चलते दिखाई देते हैं।

सर्वेक्षण—संक्षेप में इस युग की मूल विशेषताओं को अंकित करते हुए यह कहा जा सकता है कि इस युग ने खड़ी बोली भाषा को परिष्कृत, व्यवस्थित और काव्यार्ह बनाया, अभिव्यंजन-शैली के विचार से प्राचीन रूढ़ियों को तोड़कर नवीन विधानों की सहायता से अभिव्यंजन-प्रणाली को भावी अभिव्यक्ति-क्षमता की ओर अग्रसर किया, अभिनव छंदो-विधान और अभिनव लय से वृत्तों का नया मार्ग दिखाया। गीतों और प्रगीत-मुक्तकों की रचना-शैली से परिचित किया, समाज-सुधार, देशभक्ति और राष्ट्रीय-जागरण की स्फूर्ति से अनुप्राणित किया, काव्य की वर्ण्य-सीमा को समस्त विश्व का आलंबन देकर वर्ण्य विषय का विस्तार किया, विशेषतः प्रकृति की अनंत सुषमा को देखने और उसमें रमने की प्रवृत्ति का सर्जन किया, अपनी वैयक्तिक अनुभूतियों को महत्व दिया, स्वानुभूति-व्यंजक प्रणाली को अपनाना प्रारंभ किया, छायावाद और रहस्यवाद को अंकुरित किया, मानवतावाद को आधार बनाया। इस भाँति सर्वांगीण नवीनता की सृष्टि की। पर इतना सब होते हुए भी यह काल खड़ीबोली-काव्य का शैशव था, जब शिशु अपने पाँवों पर खड़ा होना और चलना सीख रहा था। अपने चारों ओर की वास्तविक परिस्थिति, उच्चावच भूमि और वातावरण से प्रभावित होकर भी वह अभी प्रौढ़ता को प्राप्त नहीं हो पाया था। पर, इसी युग के अंतिम वर्षों में आगे चलकर १९१५-१८ तक के वर्षों में काव्य के विकास में जो क्षिप्रता और प्रौढ़ता लक्षित होने लगी थी, वह छायावाद-रहस्यवाद युग के काव्योत्कर्ष का पूर्ण परिचय देती थी। तृतीय उत्थान में इसकी चर्चा की जायगी।

काव्यगीत—इस युग के कवियों में श्रीधर पाठक अंग्रेजी-साहित्य से प्रभावित एवं प्रकृतिपूजक थे। देश-प्रेम की गूँज उनकी रचनाओं में बराबर मिलती है। 'सनेही' (त्रिशूल) की कृतियाँ देशप्रेम, जातीयता के भाव से ओतप्रोत हैं। 'पूर्ण' जी की रचनाओं म स्वदेशी-आंदोलन का स्वर सर्वत्र मुखरित है। सत्यनारायण कविरत्न ने अपनी भावुक कल्पना से 'शिवभारती' भारत की भौगोलिक मूर्ति को, 'शिव' रूप से श्रद्धान्वित किया है।

गुप्तजी की रचनाएँ—देशभक्ति, भारतीयता के भाव सर्वत्र परिव्याप्त हैं। भारत के गौरव और उसकी महिमा में उन्हें अगाध विश्वास है। भारत भगवान् की लीलाभूमि रही है, अनेक महापुरुषों की जन्मदात्री है, अतः गुप्त जी उसे पूज्य और श्रद्धेय समझते हैं। सियारामजी भी उनके अनुयायी हैं।

इस युग में प्राचीन आदर्शों की मान्यता का नवीन ढंग से निरूपण हुआ है। यशोधरा और प्रियप्रवास में 'नारी' का महत्त्व अधिक आकर्षक है। युगयुग से उपेक्षित नारी काव्य की नायिका बनकर अपने उत्कर्ष की आभा विखेरती दिखाई देती है। साकेत की उर्मिला भी आगे चलकर इसी रूप में प्रतिष्ठित की गई। 'प्रियप्रवास' के कृष्ण दुष्ट-दलनकर्त्ता महापुरुष हैं और 'रामचरित चिंतामणि' में रामचरित जी ने राम के प्रति राजनीतिक दृष्टि प्रस्तुत की है। ऊपर निर्दिष्ट वीरपूजा भी इसी प्रतिपादन का प्रवाह है। 'दीन' जी का 'वीर पंचरत्न' 'सियारामजी' का 'मौर्यविजय' इसी भाव के द्योतक हैं।

परिस्थिति-प्रेरित वीरपूजा की चर्चा ऊपर की जा चुकी है। मोहनलाल महतो और माखनलाल चतुर्वेदी (गुप्तजी भी) आदि देशसेवक, देशार्थ प्राण देनेवाले सत्याग्रही वीरों की महिमा गाते अघाते नहीं है। देश के दलितवर्ग—किसान, मजदूर, विधवा, अछूत आदि के प्रति इनका मातृवत् अनुराग दिखाई देता है। नाथूराम जी तो आर्यसमाजी ढंग से, कूप-मंडूकी वृत्तिवालों की खिल्ली भी उड़ाते हैं और उनपर व्यंग्यवर्षा भी करते हैं। मानव के प्रति प्रेम और अनुराग व्यक्त करनेवालों में 'प्रेम-पथिक' के लेखक 'प्रसाद' और 'मिलन' एवं 'पथिक' के लेखक रामनरेश त्रिपाठी तथा 'ग्रंथि' निर्माता पंत का स्थान भी महत्वपूर्ण है। प्रकृति के प्रति इस युग के कवियों की अनुरागमयी आसक्ति का संकेत पहले किया जा चुका है।

भारतेंदु युग के पहले की, ब्रज-काव्य की रीति-भक्ति-कालीन परंपरा भी चलती रही। जगन्नाथ दास 'रत्नाकर' इस परंपरा के अतीव विशिष्ट कवि हैं। रत्नाकर जी की भाषा मँजी हुई, समर्थ और विशुद्ध है। उनकी उक्तियों में भावभंगिमा, भावों की संपन्नता, मर्मस्पर्शिता, रागबहुलता और रसमयता ओतप्रोत है। आदि से अंततक शब्दाडंबर का नाम नहीं। भावगुंफन का तीव्र और हृदयहारी प्रवाह है। उनका 'उद्धव शतक' प्रथम श्रेणी के ब्रजभाषा-काव्यों की कोटि में आता है। 'गंगावतरण' भी प्रसिद्ध है। 'रत्नाकर ग्रंथावली में उनकी कृतियाँ संगृहीत हैं। पूर्ण जी, 'कविरत्न' जी और 'वियोगी हरि' जी इस धारा के उल्लेखनीय कवि हैं। 'पूर्ण' जी प्रकृतिवर्णन के सिद्धहस्त कवि हैं। सत्य-नारायण जी का 'भ्रमरगीत' नंददास की परंपरा की उत्कृष्ट रचना है। वियोगी जी की 'वीर सतसई' वीर भावों की प्रसिद्ध और समादृत काव्यकृति है। इस प्रकार प्राचीन काव्य का प्रवाह भी इस युग में चलता रहा।

इस युग की प्रवृत्तियों ने भावी छायावाद-रहस्यवाद युग के लिए सभी प्रकार से पूर्वपीठिका प्रस्तुत की। अगले उत्थान के कवि का मार्ग इस युग के प्रयास से बहुत-कुछ सरल हो गया।

छायावाद-युग (तृतीय उत्थान)

(क—छायावाद-रहस्यवाद)—द्विवेदी-युग में काव्य की जिन विशेषताओं का संकेत किया गया है उनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि उन दिनों सामाजिक सुधार, राजनैतिक उत्थान और आर्थिक दुर्व्यवस्था की ओर कवियों का ध्यान था। काव्य का प्रवाह देश की तत्कालीन परिस्थितियों से मुखरित था। राष्ट्र की प्रायः सभी प्रवृत्तियाँ उस युग के काव्यों में प्रतिबिंबित हुई है। किंतु काव्य की रचनाविधि के विचार से, काव्यगत चारुता एवं सौंदर्याधान की दृष्टि से कविता की भावमयी मर्मस्पर्शिता एवं उसकी समवेदनीय आनंदानुभूति के विचार से उस युग की काव्यकला संपन्न नहीं है। उन रचनाओं में इति-वृत्तात्मकता का आधिक्य बर्तमान है।

पर द्विवेदी-युग के मध्य काल से काव्यधारा में परिवर्तन के चित्र लक्षित होने लगे थे। १९०६ ई० में 'इंदु' के प्रथम अंक में साहित्य की प्रस्तावना लिखते हुए प्रसाद जी ने छायावाद-युगीन काव्य-दृष्टि का संकेत किया था—'साहित्य का कोई लक्ष्य नहीं होता है और उसके लिये किसी विधि का निबंधन नहीं है, क्योंकि साहित्य स्वतंत्र प्रकृति सर्वतोगामी प्रतिभा के प्रकाशन का परिणाम है। वह किसी की परतंत्रता को सहन नहीं कर सकता। संसार में जो कुछ सत्य और सुंदर है वही साहित्य का विषय है। साहित्य केवल सत्य और सौंदर्य की चर्चा करके सत्य को प्रतिष्ठित और सौंदर्य को पूर्ण रूप से निकसित करता है। आनंदमय हृदय के अनुशीलन में और स्वतंत्र आलोचना में उसकी सत्ता देखी जाती है।' दूसरे वर्ष की उसी पत्रिका के एक अंक में वे कहते हैं 'श्रृंगार रस की मधुरता का पान करते-करते आपकी मनोवृत्तियाँ शिथिल हो गई हैं, इस कारण आप को भावमयी, उत्तेजनामयी, अपने को भुला देने वाली कविताओं की आवश्यकता है। अस्तु, धीरे-धीरे जातीय संगीतमयी वृत्तिस्फुरणकारिणी आलस्य को भंग करनेवाली आनंद बरसानेवाली धीर गंभीर पदविक्षेपकारिणी, शांतिमयी कविता की ओर हम लोगों को अग्रसर होना है।'

१९०९—१० ई० के अंकों में प्रसाद के इन विचारों से नयी कविता के साध्य और उपादान के कुछ संकेत मिलते हैं। सबसे पहली बात यह है कि नवीन कविता प्राचीन रूढ़ियों के प्रति विद्रोह—भावना को लेकर चलती है। वे बंधन, चाहे कवि-समय के अनुसार वर्ण्यविषयों से संबंध रखते हों, चाहे कवि-परिपाटी से संबंध रखते हों, चाहे काव्य-विषय के नायिका भेद, नखशिख आदि वर्ण्य वस्तुओं से संबंध रखते हों, चाहे अनुप्रास, यमक, उपमा, रूपक, आदि अलंकारों से लदी हुई अभिव्यक्ति शैली से संबंध रखते हों अथवा रीतिकालीन काव्य-रूढ़ियों से संबद्ध हो, नवीन काव्य-धारा उन सबके प्रति विद्रोहभावना लेकर चलेगी, वह काव्य रूढ़ियों के साथ-साथ समाज की अंधरूढ़ियों को भी तोड़ कर बहा देगी। अंध परंपराओं के आदर्श की मूर्ति के स्थान पर विशुद्ध मानवता की, लोकसत्य अनुभव की प्रतिमा स्थापित करेगी।

दूसरी बात उन्होंने यह कही कि साहित्य किसी प्रकार के प्रचारात्मक या सुधारात्मक उद्देश्य को लेकर न चलेगा। उसमें साहित्यिक चारुताओं का, अभिव्यक्तिगत सुन्दरताओं

का एवं काव्यानुभूति का रमणीय स्वरूप स्वतः अपना लक्ष्य होगा। साहित्य में सबसे महत्त्व-पूर्ण प्रेरणा होगी कलाकार का व्यक्तित्व और स्वानुभव तथा काव्यकर्म होगा कवि-जीवन की साधना। अपनी इस साधना द्वारा उसका प्रयत्न होगा सत्य और सुन्दर की आराधना। साहित्य या काव्य साध्य-साधन के योग से स्वतः अपने में पूर्ण होगा।

जिस तीसरी प्रमुख बात की ओर उन्होंने संकेत किया वह यह है कि भाव के आनंद से आकुल हृदय के अनुशीलन एवं जीवन और जगत् के बंधनहीन आलोचन में काव्य-सत्ता का उन्मुक्त विकास होगा।

श्रृंगार-बहुल कविताओं की परंपरा ने मानव वृत्तियों की अरुचिजन्य जिस शिथि-लता का सर्जन किया है, स्थूल सौंदर्य और भौतिक विलास के जिन उपकरणों को काव्य का अनिवार्य अंग बना दिया है, नई कविता उससे दूर रहने का यत्न करेगी।

अंग्रेजी शिक्षा, पाश्चात्य साहित्य का संपर्क तथा परिवर्तित देश-काल की अवस्था से काव्य के परम्परागत मानदंड का जो रूपांतर हुआ है, नवीन काव्य - धारा उसका संग्रह करेगी। काव्याभिव्यक्ति के नवीन उपकरणों की सहायता लेकर काव्य में नवीन शैली, नवीन उद्भावना और नवीन चेतना से काव्य-कला अनुप्राणित होगी। उनके उपादान होंगे भाव-मयता, अभिव्यक्ति-उत्तेजना, आत्म-विस्मृति-कारणी चेतना, संगीतमयता, आह्लाद-जनकता तथा शांति देनेवाली काव्यकला।

प्रसाद की इस घोषणा में काव्य के नवयुग-प्रवर्तन का तीव्रस्वर सुनाई देता है—प्राचीन बंधनों के प्रति विद्रोह, नवीन युग-भावना की संग्रहशीलता और साहित्य-कला का विकास। कुछ अंशो तक इस संदेश में द्विवेदी-युग के इतिवृत्तात्मक काव्य - निर्माण के प्रति भी प्रतिक्रियात्मक विद्रोह दिखाई पड़ता है। प्रसाद काव्य को नैतिक उपदेशों, समाज-सुधार के संदेशों और राजनैतिक दुर्गति के उद्वेगों की गाथामात्र नहीं मानते। काव्य में कुछ अनुभूतिगत ऐसी रमणीयता स्वयं होनी चाहिये जो उसे अपने आप में पूर्ण बनाती हो और गद्यात्मक संदेशों से पृथक् करती हो। भारतेंदु और द्विवेदी-युग की कविता ने रीतिकाल की प्रवृत्ति से दूर हटने का प्रयास किया। भारतेन्दु युग में रीतिकाल का प्रवाह युग-कविता से अलग हटकर वेगपूर्ण गति से बहता रहा। द्विवेदी-युग ने रीतिकालीन बंधनों को छिन्न-भिन्न तो किया पर उसमें काव्यात्मक चारुता और रमणीयता की सृष्टि न हुई। अब तक कवि की स्वानुभूति व्यक्तित्व-प्रकाशन के लिये यथेष्ट न हो पाई। इस दिशा में नवयुग-प्रवर्तक के रूप में प्रसाद जी इन्दु पत्रिका द्वारा 'कानन कुसुम', 'प्रेम पथिक' 'महाराणा का महत्व' आदि के रूप में प्रयोग करते रहे। पहले उन्होंने व्रजभाषा की रूढ़ि ग्रहण की थी पर आगे चलकर व्रजभाषा में प्रकाशित 'कानन कुसुम' भी खड़ी बोली में प्रकाशित हुआ।

१९१३-१४ ई० तक की उनकी रचनाओं में कुछ नई बातों की ओर भी संकेत दिखाई पड़ा। श्रीधर पाठक एक ओर प्रकृति-प्रेम के आकर्षणों से अभिभूत होकर काव्य में प्रकृति का महत्व प्रतिष्ठित कर रहे थे और दूसरी ओर 'कानन कुसुभ' की अनेक कविताओं द्वारा प्रसाद नवीन भाव-प्रवण शैली में प्रकृति को काव्य-कुसुम चढ़ा रहे थे। अब प्रकृति उद्दीपन मात्र न रह कर आलम्बन के रूप में चित्रित होने लगी थी। इन वर्णनों में द्विवेदी-युग

का वस्तु-नाम-वर्णनमात्र नहीं है, वरन् मानव हृदय का अनुराग प्रकृति को आत्मीय बनाने में संलग्न है। मानव-सौंदर्य के उपादान से वह मूर्तिवान् हो जाती है।

इन कविताओं से प्रकृति के प्रति भावों में क्रांति-दृष्टि के साथ-साथ स्वानुभूति-प्रकाशन का भी प्रयास दिखाई पड़ता है।

इन रचनाओं में एक व्यापक आत्मदृष्टि दिखाई पड़ती है। इसे हम आध्यात्मिक चेतना भी अर्थ-विशेष में कह सकते हैं जिसके अनुसार कवि, परमसत्ता की चित्शक्ति का अखंड प्रवाह के रूप में अनुभव करने लगा था। संभवतः यह दृष्टि भारत के काव्य-प्रवाह में कवींद्र रवींद्र के प्रभाव से आई। सन् १९१३ ई० में रवि बाबू की गीतांजलि का अंग्रेजी संस्करण नोबुल पुरस्कार से संमानित हुआ। उस रचना ने, महाकवि की चेतनामयी काव्य दृष्टि ने तेजोमय आलोक से समस्त विश्व को चकित कर दिया। भारत में उसका प्रभाव सर्वत्र फैल गया। प्रसाद की रचनाओं में भी अध्यात्मदृष्टि का उदय तभी दिखाई देता है। यद्यपि उसके पहले भी प्रकृति के प्रति कवि के हृदय का अनुराग, प्रेम और आत्मीयता लक्षित होती है, तथापि उसमें आत्मिक प्रेरणा का अभाव है। पर गीतांजलि के उदय होने के बाद आध्यात्मिक चेतना, प्रसाद-निराला-पंत जी में, और आगे चलकर महादेवी वर्मा और रामकुमार वर्मा आदि में विभिन्न रूपों में व्यक्त हुई। द्विवेदी-युग के कुछ कवियों में भी, जैसे—मैथिलीशरण जी, गोपालशरण सिंह जी, सियाराम आदि में रहस्योन्मुक्त दिखाई पड़ती हैं। काव्य में नवीन शैली और रहस्यात्मक अभिव्यक्ति का वेग तीव्र गति से चला। पक्व और अपक्व, दोनों प्रकार की बुद्धि के कवि इस निर्माण-कार्य में लगे। सन् १९१८ के पश्चात् कुछ वर्षों तक हिंदी-काव्य-क्षेत्र में इस प्रवृत्ति का चतुर्दिक् प्रसार अनियंत्रित ढंग से होने लगा। एक ओर तो प्रसाद और निराला जैसे ज्ञानप्रौढ़ कवि रहस्योन्मुख छायावादी काव्य-रचना में अग्रसर हुए, दूसरी ओर सनेही, रामनरेश त्रिपाठी आदि द्विवेदी युग की सीमाओं में रहते हुए भी छायावाद-युग के प्रवाह में बहने लगे। आगे चलकर मैथिली-शरण जी और सियारामशरण जी की काव्यकला भी समय-समय पर नवीन प्रवृत्ति से आकृष्ट होकर छायावादी रचनायें करती दिखाई पड़ी।

सन् १९१३ से १८ तक मोटे तौर से इस काव्य-धारा को अपना मूलरूप स्थिर करने में लगा। इसके अनंतर इसका वेगमय प्रवाह बह निकला। उन दिनों तक छायावाद की काव्य-शैली न तो अच्छी तरह मँज पायी थी, न उसकी प्रवृत्तियाँ ही पूर्णतः स्पष्ट हो पाई थीं और न काव्य-प्रेमी जनता का ही उनसे परिचय हो सका था। परिणामतः इस नयी काव्यधारा के प्रति प्रतिगामी विरोध का भी आंदोलन साहित्य के क्षेत्र में प्रकट हुआ। १९१९ में द्विवेदी-युग की राष्ट्रीयता और देशभक्ति की भावना को कठोर आघात लगा। जलियानवाला बाग का हत्याकांड अंग्रेजों के साम्राज्यवाद और पूँजीवाद से अनुप्राणित स्वार्थपरता का भीषण उदाहरण सिद्ध हुआ। योरपीय महायुद्ध के आरंभ में भारत की उग्र और विद्रोहमयी राजनीतिक असंतुष्टि को शांत करने के लिए अंग्रेजों ने जो आश्वासन दिये थे वे झूठे सिद्ध हुए। अपना हित और मतलब साध लेने के बाद अंग्रेजों ने भारत को अँगूठा दिखा दिया। युद्धकाल में आशा की राख से विद्रोह की जो चिनगारी

ढँक गई थी, पंजाब-हत्या-कांड की भीषण आँधी ने उसे प्रज्ज्वलित कर दिया। महात्मा गाँधी के अलौकिक व्यक्तित्व ने राष्ट्र को अपने अधिकार-प्राप्ति के लिए शस्त्र बल से अजेय सत्याग्रह की शक्ति से अनुप्राणित किया। साम्राज्यवादी शोषण और अत्याचार के विरुद्ध जनता ने विद्रोह की भेरी बजा दी।

ऐसे समय छायावादी प्रवृत्ति कुछ सहृदय जनों को समय के अनुकूल न जान पड़ी। उस प्रवृत्ति के द्वारा समय की पुकार कवि की वीणा में, उन्हें मुखरित न दिखाई पड़ी। स्थूल से हटकर, वास्तविकता से दूर जाकर, सूक्ष्म और अप्रत्यक्ष भावचेतना के काल्पनिक लोक में विचरण कुछ अनुचित लगा। अतः कुछ कवियों ने राष्ट्र-भक्ति, अजेय उत्साह और राजनैतिक संघर्ष के स्वच्छंद गीतों की मनोहर रागिनी सुनायी। माखनलाल चतुर्वेदी (भारतीय आत्मा), बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', सुभद्रा कुमारी चौहान आदि इसमें प्रमुख हैं, मैथिलीशरण गुप्त, सियाराम शरणजी आदि ने भी इस महायज्ञ में योग दिया।

दूसरी ओर कुछ आलोचकों ने भी अपना असंतोष इस काव्यधारा के प्रति प्रकट किया। कुछ आलोचकों का कहना था कि छायावादी रहस्योन्मुखता का स्रोत वह भावुकता नहीं है जिसमें कवि के हृदय की यथार्थता स्वानुभूति प्रेरक होती है। काव्याभिव्यक्ति में कल्पना का महत्व होने पर भी उसका योग अनुभूति के तथ्यपूर्ण प्रकाशन में होना चाहिये। यदि कवि की रचना, विशेषतः ऐसे विषयों में आत्मचिंतन और मनोनिवेश से उद्भूत अनुभूति को लेकर नहीं चलती है तो दूसरे की अनुभूति से प्रेरणा पाकर जगी हुई कल्पना का प्रभाव काव्य के जिस भाव-सौंदर्य को प्रकाशित करता है वह काव्य की यथार्थ भूमि नहीं है। अतः इन आलोचकों की दृष्टि से छायावाद का कवि वस्तुतः (प्रसाद, निराला, पंत महादेवी जैसे कवियों को छोड़ कर) स्वानुभूति की प्रेरणा से छायावाद की ओर उतना अधिक उन्मुख नहीं हुआ जितना रवींद्र की कविता और पश्चिम के रोमांटिक अथवा स्वच्छंदतावादी, प्रतीकवादी अथवा अभिव्यक्तिवादी काव्य-चेतना से प्रभावित हुआ। यह तो नहीं कहा जा सकता कि सीधे उसका संपर्क रवींद्र अथवा यीट्स और पो आदि की कविता से ही है, पर विश्वविद्यालयों में तरुण कवि कलाकारों का परिचय अवश्य ही अंग्रेजी के स्वच्छन्दतावाद-युगीन प्रतीकवादी, अभिव्यक्तिवादी कवियों से हुआ और उनका प्रभाव भी प्रत्यक्षतः या अप्रत्यक्षतः इन कवियों को नई काव्यधारा की ओर मोड़ने में अवश्यमेव प्रयोजक हुआ।

कुछ लोगों के विचार से इस नये साहित्यिक वातावरण के मोहन ने नवीन कवियों आकृष्ट किया और फलतः वे नवीनता के इस आकर्षण में बह निकले। कुछ विचारकों को यह आश्चर्य होता है कि छायावाद का युग, जब भारतीय राष्ट्र के जीवन में विकट संघर्ष का काल रहा, जब भारतीय जनता का समस्त जीवन-सरोवर, राजनीतिक उथल-पुथल से आलोड़ित और विक्षुब्ध था, तब हिंदी के कवियों की छायावादी मनोवृत्ति एक प्रकार के पलायनवाद का दिग्दर्शन होती है!

आचार्य शुक्ल जी के मत से यह तथ्य एक प्रकार की तत्कालीन भारतीय

मनोवृत्ति का परिचय देती है। विदेशी शिक्षादीक्षा के प्रभाव से भारत की सांस्कृतिक चेतना पश्चिम की विचार-धाराओं से अत्यंत प्रभावित हो रही थी। जीवन के समस्त क्षेत्रों में, यातायात, शिक्षा-दीक्षा, वेशभूषा, रहन-सहन, सामाजिक मर्यादा, राजनैतिक संघटन, सामाजिक सभा-समितियाँ, मुद्रण-प्रकाशन, पत्र-पत्रिकाएँ, चिकित्सा और खानपान, यहाँ तक कि साहित्य-निर्माण आदि—सभी अंगों पर पश्चिमी सभ्यता का रंग वेग से चढ़ता जा रहा था। भारत का शिक्षित मध्यवर्ग विशेषतः पश्चिम के बाह्यरूप से आकृष्ट हो रहा था।

फलतः साहित्य के क्षेत्र में भी पश्चिम का अनुकरण मध्यवर्गीय शिक्षित समाज में होने लगा था। हिंदी में ही नहीं, भारत की समस्त भाषाओं में साहित्य-रचना की विविध प्रणालियाँ पश्चिम से आ रही थीं। उपन्यास और कहानियाँ, आलोचना और निबंध, नाटक और एकांकी, सर्वत्र पश्चिम का पथ अपनाया जाने लगा था। ऐसी परिस्थिति में काव्यधारा भी यदि पश्चिम की प्रेरणा से प्रभावित हुई तो यह स्वाभाविक ही था।

पश्चिम की राजनीति एक ओर जहाँ हमारा शोषण कर रही थी, राजनैतिक स्वार्थों के बोझ से हमे चूर कर रही थी, साम्राज्यवादी प्रहार से हमें क्षत-विक्षत कर रही थी, वहीं दूसरी ओर, इच्छापूर्वक नहीं, वरन् परिस्थितिवश हमें उन्नति की ओर भी अग्रसर कर रही थी। पुरातत्व और इतिहास का ज्ञान, वैज्ञानिक चेतना का समुद्बोधन और उदारता-पूर्ण मानवतावादी दृष्टि के द्वारा हमारे जीवन के सम्पूर्ण अंगों को सक्रिय करती हुई विकास की ओर बढ़ने की प्रेरणा दे रही थी। हमारा राजनैतिक जागरण, आन्दोलन और संघर्ष भी, जहाँ एक ओर अंग्रेजों के साम्राज्यवादी शोषण और वैदेशिक व्यापारनीति के उत्पीड़न से असन्तुष्ट होकर प्रबल होता जा रहा था वहीं दूसरी ओर अंग्रेजी सभ्यता, उनका चरित्र, उनका स्वाभिमान, उनका स्वातंत्र्य-प्रेम देख कर हमारा राष्ट्राभिमान भी प्रबुद्ध—प्रबुद्धतर तथा निरन्तर शक्तिशील होता जा रहा था। अतः हमारे जीवन का समस्त क्षेत्र पश्चिम की सभ्यता से प्रतिध्वनित था। शुक्ल जी की आलोचना-पद्धति भी पश्चिम की साहित्यिक रुचि का ही एक स्वरूप है।

शुक्लजी छायावाद के आगमन का मार्ग ऐतिहासिक विचार के रूप में विश्लेषणात्मक ढंग से उपस्थित करते हैं। पश्चिम के रहस्यात्मक सन्तों की विचार धारा में पैगम्बरवाद के कारण ईश्वरीय संकेतों और संदेशों के प्राप्त्यर्थ मूर्छा या आध्यात्मिक समाधि की दशा में प्रतीकात्मक या छायात्मक रूप से ईश्वरीय निर्देश प्राप्त करना आवश्यक था। वहाँ से छायात्मक रहस्यवाद की यह प्रवृत्ति पश्चिम के रहस्यवादी कवियों में आई और खूब प्रचलित भी हुई। भारत में पहले-पहल इसके अव्यक्त रूप का दर्शन ब्रह्मसमाज की प्रार्थनाओं में होता है। बंगाल में बढ़ते हुए ईसाइयों के धर्म-प्रचार के प्रतिरोध के लिये राजा राम मोहन राय का ब्रह्मसमाज स्थापित हुआ था। अंग्रेजी शिक्षा और इसाई धर्म-प्रचारकों के प्रभाव से, आँख मूँद कर ईसाई धर्म की ओर दौड़ते हुए नवशिक्षित वर्ग को रोकने के लिये ब्रह्मसमाज जैसी संस्था आवश्यक थी। अतः उसकी प्रणालियों में भी पश्चिम का अनुकरण होने से ब्रह्मसमाज की प्रार्थनात्मक कविताओं में छायात्मक रहस्यवाद उत्पन्न हुआ।

रवींद्र के द्वारा धार्मिक क्षेत्र से उसका आगमन काव्य भूमि पर हुआ। कवींद्र रवींद्र स्वयं महान विचारक, चिंतक और दार्शनिक व्यक्ति थे। पश्चिम की काव्यरचना

प्रणाली का भी उनको गम्भीर ज्ञान था। अतएव उक्त रहस्यात्मकता, नवीन अनुभूतियों और अभिव्यक्ति शैलियों को लेकर साहित्यिक प्रौढ़ता के साथ रवींद्र की काव्यधारा में विकसित हुई तथा हिंदी काव्य क्षेत्र को भी उसने प्रभावित किया।

छायावाद के हिंदी में आने की प्रक्रिया कहाँ तक शुक्ल जी के कथनानुसार है इसका विवेचन आलोचक करते आ रहे हैं, यहाँ इतना कहनामात्र आवश्यक है कि हिंदी में इस काव्य-धारा का दर्शन गीतांजलि के प्रकाशन के अनंतर ही हुआ, इसकी मूल प्रेरणा में कवींद्र की काव्यकृति का प्रभाव अवश्यमेव पड़ा।

प्रथम महायुद्ध के पश्चात् भारत में भी जागरण का वेग तीव्र हुआ। भारतीय वीरों ने युद्ध में जिस वीरता का प्रदर्शन किया, उसके परिणाम स्वरूप उन्हें स्वतंत्रता के स्थान पर पंजाब हत्या-काण्ड का पुरस्कार मिला। गाँधी के नेतृत्व में, अपने अधिकार के लिये अहिंसात्मक उपायों से लड़ने वाले देशभक्तों पर दमन का भीषण चक्र चलाया गया। इसके परिणाम-स्वरूप काव्य में असंतोष से प्रेरित देशभक्ति की रचनायें होने लगीं। सत्याग्रह-सेनानियों के त्याग और बलिदान की गाथा कवियों ने सुनाई। वे इस युग में भी दासता का पाश काटने के लिये युवकों का आह्वान करते हैं। इस प्रकार कवियों का एक वर्ग अपने जीवन के संघर्षों की ओर प्रेरित होता दिखाई पड़ता है। छायावाद के मूर्धन्य कवि भी समय-समय पर देशभक्ति, देश की वीरता और महात्मा गांधी एवं उनके सिद्धांतों की महत्ता का गान करते सुनाई देते हैं।

दूसरी ओर महायुद्ध ने युद्ध की व्यर्थता का भी अनुभव करा दिया। उसके विनाशकारी भीषण परिणाम को राष्ट्र ने देखा और तज्जन्य निराशा का अनुभव भी किया। राष्ट्र-संघ की स्थापना भावी युद्ध के भीषण विनाश से विश्व को बचाने की सद्भावना से हुई थी। समस्त विश्व ने अनुभव किया कि जगत् का कल्याण, बंधुत्व का प्रसार, सद्भाव की प्रतिष्ठा, प्रेम-संबंध की स्थापना और शांति के वातावरण में ही हो सकता है।

इसी समय सहिष्णुता और अहिंसा, सत्याग्रह और सत्यनिष्ठा के बल से शस्त्रात्मक संघर्ष को अफ्रीका में जीतकर लौटे हुए महात्मा गाँधी ने अपनी अभिनव युद्ध-प्रणाली को देश में प्रवर्तित किया। भारत की प्राचीन विचारधारा, दर्शनों, उपनिषदों, बुद्ध के उपदेशों, अशोक और हर्ष के शासन प्रणालियों, भारत के दार्शनिकों एवं कबीर आदि संतो में जिसकी अभिव्यक्ति हो चुकी थी, उन सब की प्रतिध्वनि गाँधी के विद्रोह में गूँज उठी। उनकी प्रणाली एक ओर राजनीतिक संघर्ष की प्रेरणा दे रही थी तो दूसरी ओर उसी संघर्ष के द्वारा मानव-अधिकार की प्राप्ति का भाव, सत्य और अहिंसा की प्रतिष्ठा एवं त्याग और सहिष्णुता की चेतना भी जागरित कर रही थी। उसमें एक ओर मानवतावादी लोक-कल्याण की भावना और दूसरी ओर सहिष्णुता और त्याग का भी संदेश था। उनकी संघर्ष-विधि में हृदय की विशाल उदारता, बुद्ध की करुणा, ईसा का प्रेम और पाखंड के प्रति कबीर का विद्रोह निहित था। इसमें मार्क्स के विश्व-बंद्धत्व का संगोय भी था, पर शांतिमय अहिंसात्मक साधनों द्वारा साध्य होकर। अतएव उसका एक आध्यात्मिक पक्ष भी था। इसमें अंतःसाधना की प्रेरणा थी। गाँधी जी के विद्रोह में बाह्यरूप से जहाँ

राजनीतिक उथल-पुथल हो रही थी वहीं दूसरी ओर समस्त मानवता में शांति और प्रेम के अखंड रामराज्य की प्रतिष्ठा का प्रयास भी था। जगत् में होने वाले अत्याचारों, पीड़ाओं और दलन को सहते हुए भी आंतरिक रूपसे प्रसन्न रहते हुए मानव प्रेम के पथ पर चलने का संकेत भी था।

समस्त विश्व के विचारक और कलाकार, रवींद्र और गाँधी के संदेशों से प्रभावित थे। विश्व के संघर्षों की औषधि सभी उन संदेशों में ढूँढ़ रहे थे। फलतः विचारक और साहित्यिक विश्व की विभिन्नता और विरुद्धता के भीतर कवींद्र और गाँधी की प्रेरणा से अखंड अद्वैत सत्ता और सार्वजनीन बंधुत्वपूर्ण समता का अनुसंधान कर रहे थे। भारत के बाहर भी अनेक कवि भावों को बाह्य जगत् से मोड़ कर अपने अंतर में देखना चाहते थे।

सांस्कृतिक और भारतीय चेतना से अनुप्राणित—हिंदी के कवियों का एक वर्ग प्रसाद और निराला की काव्य-धारा के रूप में छयावादी बन कर प्रकट हुआ। प्रसाद में वही भावना मानव और प्रकृति, जड़ और चेतन के मध्य रहस्यात्मक संकेत स्थापित करती है तो निराला में उसके द्वारा अद्वैत सत्ता की छायात्मक अनुभूति प्रकट होती है। भावुक कवि पन्त का सकुमार हृदय यदि अपने प्रेम की सीमा में प्रकृत को समेटता दिखाई पड़ता है तो महादेवी जी में वह भावना अज्ञात सत्ता के प्रेम में विकल हो कर मुखरित होती है।

अतएव छायावाद की काव्यधारा एक ओर वर्तमान के प्रति विद्रोह और असंतोष की भावना से मुखर है तो दूसरी ओर स्थूल और वासनात्मक प्रेम से हट कर सूक्ष्म और अतींद्रिय प्रणय की रागिनी सुनाती है। उसे प्रकृति में भी चेतन सत्ता के सौंदर्य का आभास मिलता है। आकाश के अनंत झिलमिल तारों में उस अनंत अलक्षित ज्योति का प्रतिबिंब दिखाई पड़ता है। वह स्थूल के प्रति विद्रोही है, वर्तमान के प्रति विद्रोही है, रूढ़िगत बंधनों के प्रति विद्रोही है और साम्राज्यवादी दमनपूर्ण अत्याचारों के अघात से दुखी है। समाज की कुरीतियों से, छूआछूत की भावना से स्त्रियों और विशेषतः विधवाओं के प्रति समाज में प्रचलित क्रूरताओं से करुणार्द्र है। समाज की विषमता, असंतुलन, महत्वाकांक्षा तथा अधिकार-लिप्सा को देखकर वह संत्रस्त है। प्रसाद की कामायनी के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि युग और जीवन की, बुद्धि और विज्ञान की जिन सीमाओं ने मानव हृदय को संवेदनशील चेतना के क्षेत्र से बाहर करके यंत्रवत् बना दिया है, वही मूलतः वर्तमान युग का असंतुलन-जन्य विक्षोभ है, इसी से क्षुब्ध होकर मानवता पथ-भ्रांत हो रही है। अपनी उन्नति और विकास के दर्प से मानव संतुलन खो बैठा है। उसका ज्ञान एक ओर विकास और उन्नति के पथ पर दौड़ रहा है तो उसकी इच्छा, विलासिता और निरंकुशता की ओर बढ़ती जा रही हैं, और उसकी क्रियायें संहार और विनाश की ताण्डवलीला उपस्थित कर रही हैं।

इन सब विषयों और बहुमुखी प्रवृत्तियों के बीच छायावादी कवि को अपने काव्यपथ का निर्माण करना पड़ा। द्विवेदी-युग की वस्तु-प्रमुखता और इतिवृत्तात्मकता से कवि और

पाठक एक प्रकार से ऊब चुके थे। अतः नवीन चेतना के कवि-हृदय में उसके प्रति भी प्रतिक्रिया की भावना वर्त्तमान थी। विषयगत अतिशय स्थूलता और वर्णनात्मक अथवा उपदेशात्मक नीरसता से वह उद्विग्न था। एक ओर उसके स्वच्छंदभाव, काव्य रचना की रीतिबद्ध, रूढ़िबद्ध प्रणालियों—साहित्यशास्त्र और छंदशास्त्र के संकुचित बंधनों के प्रति विद्रोही थे तो दूसरी ओर वह द्विवेदी-युगीन वस्तु-वर्णनात्मकता से असंतुष्ट था। फलतः छायावाद का कवि दोनों प्रकार की काव्य-परंपरा को छोड़कर नए काव्यमार्ग का, अभिनव अभिव्यंजन प्रणाली का आश्रय लेता है। इसी कारण 'छायावाद' काव्य की अभिव्यक्ति-शैली, भावानुभूति के व्यंजक उपकरण और काव्यरूप के विधान भी भिन्न हैं।

सारांश यह कि 'छायावाद' युग में काव्य की व्याप्ति, वर्णनीय अनुभूति, चिंतन-धारा, चेतना-प्रवाह, जगत्-निरीक्षण की दृष्टि और तत्व-समीक्षा नए ढंग की है। जीवन और जगत् की, मानव-हृदय और हृदयस्थ प्रेम, दया, शोक, करुणा आदि को देखने की उनकी दृष्टि भिन्न है। वह स्थूल जगत् के माध्यम से सूक्ष्म की ओर बढ़ता है, दृश्य जगत् की रमणीयता के सहारे अदृश्य जगत् की ओर जाता है। प्रकृति की सुषमा के मार्ग से व्यापक सौंदर्य, सत्य सौंदर्य का दर्शन करता है। इसके साथ-साथ अपने हृदय की भावाकुलता को, सौंदर्यानुभूति को, नये माध्यम से व्यक्त भी करता है। वह नये छंद, नये प्रतीक, नये साम्य और उपमान तथा नयी योजना को अपने उपकरण के रूप में लेकर काव्य की उपासना करता है।

काव्य के उपादान—द्विवेदी-युग में छंदोविधान की जो प्रवृत्ति चली थी, छायावाद- युग में आकर उसका बड़ा ललित विस्तार हुआ। लय और प्रवाह, स्वर और मूर्च्छना की मधुर योजना को लेकर छायावाद के कवियों ने सैकड़ों नये छंदों का निर्माण किया। संस्कृत के वृत्तों को लेकर चलने के कारण द्विवेदी-युग के छंदोविधान में एक संकीर्णता आ गई थी। उसे बहुत कुछ मैथिलीशरण गुप्त और ठाकुर गोपाल शरण सिंह ने दूर किया था और नये हिंदी-छंदों में भाषा को माँजकर ढाल दिया था। संगीतात्मक लय को लेकर छायावाद-युगीन कवियों ने बड़ी मनोरम छंद-रचनाएँ कीं। लहर और कामायनी में गीतात्मक छंदों के बड़े सुंदर-सुंदर उदाहरण हैं। 'आँसू' अपनी लोक-प्रियता के कारण स्वतः आँसू-छंद के नाम से तरुण-कवियों में चल पड़ा। सुमित्रानंदन पंत भी आरंभ में छंदके संगीतात्मक सौष्ठव को महत्व देते थे। महादेवी वर्मा और रामकुमार वर्मा की रचनाओं में छंदों बड़ी ही मधुर संगीतात्मकता, लय और ताल की गति है। संगीत्मक लय, मूर्छना, स्वरोंका उतार-चढ़ाव और गतिमय प्रवाह आदि के योग से छंदों में बड़ा ही सौंदर्य आ गया है। बच्चन की मधुशाला तथा अन्य रचनाओं का शीघ्र प्रचार बहुत कुछ कवि-संमेलनों में उनकी कविताओं के गान के कारण हुआ। अनेक नये-पुराने कवि अभी तक नवीन छंदोविधान करते जा रहे हैं।

नवीन काव्यधारा में मुक्त और स्वच्छंद छंद का प्रवर्त्तन भी हुआ। वाल्ट ह्विटमैन के अनुकरण पर, पाश्चात्य काव्य में प्रचलित इस मुक्त छंद का निरालाजी ने बड़े जोर-शोर से हिंदी में प्रवर्त्तन किया। प्रसाद जी ने भी उस प्रणाली को अपनाया। लहर में

कथाश्रित रचनाएँ, 'प्रलय की छाया', 'शेर सिंह का आत्मसमर्पण' आदि मुक्त छंद में हैं। 'प्रलय की छाया' जैसी उत्कृष्ट रचना में मुक्त छंद का प्रयोग पूर्ण सफल रहा। पर उसे महाकाव्य के अनुरूप न पाकर कामायनी में प्रसाद ने नहीं अपनाया। पंतजी ने आगे चल कर उसका प्रचुर प्रयोग किया। महादेवी और रामकुमार वर्मा को वह योजना नहीं रुची।

मुक्त छंद में मात्रा, तुक, वर्णगणना के न रहने पर भी लय, ताल और संगीतात्मक प्रवाह बहुत आवश्यक होता है। 'रिदम' के योग से उद्भावित गतिशीलता ही इस छंदो-विधान का प्राण है। इसमें नाद-योजना और स्वरमैत्री बनी रहती है। छंद का बंधन न रहने के कारण कवि को जहाँ एक ओर अपनी भावाभिव्यक्ति में स्वतंत्रता और बंधनमुक्ति मिलती है वहीं दूसरी ओर उसे अपनी उक्ति में प्रवाह और ओजकी सृष्टि में सरलता भी दिखाई देती है। अतः मुक्त छंद में अपनी विशेषता है और आकर्षण भी। उसमें भी संगीततत्व के मधुर संयोग से तथा नवीन अभिव्यक्ति शैली के योग से काव्य त्रिवेणी में एक विशिष्ट प्रकार की रमणीयता उद्भूत हुई थी। प्रगीत मुक्तकों के गीतों में आज भी संगीत की तरंगिणी प्रवहमान है। संगीत के मिठास से काव्य की रमणीयता की वृद्धि ही होती है, ह्रास नहीं। मुक्त छंद में लयात्मकता के रहने पर भी संगीतज माधुर्य का कुछ ह्रास ही हुआ। इस छंद का प्रवाह निरर्गल रूप में बहता चला आ रहा है। प्रगतिवाद और प्रयोगवाद युग में यह कदाचित् सबसे प्रिय छंदःसाधना हो रही है।

स्वच्छंद छंद का प्रारम्भ पंत ने सर्वप्रथम पल्लव में प्रयोग रूप से किया था परंतु ऐसा जान पड़ता है कि वे स्वयं भी इससे संतुष्ट नहीं हुए और आगे भी उसका अनुकरण नहीं हुआ। 'राम की शक्ति पूजा' 'तुलसीदास' आदि में निराला ने सशक्त ओजःसृष्टि की है।

कल्पना और भावों का वैशिष्ट्य—द्विवेदी-युग के काव्यों में विषय और विस्तार होने पर भी कल्पना का योग अल्प रहा और भावानुभूति की अभिव्यक्ति-तीव्रता में भी कमी रही। व्रजभाषा काव्य में जितनी भावुकता थी, तत्कालीन रत्नाकर जी जैसे कवियों में जिस प्रौढ़ता के साथ भाव व्यक्त किए जाते थे उसका भी अभाव था और अंग्रेजी के स्वच्छंदवादी; प्रतीकवादी या अभिव्यक्तिवादी कवियों में जो काव्योक्तिगत प्रौढ़ता, कल्पना और भावानुभूति के प्रभाव से दिखाई पड़ती थी—उसका उदय द्विवेदी-युग में नहीं हो पाया था।

पद-लालित्य के साथ-साथ नवयुग की काव्य-सृष्टि में कवि की कल्पनाशीलता बढ़ उठी। उसकी भावाभिव्यक्ति में तीव्रवेग समाविष्ट हुआ, उसकी वेदना में प्रभावशाली संवेदनीयता मुखरित होने लगी। पारसनाथ सिंह द्वारा अनूदित बंगला-अंग्रेजी की कविताओं में इस प्रकार की प्रवृत्ति दिखाई देती है। लक्षणा और व्यंजना शक्तियों के उप-योग से पदों की अर्थ-वोधकता व्यापक, अभिव्यंजक और प्रभावोत्पादक बनाने में इस युग के कवियों को पर्याप्त सफलता मिली। यह क्रम द्विवेदी-युग में ही आरंभ हो चुका था। काव्य में कल्पना की उड़ान और भावाभिव्यक्ति का अंतर्मुखीन वेग मैथिलीशरण गुप्त, बदरीनाथ भट्ट, मुकुटधर पाण्डेय, रामनरेश त्रिपाठी आदि की रचनाओं में व्यक्त होने

लगा था। गुप्तजी पर तब तक छायावाद का प्रभाव नहीं था (जैसा कि इस युग में उन पर पड़ा—जिसके फल स्वरूप 'झंकार' और 'साकेत' का नवम सर्ग—प्रगीत मुक्तक की रचना पद्धति लेकर आया); किंतु उनमें भावाभिव्यक्ति की तीव्रता के लिए प्रयत्न दिखाई देता है। सन् १९१३ के आस-पास से ही बदरीनाथ भट्ट में और सन् १९१५–१६ के लगभग से पदमलाल पुन्नालाल बख्शी में इसका प्रादुर्भाव दिखाई देता है।

कवींद्र रवींद्र के प्रभाव से और ऊपर वर्णित देश की परिस्थितियों के कारण अनुभूति में तीव्रता की सृष्टि हुई। विषय-विस्तार बहुत कुछ द्विवेदी-युग में हो चुका था, किंतु शैली में अभिव्यंजनगत चारुता, सवेदनशीलता, कल्पना-विलास और अनुभूति-तीव्रता की कमी थी। छायावाद-युग में इन सभी विशेषताओं का समर्थ कवियों में अच्छा विकास हुआ। बहुत से अप्रौढ़ कवि छायावाद युग के आरंभिक वर्षों में नवीन काव्य-रचना की ओर मुड़े और प्रौढ़ता के अभाव से तथा समर्थ प्रतिभा की कमी के कारण कुछ दिनों तक नयी शैली में काव्य रचना का अभ्यास करने के अनंतर लुप्त हो गए। पर प्रसाद और निराला, पंत और रामकुमार वर्मा आदि इसमें पूर्ण सफल हुए। भाषा मँजी न होने से आरंभिक कवियों की अभिव्यक्ति कभी-कभी अस्पष्ट हो जाती है (प्रसाद और निराला की आरंभिक रचनाओं में वह अस्पष्टता देखी जा सकती है)। महादेवी वर्मा की रचनाओं में कभी-कभी दिखाई पड़नेवाली कविता के अर्थ की जटिलता का कारण कवि की अंतर्मुखीन गहराई और कल्पनावेष्टित अदृश्य प्रियतम-अनुभूति की सूक्ष्मता है। आगे चलकर इन कवियों की अभिव्यक्ति-प्रणाली में कल्पना और अनुभूति की प्रचुरता होने पर भी अर्थ-व्यक्ति अधिक स्पष्ट है। काव्यभाषा के मँज जाने पर भाषा के शब्दों की अभिव्यंजन-शक्ति में पर्याप्त विस्तार हो गया। प्रयोग-परिपाटी के कारण शब्दों की अभिव्यंजना चतुर्मुखी हो उठी। बच्चन और नैपाली, शिवमंगल सिंह शम्भूनाथ सिंह और 'क्षेम' की कविताओं में शैलीगत सरलता के रहने पर भी भाव की प्रभावमयी, संवेदनमयी गंभीरता बनी हुई है।

प्रतिक और साम्य-योजना—प्राचीन परिपाटी की काव्य-रचना में रूपक उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, प्रतीप, उपमा, उत्प्रेक्षा आदि की अलंकार-योजना से जो कार्य लिया जाता था—उसके स्थान पर नये युग ने नये माध्यम को अपनाया। रूढ़िबद्ध, परंपरागत अलंकारवक्रता को छोड़ कर पश्चिम की प्रतीकवादी प्रेरणा से नव-नव प्रतीकों की उद्भावना की गई। नवयुग में प्रतीक-शैली काव्याभिव्यंजन की परम समर्थ पद्धति प्रमाणित हुई। प्रतीकों के सहारे कवि के अर्थाभिव्यंजन की सीमा में व्यापकता भी आती है और संश्लिष्ट चित्रात्मकता भी। इस माध्यम के सहारे कवि यथेच्छ गहराई तक कल्पना-सहकृत अनुभूति की व्याप्ति को बढ़ा सकता है। प्रतीक हमारे सामने मूर्त्ति प्रस्तुत कर देते हैं और इस मूर्त्ति की व्यंजना-सीमा बड़ी विस्तृत होती है। प्रतीकों द्वारा होनेवाली अर्थव्यक्ति में बाह्य या स्थूल साम्य ढूँढ़ना अनावश्यक होता है। उस ओर कवि की संवेदनीयता का अधिक झुकाव भी नहीं रहता। वह तो प्रतीक-मूर्त्तिसे, प्रतीक-प्रतिमा से व्यंग्य प्रभाव की ओर बढ़ता है। इन प्रतीकों के काव्य संयोजन में कवि की कल्पना जितनी भाव-प्रवण होगी अनुभूति संवेदना जितनी ही गहरी होगी, उनके द्वारा अभिव्यक्ति में भी

रमणीयता और चारुता का विकास उतना ही सहज और स्वाभाविक होगा। लाक्षणिक मूर्तिमत्ता और सजीव चित्रात्मकता की जो मनोरम सृष्टि इस युग में हुई, वह काव्य की अपनी संपत्ति है।

इसी प्रकार अभिनव प्रतीक-योजना और साम्ययोजना के क्षेत्र में भी इन कवियों ने नवीनता को अपनाया। पुराने और रूढ़ि-जर्जर उपमानों के स्थान पर इन कवियों ने वर्तमान और नए उपमानों को ढूँढ़ना और उन्हें सजाना प्रारंभ किया। इन उपमान-योजनाओं में लाक्षणिक वक्रता और व्यंजक संवेदनीयता का सहारा लिया गया।

यहाँ एक बात ध्यान रखने की है कि प्रतीक और उपमान तभी तक रमणीय और समर्थ होते हैं जब तक वे देशकालानुरूप, देश की भावना-मान्यता के अनुकूल और जनबोध्य होते हैं। उपमान-योजना या साम्यभावना तभी संवेदनशील होती है जब वह सुबोध्य और नैसर्गिक हो। इस कारण इस युग के कवियों ने जब प्रतीकों और अपमानों की शक्ति और स्वभाव को समझ-बूझकर प्रयोग किया तभी उन्हें अपनी व्यंजना में सफलता मिली और जहाँ वह चूक गया—वहाँ कवि की रचना असमर्थ और कभी-कभी उपहास्पद भी हुई।

अन्य वैशिष्ट्य—छायावाद के कवियों ने ऊपर कही गई पद्धतियों—कल्पना, भाववेग, प्रतीक-योजना, उपमान-साम्य के समावेश से काव्य-क्षेत्र में पर्याप्त विकास किया। मानवीकरण, चेतनीकरण, विशेषण-विनिमय, मूर्ति-प्रत्यक्षीकरण, लाक्षणिक वैचित्र्य, अभिव्यक्ति-सौष्ठव, भावों की आकुल वेगशीलता, प्रभावशलीता, अभिव्यक्ति-भङ्गिमा, संवेदनीय प्रभावशीलता आदि का अतीव काव्योचित अवतरण नवीन काव्य-विधान में उपस्थित हुआ। भाषा में भी चित्रात्मकता, संश्लिष्ट-मूर्ति-उपस्थापकता, कोमल पदविन्यास, विरोध-चमत्कार आदि की उद्‌भावना द्वारा कवि ने नवयुग की सृष्टि की।

आध्यात्मिक पक्ष—छायावाद न तो केवल काव्य-रचना शैली है और न कोरा दार्शनिक सिद्धांत। छायावाद को काव्य-रचना-शैली मात्र मानना एक भ्रांति है। इस काव्य-धारा में काव्य-विषयक एक सुनिश्चित अंतर्दृष्टि भी है, अभिव्यंजन की एक विशिष्ट प्रणाली है और जीवन-जगत्, जड़-चेतन के विषय में उसका एक निश्चित विचार भी है। यद्यपि छायावाद अंशतः रहस्यवाद से भिन्न है।

हिंदी के छायावाद में पश्चिम के उन अनेक वादों का आंशिक योग है जो योरप में प्रचलित होकर समाप्त हो चुके थे। रहस्यवाद के अतिरिक्त 'रोमांटिक'-वाद (रमंतवाद या स्वच्छदंता वाद), प्रतीकवाद, कल्पनावाद, अभिव्यंजनावाद, निराशावाद, वेदनावाद, दुःखवाद एवं मानवतावाद की हिंदी के छायावाद काव्य में विशेष प्रमुखता रही। व्यक्तिवाद उसका विशिष्ट गुण था। ऐसी वैयाक्तिक भाव चेतना को, जो सर्वजनवेद्य, सर्वजन आस्वाद्य हो सके, छायावाद-युगीन प्रतीकों, उपमानों द्वारा व्यक्त करना इस प्रवृत्ति की प्रमुख विशेषता थी। अभिव्यंजनावाद की प्रवृत्ति से भिन्न इस प्रणाली में वस्तुगत सौंदर्य का महत्व था, पर अभिव्यंजनावाद के ही समान उस सौंदर्य का प्रभाव कवि की स्वसंवेदना के अनुरूप होता रहा। अतः वस्तुगत या विषयगत सौंदर्य की अपेक्षा विषयिगत, व्यक्तिगत

संवेदना और उसकी नूतन अभिव्यंजन-प्रणाली का छायावाद में अधिक महत्व स्वीकृत हुआ ।

जीवन और जगत्, जड़ और चेतन, मानव और प्रकृति के प्रति छायावाद की अपनी विशिष्ट दृष्टि थी । दृश्यमान वैभिन्य के अंतर में अदृश्य एकता की भावधारा यहाँ निरंतर बहती रही । जड़ और चेतन, स्थावर और जंगम—सबके प्रति आत्मीयता और आत्मवत्ता का भाव अपनाया गया । प्रकृति और मानव में घनिष्ठता और रागात्मक संबंध स्थापित हुआ । प्रेमकी व्यापक धारा से समस्त दृश्य और अदृश्य जगत् के प्रति आत्मयीता की भावना स्थापित हुई । इन सब के भीतर एक अखंड और व्यापक सत्ता की चेतना स्वीकार की गई ।

यह दृष्टि यद्यपि अभिव्यक्ति के लिए स्थूल का मध्यम लेकर चली पर उसका लक्ष्य रहा सूक्ष्म चेतना और आंतरिक संवेदना की प्रतिष्ठा । चित्रात्मक साम्यों और उपमानों, मूर्त्तिमान् और अनुभवगम्य प्रतीकों को लेकर चलने पर भी छायावाद का कवि इनके द्वारा स्थूल चित्रण अथवा वासनोत्तेजक मूर्ति-विधान के लक्ष्य लेकर नहीं चला वरन् अमूर्त्तभावों और प्रभावों की उद्भावना की ओर उसकी दृष्टि रही ।

रहस्यवाद—प्रकृति और सृष्टि की अनंतता और संमोहक रमणीयता ने उसकी अभिव्यक्ति में रहस्य-भावना की भी सृष्टि की । उसकी इस रहस्यात्मकता की प्रेरणा आध्यात्मिक साधना से प्रेरित नहीं थी । मध्यकालीन आध्यात्मिक सांप्रदायिक अथवा सांप्रदायिक दार्शनिक विचार-धारा इस युग की रहस्यभावना का उत्पादक नहीं था । इसका स्रोत था जीवन और जगत् की, स्थूल सौंदर्य की वह अंतश्चेतना, जिसका रहस्य, जिसके अद्भुत व्यापार, जिसकी आश्चर्योत्पादक शिल्पमत्ता आदि की गूढ़ अनुभूति भावुक हृदय में कुतूहल और जिज्ञासा की सृष्टि करती है ।

कभी-कभी अनंत निसर्ग-सुषमा के मूल स्रोत तक भी कवि की भावमयी कल्पना संवेदनामय कवि को पहुँचा देती है । कवि इस इंद्रियगोचर सौंदर्य-सृष्टि को सौंदर्य-राशि के अंश का प्रतिबिंब देखने लगता है । छायावाद युग और तदीय प्रवृत्ति का कवि बहुधा अपने अंतर्गत् में पहुँच कर रम जाता है । जब अंतर्लोक में उसका मन रमण करने लगता है, जब उसकी चेतना बाह्य जगत् से सिमिट कर अंतर्लोक में रमण और मनन करने लगती है तब उसकी संवेदना अधिक रहस्यवादी हो उठती है । स्थूल जगत् के प्रति उद्बुध और प्रसृत उसकी प्रेमभावना अंतर्जगत् में पहुँच कर उस सौंदर्य रत्नाकर, अज्ञात प्रियतम के प्रेम से विकल हो उठती है । प्रसाद और पंत, निराला और महादेवी वर्मा-सब में इस साहित्यिक, पर असांप्रदायिक रहस्यवाद का उन्मेष दिखाई देता है । मानव सौंदर्य को देखते-देखते, प्रकृति सौंदर्य का निरीक्षण करते-करते वे उस सौंदर्य-प्रेम-निधि से स्वयं प्रेम-संबंध स्थापित कर लेता है । महादेवी जी में यह रहस्य भावना एकांतिक हो उठी है । प्रेम के वियोग पक्ष की वेदना, पीड़ा और आकुलता, प्रतीक्षा और आगमन-आशा में वह अधिक मुखर हुई हैं । उनमें एक प्रकार का साहित्यिक रहस्यवाद आ गया है । ऐसा विशुद्ध रहस्यवाद आदि से अंत तक अन्य कवियों में नहीं दिखाई देता ।

(शेष पृष्ठ ४२१ पर)

विगत साठ वर्षों का आंध्र-साहित्य

मनुष्य विचारशील है। वह वर्तमान में रहता है, भूत से प्रेरणा पाता है और एक उज्ज्वल भविष्य की उन्नति का स्वप्न देखता है। उन्नति विचारों की अनुगामिनी है। ये विचार मानव-मस्तिष्क की अंधकारमयी कंदरा में नहीं रहना चाहते। ये सदा प्रकाश चाहते हैं। वे भाषा का परिधान पहनकर समाज में आते हैं और सक्रिय होकर समाज की गति निश्चय करते हैं। भाषा में व्यक्त हुए विचार अमरत्व प्राप्त कर लेते हैं। उत्तम भाषा में प्रकट किए हुए मानव समाज के उत्तमोत्तम विचार संगृहीत होकर साहित्य का रूप धारण कर लेते हैं।

विचारों में चिनगारियाँ रहती हैं। जहाँ एक विचार प्रगट हुआ वहीं वह सारे संसार में अग्नि की भाँति फैल गया। भाषा द्वारा ही विचार एक मनुष्य से दूसरे मनुष्य तक पहुँचकर व्यापकता धारण कर लेते हैं। साहित्य के कलेवर में सुरक्षित विचार नए विचारों पर अपना प्रभाव डालते रहते हैं। जो कुछ परिवर्तन या विप्लव होता है उसका मूल स्रोत किसी विचार-धारा में ही है। साहित्य द्वारा ही हमारा ज्ञान विस्तृत होकर हमें वर्तमान से असंतुष्ट बनाता है और एक नए पंथ का निर्माण करने की प्रेरणा देता है।

आंध्र साहित्य की विशेषताएँ

आंध्र में लिखी जानेवाली भाषा के दो रूप हैं, जिनमें संस्कृतनिष्ठ संकलित भाषा को आंध्र भाषा कहते हैं और देशजनिष्ठ भाषा को तेलुगु कहते हैं।

इतिहासकारों का मत है कि 'आंध्र' शब्द पहले पहल तैतिरेय ब्राह्मणों के नाम के पीछे लगता था। तेलुगुलु, तेलंगाणुलु, तेलंगा आदि नामों से "तेलुगु" शब्द निकला है। कुछ के मतानुसार "त्रिलिंग" नामक तीनों क्षेत्रों के बीच की जगह को तेलंगु कहते हैं, और उसमें बोली जानेवाली भाषा को तेलुगु कहते हैं। चंद्रगुप्त मौर्य के पहले आंध्र एवं तेलंगा अलग थे। किंतु उनके समय में दोनों मिल गए। कुछ विद्वानों का मत है कि ४५६ ई० पू० में ही प्राचीन आंध्र का उदय हुआ था। चालुक्य राजाओं ने प्राकृतमय तेलुगु को अपनी राजभाषा बनाई। लेकिन अधिकतर विद्वानों का मत है कि "त्रिलिंग" (हले, तेलुगु, कन्नड) में से तेलुगु भाषा अलग होकर आंध्र की भाषा बन गई। फिर भी आज तेलुगु एवं आंध्र दोनों नाम व्यवहृत होते हैं।

भाषा-शास्त्रों में आंध्र भाषा की उत्पत्ति के बारे में दो मत हैं। कुछ लोग आंध्र भाषा को द्रविड़ कुटुंब में से निकली हुई मानते हैं, और कुछ लोग आर्य भाषा परिवार से निकली हुई। इसके बारे में विद्वानों में अभी तक एकमत नहीं हो पाया है। आंध्र भाषा संस्कृतमय होती है। इसका व्याकरण भी संस्कृत के व्याकरण से मिलता-जुलता है। संस्कृत के अध्ययन के बिना कोई भी साहित्यिक आंध्र साहित्य का विद्वान नहीं बन सकता। यह भाषा पाश्चात्य

विद्वानों द्वारा प्राच्य की इटालियन भाषा (Italian of the east) कही गई है। दक्षिण भारत ही में क्या सारे भारतवर्ष में हिंदी के बाद बोली जाने वाली भाषाओं में तेलुगु का ही दूसरा स्थान आता है। तेलुगु साहित्य का भांडार अनंत है। संस्कृत की शायद ही कोई ऐसी पुस्तक हो, जिसका अनुवाद तेलुगु साहित्य में न हुआ हो। विशेषकर तेलुगु का नाटक साहित्य प्रख्यात है। कवींद्र रवींद्रनाथ ठाकुर जब जीवित थे तो तेलुगु नाटक देखने के लिये दो बार बेजवाडा आए थे। १९५१ में संसार की सर्वश्रेष्ठ कहानियों की प्रतियोगिता में श्री पालगुम्मी पद्मराजु द्वारा लिखित "गालिवाना" (Storm and Rain) तूफान और बरसात (झंझा) नामक कहानी को दूसरा स्थान मिला था।

आंध्र लिपि के बारे में अधिकतर विद्वानों का मत है कि ब्राह्मी लिपि से ही आंध्र लिपि निकली है। आंध्र लिपि आजकल गोलाकार होती है। इसके बारे में विद्वानों का तर्क है कि दक्षिण में भोजपत्र नहीं मिलते थे। इसलिये यह लिपि तालपत्र पर ही लिखी जाती थी। तालपत्र पर सीधी लकीर खींचकर लिखने से वह फट जाता है. इसीलिये गोलाकार बनाकर लिखते लिखते आज उधर की लिपि गोलाकार की हो गई है।

प्राचीन आंध्र-साहित्य का संक्षिप्त परिचय –

अज्ञात युग (२८ ई० पू० से १००० ई० तक)

इस युग का साहित्य नहीं मिलता है। पूर्वांध्र पद चार हजार थे। ५०० ई० से १००० ई० तक के समय के तीन लेख मिलते हैं—

(१) गुणग विजयादित्य, (२) भूपाल कुंड, (३) एवं युद्धमल्ल शासनम्।

पौराणिक युग (१००० ई० से १२०० ई० तक)

इस युग के साहित्य को हम पाँच भागों में बाँट सकते हैं। (अ) ब्राह्मण शैव कविता (आ) वीर शैव कविता (इ) शास्त्र (ई) विशुद्ध काल, एवं (उ) नीति काव्य। कुमार भट्ट द्वारा रचित 'पूर्व मीमांसा' नन्नयमत एवं संदेश लिए हुए हैं। भीम कवि के 'राघव पांडवीयमु' 'नृसिंह पुराणमु' थे। लेकिन ये पूर्णतः मिल नहीं रहे हैं। पर कुछ 'चाटुवु' (पद्य) मिलते हैं। शिव तत्वसारकर्ता मल्लिकार्जुन भी इसी समय के थे।

इस युग में आठ कवि आंध्र प्रथम महायुग की साहित्य रानी के आठ मंत्री थे। पुरोहित नन्नय, कोषाधिकारी मल्लन, युवराज प्रतापरुद्र, मंत्री भास्कर; सेनाधिकारी नन्ने चोडुलु एवं गृहमंत्री गणपति कवि थे वर्द्धन और सोमनाथ।

आदि कवि नन्नय कृत 'भारत' के तीन पर्व हैं, जिनके लिखने में नारायण भट्ट और एर्रना का भी हाथ था। कवि नन्नय पौराणिक युग के मार्गदर्शक थे। नन्ने चोडुलु की "कुमार संभवम्" १२ अध्यायों में है। नन्ने चोडुलु काव्य प्रबंध कविता के भी प्रणेता थे, जिसे श्रीनाथ ने आगे बढ़ाया और पोतन्ना ने विस्तार किया।

श्री सोमनाथुडु ने द्विपद की श्रीवृद्धि की थी, यद्यपि ब्राह्मण इनकी रचना को अप्रमाण "बसवपुराणम्" कहते थे। आपका कहना था कि कविता किसी भी रूप में लिखी जाय कविता है। इस तरह आप अपने समय के क्रांतिकारी कवि थे। इनके "बसवपुराणम्"

एवं "पंडिताराध्यय चरित्र" द्विपद में ही लिखे गए हैं। ये अपने समय के कवि सार्वभौम एवं युग के अध्यक्ष भी कहे जाते हैं।

काकतीय युग
(१२०० ई० से १३८० ई० तक)

इस युग में 'इदम् ब्रह्मणामिदम् क्षात्रम्' वाक् सिंहासन तेलुगु की भारती बैठी हुई थी। कवि लोग केवल राजतंत्र ही नहीं बल्कि राज्य को चलाने में भी सिद्धहस्त हुए थे। देश की आर्थिक एवं सामाजिक स्थिति महोन्नत थी। देश का वातावरण शांत था। ऐसे समय पर साहित्य का विकास होना स्वाभाविक ही था।

शिव देवय्या का "पुरुषार्थसारम्" एक नीति-ग्रंथ था। शैली को दृष्टि में रखते हुए भोजराज कृत "मारचरिया" का अनुवाद गंगाधरुड्डु का "बाल भारत", गंगराज का "नंद चरित्र" एवं पेद्दन्ना का "प्रद्युम्न चरित्र" आदि ग्रंथ इसी युग के हैं। पेद्दना "काव्यालंकार चूड़ामणि" का निर्माता था। अगर रसात्मकम् वाक्यम् काव्यम् कहा जाय तो पेद्दन्ना उच्च कोटि का कवि था।

भारत का महान् काव्य रामायण के कई ग्रंथकार हुए थे। हुल्लकि भास्करुड्डु ने इसे शुरू किया। इसके मित्र अय्यलार्युड्डु और पुत्र मल्लिकार्जुन भट्ट, एवं शिष्य कुमार-रुद्रदेव ने इसकी पूर्ति की। इस तरह प्रथम रामायण के पाँच कवि हुए। "हरिवंशम्" भी दो कवियों द्वारा लिखा गया है। लेकिन इसके बीस साल के बाद वाच नसोमनाथुड्डु नामक कवि ने नूतन कविता प्रणाली शुरूकर अद्भुत कविता विलासिता के साथ उत्तर "हरिवंशम्" की पूर्ति की। सोमनाथुड्डु कवियों में सर्वोत्कृष्ट कवि, अष्टभाषा-विशारद एवं अष्टादश पुराणों के पंडित थे। इनकी दूसरी रचना "वसंत विलासम्" भी मशहूर है।

आंध्र साहित्य के महान् कवि

"आंध्र व्यास" तिक्कना का "महाभारत" आंध्र साहित्य का अनूठा ग्रंथ है। तिक्कना आंध्र भाषा के काव्य-मर्मज्ञ थे। शेक्सपीयर की श्रृंगार रचनाएँ एवं सोनेट (Sonnet) जिस प्रकार लोकप्रिय हैं, उसी प्रकार तिक्कना की "विजयसेना" आंध्रों के लिये प्रिय है। अपने समय के सामाजिक, राजनीतिक एवं आध्यात्मिक स्थिति का तिक्कना प्रतिनिधित्व करते थे। ये युग-कवि थे।

एर्रना भी १४ वीं शताब्दि के अंत में आते हैं। ये सौम्यमति साधु थे। आज भी आंध्र में देहात के साधारण शिक्षित से लेकर पंडित तक आपकी रचनाओं में रस लेते हैं। एर्रना ने नन्नया एवं तिक्कना का अनुकरण किया। इनका मौलिक ग्रंथ "नृसिंह पुराणम्" है। प्रौढ़शिल्प एवं शिल्पानुकूल भावाभिव्यक्ति तिक्कना ने की तो मित भाषा नन्नया ने। एर्रना ने इन सबों का विस्तार किया। ये तीनों कवित्रय आंध्र साहित्य के मुकुट माने जाते हैं।

कर्नाटक युगः—(प्रबन्ध काव्य १३८० ई० से १५०० ई० तक)

इस युग के प्रथम भाग में मड़कलिंगना, बम्मेर पोतन्ना, गौरना मंत्री एवं जक्कना कवि थे। भैरवनिशांक, कोम्मना, एवं बल्लभराय मध्ययुग के थे। नादि मल्लया, घंटलिंगना, दुग्गन

कवि, नारायण कवि और पिनवीरना अंतिम युग के थे। 'वशिष्ट रामायण' एवं 'पद्म-पुराणमु' की रचना मडकलिंगना ने की थी। अन्नम राजू की शिवस्तुति भी अच्छी है। पेद्दया, मल्लया, जैतुराजू आदि भी इसी युग के अच्छे कवि थे।

पोतन्ना क्रांतिकारी कवि थे। जब कि सभी कवि राजाश्रय में पलते थे, उस समय इन्होंने राजाश्रय को ठुकरा कर खेती को अपनी आजीविका बनाया था। इनका "भागवतमु" बहुत ही प्रसिद्ध है। यह संगीतमय काव्य है। पोतन्ना स्वयं संगीत-मर्मज्ञ थे। ये 'सूर' के समकालीन थे। इन्हें 'आंध्र-सूर' भी कहा जा सकता है।

कविलोक ब्रह्म श्रीनाथ भी इसी युग के थे। ये अपनी सरल शैली के लिये प्रसिद्ध हैं। इनके जितने भी महाकाव्य निकले हैं, वे प्रीति के साथ पढ़े जाते हैं। इनमें शृंगार का पुट भी मिलता है, हालाँकि ये भक्ति-काल के कवि थे।

इनके बाद पिनवीरना हैं, जिन्होंने "वाणी मेरी रानी" कहा था। ये प्रकांड विद्वान् थे। ये अच्छे कवियों में गिने जाते हैं। इनकी रचनाएँ "अवतार-दर्पणमु", "नारदीयमु", "मानसोल्लास-सारमु", "पुरुषार्थ सुधा निधि" शृंगार-"शाकुन्तलमु" आदि हैं।

कृष्णदेव रायुलु का युग (स्वर्ण युग १५०० से १६५० ई० तक)

रायुलु का युग आंध्र साहित्य के लिये ही नहीं सारी आंध्र सभ्यता एवं संस्कृति के विकास के लिये भी स्वर्ण युग माना जाता है क्योंकि इस युग में क्या चित्रकला, क्या शिल्पकला, क्या साहित्य, क्या संस्कृति सभी अंगों का विकास हुआ था। इसका यह भी कारण था कि राजा स्वयं कवि एवं रसज्ञ थे। राजाश्रय में अष्टदिग्गज कवि रहा करते थे। पेद्दना, तिम्मना, नृसिंह कवि, भट्ट मूर्ति, रामकृष्ण, धूर्जटी, रामभद्र, आदि प्रबंध-काव्य के कवि थे। अल्लासानि पेद्दना का मनुचरित्र आंध्र साहित्य में बहुत ऊँचा स्थान रखता है। यह वीर एवं शृंगार-रस-प्रधान काव्य है।

मध्ययुगः—(१६५० ई० से १८७५ ई० तक)

इस युग में दो प्रकार के कवि मिलते हैं। प्रबंध-कवि एवं लाक्षणिक-कवि। प्रबंध-काव्य रचनेवालों में कूसमंचि तिम्मकवि प्रसिद्ध थे। ये अद्वैतवादी थे। इनके "रुक्मिणी परिणयमु" "राजशेखर विलासमु" शुद्ध तेलुगु रामायण, सारंग चरित्र आदि प्रसिद्ध हैं। लक्ष्मण कवि का रामविलास प्रबंध-काव्य एवं सुभाषित रत्नावली भी अच्छी है। लाक्षणिक कवियों में सूर कवि, अन्नमाचार्युडु आदि आते हैं।

संधियुग या नवयुग (१८०० ई० से १६०० ई० तक)

यह संधि-युग इसलिये कहा जाता है कि अंग्रेजों का आगमन हो चुका था और उनकी विचारधारा, साहित्य एवं संस्कृति का प्रभाव आंध्र पर पड़ रहा था। सी० पी० ब्राऊन को आंध्र देश भूल नहीं सकता, क्योंकि इन्होंने प्रथम आंध्र निघंटु प्रकाशित करवाया था। कर्नल कॉलिंस मैकेंजी के साथ वेंकट वीरय्या, इनके भाई रामस्वामी और साथी रंगा चार्युलु थे, इसी युग में रंगय्या कवि द्वारा भारत, भागवत, रामायण आदि प्रकाशित किए गए थे। भाषा संजीवनी, राजयोगी, चिंतामणि आदि पत्रिकाएँ भी निकलने लगी थीं।

नाटकों का अच्छा प्रचार हो रहा था। इस युग में पचासों कवि हुए थे। राम कवि का "चित्रांगद परिणयमु", कृष्ण कवि का "शशि रेखा परिणयमु" आदि अनेक ग्रंथ निकले हैं।

इस युग के अंत में श्री माडपाक पार्वतीश्वर कवि अपने समय के पूज्य एवं विद्वान् रहे हैं। इनके लगभग ८० ग्रंथ थे। इनका जन्म कविकुल में हुआ है। ये बड़े पंडित एवं माधुरी परिपूर्ण कवि रहे हैं। इनके प्रबंध संबंध निबंधनों में, श्री कृष्णाभ्युदयमु, राधा-कृष्ण संवादमु आदि अच्छे ग्रंथ हैं। "कांचीपुर महात्यमु" बड़ा काव्य-ग्रंथ है। कविता निर्दिष्ट शब्दालंकार-युक्त एवं श्रवणानंदकर होती है। उस समय के ये प्रतिनिधि कवि कहे जा सकते हैं।

श्री गोपीनाथ वेंकट कवि जी ने मूल रामायण का अनुवाद किया है। ये वेंकट गिरि रियासत के कवि थे। इनके ग्रंथों पर इन्हें अग्रहार भी दिए गए हैं। संस्कृत पंचकाव्यों में इन्होंने माघम् का भावानुवाद किया है। कृष्ण-जन्म-खंड इनकी अपनी रचना है। इनके बाद श्री वाविकोलनु सुब्बाराव जी, जिन्होंने श्री कुमाराभ्युदयमु नामक प्रबंध-काव्य, कौशल्या परिणयमु आदि की रचना एवं मूल रामायण का अनुवाद भी किया है। ये प्राचीन परंपरा के अनुयायी थे, फिर भी नवीनता का पुट मिलता है। ये आंध्र वाल्मीकि कहे जाते हैं। श्री वेंकट रत्नम् जी का बिल्वेश्वरीयमु भी प्रसिद्ध है। श्री रामानुज शर्मा जी, गोपाल कृष्ण कवि जी, कस्तूर शिवशंकर जी आदि इसी युग के प्रणेता रहे हैं।

आधुनिक काल (१९०० ई० से···)

आज कल जो युग चल रहा है वह आधुनिक काल कहा जाता है। कुछ लोग इसे गद्य-युग भी कहते हैं। इसके पहले भी गद्य-रचना हुई है, लेकिन बहुत कम। पुराणों में कहीं कहीं गद्य का प्रयोग मिलता है, किंतु गद्य का श्री गणेश १७वीं शताब्दि में मिलता है। इसके अतिरिक्त कोलाशेषाचल कवि ने १९ वीं शताब्दि में कुछ गद्य-रचना की है। इसमें "नीलगिरि यात्रा चरित्र" अच्छी और सुमधुर रचनाएँ हैं। मुदि गोंड ब्रह्मलिंगराध्य कवि जी ने शिव रहस्य खंड को गद्य में लिखा है। भाषा निर्दिष्ट होते हुए भी क्लिष्ट एवं शब्दालंकारों से लदी है। चदुवलवाडा सीताराम शास्त्री जी ने संस्कृत नाटकों एवं दशकुमार चरित्र के पूर्व भाग को गद्य में लिखा है। वाविल्ल रामशास्त्री जी के रामायण का गद्यानुवाद भी गणनीय है!

इन सबके बावजूद "नीति चंद्रिका" को ही शुद्ध गद्य रचना कहना चाहिए। यह श्री गद्यकविब्रह्म वीरेशलिंगमु पंतुलु जी द्वारा लिखी गई है। इसलिए इस युग को वीरेश-लिंगमु का युग कहना अत्यंत युक्तिसंगत होगा। क्योंकि जो स्थान हिंदी साहित्य में भारतेंदु हरिश्चंद्रजी का है, उससे मिलता-जुलता स्थान आंध्र साहित्य में वीरेशलिंगमु जी का है।

ये सर्व शक्तिमान एवं प्रतिभावान व्यक्ति थे। विप्लव-परिवर्तन इनका अनुगामी था। ये केवल विचारों को व्यक्त ही नहीं करते थे, बल्कि उन विचारों को एक मूर्तिमान रूप भी देते थे। इस तरह ये एक उच्च कोटि के साहित्यिक एवं समाज-सुधारक थे। इनकी प्रतिभा चतुर्मुखी थी। आंध्र साहित्य के इतिहास में आधुनिक युग या जिसे गद्य-युग भी कह सकते

हैं, गद्यब्रह्म श्री वीरेशलिंगमु जी से ही आरंभ होता है। इस युग में भी अन्य अनेक प्रतिभावान् साहित्यिक रहे हैं, लेकिन वे युग के प्रतिनिधि नहीं कहे जा सकते। वीरेशलिंगमु जी के पदार्पण के पहले समाज की क्या स्थिति थी, इस पर विचार करना आवश्यक है, क्योंकि व्यक्ति सामाजिक प्राणी होता है और उस पर समाज का प्रभाव पड़ता है और साहित्य भी समाज का प्रतिबिंब होता है।

वह महासंक्रांति-काल था। जिधर भी देखें धर्म द्वेष, अनीति, अविद्या, कुतर्क और अर्थ-रहित आचार चारों ओर फैले हुए थे। अंग्रेजों का आगमन हो चुका था, और अंग्रेजी शिक्षा के प्रभाव के कारण हेतुवाद एवं आधुनिक विज्ञान का तेजी से प्रचार हो रहा है। उस समय बंगाल में राजा राममोहनराय समाज-सुधार का बीड़ा उठाए थे। उसका प्रभाव केवल बंगाल पर ही नहीं सारे भारत पर पड़ा था। उसी ब्रह्म समाज की विचार-धारा से प्रेरित होकर श्री वीरेशलिंगमु जी ने आंध्र में अपना आंदोलन प्रारंभ किया था। आत्म-प्रत्यय के अभाव में अनाथ शिशु सी पड़ी हुई—आंध्र प्रजा को उत्साह देकर उन्नत पथ पर चलाने का श्रेय श्री वीरेशलिंगमु जी को ही मिला है। वे एक व्यक्ति ही नहीं, स्वयं महान् आंदोलन थे। उन्होंने अपने तन, मन, धन को उसमें लगाया। वे धर्म, स्त्री-शिक्षा और समाज की कुरीतियों में परिवर्तन लाना चाहते थे और समाज-सुधार उनका लक्ष्य था। रोग-ग्रसित समाज के उद्धार के लिये सुधार को ही दिव्य औषधि मानते थे। इसी से प्रेरित होकर वे सुधार के रंगमंच पर आए और अपने भाषणों एवं रचनाओं द्वारा सोये हुए जग को जगाने लगे।

समाज लकीर का फकीर होता है। चाहे अच्छा हो या बुरा। वह पूर्व-पद्धति पर चलना ही पसंद करता है। वह थोड़ा सा भी परिवर्तन नहीं चाहता। श्री वीरेशलिंगमु जी अंग्रेजी शिक्षा से प्रभावित होकर समाज-सुधार करने लगे, तो प्राचीन पंथानुगामी पग पग पर विरोध करने लगे। सुधारवादी एवं उसके विरोधियों का रंगमंच साहित्य एवं पत्र-पत्रिकाएँ होती थीं।

वीरेशलिंगमु जी का कहना था कि स्त्रियाँ शिक्षा के अभाव में विवेकहीन एवं अंध-विश्वासी हो जाती हैं, इसलिए उनमें शिक्षा का होना आवश्यक है। इनका दूसरा सिद्धांत था विधवा-विवाह और तीसरा एकेश्वर उपासना। विरोध के होते हुए भी वे अपने लक्ष्य पर तब तक अटल रहे, जब तक उन्हें सफलता नहीं मिली। उनके प्रचार के साधन मुख्यतः साहित्य और अंशतः भाषण रहे हैं। ये अपने युग की एक दिव्य ज्योति थे, जो नैतिक बल पर चलते थे।

युग-कवि की साहित्यिक देन

भारतीय संस्कृति एक विशिष्ट शैली लेकर चलती रही है। सरस्वती को साहित्य का एक मूर्त रूप समझा जाता है। इस कल्पना के पीछे हमारी एक विचारधारा है, एक विशिष्ट मान्यता है। इस साहित्य-राज्ञी के कंठ में एक युग अपना मुक्ताहार पहनाकर जाता है, जिसमें एक विशिष्ट मणि रहती है, जो माला-मुक्ताओं को एक सूत्र में गूँथकर शोभा बढ़ाती रहती है।

साहित्य-क्षेत्र में जो स्थान आदि युग नन्नय्या और मध्ययुग में श्रीनाथ का है, वही स्थान आधुनिक युग में श्री वीरेशलिंगमु जी का है। वीरेशमु जी इस युग में प्रथम कवि के रूप में साहित्य-क्षेत्र में दर्शन देते हैं, उस समय राजमहेंद्रवरम् में तीन ही कवि रहे हैं, वीरेशमुजी, वासुदेव शास्त्री और वसुरायुडु। इन्हें कवित्रय कहा जाता था।

शुद्ध तेलुगु में कविता करनेवालों में तीन ही कवि प्रथम में मुख्य रहे हैं, पोन्नि गंटि तेलगन्ना, कूचि मंचि तिम्मन्ना और वीरेशमु जी। इन तीनों में भी भाषा के विकास और परिवर्त्तन की दृष्टि से वीरेशमु जी का प्रमुख हाथ रहा। प्राचीन ग्रंथों के छपवाने में भी श्री वीरेशमु जी ने काफी प्रयत्न किया है। वाचनसोम का हरिवंशमु, केतन का दशकुमार चरित्रमु, घंट पुराणमु, मित्र भारतम् आदि अनेकों ग्रंथों का प्रकाशन इन्हीं के द्वारा करवाया गया है।

इनकी गद्य-रचनाओं को इस प्रकार बाँट सकते हैं—(क) उपन्यास, कहानियाँ, जीवनी, निबंध, प्रहसन, ऐतिहासिक और शास्त्रीय ग्रंथ। (ख) पद्य-रचना में—काव्य, नाटक और गीत। उपन्यासों में "राजशेखर चरित्र" प्रथम उपन्यास माना जाता है। यह अंग्रेजी में भी अनूदित हुआ है। कहानियाँ दो प्रकार की मिलती हैं। नैतिकता संबंधी और मनोरंजन संबंधी। प्रहसनों की रचना में वीरेशमु जी सिद्धहस्त रहे हैं। इनके कुल अट्ठावन प्रहसन हैं। इनमें अपूर्व ब्रह्मचर्यमु, विचित्र-विवरन्, आचारम्, महारुधिर प्रहसनमु, बलात्कार गान - विनोद प्रहसनमु, आदि प्रशंसनीय हैं। आलोचना में 'वेंकटरत्न कवि विग्रह तंत्र विमर्सनमु' उच्च कोटि की कृति है। इसमें कहा गया है कि आलोचना सद्यः आलोचना होनी चाहिए। ऐतिहासिक पुस्तकों में देश संस्थानचरित्रलु, स्वीय-चरित्र, आंध्र कवुल चरित्रलु आदि मुख्य हैं। शास्त्रीय ग्रंथों में तर्क संग्रहमु, व्याकरण संग्रहमु, अलंकार संग्रहमु, काव्य संग्रह आदि गंभीर ग्रंथ हैं। नाटकों में संस्कृत से अनूदित शाकुंतलमु, मालविकाग्निमित्रमु, रत्नावली, प्रबोधचंद्रोदयमु आदि उल्लेखनीय हैं। अंग्रेजी से अनूदित नाटकों में (The Merchant of Venice) "मरचेंट ऑव वेनिस" (Taming of the shrew) "टेमिंग ऑव दी श्रयू" आदि अच्छे नाटक हैं। इनके स्वयं लिखित नाटकों में "हरिश्चंद्र" "प्रह्लाद" आदि बहुत ही प्रसिद्ध हैं।

इस तरह श्री वीरेशलिंगमु जी ने लगभग १२० पुस्तकें लिखी हैं। वाङ्मय क्षेत्र में कोई ऐसी फसल नहीं है जिसे इन्होंने न बोया और सींचा हो। आधुनिक युग में एक विशेष व्यक्तित्व को लेकर इनका आगमन हुआ है। इसलिए इस युग को वीरेशलिंगमु जी का कहना उचित होगा।

श्री वीरेशलिंगमु जी के बाद कोमर्राजु वेंकटलक्ष्मण राव जी का नाम चिरस्मरणीय है। वीरेशलिंगमु जी ने आंध्र समाज को आत्मशुद्धि एवं सतप्रवर्तन का पाठ पढ़ाया, तो रावजी ने उसे सशक्त और पुष्ट बनाया। स्त्रियों में विज्ञान के प्रचार के लिये काफी साधन नहीं थे। राव जी ने अपनी बहिन अच्चमाम्बा द्वारा सच्चारित्र्य संबंधी अनेक पुस्तकें लिखवाईं और साहित्य में एक नूतन युग का प्रवर्त्तन किया। इनकी "विज्ञान चंद्रिका" की स्थापना आंध्र वाङ्मय के क्षेत्र में एक नवीन अध्याय है। इनकी ओर से जितना भी

साहित्य निकला है, उससे आंध्र साहित्य को एक नूतन आलोक मिला। यहाँ से प्रकाशित प्रत्येक रचना उच्च कोटि की होती ही थी और छपाई भी बहुत सुंदर एवं चित्ताकर्षक होती थी। राव जी का और एक महान् कार्य "आंध्र विज्ञान सर्वस्वमु" की स्थापना था। साहित्य को कोने कोने तक पहुँचाना ही इसका लक्ष्य था। यद्यपि राव जी के समय में तीन ही भाग प्रकाशित हुए थे, लेकिन उन्होंने जो बीज बोया था, वह आज भी पुष्पित और पल्लवित होता जा रहा है। इसमें रावजी की जो रचनाएँ निकली हैं, वे आज भी नूतन प्रतीत होती हैं।

इन साहित्य-वरदपुत्रों के बाद देशोद्धारक श्री काशीनाथ नागेश्वर राव पंतुलु जी का नाम आता है। अभी तक का समाज-सुधार एवं साहित्य-प्रचार उन लोगों के मुख्य लक्ष्य थे। अब उनमें राव जी के प्रवेश से देशभक्ति का भी समावेश हुआ। ये सर्वशक्तिमान्, त्यागी एवं प्रतिभावान् व्यक्ति थे। आंध्र में शायद ही कोई ऐसा सामाजिक क्षेत्र हो, जिसमें पंतुलु जी का पुनीत हाथ न लगा हो। ये आंध्रभाषा, आंध्र वाङ्मय और आंध्र-साहित्य का आदर एवं पोषण ही नहीं करते थे, बल्कि स्वयं भी साहित्यिक थे। इनका "आंध्रवाङ्मय चरित्र" ही इसका सुंदर उदाहरण है। प्रवृत्ति में निवृत्ति, भोग में त्याग, समृद्धि में सादगी और कार्य में अलौकिकता की साधना से संपन्न ये एक महान् योगी थे। भगवद्गीता पर जो इनकी टीका निकली है, वह वैयक्तिक विशिष्टता से पूर्ण है। "आंध्र विज्ञान सर्वस्वम्" का जो कार्य लक्ष्मण राव जी ने अधूरा छोड़ दिया था, उसे इन्होंने अपने कंधों पर लिया। लेकिन पूर्ण सफलता नहीं मिली। इनके द्वारा स्थापित "दैनिक आंध्र पत्रिका" और साहित्यिक मासिक पत्र "भारती" आज भी साहित्य-सेवा एवं देश-सेवा में पंतुलु जी की विरासत के रूप में लगे हुए हैं।

व्यावहारिक भाषा का आंदोलन

एक ओर समाज-सुधार आंदोलन साहित्य द्वारा किया जाता था, तो दूसरी ओर व्यावहारिक भाषा के आंदोलन का प्रारंभ हुआ था। उस आंदोलन के प्रेरक (अंग्रेज) जे० ए० एट्स थे। जब वे तेलुगु का अध्ययन करने लगे तब उन्हें साहित्यिक (ग्रांथिक) भाषा एवं व्यावहारिक भाषा में बड़ा अंतर दिखाई पड़ा। इस संबंध में उन्होंने कई पंडितों से चर्चा की। फलस्वरूप गिडुगु राममूर्ति एवं गुरूजाड अप्पाराव कवि आदि उस आंदोलन के कर्णधार बन गए। १६१० ई० से लेकर १९४० ई० तक यह आंदोलन चलता रहा और इसका विरोध भी होता रहा।

इन लोगों द्वारा व्यावहारिक भाषा के समर्थन में चार मुख्य तर्क उपस्थित किए जाते थे। ये कहते हैं कि भाषा-विज्ञान के आधार पर देखा जाय, तो संसार की भाषा बदली जा रही है। सभी कवि अपने समय की शिष्ट भाषा का प्रयोग करते थे। इसलिए आज भी साधारण भाषा में, सहज, सरल सुबोध शैली में साहित्य का सर्जन होना चाहिए। व्यावहारिक भाषा अधिक उपयोगी होती है; जब कि साहित्यिक भाषा की उपयोगिता परिमित और क्लिष्ट होती है। प्राचीन साहित्य किस प्रकार व्यावहारिक भाषा में लिखा जाता था, इसका दिग्दर्शन प्राचीन ग्रंथों से उदाहरण देकर दिखाया जाता था।

इसके विरोध में श्री नरसिंहेश्वर शर्मा जी और वेदम् वेंकटराव शास्त्री आदि थे। ज्योंही व्यावहारिक भाषा के आंदोलन का प्रारंभ होता है त्योंही उधर "आंध्र साहित्य परिषद्" का जन्म होता है। इसका एक मात्र लक्ष्य साहित्यिक भाषा में रचना करना तथा उसका संरक्षण करना था। इस तरह लगातार संघर्ष चलता रहा। फलस्वरूप इधर व्यावहारिक भाषा में भी साहित्य की श्रीवृद्धि होती रही, और उधर साहित्यिक भाषा में भी, साहित्य का भंडार भरता गया। धीरे धीरे पत्र-पत्रिकाएँ भी व्यावहारिक भाषा को अपनाने लगीं। आजकल का आधुनिक साहित्य अधिकतर इसी भाषा में लिखा जाने लगा है। इसकी सफलता में डाक्टर चिलुकूरि नारायण राव, गिडुगु सीतापति आदि का भी महत्वपूर्ण हाथ है। आज भी विश्वविद्यालयों में साहित्यिक भाषा, छंदोबद्ध रचना पर अधिक जोर दिया जाता है; इसलिये इस आंदोलन का लक्ष्य पूरा हुआ नहीं समझना चाहिए। फिर भी अधिकतर साहित्य का सर्जन इसी भाषा में हो रहा है।

व्यावहारिक भाषा में रचना करनेवालों में गुरूजाड़ा अप्पाराव जी बड़ा महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। इनकी कलम आदर्श को लेकर चलती थी, जिससे केवल चिनगारियाँ निकला करती थीं। समाज-सुधार में जितना महानतम काम अप्पाराव जी के साहित्य ने किया है, उतना काम शायद ही और किसी साहित्यिक ने किया हो। ये राष्ट्रीय कवि थे। इनका राष्ट्रीय गीत आज भी हर एक नौजवान के कंठ में नाचा करता है—

देश मुनु प्रेमिंचु मन्ना,
मंचि यन्नदि पेंचु मन्ना
वोट्टि माटलु कट्टि पेट्टोय,
गट्टि मेलु तल पेट्ट वोय्।
× × ×
देश मंटे मट्टि कादोय्
देश मंटे मुनुषु लोय्
× × ×
देश मनियेडि दोड्डु वृक्षम्
प्रेमलनु पूलेत्त वले नोय
नरूल चेमटनु तडिसि मूलम्
धनम पंटलु पंड वले नोय

"अरे भाई! देश से प्रेम करो, अच्छाई को बढ़ाओ, बकवाद से दूर रहो और एक ठोस कार्य करो। देश का अर्थ मिट्टी न समझना। देश माने मनुष्य ही है। इस देश रूपी उत्कृष्ट वृक्ष में प्रेम के फूल लगे और अपने पसीने से इस मूल (देश) को सींचो, जिससे यह जगत् समृद्ध होकर फूले फले।"

इस तरह अप्पाराव जी व्यावहारिक भाषा और सुंदर शैली में अपने मनोभावों को व्यक्त करते थे। "कन्या शुल्कम्" इनका एक उच्चकोटि का नाटक है, जिसमें गिरीशम् एक अद्वितीय पात्र है। यह पात्र शेक्सपीयर के फालस्टाफ और ओड़ हाउस द्वारा निर्मित

जीव्स जैसा शाश्वत है। आंध्र में शायद ही कोई ऐसा पढ़ा-लिखा व्यक्ति होगा, जिसने इस नाटक को न देखा और न पढ़ा हो। इसमें हास्य रस भरा हुआ है।

ये वैतालिकों को जगानेवाले कवि, बुद्धिमान और एक मार्गदर्शी थे। ये आदर्श पर ज्यादा जोर देते थे। कला कला के लिये नहीं, कला उपयोगिता के लिये मानते थे। इनके कविता संग्रह 'मुत्यालसरमुलु,' 'नीलगिरि पाटलु,' आदि हैं और 'सुभद्रा परिणयमु' प्रबंध काव्य है।

परंपरावादी आधुनिक कवि

इस अवसर पर श्री चिलकमर्ति लक्ष्मी नरसिंहम्, पानुगंटी लक्ष्मी नरसिंह राव, तिरूपति वेंकट कवि और वेंकट पार्वतीश्वर कवियों की चर्चा करना उचित है।

चेल्लपिल्ल वेंकट शास्त्री जी के अनेक शिष्य आज भी आंध्र साहित्य-क्षेत्र में अपना योगदान कर रहे हैं। जब वेंकट शास्त्री जी का नाम लिया जाता है, उस समय दिवाकर्ल तिरुपति कवि जी का भी नाम लेना आवश्यक लगता है। क्योंकि ये दोनों "तिरूपति वेंकट कवुलु" नाम से प्रसिद्ध हैं। ये विचारों में परंपरावादी होते हुए भी, संस्कृतमय तेलुगु को सर्वजनीन तेलुगु बनाने में सहायक रहे हैं। इनमें वेंकट शास्त्री जी जन्मजात तेलुगु कवि रहे हैं और तिरूपति शास्त्री जी केवल संस्कृत के। ये जब विद्यार्थी दशा में व्याकरण शास्त्र का अध्ययन करने ब्रह्मय्या शास्त्री जी के यहाँ गए तभी से दोनों गुरुभाई हो गए। ये एक दूसरे के पूरक हैं। आंध्र साहित्य में तीस साल तक इनका प्रभुत्व बना रहा। वह युग ही काव्य में समस्यापूर्ति का युग रहा है। आंध्र में शायद ही कोई ऐसा साहित्यिक क्षेत्र रहा हो, जहाँ इन कविद्वय का स्वागत न हुआ हो। जितने भी साहित्यप्रेमी रियासतों के नरेश रहे हैं, उनमें इनका समादर होता था। अपनी गौरव-प्रतिष्ठा पर कविगण गर्वित होते हैं।

"एनुगु नेक्कि नामु धर—
णींद्रुलु म्रोक्कग निक्कि नामुस—
न्यानमु लंदिनामु बहु—
मान मुलन ग्राहि इंचि नार मे—
व्वानिनि लेक्क पेट्टक नि—
वारण दिग्विजयम्बोन चिप्र
ज्ञानिधु लंचु पेरू गोनिं
नारमु नीवलनन सरस्वती!"

"हे सरस्वती! हम तेरी कृपा से गजराज पर बैठे हैं। बड़े-बड़े राजाओं से प्रणाम पाकर गर्वित हुए हैं। दूसरों के विरोध के बावजूद बहुत पुरस्कार एवं संमान मिला है और प्रतिभावानों से भी पूरिपूर्ण प्रशंसा मिली है।"

इन कविगणों की प्रसिद्धि अधिकतर अष्टावधान एवं शतावधान करने में रही है। अष्टावधान एवं शतावधान आंध्र साहित्य में एक विचित्र पद्य-पूर्ति-पद्धति है। आठ पंडितों की गोष्ठी में जो व्यक्ति आठो पंडितों द्वारा दिए गए विषम समस्या पदों की विचित्र प्रकार

से पूर्ति कर देता है, उसे वह पंडित-परिषद "अष्टावधानी" और इसी तरह एक सौ पंडितों द्वारा दी गई समस्याओं की पूर्ति करनेवाले व्यक्ति को "शतावधानी" उपाधि से विभूषित करते थे।

तिरुपति शास्त्री जी का स्वर्गवास वेंकट शास्त्री जी के तीस वर्ष पहले ही हो गया था। फिर भी वेंकट शास्त्री जी अपने क्षेत्र में सफल रहे हैं। मृत्यु के पहले ये मद्रास सरकार द्वारा तेलुगु के राजकवि घोषित किए गए थे। इनकी मृत्यु से परंपरावाद के अभाव की पूर्ति नहीं हो सकी।

श्री वेंकट पार्वतीश्वर कवि भी एक तरह से संक्रांति काल के हैं। इनमें भारती के प्रति अगाध श्रद्धा है। इनकी वाणी जल-प्रपात की तरह कल-कल नाद करती हुई प्रवाहित होती है। वैष्णव गीतों में प्रेम का जो उन्माद भरा था, उसने इनके गीतों में नूतनता ला दी है। भाषा-चयन में एवं कविता की शैली में इनकी अपनी विशेषता है। काव्य कुसुमावली (दो भाग) एकांत सेवा, रत्नहारमु इनकी कृतियाँ हैं।

विश्वनाथ सत्यनारायण जी, पंडित, कवि एवं आचार्य हैं। पद्य में इन्होंने विभिन्न शैलियों का प्रयोग किया है। प्रत्येक विषय को देखने का इनका अपना दृष्टिकोण होता है। ये आंध्र-संस्कृति पर गर्व करते हैं और कभी-कभी उसी की प्रशंसा करते करते आत्मविभोर हो उठते हैं। इनकी कविता में प्राचीन प्रयोगों की भरमार है। आंध्र प्रशस्ति, किन्नेरसानि पाटलु, गिरिकुमारुनि प्रेम गीत, आदि इनके मुख्य कविता—संग्रह हैं।

आधुनिक कविः—

उन कवियों में भी दो विचारधारा के कवि मिलते हैं। एक प्राचीन परंपरावादी, अर्थात् प्राचीन विचारधारा, शैली, छंद, और व्याकरण के नियमों से बंधे हुए भी नवीन रचना करनेवाले और दूसरे उन प्राचीन परंपराओं का उल्लंघन कर एक नवीन चेतना लेकर चलनेवाले।

प्राचीन परंपरावादियों में राजकवि शेखर, कवि सार्वभौम श्रीपाद कृष्णमूर्ति शास्त्री जी अग्रगण्य हैं। इन्होंने रामायण, महाभारत और भागवत आदि महान कृतियों की रचना की हैं और अनेक पद्य-प्रबंध भी लिखे हैं। ऐसा कहा जाता है कि इन्होंने (१५०) एक सौ पचास से भी अधिक रचनाएँ की हैं। इनकी कविता संस्कृतनिष्ठ होती है।

इनके पश्चात् श्री मल्लादि सूर्यनारायण शास्त्री द्वारा रचित भारतांतरगत "आंध्र भविष्य पर्वम्" की सुमधुर शैली है। दूसरा "प्रेम तत्वम्" भी पद्य-काव्य है। श्री नोरि नरसिंह शास्त्री द्वारा रचित श्री देवी "भागवतम्" प्राचीन विशेषता को लिए हुए हैं। इनके अधिकतर गीत अंग्रेजी कवियों की शैली से प्रभावित हैं। ये कला-मर्मज्ञ हैं। गीत-मालिका भी इनकी कृति है। इनके सिवा श्री नाग वीरय्या शास्त्री और सूर्य नारायण शास्त्री आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

नवीन युग (छायावाद)

इस कविता को आंध्र में 'भाव-कविता' नवीन कविता आदि नाम देते हैं। लेकिन इसे छायावाद और रहस्यवाद कहना अधिक समीचीन जान पड़ता है। इन कविताओं की

लोगों ने पहले हँसी उड़ाई और बाजारू कविता, बंदी कविता, बाल कविता, भार कविता आदि नामों से इसकी धजियां उड़ाई गईं। पुरानी अभिव्यंजना-पद्धति को छोड़कर नवीन पद्धति में भावों की मधुरता को दिखाना, पुराने कवियों के शृंगार रस से हटकर शब्द शृंगार रसानन्द को अपनाना, पुरानी कविता वस्तु को छोड़कर नवीन धूप, शोक, यौवन, कूड़ा आदि चीजों में भावों का आरोपन करना आदि इनकी विशेषताएं हैं। कविता-प्रवाह के लिए यति छंदन अनुप्रास आदि के नियमों को तोड़कर मनमाने ढंग से स्वच्छंद छंद पर यह कवि चलता है।

यह वाद अनेक आक्षेप-निक्षेप, दूषण-भूषण, तिरस्कार-उपेक्षा का विषय बनने के बाद कविता-क्षेत्र में स्थान पा सका है। इसकी जीत को प्रतिपक्षी भी मानते हैं। प्राचीन परंपरा का विरोध इसका पहला कदम है। मध्यम वर्ग की जनता का जीवन इसका इतिवृत्त है। इसमें शृंगार और वीर रस ही मुख्य रस हैं। लेकिन विप्रलंभ शृंगार की ओर अधिक झुकाव है। इतिवृत्त में भी सुखांत की ही प्रवृत्ति "कुर्यान्निर्वहणेऽदभुतम्" का महत्व घटा है। नायिका और नायकों को सुख झूला पर झुलाने की अपेक्षा कष्ट-कण्टकों पर लुढ़-काना ही सच्चरित्रता के निखार का सूचक मानते है। बाह्य वस्तुओं की अपेक्षा कवि की आंतरिक चित्तवृत्ति ही अधिकतर भावना का विषय स्वीकृत है। कवि के लिये कवि ही कविता-वस्तु है। यह पूर्व कविता के लिये अपरिचित था।

एक आदर्श प्रेयसी से प्रणय के लिये कवि परिताप करता है। यह प्रेम लौकिक है या अलौकिक यह समझना कठिन है। यही नूतन कविता का नवीन संकेत है। यह लौकिक नायिका नहीं कल्याणमय, युग-सुंदर भगवान् ही हैं। कभी-कभी कवि स्वयं नायिका बन जाता है और भगवान् नायक।

श्री वेलूरि शिवराम शास्त्रीजी प्राचीनता और नवीनता के संगम हैं। इन्होंने विश्व कवि रवींद्रनाथ ठाकुर की कविताओं से "कथलु-गाथलु" नामक अच्छा काव्य लिखा है। प्राचीनता के प्रति मोह रखते हुए भी नवीनता का स्वागत करते हैं। ये स्वतंत्र विचार के हैं, किसी वाद में पड़ना पसंद नहीं करते। कवि स्वयं अपने कविता-क्षेत्र के बारे में लिखते हैं :—

"कोंड नार्तान्ड्रि तोट ना कूचुर् तल्लि,
यडवि, मित्रम्बु, वागु चिन्नम्म चेरवु
वावि जेल्लेलु. नाव ना वाहनम्बु,
अल्ल येकांत मो यंतरंग सखुडु।"

"पर्वत मेरा पिता, बगीचा माता, जंगल मित्र, झील मौसी, तालाब छोटी बहिन, नाव वाहन और एकांतवास आंतरंगिक सखी है।" इस तरह कवि प्रकृति के साथ निकट संबंध स्थापित करते हैं। ये ज्ञानी, मातृभाषा प्रेमी, निराडंबर एवं निष्कल्मष हैं—

"तनदु भास कन्न तल्लि येव्वानिकि,
सत्य मन्य भाष सवति तल्लि,
तनदु धर्म मंदु तानु म्रग्गुट लग्गु,
अन्य धर्म मदि भयावहम्बु।"

"अपनी मातृभाषा माता है, तो अन्य भाषाएँ सौतेली माता हैं, यह निरंतर सत्य है। अपने धर्म के पालन के लिये बलिदान होना उचित है, क्योंकि अन्य धर्म में जाने से भयानक परिणाम होता है।"

शब्दों का उचित प्रयोग करने में इनको पूर्ण कुशलता प्राप्त थी। ये शायद ही व्यर्थ पदों का प्रयोग करते हैं। महात्मा गांधी जी के हरिजन-आंदोलन का प्रभाव भी कवि की कविताओं पर पड़ा है। एक हरिजन की दीन अवस्था का सुंदर वर्णन किया गया है। हरिजन जब स्वयं ज्ञानी हो जाते हैं, तो भगवान के दर्शन के लिये मंदिर में जाने की आवश्यकता महसूस नहीं करते हैं।

"अप्पुडु ना का कोरिक,...
इप्पुडु नाका कोरिक
चप्पग नशिइंचे नय्य सारा भिज्ञा!"

"हे सर्वज्ञानी! उस समय भगवान के दर्शन करने की मेरी आकांक्षा थी, लेकिन अब वह आकांक्षा नहीं रह गई है।" आज कल शास्त्री जी प्रकृति सौंदर्य के गीत गाने में ही अपना आनंद समझते हैं।

ये शब्दों का नवीन प्रयोग कर रहे हैं। जैसे, देह गृह प्राकारम्, साहिती समरांगण सार्व भौमुडु, रात्रि किनि रात्रि किनि मध्य रात्रि बोले आदि उज्ज्वल उदाहरण हैं।

श्री स्वामी शिवशंकर जी कवियों के सर्जक कवि हैं। इनके अनेकों शिष्य आज भी काव्य-क्षेत्र में विद्यमान हैं। इनकी कविता एक अच्छोद सरोवर है, सुमधुर रस है। यदि मानव जीवन में आप भयंकर तूफानों का दर्शन करना चाहें तो और कहीं जाना पड़ेगा।

ये छायावाद युग के प्रथम कवि माने जाते हैं। ये महान् पंडित एवं सहृदय हैं। प्रेम और दर्द ही इनका जीवन-संग्राम रहा है। ये पौराणिकता के बल पर ही नूतनता का स्वागत करते हैं। इस नूतन युग की स्थापना के महारथी हैं। इनसे कई नवीन कवियों को प्रेरणा मिली है। ये एक प्रेयसी के लिये एक गीत नहीं गाते बल्कि हृद्येश्वरी के लिये एक काव्य की ही रचना करते हैं।

"अधिक मैन कोलंदिनि मथन मकट,
उद्गमिंचेनु काल कूटोग्र विषमु,
प्रेयसी, निलूपितिनि दानि ब्रिगिय बट्टि,
कंठ कुहरंबु नंदु शंक रुनि भाँति।
× × ×
भव्य लक्ष्मी समागम प्राप्ति कोरकु
× × ×
एन्नटि कि नाकु लभि इंचु निविएरूंग!"

"हे प्रेयसी! ज्यों ज्यों काम-वेदना अधिक हो रही है, कालकूट का तेज विष बढ़ रहा है, लेकिन मैंने उसे शंकर की तरह अपना कंठहार बना लिया है।.........इस भव्य लक्ष्मी के समागम की प्रतीक्षा कर रहा हूँ। न जाने कब उसकी प्राप्ति होगी।" इस तरह

कवि की कल्पना में प्रेयसी रहस्यात्मक न होकर कभी कभी मूर्त रूप में सामने आ जाती है।

हृदयेश्वरी" "आवेदन" "ककुलमालिक", आदि इनकी प्रसिद्ध रचनाएँ हैं। जीवन का लक्ष्य आनंद ही है। हर साधना के लिये अर्धांगिनी को आवश्यक मानते हैं।

"नीवेंत कादन्न निश्रेय सम्भु
स्त्री नुपासिंपक सिद्धिम् पदोय"

पिंगलि लक्ष्मी कांतम् एवं काटूरी वेंकटेश्वर कविद्वय रम्यार्थ से रमणीय शब्द दाम्पत्य करवाकर कृत-कृत्य हुए हैं। "सौंदरनंनमु" अत्यंत मधुर काव्य है।

नंडूरि सुब्बाराव जी के "येंकि गीत" ग्रामीण भाषा में लिखे गए हैं। व्याकरण संबंधी नियमों में भी इनके विचार प्रगतिशील हैं। ये स्वच्छंदता के पुजारी हैं। इनके भाव हृदयस्पर्शी होते हैं। इनकी 'येंकि' एक प्राकृतिक नायिका है।

गडियारम् वेंकट शेष शास्त्री, दुर्भाक राजशेखर "शतावधानी", तुम्मल सीताराम चौधरी आदि भी उल्लेखनीय कवि हैं। शेष शास्त्री जी का "श्री शिव भारतम्" अनुपम ग्रंथ है। राजशेखर के 'राणाप्रताप सिंह" "चुण्डनृपाल चरित्र" आदि वीर काव्य हैं। चौधरी जी द्वारा रचित "गांधीजी की आत्म-कथा" "राष्ट्रीय" गानम् आदि सुंदर शैली में लिखे गए हैं। इनकी काव्य-धारा प्रवाहपूर्ण है।

इन्हीं दिनों शांति-निकेतन से शिक्षा पाकर श्री राय प्रोलु सुब्बाराव जी लौटे थे। ये लिखते हैं कि "मूर्ख लोग संभोग सुख चाहते हैं। मैं वियोग, माधुर्य-लीला, विलाप आदि में जीवन-सौंदर्य का दर्शन करता हूँ।" इस तरह ये इस युग की कुंजी हैं। गुरुदेव से इन्हें जो नवीन भाव मिले थे, उन्हें "तृण कंकणम्" एवं कष्ट-कमल में व्यक्त किया है। आंध्र की प्रशंसा करनेवाले इनके पद्य आंध्र जनता में अपनी संस्कृति के प्रति गौरव भावना पैदा करते हैं। "रम्या लोकम्" और "माधुरी-दर्शनम्" इनके तात्विक चिंतन के उदाहरण हैं। स्नेहलता देवी जड़ कुच्चुलु, मधुशाला (उमर खैयाम का) आदि कविता संग्रह हैं।

अब्बूरि रामकृष्ण राव जी पद-चयन में कीट्स जैसे हैं। काव्यों की पूर्णता, गौरव, लावण्यता आदि इनकी कविता में प्रतिबिंबित है। नए प्रयोग एवं स्वकल्पित नूतन छंदों का आविष्कार इनकी विशेषता है। "ऊहागानम्" "अपूर्व प्रेम" 'मल्लिकांबा' और नदी सुंदरी इनकी कृतियाँ हैं। ये अपनी अप्राप्त मनोहरी से निवेदन करते हैं कि—

"चीकटि दारुलंदु विकसिंचिन वेन्नेल वोले
तीव्र बाधा कुलु लैन वारलु सुधा सरसिन्
गोनु स्नान मट्लु श्यामाकृतिन् दाल्चि
नाडु हृदयम्मुन निलिचन दिव्य राशि,
ना कै करुणिंचि नी तनु विकासमु निम्पुमुना मद्म्मुनन् !"

"हे दिव्य रागिनी ! जिस प्रकार अंधकारमय सड़कों पर चाँदनी फैली है, जिस प्रकार वेदना से पीड़ित व्यक्ति सुधारस में तल्लीन होकर रास-क्रीड़ा खेलते हैं, उसी प्रकार तू मेरे हृदय में श्याम रूप धारण कर बैठी हो। पर दया करके तू अपनी श्यामाकृति को पल्लवित करती

जाओ।' इस तरह कवि वेदना में ही आनंद पाता है। उसी का स्वागत करता है। यह इस युग के लिये एक नई कल्पना है। इनका ताजमहल भी उल्लेखनीय है। ये प्रकृति में प्रेम का दर्शन करते हैं—

"मामिडि चेट्टुनु अल्लु कोन्नदी, माधवी लतोकटी,
ये मा रेंडिटि प्रेम सम्पदा इन्तिन्त् तन लेमू"

"आम के पेड़ पर माधवी लता फैली हुई है। उन दोनों की कितनी प्रेम-सम्पदा है, यह अवर्णनीय है।

इस अवसर पर वेंकट पार्वतीश्वर कविद्वय का पुनः नाम लेना उचित है। बंगला भाषा में जो मधुर रस निष्पत्ति थी, उसे तेलुगु साहित्य में व्यक्त करनेवालों में वेंकट-पार्वतीश्वर मुख्य हैं। इनकी "एकान्त सेवा" आंध्र का भागवत है। आत्मा-परमात्मा का संबंध प्रेमी-प्रेयसी का अनुराग आदि बहुत ही सुंदर ढंग से चित्रित किए गए हैं। "एकांत सेवा" में प्रेयसी की आत्मा का प्रेम-अन्वेषण, निस्पृह-साधना और परमात्मा में लय होना आदि अनुपम ढंग से व्यक्त है।

पौराणिक-परंपरावादी कवियों के विरुद्ध छायावाद का निमंत्रण करनेवालों में देवुल पल्लि कृष्ण शास्त्री जी प्रमुख रहे हैं। जिस समय शास्त्री जी अपना खंड काव्य लेकर कविता रंगमंच पर उतरते हैं, मुख्यतः कवि संमेलनों में, एक नूतनता का दर्शन होने लगता है। इनका विरोध कवियों के प्रति नहीं, भावों एवं शैली के प्रति है। व्यक्तिगत भावों को सार्वजनीन बनाकर आँसू में नक्षत्र-कांति देखने की कल्पना है। जब ये लिखने बैठते हैं तो कविता आप ही प्रवाहित होने लगती है। पहले ये एक पश्चाताप भावना (दुःखवाद) लेकर चले थे, पर बाद में मधुरतम भावों को रमणीय भाषा में व्यक्त करने लगे हैं। इनकी "उर्वशी प्रवासमुलु" संसार के साहित्य का अलंकार है। ये आज के सभी कवियों की अपेक्षा अति सुंदर शैली में देहातीत प्रेम का वर्णन करनेवालों में गिने जाते हैं:—

"प्रेयसिकि लेदु शरीरमुः
लेदु मेनु ना तीयनि प्रेम केनि
कल दे एड बाटिक माकु।"

"मेरी—प्रेयसी और मेरा मधुर प्रेम दोनों शरीर-रहित हैं, अतः दोनों के बीच वियोग कहाँ?" (ऐक्य)

ये कभी कभी गगन-विहारी बन जाते हैं। पाठकों पर अपना ध्यान ही नहीं रखते।

"नव्वि पोदुरु गाक ना केटि सिग्गु,
ना इच्छये गाक ना केटि वेरपु?"

मेरे ऊपर कोई हँसता है तो मुझे इस की चिंता नहीं है। मेरी इच्छा ही सर्वोपरि है।' ये कभी कभी मुक्त-प्रणय भोगी भी बनके आते हैं। समाज में प्रणय पर बंधन नहीं चाहते। हाँ! यह हो सकता है कि इनका प्रेम लौकिक न हो! पर कहते हैं:—

"सौरभमु लेल चिम्मु पुष्प व्रजम्बु?
चन्द्रि कल नेल वेद जल्लु जंद माम!

एल सलिलम्बु पारु ? गाडपेल विसरू ?

एल ना हृदयम्बु प्रेमिंचु निन्नु ?"

"पुष्प क्यों सुगंध फैलाता है ? चाँद चाँदनी छिटकाता है ? सलिल क्यों प्रवाहित होता है ? समीर क्यों झकझोरता है ? और क्यों मेरा हृदय तुम्हारे लिये लालायित है ?' यह कवि को आश्चर्यचकित करता है। इस तरह इनके "कृष्ण पक्ष" की अधिकतर कविताएँ मुक्त प्रणय के गीत गाती हैं। इनके मुक्त प्रेम की जब लोग कटु आलोचना करते हैं, तो कह उठते हैं कि यह संसार-स्वार्थी है!

"पक्षिननिपाड गल ननि प्रणय वीथि

नित्य लीला बिहारमुलु नेरूयुदु ननि

पक्ष मुलु दाल्चि बंधिंचि पंजरान दूल्चि

गानमुनुं प्राण मुनु हरिंप बूनिनारु।"

"यह मुक्त नभ पक्षिप्रणय गीत गाएगा और रास क्रीड़ाओं का नित्य उपभोग करेगा। इसलिये लोग चाहते हैं कि इसके पंख बाँधकर लोहे के पिंजड़े में बंद कर दें, जिससे इसके संगीत और अनुप्राणित जीवन का अवसान हो जाय। इतना ही नहीं कवि अपने को उन्माद-पथिक कहता है।

"नावलेने आत उन्मत्त भाव शालि

आगि को लेडु रेडु नूहल नोकिंत।

एट्टि निशिने नदरि पोवु नेगसि पडुनु

एन्नि चुक्कल पाटुल न्नेन्नि मेरपुलु ?"

"मेरे जैसे ही वह उन्मत्त पथिक भी भावुक है, हृदय में जो भाव उठते हैं, उन्हें रोक नहीं सकता। थोड़ी सी भी अंधेरी (जीवन में धक्का) आई तो तिलमिला उठता है। तारों के जैसा चंचल है।" इस तरह विक्षुब्ध पथिक अपने लीक पर चला जा रहा है। कन्नीरू (आंसू) श्रवणि, कार्तिक महति आदि कविता-संग्रह भी अच्छे हैं।

जिस समय कृष्ण शास्त्री जी का "कृष्ण पक्ष" निकला, उसी समय सुब्बाराव जी की 'फल श्रुति' ने जनता को आकर्षित किया। कृष्ण शास्त्रीजी का "प्रवास" के साथ सुब्बा राव जी की "सौभद्रिनि प्रणय-यात्रा" निकली। दोनों में मृदुता भरी हुई है। लेकिन जिस समय कृष्ण शास्त्रीजी का अन्वेषण पूरा होता है, उस समय सुब्बा राव जी का अन्वेषण फलित होता है।

श्री वेदुल सत्यनारायण शास्त्री कविता के मर्मज्ञ हैं। ये क्लिष्ट से क्लिष्ट भावों को व्यक्त करने में समर्थ हैं, इन्हें भी एक वेदना सताया करती है। दीपावली, पूर्णिमा आदि इनके पद्यों को सुनकर हरिंद्रनाथ चट्टोपाध्याय जैसे कवियों ने भी प्रशंसा की है। इनके पद्य चयन में प्राचीनता का अनुकरण और नवीनता का आभास पाया जाता है।

नायनि सुब्बाराव जी की कविता जीवन की अनुभूति से निकलती हैं। इनकी कविताएँ पाठक-हृदय पर एक गहरी छाप छोड़ती हैं। इनकी शैली सुबोध होती है। प्रणय, विरह-वेदना और मातृ-प्रेम आदि सभी में हृदय ही इनकी कसौटी है। प्रेयसी की

जुदाई पागल बनाती तो माता की मृत्यु भी रुलाती है। ये कल्पित दुनियाँ में विहार करना अधिक पसंद करते हैं। इनके गीत उज्ज्वल और उन्नत हैं।

अडवि बापि राजू कवि, लेखक चित्रकार भी थे। इनकी मृत्यु से आंध्र वाङ्मय को भारी क्षति पहुँची है। नाट्य शास्त्र में भी इनकी महान् प्रतिभा थी। अभी तक इनकी अनेकों रचनाएँ अप्रकाशित हैं। इनकी कल्पना हृदय पर एक छाप छोड़ जाती है।

'नुव्वू नेनू कलिसी
पुव्वुलो ताविला
ताविलो तलपुला
नुव्वू नेनू कलिसि
गोंतुलो कोर्केला गोंतुलो कोर्केला।'

'तू और मैं दोनों पुष्प में सुगंध और सुगंध में इच्छा जैसी हैं। तू और मैं दोनों कोयल और उसके स्वर एवं उस स्वर की आकांक्षा जैसी हैं।'

कवि कोंडल अप्पारावजी वड्‌सवर्थ की तरह प्रकृति के पुजारी हैं। सृष्टि की हर चीज से इन्हें नया 'दर्शन' मिलता है। इनकी कल्पना में विभिन्नता अधिक है। ये भाषा पर कम ध्यान देते हैं। भाव के अनुसार इनकी भाषा दौड़ती रहती है। कल्पना में इनकी अपनी विशेषता है। प्रकृति चंदनमु, मातृ-देश संकीर्तन, विलासिनी वैनतेयुलु आदि अच्छे काव्य संग्रह हैं।

दुवूरिरामि रेड्डी जो की प्रेरक शक्तियाँ हैं—स्वच्छंद आशा, स्वेच्छा, प्रीति और निर्मल राष्ट्रीयता। शुद्ध तेलुगु में अपने भावों को व्यक्त करने में ये सिद्धहस्त हैं। नगर में जीवनयापन करते हुए भी इनपर ग्राम का प्रभाव है, ग्रामीण वातावरण का कृषि वलुडु, वन-कुमारी, जलदांगना, नक्षत्र मुलु आदि कविता-संग्रह हैं। इनकी रचनाओं में ग्राम और उसके वातावरण का सुंदर चित्रण मिलता है। जंद्याल पापय्या शास्त्रीजी द्वारा करणश्री, उदयश्री, विजयश्री आदि अनेकों खंडकाव्य एवं कविता-संग्रह रचित हैं।

नवयुग कवि चक्रवर्ती श्री जाषुवाजी की अधिकतर रचनाएँ प्राचीन गौरव का गीत गाती हैं। कहीं-कहीं आधुनिक समस्याओं पर भी कलम चली है, पर वह प्राचीनता की आड़ में। गब्बिलमु एक हृदयाकर्षक खंडकाव्य है। इसके सिवा छः सात और इनके खंड-काव्य हैं। ये जाति के हरिजन हैं, इसलिये अपनी जाति की दीनावस्था का वर्णन करते हैं—

'ना कविता कुमारि वद नंबु
नेगादिग जूचि रूप रे
खा कमनीय वैखरुल गांचि
भली-भली यन्नवारले मी
रे कुल मन्न प्रश्न वेल इंचि
चिवुक्कुन लेचि पोवुचो
बाकुन ग्रुम्मि नट्लगुनु पार्थिव चंद्र
वर्चिप सिग्गगुन्।'

'मेरी कमनीय (रूपरेखा) विकसित कविता कुमारी के रूप को देख कर जो रसिक प्रशंसा करते हैं, वे ही मेरी जाति के बारे में प्रश्न करके उत्तर सुनते ही तिरस्कृत भाव व्यक्त कर चले जाते हैं। मेरे हृदय में शूल चुभने लगता है। हे कृष्ण ! यह सुनाने में भी लज्जा आती है। 'आंध्र शिल्पम्' 'आंध्र कवित्वम्' और 'आंध्र पौरुषम्' इनके प्रिय विषय हैं। पदों की शैली प्रबंधता लिए हुए भी सहृदयता भरी रहती है।

राज्य लक्ष्मम्मा, सौदामिनि, चावलि बंगारम्मा, तल्ला प्रगड विश्वसुंदरंमा आदि आधुनिक कवयित्रियों में प्रमुख हैं। सौदामिनि के भाव गंभीर एवं हृदयस्पर्शी होते हैं। विश्व-प्रेम और उस प्रेम को पाने की दृढ़ता इनके गीतों में दीखती है। इनके गीत सरलता और स्वच्छता के अच्छे उदाहरण हैं। प्रत्येक गीत मर्मस्पर्शी होता है। बंगारम्माजी के गीतों में शुद्ध तेलुगु का मिठास मिलता है। जन्मतः कोई कवि पैदा नहीं होता है, यह इन्होंने सिद्ध किया। विश्वसुंदरम्मा काल्पनिक जगत् में विहार करनेवाली हैं। इनके हर गीत में वेदना, पीड़ा और आशा का दर्शन होता है—

'पूल मालिक नल्लि नंदुकु
        करकु कत्तुले कानु कायेनु,
तेने सुधलनु चल्लि नंदुकु
        तेटि पोट्टुलु काट्टु लायेनु…
ईसु लेनी लोक मेदो
        एरिगि तेलुपुमु मालती।
वे रू पेरूंगनि लोक मेदो
        वेदकि तेलपुमु मालती।'

'मैंने फूलों की माला गूंथी, उपहार में तेज तलवार मिली, मधु की वर्षा की, बिच्छुओं का डंक मिला…हे मालती ! उस जगत् की खोज करो जहाँ ईर्ष्या और भय न हो।' इस तरह इनके गीतों में वेदना में स्वर्ग की खोज मिलती है। इनका जीवन कभी सुखमय बीता है, इसकी भी झांकी कुल गीतों में मिलती है।

महिलाओं में जागर्ति पैदा कर के समाजसेवा एवं साहित्य के प्रति श्रद्धा, उत्साह पैदा करनेवालों में श्री वीरेशलिंगम्, डॉ० के० एन० केसरी और लक्ष्मणरावजी के नाम स्मरणीय हैं। पुरानी साहित्यिक महिलाओं में कोडिकल पूडि सीतम्मा, जूलूरि तुलसिम्मा, पुलगुर्ती, लक्ष्मी नरसम्मा, बंडारू अच्चमाम्बा, वेमूरि शारदम्बा आदि लेखिकाओं और कवयित्रियों का नाम उल्लेखनीय है। आधुनिक समय में भी श्रीमती कनकम्मा, इंदुमती देवी, कृष्णा वेनम्मा, लक्ष्मी बायम्मा, रुक्मिणम्म आदि महत्वपूर्ण स्थान पर आसीन हो चुकी हैं। महिलाओं की तीन-चार पत्र-पत्रिकाएँ भी प्रकाशित होती हैं, जिनके प्रकाशन में श्रीमती दुर्गाबाई देशमुख का भी पुनीत हाथ है।

प्रगतिशील साहित्य

लगभग १९३६ ई० में भावात्मक या छायावाद के विरुद्ध एक विद्रोह होता है। इसका नेतृत्व नवयुवक श्री श्री ही करते हैं। इनकी दृष्टि में छायावादी कवि अपने लक्ष्य तक

पहुँचने में असफल रहे हैं। प्रगतिशील नवयुवकों ने 'विश्व श्रेयः काव्यम्' प्राचीन आदर्श को अपना लक्ष्य बना कर इस नूतन क्रांति को लेकर कविता का नाम प्रगतिशील रखा। श्री रंगम्, श्री निवास राव (श्री श्री) जी इस महायज्ञ में अपना 'महा प्रस्थान' लेकर उपस्थित हुए हैं। इनकी जनशक्ति का 'जगन्नाथ रथ चक्र' कविता इस जनयज्ञ का महामंत्र है। मद्रास के उच्च न्यायाधीश श्री पी० वी० राजमन्नार जो कवि, लेखक, उपन्यासकार एवं आलोचक भी हैं, प्रगतिशील रचनाओं के संबंध में कहा है कि 'आज कल कविता का दृष्टि-कोण बदल गया है। कविता में मृदुलता एवं मिठास कम होती जा रही है। उसके स्थान पर कठिनता, कर्कशता, प्रतिष्ठा पाती जा रही हैं।' इस अभ्युदय काल की कविता के लिये जिस सामग्री की आवश्यकता है उसे श्री श्री की कविता में व्यक्त किया गया है।

'सिंधूरम् रक्त चंदनम् बंधूकम् संध्या रागम्
पुलि चंपिन लेडि नेत्तरू एगरेसिन एर्रीन झंडा
रुद्रालिक नयन ज्वालिक कलकत्ता कालिका नाली
कावा लोय नव कव नानिकि।'

'इस नवीन कविता के लिये सिंदूर; रक्तचन्दन, तलवार, सांध्य-रागिनी, केशरी द्वारा मारे गए हिरण का रक्त, फहराता हुआ लाल झंडा, कालिका की आँखों की ज्वाला एवं उसका पिपासित जीभ चाहिए।'

श्री श्री जी व्यक्तिगत कल्पित पीड़ा का तिरस्कार करते हैं और सामाजिक वेदना से प्रभावित होकर, व्यथित हृदय लेकर चलते हैं। इन्होंने भी कविता-सुंदरी के बारे में लिखा है। लेकिन आज कल ये उस प्रणयसुख की सुषुप्ति से जाग उठे हैं तथा एक नूतन अभियान कर रहे हैं। काव्य से लेकर कहानी तक लिखने में इनकी कला परम निपुण है।

इनकी शैली निराली है, भावना में एक विशेषता है। ये सेंसीरियल की पद्धति से लेकर सिटवेलिजम तक की अंग्रेजी कविता की विशेषताओं को अपने में समाविष्ट कर चुके हैं। अप्रत्यक्ष भावों को भी मूर्तरूप देने में इन्हें पूर्ण सफलता मिली है। इन्होंने कृषकों के जीवन का यथार्थ चित्रण किया है।

"पोला लन्नी,
हलाल दुन्नी,
इला तलम् लो हेमम् पिंडग—
जगानि कंता सौख्यम् निंडग—
विराम मेरुगक परिश्रमिंचे
बलम् धरित्रिकि बलि काविंचे,
कर्षक वीरूल कायमु निंडा
कालुव कट्टे घर्म जलानिकि,
घर्म जलानिकि,
घर्म जलानिकि,
घर्म जलानिकि खरीदु ले दोय!"

'कृषक संपूर्ण भूमि को जोतकर सोना पैदा करता है, जिससे जगत् सुख संपन्न होकर फल रहा है। ये अपनी सारी शक्ति को धरती के लिये बलिदान करते हैं। इन किसानों के शरीर का पसीना टपक-टपक कर नहर के रूप में प्रवाहित हो रहा है। फिर भी इस जगत् में पसीने का ही नहीं, बल्कि कर्तव्य-पालन से निकले जल की भी कोई कीमत नहीं है। कवि अपने कर्तव्य के बारे में कहता है—

"नेनु सैतम्
प्रपंचा ग्निकि
समिध नोक्कटि आहुतिच्चानु।
नेनु सैतम्
विश्व सृष्टि कि
अश्रु वोक्कटि धारपोशान !
नेनु सैतम्
भुवन घोषकु
वेर्रि गोंतुक विच्चि म्रोशान् !"

'मैंने भी इस युग की जलती हुई ज्वाला में एक दीपक अर्पित किया है, इस विश्व-सृष्टि के लिये आँसू की धारा बहाई है और इस जग के चीत्कार में अपना उन्मत्त कंठ मिला दिया है।'

ये केवल यथार्थ चित्रों के अंकन में ही नहीं संलग्न हैं, कल्पना-लोक में भी विहार करते हैं। यथा—

"आनंदम् अर्णव मैते,
अनुरागम् अंबरमैते
अनुरागपु टंचुलु चूस्ताम्
आनंदपु लोतुलु चूस्ताम्
नी कंकण निक्वाणम् लो,
ना जीवन निर्वाणिम् लो—
नी मदिलो डीललु तूगी ?
ना हृदि लो ज्वाललु रेगी
नी तलपुन रेकुलु पूस्ते,
नावलपुन बाकुलु दूस्ते।
मरणानिकि प्राणम् प्रोस्ताम्,
स्वर्गानिकि निच्चेन वेस्ताम्।"

'हे मेरी प्रेयसी ! यदि आनंद सागर और अनुराग आकाश बन जाय, तो आनंद की गहराई एवं अनुराग का किनारा दिखाई पड़ सकता है। तेरे कंकण की सुरीली तान हो और मेरे जीवन की मुक्ति। साथ ही अगर तेरे हृदय में आनंद की लहरें और मेरे हृदय में ज्वाला की चिनगारियाँ उठें, तेरी कल्पनाएँ विकसित हों और मेरे प्रेम पर आघात

आने लगें, तब दोनों मरण का पोषण करते हैं, जिससे स्वर्ग के लिये सीढ़ी बन जायगी।'

जिस समय प्रगतिशील कवियों में श्री श्री का नाम लेते हैं, उसी समय श्रीरंगम् नारायण बाबू का भी स्मरण आता है। दोनों की काव्य-वस्तु बहुत हद तक एक है, परंतु अभिव्यक्तिकरण, अलंकार एवं शब्द-प्रयोग दोनों के भिन्न भिन्न हैं। श्री श्री की रचना में स्थूल दृष्टि एवं यथार्थता का आभास अधिक है, तो नारायण बाबू की कृति में सूक्ष्म दृष्टि एवं परोक्ष पद्धति का पिष्टपेषण है।

नारायण बाबू की "रुधिर ज्योति" कविता-संग्रह है। इनकी कविता, भाव-कविता का विरोध ही नहीं करती, बल्कि विप्लव का आह्वान भी करती है। कवि एक भिखारिन का वर्णन करते हुए कहता है कि चारो ओर भयंकर गरमी है, धनी तो दरवाजा बंद करके भवनों में आराम कर रहे हैं, पर भिखारिन भूख से तड़प कर लू का शिकार बन जाती है।

'करवे रूपम्, दालची
कडुपे चेरुवै एडिचे
असुवुलु वीडि
चच्चि देश मात यै
चाप चुट्टग
नेलकु व्रालिंदी"

'अकाल स्वयं काल बनकर सृष्टि में नाचने लगा, इधर भिखारिन ने अन्न-जल के अभाव में दम तोड़ दिया, वह भिखारिन नहीं स्वयं भारतमाता थी'

इनका दूसरा कविता-संग्रह "कपाल मोक्षम्" है। इसमें भगतसिंह के बलिदान का मार्मिक चित्र उपस्थित किया गया है। जिस समय भगतसिंह को फांसी दी जाती है, उसी समय देशभक्त का कपाल त्रिनेत्री के हाथों पर भूषित होता है। कवि कहता है कि यह सौभाग्य सब के लिये दुर्लभ है!

"अंदरि की लभिस्तुंदा
हालाहल मंदिन हस्तमुन स्पर्श
पेदवुल चुम्बनम्!
कपाल मोक्षम् कपाल मोक्षम्!"

'शहीद का कपाल शंकर के गरल शोभित हाथों पर सुशोभित है। उसे वह (शंकर) अपने ओठों से चूमता है। यह विरल मोक्ष का सौभाग्य सभी कपालों के लिये अप्राप्य है।

प्रकृति का सुंदर वातावरण रमणीय दृश्य भी कवि को अपशकुन-सा प्रतीत होता है। लेकिन कभी कभी वह अदृश्य शक्ति पर सशंकित हो उठता है। कवि कहता है कि:—

बुद्धि हृदयम्
ध्यान बुद्धु लै
निमीलित नेत्रालतो निद्रिस्ते
व्यक्ता व्यक्तम् लोंचि
वेलुगु बाटलु चूपिंचे नीवेवरे!'

'जब बुद्धि और हृदय; ध्यानमग्न होकर निमीलित नेत्रों से निश्चेष्ट हो जाते हैं, तब मेरे अंधकारमय पथ पर प्रकाश की रश्मि सी फैलानेवाली तू कौन है ?''

अंत में कवि अपने लक्ष्य पर स्वयं प्रकाश डालता है कि 'मैं क्रांति देवी का भक्त, विप्लव गायक और विद्रोही कवि हूँ !'

इन कविद्वय के बाद दूसरे कविद्वय का नाम आता है। इनमें श्री दाशरथी जी की लेखनी में तीव्रता और आशा प्रस्फुटित होती है। ये 'जनवाणी' को समझने में समर्थ हैं। यही इनकी विशिष्टता भी है। कवि कभी कभी स्पष्ट राजनीतिज्ञ बन जाता है।

"रानुन्नदि येदिनिजम ?
अदि वोकटे सोष लिजम
कल वंडोय भुजम् भुजम्
कद लंडोय गजम् गजम्"

'भविष्य धूमिल है। नहीं नहीं, यह स्पष्ट समाजवादी युग है। इसलिये कन्धे से कन्धा मिलाकर अपने लक्ष्य पर बढ़ते जाओ'। कवि गरीबी को देखकर द्रवीभूत होता है और अकाल का अंत कर, कंकाल की दुनिया को सुखमय बनाना चाहता है। इतना ही नहीं, उज्ज्वल भविष्य की भी कल्पना करता है। अनाथों के हृदय में जो पीड़ा, आशा और विचार है, उन्हें कवि ने सुंदर ढंग से व्यक्त किया है—

"अण गारिन अग्नि पर्वतम,
कनि रिंचनि 'लावा' येंतो
आकलितो चच्चे पेदलु
शोकम लो कोपम् येंतो ?''

'उस धूमिल अग्नि-पर्वत के नीचे न जाने कितनी चिनगारियाँ चमक रही हैं। इन भुखमरों-गरीबों के हृदय की ज्वाला में कितनी असीम वेदना, पीड़ा और उत्पीड़न छिपा हुआ है, इसे कौन जानता है ?'

इनकी भाषा में सौष्ठव, प्रौढ़ता, और अमर साहित्य के सर्जन में आचार्यत्व है। 'अग्निधार' एवं 'रुद्रवीणा' कविता-संग्रहों का कवि महामानव है। कुटिलता, चापलूसी और आडंबर इन्हें छू तक नहीं सका है। इन्होंने विज्ञान को कविता में व्यक्त करने का सफल प्रयास किया है। इसी कारण इनकी कविता में आटम्, लेबरेटरी, विद्युत आदि चीजें काव्य की वस्तु बन गई हैं। आधुनिक प्रगतिशील कवियों में इनके जैसे आग से खेलनेवाले विरले ही मिलते हैं। ये साहित्य-जगत् के नेता; नवीन काव्य-स्रष्टा और आगामी साहित्य के द्रष्टा हैं।

श्री श्री एवं दाशरथी दोनों स्वतंत्रता, शांति और अभ्युदय के लिये भागीरथ प्रयत्न कर रहे हैं। लेकिन श्री श्री रूस की साम्यवादी व्यवस्था का स्वप्न देखते हैं, तो दाशरथी पूंजीवादी व्यवस्था का सर्वनाश कर नव - समाज निर्माण की कल्पना करते हैं। इसका निर्णायक आनेवाला युग होगा।

श्री आरुद्र प्रगतिशील कवियों में विशिष्ट स्थान रखते हैं। इनकी संगति से भयंकर लू के मैदान में शीतल जल एवं मधुर फल देकर आशा का संचार करनेवाली कविता ही है।

लेकिन परंपरा से ही आते हुए छन्द, अलंकार, रस आदि नियमों का पालन करना कवि को मान्य नहीं ! अंग्रेजी एवं फ्रेंच भाषा में जो नवीनता आई है, उसकी इस कवि पर छाप पड़ी है। 'सेकंडुलु' नामक कविता में कालचक्र की धुरी चलानेवाले मजदूरों का सुंदर चित्रण किया गया है।

कवि के मन में कभी कभी भविष्य के प्रति निराशा जाग उठती है और उसका आदेश है कि अपनी स्थिति से संतुष्ट रहो।—

"नुव्वु एक्क दलचु कोन्न रैलु
एप्पुडू ओक जीवित कालमू लेटु
नुव्वु वेल्ल दलचुकोन्न ऊरु
नुव्वु ब्रति कुंडग चेर दा रैलु
देवुडा इंत चे शात्रा यनि
उन्न ऊल्लोने उण्डु"

तुम जिस गाड़ी पर सफर करना चाहते हो, वह हमेशा देर से आती है। तुम्हारे जिंदा रहते हुए, वह तुम्हें निश्चित स्थान पर नहीं पहुँचा सकती, इसलिये अपनी स्थिति पर संतोष करके रहो।" इनका 'त्वमेवाहम्' काव्य संग्रह भी एक उज्ज्वल उदाहरण है।

आज आंध्र साहित्य के रंगमंच पर नए कवियों का एक अनुपम नृत्य हो रहा है, जिसमें से राग-विराग, हिंसा-अहिंसा, न्याय-अन्याय, व्यष्टि-समष्टि और विश्वप्रेम के गीतों के सुरीले स्वर गूंज रहे हैं। छाया-चित्र से लेकर महाकाव्यों तक में इसका प्रवेश हो चुका है। आंध्र जनता हृदय से इसकी आलोचना-प्रत्यालोचना में लगी है। ऐसा प्रतीत होता है कि घर घर में हर एक प्राणी के हृदय में "जनता जगन्नाथ के रथ-चक्र" का आगमन होनेवाला है। आशावादियों का ऐसा विश्वास है कि यह तात्कालिक स्थिति है। भविष्य में इन्हीं श्रीश्रीजी की लेखनी से सुमधुर कविता निकलेगी।

लोकगीत

आजकल आंध्र के साहित्य में लोकगीतों को भी काफी महत्व दिया जा रहा है। अधिकतर लोकगीत अनुश्रुति से ही चलते आ रहे हैं। लेकिन इस समय कुछ प्रमुख साहित्यिक इन गीतों का संग्रह कर रहे हैं। पुराने समय में पंडित इन गीतों को तिरस्कार की दृष्टि से देखते थे। अब रसज्ञों को भी लाक्षणिक काव्यों की अपेक्षा इन लोकगीतों में ही अधिक रस मिल रहा है। इन गीतों के अनेक रूप हैं—जैसे जंगम-कथलु, सुद्दुलु, स्त्रियों के गीत बच्चों के गीत आदि।

इनमें अधिकतर जंगम कथलु लिखित साहित्य है। ये गीत वीर-रस-प्रधान होते हैं। पलनाटि वीर चरित्र, काटम राजु कथा, बोब्बिल कथा, बाल नागम्मा कथा, लक्ष्मम्म कथा, आदि अनेकों ग्रामीण जनता के मनोरंजक लोकगीत हैं। इनमें अधिकतर ऐतिहासिक होते हैं। यह निर्विवाद सत्य है कि इतिहास में इनके द्वारा चित्रित अधिकतर चरित्रों की चर्चा नहीं है। लेकिन ग्रामीण जनता जनश्रुति से ही इनमें वर्णित पात्रों की विशेषता से परिचित है। इन गाथाओं में करुण-रस एवं वीर-रस का मिश्रण मिलता है। परन्तु मुख्यतः वीर-रस का ही प्रतिपादन किया गया है। कथाकार नाच के साथ इन गाथाओं को सुनाता है। ये गीत संगीतमय एवं श्रवणानंदकर होते हैं।

इसके बाद स्त्रियों और बच्चों के गीत भी उल्लेखनीय हैं। खास कर स्त्रियों के गीत बहुत ही श्रृंगार-रस प्रधान होते हैं। इन गीतों में स्त्रियों का करुण हृदय प्रतिबिंबित रहता है। इतना ही नहीं इन गीतों में स्त्री समाज का पूर्ण प्रतिबिंब मिलता है। जब हम साहित्य को समाज का दर्पण मानते हैं, उस समय यह भूल जाते हैं कि साहित्य के समाज में स्त्रियोंकी भी यथेष्ट देन है। जब तक इन गीतों को साहित्य में उपयुक्त स्थान नहीं दिया जाता, तब तक यह साहित्य अपूर्ण ही है। इसी तरह बच्चों के गीत भी काफी सुबोध और चित्ताकर्षक हैं।

इस क्षेत्र में जि० वेंकट सुब्बय्या, टेकुमल्ल अच्चुत रामय्या, कामश्वेर राव, पुराणम शास्त्री, प्रभाकर शास्त्री चिलकूरि, नारायण राव आदि प्रशंसनीय कार्य कर रहे हैं। फिर भी इस क्षेत्र में काफी प्रयास करने की आवश्यकता है।

निबंध साहित्य

सजीव गद्य रचना के मार्गदर्शक श्री राममूर्ति जी थे। प्राचीन गद्य में जो भाषा लिखी जाती थी, वह साहित्यिक (ग्रांथिक) थी। 'व्यावहारिक भाषा में साहित्य का सृजन होना चाहिए' यही राममूर्ति जी का विप्लव था। पहले इस आंदोलन का बहुत विरोध हुआ, पर आगे चलकर यह सफल हुआ।

आधुनिक निबंधकारों में स्व० अप्पाराव, स्व० रामलिंगा रेड्डी, स्व० सुरवरपु प्रताप रेड्डी आदि अच्छे निबंधकार रहे हैं। श्री साहित्याचार्य पी० वी० हनुमंतराव का "साहित्य वीथुलु" और काटूरी वेंकटेश्वर राव का "साहित्य व्यासमुलु" अच्छे निबंध-संग्रह हैं। साथ ही जी० सत्यनारायण मूर्ति, जी० वल्लभुल पुरुषोत्तम, वेमूरि आंजनेय शर्मा, खण्डवल्ली, लक्ष्मण नरसिंहम् आदि भी प्रमुख निबंधकार हैं।

कहानी साहित्य

आंध्र साहित्य में कहानियों का प्रारंभ संस्कृत से अनूदित पंचतंत्र, दशकुमार चरित्र आदि कहानियों से होता है। मदन कामराजु की कथलु, शुक सप्तति आदि अरेबियन कहानियों की शैली पर लिखी गई हैं। रामानुज शर्मा जी की विनोद कथा कल्पवल्ली, चित्र कथल हरिणी, चमत्कार कथा मंजरनी आदि कहानी-संग्रह भी पुरानी शैली पर लिखे गए हैं। ये कहानियाँ संस्कृत के ललित पद और समासयुक्त शैली में लिखी गई हैं। इनकी कथावस्तु चित्ताकर्षक है। क्योंकि इनमें अधिकतर कहानियाँ श्रृंगारिक हैं। इन कहानियों में कल्पना का समावेश अधिक हुआ है। रामानुज शर्मा के पहले दूसरा इतना योग्य कहानीकार नहीं हुआ है। सामाजिक कहानियों में पानुगंटि की स्वर्ण रेखावली, माड पाटि हनुमंत की मल्लिका गुच्छम्, अक्किराजु उमाकांत की त्रिलिंग कहानियाँ, श्रीपाद कृष्णमूर्ति की पूलदण्डा आदि उल्लेखनीय हैं।

तेलुगु कहानी को एक नूतन रूप देनेवाले श्री गुडिपाटि वेंकट चलम जी हैं। डी० एच० लारेंस, मोपासा जैसे सुप्रसिद्ध पाश्चात्य कहानीकार इनके आदर्श हैं। इनकी रचनाओं में अनावश्यक बातों की चर्चा नहीं होती है। हर चीज को एक नवीन दृष्टिकोण

से उन्होंने देखने की चेष्टा की है और रूढ़िगत परंपराओं का विरोध करना अपना कर्तव्य समझा है। हर एक व्यक्ति स्त्री-पुरुष अपने स्वभाव के अनुसार बिना प्रतिबंध के व्यक्तित्व का विकास करे, यही इनका मुख्य आदर्श है। अनेक नए कहानीकार इनकी शैली को अपनाने की कोशिश करते रहते हैं। इनकी अधिकतर रचनाओं का अंग्रेजी में अनुवाद भी हो चुका है। "कर्म मिट्ला कालिंदि", "अदृष्टम्" अच्छे कहानी संग्रह हैं। आज कल जीवन के प्रति इनका दृष्टिकोण बदला मालूम पड़ता है।

श्री कोडवटि गंटिकुटुंब राव जी अच्छे कहानीकार हैं। हर एक कहानी में ये एक ऐसे पात्र का सर्जन करते हैं, जो हमें परिचित सा लगता है। मानव प्रवृत्ति का चित्र खींचने में इनकी लेखनी जादू का काम करती है। व्यंग इनका सहारा है। नौजवान बड़े प्रेम से इनकी रचनाएँ पढ़ते हैं।

त्रिपुरनेनि गोपीचंदजी ने एक विचित्र शैली को लेकर कहानी-क्षेत्र में प्रवेश किया है। पहले ये वकील थे। लेकिन कहानीकार एवं उपन्यासकार के रूप में ही वे आंध्र जनता के संमुख आए हैं। जो भी कहना चाहते हैं, साधारण भाषा में कहते हैं, लेकिन पुस्तक बंद कर सोचना भी पड़ता है। जो भी पात्र आते हैं, वे नित्य जीवन में देखे जाते हैं। ये पग पग पर मनुष्य की धारणाओं के ऊहापोह को लेकर आते हैं, जिससे पाठक स्वयं भ्रमित हो जाता है।

श्री चिंतादीक्षितुलुजी के बारे में कहा जाता है कि पहले ये जासूसी उपन्यास लिखते थे, लेकिन आज कल इनके साहित्य का क्षेत्र विशाल हो गया है। विशेष कर बाल साहित्य का सर्जन करने में इन्होंने प्रशंसनीय कार्य किया है। अहिल्या, शबरी आदि इनके एकांकी नाटक भी हैं। अधिकतर रचनाएँ बाल मनोविज्ञान के आधार पर रचित हैं। श्री शैल पर्वत पर नीरद श्यामुडु एवं शंपलता के अनुभव पढ़ते समय अत्भुत रस का स्पन्दन होता मालूम देता है। इनकी "लीला सुंदरी" भी अच्छी रचना है।

इन दिनों श्री पालगुम्मि पद्मराजु जी अपनी एक नई परख लेकर इस क्षेत्र में उपस्थित हुए हैं। इनकी कवि-परख भी विचित्र है। ऊषा गर्भिणी बनती है और छटपटाती है। इनकी 'गालिवाना' शीर्षक कहानी ने संसार की सर्वश्रेष्ठ कहानियों में दूसरा स्थान प्राप्त किया है। इस तरह आंध्र का साहित्य दिन दिन विकसित होता जा रहा है।

अमरेन्द्र, सहजानंदम्, आंजनेय शास्त्री, रामगोपालम्, सरस्वती देवी, इंदुमती देवी निरंजन कांता राव, आनन्दकुमार, करुण कुमार आदि अच्छे आधुनिक कहानीकार हैं।

उपन्यास

तेलुगु में अंग्रेजी साहित्य के प्रभाव से ही उपन्यासों का जन्म हुआ है। इसके पहले संस्कृत से अनूदित कादंबरी, वासवदत्ता आदि उपन्यास मिलते हैं।

कंदुकूरि वीरेश लिंगनजी का राजशेखर चरित्र ही आधुनिक उपन्यासों में पहला उपन्यास माना जाता है। इस उपन्यास पर अंग्रेजी वातावरण का ज्यादा असर है। फिर भी इसके सभी पात्र आंध्रत्व में पले हुए हैं। दूसरा उपन्यास श्री चिलकमर्ती लक्ष्मी नरसिंहजी

द्वारा रचित 'रामचंद्र विजयम्' है। इसके बाद अनेक उपन्यास लिखे गए हैं। बंगला से भी बंकिम्, शरत्, रवीन्द्र आदि के अच्छे-अच्छे उपन्यासों के सफल अनुवाद हुए हैं।

आज साहित्य के अन्तर्गत उत्तम स्थान पानेवाले अनेक उपन्यास हैं। उन्नव लक्ष्मीनारायणजी का 'मालपल्ली' उपन्यास एक आदर्श है। पचीस वर्ष पहले की रचना होते हुए भी इसे बार बार पढ़ने की इच्छा आज भी होती है। इसमें आर्थिक, राजनीतिक, नैतिक आदि अनेकों समस्याओं पर प्रकाश डाला गया है। जिन अछूतों को दुनियाँ दूर रखती है, उनमें कितना विशाल हृदय होता है, यह इस उपन्यास में सुंदर ढंग से चित्रित किया गया है। यह अक्षरशः गांधी जी के आदर्शों से भरा हुआ है, इसे उपन्यासकार ने अपने जेल-जीवन में ही लिखा था, इसलिए यह अपने समय के प्रभाव से भरा हुआ है। इसकी सबसे बड़ी सफलता यही है कि लगभग सात सौ पृष्ठों का होते हुए भी पढ़ते समय थकावट नहीं मालूम पड़ती, उत्सुकता और कुतूहल बना रहता है।

स्वर्गीय श्री अडविबापिराजु जी का "नारायण राव" "तूफान" आदि भी उच्चकोटि के उपन्यास हैं। भाषा सुमधुर, ज्ञान वातावरण में सुपरिचित पात्र होते हैं। "नारायण राव" में आंध्र सभ्यता, आंध्र संस्कृति, आंध्र रीति-रिवाज आदि लक्षित होते हैं। एक शब्द में कहा जाय, यह आंध्र का प्रतिनिधित्व करता है। इसमें काशी (बनारस) के पंडों के जीवन का अच्छा चित्रण मिलता है।

श्री विश्वनाथ सत्यनारायण जी के "वेयिय पडगलु" (हजार फण) "एकवीर" आदि भी अच्छे उपन्यास हैं। एकवीर में सृष्टि के आदि से लेकर आज तक निरंतर बहनेवाली प्रेम समस्या ही है। पात्र तो चार ही हैं, परंतु चारों अपने में पूर्ण कर्तव्यनिष्ठ, प्रेम के भूखे आदर्श पर अटल रहनेवाले और अपने को अमर-प्रेम-वेदी पर बलिदान करनेवाले हैं। वीररस का इसमें सुंदर परिपाक हुआ है। इसकी शैली सूत्रवत् है। पाठक कभी भाषा के जाल में फँसकर सिर धुनने लगता है और अनुभव करता है कि यह भाषा पंडितों के लिये लिखी गई है, साधारण पाठक के लिये नहीं।

श्रीचलम जी के "दैवमिच्चिनभार्या" "मैदानम्" "अमीना" "विवाहम्" आदि भी उल्लेखनीय हैं। श्री पी० वी० राज मन्नार जी का नव प्रकाशित "चिवरकु मिगिलेदी" (आखरी बचत) सचेतन उपन्यास है। उपन्यासकार उच्चन्यायाधीश होने के कारण रचना पर पाश्चात्य उपन्यासों का प्रभाव है, फिर भी पात्र मौलिक हैं। कवि-प्रतिभा होने के कारण इनके गद्य में भी कवित्व का पुट है।

श्रीपाद कृष्णमूर्ति, शिवशंकर रामशास्त्री आदि प्राचीन पद्धति के उपासक और रावुल वेंकट सत्यनारायण, चंद्रशेखर राव आदि नवीनता के भक्त बिना थकावट के इस क्षेत्र में अपनी कलम चलाते जा रहे हैं।

रंगमंच

आंध्र रंगमंच प्रारंभ से लेकर आज तक समुन्नत है। प्रारंभ में इस रंगमंच का क्षेत्र भी एक विशिष्ट पद्धति को लिए रहा है, जिसे हम भारतीय संस्कृति की एक विशेषता ही कह सकते हैं। पर्गाट वेषमुलु को नाटक कहना उचित नहीं होगा,

फिर भी रंगमंच का एक अंग अवश्य मानना चाहिए। इन प्रदर्शनों का कोई खास रंगमंच नहीं होता है, और इनका प्रदर्शन भी दिन में होता है। अधिकतर प्रदर्शन पौराणिक गाथाओं के ही होते हैं। इन प्रदर्शनों का गावों में ही खास महत्व रहता है। पर आजकल इन प्रदर्शनों का एक पेशा बन जाने के कारण और रंगमंच का विकास हो जाने से इनका महत्व काफी घटा है।

वीथिवाचकमुलु

इनके प्रदर्शन का ढंग प्राचीन रंगमंच का-सा ही है। ये प्रदर्शन भी अधिकतर पौराणिक और कुछ ऐतिहासिक होते हैं। इनका प्रदर्शन रात में ही होता है, लेकिन रंगमंच की स्थिरता नहीं होती।

क्रीडाभिराममु के प्रदर्शनों में संगीत एवं नृत्य का अधिक महत्व होता है। इनके प्रदर्शन का स्थान एक मुहल्ले से दूसरे मुहल्ला बदलता रहता है।

कठपुतलियों का प्रदर्शनः—

इनका प्रदर्शन तो बहुत ही प्राचीन काल से ही चलता आ रहा है। यह प्रदर्शन आज के छाया-चित्र का प्राचीन रूप ही है, क्योंकि इनका प्रदर्शन भी परदों पर ही होता है। इन छाया-चित्रों के प्रदर्शन के साथ गाने-बाजे भी होते हैं। आंध्र का रंगमंच उपर्युक्त प्रदर्शनों से आज भी सुशोभित है।

इस तरह आंध्र रंगमंच के प्राचीन काल से लेकर आज तक अनेक रूप रहे हैं। ऐसा माना जाता है कि आंध्र नाटक-रंगमंच का उदय १८८५ ई० में अंग्रेजों के साहचर्य के बाद ही हुआ है। इसके पहले "यक्षगान" नामक नाटक रहे हैं। परंतु इन नाटकों को शिष्ट-समाज का गौरव प्राप्त नहीं रहा। आधुनिक रंगमंच का जन्म-स्थान "बल्लारि" नगर है। धर्मवरम् कृष्णमाचार्य जी द्वारा स्थापित सरस विनोदिनी सभा श्रीनिवास जी राव द्वारा स्थापित रसिक रंजनी सभा—दोनों एक दूसरे की स्पर्धा के कारण ही हुआ है। कभी कभी कला और साहित्य के क्षेत्र में भी स्पर्धा का अच्छा परिणाम होता है। उक्त दोनों नाटक-मंडलियों के साथ इधर राजमंड्री नगर में नरसिंह राव जी, बंदर नगर में लक्ष्मण स्वामी जी, गुंटूर में हनुमंत राव जी एवं चलिकेरलि लक्ष्मीकांतम् जी ने सर्वप्रथम नाटक-मंडलियों की स्थापना की है। इन दिनों प्रदर्शित नाटक अधिकतर पौराणिक एवं ऐतिहासिक रहते थे। इन नाटकों में कृष्णमाचार्य जी के "चित्रनलीयम्" और सारंगधर", वीरेशलिंगम् जी का 'अभिज्ञान शाकुंतलम्', तिरूपति कवियों के मृच्छकटिका और पांडव नाटक, लक्ष्मी नरसिंह पंतुलु जी के गयोपाख्यानम् और नरकासुरवध आदि स्मरणीय हैं। सामाजिक नाटक में शुल्कम्" उच्चकोटिका है।

आंध्र अभिनेताओं में कलापूर्ण स्वर्गीय राघवाचार्य जी के स्थान पर आज तक कोई दूसरा नट नहीं पहुँच पाया है। ये तेलुगु नाटकों में ही नहीं, अंग्रेजी, हिंदी, कन्नड़ भाषा के नाटकों के भी अभिनय में सफल रहे हैं। इनके प्रदर्शित हिरण्यकश्यप, पठान,

रामदास, राजराजु, चाणक्य, ओल्डआडस, ओथेलो, शाइलॉक, हेमलेट आदि पात्र ही उज्ज्वल उदाहरण हैं।

श्री राघवाचार्य १९२७ ई० में इंगलैंड गये थे। अंग्रेज अभिनेता सरफार्ड्स रॉबर्टसन की मित्रता से शेक्सपियर के अनेक नाटकों में राघवजी को अभिनय करने का सुअवसर मिला था। इंगलैंड से ये एक नूतन प्रेरणा लेकर भारत लौटे। फलतः सामाजिक नाटकों के प्रदर्शन का महत्त्व अधिक होता है और नूतन सफल नटी-नटों का प्रादुर्भाव होता है, १९४६ में राघवजी की मृत्यु हुई। फिर भी कला की विरासत के रूप में ये आज भी जीवित हैं।

स्वर्गीय लक्ष्मण स्वामी, लक्ष्मीकांत, रामनाथ शास्त्री, लंका सुंदरम्, कुटुंब शास्त्री, सुव्वाराव द्वैय आदि भी उल्लेखनीय अभिनेता हैं। आज छायाचित्रों के आगमन के कारण रंगमंच का महत्व घटता जा रहा है, फिर भी आज पचासों नाटक मंडलियाँ इस में कार्य कर रही हैं। प्रति वर्ष आंध्र नाटक कला की ओर से प्रतियोगिता होती है।

आधुनिक नाटक तीन प्रकार के मिलते हैं। (१) संस्कृत और अंग्रेजी से अनूदित और प्रभावित (२) सामाजिक तथा (३) ऐतिहासिक।

संस्कृत से प्रभावित नाटकों में शाकुंतलम्, रंगा चार्युलुनरकासुर विजय, ओड्डादि सुव्वारायडु के मल्लिक मारुता, वेणीसंहार, आदि उल्लेखनीय हैं। रत्नावली, द्रौपदी वस्त्रापहरणम् आदि नाटक भी प्रशंसनीय हैं। इन नाटकों में कुछ पौराणिक होते हुए भी सामाजिक स्थिति से प्रभावित हैं।

सामाजिक नाटकों में अप्पाराव जी का कन्याशुल्कम, लक्ष्मीनरसिंहम का कंठा-भरणम् मुख्य हैं। ऐतिहासिक नाटकों में पृथ्वीराज, विजयानगरम् का पतन, दोनों दुखान्त हैं, जो भारतीय प्राचीन परंपराओं के विरुद्ध पहला कदम है। सुब्बाराव जी का रोशनारा, वेंकटराव शास्त्री जी का प्रतापरुद्र, श्रीपाद कृष्णमूर्ति का बोब्बिलि युद्ध, आदि नाटक भी सराहनीय हैं।

आज कल सामाजिक नाटकों की भरमार है। फिर भी कुछ ऐतिहासिक नाटक लिखे ही जा रहे हैं। इनमें श्री विश्वनाथ सत्यनारायण जी की रचना अनारकली मुद्दुकृष्ण जी का अशोकम् आदि सफल नाटक हैं। सामाजिक नाटकों में श्री चलम जी के चित्रांगी, जयदेव, शशांक, सावित्री, श्री गोपीचंद जी के खूनी, सम्भूक वध आदि नाटक रंगमंच पर सुशोभित हैं।

इस क्षेत्र में श्री वामिरेड्डी भास्कर राव जी अपनी एक नई परख लेकर उत्पन्न हुए हैं. इनके लिखित माँ भूमि, पोतु गड्डा आदि नाटक बहुत ही प्रशंसनीय हैं। "माँ भूमि" का जितना प्रदर्शन आंध्र में हुआ है, उतना शायद ही और किसी नाटक का हुआ हो। इसमें जमींदारों के अत्याचारों का नग्न चित्रण है। कोप्परपु सुब्बाराव, काल्लकूरि नारायण राव जी आदि नाटककार भी इस क्षेत्र में प्रशंसनीय साहित्य का सृजन कर रहे हैं।

एकांकी नाटकों का आंध्र रंगमंच से परिचय करानेवाला पहला व्यक्ति श्री चलमजी हैं। इनके "पुरूरव" "अनुराधा" आदि एकांकी नाटक नए भाव, नूतन वातावरण, और नवीन जीवन का लक्ष्य लेकर आए हैं। श्री पी० वी० राजमन्नार के 'देय्याललंका" "एमि मगवाल्लू" आदि एकांकी नाटक जब रंगमंच पर प्रदर्शित किए जाते हैं तो विषय नित्य जीवन का होने के कारण कभी कभी प्रहसन का रूप धारण कर लेते हैं। समाज में जो अन्याय, अंधविश्वास और कुरीतियाँ फैली हैं, उन्हें ये मिटाने की प्रेरणा उपस्थित करते हैं। आचार्य आत्रेय जी द्वारा रचित "अद्देकोम्पा" "प्रगति" आदि एकांकी नाटक बहुत ही चित्ताकर्षक हैं। प्रगति में यह दिखाया गया है कि आज के युग में विज्ञान का विकास और उसका दुरुपयोग हो रहा है। क्या यह उन्नति की ओर ले जाने वाला है। इसी का उत्तर इस नाटक में दिया गया है। "दैनिक पत्र आंध्र प्रभा" के सम्पादक श्री नार्ला वेंकेटेश्वर राव जी के "कोत्ता गड्डा" में यह दिखाया गया है कि आज मध्यम वर्ग की जनता कैसी पीड़ित है। भाषा अत्यंत व्यावहारिक शैली पर चलती है। इनके अतिरिक्त अनेक एकांकी नाटककार अपनी प्रतिभा के साथ इस क्षेत्र में कार्य कर रहे हैं।

हास्यरस साहित्य

आंध्र साहित्य में हास्यरस साहित्य का उत्कृष्ट स्थान है, क्योंकि यह शिष्ट हास्यरस है, अवशिष्ट नहीं। वीरेश लिंगम जी बड़े पंडित एवं समाज-सुधारक थे। अतः उन्होंने समाज की कुरीतियों को हास्यरस की कहानियों द्वारा हटाने की कोशिशें की हैं। चिलक मर्ती-मूर्ती, पानुगंटि, लक्ष्मीनरसिंह आदि भी सफल हास्य लेखक रहे हैं। पाणु-गंटि के "साक्षी" में जो छः भागों में है, समाज की कुरीतियों पर सफल व्यंग-बौछार है। मुनि मानिक्यम नरसिंह राव जी का "कांतम कथलु" सफल हास्य रस का नमूना है। इसमें एक विद्यालय के अध्यापक के जीवन की विचित्र घटनाओं और उसके पारिवारिक जीवन का चित्रण है। कांतम लेखक की स्त्री का नाम है। मोक्कापाटि नरसिंह रावजी का बारिस्टर 'पार्वतीश्वर' जगत्प्रसिद्ध है। लेखक स्वयं विदेश से यात्रा करके आए हैं। इसी यात्रा के अनुभव इसमें सुंदर व्यंगशैली में व्यक्त किए गए हैं। इसका छायाचित्र भी निकाला गया है। आज कल भमिडिपाटि कामेश्वर राव जी इस क्षेत्र में एक नया रूप लेकर उपस्थित हुए हैं। इनके साहित्य का जोरों से प्रचार होता जा रहा है।

आलोचना

आंध्र साहित्य में उत्तम समालोचना साहित्य की भारी कमी है। इसका अभी तक पूर्ण विकास नहीं हुआ है। पूर्वकाल में कवि एक दूसरे की रचना एवं पद्य के रूप में अशिष्ट आलोचना किया करते थे। उत्तम आलोचना साहित्य का प्रारंभ श्री तनिकेल्ल वीरभद्र जी के 'चित्रांगी व्यास संग्रह" से होता है। इसके पहले मन्नवल्लि रामकृष्णय्या ने प्राचीन आंध्र साहित्य की खोज की है। श्री वीरेशलिंगम् जी का "तेलुगु कवियों का जीवन चरित्र" प्रभाकर शास्त्री का "चाटुवर कविताएँ" वंगूरि सुब्बाराव जी का "शतक कवि" आदि भी अच्छी हैं। जैन धर्म और बुद्ध धर्म का आंध्र साहित्य पर जो प्रभाव पड़ा है

उसके बारे में भी काफी साहित्य निकला है। कवि की कला एवं शैली के बारे में आलोचना करनेवालों में जयंति रामैया, लक्ष्मणराव जी आदि प्रमुख रहे हैं। इसके बाद पत्र-पत्रिकाओं में कवि, लेखक, उपन्यासकार, नाटककार आदि के बारे में अनेकों आलोचना संबंधी लेख निकल रहे हैं। लेकिन पुस्तक के रूप में बहुत ही कम आलोचना-साहित्य निकला है।

साहित्यिक पुराने पत्र-पत्रिकाओं में "आंध्र परिषद-पत्रिका" का साहित्यिक उन्नति में सफल सहयोग रहा है। इसके अतिरिक्त "साहिति" "शारदा" आदि पत्रिकाओं ने भी कला की उन्नति में योगदान दिया है।

आधुनिक साहित्यिक पत्र-पत्रिकाओं में मुख्यतः "भारती" "सुजाता" "किन्नेर और सुभाषी" आदि प्रमुख हैं। हिंदी साहित्य में जो स्थान सरस्वती पत्रिका का रहा है, वही स्थान आंध्र साहित्य में भारती का रहा है और आज भी यह उच्चकोटि की साहित्यिक पत्रिका है। वर्तमान आलोचकों में राल्लपल्लि, अनंत कृष्ण शर्मा, गोपीचंद मल्लिकार्जुन राव आदि प्रमुख हैं। श्री रामलिंगा रेड्डी का "कवित्व तत्व विचारमुलु" एक उच्च कोटि का ग्रंथ है। इनकी मृत्यु से आलोचना-साहित्य को भारी क्षति पहुँची है।

इस अवसर पर आंध्र के लेखक जो हिंदी साहित्य में अपना योग दान कर रहे हैं, उनका उल्लेख करना उचित है। श्री मोटूरि सत्यनारायण जी, वारणासि राममूर्ति जी, एल० मंचिलि वेंकटेश्वर रावजी, जी० सुंदर रेड्डी, वेमूरि आंजनेय शर्मा गद्य, पद्य, कहानी, आलोचना आदि के विभिन्न क्षेत्रों में लिख रहे है।

आज कल आंध्र साहित्य दिनों दिन विकसित होता जा रहा है। एक तरफ मल्लम पल्ली सोमशेखर शर्मा जैसे प्राचीनता के अन्वेषक और दूसरी ओर प्रगतिशील श्री रंगम श्रीनिवास राव। एक ओर संस्कृतनिष्ठ कवि विश्वनाथ सत्यनारायण, और दूसरी ओर संसार के साहित्य में दूसरा स्थान पानेवाले कहानीकार पालगुम्मि पद्मराजु आदि उच्च कोटि के साहित्यिक आंध्र साहित्य की श्रीवृद्धि करते जा रहे हैं।

—श्री के० वी० नारायण, श्री काशी विद्यापीठ

तमिल[1] साहित्य एवं उसकी वर्तमान प्रगति

[श्री शंकरराजू नायडू, अध्यक्ष हि० वि०, मद्रास विश्वविद्यालय]

भाषा विज्ञान के आधार पर भारत की सभी भाषाओं को प्रधानतः दो विभिन्न भाषा-परिवारों में विभाजित किया जाता है। उत्तर भारत की सभी भाषाओं को भारोपीय भाषा परिवार के अंतर्गत तथा दक्षिण भारत की सभी भाषाओं को द्राविड भाषा परिवार के अंतर्गत माना जाता है। हिन्दी, बंगाली, पंजाबी, राजस्थानी, मराठी, गुजराती, उड़िया आदि भाषायें प्रथम परिवार के अंतर्गत मानी जाती हैं, और इनका मूल संस्कृत स्वीकृत हो चुकी है। तमिल, तेलुगु, कन्नड, माल्यालम व तुलु द्वितीय परिवार के अंतर्गत मानी जाती हैं, और इनका मूल 'आदि द्राविड भाषा' जिसका स्वरूप तमिल भाषा के सदृश ही था, मानी जाती है। प्रसिद्ध नाटककार व आलोचक स्वर्गीय प्रो० सुन्दरम् पिल्लै ने लिखा है—

'जल से पूर्ण समुद्र से वेष्ठित पृथ्वी देवी के अति सुन्दर
—व श्रेष्ठ मुख रूपी प्रसिद्ध भारतवर्ष में
—उपयुक्त छोटी चन्द्रिका से सुशोभित माथा व उसमें लगा सुगंधित तिलक ही
—दक्खिन तथा उसमें श्रेष्ठ द्राविड सुप्रदेश
—उस तिलक की सुगन्धि के समान सर्वत्र फैल कर आनंद देने के लिये
—सभी दिशाओं में यशोगंध को प्रस्फुटित करनेवाली, हे तामिल युवती ॥ २ ॥

अनेक जीव तथा लोकों की सृष्टि, संरक्षण व संहार करने पर भी एक—अनादि परम शक्ति पूर्व जैसी दशा में ही रहने के समान
—कन्नड, मधुर तेलुगु, सरस मलयालम् तथा तुलु
—तुम्हारे ही उदर से उद्भवित हो, (इस प्रकार तुम) एक से अनेक बनने पर भी
संस्कृत के समान साधारण लौकिक व्यवहार से रिक्त हो छिन्न-भिन्न हुए बिना (रहने वाले) तुम्हारे
—श्रेष्ठ चिर यौवन पर आश्चर्यचकित व आत्मविस्तृत हो हम स्तुति गाते हैं ॥ २ ॥

तमिल साहित्य की वर्तमाम प्रगति से हिंदी के पाठकों को अवगत् कराने से पूर्व इसके उद्गम एवं भूतपूर्व इतिहास का विहंगम चित्रण उनके सम्मुख उपस्थित करने की अनिवार्य आवश्यकता है। अतः उसका अतिसंक्षेप में नीचे वर्णन किया जाता है।

१—तामिल को शुद्ध रूप में 'तमिष्' लिखा जाना चाहिए, परंतु हिंदी में ष् ध्वनि न होने के कारण पाठकों की सुविधा के लिये सर्वत्र 'ल' ही लिखा गया है।—संपादक

२—मनोन्मणीयम् नाटक—'तमिल देय्व वणक्कम'–दो षट्पदी—पृ० २१ (प्राक्कथन)

तमिल भाषा की उत्पत्ति के संबंध में अनेक प्रकार के मत प्रचलित हैं, जिनमें एक है दिव्योत्पत्ति। भगवान शिव को इसका जन्मदाता व प्रथम गुरु मानते हैं। इहीं के प्रधान शिष्य थे अगस्त्य (अकत्तियर)। एक बार अगस्त्य ने शिवजी से पूछा कि क्या संस्कृत से भी अधिक मधुर व सम्पन्न भाषा कोई है ? शिव जी ने उत्तर दिया कि तमिल एक ऐसी भाषा है। शिवजी से तमिल भाषा तथा उसका व्याकरण सीख कर अगस्त्य मुनि दक्षिण भारत आए, और तमिल प्रदेश में ही (पोदिय मलै की एक गुफ़ा में) अपना आश्रम बना कर जीवन व्यतीत करने लगे। उस समय हिंद महासागर के स्थान में लेमूरिया नामक एक महाद्वीप था और 'तेन् मदुरै' (दक्षिण मदुरा) उसकी राजधानी थी। इस नगर में तमिल साहित्य का 'प्रथम संघम्' था, जिसमें सभी श्रेष्ठ साहित्यिक एकत्रित होकर साहित्य-चर्चा करते थे। इस संघम् में कुल ५४९ कविगण सम्मिलित थे, जिनमें अगस्त्य के अतिरिक्त शिव, सुब्रह्मण्य आदि भी थे। इसका समय ४४४० वर्ष का माना जाता है। अगस्त्य के बारह प्रधान शिष्य थे। अगस्त्य ने[1] एक विशेष व्याकरण की रचना की, जिसे 'अगत्तियम्' कहते हैं। यह ग्रंथ अप्राप्य है, परन्तु कुछ एक सूत्र अवश्य अन्यान्य ग्रंथों में उपलब्ध होते हैं। उस काल में रचित कतिपय ग्रंथों के नाम ही ज्ञात हैं, जिनमें अगत्तियम् के अतिरिक्त परिपाडल, मुदुनारै,, मुदुकुरुक्कु व कलरियविरै प्रसिद्ध हैं। ८९ सम्राटों का आश्रय इस संघम् को प्राप्त हुआ था।

प्रथम संघम् के अन्तिम काल में एक जल-प्रलय के कारण लेमूरिया का महाद्वीप जलमग्न हो गया, और तात्कालिक तमिल प्रदेश के केन्द्र कपाटपुरम् में 'द्वितीय संघम्' की स्थापना हुई। अगस्त्य के सर्व प्रधान शिष्य 'तोल्काप्पियर' इस संघम् के सर्वश्रेष्ठ साहित्यिक व व्याकरणकर्ता थे। यह संघम् कतिपय ३७०० वर्षों तक रहा, और इसमें कुल ३७०० कवियों ने भाग लिया। ५९ सम्राटों का आश्रय इसे प्राप्त हुआ। इस संघम् की प्रधान रचनायें तोल्काप्पियम्, मापुराणम्, इसैनुणुक्कम् व भूतपुराणम् माने जाते हैं। अन्य रचनाओं में कलि, कुरुक्कु, वेणतलै, व्यालमालै आदि के नाम ज्ञात हैं। इन रचनाओं को भी काल-कवलित होना पड़ा है। पुनः एक आंशिक जल-प्रलय हो जाने के फलस्वरूप इन रचनाओं के केवल नाम शेष रह गए हैं, ग्रंथ अप्राप्य हैं। केवल तोल्काप्पियम् प्राप्त है। यही तमिल का प्राचीनतम प्राप्त ग्रंथ है, और हमें इससे भूतपूर्व इतिहास की कल्पना के लिये सामग्री प्राप्त होती है। तोल्काप्पियम् जो 'अक्षर', 'शब्द' एवं 'वस्तु' शीर्षक तीन भागों में तथा इनमें से प्रत्येक ९, ९ विभागों में विभाजित हैं, हमें उसके आधार ग्रंथों की ओर बरबस ध्यान दिलाता है। लक्षण ग्रंथों की सृष्टि सदा लक्ष्य ग्रंथों के अनंतर ही हो सकती है। तोल्काप्पियम् जैसे महत्तम ग्रंथ को एक बार पढ़ कर ही कोई सहृदय विद्वान इसकी कल्पना सरलता से कर सकता है कि इसके लक्ष्य ग्रंथ कितने परिमाण में तथा कितने श्रेष्ठ रहे होंगे। तोल्काप्पियम् में कुल १६१२ सूत्र हैं, जिनमें अक्षर, शब्द एवं वस्तु का विशिष्ट वैज्ञानिक विश्लेषण किया गया है।

१—कतिपय विद्वानों का विचार है कि तमिल के अगस्त्य मूलतः तमिल प्रदेश के ही हैं, उत्तर से नहीं आए। देखिये (क) पृ० ४२–४३ 'तमिल इलक्किय वरलारु'— ले० श्री का० सुब्रह्मणिय पिल्लै एम० ए० बी० एल०।

तृतीय संघम् का केन्द्र आधुनिक मदुरा था। इसके प्रधान कवि नक्कीरर थे। कपिलर परणर, अव्वयार आदि इसी काल के थे। निकटतः १८५० वर्ष तक इस संघम् का काल माना जाता है। विद्वानों की सम्मति यह है कि सन् २०० ई० पूर्व इस के तृतीय व अंतिम संघम् का अन्त हुआ। कविवर तिरुवल्लुवर कृत तिरुक्कुरल की अवहेलना ही इस अंत का कुछ लोग कारण मानते हैं। इस संघम् के सदस्य कुल ४६ तथा कविगण जिन्होंने स्वीकारार्थ अपनी रचनायें समर्पित कीं, ४४९ माने जाते हैं। इस काल की रचनायें एट्टुत्तोहै, पत्तुप्पाट्टु तथा पदिनेण् कोलुकणक्कु में संग्रहीत हैं। इनके अतिरिक्त अन्य कृतियों की भी रचना हुई थी।

एट्टुत्तोहै—

इसमें आठ काव्यग्रंथ संग्रहीत हैं, और इसमें कुल ६०० विविध कवियों के ३०००छन्दों के लगभग हैं। कुछ छन्द ३७ चरणों के भी हैं। साधारणतः इन सब का वस्तु विशेष-श्रृंगार रसात्मक ही है। वीर तथा उपदेशात्मक कविताओं को भी अनेक कवियों ने प्रधान स्थान दिया है। इनमें भी कुछ ग्रंथ, जैसे 'पदिट्टुप्पत्तु' का प्रथम एवं अन्तिम काव्य अप्राप्त ही है। 'पुरनानूरु' में तीनों संघम् के कविया की रचनायें सम्मिलित हैं।

पत्तुप्पाट्टु

इसमें दस काव्यग्रंथ संग्रहीत हैं। 'पट्टिनप्पालै' में विदेश व्यापार का विशिष्ट वर्णन है; 'नेडुनालू वाडै' नक्कीरर कृत प्रेम-काव्य है, जिसमें शरदऋतु का अति सुन्दर वर्णन है; 'कुरुंजिप्पाट्टु' कपिलर कृत एक प्रसिद्ध प्रेम-काव्य है, जिसमें 'प्रथम दर्शन में प्रेम' का हृदयस्पर्शी वर्णन है। तृतीय संघम् के प्रधान कवि नक्कीरर काव्य के ऐसे मर्मज्ञ थे कि एक बार उनके आराध्यदेव शिव के प्रत्यक्ष होने पर भी, उनके एक छंद में एक दोष देख कर, असहमत हो कहने लगे—

"चाहें दिखा वेनयन तीसर,
दोष तो भी दोष ही।"

पदिनेण् कीलकणक्कु

इसमें अठारह छोटे ग्रंथ संग्रहीत हैं। इनका विषय प्रधानतः धर्म है, परंतु सामाजिक, राजनैतिक व श्रृंगार संबंधी विषयों पर भी लेखकों ने लेखनी खूब चलाई है। इनमें 'नालडियार' तथा 'तिरुक्कुरल' प्रथम तीन पुरुषार्थों अर्थात् 'धर्मार्थकाम' का विशद वर्णन देता है, यद्यपि उनका मूल उद्देश्य चौथा पुरुषार्थ अर्थात् मोक्ष व मुक्ति ही है।

तिरुक्कुरल्

इनमें सब से प्रमुख रचना तिरवल्लुवर कृत तिरुक्कुरल् ही है। इसे 'तमिल वेद' भी कहते हैं। इसके नौ नाम हैं, जिनमें से एक 'तिरुवल्लुवर' भी है, जो लेखक का ही नाम हैं और है युक्तियुक्त ही। इसके तीन भाग हैं—धर्म, अर्थ एवं काम; और दस दस छंदों के १३३ अध्यायों में कुछ १३३० छन्द हैं। छन्द का नाम कुल है जो आधे दोहे के लग-

भग होता है। प्रत्येक कुल में एक एक विशिष्ट एवं विशाल भाव-समुद्र को हम देख सकते हैं। इसी के कारण इडैक्काड़र नामक एक सत्कवि ने लिखा है—

'सरसों को भिद सत सागर भर, कटै मध्य कुरल।

प्रसिद्ध कवयित्री अव्वयार ने इसी को परिवर्त्तित करके कहा है—

'अणु को भिद कर, सत सागर भर, काटै मध्य कुरल[1]।'

अर्थात् बिहारीलाल के समान तिरुवल्लुवर ने 'गागर में सागर' भर दिया हैं, जिसके कारण प्रत्येक कुरल 'नावक के तीर' के समान है। इस ग्रंथ-रत्न का अंग्रेजी, फ्रेंच, जर्मन, लैटिन आदि पाश्चात्य भाषाओं में तथा संस्कृत एवं अनेक आधुनिक भारतीय भाषाओं में अनुवाद हो चुका है। मद्रास प्रांत के वर्तमान प्रधान मंत्री श्री च० राजगोपालाचार्य की सम्मति यह है कि इस ग्रंथ के अध्ययन के बिना भारतीय सभ्यता के वास्तविक स्वरूप को कोई नहीं समझ सकता। साथ साथ यह भी कहना होगा कि इसके वर्णन के बिना 'भारतीय साहित्य का वर्णन भी अधूरा ही रह जायगा। जो स्थान भगवद् गीता, आदि का अपने अपने क्षेत्र में है, वही स्थान तमिलनाड, तमिल भाषा व तमिल संस्कृति में तिरुक्कुरल् का है।

इस काल के अन्य महान कवियों में अदिकमान, इडैक्काडर, कल्लाड्र, इरैयनार, पेरुदेवनार आदि प्रमुख है। इस काल के भी अनेकानेक ग्रंथ अप्राप्त हैं और कतिपय ग्रंथों के कुछ अंश ही प्राप्त हुए हैं। तमिलनाड के तीनों प्रदेशों—चेर, चोल, पांड्य—के सम्राटों में से प्रत्येक पर रचित ९०० बेंबा छन्दों का संकलन एक ग्रंथ-विशेष 'मुत्तोल्लायिरम्' (अर्थात् उनत्तीस सौ) में हुआ है। यह भी पूर्णतः प्राप्त नहीं है। इसमें तीनों सम्राटों के सैन्य, ध्वजा, यश, वीरता, प्रदेश, नगर व समुद्र आदि का विशद वर्णन वीर रसको साक्षात् करते हुए हुआ है। इनके रचयिताओं का नाम व समय का कुछ पता नहीं चला है।

अव्वयार

इस काल की कवियित्रियों की संख्या ३१ मानी जाती है, जिनमें अव्वयार[2] अत्यधिक प्रसिद्ध हैं। इन्हें तिरुवल्लुवर की चार बहिनों में से एक मानते हैं। तात्कालिक सामाजिक व राष्ट्रीय परिस्थियों की विषमता को सुलझाने में इस कवियित्री ने अद्भुत प्रभावोत्पादक काव्यों के द्वारा तथा व्यक्तिगत रूप से भी जो सेवायें की हैं, उसे तमिल कदापि नहीं भूल सकते। तमिल देश की तात्कालिक एकता को बनाए रखने में अव्वयार का विशेष हाथ था। जन्म भर अविवाहित ही रह कर देश की, देशी भाषा की व देशीके बच्चों की सेवा में सदा निरत रहीं। इनके काव्य की भाषा ऐसी मधुर एवं सरल है कि बच्चे के मुँह से हम इन्हें आज भी सुन सकते हैं। 'आत्तिच्चूडी' एवं कोन्ड्रै वेन्दन, जिन्हें

---

१ "अणुवैत्तुलैत्तु एलुकडलैप्पुह टिक्कुरुहत्तरित कुरल्"!

२—ये संघम् काल की हैं। इनके अतिरिक्त 'अव्वयार' नाम का दो और कवियित्री भी प्रसिद्ध हैं। एक कम्बर के समकालीन मानी जाती हैं।

'तमिल के स्वर्णिम अक्षर' कहा जाता है, मुत्तुरै, नालवली तथा ३४ से अधिक ग्रंथ इनके द्वारा रचे गए हैं। इसका अनुवाद अंग्रेजी, जर्मन, डच आदि पाश्चात्य भाषाओं में हो चुका है।

बौद्ध-जन-काल

तीन संगम् कालों की संक्षिप्त रूपरेखा यहाँ समाप्त होती है। इसके पश्चात् बौद्ध तथा जैन धर्मों का काल आता है, जिसे हम लगभग सन् २०० ई० पूर्व से मान सकते हैं। तमिलनाड में इससे पूर्व विशुद्ध शैव धर्म का ही प्रचार था। बौद्धों तथा जैनों के आगमन के अनन्तर तमिल साहित्य ने एक अन्य रूप में अत्यधिक प्रगति की। इन धर्मावलंबियों ने, अथवा इन धर्मों से प्रभावित व्यक्तियों ने अपने धार्मिक भावों को यथोचित रूप से भरकर 'महाकाव्य' की रचना तमिल में की। महाकाव्य की ऐसी पद्धति तमिल के लिये नवीन ही थी। इस पद्धति-विशेष को हम बौद्ध तथा जैन धर्मों की तमिल के लिये एक विशिष्ट देन मान सकते हैं।

ऐम्पेरुकाप्पियंगल

इस काल में 'ऐम्पेरुकाप्पियंगल' अर्थात् 'पंचमहाकाव्यों' की रचना हुई। यथा—चिलप्पदिहारम्, मणिमेखलै, जीवक चिन्तामणि, वलैयापति एवं कुंडल केशी।

चिलप्पदिहारम्

यही तमिल का सर्वप्रथम महाकाव्य है, जिसकी रचना चेर सम्राट् चेंगुट्टुयन के अनुज इलंगोअडिकल (बौद्ध भिक्षु) से सन् २०० ई० के लगभग हुई। इसमें कथा की नायिका सतीश्रेष्ठ 'कण्णही' की इतिहास प्रसिद्ध रोमांचक कथा है।[1] इस महाकाव्य की विशेषता यह है कि प्रारम्भ से अंत तक यह नाटकीय सौन्दर्य से पूर्ण है। कथावस्तु दुखांत होने पर भी रामायण के समान सुखान्त बना दिया गया है। भाषा भाव की सहगामिनी बन कर इस प्रकार प्रवाहित हुई है कि भावों का चित्र स्पष्टतः पाठक के सम्मुख उपस्थित हो जाता है। तात्कालिक भारत की सभी ललित कलाओं का सुन्दर वर्णन इसमें हुआ है, और तीनों सम्राटों के शौर्य का भी। यह महाकाव्य पूर्णतः मौलिक है, और तमिल साहित्य के लिये एक अद्वितीय आभूषण है।

मणिमेखलै

द्वितीय महाकाव्य 'मणिमेखलै'[2] है, जो प्रसिद्ध बौद्ध कवि व धान के व्यापारी 'शात्तनार' द्वारा रचित है। इसमें शृंगार के साथ-साथ शान्त रस के प्रवाह का अद्वितीय संगम है। बौद्ध धर्म के सिद्धान्त इसमें कूट कूटकर भरे गए हैं। भाषा भी अति स्निग्ध व प्रवाहपूर्ण है। वस्तुतः इसकी कथावस्तु चिलप्पदिहारम् से ही लगी हुई और आगे प्रवाहित होती है। इसकी नायिका मणिमेखलै का जन्म चिलप्पदिहारम् के नायक कोवलन की एक प्रेमिका माधवी

---

१. इसकी कथावस्तु का सारांश 'आजकल' के जुलाई १९५३ के अंक में श्री सत्यवती मल्लिक द्वारा लिखित है।

२. इसकी कथावस्तु का सारांश 'आजकल' के नवम्बर, १९५३ अंक में श्री सत्यवती द्वारा लिखित हैं।

से ही हुआ है। मणिमेखलै अपनी वेश्या-माता माधवी (अनंतर बौद्ध भिक्षुणी) की प्रेरणा से भोग विलास को पूर्णतः त्याग कर एक श्रेष्ठ बौद्ध भिक्षुणी बन जाती है, और एक राजकुमार के अत्यधिक आवेशपूर्ण अतिपवित्र प्रेम को भी अस्वीकृत करके आजन्म अविवाहित रह कर बुद्ध, धर्म व संघ की ही शरण में अपना संपूर्ण जीवन अर्पित कर देती है। ऐसा अद्भुत चरित्र अन्यत्र दुर्लभ ही है। इस महाकाव्य की रचना का समय चिलप्पदिहारम् के निकट ही माना जाता है।

जीवक चिन्तामणि

इस तृतीय महाकाव्य की रचना तिरुत्तक्कदेवर नामक एक जैन कवि द्वारा हुई। इसका आधार संस्कृत साहित्य ही है। उद्देश्य इसका है जैन धर्म का प्रचार। जीवन के चारों पुरुषार्थों का विशिष्ट वर्णन 'जीवक' के जीवन चरित्र के आधार पर किया गया है। इसमें कुल ३१४५ छन्द हैं। ओजपूर्ण सुगठित भाषा व महान भावनाओं का सुन्दर व्यक्तीकरण इसकी विशेषता है। श्रृंगार रस का विशेष चमत्कार इसमें द्रष्टव्य है।

शेष दो महाकाव्य अर्थात् वलैयापति तथा कुंडलकेशी अप्राप्त हैं। ये पांचों महाकाव्य तमिलदेवी के विभिन्न अंगों को सुशोभित करने वाले पांच आभूषण माने जाते हैं। यथा, चिप्पदि-हारम् 'चिलम्बू' (नुपुर), 'मणिमेखलै' (मेखला), जीवकचिन्तामणि 'चिन्तामणि' (चन्द्रहार), वलैयापति 'वलैयल' (कंकण) तथा कुंडल केशी कुंडलम् (कुंडल) क्रमशः पैर कमर, वक्षस्थल, हाथ तथा कानों के आभूषण हैं।

ऐंचिरुकाप्पियंगल

इनके अतिरिक्त 'ऐंचिरुकाप्पियंगल' अर्थात् पांच छोटे काव्य ग्रंथों की भी रचना उसी गाथात्मक रीति पर हुई। वे हैं—नीलकेशी, चूड़ामणि, यशोधरा-काव्यम्, नागकुमार काव्यम् तथा उदयणन् करें। इनका उद्देश्य जैन धर्म-प्रचार ही था। इनका रचनाकाल संवत् २०० ई० से ५०० ई० के लगभग माना जा सकता है। इनके अतिरिक्त अन्य अनेक प्रकार की रचनाएँ भी इस काल में हुईं—गाथात्मक, मुक्तक एवं रीति ग्रंथ भी। इनमें दिवाकर मुनिवर कृत 'दिवाकरम्' का, जिसमें २२५६ सूत्र विविध साहित्यिक लक्षणों के संबंध में हैं, संग्रहीत हैं। इनके सुपुत्र पिंगलर कृत 'पिंगलदै' भी उल्लेखनीय हैं। तमिल भाषा तथा साहित्य पर विशेष योग्यता प्राप्त करने की इच्छा रखने वालों को इनका अध्ययन अनिवार्य है। ऐयनार कृत 'पुरप्पोरुल वेण्बा मालै' मानव के विशिष्ट वाह्य व्यवहारों को व्यक्त करके उसकी व्याख्या करने वाला अपूर्व ग्रंथ है। वाह्य-जीवन के साधारण से साधारण विषयों का सूक्ष्म विश्लेषण व विवेचन इसकी एक विशेषता है। इसके लेखक प्राचीन चेर सम्राटों के वंशज माने जाते हैं।

शैव धर्म काल

लगभग सन् ५०० ई० तक बौद्ध एवं जैन धर्म का अत्यधिक प्रचार एवं प्रसार तमिल नाड में रहा, और उन धर्मावलंबियों को साहित्य में यथानुकूल स्थान भी प्राप्त हुआ। परंतु जनता को इन धर्मों से पूर्ण शांति प्राप्त न हो सकी। प्राचीन शैव धर्म ही पुनः तमिलनाड में घर कर गया। जनता का ध्यान भी इसी ओर अधिक आकृष्ट होने लगा। इसका विशेष

कारण यह भी था कि इन शैव धर्माचार्यों में ऐसी एक अपार शक्ति थी कि अपनी भक्ति एवं चिंतन के द्वारा अनेक चमत्कार पूर्ण कार्यों को कर दिखाने का सामर्थ्य रखते थे। साथ-साथ उनकी भक्तिपद्धति भी ऐसी थी कि तमिल हृदय उसमें स्वभावतः मग्न हो जाता था। अतएव इस काल में शैव भक्त प्रचारकों के द्वारा साहित्य का जो भंडार प्राप्त हुआ, वह उसकी एक विशिष्ट निधि बन गई।

शैव संत-कवि (नायनमार)

इस शैव-धर्मका-ल के प्रधान शैव-संत-कवियों में चार अति प्रमुख हैं जो, 'नाल्वर' (चार श्रेष्ठ) कहलाते हैं। वे हैं—माणिक्कवासहर, तिरुज्ञानसंबंधर, अप्पर (तिरुनावुक्करसर) तथा सुन्दरर। तमिल में एक प्रसिद्ध वचन है कि 'तिरुवाचहत्तिर्कुरुहादार ओरुवाचहत्तिकुम् उरुहार', अर्थात्—

तिरुवाचहम् से द्रवित नहिं तो
औ 'किसी सेना द्रवै।'

ऐसे 'तिरुवाचहम्' ग्रंथ के रचयिता थे मणिकवासहर। इस ग्रंथ का एक एक पद पाठक के हृदय को पिघला देता है। इसमें आध्यात्मिक उन्नति के विविध रहस्यों का वर्णन है, जिन्हे लेखक ने स्वयं अनुभव करके आवेशपूर्ण शैली में समय समय पर लिखा है। रेवेरेंड जी० यू० पोप ने इसका अंग्रेजी में अनुवाद किया है। इनका दूसरा ग्रंथ है तिरुक्कोवै[1]। इनके दोनों काव्यों की एक विशेणता यह है कि वे किसी भी धर्म व मत-विशेष के पक्षपाती नहीं हैं। इनका समय तृतीय शताब्दी माना जाता है, परंतु कुछ विद्वान नवीं शताब्दी मानते हैं। शेष तीनों शैव-संत-कवि धर्म-प्रचारक थे, और अपने धर्म की विशेषता का यत्र-तत्र गान करते हुए उन पर धार्मिक व्याख्यान देते थे। इनके काव्यों को 'तेवारम्' कहते हैं जो तमिल जनता का कंठहार है। इनके रचयिताओं को नायन्मार कहते हैं।

वैष्णव-संत कवि (आलवार)

इहीं शैव संतों के समानांतर वैष्णव संत भी अपने धर्म का प्रचार सदा से करते आए हैं। भगवान विष्णु को संरक्षक ही नहीं, अपितु सृष्टि-संरक्षण-संहार कर्त्ताओं के भी अधिष्ठाता मानते हैं। वैष्णव भक्ति से ओतप्रोत काव्य की रचना करनेवाले भक्त कवियों में १२ प्रमुख हैं। इनकी कुल रचनाओं को मिलालर 'नालायिर प्रबंधम्' (चार सहस्र प्रबंध) के नाम से प्रकाशित किया गया है। तमिल वैष्णवों का यह कंठहार है। वैष्णवों का मत यह है कि ये बारहो कविगण भगवान विष्णु के बारह शस्त्रों व वाहनों के अवतार हैं। इनकी जीवनी अनेक प्रकार की चमत्कारपूर्ण घटनाओं से भरी पड़ी है। अनेक तो अयोनिज हैं, और पांच भक्त द्वापर युग के माने जाते हैं। वस्तुतः इनकी जीवनी के संबंध में ठीक ठीक किसी को ज्ञात नहीं है। परन्तु इनकी काव्यमाधुरी से सब परिचित हैं। 'तन्मयता' इसका

---

१ – विद्यापति की रचनाओं पर जिस प्रकार आरोप किया जाता है, उसी प्रकार इनके संबंध में भी यह कहा जाता है कि यह एक लौकिक प्रेम काव्य है। वस्तुतः इसमें आध्यात्मिक रहस्यवाद ही है।

विशिष्ट गुण है। नालायिर प्रबंधम् को 'दिव्य प्रबंधम्' भी कहा जाता है और इसे तमिल वैष्णव 'द्वितीय वेद मानते हैं। जो स्थान शैवों में तेवारम्-तिरुवाचहम् का है, वही वैष्णवों में दिव्य प्रबंधम् का है। इनमें नम्माल्वार कृत 'तिरुवाय मोलि' कुल शेखर आल्वार कृत 'पेरुमाल तिरुमोलि' तथा कवियित्री आंडाल (तमिल मीरा) कृत 'तिरुप्पावै' तथा नच्चियार तिरुमोलि' विशेष प्रसिद्ध एवं प्रभावोत्पादक हैं। इन वैष्णव भक्तों को 'आलवार' कहते हैं।

इस काल के अन्य श्रेष्ठ कवियों में संत पट्टिणत्तार, पत्तिरगिरियार, शेक्किलार, कच्चियप्प शिवाचारियार, जैन संत पवनदी, गुण वीरपंडितर आदि प्रमुख हैं, शेक्किलार ने 'पेरियपुराणम्' की तथा कच्चियप्प शिवाचारियार ने 'कंद पुराणम्' की रचना की। ये दोनों तमिल के महान् धार्मिक प्रबंधों में से हैं जिनका अध्ययन, विविध सभाओं में तमिलनाड भर में आज भी होता है। पेरियपुराणम् में ६३ शैव संतों की मार्मिक कथा कही गई है जो ७२ सर्गों तथा कुल ४२८६ छंदों में है। इसके प्रत्येक चरण में भक्तिरस का मधुर प्रवाह द्रष्टव्य है। 'कंदपुराणम्' सुब्रह्मण्य भगवान् पर जिन्हें तमिल में 'मुरुहन' (सौंदर्य) कहा जाता है, एक पौराणिक महाकाव्य है, जो कुल १०,३४६ छंदों में है। कहा जाता है प्रत्येक छंद का प्रथम चरण लेखक के आराध्य देव द्वारा ही दिया गया है, जिसका उल्लेख स्वयं कवि ने किया है। इन दोनों काव्यों में कथात्मक ढंग से शैव भक्ति एवं ज्ञान का सुंदर समन्वय है। स्थान स्थान पर सदाचार संबंधी उल्लेख इन काव्यों में हमको मिलता है।

साहित्यिक त्रिमूर्ति

इसके अनंतर तमिल साहित्य में वह युग आता है, जिसमें हम उत्तर तथा दक्षिण भारत की काव्य-पद्धति तथा कथावस्तु का सुंदर सामंजस्य देखते हैं। अभीतक भावुक भक्त कवियों को ही शताब्दियों से देखते आए हैं। इस युग में हम भक्ति के समान, अथवा उससे भी अधिक 'काव्य' की प्रधानता पाते हैं। तात्पर्य यह कि अब भक्त-कवियों का काव्य क्षेत्र में उद्भव हुआ। फलतः कंबर, औट्टक्कूत्तर तथा पुहलेन्दिप्पुलवर—'साहित्यिक त्रिमूर्ति के दर्शन हुए।

कंबर

कंबर ने वाल्मीकि रामायण की कथावस्तु को तमिल संस्कृति के ढांचे में ढाल कर अपनी मौलिकता का उसमें पुट देकर 'कंबरामायणम्' (राम कादै) के नाम से प्रकाशित की[1]। इसमें भूतपूर्व सभी काव्य ग्रंथों का प्रकाश स्पष्टतः देख सकते हैं। तिरुक्कुरल के तो छंद के छंद उसमें पिरोए गए हैं। कथावस्तु में राम-सीता पूर्वराग 'प्रथम दृष्टि में प्रेम' के आधार पर दिखाया गया है, जो न बाल्मीकि में, न रघुवंश में और न उससे पूर्व रचित और किसी ग्रंथ में उल्लिखित है। इनकी भाषा एवं भाव का सुंदर योग तमिल साहित्य का गौरव है। आधुनिक काल के एक प्रसिद्ध आलोचक श्री चेल्व-केशवराय मुदालियर ने 'तमिल की गति' (क–ति) कह कर कंबर को (प्रथमतः) तथा

---

१. 'कंबर तथा तुलसी' पर मेरा एक ग्रंथ मद्रास विश्वविद्यालय की ओर से प्रकाशित हो रहा है।

तिरुत्रल्लुवर को स्थान दिया है। इन दोनों को हम तमिल देवी के दो नेत्र मान सकते हैं। कंबर ने रामायण के अतिरिक्त शडकोपर अंदादी, ईरेलुपदु, शिलै एलुत्तु, सरस्वती अंदादी आदि ग्रंथों की भी रचना की है।

कविवर ओट्टक्कूत्तर के संबंध में प्रसिद्ध हैं कि इन्होंने भी एक रामायण की रचना की, परंतु कंबर की कृति के संमुख अपनी रचना को अति तुच्छ मान कर लिखित ताडपत्रों को एक-एक करके जलाने लगे। छः कांडों को ही जला पाए थे कि सौभाग्य वश कंबर वहीं पहुँच गए, और इहीं के अनुरोध पर अंतिम कांड को सुरक्षित रख छोड़ा। यही अंतिम कांड अब कंब रामायण में संमिलित कर लिया गया है। कंबर ने उत्तर कांड की रचना नहीं की। ओट्टक्कूत्तर ने कंबर की भूरि-भूरि प्रशंसा की है।

पुहलेदिप्पुलवर पांड्य सम्राट के राज कवि थे। इहोंने 'नल वेण्बा' नामक एक महाकव्य की रचना नल-दमयंती की कथा के आधार पर की है, जो अपने ढंग की एक अनुपम रचना है। ये तीनों कविगण लगभग समकालीन थे, अर्थात् ११००–१२०० के आसपास।

इसी काल में जब 'कुलोत्तुङ्ग चोलन् प्रथम्' राज कर रहे थे, 'जयम् कोंडान्' नामक एक अति प्रसिद्ध कवि हो चुके हैं जिन्होंने 'कलिंगत्तुप्परणी' नामक वीर काव्य की रचना की, जो तमिल साहित्य में अति उत्तम वीर काव्यों में से एक है।

शैव सिद्धान्त शास्त्र

सन् १२०० के पश्चात् शैव-सिद्धान्त शास्त्रकार आते हैं, जिन्होंने एक ऐसे दर्शन का प्रतिपादन किया, जो अति व्यापक, मानव मात्र के लिये स्वीकरणयोग्य तथा आध्यात्मिक उन्नति के लिये अनुपम मार्ग प्रदर्शक है। इस सिद्धांत-विशेष को तमिल काव्य में लिपिबद्ध करनेवालों में उय्यवंदतेवर, मेय्कण्ड तेवर, अरुलनदि तेवर, मनवासकम् कण्तेवर व उमापति शिवाचारियार आदि अति प्रमुख हैं। इनके रचित कुल १४ ग्रंथ उपलब्ध हैं। ध्यान देने की बात यह है कि यह दर्शन-विशेष तमिल भाषा व तमिलनाड की ही मौलिक सम्पत्ति है। यहीं जंगी तथा पल्लवित हुई है।

भाष्य काल

उपर्युक्त जितने भी ग्रंथों का उल्लेख हुआ है, उनमें एक कठिनाई यह है कि वे सब साधारण पाठकों की समझ में सरलता से नहीं आ सकते। अतः विशद भाष्यों की आवश्यकता का अनुभव तात्कालिक विद्वानों को हुआ। फलतः भाष्यकारों को हम इस काल में देखते हैं। सर्व प्रथम इलम्पूरनार ने तोल्काप्पियम् का भाष्य लिखा। तदनंतर पेराशिरियार ने तिरुक्कोवै का, नाच्चिनार्क्किनियार ने, जो भाष्यकारों में सर्वश्रेष्ठ माने जाते हैं, तोल्काप्पियम, पत्तुप्पाट्टु, कलित्तो है, जीवक चिंतामणि आदि का अति सुंदर गद्य में, अडियार्कुनल्लार ने चिलप्पदिहारम् का, परिमेललहर ने तिरुक्कुरल का भाष्य लिखकर इन महान ग्रंथों को साधारण पाठकों की भी प्रिय वस्तु बना दी है।

पदिनेण्चित्तरकल (अठारह सिद्ध जन)

तमिल साहित्य में चित्तर (सिद्ध) जन एक विशिष्ट स्थान है। 'चित्तर' से तात्पर्य उन व्यक्तियों से है, जिनको अणिमा, गणिमा आदि अष्ट सिद्धियां प्राप्त

हैं। वे रसायन तथा अन्यान्य वैज्ञानिक शास्त्रों में भी सिद्धहस्त थे। पादिनेण् चित्तरकल तमिल में अत्यधिक प्रसिद्ध हैं। इनकी रचनाओं को पढ़कर कोई भी सरलता से इसकी कल्पना कर सकता है कि प्राचीन काल में तमिल देशवासी वैज्ञानिक यंत्रादि में, रसायन शास्त्र में, वैद्यक पदार्थों व सिद्धांतों में कितने सिद्धहस्त थे। पांबाट्टिचित्तर, इडैक्काट्टुचित्तर, अहप्पेयचित्तर, कुदम्बैचित्तर, अलुहणिचित्तर के अतिरिक्त मच्छेन्द्र तथा गोरख का भी नाम अति प्रसिद्ध है। गोरख ने ही गंजा का वैद्यक में सर्व प्रथम प्रयोग किया। तमिल भाषा में गोरख द्वारा रचित 'गोरखवैप्पु' नामक १०० पदों की एक कृति प्राप्त है। अब यह अन्वेषण का विषय है कि ये 'गोरख' हिंदी के श्री गोरखनाथ ही थे अथवा उनसे विभिन्न कोई व्यक्ति। यही बात मच्छेन्द्र के संबंध में भी है।

चित्तरकल का जीवनोद्देश्य 'वेट्ट वेलि' (अखंड प्रकाश) की प्राप्ति था। वे वाह्याचार-विचार-विधान के कट्टर विरोधी थे। गांजा भांग का उपयोग वे करते थे। अपने सिद्धांत-विशेष का उद्गम वे शिव जी से मानते हैं, जिनकी परंपरा में नन्दी, तिरुमूलन, सनाथर, पातंजलि, अगत्तियर, पुलत्तियर आदि को मानते हैं। विविध शास्त्रों पर इनके 'आदि चित्तर' (शिव) द्वारा सातलाख छन्दों की रचना हुई थी, ऐसा वे मानते हैं।

नृपति-कविगण

पंद्रहवी शताब्दी में कतिपय राजाओं को यह कवि के रूप में देखते हैं। नृपति-कवि अलहिय-देशिकर ने 'सेंतु पुराणम्' की रचना ५१ सर्ग व ३४३८ छन्दों में की है। पांड्य सम्राट्-कवि अतिवीरराम पांड्यम् ने 'नैडदम्' (नैषधचरित), काशी कांडम्, लिंगपुराणम् तथा कूर्मपुराणम् आदि की रचना की, जिनमें सब मिलाकर ५००० से भी अधिक छन्द हैं, इसके अग्रज वरतुंग पांड्यम् कृत 'परिमोत्रकांडम्' तथा 'कोक्कोहम्' अति प्रसिद्ध हैं।

लगभग इन्हीं के समय में विल्लिप्पुत्तूरर नामक 'महाकवि' ने 'महाभारत' का तमिल में पद्यानुवाद किया और स्थान स्थान पर अपने आश्रयदाताओं—तीनों तमिल सम्राटों—की भूरि भूरि प्रशंसा की है। इनकी एक और कृति 'अलहर अन्दादी' भी प्रसिद्ध है। इहीं के समकालीन सरस कवि अरुणगिरि नायर ने 'कन्दर अन्दादी', 'कन्दर अलंकारम्', 'कन्दर अनुभूति' तथा 'तिरुप्पुहल' की रचना की। सुब्रह्मण्य को ही 'कन्दर' कहते हैं। तिरुप्पुहल में कुमार सुब्रह्मण्य की स्तुति में १०,००० पद थे, परन्तु १००० ही उपलब्ध हैं। ये १००० भी यह सिद्ध करने के लिये यथेष्ट हैं कि सहृदय पाठक व श्रोता का हृदय भगवान में लय प्राप्त किये बिना नहीं रह सकता। इनका विशेष रूप से गायन तमिलनाड भर में सुब्रह्मण्य के भक्त सदा करते रहते हैं। इनके अतिरिक्त परंज्योति कृत 'तिरुविलयाडल' (३३६३, पदों में), पोय्यामोलिप्पुलर कृत 'तंजैवाणन कोवै' विकारक्कविरायर कृत 'हरिश्चन्द पुराणम्', मंडलपुरुलर कृत 'चूड़ामणि निहण्डू' (निघंटु-दिवाकरम् तथा पिंगलंदै पर आधारित), अरसकेशरी कृत 'रघुवंश' का पद्यानुवाद[1] (२६ सर्ग, २४०४ श्लोकों में) तथा अंधकवि वीर राघव मुदलियर कृत अनेक 'विड्डु कवि' ('चीट्टुक्कवि' अर्थात् दूतों के द्वारा पत्रों में लिख कर भेजी

---

१. 'रघुवंश' का गद्यानुवाद श्री वेंकटराघवाचार्य ने इसी वर्ष किया है।

जानेवाली कविता), 'कलुक्कुन्ड्र पुराणम्', 'कलुक्कुन्ड्र मालै' तथा 'चेय्यूरपिल्लैत्तमिल' विशेष उल्लेखनीय हैं। अंधकवि वीरराघव मुदलियार के संबंध में प्रसिद्ध है कि इन्होंने अपनी पीठ पर अक्षरों को लिखवा कर तमिल का अध्ययन प्रारम्भ किया, और शनैः शनैः काव्य रचना करने में भी सफलता प्राप्त की। इनके विडुकवियों की वीररसात्मकता तथा श्लेष प्रयोग अत्यन्त श्लाघनीय है। इनका समय सोलहवीं शताब्दी का पूर्वार्ध निश्चित हुआ है।

मठोंका काल

इसके पश्चात् धर्मपरिपालक मठों का उद्देश्य तमिल संस्कृति, सभ्यता, साहित्य का पालन और विकास, तथा भक्ति पद्धति का प्रचार था। प्राचीन हस्तलिखित ग्रंथों का संकलन करके तमिल साहित्य के भंडार को विनष्ट होने से सुरक्षित रखने में इन मठों का विशेष हाथ रहा है। इन मठों में सब से अधिक प्राचीन है 'तिरुवावडुतुरै मठ'। श्री अम्बलवाण देशिकरने, जो इसके १५ वें मठाधिपति थे, शैव धर्म पर 'दास कार्यम्', 'नमच्चिवाय मालै' आदि चौदह ग्रंथ-रत्नों की रचना की है। इनकी शिष्य-परम्परा में स्वामिनाथ देशिकर एवं शंकर नमच्चिवायर हुए। शिव-ज्ञान मुनिवर अथवा शिवज्ञान योगीश्वर इसी मठ के थे, जिहोंने 'द्राविड महाभाष्यम्', 'तोल्काधिय सूत्र वृद्धि' आदि अनेकानेक ग्रंथों की रचना की। इनके शिष्य भी अनेक थे, जिनमें महान यात्री कच्चियप्प मुनिवर ने 'विनायक पुराणम्', 'तणिकै पुराणम्' आदि अनेक ग्रंथों की रचना की। मठों में 'धर्मपुरम् मठ' का नाम द्वितीय है। इसकी प्रसिद्धि कविवर कुमर गुरुपरर के कारण विशेष रूप से है। इन्होंने हिन्दी में कम्बरामायण का प्रवचन काशी में किया, जिसे हिंदी के सर्वश्रेष्ठ कवि तुलसीदास सुनकर अत्यन्त प्रभावित हुए, ऐसी किंवदंती प्रसिद्ध है।[1] इनके नाम पर अब भी काशी में एक मठ उपस्थित है। इहोंने 'कन्दर कलि वेण्बा', 'मींनाक्षी पिल्लैत्तमिल', 'मीनाक्षी इरट्टिमणि मालै' व 'पंडार मुम्मणिक्कोवै' की रचना की। इनके अतिरिक्त 'सकल कलावल्लिमालै', 'नीति नेरि बिलक्कम्' 'मदुरैक्कलम्बहम्' तथा 'काशी कलम्बहम' भी इनकी अत्यधिक प्रसिद्ध रचनाएँ हैं। अपने अपूर्वतपोबल से मांस को फलों में परिवर्त्तित करके इन्होंने सम्राट् अकबर को आश्चर्य चकित कर दिया, ऐसी भी किंवदन्ती प्रसिद्ध है। कविवर के अतिरिक्त इस मठ से संबंधित वेल्लि अम्बलत्तम्बिरान, आरुमुखत्तम्बिरान व वैद्यनाथ नावलर आदि भी प्रसिद्ध हैं।

इन दो मठों के अतिरिक्त तिरुमण्णामलै, सूरियनार कोविल, तिरुमंगलम्, तिरुप्पनंदाल्, कुन्ड्रक्कुडि आदि भी प्रसिद्ध हैं। इनसे संबंधित भक्त कवियों में शिवप्रकाशर का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इन्होंने 'प्रभुलिंग लीला', 'नन्नेरी' आदि २३ ग्रंथों की रचना की है। प्रभुलिंगलीला में महेश्वर, आत्मा व माया के संबंध में २५ सर्ग व १०९७ श्लोकों में विशद व्याख्या उपस्थित है।

इन मठों से संबद्ध कवियों के अतिरिक्त स्वतंत्र रूप से भक्ति-परवश हो काव्य रचना करने वाले कविगण भी अनेक हुए हैं, जिनमें तायुमानवर अति प्रमुख हैं। इनके

१—डा० स्वामिनाथ ऐयर-'कुमरगुरुपरर मालै' में प्रारम्भ में ही यह उल्लिखित है।

नाम पर तिरुच्चिनाप्पल्ली के निकट अब भी एक मठ उपस्थित हैं। ये एक सरल प्रकृति के दार्शनिक, ज्ञानी, योगी और सरस कवि भी थे। इन्होंने व्यक्तिगत जीवन के उदाहरण से धर्म के महात्म्य को सिद्ध कर दिखाया था। इनका मत था कि भगवान के अनुग्रह पर ही सर्वस्व आधारित है और मानव उनके करों में केवल एक शस्त्र के समान है। कर्म, जप व ध्यान पर इन्होंने अत्यधिक जोर दिया है। इनके पद 'तयुमानवर पाडल्कल' के नाम से संग्रहीत हैं। तमिल साहित्य में इनके काव्य को एक उल्लेखनीय स्थान प्राप्त है।

इसी प्रकार राजप्पक्कविरायर ने 'कुट्राल-स्थल पुराणम्' तथा 'कुट्रालक्कुरवंजी' नामक दो मधुर काव्य ग्रंथों की रचना करके तमिल साहित्य में एक श्रेष्ठ स्थान प्राप्त किया है। इनके काव्य में प्रकृति वर्णन की शोभा देखने योग्य है। अरुणाचल कविरायर (सन् १७१२–१७७९) बारह वर्ष की अवस्था में अनाथ हो जाने के कारण गृह त्याग कर धर्मपुरम् मठ में सम्मिलित हो गये। तमिल, तेलुगु तथा संस्कृत में प्रकांड पांडित्य प्राप्त करके इन्होंने 'अजोमुखी नाटकम्' 'शीकाली पुराणम्', 'शीकालिक्कोवै', 'अनुयारपिल्लैत्तमिल' के अतिरिक्त 'राम नाटकम्' की भी रचना की है। अंतिम नाटक रंगमंच पर सफलता के साथ अकसर खेला जाता है। इस काल में तांडवराय स्वामिकल् रचित 'कैवल्य नवनीतम्' का वेदांत ग्रंथों में एक विशिष्ट स्थान है। इनके अतिरिक्त कंदप्पैयर, कविराज पिल्ले, मीनाक्षि सुंदर कविरायर ('कुवलयानंदम्' के अनुवादक) आदि अनेकानेक कविगण भी इसी काल में हुए।

मुसलमानों की तमिल सेवा

दक्षिण भारत में सन् १३०० से इस्लाम धर्म के आगमन के अनंतर कई मुसलमानों ने भी मधुर तमिल में काव्य रचना की है, जिनमें चक्करैप्पुलवर, मुहम्मद इब्राहिम मुहम्मद हुसैन, नायिनार, मुहम्मद पुलवर, मस्तान साहिब और गुलाम कादिर नाल्वर अति प्रसिद्ध हैं।

सन् १८०० के पश्चात् तमिल की भूतपूर्व गति पाश्चात्य प्रभाव के फलस्वरूप कुछ परिवर्तित हुई, परंतु प्राचीन पद्धति के भी कविगण होते रहे और तमिल का वह प्रवाह भी अटूट बना रहा। इनमें श्री मीनाक्षि सुंदरम् पिल्लै ने ४८ ग्रंथ विविध विषयों पर लिखकर तमिल की विशेष उन्नति की। साथ साथ अनेक शिष्यों में भी तमिल के प्रति विशेष अनुराग उत्पन्न करके तमिल भाषा और साहित्य की ओर आकृष्ट किया। महामहोपाध्याय डा० स्वामिनाथ ऐयर इन्हीं के प्रधान शिष्यों में थे, जिनका उल्लेख आगे होगा।

श्री रामलिंग स्वामिकल (१८२३–१८७४) कृत 'तिरु-अरुल-पा' तमिल साहित्य की 'मधु-धारा' है। इसके अतिरिक्त 'जीव-कारुण्य-ओलुकल्' पर इनका एक प्रसिद्ध लेख है, जो सरस गद्य का सुंदर उदाहरण है। इसमें जीवों पर करुणा दिखाने के सदाचरण पर विचार प्रकट किये गये हैं। विशुद्ध शाकाहार का उन्होंने प्रचार किया। कहा जाता है कि सन् १८७४ में उन्होंने अपने को एक कमरे में बंद कर लिया (जो कमरा अब भी है) और जब

उनके आदेशानुसार कुछ समय पश्चात् वह कमरा खोला गया, तो वे वहां अनुपस्थित थे। वे वहीं भगवान की ज्योति में लीन हो, स-शरीर अस्त हो गए। उनके भक्त मानते हैं कि समय आने पर वे पुनः दर्शन देंगे।

इनके पश्चात् आरुमुख नावलर (१८२२-७६) का नाम स्मरणीय है, क्योंकि इन्होंने ७० अमूल्य ग्रंथों का संपादन, प्रकाशन तथा मुद्रण स्वयं किया, और स्कूलों के लिये अनेकानेक पाठ्य पुस्तकों की रचना भी गद्य में की। इन्हीं के समय में श्री कृष्ण पिल्ले (१८२७-१९००) ने, जो ईसाई हो गये थे, अंग्रेजी के जॉन बन्यन की 'पिल्ग्रिम्स प्राग्रेस' का अनुवाद 'रक्षण्य यात्रीयम्' के नाम से विशुद्ध तमिल के ४००० श्लोकों में किया। इसके अतिरिक्त 'रक्षण्य मनोहरम्' नामक मौलिक रचना भी उन्होंने की, जिसमें 'तेवारम्' के अनेक पद उद्धृत किये गये हैं। इनका तीसरा ग्रंथ है—'रक्षण्य कुरल' जो अब भी अप्रकाशित ही है। इन्हें ईसाई बन्धु 'ईसाई कम्बर' तथा 'तमिल बन्यन्' कहते हैं।

इसी समय के एक और लेखक हैं सोमसुन्दर नायक्कर (१८४ -१९०१)। वैष्णव कुल में जन्म लेने पर भी ये शिवभक्त थे और तिरुज्ञान संबंधर से विशेष प्रभावित थे। शैव सिद्धान्त को सरल गद्य में जनता के सम्मुख उपस्थित करने का सर्वप्रथम श्रेय इनको ही प्राप्त है। 'शैव-दीक्षा रत्नावली', 'सिद्धान्त रत्नाकरम्' तथा 'सिद्धान्त ज्ञान बोधम्' इनकी प्रधान रचनायें हैं। इनका आदर राजा, मठ व जमीदार आदि सभी करते थे। वैष्णवों एवं शैवों में इनका समान रूप से सम्मान होता था। श्री वेदगिरि मुदलिसार ने इसी काल में 'नीति चिन्तामणि' तथा 'मनु नीति शतकम्' की रचना की, और साथ साथ व्याकरण एवं साहित्य पर अनेकानेक लेख भी प्रकाशित किये।

ईसाइयों की तमिल सेवा

सन् १८०० के लगभग दक्षिण भारत में पाश्चात्य देशों से ईसाई धर्म प्रचारकों का आगमन प्रारंभ हुआ। अपने धर्म के प्रचारार्थ उन्हें देशी भाषा से परिचित होना अनिवार्य था। अतः उन्होंने तमिल का विशिष्ट अध्ययन किया। इस अध्ययन के फलस्वरूप उनमें से अनेक तमिल भाषा की मधुरिमा तथा उसके साहित्यिक गौरव से प्रभावित हुए। फिर अनेक रचनाओं का अपनी भाषा में अनुवाद भी किया। कुछ एक तो तमिल में ऐसे सिद्धहस्त हुए कि इन्हों ने तमिल में ही स्वतंत्र काव्य रचना करके तमिल साहित्य के भंडार को नवीन सामग्री से सुशोभित किया। इनमें से कतिपय विशिष्ट व्यक्तियों का नीचे संक्षेप में उल्लेख किया जाता है।

अठारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही इन पाश्चात्य पादरियों के मन में तमिल के प्रति प्रेम तथा तमिल भाषा की सेवा में लगन उत्पन्न हो गई थी। डेनमार्क के बारथालेप्यू जीगिंबाल्ग ने एक तमिल व्याकरण तथा तमिल बाइबिल की रचना की। फ्रांस देश के फादर बेस्की तमिल भाषा से ऐसे प्रभावित हुए कि उन्हों ने अपना नाम 'वीरमामुनिवर' रख लिया और अपूर्व अध्ययन के अनंतर तमिल में ईसामसीह के जीवन का वर्णन करते हुए 'तेम्बावणी' नामक महाकाव्य की रचना की। यह तीस सर्गों में है। पांच वर्ष पश्चात् उसका भाष्य भी उन्हों ने किया। फिर 'बेदियर ओलुक्कम्' नामक गद्य ग्रंथ की रचना करके उसका भी भाष्य किया। इन्होंने सर्व प्रथम अंग्रेजी रीति पर तमिल कोश की रचना की। इनके अतिरिक्त 'शेन् तमिल' तथा 'कोडुं तमिल' का जो तमिल के क्रमशः

मधुर व गंभीर शैली के नाम हैं, विशद व्याकरण लैटिन भाषा में लिखा। फिर तमिल व्याकरण के विभिन्न भागों का विश्लेषण करते हुए 'तोन्नूल व्याकरण' की भी रचना की। भारतीय गुरु-परम्परा पर कटाक्ष करते हुए 'अविवेक पूर्ण गुरु कदै' की भी रचना सरल गद्य में की। कुछ काल के लिये ये चांदा साहब नवाब के दीवान भी थे। इन्हीं का एक और नाम था धैर्यननाथ स्वामी। इनके पश्चात् रेवरेण्ड सी० टी० सी० रेनियस ने तमिल भाषा का व्याकरण लिखकर आगामी व्याकरण कर्त्ताओं को मार्ग प्रदर्शित किया।

डा० काल्डवेल ने द्राविड़ भाषाओं का तुलनात्मक व्याकरण लिखकर द्राविड़ परिवार भाषा की अपूर्व सेवा की। रेवरेंड डा० जी० यू० पोप ने १८२०-१९०७ में तिरुक्कुरल, नालडियार और तिरुवाचहम् का अति सुन्दर अनुवाद पाश्चात्य भाषाओं में करके उनका मान संसार में बढ़ाया। प्रत्येक ग्रंथ के प्रारम्भ में लिखित भूमिका ही इनके तमिल प्रेम को सिद्ध करने के लिये यथेष्ट है। इन्होंने अपना उपनाम 'तमिल विद्यार्थी' रख लिया और अपनी कब्र पर इन्हीं शब्दों को अंकित करने का आदेश दे गए थे। इन्होंने ही तिरुवल्लुवर को 'अन्तर्राष्ट्रीय मानव का चरण' कहा। डा० विलसन ने एक तमिल-अंग्रेजी कोश तथा रेवरेंड जे० लेजारेस ने तमिल कहावतों का एक कोश तैयार किया। यहीं श्री वेदनायकम् पिल्लै का भी उल्लेख अनुपयुक्त न होगा। कैथोलिक ईसाई होने पर भी इनके 'सर्व समरस कीर्त्तनै', 'नीति नूल', 'पेण् मणि मालै' आदि काव्य ग्रंथ अन्यंत प्रशंसनीय हैं।

इसी काल में रायबहादुर पी० सुंदरम् पिल्लै एम्. ए. (१८५५-९७) ने जो दर्शन विभाग के प्रोफेसर थे, 'मनोन्मणीयम्'[1] नामक एक प्रसिद्ध नाटक की रचना पाँच अंकों में लोक प्रसिद्ध नाटककार शेक्सपीयर की पद्धति पर की। तमिल में यही सर्वाधिक प्रसिद्ध सर्वप्रथम नाटक है। इसकी कथावस्तु ऐतिहासिक है। यह नाटक शेक्सपीयर के नाटकों की टक्कर का है। यह काव्यात्मक नाटक रंगमंच से अधिक, पढ़ने की चीज़ है। इसमें उनके दर्शन संबंधी विचार भी ओतप्रोत हैं। पाश्चात्य वैज्ञानिक सिद्धांतों का वर्णन इनके 'नूल-तोहै-विलक्कम्' नामक गद्यग्रंथ में हुआ है। ४२ वर्ष की अल्प आयु में इनका स्वर्गवास हो गया। श्री राजम् ऐयर बी. ए. ने 'कमलाम्बाल' उपन्यास की रचना पाश्चात्य पद्धति के अनुकरण पर की। श्री जी० वी० सूर्यनारायण शास्त्री (१८७१-१९०३) ने तीन नाटक—'रूपवती', 'कलावती' 'मानविजयम्'—की रचना की। 'नाटक इयल' नामक एक रूपक-रीति-ग्रंथ की भी रचना इन्होंने की है। इनकी कविताओं का संग्रह 'पावलर विरुन्दु' अर्थात् 'कवियों की दावत में है, और गीतों का संग्रह 'तनिप्पासुर तोहै' में है, जिसका अंग्रेजी में अनुवाद रे० जी० यू० पोप ने किया है। कहानियाँ भी इनकी अनेक निकल चुकी हैं। 'तमिल मोलिन वरलारु' अर्थात् 'तमिल भाषा का इतिहास' एक गंभीर आलोचनात्मक व अन्वेषणपूर्ण ग्रंथ है। इनकी सर्वश्रेष्ठ विशेषता थी तमिल के प्रति प्रेम तथा उसके विकास व प्रचार के लिये उमंग। दुर्भाग्यवश इनका भी स्वर्गवास ३२ वर्ष की छोटी आयु में हो गया।

---

१. इसी के प्रारंभिक दो पद इस लेख के प्रारंभ में उल्लिखित है।

दक्षिण की भाषाओं के साथ साथ हिंदी, संस्कृत के भी अच्छे ज्ञाता, तमिल के अध्यापक श्री अमृतम् पिल्लै ने एक प्रसिद्ध तमिल व्याकरण 'मुत्तु वीरियम्', काव्यशास्त्र 'याप्पिलक्कण विना-विडै', काव्यग्रंथ 'तमिल् विळुडुतूदु' तथा आचरण ग्रंथ 'पेण्मैनेरि विलक्कम्' की रचना की है। श्री चेल्वकेशवराय मुदलियार ने, जो तमिल के सर्वप्रथम एम्० ए० थे, 'कम्बर—एक अध्ययन', 'तिरुवल्लुवर—एक अध्ययन' 'कुचेलर' तथा 'कण्णही' की कथा सुंदर प्रभावशाली गद्य में लिखी है। तमिल कहावतों का भी एक सुंदर संग्रह इन्होंने प्रकाशित किया है। श्री कनकसभै पिल्लै कृत 'अठारह सौ वर्षों के पूर्व तमिलर' नामक एक प्रसिद्ध ग्रंथ है, जो प्राचीन तमिल साहित्य एवं संस्कृति को प्रदर्शित करता है।

वर्तमान काल की विशेता

वस्तुतः पाश्चात्य साहित्य व विचार-धाराओं का विशिष्ट प्रभाव तमिल साहित्य पर गत ६० वर्षों से ही अत्यधिक पड़ा है। अंग्रेजी के अध्ययन के परिणाम स्वरूप लेखकों ने अपने साहित्य को उसी की शैली में यथानुकूल परिवर्त्तन से संपन्न करने का सफल प्रयत्न किया हैं। इस प्रयत्न को पद्य तथा गद्य दोनों में देखते हैं। पद्य में गीत के अतिरिक्त अन्य अनेक प्रणालियों को पाश्चात्य संपर्क ने प्रदान किया है। परंतु उसकी विशेष देन गद्य ही है। गद्य में अन्वेषण तथा आलोचना की नवीन पद्धति, व्याकरण, भाषा-विज्ञान, कोश रचना आदि का नवीन स्वरूप, नाटक, उपन्यास, छोटी कहानी और निबंध रचना की नवीन रीति हमें पाश्चात्य साहित्य के प्रभाव से ही प्राप्त हुई है। इतना अवश्य है कि तमिल में अपनी स्वाभाविक व स्वतंत्र रचनायें पहले से ही थीं। केवल उनके स्वरूप में विशिष्ट परिवर्त्तन आधुनिक काल में किया गया है। इस रूप-परिवर्त्तन से विशेष लाभ यह हुआ कि साहित्य केवल विद्वानों तक ही न रह कर साधारण जनता की भी सरस आस्वादनीय वस्तु हो गई। फलतः तामिलनाड भर में अनेक संघों व संस्थाओं की सृष्टि हुई और अनेक विषयों पर पुस्तकों की रचनायें होने लगीं। विविध संस्थाओं में प्राचीन ग्रंथों का संग्रह व प्रकाशन होने के साथ साथ स्कूलों और कालेजों में भी विशेष स्थान प्राप्त होने लगा। जनता को अपने साहित्य-रत्न भंडार का बोध हुआ, जिसके फलस्वरूप वह उसकी ओर अधिकाधिक आकृष्ट होने लगी। आवश्यकतानुसार रचयिताओं ने भी अपनी भाषा एवं शैली को सरल तथा सर्व सुलभ बनाया। इस प्रकार तमिल साहित्य में एक नवीन जीवन का स्फुरण हुआ।

तमिल साहित्य की वर्तमान प्रगति का आधार एक और शक्ति भी रही है। वह है देश की परतंत्रता की बेड़ियों को तोड़ कर स्वतंत्र होने की प्रबल इच्छा। इस राष्ट्रीय स्वतंत्रता की इच्छा के कारण लेखकों में एक नवीन उमंग एवं आवेश उत्पन्न हुआ। इस आवेश से पूर्ण अनेक शब्द स्वभावतः काव्यरूप में—वीरकाव्य के रूप में—फूट पड़े। इस भावना के प्रचारार्थ अनेक पत्र-पत्रिकाएँ एक के बाद दूसरी निकलती गई। वस्तुतः सन् १९०० से नवीन तमिल साहित्य का प्रभात प्रारंभ होता है। इसके साथ-साथ स्वातंत्र्य-ज्योति की किरणें तमिल संसार भर में प्रस्फुटित होने लगीं। उसी समय कवि-हृदय भी नाच उठा, गा उठा मानों स्वतंत्रता प्राप्त हो ही गई—

नाचें सभी, गीत गावें सभी[1] !
पा गये हम पूर्ण आजादी,
खुशी-खुशी ही देश में छाई ॥ नाचें० ॥
(यह) देश है हमारा इसे हम अब सकझें,
हां अधिकार भी अपना ही, यह भी समझें।
पृथ्वी पर ना किसी के दास बनेंगे—
परमेश्वर के श्री चरणों में ही झुकेंगे ॥ नाचें० ॥

इस स्वातंत्र्य की ज्योति के प्रस्फुटित होते ही अनेक सुस्त व सुप्त हृदय सजग हो उठे, और लेखनी रूपी शस्त्र का प्रयोग करते हुए लिखने लगे—

'शस्त्र बिना, रक्त बिना
युद्ध एक है महान।'[2]

इस नवीन जागृति के समय में सभी क्षेत्रों से क्रान्ति की ध्वनि सुनाई पड़ने लगी। इस क्रान्ति के फलस्वरूप भाषा, भाव व लेखन शैली में अभूतपूर्व परिवर्त्तन हुए। वस्तुतः भगवद्प्रेम का स्थान देशप्रेम ने ले लिया। यद्यपि इस संक्रान्तिकाल में तिरुक्कुरल, कम्बरामायण, चिलप्पदिहारम जैसे महान ग्रंथों की रचना नहीं हुई, तथापि अनेकानेक छोटी परन्तु लगती हुई और सारगर्भित रचनाओं की किसी प्रकार कमी न रही। आधुनिक मानव अपने व्यावहारिक जीवन में अनिवार्यतः अति व्यस्त रहने के कारण अति विशद ग्रंथों की रचना करने का न उसके पास समय ही है और न उनका आस्वादन करने का जन साधारण के पास अवकाश ही। अतः लघुगीत, लघु चरित-गाथायें व विविध लघु रचनायें ही प्रधानता प्राप्त करने लगीं। आधुनिक काल की विशेषता है 'कला जीवन के लिये', नाक 'कला कला के लिये', 'कला जन साधारण के लिये' न कि 'कला कलाकारों के लिये'। अतः अति विद्वत्तापूर्ण रचनायें आधुनिक काल की आवश्यकता न रही। सरल, सरस, संक्षिप्त एवं प्रभावोत्पादक रचनायें ही समय की मांग हैं।

वर्त्तमान काव्य की प्रगति—महाकवि

सुब्रह्मण्य 'भारती'

उपर्युक्त आवश्यकताओं की पूर्ति करते हुए जिन साहित्यकारों का उद्भव तमिल साहित्य के आधुनिक काल में हुआ, उनमें सब से अधिक प्रमुख हैं महाकवि सुब्रह्मण्य भारती। बीसवीं शताब्दी में तमिल भाषा को नवीन शक्ति प्रदान करने वाले महान कविवर हैं 'भारती'। जो स्थान हिन्दी साहित्य में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, कन्नड में बी० एम० श्री कंठैया 'श्री', तेलुगु में वीरेशलिंगम् तथा मलयालम में 'वल्लतोल' का है, वही स्थान तमिल में महाकवि 'भारती' का है।

---

१. तमिल साहित्य के 'भूषण' राष्ट्रकवि सुब्रह्मण्य भारती कृत 'आडुवोमे......' का अनुवाद उसी छन्द बंधन में अनुप्राणित। ('गीतोपहार'—पृ० ४५)

२. राज कवि श्री नामक्कल कविंजर—'कत्तियिन्द्रि, रत्तमिन्द्रि, युद्धमोन्द्रि वरुकुदु।'

इन सब कवियों की सामाजिक व राष्ट्रीय पृष्ठभूमि समान थी। अपने अपने साहित्य में अद्भुत प्रगति तथा अपूर्व जाग्रति उत्पन्न करने का श्रेय इनको ही है। तमिलनाड की गली गली में तमिल घोषित होनी चाहिये, सब देशों में मधुर तमिल की माधुरी प्रसारित होनी चाहिए, यह भारती की हार्दिक इच्छा थी। इनकी विशेषता है मस्तिष्क एवं हृदय का, दिमाग व दिल का सुन्दर सामंजस्य। ये क्रान्तिकारी थे। तात्कालिक परतन्त्रता के कारण अपनी भूमि का त्याग करके वर्षों तक पांडिचेरी में जाकर इन्हें निवास करना पड़ा। इनके हृदय में सदा स्वदेश प्रेम की ज्वाला जलती रही। फलतः इनके काव्य के प्रत्येक चरण में भावावेश की अद्भुत प्रभा दृष्टिगोचर होती है। परन्तु जनता का ही सदा विचार रहने के कारण काव्य की भाषा ऐसी सरल एवं ललित है कि साधारण से साधारण व्यक्ति के लिये भी वह अपनी वस्तु हो जाती है। एक बार सुनते ही वह स्वभावतः कंठस्थ हो जाती हैं और श्रोता उसे बहुत दिनों तक गुनगुनाता रहता है।

इनकी रचनाओं के समान ही इनकी जीवनी भी हृदयस्पर्शी है। सन् १८८२ ई० में तमिलनाड के सुदूर दक्षिण तिरुनल्वेली जिले के एक गांव में इनका जन्म हुआ था। पिता से घर पर ही प्राचीन तमिल साहित्य का कुछ अध्ययन किया; पंद्रह वर्ष की अवस्था में विवाहित हुए, और तदनंतर नवीं कक्षा तक स्कूल में पढ़ने पर बनारस से दसवीं में उत्तीर्ण होकर मद्रास में ११वीं कक्षा में एक वर्ष पढ़ाई की, परंतु पढ़ाई को स्थगित करना पड़ा। एक स्कूल में तमिल अध्यापक बन कर अध्यापन करने लगे, जिसे तीन माह में त्याग कर दैनिक पत्र 'स्वदेशमित्रन्' के उप-संपादक बने। यहीं से उनका साहित्यिक जीवन प्रारंभ होता है। किसी के अधीन रह कर अपने स्वतंत्र विचारों का विज्ञापन वे नहीं कर सके। अतः उसे भी त्याग, साप्ताहिक भारत का स्वतंत्र रूप से उन्होंने प्रकाशन प्रारंभ किया। इसमें इनकी अग्नि वर्षा होती थी। इस अग्नि को देख कर ही जनता इनकी ओर आकृष्ट हुई। सन् १९०८ में इनको तात्कालिक सरकार की अत्याचार के फलस्वरूप पांडिचेरी में जाकर अपनी प्राण रक्षा करनी पड़ी। यहाँ वे १० वर्ष रहे। पुनः अपने जन्मस्थान में आकर दो वर्ष रहने के पश्चात् पुनरपि 'स्वदेशमित्रन्' में कार्य प्रारंभ किया। परन्तु उन्हें अपनी परतंत्र भूमि पर जीवित् नहीं रहना था। सन् १९२१ में ३९ वर्ष की अल्पायु में ही उन्होंने अपने अस्थायी स्थूल शरीर को त्याग, सभी तमिल जनता के हृदय में यश-शरीर धारण करके स्थाई रूप से निवास करने लगे। तमिलनाड व तमिल-साहित्य में इस प्रकार अमर हो गए।

'भारती' के प्रत्येक शब्द से उनका अपार देशप्रेम, भाषाप्रेम, साहित्य प्रेम, संस्कृति प्रेम व देश-सेवा की भावना प्रस्फुटित होती है। वे कहते हैं—

'सुंदर तमिल नाड जब कहते,
सुमधुर मधु बहती कानों में।
देश पूर्वजों का जब सुनते,
एक शक्ति उठती साँसों में॥[1]

१—'भारती' का प्रसिद्ध स्वदेश संगीत—"चन्तमिल नाडेन्नुम् पोतिनिले इन्बत्तेन्-वन्दु पायुदु कादिनिले।......"

इनका देश-प्रेम राजनैतिक, सांस्कृतिक एवं आर्थिक स्वतंत्रता चाहता है—वैयक्तिक एवं सामाजिक। जात-पाँत के वे कट्टर विरोधी थे। भारत भर में कहीं भी ऊँची व नीची जात का, धनवान व निर्धन का भेद वे नहीं देखना चाहते थे। उनके विचार से सभी एक कुल के एक जात के थे, और थे सब समान। सभी देश के शासक थे, अर्थात् वास्तविक प्रजातन्त्र उनका राजनैतिक सिद्धान्त था; इसके लिये वे चिल्ला चिल्ला कर नारा लगाते थे—

'होवें एक तभी है जीवन'[1]।

अन्यथा सब अधःपतन की ओर ही अग्रसर होंगे। यदि उन्नति हुई तो तीस करोड़ की एक साथ होगी, अन्यथा तीस करोड़ एक साथ अवनति के गड्ढे में गिरेंगे।

'भारती' में, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, हृदय के साथ साथ मस्तिष्क का भी विशेष स्थान था। अपने देशबन्धुओं की अनेक प्रकार की कमजोरियों को देखकर उन्हें अपार वेदना का अनुभव होता था। उन्हें देख कर 'भारती' का हृदय भग्न हुआ जाता था। अन्य देशों में जीविका के निमित्त गए हुए बन्धुओं का विचार करके वे हृदय में सदा रोते थे।

'भारती' तमिल का ही नहीं, अंग्रेजी, हिंदी व संस्कृत तथा अनेक पाश्चात्य भाषाओं का भी अच्छा ज्ञान रखते थे, और उनके साहित्य से पूर्णतः परिचित थे। उन्होंने मुक्त-कंठ से तमिल भाषा तथा साहित्यिक कृतियों के संबंध में कहा है कि तमिल के समान मधुर भाषा संसार भर में और कोई नहीं है। यथा—

'जिन भाषाओं से परिचित मैं
तमिल समान न उनमें कोई।'[2]

उन्होंने पुनः कहा है—

'जो ज्ञात हैं कविगण मुझे उनमें न कंबर के समान,
तिरुवल्लुवर के सम न अथवा कवि इलंगो के समान।
जन्मे न इस भू पर कहीं भी, आज तब इनके समान,
नहिं डींग, कोरी सत्य है यह संतवाणी के समान॥[3]

भारतीय की रचनाएँ प्रधानतः दो भागों में विभाजित की जा सकती हैं—राष्ट्रीय एवं धार्मिक। बालकृष्ण को माता, पिता, राजा, सेवक, गुरु, शिष्य तथा प्रेमी प्रेमिका मान कर जो इन्हों ने अद्भुत रचनाएँ की हैं, वे तमिल साहित्य की अद्वितीय निधि हैं। अपने ढंग की वह एक अपूर्व रचना है। यह 'कण्णम्मा' नामक काव्य में है।

---

१. "ओन्ड्रु पट्टाल् उुवाल्वु"—'भारती'
२. 'यामरिंद योलिकलिले तमिल मोलि पोल, भूमितनिल यागणुमें कंडतिल्लै।...'
—'भारती'
३. "यामरिन्द पुलवरिले..."—"भारती'

'पांचाली शपथम्' 'भारती' का एक प्रबंध काव्य है। पांडवों एवं कौरवों के सम्मुख दुःशासन से अपमानित होने पर द्रौपदी ने जो शपथ ली थी, उसी पर इसकी रचना हुई है।

'भारती' ने इनके अतिरिक्त 'कुयिल' (कोकिल), 'सर्व मत समरसम्', 'भारती अरुपत्तारु' (भारती छियासढ़), 'मुरशु' (डंका) 'पाप्पा पाट्टु (बाल संगीत), 'आत्ति-च्चूडी' व 'विनायक मणि मालै' आदि के अतिरिक्त लगभग २०० गीतों की रचना की है। अनेक निबंध और छोटी कहानियां भी सन्हों ने लिखी हैं, और भगवद्गीता का अनुवाद भी किया है। उनकी सपूर्ण रचनाओं का तीन भागों में 'भारती नूल्कल' यथा (१) वच-नंगाल (२) कवितैकल (३) कट्टुरैबल के नाम से प्रकाशन हो चुका है। तमिल के अतिरिक्त अंग्रेजी में भी 'अग्नि तथा अन्य कविताएं' तथा अनेक निबंधों की भी रचना की है। आधुनिक काल के कवियों में इनको जितनी प्रसिद्धि प्राप्त हुई है, उतनी अन्य किसी को नहीं। वस्तुतः सुब्रह्मण्य भारती आधुनिक तमिल साहित्य के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं।

महाकवि सुब्रह्मण्य 'भारती' के पश्चात् भाव, भाषा एवं शैली में सभी ने उनका ही अनुकरण करने का प्रयत्न किया। 'भारती' के अनंतर इस काल के कवियों में कविमणि देशिक विनायकम् पिल्लै, 'नामक्कल कविञर, तथा 'भारति दासन' अधिक प्रमुख हैं।

'कविमणि' देशिक विनायकम् पिल्लै

इन्होंने अपने विद्यार्थी जीवन में ही 'अल्हामणि' 'आशिरिय विरुत्तम्' तथा 'सुचिन्तै मालै' की रचना करके यह सिद्ध कर दिया कि वे जन्म से ही कवि हैं। इनका देश-प्रेम अति व्यापक है। वस्तुतः उसे देश की सीमाओं को पार करके मानव मात्र के प्रेम में पल्लवित होते हुए हम पाते हैं। इनकी भाषा-शैली भी 'भारती' के समान अति प्रभावोत्पादक तथा सरस है। इनकी रचनाओं में 'नंजिल् नाट्टु मरुमकल'; वलि मान्मिराम्; 'आशिया ज्योति' (बुद्ध), 'अन्विन वेट्री' , प्रेम की जीत-मीराबाई) 'इलक्कियम् इयर्कै इन्बम्', मललिमीलि', 'समूहम्', 'देशियम्' 'मलरुम् मालैयुम' (पुष्प तथा माला) आदि हैं। इनकी रचनाओं में उपस्थित अपूर्व काल्पनिक चित्र पाठकों को बरबस मोहित व रसमग्न कर देते हैं। अछूतपन तथा स्त्रियों की पतितावस्था पर इनका हृदय फूटकर द्रवित हो उठा है। इन्होंने 'भारती' पर भी एक सुंदर काव्य की रचना की है।

'योगी' शुद्धानंद भारती

इस काल के तमिक कवियों में 'योगी' शुद्धानंद भारती का एक अपूर्व स्थान है। वस्तुतः वे 'योगी' ही हैं। निवृत्तिपरायण मार्ग के निरंतर पथिक हैं। साथ साथ साहित्य रचना के द्वारा, विशेषतः साधारण जनता के हितार्थ, अपनी ओर से अद्वितीय सेवा भी करते जा रहे हैं। कविता, निबंध, गीत, नाटक, छोटी कहानी, इतिहास आदि सब क्षेत्रों में इनकी लेखनी सफलता के साथ संचरित हुई है। वे अंग्रेजी, फ्रेंच, संस्कृत, हिंदी आदि आदि भाषाओं के भी अच्छे ज्ञाता हैं। इन्होंने फ्रेंच में भी अच्छी काव्य रचना की है। इनकी १००० से अधिक रचनाएं अभी तक प्रकाशित हो चुकी हैं अनेक अब हो रही हैं और अनेक आगे होने की संभावना भी है। इनकी सर्वश्रेष्ठ रचना 'भारत शक्ति महाकाव्यम्' है, जिसकी महर्षि अरविंद ने भी "भारत शक्ति' "भारतीय आत्मा की प्रोत्साहित ध्वनि है,"

कह कर भूरि भूरि प्रशंसा की है। इसकी रचना में महाकवि का उद्देश्य यह है कि दैविक गुण धीरे धीरे संसार में प्रसारित होकर भारतीय शक्ति के द्वारा आसुरी गुणों पर विजय प्राप्त करके संसार में ईश्वरीय कुलीनता तथा अनुग्रह-साम्राज्य का संस्थापन हो। इसके सभी पात्र विविध गुणों के ही नाम हैं। यथा—सत्य, शुद्धि, शक्ति, करुणागौरि, भारतमुनि, इंदिरा, सिद्ध्, सुमति, विषयन आदि दैविक गुणों के प्रतिनिधि, तथा कलियन्, मावलि, वेकन, अनलन् , शुक्र, विकर्पन् , विचित्तन् , विक्रन्, दुर्मति, मोही , मायन् , चल्लियन् व मायान्धकार आसुरी गुणों के प्रतिनिधि। इसकी पद्धति बाल्मीकि रामायण की जैसी है, इसमें कुल पाँच कांड हैं, जो शेक्सपीयर के वस्तु-विभाजन को सूचित करते हैं। प्रथम कांड के तृतीया सर्ग में देवासुर संग्राम वर्णित है। प्रत्येक कांड में तीस के लगभग सर्ग हैं। महाकाव्य के सभी गुण इसमें उपस्थित हैं। इसकी तुलना में हम हिंदी से कामायनी को ले सकते हैं। यह महाकाव्य पूर्णतः मौलिक है।

इनकी अन्य प्रसिद्ध रचनाएँ ये हैं—

कविता—भारत शक्ति, तिरुक्काक्षी, कुलन्दैइन्बम् , इत्र तालै, योग सिद्धि, तमिल कणल् , पेरिव्बम् , ध्यान मालै, भक्ति परवशम् आदि

नाटक—मुल्लै इन्बब, श्री राम दूतन साहित्य व आलोचना—नाटक कलै, महाकवि कालिदासन् , विलम्बुव्वेल्वम् , महाकवि डैन्टे, वर कवि टैगोर, तिरु मंदिर विलक्कम् , कम्बर कवि इन्बम, तिरुक्कुरल् इन्बम् आदि।

छोटी कहानी व उपन्यास—इदुतान् उलहम, एलैंपडुम् पाडु, (इसका सिनेमा बन चुका है।) अद्भुत पेण्मणि, इवलुम् अवलुम् आदि।

जीवनी—आनंदरंगम पिल्लै, एनतु गुरुनाथर (मेरे गुरुवर) मीनाक्षि सुन्दरम् पिल्लै कविमणि, देशिक विनायकम् पिल्लै, पेरियवाल् कदै आदि

विविध—रामलिंग विजयम् , भक्ति विलाहम् , गीता योगम् बुद्धर करुणै आदि आदि

इन्होंने तमिल साहित्य के विभिन्न अंगों को जिस रूप में समृद्ध किया है और जो प्रगति आज दिन भी प्रदान कर रहे हैं वह अद्वितीय है।

आपने अंग्रेजी में भी 'आलवार संत', 'महात्मा रामलिंगम्' 'अरविंद का योग', 'संत मेयकण्डार' 'साधना आदि के रहस्य' आदि रचनायें की हैं। इनकी सर्वतोमुखी प्रतिभा से जो रचनायें हुई और होती जा रही हैं, उनके लिये तमिल संसार इनका सदा आभार स्वीकार करेगा।

'नामक्कल कविञर' रामलिंगम पिल्लै

इनको मद्रास सरकार ने 'राज-कवि' घोषित किया था। इनके सरल जीवन तथा बाल-सुलभ प्रकृति को हम उनकी कविताओं में सर्वत्र देखते हैं। उन पर राष्ट्रपिता महात्मा गांधी का जो प्रभाव पड़ा है, उससे इनकी कविता में एक विशेष शक्ति आ गई है। सरल कल्पना में शक्ति फूँककर इन्होंने अपने राष्ट्रीय विचारों को अति सुन्दर रूप से अभिव्यक्त किया है। इन्होंने ही कहा था—

'शस्त्र बिना, रक्त बिना,
युद्ध एक है महान।'

जीवन में ये एक गुमाश्ता के पद पर प्रथम पहुँचे। तदनंतर अध्यापक बने। परंतु इनको सभी प्रकार की नौकरियों से चिढ़ थी। अतः उसे भी छोड़ कर चित्रकार बन गये। फिर गांधी जी के सम्पर्क में आकर 'सत्याग्रह' में भाग लेकर कवि बन गये। इनकी कविताओं में ये प्रधान हैं—तमिल इदयम्, गाधी अंजलि, अवधुम्, परित्तपूक्कल, जो अत्यन्त मार्मिक एवं हृदयस्पर्शी है। इनका एक उपन्यास 'नालैक्कल्लन्' व नाटक 'अरवणै सुंदरम्' प्रसिद्ध हैं।

'भारति दासन्'

इनका वास्तविक नाम 'कनक सुब्बु रत्नम्' है। तमिल साहित्य की वर्त्तमान प्रगति के प्रौढ़ कविरत्नों में से 'भारतिदासन्' एक हैं। उपनाम से ही स्पष्ट है कि उनका हृदय देशभक्ति से पूर्ण है, और साथ साथ 'महाकवि भारती' के भी अनन्य भक्त। 'भारती' की प्रतिध्वनि मानो हम इनकी कविताओं में सुनते हैं, परंतु एक दृष्टि से 'भारतिदासन' की प्रलयध्वनि को 'भारती' की यथावत् प्रतिध्वनि नहीं मान सकते। आवेश, देशप्रेम, काव्यत्व तो वही है, परंतु इनकी भावनाओं में जो अग्नि भरी है वह अपूर्व है। भगवान के अस्तित्व में व मूर्त्ति-पूजा में इनका लेशमात्र भी विश्वास नहीं है। इनकी पुरोगतिपूर्ण भावना से नवयुवक अत्यधिक प्रभावित हुए हैं। इनको 'क्रान्तिकारी कविवर' (पुरदच्चिक्कविञर) कहा जाता है। इनकी कृतियाँ अनेक हैं, जो 'भारतिदासन् कवितैकल' के नाम से दो भागों में प्रकाशित हुई हैं। कविता, नाटक, उपन्यास, छोटी कहानी आदि अनेक प्रकार की रचनायें इनकी निकल चुकी हैं। इन्होंने 'गर्भ-निरोधन' पर भी काव्य रचना की है। 'संजीवप्पर्वतत्तिन शारल', 'पांडियन परिसु', 'अलकिन चिरिप्पु', 'कादलुनिनैवुकल्', 'कुडुम्ब विलक्कु', 'अमैती' (नाटक), भारतिदासन् आत्तिच्चूडी', इरणियन (नाटक), नल्लमुत्तुक्कदै (छोटी कहानी), कुयिल आदि इनकी प्रसिद्ध रचनाओं में से हैं। वर्त्तमान काल के कवियों में इनका विशेष स्थान है।

श्री० टी० लक्ष्मण पिल्लै

तमिल गीतकारों में श्री० टी० लक्ष्मण पिल्लै का स्थान अति श्रेष्ठ है। तेलुगु में भक्त कवि त्यागराजु का जो स्थान है, वही तमिल में श्री लक्ष्मण पिल्लै का है। इन्होंने मधुर तमिल में विविध-राग रागनियों पर सरस गीतों की रचना की है। ये स्वयं श्रेष्ठ संगीतज्ञ भी थे, और अनेक गीतों का स्वर बंधन भी इन्होंने किया है। इनकी भाषा-माधुरी, भाव-माहात्म्य, प्रवाहपूर्ण कविता शैली एवं संगीतपूर्ण रचनाओं के कारण इन्हें 'दक्षिण भारत के टैगोर' कहा जाता है। सब से बड़ी विशेषता इनके सरल व्यक्तित्व में थी। जो भी बालक युवक या वृद्ध इनके पास पहुँच जाता, उनसे कहने के लिये सदा कुछ अवश्य ये रखते थे; और बड़े मधुर ढंग से अपने विचारों को समझाते थे। इनकी प्रकृति पर ही बहुत लोग मोहित थे। दुख की बात यह है कि इनका जिस प्रकार सम्मान होना चाहिये, वैसा हो नहीं रहा है।

ये कवि ही नहीं, नाटककार भी थे। 'रवि वर्मा' इनका एक सुंदर नाटक है। 'तमिल का विकास कैसे हो' इस विषय पर इनका एक लेख आज भी पथ-प्रदर्शन का कार्य कर रहा है। 'तमिल कहावत एवं मुहावरों' का एक कोश भी इनके प्रयत्नों का फल है। इनका नाम तमिल के भक्त साहित्यिकों में श्री रामलिंग स्वामिकल तथा तायुभानवर के साथ, तथा गीतकारों में तेलुगु के त्यागराजु, शामा शास्त्री, दीक्षितर व केरल के राजा श्री स्वाति तिरुनाल के साथ लिया जा सकता है।

अन्यान्य कवियों में श्री पेरिय सामि 'तूरन,' ('इलंतमिषा' 'तमिलिच्चैप्पाडल,' 'इशैमणि मालै,' 'कीर्तन मंजरि') नवनीतन्, सुरभि, सोमु, कंबदासन (सिनिमा के विशेषतः), कोनै किलार, भास्करन्, तिरवियम्, अण्णामलै, कोत्तमंगलम् सुब्बू, आदि अनेक प्रौढ़ एवं नवयुवक कविगण प्रसिद्ध हैं। आज की कविता प्रगतिशील तो है ही, साथ-साथ जीवन की विषमताओं से वेदना पाकर कविगण 'भगवान' से किसी प्रकार के शांति-लाभ की आशा छोड़ कर उसके विपरीत मानव मात्र पर 'शांति प्राप्ति' का भार डाल कर संसार की जनता में समरस व समता लाने के प्रयत्न में संलग्न हो रहे हैं। संक्षेप में कहें तो आज का कवि प्राचीन परिपाटी को त्याग कर 'शांति-प्राप्ति' की एक दूसरी विभिन्न परिपाटी के प्रसार की ओर अग्रसर हो रहा है। यह कविता में संक्रांति-काल है।

वर्तमान गद्य की प्रगति

'वचन इलक्कियम्' अथवा गद्य साहित्य वर्तमान प्रगति का विशिष्ट अंग है। जनता की दैनिक व्यवहार की शैली को ही लेकर उसे एक विशेष साहित्यिक स्वरूप देकर, तथा कहीं कहीं काव्यत्व का भी पुट प्रदान करते हुए सब के हृदयंगम करने योग्य एक सरल माध्यम की ही आज आवश्यकता है। कविता को समझने के लिये बुद्धि की अधिक आवश्यकता रहती है। परन्तु गद्य में बुद्धि को कुछ कम ही काम करना पड़ता है, और निकटतः सम्पूर्ण कार्य हृदय ही सीधे कर लेता है। इस माध्यम का अर्थात् गद्य का वस्तुतः प्रारम्भ तमिल में संघम् काल में ही हो चुका था। चिलप्पदिहारम् में तमिल गद्य का प्राचीन स्वरूप प्राप्त है। तदनन्तर भाष्यों व टीकाओं में नार्किनियार, परिमेलषहर आदि ने भी विशुद्ध तमिल गद्य का प्रयोग किया है। परन्तु आज का गद्य उस रूप से भिन्न है। कठिन शब्दों व क्लिष्ट वाक्य-रचनाओं का आज सर्वथा प्रयोग नहीं होता। बोल चाल की भाषा क्रमशः परिवर्तित होती रही, जो किसी भी भाषा के लिये स्वाभाविक ही है। परन्तु तमिल के स्वरूप में इतना परिवर्तन कभी नहीं हुआ कि उसे एक दूसरे नाम की आवश्यकता हुई हो। इसका नाम सदा से 'तमिल' ही रहा है, और उसी मूल रूप में भाषा भी जीवित है। यह तमिल की अपनी एक विशेषता है। हिंदी भाषा के इतिहास में व अंग्रेजी आदि पाश्चात्य भाषाओं में हम यह बात नहीं देखते। नाटककार प्रो० श्री पी० सुन्दरम् पिल्लै ने इसी को अपने एक छन्द में स्पष्ट किया है जो इस लेख के प्रारम्भ में उद्धृत है।

अन्वेषण व आलोचना—डा० ड० वे० स्वामिनाथ ऐयर

तमिल गद्य की वर्तमान प्रगति अनेक धाराओं में विकास प्राप्त कर रही है। उसमें अन्वेषण आलोचना सम्बंधी विविध रचनायें, अत्यन्त प्रधान हैं। इन्हीं के द्वारा तमिल के

प्राचीन गौरव को जनता के सामने सुस्पष्ट रूप में रखा गया। इस क्षेत्र में हमें सर्वप्रथम कविवर मीनाक्षि सुन्दरम् पिल्लै के प्रधान शिष्य महामहोपाध्याय डॉ०, ड० वे० स्वामिनाथ ऐयर का नाम लेना होगा। उन्होंने अनेक प्राचीन अप्राप्य तमिल ग्रंथों की खोज करके, उन्हें यथानुरूप संपादित कर प्रकाशित किया। ८६ वर्ष की अवस्था में इन्होंने कहा, "मैं ८६ का हूँ। अनेक कार्य अभी शेष रह गये हैं। मेरी हार्दिक इच्छा है कि पुनः तमिल देश में ही जन्म लेकर इस कार्य को पूर्ण करूं, और मधुर व अनुपम तमिल भाषा की सेवा करूं।" खोज से प्राप्त प्रत्येक ग्रंथ का संपादन करते हुए उनके प्रारम्भ में उक्त ग्रंथ संबंधी एक विश्लेषणात्मक भूमिका भी इन्होंने दी है,जिन्हें पढ़ कर हम उनके उक्त कथन की मार्मिकता को समझ सकते हैं। अन्वेषण के अतिरिक्त इनकी अनेक मौलिक रचनायें भी निकल चुकी हैं, जो सरल एवं सरस गद्य में हैं। उनमें विशेष हैं – बुद्ध चरितम्, मणिमेखलै कथासारम्, गुरुवर मीनाक्षि सुन्दरम् की जीवनी (दो भागों में) उदयणन् चरित्तिरम्, मेरी जीवनी (आत्म-चरित), गनम् कृष्ण ऐयर (जीवन चरित्र), तिरुवल्लुवरुम्, तिरुक्कुरलुम् (आलोचनात्मक), निनैकु मंजरि (दो भाग निबंध-मनोवैज्ञानिक), विद्वान त्यागराज चेट्टियार (जीवनी), संघत्तमिलुम् पिर्कालत्ततमिलुम् (आलोचनात्मक भाषा का विकास) तथा अन्य अनेक। इनकी विशेषता एक और यह थी कि तमिल के प्रति प्रेम अनेक विशिष्ट व्यक्तियों के मन में उत्पन्न करके इन्होंने तमिल के प्रसार में भाग लिया। इन्हें 'विद्वानों के विद्वान' जैसे 'कवियों के कवि' कह सकते हैं।

इनके साथ तमिल गद्य के गंभीर लेखकों व प्रचारकों में श्री पांडित्तुरैतेवर का नाम लेना होगा। इन्होंने आधुनिक मदुरा तमिल संघम् की स्थापना की। इसे 'नान्गाम संघम् (अर्थात् चौथा संघम्) भी कहते हैं। वे जमींदार थे। सन्तान न होने के कारण 'संघम्' को ही अपनी सन्तान मान कर अपनी सम्पत्ति का अधिकांश भाग इसी में लगा दिया। वे रामनाथ पुरम् के राजवंश के थे। इन्हें 'शेन् तमिल वलर्त्त तेवर' भी कहते हैं। इस संघम् से आज भी 'शेन् तमिल' नामक एक आलोचनात्मक मासिक पत्रिका प्रकाशित हो रही है।

श्री निरुनारायण ऐयंगार इस समय के गंभीर लेखकों में थे। इन्होंने 'शेन् तमिल' मासिक पत्रिका का सम्पादन किया। रा० राघवैयंगार ने 'शाकुन्तलम्' का अनुवाद ही नहीं, अनेक आलोचनात्मक निबन्धों व कविताओं की भी रचना की। राव साहिब मु० राघवैयंगार ने तमिल महाकोश तैयार करने में अथक परिश्रम किया। इन्होंने 'शेरन शेंकट्टुवन', 'तोल्काप्पियमवस्तु विभाग का विश्लेषण', 'पेरुन्तो है,' 'आलवारकल काल निलै', आदि अनेक समालोचनात्मक ग्रंथों की रचना की। श्री अनवरत विनायमम् पिल्लै तमिल महाकोश संपादन विभाग के तथा तमिल विभाग, मद्रास विश्वविद्यालय के प्रधान थे। इनकी 'तमिल पेरुमहल वरलारु' तथा 'शैव सिद्धान्त वरलारु' अदि प्रसिद्ध हैं और ऐतिहासिक आलोचना की दृष्टि से महान ग्रंथ हैं। श्री सोम सुन्दर भारती ने तोल्काप्पियर व तिरुवल्लुवर की जीवनी व कृतियों के संबंध में अन्वेषण के पुष्ट आधार पर वास्तविक तथ्यों को व्यक्त करते हुए जो ग्रंथ प्रकाशित किये हैं, वे अति प्रशंसनीय हैं। 'तिरुवल्लुवर वरलारु', 'चेरर तायमुरै', 'दशरथन कुरैयुम् कैकेयी निरैयुम्', तोलकाप्पियम्' (३ भागों में) आदि अनेक ग्रंथो की इन्होंने रचना की है। अण्णामलै विश्वविद्यालय के तमिल विभाग के ये प्रधान थे। महामहो-

पाध्याय पंडितमणि एम्. कतिरेशन् चेट्टियार जो अण्णामलै विश्वविद्यालय के आचार्य थे अनेक अमूल्य ग्रंथों को लिख कर तमिल देवी को समर्पित कर गये हैं, जिनमें 'सुलोचना,' 'उदयणन् कदै' व 'शुक्रनीति' का अनुवाद प्रसिद्ध हैं।

श्री० एस्० वैयापुरि पिल्लै

मद्रास विश्वविद्यालय, तमिल विभाग के भूतपूर्व प्रधान श्री० एस० वैयापुरि पिल्लै ने आलोचना के क्षेत्र में अद्वितीय सहयोग दिया है। इनके आलोचनात्मक ग्रंथों में 'इलक्किय दीपम्', 'इलक्किय उदयचिन्तनैकल्ल', 'तमिलिन् मरुमलच्चि', 'तमिलर पण्पाडु', 'इलक्किय उदयम्' (दो भाग) 'तमिलच्चुडर मणिकल', तथा टीकाओं में 'इंनियवै नार्पदु', 'नान्मणिक्कडिहै', 'इन्ना नार्पदु', 'तिरि कडुहम्' तथा साहित्यालोचन संबंधी 'द्राविड़मोलिकलिन् आरायच्चि', 'नाम दीपनिघंटु' 'पोदिहै निघंटु', की रचना कर चुके हैं। इन्हीं के प्रधान संपादकत्व में तमिल महाकोश प्रकाशित हुआ। आजकल वे तमिल साहित्य का एक वृहद् आलोचनात्मक इतिहास तैयार कर रहे हैं।

तिरु० वि० कल्याण सुंदर मुदालियर

तमिल गद्य की जो गतिविधि हम इन सब में देखते हैं, वह भाव विचार के दृष्टिकोण से किसी प्रकार निम्न नहीं हैं, परंतु वे सब गद्य मात्र है। सरस प्रवाहपूर्ण गद्य-रचना और वह भी अति सरल भाषा में अभी तक नहीं देखी गई। महान से महान भाव को सरल से सरल भाषा में लिखने व बोलने की जो अपार शक्ति तिरु० वि० कल्याण सुंदर मुदालियर में दिखाई देती हैं, वह अद्वितीय ही है। इनमें बुद्धि एवं भावुकता का भव्य सामंजस्य हम देख सकते हैं। वे मानव के विशुद्ध व्यक्तित्व तथा स्वातंत्र्य पर विश्वास रखते हैं। वे सौहार्द्र, मधुरता व एकता के प्रचारक हैं। जीवन उनको इष्ट है क्योंकि जीवन की असीम सत्ता का उन्हे बोध है। 'मुरुहा' अथवा सौंदर्य को तथा प्रेम (कादल) को वे जीवन का चरम लक्ष्य मानते हैं। उनमें श्रेष्ठ सदाचरण युक्त कल्पना का जो भव्य चित्र हम देखते हैं, वह अपने ढंग का अनुपम है। वस्तुतः तमिल गद्य शैली को जो वर्तमान सुगठित स्वरूप प्राप्त है, उसका विशिष्ट श्रेय इनको ही है। इनकी भाषा में 'सौंदर्य की वर्षा, चित्रों का नृत्य, तथा संगीत का प्रवाह' उपस्थित है। उसकी धारा प्रातःकालीन सूर्य रश्मियों से रंजित विशुद्ध जल के फौवारे के समान प्रतीत होती है। इनकी रचनाओं 'पेरियपुराणम्' (आलोचनात्मक) 'तमिलच्चोलै, 'तिरुक्कुरल' (टीका), 'मनितवाल्मुम् गांधी अडिहलुम्', पेण्णिमूपेरुमै', इंदियाकुम् वियुतलैयुम्' (भारत और स्वतंत्रता) 'तमिल तेन्डूल', 'परमपोरुल्', 'नायन्मार वरलारु','मुरुहन' अथवा' 'अलहु', 'रामलिंग स्वामिकल् तिरुउल्लम्', 'मुडियुमा ? कादल ? चीरतिरुत्तमा ?' 'तमिल नाडुम् नम्मालवारुम्' 'एन् कडन पणि चेय्दु किडप्पदे' आदि अति प्रधान हैं। इनकी रचना करके इन्होंने तमिल गद्य को एक प्रशस्त मार्ग प्रदर्शित किया।

'चोल्लिन् चेल्वर' श्री० रा० पि० सेतु पिल्लै

इन्हीं के साथ चोल्लिन चेल्वर'[1] (शब्दों के सम्राट्) प्रो० रा० पि० सेतु पिल्लै,

---

१—इनको यह उपाधि एक मठ द्वारा दी गई।

(प्रधान, तमिल विभाग, मद्रास विश्वविशालय) का भी नाम लेना होगा। इन्होंने तमिल गद्य में सोने में सुगन्ध का काम किया है। शब्द चित्रकारी में ये अत्यधिक प्रवीण हैं। इनके गद्य में पद्य का सा आनंद आता है। विशेष रूप से इनके भाषणों से जनता सब से अधिक प्रभावित है। ग्रंथ एवं भाषण की भाषा में कोई विभिन्नता नहीं प्रतीत होती। एक एक शब्द मानों वाक्य रूपी विभिन्न मालाओं में पिरोये हुए विविध वर्ण व गुण मोती हैं। इनके भाषण भावावेश से पूर्ण होते हैं। नगर का नगर इनके भाषण को सुनने के लिये उमड़ आता है। यह केवल उनकी तमिल गद्य-शैली के प्रवाह और उसकी माधुरी का ही प्रभाव है। इन्हें तमिल-गद्य-रूपी हिमालय का एवरेस्ट कह सकते हैं, जहाँ किसी और की पहुँच नहीं हुई। उस हिमगिरि के उत्तुंग शिखर से जो प्रचंड धारा प्रवाहित होती है, उसमें वास्तविक जल प्रवाह के सभी गुण उपस्थित हैं, अर्थात् विशुद्धता शीतलता, गंभीरता; कभी कभी जल प्रपातों के समान गर्जन, बीच बीच के सरोवरों की शांति, जिनका सम्मिलित प्रभाव पाठकों के हृदय में गंगा की विशाल धारा के समान सदा के लिये प्रवाह पाता रहता है। एक बार उनके भाषण को सुना नहीं कि उसकी ध्वनि श्रोता के कानों में सदा गूँजत रहती है। यह उनकी एक विशिष्ट कला है, जो उनका अंग बन गई है, निरन्तर अध्यवसाय के फलस्वरूप। वल्लुवर, कम्बर, इलंगो, भारती आदि कवियों की काव्य माधुरी तथा उनकीही दो चार लडियां बीच बीच में गद्य रूप में सुनने को मिल जाती हैं। उनका सम्पूर्ण भाषण एक 'पिरेमिड' के समान होता है। इनकी रचनाएं भी अनेक हैं। जीवन के प्रारम्भ में ये वस्तुतः वकील थे। उसे तमिल देवी की सेवा के निमित्त त्याग कर अपनी आराध्या के पूजन व गायन में लीन हो निरन्तर अर्चना के पुष्प चढ़ाते जा रहे हैं। 'वल्लुवर नूल नयम्', 'वेलुम् विल्लुम' । अर्थात् शूल एवं धनुष तात्पर्य सुब्रह्मण्य एवं राम अर्थात् कन्दपुराणम् एवं कम्बरामायण की तुलनात्मक अध्ययन , 'चिलप्पदिहारम्-मूल नयम्', 'कम्बर-कवि-इन्बम्', 'वलि वलि वल्लुवर', 'वीरमानगर', 'कन्दपुराणत्तिरट्टु', 'शब्द एवं उनके मर्म' आदि आलोचनात्मक' 'तमिल नाट्टु नव मणिकल', 'कॉल्डवेल ऐयर चरित्तिरम्', 'क्रुस्तवत्तमिलत्तोंडरकल' (जोवनियां) तथा 'तमिलकम्-ऊरुम् पेरुम्', 'तमिलर वीरम्', 'तमिल इन्बम्' 'तमिल विरुन्दु', 'कडकंरयिले' आदि विविध ग्रंथों की उन्होंने रचना की है। आज कल वे 'द्राविड़ वर्ग के शब्दों का महाकोश' नामक एक विशद ग्रंथ की रचना में तत्परता के साथ संलग्न हैं। इनके सैकड़ों लेख पत्र पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुके हैं। केवल कम्बरामायणम् पर ५०० से अधिक लेख वे लिख चुके हैं, और अब भी लिख रहे हैं। आजकल आकाशवाणी में 'जनता की वाणी' पर इनकी एक भाषण माला प्रसारित हो रही है। तमिल गद्य की वर्त्तमान प्रगति में इनका नाम स्वर्णाक्षरों में सदा के लिये लिखित रहेगा।

अण्णात्तुरै

श्री अण्डात्तुरै आज कल के अग्रगण्य वक्ताओं तथा लेखकों में से एक हैं। ये ईश्वर पर विश्वास अवश्य रखते हैं, परन्तु वाह्य रूपों व आचार विचारों के कट्टर विरोधी हैं। जाति-पांति की समस्या से अपने बन्धुओं को सदा के लिये मुक्त करना इनका जीवनोद्देश्य है।

इसी विचार पर इनकी सभी कृतियां आधारित हैं। कम्बरामायण को वे एक श्रेष्ठ साहित्यिक कृति अवश्य मानते हैं, परन्तु उसे धार्मिक कृति मानने के लिये कदापि सहमत नहीं हैं। वस्तुतः वे साहित्य से अधिक समाज के हितचिन्तक हैं। इनकी रचनायें भी अनेक हैं, जिनमें 'रामायणच्चोप्पोर', 'वर्णाश्रमम्', 'नाडुम एडुम्', 'महाकवि भारती', 'कम्बरसम्'। कम्बरामायण के श्रृंगारिक स्थलों की अश्लीलता को प्रतिपादित किया है, 'तमिलकम्' 'पुराण मतंगल्' आदि के अलावा इनकी कहानियां व उपन्यास तथा विविध विषयों पर अनेक निबंध भी विशेष प्रसिद्ध हैं। इनके भाषाणों की छोटी छोटी पुस्तकें गली गली में बिकती हैं। नाटक व चित्र-पट के लिये रचना करने में ही नहीं, रंगमंच पर अभिनय करने में भी ये अति प्रवीण हैं।

श्री पेरियसामित्तरन एक गंभीर चिंतक हैं। आजकल 'तमिल विश्व कोश' के प्रधान संपादक हैं। सभी विभिन्न विषयों—वैज्ञानिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक आदि क्षेत्रों में शब्दान्वेषण तथा निर्माण में दत्तचित्त हो कार्य कर रहे हैं। समय समय पर इनकी आलोचनायें, कहानियां, उपन्यास व निबंध आदि भी प्रकाशित होते रहते हैं। प्रकाशित ग्रंथों में प्रधानतः 'भारततमिल' (आलोचना), 'कुलन्दै उल्लम्' 'पारंपरियम्' (मनोविज्ञान) 'अलहुमयक्कम्' (नाटक–एकांकी), 'पिल्लैवरम्', 'डरिमैप्पेण' आदि (छोटी कहानियां), करुविल वलरुम् कुलन्दै (मानव विज्ञान) तथा 'पूविन चिरिप्पु', 'कुलन्दै मन मुम् अदन् मलच्चियुम्' 'मनमेनुम् मायक्कुरंगु', 'काट्टु वलितानले' (निबंध) आदि ग्रंथ इनके प्रकाशित हो चुके हैं। इन्हीं के साथ कार्य करने वाले श्री तिरुकूट सुंदरम् पिल्लै अच्छे आलोचक तो हैं ही, साथ साथ वैवाहिक जीवन, शिशुजन्म, कौटुम्बिक जीवन भोजन आदि विषयों पर सफलता के साथ लेखनी चलाने वाले एक मात्र लेखक हैं। 'मंथरै सूलच्चि', 'पांचाली शपथम्' 'सत्याग्रहम्' आदि ग्रंथों की भी रचना इन्होंने की है।

श्री० न० चि० कन्दैया पिल्लै ने 'तमिल भाषा', 'तमिल ग्रंथकार', 'तमिल भूमि' 'तमिल इतिहास', 'तमिल भारत' आदि विषयों पर तथा तिरुवल्लुवर', 'तमिल आण्यच्चि', (तमिल अन्वेषण) आदि ५० से अधिक ग्रंथों की रचना की है। श्री अ० वै० चु० दुरैसामि पिल्लै ने पुरनानूरु, पदिट्रुप्पत्तु, चिलप्पदिहारम्, मणिमेखलै, जीवक चिन्तामणि आदि पर विद्वत्तापूर्ण ग्रंथों की रचना की है। डा० मु० वरदराजन् का नाम श्रेष्ठ आलोचकों में है। साथ साथ वे अनेक नाटक, कहानी, उपन्यास व निबंध भी लिख चुके हैं। 'तिरुक्कुरल' पर इनकी एक सरल टीका भी है। 'इलंगो', 'एलत्तिन् कदै', 'तमिल नेंजम्' 'मणल वीडु', 'मोलिनूल' आदि इनके अनेक ग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं और अभी प्रकाशित होने को हैं। भावी तमिल संसार इनसे और सेवाओं की अत्यधिक आशा रखता है। इसी प्रकार डा० मा० राजमाणिक्कम् ने 'शेक्किलार', 'चिलप्पदि हारक्कांक्षि' आदि की रचना करके तमिल को प्रगति प्रदान की है। 'कलैमहल' मासिक पत्रिका के संपादक श्री० की० वा० जगन्नाथन ने प्राचीन साहित्य के तथ्यों को सरस कथात्मक रूप देकर साधारण जनता को प्राचीन तमिल साहित्य से अवगत कराने में जो सफलता पाई है, वह प्रशंसनीय है। 'मनै विलक्कु', 'वाळुम् तमिल' 'एल्लाम् तमिल' आदि ऐसे ही ग्रंथ हैं। इनके अतिरिक्त अनेक कहानी उपन्यास व निबंध आदि भी वे निकाल चुके हैं। श्री 'इलवलहनार' भी प्राचीन साहित्य के प्रकांड पंडित तथा आलोचकों में हैं। इनके 'नालड़ियार', 'संवइलक्कियम्', 'इंवक्कवि-

त्तिरट्टु', 'तोल्काप्पियम्', 'संघनल कट्टुरेकल', 'अव्वयार तिरुउल्लम्' आदि अनेक ग्रंथ निकल चुके हैं। ये टीकाकार तथा कथाकार भी हैं। श्री० 'पुलवर अरसु' भी प्राचीन साहित्य के प्रचारकों में एक हैं। चिंतामणि, पेरियपुराणम्' चिलप्पदिहाकर आदि ग्रंथों को वे जनता के सम्मुख सरस गद्य में प्रदान कर चुके हैं। वे भी कहानीकार हैं। अनेक जीवनियां भी ये लिख चुके हैं, जिनमें प्रधानतः 'उरिमैक्कवित्र भारती' विशेष उल्लेखनीय है। श्री आरुमुनखावलर प्राचीन परिपाटी के लेखकों में हैं। प्राचीन साहित्य पर तथा अर्वाचीन विचार धारा पर इनके ६० से अधिक ग्रंथ निकल चुके हैं। लगभग सभी प्राचीन श्रेष्ठ साहित्यकों के संबंधमें इहों ने लेखनी चलाई है।

इनके अतिरिक्त अनेक आलोचक व निबंध लेखक भी तमिल में हैं, जिनके विचार पूर्ण ग्रंथों व निबंधों से तमिल साहित्य भरा पड़ा है और भरा जा रहा है। श्री पी० श्री० आचार्य वैष्णव ग्रंथों पर तम्बनारायण पर विशेष अधिकार रखते हैं। 'भारती' भी उनके प्रिय हैं। उनके संबंध में उच्चकोटि के अनेक निबंध इनके प्रकाशित हो चुके हैं। 'आंडाल' कृत तिरुप्पावै का सचित्र संस्करण 'चित्तिरत्तिरुप्पावै-तिरुप्पति देवस्थानम्' की ओर से प्रकाशित हो चुका है। कंबरामायण पर इनकी विशद टीका 'आनंद विकटन्' साप्ताहिक में लगातार प्रकाशित हो रही है।

श्री टी० के० चिदंबरनाथ मुदलियार तमिल के 'रसिक मणि' हैं। इनकी कंबरामायण टीका 'कल्कि' साप्ताहिक में प्रकाशित होती आ रही है। तमिल को यह सशक्त बनाने की ओर अधिक श्रद्धा रखते हैं। इनकी विद्वत्ता एवं तमिल प्रेम अपार है। श्री मरैमलै अडिकल की 'तिरुवाचहम अहवल उरै' (चार भागों में) एक बृहद् भाष्य है। इनके 'अम्बिकापति अमरावती' व शकुन्तला नाटक की आलोचना तमिल की विशेष देन है।

इतिहास तथा साहित्यि की खोजपूर्ण रचना करने वालों में श्री का० सुब्रह्मण्य पिल्लै का स्थान सर्वश्रेष्ठ है। सन् १९३० में ही तमिल इलक्किय वरलारु (तमिल साहित्य का इतिहास दो भाग) इन्हों ने निकाला। नायंमारों तथा शैव सिद्धों की जीवनी लिखकर इंहोंने तमिल साहित्य के एक अभाब की पूर्ति की है। साथ साथ तिरक्कुरल की विस्तृत टीका, हिंदू धर्मों (बहुवचन में) का संक्षिप्त इतिहास, मानव-जीवन-तत्त्व आदि अनेकानेक विषयों पर इनके तीस से अधिक ग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं। इस क्षेत्र में श्री जी० एस० दुरैसामि, एम० एस० पूर्ण लिंगम् पिल्लै (अंग्रेजी, के० एस० श्री निवासन पिल्लै—अंग्रेजी में), ए० वी० सुब्रह्मण्य ऐयार, प्रो० वी० आर० रामचन्द्र दीक्षिदर, आदि उल्लेखनीय हैं।

नाटक

जिस प्रकार आलोचना तथा अन्य विभागों का विकास तमिल में हुआ है और निरंतर उनकी प्रगति होती जा रही है, उसी प्रकार नाटक रचना में भी हम देखते हैं। प्रसिद्ध नाटककार स्वर्गीय प्रो० सुंदरम् पिल्लै ने मनोन्मणीयम् की रचना करके नाटक रचना के एक विशिष्ट मार्ग का प्रतिपादन किया, उसे अन्य लेखकों ने अपनी अपनी मौलिक उद्भावना के अनुरूप और आगे बढ़ाया है। कई तो केवल पढ़ने के लिये ही हैं और अधिकतर

रंगमंच के लिये। श्री नारायण शास्त्री 'भोज राज चरित्रिरम्' केवल पढ़ने के लिये है। यह एक वृहत् नाटक है।

श्री० संबंध मुदालियर

प्रो० सुदरम पिल्लै के पश्चात् नाटक रचना में सर्वाधिक सफलता रायबहादुर श्री सम्बन्ध मुदालियर को ही प्राप्त हुई। वे ही वस्तुतः आधुनिक काल के नाटककारों के 'लीडर' हैं। उनके नेतृत्व में अनेक नवयुवक लेखक नाटकों की सफल रचना कर रहे हैं। श्री संबंध मुदलियार गत ५० वर्षों से नाटकों की रचना करने में तथा उन्हें रंगमंच पर प्रदर्शित करके जनता को रस-प्रदान करने में सफल होते आ रहे हैं। इनके १०० से अधिक नाटक अभी तक प्रकाशित हो चुके हैं, जिनमें 'लीलावती' 'सुलोचना,' 'सारंगधर,' 'इरण्डु नण्परकल', 'कार्कण्जेयर' 'अमलादित्यन' (शेक्सपीयर की हेमलेट के आधार पर), 'सभापति' आदि अधिक प्रसिद्ध हैं। इनके नाटकों में कथोपकथन की स्वाभाविकता अत्यन्त श्रेष्ठ है। हास्य का पुट उचित मात्रा में उचित स्थानों में है। इन के पात्र तथा वस्तुगठन बड़ा ही कौतूहलपूर्ण होता है। इनके नाटक साधारणतः शृंगार प्रधान ही हैं। उनमें अनेक पौराणिक तथा ऐतिहासिक भी हैं। सामाजिक नाटकों के चित्रण में इनको अतीव सफलता प्राप्त हुई है। समाज में उपस्थित असमताओं तथा विषमताओं को चुभाने वाले प्रसंग इनमें भरे रहते हैं। वे स्वयं एक अच्छे अभिनेता भी हैं।

श्री० के० रामस्वामि ऐयंगर ने भारत, चिंतामणि, पांडव विजयम्, आदि नाटकों की रचना की है। श्री० के० स्वामिनाथन् रचित 'कहैवंडि', जो गिल्बर्ट कृत गोण्डोलियर्स् का ही रूपान्तर है, तमिलमें एक नवीन प्रयोग है। श्री० मु० करुणानिधि के नाटक चित्रपट के अधिक उपयुक्त हैं, और अनेकों बार सफलता के साथ खेले जा चुके हैं। 'तूक्कुमेडै', 'ओरे रत्तम' व 'पराशक्ति' आदि अति प्रसिद्ध रचनाओं में से हैं। इनके वस्तु, पात्र तथा कथोपकथन में एक अपूर्व वेग तथा क्रान्तिकारी भावना भरी रहती है। ये श्री अण्णत्तुरै के साथी तथा उसी स्कूल के लेखक हैं।

श्री० प० नीलकंठन्, चा० कृष्णमूर्त्ति, कंबदासन् आदि नाटककार विभिन्न विचार-धाराओं के हैं। इनके अतिरिक्त अन्य अनेक नाटककारों की रचनाओं से तमिल का वर्तमान नाटक साहित्य भंडार भरा जा रहा है।

उपन्यास और छोटी कहानी

इस क्षेत्र में तमिल ने जो प्रगति प्राप्त की है, वह वस्तुतः इसके लिये गौरव का विषय है। प्राचीन एवं वर्तमान काल की विभिन्न प्रकार की वस्तु-भूमियों पर आधारित उपन्यासों की भरमार हम आधुनिक तमिल साहित्य में देखते हैं। उपन्यासों व उसके लेखकों की संख्या तथा उनकी प्रवृत्तियाँ इतनी अधिक हैं कि उनका केवल नाम लेना भी इस छोटे लेख में असंभव है। केवल श्रीमती वी० एम्० को, दैनायकी अम्माल ने 'वैदेही' से लेकर 'गायत्री' तक १०८ उपन्यासों की रचना की है। इस क्षेत्र में श्री० रा० कृष्णमूर्ति 'कल्की' ने 'शिवकामियिन् शपथम्' 'अमर वाल्वु', 'पार्थिपनिन् कनवु', 'संगीत योगम्' आदि अनेकानेक उपन्यासों की रचना करके इस क्षेत्र की श्रीवृद्धि की है। डा० मु० वरदराजन

की 'मलर मोलि', 'अल्ली' आदि अपने ढंग के गंभीर सामाजिक उपन्यास हैं। श्री पेरियसामि तूरन के मनोवैज्ञानिक उपन्यास अनेक हैं। अकिलन, लक्ष्मी, विन्दन, का० श्री० श्री०, नाडोडी, वै० मु० श्री०, वै० मु० को०, 'जीवा' मायावी, आशैचंद्रि, दुरैसामि, अरणि, आदि अनेक उपन्यासकारों ने तमिल को अपने अपने रूप में वृद्धि प्रदान की है। इसका भविष्य अति उज्ज्वल है। इनके अतिरिक्त टैगोर, शरद, बंकिम, आदि बंगाली, मराठी; गुजराती व हिंदी की ही नहीं, अपितु टाल्स्टाय, मैक्सिम गोर्की, आदि अनेक पाश्चात्य उपन्यासकारों की रचनाएं भी अनुवादित हो चुकी हैं। उनका प्रत्यक्ष प्रभाव हम वर्तमान लेखकों में देख सकते हैं।

कहानी लेखक की गति अति तीव्र रही है, और तीव्रतर होती जा रही है। पत्र-पत्रिकाओं में प्रतिदिन, प्रति सप्ताह एवं प्रति मास सैकड़ों कहानियाँ निकलती जारही हैं। यह तमिल के लिये एक सर्वथा नई भूमि है। उपर्युक्त सभी उपन्यासकारों ने इस क्षेत्र में भी सफलता पाई है। स्वर्गीय बा० वे० सु० ऐयर जिन्होंने अंग्रेजी में 'कंवरामायण—एक अध्ययन' लिख कर तमिल की महानता को प्रसिद्ध किया है, अनेक राष्ट्रीय व सामाजिक कहानियों की रचना कर गए हैं। इस क्षेत्र में पुदुमैप्पित्तन, के०बी० जगन्नाथन्, चंद्रशेखरन, का० श्री० श्री०, वा० रा०, ति० जा० रा०, कोवे किलार, रघुनाथन्, एस० बी० बी०, तुमिलन, चिट्टरसु, मायावी, गुह किया, सुब्रह्मण्यम्, अप्पातुरै तथा मद्रास के प्रधान मंत्री श्री राजगोपालाचार्य आदि ने अत्यधिक सफलता पाई है। इस क्षेत्र में नित नवीन लेखक निकलते जा रहे हैं। अनुवाद भी अनेक भाषाओं से हो चुके हैं।

इनके अतिरिक्त वर्तमान विविध विज्ञान तथा अन्यान्य कला संबंधी रचनाएँ भी आज अत्यधिक संख्या में निकल रही हैं। इनके लेखकों में श्री० अविनाश लिंगग, अप्पुस्वामी, विश्वनाथन्, शिवरामन, स्वामिनाथन्, आरुमुख मुदलियार, एम्० आर० जम्बुनाथन् (वेद-पुराणों का तमिल में अनुवाद), सन्तान कृष्णन्, टी० पी० मीनाक्षि सुन्दरनार, (आलोचक भी), के० सन्तानम् आदि अनेक प्रशंसनीय कार्य कर रहे हैं।

तमिल में पत्र-पत्रिकाओं की जो स्थिति आज है, वह वस्तुतः प्रशंसनीय है। स्वदेशमित्रन्, दिनमणि, दिनसरी, भारतदेवी, दिनत्तन्दी, द्राविडन, विडुतलै, नमूनाडु आदि दैनिक आनन्द विकटन, 'कल्की', शेंगोल, दिनमणि कदिर, आदि साप्ताहिक, कलैमहल कावेरी, शेन्-तमिल, कुमर गुरुपरन्, अमुदसुरभि आदि मासिक पत्रिका लाखों की संख्या में जनता पढ़ती है, और तात्कालिक समाचार के साथ साथ साहित्य की वर्त्तमान प्रगति से भी परिचय प्राप्त करने में विशेष आनंद लेती है। इनके द्वारा लेखकों को विशेष रूप से अपनी कला को व्यक्त करने में, भावों का प्रचार करने में तथा नये लेखकों को प्रोत्साहन प्राप्त करने में अत्यधिक सहायता मिल रही है।

तमिल नाड में जीवन व्यतीत करने वालों के अतिरिक्त लंका, बर्मा, मलाया, दक्षिण अफ्रीका आदि अनेक विदेशों में रहने वाले तमिल लेखक भी अनेक तमिल ग्रंथों की रचना-कर चुके हैं और कर रहे हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि तमिल प्रागैतिहासिक काल में ही समृद्धि प्राप्त करके, तोल्काप्पियम्, तिरुक्कुरल, आदि के द्वारा पुष्ट होकर, चिल्पदिहारम, मणिमेखलै, कम्बरा-मायणम् आदि में प्रवाह पाकर, नायन्मारों एवं अलवारों की कृतियों में आनन्द-नर्तन करती हुई, बौद्ध, जैन, शैव, वैष्णव, ईसाई, मुस्लिम ईश्वरवादी, अनीश्वरवादी आदि सभी को गले लगाती हुई, वर्त्तमान काल में पूर्ण स्वतंत्र रूप से पद्य एवं गद्य की अनेकानेक धाराओं में सफलता के साथ प्रगति कर रही है।

आधुनिक कन्नड साहित्य का सिंहावलोकन

[श्री० हिरण्मय, मैसूर विश्वविद्यालय]

कर्नाटक का विस्तार

कर्नाटक भारतवर्ष का एक सुंदर तथा हराभरा भू-प्रदेश है, जो दक्षिण-पश्चिम में गोआ से कलिकट (कोज़िकोड) तक अरब समुद्र से सटा हुआ है और उत्तर-पूर्व में कोल्हापुर हैदराबाद तक फैला हुआ है। कर्नाटक की भौगोलिक सीमायें ऐतिहासिक कारणों से कभी बढ़ी हैं और कभी घटी हैं। "कविराज मार्ग" में जो कन्नड का अति प्राचीन और सर्वप्रथम काव्य-ग्रंथ है, और जिसका रचनाकाल सन् ८०७-८८० के बीच में माना जाता है, कर्नाटक तथा उसके निवासियों के बारे में बड़ा ही रोचक वर्णन मिलता है। "कावेरी से गोदावरी तक फैला हुआ राज्य कन्नड राज्य कहलाता है। कर्नाटक के निवासी बड़े वीर हैं, कवि हैं, सुप्रभु हैं, गुणी हैं, अभिमानी हैं, गंभीर हैं और विवेकी हैं तथा बिना पढ़े ही स्वभाव से ही काव्य-मर्मज्ञ हैं।"[१] विजयनगर के प्रसिद्ध सम्राट बुक्क तथा हरिहर के समय में (१४ वीं शती) तो कर्नाटक अपने वैभव-शिखर पर पहुँच गया था। किंतु उसके बाद कर्नाटक छोटे-मोटे राज्यों में छिन्न भिन्न होकर बँट गया और अंग्रेज़ों के ज़माने में तो कर्नाटक राज्य का नाम ही सदा के लिये मिट-सा गया। सन् १९४७ में स्वतंत्रता प्राप्त होने तथा छोटी मोटी रियासतों के बड़े बड़े प्रांतों में मिलाये जाने के बाद भी कर्नाटक को स्वतंत्र तथा अलग अस्तित्व प्राप्त नहीं हुआ। और आजकल भी वह पाँच प्रदेशों के शासन के अंतर्गत टुकड़ा टुकड़ा होकर पड़ा हुआ है। सन् १९४१ की जनगणना के अनुसार उसका क्षेत्रफल ९६३०० वर्ग मील है और जनसंख्या २३५४९९०० है।

कर्नाटक, कन्नडिग और कन्नड

कर्नाटक और उसके निवासियों का वर्णन रामायण तथा महाभारत जैसे प्राचीन ग्रंथों में बराबर मिलता है।[२] 'कर्णाटक' और 'कर्नाटक' शब्द पर विद्वानों में काफी चर्चा चली और अंत में 'कर्नाटक' शब्द ही ठीक माना गया। 'कर्नाटक' प्रदेश का नाम है, 'कन्नडिग' कर्नाटक के निवासी हैं और 'कन्नड' कर्नाटक के निवासियों की भाषा है। लेकिन

१—कावेरियिंदमागोदावरिवर मिर्द नाडदा कन्नडदोल।
भाविसिद जनपदं कविराज मार्ग (१–३६)
सुभटर्कल् कविगल्, सुप्रभुगल् चेल्वर्कल्, गुणिगल्।
अभिमानिगलत्युग्रर, गभीर चित्तर, विवेकिगल् नाडवर्गल् (१–४२)
काव्यप्रयोग परिणतमतिगल् (१–३८)

२—कर्णाटाः कास्यकुट्टाश्च पद्मजालाः सतीनराः—सभापर्व ७८–९४
कर्णाटका महिषिका विकल्पा मूषकास्तया—भीष्म पर्व ५८–५६

कभी कभी 'कर्नाटक देश' 'कन्नड देश' के नाम से पुकारा जाता है और 'कन्नडिग' 'कर्नाटकी' भी कहलाते हैं। 'कन्नड' का बिगड़ा हुआ रूप है, 'कानारीस', 'कानडी' और 'कनारी'। कर्नाटक देश 'कन्नडिग' और 'कन्नड' ही सही प्रयोग है। 'कर्नाटक' और 'कन्नड' शब्दों की व्युत्पत्ति के बारे में विद्वानों में एक मत नहीं है।

कन्नड भाषा

'कन्नड' द्रविड भाषा परिवार की एक प्रमुख और बहुत ही समृद्ध भाषा है। विद्वानों का मत है कि द्रविड भाषाओं में 'तमिळ' सबसे पुरानी है और प्राचीनता की दृष्टि से कन्नड का दूसरा स्थान है। कन्नड एक स्वतंत्र भाषा है या तमिल से निकल कर स्वतंत्र भाषा के रूप में विकसित हुई है, यह तो खोज का विषय है, और इस पर अब तक कोई निर्णय नहीं हो सका है। प्राचीन कन्नड 'हले कन्नड' अथवा 'पलेगन्नड' कहलाती है और आधुनिक कन्नड 'होस कन्नड' अथवा 'होस गन्नड' के नाम से पुकारी जाती है। हले गन्नड में संस्कृत शब्दों का प्रयोग कम पाया जाता है और तमिल तथा कन्नड के कई शब्दों के रूप में समानता है। लेकिन होस गन्नड (आधुनिक कन्नड) पर संस्कृत का विशेष प्रभाव दिखाई पड़ता है। आजकल तद्भव के बदले में तत्सम शब्दों का अधिक प्रयोग करने की प्रवृत्ति पाई जाती है। कन्नड के बोलचाल के रूप में समानता नहीं है, जगह जगह उसका रूप बदलता है। लेकिन साहित्यिक कन्नड के रूप में कर्नाटक भर में विशेष अंतर नहीं पाया जाता। बोलचाल के तीन प्रधान रूप हैं—मैसूर कन्नड, मंगलोर कन्नड और धारवाड़ कन्नड। कन्नड की बोलियों में कोडगु, तुळु, तोड, कोट और बड़ग प्रमुख हैं। 'कोडगु' कूर्ग में बोली जाती है और तुळु मंगलोर (दक्षिण कनारा) में तथा शेष बोलियाँ नीलगिरि के पहाड़ी प्रदेशों में रहनेवाले लोगों से बोली जाती हैं।

कन्नड लिपि

यद्यपि कन्नड और तमिल में निकट संबंध है तो भी कन्नड की लिपि तमिल से बिलकुल ही भिन्न है। कन्नड और तेलुगु लिपियाँ मिलती जुलती हैं। ईसा की तेरहवीं शताब्दी तक इन दोनों लिपियों में भिन्नता नहीं थी। कन्नड और तेलुगु की वर्णमाला की ध्वनियों का क्रम ऐसा ही है जैसा कि देवनागरी की ध्वनियों का है। इन दोनों का उद्गम उसी ब्राह्मी लिपि से हुआ है, जिससे देवनागरी का विकास हुआ है। देवनागरी में 'ए', 'ओ' का ह्रस्व रूप नहीं है, पर कन्नड में यह वर्तमान है। देवनागरी की तरह पुरानी कन्नड में शब्द के अंतिम ह्रस्व 'अ' का आधा उच्चारण होता था, किंतु आधुनिक कन्नड में ह्रस्व 'अ' का पूर्ण उच्चारण होता है। और एक अंतर यह है कि 'ल' का दूसरा एक रूप है—'ळ'

कन्नड का प्राचीन साहित्य

कन्नड का प्राचीन साहित्य बहुत पुराना ही नहीं अपितु अति समृद्ध व सर्वांग सुंदर है। यद्यपि हलमिडि आदि शिला लेखों के आधार पर कन्नड के प्रसिद्ध विद्वान् एम० गोविंद पै ने यह सिद्ध किया है कि ईसा की तीसरी शताब्दी के पहले ही कन्नड में साहित्य की रचना हुआ करती थी, तो भी नवीं शताब्दी के पहले का कोई प्रामाणिक ग्रंथ अब तक प्राप्त नहीं हुआ है। प्रसिद्ध राष्ट्रकूट राजा नृपतुंग का या उनके दरबारी कवि अमोघवर्ष नामक कवि का लिखा हुआ 'कविराज मार्ग' ही कन्नड का अति प्राचीन और सर्वप्रथम

ग्रंथ माना जाता है। इसका रचना-काल सन् ८१५-८७१ के बीच में ठहराया गया है। 'कविराज मार्ग' जैसा कि नाम से ही प्रकट होता है, एक लक्षण ग्रंथ है। इसमें संदेह नहीं है कि दण्डि के—"काव्यादर्श" के आधार पर 'कविराज मार्ग' की रचना हुई है। लेकिन इसमें प्राप्त कर्नाकट देश का वर्णन, कन्नड भाषा व साहित्य का स्वरूप, आलोचनात्मक विचार-प्रणाली आदि से यह एक मौलिक ग्रंथ-सा ही लगता है। कविराज मार्ग के कवि ने अपने काव्य का आरंभ करते हुए पहले के कवियों, उनके ग्रंथों और उनके द्वारा प्रयुक्त कई प्रयोगों का उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त इस संबंध में और विचारणीय बात यह है कि किसी भाषा के साहित्य में रीति ग्रंथ उस समय लिखे जाते हैं, जब कि वह भाषा विकास को प्राप्त होती है और उसका साहित्य प्रौढ़ावस्था को पहुँचता है। इन कारणों से यह बात स्पष्ट ही है कि कविराज मार्ग के पहले कन्नड भाषा एक समृद्ध भाषा बन गई थी और उसमें ग्रंथ रचे जाते थे।

कविराज मार्ग के उपरांत कन्नड में साहित्य की रचना द्रुतगति से होने लगी। जैन, वीरशैव, वैष्णव, शैव आदि संप्रदाय के लोगों ने कन्नड में एक से एक बढ़कर ग्रंथों की रचना कर साहित्य की अनन्य सेवा की। दसवीं शताब्दी का काल कन्नड का 'स्वर्ण-युग' माना जाता है जिसमें पंप, पोन्न, रन्न नामक रत्नत्रय ने काव्य रचकर कर्नाटक की कीर्ति पताका ऊँची की। पंप का 'विक्रमार्जुन विजय' अथवा 'पंप भारत' पोन्न का 'शांति पुराण' रन्न का 'साहस भीम विजय' अथवा 'गदा युद्ध' महान कृतियाँ हैं। बारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध से पंद्रहवीं शताब्दी तक का काल कन्नड का क्रांति-युग माना जाता है, क्यों कि इसी काल में वीरशैव संप्रदाय के आचार्य व प्रसिद्ध भक्त बसव अथवा बसवेश्वर तथा उनके अनुयायियों ने साहित्य की पुरानी परिपाटी के प्रति विद्रोह किया और जनता की सरल भाषा में भक्ति, ज्ञान, नीति, सदाचार की बातें सुनाईं। वीरशैव भक्तों की वाणी 'वचन' साहित्य के नाम से प्रसिद्ध है। 'वचन' एक प्रकार का गद्य गीत ही है। इस काल में कन्नड भाषा में एक नूतन शक्ति का संचार हुआ। पंद्रहवीं शताब्दी से अठारहवीं शताब्दी तक रामायण, महाभारत तथा भागवत के आधार पर कवियों तथा हरिदासों ने कितने ही महाकाव्य, सुंदर सुंदर भजन-कीर्तन रचकर कन्नड को हर तरह से समृद्ध बनाया। इस काल के महान् कवि कुमार व्यास थे और उनका महाकाव्य 'भारत' ऐसा ही जनप्रिय काव्य है, जैसा कि हिंदी में रामचरित मानस। हरिदासों में पुरंदरदास, कनकदास, जगन्नाथ दास प्रमुख थे। हिंदी के सूर, तुलसी, कबीर आदि की तरह इन हरिदासों के भजन गाए और पढ़े जाते हैं। इस काल में कन्नड भाषा, कन्नड साहित्य और कर्नाटक संगीत कर्नाटक के निवासियों के जीवन के अभिन्न अंग बन गए। नवीं शताब्दी के आरंभ से अठारहवीं शताब्दी के अंत तक नौ सौ सालों का कन्नड साहित्य भाषा की प्रौढ़ता, काव्य-कला, काव्य-शास्त्र कला तथा विषय की विविधता की दृष्टि से सर्वांग सुंदर, समृद्ध व महान् है।

संधिकाल

उन्नीसवीं शताब्दी का पूर्वार्ध कन्नड का अंधकारमय युग रहा। क्योंकि इस समय कर्नाटक का सारा प्रदेश अपनी राजनैतिक स्वतंत्रता खो बैठा था और अंग्रेज़ शासन व्यवस्था के अधीन आ गया था। कर्नाटक की वीर जनता की शक्ति को सदा के लिये

कुंठित रखने और अपनी शासन-व्यवस्था को स्थिर रखने के लिये ब्रिटिश सरकार ने कर्नाटक प्रदेश को छिन्न भिन्न करके कई एक छोटी-मोटी रियासतों व बंबई, मद्रास जैसे बड़े बड़े प्रांतों में बाँट दिया। इस प्रकार एक ओर कर्नाटक की जनता विदेशी सरकार की कूट-नीति का शिकार बनकर निष्प्रभ और निष्प्राण हो गई दूसरी ओर कर्नाटक के किसी भी प्रदेश में ऐसा कोई प्रतिभा-संपन्न कवि नहीं हुआ, जो कन्नड की महान् साहित्यिक व सांस्कृतिक परंपरा को बनाये रख सके। जो कुछ प्राचीन साहित्य-निधि थी, वह इधर उधर अव्यवस्थित होकर ताड़-पत्रों तथा शिला-लेखों के रूप में अज्ञात अवस्था में पड़ी हुई थी। इस बीच में मैसूर के मुम्मुडिकृष्णराज ओड़ेयर के शासन काल में (सन् १८११-१८३१ तक) कन्नड में कुछ जागृति की किरणें चमकने लगीं। कृष्णराज ओड़ेयर स्वयं कन्नड तथा संस्कृत के प्रेमी और विद्वान थे और बताया जाता है कि न केवल उन्होंने स्वयं कई सुंदर ग्रंथों की रचना की, बल्कि अपने दरबार के कवियों को साहित्य-सेवा के लिये प्रोत्साहित किया। किंतु सन् १८३१ में ब्रिटिश सरकार ने राजनीतिक कारणों से कृष्णराजा को गद्दी पर से उतार दिया और शासन-व्यवस्था अपने हाथ में ले ली। सन् १८३१ से, १८८१ तक लगभग पचास साल तक मैसूर रियायत, जो कि कर्नाटक का एक मात्र सुसंगठित व विशाल प्रदेश था, विदेशियों के हाथ में पड़ गया। विदेशी शासन-व्यवस्था के कारण जितनी हानि हुई उतना ही लाभ भी हुआ। यद्यपि शुरू-शुरू में अंग्रेज़ी भाषा व साहित्य के मोह में पड़ कर कन्नड जनता में अपनी भाषा व साहित्य के प्रति प्रेम कम हो गया था, तो भी आगे चल कर जैसे-जैसे अंग्रेज़ी भाषा व साहित्य का प्रचार बढ़ता गया जनता की दृष्टि अंतर्मुखी हो गई और उनमें आत्मदर्शन की उत्कंठा जाग उठी। सन् १८५७ की गदर की रोमांचकारी घटनाओं से तो कन्नड भाषा-भाषियों का हृदय मथित और आंदोलित हुआ।

कन्नड का आधुनिक साहित्य और उसका काल विभाजन

उन्नीसवीं शताब्दी के समाप्त होते-होते सारा भारतवर्ष लम्बी निद्रा के बाद करवट बदलने लगता है और नवचेतना की लहरें देश के इस कोने से उस कोने तक सर्वत्र ही बहने लगती है। अंग्रेज़ी भाषा के प्रचार के साथ-साथ समृद्ध अंग्रेजी साहित्य में भारतीयों का मन रमने लगता है और अंग्रेज़ी साहित्य के द्वारा भारत का संपर्क पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति से होने लगता है और इसका असर भारतीय जीवन पर पड़ने लगता है। सामाजिक, नैतिक तथा राजनीतिक पाश्चात्य विचार-धाराओं से शिक्षित भारतीय समाज परिचित ही नहीं, प्रभावित भी होने लगता है। इसी समय में भारतीय समस्त भाषाओं के साहित्यों में नूतन युग का आरंभ होता है। कन्नड का आधुनिक साहित्य भी इसी काल में अर्थात् उन्नीसवीं शताब्दी के अंत में उन्नति की ओर अग्रसर होने लगता है और समय-समय पर बाहरी और आंतरिक परिस्थितियों के परिवर्तन के कारण नया मोड़ लेकर द्रुतगति से आगे बढ़ता है। गत साठ-सत्तर सालों के कन्नड साहित्य का इतिहास अत्यंत रोचक और महत्वपूर्ण है। अध्ययन की सुविधा के लिये कन्नड का आधुनिक साहित्य मोटे तौर पर दो भागों में

विभाजित किया जा सकता है। पहला सन् १८८१ से सन् १९२१ तक आरंभिक काल और सन् १६२१ से सन् १९५३ तक सर्वतोमुखी उन्नति का काल।

आरंभिक काल

देश की राजनैतिक दशा और कर्नाटक पर उसकी प्रतिक्रिया

सन् १८८५ में भारतीय कांग्रेस महासभा की स्थापना हुई। उसके बाद देश की स्वतंत्रता के लिये संगठित रूप से आंदोलन चलाया गया। कांग्रेस के उद्देश्य का स्पष्ट निरूपण करके उसकी प्राप्ति के लिये निश्चित कार्यक्रम तैयार करनेवालों में लोकमान्य तिलक प्रमुख थे। लोकमान्य महाराष्ट्र के निवासी थे जो कर्नाटक की उत्तरी सीमा पर स्थित है। 'स्वराज्य हमारा जन्म सिद्ध अधिकार है' उनकी इस सिंह-गर्जना से कर्नाटक अपनी दीर्घ-निद्रा से जाग पड़ा। साथ ही तिलक की 'केसरी' पत्रिका ने भी उत्तर कर्नाटक में नई जान फूँक दी। सन् १६०५ में बंगभंग के कारण देश में जो आँधी चली, उसने कर्नाटक की जनता को जाग्रत करने में जादू का काम किया। सन् १६१४-१६ में डा० एनीबेसेंट ने मद्रास के पास ही स्थित अड्यार को अपने कार्य का केंद्र बना कर देश भर में होमरूल आंदोलन चलाया। 'न्यू इंडिया' पत्रिका के द्वारा डा० बेसेंट की वीर-वाणी कर्नाटक में गूंज उठी। सन् १९१६ में गांधीजी ने 'साबरमती' आश्रम की स्थापना की और राष्ट्रीय महा-यज्ञ की तैयारी शुरू कर दी। सन् १९१९ के जलियान वाला बाग के महान् हत्याकांड से वीर कन्नडिगों का रक्त खौलने लगा। जैसे ही महात्मा गांधी ने कांग्रेस की बागडोर अपने हाथ में ले आंदोलन का देश भर में संचालन करना प्रारंभ किया, वैसे ही कर्नाटक के जीवन में नूतन जागृति का संचार होने लगा। गांधीजीने राजनैतिक स्वतंत्रता दिलाने के लिये जो देशव्यापी आंदोलन चलाया उसमें रचनात्मक कार्यक्रम की योजना शामिल करके स्वतंत्रता-आंदोलन का स्वरूप ही बदल दिया। इस रचनात्मक कार्यक्रम में मातृ-भाषा को प्रोत्साहन देने की बात को सम्मिलित करने के कारण भारत की देश-भाषाओं में नई जान आई। सन् १९२० में कांग्रेस के नागपुरवाले अधिवेशन में कांग्रेस का कार्य भाषावार प्रांतों के संगठन द्वारा चलाने के निर्णय के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रांतीय सरकारों के अधीन बिखरे हुए कर्नाटक के प्रदेशों का एक कर्नाटक प्रांत के रूप में संघटन हुआ। देशी रियासतों के मामले में दखल न देने की नीति के कारण कर्नाटक प्रांत में मैसूर रियासत शामिल नहीं की गयी। इस निर्णय का प्रभाव कर्नाटक की जनता पर बहुत ही गहरा पड़ा और कन्नड भाषा व साहित्य की प्रगति के लिये विशेष प्रोत्साहन मिला।

इस प्रकार देश की राजनैतिक उथल-पुथल का प्रभाव कर्नाटक के जीवन पर पड़ने लगा, साथ ही अंग्रेज़ी भाषा व साहित्य का प्रचार व प्रसार भी कर्नाटक में तेज़ी से होने लगा। इन सब कारणों से कर्नाटक का हृदय-मंथन जोरों से हो चला, जो साहित्य-सृजन के लिये प्रेरक शक्ति बना।

मैसूर की देन

मैसूर प्रदेश के कन्नड-भाषा-भाषियों के जीवन में सन् १८८१ में एक महत्पूर्ण घटना घटी। मैसूर राज्य की गद्दी मैसूर के प्रसिद्ध यदुवंशी राजा श्री चामराजेंद्र ओडेयर को लौटा दी गई। पूरे पचास साल के उपरांत मैसूर जनता ने अपने प्रिय महाराजा को सिंहासन पर फिर से प्रतिष्ठित पाकर उल्लास की साँस ली। नई आशा की किरणें चमक उठीं। श्री चामराजेंद्र ओडेयर (१८८१-१९०१) और उनके बाद के नाल्मडि कृष्णराज ओडेयर (१९०२–१९४०) अत्यंत जन-प्रिय राजा थे। इन राजाओं ने अपने शासन काल में अपने राज्य की सर्वतोमुखी उन्नति के लिये भरसक प्रयत्न किया। ये दोनों महाराजा स्वयं साहित्य, संगीत, चित्रकला आदि ललित कलाओं के प्रेमी थे और अपने दरबार के कवियों को साहित्य चर्चा और साहित्य-सेवा के लिये हर तरह से प्रोत्साहन देते रहते थे। इन दोनों राजाओं के शासन-काल में प्रजा के जीवन-स्तर को ऊपर उठाने के लिये बहुत-सी योजनायें बनाई गईं, जिनका श्रेय उस समय के कार्यकुशल, समर्थ दीवानों को मिलना चाहिए। जिस तरह महाराजा जनप्रिय थे उसी तरह उनके दीवान भी जनप्रिय थे। इन दीवानों में सर सी० रंगाचार्यलु, सर० एम० शेषाद्रि अय्यर, सर० एम० विश्वेश्वरय्या, सर मिर्जा एम० इस्माइल के नाम उल्लेखनीय हैं। जन-हित के अन्यान्य कार्यों के साथ कन्नड भाषा तथा साहित्य के विकास का कार्य भी सरकार ने प्रारम्भ किया। मैसूर में प्राच्य पुस्तकालय की स्थापना की गई, जिसके द्वारा रियासत के कोने कोने में पड़े हुए अति प्राचीन शिला-लेखों, ताड़ और ताम्र-पत्रों की खोज का कार्य बड़ी तेज़ी के साथ चला। इस दिशा में मि० बी० एल० रैस, प्राक्तन विमर्श विचक्षण आर० नरसिंहाचार्यने प्रशंसनीय कार्य किया। इन दोनों महानुभावों ने 'इफ्रिग्राफ़िया कर्नाटिका' बारह भागों में तैयार किया, साथ ही मैसूर गज़ेटियर में प्राचीन कन्नड भाषा व साहित्य से सम्बन्ध रखने वाले कई विषयों पर लेख लिख कर प्रकाशित किया। सन् १८९० में रैस साहब ने भट्टाकलंक के 'शब्दानुशासन" नामक व्याकरण ग्रंथ का संपादन किया और उसकी भूमिका में कन्नड साहित्य के कई पहलुओं पर प्रकाश डाला। सन् १९०७ में आर० नरसिंहाचार्य ने "कर्नाटक कवि चरिते" नामक एक वृहत् ग्रंथ तीन भागों में तैयार कर प्रकाशित किया, जिसमें नवीं शताब्दी से लेकर अठारहवीं शताब्दी तक के कन्नड के समस्त कवियों और उनके ग्रंथों का सामान्य परिचय प्रस्तुत किया। इस अनमोल ग्रंथ के द्वारा कन्नड भाषा-भाषियों को अपनी महान् प्राचीन परंपरा का भान हुआ। यद्यपि इस पुस्तक में आधुनिक ढंगपर साहित्य के इतिहास का आलोचनात्मक अध्ययन उपस्थित नहीं किया गया, फिर भी ऐसे अध्ययन के लिये काफी सामग्री जुटा दी गई।

सन् १९२५ में सर० एम० विश्वेश्वरय्या की दूरदर्शिता तथा प्रेरणा के फलस्वरूप मैसूर विश्वविद्यालय की स्थापना हुई। विश्वविद्यालय के सर्व प्रथम चांसलर श्रीकृष्णराज ओडेयर ने अपने उद्घाटन भाषण में विश्वविद्यालय के उद्देश्यों का जो उल्लेख किया था वह ध्यान देने योग्य है "(1) ···The special encouragement to Kannada Literature and to other vernaculars of South India provided for the University scheme and (2) The diffusion of

knowledgo by lectures and pub'i ations among those sections of the people who cannot participate in the regular University course" इन उद्देश्यों के अनुसार मैसूर विश्वविद्यालय में न केवल कन्नड भाषा व साहित्य के पठन पाठन का प्रबंध हुआ, बल्कि विश्वविद्यालय के द्वारा कन्नड के विकास के लिये कई प्रकार के कार्य हुए, जिनमें प्राचीन ग्रंथों की खोज, प्रकाशन, अंग्रेज़ी कन्नड- कोष का प्रकाशन, गाँवों में कन्नड में विविध विषयों पर व्याख्यान-माला का प्रबंध आदि उल्लेखनीय हैं। विश्वविद्यालय के विद्वान अध्यापकों के द्वारा कन्नड की जो सेवा हुई है वह स्मरणीय है।

विश्वविद्यालय की स्थापना के दूसरे ही साल बेंगलोर में "कन्नड साहित्य परिषद्" की स्थापना हुई। कन्नड साहित्य परिषद का कार्यक्षेत्र मैसूर रियासत तक ही सीमित न रखकर समस्त कन्नड भाषा-भाषी प्रदेश तक बढ़ा दिया गया, और परिषद् के द्वारा कन्नड की प्रगति के लिये बड़े पैमाने पर संगठित कार्य आरंभ हुआ। प्राचीन कन्नड के ग्रंथों का शोध करके उनके संपादन व प्रकाशन का प्रबंध करना, समस्त कन्नड भाषा-भाषियों में अपनी भाषा व साहित्य के प्रति प्रेम पैदा करना, भिन्न भिन्न राज्यों में बिखरे पड़े कन्नड के प्रदेशों को एक राज्य-सूत्र के अंतर्गत लाना, कन्नड के प्रदेशों के शिक्षण क्रम में कन्नड के लिये उचित स्थान दिलाना आदि परिषद् का उद्देश्य घोषित किया गया। परिषद् की स्थापना करनेवालों में तत्कालीन प्रसिद्ध दीवान सर० एम० विश्वेश्वरय्या, राजमंत्रप्रवीण एच० वी० नंजुण्डय्या, कर्पूर श्रीनिवास राव, धारवाड के आलूर बेंकटराव के नाम आदर के साथ लिए जाते हैं। दीवान सर मिर्जा इस्माइल के काल में परिषद् का नूतन भवन निर्मित हुआ, जिससे दिनपर दिन बढ़ने वाले कार्य के संचालन में विशेष सुविधा हुई।

मंगलोर की देन

इधर मैसूर में जब कन्नड भाषा व साहित्य की वृद्धि के लिये संगठित रूप से उद्योग चल रहा था, तब उधर पश्चिम कर्नाटक के प्रधान केंद्र मंगलोर में बासेल मिशन के पादरियों द्वारा प्रशंसनीय कार्य होने लगा। रेवरेण्ड एफ० किट्टल, जो एक जर्मन थे, बड़े ही विद्या व साहित्य प्रेमी थे। कन्नड भाषा के सौष्ठव और प्राचीन कन्नड साहित्य की गरिमा से वे इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने कन्नड का गहरा अध्ययन ही नहीं किया, किंतु कन्नड भाषा व साहित्य पर ग्रंथ-निर्माण का भी कार्य किया। अठारह साल के निरंतर परिश्रम के उपरांत उन्होंने सन् १८९४ में एक वृहत् कन्नड-अंग्रेजी-कोश का संपादन किया। डबल क्राउन आकार के १४५२ पृष्ठों का यह महान् कोश कन्नड में अबतक रचे गए कोशों में सबसे बड़ा और अपने ढंग का अनोखा है। इस कोश में कन्नड के प्राचीन बड़े-बड़े ग्रंथों में प्रयुक्त शब्दों, मुहावरों व प्रयोगों का बड़ी विद्वत्ता व परिश्रम के साथ संग्रह व संपादन हुआ है। कोश की अंग्रेज़ी लंबी प्रस्तावना में किट्टल साहब ने शब्द संकलन का विवरण देते हुए कन्नड भाषा की विशेषताओं का मार्मिक आलोचन किया, साथ ही कन्नड-लिपि पर भी प्रकाश डाला। किट्टल साहब ने कोश के साथ साथ 'छंदोम्बुधि' का संपादन करते हुए कन्नड साहित्य के इतिहास पर विचार किया

अबतक मद्रास प्रांत के शिक्षण-क्रम में कन्नड के अध्ययन के लिये प्रबंध हो गया था और मद्रास विश्वविद्यालय में भी कन्नड के पंडितों की नियुक्ति होने लगी थी। मंगलोर के पंजे मंगेशराव ने बासेल मिशन के पादरियों के सहयोग से मद्रास की पाठशालाओं के लिये पाठमालाएँ तैयार कीं जिससे कन्नड की लोकप्रियता में बड़ी सहायता मिली। बेनगल रामराव, राजगोपाल कृष्ण राव प्रभति विद्वानों ने विश्वविद्यालय में कन्नड के अध्ययन अध्यापन के लिये अनुकूल वातावरण उत्पन्न किया। बासेल मिशन ने अपने मुद्रणालय में कन्नड की छपाई की व्यवस्था करके बड़ी सेवा की। भले ही पादरियों का मुख्य उद्देश्य अपने धर्म का प्रचार करना था, फिर भी उनके द्वारा कन्नड का भी उपकार हुआ।

धारवाड की देन

धारवाड उत्तर कर्नाटक का प्रधान सांस्कृतिक केंद्र है। जिस तरह मंगलोर और मैसूर में कन्नड की सेवा के लिये संगठित रूप से उद्योग होने लगे उसी तरह धारवाड़ में भी कन्नड की श्रीवृद्धि के लिये कुछ महानुभाव निकल पड़े।

लोकमान्य तिलक के असाधारण व्यक्तित्व से सारे उत्तर कर्नाटक में जागृति की लहरें बह चलीं। लोकमान्य के सहाध्यायी आलूर वेंकट राव ने अपनी प्रवर्धमान वकालत को तिलांजलि देकर देश-सेवा का व्रत धारण किया। इसी समय गंगाधर राव देशपांडे, रोड्ड श्री निवास राव, केरूर वासुदेवाचार, हनुमंत राव कौजलगि, कड़प राघवेंद्र राव, 'शांत कवि' (चुरमुरि), कृष्ण राव मुदवेडकर आदि ने अपने राजनैतिक सेवा-कार्य के लिये कन्नड को माध्यम बनाया। इन सबके प्रयत्न के फलस्वरूप धारवाड़ में सन् १८९० में 'कर्नाटक विद्या वर्धक संघ' की स्थापना हुई। मैसूर के महाराज चामराजेंद्र ओडेयर ने संघ की नींव रखी और उसके कार्य के लिये आर्थिक सहायता भी दी। इस संस्था के द्वारा प्राचीन कन्नड के शिला-लेखों व ग्रंथों की खोज करने और उनका संपादन व प्रकाशन करने का कार्य शुरू किया गया। इस संघ के अधीन कई विद्वानों ने प्रशंसनीय कार्य किया, जिनमें यजमान, आर० एस० पंचमुखी, राजपुरोहित, के० जी० कुंदणगार के नाम उल्लेखनीय हैं। इसके अतिरिक्त मैसूर के आर० नरसिंहाचार तथा बी० एल० रैस की तरह डा० फ्लीट, डा० सालेत्तोर जैसे विद्वानों ने उत्तर कर्नाटक में स्थान स्थान घूमकर शिला लेखों की खोज की और अपने विद्वत्तापूर्ण लेखों के द्वारा पुरातत्व, भाषा, तथा साहित्य के अध्ययन का मार्ग प्रशस्त किया।

सर्वतोमुखी उन्नति का काल (१९२?–१९५३)

कन्नड का प्राचीन साहित्य या तो पद्य के रूप में या चम्पू के रूप में ही विशेषतया परिपुष्ट पाया जाता है। आदि काल के जैन व ब्राह्मण कवियों ने भाषा, शैली, वस्तु-विधान, रस अलंकार-निरूपण में संस्कृत के ग्रंथों का ही अनुकरण किया था। हाँ कुछ देशी छंदों का प्रयोग समय समय पर कुछ कवियों ने अवश्य किया था। जिस तरह अन्य भारतीय भाषाओं में गद्य, कविता, नाटक, उपन्यास, कहानी, जीवनी, आलोचना, निबंध आदि साहित्य के अंगों का विकास पाश्चात्य साहित्य से प्रभावित होकर ही हुआ है, उसी तरह

कन्नड साहित्य के अंगों का विकास भी अंग्रेजी साहित्य के प्रचार के साथ होने लगा। इस बहुमुखी विकास में सन् १६२१ के उपरांत विशेष गति आई और बहुत, ही कम समय में प्रत्येक अंग परिमाण तथा सामर्थ्य की दृष्टि से समृद्ध व सुंदर बना।

कन्नड का गद्य और उसका विकास

'कवि-राज-मार्ग' के कवि ने अपने पूर्ववर्ती कवियों व उनके ग्रंथों का उल्लेख किया है, जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि कन्नड में गद्य-रचना का क्रम अति प्राचीन काल से आ रहा था। कवि-राज-मार्ग में भी गद्य का रूप प्राप्त होता है। बारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में रेवकोट्याचार्य नामक जैन कवि का लिखा हुआ "वड्डुराधने" गद्य की दृष्टि से बहुत ही महत्वपूर्ण ग्रंथ है। यह हलेगन्नड में लिखा हुआ कथाग्रंथ है, जिसमें जैन धर्म संबंधी तत्वों का प्रतिपादन हु आ है। इसके उपरांत वीरशैव संप्रदाय के भक्त-कवि बसव तथा उनके अनुयायियों के 'वचन' साहित्य में कन्नड के आधुनिक गद्य की स्थायी नींव पड़ती है। वचनकारों की परंपरा बारहवीं शताब्दी से अठारहवीं शताब्दी तक चली चलती है। इसके अतिरिक्त गद्य की दृष्टि से ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी के और एक ग्रंथ का नाम उल्लेखनीय है। वह है चाउण्डराय का "चाउण्डराय पुराण" जिसमें गद्य शैली का विकसित रूप प्राप्त होता है। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में मुद्दण अथवा नंदलिके लक्ष्मीनारायण नामक एक बड़े ही प्रतिभा संपन्न कवि का अवतार होता है। इन्हों ने गद्य और पद्य में ग्रंथ रचे। इनके गद्य ग्रंथों में 'अद्भुतरामायण' और 'रामाश्वमेध' मुख्य हैं। लेखक ने रामाश्वमेध के आरंभ में "पद्यं वद्यं, गद्य हृद्यं" कहकर बड़ी ही सरस शैली में कहानी सुनाई है। इनकी भाषा पुरानी कन्नड का पुट लिए हुए बड़ी प्रौढ़ है और आधुनिक गद्य की प्रगति का परिचायक है।

बीसवीं शताब्दी के आरंभ से तो कन्नड के गद्य का नवीन रूप निखरने लगता है। इस समय कन्नड में उपन्यास, कहानियाँ, नाटक, आलोचना, निबंध, जीवनी, इतिहास विज्ञान आदि विविध विषयों पर अनगिनत-ग्रंथ निकलने लगे। तूरमरि के उपन्यास, केरूर बासुदेवाचार्य के अलोचनात्मक लेख, च० बासुदेवय्या की "आर्य कीर्ति" जैसी जीवनियाँ, मास्तिवेंकटेश अय्यंगार की कहानियाँ और उपन्यास आलूर वेंकटराव के "कर्नाटक गत वैभव" और गीतारहस्य का अनुवाद, गलगनाथ और बी. वेंकटाचार के मराठी और बंगला से अनुवादित उपन्यास, एम० एस० पुट्टण्ण के उपन्यास और "कुणिगल रामाशास्त्री" जैसी जीवनियाँ, एम० ए० रामानुजय्यंगार की रचनायें – आदि विविध प्रकार के ग्रंथों के द्वारा कन्नड की गद्य शैली सजीव व रोचक बनने लगती है। इस बीच कर्नाटक में जगह जगह से कितनी ही साप्ताहिक, पाक्षिक; मासिक और त्रैमासिक पत्रिकायें प्रकाशित होने लगी। बेंगलोर से दो उच्चकोटि की त्रैमासिक पत्रिकायें निकलने लगीं। कन्नड साहित्य परिषद् की ओर से "साहित्य परिषद् पत्रिके" और दूसरी "प्रबुद्ध कर्नाटक" बेंगलोर सेंट्रल कालेज के कर्नाटक संघ की ओर से प्रकाशित हुई। दोनों का संपादन बड़ी योग्यता के साथ हुई। प्रबुद्ध कर्नाटक के संपादक प्रो० ए० आर० कृष्ण शास्त्री ने अपने आलोचनात्मक लेखों द्वारा कन्नड में आधुनिक शास्त्रीय आलोचना साहित्य का प्रचलन किया। उनकी भाषा नपी-तुली,

प्रौढ़ और प्रांजल है। धारवाड के आलूर वेंकटराव ने अपनी मासिक पत्रिका "जय कर्नाटक" द्वारा कन्नड गद्य की ओजपूर्ण शैली के निर्माण में प्रशंसनीय कार्य किया।

अंग्रेजी में शिक्षा पाये हुए विद्वानों ने कन्नड के गद्य को सजाने सँवारने में योग दिया। कन्नड के प्रसिद्ध विद्वान डी० वी० गुण्डप्प जी के आलोचनात्मक लेखों द्वारा गंभीर विद्वत्ता तथा विश्लेषणात्मक चिंतन-पद्धति प्रस्फुटित हुई। बेंगलोर से प्रकाशित 'विश्वकर्नाटक' दैनिक पत्र के संपादक टी० टी० शर्मा ने अपनी पत्रिका में राजनैतिक समस्याओं पर फड़कती हुई शैली में ऐसे कितने ही लेख लिखे, जो पत्र-संपादकों के लिये ही नहीं समस्त कर्नाटक में गद्य लिखनेवालों के लिये मार्गदर्शक बने। मास्ति वेंकटेश अय्यंगार की इसी समय लोकप्रिय कहानियाँ निकलने लगीं। उनकी कहानियों तथा साहित्य संबंधी लेखों द्वारा बोलचाल की साधारण भाषा धीरे धीरे साहित्यिक रूप धारण करती हुई अत्यंत सरस तथा गंभीर से गंभीर विषयों की अभिव्यक्ति के लिये समर्थ बनी। वी० सीतारामय्या (वी० सी०) रचित "पम्पायात्रे" की मनोहर व मार्मिक वर्णनात्मक शैली ने सबको आकर्षित किया।

कन्नड का वर्तमान गद्य साहित्य, विज्ञान, भूगोल, इतिहास आदि सभी विषयों पर ग्रंथ रचने के सर्वथा योग्य बना है। एक ओर अंग्रेजी, संस्कृत, हिंदी के तत्सम शब्दों का प्रयोग बिना किसी रुकावट के चलने लगा है, दूसरी ओर उक्त भाषाओं तथा अन्य भाषाओं के भी अनगिनत शब्द रूपांतर के साथ कन्नड के शब्द भंडार में शामिल हो रहे हैं, साथ ही संस्कृत व अंग्रेजी के आधार पर नये नये शब्द भी गढ़े जा रहे हैं। संस्कृतनिष्ठ भाषा लिखने की प्रवृत्ति भी देखी जाती है। अंग्रेजी, हिंदी, मराठी, तमिल के कितने ही मुहावरे, वाक्यांश, कहावतें कभी कभी जैसी की तैसी, कभी कभी कुछ कुछ रूपांतरित हो कर कन्नड में प्रयुक्त होती हैं। इस प्रकार कन्नड का गद्य सर्वांग सुंदर ही नहीं गतिशील भी है।

कविता

तूफ़ान के पहले जिस तरह आसमान में कड़ाके की बिजली चमक जाती है, उसी तरह कन्नड के आधुनिक साहित्य के आरंभ में एक महान कवि उदित होकर कन्नड साहित्य उपवन को कुसुमित व सुरभित करके अदृश्य हुए। उनका नाम है मुद्दण अथवा नंदलिके लक्ष्मीनारायणप्प। उनका जन्म सन् १७६९ में दक्षिण कन्नड ज़िले में हुआ और केवल तीस साल की छोटी अवस्था में उन्होंने अपनी असाधारण कवि-प्रतिभा दिखाकर कन्नड साहित्य में एक संजीवनी शक्ति का संचार किया। उन्होंने 'रत्नावली कल्याण', 'कुमार-विजय' दो यक्षगान, (पुरानी शैली के ग्राम्य नाटक), अद्भुत रामायण, रामपट्टाभिषेक, रामाश्वमेध नामक ग्रंथ रचे। इसके अतिरिक्त 'गोदावरी' नामक उपन्यास भगवद्गीता का अनुवाद, कामशास्त्र तथा प्राचीन कन्नड साहित्य पर कितने ही शोधपूर्ण लेख लिखकर ख्याति पाई। 'अद्भुत रामायण' व 'रामाश्वमेध' गद्य ग्रंथ हैं और रामपट्टाभिषेक वार्धिक षटपदी में लिखा हुआ काव्य-ग्रंथ है। रामाश्वमेध की कथा वस्तु पद्मपुराण की शेष रामायण है। इसकी भाषा हलेगन्नड (पुरानी कन्नड) होते हुए भी आधुनिक शैली की सुंदर छटा लिये हुए है। सारी कहानी कवि और उनकी पत्नी के बीच में संभाषण के रूप में बड़ी ही सरसता के साथ कही गई है।

जिस तरह जगत की सभी भाषाओं का साहित्य पद्य में ही आरंभ होता है; उसी तरह कन्नड में भी आदिकाल से कविता रचने की परिपाटी चली आती है। आगे चलकर संस्कृत के प्रभाव से कन्नड में चम्पू काव्य रचे जाने लगे। इस प्रकार यद्यपि काव्य-कला से कन्नड-भाषा-भाषी दीर्घकाल से ही भली भाँति परिचित थे, फिर भी आधुनिक कन्नड का काव्य बीसवीं शताब्दी के आरंभ ही में विकसित हुआ। स्वर्गीय बी० एम० श्रीकण्ठय्या के "इंग्लीषुगीतेगलु" के साथ साथ कन्नड के आधुनिक काव्य-जगत में एक नूतन युग का निर्माण हुआ। बी० एम० श्री कण्ठय्या जी मैसूर विश्वविद्यालय में अंग्रेजी के प्रोफेसर थे। पर वे कन्नड के इतने बड़े प्रेमी और विद्वान् थे कि विश्वविद्यालय ने उन्हें कन्नड का अवैतनिक प्रोफेसर बनाया था। "इंग्लीषुगीतेगलु" अंग्रेजी के प्रसिद्ध कवियों की चुनी हुई कविताओं का कन्नड अनुवाद है। अनुवाद इतनी सफलता के साथ किया गया है कि ये कवितायें बिलकुल मौलिक रचनाओं की सी लगती हैं। ज्योंही सन् १९१५ में इन गीतों का अतुकांत छंदों में पहली बार प्रकाशन हुआ, त्योंही कन्नड का काव्य-निर्झर फूट निकला। यद्यपि कुछ ऐसे लोगों ने जो पुरानी लकीर के फकीर थे, इस नूतन शैली का विरोध किया, फिर भी कर्नाटक के नवयुवक "इंग्लीषुगीतेगलु" को बड़े चाव से पढ़ने लगे और उदीयमान कवि इनकी नकल करने लगे। इसी काव्य-ग्रंथ के द्वारा बी० एम० श्री कण्ठय्या ने "श्री" के नाम से कर्नाटक में प्रसिद्धि पाई और इन्हीं गीतों के द्वारा 'श्री' ने कन्नड भाषा व साहित्य की महान सेवा का कार्य आरंभ किया। कन्नड-भाषा व साहित्य के प्रति अखिल कर्नाटक की जनता में प्रेम पैदा करने तथा कन्नड साहित्य की सर्वतोमुखी उन्नति के लिए काम करनेवालों में बी० एम० श्री कंठय्या जी का स्थान सर्वोपरि है। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदीजी ने हिंदी के आधुनिक साहित्य के निर्माण में जो काम किया वही काम 'श्री' (बी० एम० श्रीकण्ठय्या) ने भी किया।

'श्री' के समकालीन कवियों में पंजे मंगेश राव, डी० बी० गुण्डप्प, मास्ति वेंकटेश अय्यंगार, मंजेश्वर गोविंद पै, सालि रामचंद्र राव तथा शांत कवि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। पंजे मंगेशराव जी ने 'कविशिष्य' के नाम से अंग्रेजी कवियों का अनुकरण करते हुए, बड़े ही सरस व सुंदर गीत रचे हैं। उनकी कविताओं का संग्रह "कन्नड पद्य पुस्तक" में किया गया है, जिनमें 'भीष्मन निर्याण', 'कमल', 'कोडगु' आदि प्रसिद्ध हैं। मंगेशरावजी स्कूलों के इंस्पेक्टर थे और बाल स्वभाव के बड़े पारखी थे। शिशु साहित्य पर उनकी विशेष रुचि थी और उनके बच्चों के गीत तो आज कल भी कर्नाटक में गाये जाते हैं।

डी० वी० गुण्डप्पा जी कन्नड के प्रकाण्ड विद्वान, यशस्वी राजनीतिवेत्ता, प्रसिद्ध कवि और आलोचक हैं। आपने सब प्रकार के ग्रंथ रचे हैं–काव्य, नाटक, जीवनी समालोचना। आपके ग्रंथों में 'निवेदन', 'वसंत कुसुमांजलि', 'उमरन ओसगे', 'मंकुतिम्मन कग्ग' मुख्य हैं। निवेदन में बेलूर, हलेबीडु, जोग का जल प्रपात, श्रवण बेलगोल आदि मंदिरों की शिला प्रतिमाओं, सुंदर दृश्यों का अनोखा वर्णन हुआ है। 'उमरन ओसगे' उमर खय्याम के रुबाइयात का सुंदर अनुवाद है। 'मंकुतिम्मन कग्ग' आधुनिक ढंग से लिखा हुआ एक नीति ग्रंथ है जिसमें सदाचार, ज्ञान, दर्शन, लोक-व्यवहार आदि कई विषयों पर कवि ने अपने विचार मार्मिक ढंग से व्यक्त किये हैं। गुण्डप्पा जी गहरी विद्वता

तथा कल्पना की ऊँची उड़ान के लिए प्रसिद्ध हैं। उनकी भाषा मँजी हुई व साहित्यिक है। मंगेश्वर गोविंद पै दक्षिण कन्नड के निवासी हैं और कन्नड के नामी विद्वान हैं। गोविंद पै ने काव्य बहुत कम रचा है, लेकिन जो कुछ रचा है वह अमूल्य ही है। आप की कविताओं में 'गिलिविण्डु', नंदादीप, गोल्गोथा, वैशाखी अमर रचनायें हैं। मद्रास सरकार ने सन् १९५० में अपने प्रदेश के तमिल, तेलगू, कन्नड तथा करेल के प्रसिद्ध कवियों में से सब से श्रेष्ठ कवियों को 'राज कवि' की उपाधि देकर सम्मानित किया था। मंजेश्वर गोविंद पै को राज कवि बनने का गौरव प्राप्त हुआ। 'श्री' की तरह पै जी ने पुरानी परिपाटी के खिलाफ़ साहस के साथ विद्रोह किया और स्वयं नवयुवकों के लिए मार्ग-दर्शक बने। मास्ति वेंकटेश अय्यंगार जिनका उपनाम 'श्रीनिवास' है कन्नड के बहुत ही लोकप्रिय महान कलाकार हैं और आधुनिक कन्नड के निर्माताओं में वी० एम० श्री के० बाद मास्ति का नाम बड़े आदर के साथ लिया जाता है। आप एक उत्तम कवि, नाटककार, उपन्यास लेखक, कहानीकार, आलोचक और पत्र संपादक हैं। आपकी कविताओं के कई संग्रह प्रकाशित हुए हैं, जिनमें अरुण, बिन्नह, तावरे, चेलुउ, मलार मुख्य हैं। आपकी भाषा बोलचाल का पुट लिये हुए साहित्यिक है और वस्तुविधान में ऐसी स्वाभाविकता व सरसता है कि पाठक का मन अपने आप ही रमता जाता है और रसानुभव करता जाता है। आधुनिक कन्नड-काव्य रचयिताओं में मुलिय तिम्मप्पय्या (स्वर्गीय) का अपना अलग स्थान है। उनकी "सोबगिनबल्लि' और 'नवनीत रामायण' सुंदर रचनायें हैं।

आधुनिक काल के द्वितीय उत्थान में कन्नड की काव्य-धारा प्रचुर प्रतिभा का परिचय देती हुई बहुमुखी विकास को प्राप्त होती है। इस काल में भाषा स्थिरता प्राप्त करती है और सूक्ष्म से सूक्ष्म अभिव्यंजना के लिए समर्थ बन जाती है। वस्तुओं में विविधता, छंद व अलंकार विधान में नूतनता, भाव-धारा में शुद्ध मानवता, ये ही इस समय की विशेषतायें हैं। इस उत्थान के कवियों में के० वी० पुट्टप्प सर्वश्रेष्ठ हैं, इसमें कोई संदेह नहीं है। आपने न केवल विविध प्रकार के काव्य रचे हैं बल्कि कहानी, उपन्यास, नाटक, जीवनी, समालोचना, निबंध सब दिशाओं में अपनी प्रतिभा का परिचय दिया है। आपके कविता-संग्रह हैं—कोललु, नविलु, प्रेम काश्मीर, पाँचजन्य, किंदर जोगी, कलासुंदरी, अग्निहंस। 'रामायण' दर्शन अतुकांत छंदों में लिखा हुआ ४०००० चरणों की आठ सौ पृष्ठों की एक महान् रचना है। पुट्टप्पजी की भाषा प्रौढ़ व संस्कृतनिष्ठ होती हुई भी प्रसाद गुणपूर्ण है और गिरि-निर्झर के समान अपनी मस्ती में चली चलती है। आपने अपने काव्य के लिये सब प्रकार की कथा-वस्तुएँ ली हैं—जैसे पौराणिक, ऐतिहासिक, सामाजिक; राजनैतिक मनोवैज्ञानिक। आपकी रचनाओं में अंग्रेजी भाषा व साहित्य की सर्वत्र गहरी छाप दिखाई देती है। आप की विचार धारा कहीं कहीं शुद्ध राष्ट्रीयता का रूप लेकर चलती है और कहीं कहीं दार्शनिक व रहस्यमय बन जाती है। श्री रामकृष्ण परमहंस तथा स्वामी विवेकानंद के व्यक्तित्व का आप पर विशेष प्रभाव पड़ा है। मैसूर के मलनाडु (पर्वत प्रदेश) में पैदा होकर पाले पोसे जाने के कारण प्रकृति की रमणीयता तथा भव्यता से आप सदा मुग्ध रहते हैं। अतः आप प्रधानतया प्रकृति के कवि हैं और कन्नड के शेली के नाम से

प्रसिद्ध हैं। आप का 'रामायणदर्शन' आधुनिक कन्नड का एक मात्र महाकाव्य है, जिसमें पौराणिक कथावस्तु एक नये साँचे में ढाली गई है। रामायण की कई समस्याओं को देखने व समझने के लिये कवि ने इस रामायण के द्वारा एक नया दृष्टिकोण प्रदान किया है।

पुट्टप्पजी (कुवेंपु) मैसूर विश्वविद्यालय में कन्नड-विभाग के प्रधान हैं और काव्य-कामिनी की अनन्य-सेवा में निरंतर लगे रहते हैं।

'अंबिकातनयदत्त' (पूरा नाम दत्तात्रेय रामचंद्र बेंद्रे) आधुनिक कन्नड के प्रतिभा संपन्न, लोकप्रिय दूसरे महाकवि हैं। आप उत्तर कर्नाटक के निवासी हैं। 'नादलीले', 'गरि', 'गंगावतरण' आदि आपकी कविताओं के संग्रह हैं। अगर पुट्टप्पाजी की भाषा संस्कृतनिष्ठ है तो बेंद्रे की भाषा अपने प्रदेश की बोलचाल की भाषा की छटा लिये हुए भी सरस व धारा-प्रवाह है। आप की आरंभिक रचनाओं में एक ओर देश की परतंत्रता, दरिद्रता का, दूसरी ओर भारत के गत वैभव का मार्मिक चित्र मिलता है। 'मूवत्तुमूरुकोटि' तोत्तिन चील, 'गंगावतरण' आप की अमर काव्य रचनायें हैं। आगे चलकर बेंद्रे की विचार धारा कुछ कुछ दार्शनिक बनती गई है और योगी अरविंद की आध्यात्मिक विचार-धारा से प्रभावित हुई है। आप जिस तरह लोकप्रिय कवि हैं, उसी तरह उच्च कोटि के विद्वान, गद्य लेखक और समालोचक हैं। आधुनिक कन्नड के अन्य कवियों में पी० टी० नरसिंहाचार, वी० सीतारामय्या, जी० पी० राजरत्नं, गोकाक, गोपाल कृष्ण अडिग, कडंगोडलु शंकर भट्ट, दिनकर देसाई, जी० वासुदेव राव, आर० एककुंडि, वेटगेरि कृष्ण शर्मा, शिवरुद्रप्प, चन्नवीर कवणी, एच० नारायण राव, 'राघव' के नाम उल्लेखनीय हैं। वी० सीतारामय्या, (वी० सी०) का कन्नड साहित्य में अपना अलग ही स्थान है। आप की कविताओं में विद्वत्ता, भावोन्मेष, नाद-लहरी का संगम है। 'गीतेगलु' 'दीपगलु' 'नेललु बेलकु' 'दाक्षिदालिंबे' आप की कविताओं के संग्रह हैं। पी० टी० नरसिंहाचार अपनी अनूठी सूझ तथा सामाजिक चित्र उपस्थित करने की कुशलता के लिये प्रसिद्ध हैं। आपकी रचनायें हैं—'मांदलिरु' 'हणते'। जी० पी० राजरत्नं अपनी कलम के धनी हैं। ऐसी कोई साहित्य की शाखा नहीं है जिसमें आपने अपना जौहर न दिखाया हो। 'रत्नपदगलु' नामक कविता संग्रह द्वारा जी० पी० राजरत्न का नाम कर्नाटक के घर घर में फैला। 'हेण्डकुडुकरत्न' (पीनेवाला रत्न) उनकी ऐसी ही कविता है, जैसी कि हिंदी में श्री बच्चन की कवितायें हैं। राजरत्नं कवि ही नहीं नाटककार हैं, शिशु साहित्य निर्माता हैं, बौद्ध और जैन धर्म संबंधी साहित्य के मर्मज्ञ हैं। श्री टी० एन० श्री कण्ठय्या यद्यपि प्रधानतया भाषा-विज्ञान के विद्वान हैं और आलोचक हैं, फिर भी 'ओलुमे' नामक कविता संग्रह आपकी सहृदयता का द्योतक है। शंकर भट्ट के 'हण्णुगलु', 'नल्मे' गोकाक के 'पयण', समुद्रगीतेगलु, मधुर चेन्न का "नल्ल" सुंदर रचनायें हैं। उपर्युक्त कवियों के अतिरिक्त अनगिनत नवयुवक कवि कन्नड की आराधना में संलग्न हैं जिनसे कन्नड को बड़ी बड़ी आशायें हैं।

कथा-साहित्य

कन्नड भाषा-भाषी कहानी सुनाने की कला से अपरिचित हैं, ऐसी बात नहीं है, क्योंकि कन्नड के प्राचीन साहित्य में रोचक कहानियाँ भरी पड़ी हैं। लेकिन वर्तमान कथा

साहित्य आधुनिक युग की ही देन है। उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम दशक में मराठी, बंगला, तेलुगू के उपन्यासों के अनुवाद के द्वारा कन्नड में उपन्यास लिखने का क्रम चल पड़ता है। मैसूर के बी० वेंकटाचार ने बंगाल के बंकिमचंद्र के कई उपन्यासों का बड़ी सफलता के साथ अनुवाद किया, जो कर्नाटक भरमें बड़े चाव से पढ़े जाने लगे। बंकिम के दुर्गेशनंदिनी, विषवृक्ष, आनंदमठ, देवी चौधरानी, कोहिनूर आदि उपन्यासों का घर घर में प्रचार हुआ। लगभग इसी समय उत्तर कर्नाटक (हावेरी) के गलानाथ वेंकटेश तिरको कुलकर्णी ने मराठी के उपन्यासों का अनुवाद उपस्थित किया जिनमें राणी मृणालिनी, कमल कुमारी, लक्ष्मीबाई, मराठर अभ्युदय, शिवप्रभुविन पुण्य, गृह कलह, प्रबुद्ध पद्मनयन, राणा राजसिंह, छत्रपति शिवाजी उल्लेखनीय हैं। गलगनाथ ने "माधव करुण विलास", "कुमुदिनी" नामक दो-एक मौलिक उपन्यास भी लिखे। "माधव करुण विलास" कन्नड का सर्वप्रथम बृहत् ऐतिहासिक उपन्यास है जिसमें बिजयनगर साम्राज्य के निर्माता गुरु विद्यारण्य और उनके शिष्य हरिहर और बुक्क के असाधारण चरित्रों के सुंदर चित्र खींचे गये हैं। इसी काल में और दो प्रसिद्ध उपन्यास लेखक हुए—मैसूर के एम० एस० पुट्टण्ण और उत्तर कर्नाटक के केरूर वासुदेवाचार। ये दोनों पत्र-संपादक, नाटककार, गद्य लेखक और उपन्यासकार थे। और प्रत्येक ने पचास से ज्यादा ग्रंथ रचकर कन्नड की श्रीवृद्धि में योग दिया। वासुदेवाचार ने सबसे पहले शिक्षा की समस्या पर 'इंदिरा' नामक एक सामाजिक उपन्यास लिखा साथ ही उन्होंने 'शेरलाक होम्स' का बड़ी सफलता से अनुवाद किया। उनका दूसरा ऐतिहासिक उपन्यास "यदुमहाराज" भी बहुत लोकप्रिय हुआ। एम० एस० पुट्टण्ण एक प्रतिभासंपन्न पुरुष थे। उनके दो उपन्यास 'माडिदुण्णो महाराय' (किये का फल पाओ) 'मुसुकुतेगिये मायांगने' (परदा हटाओ मायांगने !) क्रमशः १९११ तथा १९२८ में प्रकाशित हुए। ये दोनों उच्चकोटि के सामाजिक उपन्यास हैं। पुट्टण्ण की ओजपूर्ण गद्य शैली पढ़कर उस समय के नवयुवक कन्नड की तरफ आकृष्ट हुए।

'श्रीनिवास' (मास्ति वेंकटेश अय्यंगार) ने 'सुब्बण्ण' नामक एक छोटा-सा सामाजिक उपन्यास लिखकर कन्नड के उपन्यास-क्षेत्र में एक नूतन युग का निर्माण किया। वस्तु-विधान, चरित्र-चित्रण, रस निरूपण की दृष्टि से 'सुब्बण्ण' एक उच्चकोटि का उपन्यास है। यद्यपि श्रीनिवास ने कहानियाँ बराबर लिखीं तो भी सुब्बण्ण के बाद बहुत दिन तक उपन्यास लिखने की ओर ध्यान नहीं दिया। लगभग पंद्रह वर्ष के उपरांत उनका एक बृहत् ऐतिहासिक उपन्यास "चेन्नबसव नायक" प्रकाशित हुआ है। वर्तमान युग के दूसरे उपन्यासकारों में कुवेंपु (के० वी० पुट्टप्प), शिवराम कारंत, अ० न० कृष्णराव, गोकाक सर्वश्रेष्ठ हैं। पुट्टप्पाजी का "कानूर सुब्बम्म हेग्गडिति" एक बड़ा उपन्यास है, जिसमें मलनाडु (पर्वतप्रदेश) के लोगों के जीवन का मनोहर चित्र उपस्थित किया गया है। शिवराम कारंत के आधे दर्जन से अधिक उपन्यास प्रकाशित हुए हैं, जिनमें 'चोमन दुडि', 'मरलि मण्णिगे', 'औदार्यद उरुलिनल्लि' सर्वोत्तम है। चोमन दुडि में हरिजन समस्या की मार्मिक अलोचना हुई है। 'मरलिमण्णिगे' पर्ल बक की 'गुड अर्थ' के आधार पर रचा गया है। अनुवाद होने पर भी यह मौलिक उपन्यास-सा ही लगता है। गोकाक का "इज्जोडु" कई दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। उपन्यासों की संख्या की दृष्टि से अ० न० कृष्णराव ने अब तक के सब

लेखकों को मात ही कर दिया है। उनकी रचनाओं में से 'साहित्यरत्न', नटसार्वभौम' संध्याराग, नग्नसत्य, शनिसंतान, संजेगत्तलु उल्लेखनीय हैं। अ० न० कृ० प्रगतिशील साहित्यकारों के अगुआ हैं और बड़े प्रतिभा-संपन्न कलाकार हैं। समाज के नग्न चित्र उपस्थित करने के कारण रावजी की कृतियाँ बाजार में खूब खपती हैं, लेकिन धीरे धीरे समाज के सुसंस्कृत जन समुदाय में उनकी ख्याति आजकल घटती जा रही है। त० रा० सु०, अ० न० कृष्णराव की श्रेणी के लेखक हैं, जिनके कई सामाजिक उपन्यास प्रकाशित हुए हैं। हाल ही में आपका एक उपन्यास छपा है जिसका नाम "मसणद हूवु" है। इस उपन्यास की प्रधान समस्या वेश्यावृत्ति है। मिर्जि अण्णाराय का 'निसर्ग', बसवराज कट्टिमनि का "ज्वालामुखी", चदुररंग का "सर्वमंगल", के० शंकर भट्ट का "धूमकेतु" देउडु का "अंतरंग" आदि उत्तम रचनायें हैं।

कन्नड में कहानी की जितनी वृद्धि हुई है उतनी और किसी शाखा की नहीं हुई है। कन्नड के ऐसे कोई कवि नहीं, लेखक नहीं, पत्रकार नहीं जो कहानियाँ नहीं लिखते हों। ऐसी कोई पत्रिका शायद ही मिले जिसमें कहानियाँ नहीं छपती हों। कहानी साहित्य परि-माण की दृष्टि से नहीं किंतु कला की दृष्टि से भी उत्तरोत्तर उन्नति कर रहा है। आधुनिक काल के पूर्वार्ध में बहुतों ने कहानियां लिखना शुरू कर दिया था। ऐसे कहानीकारों में एम० एन० कामत, श्रीपति, एस० जी० शास्त्री, नवरत्न राम राव प्रमुख हैं। लेकिन आधुनिक कन्नड की कहानी के विकसित रूप के प्रवर्तक होने का श्रेय मास्ति वेंकटेश अय्यंगर जी को जो "श्रीनिवास" के नाम से कर्नाटक में मशहूर हैं, मिलना चाहिये। कहानियों की संख्या की दृष्टि से भी उनके मुकाबले का कन्नड में दूसरा कोई लेखक शायद ही मिले। श्रीनिवास की पहली कहानी "रंगप्पन मदुवे" मधुरवाणी नामक पत्रिका में छपी। इस कहानी ने कन्नड भाषा-भाषियों पर जादू का काम किया। नवयुवक लेखकों का ध्यान शीघ्र ही इस ओर आकर्षित हुआ और उसके बाद सर्वत्र ही कहानियों की धूम मची। श्रीनिवास की करीब एक सौ कहानियाँ—"सण्ण कथेगळु" शीर्षक पर अब तक छप चुकी हैं। भाषा की सरलता व सरसता, पात्र-निरूपण कुशलता, उच्च आदर्श-प्रियता मास्ति की कला की विशेषता है। आपने अपनी कुछ कहानियों का अंग्रेजी में अनुवाद करके प्रकाशित किया है। कई एक कहानियाँ तमिल और हिंदी में अनुवादित हुई हैं। मास्ति की शैली का कितने ही नवयुवक लेखकों ने अनुकरण किया है जिनमें आनंद, के० गोपालकृष्ण राव, भारतीप्रिय श्रीगोरूरु राम स्वामी अग्रगण्य हैं। आनंद के तीन कहानी संग्रह—माटगाति, चंद्रग्रहण, बेबुबेळ्ळ प्रकाशित हुए हैं। आपकी कहानियों में शिष्ट शृंगार की विमल छटा सर्वत्र ही देखने को मिलती है। अन्य कहानी लेखकों में अ० न० कृष्णराव, आनंदकंद, के० वी० पुट्टप्प, गोरूरराम स्वामय्यं-गार, शिवराम कारंत, चुटुकि आदि कितने ही ऐसे हैं, जिनकी लेखनी काफी शक्तिशाली है। सामाजिक कुरीतियों की मार्मिक आलोचना शिवराम कारंत जी बड़ी निर्भीकता के साथ करते हैं। अ० न० कृष्णराव की कहानियाँ उसी तरह पढ़ी जाती हैं, जिस तरह उनके उपन्यास पढ़े जाते हैं। विविध कहानीकारों की कृतियों का संग्रह 'कामन बिल्लु' के नाम से आप ही ने सबसे पहले प्रकाशित किया। 'कथांजलि' पत्रिका का भी आपने कुछ दिनों तक संपादन किया। आनंदकंद की कहानियों में अगर उत्तर कर्नाटक के सामाजिक

जीवन का हृदयहारी चित्र उपस्थित होता है, तो गोरूर स्वामी अय्यंगार जी की मधुर हास्यरसपूर्ण कहानियों में मैसूर के ग्रामीण लोगों के जीवन-सौंदर्य की झलक मिलती है। यद्यपि कन्नड की कहानी-कला का विकास पाश्चात्य कहानी-कला से स्फूर्ति पाकर ही होता है, फिर भी कन्नड की कहानियों में भारतीय जीवनादर्श सर्वत्र लक्षित होता है। आजकल कन्नड में विविध प्रकार की कहानियाँ जैसी कि सामाजिक, राजनैयिक, मनोवैज्ञानिक, पौराणिक—काफ़ी संख्या में पाई जाती हैं। भाषा के बारे में इतना कहा जा सकता है कि कहानियों की वृद्धि के साथ साथ कन्नड का शब्द-भंडार काफी समृद्ध बना है और उसकी अभिव्यंजना-शक्ति की भी आशातीत उन्नति हुई है। इस प्रकार कन्नड का आधुनिक कथा-साहित्य प्रत्येक दृष्टि से महान है।

नाटक साहित्य और रंगमंच

जिस तरह हिंदी के नाटक साहित्य और रंगमंच का अविकसित मूल रूप रामलीला, कृष्णलीला, रसधारी कंपनियों के रूप में पाया जाता है, उसी तरह कन्नड के नाटक साहित्य और रंगमंच का मूल रूप 'यक्षगान' 'बयलाट' 'तालमद्दले' के रूप में प्राप्त होता है। इन यक्षगान, बयलाट आदि के रूप में कर्नाटक के गाँव में अति प्राचीनकाल से पौराणिक कथाओं का अभिनय करने की प्रथा चली आई है। इस प्रकार के अविकसित रंगमंच के लिये लिखे गये नाटक पद्य में ही पाये जाते हैं। इन यक्ष गानों के अतिरिक्त कन्नड के प्राचीन साहित्य में ऐसे नाटक नहीं पाये जाते जिनमें नाटक साहित्य के तत्वों का निरूपण हुआ हो। आधुनिक नाटकों का आरंभ संस्कृत नाटकों के अनुवाद के साथ होता है। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में मैसूर के दरबारी कवियों ने तत्कालीन महाराजा से स्फूर्ति पाकर संस्कृत के प्रसिद्ध नाटकों का कन्नड में अनुवाद करना प्रारंभ किया। इन अनुवादकों में बसप्प शास्त्री, नंजन गूडु श्रीकण्ठशास्त्री, गहणि कृष्णचार्य, रामशेष शास्त्री, अनंतनारायण शास्त्री, कवितिलक अय्य शास्त्री के नाम उल्लेखनीय हैं। इस समय अनुवादित नाटकों में उत्तर रामचरित, रत्नावली, वेणीसंहार, विक्रमोर्वशीय, मुद्राराक्षस, नागानंद, मृच्छकटिक, हरिश्चंद्र, शाकुंतल, आदि मुख्य हैं। अनुवाद करने की कला में बसप्प शास्त्री ने तो इतनी प्रसिद्धि पाई कि तत्कालीन महाराजा ने उन्हें "अभिनव कालिदास' की उपाधि देकर पुरस्कृत किया। धारवाड के चुरमुरि तथा उनके कुछ मित्रों ने भी उत्तर रामचरित, शाकुंतल आदि नाटकों का अनुवाद किया। इस प्रकार संस्कृत नाटकों के अनुवाद की खूब धूम मची और नाटक साहित्य की ओर कन्नड भाषा भाषियों का ध्यान आकृष्ट हुआ। जैसे जैसे अंग्रेजी साहित्य का अध्ययन बढ़ने लगा, वैसे ही वैसे कन्नडिग लोग आधुनिक नाटक कला से परिचित हुए। अंग्रेजी के प्रसिद्ध नाटकों का अनुवाद होने लगा और कुछ मौलिक नाटक भी लिखे गये। साथ ही कुछ नाटक मंडलियाँ भी कायम हुईं। बेल्लावे नरहरि शास्त्री जी ने गुब्बि वीरण्णा की नाटक कंपनी के लिये कई पौराणिक और कुतूहलवर्धक सामाजिक नाटक रच कर दिये। उनके नाटकों में श्रीकृष्णलीला, रुक्मिणी-स्वयंवर, लंकादहन, कृष्ण-पारिजात, सदारमे, कबीरदास, जलंधर, बहुत प्रसिद्ध हैं। शास्त्री जी ने प्रसिद्ध सुब्बय्यनायडू की नाटक मण्डली के लिये भी कृष्णगारुडी, बसवेश्वर नाटक, शंकर विजय, आदि की रचना

की। मैसूर के श्रीकांत गौड ने अपनी एक नाटक कंपनी स्थापित की और उन्होंने स्वयं शेक्सपीयर के 'मिड समर नाइट्स ड्रीम' तथा 'मैकबेथ' का बड़ी सफलता के साथ अनुवाद किया। मद्रास के देवशिखामणि अलसिंगाचार्य ने श्रीमती परिणय, चण्ड कौशिक, और भास के सभी नाटकों का अनुवाद किया। उत्तर कर्नाटक के केरूर वासुदेवाचार्य ने न केवल कुछ अंग्रेजी के नाटकों का अनुवाद किया बल्कि कुछ मौलिक नाटक भी प्रस्तुत किये। शेकसपियर के मिड समर नाइट्स ड्रीम का "वसंतयामिनी स्वप्न चमत्कार" मर्चेंट आफ़ वेनिस का "सुरत नगरद श्रेष्ठि", रोमियों जुलियट का "रमेश ललित" और गोल्डस्मिथ का शी स्टूप्स टु कांकर का "पति वशीकरण" के शीर्षक से बड़ी सफलता के साथ अनुवाद किया। उनके मौलिक नाटकों में नलदमयंति, रुक्मिणी स्वयंवर, वाल्मिकि विजय मुख्य हैं। इन्हीं दिनों मैसूर के ए० वी० वरदाचार ने अपनी एक नाटक मंडली कायम की और सारे कर्नाटक में दौरा करके जगह जगह नाटक का अभिनय किया। उन्होंने अपनी असाधारण अभिनय-कला द्वारा कर्नाटक में नाट्यकला के प्रति विशेष रुचि पैदा की। उनके खेले गये नाटकों में निरुपमा, प्रह्लाद चरित्र, हरिश्चंद्र, रामवर्मा, लीलावती उल्लेखनीय हैं। वरदाचार की मृत्यु के उपरांत उनकी प्रसिद्ध नाटक मंडली भी बंद हो गई। वरदाचार की तरह गुब्बिवीरण्णा ने भी अपनी नाटक मंडली "गुब्बिचेन्नबसव नाटक कंपनी" के द्वारा खूब ख्याति पाई। आरंभिक दशा में वीरण्णा अपने हास्य रसपूर्ण अभिनय के लिये जिस तरह मशहूर हुए उस तरह अब नहीं हैं। इसका प्रधान कारण सिनेमा का बोलबाला ही है, इसमें संदेह नहीं है।

स्वर्गीय डी० के० भारद्वाज ने "रंगभूमि" नामक एक बड़ी ही सुंदर मासिक पत्रिका दो-तीन साल तक चलायी और नाटक कला के विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डाला। लेकिन दुर्भाग्य से यह पत्रिका बहुत दिन जीवित नहीं रह सकी।

आधुनिक कन्नड के करीब सब साहित्यकारों ने नाटक साहित्य की श्रीवृद्धि में योग दिया है। आधुनिक युग के निर्माता बी० एम० श्री कण्ठय्या (श्री) का नाम इस दिशा में सबसे पहले लिया जाता है। आप के "अश्वत्थामन" और "गदायुद्ध" १६२८–२९ द्वारा दुःखांत नाटकों का क्रम चल पड़ा। उसके बाद कई ऐतिहासिक, सामाजिक नाटक प्रकाशित हुए और कुछ अंग्रेजी तथा यूरोप की भाषाओं के नाटकों का अनुवाद भी प्रस्तुत किये गये। महाकवि के० बी० पुट्टप्प जी ने शेक्सपीयर के आधार पर क्रमशः "बिरुगालि" और "रक्ताक्षि" की रचना की, साथ ही उन्होंने 'कुरुक्षेत्र', 'यमनसोलु', 'बेरलगे कोरल्' नामक मौलिक नाटक गीतों में रचकर खूब ख्याति पाई। श्री एम० आर० श्री निवास मूर्ति ने एक ऐतिहासिक नाटक 'नागरिक' उपस्थित किया, जिसमें विजयनगर के वैभव का मार्मिक चित्र खींचा गया है। डी० वी० गुण्डप्प ने भी दो नाटक लिखे—'कनकालुका' और 'तिलोत्तमें। लेकिन इन्हें इस दिशा में ऐसी सफलता नहीं मिली, जैसी अन्य प्रकार की रचनाओं में मिली। क्योंकि डी० वी० जी० प्रधानतया कवि और समालोचक हैं। सी० के० वेंकटरामय्या जी के 'नचिकेत' तथा 'मंडोदरि' का अच्छा आदर हुआ। वी० सीतारामय्या जी के 'सुहराब रुस्तम' 'आग्रह' जी० पी० राजरत्नं के 'कंबलिसेवे', 'नरकदल्लि न्याय' पी० टी० नरसिंहाचार का गीत नाटक 'अहल्ये', एस० जी० शास्त्री का 'सूत्रदबोंवे'

अ० न० कृष्णराव के 'आदद्देनु' 'आहुति', गोमुख व्याघ्र, 'बण्णद बीसणिके' शिवरामकारंत के हेगादरेनु, 'गर्भगुडि', 'मुक्तद्वार', द्रोण कन्नड के नाटक के विकास में सहायक हुए हैं।

स्वर्गीय त्यागराज परम शिव कैलासं ने जो कि टी० पी० कैलासं के नाम से प्रसिद्ध हैं, कन्नड के नाटक साहित्य के क्षेत्र में पदार्पण करके एक नूतन युग का निर्माण किया। कैलासं ने बड़े छोटे सब मिलाकर करीब साठ नाटक रचे हैं, जिनमें अब तक कुल बीस ही प्रकाशित हो सके हैं। उनके नाटकों में 'टोल्लुगट्टि', 'वंडवालविल्लद बड़ाई'' 'होमरूल' 'गण्डस्कत्रि' 'मं कंपनी' 'बहिष्कार' 'सूले' 'नं क्लब' 'सीकरेणे सावित्री' नम्म ब्राह्मणि के' 'वैद्यन व्याधि' अत्यंत लोकप्रिय हैं। आपने 'एकलव्य' और 'कर्ण' नामक दो नाटक अंग्रेजी में भी रचे हैं।

कैलास की प्रतिभा बहुमुखी थी। वे कवि थे, नाटककार थे और उच्च कोटि के अभिनेता भी। कैलासं कई साल तक इंग्लैण्ड में रह चुके थे और अंग्रेजी भाषा व साहित्य की आधुनिक विभिन्न प्रवृत्तियों से भली भाँति परिचित थे। अंग्रेजी तथा यूरोप की नाटक कला का तो उन्हों ने विशेष अध्ययन किया था। उनके सभी नाटक सामाजिक हैं, जिनमें समाज की बुराइयों का मार्मिक चित्र खींचा गया है। उनके पात्र प्रधानतया शहर में रहनेवाले मध्यम श्रेणी के परिवारों के हैं। उनके नाटकों का प्रधान रस हास्य और करुण है, लेकिन वह ऐसा हास्य और करुण है जो व्यक्तियों, तथा समाज की त्रुटियों व बुराइयों के प्रति तीव्र व्यंग लिये रहता है। उनके नाटक देखकर लोग हँस हँस कर लोट पोट ही नहीं हो जाते, वरन् गहरी वेदना से व्याकुल भी होते हैं। जिन सामाजिक बुराइयों पर कैलासं ने व्यंग किया है, उनमें दहेजप्रथा, रिश्वतखोरी, जात पाँत का भेद-भाव, वेश्यावृत्ति, आधुनिक शिक्षा से होने वाली बुराइयाँ, गरीबों पर पैसेवालों का अनाचार आदि मुख्य हैं। कैलासं के सबके सब नाटक रंगमंच पर खेले जाने के लिये लिखे गये हैं और सफलता के साथ खेले भी जा चुके हैं। कैलासं ने अपने नाटकों द्वारा एक नूतन शैली का सूत्र-पात्र किया। साधारण बोल चाल की ऐसी भाषा जिसमें अंग्रेजी, तमिल, हिंदी, उर्दू, मराठी, आदि अन्य भाषाओं के शब्द मिले जुले रहते हैं, प्रयुक्त करके उन्होंने यह सिद्ध कर दिखाया है कि बोलचाल की भाषा भी उच्च से उच्च साहित्य के निर्माण के लिये व्यवहृत हो सकती है। कैलासं की ऐसी प्रतिभा थी कि उनके रचे हुए सभी नाटक उनकी जीभ पर ही थे और वे स्वयं अकेले ही अपने नाटक के सभी पात्रों का ऐसा अभिनय कर दिखाते थे कि उनके एक ही शरीर द्वारा सभी पात्र मूर्तिमान ही दिखाई पड़ते थे। कैलासं का नाटकाभिनय देखने के लिये सब कहीं ऐसी भीड़ जमती थी मानो चित्रपट की प्रसिद्ध तारिका का अभिनय हो।

कैलासं की शैली का अनुकरण करनेवालों में पर्वत वाणी का नाम उल्लेखनीय है। लेकिन कैलासं की तुलना में दूसरों के नाटक फीके ही लगते हैं।

अंग्रेजी साहित्य से प्रभावित होकर कन्नड में एकांकी नाटक रचने का क्रम चल पड़ा। लगभग सन् १६८० में सिंगरार्य नामक कवि की लिखी एक ही नाटिका प्राचीन कन्नड साहित्य में पाई जाती है, लेकिन उसमें एकांकी नाटक के सब गुण नहीं पाये जाते। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में संस्कृत नाटकों का अनुवाद तो जोरों से हुआ, किंतु उस

समय एकांकी नाटक नहीं रचे गये। इधर बीस-तीस सालों से एकांकी नाटक लिखने की कला का खूब विकास हुआ। सन् १९११ में 'शांता' नामक सर्व प्रथम एकांकी नाटक का प्रकाशन हुआ। सन् १९२६ में कन्नड के प्रसिद्ध कवि कुवेंपु (के. वी. पुट्टप्प) के तीन गीत नाटक यमन सोलु, जलगार, नन्नगोपाल प्रकाशित हुए। मैसूर विश्वविद्यालय के कालेजों में विद्यार्थियों ने इन नाटकों का सफलता के साथ अभिनय किया और जनता में इन नाटकों की खूब प्रसिद्धि हुई। मंगलोर में श्री एम० एन० कामत ने स्कूलों के वार्षिकोत्सव के अवसर पर खेले जाने के लिये कुछ एकांकी नाटकों की रचना की। कन्नड में एकांकी नाटकों का सर्व प्रथम संग्रह सन् १९३७ में प्रकाशित हुआ। इन्हीं दिनों श्रीकृष्णकुमार का "हालगण्ड" श्री अ० न० कृष्णराव का "आददेनु" श्री राजरत्नं का "गण्डुगोड्लि" प्रकाश में आये। प्रो० जहगीरदार तथा शिवराम कारंत ने भी एकांकी नाटक-रचना की ओर ध्यान दिया। सन्१९३३में श्री कारंत जी का एक संग्रह "एकांक नाटक गलु" छपा। इनकी देखा देखी सन् १९३५ में मंगलूर की मित्रमण्डली की ओर से "संसार" शीर्षक एक संग्रह प्रस्तुत किया गया। "कोल्मिचु" नामक एक और संग्रह, जिसमें अनेक लेखकों की रचनायें सम्मिलित हैं, काफी लोकप्रिय हुआ। उसके उपरांत कन्नड के महाकवि श्री द० रा० बेंद्रे जी के एकांकी नाटकों का संग्रह 'हुच्याटगलु', एन०के० कुलकर्णी का "नडुमनेयल्लि" अ०न० कृष्णराव का "बण्णद वीसणिके" स्वर्गीय पेजावर सदाशिव का "सरपणि" आदि कई संग्रह प्रकाशित हुए, जिनकी कर्नाटक में काफी प्रशंसा हुई। शिवराम कारंत ने प्रायोगिक तौर पर "यारो अंदरु" 'बदुकबहुदु' 'किसा गोतमी' नामक तीन गीत नाटक रचे जो बहुत ही पसंद किये गये। श्री संस का "बिरुदेंतेंबरगण्ड" बिगड विक्रमराय, के० गोपाल कृष्णराव का "रुग्णशैय्ये" अ० न० कृष्णराव का 'अनुग्रह' काफी सुंदर ऐतिहासिक एकांकी नाटक हैं। सामाजिक एकांकी नाटकों में "कन्यार्थी", "कवि कुटीर" "अतिथिदेवरु" "गुबबाचिगूड" "धर्म संकट" उल्लेखनीय हैं। कैलासं, कारंत, जहगीरदार, बेंद्रे उन नाटककारों में प्रधान हैं, जो हास्यरस की व्यंजना के साथ साथ समाज की बुराइयों का मार्मिक चित्र खींचने में सिद्धहस्त हैं। श्री एन० कस्तूरि चि० वासुदेवय्या आदि ने भी सुंदर एकांकी नाटक रचे हैं। इस प्रकार, कन्नड के नाटक साहित्य की आशातीत उन्नति हो रही है। लेकिन सिनेमाघरों की वृद्धि के कारण कन्नड के रंगमंच के विकास में बड़ी बाधा उपस्थित हुई है।

समालोचना

आधुनिक कन्नड साहित्य के आरंभिक काल में कन्नड साहित्य के आलोचनात्मक अध्ययन के लिये जिन महानुभावों ने परिश्रम किया, उनमें मंगलोर के बासेल मिशन के पादरी रेवरेंड एफ० किट्टल, मैसूर प्राच्य विभाग के अधिकारी मि० बी० एल० रैस, आर० नरसिंहाचार, एस० जी० नरसिंहाचार्य के नाम आदर के साथ लिये जाते हैं। यद्यपि आर० नरसिंहाचार के 'कर्नाटक कवि चरिते' में वर्तमान आलोचना-सिद्धांतों के आधार पर विचार नहीं किया गया है, तो भी इस महान् ग्रंथ के द्वारा कन्नड में कवि और काव्य की आलोचना का मार्ग अवश्य ही प्रशस्त हुआ। अंग्रेजी तथा प्राचीन संस्कृत-काव्य शास्त्र का अध्ययन करके कन्नड में आलोचना साहित्य के लिये निश्चित मार्ग-दर्शन करनेवालों में

श्री० डी० वी० गुण्डप्प, मास्तिवेंकटेश अय्यंगार, ए० आर० कृष्ण शास्त्री प्रमुख हैं। डी० वी० गुण्डप्प के "जीवन सौंदर्य मत्तु साहित्य" और "साहित्य शक्ति" में आचलोना की शास्त्रीय पद्धति का निरूपण हुआ है। मास्तिजी के आलोचनात्मक लेखों का संग्रह "विमर्शे" नामक ग्रंथ चार भागों में प्रकाशित हुआ है। मास्तिजी ने न केवल पाश्चात्य कवियों, लेखकों व साधुओं के बारे में सुंदर लेख उपस्थित किये हैं, बल्कि मुद्ण के रामाश्वमेध, वैष्णवदासों के कीर्तन, कर्नाटक के ग्राम्यगीत आदि कितने ही विषयों की मार्मिक आलोचना की है। डी० वी० गुण्डप्प और मास्ति की उपर्युक्त पुस्तकें आजकल भी विश्वविद्यालय की उच्च परीक्षार्थों के लिये पाठ्य-पुस्तकों के रूप में रखी जाती हैं। प्रो० ए० आर० कृष्ण शास्त्री ने "प्रबुद्धकर्नाटक" पत्रिका के द्वारा कन्नड में आलोचना की नूतन पद्धति का प्रचलन किया और नवयुवकों तथा उदीयमान कवियों का ध्यान इस ओर आकृष्ट किया। उनके विद्वत्तापूर्ण लेखों का संग्रह "भाषणगलु मत्तु लेखनगलु" दो भागों में प्रकाशित हुआ है। डा० ए० वेंकट सुब्बय्या तथा मंजेश्वर गोविंद पैने अपने गंभीर अध्ययन के फलस्वरूप कन्नड के प्राचीन कवियों तथा काव्य ग्रंथों के काल, वस्तु-निरूपण, भाषा-स्वरूप आदि बिषयों पर विद्वत्तापूर्ण लेख लिख कर कन्नड में आलोचना व खोज संबंधी साहित्य के निर्माण में योग दिया है। प्रो० बी० एम० श्रीकण्ठय्या (श्री) प्रो० वेंकण्णय्या, प्रो० ए० आर० शास्त्री जी के उद्योग के फलस्वरूप मैसूर विश्वविद्यालय की ओर से "रन्नकवि प्रशस्ति" "कुमार व्यास प्रशस्ति" आदि कन्नड के महाकवियों पर बड़े ही सुंदर ग्रंथ प्रस्तुत किये गये हैं। चिकमगलूर कर्नाटक संघ की ओर से "कवि लक्ष्मीश" नामक एक आलोचना ग्रंथ प्रकाशित हुआ है, जिसमें चौदह प्रसिद्ध विद्वानों के लेख संग्रहीत हुए हैं। मंगलोर के पंडित मुलिम तिम्मप्पय्या जी का पम्प कवि पर "नाडोज पंप" नामक ग्रंथ अपने ढंग का अनूठा है। धारवाड़ के पी० जी० हलगट्टि, आर० आर० दिवाकर बेंगलोर के एम० आर० श्री निवासमूर्ति जी ने क्रमशः 'वचनशास्त्र सार', वचनशास्त्र रहस्य' तथा 'वचन धर्म सार' नामक रचनाओं के द्वारा वीरशैव भक्त कवियों व उनके वचनों के संबंध मैं विस्तृत अध्ययन उपस्थित किया और बहुत सी बिखरी बातों का संकलन किया। चेन्नप्प उत्तंगि ने सत्रहवीं शताब्दी के लोकप्रिय कवि "सर्वज्ञ" की भाषा, शैली, साहित्य सौष्ठव का विस्तार के साथ विचार किया। कन्नड के महाकवि पुट्टप्प और बेंद्रे के "काव्य विहार", "तपोनंदन", साहित्य संशोधन", साहित्य मत्तु विमर्शे" कन्नड के आलोचना साहित्य के व्यापक व विकसित स्वरूप के परिचायक हैं। प्रो० टी० एन० श्री कण्ठय्या का "काव्य समीक्षे" एक उच्चकोटि का आलोचना ग्रंथ है। कट्टि शेषाचार का "कवि कनकदासरु" के० जी० कुंदणगार का "महादेवियक्क" गोकाक का "साहित्य प्रगति" सी० के० वेंकटरामय्या का "भासमहाकवि" श्री ए० पी० करमरकर और कलमदानी का 'दी मिस्टिक टीचिंग्स आफ दी हरिदासाज़ आफ करनाटक' आदि रचनायें आलोचना साहित्य में महत्वपूर्ण स्थान रखती हैं। पिछले दशक में दो अभिनंदन ग्रंथों का प्रकाशन हुआ। एक आधुनिक कन्नड के निर्माता बी० एम० श्रीकण्ठय्या जी की अट्ठावन वर्षगांठ के अवसर पर समर्पित हुआ, जिसमें कर्नाटक भर के प्रसिद्ध विद्वानों के लगभग सौ विद्वत्तापूर्ण लेख छपे हैं; दूसरा 'धर्मस्थल' नामक तीर्थस्थान के महंत धर्मस्थल

मंजय्या हेग्गडे को समर्पित, 'संभावने' ग्रंथ है, जिसमें कन्नड साहित्य, संस्कृति, कला पर विद्वानों के महत्वपूर्ण लेखों का संग्रह किया गया है। श्री जी० पी० राजरत्नं का "पुरुष सरस्वति" और श्री अ० न० कृष्ण राव का "कन्नड कुल रसिकरु" अपने ढंग की अनूठी रचनायें हैं। धारवाड के विद्यावर्धक संघ के प्रधान तथा प्रसिद्ध विद्वान आर० एस० पंचमुखी का लिखा हुआ "हरिदास साहित्य" कन्नड साहित्य परिषद् की ओर से प्रकाशित हुआ है, जिसमें कर्नाटक के समस्त वैष्णव भक्त कवियों की कृतियों पर खोजपूर्ण अध्ययन उपस्थित किया गया है। कन्नड के आधुनिक कवियों तथा लेखकों पर भी कुछ आलोचना ग्रंथ लिखे गए हैं, जिनमें प्रसिद्ध कवि के० वी० पुट्टप्प पर "कवि कुवेंपु" द० रा० बेंद्रे पर नादलोल अम्बिकातनयदत्त, उपन्यासकार अ० न० कृष्णराव तथा शिवराम कारंत पर क्रमशः "अ० न० कृष्णरावदर्शन" और "कारंतरकादम्बरिगलु" युग प्रवर्तक नाटककार कैलास पर "कैलासं दर्शन" उल्लेखनीय हैं। पत्र-पत्रिकाओं में समय समय पर प्राचीन व आधुनिक कवि और काव्य पर लेख प्रकाशित होते रहते हैं। शि० शि० बसवनाल, डी० एल० नरसिंहाचार, टी० एन० श्रीकण्ठय्या, आर० एस० मुगुलि, प्रो० नंदी मठ, के० वेंकटरामप्पा देउडु नरसिंह शास्त्री, बी० जी० कुलकर्णी, एन० अनंतरंगाचार, एम० आर० श्रीनिवास मूर्ति, डी० के० भीमसेन राव आदि कितने ही विद्वान हैं, जो कन्नड भाषा, साहित्य, कला के उत्तम आलोचक माने जाते हैं।

आर० नरसिंहाचार ने अपने ग्रंथ में कन्नड भाषा की उत्पत्ति, उसके विकास और स्वरूप पर बड़ी विद्वत्ता के साथ विचार किया है। साथ ही उन्होंने कन्नड की तुलना अन्य द्राविड भाषाओं के साथ की है। कन्नड भाषा की उत्पत्ति पर धारवाड के शं० भा० जोशी ने "कन्नडनुडिय हुट्टु" "कन्नडद नेले" नामक दो पुस्तकें लिखी हैं, जिनके द्वारा कन्नड भाषा के इतिहास पर पर्याप्त प्रकाश पड़ा है। स्वर्गीय डा० एम० एच० कृष्ण ने कन्नड लिपि के बारे में शोध करके उसकी प्राचीनता सिद्ध करके दिखाया है।

सन् १९०४ में प्रकाशित रे० एफ० किट्टल का 'कन्नड अंग्रेजी कोश, ही अब तक प्रकाशित कोशों में सब से बड़ा और महत्वपूर्ण है। इसी कोश का एक संक्षिप्त संस्करण पाठशालाओं के उपयोगार्थ बासेल मिशन की तरफ से प्रकाशित हुआ है। मैसूर विश्व-विद्यालय की ओर से सन् १९४७ में करीब १५०० पृष्ठों का अंग्रेजी-कन्नड का एक महाकोश प्रकाशित हुआ जिसका संपादन कन्नड के प्रसिद्ध विद्वान बी० वेंकटनारणप्प, प्रो० बी० एम० श्रीकंठय्या, एम० आर० श्रीनिवास मूर्ति, डी० वी० गुंडप्प, प्रो० टी० एस० वेंकण्णय्या, प्रो० ए० आर० कृष्णशास्त्री आदि ने किया है। कन्नड का एक बृहत् कोश लिखने का कार्य कन्नड साहित्य परिषद् की ओर से चल रहा है। इस कार्य के लिये मैसूर सरकार ने एक लाख रुपये की सहायता मंजूर की है। इन उपर्युक्त कोशों के अतिरिक्त स्वर्गीय डी० के० भारध्वाज तथा शिवराम कारंत ने क्रमशः कन्नड-अंग्रेजी तथा कन्नड-कन्नड कोश तैयार किया है, जिनका पाठशालाओं में खूब प्रचलन है। श्री ना० कस्तूरि का "अनर्थ कोश" जिसमें शब्दों के विकृतार्थ का वर्णन किया गया है, अपने ढंग का अनूठा कोश है।

प्राचीन कन्नड साहित्य में संस्कृत ग्रंथों के आधार पर छंद, रस, अलंकार, व्याकरण पर कितने ही बड़े बड़े ग्रंथ लिखे गये थे। लेकिन आधुनिक काल में इस दिशा में कोई

उल्लेखनीय कार्य नहीं हुआ है। पर हाँ, प्राचीन ग्रंथों का संपादन व प्रकाशन करने का कार्य काफी चला है। केशिराज का "शब्दमणि दर्पण" नृपतुंग का "कविराज मार्ग", नागवर्म का "काव्यालोकन" आदि ग्रंथों का संपादन हुआ है। मैसूर विश्वविद्यालय की तरफ से प्रकाशित "कन्नड कैपिडि" एक ऐसा ग्रंथ है जिसमें प्राचीन कन्नड के व्याकरण, अलंकार भाषा तथा साहित्य का परिचय दिया गया है। इस ग्रंथ से प्राचीन कन्नड के काव्यों के अध्ययन में बड़ी सहायता मिली है। पाठशालाओं के उपयोगार्थ कई एक व्याकरण, छंद, रस, अलंकार संबंधी पुस्तकें भी छपी हैं।

पत्र-पत्रिकाएँ

आधुनिक कन्नड साहित्य की प्रगति में सामयिक साहित्य का बड़ा हाथ है। कन्नड में पहली पत्रिका चलाने का श्रेय मंगलोर के बासेल मिशन के पादरियों को है। सन् १८५६ में बासेल मिशन ने प्रेस की स्थापना की और ईसाई धर्म के प्रचार के लिये "कन्नड वार्तिक" नामक एक पत्रिका चलाने का प्रबंध किया। जैसे जैसे अंग्रेजी शिक्षा का प्रचार बढ़ता गया, छापाखानों की वृद्धि होती गई वैसे ही वैसे कन्नड में मंगलोर, धारवाड़, मैसूर जैसे प्रधान शहरों से कितनी ही पत्रिकाओं का संपादन होने लगा। सन् १८६५ में बेंगलोर में विचार दर्पण प्रेस स्थापित हुआ, जिसके द्वारा मैसूर में बहुत से समाचार पत्रों के प्रकाशन के लिये बड़ी सहायता मिली। सन् १८८३ में एम० एस० पुट्टण्ण ने "हित बोधिनी" नामक पत्रिका शुरू की जो पत्र-संपादन कला के विकास के लिये प्रेरक शक्ति बनी। थोड़े ही समय के उपरांत इस पत्रिका का संपादन मैसूर के एम० वेंकट कृष्णय्या ने अपने हाथ में लिया। वेंकट कृष्णय्या एक उच्चकोटि के विचारक, समाज सुधारक तथा राजनीतिज्ञ थे। इसके पहले पत्रिकाएँ चलाने का उद्देश्य तिलस्मी कहानियाँ छाप कर लोगों का मनोरंजन करना ही रहता था। किंतु वेंकट कृष्णय्या ने अपनी पत्रिका को साहित्य, राजनीति समाज सुधार संबंधी समस्याओं पर चर्चा चलाने का माध्यम बनाया। करीब इन्हीं दिनों उडुपि में 'सुदर्शन' (१८८६) नामक मासिक पत्रिका शुरू हुई और मैसूर में एम० रामानुजय्यंगार तथा एस० जी० नरसिंहाचार ने मिलकर "आर्यमत संजीविनी" तथा "कर्नाटक काव्य मंजरी" नामक ग्रंथ मालाएँ चलाना शुरू किया। आगे चल कर 'कर्नाटक काव्य मंजरी' "कर्नाटक काव्य कला निधि" के नाम से परिवर्तित रूप में निकलने लगी। एम० ए० रामनुजय्यंगार ने लगभग ६० ग्रंथों का प्रकाशन उक्त पत्रिका के द्वारा कराया और कन्नड का साहित्य भण्डार समृद्ध बनाने में महत्वपूर्ण कार्य किया। मंगलोर से बेनगल रामराव ने सन् १८६० में "सुवासिनी" पत्रिका प्रकाशित करना शुरू किया। उन्होंने अपनी पत्रिका के उद्देश्य का जो स्पष्टीकरण किया था वह ध्यान देने योग्य है। इसी साल धारवाड में कर्नाटक विद्यावर्धक संघ की स्थापना हुई और संघ की तरफ से "वाग्भूषण" नामक पत्रिका प्रकाशित की गई। इसी दशक में मैसूर से "विवेकोदय" उत्तर कर्नाटक से "सद्गुरु" "सद्बोध चंद्रिके", "धनुर्धारी" (हर्डेकरमंजप्प) सन् १६१२ में "मधुर वाणी" (के० हनुमंतदास) और उडुपि से "श्रीकृष्णसूक्ति" (राजगोपालकृष्ण राव) आदि बहुत सी पत्रिकाएँ निकलने लगीं। इन पत्रिकाओं में न केवल सामाजिक समस्याओं की चर्चा होने

लगी, बल्कि नूतन साहित्य की सृष्टि के लिये प्रेरणा मिली। एम० वेंकट कृष्णय्या जी ने, जो 'मैसूर के वृद्ध पितामह' के नाम से प्रसिद्ध थे, तीन पत्रिकाओं का संपादन भी किया—'संपदभ्युदय', 'साध्वी' और अंग्रेजी में मैसूर पत्रिका। इन पत्रिकाओं के द्वारा स्वतंत्रता, अच्छी सरकार की आवश्यकता, देश की आर्थिक व सामाजिक समस्यायें आदि पर निर्भीकता के साथ चर्चा चलाई। सन् १९१९ के देशव्यापी असहयोग आंदोलन से जनता में नई जागृति पैदा हुई, जो इन पत्रिकाओं में प्रतिबिम्बित हुई। इस जागृति की ज्योति को बनाये रखने के लिये कर्नाटक में अनेक स्थानों से विविध प्रकार की पत्रिकाएँ—त्रैमासिक, मासिक, साप्ताहिक दैनिक निकलने लगीं। सन् १९२१ में लगभग ६६ पत्रिकाएं प्रकाशित हो रही थीं और इसके पहले लगभग ५७ पत्रिकाएं जन्म लेकर मर गई थीं।[1] प्रारंभिक दशा में जिन पत्रिकाओं द्वारा कन्नड भाषा तथा साहित्य की श्रीवृद्धि में सहायता मिली, उनमें कानडा वृत्त जयकर्नाटक, कर्नाटक धुरीण, कर्मवीर, धनंजय (धारवाड से) स्वदेशाभिमानी कंठीरव (मंगलोर से) 'संपदभ्युदय' 'प्रबुद्ध-कर्नाटक', 'कन्नड साहित्य परिषद पत्रिका' (मैसूर से) विशेष उल्लेखनीय हैं। 'जयकर्नाटक' (मासिक) 'प्रबुद्ध कर्नाटक' (त्रैमासिक) कन्नड साहित्य परिषद पत्रिके (त्रैमासिक)—उच्चकोटि की पत्रिकायें थीं। इन पत्रिकाओं द्वारा एक तरफ कन्नड के प्राचीन महान ग्रंथों का परिचय मिलने लगा, दूसरी तरफ आधुनिक कन्नड में आलोचना की शास्त्रीय पद्धति के विकास की ओर ध्यान दिया गया। बेंगलोर से निकलनेवाली दैनिक पत्रिका "विश्वकर्नाटक" के संपादक टी० टी० शर्मा, धारवाड से निकलनेवाली साप्ताहिक पत्रिका कर्मवीर के संपादक आर० आर० दिवाकर (बिहार के वर्तमान गवर्नर) तथा 'कर्नाटक वृत्त' के संपादक कृष्णराव मुदवेड्कर की वीरवाणी ने न केवल जनता में राष्ट्रीय भावना की आग सुलगाये रखने में योग दिया बल्कि ओजपूर्ण गद्यशैली का सूत्रपात किया। यद्यपि 'रंगभूमि' मासिक पत्रिका तीन-चार साल तक ही जीवित रही; फिर भी उसके द्वारा नाटक, संगीत नृत्य-कला की अपार सेवा हुई।

इस तरह कन्नड की पत्र-पत्रिकाओं की उत्तरोत्तर वृद्धि हुई है। आजकल कर्नाटक में स्थान स्थान से भिन्न भिन्न विषयों पर कितनी ही पत्रिकायें निकल रही हैं। दैनिक पत्रिकाओं में तायिनाडु, प्रजावाणी, विश्वकर्नाटक, जनवाणी (बेंगलोर से) 'संयुक्तकर्नाटक' (धारावाड से) 'नवभारत' (मंगलोर से) अत्यंत लोकप्रिय हैं। साप्ताहिक पत्रिकाओं में 'प्रजामत' कर्मवीर और जग-प्रगति का कर्नाटक में सर्वत्र ही बड़ा मान है। कहानी संबंधी पत्रिकाओं में 'कतेगार' 'कथांजलि', 'कथाकुंज', 'कोरवंजी' आदि उल्लेखनीय हैं। सिनेमा, वाणिज्य-व्यापार, शोध संबंधी पत्रिकाएं भी चलाई जा रही हैं। 'चंदामामा', बालबंधु, 'मक्कलपुस्तक', 'कंद' आदि कई एक बच्चों की पत्रिकाएं भी प्रकाशित हो रही हैं।

शिशु-साहित्य

कन्नड में शिशुसाहित्य के पितामह थे पंजेमंगेशराव। मंगेशराव शिक्षक थे और मद्रास प्रांत में शिक्षकों के पर्यवेक्षक भी। बासेल मिशन के पादरियों के सहयोग से उन्होंने कन्नड में पाठशालाओं के लिये प्रारंभिक पाठ्य-पुस्तकें लिखीं जो बहुत ही लोकप्रिय हुईं।

१—कन्नड साहित्य परिषद पत्रिके—नं० ६—राज पुरोहित।

मंगेशराव उच्चकोटि के कवि थे। "कविशिष्य" के नाम से उन्होंने बहुत सी सुंदर रचनाएँ की थीं। वे बाल स्वभाव के बड़े ही पारखी थे और उनके शिशुगीत आजकल भी चाव से पढ़े और गाये जाते हैं। आपके गीतों में सर्वत्र ही मधुर-हास्ययुक्त शिक्षा पाई जाती है। मंगेशराव ने बाल-साहित्य की वृद्धि के लिये "बाल-साहित्य-मंडल" स्थापित किया, जिसकी ओर से कितनी ही सुंदर पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। मंगलोर के एम० एन० कामत का लिखा हुआ "बाल भारत" इस समय की प्रसिद्ध रचना है। आजकल बाल-साहित्य की श्रीवृद्धि में लगे हुए साहित्यिकों में के० वी० पुट्टप्प, जी० पी० राजरत्नं, दिनकर देसाई, होइसल, देवुडु नरसिंह शास्त्री, शिवराम कारंत के० किन्नरै आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। श्री देउडु नरसिंह शास्त्री का "मक्कल पुस्तक" नामक मासिकपत्र कई सालों से व्यवस्थित रूप से निकल रहा है। जी० पी० राजरत्नं के गीतों के कई संग्रह निकले हैं, जिनमें 'तुत्तूरि' 'रत्नन दोस्ति' 'कल्लुसक्करे' 'केनेहालु' मुख्य हैं। दिनकर देसाई के "टिक टिक टिक; बुरु; बुरु बुरु बुरु नोरेयण्ण" जैसे गीत उत्तर कर्नाटक के घर घर में गूंजते हैं। के० वी० पुट्टप्प का "किंदरि जोगी" जो "पाइड़पाइपर' का अनुवाद है, मैसूर के बच्चे गाने और सुनने में थकते नहीं। कन्नड में "बालप्रपंच" के नाम से 'बुक आफ नालेज' का अनुवाद (तीन भागों में) करके शिवराम कारंत ने शिशु साहित्य की अपार सेवा की है। सारे कर्नाटक के बच्चों के संगठन के लिये श्रीमती आर० कल्याणम्मा ने बेंगलोर में "अखिल कर्नाटक मक्कल कूट" की स्थापना की है जिसकी तरफ से हर साल स्थान स्थान पर बच्चों के मेले लगते हैं। उडुपि के पी० लक्ष्मण राव एंड संस की तरफ से "चोक्क मातिन कतेगलु" पुस्तक माला चलाई जाती है जो काफी लोकप्रिय है। श्री नारायण शर्मा के प्रयत्न से बच्चों के लिये रामायण महाभारत की कथाएँ बड़ी ही सरल व सरस भाषा में प्रकाशित हुई हैं। धारवाड का 'कन्नड कंद' बेंगलोर का 'नम्मपुस्तक' 'मक्कल पुस्तक' मैसूर का 'कंद' आदि कई बालोपयोगी पत्रिकाएँ चल रही हैं। "चिक्कवर कणज" 'कारंजि' नामक संस्थाएँ बच्चों की सेवा में लगी हैं। बेंगलोर के एम० रामराव ने बच्चों के उपयोगार्थ अपनी सुबोध पुस्तकमाला के अंतर्गत महापुरुषों की जीवनियाँ बड़ी ही सरल शैली में प्रकाशित की है। इसके अतिरिक्त कन्नड की कई प्रसिद्ध पत्रिकाओं में बच्चों के लिये अलग स्तंभ भी खोले गये हैं।

स्त्री लेखिकाएँ

कन्नड में स्त्री लेखिकाओंकी परंपरा काफी पुरानी है। प्राचीन कन्नड साहित्य में अक्कमहादेवी, नीलाम्बिका, कंति, होन्नम्म, गिरियम्म, आदि कितनी ही कवयित्रियों ने कन्नड माता की अमूल्य सेवा की है। आधुनिक कन्नड की सेविकाओं में नंजनगूड की तिरुमलम्मा का नाम बड़े आदर के साथ लिया जाता है। बेंगलोर की आर० कल्याणम्मा 'सरस्वती' मासिक पत्रिका का करीब बीस सालों से संपादन कर रही हैं। इस पत्रिका में कर्नाटक की स्त्रियों की समस्याओं पर बड़े विचारपूर्ण लेख निकला करते हैं। आपही से प्रेरणा पाकर "अखिल कर्नाटक मक्कल कूट" नामक बच्चों की संस्था स्थापित हुई है। गत तीन चार सालों से श्री एम० आर० लक्ष्मम्मा के नेतृत्व में "सोदरि" नामक मासिक

पत्रिका का प्रकाशन हो रहा है। आधुनिक कन्नड की लेखिकाओं में भारती देवी, सौ० श्यामला देवी, जयलक्ष्मी श्रीनिवासन आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। धारवाड़ की मनोहर ग्रंथमाला की तरफ से स्त्री लेखिकाओं की कहानियों का एक सुंदर संग्रह "रंगवल्लि" शीर्षक से प्रकाशित हुआ है, जिसमें कोडगु की स्वर्गीया गौरम्म (मिसेस बी० टी० जी० कृष्ण) की कहानियाँ कन्नड की उच्चकोटि की कहानियाँ मानी जाती हैं। आजकल कितनी ही नव युवतियाँ साहित्य की सेवा में रुचि लेने लगी हैं।

ग्राम्यगीत

कर्नाटक के निवासियों का जीवन कितना सुसंस्कृत है, कितना मधुर है, यह जानना हो, तो कर्नाटक के गाँवों में, किसानों के बीच में भ्रमण करना चाहिये। किसान हल जोतते समय, गायें चराते समय, स्त्रियाँ धान काटते समय, चक्की पीसते समय सुंदर सुंदर गीत गाती हुई अपने ही में मस्त होती हैं। इन किसान स्त्री-पुरुषों की जीभ पर नाचनेवाले अगनित मधुर गीत सर्वत्र ही प्राप्त होते हैं। गीतों के रूप में छिपी हुई इस सौंदर्य-निधि की ओर वर्तमान साहित्यिकों का ध्यान अवश्य गया है। कन्नड के प्रतिनिधि कवि तथा कथाकार मास्ति वेंकटेश अय्यंगार ने 'कन्नड नाडिन लावणि सांगत्यगलु" नामक अपने लेख में ग्रामगीतों का मार्मिक वर्णन किया है। उनका Popular Culture in Karnatak" नामक किताब में भी ग्रामगीतों की महत्ता पर अच्छा प्रकाश पड़ा है। प्रसिद्ध विद्वान व लेखक देउडु नरसिंह शास्त्री जी ने अपनी "कर्नाटक संस्कृति" नामक किताब में कन्नड के ग्रामगीतों व कहावतों की विशेषताओं का सुंदर परिचय दिया है। ग्रामगीतों के कई संकलन प्रकाशित हुए हैं, जिनमें कन्नड के प्रसिद्ध कवि द० रा० बेंद्रे का 'गरतियर हाडु", एल-गुण्डप्प का "हल्लिय पदग लु", बी० एन० रंगस्वामी तथा गोरूर रामस्वामय्यंगार का "हल्लिय हाडुगलु", मतिगट्ट कृष्णमूर्ति का "हल्लिय पदगलु" उल्लेखनीय हैं।

विविध विषय

कन्नड में गत पचास-साठ सालों में अध्यात्म, दर्शन, ज्योतिष; विज्ञान, भूगोल, इतिहास, जीवनी, अर्थशास्त्र, प्राणिशास्त्र, गणित, आरोग्य, वैद्यक, सस्यशास्त्र, कृषि आदि विभिन्न विषयों पर काफी ग्रंथों का निर्माण हुआ है। सन् १९३४ में मैसूर रियासत में सेकेंडरी शिक्षा का माध्यम कन्नड बनाई गई, जिससे विविध विषयों पर ग्रंथों की रचना के लिये विशेष प्रोत्साहन मिला। आलूर वेंकटराव ने लोकमान्य तिलक के विरचित "गीतारहस्य' का कन्नड में अनुवाद किया, साथ ही गीताप्रकाश, गीतापरिमल, गीता संदेश, गीताकुसुमांजलि, नामक ग्रंथों द्वारा कन्नड में आध्यात्मिक साहित्य की सृष्टि के लिये मार्ग-दर्शन किया। इस दिशामें आर० आर० दिवाकर, वै० सुब्बराव की सेवाएँ प्रशंसनीय है। दिवाकर जी की कृतियों में 'गीतेयगुट्टु" उपनिषद प्रकाश, रामकृष्ण परमहंस, हरिभक्ति सुधे, वचन शास्त्र रहस्य मुख्य हैं। पंडित देवशिखामणि अलसिंगाचार्य ने भारत, भागवत तथा रामायण का कन्नड में अनुवाद करके अपार सेवा की है। पंडित लक्ष्मीपुरम श्रीनिवासाचार का "हिंदू दर्शन सार" एल० एन० राघवेंद्राचार का "भारतीय तत्व शास्त्र संग्रह" आर० व्यासराव का 'श्रीकृष्ण चरिते' एम० यामुनाचार्य का "आल्वारुगलु"

सुंदर रचनायें हैं। विज्ञान संबंधी साहित्य की सृष्टि के लिये प्रयत्न करनेवालों में बी० वेंकट-नाराणप्प का नाम उल्लेखनीय है। आपने सबसे पहले "विज्ञान" नामक पत्रिका का कई साल तक संपादन किया और अपनी पत्रिका के द्वारा विज्ञान संबंधी साहित्य के निर्माण की आवश्यकता पर जोर दिया। के० पी० रामनाथय्या तथा एच० नारायणराव का 'जीवोत्पत्ति' एन० वेंकटेश अय्यंगार का ज्योतिर्विनोदिनी आर० राघवेंद्राचार का 'एक्सरे', जी० आर० रंगस्वामी का "परमाणु" वामन कुडवा का "मोटार विज्ञान," बी० सीतारामय्या का "हण-प्रपंच" बी० बेंकोबराव का "मैसूरिन वास्तुशिल्प", के० एस० कारंत का "भारतीय चित्र-कले" आदि ग्रंथ महत्वपूर्ण हैं। कन्नड के प्रसिद्ध कवि जी० पी० राजरत्नं ने जैन तथा बौद्ध धर्म संबंधी बहुत से ग्रंथों का कन्नड में अनुवाद किया है।

उपसंहार

इस छोटे से निबंध में आधुनिक कन्नड साहित्य की गति-विधि का एक संक्षिप्त परिचय देने का प्रयत्न किया गया है। इस उद्योग में कहां तक सफलता मिली है, यह कहना कठिन ही है। क्योंकि वर्तमान कन्नड का साहित्य इतना व्यापक और महान है कि उसकी पूरी झांकी इस छोटे से लेख में देना संभव नहीं है। आधुनिक कन्नड साहित्य में जो प्रधान प्रवृत्तियां पाई जाती हैं वे यों हैं।

१—पुरानी रूढ़ियों, प्रथाओं का बहिष्कार।

२—कर्नाटक के लोगो को कर्नाटक के एकीकरण के लिये जाग्रत करना।

३—समाज में नूतन क्रांति उपस्थित करके समाजवाद तथा मानवता के प्रति प्रेम पैदा करना।

४—आलोचनात्मक और तुलनात्मक अध्ययन के लिये प्रोत्साहन देना।

५—पाश्चात्य और पौरात्य संस्कृतियों का समन्वय करने के लिये उदार भावना जगाना।

६—भारत के भव्य स्वरूप का दर्शन कराना।

७—व्यक्तिस्वातंत्र्य के साथ साथ प्रजातंत्र की भावना को प्रोत्साहन देना।

८—जातिगत, कुलगत, वर्णगत भेदभाव को दूर करना।

९—अध्यात्म को व्यावहारिक बना कर जीवन में ईश्वर के प्रति आस्था पैदा करना।

१०—पाश्चात्य भौतिकवाद की असारता बताकर नैतिकता का बोध कराना।

११—गांधी जी के जीवनादर्श की महत्ता की घोषणा करना।

१२—भाषा के स्वरूप का पुनर्निर्माण करना।

मराठी साहित्य (१८९३ से १९५३)

यह हर्ष की बात है कि गत साठ वर्षों में मराठी साहित्य का सर्वांगीण विकास हुआ है। क्या काव्य, क्या नाटक, क्या उपन्यास और कथा, क्या प्रबंध और निबंध, क्या विनोद और समालोचना, क्या कोश और शास्त्रीय वाङ्मय सभी साहित्य-प्रकारों में संपन्नता ही दिखाई देती है। इस साहित्य के विकास का यहाँ हम सिंहावलोकन मात्र करेंगे, आशा है कि पाठक बंधु इस सिंहावलोकन का सहानुभूतिपूर्ण अवलोकन करेंगे।

मराठी काव्य

१ साहित्यिक भावधारा और वृत्तियों का विकास

आधुनिक मराठी काव्य का प्रथम उत्थान कालखंड १८४३ से १८९३ तक है। १८१८ ई० में अंग्रेजों का महाराष्ट्र में शासन प्रारंभ होने पर अंग्रेजी पाठशालाओं और विद्यालयों की स्थापना हुई। इन विद्यालयों में शिक्षा ग्रहण करनेवालों पर पाश्चात्य संस्कृति, और बिचारों का अमिट प्रभाव पड़ा। अंग्रेजी साहित्य के अध्ययन से नवशिक्षितों के साहित्यिक दृष्टि में अपूर्व परिवर्तन दृष्टिगोचर होने लगा। किंतु अभी भी संस्कृत काव्यपरंपरा की जड़ बद्धमूल थी अतः इस खंड के काव्य साहित्य में क्रांतिकारी परिवर्तन न हो सका। इस समय मराठी साहित्य में संस्कृत तथा अंग्रेजी से प्रचुर परिमाण में कविताएँ अनूदित हुईं। अस्तु द्वितीय उत्थान के प्रारंभ सन् १८९३ में मराठी काव्यसुंदरी आंग्ल विद्या विभूषित-युवतियों की भाँति अंग्रेजी वेशभूषा में अपना विलोल नृत्य करने लगी। मराठी काव्य क्षेत्र में क्रांतिकारी परिवर्तन प्रारंभ हुआ। अंग्रेजी 'काव्य कोश' का सूक्ष्म अध्ययन करने से नवशिक्षितों के हृदय में वर्डस्वर्थ, शेली, बायरन, शेक्सपीयर, कीट्स और मिल्टन आदि अंग्रेजी कवियों की काव्यधारा का अनुकरण करने की इच्छा अंकुरित हुई। इस नवीन काव्य-धारा का सूत्रपात मराठी के युग प्रवर्तक कवि केशवसुत ने किया। १८९३ से मराठी काव्य-सरिता में एक बाढ़ सी आ गई और गत साठ वर्षों में उसने अभूतपूर्व उन्नति की।

स्वच्छंदवाद—मराठी काव्य साहित्य के इस द्वितीय उत्थान कालखंड (१८९३ से १९४५) का इतिहास स्वच्छंदवाद का सर्वांगपूर्ण विकास है। स्वच्छंदवाद के कई पक्ष हैं। परंपरागत सभ्यता का विरोध, भावना और मनोविकारों की पूजा, स्फूर्ति तथा असामान्यत्व, व्यक्तिगत स्वतंत्रता पर गर्व, स्वच्छंद आचरण-वैषयिकता, विचार प्रधान मनोवृत्ति तया वेदनामय खिन्नता, विचारों से सहज प्रेरणाओं को अधिक महत्त्व देना, अनुकरण की अपेक्षा निर्माण क्षमता को अधिक महत्त्व, तर्क की अपेक्षा क्रिया को अधिक महत्त्व देना। स्वप्नरंजन, रहस्यमयता प्रतीकवाद, व्यंग्य तया प्रकृति और प्राकृतिक सौंदर्य का अतीव आकर्षण। अब इस व्याख्या के अनुसार मराठी काव्य साहित्य की हम समालोचना करने की यथामति चेष्टा करेंगे।

आध्यांतरिकता अथवा अंतर्मुखता स्वच्छंदवादी काव्य की आत्मा है। १८९३ के पूर्व का मराठी काव्य (संत और शाहिर कवियों के अतिरिक्त) वस्तुनिष्ठ रहा है। वस्तुनिष्ठ काव्य में वर्ण्य विषय का यथातथ्य अथवा मनोरम काल्पनिक वर्णन होता है किंतु कवि हृदय और कवि की भावनाओं का वहाँ दर्शन नहीं होता। कवि की भूमिका वस्तुनिष्ठ काव्य में तटस्थ की होती है अतः रसास्वाद में कुछ दोष या अपूर्णता गोचर होती है। कवि की भावनाओं की सुंदरता वहाँ दिखाई नही देती। ऐसे काव्यों में कवि के वैयक्तिक अनुभवों को स्थान नहीं प्राप्त होता। अतः स्वछंदवाद में कवि की अनुभूति को महत्व दिया गया है। यह आत्मानुभूति जिस वस्तु से या प्रसंग से कवि को प्रतीत होती है वह काव्य विषय होता है। केवशसुत द्वारा सूत्रपात किये हुये आधुनिक मराठी काव्य में वह अध्यांतरिकता प्रचुरता से दिखाई देती है। यह प्रमुखतया आधुनिक सार्वजनिक-समानाधिकारवाद का साहित्य है। इसमें कवि के व्यक्तित्व का समूचा दर्शन होता है। आधुनिक मराठी, गीति-काव्य का मध्य-विंदु मैं "उत्तमपुरुष" है। केशवसुत जी ने कहा है 'कवि पाषाण खंडों में से देख सकता है' 'कवि को सादे विषय में भी गंभीर आशय दिखता है' 'मैं अपनी शक्ति स्वयं ही जानता हूँ' 'मैं दिक्कालमेंसे देख सकता हूँ। रेव्हरेंड टिळक दूसरे महाकवि कहते हैं कि "कवि जिस दृश्य को आज देखता है वह दृश्य अन्य लोग सौ वर्षों बाद देखेंगे।" तीसरे महाकवि गोविंदाग्रज भी बड़ी स्फूर्ति से कहते हैं कि "कवि शून्य में सुंदर संसार देखता है।" यह अध्यांतरिकता से प्रेरित होकर कवि टिळक ने 'मेरी भार्या' यह नितांत सुंदर और सुरस कथानकात्मक काव्य की रचना की। आंग्ल कवि वर्डस्वर्थ ने काव्य की इस तरह व्याख्या की कि काव्य उत्कट भावनाओं का सहजोद्रेक है। यह भावनाओं की उत्कटता ही तो अध्यांतरिकता है। इस उत्कटता का हृदयहारी दर्शन केशवसुत रे० टिळक, से गोविंदाग्रज तथा अन्य आधुनिक कवियों की काव्य कृतियों में होता है। कवि दत्त की "नीज नीज माझ्या बाळ" में उच्च प्रतीकी की अध्यांतरिकता दिखाई देती है। केशवसुत की प्रसिद्ध कविता 'रांगोळी घालतांना पाहून' और 'नैऋत्य काडीलवारा' अध्यांतरिकता से ओतप्रोत है। रे० टिळक की 'केवढें' हें क्रौर्य' में अध्यांतरिकता उमड़ रही है। 'एखाद्याचें नशीब' गोविंदाग्रज की इस कविता में अध्यांतरिकता ओत प्रोत है। उनकी 'घरांत बसलेल्या काजकास' अन्योक्ति में अध्यांतरिकता की रम्य कल्पना है। कवि अनिल की 'फुलवात' काव्यग्रंथ में सब गीतों में अध्यांतरिकता परिप्लुत है। साने गुरुजी की कविताओं में (पत्री) अध्यांतरिकता का नितांत मधुर- कोमल और उदात्त स्वरूप हम देखते हैं। कवि यशवंत की 'आई' तो आत्मानुभूति की प्रत्यक्ष मूर्ति हैं। बै० सावरकर की "सागरास" कविता में आत्मानुभूति तथा अध्यांतरिकता का हृदय-मनोहारी विलास है। कवि कुसुमाग्रज की काव्य में आत्मनिष्ठा का अनूठा प्रदर्शन हैं। बाल कवि की समग्र प्राकृतिक कविताओं में अध्यांतरिकता कूटकूट कर भरी हुई है। साहित्यसम्राट न०चिं०, केलकर की "मरणोन्मुख देशभक्ता ची मातेस हांक' सुरस कविता में अध्यांतरिकता का प्रत्यय आता है। कवि लक्ष्मण रामचंद्र पांगारकर के "जन्मसाफल्य" में अध्यांतरिकता का हृद्य स्वरूप है। खरे शास्त्री जी के "उज्जैनी" काव्य में आत्मानुभूति का उदान्त स्वरूप है। कवि गोविंद के "सुंदर मी होणार" इस मृत्युविषयक काव्य में आध्यांतरिकता का हृद्य

स्वरूप है। खरे शास्त्री जी के "उज्जैनी" काव्य में आत्मानुभूति का उदात्त स्वरूप है। कवि गोविंद के "सुंदर मी होणार" इस मृत्यु विषयक काव्य में अध्यांतरिकता का हृद्य आस्वाद प्राप्त होता है। राज-कवि तांबे की समग्र कविता आत्मपरक है। इस तरह से आधुनिक मराठी कविता अध्यांतरिकता से लबालब भरी है। इस के सैकड़ों उदाहरण दिये जा सकते है किंतु अध्यांतरिकता का मंतव्य सिद्ध करने की दृष्टि से इतने उदाहरण पर्याप्त हैं।

स्वच्छंदवाद का दूसरा अत्यंत प्रधान पक्ष है प्रगतिप्रियता और स्वतंत्रता का उद्‌घोष"। प्रगतिप्रियता में सामाजिक भेदभाव, और स्पृश्या स्पृश्यता के प्रति कड़ा प्रतिकार होता है। केशवसुत ने ही सामाजिक परंपरा का विरोध पहले पहल काव्य द्वारा किया और अस्पृश्यता मिटाने का क्रांतिकारी संदेश दिया। उनकी 'अस्पृश्याच्या मुलीस' काव्य में यह दिव्य संदेश प्रथम ध्वनित हुआ और अन्य गीतों में भी उन्होंने भेद भाव नष्ट करने की चेतना दी। कवि टिलक के 'मी ब्राह्मण अथवा महार मी' गीत में भी जातीय भेद भाव की घोर निंदा की गई है और उसे मिटाने के लिए समाज से विनंती की गई है। कवि 'बी' गुप्ते की "तीव्र जाणीव" काव्य में भी छूताछूत की दुष्ट प्रथा को तोड़ने का निर्देश किया गया है। 'बी' कवि का तो यह कथन था "यदि हम छूता छूत की दुष्ट प्रथा को समाप्त नहीं करते तो हम स्वराज्य प्राप्ति के लिए और उसके उपभोग के लिए उपयुक्त पात्र नहीं हैं"। पूज्य साने गुरु की कई कविताओं में हमें यही सामाजिक समानता का संदेश मिलता है। बै० सावरकर की 'आम्ही हिंदू हिंदु बंधु बंधु' सरस कविता में भी अछूतों को समान अधिकार देने का क्रांतिकारी संदेश है। कवि कुसुमाग्रज ने भी अपने कई काव्यों में अस्पृश्यता नष्ट करने का संदेश दिया है। द्वितीय उत्थान के प्रायः सभी प्रमुख कवियोंने इस सामाजिक दुष्ट प्रथा का कड़ा निषेध और प्रतिकार किया है। प्रगति प्रियता का दूसरा पक्ष है परंपरा को पूर्णतया नष्ट भ्रष्ट कर नया क्रांतिकारी सामाजिक ढाँचा बनाने को प्रोत्साहन देना। यह प्रगति प्रियता का क्रांतिकारी स्वरूप है। केशवसुत ने इस सामाजिक क्रांति का भी उत्साहपूर्वक समर्थन किया।

राजकीय व सामाजिक क्रांति की पुकार—केशवसुत कहते हैं कि कवि धूमकेतु की भाँति क्रांति का भविष्य दिग्दर्शित करता है। 'कविता का प्रयोजन' नामक काव्य में केशव सुत लिखते हैं कि "मैने अपने हाथो में क्रांति का झंडा लिया है और मैं सब लोगों को क्रांति का निर्भय संदेश दे रहा हूँ।" इस सामाजिक तथा राजकीय क्रांति का स्वरूप सर्वे-कष था। वे सामाजिक ढाँचे में आमूल परिवर्तन चाहते थे अतः अपनी 'तुतारी' याने 'रणभेरी' नामक वीररस परिप्लुत काव्य में उन्होंने कहा कि "जितना कुछ पुराना है उसे मरने दो, उसे जला डालो अथवा दफना दो। निष्क्रिय मत बनो। सयय पर सावधान हो जावो और कंधे से कंधा लगा कर बढ़ो।" केशव सुत ने राजकीय पारतंत्र्य का भी ऐसा ही जोशीला निषेध तथा प्रतिरोध किया है। वे लिखते हैं "इस दासता के कारण हम अंधे हो गये हैं अतः देश की यथार्थ अवस्था हमारे दृष्टि में आती ही नहीं। परतंत्रता से हम गूंगे और बहरे हो गये हैं। अतः मातृभूमि का शोक और क्रंदन हमें सुनाई नहीं देता। मुझे तो आनन्द के समय में भी परवशता का विचार खिन्न कर देता है।" इसी तरह केशवसुत ने अन्य गीतों में सामाजिक तथा राजकीय क्रांति का संदेश दिया। गोफण

नामक काव्य में वे कुरीतियों पर धावा कर रहे हैं। इस सामाजिक क्रांति को कवि तिलक ने अपने 'रणशिंह' नामक काव्य में प्रोत्साहन दिया। वे लिखते हैं "अरे हिंद पुत्रो! सुनो मैं रणशिंग फूंक रहा हूँ अतः तुम सामाजिक क्रांति के लिए कटिबद्ध हो जाओ। "सखी स्वतंत्रते' शीर्षक अत्यंत मधुर गीत में कवि तिलक लिखते हैं कि वे स्वतंत्रता देवी के दर्शन के लिए अतीव लालायित हो गये हैं। हे स्वतंत्रते! तू मेरी आत्मा है। तू मेरा प्राण है। तुम्हारे विना यह संसार मुझे शून्य सा लगता है। तेरे लिए मैं प्राण अर्पण करने को तत्पर हूँ।' तीसरे आधुनिक महाकवि गोविंदाग्रज अपने 'दसरा' याने 'विजया दशमी' शीर्षक गीत में संदेश देते हैं "दुष्ट प्रथाओं का विनाश करने के लिए आगे बढ़ो। उत्साह की तलवार हाथ में लो और दुष्ट प्रथाओं से लड़ो। ठोंबरे (बाल कवि) अपने 'धर्म वीर' नामक काव्य में लिखते हैं कि वही सच्चा धर्मवीर है जो रूढ़िओं का, कुप्रथाओं का सत्यानाश करता है और सत्य के लिए प्राणाहुति देता है। हम मृत्यु को भी मृत्यु दिलाने वाले हैं अतः परंपरावाद से हमें नहीं डरना चाहिए। कवि विनायक ने भी राष्ट्रीय स्वतंत्रता का भरसक समर्थन किया। वे मराठी के पहले राष्ट्रकवि हैं, किंतु उनकी दृष्टि महाराष्ट्र के तथा राजस्थान के ऐतिहासिक स्वातंत्र्य और वैभवशाली अतीत की ओर थी। वे स्वतंत्रता को भूतकालीन, अतीत का वैभव प्राप्त करना चाहते थे, किंतु राजकीय स्वतंत्रता का उन्होंने संदेश दिया। उन्होंने संयोगिता, पन्ना धाई जैसी राजपूत रमणियों तथा जीजाबाई और अहल्याबाई होलकर जैसी मराठी वीर माताओं का गुण गान किया। उनका हेतु यह था कि भारतीयों में इनके आदर्शों से स्फूर्ति प्राप्त हो। इसी तरह उन्होंने महाराज शिवाजी का विपुल यशोगान किया। इसका भी हेतु यह था कि पुरुषों को शिवाजी जैसे स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए पराक्रम करना चाहिए। 'हतभागिनी' नामक रूपकात्मक काव्य में विनायक ने भारत माता की दुर्दशा का हृदयविदारक चित्र खींचा है और भारतवासियों को उसका यह दास्य नष्ट करने की चेतावनी दी है। राजकवि यशवंत ने भी दासता का कड़ा प्रतिकार किया है। १९०६ के लगभग राष्ट्रीय कविताओं की बहुलता से रचना हुई। लार्ड कर्जन के बंग भंग करने के निश्चय से बंगाल में राष्ट्रीयता की ज्वाला उमड़ पड़ी। लो० टिलक जी ने भी महाराष्ट्र में राजकीय असंतोष की अग्नि प्रज्वलित की अंग्रेजों के प्रति प्रखर असंतोष और देश की स्वतंत्रताके प्रति निष्ठा और बलिदान करने की तत्परता इस समय उमड़ रही थी। काव्य या साहित्य में सामाजिक जीवन का सामयिक प्रतिबिंब पड़ता ही है अतः इस समय से राष्ट्रीय कविताओं की रचना बहुलता से होने लगी। उस समय के प्रमुख राष्ट्रीय कवियों में गोविंद और बै० सावरकर की गणना होती है। गोविंद की सब कविताएँ राष्ट्रीय ही हैं। यह उनकी विशेषता है। उन्होंने देश प्रेम को काव्य में रस का उच्चस्थान प्राप्त करा दिया और राजकीय स्वातंत्रता के लिए युवकों को बलिदान चढ़ने का संदेश दिया। उनकी कविता अंग्रेज सरकार ने अवैध घोषित की थी किंतु मधुरता के कारण अतीव आकर्षक होने से युवकों ने वह कविता कंठस्थ कर ली। उनके परम मित्र हैं बै० सावरकर। आप भी अति उच्च प्रतिभा के राष्ट्र-कवि हैं। आपने देश की स्वतंत्रता के लिए बीस वर्षों की जेल यातनाएँ सहन कीं। आप की जेल में से भेजी गई कविताएँ भी देश-प्रेम से लबालब हैं। आपने राष्ट्रीय क्रांति का

संदेश दिया और स्वयम् वैसा आचारण भी किया। १९२० के पश्चात् देशभक्त साने गुरु तथा कवि कुसुमाग्रज ने राष्ट्रीय काव्य की प्रबल धारा प्रवाहित की। गुरुजी तथा कुसुमाग्रज सक्रिय देश सेवक थे और १९३० के तथा पश्चात् के सभी आंदोलनों में उन्होंने योग दिया था। दे०भ० साने गुरुजी के 'पत्री' नामक काव्य ग्रंथ में देश भक्ति, स्वतंत्रता की प्रीति और उसके लिए प्राणार्पण करने की उत्कंठा उमड़ी पड़ रही है। साने गुरुजी के काव्य ने सैकड़ों नवयुवकों को स्वतंत्रता के लिए पागल बनाया था। आपने राष्ट्रीय तथा सामाजिक क्रांति का संदेश दिया। अछूतों को मंदिर में प्रवेश दिलवाया। उनके लिए आमरण प्रायोपवेशन किया और महाराष्ट्र का सर्वपूज्य और पवित्र पंढरपूर क्षेत्र का विट्ठल मंदिर १९४८ में अछूतों के लिए खुलवा दिया। यही सामाजिक क्रांति का संदेश साने गुरुजी ने अपनी कविता में दिया। कवि कुसुमाग्रज ने भी यही राष्ट्रीय तथा सामाजिक क्रांति का संदेश अपनी 'विशाखा' नामककाव्य ग्रंथ में दिया। नागपुर के राष्ट्रीय कवि आनंदराव टेकाड़े ने भी अपने तीनों काव्य ग्रंथों में यही संदेश दुहराया। गवालियर के सुविख्यात कलाकार राजकवि भास्कर राव तांबे ने भी रुद्रास आवाहन शीर्षक अति लोक प्रिय गीत में सर्वांगीण क्रांति की पुकार की। जलगांव के कवि दु० आ० तिवारी ने भी झांशी की रानी पर अनेक काव्य गीतों की रचना करके राष्ट्रीय स्वतंत्रता का संदेश दिया। इस से सिद्ध है कि आधुनिक मराठी काव्य में राष्ट्रीय स्वतंत्रता तथा सामाजिक स्वतंत्रता का विशेष स्थान है।

नारियों और मजदूरों के प्रति समवेदनाः—बहुत पुराने समय से नारी काव्य का प्रमुख विषय रही है। कविता वनिता मानी गई है इसी से नारी पर उसकी असीम प्रीति रही है। किंतु नारी नायिका के स्वरूप में ही प्राचीन समय में काव्य विषय बनी। कुछ निवृत्तिवादी कवियों ने नारी को मनुष्य की मोक्ष साधना में एक बड़ी बाधा और उसका पतन करानेवाली की दृष्टि से अपने काव्यों में चित्रित किया। शृंगारप्रधान काव्यों में नारी नायिका, अभिसारिका, प्रेयसी आदि रूपों में देखी जाती है। उसका न तो स्वतः का अस्तित्व है और न व्यक्तित्व ही। उसे समाज में पुरुषों के अधीन रहना पड़ा। उसे अधिकार नहीं दिये गये केवल कर्तव्य ही निश्चित किए गए। पुरुष को अपने प्राणार्पण से संतुष्ट करना ही उस का उच्चतम कर्तव्य माना गया था। ऐसी विषम और अन्यायपूर्ण सामाजिक अवस्था में स्त्री पर दया करना, समानता से उसके प्रति व्यवहार करना अनुचित माना जाना स्वाभाविक था। किंतु केशव सुत ने अपने 'माता के लिए शोक' तथा 'माता' इन गीतों में स्त्री का पूजनीय माता के रूप में महत्त्व वर्णन किया। उन्होंने स्त्री को प्रेयसी के रूप में भी चित्रित किया किंतु इसके संबंध में हम आगे लिखेंगे। रे० 'टिलक ने 'सुशीला' 'माझी भार्या' शीर्षक आख्यानपरक अथवा कथानक-प्रधान काव्यों में स्त्री का आदर्श माता, आदर्श पत्नी, आदर्श भगिनी और आदर्श कन्या के रूपों में अति उज्वल और कलात्मक वर्णन किया। इतना ही नहीं वे 'मेरी भार्या' नामक काव्य में स्त्री जाति की पुरुषों से भी अधिक महत्ता वर्णन करते हैं। पुरुष धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों का संपादन स्त्री की सहायता से करता है। अतः उसे केवल उपभोग्या मानना पुरुषों के लिए लांछनास्पद है। अपनी 'तुतारी' में कवि केशव सुत तो कहते हैं कि

'महिलाओं को दासता में रखकर पुरुष स्वयम् दासी पुत्र बन गये हैं। स्त्री को अज्ञान में रखने से पुरुषजाति स्वयम् अज्ञान में गिरती है। अतः महिलाओं को समान अधिकार देना पुरुषों का परम कर्तव्य हैं'। कवि टिलक ने पति-पत्नी विषयक प्रेम का उच्च, शुद्ध, भव्य तथा सुंदर स्वरूप वर्णित किया है। कवि विनायक ने स्त्री को राष्ट्र रमणियों के स्वरूप में चित्रित किया। उनका राष्ट्रमाताओं और वीर रमणियों का गौरवशाली स्वरूप देखकर कौन कह सकता है कि स्त्री जाति को दासता में रखना बुद्धिमानी की बात है। गोविंदाग्रज ने अपने नितांत मधुर और रसभीने 'राजहंस' नामक शोक गीत में माता का पूजनीय, फलात्मक रूप प्रस्तुत किया। राजकवि यशवंत ने तो 'आई' शीर्षक रसभीने भावगीत में माता के श्रद्धेय चरित्र का अतीव हृद्य चित्रण किया। साने गुरुजीने अपने 'पत्री' काव्यग्रंथ में पन्ने पन्ने पर मातृ प्रेम का महत्व वर्णित किया; और माताओं को हम पिता के समान मानना चाहिए ऐसा सदुपदेश दिया। बै० सावरकरजी ने अपने दो काव्यों में बड़ी भाभी की कितने आदर से वंदना की है। संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि केशवसुत ने 'तुतारी में' टिलक ने 'रणशिंग में' और गोविंदाग्रज ने 'स्मशान में का गाना' में स्त्रियों को पुरुषों के समान अधिकार देने का सक्रिय संदेश दिया और इस सामाजिक विषमता को मिटाने का काव्य द्वारा प्रोत्साहन दिया।

इस प्रगतिशीलता का दूसरा पक्ष है मजदूरों के प्रति न्यायोचित व्यवहार और श्रम की प्रतिष्ठा बढ़ाना। युगप्रवर्तक कवि केशवसुत ने अपने 'मजदूरों पर अनशन का संकट' शीर्षक सरस गीत में श्रमिक वर्ग की शोचनीय दशा का हृदयविदारक वर्णन किया है। उसमें एक श्रांत मजदूर ईश्वर से एक प्रश्न करता है कि हे परमेश्वर मैंने ऐसा कौनसा महान अपराध किया है कि मैं प्रातःकाल से सूर्यास्त तक मरते दम तक श्रम करता हूँ तो भी मुझे भरपेट अनाज नहीं मिलता और मुझे रहने के लिए तिनके की पर्णकुटी भी नहीं है और जो लोग कुछ भी श्रम नहीं करते वे महलों में भोग विलास करते हैं। क्या यह न्यायोचित व्यवहार है? यह वर्गभेद और आर्थिक विषमता को मिटाने की सूचना उसमें दी गयी है। आगे चल कर कवि मायदेव ने अपनी प्रदीर्घ कविता 'गरीबों की कथा' में मजदूर और निर्धनों के प्रति दयापूर्ण और सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार करने का संदेश दिया है। कवि यशवंत ने भी श्रमिकों के हृदय-विदारक चित्र खींचे हैं। विद्यमान कवि कुसुमाग्रज ने 'विशाखा' काव्य-ग्रंथ में पददलित मजदूर वर्ग के प्रभावोत्पादक काव्य-चित्र खींचे हैं। इसीलिए आपको मानवतावादी कवि कहते हैं। नवीन कवियों में कालेले, मर्ढेकर और मुक्तिबोध आदि ने मजदूर वर्ग को वर्ग विग्रह के आधार पर क्रांति की चेतावनी दी है। संक्षेप में मजदूरों के प्रति आर्थिक न्याय करने का संदेश केशव सुत से विद्यमान कवियों तक प्रायः सभी ने दिया है।

प्राकृतिक सौंदर्य का काव्यात्मक आविष्कार :—प्राकृतिक सौंदर्य का कलात्मक वर्णन स्वच्छंदवाद का एक प्रमुख लक्षण है और आधुनिक मराठी काव्यों में हम यह प्रचुरता से पाते हैं। केशवसुत ने प्राकृतिक सौंदर्य पर लगभग बीस काव्य गीतों की सरस रचना की जिसमें 'सूर्योदय, फुले, पुष्पाप्रत, फुलपाखरें, पर्जन्य, वातचक्र इत्यादि प्रसिद्ध हैं। जिस तरह आंग्ल कवि वर्ड्स्वर्थ को प्राकृतिक सुंदरता में ईश्वर का दर्शन होता था

उसी तरह भावप्रधान केशवसुत को सृष्टि में, फूलों में और ओसबिंदुओं में परमेश्वर का प्रत्यय होता था वे मानते थे कि निसर्ग में परमेश्वर का निवास है। निसर्ग में प्रेम, सुंदरता, सहकार, चारुता इत्यादि गुणों का वास है और प्रकृति का अवतार मानव की उन्नति के लिए है ऐसी उनकी धारणा थी। केशवसुत ने प्रकृति का तटस्थ भाव से वर्णन किया क्योंकि वे विचार प्रधान कवि थे। उनके पश्चात् रे० ना० वा० टिलक ने प्रकृति का अतीव कलात्मक वर्णन किया। सचमुच टिलक महाराष्ट्र के वर्डस्वर्थ हैं। आप को लोग 'फुलामुलांचे कवि' याने 'फूलों और बालकों के कवि' कहने लगे। आपने प्रकृति वर्णन पर लगभग बीस गीतों की रचना की। आप प्राकृतिक सौंदर्य के वर्णन द्वारा नीति का, सहकारिता का और विशुद्ध तथा आनंदी जीवन का संदेश देते हैं। आपकी पर्वतारोहण शीर्षक कविता श्रेष्ठ प्रतिभा का रम्य आविष्कार है। 'वनवासी फूल' खंडकाव्य तो महाराष्ट्र की आधुनिक गीता है। इसमें प्रवृत्तिवाद का प्रासादिक प्रतिवादन है। कवि गोविंदाग्रज ने भी निसर्ग का वर्णन लगभग बारह गीतों में किया है। किंतु मराठी प्रकृति-काव्य का पूर्ण उत्कर्ष बालकवि ठोंबरे के काव्यों में हुआ। बालकवि यथार्थ में प्रकृति के कवि हैं। आप बाल्यावस्था से ही प्रकृति के सान्निध्य में एक अद्‌भुत तादात्म्य का सुख अनुभव करते थे। आपकी बाल्यावस्था महाबलेश्वर में सह्याद्रि पर्वत के सौंदर्यपूर्ण स्थान में व्यतीत हुई। आप जब जब समय मिलता था तब तब घर से दूर जाकर प्राकृतिक दृश्यों का आकंठ पान करते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि उस प्रकृति की प्रेरणा से ही बालकवि नौ वर्ष की अवस्था में ही सरस काव्य-रचना करने लगे। आप प्राकृतिक सौंदर्य में सायुज्यता का अनुभव करते थे। बाल-कवि कहते हैं "कवि सृष्टि झाला, सारी सृष्टि झाली कवि" अर्थात् कवि स्वयम् प्रकृति में विलीन हो गया और प्रकृति कविमय हो गयी। यही आपकी विशेषता है। बालकवि ने प्राकृतिक सौंदर्य द्वारा कुछ भी संदेश नहीं दिया या प्रचार नहीं किया। बालकवि शुद्ध प्राकृतिक सौंदर्यवादी थे। वे एक श्रेष्ठ कलाकार कवि थे। निसर्ग वर्णन से शुद्ध आनंद का आस्वाद लेना और दूसरों को देना यही उनकी कला थी। वे प्रकृति के लिए पागल थे और अन्यों को इस पागलपन का आस्वाद देना चाहते थे। बालकवि की सारी रचना इससे भरी है। उसमें "निर्झर, अरुण, फुलराणी, रात्री, यामिनी इत्यादि गीतों की रचना अनूठी है। बालकवि के अरुण काव्य की भूमिका कवि गोविंदाग्रज के अरुण में दृग्गोचर होती है किंतु बालकवि का 'अरुण' गोविंदाग्रज के 'अरुण' से सभी दृष्टियों से श्रेष्ठ है। अतः बालकवि ठोंबरे ही मराठी के सर्वश्रेष्ठ प्रकृति के कवि हैं, उनके पश्चात् नागेश रहालकर ने निसर्ग वर्णन पर कविता रची। किंतु वह साधारण है। प्रकृति काव्य का वैभवशाली आविष्कार राजकवि चंद्रशेखर की सुमधुर रस-भीनी और आकर्षक काव्यों में हुआ। आपने अतीव भावमयता से, सूक्ष्मता से प्रकृति का वर्णन किया। आप वर्डस्वर्थ के सच्चे अनुयायी थे किंतु भाषा-वैभव और आलंकृत रचना की ओर आपका अधिक ध्यान था। आपको निसर्ग में परमेश्वर का दर्शन होता था। गायक कवि गिरीश अर्थात् शंकर केशव कानेटकर ने "आंबराई" खंड काव्य में प्रकृति का सरस और सुरम्य वर्णन किया। विद्यमान लोकप्रिय कवि बोरकर भी एक श्रेष्ठ प्रतिभा के प्रकृति कवि हैं। आपने भावमधुर, नादमधुर और रसभीनी रचना की है जो प्रतिभा

और दूधसागर काव्य ग्रंथों में है। किंतु यह मानना होगा कि अब प्रकृति काव्यधारा क्षीण सी दिखाई दे रही है। अब कवियों के काव्य विषय अधिकतया मानव के विचार और विकार हो गये हैं।

प्रेम-गीत—स्वच्छंदवाद में अध्यांतरिक (subjective) प्रेम काव्य का विशेष स्थान है। स्वच्छंद प्रेम का तो अपना महत्व है ही किंतु स्वच्छंद प्रेम से भी अध्यांतरिक प्रेम का अधिक महत्व है। स्वच्छंदवाद में व्यक्तिवाद का सर्वोच्च स्थान है अतः कवि की स्वतः की प्रेमानुभूति इसमें अपना विशेष स्थान रखती है। अध्यांतरिक प्रेम गीतों का नायक प्रायः कवि स्वयम् होता है और यह स्वच्छंदवाद की देन है। मराठी में अध्यांतरिक प्रेम गीतों का सूत्रपात केशवसुत ने १८६० में किया। उन्होंने लगभग चालीस प्रेम गीतों की सफल रचना की। इसमें शारीरिक प्रेम, मानसिक प्रेम तथा विषय सुख संबंधी प्रेम का सरस चित्रण है। उन्होंने लगभग बीस प्रेमगीतों में प्रेयसी का ध्यान तथा उसकी प्राप्ति के लिए हृदय की उत्कृष्ट तृषा का वर्णन किया है। 'मेरा अंत' 'कविता और प्रीति' आदि प्रेम गीतों में वे कहते हैं कि प्रेम मनुष्य को पागल बनाता है। प्रेमसे ही प्रेम संपादन किया जाता है। प्रेयसी-बिना उनको सारा संसार शून्य सा प्रतीत होता है। दूसरे कवि विनायक ने भी विषय-सुख-संबंधी प्रेम का और स्त्री के प्रेम का 'सुवास' 'स्त्री और पुरुष' और 'प्रीति सुकगयी तो' शीर्षक तीन प्रेमगीतों में मनोहर चित्रण किया है। किंतु आध्यांतरिक प्रेम गीतों का उत्कर्ष विंदु हम तीसरे महाकवि गोविंदाग्रज याने गडकरी जी के काव्यों में देखते हैं। गोविंदाग्रज को 'प्रेम के शाहीर' कहते हैं, क्यों कि प्रेम का उन्मत्त और उत्तान स्वरूप आपने अध्यांतरिकता से चित्रित किया है। आपने लगभग चालीस प्रेमगीतों की सरस रचना की। उनका भाषा-विलास, कल्पना विलास और रस संपदा अनूठी है। गोविंदाग्रज ने प्रेम की भाव भंगी से, प्रिया विरह से, प्रिया की आराधना करने से और प्रेम चेष्टाओं की अतृप्त आकांक्षाओं से प्रेम काव्यों की रचना की अतः वे सब प्रेमगीत रसभीने हैं। आप प्रेम के पीछे पागल थे। आप प्रेम में रहना, बोलना, सोना और सब जीवन यापन के क्रिया कर्म करना चाहते थे। प्रेम से ही संसार चलता है और प्रेम विना संसार आत्मा के विना देह समान है ऐसा आप मानते थे। आप प्रेम को जाति और धर्म के परे मानते थे। 'प्रेम और मृत्यु' इस रसभीने कथात्मक काव्य में आप लिखते हैं कि "प्रेम के एक क्षण का मूल्य सौ मृत्यु से भी अधिक है।" इस तरह अनिर्बंध और स्वेच्छाचारी प्रेम का उन्होंने संदेश दिया और यही स्वच्छंदवादी प्रेम का परमोच्च स्थान है। उनके पश्चात् रेंदालकर ने 'प्रेम साम्राज्य' का सरस चित्रण किया। उन्होंने संसार में जहाँ तहाँ प्रेम का दर्शन किया। रेंदालकर ने 'सुंदरी, पुनर्मिलन, आलिंगन, प्रिया का हास्य, अधर' आदि प्रेमकाव्यों में शृंगाररस निर्माण किया। आप के प्रेमगीतों में गोविंदाग्रज जैसा प्रेमभंगी और निराशा का दर्शन होता है। टिलक और दत्त ने भी प्रेम का उज्वल और विशुद्ध स्वरूप चित्रित किया। कवि रेंदालकर ने भी उत्तान शृंगार मय प्रेम का चित्रण किया। उनके प्रेम की उत्कटता वर्णन के परे है। राजकवि भास्करराव तांबे ने भी मुग्ध शृंगार, कहीं कहीं उत्तान शृंगार का अपने नादमधुर और भावमधुर प्रेम गीतों में वर्णन किया। आपके प्रेमगीत प्रसन्न और आशापूर्ण हैं क्यों कि आप जीवन में,

यथार्थ में, प्रेम संपादन में सफल रहे। आप अपनी प्रियतम का वर्णन करते करते लिखते हैं कि 'हे प्रियकरे मैं तेरे एक प्रेम कटाक्ष के लिए संसार का साम्राज्य त्याग देने को तैयार हूँ। अपनी प्रियकरा का उन्होंने बड़ा आकर्षक और शृंगारमय चित्रण किया। डॉ माधवराव पटवर्धन एम्० ए० पी० एच्० डी ने १९३६ में स्वच्छंद प्रेम की सब रीतियों का अतीव शृंगारमय और उत्तेजक तथा उन्मादक वर्णन किया। गोविंदाग्रज के पश्चात् माधव जूलियन ही स्वच्छंद प्रेम के दूसरे श्रेष्ठ कवि हैं। आपने 'गजलांजली' में भावोत्कट प्रेम का चित्रण किया। आप उर्दू और फारसी के प्रकांड विद्वान थे अतः आपने लैला मजनू और शीरी फरहाद के प्रेम का मराठी में प्रवेश कराया। आपके प्रेम काव्य विद्वता पूर्ण हैं किंतु उनमें सभ्यता का अतिक्रम हुआ है। आप का 'विरह-तरंग' खण्ड-काव्य मराठी का मेघदूत है। कवि अनिल ने अध्यांतरिक प्रेम का विशुद्ध तथा रम्य स्वरूप अपने 'फुलवात' नामक काव्य ग्रंथ में चित्रित किया है। इसमें प्रतीकों का व्यवहार किया गया है। कवि अनिल ने 'प्रेम और जीवन' खंड काव्य में लैला मजनू के प्रेम का चित्रण किया है। प्रो० काणेकर, श्री साठे, श्री ना० घ० देशपांडे, गु० ह. देशपांडे, इत्यादि विद्यमान कवि स्वच्छंद और अध्यांतरिक प्रेम गीतों से लोकानुरंजन कर रहे हैं। इस तरह मराठी में प्रेमकाव्य की धारा अखण्डता से बह रही है।

रहस्यवाद (Mysticism) स्वच्छंदवादी काव्यधारा का एक अत्यावश्यक पक्ष है। रहस्यवाद का भी मराठी में अच्छी तरह पोषण हुआ। रहस्यवाद का सूत्रपात भी आद्य आधुनिक कवि केशवसुत ने १८९३ में किया। जीव, जगत्, ईश्वर और आत्मा तथा परमात्मा इनके संबंध में मानव को एक तरह का रहस्य प्रतीत होता है। इसी तरह प्रेम, सुंदरता, दिव्यत्व और भव्यता इनकी यथार्थ जानकारी मानव को नहीं हुई है। उनके लिए मानव के पास उत्कृष्ट जिज्ञासा है और मानव को इन इंद्रियातीत अदृश्य वस्तुओं के प्रति एक तरह का अचरज प्रतीत होता है। इससे रहस्यवाद की निर्मिति होती हैं। दर्शनशास्त्री लोग जिन अतींद्रिय वस्तुओं को तर्क के द्वारा समझाते हैं वही कार्य जब कवि काव्य द्वारा करता है तब रहस्यवादी कविता की रचना होती है। रहस्यवादी काव्यों में रूपकों की और प्रतीकों की आवश्यकता होती है। अतः रूपकात्मक और प्रतीकात्मक कविता रची जाती हैं। जब कवि इस कार्य में असफल होने से निराश होता है तब वह वेदनामय खिन्नता अनुभव करता है। यह वेदनामय खिन्नता प्रायः सभी रहस्यवादी कविओं में दिखाई पड़ती है। केशवसुत ने 'हरपले श्रेय' याने खोया हुआ श्रेय 'बुढ्ढी' और 'झपूर्झा' इत्यादि रहस्यवादी काव्यों की सरस रचना की। 'खोया हुआ श्रेय' में उन्होंने आत्मा और परमात्मा का वियोग चित्रित किया। झपूर्झा में सायुज्यता का वर्णन किया और 'बुढ्ढी' में मानव सामान्य वस्तुओं से कैसा नश्वर सुख पाने की चेष्टा करता है यह बतलाया। किंतु उनकी वेदनामय खिन्नता बहुत ही स्पष्ट है। केशवसुत के प्रशिष्य गोविंदाग्रज ने रहस्यवाद का उत्कर्ष किया। आपने 'मुरली, प्रेम का प्रलय काल', 'कलगी का गीत' और 'फूटी हुयी लोटिया' इत्यादि वैभवशाली गीतों में महाराष्ट्र को रहस्यवाद की शिक्षा दी। इन गीतों द्वारा अद्वैत सिद्धांत का तथा देह की क्षणभंगुरता का उन्होंने विवेचन किया। मुरली और फूटी हुई लोटिया में प्रतीकों का उन्होंने व्यवहार

किया। 'प्रेम का प्रलय काल में' प्रेम के अद्वैतता का प्रभावोत्पादक वर्णन है। रहस्यवादी काव्य का आस्वाद लेना आसान नहीं है अतः सामान्य पाठकों को यह काव्य भाता नहीं। इनके पश्चात् विदर्भ के महाकवि नारायण गुप्ते ने 'बी' ने रहस्यवाद का बड़ा कलात्मक उद्घाटन किया। इनके 'चाफा' 'पिंगा' 'पागलगीत' इत्यादि रहस्यमय गीतों का पाठकों ने बहुत सम्मान किया। 'चाफा' में प्रकृति और परमेश्वर का अन्योन्य सम्बंध है। यह अद्वैतवाद है। 'पागलगीत' में प्रकृति की चेष्टाओं का वर्णन है। इस तरह ये एक सफल रहस्यवादी कवि थे। आजकल विदर्भ में रहस्यवादी कवियों की पंक्ति लगी है। श्री० वा. ना. देशपांडे, गु० ह० देशपांडे, अनिल देशपांडे, और कविभूषण ब. ग खापर्डे, हिंदू विश्व-विद्यालय के सेवा निवृत्त मराठी के प्रोफेसर इत्यादि कवियों ने रहस्यवादी काव्यसंपदा की भरसक उन्नति की है। वा०ना० देशपांडे के 'आराधना' नामक काव्यग्रंथ में और कवि-भूषण खपर्डे जी के अभी प्रकाशित 'अनन्ताची हांक' में रहस्यवाद का रसभीना आविष्कार दिखाई देता है। खापर्डे ने १९१४ में विश्वकवि रवींद्रनाथ ठाकुर की 'गीतांजली' जैसा 'मेरे सर्वस्व के गद्य गीत' रहस्यमय काव्यग्रंथ रचा था। तब से १९५३ तक कविभूषण खापर्डे रहस्यवाद की रचना सफलता से कर रहे हैं। संक्षेप में मराठी में रहस्यवाद की प्रवृत्ति प्रबल और संपन्न है।

साहित्यिक नियमबद्धता का प्रतिरोध :—स्वच्छंदवाद में परंपरागत साहित्यिक संकुचित दृष्टिकोन के प्रति तीव्र असंतोष और अतिशय नियमबद्धता और साहित्यिक पांडित्य के प्रति प्रतिरोध अवश्यंभावी है। आद्य स्वच्छंदवादी कवि केशवसुत ने नियम-बद्धता के विरुद्ध सक्रिय विद्रोह आरंभ किया। यह विद्रोह सब तरह का था। काव्य प्रयोजन, काव्य कारण, काव्य विषय, काव्य रूप, छंदों और वृत्तों के व्यवहार आदि सभी में आमूलाग्र परिवर्तन मिलता है। केशवसुत कवि की अनिर्बंध स्वतंत्रता के पक्षपाती थे। प्रकृति और मानव जीवन को उन्होंने संकीर्णता से मुक्त किया। अब मनुष्य केवल नायक और स्त्री केवल नायिका न रही। अब वे योद्धा, देशभक्त, वीर, कृषक, अध्यापक, मजदूर, माता, बहन, सत्याग्रही, विद्यार्थी, पुत्र, पुत्री, देशसेविका, समाज सेवक, सेविका, मेहतर, हरिजन, सत्यवादी विषयोपभोगी इत्यादि अनेक रूपो में काव्य में चित्रित होने लगे। अब प्रकृति कवियों के लिए केवल उद्दीपक नहीं रही, उसकी स्वतंत्र सत्ता मानी जाने लगी। काव्यगत पांडित्य और अलंकृत रचना की अपेक्षा अर्थ और व्यंग्य को अधिक महत्व प्राप्त हुआ। संक्षेप में १८९३ से १९५३ तक के सब मराठी कवियों ने नवीन काव्य रीतियों का भरसक अनुकरण किया और आधुनिकता का परिचय दिया।

इस प्रकार स्वच्छंदवादी काव्य वृत्ति ने मराठी काव्य के अंतर्बाह्य स्वरूप में आमू-लाग्र परिवर्तन किया।

काव्य साहित्य के उपादान और विषय :—आधुनिक मराठी काव्य के प्रधान विषय और उपादान हैं। १ मानव २ प्रकृति ३ राष्ट्र एवम् देशप्रेम ४ विश्वप्रेम और मानवता प्रेम ५ पौराणिक कथाएँ ६ ऐतिहासिक घटना तथा वीर और वीर रमणी ७ रहस्यवाद, जीव जगत् और ब्रह्म ८ भक्ति (सगुणो और निर्गुणोंपासना) ९ अचेतन वस्तु। अतः काव्य-विषय ईश्वर से लेकर सामान्य मानव

तथा पशु पक्षियों तक विस्तृत हो गया है। इतना ही नहीं 'घड़ी' जैसी अचेतन वस्तु भी काव्य-विषय (केशवसुत) बन गयी फिर दूसरी वस्तुओं का क्या कहना। अब तक काव्य का विषय असामान्य मानवता ही रही है। ईश्वरावतार राम और कृष्ण, पौराणिक महापुरुष, ऐतिहासिक वीरपुरुष और राष्ट्रीय नेता सामान्य मानवता से बहुत दूर हैं। किंतु इस काव्य में सामान्य और असामान्य ऐसा भेद नष्ट हो गया। सामान्य मानवता अब काव्यों का प्रमुख उपादान बन गयी। अतः आधुनिक काव्य यथार्थवाद की ओर बढ़ गया। सामान्य मानव का प्रेम आधुनिक काव्य में काव्य विषय बन गया है। प्रकृति मानव के पश्चात् आती है। प्रकृति चित्रण में छायावाद की निर्मिति हुई। प्रकृति-चित्रण की विविध शैलियाँ हैं। आधुनिक कवि अपनी विशेष भावनाएँ लेकर प्रकृति के निरीक्षण के लिए निकले और अपनी चित्तवृत्ति और भावनाओं के अनुसार उन्होंने प्रकृति का चित्र खींचा अतः केशवसुत, कवि टिलक, बालकवि ठोंबरे आदि कवियों ने प्रकृति-चित्रणों से भिन्न भिन्न संदेश दिये और सुंदरता तथा रसों का आविष्कार किया। यह है अभ्यांतरिक प्रकृति चित्रण। राष्ट्र तथा जन्मभूमि १९ वीं शताब्दी में काव्य का विषय बना। यह अंग्रेजीं काव्य की देन है। और वह सामयिक महत्व का विषय भी था। विश्व प्रेम प्राचीन काल से काव्य-विषय है किंतु मानव-प्रेम उसका अभिनव स्वरूप है। रहस्यवाद भी पुराना, संतकवियों का काव्य विषय है। सगुण और निर्गुण भक्ति भी पुराना काव्य विषय है। अचेतन वस्तुओं को काव्य विषय में आधुनिक कवियों ने परिवर्तित किया। यहाँ भी कवि अपनी भावनाएँ लेकर अचेतन वस्तु का चित्रण करता है। अतः यह अध्यांतरिक काव्य होता है।

काव्य रूपों का विकास :—प्राचीन मराठी काव्य में (१) प्रबंध काव्य जिसके अंतर्गत महाकाव्य और खंडकाव्य की गणना है (२) गीतिकाव्य (पदों की रचना) (३) मुक्तक काव्य (अभंग और पदों) और (४) पवाडे तथा लावणीयाँ इन चार प्रमुख काव्य रूपों का समावेश होता था। आधुनिक मराठी काव्य में इन काव्य रूपों के अतिरिक्त अंग्रेजी सॉनेट और फ्री तथा ब्लैंक वर्स का व्यवहार होने लगा। फ्रीवर्स को मराठी में मुक्त-छंद कहते हैं। मुक्तक काव्य में अनेक शैलियों का प्रचार हुआ। फुटकल काव्य रचना आधुनिक काव्य का प्रधान अंग है। गीति काव्य में भी संगीत का अधिक प्रभाव पड़ने लगा। गीतों की रचना संगीत शास्त्र के भिन्न भिन्न ख्यालों के अनुकूल होने लगी। भाव-गीतों की रचना तो अंग्रेजी Lyric जैसी होने लगी। भावगीतों का पठन नहीं तो गायन होने लगा। गीतों में लयबद्धता आ गयी। मराठी में गीतिकाव्य की सब शैलियाँ अंग्रेजी से अनूदित की गई। १ चित्त व्यंजना २ मानवी करण (Personification) ३ व्यंग्य गीति (विडंबन काव्य प्रकार) ४ Elegy विलापिका ५ Ode गंभीर काव्य ६ Sonnet सुनीत ७ नाट्यकाव्य Dramatic Poetry आदि का संतोषप्रद उत्कर्ष हुआ।

वृत्त और छंद :—मराठी में तीन या चार प्रमुख जाति के छंद मिलते हैं। १ संस्कृत वृत्त जैसे शार्दूलविक्रीडित, वसंततिलका इत्यादि। किंतु इनका व्यवहार उत्तरोत्तर क्षीण हो रहा है क्योंकि इनमें नियमबद्धता है और स्वच्छंदवाद में यह बात खटकती है। २ पुराने मराठी छंद जैसे ओवी, अभंग, दिंडी और पद इत्यादि।

३ अंग्रेजी रचना प्रकार लीरिक याने भावगीत या वीणागीत, सुनीत sonnet और मुक्त छंद Free verse। भावगीतों की लयबद्ध और संगीत प्रधान रचना लोकप्रिय है। प्रगतिवादी कवियों ने मुक्त छंद का व्यवहार अधिकता से किया है। क्यों कि उसमें नियम बद्धता किसी भी प्रकार की नहीं होती। किंतु ऐसी रचना नादमधुर और श्रव्य नहीं बन सकती। वह पाठ्य होती है। काव्य की भाषा दिन प्रति दिन बहुजन सुलभ याने प्रासादिक हो रही है। संस्कृत सदृश दुर्बोध समास और पांडित्यदर्शक भाषा का व्यवहार समाप्त सा हो गया है। नये मराठी अर्थ बोधक शब्द व्यवहार में आ रहे हैं। केशवसुत ने और विशेषतः कवि रेंदालकर ने निर्यमक (अतुकांत) कविता की रचना करना प्रारंभ किया था। अब निर्यमकता को ओर आधुनिक कवि बहुत बढ़ रहे हैं। काव्य का बाह्यांग निर्धन हो रहा है और स्वच्छंद हो रहा है किंतु अंतरंग (अर्थ) दिन प्रति दिन समृद्ध हो रहा है।

नई काव्य धारा (प्रगतिवादी काव्य) १९४५–५३—वैसे देखा जाय तो क्रांतिकारी कवि केशवसुत ने १८६३ में ही प्रगतिवाद के बीज मराठी काव्य में बो दिये। उनके शिष्य गोविंदाग्रज ने १९१२ मे केशवसुत के प्रगतिवाद का भरसक समर्थन किया। इन दोनों के प्रगतिवाद का स्वरूप मानवतावादी था। उन्होंने स्वतंत्रता, समता और बंधुत्व का नारा लगाया। किंतु यह वैज्ञानिक प्रगतिवाद नहीं था, आदर्शवादी प्रगतिवाद था। देश की विषम अवस्था में सबों का ध्यान राजकीय क्रांति की ओर था, आर्थिक तथा सामाजिक क्रांति की ओर नहीं था। किंतु जैसे जैसे भारत स्वाधीनता के निकट पहुँचा वैसे वैसे आर्थिक क्रांति की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट होने लगा। अतः १९४५ के लगभग मराठी काव्य में एक नई धारा का सूत्रपात हुआ। अंग्रेजी कवियों की विशेषतः ईलियट और ऑडेन की कविताएँ पढ़ने से यह नई धारा प्रवाहित हुई। इसमें इलिएट प्रणीत विफलता और घृणा तथा ऑडेन पुरस्कृत समाजवादी दृष्टिकोण का समन्वय है। मराठी में कवि बा० सी० मर्ढेकर, कवि मुक्तिबोध, श्री भावे, विंदा करंदीकर, कर्णिक इत्यादि कवि इस नई धारा को प्रबल बनाने की चेष्टा कर रहें हैं। वर्ग युद्ध छेड़कर साम्यवाद की स्थापना करवाने का ये संदेश देते हैं। किंतु इनका काव्य घृणास्पद यथार्थवादी चित्रण और वर्णनों से ओतप्रोत होता है। इनके काव्य प्रतीकों के प्रति आकृष्ट होना कठिन है। बीभत्सरस (जुगुप्सा) का ये आविर्भाव करते हैं अतः काव्य की रमणीयता और आह्लादक्षमता नष्ट हो जाती है। काव्य में दुर्बोधता दिखाई देती है। अतः पाठकों को पढ़ने में कठिनाई का अनुभव होता है। इसमें निराशा बहुत छायी है। मुक्तिबोध नवकाव्य के आशावादी और ध्येयवादी कवि हैं। इनकी कविता में रमणीयता होती है। नई धारा (नव काव्य) के समर्थकों में ध्येय की एकता का अभाव है अतः इसका ठोस स्वरूप जनता के सन्मुख प्रभावकारी रीति से नहीं आ सका। सामाजिक विद्रोह और क्षोभ-निर्माण करना ही ध्येय होने से काव्य में प्रचार की मात्रा बहुत अधिक होती है। रचना भी मुक्त छंदों में गद्य सदृश होने लगी है। अतः क्रमशः काव्यत्व ही लुप्त हो रहा है। यह काव्य सामयिक समस्याओं का चित्रण करता है अतः लोग उसे पढ़ते हैं। यदि नई धारा के कवि अपनी रचनाओं को सुंदरता, सुरसता और सुलभता आदि काव्य गुणों से अलंकृत करेंगे तो नई धारा (नवकाव्य) बड़ी समाजोपकारी सिद्ध होगी।

विशिष्ट कवि

केशवसुत, कृ० के० दामले--(१८६६-१९०५) प्रायमरी स्कूल के अध्यापक रहे, क्लार्क बने और विपन्नावस्था में अल्पायु स्वर्गवासी हुये किंतु प्रतिभा की दैवी देन आपको प्राप्त हो गयी थी। अंग्रेजी काव्यों की सभी विशेषताएँ कलात्मकता से मराठी में लाने की केशवसुत ने सफल चेष्टा की। प्रेमगीतों की रचना करनेवाले ये प्रथम आधुनिक कवि हैं। प्राकृतिक काव्य की रचना करनेवाले भी ये ही प्रथम कवि हैं। उन्होंने काव्य प्रयोजन, काव्य कारण और कवि की श्रेष्ठता का स्पष्टता से प्रतिपादन किया। कवि सब बंधनों से परे है, वह प्रति-सृष्टि-निर्माता है, वह आत्माविष्कार में प्रामाणिक हो, काव्य को सामाजिक विषमता से लोहा लेना चाहिए आदि तत्वों का उन्होंने प्रबल समर्थन किया। आवेश और स्फूर्ति उनकी विशेषता है। जीव जगत् और ईश्वर संबंध में आपने रहस्यवादी कविताएँ रचीं। अंग्रेजी सानेट को सुनीत बनाकर मराठी में लाए। संस्कृत वृत्तों की जगह मात्रा वृत्तों का और छंदों का व्यवहार किया और छंदों में नवीनता का समावेश किया।

काव्य संग्रहः--केशवसुतांची कविता।

रेव्हरंड नारायण वामन टिलक (१८६२—१९१९) मराठी के वर्डस्वर्थ कहलाते हैं। आपने फूलों और बच्चोंपर लगभग चालीस स्फुट कविताएँ रची हैं अतः आपको 'फूलों और बच्चों' का कवि कहते हैं। आपकी शिक्षा मेट्रिक तक हुई थी किंतु आपकी वृत्ति दार्शनिक की थी। आपने संस्कृत और अंग्रेजी काव्यों का सूक्ष्म अध्ययन किया था। आपने केशवसुतजी से आधुनिक ढंग का काव्य रचना करने की प्रेरणा प्राप्त की। आपके काव्य की ये विशेषताएँ हैं, १ प्रवृत्तिवाद का समर्थन २ प्राकृतिक वर्णनों से पाठकों को बोध देने का ढंग ३ बालकों की मनोरचना का यथार्थ और सुंदर चित्रण ४ सामाजिक विषमता का घोर विरोध ५ मातृभाषा के प्रति निष्ठा ६ प्रासादिक और प्रसन्न रचना शैली। आपने मराठी का साहित्य समृद्ध किया।

काव्य ग्रंथ—१ टिलकांची कविता २ अभंगांजली इत्यादि।

राष्ट्रीय कवि वि. ज. करंदीकर (१८७२-१९०९) ने मराठों और राजपूतों के वैभवशाली इतिहास का, वीरों का और वीर रमणीओं का स्फूर्तिदायी काव्यों में यश वर्णन किया। आपकी दृष्टि समृद्ध और स्वतंत्र अतीत पर थी। अतः आपने आंग्ल विद्या विभूषितों में अतीत के प्रति प्रेम निर्माण किया और उन्हें गत वीरों का अनुकरण करने की प्रेरणा दी। आपने छायावादी कविता लिखी है। आपकी रूपकात्मक कविता सरस है।

काव्य ग्रंथ—विनायकाची कविता

श्री दत्तात्रय कोंडो घाटे (१८७५—१८९९) एक उच्च प्रतिभा के कवि थे। अल्पायु होने से आपकी काव्य रचना कुछ कम रही किंतु गुणों की दृष्टि से वह बहुत ही संपन्न है। आप एक श्रेष्ठ शिशुगीतकार थे। प्राकृतिक वर्णन में आप सिद्धहस्त थे। करुण रस परिपूर्ण काव्यों की आपने रचना की। उनकी नादमधुरता और आह्लाददायिता कुछ और ही है।

काव्यग्रंथः—दत्तांची कविता

गोविंदाग्रज, रामगणेश गडकरी (१८८५—१९१९) भाषा की मोहिनी, कल्पना का उत्तुंग विलास, भावोत्कटता तथा ध्वनिसौंदर्य का मधुर आस्वाद यदि कोई लेना चाहे तो गोविंदाग्रज की काव्य संपदा का अवलोकन करे। आप मराठी के बायरन तथा शेली हैं। प्राकृतिक काव्य रचना की तथा प्रेम संबंधी काव्य रचना की प्रेरणा आपने उन्हीं से प्राप्त की। प्राचीन मराठी के पंडित महाकवि मोरोपंत से आपने भाषा वैभव और अलंकारों की रचना करने की शिक्षा प्राप्त की। इस श्रेष्ठ कवि का जीवन दुखों से और आपदाओं से ओतप्रोत था। प्रेम में भी वे असफल थे अतः आपकी प्रेमविषयक कविता प्रेमभंग, प्रिय विरह, और निराशा से प्रेरित तथा ओतप्रोत हैं। किंतु आत्मनिष्ठ होने से अतीव रसभीनी है। आपने केशवसुत का शिष्यत्व स्वीकार किया था अतः आपकी रहस्य वादात्मक कविता उनके ढंग की है। आपने सामाजिक विषमता का घोर विरोध किया। आपकी रचना आस्वाद्य है वर्ण्य नहीं है। उसका विनोद तथा व्यंग्य हृद्य है।

काव्यग्रंथः—'वाग्वैजयंती'

श्री एकनाथ पांडुरंग रेंदालकर (१८८७–१९२०) की काव्य रचना विपुल, विविध और मनोहर है। केशव सुत का आवेश, टिलक का वात्सल्य और गोविंदाग्रज का वाणी-विलास का मनोहर त्रिवेणी संगम आपके काव्य में है। आप पर प्राचीन मराठी कवियों की कृतियों का भी सुंदर प्रभाव पड़ा था। आपकी काव्य की ये विशेषताएँ हैं—१. प्राकृतिक रचना, २ प्रेमपरता और आत्मनिष्ठा, ३. सामाजिक विषमता का विरोध (अंग्रेजी काव्यों का रूपांतर) ५. आशावाद का समर्थन। निर्यमक कविता रचना करने की प्रथा आपने ही चालू की। निर्यमक कविता की स्फूर्ति आपने बंगला के कवि मधुसूदन दत्त से प्राप्त की थी। काव्यग्रंथ,—रेंदालकरांची, कविता भाग १–३

बालकवि त्र्यंबक बापूजी ठोमरे (१८९०—१९१८) यथार्थ में प्रकृति के कवि थे। बाल्यावस्था से ही प्रकृति के दर्शन में आप तन्मय रहते थे, मानो प्रकृति ने ही आपको काव्य रचना की प्रेरणा दी। १९०७ में महाराष्ट्र कवि संमेलन में आपका 'बालकवि' कहकर सम्मान किया गया। आपका और टिलक का घनिष्ट प्रेम-संबंध था। बालकवि प्रकृति के सौंदर्य का आस्वाद लेना और चखाना चाहते थे। वे केवल शुद्ध सौंदर्यवादी थे। प्राकृतिक सौंदर्य वर्णन द्वारा उन्होंने कोई संदेश देने की चेष्टा नहीं की। संदेश देना कवि का कार्य वे नहीं मानते थे। उनकी वर्णन शैली इतनी हृद्य और यथार्थ है कि कविताएँ पढ़ते समय उन प्राकृतिक रूपों को मानो हम प्रत्यक्ष देख रहे हैं ऐसा आभास होता है। अतः इस आनंदवादी कवि ने केवल प्राकृतिक रचना ही की। और प्रकृति देवी ने उन्हें अपनी ओर शीघ्र ही खींच लिया।

ग्रंथः—बालकवीची समग्र कविता।

बी. नारायण मुरलीधर गुप्ते (१८७२—१९४७) एक श्रेष्ठ प्रतिभा के रहस्यवादी कवि थे। रहस्यवाद का इतना कलात्मक आविष्कार आपने ही किया। उन्होंने सामाजिक स्पृश्यास्पृश्यता का तीव्र विरोध किया। सरकारी मामूली क्लर्क होते हुए भी देश प्रेम से ओतप्रोत व्यंग्य काव्य रचना की और मराठी काव्य को समृद्ध किया। ग्रंथः—

फुलांची ओंजल—इसी समय श्री रहालकर, राधारमण, विट्ठलराव लेंभे, मिडे, श्री कृ० कोल्हटकर, न० चि० केलकर आदि कवियों ने बहुमूल्य और सरस रचनाएँ कीं।

राजकवि भास्कर-राव ताँबे (१८७४—१९४१) गवालियर के राजकवि थे। श्री तांबे 'कला के लिए कला' सिद्धांत के एकनिष्ठ अनुयायी और प्रचारक थे। उन्होंने काव्य की निरपेक्ष उपासना की। संस्कृत कवि जयदेव की काव्य शैली का आपने भरसक अनुकरण किया। आपकी रचना में तालबद्धता और रागप्रेम विशेष रूप से दिखाई देता है। अंग्रेज कवि ब्राउनिंग के समान नाट्य गीतों की भी आपने रचना की। ताँबे के प्रेमगीत अतीव मधुर और नादगुणयुक्त हैं। आपका जीवन प्रसन्न और समाधानी था अतः आपकी कविता भी प्रसन्न, स्वस्थ और निरामय आनंददायिनी है। शुद्ध सौंदर्य का आपने आह्लाददायी आविष्कार किया। यत्र तत्र सामाजिक क्रांति की झलक दिखाई किंतु वह नगण्यसी है। आपकी लोकप्रियता असीम थी। ग्रंथ—तांबे की समग्र कविता।

राजकवि चंद्रशेखर—(१८७१-१९३७) कवितारति और कविताक्रीड थे। वे बड़ोदा के राजकवि थे। आपकी रचना नादमधुर और भावमधुर है। चीनी जैसी अंतर्बाह्य मधुर होती है वैसी ही आपकी काव्यकृति है। वह निर्दोष, व्यवस्थित ढंग की और अनुविचारसंचारिणी है। उसका उद्भव भावउत्कटता से होता है किंतु परिष्कृत विचारों से होती है। अतः उसमें विचार सौंदर्य की झलक है। आपने प्राकृतिक गीतों और कथात्मक गीतों की बहुलता से रचना की है। पदलालित्य और अर्थ गौरव का मनोहर संगम उसमें है। आप मराठी के टेनिसन कहलाते हैं। ग्रंथः—चंद्रिका, स्फुट कवितांचा संग्रह इत्यादि

डा माधव त्र्यंबक पटवर्धन (१८९४-१९३९) एम. ए. पी. एच. डी. ने दो खंड काव्यों की और विपुल स्फुट कविता की रचना की। आपमें पांडित्य और प्रतिभा का रम्य सहवास हुआ। आप फारसी और अरबी के प्रकांड पंडित थे अतः आप सूफी प्रेम मराठी में लाए। उर्दू का गजल मराठी में लोक प्रिय बनाया। अंग्रेजी sonnet सुनीतों की लोक प्रियता बढ़ायी, श्रेष्ठ रहस्यवादी कविता की रचना की और उपहासपर काव्य रचना की प्रथा चालू की। उमरखैयाम का 'द्राक्षकन्या' नामका सरस अनुवाद किया और मेघदूत सा 'विरह तरंग' खंड काव्य रचा। काव्यग्रंथः-सुधारक, विरह तरंग, सुनीत संग्रह, गज्जलांजलि।

गिरीश उर्फ शं. ग. कानेटकर (१८९३—) मराठी काव्य को गाने योग्य बनाने का प्रथम श्रेय आप को है। आपने ही मधुर कविता पाठकी प्रथा का श्रीगणेश किया। आप जब कविता पाठ करते हैं तब श्रोतृबृंद मुग्ध हो जाता है। आपने खंड काव्यों की सरस रचना की। फुटकर काव्य भी प्रचुर मात्रा में रचा। आप एक लोकप्रिय कवि हैं। काव्यग्रंथः अभागी कमल, आंबराई, मानसमेघ।

राजकवि यशवंत (१८९९...) इस युग के सर्वश्रेष्ठ मराठी कवि हैं। १९३९ में बड़ोदा सरकार ने आपको राजकवि बनाकर गौरवान्वित किया। आप राजकवि और लोककवि भी हैं। १९१८ में आपने काव्य रचना प्रारंभ की। तब से अभी तक आपका काव्य स्रोत अखंडता से बहता है। आपकी ये विशेषताएँ हैं। १ समाजमन का यथार्थ आविष्कार २ प्रसाद, ओज और माधुर्य का मनोहर संगम ३ भावगीतों की रसभीनी रचना ४ काव्यों की गान प्रधान रचना ५ खंड काव्यों की विदग्ध

और प्रभावोत्पादक रचना ६ सामयिक समस्याओं का कौशल युक्त प्रदर्शन ७ छायावाद (प्राकृतिक रचना) और रहस्यवाद का विदग्ध उद्‌घाटन। आप भी प्रभावी काव्यपाठ करते हैं अतः आपकी लोकप्रियता निर्विवाद है। काव्य ग्रंथ—यशोगंध, यशोधन, यशवंती, यशोगिरी, जयमंगला, काव्य किरीट।

श्री. वा. गो. मायदेव (१८६४—) ने विपुल शिशुगीतों की और स्त्री गीतों की रचना की। आपकी रचना में कल्पना विलास, भावविलास और समाजाभिमुखता प्रचुरतासे रहती है। नाटय गीतों की रचना भी सरस है।

अनिल याने आ. रा. देशपांडे (१६०१......) एक वैशिष्ट्यपूर्ण कवि हैं। आपकी कविता में भावोत्कटता और शुद्ध तथा उदात प्रेमका आविष्कार रहता हैं। आपने खंडकाव्यों की सरस रचना की। आप मराठी में मुक्त छंद (Free verse) के प्रवर्तक हैं। आप मानवतावादी कवि हैं।

काव्यग्रंथः—फुलवात, भग्नमूर्ति, पेर्तेव्हा इत्यादि

श्री. वा. ना. देशपांडे (१६०५...) एक गंभीर प्रकृति के कवि हैं। आपने कलात्मक नाटयगीतों की और रहस्यमय कविताओं की सफल रचना की। काव्यग्रंथ—आराधना और स्फुट कविता

प्रो. भ श्री. पंडित (१६०६···) श्रेष्ठ शिशुगीतकार हैं। आपकी रचना में उन्मेष और उद्रेक की कोमलता और भीषणता का मनोहर संगम है। आपका भविष्य उज्ज्वल है। ग्रंथ—पिचलेला पावा और उन्मेष और उद्रेक इत्यादि।

कविभूषण ब० ग० खापर्डे (१८६०···काशी हिंदू विश्वविद्यालय में मराठी भाषा के प्रोफेसर थे। आपने 'काव्य कांतार, काव्याकांतारांतील फुलें, सर्व-स्वाचीं गद्यगाणीं और अनन्तास हाक' इत्यादि काव्यग्रंथों की रचना की। आपकी रहस्यवादी कविता कोमलपद लालित्य से पाठकों को शीघ्र ही आकर्षित करती है। आपके काव्यों में शुचिता, भावोत्कटता और नादमधुरतादि गुणों का मनोहर त्रिवेणी संगम है।

राष्ट्रीय कवियों में **गोविंदराव दरेकर और बै० वि० दा० सावरकर** का विशेष स्थान है। बै० सावरकर जी ने दो वीररस परिप्लुत खंड काव्यों की सरस रचना की। आपका स्फुट काव्य भी सरस है। आप में महाकवि की प्रतिभा निहित है। किंतु इसका आविष्कार करने का अवकाश आपको न मिल सका। काव्यगुणों से परिपूर्ण आपकी रचना है। काव्य-ग्रंथ रानफुलें, कमला, सप्तर्षी, गोमान्तक इत्यादि।

साने गुरुजी (१८६६–१६५०) ने 'पत्री' नामका सरस काव्यग्रंथ लिखा। देवभक्ति और देशभक्ति का भावपूर्ण चित्रण इसमें है। आप एक प्रकार का उच्च, सात्विक, सेवामय भाव का सौंदर्यमय दर्शन पाठकों को करवाते हैं।

कुसुमाग्रज (१६१२···) एक प्रगतिवादी और सामाजिक क्रांतिवादी राष्ट्रीय कवि हैं। गरीबों की दुर्दशा और आर्थिक विषमता देखकर उनका खून उबलता है। अतः वे काव्यों में क्रांति का संदेश देते हैं। उनमें आशावाद भी वहुत प्रबल है। काव्यग्रंथः—जीवन लहरी, विशाखा, स्फुटकाव्य इत्यादि।

श्री कांत, श्री बोरकर, रेगे, कालेले आधुनिक लोकप्रिय कवि हैं।

आचार्य प्र० के० अत्रे (१८६६···) एम० ए० बी० टी० टी० डी० एक उच्च कवि हैं। आपकी प्रतिभा सर्वमुखी है। आपने सरस स्फुटकाव्य की और तीखे उपहासपर काव्यों की विपुल रचना की। ग्रंथ—गीतगंगा, झेंडुची फुलें इत्यादि।

मराठी कवयित्री—श्रेष्ठ कवि रेव्हरंड ना. वा. टिलक की धर्मपत्नी श्रीमती लक्ष्मी-बाई टिलक ने 'भरली घागर' सरस काव्यग्रंथ लिखा। इसमें विपुल सरस काव्य रचना है। आप केवल पति सहवास से कवयित्री हुईं।

संजीवनी मराठे (१६०७···) ने भी भावमधुर, नादमधुर, प्रसादपूर्ण और छायावादी काव्यों की रचना की। आप उत्कृष्ट काव्यगायिका भी हैं। आप की काव्य संपदा सरस है और उसका भविष्य काल भी उज्ज्वल है। काव्य—संसार, छाया, संजीवनी इत्यादि।

शांता शेलके (१६०६···) ने 'वर्षा' नाम का सरस काव्य संग्रह रचा। आपकी रचना छायावादी है। भाव निष्ठता और भाषा की प्रासादिकता आपकी विशेषता है।

इंदिरा बाई संत (१६०६) ने दो काव्य ग्रंथों की अत्यंत सफल निर्मिति की। वे हैं 'शेला' और 'सहवास'। इनमें पतिप्रेम, मातृप्रेम, अपत्यप्रेम और पारिवारिक कर्तव्यों का भावमय चित्रण है। सौ. विमलाबाई देशपांडे, सौ. निवेदिता विनीत आदि अन्य कवयित्रीओं ने मराठी कविता को सजाया।

नाट्य-साहित्य (१८६३ से १६५३)

नाट्य-विधानों में विकासः—मराठी भाषाभाषियों को अपने नाट्यसाहित्य पर और रंग मंचपर गर्व है। क्योंकि मराठी नाट्यसाहित्य समयानुकूल परिवर्तन और विकास करता आया है। यह नाट्य वाङ्मय पूर्णतया समाजाभिमुख है और रंगमंच लोक रुचि के अनुसार विकासशील है। सर्वप्रथम हम नाट्यविधानों के विकास का यहाँ सिंहावलोकन करेंगे तत् पश्चात् रंगमंच की ओर मुड़ेंगे।

पौराणिक नाटक—प्रायः संसार की सब भाषाओं के नाट्य साहित्य की पहली अवस्था पौराणिक ही रही है। भारत में पौराणिक कथाओं का विशाल और अगाध सागर उमड़ रहा है अतः पहले नाट्य कथानक पुराणों से लेना स्वाभाविक था। मराठी का पहला नाटक श्री विष्णुदास भावे ने १८४३ में लिखा और रंग मंच पर उसी वर्ष सांगली महाराज के प्रोत्साहन से खेला गया। इस नाटक का नाम था 'सीता स्वयंवर'। पौराणिक कथाओं में अद्भुत, रम्य और उत्कृष्ट प्रसंग ओतप्रोत होते हैं और श्रद्धालु बहुजन समाज को पौराणिक देव देवताओं के प्रति आदर और पूज्यभाव रहता है अतः लोकप्रिय कृतियों के लिए पौराणिक कथानकों का भरसक व्यवहार किया गया। रामायण, महाभारत, शिव पुराण इत्यादि में से सैकड़ों कथानकों पर मराठी में पौराणिक नाटक लिखे गये। पौराणिक नाटकों के तीन प्रकार हैं। प्रथम पुराणों में से ज्यों की त्यों कथा लेकर नाटक लिखना है। इसमें लोकानुरंजन ही प्रधान हेतु है। इसमें मौलिकता तथा नवीनता नहीं होती। दूसरा प्रकार पौराणिक कथानकों में परिस्थिति के अनुसार परिवर्तन करके व्यंग्य द्वारा लोकानुरंजन के साथ साथ जनजागरण का प्राभोत्पादक संदेश देना है। अतः खाडिलकर स्कूल

के नाटकों में मौलिकता और नवीनता लबालब रहती है और कलात्मकता का चमत्कार रहता है। पहले प्रकार के नाटकों की रचना श्री भावे, श्री त्रिलोकेकर, श्री कीर्लोस्कर आदि ने की थी किंतु दूसरे कलात्मक प्रकार की रचना अतीव सफलता से नाटकाचार्य खाडिलकर ने की। कृ. प्र. खाडिलकर ने, कीचक वध, सवतीमत्सर, सत्वपरीक्षा, मेनका, द्रौपदी, स्वयंवर और विद्याहरण आदि लगभग दस नाटकों की रचना की और मराठी नाटककारों में सर्व श्रेष्ठ स्थान प्राप्त किया। श्री खाडिलकर जी की नाट्य-रचना-शैली अनूठी है। वे सामयिक राजकीय समस्याओं को पौराणिक कथानकों में व्यंग्य के द्वारा प्रभावशाली रीति से ध्वनित करते थे। वे इस काल में इतने सफल थे कि उनका गद्य नाटक कीचकवध अंग्रेज सरकारने लभ भग बीस वर्षों तक जब्त किया था। मराठी पौराणिक नाटकों का उत्कर्ष नाट्याचार्य खाडिलकर जी के नाटकों में हुआ। उनके पश्चात् श्री न० चिं० केलकर श्री दीक्षित, वरेरकर, पटवर्धन, बामणगांवकर, शुक्ल और बेडेकर इत्यादि लोकप्रिय नाटककारों ने इस प्रकार के कलात्मक नाटक लिखे।

संतों का चरित्र चित्रण—सचमुच देखा जाय तो संतों का चरित्रचित्रण करने वाले नाटकों की गणना ऐतिहासिक नाटकों में होनी चाहिए किंतु संतों के चरित्रचित्रण में इतनी अद्भुत चमत्कारपूर्णता रहती है कि उसकी गणना पौराणिक प्रकार में ही करना उचित है। इस प्रकार के नाटकों में संत तुकाराम, संत तुलसीदास, समर्थरामदास, मीराबाई संत सखुबाई, कान्होपात्रा और अन्य कई लोकप्रिय नाटकों की रचना हुई। मराठी के उपन्याससम्राट् श्री ह. ना. आपटे ने भी दो संत चरित्रों पर नाटकों की सफल रचना की। संतों के प्रति भारतवासियों का स्वाभाविक आदर होता है अतः ये नाटक तुरंत लोकप्रिय होते हैं।

ऐतिहासिक नाटक—पौराणिक देव देवताओं के पश्चात् ऐतिहासिक वीरों और वीर रमणियों के प्रति साधारण मानव का आदर होता है। अतः नाट्य कथानक के विकास में इसका दूसरा स्थान है। इस में भी दो प्रकार के नाटक होते हैं। पहला प्रकार ऐतिहासिक वीरों और उनके पराक्रम परिपूर्ण घटनाओं का ज्यों का त्यों चित्रण करता है। इस में नाटककार की तटस्थता होती है। वह ऐतिहासिक प्रसंगो का चित्रण केवल लोकरंजन के लिए भावपूर्णता से करता है। १८९३ के पूर्व इस प्रकार लग भग डेढ़ सौ नाटक मराठी रंग मंच पर अभिनीत होते थे। किनु १८९३ नाट्याचार्य खाडिलकर ने इसमें भी क्रांति ला दी। उनके 'कांचनगड की मोहना' ऐतिहासिक नाटक ने स्वाभिमान और देशाभिमान का संदेश दिया। 'भाऊबंदकी याने भाई भाई का वैर' नाटक ने एकता का संदेश दिया और अंग्रेज सरकार के विरुद्ध सब भारतवासियों में मिलकर लड़ाई छोड़ने की प्रवृत्ति का निर्माण किया। आपसी फूट से हम स्वराज्य खो बैठे अतः एकता की आवश्यकता उन्होंने दिग्दर्शित की। उनके पश्चात् साहित्यसम्राट न० चिं० केलकर ने 'चंद्रगुप्त' अमात्य माधव और ठग का बिद्रोह ऐतिहासिक नाटकों की सफल रचना की। इनमें ठग का बिद्रोह भाषाविलास, कथोपकथन कौशल और विनोद के लिए विशेष पसिद्ध है। खरे ने भी शिवसंभव, उग्रमंगल, गुणोत्कर्ष इत्यादि नाटकों की रचना की। श्र. य. ना. टिपणीस ने चंद्रग्रहण, शाहशिवाजी, शिवाजी की शह, शिका कट्यार इत्यादि लोकप्रिय नाटकों की

रचना करके मराठी का नाट्य साहित्य संपन्न किया । श्री रामगणेश गडकरी ने राजसंन्यास नाटक लिखकर आदर्श राजा लोगों के समक्ष उपस्थित किया । यह नाटक उसकी काव्यात्मक तथा अलंकृत भाषावैभव के लिए अक्षर वाङ्मय हो गया। भाषा-विदग्धता की यही अनूठी कृति है । मराठी भाषा के वैभव की यह नाटक सीमा है । श्री औंधकर जी ने गडकरी का अनुकरण किया और बेबंदशाही और आगरा से मुक्ति दो अति लोकप्रिय नाटकों की रचना की । उनका तीसरा नाटक 'उमाजी नाईक' भी लोगों को बहुत ही पसंद आया । बं. वि. दा. सावरकर ने 'उत्तरक्रिया' नाटक लिखा और श्री दीक्षित, अच्युतराव कोल्हटकर, श्री बरेरकर जी, सावरकर, गुप्ते इत्यादि ने ऐतिहासिक नाटकों की रचना की किंतु यह मानना होगा कि इस प्रकार के नाटक अभी नहीं के बराबर ही लिखे जाते हैं ।

स्वच्छंदवादी नाटक (कल्पनारम्य नाटक)—शेक्सपिअर तथा मोलियर के रोम्याँटिक नाटकों के अध्ययन से प्रेरणा प्राप्त कर साहित्य सम्राट श्रीपाद कृष्ण कोल्हटकर ने सर्व प्रथम कल्पना रम्य नाटकों का सूत्रपात मराठी रंग मंच पर किया । पौराणिक तथा ऐतिहासिक नाटकों में कथानकों की मर्यादाओं से नाटककार की कल्पनाशक्ति स्वैर विहार नहीं कर सकती । वहाँ कथानक का सत्य वारंवार नाटककार को अडाता है । वैसे ही चरित्र चित्रण में नाटककार की नव निर्माण क्षमता दिखाने का क्षेत्र बहुत ही संकीर्ण होता है । अतः स्वतंत्र नाटक रचना में लेखक अपनी कल्पनाशक्ति, प्रतिभा, चरित्र चित्रण का कौशल और कथोपकथन की चतुराई स्वच्छंदता से प्रदर्शित कर सकता है । इसमें नाटककार की सर्वांगीण मौलिकता का दर्शन होता है । कोल्हटकर (कोल्हटकर स्कूल) ने स्वतंत्र याने स्वविरचित कथानकों के 'वीरतनय', 'मूक नायक', 'प्रेमशोधन' 'गुप्त मंजुष' इत्यादि बारह नाटकों की रचना की । आप इस स्कूल के आचार्य हैं । आप के नाटकों में मार्मिक विनोद, आकर्षक काव्यात्मक भाषा और संलाप, मिश्र कथानक इत्यादि का मनोहर समन्वय है । इनके पश्चात् नाट्याचार्य खाडिलकर ने संगीत मानापमान नामक लोकप्रिय कल्पनारम्य नाटक रचा । कोल्हटकर के शिष्य गडकरी ने 'पुण्यप्रभाव' और 'भावबंधन' दो नाटकों की सफल और लोकप्रिय रचना की । स्वच्छंदवादी नाटकों का उत्कर्ष गडकरी के नाटकों में हुआ । आपका विनोद अनूठा है, भाषाशैली अद्वितीय है और चरित्रचित्रण प्रभावोत्पादक है । इनके पश्चात् वीर वामनराव जोशी ने 'राक्षसी महत्वाकांक्षा, धर्मसिंहासन, रण दुंदुभि' ये तीन नाटकों की सफल रचना की । इनके कथानक देशभक्ति से ओतप्रोत हैं भाषा आग्नि जैसी दाहक है । सबों में वीररस लबालब है । वीर वामनराव केवल वीररस ही जानते हैं । भवभूति जैसे वे एक रसवादी हैं । किंतु इन नाटकों के कथानक कल्पनारम्य हैं । श्री माधवराव पाटणकर, नेवालकर इत्यादि ने कल्पनारम्य नाटकों की रचना की । श्रेष्ठ नाटककार वरेरकर ने भी स्वच्छंदवादी नाटकों की रचना की । किंतु जैसे जैसे समाज यथार्थवादी होने लगा वैसे वैसे कल्पनारम्य नाटकों का आकर्षण क्षीण होता गया ।

सामाजिक नाटक तथा **सामयिक उपादानों पर रचित नाटक**—मराठी नाट्य वाङ्मय और रंगमच की यह विशेषता है कि वे प्रारंभ से ही समाजाभिमुख रहे हैं । अतः सामयिक, सामाजिक, धार्मिक, राजकीय तथा आर्थिक समस्याओं पर नाटकों की रचना

हुई । श्री विष्णुदास भावे ने १८४५ में एक 'बगुला भगत' नाटक अभिनीत किया था। उस समय ढोंगी भगतों का उपद्रव समाज में बढ़ रहा था ! अतः उसका प्रतिकार उन्होंने इस नाटक से किया । महाराष्ट्र में स्त्री शिक्षा, विधवा विवाह, पुनर्विवाह, विषम विवाह, प्रेम-विवाह, दहेज की प्रथा, बाल विवाह इत्यादि स्त्री समाज सुधारणाओं की समस्याएँ उपस्थित हुई । उन सबों का नाटक में उद्घाटन करके समाज जागरण का सफल कार्य संपन्न हुआ । १८८० में श्री देवल ने संगीत शारदा नाटक लिखा । इसमें बालावृद्ध विवाह याने विषम विवाह का जोशीला विरोध किया गया है। श्री कोल्हटकर जी के नाटकों में स्त्री स्वातंत्र्य, स्त्री पुरुष समता, प्रेम विवाह आदि का समर्थन किया है। उनके मति विकार और जन्म रहस्य ये दो नाटक अति सफल और अमर वाङ्मय कृतियां हैं । उनके प्रशिष्य श्री गडकरी ने प्रेम संन्यास नाटक में विधवा विवाह का भरसक समर्थन किया है और प्रेम विवाह की आवश्यकता प्रतिपादन की है। मराठी के प्रथितयश नाटककार श्री वरेरकरजीने 'यह ही लड़के का पिता' नाटक में दहेज की दुष्ट प्रथा का विनाशक स्वरूप चित्रित कर समाज को इस प्रथा को समाप्त करने का संदेश दिया है । वरेरकरने 'पतित परावर्तन, अछूतोद्धार, पूंजीपति और मजदूर, राष्ट्रीय आंदोलनों में वकील, स्वयंसेवक तथा सेविकाओं का कार्य, धर्मसुधारणा, इत्यादि सामयिक समस्याओं को अपने नाटकों के विधान बनाया। इसमें श्री वरेरकर अनन्य सामान्य नाटककार हैं। आपने नेताजी सुभाष बाबू पर भी 'सिंगापुर की ओर' नाटिका लिखी । शराब के व्यसन की विनाशक भयंकरता दिग्दर्शित कर उसे बंद करने का संदेश श्री कोल्हटकर और गडकरी ने अपने मूकनायक और एक ही प्याला नाटकों में दिया । ये दो नाटक अक्षरवाङ्मय है। मराठी के नाट्य साहित्य के ये मूल्यवान अलंकार हैं। श्री वर्तक, श्री भोले, आचार्य आत्रे और श्री रांगनेकर इत्यादि लोकप्रिय और सफल नाटककारों ने सामयिक सामाजिक समस्या प्रधान नाटकों की रचना करके मराठी नाट्य को समृद्ध किया और वे कर रहे हैं। श्री वरेरकर ने ग्याल्सवर्दी का, जार्ज बर्नार्डशॉ का अनुकरण किया और रांगणेकर इब्सेन का अनुकरण कर रहे हैं। संक्षेप में मराठी नाटकों के विधानों में समयानुकूल परिवर्तन और विकास होता गया और हो रहा है। और यही उसकी सफलता का एक कारण है।

नाटकों के प्रकार—संस्कृत साहित्य के भरत मुनि विरचित नाट्य शास्त्रानुसार केवल सुखांत (Comedy) ही नाटक हो सकता है । अतः मराठी में संस्कृत से जितने नाटकों का अनुवाद किया गया है वे सब सुखांत ही हैं जैसे शाकुंतल, मृच्छकटिक, विक्रमोर्वशीय, सौभद्र इत्यादि मराठी के १८६३ पूर्व के पौराणिक नाटक सुखांत ही हैं किंतु नाट्याचार्य खाडिलकर जी ने शेक्सपिअरीन नाट्य तंत्र का भरसक अनुकरण किया और सरस शोकांत या दुःखांत नाटकों की रचना की। जैसे कीचकवध । श्री देवलजीने १८८५ के लगभग 'शारदा' यह सामाजिक कथानकात्मक सामाजिक नाटक रचा और यह सुखांत था। अतः यह मानना होगा कि अंग्रेजी नाटकों के विशेषतया शेक्सपियर के नाटकों के अनूदित या रूपांतरित नाटकों से ही मराठी में सफल और तंत्रशुद्ध दुखांत नाटक लिखने का सूत्रपात नाट्याचार्य खाडिलकर ने किया । उन्होंने पौराणिक, ऐतिहासिक

और अनूदित शोकांत नाटकों की कलात्मक और अमर रचना की। दुःखांत एक गंभीर नाटक होता है। इसमें चरित्रचित्रण की भव्यता, ध्येय की। उदात्त के लिए वलिदान देने की याने आत्मोत्सर्ग की श्रेष्ठ भाव भावनाओं का चित्रण करने का मौका मिलता है अतः खाडिलकर जैसे गंभीर और ध्येयदर्शी कलावंत को यह दुःखांत प्रकार अच्छा आता था। खाडिलकरजी ने अपने 'सवाई माधव राव की मृत्यु' ऐतिहासिक नाटक में शेक्सपिअर के हैम्लेट तथा ऑथेल्लो का मनोहर समन्वय किया। नायक सवाई माधवराव हॅम्लेट की प्रतिकृति है और दुष्ट पुरुष (Villain) केशव शास्त्री आयगो की प्रतिमूर्ति है। दूसरे दुःखांत नाटक में शेक्सपिअरीन संघर्ष (Conflict) संक्रांति (Crisis) और दुर्घटना (Catastrophy) इन तीन अंगों का स्वाभाविक विकास दिखाया जा सकता है। और उसका अंत प्रभावोत्पादक होता है। इनके पश्चात् श्री न० चि० केलकर, गडकरी, वरेरकर, टिपनीस और औंधकर इत्यादि नाटककारों ने कलापूर्ण और रसोत्पादक ऐतिहासिक दुःखांत नाटकों की रचना की। स्वच्छंदवादी नाटकों में भी ये दो प्रकार हैं। श्री खाडिलकर जी के मानापमान, कोल्हटकर जी का मूकनायक, गडकरी का भाव बंधन, वरेरकरजी का हाच मुलाचा बाप और सत्तेचे गुलाम इत्यादि अति लोकप्रिय, सुखांत स्वच्छंदवादी नाटक हैं। दुःखांत नाटकों में गडकरीजीका एकच प्याला, प्रेमसन्यास, कोल्हट-करजीका प्रेमशोधन आचार्य अत्रेजी के घरा बाहेर और उद्याचे 'संसार ये अमर नाटक हैं। यह मानना होगा कि दुःखांत रोमांटिक नाटक रचना का प्रथम श्रेय श्री गडकरीजी का है। नाटकोंका तीसरा प्रकार है प्रहसन या हास्यरस प्रधान नाटक। इसमें गंभीरताका अभाव होता है। इसका वातावरण हास्य प्रधान और कौतुक का होता है। ऐसे नाटक मराठी में पर्याप्त मात्रा में हैं। पागलों का बाजार, और खडाष्टक श्री शुक्लजी के, और अत्रेंजी के साष्टांग नमस्कार, लनाची बेडी, श्री रांगनेकर की कुछ नाटक कृतियाँ इनमें आती हैं। इस प्रकार का सर्वश्रेष्ठ नाटक है 'संशय कल्लोल'। यह नाटक श्री देवलजीने १६१६ में रचा। नाटकों का एक चौथा प्रकार है (Melodrama) अतिनाटकीय प्रसंगपूर्ण नाटक। इस प्रकार के नाटक में अद्भुत घटना, चमत्कारपूर्ण प्रसंगों और संयोग का अतिरेक रहता है। न तो चरित्रचित्रण रहता है, न तो सुसंबद्ध कथानक होता है। श्री कोल्हटकरजी का 'गुप्त मंजुष' गडकरीजीका पुण्यप्रभाव, वरेरकरजीका स्वयंसेवक इस जाति के हैं। पांचवा प्रकार उपहास या व्यंग्यपूर्ण नाटकों का होता है। इसका हेतु केवल किसी भी व्यक्ति का या संस्था का विकृत दिग्दर्शन व्यंग्य और उपहास द्वारा करना होता है। यह हास्यरस प्रधान होता है। अतः दर्शकों को तुरंत लुब्ध करता है। इस प्रकार में माधव राव जोशी के म्युनिसिपालटी, विश्ववैचित्र्य इत्यादि नाटकों की गणना है।

अनेकांकी तथा एकांकी नाटक—संस्कृत से जो अनूदित नाटक हैं जैसे मृच्छक-टिक, शाकुंतल इत्यादि के सात या आठ अंक होते हैं। संस्कृत नाटकों में अंकों की संख्या बहुत अधिक होती थी। अतः १८६३ तक मराठी के नाटको के अंक ७ या ८ होते थे। किंतु जो अंग्रेजी से अनूदित नाटक हैं उनमें तीन या चार अंक होते थे। जैसे हैम्लेट, मैकबेथ, ओथेल्लो इत्यादि। श्री किर्लोस्कर, देवल और कोल्हटकर इत्यादि के नाटकों की लंबाई ७ अंकों की होती थी और प्रत्येक अंक में तीन या चार दृश्य होते थे। वीर वामनराव

जोशी का रोम्यांटिक दुःखांत नाटक 'राक्षसी महत्वाकांक्षा' रात्रि के ९ बजे से सुबह के ७ बजे तक रंगमंच पर खेला जाता था। उपर्युक्त सब कलाकारों के नाटकों की यही अवस्था थी। किंतु नाट्याचार्य खाडिलकरजी ने अंग्रेजी ढंग के तीन अंक के नाटक लोकप्रिय करवाये। और ये शास्त्रशुद्ध भी होते हैं प्रथम अंक में संघर्ष दूसरे में संक्राति और तीसरे में दुर्घटना। खाडिलकर के पश्चात् गडकरी, शुक्ल, वरेरकर, अत्रे, टीपणीस, औंधकर, वर्तक इत्यादि कलाकारोंने प्रायः तीन अंकों के नाटक लिखे। सिनेमा का जमाना आ गया और दर्शकों को दो या ढाई घंटो की मनोरंजन की आदत लग गई अतः १९३२ से one Scene one act याने एक दृश्य [इप्सेन स्कूल] का एक अंक ऐसे तीन अंकों का ढाई या दो घंटों का नाटक देखने की अभिरुचि हुई। रांगणेकर, श्री वरेरकर अत्रे और श्री नागेश जोशी इत्यादि नाटककारोंने ऐसे नाटक सफलतासे लिखे। इनमें आशीर्वाद, वहिनी, कुलवधू, देवमाणूस, इत्यादि नाटक प्रमुख हैं। इसके पश्चात् अंग्रेजी ढंग के एकांकी नाटकों की सरस रचना गत सात सालों से हो रही है। रांगणेकर के सतरा वर्षे, फरारी, तुझे माझे जमेना और श्री वरेरकरजी की पांच एकांकिका इत्यादि सफल और कलापूर्ण एकांकी हैं। एकांकी के अभिनय के लिए संगीत अरुणोदय नाटक मंडली अभी बहुत लोकप्रिय है। संक्षेप में मराठी नाटकों के प्रकार में और आकार में समयानुकूल विकास शील परिवर्तन होता रहा है और हो रहा है।

नाटयसाहित्य की दो शाखाएँ—प्रारंभ से मराठी नाटकों में पद्य रहता था। यह संस्कृत नाटकों की देन है। यह पद्य का स्वरूप छंदों का था किंतु १८८० के लग भग श्री किर्लोस्करजी ने इस पद्य का विकास शास्त्रीय संगीत में किया। अब नाटकीय पद्यों की रचना संगीत शास्त्रीय ख्यालों के अनुसार सरस और मधुर होने लगी। संस्कृत से अनूदित नाटकों में जैसे संगीत मृच्छकटिक, शाकुंतल इत्यादि में पद्यों की बहुलता होती थी। संगीत मृच्छकटिक नाटक में लगभग ८० पद्यों की रचना है। नाटक का प्रारंभ सूत्रधार और नटी मंगलाचरण याने ईशवंदना पर पद्य से करते थे और नाटक का अंत भी ईश प्रशंसा पर पद्य से होता था। प्रायः सभी प्रमुख नट और नटिएँ प्रसंगानुकूल गाती थीं। किंतु जब अंग्रेजी नाटकों का अनुवाद प्रारंभ हुआ तबसे गद्यात्मक नाटकों का सूत्रपात्र हुआ। जब ये गद्यात्मक नाटक यशस्वितासे रंगमंच पर अभिनीत किये गये तब नाट्याचार्य खाडिलकर और गडकरी जैसे श्रेष्ठ नाटककारों ने अपने नाट्योंका गद्यात्मक आविष्कार किया। महाराष्ट्र नाटक मंडली केवल गद्यात्मक नाटकों को ही रंगमंच पर अभिनीत करती थी और भारत, चित्ताकर्षक मंडलिएँ गद्य नाटकों को खेला करती थीं। अब गद्य नाटक भी दर्शकों को लुब्ध करने लगे। नाट्याचार्य खाडिलकर ने अपने नाटकों का सूत्रपात ही गद्यात्मक नाटक सवाई माधवराव की मृत्यु से किया। आपने लगभग नौ गद्य नाटकों की सफल रचना की। उनमेंसे 'कीचकवध' दुःखांत पौराणिक नाटक मराठी का सर्वश्रेष्ठ और कलापूर्ण गद्यात्मक नाटक है। श्री न. चिं. केळकर, गडकरी, श्री टिपणीस, श्री औंधकरजी इत्यादि मराठी के सफल गद्यनाटककार हैं। श्री गडकरी का प्रेम सन्यास समाजिक दुःखान्त नाटक मराठी वाङ्मय की एक अमरकृति हैं। श्री औंधकरजी का 'बेबंदशाही' भी इसी प्रकार उत्कृष्ट नाटक है। गद्यात्मक नाटकों के कथानक गम्भीर, विचार प्रवर्तक और कुछ

न कुछ उदात्त संदेश देनेवाले होते थे। उनकी भाषाशैली प्रौढ़ और काव्यात्मक होती थी। नटों को अभिनय करने का अधिक अवसर मिलता था किंतु इन आदर्शवादी नाटकों को सिनामाने १९३२ के लगभग समाप्त कर दिया। लगभग पचास वर्षों तक गद्यात्मक नाटकोंने दर्शकों को आकर्षित किया। दूसरे पद्यात्मक या संगीत नाटकों की उन्नति होती रही। श्री कोल्हटकरजीने उर्दू के गज्जल और कव्वाली छंदों की देन नाटकों को दी। आपने नाटकीय पद्यों की संख्या भी घटा दी और उनकी शास्त्रीय संगीत की दृष्टि से योग्यता बढ़ाई! नाट्याचार्य खाडिलकर जी नें भी कलापूर्ण संगीत याने पद्यात्मक नाटकों की सफल रचना की। आपने लगभग नं. संगीत नाटक लिखे। उनमें संगीत 'स्वयंवर' सर्वश्रेष्ठ है। गडकरी ने तीन संगीत नाटकों की रचना की। उनमें संगीत एकच प्याला सामाजिक दुःखांत नाटक मराठी का अलंकार है। श्री वरेरकर ने लगभग बीस सफल संगीत नाटकों की रचना की। आचार्य अत्रे और काणेकर भी बहुत लोकप्रिय संगीत नाटककार हैं। मराठी दर्शक संगीत के शौकीन होने से मराठी नाटकों मेंसंगीत ओतप्रोत होता है। उसको (पद्यों की) रचना प्रसंगानुकूल और नाटक की कथा-वस्तु को गति देनेवाली होती है। कई नाटकों में पद्यों की बहुलता दिखाई देती है। किंतु १८२० से पद्यों की आवश्यक मात्रा में ही रचना होने लगी है। इन संगीत नाटकों के अभिनय से दर्शकों को गाने को मजा लूटने को मिलती है अतः संगीत नाटकों की शाखा सफलता से फूली और फलीं।

नाटकों में रसोद्रेक—नाटक को 'दृश्यकाव्य' कहते हैं। वाक्यं रसात्मकं काव्यम्। याने रसभीना वाक्य काव्य है ऐसी विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में काव्य की सर्वमान्य व्याख्या की है। इतना नहीं तो काव्येषु नाटक रम्यम् याने काव्य प्रकारों में नाटक सर्वाधिक रमणीय है। अतः नाटक में रस का उद्रेक अवश्यंभावी है। आद्यनाट्यशास्त्रकार भरतमुनि रसकी उत्पत्ति विभावानुभावस्य व्यभिचारि संयोगाद्रसनिष्पत्तिः याने विभाव अनुभाव और संचारि भावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है ऐसा विवेचन करते हैं। और यह रसनिष्पत्ति की प्रक्रिया सबों ने मान्य की है। तब नाटक से रसोद्रेक होना अनिवार्य है। यदि अग्नि जलाता नहीं, जल भिगाता नहीं, हिम शीत देता नहीं और शर्करा मधुर आस्वाद देती नहीं तो वे नहीं के बराबर है। वैसे ही यदि नाटक के दर्शन से रसोत्पत्ति होती नहीं तो वह नाटक ही नहीं क्योंकि नाटक में आलंबन विभाव नायक नायिकादि, उद्दीपन विभाव नायक नायिकादिकों की अभिनययुक्त चेष्टाएँ, सृष्टि के रम्य दृश्य, मधुर गाना इत्यादि और अनुभाव तथा संचारिभाव नायिका नायकादिकों के शरीर पर के स्तंभ, रोमांच, वेपथु इत्यादि एक समय ही दर्शकों के ऊपर प्रभाव करते हैं। इस अवस्था में सहृदय दर्शक का हृदय रसभीना होना अपरिहार्य है। यदि वह हृदय द्रवीभूत याने रसीला नहीं होता तो वह हृदय नहीं पाषाण है और यदि नाटक दर्शकों के हृदयों को हिलाता नहीं तो वह नाटक ही नहीं एक निरर्थक वाग्जाल है। संस्कृत नाट्यशास्त्र का यह रससिद्धांत मराठी ने सौ अंशों में मान लिया और अपनाया। मराठी के प्रथमावस्था के पौराणिक नाटकों में अद्भुतव शांत रसों का अधिक मात्रा में उद्भव होता था। क्योंकि देव देवताओं के चमत्कारपूर्ण दैवी घटनाओं का उनमें चित्रण रहता था और उनमें उदात्त

धार्मिक तथा नैतिक उपदेश होता था। कलापूर्ण और आदर्शवादी पौराणिक नाटकों में वीर, करुण, शृंगार और हास्य ये चार रसों का प्रादुर्भाव होता था। क्योंकि इन नाटकों की रचना अतीव विदग्धता से और व्यंग्यपूर्ण होती थी और नाटककार पौराणिक कथानक की पार्श्वभूमि में सामयिक राजकीय समस्याओं का चित्रण करते थे और कुछ उदात्त संदेश दर्शकों को देते थे। नाट्याचार्य कृ० प्र० खाडिलकर के सब पौराणिक नाटक जैसे कीचकवध, सवतीमत्सर, मेनका, द्रौपदी और स्वयंवर इस प्रकार की आदर्श कृतिएँ हैं। श्री न० चिं० केलकर और श्रेष्ठ नाटककार मामा वरेरकर की नाट्य कृतिएँ इसी प्रकार की हैं। बॅ० सावरकर का 'उःशाप' और बेडेकर का 'ब्रह्म कुमारी' नाटक इस प्रकार के हैं। नाट्याचार्य खाडिलकर के दुःखांत कीचकवध की रसोत्पादकता इतनी प्रभावकारी थी कि अंग्रेज सरकार को उसके प्रयोग लगभग बीस वर्षों तक बेकानून जाहिर करना पड़े। ऐतिहासिक नाटकों में वीर, करुण और शृंगार की मात्रा अधिक रहती है। इस प्रकार के नाटकों की रसोत्पादक रचना सफलता से श्री खाडिलकर, गडकरी, टिपणीस, औंधकर और वरेरकर जी ने की। गडकरी का 'राज संन्यास' वीर और करुण रस की अमरकृति है। संतों का चरित्र चित्रण करनेवाले नाटकों में अद्भुत, शांत, करुण और भक्ति चार रसों का अविर्भाव होता था। संतों के जीवन में चमत्कारपूर्ण घटनाओं को स्थान है अतः अद्भुतरस। उनको वारंवार दुष्टों से सताया जाता था इसलिए करुण और वे साधु तथा स्थितप्रज्ञ होते थे और लोगों को भक्ति का उपदेश करते थे इसलिए शांत और भक्तिरस। साहित्यशास्त्र को मराठी संतकवियों ने भक्तिरस की देन ही है। स्वच्छंदवादी (Romantic) नाटकों में शृंगार, वीर, करुण और हास्य इत्यादि रसों को प्रमुख स्थान रहता था। आनंदान्त नाटक में शृंगार को प्रथम स्थान रहता है और दुखांत में करुणरस को सर्वश्रेष्ठ स्थान रहता है। श्री गडकरी जी का एक ही गिलास यह अनूठा सामाजिक दुःखान्त नाटक है। इसमें करुण और हास्य का आस्वाद मिलता है। जो दर्शक इसके खेल में रोता नहीं वह या तो मुक्त पुरुष है अथवा पशु है। जिस तरह भवभूति कहते थे, 'एकोरसः' करुण निमित्त भेदात्' याने केवल एक करुण रस ही है अन्य उसके प्रकार हैं उसी तरह वीर वामनराव जी केवल वीररस प्रधान नहीं वीररसमय नाटक रचते हैं। उनकी तीन कृतियाँ 'राक्षसी महत्वाकांक्षा, रणदुंदुभी और खूड का संदेश' केवल वीर रस से ओतप्रोत हैं। इसी तरह आचार्य अत्रे के पांच नाटक 'सांष्टांग नमस्कार, भ्रमाचा भोपला, वंदेमातरम्, पराचा कावला' केवल हास्यरस से ओतप्रोत हैं। वैसे ही माधवराव जोशी के म्युनिसिपैलटी, विश्व वैचित्र्य इत्यादि केवल व्यंग्यपूर्ण, उपहासमय हास्यरस से ओतप्रोत है। विद्यमान नाटककार ककाणेकर जी की कृतियों में शृंगार करुण और हास्य का मनोहर समन्वय रहता है। क्योंकि उनके नाटक सामयिक कौटुंबिक समस्या प्रधान हैं। श्री गडकरी ने करुण और हास्य की साथ साथ निर्मिति की और वे इस दृष्टि से अद्वितीय नाटककार थे। संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि मराठी नाट्यवाङ्मय रसभीना है और उसकी सफलता का यह सर्वप्रमुख कारण है।

रंगमंच का वैभव—नाटक दृश्य काव्य है और उसकी कसौटी रंगमंच पर प्रयोग-क्षमता से होती है। जो नाटक प्रयोगक्षम याने अभिनय योग्य नही होता वह उत्कृष्ट

नाटक नहीं है। प्रयोग सफल और प्रभावोत्पादक होने के लिए संपन्न रंगमंच की बहुत आवश्यकता है। रंगमंच के महत्वपूर्ण अंग पर्दे, प्रकाश, संगीत, आकर्षक वेशभूषा और पात्रों का कलापूर्ण अभिनय हैं। मराठी ने शेक्सपिअर थिएट्रिकल कंपनी से रंगमंच का वैज्ञानिक ढंग अपनाया। उसके पूर्व प्रारंभ में पौराणिक नाटकों के प्रयोग के लिए रामलीला और नौटंकियों के घरेलू रंगमंच नाममात्र के रंगमंच थे। किंतु १८६५ के लगभग इसमें वैज्ञानिक परिवर्तन हुआ। किसी दृश्य को समझने के लिए दो बातों की परमावश्यकता होती हैं। एक तो वह किस स्थान में और किस वातावरण में घटित हुआ और दूसरी किस समय हुआ। पर्दा स्थान और वातावरण की सूचना देता है और प्रकाश से समय ज्ञात होता है। पर्दे की व्यवस्था नाटक के दृश्यानुकूल होना चाहिए। नाटक में जितने दृश्य हो उतने ही पर्दे चाहिए अन्यथा नाटक का अभिनय फीका और असफल होगा। वैसे ही सायं, प्रातः काल, दोपहर, मध्यरात्री, इत्यादि के समय दिखाने के लिए भिन्न भिन्न रंग के साईड लाइट चाहिए। इसके लिए व्यय बहुत करना पड़ता है। भाग्य से मराठी राजा महाराजाओं ने जैसे बडोदा के गायकवाड़ इंदोरके होलकर, कोल्हापुर के भोसला,, गवालियर के शिंदे आदि ने मराठी नाटक मंडलियों को उदार आश्रय दिया और मराठी का रंगमंच वैभवशाली बनाया। पौराणिक और ऐतिहासिक नाटकों में दृश्यों की भरमार रहती थी सो उनके अभिनय के लिए बीस से तीस पर्दों की आवश्यकता होती थी। किंतु स्वच्छंदवादी नाटकों में और एक दृश्य एक अंक के सामाजिक नाटकों में दृश्यों की संख्या बहुत घटी और घटनाओं का स्थान भी चिरपरिचित गृह, उद्यान, नदी किनारा, शहर का रास्ता या कोर्ट रहने लगे अतः पर्दों की संख्या में बहुत कमी हुई। ऐतिहासिक नाटकों में राजमहल किले, राजमहल का मूल्यवान फर्निचर, रणभूमि का दृश्य इत्यादि कीमती पर्दों की आवश्यकता होती थी। मराठी रंगमंच इन साधनों से संपन्न था। एकांकी नाटिका में तो एक ही दृश्य होता है अतः एकही पर्दा व्यवहार में आता है। पर्दों पर की चित्रकला के मनोहर दृश्य दर्शकों के नेत्रों को तुरंत लुब्ध करते थे। कोई पर्दे रेशम और किनखाव जैसे महंगे कपड़े के होते थे। उनपर जरी का कलापूर्ण काम रहता था। मराठी रंगमंच उसके संगीत के लिए सुप्रसिद्ध है अतः गायन के लिए आवश्यक सब प्रकार के वाद्यों का वहां संचय रहता था। गंधर्व नाटक कंपनी, ललितकला नाटक कंपनी तथा यशवंत और बलवंत नाटक मंडली अपनी संपन्न रंचमंच और गायन के साधनों के लिए प्रसिद्ध थीं। उनके पास प्रसिद्ध तबलावादक, पेटीवादक, सारंगीवादक और वीणावादक होते थे। नाटक की यशस्विता इन निर्जीव साधनों की अपेक्षा पात्रों के कलापूर्ण अभिनय पर अधिक निर्भरित होती है। अभिनय की विदग्धता रंगमंच की आत्मा है। उपरिकथित साधनों की संपन्नता नाटक का देह है। सौभाग्य से मराठी रंगमंच की आत्मा बहुत प्रबल और कार्यक्षम रही है। इसके दो प्रमुख कारण ये थे कि नाटक कपनियों में अभिनय करने का काम प्रारंभ से ही उच्चवर्णीय लोगों ने अपनाया था। महाराष्ट्र में थियेटर के प्रति आदर की ही भावना रही। इतना ही नहीं वो कुछ ठोस आदर्श लेकर नाटक मंडलियों की स्थापना हुई थी। उदाहरणार्थ महाराष्ट्र नाटक मंडली के बोर्ड पर 'नोच्यार्थो विफलोपि दूषण पदं दूष्यस्तु

कामो लघुः (Not failure but low aim is crime) अपयश नहीं किंतु हीन ध्येय होना यह महान अपराध है "ध्येय वाक्य लिखा था और यह मंडली केवल आदर्शवादी गद्यात्मक नाटकों का ही अभिनय करती। वैसी ही बात गंधर्व नाटक मंडली की थी। वह संस्कृति विरोधी कितना भी कलापूर्ण और रसभीना नाटक हो नहीं खेलती थी। गंधर्व ने आचार्य अत्रे का अत्यंत कलापूर्ण और सफल नाटक 'घर के बाहर' स्वीकार नहीं किया क्योंकि उस नाटक की नायिका निर्मला अपनी सौभाग्यीमाला तोड़कर फेंक देती है और यह बात हिंदु संस्कृति के विरुद्ध है। कंपनीयों ने घाटा सहन किया नहीं वे नष्ट हो गयीं किंतु उन्होंने ध्येय नहीं त्याग दिया। प्रारंभ के पौराणिक नाटकों में प्रायः वाचिक और शारीरिक संघर्ष होते थे। इन दोनों संग्रामों का अभिनय स्थूल और सुलभ है। भाषा शैली भी सामान्य और व्यवहार के स्वरूप की होती थी। किंतु जब संस्कृत नाटकों का अनुवाद और रूपांतर करना प्रारंभ हुआ तब अभिनय कलापूर्ण और सूक्ष्म होने लगा। संस्कृत नाटक सुखांत होते थे और उनमें शृंगार, वीररसों का ही प्रमुखतया प्रादुर्भाव रहता था। तो भी अभिनय की उन्नति हो गयी। संयोग से इस समय मराठी के श्रेष्ठ नाटककार किर्लोस्कर कर जीने अपने शाकुंतल और सौभद्र में स्वयम् अभिनय का सफल कार्य करके लोकप्रियता संपादन की। यह उपकारी प्रथा उनके शिष्य और दूसरे श्रेष्ठ नाटककार श्री देवलजी ने पुष्ट की। वे स्वयम् अपने शारदा, मृच्छकटिक इत्यादि नाटकों में अभिनय का काम करते थे। इस प्रकार मराठी के अन्य लोकप्रिय नाटककारों ने जिनमें श्री टिपणीस, श्री औंधकर, वीर वामनराव जोशी, श्री कणेकर और पु० ल देशपांडे हैं नाट्य अभिनय की कला और संपन्नता बढ़ाई। वीर वामनराव जोशी के राक्षसी महत्वाकांक्षा नामक दुःखांत स्वच्छंदवादी नाटक की नायिका का अभिनय और वह भी वीररस परिपूर्ण मंजे हुए नटों को नहीं बन पाता था तब स्वयम् वामनराव ने मदालसा का सफल अभिनय कर बताया और फिर केशवराव भोंसले ने वह नायिका पात्र और अभिनय अमरता को पहुँचाया। यह मराठी रंगमंच की विशेषता है। जब अंग्रेजी और विशेषतः शेक्सपीअरके ट्रेजिडीज का दुःखांत नाटकों का अनुवाद और रूपांतर होने लगा तब अभिनय में और भी विकास हुआ। इसी प्रकार के ऐतिहासिक, पौराणिक और स्वच्छंदवादी नाटकों की रचना खाडिलकर, गडकरी, वरेरकर आदि ने की। अब अभिनय में मानसिक संघर्ष को प्रमुख स्थान प्राप्त हुआ और करुणरस का अभिनय करना पड़ा। अतः अभिनय और भी सूक्ष्म तथा कलापूर्ण बना। मानसिक संघर्ष का अभिनय बहुत तीव्र और कठिन होता है। वैसा ही करुण रस का अभिनय होता है। ऐतिहासक नाटकों में वीर रस का अभिनय करना सरल और सुलभ था किंतु स्वच्छंदवादी नाटकों में काव्यात्मक भाषा शैली को संभालते हुए मानसिक संघर्ष का यथातथ्य अभिनय करना कला की कसौटी है। दूसरी बात यह कि मराठी स्वच्छंदवादी नाटकों में ख्यालबद्ध गानो की विपुलता रहती थी। इस अवस्था में नाटक के करुणरस को हानि न पहुँचाते हुए गाना तथा गाते गाते अभिनय करना बहुत ही कठिन है। किंतु नटसम्राट बाल गंधर्व ने गडकरी के 'एक ही गिलास' नाटक में इस प्रकार के अभिनय का आदर्श उदाहरण नटों के सन्मुख रखा। और एक प्रबल कारण सफल अभिनय

का है। वह यह की प्रायः प्रत्येक कंपनी का एक नाटककार होता था और वह नाटककार उस कंपनी के नटों से सुपरिचित होता था और उनकी अभिरुचि और अभिनयक्षमता ध्यान में रख कर वह नाटक लिखता था। जैसे शेक्स-पिअरने प्रसिद्ध नट ग्यारिक के लिए ही कुछ नाटक लिखे वैसे ही नाट्याचार्य खाडिलकरने नटसम्राट बाल गंधर्व के लिए ही नौ संगीत नाटक लिखे। वे सब नाटक नायिका प्रधान हैं क्यों कि बाल गंधर्व नायिका का अति कालपूर्ण और नैसर्गिक अभिनय करते हैं वैसे हि उसका कंठ अति मधुर और सुरेल है अतः नायिका को नाटक में बहुत गाने दिये जाते थे। मराठी रंगमंच का परमोत्कर्ष नाट्याचार्य खाडिल कर के नाटकों में और नटसम्राट बाल गंधर्व के नैसर्गिक कलापूर्ण अभिनय में हुआ। १९३२ तक मराठी रंगमंच पर स्त्री पात्र का अभिनय पुरुषों ने किया और सफलता से किया किंतु कितना भी हो तो भी पुरुष पुरुष ही है। स्त्री की कोमलता बाल गंधर्व जैसे अपवाद को छोड़कर पुरुष में नहीं आ सकती। दूसरी बात यह कि सिनेमा टाकीज में नटियों का अभिनय नार्टियाँ करने लगीं और जन मन को उन्होंने लुब्ध किया। पुरुषदर्शकों का लुब्ध होना नैसर्गिक था। अतः दर्शक नाटकों में पुरुषों के स्त्री पात्रों के अभिनय से ऊब गये। अस्तु, मराठी रंगमंच पर बड़ा संकट आया। किंतु वीरों की परीक्षा संकटों में होती है। तुरंत अंग्रेजी शिक्षित महिलाएँ सामने आई और श्री वर्तक ने नाट्य मन्वतर नाम की नाटक मंडली की स्थापना की। इस कंपनी के नाटकों में महिलाएँ नारी पात्रों का अभिनय करती थीं और पुरुष पुरुष पात्रों का। अब अभिनय स्वाभाविक और कालपूर्ण होने लगा। नाटकों की रचना भी गल्सवर्दी और इब्सेन की नाट्य तंत्रानुसार होने लगी अतः अभिनय और भी कलापूर्ण, प्रसन्न और स्वाभाविक बनता गया। श्री रांगणेकर ने 'नाट्य निकेतन' नामक मंडली की १९४२ में स्थातना की। वे स्वयम् उत्कृष्ट नट और नाटककार हैं और नाटकों का दिग्दर्शन सफलता से करते हैं। इस में महिलाओं का और पुरुषोंका योग रहा है। अतः उनका अभिनय सर्वथैव निर्दोष और कलापूर्ण है। मिलों ने जैसे कलापूर्ण हस्त कौशल समाप्त कर दिया वैसे ही सिनेमाने नाटकों को और रंगमंच को अपनी सस्ती से समाप्त कर दिया। जिस महाराष्ट्र में पचीस नाटक मंडलियों का संचार होता था वहाँ अब पांच से अधिक नाटक कंपनीया नही मिल सकतीं। किंतु शहरों में और ग्रामोंमें अनेक मित्र मंडलियाँ हैं जो नाटकों का अभिनय बड़े चावसे और अभिरुचि से कष्ट उठाकर करती हैं। संक्षेप में मराठी रंगमंच का सर्वांगीण विकास कालानुसार हुआ और होता रहेगा।

विशिष्ट नाटककार

मराठी नाट्य साहित्य के हम चार प्रमुख कालिक विभाग करते हैं। पहला विभाग १८४३ से १८८० तक दूसरा १८८० से १९११ तक तीसरा १९११ से १९३२ पर्यंत और चौथा १९३२ से १९५३ तक। श्री विष्णुदास भावे, सोकरजी त्रिलोकेकर, राजवाडे और श्री ब० पां० किर्लोस्कर जी ने जिस नाट्यलता को अपने प्रयत्नों से अंकुरित किया और सींच कर हरीभरी बनायी, उसे सुंदर और सुगंधित पुष्पों से शोभा सपन्न करने का श्रेय दूसरे कालिक विभाग के श्रेष्ठ नाटककारों को है। वे हैं गोविंद बल्लाल देवल, कृष्णजी प्रभाकर

खाडिलकर, साहित्यसम्राट श्री कृ कोल्हटकर, सा सम्राट न. चिं. केलकर और वासुदेव शास्त्री खरे। इनके कृतियों का हम संक्षेपसे उल्लेख करते हैं।

श्री गोविंद बल्लाल देवल ने सात नाटक लिखे। ये मराठी के तीसरे प्रतिनिधि नाटककार है। ये श्री किर्लोस्कर, दूसरे प्रतिनिधि नाटककार के शिष्य थे उन्होंने अपने नाटकों के मंगलाचरणों में नाट्य लेखन गुरु, किर्लोस्कर जी को आदरयुक्त वंदना की। स्वयं देवल भी गुरु जैसे यशस्वी नट थे। वे अपने नाटकों के प्रयोग में अभिनय का कार्य सुचारुरूप से करते थे। इनके सात नाटकों में से तीन अंग्रेजी नाटकों के आधार पर हैं। वे झुंझारराव, दुर्गा, संशय कल्लोल ये हैं। पहला शेक्सपिअर के अथेल्लो का, दूसरा, इसाबेला, तीसरा मर्फी के (All in the wrong) का मराठी रूपांतर है। संगीत संशय कल्लोल की पद्य रचना अतीव मधुर है। विनोद का स्तर ऊँचा है। विनोद प्रसंगनिष्ठ और स्वभावनिष्ठ है। विनोदप्रधान नाटकों में इसका विशेष स्थान है। तीन संस्कृत से अनुवादित नाटक, विक्रमोर्वशीय, शापसंभ्रम और सगीत मृच्छ कटिक संगीत शाप संभ्रम बाण भट्ट की कादंबरी का मराठी नाट्य रूप है। इसकी यशस्वी रचना देखकर महाराज शिवाजी राव होल्करजीने लेखक को दो हजार रुपयों का पुरस्कार दिया था। इनकी स्वतंत्र सामाजिक नाट्य कृति है संगीत शारदा। यह मराठी का पहला सामयिक सामाजिक समस्या प्रधान (१८९३) लोकप्रिय नाटक है। इसमें 'बालावृद्धविवाह याने विषम विवाह का घोर निषेध है।

साहित्य सम्राट श्री कृ० कोल्हटकर बी० ए० एल० बी० ने इसी समय रंगमंच पर पदार्पण किया। आप चौथे प्रतिनिधि नाटककार हैं। इन्होंने बारह नाटक रचे जिनमें 'वीरतनय' मूक नायक, वधूपरीक्षा, मतिविकार, प्रेम शोधन सफलतापूर्वक खेले गये। इन्होंने मोलियर का नाट्यतंत्र मराठी में लाया। इनकी नाट्यवस्तु अद्भुतरम्य और स्वरचित है फारसी गज्जल तथा कव्वाली का नाटकों के संगीत में व्यवहार किया। इनकी कृतियाँ वाङ्मयीन गुणों से ओतप्रोत हैं। इनके तीन अत्यंत प्रमुख नाटककार शिष्य थे। वे हैं श्री गडकरी, श्री वरेरकर और आचार्य अत्रे।

नाट्याचार्य कृष्णाजी प्रभाकर खाडिलकर ने लगभग बीस संगीत और गद्य नाटकों की प्रयोगक्षम और सफल रचना की। इनके नाटक ऐतिहासिक, पौराणिक, सामाजिक, राजकीय स्वरूपों के हैं। इन्होंने शेक्सपीअर की टेकूनिक का (नाट्य तंत्र का) भरसक और यशस्वी अनुकरण किया। और मराठी नाटककारों में सर्वश्रेष्ठ स्थान संपादन किया। आपका पहला नाटक है 'सवाई माधवराव की मृत्यु'। यह ऐतिहासिक कृति है और इसमें शेक्सपिअर के हॅम्लेट तथा ऑथेल्लो के नायकों का मराठी स्वभावचित्रण अतीव कलापूर्ण है। दूसरी कृती है संगीत 'प्रेमध्वज'। यह स्कॉट की नावेल टालीसमन की नाट्यकृति है। तीसरी नाट्यकृति गद्य 'कांचन गडची मोहना' है। चौथा नाटक 'बायकांचें बड' याने महिलाओं का विद्रोह है। इसका आधार आंग्ल कवि टेनिसन का 'प्रिंसेस' यह काव्य है। मराठी गद्य नाटकों का सर्वश्रेष्ठ नाटक 'कीचक वध' इनकी पांचवी गद्यनाट्य कृति है। यह १९०६ में लिखा गया। जब कि घमंडी लार्डकर्झन ने 'बंगभंग' करने का निश्चय

किया था। इसकी कथावस्तु है पौराणिक किंतु दर्शक लोग पौराणिक कथा में तत्कालीन भारतीय राजकीय स्थिति का सचेतन प्रतिबिंब देखते थे। इसका कथानक व्यंग्यपूर्ण रूपक से भरा हुआ है। अतः अंग्रेज सरकार ने इसके प्रयोग १९०७ में बेकानून कर दिये। उसपर राजद्रोह का गंभीर दोषारोप लगा दिया था। १९२७ में पुनः इस के प्रयोग होने लगे। श्री खाडिलकर जी की यह विशेषता है कि पौराणिक और ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर वे सामयिक राजकीय समस्याओं का व्यंग्यपूर्ण कलात्मक आविष्कार करते थे। १९०८ में इन्होंने 'भाऊबंदकी' नाटक रचा। इसमें शेक्सपीयर के मॅकबेथ नाटकका प्रतिबिंब प्रतीत होता है। खाडिलकर सव्यसाची नाटककार है। अब उन्होंने (Ramantic) अद्भुतरम्य, स्वच्छंदवादी आनंदोत्पादक और शृंगारप्रधान 'संगीत मानापमान' नाटक रचा। यह नायिकाप्रधान नाटक है। नटसम्राट, बालगंधर्व के लिए उन्होंने संगीत स्वयंवर, संगीत द्रौपदी, संगीत मेनका, संगीत विद्याहरण, संगीत सती सावित्री इत्यादि नाटकों की सफल रचना की। शेक्सपीयर का जैसा ग्यॅरिक नट था वैसा खाडिलकर जी का बालगंधर्व था। आपकी नाट्य कृतियाँ तंत्र शुद्ध, कलात्मक और हेतुप्रधान हैं।

साहित्य सम्राट न० चिं० केलकर जी ने छः प्रयोगक्षम नाटक रचे। उनमें संगीत, तोतयाचेंबंड' और संगीत 'कृष्णार्जुन युद्ध' लोकप्रिय हैं।

श्री वासुदेव शास्त्री खरे ने संगीत 'उग्रमंगल' और पांच अतीव लोकप्रिय नाटक रचे।

कविश्रेष्ठ रामगणेश गडकरी ने १९१२ में नाट्यप्रांगण में प्रवेश किया। आप मराठी के श्रेष्ठ कवि और विनोदकार है। आपने संगीत एकच प्याला, गद्य प्रेमसंन्यास, संगीत भावबंधन, संगीत राजसंन्यास और संगीत पुण्य प्रभाव पांच अति सफल और प्रयोगक्षम नाटक रचे। आपने शृंगार, करुण, वीर और हास्यरसों का प्रभावी उद्घाटन किया। उनके गानों की अर्थपूर्ण मधुरिमा वर्णनातीत है। पात्रों का स्वभावचित्रण स्वाभाविक है। भाषा की शैली अनुपम है। नाटकों में सर्वत्र काव्यात्मकता बिखरी हुई है। उन्होंने पाषाणहृदयी दर्शकों को नाट्य प्रयोग में रुलाया और आँसुओं से नहलाया। आपके विनोद ने दर्शकों के पेटों में हंसते हंसते दर्द पैदा किया। आपकी नाट्य कृतियाँ अपनी ही ढंग की है। उनकी रसवंती बेजोड़ है। अल्पायु होने से आप की पांच ही कृतियां हैं। आप मराठी के पांचवें प्रतिनिधि नाटककार हैं। श्री **भार्गवराम वरेरकर** ने १९०८ में 'संगीत कुंज विहारी' नाटक रचकर नाट्य सृष्टी में प्रवेश किया। आप (Professional Dramatist) व्यवसायी नाटककार हैं। आपने लगभग तीस नाटकों की (गद्य और पद्य) निर्मिति की। अभी भी आप लिख रहे हैं। आपकी प्रतिभा बहु तथा शीघ्र प्रसवा है। ये बर्नार्ड शॉ के शिष्य कहलाते हैं। अतः सब नाटक सामयिक समस्या प्रधान और प्रचारात्मक हैं। ये प्रगतिशील कलाकार हैं। उन्होंने दहेज की प्रथा से समाजसत्तावाद तक सब आधुनिक समस्याओं को नाट्य विषय बनाया। गत पचपन वर्षों में भारतवर्ष में जितने सामाजिक, राजकीय, आर्थिक और सांस्कृतिक आंदोलन हुए उनका कलात्मक प्रितिबिंब उनके नाटकों में हम देख सकते हैं। आपने एकांकी भी अनेक लिखी हैं। इनकी कृतियां बहुजन सुगम और प्रिय है। उनके प्रमुख

नाटक 'हाच मुलचा बाप, स्वयंसेवक, तुरुंगाच्यादारांत, सत्तेचे गुलाम, सोन्याचा कलस, संन्याशाचा संसार, करीन ती पूर्व, आदि हैं। श्री वरेरकर मराठी में छठवें प्रतिनिधि नाटककार हैं।

नाटयमन्वंतरकार श्री वि० वर्तक—ने १९३३ में मराठी नाट्यतंत्रों में परिवर्तन करवाया। उन्होंने नाटकों को अधिक यथार्थवादी, कालपूर्ण और समाजाभिमुख बनाया। इस समय सिनेमा टाकीज ने नाटक कम्पनियों का दिवाला निकलवाया। टाकीज में नटियों का अभिनय महिलाएँ खेला करती थीं अतः वह अधिक सरस, नैसर्गिक और कलात्मक होता था। अतः रंगमंच पर पुरुषों को स्त्री पात्रों में देखना दर्शक पसंद नहीं करते थे। श्री वर्तक ने पूना मे 'नाट्यमन्वंतर' नामकी संमिश्र नाटक मंडली स्थापन की। इसमें महिलाएँ अभिनय का कार्य करती थीं। उन्होंने 'आंधलयाची शाका' 'लपंडाव' और 'तक्षशीला' तीन नया तंत्र प्रधान नाटकों की रचना की। एक प्रवेशी अंक इसमें होते थे। कथानक बहुत ही वास्तवतापूर्ण होता था। वेषभूषा नित्य परिचित रहती थी। संगीत का व्यवहार बहुत मर्यादित किया। संभाषणों की लंबाई घटाई। भाषा नित्य व्यवहार की अपनायी। स्वगत भाषणों को खत्म किया। इस प्रकार नाटक को सर्वांगीण सरलता और वास्तविकता प्रदान की। प्रो. काणेकर जीने इब्सेन के Dolls House का मराठी 'घरकुल' नामक सुंदर अनुवाद किया। अब नाटककारों का ध्यान इब्सेन की ओर गया। मराठी नाट्यों का विकास हुआ। ये मराठी के सातवें प्रतिनिधि नाटककार हैं।

आचार्य प्र. के. अत्रे एम. ए. बी. टी. टी. डी. ने १९३५ में रंगमंच पर पदार्पण किया। आपने बारह नाटक रचे। इनके छः नाटक संपूर्ण तथा हास्य-रस-प्रधान हैं। वे 'संगीत साष्टांग नमस्कार, मी उभा आहें', वंदे मातरम्, लग्नाची बेडी, भ्रमाचा भोपला और पराचा कावला हैं। उन्होंने छः गंभीर नाटक सामयिक सामाजिक समस्याओं पर लिखे। वे घराबाहेर, उद्यांचे संसार, जगकाय म्हणेल इत्यादि हैं। आप सव्यसाची नाटककार हैं। आपका कल्पनानिष्ठ स्वभावनिष्ठ तथा प्रसंगनिष्ठ विनोद बेजोड़ है। आप मराठी के आठवें प्रतिनिधि नाटककार हैं।

श्री मो. ग. रांगणेकर आज के प्रतिनिधि नाटककार हैं। आपका नंबर नवाँ है। आपने इब्सेन की टेक्निकके अनुसार कुलवधु, आशीर्वाद, वहिनी, नंदनवन, माझेघर, इत्यादि दस सरस नाटकों की रचना की। आपके नाटक दो या ढाई घंटों के होते हैं। इनके प्रयोग बहुत ही आकर्षक और वास्तविक होते हैं। नटिओंका अभिनय कुशल महिलाएँ खेलती हैं। वेषभूषा नित्य परिचित रहती है। सब नाटकों में मध्यम वर्ग की समस्याओं का चित्रण होता है और यही वर्ग शिक्षित होने से नाटकों का भोक्ता होता है। अतः रांगणेकर जी आज के लोकप्रिय नाटककार हैं। आपने नाट्य निकेतन कंपनी चालू की। इनके अतिरिक्त श्री माधवराव जोशी, वीर वामनराव जोशी तथा श्री टिपणीस, औंधकर, नाना जोग और प्रो. पु. ल. देशपांडे इत्यादि प्रसिद्ध और यशस्वी नाटककार हैं। १९५३ तक मराठी के नाटकों की संख्या लगभग १५०० (पंधरासौ) हो गयी।

उपन्यास-साहित्य (१८९३ से १९५३)

अंग्रेजी से अनूदित उपन्यास—मराठी में उपन्यास रचना का बीजरोपण इस

१८५४ में प्रकांड विद्वान कृष्णशास्त्री चिपलूणकरजीने डा० जानसन के रासेलस का सरस अनुवाद से किया। श्री छत्रे ने १८६० के लगभग बनियन के पिलग्रिम प्रोग्रेस का वैसा ही कलापूर्ण और सरस अनुवाद किया। अब लोगों को इस ढंग के स्वतंत्र कथानकात्मक उपन्यास लिखने की स्फूर्ति प्राप्त हुई और मराठी का उपन्यास साहित्य पल्लवित होने लगा।

चमत्कारपूर्ण उपन्यास—स्वतंत्र और मौलिक कथानकप्रधान उपन्यासों की रचना तुरंत बहुलता से हुई। श्री हलवेशास्त्रीने 'मंजुघोषा' लिखा। इसी तरह वसंतमाला, विचित्रपुरी, पुण्यमाला, वसंत कोकिल, रूपसुंदरी, कस्तूरिका, चंद्रकला, चपंकमाला, रत्नमाला चंद्रसेन, लीलावती, मंदाकिनी इत्यादि रोमांचकारी और चमत्कारपूर्ण उपन्यासों की रचना १८८० तक हुई। ये सब उपन्यास पूर्णतया अति काल्पनिक कथानक और कल्पनातीत राजवैभवसे ओतप्रोत हैं। उनके जितने नायक थे उतने ही साक्षात् मदन के अवतार थे, जितनी नायिकाएँ थी उतनी तिलोत्तमा और रंभा थी, प्रत्येक दुःख का स्थान मृत्युलोक और सुख का स्थान स्वर्गीय आनंद का निधान था। इनमें ध्येय और गंभीरता का पूर्णतया अभाव है। भाषा अलंकृत होती थी और उसमें कृत्रिमता की मात्रा अधिक होती थी। कथानक सदोष होते थे।

ऐतिहासिक उपन्यास (१८७१ से १९३०) १८६४ से १८८७ तक महाराष्ट्र में सर्वांगीण जाग्रति हुई। शिक्षा, राजनीति, समाजसुधार, इतिहास संशोधन और साहित्य की वृद्धि के लिए कई संस्थाएँ स्थापित की गई और आंदोलन किये गये अतः लोगों को चेतना आई। अंग्रेजी उच्च शिक्षितों ने स्काट, डिकन्स इत्यादि अंग्रेजी उपन्यासकारों के उपन्यासोंका अध्ययन किया। अपने देशके अतीत के प्रति सबों को आकर्षण और प्रेम प्रतीत होने लगा। अतः ऐतिहासिक उपन्यासों की रचना होना अवश्यंभावी था। १८७१ में श्री गुंजीकरने ऐतिहासिक उपन्यासों का सूत्रपात्र किया। उनका उपन्यास "मोचनगड" स्वराज्य संस्थापक शिवाजी महाराज के इतिहास पर आधारित है। उनके बाद श्री वापट, पटवर्धन, इत्यादि ने ऐतिहासिक उपन्यास लिखे। किंतु मराठी ऐतिहासिक उपन्यासों का सर्वांगीण उत्कर्ष उपन्यास सम्राट हरिभाऊ आपटे [**मराठी के स्काट हरिभाऊ आपटे**] की रचनाओं में हुआ। आपने उपन्यास लिखे और वे मराठी के अलंकार हैं। उनके सब उपन्यासों में देश प्रेम ओतप्रोत है, कथानक जिज्ञासा बढ़ाने वाला है, वातावरण ऐतिहासिक है, चरित्रचित्रण प्रभावशाली है और भाषा अलंकृत तथा प्रवाहपूर्ण है। अतीत के प्रति विशुद्ध प्रेम है और उससे समयानुसार कौन सा संदेश ग्रहण करना चाहिए इसकी मार्मिक सूचना है। उनका भरसक अनुकरण नाथ माधवजी ने किया और १९१५ के लगभग अपने आठ सरस उपन्यास लिखे, वे मराठी इतिहास को १६४६ से १७०७ तक का काल कथानकों में सरसता से चित्रित करते हैं। विट्ठलराव हडप ने भी लगभग बारह ऐतिहासिक उपन्यासों की सफल रचना की। इन सबों में पेशवाई काल के कथानक हैं। आप भी लोकप्रिय उपन्यासकार हैं। अभी माडखोलकर जी ने (१९५३) निजाम हैदराबाद के प्राचीन दो सौ वर्षों पूर्व के कथानक पर उपन्यास लिखा है। किंतु यह मानना होगा कि ऐतिहासिक उपन्यासों की धारा प्रायः सूखसी गई है।

सामाजिक उपन्यास—मराठी के सामाजिक उपन्यास का सूत्रपात १८५७ में बाबा पदमन जी नामक ईसाई ने 'यमुना पर्यटन' नामक उपन्यास से किया। इसमें विधवा की दुःस्थिति का हृदयविदारक चित्रण किया। मराठी सामाजिक उपन्यासों की यह विशेषता है कि उनमें से आधे से अधिक स्त्रियों की सर्वांगीण सुधारों का समर्थन करते हैं। 'नारायणराव और गोदावरी' यह मराठी का दूसरा सामाजिक उपन्यास हैं जिनके लेखक रहालकर हैं। ये यथार्थवादी उपन्यास हैं। इसके अनंतर श्री ओक का शिरस्तेदार (१८८१) उपन्यास है। धनुर्धारीजी ने गोल्ड स्मिथ के व्हिकार ऑफ वेक फील्ड का वाईकर भट जी' नामक सरस रूपांतर किया। इस समय के रेनाल्डस्, डिकन्स, थॅकरे और इलयट के उपन्यासों का महाराष्ट्र पर गंभीर प्रभाव पडा और उपन्यास सम्राट हरिभाऊ आपटे ने १८८५ से १९१४ तक लगभग दस कलापूर्ण और भावपूर्ण सामाजिक यथार्थवादी तथा आदर्शवादी उपन्यासों की सफल रचना की। हरी भाऊ की कृतियों में मराठी सामाजिक उपन्यासों का उत्कर्ष हुआ। आपने सामयिक, सामाजिक, राजकीय और कौटुंबिक समस्याओं का भावपूर्ण उद्घाटन किया। चरित्रचित्रण प्रभावशाली बनाया और कथोपकथन आकर्षक तथा मानसिक संघर्ष से पूर्ण लिखे। हरीभाऊ एक आदर्शवादी उपन्यासकार थे अतः जनजागरण और लोकशिक्षण के उदत्त हेतु से उन्होंने सामयिक समस्या प्रधान उपन्यास लिखे। भाषाशैली सरल प्रवाहपूर्ण और मुहावरेदार है। उनके पश्चात् प्रो० वा० म० जोशी ने सफलता से पांच उपन्यास लिखे। वे भी सामयिक समस्या प्रधान हैं। किंतु उनमें विद्वता, काव्य और विनोद का विलास है अतः यथार्थवादी होते हुए भी उनमें विचारविलास है। पात्रों की शैक्षणिक योग्यता ऊँची होने से वे सब उपन्यास ऊँची योग्यता के हैं किंतु उनमें ध्येयवाद कूट कूट कर भरा है। हरिभाऊ ने स्त्री सुधार और देशभक्ति के लिए प्रखर त्याग का संदेश दिया और क्रांतिकारियों का जीवन चित्रित किया। वा० म० जोशी ने सुशिक्षित युवक, युवतियों को समाजसुधार तथा समाज-सत्तावाद का आदर्श दिया। श्री वि० स० खांडेकर ने लगभग बारह उपन्यासों में सामयिक स्त्री सुधार, किसानों की दुःस्थिति निवारण भूतदयावाद, मजदूरों के जीवन स्तर में सुधार, क्रांतिकारी प्रेरणा, इत्यादि ध्येयों का प्रखर संदेश दिया। श्री खांडेकर की भाषाशैली अतीव अलंकृत और काव्यात्मक है और कथोपकथन प्रभावकारी होता है। श्री वरेरकर ने लगभग दस उपन्यासों में विधवाओं की विपन्नावस्था, किसान और मजदूरों की समस्याएँ, छूता छूत का प्रश्न इत्यादि विषयों का विवेचन करने वाले उपन्यास लिखे। आपकी शैली सामान्य पाठकों के लिए बहुत अच्छी है। श्री माडखोलकर ने पुनर्विवाह और डाइवोर्स का संदेश दिया। राजरत्न बा० वि० जोशीने सात यथार्थवादी और ध्येयवादी उपन्यासों में महिलाओं की सर्वांगीण उन्नति करने का संदेश दिया। श्री कोल्हटकर जी ने छूता-छूत नष्ट करने का संदेश दिया। श्री हडप ने लगभग चालीस पूर्णतया यथार्थवादी उपन्यासों में समाज के सभी वर्गों और वर्णों के नायक नायिकाओं का प्रभावशाली चित्रण किया। दे० भ० साने गुरुजी ने आदर्शमाता, आदर्श विद्यार्थी और स्वदेश सेवकों का भावपूर्ण स्वभावचित्रण किया और नवयुवकों को आदर्श की ओर प्रेरित किया। ना० ह० आपटे ने बीस उपन्यासों में

सद्गुण संवर्धना का संदेश दिया। गीता साने, सौ वेडेकर, शांता बाई नाशिककर कुमुदिनी प्रभावलकर, मालतीबाई दांडेकर आदि लेखिकाओं ने महिलाओं की सामयिक समस्याएँ चित्रित कीं और समाज सुधार का संदेश दिया। इस तरह मराठी में यथार्थवादी और आदर्शवादी उपन्यासों की प्रचुरता है। ये सब उपन्यास कलापूर्ण, विविधतापूर्ण, भाषाशैली में अतीव परिमार्जित, चरित्रचित्रण में निर्दोष और प्रभावशाली, कथोपकथन में कौशलपूर्ण और मानसिक संघर्षों का सूक्ष्म तथा प्रभावोत्पादक दर्शन कराने में सफल हैं। मराठी साहित्य (उपन्यास) का यह राजमुकुट है।

कला के लिए कलावादी उपन्यास—कला के लिए कला इस सिद्धांत का भरसक समर्थन करने की दृष्टि से प्रो० ना० सी० फडके ने १९२१ में उपन्यास लिखना प्रारंभ किया और लगभग पचीस कलापूर्ण और सफल उपन्यासों की अबतक रचना की। इनमें प्रायः आधे से अधिक उपन्यास प्रणय प्रधान और स्वच्छंदवादी हैं। वे अवास्तविक जगत की वस्तु हैं। आपकी सौंदर्य दृष्टि, निरीक्षण शक्ति, अतिरम्य भाषाशैली, कथानक की विदग्धता, मनोहर प्राकृतिक वर्णनों की प्रचुरता, प्रणयी युग्मों की आकर्षक चेष्टाएँ, विलासी नायक नायिकाओं का स्वभाव चित्रण, इत्यादि सब कुछ अनूठा है। इनके पढ़ने से क्षणमात्र के लिए पाठक इस संसार का दुःख भूल जाता है और दूसरे काल्पनिक जगत में विचरने लगता है। प्रो० फडके इसी में उपन्यास-रचना की सफलता मानते हैं। आप कला का प्रधान ध्येय कलाविलास, सौंदर्य का आविष्कार और इस दुःखमय जीवन की विस्मृति मानते हैं, और ऐसी कलापूर्ण कृतियों की रचना में आप सफल हुए। आप इस दृष्टि से मराठी के एकमेवाद्वितीयम् उपन्यासकार हैं। आपका अनुकरण करने की चेष्टा श्री० ग० त्र्यं० माडखोलकर जीने की और शृंगारिक चेष्टाओं का चित्रण बहुत ही आकर्षक और कामोद्दीपक रीति से किया। श्री र० वा० दिघे ने भी काव्यात्मक भाषा शैली में अद्भुतरम्य याने रोम्याटिक उपन्यासों की सरस रचना की। प्रणयी युवतियों की लीलाओं से श्री दिघे के उपन्यास ओतप्रोत हैं। कुमुदिनी शंकर प्रभावलकर ने भी इस कलावादी उपन्यासों की रचना में योग दिया। कुमारी लीला देशमुख ने भी अपनी कृतियों में सुखवाद और कलावाद का मोहक चित्रण किया। कलापक्ष ने उपन्यास रचना में बहुत उन्नति की और तंत्र शुद्ध उपन्यासों की निर्मिति की। इनकी भाषा शैली, कोमलकांत पदावली लचीली तथा बहुत परिष्कृत होती है। मराठी उपन्यासों का बाह्य सौंदर्य इन्होंने बहुत बढ़ाया।

प्रतीकवादी और मनोविश्लेषणात्मक उपन्यास:—नायक नायिकाओं की बाह्य चेष्टाओं की अपेक्षा उनके मन का रहस्य सुलझाने वाले और प्रतीक की सहायता से इष्ट ध्येय का जनसुलभ विवेचन करनेवाले उपन्यासों का सूत्रपात श्री पु० य० देशपांडे ने किया। आपने सदा फुली, सुकलेले से फूल इत्यादि प्रतीकवादी सरस उपन्यास लिखे, जिनमें पात्रों के मन का विश्लेषण सूक्ष्म, और हृद्य है। यह पद्धति कठिन होती है किंतु श्री देशपांडे ने प्रसन्न भाषाशैली में इसमें सफलता प्राप्त की। श्रीमती विभावरी शिरूरकर ने भी इस पद्धति के दो तीन सफल उपन्यास लिखे और उनमें स्त्रियों के विवाहोत्तर मन

का सूक्ष्म, हृद्य और सौंदर्य पूर्ण आविष्कार किया। इन दो उपन्यासकारोंने मनोविश्लेषण की देन मराठी को दी।

आत्मकथनात्मक उपन्यासः—प्रिंसिपल गो० चि० भाटे ने 'प्रेम या लौकिक' उपन्यास में आत्मचरित्र का सफल चित्रण किया और एक नया प्रकार मराठी में चालू किया। इसमें स्वभाव चित्रण, मनोविश्लेषण, तत्वों की चर्चा विपुलता से है। श्री० द० आ० तुजाजापुर करने 'माझे रामायण' उपन्यास लिख कर लोकप्रियता संपादन की। इसमें १८५७ से १९१९ तक की भारत की राजकीय अवस्था सरलता से चित्रित किया गया है। यह ध्येयवादी उपन्यास है। दे० म० साने गुरुजी के श्याम की माता, श्यामखंड तीन और धडपडणारी मुले खंड तीन इन सात उपन्यासों में सरस, कलापूर्ण और प्रभावपूर्ण आत्मकथन ओतप्रोत है। इनकी रचना में सहजता, सहृदयता और भावपूर्णता दृग्गोचर होती है।

समाज शास्त्रीय उपन्यास—डा० केतकरने पांच उपन्यासों में अपने प्रकांड समाज शास्त्रीय ज्ञान का उद्‌घाटन करने का प्रबल प्रयत्न किया किंतु उनमें रचना कौशल न होने से वे लोकप्रियता संपादन न कर सके।

राजकीय समस्या प्रधान उपन्यास—सामयिक राजकीय समस्या प्रधान उपन्यासों का सूत्रपात हरीभाऊ आपटे ने 'यशवंतराव खरे' उपन्यास से १८९३ में किया। इसके पश्चात् आपने पांच इस प्रकार के उपन्यास लिखे। वे सब लोकप्रिय और पठनीय है। प्रो० वा० म० जोशी ने दो उपन्यासों में सामयिक राजकाज का सुंदर चित्रण किया। ग० त्र्यं० माडखोलकर जी ने पांच उपन्यासों में १९३० से ४२ तक का बहुत ही मार्मिक और यथातथ्य चित्र खींचा। आपकी प्रौढ़ भाषा शैली केवल अनूठी है। आप भाषा की संपन्नता के कुबेर हैं। स्वभावचित्रण सजीव सा है और व्यंग्य हृद्य है। किंतु बीच में प्रणय टपकता ही है। प्रो० फडके, वि० स० खांडेकर, पु० य० देशपांडे इत्यादि के उपन्यासों में भी राजकीय समस्याओं के आकर्षक, कलात्मक और सुंदर चित्र खींचे गए हैं। न० चि० केलकरजीने चार उपन्यासों में रियासती राजनीति का बहुत ही मार्मिक वर्णन किया। मराठी उपन्यासों में भारतीय राजनीति का यथातथ्य, आदर्शवादी और व्यंग्यपूर्ण चित्रण सर्वांग में हुआ है।

ग्रामीण जनता की समस्या प्रधान उपन्यास और किसान मजदूरों का जीवन दर्शन करनेवाले उपन्यास भी मराठी में विपुलता से हैं। किंतु यह मानना होगा कि मराठी में इनकी सरस कृतियाँ नहीं हैं। गत वर्ष विभावरी शिरूरकरने 'बली' नामक उपन्यास में क्रिमिनल ट्राईब का जीवन बहुत ही सरस, और कलापूर्ण ढंग से चित्रण किया। मामावरेरकर, कुलकर्णी, खांडेकर इत्यादि लेखकों ने मजदूरों के प्रश्न लेकर सरस उपन्यास लिखे। गीता साने भी प्रगतिवादी लेखिका हैं। साम्यवादी ढंग से लिखने वाला श्रेष्ठ उपन्यासकार मराठी में नहीं है। दूसरे हैं किंतु वे भूतदया, अस्पष्ट समाजसत्तावाद, संदिग्ध समानता और ध्येयवाद से प्रेरित हैं।

अनूदित उपन्यास श्री वि० स० गुर्जरने तथा वरेरकर ने बंगलासे श्री बंकिम बाबू, शरच्चंद्र, रवींद्रनाथ ठाकुर इत्यादि श्रेष्ठ उपन्यासकारों की कृतियों का मराठी में सरस अनुवाद किया। हिंदी उपन्यास सम्राट प्रेमचंदजी के कई उपन्यासों के

मराठी में अनुवाद हुये। अंग्रेजी की तो बात ही क्या कहना। संक्षेप में उपन्यास काल का सर्वांगीण विकास मराठी में हुआ।

विशिष्ट उपन्यासकार (१८९३—१९५३)

उपन्यास सम्राट हरिनारायण आपटे (१८६४—१६१६) मराठी उपन्यास प्रांगण में एक क्रांति का संदेश लेकर अवतीर्ण हुए। इनकी रचनाओं से मराठी उपन्यास साहित्य की सर्वांगीण समृद्धि हुई। सर वाल्टर स्कॉट ने अंग्रेजी साहित्य में जो कार्य किया उससे अधिक कार्य हरिभाऊ आपटे ने मराठी में किया। हरिभाऊ ने स्काट, रेनाल्डस्, डिकन्स इत्यादि अंग्रेजी उपन्यासकारों की कृतियों का सूक्ष्म अध्ययन किया था। आप पर लो० टिलक आगरकर, भांडारकर और न्या० रानडे के कार्यों का समुचित प्रभाव पड़ा था। अतः आपने ध्येयवादी साहित्य निर्माण की दृष्टि से जन जागरणकारी उपन्यासों की रचना की। आप की रचनाओं में यथार्थवाद और ध्येयवाद का मनोहर संगम है। आप की सामाजिक कृतियों में समाज सुधार का प्रबल संदेश है। स्त्रीशिक्षण, विधवाविवाह, स्त्री पुरुष समानता, केशवपन का निषेध, विषम विवाह का घोर विरोध कर आपने मध्यम वर्गीय महिलाओं की समस्याओं का कलात्मक और भावरम्य चित्रण किया। आपके समाजिक उपन्यासों में "मघली स्थिति, गणपतराव, पण लक्षांत कोण घेतो" इत्यादि प्रमुख हैं। आप चरित्र चित्रण में सिद्धहस्त थे। अतः आपके नायक और नायिकाएँ पाठकों के हृदय पर अमिट असर डालती हैं। आप महाराष्ट्र के स्काट हैं। आपने लगभग दस ऐतिहासिक उपन्यास लिखे। इनमें से 'चंद्रगुप्त' उपन्यास भारत के गुप्त काल का वैभव उपस्थित करता है। 'रूपनगर की राजकन्या' राजपूतों की अमर वीरता और पराक्रमों का प्रभावपूर्ण वर्णन करता है। 'वज्राघात' नामक अतीव कलापूर्ण और भाषा-वैभव-संपन्न उपन्यास विजयानगर की अंतिम अवस्था और उसके विध्वंस का हृदयभेदी दृश्य हमारे सामने रखता है। 'उषः काल' 'केवल स्वराज्या साठी' 'सूर्यग्रहण' और 'गडआलापण सिंह गेला' ये ऐतिहासिक उपन्यास शिवाजीकालीन रोमहर्षणदायी प्रसंगों तथा स्वराज्य स्थापना के प्रयत्नों का सजीव चित्रण करते हैं। गुप्त कालसे मराठों की स्वराज्य स्थापना तक के काल पर आपने कलापूर्ण उपन्यास लिखे। इससे उनकी ऐतिहासिक दृष्टि कितनी व्यापक और विशाल थी इसका पता लगता है। सचमुच वे अखिल भारतीय थे। आपने लगभग आठ राजकीय समस्या प्रधान उपन्यास लिखे। वे हैं, "यशवंत राव खरे, मी. कर्मयोग, भयंकर दिव्य इत्यादि। इनमें लिबरल्स की राजकीय काररवाई लो० टिलक की उग्रदल की चेष्टाएँ तथा क्रांतिकारियों के अत्याचारी षडयंत्रों का मार्मिक तथा उद्बोधक चित्रण दिखाई पड़ता है। 'मी' उपन्यास में भविष्य में आनेवाले गांधीवाद की भी कलापूर्ण व्यंजना है। इनसे आपटे की उदार दृष्टि का परिचय मिलता है। हरिभाऊ एक द्रष्टा उपन्यासकार थे। आपका व्यंग्य हृद्य है। सदभिरुचि को कहीं भी आपने चोट नहीं पहुँचायी। सत्यम्, शिवम्, सुंदरम् के आप उपासक थे। और कला का तथा सौंदर्य का आविष्कार करते करते आपने जनजागरण का उदात्त कार्य किया।

श्री वि० स० गुर्जर ने लगभग तीस बत्तीस अनूदित उपन्यासों से मराठी उपन्यास साहित्य समृद्ध किया। उन्होंने बंगला से श्री शरच्चंद्र चटर्जी और प्रभात कुमार मुकर्जी की

श्रेष्ठ कृतियों का मराठी अनुवाद किया। विश्वकवि रवीन्द्र का भी मराठी में प्रवेश करा दिया। इसी समय श्री वा० गो० आपटे ने संपूर्ण बंकिमचंद्र का मराठी में कलात्मक और सरस अनुवाद किया

नाथमाधव, द्वा० मा० पितले (१८८२—१९२८) ने लगभग पैंतीस ऐतिहासिक, सामाजिक तथा कल्पनारम्य उपन्यासों की सफल रचना की। नाथ माधव ने यह सिद्ध कर दिया कि हाथ में बंदूक लेनेवाला सैनिक यथासमय लेखनी की करामत भी लोगों को बता सकता है। ऐतिहासिक उपन्यासों में, स्वराज्याचा श्री गणेश, स्व० स्थापना, स्व० कारभार स्व० घटना, स्व, विनाश प्रमुख हैं। सामाजिक उपन्यासों में रायक्लब, डाक्टर, देशमुखवाडी, प्रेमवेडा और स्वयंसेवक विशेष लोकप्रिय हैं।

नारायण हरि आपटे (जन्म १८८१···) एक सात्विक उपन्यासकार हैं। आपने करीब करीब बत्तीस उपन्यास लिखे। इन्होंने युवकों और युवतियों को धार्मिकता और नैतिकताका उपदेश देने के हेतु से ही उपन्यास लिखे और उसमें ये सफल हुये। इनकी प्रमुख कृतियाँ अजिंक्य तारा, सुखाचा मूल मंत्र, कर्मगति, भाग्यश्री, आनंद मंदिर हैं।

प्रो० वामन मल्हार जोशी (१८८२—१९४३) ने १९१५ में 'रागिणी' उपन्यास लिखकर आपटेयुग की इति की। आप युगप्रवर्तक उपन्यासकार थे। आप के 'रागिणी' में दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के साथ साथ काव्य शास्त्र-विनोद का बहुत कलात्मक और रम्य आविष्कार हुआ। अतः आप अत्यंत लोकप्रिय हो गये। इसके पश्चात् आपने 'नलिनी' 'आश्रम हरिणी' 'सुशीलेच्या देव' और 'इंदुकाले सरलाभोले' चार नायिका प्रधान सरस और नये तंत्रों का दर्शन करानेवाले उपन्यास लिखे। आप महिलाओं की सर्वांगीण प्रगति चाहते थे। आपने रुक्ष तत्वज्ञान को सुंदर और सुगम स्वरूप दिया। आपकी कृतियों में विधवा विवाह, प्रेम विवाह, अस्पृश्यता का विध्वंस, विषमता का विरोध, आर्थिक समता का प्रतिपादन, उग्रदल का समर्थन और विश्वबंधुत्व का कलात्मक विवेचन मिलता है। आपने ध्येय के लिए आत्मबलिदान करनेवाली आदर्श नायिकाएँ चित्रित की हैं। कला, नीति और जीवन का परस्परोपकारक संबंध आपने कौशल से दिग्दर्शित किया है।

सहकारी कृष्ण ने लगभग बीस उपन्यास लिखे। वे सामान्य पाठकों को आकर्षित करते हैं। आत्मोद्धार, मानापमान, संक्रांत प्रमुख कृतियाँ इसी समय बा० स० गडकरी, प्रि० शि० म० परांजपे श्री धनुर्धारी, तुलजापूरकर इत्यादि उपन्यासकार थे।

मामा वरेरकर (१८८०···) ने लगभग तीस उपन्यासों की अब तक रचना की है। आपने लोकजागरण और मतप्रचार के हेतु से उपन्यास लिखे। आप की कृतियों के नाम विरोधाभासात्मक होनेसे बड़े आकर्षक होते हैं। उनकी भाषा सर्वजनसुलभ और कथोपकथन जिज्ञासा बढ़ानेवाला होता है। विधवा कुमारी, जलते पाणी, तरतें पोलाद, धांवता धोंटा, उमलती कळी प्रमुख उपन्यास हैं। आप प्रगतिशील उपन्यासकार हैं।

तंत्रदेव प्रो. ना. सी. फडके—(१८९४...) इस युग के सर्वश्रेष्ठ और लोकप्रिय उपन्यासकार हैं। आपने अब तक पचीस कलापूर्ण उपन्यासों की सफल रचना की। आप की प्रतिभा बहुप्रसवा होती हुई भी गुणसंपन्नता में कुबेर सी है। आप 'कला के लिये कला' ध्येय के एकनिष्ठ अनुयायी और समर्थक हैं। सौंदर्य का आविष्कार कलावंत का सर्व

प्रमुख कार्य है ऐसा आपका दृढ़ विश्वास है। आप प्रामाणिक कलाकार हैं। आपकी सब कृतियाँ तंत्रशुद्ध हैं। आपकी भाषा शैली अपने ही ढंग की है। इतनी लचीली, भाव व अर्थ-वाही लेखन पद्धति अन्यत्र दृष्टिगोचर नहीं होती। कथोपकथन की रीति पाठकों की जिज्ञासा प्रदीप्त करती है। स्वभाव चित्रण इतना स्वभाविक और कलापूर्ण रहता है कि आपके नायक नायिकाओं को पाठक कभी नहीं भूल सकते। आपने अद्‌भुतरम्य (Romantic) सामाजिक तथा कुछ राजकीय उपन्यासों की रचना की। उनमें से दौलत, उद्धार, शाप, जादूगार, आशा, शाकुंतल, प्रवासी, इंद्रधनुष्य, कलंक शोभा, अखेरच बंड प्रमुख हैं। आपने मराठी उपन्यास साहित्य को तंत्र की देन दी और उसे समृद्ध बनाया।

श्री विष्णु सखाराम खांडेकर (१८९८...) आज के दूसरे लोकप्रिय उपन्यासकार हैं। आपने पचीस से अधिक अबतक उपन्यास लिखे। अभी भी आप से आशा की जाती है। आप प्रो० फडके के प्रतिस्पर्धी माने जाते हैं। आप कला और जीवन का समन्वय चाहते हैं। जीवन के लिए कला का आविष्कार होता है इस सिद्धांत के संभवतः आप एक निष्ठ समर्थक हैं। आपने आधुनिक युग की सभी सामाजिक, राजकीय, साहित्यिक तथा आर्थिक समस्याओं को उपन्यासों के विषय बनाये। आप प्रगतिशील कहलाते हैं, किंतु आपकी प्रगतिशीलता का आधार कोई ठोस सिद्धांत नहीं है। अपितु भूतदया और करुणा है। आपकी भाषाशैली अतीव अलंकृत होती है। कथोपकथनशैली कलापूर्ण और आकर्षक होती है और ध्येयवाद का भी प्रभावपूर्ण आविष्कार दिखाई देता है। उपन्यासों से लोकशिक्षण और ध्येयदर्शन कराने की आपने सफल चेष्टा की है। 'हृदयाची हांक, कांचनमृग, दोनध्रुव, उल्का, पांढरे ढग, हिरवा चांफा, क्रौंचवध, सुखाचा शोध, दोन मनें इत्यादि आप की प्रमुख कृतियां।

श्री ग० त्र्यं० माडखोलकर (१८९९) वर्तमान काल के तीसरे लोकप्रिय उपन्यास-कार हैं। आपने आजतक लगभग पंद्रह उपन्यासों की सफल रचना की। आप भाषाप्रभु हैं। आपकी कथाओं में आधुनिक सामाजिक, राजकीय और साहित्यिक समस्याओं का कलापूर्ण चित्रण किया गया है। युवक पाठक आपकी कृतियाँ बड़े ही चाव से पढ़ते हैं। क्योंकि उनमें उत्तान शृंगार का उन्मादकारी चित्रण किया गया है। किंतु कहीं कहीं वह सदभिरुचि को हानि पहुँचाता है। भाषाशैली मादक और बलवती प्रवाहपूर्ण है। भंगलेलें देऊळ, मुक्तात्मा, शाप, कांता, मुखवटे, निर्वासिताची कहानी आपकी विशेष कृतियाँ हैं।

दे० भ० सानेगुरुजी उर्फ पांडुरंग सदाशिव साने एम० ए० (१८९९-१९५० ने गत पंद्रह वर्षों में अनन्य सामान्य लोकप्रियता संपादन की थी। आपका जीवन आत्मबलिदान और परोपकर था। आपका हृदय माता का था। कामना और वासना ईर्षा और द्वेष से आप परे थे। साधुता ही आपकी संपन्नता थी। आप लगभग छः सालों तक जेल में रहे और वहीं आपने सफल और प्रभावोत्पादक रचनाएँ कीं। अतः आपके हृदय का निचोड़ उपन्यासों में ओतप्रोत है। आपने प्रेम के उदात्त स्वरूप तथा शुद्ध स्वरूप जैसे भ्रातृप्रेम, बंधुप्रेम, भगिनीप्रेम, पितृप्रेम, देशप्रेम, संस्कृतिप्रेम,

स्वातंत्र्यप्रेम, समताप्रेम, देवप्रेम और विश्वप्रेम रम्यऔर हृदयग्राही ढंग के चित्रित किये। युवकों युवतियों को और कुमार कुमारियो को आपने मानो पागल सा बना दिया था। आप की सब कृतियां संस्कारयुक्त हैं। आप खून से लिखते थे शाही से नहीं। आपने सत्यम् शिवम् और सुंदरम् की आजन्म सेवा की, और उसका प्रतिबिंब आपके उपन्यासों में दिखाई देता है। आपने माता के प्रेम का रम्य और भावपूर्ण चित्रण श्याम की माता, में किया। यह आपकी सर्वोत्कृष्ट कृति है। यह अमर उपन्यास है। गोर्की का 'मदर' उपन्यास भी इसकी तुलना नहीं कर सकता। 'श्याम खंड १, २ और ३' एक अतीव प्रभावकारी, आत्मचरित्रात्मक उपन्यास है। 'धडपडणारी' मुलें', 'क्रांति', 'सती', 'आस्तिक' 'पुनर्जन्म' इत्यादि अन्य उपन्यास हैं। सब शिवम् और सत्यम् से ओतप्रोत हैं। राष्ट्रसंत विनोबा जी भावे ने गुरुजी के देहान्तोत्तर कहा 'साने गुरुजी में रामकृष्ण परमहंस की भक्ति, रवींद्रनाथ ठाकुर की काव्यशक्ति और म० गांधी जी की सेवावृत्ति का आकर्षक समन्वय हुआ था।"

श्री वी० वा० हडप (१६००) ने लगभग एक सौ उपन्यासों की रचना की है। उन्होंने सब प्रकार के उपन्यास लिखे। प्रतिभा बहुप्रसवा और शीघ्र प्रसवा है किंतु उनमें दिव्यत्व नहीं है। निरभ्रचंद्र, बहकलेली तरुणी, निवललेली तरुणी, और उपन्यासमय पेशवाई उत्तम कृतियां हैं।

श्री पु० य० देशपांडे एम० ए० एल० एल० बी० (१८९६) ने 'बंधनाच्या पलीकडे' उपन्यास लिखकर एकाएक लोकप्रियता संपादन की। इसमें वैवाहिक स्वातंत्र्य का स्फूर्तिदायक प्रतिपादन है। भाषाशैली वक्ता की वाग्मिता जैसी है। उनकी अन्य रचनायें 'सदाफुली', और 'सुकलेले फूल' है। इनमें मनोविश्लेषण द्वारा स्वभावदर्शन कराने की सफल चेष्टा की गयी है। तीनों ही उपन्यास सरस और संग्राह्य हैं। इनके अतिरिक्त साहित्यसम्राट श्री कृ० कोल्हटकर, सा० स० न० चि० केलकर, डा० श्री व्यंकेतकर, वि० पा० दांडेकर, दि० के० बेडेकर, ना के० बेहरे, वि० वि० दिघे और शं० बा० शास्त्री इत्यादि सफल कथाकारों ने उपन्यास को सर्वांगीण संपन्न बनाया।

स्त्री उपन्यासकार—उपन्यासों की समृद्धि और विकास में भगिनी लेखिकाओं ने भी अपने हाथ बटाये। जिनकी कृतियां सरस, निर्दोष और कलापूर्ण हैं उनका संक्षेप में वर्णन करता हूँ।

गीता साने प्रगतिशील लेखिका हैं। आपने लगभग आठ उपन्यासों की सफल रचना की। उन्होंने महिलाओंकी सर्वांगीण और क्रांतिकारी प्रगति का प्रबल समर्थन किया है। आप सामाजिक तथा आर्थिक विषमता का घोर प्रतिकार करने का संदेश देती हैं। हिरकणी, वठलेला वृक्ष, मालारानांत, लतिका, धुके दहिवर आपकी रम्य व प्रमुख कृतियाँ हैं।

विभावरी शिरूरकर (सौ० मालती बाई बेडेकर) ने 'कलयांचे निश्वास' हिंदोलयावर, विरलेलें स्वप्न' तीन अतिमधुर, सुंदर सुरस और कोमल कृतियों की रचना की। इनकी भाषाशैली, कथोपकथन, स्वभाव-चित्रण, और भावरम्यता वर्णनातीत हैं। शर्करा की मिठास

कौन वर्णन करेगा ? वह आस्वाद्य है वर्ण्य नहीं है। इनकी कृतियाँ मराठी के अलंकार हैं। आप सर्वश्रेष्ठ महिला उपन्यासकार हैं। आपसे अभी भी आशा है।

शांताबाई नाशिककर ने "लग्नाचा बाजार' हाच का धर्म ? माझी कोरीव लेणी, चिखलांतलें कमल" इत्यादि उपन्यासों की रचना की है। वे पठनीय हैं।

कुमुदिनी प्रभावलकर ने "कर्तव्याची जाणीव, एकेरी गांठ, कल्पना, रस्सीखेच" इत्यादि महिलाओं की सामयिक समस्या प्रधान उपन्यास लिखे। उनमें प्रेमविवाह, तलाक, स्त्री का आर्थिक स्वातंत्र्य आदि का प्रबल उद्घाटन किया गया है। आपकी शैली लालित्य-पूर्ण है।

लीला देशमुख एम्० ए० ने 'पूर्वेचा वारा' यह १९४२ के आंदोलन का भावपूर्ण वर्णन करनेवाला उपन्यास लिखा।

शांताबाई शेलके ने 'कोजागिरी' और 'विझती ज्योति' ये दो अप्रतिम उपन्यास प्रस्तुत किये।

सौ० मालतीबाई दांडेकर एक प्रथितयश कथा लेखिका हैं। आपने "तेजस्विनी, वज्रलेखा, कांटेरीमार्ग, अमर प्रीति, संसारांत पदार्पण और कृष्ण रजनी" विदग्ध कृतियाँ रचीं। विषय नित्य परिचय के होने से उपन्यास पाठकों को सदैव आकृष्ट करते हैं।

सौ० इंदराबाई सहस्त्रबुद्धे ने 'गोदावरी', 'केवल ध्येयासाठी' 'बालुताई धड़ा घे' ये तीन सरस कृतियाँ उपस्थित की। सब स्त्री स्वातंत्र्य का समर्थन करती हैं।

आनंदी बाई जयवंत ने 'जगाशी बंडखोरी' याने संसार से विद्रोह यह क्रांतिकारी उपन्यास लिखा। महिलाओं ने इसका हार्दिक स्वागत किया।

कुमारी प्रेमा कंटक ने 'काम आणिकामिनी' गांधीवाद का प्रचार करने के हेतु से उपन्यास लिखा। इसमें पति और पत्नी भाई और बहन सा बर्ताव करते हैं। दोनों ही सत्य और अहिंसा की उपासना में जीवन यापन करते हैं। यह अपने ढंग का एकमेव उपन्यास है।

इस तरह भगिनी लेखिकाएँ अपनी कला का और प्रतिभा का सुंदर आविष्कार कर रही हैं।

कथा और लघुकथा (१८९३ से १९५३)

१८५३ से १८९३ तक अंग्रेजी, संस्कृत और बंगला से मराठी में सैकड़ों कथाओं का सरस अनुवाद किया गया किंतु १८९३ से मराठी के उपन्याससम्राट **हरिनारायण आपटे ने** अपनी मासिक पुस्तिका 'करमणूक' में स्वतंत्र और मौलिक कथाओं का सूत्रपात किया। लोकशिक्षण का प्रभावशाली साधन मानकर ही उन्होंने कथाओं की रचना की। उनकी कथाएँ 'घटनाप्रधान, व्यक्ति-स्वभाव-चित्रण प्रधान और कुछ भावप्रधान भी होती थीं। उनकी लंबाई पांच पृष्ठों से पचास तक होती थी। इन कथाओं द्वारा उन्होंने समाज-सुधार, नीतिका और प्रयत्नशीलता का संदेश दिया। इसी समय श्री विट्ठल सीताराम गुर्जर भी मासिक 'मनोरंजन' में अंग्रेजी, बंगला आदि भाषाओं से अनूदित कथाएँ लिखते थे। आपने लगभग डेढ़ सौ कथाओं का सरस अनुवाद किया। साहित्य सम्राट द्वय श्री कृ० कोल्हटकर और न० चिं० केलकर तथा प्रि० शि० म०

परांजपे आदि श्रेष्ठ साहित्यिकों ने सामाजिक और राजकीय जाग्रति कराने के उद्देश्य से कथाओं की रचना की। हरिभाऊ आपटे की कथाएँ कलापूर्ण हैं इसमें संदेह नहीं है किंतु अबतक कथाओं की रचना प्रचार का एक साधन मानकर ही हुई। श्री कृ० कोल्हटकर, न० चिं० केलकर ने विनोद और व्यंग्य द्वारा रूढ़ियों पर टीका टिप्पणी की। १६१३ में वा० म० जोशी ने और द० मा० कुलकर्णी तथा दिवाकर कृष्णजी ने इस क्षेत्र में पदार्पण किया। श्री वा० गो० आपटे ने हिंदी कथासम्राट मुंशी प्रेमचंद्र की कई कथाओं का मराठी में सरस अनुवाद किया।

कलापूर्ण लघुकथा—१९२० से मराठी में कलात्मक, स्वतंत्र और मौलिक लघुकथाओं की रचना प्रारंभ हुई। यह लघुकथा का स्रोत बहाने का श्रेय **प्रो० ना० सी०** फडके जी को है। आपकी लघुकथाओं में कथोपकथन और स्वभाव चित्रण अतीव कलात्मक होता है। मनोरंजन ही आपका प्रधान लक्ष्य होने से सौंदर्य का संपूर्ण आविष्कार होता है। आपकी भाषा शैली मोहक, प्रासादिक और चित्तवेधक है। आपकी लघुकथाएँ निर्दोष एवम् पठनीय हैं।

लघुकथा संग्रहः—चंद्रा, वत्सला, उल्हास कथा, नमुनेदार गोष्ठी इत्यादि।

श्री वि० स० खांडेकर जी मराठी के सर्वश्रेष्ठ लघुकथाकार हैं। भावोत्कटता आपकी लघुकथाओं की आत्मा है। पात्र और प्रसंगों की रचना आप बहुत कौशल से करते हैं। इनकी कथाएँ संस्कारपूर्ण होती हैं। लोकजागरण आपका मुख्य ध्येय है। भाषा अतीव अलंकृत और काव्यात्मक होती है। सामयिक सब समस्याओं को इन्होंने लघुकथाओं के विषय बनाये हैं। आपकी कथाएँ मनोवेधक हैं। ग्रंथः—कलिका, घरट्या बाहेर पूजन, स्वप्ने, बाहेर, अश्रु आणि हास्य, सांजवात इत्यादि बीस लघुकथा संग्रह।

श्री यशवंत गोपाल जोशी भी एक सरस लघुकथाकार हैं। लघुकथा प्रतियोगिता में आपने पहला स्थान प्राप्त किया था। इनकी कथाएँ अतीव हृदयग्राही होती हैं। 'ग्यानबाचें टेक्निक और शेवग्याच्या शेंगा' इनकी लोकप्रिय कथाएँ हैं।

प्रो० वा० कृ० चोरघडे ने चार लघुकथा संग्रह लिखे हैं। सामाजिक जीवन में विशुद्धता और गांधीवाद के प्रचार की दृष्टि से इन्होंने कई लघुकथाएँ लिखी हैं। आपका देहाती लोगों का स्वभावचित्रण और देहाती भाषा अतीव आकर्षक रहती हैं। सत्यम् शिवम् और सुंदरम् के आप अनन्य उपासक हैं।

ग्रंथ—यौवन, हवन, प्रस्थान और संस्कार।

प्रो० भा० म० गोरेः—आप लघुतर और लघुतम कथाएँ लिखते हैं। आपकी कलात्मकता अपने ढंग की है। 'नवी पालवी' लघुकथा ग्रंथ।

श्री गंगाधर गाडगील—बहुत लोकप्रिय कथा लेखक हैं। पहले आपने कुमारों के लिए लिखा किंतु अब आप मनोविश्लेषणात्मक, और कलात्मक लघुकथा लेखन में सिद्धहस्त हो गये हैं। भाषाशैली रोचक और निरलंकृत होती है। 'मानस चित्रे' ग्रंथ हैं।

श्री अरविंद गोखले यह भी एक लोकप्रिय लघुकथाकार हैं। इनकी लघुकथा भावनिष्ठ होती है। निवेदनशैली और मनोविश्लेषण आकर्षक होते हैं। कथा संग्रह है। 'नजराणा' उन्मेष, तनुजा, आदि।

श्री पु० बा० भावे भी एक लोकप्रिय लघुकथा लेखक हैं। आपके अबतक चार संग्रह प्रसिद्ध किये गये हैं। विषकन्या, पहिला पाऊस इत्यादि।

श्री प्रभाकर जी पाध्ये, श्री माडगूलकर, तलवलकर और बर्वे मराठी के लोकप्रिय लेखक हैं।

लघुकथा लेखिकाएँ

कु० पिरोज आनंदकर ने 'रशना' संग्रह में वास्तविकतापूर्ण लघुकथाएँ बड़ी सुंदरता से लिखी हैं।

प्रो० सौ० कुसुमावती देशपांडे ने तीन अतीव सुंदर, सरस और कलापूर्ण ग्रंथ लिखे हैं। आपकी कथाओं में पीड़ितों के प्रति दया और स्नेह का रसपूर्ण प्रनर्शन रहता है। स्वभावरेखन यथातथ्य और संस्कारकारी होता है। भाषाशैली प्रासादिक और हृदयग्राही है। आप मराठी की सर्वश्रेष्ठ लघुकथा लेखिका हैं। ग्रंथ—दीपकली, मोली और दीपदान इत्यादि।

सौ० कमला बाई टिलक ने 'आकाश गंगा' और हृदय शारदा' दो ग्रंथ प्रकाशित किये हैं। स्त्रियों के विचार और विकार आप रोचक ढंग से चित्रित करती हैं। भाषाशैली, सरल, सरस और चुभती होती है। सहृदयता इनकी विशेषता है।

सौ० मालतीबाई दांडेकर लोकप्रिया लघुकथा लेखिक हैं। महिलाओं की सर्वांगीण उन्नती का प्रबल समर्थन किया है। पांच सरस लघुनिबंध संग्रह हैं। 'प्रतिभा, चंद्रज्योति, कथामालती, विद्यु्त लेखा, विसाव्याचे क्षण इत्यादि।

सौ० कमलाबाई बंबेवाला ने कमलाच्या पांकलया' एक भावनिष्ठ कथा संग्रह प्रकाशित किया है।

मराठी कथाओं में, अद्‌भुत रम्य कथा, रूपक कथा, प्राणिकथा, लोककथा, परीकथा, डिटेक्टिव कथा आदि की प्रचुरता से रचना हुई है। मराठी का कथा साहित्यफूल रहा है।

प्रौढ़ निबंध और प्रसन्न लघुनिबंध

प्रौढ़ निबंध मराठी का अनन्य साधारण वाङ्मयविशेष है। प्रौढ़ निबंध लेखक के लिए महाराष्ट्रीयों की प्रवृत्ति सर्वथा अनुकूल है। अतीत के प्रति पूज्यभाव, स्वजनगौरव की वृत्ति, तत्त्वान्वेषण में अभिरुचि, रुक्ष पांडित्य और वाद विवाद तथा चर्चा में रममाण होने की चाव और अपने मत की दृढ़ता महाराष्ट्रियों के स्वभाव की विशेषताएँ हैं, और ये विशेषताएँ प्रौढ़ लेखन के लिए अत्यंत उपयोगी होती हैं। अतः मराठी में निबंध वाङ्मय का प्रभावशाली विकास हुआ। यह अचरज की बात है कि मराठी का पहला निबंध मिसेस फरार ईसाई बहन ने १९३५ में लिखा। मराठी निबंध का लेखन उपदेश से प्रारंभ हुआ। मिसेस फरार बहन ने 'शराब पीने वाले को बोध' शीर्षक लेख लिखा और उसमें शराबियों को शराब पीना बंद करने का उपदेश दिया। भाषा अशुद्ध और अनलंकृत थी

किंतु लेखिका की लोकजागरण की भावना तीव्र थी। सामयिक सामाजिक, राजकीय, शिक्षा संबंधी विषयों पर ब बा पदमनजी, कृष्णशास्त्री चिपलूणकर, लोकहितवादी, विष्णुबुआ ब्रह्मचारी, भाऊ महाजन, बालशास्त्री जांभेकर, वि० ना० मंडलीक इत्यादि लेखकों ने निबंध लिखे। ये सब निबंध समाचार पत्रों में प्रकाशित होते थे। इनमें बालशास्त्री जांकेकर, चिप लूणकर तथा लोकहितवादी प्रकांड विद्वान थे। आप लोगों ने अंग्रेजी साहित्य से निबंध लेखन की प्रेरणा प्राप्त की। दूसरे आप उच्च कोटि के देश सेवक थे और अपने समाज तथा देश की सर्वांगीण उन्नति चाहते थे अतः भारतवासियों की विपन्नावस्था देखकर उनके हृदय व्याकुल होते थे और वे कुछ न कुछ लोगों को कहना चाहते थे। लोकहितवादी की 'शतपत्रों में' लोगों को पश्चिम की शास्त्रीय प्रगति अपनाने का संदेश है और कुरीतियों को हटाने का उपदेश है। बालशास्त्रीने और चिपलूणकरने विविध विषयों का उदघाटनकर लोगों में ज्ञानप्रचार किया। लोकहितवादी की सहृदयता अनूठी है। उनकी भाषाशैली परिष्कृत नही थी किंतु रसभीनी थी अतः मराठी निबंध के आप जनक है। चिपलूणकरजी की भाषाशैली सरस, सुलभ और परिष्कृत है। आपने मराठी में सरस अनुवाद का सूत्रपात किया और अंग्रेजी गद्य की ओर जनता की दृष्टि मोड़ी और दूसरे पीढ़ी के नवसुशिक्षितोंने इससे पूरा लाभ उठाया।

निबंधमाला युग—१८७४ में आधुनिक मराठी गद्य के छत्रपति विष्णु कृष्ण चिपलूणकर ने 'निबंधमाला' मासिक पात्रिका का प्रकाशन प्रारंभ किया। मासिक पत्रिका के नाम से ही यह बोध होता है कि यह पत्रिका मराठी निबंध में क्रांतिकारी परिवर्तन करना चाहती थी। उसके प्रकांड विद्वान् संपादक चिपलूणकर जी संस्कृत, मराठी और अंग्रेजी साहित्य के सूक्ष्म अध्येता थे। आपका हृदय भारत की दासता और सर्वमुखी अवनति देखकर तड़पता था। आप देशबंधुओं को जाग्रत करना चाहते थे। अतः आपने गद्य लेखन का प्रभावपूर्ण साधन अपनाया और स्वदेश, स्वसंस्कृति तथा स्वभाषा के प्रति नवयुवकों का ध्यान आकृष्ट किया। आपने अंग्रेजी के मकाले, अडिसन डा० जॉनसन बेकन, लैंब इत्यादि निबंधकारों के लेखों का सूक्ष्म अध्ययन किया और यह निश्चय किया कि मराठी में उसी शैली के निबंधलिखूगा। चिपलूणकर की यह प्रतिज्ञा पूरी हुई और निबंधमाला के प्रत्येक अंक में सरस, कलापूर्ण व प्रभावशाली भायाशैली से लिखे हुए निबंध पाठकों को पढ़ने के लिए मिलने लगे। आपने मराठी निबंध को अंग्रेजी निबंध जैसा तेजस्वी और प्रौढ़ ही नहीं बनाया कई अंशों में उससे भी अधिक संपन्न बनाया। निबंधलेखन का तंत्र, शस्त्र बनाने के सर्व साधन, सर्व नियम हमें चिपलूणकर जी के लेखों में प्राप्त होते हैं। निबंध को उचित और अन्वर्थक शीर्षक देना, रोचक प्रस्तावना लिखना, मुद्दों की समर्पक चर्चा करना, परपक्षका समूल खंडन करना, आवेशयुक्त प्रौढ़ तथा अलंकृत भाषाशैलीसे निबंध को सजाना, दृष्टांतों से अपना विवेचन समर्थशाली और बुद्धिग्राह्य बनाना और निबंध का विशेष प्रभावोत्पादक अंत करना इत्यादि वाङमयीन गुणों से उनके निबंध ओत-प्रोत हैं। उनके वाक्यों का नादगुण बड़ा ही आकर्षक है। चिपलूणकरजीने मेकाले की निबंधशैली की अपेक्षा भी अपनी लेखन शैली अधिक प्रौढ़ और सरस बनायी। सचमुच

वे निबंध के क्षेत्र में बेजोड़ हैं। आप निबंधलेखन के युग-निर्माता है। इस चिपलूणकर स्कूल ने मराठी को बड़े बड़े शैलीकार निबंधलेखक दिये। निबंधमाला ने मराठी गद्य लेखन का सर्वांगीण सूत्रपात किया। क्या निबंध, क्या चरित्र लेखन, क्या विनोद, क्या आलोचना, क्या व्यंग्यपूर्ण शैली, सभी प्रकारों को उन्होंने सशक्त और कालपूर्ण बनाया। अतः उनका स्थान अनन्य सामान्य और सर्वश्रेष्ठ है। आपने अकेले सात वर्षोंतक निबंधमाला में लिखा। एक भी पंक्ति दूसरे से नहीं लिखवाई अतः वे इस क्षेत्र में मराठी में ही नही सम्भवतः संसार भर में अद्वितीय हैं। इतना ही नहीं आपने दो श्रेष्ठ लेखक शिष्यों की देन मराठी को दी। वे हैं लो० टिलक और समाज-सुधारकाग्रणी गो० ग० आगरकर। आपने ही समाचार पत्र चालू किया और लो० टिलक और आगरकर को उसके संपादक नियुक्त कर उन्हें लेखन की प्रेरणा दी। लो० टिलकने गुरु की वृत्ति, लोकजागरण की तीव्र इच्छा, पांडित्य पूर्ण लेखन, सुभाषितों का उपयोग स्वपक्षका तर्कपूर्ण और ठोस मंडन, परपक्षका कठोर खंडन, ओजस्वी और प्रभावशाली भाषाशैली अपनायी। श्री आगरकर जी समाज सुधारक थे अतः उन्होंने परमतों की निघृण निंदा और खंडन, भावपूर्ण और ओजस्वी भाषा शैली, दृष्टांत और अलंकारों का भरसक उचित व्यवहार जिससे निबंध आकर्षक बने, प्रौढ़ रचना और हृदय की बेचैनी इत्यादि गुणों को आत्मसात किया और दोनों ने मराठी निबंध को संपन्न बनाया। इनके पश्चात् 'काल' के कलावन्त संपादक प्रो. शि० म० परांजपे और 'संदेश' के संपादक अ० ब० कोल्हटकरजीने चिपलूणकर की परंपरा अधिक पुष्ट और कलापूर्ण की। आपने शास्त्रीजी की सूत्रबद्धता, लो० टिलक की तेजस्विता और आगरकर की भावोत्कटता का सुंदर समन्वय किया और उसको बाह्य सौंदर्य प्रसाधनो का आकर्षक साज सजाया। शब्द वैचित्र्य और वैपुल्य, व्यंग्य और वक्रोक्ति, कलात्मकता इत्यादि गुणों का योग उन्होंने मराठी निबंध को दिया। श्री परांजपेने कल्पनायुक्त काव्यात्मकभाषाशैली में 'देशप्रेम' रस की उत्पत्ति की। श्री अ०ब० कोल्हटकरने निबंध की खुमारी बढ़ाई और सर्व सामान्य पाठक को निबंध की रुचि प्रदान की। श्री ल० रा० पांगारकरने प्रवाहपूर्ण और भावपूर्ण भाषाशैली अपनायी और श्री गोले, चि. वि. वैद्य, ना. गो. चाफेकर, ना. ह. आपटे इत्यादि लेखकों ने इस परंपरा को अपने निबंधों से पुष्ट किया। साहित्य सम्राट श्री कृ० कोल्हटकर जी ने पांडित्य, संतुलित आलोचना और विनोद प्रचुर लेखन के द्वारा इस स्कूल की संपन्नता वृद्धिंगत की। साहित्य सम्राट न० चिं० केलकर जीने मराठी निबंध को अतीव संतुलित, साहित्यपूर्ण, शांत, प्रौढ़ और सहज स्वरूप संपन्न बनाया। श्री न० चिं० केलकर के निबंध लेखन में चिपलूणकर स्कूल का उत्कर्ष बिंदु हम देखते हैं। श्री केलकर का स्थान इसलिए चिपलूणकर जीके बाद ही आता है। इतना ही नहीं श्री न० चिं० केलकर ने निबंधलेखन में आभ्यंतरिकता का, आत्मपरता का प्रवेश कराया। सहज रम्यता और अकृत्रिमता इनकी विशेषता है। आपने सब गुणों का समन्वय किया। प्रो० वा० म० जोशी ने तत्वविवेचन की पद्धति और उद्बोधकता का सम्यक उद्घाटन किया। यशस्वी संपादक ग० त्र्यं माडखोलकर जी ने भी बहुत अंशों में चिपलूणकर की स्कूल का सफल अनुकरण किया। आपकी भाषा प्रौढ़ गंभीर और ललित मधुर है और वह विषयानुरूप लचीलापन लिए है। अलंकृत रचना का आपको बड़ा चाव है तथा संस्कृत प्राकृत मिश्रित लंबे

लंबे समासों का मोह भी आप रोक नहीं सकते। इस स्कूल के अन्य लेखक है महामहोपाध्याय पोतदार, बै० सावरकर और प्रो० श्री० ना० बनहट्टी।

प्रौढ़ निबंध की विशेषताएँ—अब हम चिपलूणकर स्कूल के निबंध की विशेषताओं का संक्षेप में निवेदन करेंगे। वे ये हैं—

१—निबंध का विषय गंभीर प्रतिष्ठित और समाजोपयोगी होता है। क्षुद्र, सर्वमान्य विषय नहीं होता। विषयनिष्ठा इसकी महत्तम विशेषता है।

२—विषय विवेचन, तर्कशुद्ध, प्रभावपूर्ण और विषय को न भूलते हुए किया जाता है। विषयांतर तनिक भी नहीं दिखाई देता।

३—निबंधकार कभी अप्रत्यक्ष उपदेशक, कभी विवेचन करनेवाला, कभी तत्व मीमांसा करनेवाला तो कभी सृष्टिवर्णन करनेवाला होता है। वह आवश्यकतानुसार भाषाशैली को मोड़ता रहता है। सामान्यतः भाषाशैली प्रौढ़ और पांडित्यपूर्ण होती है। रसोत्पत्ति की ओर विशेष ध्यान दिया जाता है।

४—निबंध का प्रारंभ आकर्षक और अंत प्रभावोत्पादक होते हैं। विषय विवेचन पांडित्यपूर्ण और तर्कशुद्ध होता हैं। विवेचन में ज्ञाननिधि का दर्शन होता है और पाठकों को ऐसा अनुभव प्राप्त होता है कि इस निबंध के पठन से उनके ज्ञान में वृद्धि हुई और नयी दृष्टि उन्हे प्राप्त हुई। लेखक का आत्माविष्कार बहुत ही मर्यादित होता है।

५—उच्च वाङमय गुण के लिए केवल इतनी मात्रा में ही आभ्यांतरिकता का व्यवहार किया जाता है। जितनी आवश्यकता प्रतीत हो। केवल आभ्यंतरिकतामय निबंध (आत्मकथन) लेखन इस श्रेणी में नहीं आता। मराठी के असली और सच्चे निबंध की ये विशेषताएँ हैं। १८३५ से १९२५ तक इस निबंध का विकास हुआ और वह पूर्णता को प्राप्त हुआ। अभी भी उसकी प्रकृति के अनुसार कई प्रौढ़ लेखक साहित्य का सृजन करते हैं किंतु एक अभिनव निबंध का रूप आगे आने लगा और उसने लेखकों को लुब्ध किया।

प्रसन्न लघुनिबंध १९२५ से ५३—सुप्रसिद्ध फ्रेंच इसेइस्ट मॉटेन ने एक नये निबंध रूप का सूत्रपात किया। इसे लघु या ललित निबंध कहते हैं। मॉटेन ने मानव जीवन के विविध अंगों पर, प्रसंगों पर और घटनाओं पर आभ्यांतरिकता से लालित्यपूर्ण लघु निबंध लिखे। मॉटेन स्वयम् कहता था कि मैं इन लघुनिबंधों के द्वारा आत्माविष्कार करता हूँ। इससे यह सिद्ध होता है कि यह लघु निबंध विषयनिष्ठ न होकर विषयीनिष्ठ (Subjective) होता है। कोई भी वाङमयप्रकार जब विषयीनिष्ठ होता है तब उसमें उद्बोधन, पांडित्य प्रदर्शन, प्रौढ़ता और अलंकृतता की अपेक्षा सरसता और सुंदरता अधिक होती है। मॉटेन का अनुकरण हॅझ्लिट् चार्ल्स लँब, चेस्टरटन, ल्यूकस, गार्डिनर, बेलॉक इत्यादि अंग्रेजी लेखकों ने किया। अमेरिका में भी इस लघु-निबंधों का बहुत शीघ्र प्रचार हुआ क्योंकि अमेरिकन लोगों को दीर्घ निबंध और प्रबंध के गंभीर पठन के लिए समय ही नहीं मिलता। उपरिनिर्दिष्ट अंग्रेजी लेखकों की

कृतियों ने मराठी नवोदित लेखकों पर अमिट प्रभाव डाला और १६२५ में प्रो० ना० सी० फडके ने इस प्रकार के निबंधों का मराठी में सूत्रपात किया। प्रो० फडके कला के लिए कला पक्ष के एकनिष्ठ उपासक और समर्थक हैं अतः गंभीरता से उन्हें परहेज है। उन्होंने लालित्यपूर्ण भाषाशैली में कई लघु निबंध लिखे। वे स्वयम् इसको 'गुजगोष्ट' कहते हैं। उन्हें लघुनिबंध यह नाम पसंद नही है। वे कहते हैं कि इस निबंध के लेखक की भूमिका मित्र की होती न की गंभीर प्रवचनकार की या अध्यापक की। जैसे एक मित्र दूसरे मित्र से सहृदयता से, सहजता से, और अभिनिवेषशून्यता से बातचीत, संलाप करता है वैसे ही लघु निबंधकार पाठकों से प्रेम संवाद करता है। अतः प्रो० ना० सी० फडके इसको 'सुहृदगोष्ठ' कहते हैं और मुझे उनका 'सुहृद गोष्ठ' यह नाम पूर्णतया पसंद है। सहज सुंदर भाषा शैली, रम्य विषय विवेचन, लेखक का पाठकों से प्रेमपूर्ण बातचीत करने का हृद्य ढंग मराठी लघुनिबंध की विशेषताएँ हैं। यहाँ पांडित्य का प्रदर्शन अवांछित है। वस्तुनिष्ठा निबंधों का गुण है तो आत्मपरता, आध्यंतरिकता लघुनिबंध की आत्मा है। लघुनिबंध में क्या कहने की अपेक्षा कैसे कहना अधिक महत्व का होता है। अतः अंतर्बाह्य कलात्मकतापूर्ण उसका रूप है और विषयों की संपन्नता और विविधता तो कल्पना के परे है। कोई भी प्रसंग, भावभावना, कितनी भी क्षुद्र वस्तु या स्थल उसका विषय बनता है क्योंकि विषय की अपेक्षा विषयी यहां अधिक महत्व का होता है। अतः प्रो० फडके ने 'मेरा पहला सफ़ेद बाल' विषय पर पहली 'सुहृद गोष्ठ' लिखी। अलंकार, खो गयी थी इसलिए मिली इत्यादि अति सामान्य विषयों का उन्होंने उद्घाटन किया। कलात्मकता उनकी विशेषता है।

भावनोत्कटतापूर्ण लघुनिबंध—श्री वि० स० खांडेकरने लघुनिबंधों में काव्यात्मकता और भावनोत्कटता अनुप्राणित की। श्री खांडेकरजी के लघुनिबंध सरस हैं। उनका पठन करते समय पाठक एक अभिनव भावमय और काव्यमय संसार में विचरण करता है। ध्येयवाद का भी उसमें प्रभावपूर्ण दर्शन और संदेश होता है। प्रो० अनंत काणेकर जी मराठी के चेस्टरटन हैं। काणेकरजीने लघुनिबंधों में व्यंग्य भर दिया और कलात्मक संक्षिप्तता उसको दी। अतः मराठी लघुनिबंध की सर्वांगीण उन्नति आपने की। इन सब गुणों को लेकर उसमें सौंदर्य का योग प्रो० कुसुमावती देशपांडे ने दिया और मराठी लघुनिबंध को सर्वांग परिपूर्ण बनाया। आज भी मराठी लघुनिबंध कालानुसार विकास कर रहा है।

विशिष्ट निबंधकार (१८९३—१९५३)

लो० बा० गं० टिलक जी ने 'केसरी' के संपादक होने से सैकड़ों तर्कशुद्ध, पांडित्य परिपूर्ण, सरस और ओजपूर्ण निबंध लिखे। आप सुभाषितों की मार्मिक योजना करते थे। आपने सामयिक राजकारण, अर्थकारण, समाजकारण, तत्वज्ञान, काव्य, भाषा, चरित्र, शिक्षा, संशोधन इत्यादि विषयों का प्रभावशाली उद्घाटन किया। आपके निबंध जनजागरण और मतप्रचार के उद्देश्य से लिखे गये। आपकी भाषाशैली अपने ढंग की है।

प्रिं० गोपाल गणेश आगरकर जी ने 'सुधारक' के संपादक की हैसियत से विपुल सरस और कलात्मक निबंधों की रचना की। आप निर्भीकतासे सत्य प्रतिपादन करते थे।

आपके निबंधोंमें सत्यप्रीति, सामाजिक कुरीतियों का कठोर विरोध और सर्वांगीण विद्रोह का संदेश ओतप्रोत है। आपकी रचना ओजगुणयुक्त और वाक् प्रवाही है। आप द्रष्टा थे। साठ वर्षों पहले आपने अस्पृश्यता निवारण, सहशिक्षण, विधवाविवाह, समाजसत्तावाद, वैयक्तिक स्वातंत्र्य, स्त्रियोंके समान अधिकार इत्यादि विषयों का निर्भीक तर्कशुद्ध और मार्मिक विवेचन किया। आप के निबंध अपने नाद गुण से पाठकों के कानों में गूँजते हैं। ऐसा भास होता है कि कोई वाग्मी प्रभावशाली भाषण दे रहा है। भाषा अलंकृत और संस्कृत समास प्रचुर होती है। आपकी व्याकुलता का निबंधों में हृद्य आविष्कार हुआ। ग्रंथ—'संपूर्ण आगरकर'

प्रिं० शिवराम महादेव परांजपे एम० ए (१८६४—१९२९) ने मराठी निबंध में कलाविलास, कल्पनाविलास और देशप्रेम का रस भर दिया। आपने सामयिक राजकीय विषयों पर प्रायः लिखा किंतु क्या कहें या लिखें से कैसा कहें और लिखें की ओर आपने अधिक ध्यान दिया। अतः आपके निबंध कलात्मक बने आपने वक्रोक्तिपूर्ण उपरोध से अलंकृत निबंध लिखे। आप का व्यंग्य अतीव्र तीव्र होता है। आपने स्विफ्ट का यशस्वी अनुकरण किया। निबंधों में नाट्यात्मकता भर दी। निबंध को काव्य सा रमणीय बनाया। अंततोगत्वा अंग्रेज सरकार ने आपको डेढ़ साल का कारागृहवास का १९०४ में, पारितोषिक दिया। आप काल के यशस्वी संपादक थे। ग्रंथ—कालांतील निवडक निबंध भाग १ से १०।

साहित्य सम्राट न० चिं० केलकर (१८७२—१९४७) ने मराठी निबंध को सर्वांगीण समृद्ध बनाया। आप के लेखों में निबंधों का उच्चतम स्वरूप, कलाविन्यास, भाषा सौष्ठव, विषय-प्रतिपादन, पाठकों का मनोरंजन, औचित्यपूर्ण सुभाषितों की योजना, मार्मिक विनोद, तीखा व्यंग्य और समन्वय का सुंदर आविष्कार इत्यादि गुणों का आकर्षक संगम दृग्गोचर होता है। केलकरजी के निबंधों का स्वरूप गंगाजी के प्रवाह जैसा प्रसन्न, गहरा, शांत और पावनकारी है। आपने जिस विषय पर लेखनी चलायी उसे सुवर्ण बना दिया। आपकी कलम में अजब जादू था। आत्मपरता का रम्य दर्शन उनमें होता है। मानो आप पाठकों से मधुर संवाद कर रहे हैं और युक्तिवाद से उनका मत परिवर्तन करने में व्यस्त हैं। सहजता आपकी शैली की आत्मा है। वह वर्ण्य नहीं आस्वाद्य है। आपकी निर्मिति सागर जैसी विशाल है। आप अंग्रेजी 'मराठा' और लो टिळक जी की मृत्यूत्तर प्रख्यात 'केसरी' के तीस पैंतीस वर्षोंतक यशस्वी संपादक थे। आपने असंख्य विषयों पर लिखा। ग्रंथ—केलकरांचे निबंध भाग १ से १२।

संत ल० रा० पांगारकर (१८७२-१९४१) 'मुमुक्षु' के संपादक थे। यह एक धार्मिक विचारों का मार्मिक पत्र था। अतः श्री पांगारकर ने प्रायः धार्मिक विषयों और साधु संतों के साहित्य तथा जीवन चरित्रों का प्रभावपूर्ण उद्घाटन किया। आपके निबंध अत्यंत सरस हैं। भक्तिरस का आपने सुंदर और प्रभावोत्पादक आविष्कार किया। ग्रंथ—मुमुक्षुतील निबंध।

श्री अच्युत बलवंत कोल्हटकर (१८७९-१९३१) 'संदेश' तथा 'चाबुकस्वार' समाचार पत्रों के ख्यातिलब्ध संपादक थे। आप एक अद्वितीय शैलीकार थे। आपने

मराठी निबंधों को अधिक समाजाभिमुख, सरल और प्रसन्न स्वरूप दिया। अभीतक निबंधों का पठन विद्वानो तक ही सीमित था किंतु आपने सर्वसामान्य पाठकों को निबंध पठन की ओर आकर्षित किया। निबंध को सरलता, कलात्मकता, नाट्यसदृशता और चटपटापन प्रदान किया। रुक्षता के आप शत्रु थे। विषय की अनूठी सजावट तथा विनोदपूर्ण विलास आपकी विशेषता थी। मंतव्य कम किंतु सूक्ष्मता अधिक होने से सामान्य पाठक आपके निबंध बड़ी चाव से पढ़ते थे। उसमें नटखटपन की भी झलक है और वह बड़ी रम्य है। आपने सामयिक राजकीय, सामाजिक, साहित्यिक विषयों पर विस्तृत रचना की। ग्रंथ—कोल्हटकरांचे निबंध।

प्रो० वा० म० जोशी—(१८७२-१९४७) के निबंधों में विचारों का सौंदर्य दृग्गोचर होता है। आपने गंभीर साहित्य शास्त्रीय विषयों का सरल चयन किया। आपके निबंधों में विचार विलास भी रम्य है। मार्मिक विनोद की सुंदर योजना है। पांडित्य और प्रतिभा की रमणीय क्रीड़ा है। ग्रंथ—विचारसौंदर्य, विचार विलास।

श्री ग० त्र्यं० माडखोलकर, संपादक 'तरुण भारत' नागपुर एक प्रथितयश निबंध-कार हैं। आप भाषाप्रभु हैं। आपकी लेखनशैली प्रौढ़ और ओजस्वी है। आपके समालोचनात्मक लेख पटनीय होते हैं। ग्रंथ—वाङमय विलास और स्वैर विचार इत्यादि।

राष्ट्रसंत विनोबाजी भावे भी अपने ढंग के एकमेवाद्वितीयम् निबंधकार हैं। आप मराठी के बेकन हैं। बेकन के निबंधों में विनोद का अभाव सा दिखता है। किंतु विनोबाजी के लेखों में विद्वत्ता और विनोद का रम्य सहयोग दीख पड़ता है। आपके वाक्य छोटे होते हैं किंतु अर्थपूर्ण और रोचक होते हैं। उनमें शब्दालंकारों की और अर्थालंकारों की समुचित योजना होती है। आपकी भाषा अतीव लचीली है। उसका प्रभाव सात्विक और पावनकारी है। ग्रंथः—मधुकर, माझी जीवनदृष्टि इत्यादि।

प्रो० नारायण सीताराम फडकेः—आप प्रथितयश उपन्यासकार, लघुकथा-लेखक और आलोचक हैं। कलापक्ष के आप एक निष्ठ समर्थक होने से मराठी में कलापूर्ण 'सुहृद् गोष्ठी का' लघुनिबंधों का आपने सूत्रपात किया। स्वच्छंदवाद की ओर आपकी नैसर्गिक प्रवृत्ति है अतः आपकी सुहृद गोष्ठी में, लघुनिबंधों में स्वच्छंदवादी, रम्य, आकर्षक और उल्हासपूर्ण वातावरण सर्वत्र विलास कर रहा है। आपकी भाषाशैली कोमल, अनलंकृत, यथार्थदर्शी और लचीली है। कितना भी कठिन और रुक्ष विषय हो उसे सामान्यजन-सुलभ और आकर्षक बनाने का आपका कौशल अनूठा है। जैसे मिडास राजा का हाथ जिस क्षुद्र वस्तु पर पड़ता था वह वस्तु सोने की बन जाती थी वैसे ही आपकी लेखनी जिस वस्तु को स्पर्श करती है वह क्षुद्र वस्तु भी सुंदरता प्राप्त करती है। आपने गुजगोष्ठी भाग १ और २ लिखे।

श्री वि० स० खांडेकर जी ने लगभग दस लघुनिबंध संग्रहों की रचना की। आप लोकप्रिय लघुनिबंधकार हैं। कलाविलास और तत्वप्रतिपादन का रम्य समन्वय तथा

भाषा की अनुपम संपन्नता आपकी विशेषताएँ हैं। श्लेष और सुभाषितों की प्रचुरता से योजना इनके लेखों में है। सहृदयता, ध्येयवाद और बहुश्रुतपन का अनोखा संगम भी इनमें उपस्थित है।

ग्रंथ—वायुलहरी, सायंकाल, अविनाश, चादण्यात इत्यादि।

प्रो० अनंत काणेकर अपने विशेष ढंग के लघुनिबंधकार हैं। आप मराठी के चेस्टरटन हैं। आपके लेखों की विनोदमय मनोरंजकता और कलात्मक लघुता विस्मयकारी है। व्यंग्य का आविष्कार भी रम्य है। विचार प्रवर्तकता मार्मिक है और चुभनेवाली भाषा है। भाषा सहज स्फूर्त रम्य है। ग्रंथः—शिंपले आणि मोतीं, पिकली पानें, तुटलेले तारे इत्यादि।

डा० वि० पां० दांडेकर पी० एच० डी० एक सिद्धहस्त लेखक हैं। आपके निबंध सजीवता और विषय वैचित्र से ओतप्रोत हैं। आप मानो अपना हृदय ही पाठकों के समक्ष रख देते हैं। ग्रंथ—फेर फटका, एक पाऊल पुढे इत्यादि।

दे० भ० साने गुरुजी के लघुनिबंध अतीव कोमल और हृद्य हैं। आपकी भाषा-शैली अनन्य सामान्य और सरस है। आपके वाक्य छोटे होते हैं, किंतु उनका प्रवाह पाठकों को बहा देता है। युवकों को और कुमारों को आपने पागल बनाया है। देशभक्ति, देवभक्ति और परोपकार का संदेश उनको दिया। आत्मनिष्ठा का संपूर्ण आविष्कार उसमें है।

प्रा० कुसुमावती देशपांडे एम० ए० एक लोकप्रिया लेखिका हैं। उनके लेखों में काव्यात्मकता, सहृदयता और कला विन्यास का त्रिवेणी संगम है। सुंदरता की देन इन्होंने निबंध को दी। श्री सरदेसाई और बोरकर भी लोकमान्य—लघुनिबंधाकार हैं।

इस तरह मराठी का लघुनिबंध फूल फल रहा है।

विनोद-साहित्य (१८९३—१९५३)

साहित्य सम्राट श्रीपाद कृष्ण कोल्हटकर जी मराठी विनोद-गंगाकी गंगोत्री हैं। आपने १८९३ के लगभग विनोद साहित्य का रम्य सूत्रपात किया। आपने अंग्रेजी विनोद-साहित्य का सूक्ष्मतम अवलोकन किया था। जेरेमी, अडिसन, स्विफ्ट आदि अंग्रेजी विनोद साहित्यकारों का आपने भरसक अनुकरण किया। आपका विनोद सहेतुक है। सामाजिक और राजकीय सुधारों का प्रचार लक्ष्य बनाकर आपने विनोद वाङ्मय निर्माण किया। गंभीर और उच्च कोटिका होने के साथ ही उसमें भाषा की प्रगल्भता, अलंकारों की रमणीय योजना, कल्पना की सुंदरता और वैचारिक व्यंजना दिखायी देती है। आपने विपुल विनोद गर्भ लेख और कथाएँ लिखीं। इन कथाओं में आपने तीन विनोदी मानसपुत्र निर्माण किये। उनके नाम हैं 'सुदामा, बंडुनाना, और पांडुतात्या। यह विनोदी मानस पुत्रों की प्रथा भविष्य में बलवती हुई। अतिशयोक्ति, श्लेषात्मकता, विसंगतिदर्शन, बहुश्रुतता, कल्पनाविलास और भाषावैभव आदि आपके विनोद की विशेषताएँ हैं। आपका विदग्ध विनोद सुविद्य पाठकों के लिए है। आपने कई केवल मनोरंजन के हेतु से भी विनोद लेख लिखे। आप मराठी के विनोदाचार्य हैं। ग्रंथ—सुदाम्याचे पोहे

रामगणेश गडकरी कोल्हटकर जी के प्रमुख शिष्य थे। आपने गुरु के सर्व गुण अपनाये। उन गुणों को अपनी प्रतिभा से और आकर्षक तथा अधिक संपन्न बनाया। आपका विनोद रोते हुये को हँसाता है और प्रसन्न मनुष्य को लोटपोट कर देता है। हंसते हंसते पेट दर्द करने लगता है। अतिशयोक्ति आपका विशेष गुण है। आपने भी विनोद कथाओं में तिंबुनाना, बालक्या और ठकी तीन मानस अपत्यों की निर्मिति की। ग्रंथः—संपूर्ण बालकराम

काशीनाथराव पटवर्धन—'नाटकों' और 'नाटक्याचे तारे' दो विनोदी ग्रंथ रचे। इनमें नाटक कंपनियों पर विनोदगर्भ तीक्ष्ण व्यंग्यों की योजना की है।

नारायणराव बेहरे ने 'ओथट बाण' नाम का एक विनोदी निबंधों का ग्रंथ लिखा। इनका विनोद सर्वसामान्य है।

कँ० गो० गं० लिमये ने विनोद-साहित्य को नया, मोहक और अनुकरण सुलभ स्वरूप दिया। आपका विनोद स्वाभाविक है और परिचित सर्वसामान्य व्यक्ति, प्रसंग तथा स्थानों पर वह आधारित है। दूसरी विशेषता यह कि आपने विनोद के लिये विनोद किया। उसमें हेतु का अभाव है। विनोद की विधि और सिद्धांत के आप एकनिष्ठ अनुचर थे। अतः आपका विनोद किसी पर चोट नहीं करता। भाषा सर्वजन सुलभ है। विनोदी कथाओंकी रचना भी कलापूर्ण है। ग्रंथः—विनोद सागर, जुना बाजार।

चिंतामणराव जोशी मराठी के सर्वश्रेष्ठ विद्यमान विनोदी-लेखक हैं। आप ने मामा का (कं० लिमये का) कार्य आगे बढ़ाया और उसको वैभवशाली स्वरूप प्रदान किया। आपका विनोद स्वभावनिष्ठ है और उसमें समाजाभिमुखता विशेषता से दृग्गोचर होती है। प्रसंगनिष्ठ विनोद भी आपने प्रचुरता से निर्माण किया। सामयिक समस्याओं में छिपी हुई विसंगति दोष आप यथातथ्य रूप में चित्रित करते हैं। उपरोध का शस्त्र कौशल से चलाते हैं। आपका व्यंग्य बड़ा मार्मिक होता है। आपने चिमणराव और गुंडया भाऊ दो मानस पुत्रों को निर्माण किया। ग्रंथः—एरंडाचें गुऱ्हाल, वायफळांचामला, स्टेट गेस्ट, स्टेशन मास्तर इत्यादि।

ना० धों० ताम्हणकर जी भी एक विद्यमान लोकप्रिय विनोदकार हैं। आपकी कथाओं ने पाठकों को कुछ दिन पागल बनाया। किंतु अब वे रुक्ष सी प्रतीत हो रही हैं। आपके तात्या, दाजी और मामा तीन मानस पुत्र हैं। ग्रंथ—दाजी और तात्या—

आचार्य अत्रे एम० ए० बी० टी० टी० डी; एक श्रेष्ठ विद्यमान विनोदकार हैं। आप कोल्हटकर जी की परंपरा पुष्ट कर रहे हैं। आपका विनोद शब्दनिष्ठ, कल्पनानिष्ठ, स्वभाव निष्ठ और प्रसंगनिष्ठ रहता है। आप सव्यसाची लेखक हैं। आपने संपूर्ण विनोद-प्रधान सात नाटकों की रचना की। कथाएँ तो विपुल लिखीं। आपका विनोद विडंबन की ओर अधिक झुकता है। ग्रंथ—साखरपुडा, बँडीची बाटली, समुद्राची देणगी आदि। श्री शामराव ओक, दत्तु बांदेकर डा० वर्टी, मा० दि० पटवर्धन आदि विद्यमान लोकप्रिय विनोद साहित्यकार हैं। एवम् विनोद-साहित्य सर्वांगीण उन्नति कर रहा है।

बाल-साहित्य

बालकों की कहानी, कविता और चरित्र तीन विषयों में विशेष अभिरुचि रहती है। अतः श्री छत्रे और चिपलूणकर ने, पंचतंत्र, इसापनीति तथा अरेबियन नाईटस् की कथाओं का मराठी में सुंदर, सुलभ और सुरस अनुवाद किया। श्री० वा० गो० आपटे ने बाल रामायण और बाल भारत लिखे और कई पौराणिक वीरों के सरस चरित्र लिखे। इससे बालकों को धार्मिक तथा नैतिक शिक्षा मनोरंजन के द्वारा दी जाती थी। श्री० दे० ना० तिलक, नवरे और पूज्य सानेगुरुजी ने सफल बाल-साहित्य लिखा। श्री अत्रे, गडकरी ताम्हन-कर क्षीरसागर, तलवलकर, आपटे आदि ने बालकों के लिए नाटकों की सरस रचना की। इन नाटकों के विषय नीति और धार्मिक वृत्ति के साधन हैं। मराठी के श्रेष्ठ कवियोंने 'शिशुगीतों और बाल-गीतों की सरस, बाल-मधुर, सरल और हृद्य रचना की। कविवर मोगरे, लोंढे, बालकवि और राजकवि तांबे उनमें प्रमुख हैं। विद्यमान श्रेष्ठ और लोकप्रिय कवि प्रो० मायदेव और प्रो० म० श्री० पंडित ने अतीव कोमल, सुमधुर, रसाल, शिशुगीतों की रचना की। प्रो० पंडित का काव्य ग्रंथ बिजेन्चीकोर' बालकों को प्रिय है। प्रो० मायदेव का 'अभिनव गीत' भी वैसा ही है। पूज्य साने गुरुजी ने तो सर्वांगीण बाल वाङ्मय लिखा। श्री वि० कों० ओक ने १८४० में 'बालबोध' मासिक पत्रिका निकाली। आपने इसका ३५ वर्षोंतक सफल संपादन किया और उसमें अकेले ने ४०२ चरित्र ४१० कविताएँ, ४२५ बाल निबंध और ८०० बालकथाएँ लिखीं। वा० गो० आपटे ने १९०६ में 'आनंद' बाल पत्रिका निकाली। नागपूर से मोडक बाल मासिक निकालते हैं। पूना से 'शाला पत्रक' मासिक पत्रिका निकलती है। बंबई से बालोद्यान और पांच पत्रिकाएँ निकलती हैं। एवम् कथा, नाट्य, काव्य मासिक पत्रिकाएँ बालकों के लिए मनोरंजन द्वारा उद्बोधन का कार्य कर रही हैं।

प्राचीन वाङ्मय का संशोधन और प्रकाशन इतिहासाचार्य वि० का राजवाडे ने पूना में भारत इतिहास संशोधन मंडल की स्थापना लगभग १८९१ में की। इस संस्था की ओर से प्राचीन इतिहास तथा वाङ्मय के संशोधन कार्य का सूत्रपात हुआ। श्री राजवाडे भाषाशास्त्र के प्रकांड विद्वान् थे अतः उन्होंने ज्ञानेश्वरी की शुद्ध और मूल प्रति का प्रकाशन किया और उसके प्राचीन शब्दों के अर्थ का एक कोश तैयार किया। श्री राजवाडे के प्रोत्साहन से और सक्रिया सहायता से धुले में 'सत्कार्योत्तेजक सभा की स्थापना हुई। इस सभा का ध्येय समर्थ रामदास के समग्र ग्रंथों का विशेषतया दासबोध का संशोधन करना और प्रचार करना था। श्री शं० श्री देव १८९३ से इस संस्था में त्यागपूर्वक कार्य करने लगे और उन्होंने दासबोध तथा समर्थ हृदय खंड प्रकाशित किये। पश्चात् समर्थ वाग्देवता मंदिर की स्थापना हुई। श्री भावे, श्री ओक और सा० स० न० चिं० केलकर जीने प्राचीन मराठी कवियों का काव्य संशोधन करके प्रकाशित किया। नगर वाङ्मयोपासक मंडल ने संत ज्ञानेश्वर विरचित प्राचीन वाङ्मय का संशोधन और प्रकाशन किया। संत ल० रा० पांगारकर और आजगांवकरने प्राचीन संत कवियों के काव्य का विपुलता से संशोधन किया और उसकी सहायता से संतों के चरित्र लिखे।

महानुभाव पंथ के प्राचीन और आद्य मराठी वाङ्मय संशोधन का और प्रकाशन का ठोस कार्य विदर्भ के विद्वान साहित्यिकों ने किया। इस कार्य का सूत्रपात डा० य० खु० देशपांडे ने किया किंतु इस कार्यका प्रधान श्रेय डॉ० वि० मि० कोलते एम० ए० पी-एच० डी० को है। डॉ० कोलते ने बीस वर्षों के अखंड और अथक परिश्रम से महानुभाव पंथ के साहित्य का सर्वांगीण संशोधन किया। आपने 'महानुभावों का तत्वज्ञान' प्रबंध लिख कर पी० एच० डी० की उपाधि संपादन की और भास्कर भट्ट बोरीकर, महानुभावीय कविकुल शेखर, का सुंदर चरित्र लिखा और अभी चक्रधर का, महानुभाव पंथ के आचार्य का, चरित्र प्रकाशित किया। श्री ह० ना० नेनेजीने भी दृष्टांतपाठ नामक म. पंथ का तत्वज्ञान विषयक ग्रंथ संपादन किया। यह प्राचीन मराठी का पहला गद्य ग्रंथ है। श्री वा० ना० देशपांडे ने 'आद्य मराठी कवयित्री' नामक सुंदर चरित्र लिखा। इसमें महानुभावीय कवयित्री महदाईसा का रुक्मिणीस्वयंवर काव्य भी प्रकाशित किया गया। आपका दूसरा ग्रंथ है 'स्मृति स्थल' इसमें इस पंथ के आचार्यों की स्मृतिएँ चित्रित की गयी हैं। औरंगाबाद में एक नाथ संशोधन मंडल कार्य कर रहा है। प्रो० दांडेकर भागवत संप्रदाय के प्राचीन साहित्य का संशोधन और प्रकाशन करने में संलग्न है। वामन पंडित के काव्यग्रंथों का संशोधन कार्य सोलापुर की ओर हो रहा है। प्रो० प्रियोलकर जी ने रघुनाथ पंडित के 'नलदमयंती स्वयंवराख्यान' का संशोधन किया और अब बंबई मराठी ग्रंथ संग्रहालय की अध्यक्षता में 'मराठी संशोधन मंडल' की स्थापना की है। इस मंडल का ध्येय नाम से जाहिर है। संक्षेप में महाराष्ट्र में प्राचीन वाङ्मय संशोधन का कार्य उत्साह से हो रहा है। नागपूर में भी मध्यप्रांत संशोधनमंडल इस कार्य में ठोस योग दे रहा है। यवतमाल में शारदाश्रम ने भी बहुत संशोधन कार्य किया।

भाषाशास्त्र विषयक अभ्यास—१८६३ के पूर्व बालशास्त्री जांभेकर, दादोबा, फडके, टिलक, दामले, चिपलूणकर, गोडबोले, डॉ० भांडारकर, डा० गुणे और चिं० वि० वैद्य इत्यादि ने मराठी भाषाशास्त्र विषयक संशोधन का ठोस कार्य किया। डॉ० ग्रियरसन और ज्यूल्स ब्लोक ने भी विधायक कार्य किया। इनके पश्चात् प्रो० कृ० पां० कुलकर्णीने 'मराठी भाषा उद्‌गम और विकास' नामक अत्यंत महत्वका ग्रंथ लिखा। आपने गत वर्ष 'मराठी शब्दोंका व्युत्पत्ति कोश' नामक एक बड़ा भारी ग्रंथ लिख कर प्रकाशित किया और यह आपकी अमर कृति है। श्री रा भि० जोशी ने मराठी भाषा की घटना' ग्रंथ लिखा। डा० शं० गो० तुलपुलेने 'यादव कालीन मराठी का स्वरूप 'ग्रंथ लिखकर पी० एच० डी० प्राप्त की। इस क्षेत्र में भी समाधानकारी कार्य हुआ और हो रहा है।

चरित्र लेखन साहित्य

मराठी का चरित्र लेखन और आत्मचरित्र लेखन साहित्य भी पूर्ण है। चरित्र की लेखन शैली में उत्तरोतर विकास हो रहा है। १८६३ के पश्चात् मराठी में स्वाभिमानी चरित्र लेखकों का युग प्रारंभ हुआ और उन्होंने अपने साहित्य के, समाज के और देश के नेताओंका चरित्र चित्रण किया। श्री० कृ० ल० चिपलूणकर ने निबंधमालाकार विष्णुशास्त्री चिपलूणकर का अतीव सरस और कालपूर्ण चरित्र लिखा। श्री आठले और ग० ह० केलकरने

लोकहितवादी के चरित्र लिखे। प्रो० अलतेकर, वि० स० खांडेकर आदि ने समाज सुधारक आगरकर के रसभीने और कलापूर्ण चरित्र लिखे। प्रो० न० र० फाटक, द० गो० काले ने न्या० रानडे के सरस चरित्र लिखे। सा० स० न० चिं केलकरने लो० टिलक का त्रिखंडात्मक प्रदीर्घ चरित्र लिखा। बै० सावकरने मैझिनी का स्फूर्तिप्रद चरित्र लिखा। न० चिं० केलकर ने ग्यारीबाल्डी और आयरिश देशभक्तों के चरित्र लिखे। प्रो० ना० सी० फडके ने, दादा भाई नौरोजी, लो० टिलक, म० गांधी, डी वेलेरा, मैक्स्विनी इत्यादि देशभक्तों के कलापूर्ण, और प्रभावोत्पादक चरित्र लिखे। दे० भ० साने गुरुजी ने गोखले, विद्या सागर, विनोबा भावे, म० गांधी इत्यादि के अतीव रसभीने और हृद्य चरित्र लिखे। श्री० कानेटकर, जोशी, और शि० ल० करंदीकरने सब भारतीय देशभक्तों के चरित्र लिखे। श्री० दा० न० शिखरे कई उत्तम गुणयुक्त चरित्र लिखे। आपटे गुरुजीने भी म० गांधी, लो० टिलक, पं० जवाहरलाल आदि के युवकों के लिए सरस चरित्र लिखे। प्रो० गं० ग० जांभेकर ने अपने पिता मह का त्रिखंडात्मक चरित्र लिखा। डा० आनंदीबाई जोशी ने काशीबाई कानिटकर का चरित्र लिखा। प्रो० भी० गो० देशपांडे, हिंदू विश्वविद्यालय, ने भारतीय राष्ट्रपुरुष नामक ग्रंथ में विशेषतया विद्यार्थीयों के लिए कलापूर्ण और संस्कारकारी चरित्र लिखे। मराठी में वाङ्मय के निर्माताओं के भी सरस और विपुल चरित्र लिखे गये। उनमें अति प्रसिद्ध ये हैं—गं० दे० खानोलकरने अर्वाचीन वाङ्मय सेवक खंड में सर्व साहित्यिकों के चरित्र लिखे, और उन्होंने डा० माधव न्युलियन का चरित्र लिखा। श्री० आंबेकर और श्रीमती वेणुबाई पानसे ने ह० ना० आपटे के चरित्र लिखे। श्री० खांडेकरने 'गडकरी' का सरस और कलापूर्ण चरित्र लिखा श्री० ल०रा० पांगारकरने, मोरोपंत, मुक्तेश्वर आदि प्राचीन पंडित कवियों के चरित्र लिखे। प्रो० मा० का० देशपांडे ने प्रो० फडके. खांडेकर, न० चिं० केलकर, वा० म० जोशी और आचार्य अत्रे इत्यादि श्रेष्ठ साहित्यकारों के बड़े कलापूर्ण और उपयोगी चरित्र लिखे। प्रो० पराडकरने राजकवि तांबे का उत्तम चरित्र लिखा।

मराठी में आत्मचरित्र संख्या में अल्प किंतु गुणों में श्रेष्ठ हैं। यह आभ्यंतरिक आविष्कार का बड़ा हृद्य प्रकार है। इस का सूत्रपात दादोबा ब्याकरणकारजी ने किया। उनके पश्चात् बाबा पदमन जी, श्रीमती रमाबाई रानडे, बौद्ध पंडित धर्मानंद कोसंबी, महर्षी धोंडो केशव कर्वे, श्री० क्षी० ग० देवधर, श्रीमती आठवले, आनंदीबाई कर्वे, बै० सावरकर इत्यादि साहित्य तथा समाज सेवकों ने सरस आत्मचरित्र लिखे। श्री लक्ष्मीबाई टिलक ने 'स्मृतिचित्रें नामक त्रिखंडात्मक आत्मचरित्र लिखा। इनकी कला, आभ्यंतरिक भाषाशैली और सरलता सब कुछ केवल अनूठी है। संत साहित्यकार ल० वा० पांगरकर ने 'चरित्रचंद्र' लिखा और सा० स० न० चिं० केलकरने 'गतगोष्टी' नामक प्रचंड आत्मचरित्र लिखा। सा० स० श्री० कृ० कोल्हटकरने अतीव सरस और यथातथ्य आत्मचरित्र लिखा। प्रो० फडके, श्री वरेरकर, माडखोलकर इत्यादियोंने साहित्य क्षेत्र विषयक आत्मचरित्र लिखे। संक्षेप में इस दृष्टिसे मराठी का साहित्य समृद्ध है।

कोश वाङ्मय—मराठी में कोशवाङ्मय का समुचित विकास हुआ। उनमें से प्रमुख कोशों का यहां उल्लेख करता हूँ:—

१—शब्द रत्नाकर—रचयिता श्री वा० गो० आपटे।

२—सरस्वती कोश प्रसिद्धकर्ता चित्रशाला प्रेस पुणे।

३—महाराष्ट्र शब्दकोश भाग १ से ७ तक ७००० पेजीस का है।

इसका मूल्य ७० रुपये हैं। यह मराठी का अधिकृत शब्दकोश है। ४ हिंदी से मराठी शब्द संग्रह, लेखक श्री ग० र० वैशंपायन, ५ मराठी से हिंदी शब्दसंग्रह, लेखक श्री ग० र० वैशंपायन, ६ फारसी कोश रचयिता डॉ० मा० पटवर्धन, ७ बंगला मराठी कोश लेखक श्री आपटे, ८ अंग्रेजी से मराठी और मराठी से अंग्रेजी तथा ९ संस्कृत से मराठी और मराठी से संस्कृत कई शब्द कोश हैं। १० गुजराती मराठी शब्दकोश भी है।

महाराष्ट्रीय ज्ञानकोश—भाग १ से २७ हैं। इसके प्रधान संपादक थे डॉ० केतकर पी० एच० डी०, यह अंग्रेजी (Encyclopedia) के आधारपर मराठी में रचा गया किंतु इसमें भारतवर्ष की सर्वांगीण जानकारी होती है। इसकी पेजीस २७००० हैं। प्रायः भारतीय भाषाओं में रचा गया यह प्रथम ज्ञानकोश है। यह अनूठा कोश है।

प्राचीन चरित्र कोश और अर्वाचीन चरित्र कोश के संपादक हैं श्री चित्राव शास्त्री जी। यह एक अनूठी कृति है। इसमें पौराणिक, वैदिक तथा ऐतिहासिक व्यक्तियों की जानकारी दी है।

महाराष्ट्रीय ग्रंथ सूची—इसमें १९३८ तक प्रसिद्ध हुए सब मराठी ग्रंथों की तालिकाएँ दी हैं। यह भी अनूठी कृति है।

विज्ञानबोध—संपादक प्रो० भाटे। इसमें सायंस की पूरी जानकारी है।

व्यायामकोश—संपादक बडोदा मंडल। यह भी अनूठी कृति है। प्रायः मराठी में ही व्यायामकोश हैं। इसके पांच भाग हैं। इसमें वैदिक काल से अबतक के व्यायाम साधनों की सचित्र जानकारी करा दी है।

हिंदी मराठी कहावत कोश की रचना हो रही है।

धर्मकोश—यह एक बृहत्ग्रंथ हो रहा है। इसकी रचना प्रायः समाप्त हो गयी है। प्रधान संपादक हैं वे० शा० सं० नारायण शास्त्री मराठे और तर्कतीर्थ लक्ष्मण शास्त्री जोशी। यह अपनी ही ढंग की कृति है। धर्मसंबंध में सर्व जानकारी इसमें संग्रहीत है।

साहित्य शास्त्रीय वाङ्मय—साहित्य शास्त्रीय ग्रंथों की मराठी में काफी रचना हुई है। प्रमुख ग्रंथों का यहाँ उल्लेख करता हूँ—

साहित्यशास्त्र लेखक लेलेशास्त्री। अलंकार विकास, अनुवादक श्री केसकर, अलंकार मीमांसा लेखक लक्ष्मण शास्त्री, अलंकार चंद्रिका, श्री गोरे। प्रो० केलकर की 'काव्याची वेशभूषा। प्रो० जोग का 'अभिनव काव्यप्रकाश'। प्रो० द० के० केलकर का 'काव्यालोचन'। डा० वाटवे का 'रसविमर्ष'। डा० मा० पटवर्धन का 'छंदोरचना'। **डॉ० माधव गोपाल देशमुख का 'मराठी चे साहित्यशास्त्र'** एक अनूठी कृति है। इसमें मराठी का निजी साहित्यशास्त्र साधार विवेचित किया है। मराठी ने संस्कृत साहित्य में जो कुछ योग दिया है उसका भी मार्मिक तथा समर्पक ज्ञान इससे प्राप्त होता है। मराठी

साहित्यशास्त्र का अपनापन इसमें मौलिकता से प्रदर्शित किया गया है। अमराठी भाषा भाषियों ने यह ग्रंथ एक दफे अवश्यमेव पढ़ना चाहिए। श्री सखटे का 'साहित्य समीक्षा' इत्यादि उल्लेखन योग्य ग्रंथ हैं।

मराठी साहित्य का इतिहास

महाराष्ट्र सारस्वत—(भाग १ प्राचीन साहित्य) यह मराठी का प्रथम अधिकृत साहित्यिक इतिहास ग्रंथ है। इसके लेखक श्री वि० ल० भावे हैं। यह ग्रंथ १९१७ में प्रकाशित हुआ। इसमें मराठी भाषा की उत्पत्ति से १८१८ तक मराठी साहित्य का इतिहास बड़ी रोचक तथा लालित्यपूर्ण भाषाशैली में लिखा गया।

मराठी वाङ्मयाचा इतिहास भाग १, २, ३ लेखक श्री० ल० रा० पांगारकर। इसमें मराठी संतसाहित्य का इतिहास भक्तिरस पूर्ण भाषाशैली में प्रस्तुत किया गया है। यह ग्रंथ १९३२ में लिखा गया।

अर्वाचीन मराठी साहित्य—प्रकाशक श्री नेने। इस ग्रंथ में अर्वाचीन मराठी साहित्यिक आलोचना समाविष्ट की गई है। यह महत्वपूर्ण ग्रंथ है।

मराठी कादंबरी (लेखिका प्रो० कुसुमावती देशपांडे) इसमें मराठी उपन्यास साहित्य का सन् १८७० से १९५० तक का समालोचनात्मक इतिहास लिखा गया है। प्रकाशन १९५३

मराठी कविता लेखक प्रो० भ० श्री० पंडित। इसमें अर्वाचीन मराठी कविता का सन् १८७० से १९५३ तक का इतिहास और साहित्यिक समालोचना समाविष्ट की गयी है।

मराठी निबंध डा० पाठक ने लिखा है। इसमें अर्वाचीन मराठी निबंधों का इतिहास तथा समालोचना समाविष्ट कियी गयी है। इत्यादि।

मराठी साहित्य की रूपरेखा खंड २ लेखक डा० वि० पां० दांडेकर। यह आधुनिक और प्राचीन साहित्यका एक परिपूर्ण इतिहास है। लेखनशैली हृद्य है। प्रकाशन २८–९–५२।

आलोचना-साहित्य—आलोचना-साहित्य की प्रचुरतासे वृद्धि हुई और हो रही है। १८९३ से श्री० महाजनी, साहित्यसम्राट् श्री० कृ० कोल्हटकर, सा० स० न० चिं० केलकर, प्रो० वा० म० जोशी, प्रो० परांजपे इत्यादि १९२० तक प्रसिद्ध साहित्यालोचन-कार थे। भक्त ल० रा० पांगारकरजी ने भी कुछ आलोचनात्मक ग्रंथ लिखे। १९२० के पश्चात् प्रो० श्री० ना० बनहट्टी ने मयूर काव्यविवेचन तथा निबंधमालाकार चिपळूणकर ये दो प्रसिद्ध प्रबंध लिखे। श्री० बनहट्टी एक कर्मठ साहित्यकार और गम्भीर साहित्य समीक्षक हैं। श्री० मांडखोलकर, प्रो० हर्षे, प्रो० कुलकर्णी, खांडेकर, प्रो० फाटक, प्रो० क्षीरसागर, प्रो० फड़के आदि सुविख्यात साहित्य समालोचक हैं। डा० शं० दा० पेंडसे एम० ए० पी० एच० डी ने 'ज्ञानेश्वरीचें तत्त्वज्ञान' एक गम्भीर ग्रंथ लिखा। आप भी यदा कदा आलोचनात्मक लेख लिखते हैं।

मराठी समाचार पत्रों का इतिहास, मासिक पत्रिकाएँ:—ईसा की उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में मुद्रणकला का आविष्कार बंबई में हुआ और मराठी पत्र पत्रिकाएँ प्रकाशित होने लगीं। १८३२ से १८७४ तक लगभग पचास मासिक पत्रिकाएँ निकलीं। उनमें 'विविध-ज्ञान विस्तार' और मराठी शास्त्र पत्रक' विशेष महत्व के थे। १८७४ में आधुनिक मराठी भाषा के छत्रपति श्री विष्णुशास्त्री चिपलूणकर ने 'निबंधमाला' मासिक पत्रिका का संपादन स्वीकार कर प्रकाशित करना प्रारंभ किया। यह मराठी की क्रांतिकारी मासिक पत्रिका थी। निबंध माला ने आधुनिक मराठी गद्य साहित्य का सूत्रपात किया। निबंध माला ने अंग्रेजी साहित्य के सब गद्य प्रकारों का मराठी में प्रवेश करवाया। मराठी भाषा के गद्य साहित्य का निबंधमाला मानसरोवर है। उसकी भाषाशैली की प्रौढ़ता और अर्थव्यंजकता अनूठी है। १८८५ तक लगभग ७५ मासिक पत्रिकाएँ प्रकाशित होती थीं। वे भिन्न भिन्न विषयों का और ज्ञान की शाखाओं का उद्‌घाटन करती थी। १८८६ में मराठी के उपन्यास सम्राट हरीभाऊ आपटे ने मनोरंजन मासिक पत्रिका का संपादन कार्य संभाला और अपने लोकप्रिय उपन्यास उसके मासिक अंकों में क्रमशः प्रकाशित कर पाठकों को आकर्षित किया। १८८६ से १९१४ तक मराठी में डेढ़ सौ मासिक पत्रिकाएँ निकलती थीं। अर्थात् उन्हीं के द्वारा विवेचित विषयों का क्षेत्र बहुत ही विस्तृत हुआ। साहित्य या मानवी व्यवहार का एक भी ऐसा अंग नहीं था कि जिसका विवेचन या समर्थन करने के लिए मासिक पत्रिका नहीं थी। १९१४ से १९३५ तक इनकी संख्या अढ़ाई सौ तक बढ़ी। नवोदिता मासिक पत्रिकाओं में किर्लोस्कर, सह्याद्रि (पूना) प्रतिभा, विहंगम, वागीश्वरी (नागपूर) लोकशिक्षण, समाजस्वास्थ, रत्नाकर इत्यादि विशेष प्रमुख थी। बडोदा से 'व्यायाम' नामक अपनी ढंग की मासिक पत्रिका भी प्रकाशित हाने लगी। इंदोर, वडोदा, गवालियर इत्यादि मराठी भाषाभाषी शहरों से भी मासिक पत्रिकाएँ निकलने लगीं। संपादकों में विशेष साहित्यिक योग्यता रखनेवाले साहित्यसम्राट न० चि० केलकर प्रो० ना० सी० फडके, श्री खांडेकर, श्री जांभेकर, देव इत्यादि थे। १९३६ से १९५३ तक लगभग तीन सौ मासिक पत्रिकाएँ मराठी में प्रकाशित हो रही थीं। किंतु मराठी भाषा भाषी प्रदेश निर्धन होने से मासिक पत्रिकाएँ अल्पायु होती हैं। किसी भी मासिक पत्रिका का प्रकाशन निश्चितता से कबतक चलेगा यह कहना कठिन है अर्थात् इस विधान को सह्याद्रि किर्लोस्कर, युगवाणी, प्रसाद, मनोहर, स्त्री मासिक, सत्यकथा इत्यादि मासिकों का अपवाद है। एवम् मराठी में अबतक लगभग डेढ़ हजार मासिक प्रत्रिकाएँ प्रकाशित हुई और लगभग डेढ़ सौ मासिक पत्रिकाएँ नियमित रूप से निकलती हैं।

मराठी मासिक पत्रिकाओं की छपाई, लेखों की सजावट चित्राकर्षक होती हैं। कवर पर सुंदर चित्रों की शोभा पाठक को तुरंत लुब्ध करती है। लेखों की भाषा मुहावरेदार और परिष्कृत होती है। दिन प्रतिदिन भाषा का लचीलापन बढ़ रहा है। लघुकथन, लघुनिबंध इनकी संख्या बढ़ रही है। उनकी रचना कलापूर्ण और आभ्यंतरिक हुई है। कविताएँ प्रचुरता से उनमें मिलती हैं। प्रगतिवाद की ओर कविता की धारा बह रही है। आलोचना अधिक रसग्राही और सौंदर्यदर्शी हो रही है। व्यंग्य और विनोद की मात्रा

बहुत बढ़ गयी है। प्रायः प्रत्येक मासिक पत्रिका में सब प्रकार का साहित्य प्रकाशित हो रहा है। एवं मासिक पत्रिकाओं की प्रगति संतोषदायी दीखती है।

समाचार पत्र—मराठी का पहल समाचारपत्र दर्पण था। इसका पहला अंक ६—१—१८३२ में प्रकाशित हुआ। संपादक पंडित बालशास्त्री जांभेकर थे। आप एक प्रकांड आधुनिक विद्वान थे। इसमें मराठी भाषा और अंग्रेजी भाषा दोनों का व्यवहार होता था। पाठकों की शंका कुशंकाएँ प्रकाशित होती थी और उनका समाधान किया जाता था। १८४४ में प्रभाकर साप्ताहिक निकला और इसमें रायबहादुर लोकहितवादी के सौ पत्रों का प्रकाशन हुआ। मराठी का आद्य दैनिक समाचार पत्र ज्ञान प्रकाश था और वह १९०४ से दैनिक हुआ उसके पूर्व १८४९ से वह साप्ताहिक था। किंतु १९४९ में यह शतायु होकर बंद हो गया। इंदुप्रकाश १८६२ में निकला। फिर इंदु विजय, जिसका लोकमान्य दैनिक में परिवर्तन हुआ। एवम् १८८१ तक लगभग पचीस समाचारपत्र निकले। १८८० में समाज सुधारकों के अग्रणी गो० ग० आगरकर जी ने संपादक बनकर केसरी साप्ताहिक निकाला। केसरी महाराष्ट्र का सबसे अधिक लोकप्रिय समाचार पत्र बना क्यों कि आगरकर और लो० टिलक उसके संपादक रहे। लो० टिलक की मृत्यु पश्चात् सा० सम्राट न० चिं० केलकर १९३२ तक संपादक रहे। उनके बाद श्री० ज० स० करंदीकर रहे। एवम् लोकप्रिय नेता प्रकांड विद्वान और श्रेष्ठ साहित्यकार केसरी के संपादक रहे। अब केसरी सप्ताहमें तीन बार निकलता है। इतना परिष्कृत भाषाशैली का दूसरा समाचार पत्र अब भी नही है। १८८८ में कै० आगरकरने 'सुधारक' निकाला। वह अधिकतर सामाजिक सुधारोंका जोशीला समर्थन करता था किंतु आगरकर जैसे थोर साहित्यकार की भाषाशैली से वह लोकप्रिय हुआ। १८९० से १९१८ तक श्री० द० ना आपटे ने 'करमणूक' साप्ताहिक चलाया और उसमें अपने अठारह उपन्यास क्रमशः प्रकाशित किये। यह समाचार पत्र अपनी ढंग का था। उसकी लोकप्रियता विशाल थी। १८९८ से १९०८ तक प्रो० शि० म० परांजपे ने काल साप्ताहिक संपादन किया। इसने महाराष्ट्र में अद्वितीय यश संपादक किया क्यों कि प्रो० परांजपे के काव्यात्मक व्यंग्यप्रधान लेखों से राजकीय जागृति हुई। अन्ततोगत्वा सरकार ने काल जब्त किया और संपादक को डेढ़साल तक जेल में बंद किया। १९०५ से २० तक संदेश, देशसेवक, राष्ट्रमत, महाराष्ट्र इत्यादि जनजागरणकारी समाचार पत्रों ने मराठी की भरसक उन्नति की। स्वराज्य का आंदोलन प्रबल किया। दे० भ० अच्युतराव कोल्हटकर संदेश के संपादक थे। आपने दे० भ० प्रो० परांजपे का भरसक अनुकरण किया। आप मराठी के एक श्रेष्ठ संपादक थे। आपको भी जेल जाना पड़ा। और कई छोटे मोटे तीन समाचार पत्र ये। १९२१ में प्रो० परांजपे ने स्वराज्य साप्ताहिक निकाला जो १९३० तक प्रकाशित होता था। भोपटकर भाला निकालते थे।

दैनिक लोकमान्य १९२१ में निकला। उसके संपादक नाट्याचार्य खाडिलकर थे। १९२२ में खाडिलकर ने नवाकाल निकाला और यह मराठी का अत्यंत लोकप्रिय और सर्वांग परिपूर्ण दैनिक समाचार पत्र बना। अभी भी 'नवाकाल' श्रेष्ठ दैनिक पत्र है। बंबई, पूना से सकाल प्रभात, लोकमान्य, इत्यादि दैनिक समाचार निकलने लगे। फ्री प्रेस ने 'नवशक्ति' निकाली। पूना से लोकशक्ति निकली। और १९४२ के पश्चात् नागपुर से

तरुण भारत दैनिक निकला। तरुण भारत के संपादक श्रेष्ठ निबंध लेखक और उपन्यासकार श्री० ग० त्र्यं० माडखोलकर हैं। श्री० माडखोलकर एक श्रेष्ठ संपादक हैं। फिर 'महाराष्ट्र' दैनिक हुआ। साप्ताहिकों में भवितव्य, वसुंधरा, चित्रा, समाधान, कांग्रेस, नवयुग श्रेष्ठ योग्यता के थे। दे० भ० साने गुरुजी का निकाला हुआ 'साधना' साप्ताहिक बहुत लोकप्रिय हो गया और है। १८५३ के आक्टोबर में नागपुर से 'मराठी जग' साप्ताहिक निकलने लगा। एवम् मराठी समाचार पत्रों की प्रगति हुई। इन समाचार पत्रों ने मराठी का गद्य वाङमय समृद्ध किया और कविता को बढ़ने के लिए काफी क्षेत्र दिया, उपन्यासों की निर्मिति सुलभ बनाई और लघुकथा को निर्माण किया। विनोद साहित्य की पुष्टि की और आलोचना को सृजन किया। श्री० बालशास्त्री जांभेकर, चिपलूणकर पिता पुत्र, लो० टिलक, आगरकर, ह० ना० आपटे, शि० म० परांजपे, अ० ब० कोल्हटकर, न० चिं० केलकर, कृ०प्र० खाडिलकर, प्रो० वा० म० जोशी, प्रो० फडके, आचार्य अत्रे, ग० त्र्यं० माडखोलकर, पु० य० देशपांडे, पां० वा० गाडगील, इत्यादि मराठी के श्रेष्ठ प्रति के संपादक थे और हैं।

शास्त्रीय साहित्य और इतिहास संशोधन

दर्शनशास्त्र, अर्थशास्त्र, नीतिशास्त्र, मानसशास्त्र, विज्ञान, कृषिशास्त्र, ज्योतिषशास्त्र, गणित, वैद्यकशास्त्र, आदि विषयों का मराठी में काफी वाङमय लिखा गया है। धर्मशास्त्र पर तो कई प्रचंड ग्रंथ हुए। इतिहास संशोधन ने तो पारसनीस, खरे, राजवाडे, सरदेसाई, महामहोपाध्याय द० वा० पोद्दार जैसे को पागल बना दिया। इतिहास संशोधन की लगभग दस संस्थाएँ मराठी भाषाभाषीय प्रांत में है। उन्होंने इतिहास संशोधन का भरसक कार्य किया। संशोधन के सभी क्षेत्रों में महाराष्ट्र अग्रसर हो रहा है।

प्रो० भी० गो० देशपांडे
मराठी विभाग
काशी हिंदू विश्वविद्यालय

काव्य प्रवृत्तियों का विवेचन (पृष्ठ २८२ के आगे)

पर यह ध्यान रखना चाहिए कि छायावाद और रहस्यवाद पर्याय नहीं हैं। आरंभ में रहस्यवाद के पर्यायरूप में छायावाद यद्यपि प्रचलित हुआ तथापि वह छायावाद-काव्य का शैशव था। छायावाद-विषयक धारणा तब तक स्पष्ट नहीं हुई थी। छायादृश्य या ऐसे कुछ शब्दों की भ्रांति के कारण बंगला से हिंदी में आने पर हिंदी की इस नयी प्रवृत्ति को छायावाद का नाम मिला। यह नाम कुछ भ्रांतिवश ही चल पड़ा। पर जब चल पड़ा तब चाहे ठीक हो या न हो वह ग्रहण कर लिया गया। आरंभ में यह रहस्यवाद का पर्याय समझा जाता रहा। पर वस्तुतः वह रहस्यवाद का पर्याय नहीं है। रहस्योन्मुखता छायावाद का अंग अवश्य है, पर सर्वत्र नहीं।

इसके साथ यह भी समझ रखना चाहिए कि छायावाद केवल काव्यशैली नहीं है। अभिव्यंजन की नूतन प्रणालीमात्र को छायावाद समझना या कहना समीचीन नहीं है।

पहले यह कहा जा चुका है कि जिस प्रकार छायावाद में अभिव्यंजनशैली विशिष्ट पद्धति और प्रक्रिया के योग से चलती है, उसी प्रकार उसकी अपनी एक अंतश्चेतना भी है। जीवन और जगत् के विषय में, प्रकृति और मानव के प्रति उसकी एक व्यापक, उदार-सहानुभूतिपूर्ण और अनुरागमयी दृष्टि है। उस दृष्टि के स्वरों के प्रतिध्वनित होने पर ही काव्य-रचना को छायावाद कहा जा सकता है। भीतर और बाहर, शैली और भाव—दोनों के रहने पर ही छायावाद की संज्ञा दी जा सकती है। अभिव्यंजनात्मक शैलीमात्र छायावाद नहीं है।

छायावाद के संबंध में यह कहा जाता है कि वह एक नयी पद्धति है जिसके द्वारा रीतिकालीन वासनात्मकता को काव्याभिव्यक्ति की दिशा मिली। छायावाद युग के पूर्व आर्य-समाज से प्रभावित सुधारवाद की जो प्रबल लहर बही और जो आंदोलन हुए, समाज-सुधार को लेकर गांधी के पूर्व और उनके बाद मानव-जीवन में जिस संयम और आदर्श की प्रतिष्ठा का राग सुनाई पड़ा, उसके कारण वासनात्मक अभिव्यक्ति का नैतिक साहस लोगों में नहीं रह गया। अतः छायावाद के आटोप में रीतिकालीन प्रवृत्ति को खेलने का अवसर मिला।

पर यह कथन स्थिति-पर्यालोचित नहीं है। पहली बात तो यह है कि पुरानी परिपाटी की कविता ब्रजभाषा के माध्यम से चल ही रही थी। कुछ लोगों में वह साहस था ही—इसमें संदेह नहीं। दूसरी बात का पहले की पंक्तियों में संकेत किया जा चुका है। यह बताया जा चुका है कि युग की प्रवृत्ति और रवींद्र-गांधी के दार्शनिक आदर्शों के प्रभाव से बाह्य चेतना का स्थान काव्यक्षेत्र में अंतश्चेतना ने ले लिया। दृश्य जगत् के दृश्य तंतुओं से संबंध-स्थापन के स्थान पर उसने दृश्य जगत् के अदृश्य संबंध-सूत्रों को ग्रहण किया। युग के चिंतक और विचारशील भावुक कवियों में अभिव्यक्त प्रेमात्मक रहस्य-भावना अथवा प्रकृति में मानवीय सौंदर्य, मधुर चेष्टाओं और संवेदनाओं का चित्रण, अंशतः उपर्युक्त आत्मीयता-मूलक मानवीकरण का परिणाम है और अंशतः कुतूहल-जिज्ञासा-प्रेरित रहस्यमयी संवेदना की प्रतिध्वनि है। किंतु जब अंधानुकरण के वशीभूत होकर तलस्पर्श के बिना, बिना सोचे-समझे, छायावाद की कविता का प्रचलन हो गया, इस नवीन शैली में काव्य-निर्माण एक फैशन हो गया, तब अनेक कवियों की काव्याभिव्यक्ति व्यक्तिगत शृंगारी अथवा वासनात्मक अनुभूति को छायावाद के माध्यम से व्यक्त करने लगी।

छायावाद वस्तुतः पलायनवाद नहीं है। वास्तविकता की भूमि से दूर हट कर काल्पनिक लोक में भाग जाना छायावाद का प्रयोज्य नहीं है। छायावाद वस्तुतः युग की अंतश्चेतना की अभिव्यक्ति है। पहले कहा जा चुका है कि भारत में गांधी के नेतृत्व में जो राजनीतिक आंदोलन चला, उसका एक आध्यात्मिक अथवा आंतरिक स्वरूप भी था। उसी आंतरिक रूप की अभिव्यक्ति छायावाद काव्य में हुई। पर उसकी प्रचुरता में अवश्य पलायन है। जब काव्य-रचना में सर्वदा मधु और मधुशाला या हालावाद की बात ही की जाने लगी अथवा रहस्यवाद के माध्यम से जब प्रेम और वियोग, भ्रूभंग और मुस्कुराहट, कसक और वेदना, रोदन और क्रंदन—इन्हीं सबकी एकांतिक चर्चा कवि करने लगा,

जीवन के सर्वांगीण आंदोलनों की हलचल से बिना प्रभावित हुए जब वह अपनी ही डफली बजाता रहा, देश के वीर जब जेल में सड़ रहे थे, सत्याग्रह आंदोलन चल रहा था, उस समय भी जो कवि वास्तविकता की ओर से आँख मूँद कर केवल कल्पना-लोक में विचरण कर रहे थे तब उनकी प्रवृत्ति को पलायनवाद कहा जा सकता है। पर जब कवि देश और समाज की संस्कृति और सभ्यता के अतीत-युगीन सौंदर्य से प्रेरणा ग्रहण करता दिखाई दे, मानव-जीवन के सुख-दुःख, उत्थान-विकास की चिंता समय-समय करता दिखाई दे, तब उसकी केवल छायावादी अभिव्यक्ति को देखकर पलायनवाद कहना सत्य से भिन्न होगा।

जो प्रसाद 'कामायनी' में मानव के शाश्वत और चिरंतन प्रश्न को सुलझाने की चेष्टा में लगे हुए हैं, जो पंत जीवन में सुख-दुःख के प्रश्न को गुंजन में (गुंजन इसलिए कि युगांतर से ही कवि में मार्क्सवादी दृष्टि की किरणें फूटने लगीं है) समझना और समझाना चाहता है, उसमें मानवतावाद की झंकृति है, पलायनवाद की नहीं। झरना से कामायनी तक और ग्रंथि-पल्लव से उत्तरा तक—सभी कृतियों में कवि की भावधारा का अवगमन करने पर ही निर्णय देना होगा।

अंतश्चेतना—इस काव्य-धारा की इन्हीं अनिश्चित और उभय-सीमा-स्पर्शी मान्यताओं के कारण आरंभ से ही छायावाद को कटु आलोचना, व्यंग्य, उपहास, विरोध तथा प्रहार का सामना करना पड़ा। पर ज्यों-ज्यों उसका रूप निखरता गया, छायावाद का चित्र भी स्पष्ट होता गया। आज उसकी आलोचना तटस्थ दृष्टि से, वाद-संकीर्णता से दूर होकर की जा सकती है और उसका विशुद्ध रूप साहित्य के भावमय लोचनों से देखा जा सकता है। इस प्रवृत्ति के फलस्वरूप हिंदी-साहित्य में स्वाभिव्यक्ति-व्यंजक काव्य की बड़ी ही सुकुमार और मधुर रचना हुई। इस काव्य में विषयी और विषयिगत अनुभूति की (सब्जेक्टिव फीलिंग्स) अत्यंत प्रधानता हो गयी। कवि की कविता में कल्पना और भावुकता का प्रचार बढ़ने लगा। ऐसे विषयों का वर्णन, जहाँ विषय-प्रधानता में भी मनोहारिणी सुषमा अंकित की जा सकती है (प्रकृति के दृश्यों की नैसर्गिक सुषमा के विषय-प्रधान वर्णन से जिन हृदयहारी चित्रों का अंकन किया जा सकता है), उनकी उपेक्षा की जाने लगी। वस्तु, स्वयं कितनी सुंदर है, दृश्य कितना सुंदर और कैसा है—इसकी अभिव्यक्ति के स्थान पर कविकर्म हो उठा यह अभिव्यक्त करना कि कवि की दृष्टि में वे कैसी हैं। इसके परिणामस्वरूप, जैसा कि ऊपर कहा गया है, काव्य में विषयी की प्रधानता हो गई। जगत् के प्राकृत चित्रों के वर्णन में प्रस्तुत या अप्रस्तुत रूप से नारी के आंगिक और अनुभावात्मक, उद्दीपन विभावात्मक अथवा संचारीभावात्मक रूपचित्रों और चेष्टाचित्रों का प्रकाशन प्रचुर मात्रा में होने लगा। नर-नारी-सौंदर्य इतना प्रमुख हो उठा कि अलक्ष्य और सूक्ष्म भावों के प्रकाशन में, अज्ञात और अतींद्रिय सत्ता के अभिव्यंजन में या प्रकृति-दृश्यों के वर्णन में – सर्वत्र उसी का प्रभाव छा गया। ऐसा जान पड़ा जैसे कवि के कल्पनालोक में तरुणी नारी के प्रभाव की घनी छाया ने सब कुछ ढँक लिया है। आधुनिक मनोवैज्ञानिकों के अनुसार मनोविश्लेषण करनेवाले आलोचकों की दृष्टि से इस प्रकार की प्रवृत्ति का उत्प्रेरण-स्रोत होगा अवचेतन (या अचेतन) मन में छिपी हुई अतृप्त कामवासना। इसी कारण बहुत से आलोचक कह दिया करते हैं:—छायावाद-युग

में इस प्रकार की उक्तियाँ वस्तुतः यौन-वासना से प्रेरित हैं। रीतिकालीन अभिधात्मकप्रणाली न लेकर कवि ने छायावाद-कालीन प्रतीकात्मक अथवा अप्रस्तुत-वर्णनात्मक प्रणाली के द्वारा अपने मनोवेग का शब्दांकन किया है।

कुछ अंश तक यह विश्लेषण ठीक भी है। बहुत सी काव्याभिव्यक्तियाँ ऐसी हो सकती हैं जहाँ कवि की उत्प्रेरणा यौन उद्वेग ही रही हो। पर सर्वत्र यही दृष्टि, (यही फारमूला) ठीक नहीं माना जा सकता। अन्यथा संतों और सूफियों, मीरा और कृष्ण-भक्तों में भी ऐसे विश्लेषण का अवकाश मिल जायगा। रीतिकाल में वही विकृति दिखाई भी देती है। छायावाद-युग में भी अनेक कवियों और उनकी अनेक उक्तियों पर काम-भावना का प्रभाव पड़ा है। पर सर्वत्र यही बात है—ऐसा समझना समीचीन नहीं है। हम मनुष्य हैं। कवि भी मनुष्य है। उसके जीवन का सभी क्षेत्र मानवीय अनुभूतियों और मानवीय सौंदर्यों की परिकल्पना से ओतप्रोत है। हम राम और कृष्ण को भी मानव-मूर्ति के साँचे में ढाल कर ही ईश्वरत्व से आमंडित करते हैं। इसी भांति छायावादी रचना में, कल्पना और अनुभूति के विषयी-प्रधान होने से मानवीय-प्रधानता सर्वत्र लक्षित होती है।

प्रगीततत्व—छायावाद की काव्य-रचना में स्वानुभूति—व्यंजना का प्रामुख्य होने से काव्य में प्रबंधत्व का अभाव और प्रगीत-मुक्तकों का बाहुल्य आविर्भूत हुआ। इस युग में मुक्तकों और भावगीतों की प्रचुरता रही। प्रबंध काव्य, चाहे मानव के व्यापक जीवन का चित्र होने के कारण अधिक महत्वपूर्ण भले ही हों, फिर भी प्रगीतों और प्रगीत-मुक्तकों में कवि की स्वानुभूति का अभिव्यंजन अधिक पूर्ण होता है। उस अभिव्यक्ति में विजातीय द्रव्य-वस्तुओं के लिए अवकाश नहीं रहता। प्रबंध-काव्यों में कथा-प्रवाह, अंतः—बाह्य-संघर्ष, इतिवृत्तवर्णन, चरित्र-चित्रण आदि ऐसे अनेक पक्ष होते हैं, कवि का कविकर्म जिनकी उपेक्षा नहीं कर सकता। किंतु गीतकार की स्वानुभूति प्रगीत-मुक्तकों में स्वच्छंद भाव-मूर्ति का रूप धारण कर अभिव्यक्त होती हैं। प्रबंधता में विषय-बहुलता के कारण काव्य का जो आवृत रूप रहता है, प्रगीत मुक्तक में वह अनावृत होकर, पूर्ण सौंदर्य के साथ निखर उठता है। पाठक की दृष्टि से काव्यास्वादन का पूर्ण आनंद निर्बाध रूप से प्रगीत-मुक्तोंकों में ही होता है। वहाँ काव्य-रस की अखंड भाव-सरिता बहती रहती है।

कानपुर की 'प्रभा' में माखनलाल जी और नवीन जी—दोनों ने प्रमुख रूप से नवधारा के प्रवर्त्तन में योग दिया। तब उनमें राष्ट्र-भावना की प्रमुखता थी। पर उसका अधिक मनोरम और कलात्मक, लयस्वरात्मक निखार हुआ 'प्रसाद', मुकुटधर पांडेय, रूपनारायण आदि के प्रगीत मुक्तकों में। ये कवि राष्ट्रीय न थे वरन् छायावादी प्रवृत्ति के पूर्वरूप को लेकर चल रहे थे। इनमें नवयुग की नवीन भावनाएँ व्यक्त हो रही थीं। 'प्रसाद' का 'झरना' नवयुग की प्रगीतानुरूप अनुभूतियों से अनुप्राणित था। रूपनारायण के 'वन-वैभव' से भी भविष्य की आशा हो चली थी। पंत और निराला ने इस नूतन गीत-रचना के शिल्प-विकास में पूर्ण योग दिया। प्रगीत-रचना नवयुग की मुख्य प्रवृत्ति हो गयी। चतुर्दिक् से नवीन उपकरण जुटने और इस नवविधान के सहायक होने लगे।

इन प्रगीतों में, ऊपर कहा जा चुका है, कवि की स्वानुभूति विशेषरूप से मुखरित होती है। उसकी भावना-कल्पना, अभिव्यंजना की गीतात्मक अनुभूति में अंतर्लीन हो

जाती हैं। इसी प्रकार शब्द और अर्थ, छंद और लय, रूप और वस्तु, प्रगीत में परस्पर इतना सामीप्य प्राप्त कर लेती हैं कि वे अभिन्न-सी प्रतीत होने लगती हैं। प्रगीत-काव्य में समस्त उपकरणों और उपादानों का एकोद्देश्य आत्मार्पण—उसकी उत्कृष्ट भूमि है। एक ओर आख्यानक काव्यों की धारा—हरिऔध जी, गुप्त जी, भक्त जी, श्यामनारायण पांडेय, दिनकर, सियाराम जी आदि में विकसित होती चली और दूसरी ओर नवीन जी, माखनलाल जी, रूपनारायण पांडेय, मुकुटधर, प्रसाद, पंत, निराला, महादेवी वर्मा, रामकुमार वर्मा, बच्चन, नैपाली 'सुमन', अंचल, 'रसिक', 'क्षेम' आदि अनेकानेक कवियों की प्रगीत-अभिव्यक्ति भी निरंतर होती चली।

प्रगीत-मुक्तकों की यह काव्य-धारा 'छायावाद' की प्रवृत्तियों को लेकर चल रही है और अब तक सफल कवि इस दिशा में काव्य-निर्माण करते चल रहे हैं। पर इसके साथ-साथ प्रगीत-धारा की वैयक्तिकता और कल्पना-सहकृत अंतर्लीनता के कारण दो और धाराएँ प्रगीत पद्धति को लेकर चलीं। एक को हम प्रगतिवादी या सामाजिक यथार्थवादी कहते हैं और दूसरे को प्रयोगवादी। आगे के पृष्ठों में इन प्रवृत्तियों का संक्षिप्त परिचय देने की चेष्टा की जायगी।

प्रगतिवाद—विचारधारा की प्रेरणाएँ—(ख)

परिस्थिति—प्रथम महायुद्ध के बाद देश में स्वतंत्रता-संघर्ष चल रहा था। महात्मा गांधी के नेतृत्व में राष्ट्र भीषण स्वातंत्र्य युद्ध में रत था। उसके युद्ध के साधन अहिंसा और सत्याग्रह थे। सविनय अवज्ञा और अत्याचार-सहिष्णुता का सात्विक एवं नैतिक बल लेकर, महायुद्ध विजेता, भौतिकबल-संपन्न अंग्रेजी राज्य से उसका युद्ध चल रहा था। उसे बराबर असफलता होती थी। पर उसकी असफलता से विद्रोह और सफलता-प्राप्ति का विश्वास बढ़ता जा रहा था। गांधी जी राजनीतिक संघर्ष का नेतृत्व तो कर ही रहे थे, रचनात्मक कार्यों को भी वे चला रहे थे। मानवता-विरोधिनी सामाजिक रूढ़ियों को महाव्याधि समझ कर उसकी चिकित्सा करने में भी वे संलग्न थे। अछूतोद्धार, ग्राम-संघटन, पीड़ितों की सेवा, किसान-मजदूरों का उन्नयन—सभी समाजसुधार और देशोत्थान के प्रश्नों को सुलझाने के प्रयत्न में महामानव लगा हुआ था। फलस्वरूप मानव-मानव का भेद, धनी-निर्धन का भेद, शोषक-शोषित का भेद, छूत-अछूत का भेद— सभी प्रकार की विषमताओं को नैतिकता और प्रेम के माध्यम से, मैत्री और सद्भाव की चेतना से गाँधी जी दूर करने में दत्तचित्त थे।

परिणामस्वरूप लोक में मानव-विषमता और वैषम्यजन्य उत्पीड़न के प्रति आदर-णीयता गलती जा रही थी। संपत्ति की प्रचुरता मानव की सच्ची गरिमा है—इस पर से लोकविश्वास उठता जा रहा था। नैतिकता और बुद्धि-वैभव से संपन्न मध्यवर्ग अपनी आर्थिक न्यूनता के कारण अपने को छोटा मानने में संदिग्ध ही नहीं विद्रोही हो उठा था। उसे अपने मूल्य का ज्ञान होने लगा था। अपने साथ निम्नवर्ग की शक्ति और समाज में उसके अधिकारों के प्रति भी जागरूकता उत्पन्न हो गई थी।

१९२७ ई० के बाद पूंजीवादी व्यवस्था के भीषण परिणाम प्रकट होने लगे थे।

श्रमिकों और किसानों का उत्पादक वर्ग, उत्पादक होकर भी उत्पादित वस्तु के लाभ से वंचित होकर दरिद्रता और शोषण से कराह रहा था ।

पूँजीवादी उत्पादन अत्यधिक बढ़ गया था। पर उनके खपने का अवकाश नहीं मिल रहा था। सामग्रियाँ पूँजीपतियों के यहां एकत्र होती जा रही थीं। हजारों टन की अन्नराशियाँ समुद्रों में डुबाई या आग से जलाई जा रही थीं। पर उत्पादक अपने दारिद्रय के अभिशाप से उन्हें पैदा करके भी उनका उपयोग और उपभोग करने से वंचित हो रहा था।

व्यापार-वाणिज्य में घोर मंदी छा रही थी। अर्थपतियों की व्यवस्था भीषण हलचल में पड़ी थी, उसकी स्वार्थ-कड़ियाँ टूटती जा रही थीं। विश्व के समाज में भीषण क्षोभ ज्वालामुखी के विस्फोट का संकेत करने लगा था। विश्वव्यापी मंदी और बेकारी का नग्न तांडव समस्त पूँजीवादी देशों में व्याप्त था।

एक ओर विश्व की पूँजीवादी व्यवस्था में भयंकर अस्तव्यस्तता छायी हुई थी, दूसरी ओर १९१९ के लगभग अपनी मार्क्सवादी व्यवस्था हस्तगत करके रूस, देश के निर्माण और उन्नयन में दत्त-चित्त था। अपनी पंचवर्षीय योजना का अनुसरण करता हुआ, वैज्ञानिक साधनों के संतुलित उपयोग से वह निरंतर आगे बढ़ता जा रहा था। विश्वव्याप्त बेकारी और मंदी के संकट की छाया भी वहाँ नहीं पड़ रही थी। जन-जीवन में संतोष और सुख के प्रति विश्वास बढ़ रहा था। पूँजीवादी अभिशाप की ज्वाला, विश्वव्यापी मंदी तथा आर्थिक संकट सबसे अग्रस्त रूस विकास पथ पर चलता जा रहा था।

रूस के पास अपनी विचारधारा और कार्य-पद्धति का अभिनव संदेश था। विश्व-मानव में साम्य-स्थापना, वर्गहीन समाज का निर्माण, आर्थिक वैषम्य का विलोपन, जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति के साधनों की सुलभता आदि का उसके द्वारा विश्व को आश्वासन दिया जा रहा था। इस आश्वासन में अपनी ओर बुलाने की व्यवस्था का निमंत्रण भी था। पूँजीवादी वैषम्य से पीड़ित विश्व का मध्य और निम्नवर्ग आशा और विश्वास के साथ रूस की ओर देखने लगा था। सबका ध्यान उधर आकृष्ट था।

मार्क्सवादी चेतना की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि उसकी क्राँति सदैव सर्वांगीण रही है। केवल राजनीतिक या आर्थिक ही नहीं वरन् जीवन और समाज के समस्त क्षेत्रों के लिए वह व्यवस्था, पथ प्रशस्त कर रही थी। अपने समाज-दर्शन की चेतना से मानव-समाज के सर्वांग को वह नव-निर्माण से पुष्ट करना चाहती है। फलतः विश्व की शिक्षित मध्यवर्गीय जनता उधर आकृष्ट हुई। रूस का प्रचार-विभाग भी अपने सिद्धांतों के प्रचार में प्रयत्नशील हुआ। समाज एवं जीवन के विभिन्न केंद्रों में, रूस के बाहर, मार्क्सवादी दृष्टि की संस्थाओं के स्थापन का प्रयत्न हो रहा था। इसी यत्न के कारण साहित्य के क्षेत्र में भी प्रगतिशील लेखकों की संस्था स्थापित हुई और १९३६ ई० के आस-पास भारत में 'प्रगतिशील लेखक संघ' का जन्म हुआ। कला और साहित्य के क्षेत्र में भी मार्क्सवादी विचार-धारा का प्रचार त्वरित गति से होने लगा। साहित्य का मूल्यांकन,

कला का मान-निर्धारण, मानवता की मान्यताएँ समाजवादी दृष्टि से होने लगीं। भारत के साहित्य-प्रांगण में इसकी संज्ञा 'प्रगतिवाद' चल पड़ी।

प्रगतिवाद—प्रगतिवादी आलोचक मार्क्सवादी दृष्टि से साहित्य और उसके इतिहास का विश्लेषण करने की ओर झुके। साहित्यालोचन की इस नई विचार-धारा के प्रवर्त्तन से आलोच्य और आलोचना के क्षेत्र में अनेक प्रश्न उठे और 'प्रगतिवादी' दृष्टि ने उनके उत्तर भी अपने अनुकूल दिए।

प्रगतिवाद का जीवन दर्शन ऐतिहासिक भौतिकवाद या द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के पथ पर चलता आ रहा है। वस्तुवादी जीवन-दर्शन की सहायता से प्रगतिवाद ने, कला (साहित्य भी) का स्वरूप और उसके मूल्यांकन का सिद्धांत प्रस्तुत किया। उसकी दृष्टि व्यक्तिवादी न होकर सर्वत्र समाज-सापेक्ष्य रही है। समाज का कल्याण और उत्थान मार्क्सवादी सिद्धांतों के अनुकूल उसका प्रतिपाद्य रहा है। वह वैज्ञानिक मान्यताओं और स्थापनाओं के आधार पर आलोच्य और आलोचना का नया पक्ष उपस्थित करता है।

मार्क्सवादी साहित्य-दृष्टि के संबंध में बहुत दिनों तक भ्रांत दिशा का संकेत होता रहा और 'वर्गहीन समाज', 'बुर्जुआक्लस', 'प्रोलेतेरियन' आदि शब्दाडंबर के बीच उसकी कला-विषयक आदर्शों की धूमिल समालोचना चलती रही। कलाकार या तो सामंती अथवा पूँजीवादी कह दिए जाते थे और नहीं तो प्रोलेतेरियन मान लिए जाते थे। पश्चिम में भी बहुत दिनों तक मार्क्सवादियों में अवैज्ञानिक आलोचना चलती रही और हिंदी में अब तक भी उसका प्रभाव बना है।

प्रगतिवादी विचारकों ने यह स्वीकार किया है कि वैज्ञानिक सौंदर्य-शास्त्र का निर्माण करने के लिए मानव-समाज के आदिम जीवन से लेकर आज तक की कला-संबंधी अनुभूतियों से सिद्ध प्रत्यक्ष सत्यान्वेषण की जो उद्भावनाएँ हुई हैं, उनका ऐतिहासिक भौतिकवाद के आलोक में, वैज्ञानिक दृष्टि से निरीक्षण-परीक्षण आवश्यक है। इस आलोचना के बाद ही सौंदर्य-सिद्धांत के अंतर्गत उनका समावेश किया जाता है।

प्रगतिवाद में कला का रूप—प्रगतिवाद की दृष्टि में सबसे मौलिक समस्या है वैज्ञानिक विचार-धारा के अनुसार कला का स्वरूप निर्धारित करना। इसके अनंतर ही यह विवेचना हो सकती है कि कला के साथ वास्तविकता और यथार्थ का क्या संबंध है, उसके निर्माण की पद्धति और क्रिया क्या है, उसका वर्ण्य-विषय किस भाँति की अभिव्यंजन-शैली के साथ समन्वित होकर साध्य के साधन में समर्थ होता है तथा कला में वस्तुगत सत्य का प्रतिबिंब कैसे उद्भासित होता है। कला का स्वरूप-निर्धारण होने पर ही उसके सामाजिक प्रयोजन का निर्णय किया जा सकता है और उसी के साथ यह भी निश्चय करना होगा कि कला द्वारा जिस समाज का समर्थन हो वह कैसा हो—वर्गमूलक हो अथवा वर्गहीन हो। तभी यह विचार भी किया जा सकता है कि श्रेष्ठ कलाकार मानव आत्मा का शिल्पी कैसे माना जाता है और समग्र मानवता का कल्याणकामी बनकर अपने कर्तव्य का पूर्ण निर्वाह कैसे करता है। इस कर्तव्य से विरहित होने पर किस प्रकार उसकी कला अपकृष्ट हो जाती है, इसका भी निर्णय तभी हो सकता है।

सामाजिक यथार्थता—मार्क्सवादी दृष्टि के अनुसार कला एक प्रकार की सामाजिक चेतना है। वह सामाजिक चेतना का ऐसा विशिष्ट साधन है जिसके द्वारा मनुष्य का मानस सामाजिक सत्ता को प्रतिबिंबित करता है। चिरकाल से आगत कला और साहित्य का इतिहास सिद्ध करता है कि सभी युगों में कला के द्वारा वस्तु सत्ता या भौतिक जगत् का मार्मिक बोध होता रहा है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, समाज की शृंखलाओं में वह बँधा रहता है। इस बंधन में रहकर भी वह अपने चारों ओर फैले हुए जगत् के विषय में क्या सोचता-समझता है और कैसे उसमें परिवर्तन उत्पन्न करता है—कला के माध्यम से मनुष्य युग-युग से अपनी इस सामाजिक चेतना को अभिव्यक्ति देता आया है। इसी कारण उसके द्वारा मानव-सत्य का उद्‌घाटन और बोध भी होता आया है। मानव-सत्य कोई निर्विकार, निरपेक्ष और कालातीत सत्य नहीं हैं, जो स्वतंत्र रूप से मानव में निहित हो। वह तो बाह्य-प्रकृति के विरुद्ध संघर्षरत मनुष्यों के सामाजिक संबंध की यथार्थता है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि सतत परिवर्तनशील सामाजिक संबंधों को मनुष्य की चेतना प्रतिबिंबित करती है।

सत्य का प्रतिबिम्बन—प्राणिजगत् में मनुष्य सबसे अधिक संवेदनशील होता है और उनमें भी कलाकार संवेदनशीलतर होता है। अतएव वह वास्तविकता की नवीन अनुभूतियों का उद्घाटन करता हुआ भावों और विचारों को अभिनव स्फूर्ति देता है तथा मानव को सौंदर्योपासक बना कर उसकी मानवता का भी विकास करता है। समाज में कला और साहित्य का यही साध्य है। सामाजिक वास्तविकता को मानव चेतना में प्रतिबिम्बित करना कला की वास्तविक उपासना और उसका प्रयोजन है। मार्क्स के द्वंद्वात्मक भौतिक-वाद के अनुसार भौतिक जगत् या वस्तुसत्तात्मक सृष्टि बिम्ब हैं और मानव मन अथवा मानवीय चेतना अपने मन में उसे प्रतिबिम्बित करके उसका बोध कराती है। साहित्य और कला द्वारा भी वास्ताविकता ही प्रतिबिम्बित होती है।

उत्कृष्ट कोटि की कला द्वारा वस्तुगत सत्ता की परिपूर्ण अनुकृतिमात्र प्रतिबिम्बित नहीं होती। ऐसा प्रतिबिम्बन प्रगतिवाद के अनुसार एकांगी और कला की मूल प्रकृति के विरुद्ध है। यद्यपि वस्तुगत सत्ता मनुष्य की चेतना–सापेक्ष्य नहीं है, वरन् उसकी अपनी स्वतन्त्र सत्ता है (विषयसत्ता विषयी-सापेक्ष्य नहीं है, क्योंकि विषयी से भिन्न विषय का अस्तित्व है), तथापि मनुष्य वस्तु-जगत् का अविच्छिन्न अंग हैं और वस्तुसत्ता को अपने अनुकूल अर्थात् विषयी के अनुरूप बनाने की क्षमता रखता है। अतएव मनुष्य की संवेदनात्मक क्रियाशीलता से मानस में प्रतिबिम्बित विषयसत्ता विषयी-चेतना से समन्वित होती है। मानव-मन की यही विषयी-निष्ठ क्रियाशीलता कला के रूप में भी व्यक्त होती है। कला जीवन की मार्मिक चारुता द्वारा मनुष्य-समाज की यथार्थता को प्रतिबिम्बित करती है। प्रगतिवाद में इसी को यथार्थवाद की संज्ञा दी जाती है, जो कला की सच्ची कसौटी है। मार्क्सवाद के अनुसार उक्त यथार्थता का सम्बंध काव्य की रचनात्मक प्रक्रिया से नहीं वरन् वर्ण्य विषय से हैं। कलाकार समाजिक वस्तुसत्ता के किसी विशिष्ट सत्य का उद्घाटन करने के लिए जिस विचार को संवेद्य बनाता है, कला अपने सौंदर्योद्‌बोधन से उस सत्य को सर्वजन-बोध्य बनाती है। कलाकृति का व्यंजना-मार्ग संवेद्य विचार की अभिव्यक्ति

और प्रेषण का साधन बनाता है। कलात्मक रूप-विधानों के द्वारा युग-युग से कलाकार इसी साध्य की सिद्धि के लिए प्रयत्न करता आ रहा है

सामाजिक यथार्थवाद—वस्तुगत यथार्थता को कला के माध्यम से कलाकार अभिव्यक्त करना चाहता है। अतः उसके लिए आवश्यक होता है कि उसके विविध रूपों का सर्वांगीण चित्रण करे, उसकी बाह्य और अंतरंग मूर्ति को अंकित करे। तभी कलाकार के द्वारा मूल प्रश्न या यथार्थ तथ्य अपने बाहरी और भीतरी—समस्त सम्बधों के साथ उद्घाटित होगा। सच्चे कलाकार द्वारा प्रतिबिम्बित होनेवाली वस्तुगत सत्ता अपने यथार्थ रूप में ही प्रकाशित होती है। कहने का तात्पर्य यह कि दैनिक जीवन में समान्यतः जो कुछ घटित हुआ करता है, उसे ज्यों-का-त्यों चित्रित कर देनामात्र पर्याप्त नहीं है। वास्तविक सत्य को उद्घाटित करने के लिए जो कुछ आवश्यक हैं, सारपूर्ण है और प्रासांगिक है, केवल उहीं पक्षों का आकलन कला की सच्ची मार्मिकता है। इसी कारण कला की उक्ति में जीवन और इतिहास की प्रतिध्वनि मुखरित होती है।

कला की प्रक्रिया विज्ञान की प्रक्रिया से भिन्न है। यद्यपि दोनों के द्वारा जीवन और जगत् की विषयवस्तु का ही प्रतिबिम्बन होता है, पर दोनों के द्वारा होने वाली प्रतिक्रियाएँ भिन्न-भिन्न हैं। विज्ञान द्वारा भौतिक सत्ता का विचारात्मक बोध होता है और कला द्वारा मर्मस्पर्शी सार्थक सौंदर्यसत्ता जीवन-चित्र के रूप में प्रतिबिम्बित होती है। विज्ञान विशिष्ट तथ्यों को विचारात्मक चेतना से सामान्य अथवा साधारणीकृत रूप में प्रकाशित करता है। पर कला जनसामान्यगत विचारों और धारणाओं को मूर्तिमान् बनाती हुई व्यक्त चित्रों के रूप में प्रस्तुत करती है। फलतः कला की मूर्त्ति और वैशिष्टय पूर्ण मनोरम सृष्टि संवेदनीय होती है। इसके अतिरिक्त आज के प्रयोगों द्वारा स्थापित विज्ञान का सिद्धांत आगामी कल के प्रयोगों से मिथ्या था भ्रांत सिद्ध हो सकता है। पर कला द्वारा प्रतिष्ठित सौंदर्य-चित्र शाश्वत होते हैं। देश, काल और परिस्थिति के अनुरूप भिन्न लोग चाहे कलाचित्रों से भिन्न-भिन्न प्रभाव भले ही ग्रहण करें, पर उसके द्वारा दी जानेवाली प्रेरणा युग-युगतक बनी रहेगी। नवीन कलाकृति के प्रयोगों से, वास्तविक कला की प्राचीन उद्भावना की रमणीयता नष्ट नहीं होती। इसी कारण एक विषय को लेकर रचना करनेवाले अनेक कलाकार अनेक मौलिक कृतियों का निर्माण कर सकते हैं और उनके द्वारा उद्घाटित होनेवाली सामाजिक वस्तुसत्ता भी नाना हो सकती है। सबमें उच्चकोटि की सामाजिक भावना भी प्रतिबिंबित हो सकती है। इसका कारण यह है कि कला में संवेद्य-विषय-वैविध्य-प्रतिपादिनी कल्पनामयी अनुभूति संवेदना से प्रतिबिंबित होती है। प्रगतिवाद की कलादृष्टि मनुष्य के भावपक्षतक ही परिमित नहीं है, वरन् वह सर्जन प्रक्रिया तथा कलाकृति, दोनों की इंद्रिय-जन्य संवेदना और अनुभूति के महत्व को स्वीकार करती है। परंतु प्रगतिवादी उक्त संवेदना और अनुभूति को कला का सर्वस्व नहीं मानता। इनमें रमणीयता की सृष्टि वह तभी मानता है जब वे पाशविक सीमा से ऊपर उठकर मानव-समाज की कल्याण-भूमि का स्पर्श करें, अर्थात् जब उनके द्वारा मार्क्सवादी समाज-प्रतिष्ठा की लक्ष्य-सिद्धि में सहायता मिले।

इसी कारण प्रगतिवाद की दृष्टि में कला की समस्या का समाजवाद के आदर्श-चित्रण

की समस्या से घनिष्ठ है। समाजवादी काव्य की वर्ण्य वस्तु का समाजवादी आदर्शों के अनुरूप होना चाहिए। जब तक मार्क्सवादी समाज-प्रतिष्ठापन के अनुरूप साहित्य या काव्य का वर्ण्य विषय न होगा तब तक प्रगतिवाद का लक्ष्य सिद्ध न होगा। दूसरी ओर अभिव्यंजन-शैली के लिए भी यह आवश्यक है कि वह ऐसी हो जिसके द्वारा काव्य में प्रतिपादित संबंध-सत्य जन सामान्य के लिए संवेद्य और बोधगम्य हो।

प्रगतिवादी साहित्य का रूप—सरल शब्दों में यदि कहना चाहें तो हम कह सकते हैं कि प्रगतिवाद के काव्य का विषय मार्क्सवादी विचार-धारा या उसका अंग ही हो सकता है। प्रगतिशील की चेतना कला के माध्यम से मार्क्सवाद के अनुरूप आदर्श-स्थापना में ही विनियुक्त होती है। कलाकार अपने विचार को जिस मार्मिक चारुता के योग से कलात्मक बनाता है, उसका भी एक विशिष्ट महत्व है। उसके द्वारा व्यष्टिवाद और समष्टिवाद—दोनों के पारस्परिक संबंध और विरोध का स्पष्टतः अंकित होना आवश्यक है। व्यष्टि की सत्ता किस भाँति समष्टि की सत्ता में विनिमज्जित हो और व्यष्टि का स्वार्थ समष्टि की लक्ष्य-प्राप्ति और समष्टि-चेतना में बाधक हो तो किस प्रकार उसका विध्वंस कर देना चाहिए—इसकी स्फूर्ति भी प्रगतिवादी साहित्य से मिलनी आवश्यक है। उसके द्वारा व्यक्ति के विरोध को मूलतः उखाड़ फेकने के लिए समाजवाद की विध्वंसक क्रांति का भाव उत्तेजित और सक्रिय होना चाहिए। संघर्ष और हिंसात्मक क्रांति के लिए समष्टि को प्रेरित करने की शक्ति भी कला में होनी चाहिए। काव्य या साहित्य के संदेश या विशिष्ट पात्र ऐसे हों जो देश-काल से सापेक्ष्य, विरोधी और प्रतिगामी शक्तियों के विरुद्ध प्रचंड संघर्ष करने की और संघर्ष द्वारा उन्हें जीतने की प्रेरणा दे सकें।

प्रगतिवाद की दृष्टि में अमर कलाकर वही हो सकता है जो मानवात्मा का शिल्पी हो। और शिल्पी वही हो सकता है, चाहे वह किसी वर्ग, समाज, देश या काल का हो, जो मानव-समाज में मानवता की सृष्टि द्वारा, सामाजिक सत्यों की प्रतिष्ठा द्वारा, कला को सार्थक बना सके, शोषित वर्ग की पीड़ाओं और वेदनाओं को दूर करने की ऐसी प्रेरणा दे सके जो शक्ति और संघर्ष द्वारा शोषक वर्ग को पूरी तौर से मिटा दे। वस्तुगत सामाजिक सत्यता और मार्क्सवादी दृष्टि से उसकी सिद्धि में कला द्वारा सहायक होकर इसप्रकार जो रचना सक्रिय प्रेरणा देगी और जो कलाकार मार्क्सवादी समाज-सत्य को प्रतिष्ठित करेगा वही सच्चा कवि है, कलाकार है। प्रगतिवादी साहित्यकार जीवन और जगत् के दृश्यों का तटस्थ द्रष्टा नहीं होता, वह मार्क्सवादी आदर्श के मार्ग से, शोषित को शोषण और शोषक के विरुद्ध निर्भय होकर संघर्षमय कर्मक्षेत्र में अवतीर्ण होने और समस्त विघ्न-बाधाओं को भूमिसात् कर देने के लिए शक्ति प्रदान करता है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि प्रगतिवादी काव्य की कला तभी कलात्मक सौंदर्य से मंडित मानी जायगी जब वह समाज में मार्क्स से अनुमोदित आदर्शों की प्रतिष्ठा, मार्क्सवादी संघर्ष-पद्धति से करने में समर्थ हो सके।

कलाकृति के मूल्यांकन के विषय में प्रगतिवादी के विचार का अपना ढंग है। वह विश्लेषणात्मक प्रणाली द्वारा प्राचीन कृतियों के मूल्य को आँकता हुआ यह समझना चाहता

है कि अतीत की रचनाएँ आज भी सौंदर्य-बोध कराने और हृदय को प्रेरणात्मक शक्ति देनें में क्यों समर्थ हैं और भविष्य में कहाँ तक समर्थ रहेंगी। आधुनिक युग की कृतियों के विषय में भी वह स्थायी महत्व का अन्वेषण करता है और कला के वैविध्य-पूर्ण यथार्थ और मूर्त्त-चित्रण की समाजवादी शक्ति को जानना चाहता है।

यह सत्य है कि अतीत की कृतियां वर्ग-विशेष में उत्पन्न कलाकारों द्वारा निर्मित होने के कारण उस वर्ग की मान्यताओं से कुछ अंश तक परिबद्ध होती हैं, पर कलाकार, उस ज्ञानराशि के संपर्क में आता है जो कला, विज्ञान और दर्शन के अनुशीलन से उसे प्राप्त होती है। कला-साहित्य की परम्परा, अपने समय के द्वन्द्वज पारस्परिक सम्बन्धों से उत्पन्न लोक-चेतना तथा अन्य देशों की कलात्मक संस्कृति के सम्पर्क में कलाकार आता है। फलतः उसके अपने सांस्कृतिक संबंधों का विभिन्न आर्थिक संबंधों से विनिमय होता है और वह प्रभाव भी ग्रहण करता है। इसलिए देश-काल-सापेक्ष्य होने पर भी उसकी कला-चेतना स्थिर और उत्कर्षोन्मुख मान्यताओं की स्थापना करने में समर्थ होती है। कलाकार भविष्य द्रष्टा होने के कारण देशकाल-वेष्ठित विचार धारओं का अतिक्रमण करके अग्रगामी सामाजिक चेतनाओं की अभिव्यक्ति करने में समर्थ होता है। उसकी सापेक्ष्य अनुभूति-प्रतिभा कल्पना के योग से सीमा का अतिक्रमण करती हुई निरपेक्ष सामाजिक सत्य को अंकित करने की शक्ति रखती है। इसी दृष्टि से प्राचीन और आधुनिक साहित्य का मूल्यांकन होता है और कृति की महत्ता निर्धारित होती है।

मार्क्सवाद और प्रगतिवाद—ऊपर की पक्तियों में प्रगतिवाद की कुछ प्रमुख मान्यताओं के वर्णन से यह स्पष्ट है कि प्रगतिवाद मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद अथवा सामाजिक दर्शन की साहित्यिक धारा है। मार्क्स का दर्शन जिस प्रकार समाज के आर्थिक वैषम्य और तन्मूलक वर्ग-भेद के प्रति विद्रोही है, उसी प्रकार प्रगतिवाद का वर्ण्य विषय भी है। प्रगतिवाद भी चाहता है ऐसे वर्गहीन समाज को समस्त भूतल में प्रतिष्ठित करना, जहां शासक और शासित का भेद न हो, जहां शोषक और शोषित की भिन्नता न हो, जहाँ आर्थिक वैषम्य न हो, जहां समस्त मानव समान हों, धरित्री के अंचल में विभिन्न राज्य न हों। वह ऐसा जगत् चाहता है जहाँ जीवन में आर्थिक अभाव न हो, जहां मानव पीड़ित और निर्दलित न हों, जहां जीवन की समस्त आवश्यकताएं सुलभ हों, जहां समाज को अपनी शिक्षा, विकास और उन्नति के लिए सभी उपकरण सुगम हों और जहां मानव के पारस्परिक संबंध सहानुभूति और प्रेम पर आश्रित हों, जहां ऊंच-नीच का भेद न हो, छूआ-छूत का भेद न हो, जाति-पांति का विष न हो, जहां स्त्री-पुरुष के अधिकार समान हों और जहां सेवा और मानवता शाश्वत धर्म हो।

अपने इस साध्य के लिए प्रगतिवाद जगत् में शस्त्र-विद्रोह और रक्तमयी क्रांति का आवाहन करता है। वह सर्वहारा वर्ग की शक्ति को पुंजीभूत करके, शोषक-सामंतों और पूँजीवादियों, स्थिर स्वार्थवाले शासकों और साम्राज्यवादियों का ही नहीं, उनकी वर्ग-जन्य प्रवृत्तियों और मान्यताओं का भी हिंसापूर्ण क्रांति से समूलोन्मूलन करना चाहता है। अपने काव्य में शोषकों के अत्याचार और शोषितों की पीड़ा को ऐसी शक्तिमयी प्रेरणा का स्रष्टा बनना चाहता है जिससे शोषकवर्ग अपनी समस्त वृत्तियों के साथ विलुप्त हो जाय।

प्रगतिवाद-काव्य का आदर्शरूप—प्रगतिवादी विचार धारा के अनुसार सच्ची काव्यकृति वही हो सकती है जो इन उद्देश्यों से प्रेरित और मार्क्सवादी लक्ष्य का साधक हो। इस क्रम की पद्धति से भिन्न चलकर जो काव्य, वर्ग-विशेष की रुचि का मनोरंजन करता है वह शोषक वर्ग की विलसिता का अंगमात्र है। जब तक समाज-कल्याण की शाश्वत भावना और सामाजिक विकास की सक्रिय चेतना को जगाने में साहित्य समर्थ नहीं होता तब तक वह विलासलीला बना रहता है। जब तक निरपेक्ष बंधुत्व—भावना और व्यापक प्रेमाश्रित मानवता के गुणों का विकास साहित्य द्वारा सिद्ध नहीं होता तब तक साहित्य के प्रतिष्ठित आसन को वह नहीं पा सकता।

शैली-शिल्प—यह तो हुई काव्य के वर्ण्य विषय की बात। अब उसकी (प्रगतिवादी) रचना-शैली और रूप-विधान को भी देख लेना चाहिए। प्रगतिवादी साहित्य के लक्ष्य को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उसके द्वारा सर्वहारा शोषित वर्ग का शाश्वत कल्याण-संपादन आवश्यक है। और यह भी आवश्यक है कि काव्य के समाज-चित्रण में शोषित वर्ग का बाह्य जगत् और अंतर्जगत् इस ढंग से चित्रित हों जिससे निर्बल शोषित समाज उत्तेजित होकर संघर्ष करे और उसमें विजय पावे। यह तभी हो सकता है जब काव्य-रचना की शैली, भाषा और अभिव्यक्ति सर्वजन बोध्य हो। जिस जन-समाज के उद्दीपनार्थ साहित्य निर्मित होता है उसके लिए कला का सुबोध्य होना भी अत्यंत आवश्यक है। तभी उसके उद्देश्यों में सफलता हो सकती है। अतएव काव्य की भाषा सरल होनी चाहिए, उक्ति में ऐसी वक्रता न होनी चाहिए जो दुर्बोध्य हो। शैली में गूढ़ता और अस्पष्टता कदापि न रहनी चाहिए। भावव्यंजना ऐसी होनी चाहिए जो साधारणीकृत होकर सर्वहारा समाज की मनोभावनाओं और हृदयानुभूति के मेल में बैठ सके।

अतः प्रगतिवादी काव्य-धारा का द्विविधसाध्य सामाजिक चेतना से प्रेरित दिखाई पड़ता है। उसका वर्ण्य-विषय सुनिश्चित सिद्धांतों, मान्यताओं और आदर्शों के सुस्पष्ट लक्ष्य को लेकर चलता है। उसके पथ में कहीं संदेह अथवा अस्पष्टता का अवकाश नहीं है। एक बात की ओर यहां पुनः ध्यान आकृष्ट करना आवश्यक है। प्रगतिवाद के विषय में इस भ्रांति को आश्रय न देना चाहिए कि उसकी काव्य-धारा सशस्त्र विद्रोह और रक्तक्रांति को लेकर ही चलती है। उसकी उदात्त चेतना मानवता के उदार आदर्शों की पूजा करती है। अत्याचार-पीड़ित और शोषण-निर्दलित मानवता की सच्ची प्रेरणा से वह अनुप्राणित है। दुःख से कराहते हुए मानव के प्रति सक्रिय करुणा की अभिव्यक्ति भी प्रगतिवाद की सीमा के अंतर्गत आती है। पर प्रगतिवादी, अत्याचार के विरुद्ध उत्ते-जना देता है, संघर्ष कराता है और शोषक का विनाश चाहता है। यदि उत्पीड़न का स्रोत ढूँढ़ने पर उसके मूल में वर्ग-स्वार्थ की प्रेरणा दिखाई पड़े तो उसके प्रति प्रगतिवादी धारा निष्क्रिय असंतोषमात्र व्यक्त न कर सक्रिय विद्रोह का मार्ग ग्रहण करती है।

प्रगतिवाद के उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि इसकी चेतना समाज-वादी है, व्यक्तिवाद के प्रति इसका घोर विरोध है। छायावाद-युग में व्यक्तिगत अनुभूति की जो व्यापक क्रीड़ा दिखाई पड़ी, प्रगतिवाद' उसका घोर विरोध करता है। व्यक्ति-

निष्ठ काल्पनिक अनुभूति का प्रसार प्रगतिवाद की दृष्टि में घोर अपराध है। काव्य के उत्कर्षापकर्ष को वह अनुभूति भी भावाकुल समवेदना की तुला पर न तोल कर सामाजिक यथार्थता की कसौटी पर कसता है। भावसत्य को काव्य के लिए वह आवश्यक मानता है। यह पहले कहा जा चुका है, प्रगतिवादी कवि की दृष्टि में प्रतिबिंबन क्रिया में वस्तु का ज्यों-का-त्यों चित्रण महत्व नहीं रखता। कलाकार की भावचेतना समाजवादी यथार्थ के अनुरूप होने पर ही प्रतिबिंबात्मक काव्य की उपाधि पाती है।

सामाजिक यथार्थवाद—इस सत्य को ठीक ठीक समझने के लिए प्रगतिवाद के शास्त्रीय नाम—'सामाजिक यथार्थवाद' को समझना आवश्यक है। 'सामाजिक यथार्थ-वाद' का तत्व है मार्क्सवादी चिंतन-धारा से पूर्णतः अनुप्राणित, मार्क्स के सिद्धांत और विचार की स्थापना में सहायता देनेवाला साहित्य। अतः सामाजिक यथार्थवाद' के अनुसार साहित्य का आधार है मार्क्सवादी समाज का आर्थिक रूप और उसकी प्रतिष्ठा के मार्क्सवादी साधनों का उद्घोष। इस 'वाद' का मुख्य उद्देश्य है 'पूंजीवादी' वर्ग का नाश तथा समाजवादी व्यवस्था की प्रतिष्ठा। कलाकार में 'सामाजिक यथार्थता के पहलू' को पहचानना तथा 'यथार्थ की सतह के नीचे काम करनेवाली समाज की क्रांतिकारी शक्तियों को पहचान कर' जीवन के उत्थान-मूलक सामाजिक सत्य का चित्रण करना। समाज की वे शक्तियां क्रांति-विधायिनी मानी जाती हैं जिनके द्वारा समाज की पूंजीवादी व्यवस्था समाप्त करके, रक्तक्रांति और हिंसा द्वारा उसका निर्मूलन करके आर्थिक साम्य-मूलक वर्गहीन समाज की स्थापना में सक्रिय सहयोग मिले। जो समाजवादी शक्तियां समाज के आंतरिक क्षेत्र में पूंजीवादी व्यवस्था को विनष्ट करने के प्रयत्न में लगीं हुई है और शोषित वर्ग को अधिकारारूढ़ बनाना चाहती हैं, उनमें प्रगतिवादी का विश्वास आवश्यक है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि सोवियत संघ और अंतर्राष्ट्रीय श्रमिक आंदोलन की वर्द्धमान शक्ति में परिचित होते हुए उसमें पूर्ण निष्ठा के साथ विश्वास करना समाजवादी यथार्थवाद के अनुगामी साहित्यकार के लिए आवश्यक है। उसको इस बात का भी पक्का निश्चय होना चाहिए और उसके काव्य में इसकी अभिव्यक्ति भी होनी चाहिए कि एक दिन समस्त विश्व का अधिकार-सूत्र सर्वहारा वर्ग के हाथों में अवश्य आवेगा। उस समय पूंजीवाद का नाम भी न रहेगा और अन्त में वर्गहीन समाज स्थापित होकर ही रहेगा। अर्थात् 'समाजवादी यथार्थवाद' में समाज की मुख्यता है। उक्त वाद पहले समाजवादी है और तब यथार्थवादी। साथ ही वह पहले समाजवादी है बाद में साहित्य।

इस विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रगतिवाद में समष्टि-चेतना, समाजगत सत्यता और समाजवादी यथार्थता का सर्वाधिक महत्व है। वही मूल प्रेरणा है। व्यक्ति-निष्ठ कल्पना और अनुभूति का इस सिद्धांत में वहीं तक स्थान है जहां तक वह समाजवादी यथार्थता का उद्बोधन करती है।

बात चल रही थी शैली-शिल्प की सरलता के विषय में। छायावाद-युग की अनु-भूतिगत, वैयक्तिकता, विषयी की अतिप्रधानता, दूरारूढ़ कल्पना, भाषा की दुरूहता को छोड़कर सरलता अपनाने का प्रबल आग्रह प्रगतिवादी कवियों में दिखाई देता है। पर

इस प्रसंग में यह स्मरण रखना चाहिए कि अभिव्यक्ति की सरलता के चक्कर में उत्कृष्ट कवियों की, पंत जैसे भावसिद्ध कवियों की, रचना में भी वर्णनात्मकता, प्रचारात्मकता या इतिवृत्तात्मकता के दर्शन प्रचुर मात्रा में होने लगे। यह न भूलना चाहिए कि यदि काव्य-सर्जना में से भावसंपत्ति निकाल दी जायगी तो काव्य का काव्यत्व प्रतिष्ठाहीन हो जायगा। अतः काव्य में सरलता आवश्यक तो है पर उसके इस गुण के साथ साथ उसमें भाव-संपत्ति एवं काव्यात्मक रमणीयता भी आवश्यक है। इस युग में 'सुमन', 'नागार्जुन' नरेंद्र, 'पंत' 'रांगेयराघव' 'रामविलास शर्मा' आदि ने भावमयी सरलता में सफलता प्राप्त की। किंतु प्रचारवाद की आंधी में या बुद्धिवादी विश्लेषण के चक्कर में पड़कर अधिकांश कवियों ने कविता की भावगत चारुता की उपेक्षा की। परिणामस्वरूप इस युग में काव्य-कला का कुछ अंशों में ह्रास हुआ छायावाद युग में बच्चन और नेपाली आदि की रचनाओं में शैलीगत जिस सरलता के साथ-साथ भावगत गंभीरता का सुघर संयोग होने लगा था, प्रगतिवाद युग ने उस सहज विकास को बहुत बड़ी हानि पहुँचाई।

प्रगतिवाद, काव्य के वर्ण्य विषय की सीमा को संकुचित करता है, अपनी दृष्टि से केवल 'समाजवाद' को ही 'काव्यसत्य' समझता है। यह विचार-संकीर्णता ही है। काव्य केवल विशेष विचारधारा की ही संपत्ति बने, उसमें 'मार्क्सवाद' मात्र के सिद्धांत का प्रतिपादन हो—यह कवि के लिए कठोर बंधन है। काव्य का अपना मूल्य है, साहित्य की अपनी स्वतंत्र सत्ता है। काव्य की अनुभूति लोकानुभूति को लेकर चले—यह आवश्यक है। किंतु लोकानुभूति 'समाजवादी यथार्थवाद' का अनुगमन करनेवाली ही हो—यह साहित्यिक अधिनायकवाद साहित्य के स्वतंत्र विकास का बाधक है। 'मार्क्सवादी यथार्थवाद' भी काव्य विषय को देखने और काव्यांकन करने का आधार हो सकता है। यहाँ तक तो कोई आपत्ति नहीं है। पर केवल 'वह ही' सब कुछ है—इसे स्वीकार नहीं किया जा सकता। यह मनोवृत्ति घोर अनुदारता की परिचायक है। व्यावहारिक दृष्टि से अनेक प्रगतिवादियों ने स्वयं विषयगत इस बंधन को नहीं अपनाया। 'पंत' जी आज 'स्वर्णधूलि' 'स्वर्ण-किरण' और 'उत्तरा' में अरविंद की आध्यात्मिकता से प्रभावित होकर 'वह ही' के सिद्धांत का तिरस्कार कर चुके हैं। अन्य कवि भी अपने को उस शृंखला से बांध सकने में असफल दिखाई देते हैं।

'समाजवादी यथार्थ' की दृष्टि का समर्थन करने वाले कलाकारों ने बहुधा, यह नहीं देखना चाहा कि हमारे समाजवाद के अनुरूप कौन सी चेतना यथार्थता-संपन्न हो सकती है। देश, काल और संस्कृति के अनुरूप यथार्थता का स्वरूप समझना आवश्यक होना चाहिए। अपनी अवस्था की उपेक्षा करके 'रूस' या 'चीन' की चर्चा ही लाभदायक नहीं हो सकती है। 'लाल-रूस' की कीर्तिगाथा में अपने को कृतकृत्य समझना—कवि-कर्म की सीमा नहीं हो सकती।

कवि के लिए यथार्थ भूमि अपने आसपास भी हो सकती है और काव्य का, उत्तम काव्य रचना का वर्ण्य-विषय तथा कथित समाजवादी यथार्थ अनुभूति से अतिरिक्त भी हो सकता है। 'वाद' के विवाद में साहित्य की स्वतंत्र सत्ता और काव्य के चिरंतन सत्य को

भूल नहीं जाना चाहिए। 'प्रचार और अंध विश्वास'—इनके खतरे से बचना आवश्यक है।

कुछ प्रगतिवादी रचनाओं में कुछ असाहित्यिक और कुछ अश्लील प्रवृत्तियां भी चल पड़ीं हैं। काव्य में ही नहीं, कथा और उपन्यास आदि में कामवासना, नग्न प्रेम, अश्लील आकर्षण आदि का पर्याप्त चित्रांकन हुआ है। यथार्थ के नाम पर अश्लील नग्नता का अनुसरण, कदाचित् यौन वासना की अभिव्यक्ति हैं। इसी भांति कभी-कभी जुगुप्सात्मक चित्र भी अंकित किए गए हैं। 'प्रगतिवाद' की प्रगतिशीलता ग्राह्य है, पर उसकी कट्टरता, संकीर्ण वृत्ति, साहित्य के क्षेत्र में, कला के क्षेत्र में बहिष्कार्य है। इनके कारण साहित्य का सहज विकास अवरुद्ध हो गया। यदि प्रगतिवाद की इस कट्टरवादिता का प्रभाव हिंदी काव्य के क्षेत्र में चतुर्दिक् व्याप्त न हुआ होता तो कदाचित् हिंदी कविता अपने सहज क्रम में विकसित हुई होती। फिर भी यह संतोष का विषय है कि अब बहुत से प्रगतिवादी साहित्यकार और आलोचक प्रगतिवाद के शुद्ध साहित्यिक स्वरूप का महत्व समझने लगे हैं। साहित्य के क्षेत्र में मार्क्सवाद की दृष्टि किस अंशतक ग्राह्य है और साहित्य-रचना-शिल्प तथा साहित्यिक चारुता के साथ उसका कैसा सामंजस्य होना चाहिए—इसका विचार करने लगे हैं।

३—प्रयोगवाद (ग)

वाद का आरंभ—हिंदी-काव्य-क्षेत्र में प्रयोगवाद शब्द उस समय आलोच्य विषय बना जब 'अज्ञेय' जी के संपादकत्व में 'तारसप्तक' प्रकाशित हुआ। इसका प्रकाशन सन् १९४३ ई० में हुआ था। 'तारसप्तक की भूमिका से ही ज्ञात होता है कि दो वर्षों पूर्व ही उस योजना का किसी न किसी रूप में सूत्रपात हो चुका था। पर सन् १९४३ ई० में 'तारसप्तक' के प्रकाशित होने पर उसकी भूमिका ने काव्य के प्रति एक नयी दृष्टि की घोषणा की। भूमिका में 'प्रयोग' और 'प्रयोगशील' शब्दों पर अत्यधिक जोर होने के कारण आलोचना-क्षेत्र में इस काव्यधारा की संज्ञा 'प्रयोगवाद' चल पड़ी।

'तारसप्तक' के संपादक अज्ञेय जी ने अपनी भूमिका में लिखा है - 'सातो कवि (तार सप्तक के) एक दूसरे से परिचित हैं। ..किंतु इससे यह परिणाम न निकाला जाय कि वे कविता के किसी स्कूल के कवि हैं, या किसी साहित्य-जगत् के, किसी गुट अथवा दल के सदस्य या समर्थक हैं। बल्कि उनके तो एकत्र होने का कारण यही है कि वे किसी मंजिल पर पहुँचे हुए नहीं है, अभी राही हैं—राही नहीं, राहों के अन्वेषी। उनमें मतैक्य नहीं है—सभी महत्वपूर्ण विषयों पर उनकी राय अलग-अलग है—जीवन के विषय में, समाज और धर्म और राजनीति के विषय में, काव्य वस्तु और शैली के, छंद और तुक के कवि के दायित्वों के प्रत्येक विषय में उनका आपस में मतभेद है।' आगे चल कर उन्होंने कहा है—'काव्य के प्रति एक अन्वेषी का दृष्टिकोण उन्हें समानता के सूत्र में बाँधता है।' उन्होंने वहीं पर यह भी स्वीकार किया कि उक्त संग्रह की सब रचनाएँ न तो 'प्रयोगशीलता' के नमूने हैं और न रूढ़ियों से अछूती हैं। उनका जोर केवल इसी बात पर है कि 'सातों सत्य के अन्वेषी' हैं।

इस वक्तव्य में अनेक बार 'प्रयोग' और 'प्रयोगशील' शब्द के आने के परिणाम-

स्वरूप इन्हें 'प्रयोगवादी' कहा जाने लगा और 'अज्ञेय' जी इस वाद के नेता मान लिए गए।

आलोचकों ने 'प्रयोगवाद' नाम को लेकर इस काव्यधारा की आलोचना-प्रत्यालोचना प्रारंभ की। वाद-विवाद चल पड़ा। द्वितीय सप्तक के प्रकाशित होने पर उसकी भूमिका में इस नवीन काव्य धारा की सैद्धांतिक दृष्टि के विषय में 'अज्ञेय' जी ने स्थिति-स्पष्टीकरण की चेष्टा की। वे चाहते हैं कि 'दूसरा सप्तक' के कवि पूर्वग्रह-पुष्ट आलोचना-दृष्टि के शिकार न बने। अतः इस संबंध में उन्होंने अपने विचारों की घोषणा बड़े स्पष्ट और निर्भीक शब्दों में की।

वे कहते हैं--'प्रयोगवाद कोई वाद नहीं हैं। हम वादी नहीं रहे हैं--नहीं हैं। न प्रयोग अपने आपमें इष्ट या साध्य है। ठीक इसी तरह कविता का भी कोई वाद नहीं है, कविता अपने आपमें इष्ट या साध्य नहीं है। हमे प्रयोगवादी' कहना उतना ही सार्थक या निरर्थक है जितना हमें कवितावादी कहना।" फिर भी काव्य-क्षेत्र में रचना-शिल्प, वर्ण्य-विषय और जीवन-दृष्टि के प्रति नवीन प्रयोगात्मक आग्रह को देखकर काव्यालोचन के क्षेत्र में प्रयोगवाद आलोच्य विषय बन गया।

प्रयोगवाद का आरम्भ—छायावाद की कविता में अभिव्यक्त अनुभूतियाँ, जीवन की वास्तविक और बाह्यभूमि से दूर पड़कर काल्पनिक और प्रतिभासिक मनोलोक में विचरण करने लगीं थीं। उक्त धारा की काव्यानुभूतियां जीवन की अनुभूतियां न होकर कलाकार की कल्पनामयी आंतरिक अनुभूतियाँ होने लगीं थीं। युग और जीवन की प्रतिध्वनि का वहां बहिष्कार दिखाई पड़ने लगा था। अतः जनसामान्य के हृदय में उन रचनाओं से साधारणीकृत अनुभूतियों का काव्यास्वादन नहीं हो पाता था। फलतः युगचेतना और जनानुभूति से अनुप्राणित कलाकार के मानस में छायावादी काल्पनिक छायात्मकता के प्रति प्रतिक्रिया उत्पन्न हुई। वह जीवन, युग और जगत् की हलचलों, आंदोलनों, विचारधाराओं और चिंतनों से प्रभावित हुआ। छायावादी वायवीय छायात्मकता की इसी प्रतिक्रियास्वरूप प्रायः साथ ही साथ काव्यक्षेत्र में प्रयोगवाद और प्रगतिवाद—दोनों का अवतार हुआ।

वस्तुतः प्रगतिवाद और प्रयोगवाद—दोनों ही ढंग की कविताएँ छायावादी काव्यधारा के प्रति विद्रोहात्मक भावना से प्रायः साथ ही साथ उद्भूत हुई। दोनों ने नए प्रयोग किए और नयी काव्यदृष्टि उपस्थित की। यद्यपि आरंभ में 'प्रगतिवाद' के प्रति स्पष्ट सैद्धांतिक दृष्टि के न रहने से दोनों प्रकार की रचनाएँ प्रगतिवादी ही कही जाती थीं, तथापि दोनों प्रकार की काव्य-चेतना के विषय में आज दृष्टि स्पष्ट हो जाने से आरंभिक कविताओं की पृथक्ता स्पष्ट हो जाती है। और इस दृष्टि से विचार करने पर यह कहा जा सकता है कि प्रयोगवादी ढंग की रचनाओं का प्रणयन कदाचित् छायावाद-युग के अंतिम दिनों में होने लगा था—यद्यपि दोनों प्रकार की रचनाओं में विभाजन-रेखा स्पष्ट नहीं हो पाई थी। तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं के विवेकपूर्ण अध्ययन से यह स्पष्टतः देखा जा सकता है। 'तार सप्तक' में संकलित अनेक कृतियां 'तारसप्तक' के प्रकाशन से अनेक वर्ष पूर्व की रचनाएँ हैं।

छायावाद की प्रतिक्रिया-स्वरूप उद्भूत इन दो क्रांतिकारी काव्यधाराओं की भेदकता आगे चलकर स्पष्ट हो गई। 'प्रगतिवाद' सामूहिक भावचेतना की अभिव्यक्ति में प्रयत्नशील था और प्रयोगवाद में अंतर्मन की व्यक्तिनिष्ठ वा व्यक्तिवादी भावचेतना के अभिव्यंजन का प्रयत्न दिखाई पड़ा। एक पर मार्क्स का प्रभाव सर्वप्रमुख था तो दूसरे पर फ्रायड, इलिएट एवं नए पाश्चात्य प्रतीकवादी व्यक्तिवादी कवियों का। एक में विषय का वैविध्य और विस्तार दिखाई पड़ा तो दूसरे में आरंभ की रचनाओं में अपेक्षाकृत दृष्टि से विषय-संकोच दृष्टिगोचर हुआ। विषय-संकोच के कारण तथा मन की उलझी हुई भावनाओं के नूतन अभिव्यंजन में प्रयत्नशील होने के कारण ऐसे कवियों की दृष्टि शैली-शिल्प पर अधिक टिकी। फलतः नये-नये प्रयोग होने लगे। शैली-शिल्प एवं रचना-शिल्प के प्रति प्रयोगशील होने के कारण इन्हें प्रयोगवादी कहा जाने लगा।

'तारसप्तक' की भूमिका से यह ध्वनित होता है कि प्रयोगवादी कवि अपने को दलगत राजनीति से पृथक् रखने के लिए प्रयत्नशील हैं। प्रगतिवादी साहित्यकारों की भाँति साहित्य में 'मार्क्सवाद' या अन्य किसी राजनीतिक वाद को आवश्यकता से अधिक प्रश्रय देकर साहित्य-क्षेत्र को दलगत राजनीतिक मंच नहीं बनाना चाहते।

कदाचित् दलगत राजनीति को देशकाल की हलचल की उपेक्षा करके सर्वप्रमुख न बनाने में तत्कालीन देश की राजनीतिक स्थिति भी कारण था। भारत में उस समय देश की स्वतत्रता के लिए भीषण विद्रोह और क्रान्ति की भावना लहरा रही थी और विश्व भी युद्धकी भीषण ज्वाला में जल रहा था। भारत के विद्रोह का दमन करने के लिए अंग्रेजी शासन कठोर चक्र चला रहा था। रूस पर जर्मनी का आक्रमण हो जाने के अनंतर रूस अंग्रेजी-अमेरिकी गुट के साथ मिलकर हिटलर को पराजित करने के प्रयास में संलग्न था। समस्त विश्व के 'प्रगतिवादी' रूस के साथ अपनी सहानुभूति व्यक्त करने में व्यस्त दिखाई दे रहे थे।

भारत की भीषण जनक्रान्ति के साथ-साथ भारत का प्रश्न, अपने लिए सर्वप्रमुख समस्या हो गई थी। विश्व-राजनीति में अंग्रेजी-गुट चूकि रूस के साथ हो गया था, और भारत के विद्रोह से अंग्रेजी शक्ति को धक्का लग रहा था, अतः रूस की सहानुभूति अंग्रेजों के साथ और भारत के विरुद्ध थी। इसके परिणाम-स्वरूप भारत की कम्युनिस्ट पार्टी और उससे संबद्ध 'प्रगतिवादी' साहित्यकार अंग्रेजी नीति के समर्थक और भारतीय जन-संग्राम के असंतुष्ट आलोचक हो गए थे। इस कारण 'प्रगतिवाद' की कट्टर कम्युनिस्ट धारा भारत-विरोधी भावों को लेकर चल रही थी। दलगत कट्टरता से दूर रहनेवाले देशभक्तों और साहित्यिकों के मन में कम्युनिस्टों और प्रगतिवादियों की नीति के प्रति एक प्रकार की जुगुप्सा उद्भूत हो गई थी।

विचारक समझने लगे थे कि यह काव्यधारा भारतीय समाज और जीवन के हिताहितों की चिन्तना में उतनी व्यस्त नहीं है, जितनी चिन्ता उसे 'लाल रूस' के कल्याण की है। देश की भीषण क्रान्ति-ज्वाला के प्रति, क्रान्ति का कोलाहल करनेवाले प्रगति-वादियों का सहयोग कौन कहे, सहानुभूति भी नहीं थी। अतएव विचारकों और साहि-

त्यिकों का एक वर्ग जाने-अनजाने ऐसे दलगत बंधनों को देश-हितका बहुत बड़ा बाधक समझने लगा था।

'प्रयोगवाद' के स्पष्टतः पृथक्-भवन में कदाचित् दलगत प्रगतिवादी कट्टरता के इस विकृत रूप की प्रतिक्रिया भी कुछ काम कर रही थी। चिन्तक और बुद्धिवादी प्रयोगशील साहित्यकार अपने चेतन या अचेतन मन में समझने लगे थे कि ऐसा 'प्रगतिवाद', जो देश के उत्थान और स्वातंत्र्य-संघर्ष में बाधक हो—त्याज्य है। उन्होंने दलकी नीति का अन्धानुसरण वैयक्तिक बुद्धि और विवेक को ताक पर रखकर करना असमीचीन समझा।

प्रयोगवादकी प्रवृत्तियाँ—अतएव इस काव्य धारा में, अंशतः छायावाद और अंशतः प्रयोगवाद—दोनों की प्रतिक्रिया के लक्षण दिखाई देते हैं। भाव-क्षेत्र में छायावादी कवि में अतीन्द्रिय, सूक्ष्म और कल्पना-प्रसूत सौन्दर्य की जिस अमूर्त्त मूर्त्ति की उपासना की प्रवृत्ति थी, प्रयोगवाद में वस्तुगत मूर्त्त और प्रत्यक्ष सौन्दर्य की उपासना के रूप में उसकी प्रतिक्रिया साकार हुई। सौन्दर्य-सत्ता में जिस 'सुकुमारता' कोमलता, मृदुता और मंजुलता' के उपकरणमात्र मूर्त्ति-निर्माता थे, वहाँ प्रयोगवादी कवि पुरुष, अपरिष्कृत (भदेस और अनगढ़) को अधिक आसक्ति के साथ अपनाने लगा। वर्ण्य-विषय ही नहीं, रचना-शिल्प और शैलीशिल्प में भी अनगढ़ और प्रचलित भाषा के अपभ्रंश शब्दों को उपकरण और माध्यम बनाया जाने लगा।

प्रयोगवादी मानते हैं कि सौन्दर्य-चेतना एक 'गत्यात्मक (डाइनामिक) भाव-स्फूर्ति है जो व्यापक और प्रसरणशील है। उसकी व्याप्ति सीमा के अंतर्गत मधुर-कोमल से लेकर परुष-कठोर और अपरिष्कृत-अशोधित, सभी कुछ आ जाता है। इस व्याप्ति-मान्यता के परिणामस्वरूप भावों के क्षेत्र एवं विषय में और अभिव्यंजन-प्रक्रिया में—उभयत्र शिष्ट और परिष्कृत विषयों के साथ-साथ नग्न सत्य के अपिरिष्कृत सत्य, साहित्य के वर्ण्य वनकर हमारे सामने आने लगे। दूसरी ओर भाषा भी मनमानी और स्वच्छन्द होकर, साहित्य और काव्य की, मर्यादा और अभिव्यक्ति-क्षमता का विना विचार किए अभिव्यक्ति का माध्यम बनने लगी। जिसका परिणाम यह हो जाया करता है कि विषयगत भदेसपनत के साथ-साथ शैली भी कभी-कभी बहुत ही असाहित्यक हो उठती है।

छायावाद की उस प्रवृत्ति का भी विरोध इस प्रणाली में लक्षित होता है जिसके अनुसार छायावाद का कवि भौतिक सत्य को तिरोहित करके अत्मकल्पना के अन्तर्लोक में विचरण करने लगता है। 'प्रयोगवादी' अपने जीवन और चारों ओर फैले हुए जगत् को जागरूक होकर देखना चाहता है, उसका निरीक्षण-परीक्षण करना चाहता है और फिर उसका महत्व स्थिर करना चाहता है।

आधुनिक मनोविज्ञान और मनोविश्लेषण के प्रकाश में वह विश्लेषण का समर्थन करता है। 'विकासवाद' के सिद्धान्तों की दृष्टि से निरंतर विकासशील मानव और उसके जीवन को समझना चाहता है। विज्ञान के द्वारा उद्घाटित सत्य को जीवन के साथ वह संगमित करना चाहता है। फ्रायड जुंग और एडलर की यौन-विज्ञान संबंधी दृष्टि और नवीन-

तम मान्यताओं को आधार बनाना चाहता है और मार्क्स के जीवन-दर्शन की भी अनेक मान्यताएँ—विश्वबंधुत्व का आदर्श, पूँजीवादी व्यवस्था की शोषकता, साम्राज्यवादी व्यवस्था की स्वार्थपरता, पीड़ित और शोषित वर्ग के उत्थान और उनके अधिकारों की प्रतिष्ठा आदि अनेक बातों में वह समाजवादी मनोधारा का अनुगामी है। यहाँ तक तो हुई छायावादी मनोवृत्ति की प्रतिक्रिया के कुछ प्रमुख रूप। अब संक्षेप में 'प्रगतिवाद' की प्रतिक्रिया के परिणामों को भी देख लेना चाहिए।

'प्रयोगवादी' साहित्यकार बुद्धिवादी होता है। वह किसी दल या संप्रदाय के संकेतों पर नाचने वाला न हो पर स्वयं आलोचन-प्रत्यालोचन द्वारा जिस निष्कर्ष पर पहुँचता है—उसी का अनुगमन करता है। फलतः कट्टर प्रगतिवादियों के समान रूसकी घोषणा उसके लिए अटल सिद्धान्त नहीं बनती है। वह अपनी बुद्धि पर भी कुछ भरोसा रखता है और आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के प्रकाश में वस्तु-सत्य की स्वबुद्धि-अनुमोदित मान्यता अपनाता है। प्रयोगशील कलाकार अंधानुसरण और गतानुगतिकता का विरोधी है। वह मानता है कि देश-काल-संस्कृति—इन सबके प्रभाव से समुद्भूत परिस्थितियाँ भिन्न-भिन्न होती हैं और तज्जन्य समस्याएँ भी भिन्न-भिन्न। ज्ञान-विज्ञान के नित नए अनुसंधान हमारे सामने दिन-प्रतिदिन नयी मान्यताओं और तथ्यों का उद्‌घाटन कर रहे हैं। अतः जैसे मनु की आज्ञा का आज अन्धानुसरण करना अत्यंत असंगत है, उसी प्रकार एँजिल या मार्क्स के वक्तव्यों का भी अक्षरशः अनुगम या प्रतिपादन घोर रूढ़िवादिता है। इस नयी दृष्टि के परिणाम-स्वरूप जहाँ प्रगतिवाद में सामाजिक चेतना का महत्व स्वीकृत है, समष्टि के संमुख व्यष्टि का कोई महत्व नहीं है, वहाँ प्रयोगवाद व्यक्तिवाद का समर्थक है। व्यक्ति की अनुभूति, व्यक्ति का आत्मचिंतन और व्यक्ति का विवेचन, प्रयोगवादी दृष्टि से जागरूकता के लक्षण हैं, कवि को यांत्रिकता से बचाने का मुख्य उपाय है।

व्यक्तिवादी होने का प्रयोगशील यह अर्थ नहीं मानता कि वह समाज को कोई महत्व नहीं देता। वह समाज और उसके कल्याण-विधान के प्रति सदैव जागरूक रहता है। पर प्रगतिवादियों के समान वह किसी विचार-धारा या सिद्धांत से बँधकर चलने को श्रेयस्कर नहीं मानता। वह जहाँ छायावादी मान्यताओं की ओर विद्रोहात्मक दृष्टि से देखता है वहीं प्रगतिवाद की रूढ़ियों को भी अगत्वर और कट्टर समझता है। कट्टरता का वह प्रबल विरोधी है। वास्तविक जीवन की उपेक्षाजन्य छायावादी कुंठाओं और काल्पनिकताओं का वह विद्रोही है और 'प्रगतिवाद' की गत्यवरोधक सैद्धांतिक कट्टरता का तिरस्कर्ता है। इसमें छायावादी काल्पनिकता के स्थान पर जीवन की ठोस भूमि पर खड़ा होने का प्रयास है और रूस के संकेत पर आँख मूँदकर चलने के स्थान पर बुद्धिपुष्ट विचारशीलता के सहारे पथ-निर्णय की प्रेरणा है।

प्रयोगवाद की विशिष्ट पद्धति—इन परिस्थितियों और प्रेरणाओं को लेकर व्यक्तिवादी बुद्धिशील प्रयोगवादी अपने काव्य के वर्ण्य विषय और शिल्पशैली, दोनों पक्षों में नवीन प्रयोगों और अन्वेषणों के प्रकाश में राह पर बढ़ना चाहता है। वह मानता है कि आज जीवन विशृंखल और अव्यवस्थित है, जीवन-मूल्य अस्थिर और विवादग्रस्त है,

राजनीतिक आदर्श अनिर्णीत हैं, सांस्कृतिक चेतना संशयग्रस्त है, दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक और आर्थिक मान्यताएँ स्थैर्य प्राप्त नहीं कर पा रही हैं। आज भौतिक दर्शन या अध्यात्म-दर्शन मानव विश्वास को निष्ठवान् बनने में असमर्थ हो रहा है। प्रयोगवादी कवि इस हलचल और अव्यवस्था की स्थिति में सम्हल-सम्हल कर चलना और पथ ढूँढ़ना चाहता है।

इसी से उसका वर्ण्य विषय छायावाद युगीन वर्णन-सा काल्पनिक एवं मानसिक-मात्र नहीं रह सकता। वह परिस्थितिगत सत्यवस्तु को लेकर चलना और ज्वलंत प्रश्नों का समाधान ढूँढ़ना चाहता है। इस कारण उसके वर्ण्य विषय के अंतर्गत, वर्त्तमान जीवन के सभी अंग सुघटित या अनगढ़, शिष्ट या भदेसपनवाले, कोमल और परुष सभी वस्तु आ जाती है। परिस्थिति की नित्य नवीनता और प्रश्नों की परिवर्त्तनशीलता के कारण नये-नये प्रश्न, नयी-नयी उलझनें सामने आती रहती हैं। उन सबका संग्रह और समाधान करना है। विज्ञान, मनोविज्ञान, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र आदि के अनुसंधान निरंतर चल रहे हैं और नये सिद्धांतों, शक्तियों और मान्यताओं को सिद्ध कर रहे हैं। इस कारण पुराने वर्ण्य-विषयों से आगे बढ़कर इन सबको, सुघटित या अनगढ़, सभी रूपों के साथ अपनाया और उनके प्रति जागरूक, बुद्धि का परिचय देना कलाकार का कर्तव्य है। उसकी दृष्टि जीवन और जगत् के प्राप्ति अधिक से अधिक जागरूक, अधिक से अधिक वस्तुपरक होनी चाहिए। उसमें कल्पना और भावना की तूलिका को रंग भरने और रूपांतरित करने का अवकाश न दे।

कल्पना-प्रधान छायावादी अभ्यास के वातावरण में यह कर्त्तव्य-निर्वाह दुष्कर कार्य है। कुछ ही प्रयोगवादियों (कवियों) को इसमें सफलता मिली है, वह भी अभी आंशिक रूप से। स्वयं अज्ञेय जी भी मनोविश्लेषण-शास्त्र की प्रभाव-व्याप्ति से ग्रस्त होने के कारण वैयक्तिकता के स्पर्श को बचाने में पूर्ण समर्थ नहीं हो पाते। इस पद्धति में एक और असफलता आ जाती है। विशेष की प्रत्यक्षानुभूति के अभिव्यंजन का आग्रह साधारणीकरण का बाधक हो जाता है। कवि के भावांश अव्यवस्थित रहते हैं, अतः अव्यस्थित और असमर्थ प्रतीकों द्वारा उनका अंकन करने में उसकी अभिव्यक्ति पूर्णतः स्पष्ट नहीं हो पाती। क्योंकि श्रोता या पाठक के अंतर में स्थित अभिप्रेत भावांश की अभिव्यक्ति का प्रयास नहीं करते वरन् किसी भिन्न भवांश का उद्बोधन करना चाहते हैं। फलतः प्रयोगात्मक असमर्थ प्रतीक से अभिप्रेत सफलता दूर रह जाती है। कृति में काव्य-गत चारुता और प्रेषणीयता का सर्जन नहीं हो पाता। गहन बौद्धिकता का तमःपटल उनको आच्छादित कर देता है।

शैली-शिल्प के विधान में भी इनका आग्रह नवीन प्रयोगों की ओर रहता है। ये मानते हैं कि प्राचीन शब्द, वाक्य और मुहाविरे निरंतर प्रयोग के कारण धीरे-धीरे रूढ़ात्मक हो जाते हैं। उनकी नवनवोन्मेषवती व्यंजकता परंपराभुक्त होकर रुद्धगति हो जाती है। अतः नवीन वस्तु की, नवीन भाव-जटिलता की, नवीन ग्रंथि और नवीन समस्या की, मूर्त्ति-स्थापना में उनसे काम नहीं चलता। अतः नवीन शब्दों, वाक्यों, प्रतीकों, उपमानों और व्यंजनाओं का प्रयोग करना आवश्यक हो जाता है।

परिणामतः भाषा का प्रयोग अत्यंत वैयक्तिक हो उठता है। व्यक्तिगत आग्रह के वशीभूत होकर शब्दों में नयी शक्ति, नयी व्यंजना भरने के प्रयास में वह पुरातन शक्ति भी खो बैठता है। अपर्याप्त विराम-संकेतों, सीधी-तिरछी लकीरों और नाना टाइप (मुद्रण के) की शरण कवि लेकर वह अपना नया प्रयोग करना और उनसे अर्थबोध कराना चाहता है। नये छंदों का विधान भी करता है, छंदों की स्वानुरूप अप्रचलित योजना में दत्त चित्त होता है। फलतः अनेक प्रकार के नये प्रयोगों का आधार लेकर वह अपनी शैली को बहुधा अजायब-घर बना देता है।

अर्थ बोधन के इन नये शिल्पों की अर्थबोधकता के व्यवहाराभुक्त होने के कारण इनके द्वारा भाव-प्रेरणा और अभीष्ट चित्रांकन में असफलता ही बहुधा हाथ लगती है। इन अस्त-व्यस्त उपादानों को लेकर चलने के कारण उसकी नव-प्रयुक्त शैली और नूतन छंदोविधान से काव्यात्मक चारुता का ह्रास और गद्यात्मक नीरसता का रूप खड़ा हो जाता है। कविता में दुरूहता आ जाती है। इस दुरूहता के कारण हैं काव्यानुभूति और भावांश के बीच राग-संबंध के स्थान पर बुद्धि-संबंध का प्रयोग, साधारणीकरण की प्रणाली से दूर चले जाना, अचेतन मन की अनुभूति के टुकड़ों के यथावत् चित्रण का अत्याग्रह तथा शिल्पशैली का मनःकल्पित असमर्थ प्रयोग।

फलतः अपनी रागात्मक वृत्तियों को वह सवेदनशील नहीं बना पाता, बौद्धिक तत्वों को (जो काव्य-संवेदना का विषय तभी हो सकते हैं जब रागात्मक तत्वों के माध्यम से चलें) वह संवदेनीय बनाने के असफल प्रयास में उलझा रह जाता है। न तो इस प्रकार अर्थ ही स्पष्ट हो जाता है और न स्पष्ट होने पर भी मानव-मर्म का स्पर्श कर पाता है। अचेतन मन की उलझी हुई चेतनाएँ भी उलझी ही रह जाती हैं। क्योंकि उसका माध्यम और उसकी शैली—दोनों ही असमर्थ हो जाती हैं। रागात्मक तत्वों में साधारणीकरण-जन्य प्रेषणीयता के अभाव के फलस्वरूप उसकी अभिव्यक्ति गद्योपदेश जैसी बहुधा हो जाती हैं। भाषा भी प्रयोग-प्रचलन के बिना ईप्सित अर्थ-वहन में असमर्थ सिद्ध होती है।

इस प्रकार प्रयोग-करण के पीछे काव्यानुभूति और साहित्यिक संवेदना, रागात्मक विवृति, जन प्रेषणीयता और समर्थ शैली-विधान का काव्योचित संघटन और संयोजन करने में बहुधा प्रयोगवादी कवि असमर्थ रहता है। सिद्धांततः उसकी मान्यताएँ युग के ज्ञान-प्रकाश (विकासवाद, मनोविज्ञान और मनोविश्लेषण, भौतिक विज्ञान से उद्घाटित सत्य और मार्क्स की आर्थिक वैषम्योच्छेदक मान्यता) में वर्तमान के निर्माण-प्रयास का साधक बनना चाह कर भी अपने प्रयोगों के कारण काव्य में प्रायः असफल ही रह जाती है।

सर्वेक्षण (तृतीय-उत्थान, प्रथम महायुद्ध के बाद से)—ऊपर की पंक्तियों में यह बताया जा चुका है कि द्विवेदी-युग के अनंतर प्रगीत मुक्तकों का युग चला। लगभग १९१८ ई० से अबतक इन प्रगीत-मुक्तकों की परंपरा चली आ रही है। पर जैसा कहा जा चुका है, सन् १९३८ तक छायावादी प्रगीत मुक्तकों की बहुलता रही। यद्यपि इस छाया-वादी काव्य-धारा के साथ-साथ राष्ट्रीयता और देशभक्ति की रचनाओं का क्रम एक ओर

चलता रहा और दूसरी ओर 'गुप्त बंधुओं तथा भक्त जी, श्यामनारायण जी आदि द्वारा प्रबंधात्मक काव्य भी निर्मित होते रहे, तथापि प्रमुखता छायावादी रचनाओं की रही।

इसी प्रवाह के अंतर्गत, छायावाद की एक विशिष्ट धारा के रूप में 'रहस्यवादी' कविताएँ भी लिखी गईं। छायावादी परंपरा में सहज कुतूहल या जिज्ञासा के रूप में थोड़ी बहुत रहस्य-चेतना सामान्यतः अनेक कवियों या प्रायः सभी कवियों में दिखाई देती है। पर जब कवि की अभिव्यक्ति का आधार रहस्यात्मक अलक्ष्य सत्ता हो जाती है, तब उसे हम 'रहस्यवाद' की संज्ञा देने लगते हैं। उदाहरण के लिए महादेवी जी की कविताओं को हम ले सकते हैं। उनकी अधिकांश कृतियों में जिस रहस्यात्मक प्रेम के विभिन्न पक्षों की, विशेषतः वियोग एवं उसकी वेदना, पीड़ा, ज्वाला तथा ताप आदि की भावाभिव्यक्ति हुई है, उसका आलंबन कवि की भावमयी प्रातिभ कल्पना से उद्भावित अलक्ष्य सत्ता है। उस सत्ता के प्रति अनुरागात्मक संबंध की संवेदना को प्रतिष्ठित करके महादेवी जी ने वियोग की विभिन्न परिस्थितियों, भावानुभूतियों और चेष्टाओं का भावाङ्कन किया है। रहस्यवाद में आध्यात्मिकता का पर्दा रहता है, उसमें अनंत और असीम के साथ संबंध-स्थापन की विवृति होती है, भावाकुलता तीव्र होकर प्रेमोन्माद या विरह-मूर्छा का रूप धारण कर लेती है। संसार असीम दिखाई पड़ता है और अंतर्भावना असीम में विलीन होने के लिए विकल रहती है। ससीम उपेक्षित हो जाता है। पर यह रहस्यात्मकता कल्पना और प्रतिभा से ही समुद्भूत होती है। कहने का तात्पर्य यह कि प्रगीत-मुक्तकों की इस छायावादी काव्य-धारा के अन्तर्गत 'रहस्यवादी' (विशुद्ध रहस्यात्मक प्रेरणा को लेकर चलनेवाली) रचनाएँ भी हुईं। छायावाद युग की एक शाखा के रूप में बच्चनजी का हालावाद भी प्रस्फुटित हुआ। इस प्रवाह में, जैसा पहले कहा जा चुका है, कवि की वैयक्तिकता का, उसकी व्यक्तिगत अनुभूतियों का ही प्रकाशन हुआ। उसके राग-विराग से प्रेरित, आंतरिक कल्पनाओं और अनुभूतियों से अनुप्राणित होकर रचनाएँ कलात्मक रूप में प्रकट हुईं। व्यक्तिगत अनुभूति की काव्यात्मक उद्भावना की मुख्यता के कारण छायावाद ने प्रगीत-मुक्तक का मार्ग अपनाया और स्वच्छंद काव्यशैली को, बंधनों से जकड़ी परिपाटी त्यागकर, स्वीकार किया।

(१) कुछ प्रमुख छायावादी कवि—

प्रसाद की आरंभिक रचनाओं में प्रेम की मुखरता और उसकी उदात्त विशालता दिखाई पड़ती है। प्रकृति-प्रेम के प्रति उनका आकर्षण भी लक्षित होता है। प्रकृति की अद्भुत, अनंत सुषमा के प्रति जिज्ञासा और अनुराग के भावों से उनकी कृतियाँ ओतप्रोत हैं। मानव-सौंदर्य और प्रकृति-सुषमा—दोनों के प्रति उनकी अनुराग-भावना में पार्थिव प्रेम, नर-सौंदर्य, यौवन-विलास और मानवीय मूर्त्तिमत्ता की झंकृति सुनाई देती है। जीवन के प्रति एक बौद्धिक और तटस्थ अनुराग का स्वर सुनाई देता है। जीवन से भागने की ध्वनि कभी-कभी यद्यपि सुन पड़ती है तथापि उसकी मूल भावना में जीवन और यौवन के भौतिक उत्कर्ष के प्रति आस्था और उल्लास-युक्त आकर्षण है। दार्शनिक तटस्थता के उच्च आदर्श को लेकर उनकी सौंदर्योपासना, जीवन में सामरस्यपूर्ण संतुलित

प्रवृत्ति-मार्ग की ओर चलना चाहती है। मानव-जीवन के अंतरतम में बहती हुई आनंद धारा को दार्शनिक भूमि के स्पर्श से वे आकर्षणीय देखना चाहते हैं। रूप-वर्णन में मांसल चित्रों का अंकन करने में उनकी कल्पनामयी भावुकता को अपूर्व साफल्य मिला है। गीतों में भावना, मृदुता और अनुभूतियों की त्रिवेणी बहती है। काव्य में कल्पना अवश्य-मेव आरंभिक प्रयास के कारण दूरारूढ़ और कभी-कभी अस्पष्ट हो उठी है। भोग और संयम, अधिकार और आत्मार्पण, प्रेम और त्याग का आदर्श-समन्वय उनकी रचनाओं में है। उनकी कविता नवयुग-प्रवर्त्तक है। शैली प्रौढ़ और अभिव्यक्ति प्रगल्भ है। गीतात्मक छंदों की सफल सर्जना उन्होंने की है। स्वच्छंद छंद का भी सफल प्रयोग किया। झरना, आँसू और लहर, उनके प्रमुख प्रगीत संग्रह हैं। 'कामायनी' भी वस्तुतः 'प्रगीत-महाकाव्य' ही है जिसमें मानव-जीवन के संतुलित और मानवीय रूपका चित्र हैं।

पंत की काव्य-भावना मूलतः प्रकृति-प्रेम से, प्रकृत के आश्चर्यमय सौंदर्य-स्रोत से उत्प्रेरित है। प्रकृति की सुषमा के वे भावुकतम कवि हैं। प्रकृति, उनमें बाह्य और आभ्यंतर—द्विविध प्रेरणा का विधान करनेवाली है। उनकी आरंभिक कृतियों में रहस्य-भाव भी प्रकृति की आश्चर्यमयी अनंत सुषमा के प्रति कुतूहलपूर्ण जिज्ञासा से उद्भूत है। नैसर्गिक चित्रों ने उन्हें शक्ति और अंतर्दृष्टि दी है। उनका प्रकृति-सुषमांकन मानव-सौंदर्य से निरपेक्ष हो स्वीयगरिमा में अभिव्यक्त है। जीवन-दर्शन की, मानव के सुखदुःख के प्रति, उनकी काव्य-भावना आरंभ से जागरूक है। उनके काव्य में प्रकृति-विषयक तीन रूप दिखाई पड़ते हैं—शुद्ध, भावरंजित और रहस्योन्मुख।

आरंभ में उनके काव्यनिष्ठ मानव-दर्शन में रामतीर्थ और विवेकानंद का प्रभाव अधिक लक्षित होता है, आगे चलकर गांधीवादी दृष्टि सक्रिय हुई, तदनंतर मार्क्स के जीवन-दर्शन ने उन्हें अभिभूत किया और प्रगतिवादी जीवन-व्याख्या युगांत, युगवाणी और ग्राम्या में मुखरित हुई। स्वर्णकिरण, स्वर्णधूलि और उत्तरा में अरविंद के अध्यात्म-दर्शन का स्पष्ट उद्रेक दिखाई पड़ता है। उनकी काव्य-साधना का विषय आजकल विश्व संस्कृति, विश्व-जीवन और विश्व-मानवतावाद के आदर्श से अनुप्रमाणित है। मानव-जीवन के प्रति उनका यह दृष्टिकोण आरंभ से ही जागरूक रहा। ग्रंथि और पल्लव में इसका आभास मिला, गुंजन में दृष्टि स्पष्ट होकर युगांत और युगवाणी में मार्क्स-दृष्टि से और आगे चलकर अरविंद के प्रभाव से प्रौढ़-चिंतन को व्यक्त करने में समर्थ हुई। प्रगीत-मुक्तक के क्षेत्र में उनकी कला का सर्वतोमुखीन विकास वर्त्तमान है। सामान्यानुभूति को कला-स्पर्श द्वारा काव्यानुरूप रमणीयता से भर देने की उन्हें अद्भुत क्षमता प्राप्त है। वे मुख्यतः सुकुमार भावों के कवि हैं। संगीतात्मक लययुक्त नव-छंदो-विधान, शिल्प-शैली का मधुर पर प्रभावात्मक प्रकाशन, प्रभावमयी अनुभूति का सफल चित्रांकन एवं व्यंजना-पूर्ण भाषा के प्रयोग में वे पूर्ण सफल हैं।

निराला में अद्वैत वेदांत के साथ-साथ स्वामी विवेकानंद और बंगगीतों का (मुख्यतः टैगोर का) प्रभाव होने से उनकी अभिव्यक्ति दार्शनिक दृष्टि से पुष्ट है। उसमें ज्ञान की गरिमा है, चिंतन की प्रौढ़ता है और कवि की भावुकता है, पर साम्प्रदायिक कट्टरता नहीं है। कहीं-कहीं सैद्धांतिक अभिव्यक्ति की रूक्षता झलक पड़ी है। इस कारण

अनुभूति के गत्वर प्रसार का विस्तार अपेक्षाकृत कम है और दार्शनिकता, बौद्धिकता तथा ज्ञान-विवृति आवश्यकता से अधिक। बुद्धि की प्रबलता से कभी-कभी दुर्बोध्यता आ गई है। वे पूर्णतः स्वच्छन्दतावादी हैं, पर व्यक्तिवाद उनमें बहुत अधिक नहीं है। प्रकृति-सुषमा के उद्घाटन में मानवीय साधनों का उन्होंने खुलकर उपयोग किया है। समाज के पीड़ितों और दलितों की ओर उनकी भावुक, करुण सहानुभूति और पीड़क समाज के प्रति क्रांतिपूर्ण विद्रोह की भावना उनकी रचनाओं में वर्त्तमान है। छंदों और मुक्त छंदों के नाना प्रयोग में उन्हें सफलता मिली है। उनके स्वच्छंद छंदों में ओज, बल और प्रगल्भता है। अनामिका, परिमल, गीतिका आदि उनकी भाव-प्रतिभा और रंगीन चित्रात्मकता से पूर्ण रचनाएँ है। पंचबटी, तुलसीदास राम, शक्ति-पूजा में उनकी प्रबंध-पटुता का आभास है। कुकुरमुत्ता, नए पत्ते आदि में रूढ़िमुक्त समाजवादी चेतना है। छायावाद के अंतिम युग से पूर्व ही उनमें नूतन दृष्टि की ओर अग्रसर होने का आभास मिलने लगा था। भाषा में संस्कृत-बहुलता और तज्जन्य कोमलता के साथ-साथ प्रसंगानुरूप ओज एवं प्रगल्भता है। वे एक प्रतिभाशील शिल्पी, विचारक कलाकार एवं क्रांतिशील पथ-प्रदर्शक हैं।

महादेवी जी—वेदना के संवेदन की सबसे निपुण कवियित्री हैं। वेदना को आध्यात्मिक दृष्टि से देखती हैं और दुःख उनके लिए ऐसा जीवन तत्व है जो उन्हें समस्त संसार के साथ एक-सूत्रता में बांध देता है। विश्ववेदना में अपनी वेदना के निमज्जन का उन्होंने प्रयास किया। दुःख के माध्यम से अलौकिक वेदना को समझने का प्रयत्न उन्होंने किया और प्रणय-सूत्र से व्यष्टि की विरहानुभूति को समष्टि तक पहुँचाने की चेष्टा की। सीमाबद्ध जीवन और उसकी अनुभूति को अलक्ष्य असीम से वे जोड़ना चाहती हैं। उनकी रहस्य भावना, कवियित्री की अन्तर्मुखीनता से उद्‌भूत और वेदना से प्रेरित है। उसमें अज्ञात सत्ता के प्रति जिज्ञासा और तज्जन्य प्रेम का योग है। प्रणया-कुलता और वेदना-विधुरता, दर्शनलालसा और मिलन-प्रतीक्षा ने उसे अतीव मनोरम कर दिया है। उस व्यापक सत्ता के आभास का फल आत्मा-परमात्मा का संबंध-स्थापन है। इस संबंध के कारण अनुभूति में तड़प, कसक, टीस, वेदना और विरह-ज्वाला मुखरित हुई है। उनका रहस्यवाद विशुद्ध रहस्यभावना से संवलित है। वह भावात्मक रहस्यवाद है, व्यावहारिक या साधनात्मक नहीं है। अपने इन वैशिष्ट्यों के कारण उनका आधुनिक प्रगीत-मुक्तक-कलाकारों में विशिष्ट और अद्वितीय स्थान है। प्रकृति उनकी वेदना के संवादी स्वरों से मुखरित होकर माधुर्य-सृष्टि में सहायक हुई है। उन्होंने संगीतात्मक छंदों को ही अपनाया है। गीत-विधान शिल्प में वे परम सफल हैं, संगीतमयता की सहज विधात्री हैं, भावपूर्ण भाषापर उनका पूर्ण अधिकार है और अभिव्यक्ति में तीव्र अनुभूतिजन्य प्रभावात्मकता है। इस आधुनिक मीरा में स्वयं चित्रकार होने से भाव-चित्रोत्थापकता भी है। प्रगीत-मुक्तकों के इतिहास को उन्होंने अपनी विशेषताओं से आगे बढ़ाया। नीरजा, नीहार, रश्मि, सांध्यगीत और दीपशिखा, उनके प्रगीत-संग्रह हैं। रहस्योन्मुखता की एकांतिकता के होने पर भी वे युग के प्रति जागरूक हैं। महादेवी जी के संबंध में एक बात की ओर कदाचित् कम लोगों ने ध्यान दिया है। अपनी काव्य-

रचना में महादेवी जी की जो अभिव्यंजन-पद्धति सूक्ष्म, गूढ़ और कुछ अनुभूति-दुरूह हो गयी है, ऋग्वेद और कालिदास के कुछ पद्यों के पद्यानुवाद में उन्होंने अतीव सरलता और प्रसाद रमणीयता का परिचय दिया है।

माखनलाल जी में निष्कपट देश-प्रेम है। हिम-किरीटिनी और हिमतरंगिनी से आगे बढ़कर उन्होंने 'माता' में वेदना की सफल अभिव्यक्ति की है। गुप्त-बंधुओं में **सियाराम शरणजी की** रचनाओं में प्रगीतोचित भावाभिव्यक्ति की अधिक समीपता है। करुण-भावों की अभिव्यक्ति में उन्हे सफलता प्राप्त है। आर्द्रा, दूर्वादल, विषाद, मौर्य-विजय, अनाथ, नकुल आदि उनकी सफल रचनाएँ हैं। मैथिली शरण जी का परिचय दिया जा चुका है। **भगवती चरण वर्मा** में अहं की उपासना होने पर भी सरलभाषा में गंभीर भावाभिव्यक्ति की अद्भुत शक्ति है। भाषा को उन्होंने संवारने में योग दिया है। प्रेम-पीड़ा की अनुभूति में वे प्रवीण हैं और कुरूताओं से ऊपर उठकर काव्य-सर्जन में निपुण है। 'प्रगतिवादी' रचनाएँ भी उन्होंने की हैं। मधुकण, प्रेमसंगीत और विस्मृति के फूल आदि उनकी प्रमुख रचनाएँ हैं। **रामकुमार वर्मा की** कृतियों में चित्रमय भावरूपों की सुंदर योजना है। संगीत और प्रवाह को लेकर चलनेवाली भाषा-शैली में अभिव्यक्ति की सुंदर क्षमता है। पीड़ा, विषाद, अभाव और असंतोष की रागिनी गानेवाले उनके गीतों में दुःख और अभाव का भीना आवरण है।

बालकृष्ण 'नवीन' युग के आरंभ से गीत-सृष्टि कर रहे हैं। देश के स्वातंत्र्य संग्राम और आंदोलन की हलचलों से उनके गीत प्रभावित हैं। जीवन की सफलता-असफलताओं के प्रति क्रंदन और विप्लव की आग, उनमें वर्त्तमान है। शृंगारात्मक या प्रणय-पूर्ण गीतों में उनका सच्चा रोमांटिक रूप प्रकट हुआ है। कुंकुक, अपलक, रश्मिरेखा, क्वासि, आदि उनकी कुछ प्रमुख रचनाएँ हैं। नवीन जी की रचनाओं में मुख्यतः चार वर्ण्य भावनाएँ मिलती हैं - क्रांतिचेतना, गांधीवादी जीवन दृष्टि, दार्शनिकता और प्रणयानुभूति। नवीन जी बड़े ही ओजस्वी, शक्तिशाली और समर्थ कवि हैं। उनकी रचना में मर्मस्पर्शिता का स्वर तीव्र है, प्रभावशीलता का घोष वेगवान् है। **उदयशंकर भट्ट** एक सफल गीतकार हैं। जीवन की गहन अनुभूति, दार्शनिक चेतना, वेदना और विषमता का स्वर उनमें मुखर है। पहले उनमें निराशा के भाव झलकते थे, पर अब मानवशक्ति में विश्वास है। **बच्चन** भावव्यंजना की मर्मस्पर्शी योजना को सरल शब्दों में अभिव्यक्त करने वाले कवियों में प्रमुख गीतकार है। सरलतम शब्दों में गंभीरतम अनुभूति व्यंजना उनकी विशेषता है। हालावाद के प्रवर्त्तन-रूप में 'मधुशाला' 'मधुकलश' 'मधुबाला' आदि को लेकर, उमरखय्याम से प्रभावित कवि के रूप में वे हिंदी-काव्य क्षेत्र में आए। पहले दुःखवाद और निराशावाद की झलक उनमें दिखाई देती थी पर अब वे युग-ध्वनि से प्रभावित हैं। एकांत संगीत, निशामंत्रणा, सतरंगीनी, खादी के फूल आदि उनकी अन्य सफल रचनाएँ हैं। **दिनकर जी** अपनी सामाजिक और सांस्कृतिक चेतना को लेकर चल रहे हैं। ओजपूर्ण राष्ट्रीय चेतना के साथ-साथ उनमें मानवतावादी एवं प्रगतिवादी अभिव्यक्तियां भी बल, शक्ति और ओज के साथ अभिव्यक्त हुई हैं। विप्लव

और क्रांति का स्वर उनमें मुखरित है। शोषण-नीति के वे विरोधी हैं। पर आदर्शों के उपासक भी हैं। सामाजिक भावचेतना से संपन्न मानवतावाद ने उनकी दृष्टि को प्रशस्त बनाया है। रेणुका, हुंकार, रसवंती तथा कुरुक्षेत्र, सामधेनी, इतिहास के आँसू और रश्मिरथी—आदि उनकी प्रमुख रचनाएँ है। प्रगीत और प्रबंध दोनों प्रकार की रचना-कला में उन्हे सफलता मिली है। **सोहनलाल द्विवेदी** गांधीवादी राष्ट्रीय कवि के रूप में और श्यामनारायण पाण्डेय—वीर गायक प्रबंध काव्य लेखक के रूप में प्रसिद्ध हैं। **अज्ञेय जी** विश्ववेदना से विकल कवि हैं और मानवता की रक्षा और उद्धार करने के लिए आतुर दिखाई देते हैं। आजकल वे प्रयोगवादी कवियों के नेता हैं। अंचल, सुमन, नरेंद्र जी, शंभूनाथ सिंह, विद्यावती कोकिल, सुमित्राकुमारी, नेपाली, आरसी प्रसाद जी, मिलिंद जी, प्रेमी जी, चंद्रमुखी ओझा, जानकीवल्लभ जी, क्षेमजी, ऐसे अनेक प्रतिभाशाली, सप्राण और कलाकुशल कवि हैं जिनके द्वारा गीत मार्ग यशस्वी और संपन्न हो रहा है। अवकाशाभाव से उनका कृतित्व और उनकी कृतियों का परिचय न देने के लिए क्षमार्थी हूँ।

× × ×

यह पहले कहा जा चुका है कि छायावाद की प्रतिक्रियास्वरूप दो नयी धाराएँ प्रस्फुटित हुई। छायावाद के अंतिम वर्षों में, पंत, निराला, भगवती चरण वर्मा, नवीन, दिनकर आदि में व्यक्तिगत अनुभूति की ऐकांतिक उपासना के प्रति विद्रोह के चिह्न दिखाई देने लगे थे। **प्रगतिवाद में** उसकी विरोधात्मक प्रतिक्रिया का प्रवाह बहा। पंत, निराला, दिनकर, भगवतीचरण वर्मा, नरेन्द्र शर्मा, नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल, नेमिचन्द्र जैन, रामविलास शर्मा, शिवमंगल सिंह 'सुमन', भारतभूषण, सुरेन्द्रकुमार, शंभूनाथ सिंह, केदारनाथ, रांगेयराघव, अंचल, प्रभाकर माचवे आदि समर्थ और जनवादी कवियों ने कभी कट्टर प्रगतिवाद के अनुसार और कभी समाज-कल्याण-विधायिनी उदार लोकमंगलमयी प्रेरणा से रचनाएँ कीं और आज भी उनका अखंड प्रवाह चल रहा है। कभी-कभी इनकी रचनाओं नग्न में अश्लीलता, कभी-कभी रूस का प्रचारवाद और कभी-कभी फैशन के कारण असमर्थ और साहित्य के उच्चस्तर से नीचे की कविताएँ निर्मित हो जाया करती हैं। देशकालानुरूप, देशसंस्कृति की प्रेरणा से उद्भावित और कट्टरता तथा प्रचारवाद से रहित रचनाएँ जहाँ होती हैं, वहाँ सुंदर काव्य-सृष्टि दिखाई पड़ती है।

दूसरी ओर प्रयोगवादी कवि भी अज्ञेय के नेतृत्व में प्रयोगशील रचनाओं में लगे हुए हैं। अज्ञेय के अतिरिक्त प्रथम तारसप्तक के अन्य छः कवि हैं गजानन, मुक्तिबोध, नेमिचन्द्र जैन, भारत भूषण अग्रवाल, गिरजाकुमार माथुर, प्रभाकर माचवे, रामविलास शर्मा। इनमें से अनेक या प्रायः सभी समाजवादी भावना के समर्थक हैं। पर कला के क्षेत्र में प्रयोग को और व्यक्तिगत अनुभूति को महत्व देते हैं। 'दूसरे सप्तक' के सात कवि हैं—भवानीप्रसाद मिश्र, शकुंतला माथुर, हरिनारायण व्यास, शमशेरबहादुर सिंह, नरेशकुमार मेहता, रघुवीर सहाय और धर्मवीर भारती। अभी ये आत्मघोषणा के अनुसार प्रयोगावस्था के सत्यान्वेषी हैं, भविष्य इनका मूल्यांकन करेगा।

इन दो—प्रगतिवादी और प्रयोगवादी धाराओं के अतिरिक्त भी प्रगीत के कवियों की धारा, जिसे छायावाद का सहज विकास कहना चाहिए—चल रहा है। इस धारा में कवियों की संख्या अन्य आधुनिक धारा के कवियों से कदाचित् बहुत अधिक है। इनके गीत प्रायः वस्तुभाव-भूमि पर युगानुरूप चित्रों को लेकर चल रहे हैं। पर कभी-कभी छायावाद-कालीन वैयक्तिक ऐकातिक अनुभूतियाँ इनके गीतों में व्यक्त होती हैं। कोकिल जी, सुमित्रा कुमारी सिन्हा, शान्ति मेहरोत्रा, हंसकुमार, गिरिधर गोपाल, मोती बी० ए०, रमानाथ अवस्थी, जगदीश गुप्त, शिवचंद्र नागर, देवनाथ पांडेय रसाल, श्रीपालसिंह क्षेम, चंद्रमुखी ओझा, आदि अनेक कवि सरस और समर्थ रचनाएँ कर रहे हैं।

—करुणापति त्रिपाठी

विगत साठ वर्षों के बँगला-साहित्य का सिंहावलोकन

गत साठ वर्षों का बँगला-साहित्य मुख्य रूप से रवींद्र-साहित्य ही है। अभी तक के बँगला-साहित्य के इतिहास को अगर देख तो सबसे अधिक समृद्ध साहित्य इसी काल में सृष्ट हुआ।

रवीन्द्रनाथ को बंकिमचंद्र का योग्यतम उत्तराधिकारी कह सकते हैं। लगता है जैसे स्वयं बंकिमचंद्र ही रवींद्रनाथ को अपना उत्तराधिकारी बना गए हों।

रवींद्रनाथ नाथ से पूर्व के साहित्यिकों के संबंध में कुछ कह लेने के बाद रवींद्र साहित्य तथा अन्य साहित्य तथा अन्य साहित्यकारों के संबंध में कुछ कहने की चेष्टा हम करेंगे।

आधुनिक बँगला-साहित्य की पूर्व पीठिका ईसवी सन् की उन्नीसवीं शताब्दी का प्रारंभ है। रवींद्रनाथ ने कहा है, यह मानना ही होगा कि आधुनिक बंगला-साहित्य आधुनिक प्रभावों का साहित्य है।

राजा राममोहनराय को नव-बंग ही नहीं नव-भारत का भी स्रष्टा कहा जा सकता है। जिसे बंगाल तथा भारतवर्ष में 'रेनांसा' कहा जाता है, राजा राममोहन उसके प्रवर्तक थे। उन्होंने एक ओर तो भारतवर्ष के गौरवपूर्ण अतीत की ओर ध्यान आकर्षित किया और दूसरी ओर 'उस विद्या की ओर, जो वर्तमान युग की चिंताशक्ति को विचित्र रूप से प्रकाशित कर रही है और जो विश्व-रहस्य के नये नये प्रवेश द्वार का उद्घाटन कर रही है'। उसी पाश्चात्य विद्या का आह्वान उन्होंने इस देश में किया। पाश्चात्य संस्कृति से समृद्ध भारतीय संस्कृति के नवीन रूप की उन्होंने कल्पना की।

उन्नीसवीं शताब्दी के द्वितीय दशक में सरकारी नौकरी छोड़ कर राजा राम मोहनराय कलकत्ते में आ बसे और स्वदेश तथा स्वजाति के कल्याण के लिए नाना आंदोलनों का सूत्रपात किया। रवींद्रनाथ ने जिस वर्तमान युग की बात कही है उसका श्रीगणेश यहीं से माना जा सकता है।

सन् १७५७ ई० में प्लासी के युद्ध में भारतवर्ष की स्वतंत्रता के सूर्य का अस्त हो गया। रवींद्रनाथ की भाषा में 'वणिकेर मानदंड देखा दिलो राजदंड रूप, पोहाले शर्वरी' अर्थात् वणिक के मानदंड ने राजदंड का रूप ले लिया।

अठारहवीं शताब्दी के शेष भाग में धीरे धीरे अंग्रेजों का शासन स्थापित हुआ और कलकत्ता शहर धीरे-धीरे विकास को प्राप्त हुआ।

उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारंभ से ही यह देखा जाता है कि कलकत्ता संपूर्ण बंगाल के आर्थिक और सामाजिक जीवन का केंद्र बन गया। अंग्रेजी विद्यालय का प्रारंभ हो गया, कलकत्ता ने प्रतिष्ठा लाभ की, लोगों का ध्यान शहर की ओर गया। कलकत्ते से विदेशी-राज्य का प्रभाव संपूर्ण बंगाल में फैलने लगा। बंगाल के आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन में परिवर्तन होने लगा। जीवन जटिलतर हो उठा।

इस जटिल जीवन का प्रकाश पद्य-साहित्य में संभव नहीं, इसी के प्रभाव से बँगला साहित्य के गद्य का प्रादुर्भाव हुआ। 'लौकिक दृष्टि से राजा राममोहन को ही बँगला-गद्य का आदि-प्रवर्तक कहा जा सकता है'। इसके पहले सतरहवीं शताब्दी में भी बँगला-गद्य का रूप देखने को अवश्य मिल जाता है लेकिन उसे साहित्यिक नहीं कहा जा सकता।

राजा मोहनराय के बाद ईश्वरचंद्र विद्यासागर, देवेंद्रनाथ ठाकुर, अक्षयकुमार दत्त, राजेंद्रलाल मिश्र, प्यारी चरण मित्र प्रमुख लेखकों की रचनाओं में कहा जा सकता है कि बंगला-गद्य की शैशवावस्था बीती। इनके बाद ही बंकिमचंद्र का प्रादुर्भाव हुआ। बंकिमचंद्र की रचना बँगला-गद्य के तरुण यौवन ने प्रकाश पाया। बंकिमचंद्र के बाद रवींद्रनाथ की रचनाओं में बँगला-गद्य का पूर्ण विकास दीख पड़ा।

यहां यह बतला देना आवश्यक है कि बंगला गद्य के दो रूप हैं—(१) साधु भाषा (२) चलती भाषा अथवा काव्य-भाषा। प्रारंभ से लेकर बीसवीं शताब्दी के दूसरे दशक तक बँगला-गद्य प्रायः साधु भाषा में लिखा जाता रहा है। इसके बाद से साहित्य में चलती भाषा का अधिकाधिक प्रयोग होने लगा। रवींद्र ने अपने प्रथम साहित्यिक जीवन में साधु भाषा का प्रयोग किया और बाद में चलती भाषा का।

वर्तमान समय में अधिकांश लेखक अपनी रचनाओं में चलती भाषा का ही प्रयोग करते हैं। साधु भाषा का प्रयोग बोलने में नहीं होता, केवल पुस्तकों में ही उसका व्यवहार होता है। बंगाल के विभिन्न अंचलों में बोल-चाल की भाषा विभिन्न है। पुस्तकों में जिस चलती भाषा का प्रयोग हो रहा है वह चौबीस परगना और हुगली जिलों के भागीरथी नदी के किनारे बोली जानेवाली भाषा पर आधारित है। इस समय जो साधु भाषा और चलती भाषा का रूप देखने को मिलता है उसके बनने में लगभग सौ वर्ष का समय लगा है। इस समय इन दोनों का भेद प्रधानतः क्रिया-रूपों में है। उदाहरण स्वरूप रवींद्रनाथ ने साधु भाषा में लिखा है 'ताइ बोलिते छिलाम, तीर्थ यात्रार मानस कोटियाइ यदि यूरोपे याइते हंय तबे ताहा निष्फल हइबे ना'। अगर इसे चलती भाषा में कहा जाय तो उसका रूप ऐसा होगा 'ताइ बोलछिलाम तीर्थ यात्रार मानस कोटेइ यदि यूरोपे येते हय तबे ता निष्फल हबे ना'।

कविता के क्षेत्र में बँगला-साहित्य के आदि कवि के रूप में माइकेल मधुसूदन दत्त का स्मरण किया जा सकता है। 'वे बँगला-काव्य के युग-परिवर्त्तन के आदि और प्रधान नेता हैं।' व्यक्तिवाद का प्रथम दर्शन माइकेल के काव्य में ही होता है। स्वतंत्र चिंतन और उदारता माइकेल के काव्य का प्रधान वैशिष्टय है। किसी बंधन को वे बर्दाश्त नहीं कर पाते। इसीलिए अमित्राक्षर छंद का प्रवर्तन कर उन्होंने बँगला-पद्य को 'पयार' के बंधन से मुक्त किया। बँगला-काव्य को पहले की संकीर्णता से हटाकर उन्होंने बंधन-मुक्त कर दिया।

ओजस्विता और ऊर्ज्वस्विता-मधुसूदन दत्त के काव्य के प्राण हैं। इनके पहले बँगला-काव्य में इन दोनों का अभाव था और उसके ढाँचे में भी शैथिल्य था। इन अभावों को उन्होंने दूर किया। बँगला-काव्य में उन्होंने बँगला-काव्य को एक नई 'टेकनीक'

दी। इसमें पेट्रार्क (Petrarch) के 'सानेट' का उल्लेख किया जा सकता जिसे उन्होंने बंगला-काव्य में प्रवर्त्तित किया।

मधुसूदन की रचनाओं में पाश्चात्य प्रभाव सुस्पष्ट है। प्रसंगतः यह कहा जा सकता है कि आधुनिक बंगला-साहित्य अंग्रेजी के माध्यम से पाश्चात्य प्रेरणा को ग्रहण कर विकसित हुआ है। इस काल के प्रारंभिक लेखकों में यह पाश्चात्य प्रभाव किसी न किसी रूप में दिखाई पड़ ही जाता है। बंगला साहित्य के इतिहास में डा० सुकुमार-सेन ने चार लक्षणों का निर्देश किया है:—

(१) सामाजिक चेतना (२) व्यक्ति-स्वातंत्र्य (३) आत्म-केंद्रिता (आधुनिक गीति-काव्य का यह प्रधानतम वैशिष्ट है) (४) आत्म-संप्रसारण। इसकी चरम अभिव्यक्ति रवींद्र नाथ के काव्य में दीख पड़ती है।

मधुसूदन के काव्य को प्रेरणा देनेवाली शक्ति देश-भक्ति ही थी, यद्यपि संकुचित अर्थ में नहीं। राममोहन राय से लेकर रवींद्रोत्तर साहित्य तक यह देश-प्रेम ही अन्यतम प्रेरणा रहा है। बहुतों का विचार है कि पाश्चात्य प्रभाव का स्वस्थ रूप—देशप्रेम, मानवतावाद और वैज्ञानिक दृष्टि—बँगला-साहित्य में प्रतिबिंबित हुआ।

मधुसूदन की क्लासिक-रचना-पद्धति का श्रेष्ठ उदाहरण 'मेघनाथ-वध'—काव्य और चतुर्दशपदी कविता में देखने को मिलता है।

मधुसूदन के बाद तथा रवींद्रनाथ के पूर्व के विख्यात कवियों में हेमचंद्र वंधोपाध्याय और नवीन चंद्र सेन थे। इन लोगों की कविता की मूल-प्रेरणा भी देश प्रेम ही है। इस काल में मधुसूदन का प्रभाव अत्यंत व्यापक रहा है। उस काल में महाकाव्य और खंड काव्य लिखने की जैसे प्रथा ही चल गई थी। हेमचंद्र और नवीनचंद्र ने मधुसूदन के दिखाए हुए मार्ग का अनुसरण कर महाकाव्य का रचना की। नवीनचंद्र ही महाकाव्य के अंतिम सफल रचयिता थे।

इस 'क्लासिक'-काव्य के युग में दो-एक कवियों ने स्वतंत्र मार्ग का भी अवलंबन किया। उनमें विशेष रूप से उल्लेखनीय बिहारीलाल चक्रवर्ती थे। इन्होंने 'रोमांटिक' गीति-काव्य का प्रवर्तन किया। बँगला-साहित्य के इतिहास में और चाहे किसी कारण से न हो, लेकिन इस कारण से अवश्य इनका नाम स्मरणीय रहेगा कि रवींद्रनाथ की प्रारंभिक रचनाओं पर इनका प्रभाव पूरा पड़ा है। रवींद्रनाथ पर कवि अक्षयचंद्र चौधरी का प्रभाव भी यथेष्ट पड़ा था। रवींद्रनाथ ने इन दोनों के संबंध में अपनी 'जीवन-स्मृति' में लिखा है। 'अक्षयचंद्र चौधरी ने बंगला-साहित्य में रोमांटिक आख्यायिका-काव्य और गाथा-कविता का प्रवर्तन किया।' इनका अनुसरण रवींद्रनाथ ठाकुर, स्वर्ण कुमारी देवी नवीनचंद्र सेन और ईशानचंद्र वंद्योपाध्याय ने किया।

आधुनिक बंगला-साहित्य के मोटे तौर पर कई भाग किए जा सकते हैं:—कविता, नाटक, कथा-साहित्य (उपन्यास और गल्प) प्रबंध और शिशु-साहित्य।

बंकिमचंद्र के समय में केवल शिशु-साहित्य को छोड़कर अनुवाद और अनुकरण के साथ-साथ मौलिक रचना भी प्रचुर देखने को मिलती है। इन रचनाओं का विषय-वस्तु

नानाविध और व्यापक है। इसमें साहित्यिक रचनाओं का परिमाण भी नगण्य नहीं है।

इस युग के साहित्य पर अंग्रेजी-साहित्य का प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ा है। इस काल के सभी लेखक अंग्रेजी शिक्षा पाए हुए थे। अंग्रेजी साहित्य के ऐश्वर्य और वैचित्र्य के सामने बंगला-साहित्य के दैन्य और वैचित्र्य के अभाव ने उन्हें काफी व्यथित किया। इसीलिये इन लोगों ने अंग्रेजी साहित्य की तरह मातृभाषा के साहित्य को समृद्ध करने की चेष्टा की है। इनके सामने इसीलिये अंग्रेजी-साहित्य ही आदर्श-स्वरूप था।

अंग्रेजी-साहित्य के आदर्श के अनुरूप ही उस काल के बंगला-उपन्यास हैं। बंकिमचंद्र निस्संदेह प्रथम बंगला साहित्य के औपन्यासिक थे। किसी किसी का यह भी कहना है कि आज तक भी उन्हें सर्वश्रेष्ठ बंगला-औपन्यासिक कहा जा सकता है। इस बात में किसी को आपत्ति नहीं है कि बंगला के रोमांटिक उपन्यास के वे उत्कृष्ट उपन्यासकार हैं।

किंतु बंकिम चंद्र केवल उपन्यासकार ही नहीं वरन् अपने समय के साहित्य-साम्राट् थे। बंगाल-साहित्य के उस काल में उनका अप्रतिहत प्रताप था। उन्होंने बंगला भाषा की सृष्टि की, साहित्य-रचना की, साहित्यिक तैयार किए, समालोचना का आदर्श स्थापित किया। इतना ही नहीं उन्होंने पाठक-समाज का भी गठन किया। ज्ञान और भाव के क्षेत्र में जहाँ उन्हें अभाव दीख पड़ा वहाँ या तो स्वयं वे लग गए हैं अथवा दूसरों को उसे दूर करने के लिये अनुप्रेरित किया है। यहाँ हिन्दी-साहित्य में भारतेंदु हरिश्चंद्र ने जो किया उसका स्मरण हो आता है।

'बंग-दर्शन' बंकिमचंद्र द्वारा संपादित प्रथम विशुद्ध साहित्यिक पत्र था जिससे उन्होंने उपरिलिखित कार्यों को अग्रसर किया। बंकिमचंद्र के नेतृत्व में साहित्यिकों का एक शक्तिशाली दल 'बंग-दर्शन' का अवलंबन कर बंगला-साहित्य की सेवा करने में लग गया।

यहाँ प्रसंगवश बंगला साहित्य के विकास की एक विशिष्टता का उल्लेख कर देना ठीक होगा। 'बंगदर्शन' के समय से लेकर आजतक किसी न किसी पत्रिका का अवलंबन कर एक-एक साहित्यिक गोष्ठी का आविर्भाव हुआ है। बहुतों ने विशेष-विशेष पत्रिका का अवलंबन कर साहित्य का काल-विभाजन किया है:—जैसे बंगदर्शन-युग, साधना-युग, सबुज पत्र-युग, कल्लोल-युग आदि।

हम पहले ही कह आए हैं कि बंकिमचंद्र की रचनाओं का मूल प्रेरक देश-प्रेम था। यह देश-प्रेम भारत के अतीत गौरव द्वारा अनुरंजित है। प्राचीन भारतीय आदर्श के अनुसरण से हम लोग उन्नत हो सकते हैं, उनका यह दृढ़ विश्वास उनकी समस्त रचनाओं में परिलक्षित है।

लेकिन बंकिमचद्र ने वर्तमान की भी उपेक्षा नहीं की। दूसरों में जो कुछ भी उत्तम था, उसे ग्रहण करने के लिए वे प्रस्तुत थे। उनकी रचनाओं में प्राच्य और पाश्चात्य के समन्वय की चेष्टा दीख पड़ती है। उदाहरण-स्वरूप कहा जा सकता है कि उनके प्रथम उपन्यास 'दुर्गेशनंदनी' में यह बात स्पष्ट रूप में दीख पड़ती है। 'इसमें अंग्रेजी साहित्य के

रोमांस को ग्रहण तो अवश्य किया है लेकिन वर्तमान को भी छोड़ नहीं दिया है। उनकी अंतिम रचनाओं में गीता के कर्मवाद, स्टुअर्ट मिल के हितवाद तथा कोंते(Comte) के मानवतावाद के समन्वय की चेष्टा परिलक्षित होती है।

बंकिग चंद्र की इन प्रचेष्टाओं को समझने के लिए इसकी पृष्ठभूमि की ओर एक बार दृष्टिपात कर लेना आवश्यक है।

अंग्रेजी-शिक्षा के आदि युग में बंगाली तरुण-चित्त इस शिक्षा द्वारा विभ्रांत हो गया था। अंग्रेजी भाषा के माध्यम से पाश्चात्य, ज्ञान, विज्ञान, सभ्यता, संस्कृति ने इनकी आँखों में चकाचौंध पैदा कर दी। भारतीय ज्ञान, विज्ञान, सभ्यता, संस्कृति के संबंध में उन लोगों की धारणा अत्यंत ही भ्रांतिपूर्ण थी। वे बिलकुल ही इससे अपरिचित थे। संस्कृत तो वे जानते ही नहीं थे और बंगला का जानना उन्हें अपमानजनक मालूम होता था। इनका चित्त बहिर्मुख हो गया था। इनके सामने यूरोपीय और विशेष रूप से अंग्रेजी आदर्श ही बड़ा था। जो कुछ भारतीय है वह निकृष्ट है और जो कुछ यूरोपीय है वही श्रेष्ठ है—यही उनकी धारणा थी। सचमुच उनका विश्वास था कि आँख मूंद कर यूरोप की नकल करने से ही भारतवर्ष जगत् की श्रेष्ठ जातियों के समकक्ष हो सकता है। बंगला-साहित्य में कहीं-कहीं इन्हें 'यंग बंगाल' कहकर याद किया गया है। इन्हें देखकर यह मन में आना बिल्कुल स्वाभाविक था कि संभवत; लार्ड मेकाले की अभिलाषा ही पूर्ण होगा। इस देश में अंग्रेजी शिक्षा के लिए अंग्रेज सरकार को खर्च करना चाहिए—यह मेकाले का मत था। उनकी प्रधान युक्ति थी कि अंग्रेजी शिक्षा-प्राप्त भारतवासी मानसा-वाचा-कर्मणा अंग्रेज होने की चेष्टा करेंगे, अंग्रेजों को आदर्श समझेंगे। इसका फल होगा संस्कृति के क्षेत्र में अंग्रेजों की पूर्ण विजय और अंग्रेजों के राज्य की दृढ़ता।

किंतु विधाता की इच्छा कुछ दूसरी ही थी। अंग्रेजी शिक्षा के साथ-साथ राष्ट्रीय भावना जाग्रत हुई। इन लोगो की दृष्टि देश के अतीव गौरव की ओर गई। उसके वैशिष्ट्य को ढूँढ़ने के प्रयास शुरू हुए।

इन लोगों में एक ऐसे दल का आविर्भाव हुआ जो चरम-पंथी था, जिसने कहना शुरू किया कि जो कुछ भी श्रेष्ठ है वह भारतीय है और जो कुछ भी निकृष्ट है वह यूरोपीय है। 'यंग-बंगल' वालों का मानो यह प्रत्युत्तर था।

लेकिन जिनमें यह संकीर्णता नहीं थी उन्होंने एक ओर स्वदेश-प्रेम की घोषणा की और जो कुछ हमारा श्रेष्ठ है उसकी रक्षा करने को कहा तथा दूसरी ओर जो कुछ दूसरों का उत्तम है उसे ग्रहण करने का आग्रह किया। इस दल के अन्यतम प्रधान नेता बंकिमचन्द्र थे।

रवींद्रनाथ की दृष्टि में बंकिमचंद्र का सबसे बड़ा कृतित्व है हमारे बहिर्मुखी मन को 'अंतर्मुखी' कराना। बंकिमचंद्र स्वयं शिक्षा-प्राप्त व्यक्ति थे और अंग्रेजी शिक्षा-प्राप्त लोगों के मनोभाव से पूर्ण परिचित थे। इसी लिये उन्होंने ऐसी साहित्य-सृष्टि की जो उन्हें भी रुचे। इसी लिये उनका साहित्य 'रूप' की दृष्टि से यूरोपीय और 'भाव' की दृष्टि से भारतीय है। उनके प्रबंधों में उस काल का यूरोपीय युक्तिवाद विशेष रूप से अनुष्ठित हुआ है।

सन् १८९४ ई० में बंकिमचंद्र का देहावसान होने पर उनके रिक्त स्थान को रवींद्रनाथ ने केवल पूर्ण ही नहीं किया बल्कि उसकी मर्यादा को कई गुना बढ़ा दिया। अकेले रवींद्रनाथ की साधना द्वारा बंगला साहित्य ने जैसी समृद्धि की, अगर रवींद्रनाथ नहीं होते तो संभवतः वैसी समृद्धि प्राप्त करने में दो-चार सौ वर्ष लग जाते। रवींद्रनाथ मानों साहित्य-जगत् की एक आश्चर्यजनक घटना थे। समालोचकों का कहना है कि साहित्य-क्षेत्र में ऐसी विराट् शक्ति का आविर्भाव किसी देश अथवा किसी काल में नहीं हुआ।

रवींद्रनाथ से बड़े कवि अथवा नाटककार अथवा औन्यासिक या संगीत-रचयिता अथवा गल्प लेखक या प्रबंधकार संभवतः और भी हो गए हैं लेकिन एक ही व्यक्ति के भीतर प्रतिभा का ऐसा सर्वतोमुखीं विकास और कहीं देखने को नहीं मिलता। किसी एक व्यक्ति के लिये गद्य और पद्य में इतनी अधिक रचना संसार में अत्यंत दुर्लभ है। साहित्य का ऐसा कोई अंग नहीं, ऐसी कोई दिशा नहीं जो रवींद्रनाथ की प्रतिभा से उज्ज्वल न हो उठी हो। ६०-६५ वर्षों तक इस शक्तिशाली व्यक्ति की लेखनी अविराम गति से चलती रही है।

रवींद्रनाथ की ख्याति एक बड़े कवि के रूप में ही है। परंतु वे एक श्रेष्ठ गद्य-लेखक भी थे, इसका परिचय केवल उन्हीं को है जो रवींद्र-साहित्य से परिचित हैं। बहुतों का कहना है कि यदि रवींद्रनाथ एक भी कविता नहीं लिखते तथापि वे संसार में अन्यतम श्रेष्ठ साहित्यिक के रूप में याद किए जाते। रवींद्रनाथ केवल कवि ही नहीं, मनीषी भी थे।

बंकिमचंद्र के तिरोभावे के समय रवींद्रनाथ ख्यातिलब्ध साहित्यिक हो चुके थे। उस समय तक उनकी बहुत सी रचनाएं गद्य और पद्य में प्रकाशित हो चुकी थीं।

इस काल में कलकत्ता के जोड़ासाँको के 'ठाकुरबाड़ी' से तीन पत्रिकाएँ प्रकाशित हो रही थीं—भारती, बालक और साधना। रवींद्रनाथ की अधिकांश रचनाएँ इन तीनों पत्रिकाओं में निकलती थीं।

यहां प्रसंगवश यह उल्लेख किया जा सकता है कि बंगाल की संस्कृति के इतिहास में जोड़ासाँकों के 'ठाकुर-परिवार' का विशेष स्थान है। महर्षि देवेन्द्र नाथ ठाकुर तथा उनके कई कृती पुत्र-कन्या द्विजेन्द्रनाथ, सत्येंद्रनाथ, ज्योतिरिंद्रनाथ, स्वर्णकुमारी देवी, रवींद्रनाथ और महर्षि देवेंद्रनाथ के भाई के पौत्र गगनेंद्रनाथ एवं अवनीन्द्रनाथ आदि ने प्रायः तीन पीढ़ियों से बंगाल के सांस्कृतिक जीवन को प्रभावान्वित किया है।

इस परिवार की विशिष्टता-स्वरूप यह कहा जा सकता है कि इस परिवार में उपनिषदों का ज्ञान, देश-प्रेम और मानवतावाद का समन्वय पूर्णरूप से प्रतिफलित हुआ है। रवींद्रनाथ में भी यह चीज दीख पड़ती है। रवींद्रनाथ में जो रहस्यात्मकता, देश-प्रेम अथवा सर्वानुभूति का भाव देख पड़ता है उसका मूल उनके परिवार के सांस्कृतिक और आध्यात्मिक वातावरण में खोजा जा सकता है।

रवींद्रनाथ की असाधारण प्रतिभा क्रमशः विकसित होती रही है और यह विकास उनके साहित्यिक जीवन के सम्पूर्ण ६०-६५ वर्षों के अंत तक समान भाव से चलता रहा है। उस विकास के नये तथा चित्र-विचित्र रूप का परिचय सहृदय को विस्मित करता

रहा है। लगता है जैसे कवि और भी अगर अधिक दिनों तक जीवित रहते तो बंगला-साहित्य और भी नई नई सृष्टि के द्वारा समृद्ध होता रहता।

जानकारों का कहना है कि तरुण वयस में रवींद्रनाथ में किसी प्रकार के असाधारणत्व का चिह्न नहीं दिखलाई पड़ता। बाल्यकाल तथा प्रथम यौवन काल में उन्होंने प्रचलित साहित्यिक परम्परा का अनुसरण किया है और पूर्वजों के दिखाए पथ पर ही चलते रहे हैं। इसके बाद उन्हें अपनी विराट् शक्ति और प्रतिभा का परिचय प्राप्त हुआ और साहित्य में उसके चित्र-विचित्र रूप का प्रकाशन पाठकों के चित्त को मुग्ध किया है।

रवींद्र नाथ की इस विराट् शक्ति का परिचय संक्षेप में भी देना संभव नहीं है, उसका केवल आभास मात्र दिया जा सकता है।

रवींद्रनाथ के जीवन और साहित्य में उनकी आत्मोपलब्धि का जो दर्शन पाया जाता है अगर उसे कोई नाम दिया जाय तो 'आध्यात्मिक' ही दिया जा सकता है। लेकिन 'आध्यात्मिक' किसी संकीर्ण अर्थ में नहीं, अपने व्यापक अर्थ में। जगत् के अंतर और बाहर में जो रूप और रस की धारा नित्य उच्छ्वसित हो रही है, जिसके मध्य 'उस'की लीला चल रही है, जिसे उपनिषद ने कहा है 'रसो वै सः' जो अरूप है लेकिन सभी रूपों में अपने को प्रकाशित कर रहा है, जो व्यक्ति-जीवन का देवता है, जिसे शिल्प-रसिक 'सत्य, सुंदर' कहते हैं—उसी का प्रकाश, उसी की उपासना रवींद्रनाथ की प्रतिभा की मूल साधना है। इसीलिये रवींद्र-साहित्य 'सत्य, सुंदर' की अंतरतम उपलब्धि का प्रकाश है। कवि ने स्वयं कहा है:—"हमारे लिये समस्त आकाश का रंग नीला कर, समस्त पृथवी का अंचल श्यामल कर, समस्त नक्षत्रों का अक्षर उज्ज्वल कर आह्वान-वाणी मुखरित हो रही है। इस निमंत्रण का उत्तर देना होगा क्या। मनुष्य इसीलिए मधुर भाव से बोला—मेरे हृदय के तार में तुम्हारा निमंत्रण बज उठा, कर्म में बज उठा, हे चिर सुंदर, मैंने स्वीकार कर लिया।" कवि की काव्य-सृष्टि इसी निमंत्रण की स्वीकृति है। इसे और भी सुस्पष्ट करके उन्होंने कहा है: 'विचित्र की लीला को अंतर में ग्रहण कर उसे बाहर लीलायित करना ही हमारा कार्य है।'

रवींद्रनाथ ने सीमा के भीतर असीम का प्रकाश देखा है। इसीलिये उनके निकट कुछ भी तुच्छ नहीं है, कुछ भी क्षुद्र नहीं है। जगत् मिथ्या नहीं है। जीवन मिथ्या नहीं है। इसीलिए जगत् तथा जीवन उनकी कल्पना को विचित्र भंगी से स्पर्श कर जाते हैं। और इसीलिये अपने मर्मगत सत्य को प्रकाशित करना कवि की प्रतिभा का प्रधान वैशिष्ट्य है। इसीलिए नित्य-नवीन को पकड़ने के लिये, प्रकाशित करने के लिये, उनकी चिंता 'चंचल, सुदूर की प्यासी है।' सत्तर वर्ष की उम्र में कवि ने स्वयं लिखा है: 'आज मुझे और कोई संशय नहीं, मैं चंचल का लीला-सहचर हूँ।"

अंग्रेजी-साहित्य की साधना में इसी का नाम 'रोमांटिसिज्म है। रवींद्रनाथ, रोमांटिक कवि थे, किंतु 'रवींद्रनाथ की रोमांटिक दृष्टि शेली, कीट्स, कालरिज प्रमुख रोमांटिक कवियों की दृष्टि से कुछ स्वतंत्र हैं। रवींद्रनाथ की रोमांटिकता आवेग (Emotion) को छोड़कर अंतर्बोध (intuition) के रहस्य लोक में जा पहुँची है।' रोमांटिक

काव्य वैयक्तिक होता है और इस दृष्टि से विचार करने पर रवींद्रनाथ का काव्य निर्वैयक्तिक है।

मोटे तौर पर कविता, संगीत, नाटक, गल्प-उपन्यास, प्रबंध— इन विविध भागों में रवींद्र-साहित्य को विभाजित किया जा सकता है। यह भाग काल-सापेक्ष्य नहीं हो सकता, क्योंकि एक ही समय में रवींद्रनाथ ने विभिन्न प्रकार की चीजें लिखी हैं।

रवींद्रनाथ के काव्य पर विचार करते समय उसका विभाजन कभी ग्रंथों के नाम के अनुसार अथवा कभी उनकी संपादकता अथवा पृष्ठपोषकता में निकलने वाली पत्रिका के अनुसार अथवा किसी सामयिक आंदोलन के अनुसार किया गया है जैसे 'संध्या-संगीत'-युग, 'साधना'-युग, स्वदेशी-आंदोलन-युग आदि।

किसी-किसी ने "कवि-मानस-प्रकृति और रस-दृष्टि के विकासकी अपरिणति को ध्यान में रखकर रवींद्रनाथ के काव्य-जीवन के सुदीर्घकाल को तीन भागों में बाँटा है:— (१) आत्ममुखीन (Introspective), प्राङ्मुखीन (Prospective) और (३) पराङ्मुखीन (Retrospective)।"

अंतर्मुखीन काल में कवि की दृष्टि स्वयं अपनी ही ओर निबद्ध थी। उस समय तक उन्हें अपनी प्रतिभा का परिचय नहीं हुआ था। किशोर-वयस की आत्म-केंद्रित भाव-प्रवणता ही इस काल की कविताओं की प्रधान उपजीव्य है। इस भाव-प्रवणता के भीतर एक अतृप्ति, एक वेदना का सुर अत्यंत तीव्र हो उठा है।

इस काल की रचनाओं में संध्या-संगीत, प्रभात-संगीत, छबि ओ गान हैं। रवींद्रनाथ स्वयं 'संध्या-संगीत' के पहले की रचनाओं को साहित्य की संज्ञा देना नहीं चाहते। 'मानसिंहेर पदावली' और 'वाल्मीकि-प्रतिभा' संध्या-संगीत के पूर्व की रचनाएँ होने पर भी उपर्युक्त कोटि में नहीं रखी जा सकीं।

सन् १८८४ ई० के मार्च में 'छबि ओ गान' प्रकाशित हुआ। यहीं पर रवींद्रनाथ के अंतर्मुखीन जीवन का अवसान हुआ।

रवींद्रनाथ की प्रतिभा ने एक ही समय विभिन्न दिशाओं में विभिन्न रूपों में अपने आपको प्रकाशित किया है। इस काल में काव्य को छोड़कर विभिन्न—विषय-संबंधी प्रबंध, उपन्यास, गीति-नाट्य, नाटिका आदि की भी उन्होंने रचना की है। इनके अलावे गान-रचना तो है ही।

'कड़ि ओ कमल' के प्रकाशन के साथ रवींद्रकाव्य का द्वितीय अध्याय अर्थात् पराङ्मुखीन-युग का आरंभ होता है।

कवि की दृष्टि-भंगी में परिवर्तन हुआ है। वे अपने चारों ओर रेशम के कीड़े की तरह से सूक्ष्म रेशम का जाल बुन कर एक मधुर-तिमिर के भीतर अब मग्न नहीं हैं। "बृहत् जगत् के प्रकाण्ड जीवन की ओर अब उनकी दृष्टि गई है। वे बृहत् जगत् की विचित्र अभिज्ञता का स्वाद ग्रहण" करने के लिये बाहर निकल पड़े हैं। इस काल के उनके काव्य के संबंध में एक ख्यातनामा आलोचक ने लिखा है: "कवि के हृदय की अतृप्ति और विरह-वेदना अब मर्म-व्यथा का कारण न होकर रस-परिणति को प्राप्त हुई और आदर्शान्वित (idealised) होकर एक ओर तो अतीन्द्रिय, अध्यात्मलोक

तक पहुँच गई और दूसरी ओर विश्व-प्रकृति में फैल गई। इसीसे समझ पाता हूँ कि रवींद्र-काव्य में ब्रह्म और विश्व, जीव और जगत्, अखंड भाव से और अविरोधी होकर कैसे एक ही साथ स्थान पाये हुये हैं। इस अद्वैत दृष्टि के पीछे किसी प्रकार का विशिष्ट आध्यात्मिक और दार्शनिक मतवाद नहीं है बल्कि रसानुभूति-लब्ध सत्त्वबोध है। ऋषियों की, उपनिषद् की आनन्दानुभूति के साथ इसकी बहुत कुछ समानता है।"

रवींद्र-साहित्य का यह काल अत्यन्त ही समृद्ध है। 'मानसी', 'सोनार तरी' 'चित्रा', 'क्षणिका', 'नैवेद्य', तथा 'गीताञ्जलि' 'गीतालि' प्रभृति रवींद्रनाथ के उत्कृष्ट काव्य-ग्रंथों का प्रकाशन इसी काल में हुआ। 'गीतालि' का प्रकाशन सन् १९१४ ई० में हुआ। इस काल की यह अंतिम रचना है।

रवींद्रनाथ के उत्कृष्ट प्रेम-काव्य इसी काल में रचे गए। प्रसंगवश यहाँ यह कहा जा सकता है कि उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम काल में बंगला काव्य का उपजीव्य प्रेम—नर-नारी-प्रेम, देशप्रेम—ही रहा है। इस युग के प्रारंभ में रवींद्रनाथ पूर्ण यौवन को प्राप्त हुए थे। उनकी उस काल की रचनाओं में देहगत प्रेम की चित्ताकर्षक अभिव्यक्ति दीख पड़ती है। उनमें एक प्रकार की अतृप्ति और आत्मग्लानि के दर्शन होते हैं। लेकिन बाद में यह भाव दूर हो जाता है। 'मानसी' काव्य में "नव यौवन का असफल प्रेम रसायित एवं लोकातीत आदर्श में रूपायित होकर कवि-हृदय को चिर-विरही बना देता है। इस विरह-रस से सिक्त प्रेम ही रवींद्रनाथ के कवि-जीवन का प्रधान आलंबन है।" 'मानसी' की किसी-किसी कविता में "यह आदर्शयित प्रेम-कल्पना व्यक्तिगत प्रेम की संकीर्णता से मुक्त होकर प्रायः आध्यात्मिक प्रेम के पास जा पहुँची है।" 'खेमा' में इस आध्यात्मिक प्रेम की अभिव्यक्ति अत्यन्त सुस्पष्ट हो उठी है। "खेमा में कवि का चित्त मिलनोत्सुक अचिर विरहिणी के समान प्रणय-उद्वेलित व्याकुलता को लेकर हृदय-स्वामी के साथ मिलन की प्रतीक्षा में पथ की ओर दृष्टि लगाए हुए है।" 'खेमा' के बाद के काव्य-ग्रंथ गीताञ्जलि, गीतिमाल्य और गीतालि में कवि के हृदय की भक्ति प्रकट हुई है। यद्यपि तत्त्व की दृष्टि से भक्ति और आध्यात्मिक प्रेम एक ही हैं, फिर भी इनकी काव्य-गत अभिव्यक्ति एक नहीं है।

विश्वात्मकता, रवींद्र-साहित्य का एक प्रधान वैशिष्ट्य है। इस काल की रचनाओं में इसकी अद्भुत अभिव्यक्ति हुई है। विश्व वा प्रकृति के साथ मनुष्य का एकात्मबोध ही विश्वात्मबोध है। रवींद्रनाथ की रचनाएँ इससे ओतप्रोत हैं। इसी लिये रवींद्र-साहित्य में प्रकृति का एक प्रधान स्थान है। प्रकृति को उनके काव्य का प्रधान विषय कहा जा सकता है। बंगाली-कवियों मे प्रकृति-कवि की दृष्टि से रवींद्रनाथ ही प्रधान हैं।" विश्वात्मकता की बात जो कही गई है उसके संबंध में रवींद्रनाथ ने स्वयं कहा है "अपने साथ विश्व-प्रकृति का एक अविच्छिन्न योग, एक पुरातन एकात्मकता मुझे एकांत भाव से आकर्षित किए हुए है। मुझे स्वातन्त्र्य का गर्व नहीं है। संसार के साथ किसी प्रकार का विच्छेद मैं स्वीकार नहीं करता।"

रवींद्र-काव्य के तीन भाव (idea) अथवा एक ही भाव की तीन प्रकार से अभिव्यक्ति—इस काल में रूपायित हुई है।

'मानसी' काव्य में प्रथम 'मानस-सुंदरी' अथवा 'मानस-प्रतिमा' के दर्शन होते हैं। "वास्तव प्रेम का मोह दूर होने के साथ-साथ नवयौवन के प्रेम की कल्पना कर के कवि-हृदय की सकल आशा-आकांक्षा धीरे-धीरे सुस्पष्ट रूप धारण कर कवि-जीवन की ध्रुवतारिका के रूप में उदित हुई। यही रवींद्रनाथ की 'मानसी-प्रतिमा' अथवा 'मानस-सुंदरी' है। अंतर्यामी और अंतर्देवता के साथ 'चित्रा' काव्य में साक्षात्कार होता है। एक विख्यात समालोचक का कहना है "मानस-सुंदरी भी जैसे अब कवि-हृदय की वासना से अतीत होकर अंतर्यामी बनकर कवि के निगूढ़ व्यक्तित्व को दुःख-सुख की विचित्र अभिज्ञता के बीच से होकर आध्यात्मिक अभिव्यक्ति और परम सार्थकता की ओर अग्रसर करती हुई ले जा रही है, यही अंतर्यामी देवता बनकर (apotheosis) 'जीवन-देवता' कविता में दर्शन देते हैं। अंतर्यामी और जीवन-देवता—इन दोनों भाव-कल्पनाओं में इतने भर का ही अंतर है। अंतर्यामी ही मानों कवि की जीवात्मा या जीवन की शुभ बुद्धि है और जीवन देवता ही मानो परमात्मा वा जीवन सत्य की उपलब्धि हैं, Personal God अंतर्यामी मानो पथ का साथी वा प्रिया है और जीवन-देवता मानो घट के स्वामी वा प्रिय हैं।"

स्वयं रवींद्रनाथ ने जीवन-देवता की आलोचना की है। 'वंग-भाषा-लेखक' नामक ग्रंथ में इसकी विस्तृत आलोचना है। रवींद्रनाथ लिखते हैं "जो शक्ति हमारे जीवन के समस्त सुख-दुख को, समस्त घटना को ऐक्य-दान, तात्पर्य-दान कर रही है, मेरे रूपांतर-जन्म-जन्मांतर को एक सूत्र में बांध रही है, जिससे होकर विश्व-चराचर के बीच ऐक्य का बोध कर रहा हूँ उसे ही जीवन-देवता नाम दिया था।"

बहुतों की राय है कि रवींद्रनाथ की इस काल की कविता सब से अधिक उपभोग्य है। कविताएँ रूप-रस से परिपूर्ण हैं। परवर्ती काल की कविताओं में कवि की मननशीलता और बुद्धि-वृत्ति का परिचय मिलता है लेकिन उनमें ठीक यही वस्तु नहीं पाई जाती। "एक ही काल में जीवन की नानाविधि विचित्रताओं का संयोग और प्रकाश रवींद्रनाथ की कविताओं का विशेषत्व है"। इसी लिये देखा जाता है कि उनकी रचनाओं का जो काल-विभाजन किया जाता है उसमें अन्य अन्य प्रकार की, नाना विषयों की रचनाओं का भी समावेश है। इस काल में ही प्रथम-प्रथम रवींद्रनाथ ने शिशुओं के लिये भी गल्प और उपन्यास लिखे। संगीत की रचना और नाना विषयों को लेकर प्रबंध भी वे लिखते रहे। शेष पूर्ण रचना (satire), हेयाली नाट्य (charade), गीतिनाट्य प्रहसन, गद्य उपन्यास सभी इस काल में कवि ने लिखे हैं।

रवींद्र-काव्य के "तृतीय अर्थात् पराङ्मुखीन युग का आरंभ 'बलाका' से" शुरू हुआ। सन् १९१४ ई० से ही 'बलाका' काव्य-ग्रंथ की रचनाओं का लिखा जाना शुरू हो गया था। अनेक की दृष्टि में 'बलाका' काव्य-ग्रंथ रवींद्रनाथ की श्रेष्ठ रचना है। जो गति-शीलता जो चांचल्य रवींद्रनाथ की कविताओं का विशेषत्व है उसका सुस्पष्ट रूप 'बलाका' की कविताओं में देखने को मिलता है। 'बलाका' की भाषा और उसका अपूर्व है छंद की दृष्टि से 'बलाका' में कवि ने एक नवीन शैली का प्रवर्तन किया है। एक विख्यात समालोचक का

कहना है कि "इसी समय से यौवन के बीते हुए दिनों के लिये एवं पृथ्वी पर जीवन लीला के अंत को निकटस्थ समझने के कारण अपराह्न की छाया की तरह एक सकरुण वेदना से कवि का चित्त म्लान होता हुआ दिखाई पड़ता है। विश्व-प्रकृति के चंचल मुहूर्त के सहज रूप-रस को आकण्ठ पान करने के बावजूद भी प्यास जैसे बुझती नहीं एवं उस आनंद की उपलब्धि को काव्य में प्रकाशित करने पर भी जैसे तृप्ति नहीं हो रही है। यही कवि के चित्त की अपरिसीम वेदना है।"

रवींद्रनाथ ने लिखा है "वैराग्य-साधन की मुक्ति मेरे लिये नहीं है।" कवि की वाणी जैसे सत्य है वैसे यह भी सत्य है कि कवि के हृदय में एक चिर-वैरागी विराजमान हैं। जगत् का सब कुछ उसे आनंद देने वाला है लेकिन उसे बाँध नहीं पाता।

रवींद्रनाथ का विराट् साहित्य इसका प्रमाण है। वस्तु हो, भाव हो, रूप हो किसी को भी उन्होंने चूड़ान्त नहीं समझा। बार बार नवीन सृष्टि के आनंद में वे पुराने को छोड़ते गए हैं।

कवि के इस युग की रचनाओं में भी इसका व्यतिक्रम नहीं हुआ है। उनकी काव्य धारा में बार बार मोड़ दिखाई पड़ते हैं।

सबसे अधिक आश्चर्य की बात यह है कि जीवन के सामान्य काल में कवि ने काव्य की रचना की। "गद्य-रीति का प्रचलन कर, काव्य की विशिष्ट भाषा को छोड़कर, कवि-कुल द्वारा परित्यक्त असुंदर प्राकृतिक और मानवीय वातावरण को ग्रहण कर" उन्होंने अपनी पूर्वोक्त नवीन धारा का प्रवर्तन किया।

जितने आंदोलन, जितनी घटनाएँ समाज और देश को आंदोलित करती हैं तथा व्यक्तिगत जीवन में आलोड़न पैदा करती हैं, समसामयिक साहित्य में उनका प्रभाव दीख पड़ता है। बंगला-साहित्य में भी यही हुआ है। लेकिन फिर भी जैसे समाज को प्रतिपल परिवर्तन होने वाला रूप पूरा का पूरा नहीं दीख पड़ता। समाज-जीवन के विवर्तन का पूरा रूप साहित्य में नहीं पाया जाता। इसका कारण यह है कि बीसवीं शताब्दी के प्रायः प्रथम दशक तक बंगला-साहित्य में आदर्शवाद का ही प्राधान्य था।

उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम वर्षों में यह आदर्शवाद देश-प्रेम के रूप में प्रकट हुआ, यह पहले ही कहा जा चुका है। यह देश-प्रेम भाव की दृष्टि से अंग्रेजी साहित्य के माध्यम से आया और वस्तु की दृष्टि से विदेशी शासन के शोषण, अपमान आदि के प्रत्यक्ष अनुभव से आया।

बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में इस की पूर्ण अभिव्यक्ति 'बंग-भंग आंदोलन' में हुई। इस काल को 'स्वदेशी-युग' का नाम दिया गया। सन् १९०५ ई० में विदेशी शासकों की कूटनीति ने कलम की एक खरोंच से बंगाल को दो भागों में विभक्त कर दिया। इस घटना में जैसे विधाता का एक गोपन अभिप्राय था। क्यों कि बंगाल में जो प्रचण्ड आलोड़न हुआ उसका प्रभाव समस्त भारतवर्ष में परिव्याप्त हो गया। उसका फल यह हुआ कि भारत की स्वाधीनता का रूप सुस्पष्ट हो उठा।

इस आलोड़न के फल स्वरूप बंगलियों के हृदय में जो एक आवेग उत्पन्न हुआ था वह बंगला-साहित्य में पर्याप्त रूप से प्रकट हुआ। इस क्षेत्र में भी रवींद्रनाथ की

रचनाएँ उत्कृष्टता और परिमाण की दृष्टि से सबसे आगे रहीं। रवींद्रनाथ को स्वदेशी-युग का चारण-कवि कहा जाता है।

यदि उनकी अन्य रचनाओं की बात छोड़कर केवल गान की ही बात को लें तो भी यह देखा जा सकता है कि वे चारण-कवि ही थे। उनके अतुलनीय स्वदेशी-गान इसी काल में लिखे गये। देश के स्वाधीन होने के पूर्व तक इन गानों ने स्वाधीनता संग्राम के सैनिकों के बीच अपूर्व शक्ति का संचार किया है। आज देश स्वतंत्र हो गया है लेकिन उन गानों के साहित्यिक मूल्य में किसी प्रकार का ह्रास नहीं हुआ है।

गान के क्षेत्र में रवींद्रनाथ का दान विस्मयजनक है। किसी एक कवि के लिये इतने अधिक परिणाम में इतने उत्कृष्ट गानों की रचना विरल है। रवींद्रनाथ ने लगभग दो हजार गानों की रचना की है। बहुतों का ख्याल है कि गानों में ही रवींद्रनाथ की प्रतिभा का श्रेष्ठ विकास हुआ है। गीति-प्रवणता इनकी प्रतिभा की विशेषता है। इसीलिये संगीत उनका अपना क्षेत्र है। इस संबंध में रवींद्रनाथ का अपना मत भी कुछ इसी प्रकार का है। कवि का ख्याल था कि आगे आने वाली पीढ़ी अगर उनकी अन्य किसी रचना का समादर नहीं भी करे तो भी गानों का अनादर नहीं कर सकती। भाव-वैचित्र्य की दृष्टि से रवींद्र-संगीत अतुलनीय है। सुर के क्षेत्र में तो कवि 'विप्लवी' हैं। रवींद्रनाथ का चिर-नवीन के प्रति संगलिप्सु हृदय क्लासिकल संगीत के बँधे बँधाएँ रास्ते के बाहर राग-रागिनियों का अशास्त्रीय मिलन कराता है और इस प्रकार से एक अपूर्व सुर-साधना की सृष्टि उन्होंने की है। लेकिन यह भी सही है कि विशुद्ध राग-रागिनियों को लेकर उन्होंने बहुत से गीतों की रचना की है। रवींद्र-संगीत में सबसे अधिक आश्चर्यजनक वस्तु शब्द और सुर का संघात है। शब्द और सुर में कोई भी गौण नहीं हुआ है। आज बंगाल में रवींद्र-संगीत ही सबसे अधिक लोकप्रिय है। भारतीय संगीत के क्षेत्र में भी इसका एक स्वतंत्र स्थान है।

नाटक के क्षेत्र में भी रवींद्रनाथ का दान अपरिमेय है।

बंगाल में नाट्याभिनय की परंपरा श्री चैतन्य महाप्रभु के समय से ही चली आ रही है। उसी समय से उन्नीसवीं शताब्दी के मध्यतक नाना प्रकार के 'यात्राभिनय' प्रचलित थे। लेकिन आधुनिक बंगाल का रंगमंच और अभिनय अंग्रेजों के आदर्श पर ही निर्मित हुआ है। उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में ही यह बात दीख पड़ती है। नाटक की रचना में भी यही बात है। फिर भी नाटकों की रचना में संस्कृत नाटकों का भी प्रभाव पड़ा।

लेकिन आधुनिक बंगला नाटकों पर देशी 'यात्रा' (एक विशेष प्रकार का नाट्या-भिनय जो बंगाल में बड़ा लोकप्रिय है और जिसमें किसी प्रकार के रंगमंच की आवश्यकता नहीं होती) का भी प्रभाव दीख पड़ता है। बंगला-नाटकों में गान अवश्य ही रहता है। संभवतः यह 'यात्रा' का ही प्रभाव है। क्योंकि 'यात्रा' में संगीत की ही प्रधानता रहती है। लेकिन संस्कृत अथवा अंग्रेजी नाटकों में गान प्रायः नहीं के बराबर रहता है।

प्रधानतः शेक्सपियर के अनुकरण पर बंगला में नाटक लिखे जाते रहे। शेक्स-

पियर का असाधारण कृतित्व उसकी रोमांटिक रचना में हैं। बंगला नाटक भी प्रथम-प्रथम प्रधानतः रोमांटिक ही थे।

आधुनिक अर्थ में प्रथम मौलिक नाटक की रचना उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य हुई। इसके बाद से लेकर शताब्दी के अंततक बहुत से नाटककारों ने बहुत से नाटक लिखे हैं। इन सब नाटकों का प्रधान उपजीव्य देशप्रेम था। इसी से प्रेरणा पाकर किसी नाटकार ने इतिहास की शरण लेकर देश के अतीत गौरव का प्रचार किया। इस प्रकार से ऐतिहासिक नाटकों का उदय हुआ। किसी ने पौराणिक आदर्श का प्रचार किया। इस प्रकार से पौराणिक नाटक लिखे गए। किसो ने समाज की शक्ति और दुर्बलता का चित्रण अपने नाटकों में किया और इस प्रकार से सामाजिक नाटकों के दर्शन हुए। किसी ने सामाजिक अथवा पारिवारिक अथवा व्यक्तिगत दुर्बलता का आश्रय लेकर प्रहसन लिखा। सम-सामयिक घटनाओं का भी समावेश कुछ नाटकों में किया गया।

किंतु इन सब नाटकों को समालोचक नाटक कहने में हिचकिचाते हैं। इसीलिये साहित्य के इतिहास के बाहर इनका मूल्य भी स्वीकार नहीं किया गया।

उन्नीसवीं शताब्दी का उत्तरार्ध ही बंगला-नाटकों का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण काल था। उस समय बंगाल में बहुत से प्रथम श्रेणी के अभिनेता हुए। इनमें अनेक नाट्यकार भी थे। गिरीशचंद्र घोष, अमृतलाल वसु, अमरेशचंद्र मुखोपाध्याय आदि अभिनेता-नाट्यकारों में अगण्य थे। उस काल का बंगाली समाज नाटकों में रस लेनेवाला था। इसीलिए देश में नाटकों तथा नाट्याभिनयों की बहुत मांग थी। और बंगाली लेखकों ने इस मांग की बहुत अंश में पूर्ति की। जहां तक मुझे मालूम है, संभवतः कलकत्ते में ही एक मात्र स्थायी रंगमंच थे और सालभर अभिनय भी होते रहते।

नामी बंगाली नाटककार प्रायः रवींद्रनाथ के सामयिक थे। उनमें कुछ ही उनके पहले हुए थे। इनमें लब्धप्रतिष्ठ माइकेल मधुसूदन दत्त, दीनबंधु मित्र और मनमोहन वसु थे। मधुसूदन और दीनबंधु ने अंग्रेजी-पद्धति का अनुसरण किया। किन्तु नाटककार की दृष्टि से मधुसूदन की अपेक्षा दीनबंधु ही अधिक सफल हुए। दीनबंधु के 'नीलदपण' की ख्याति देश-विदेश में सर्वत्र फैल गई। लेकिन उसका कारण साहित्य-क्षेत्र के बाहर है। नाटक की दृष्टि से 'नीलदर्पण' को कोई स्थान नहीं प्राप्त हुआ परंतु इस नाटक में दीनबंधु ने ट्रेजेडी का जो आदर्श दिखलाया है उसका अनुसरण परवर्ती नाटककारों ने किया। परवर्ती विख्यात नाटककार गिरीशचंद्र ने दीनबंधु के नाटकों में ही ट्रेजेडी का आदर्श पाया। अपने कर्म-क्षेत्र में दीनबंधु बंगाल की असाधारण जनता के संपर्क में आए थे। उस काल की बंगाली जनता और समाज को अभिज्ञता दीनबंधु को अत्यंत व्यापक और गंभीर थी। उस अभिज्ञता को ही उन्होंने अपने नाटकों में रूपायित किया है। इसीलिये सामाजिक चरित्र-सृष्टि में उन दिनों उनकी बराबरी करनेवाला कोई नहीं था।

दीनबंधु के नाटकों को लेकर ही कलकत्ता की साधारण नाट्यशाला जम उठती थी।

बंगाल में नृत्य-गीताभिनय के बीच एक कामिक (Comic) दृश्य-स्थापना, आधुनिक नाटकों के पहले से ही चली आ रही है। प्रहसन एवं प्रहसन-लक्षणाक्रांत नाटकों को

लोग बहुत ही पसंद करते। इस तरह के नाटकों की रचना में दीनबंधु अत्यंत ही दक्ष थे। मधुसूदन ने उत्कृष्ट प्रहसनों की रचना की है।

मनमोहन वसु के पहले की 'यात्रा' और 'पाँचाली' (एक प्रकार का लोक-गीत) आदि के साथ आगामी नाटकों की पद्धति का समन्वय कर नये ढंग के नाटकों की रचना की। "उनके पौराणिक नाटकों में पुरानी 'यात्रा' और 'पाँचाली' के करुणामय और भक्ति-भाव नये रूप में प्रकट हुए। ये चीजें गिरीश घोष के नाटकों में विकसित होकर आईं।"

रवींद्रनाथ के समसामयिक नाटकारों में सबसे प्रसिद्ध ज्योतिरींद्र नाथ ठाकुर (रवींद्रनाथ के बड़े भाइयों में तृतीय), गिरीशचंद्र घोष, अमृतलाल वसु, द्विजेंद्रलाल राय और क्षीरोद प्रसाद विद्याविनोद थे।

इन सभी में सबसे अधिक प्रसिद्धि गिरीशचंद्र घोष की थी। वे एक श्रेष्ठ अभिनेता भी थे। उस काल में अच्छे नाटकों का अभाव था। इसलिये रंगमंच की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर इन्होंने नाटक लिखना शुरू किया। बंकिमचंद्र के 'कपाल-कुंडला' और 'मृणालिनी' उपन्यासों को नाटक का रूप देकर गिरीशचंद्र ने नाटक रचना प्रारंभ की। यहां इस बात का उल्लेख किया जा सकता है कि विख्यात उपन्यासों और काव्यों को नाट्य का रूप देकर नाट्याभिनय का प्रचलन बंगाल में पहले से ही था। गिरीशचंद्र ने कई दर्जन नाटक लिखे हैं। इस दृष्टि से भी इस क्षेत्र में उनकी बराबरी करने वाला कोई नहीं। ऐतिहासिक, सामाजिक और पौराणिक नाटक, गीति-नाट्य, रूपक-नाट्य, प्रहसन आदि सभी प्रकार के नाटकों की रचना उन्होंने की है। समालोचकों का करना है कि पौराणिक नाटक ही गिरीशचंद्र का अपना क्षेत्र था।

गिरीशचंद्र के विभिन्न नाटकों के विभिन्न उपजीव्य हैं। उनमें देश-प्रेम अन्यतम है। बंकिमचंद्र की रचनाओं के समान ही गिरीशचंद्र के नाटकों में भी यह देश-प्रेम, देश के प्राचीन गौरव में ही अपनी सार्थकता समझता है।

ज्योतिरींद्रनाथ, द्विजेंद्रलाल और क्षीरोदप्रसाद ने शेक्सपियर के आदर्श पर ऐतिहासिक अथवा इतिहास का सहारा लेकर नाटकों की रचना की। इनमें भी द्विजेन्द्रलाल और क्षीरोद प्रसाद के नाटक अधिक लोकप्रिय थे।

ज्योतिरींद्रनाथ ने मौलिक नाटकों और प्रहसनों की रचना के अलावे संस्कृत के सत्रह उत्कृष्ट नाटकों का अनुवाद भी किया। अंग्रेजी और फ्रेंच नाटकों का भी उन्होंने अनुवाद किया। बंगाल नाट्य-साहित्य में अनुवाद नगण्य नहीं है। विख्यात, अख्यात अनेक नाटककारों ने, विशेषतः अंग्रेजी और संस्कृत के नाटकों का अनुवाद किया है।

प्रहसन लिखने में भी ज्योतिरींद्र नाथ का विशेष कृतित्व देखने को मिलता है। 'निम्नस्तरीय हास्य और कुरुचि की आवर्जना से तत्कालीन नाटकों का उद्धार कर ज्योतिरींद्र ने, विशुद्ध सरस हास्य की धारा का प्रवर्तन किया।'

'क्षीरोदप्रसाद की नाट्य-रचना की प्रधान विशेषता कहानी की रोचकता में है। गिरीशचंद्र ने भक्तिरस की जो वन्या नाटकों में उद्भावित की थी, क्षीरोदप्रसाद ने कहानी में पुनः

रोमांस को ले आकर उस धारा को अवरुद्ध कर दिया। द्विजेंद्रलाल यह नहीं कर सके।' क्षीरोदप्रसाद की रचनाओं में रवींद्रनाथ के अनुसरण का प्रयास दीख पड़ता है।

अमृतलाल के प्रहसनों और हास्यात्मक रेखाचित्रों में उनकी प्रतिभा का पूर्ण विकास हुआ है। इन्होंने कई नाटक, गीति-नाट्य और चित्र-नाट्य भी लिखे हैं। प्रहसन की रचना में अमृतलाल ने ज्योतिरींद्र नाथ का अनुसरण किया है। उनके प्रहसनों को "विशुद्ध प्रहसन, शिक्षात्मक प्रहसन और विद्रूपात्मक प्रहसन"—इन भागों में विभक्त किया जा सकता है। 'अमृतलाल का उद्देश्य हास्य-कौतुक की सृष्टि करना था और उसी के बहाने राष्ट्रीय और सामाजिक असंगतियों की ओर पाठकों और दर्शकों की दृष्टि आकर्षित करना था। शुभ्र, निराविल एवं प्रयत्न-विहीन कौतुक-रस की सृष्टि करने में अमृतलाल सफल हुए हैं।' रवींद्रनाथ इन समसामयिक लेखकों के दल से बाहर थे। नाटक हो अथवा अभिनय, सभी दिशाओं में नई प्रवृत्ति का उन्होंने परिचय दिया है। जहाँ उन्होंने पुराने मार्ग का परिचय दिया है वहाँ पर भी वे सबसे अलग हैं। प्रहसन की ही बात लें। रवींद्रनाथ से पहले और उनके समकालीन लेखकों ने प्रहसन लिखे हैं। लेकिन रवींद्रनाथ ने ऐसा प्रहसन लिखा है जो सबसे अलग जा पड़ता है। चरित्र-सृष्टि की स्वाभाविकता और बुद्धि-दीप्त अनाविल कौतुक रस के स्वतः स्फूर्त प्रकाशित इन प्रहसनों ने बंगला साहित्य का गौरव बढ़ाया है। पहले गीति-नाट्य और बाद में नृत्य-नाट्यों की उन्होंने रचना की है। कवि की विभिन्न नाट्य-रचनाओं के मोटे तौर पर ये विभाग किए जा सकते हैं:—गीति-नाट्य, नाट्य-काव्य, द्वन्द्व-नाट्य, हेयाली नाट्य वा कौतुक नाट्य, प्रहसन, रूपक-नाट्य तथा नृत्य-नाट्य।

रवींद्रनाथ के नाटक के वैशिष्ट्य की आलोचना करते हुए एक समालोचक का कहना है—"रवींद्रनाथ के नाटकों का मूल वैशिष्ट्य गीति-प्रवणता और सौंदर्यानुभूति है। बहिर्घटना का अंतर्द्वन्द्व उनके नाटकों में नहीं है। सर्वत्र एक प्रशांत, स्थिर फिर भी सुतीव्र अनुभूति का सुर सुनाई पड़ता है। इस अंतर्मुखी सुर की लीला में ही रवींद्रनाथ की प्रतिभा विकसित हुई है। यह भारतवर्ष का ही सुर है। भारतवर्ष की अंतरलीन मानस-वाणी उनकी रचनाओं में ध्वनित हुई है। वर्तमान वस्तुधर्मी सभ्यता मनुष्य को किसी प्रकार शांति नहीं पहुँचा रही है। उसने मनुष्य को नाना बंधनों में बांध रखा है। मनुष्य यदि बाहर के सभी बंधनों को तोड़-फोड़ डाले तभी वह भीतर भी मुक्त होगा। त्याग और संयम के पथ से मुक्ति आयगी। इन्हीं मूल तत्वों को रवींद्रनाथ ने अपने नाटकों में प्रकाशित करने की चेष्टा की है।" बंधन-हीन साधक कवि ने बँगला नाटक और बंगला-भिनय को आडम्बरपूर्ण मंच सज्जा द्वारा लोगों के मन को भुलावे में डालने के प्रयत्न से मुक्ति दिलाई। अभिनयपद्धति को भी उन्होंने परिवर्तित किया। जानकारों का कहना है कि रवींद्रनाथ के सभी नाटक अभिनय के योग्य नहीं हैं। रचना-भंगी कुछ ऐसी है कि अभिनय करने पर भी वह जमती नहीं है। लेकिन इन नाटकों का साहित्यिक मूल्य काव्यरूप में तो हैं ही, वे पाठ्य-काव्य और श्रव्य-काव्य भी हैं। रवींद्रनाथ के नाटकों में कथोपकथन बँगला भाषा के चरमोत्कर्ष का निदर्शन है। इस क्षेत्र में बंगला-साहित्य में कवि की बराबरी करने वाला कोई नहीं दीखता।

कहानी तथा उपन्यास के क्षेत्र में भी रवींद्रनाथ का स्थान सर्वोच्च है। छोटे गल्प के प्रथम लेखक की दृष्टि से रवींद्रनाथ का ही नाम लिया जाता है। छोटे गल्पों के वे केवल प्रथम लेखक ही नहीं बल्कि सर्वश्रेष्ठ लेखक भी हैं। उनकी कई कहानियाँ संसार की सर्वश्रेष्ठ कहानियों में परिगणित होती हैं। रवींद्रनाथ की कहानियों में ग्रामीण जीवन मुखरित हो उठा है। ग्रामांचल की हवा, वहाँ का प्रकाश, गाँव की तरु-शाखाओं का कंपन आदि कवि की भाषा में अपनी भाषा मिलाकर जिस प्रकार सौंदर्यशाली हो उठे हैं वैसा अन्य लेखक की रचना में नहीं पाया जाता। रवींद्रनाथ की कहानियों में शहर के जीवन का स्थान भी गौण नहीं है। क्यों कि मनुष्य चाहे शहर का हो या दिहात का, वह है मनुष्य ही। जीवन की नाना जटिलताओं में इस मनुष्य के व्यक्तित्व का ही वैचित्र्य-पूर्ण प्रकाश ही, जो नाना प्रकार के भावावेगों को उत्पन्न करता है, रवींद्रनाथ की कहानियों के उपजीव्य हैं।

रवींद्रनाथ की कहानियों में यथार्थवाद अत्यन्त स्पष्ट है। यहाँ तक कि उनकी अति-प्राकृतिक कहानियां भी इस यथार्थवाद की पृष्ठभूमि में लिखी गई हैं। किंतु रवींद्रनाथ की अन्यतम प्रतिभा का चरमोत्कर्ष वहाँ है जहाँ सीमा में असीम की उपलब्धि वे करते हैं। कहानी के क्षेत्र में भी इसका व्यक्तिक्रम नहीं हुआ है। यथार्थवाद में भी एक अनिर्वचनीय नैसर्गिकि रहस्य का अभास पाया जाता है। इसके संबंध में स्वयं रवींद्रनाथ ने लिखा है—"मैं समस्त वस्तुओं के यथार्थ को देख पाता हूँ, अथच उसी के भीतर उसकी समस्त क्षुद्रता और परस्पर-विरोधिता के बावजूद भी एक अनिर्वचनीय स्वर्गीय रहस्य का आभास पाता हूँ।"

एक समालोचक का कहना है—"इन कहानियों में आँखों के सामने आनेवाले मनुष्य का सुख-दुःखमय जो जीवन खण्ड है वह प्रवहमान प्राण-प्रवाह की विच्छिन्न धारा मात्र है। उसी के गभीर आनंद-स्रोत में मानव-जीवन का क्षणिक स्नेह, प्रेम और तुच्छता, व्यर्थता, वेदना—सभी मानो एक अलौकिक सार्थकता को पाकर चरितार्थ हो रहे हैं। मानव-जीवन की व्यर्थता का विश्व-व्यापी विरह-वेदना के साथ मिलन संपादित हुआ है। मानव-प्रेम की विरह-वेदना विश्व-चैतन्य के आनंद-रस में विलीन हो गई है। रवींद्रनाथ के वाणी-शिल्प द्वारा स्वर्ग-मर्त्य का मिलन संभव हुआ है। रवींद्रनाथ की कहानियों में 'एक ऐसा आध्यात्मिक परिवेश है जो पाठक के मन में अतृप्ति-वेदना की अनुभूति के साथ-साथ एक वृहत्तर सांत्वना भी देता है। पाठक जैसे मानस-गंगा में स्नान कर शुचिता लाभ करता है। छोटे गल्पों की रचना में रवींद्रनाथ की अनन्यता इसी में है।

जीवन के शेष दिनों में रवींद्रनाथ ने तीन कहानियाँ लिखीं। वे कहानियाँ 'तीन संगी' के नाम से संगृहीत हुई हैं। इन कहानियों के पक्ष और विपक्ष में बहुत तरह की समालोचनाएँ प्रकाशित हुई हैं।

उपन्यास-क्षेत्र में भी युग-प्रवर्तक का गौरव रवींद्रनाथ को प्राप्त है। बँगला-साहित्य में उन्होंने आधुनिक उपन्यास-युग का प्रवर्तन किया। बहुत से समालोचकों का कहना है कि सूक्ष्म, यथार्थवाद की दृढ़ पृष्ठ-भूमिपर प्रतिष्ठित, मनोवैज्ञानिक आधुनिक उपन्यासों में भी रवींद्रनाथ की रचना ही श्रेष्ठ है।

रवींद्रनाथ के वयोज्येष्ठ समसामयिक उपन्यास-लेखक अनेक थे और उन्होंने अनेक उपन्यास भी लिखे हैं। इनमें जिनकी रचना आलोच्यकाल में पड़ती है उन विख्यात कई लेखकों में रमेशचंद्र दत्त थे। इन्होंने पहले विशुद्ध ऐतिहासिक उपन्यास लिखे। उनमें 'राजपूत जीवन-संध्या', 'महाराष्ट्र जीवन-प्रभात' ये दो उपन्यास प्रसिद्ध हैं।

उस काल की विख्यात उपन्यास-लेखिका स्वर्णकुमारी थीं। इनका विख्यात उपन्यास 'स्नेहलता' है। 'बंगाली समाज की आधुनिकता की समस्या को लेकर लिखा हुआ यह प्रथम उपाख्यान' था। शिवनाथ शास्त्री उस काल के एक अन्य सुप्रसिद्ध उपन्यास लेखक थे। रवींद्रनाथ ने विशेष रूप से इनका उल्लेख किया है। नगेंद्रनाथ गुप्त बीसवीं शताब्दी के प्रायः तृतीय दशक तक, लगभग तीस वर्षों तक, एडवेंचर-बहुल, गार्हस्थ्य-चित्रमय रोमांटिक उपन्यास लिखते रहे हैं जिन्हें पर्याप्त ख्याति मिली।

श्रीशचंद्र मजुमदार ने ग्राम-जीवन-संबंधी रोमान्टिक उपन्यास लिखने में काफी दक्षता का परिचय दिया। पाँचकौड़ी बंध्योपाध्याय ने डिटेक्टिव उपन्यासों में ख्याति लाभ की। हरप्रसाद शास्त्री की श्रेष्ठ रचना "बेनेर मेये" है। आलोच्य काल में नहीं पड़ने पर भी तारकनाथ गंगोपध्याय के गार्हस्थ्य उपन्यास, 'स्वर्णलता' का नाम लिया जा सकता है, क्योंकि बंकिम-युग से प्रारम्भ कर आज तक उस उपन्यास की लोकप्रियता कम नहीं हुई।

लेकिन रवींद्रनाथ के ऊपर इनमें से किसी का भी प्रभाव नहीं दीख पड़ता।

यह ठीक है कि रवींद्रनाथ ने बंकिमचंद्र-प्रवर्तित धारा का अनुसरण कर ही उपन्यासों की रचना की। उनका पहले दो उपन्यास 'बउ ठाकुरानीर हाट' और 'राजर्षि', ऐतिहासिक उपन्यासों के आदर्श पर ही लिखे गए हैं। लेकिन शीघ्र ही उन्होंने नये पथ का अनुसरण किया। 'चोखेर बाली' उनका युगांतकारी उपन्यास है। इस उपन्यास में नर-नारी के अंतर्द्वन्द्व के संघात ने घूर्णावर्त की सृष्टि की है। इसमें रवींद्रनाथ कार्य-कारण की सुदृढ़ परम्परा के नियम का अनुसरण कर अनुकूल घटना-विन्यास के द्वारा विचार-विशेषण करते हुए अग्रसर हुए हैं। इस उपन्यास में सामाजिक उत्पीड़न से पीड़ित नारी के कण्ठ में जिस प्रच्छन्न विद्रोह का रूप सुस्पष्ट हो उठा है वही क्रमशः तीव्रतर होता गया है।

साहित्य स्रोत-धारा के रूप में प्रवाहित होता है। जब वह धारा नई दिशा में बहना शुरू कर देती है तब पुरानी धारा उसी में आकर मिल जाती है। बँगला-साहित्य में भी यही हुआ है। उपन्यास में बंमिमचंद्र-प्रवर्तित रोमांटिक धारा रवींद्रनाथ में आकर नई धारा में प्रवाहित होने लगती है। बाह्य घटना-वैचित्र्य और घटना के चमत्कारपूर्ण कौशल पर ही बंकिमचंद्र के उपन्यास आधारित थे। लेकिन रवींद्रनाथ के उपन्यासों में जो रोमांस है "वह और भी उच्च और गंभीर है। प्रकृति के साथ मानव-मन का भाव-विनिमय हो रहा है। उसमें आत्म-समाहित चित्र की भाव-विह्वलता है। वहाँ सौंदर्य का असीम प्रसारित अतल स्पर्श रहस्य की चकित उपलब्धि की प्रवृत्ति के रूप में आत्म-प्रकाश कर रहा है।"

रवींद्र के उपन्यासों में प्रधानतः मध्यवित्त बंगाली-समाज का चित्रण है। विशेष-रूप से जिन्हें उच्च मध्यवित्त कहा जाता है, जो ह्रासमान भूस्वामित्व के प्रतिनिधि हैं और

जिनमें शिक्षा और अर्थ-संबंधी एक नया अभिजात्य दीख पड़ता है, रवींद्रनाथ के उपन्यासों में विशेषतः उन्हीं का चित्रण है।

कवि के उपन्यास में यथार्थवाद और आदर्शवाद का अपूर्व समन्वय हुआ है। रवींद्र-प्रतिभा का प्रधान वैशिष्ट्य यहाँ परिलक्षित होता है। शिल्प की रस-सृष्टि में साधारण असाधारण हो उठा है; सीमा, असीम की ओर चला गया है।

अन्यान्य विशेषताओं के साथ रवींद्रनाथ की अतुलनीय भाषा ने उपन्यासों को अत्यधिक चित्ताकर्षक बना दिया है। विशेष रूप से "मेरिडिथ के उपन्यासों के समान रवींद्रनाथ के शेष-युग के उपन्यासों में एक प्रकार की तीव्र कठिन चमत्कारकारी उज्ज्वलता (Intellectual Brilliance) तथा द्रुत अवसर-हीन संक्षिप्तता के बीच गंभीर अर्थ-गौरव की द्योतना (epigraph) प्रत्येक पृष्ठ में हमें चमत्कृत करती हैं।"

रवींद्रनाथ प्रथम श्रेणी के औपन्यासिक तथा प्रथम श्रेणी के कवि थे। इसीलिये बहुतों का ख्याल है कि कवि ने कभी-कभी औपन्यासिक के कार्य में हस्तक्षेप किया है। समालोचक इस प्रसंग में 'चतुरंग', घरे बाहिरे', और 'योगायोग' का उल्लेख करते हैं। लेकिन कवि और औपन्यासिक का हाथ में हाथ मिलाकर चलना 'शेषेर कविता' नामक उपन्यास में सुस्पष्ट हो उठा है। 'शेषेर कविता' काव्यात्मक है। बंगला में इस तरह का और कोई उपन्यास नहीं है।

रवींद्रनाथ के एक एक उपन्यास बँगला में परिपाटी-विशेष के उपन्यासों का पथ-निर्देश करते हैं। अन्य उपन्यास लेखकों ने उन्हीं उन्हीं पथों का अनुसरण किया है। निषिद्ध प्रेम, पुरुष वा नारी का एक ही साथ अन्य पुरुष वा नारी के साथ प्रेम का अंतर्द्वंद्व, स्वदेश-प्रेम, आतंकवाद आदि रवींद्रनाथ प्रवर्तित उपन्यास-धाराओं का आश्रय ग्रहण कर बँगला में बहुत से श्रेष्ठ उपन्यास लिखे गए हैं।

इस निबंध को संक्षिप्त करने के लिये गल्प, उपन्यास और नाटकों के अलावे अन्य गद्य रचनाओं को 'प्रबंध' में ही अंतर्मुक्त कर रहा हूँ। अतएव 'प्रबंध' शब्द यहाँ बहुत ही व्यापक अर्थ में व्यवहृत हुआ है। विज्ञान-विषयक रचनाओं से आरंभ कर व्यंग्यात्मक सरस रचना पर्यंत सभी इसी 'प्रबंध' के भीतर आलोचित हैं।

'प्रबंध' की आलोचना करके अगर हम देखें तो दो प्रकार की प्रबंध रचना के दर्शन होते हैं :—(१) वस्तु-गर्भ (२) रस-गर्भ। सहज भाषा में एक वस्तु-प्रधान है और दूसरी रस-प्रधान। यह कहना आवश्यक है कि वस्तु-प्रधान प्रबंध सरस हो सकते हैं और रस-प्रधान प्रबंधों में सार, तत्व का अभाव नहीं भी रह सकता है। तब साहित्य की दृष्टि से रस की प्रधानता प्रबंध में रहनी चाहिए।

रवींद्रनाथ ने जब प्रबंध लिखना शुरू किया उसके पहले बंगला में बहुत-से प्रबंध लिखे जा चुके थे। रवींद्रनाथ की जीवनावस्था में ही उसकी समृद्धि और उसका गौरव अत्यधिक परिमाण में बढ़ गया। बहुत से विख्यात प्रबंध-लेखक रवींद्रनाथ से उम्र में बड़े थे। उनमें से अनेक की रचनाएँ आलोच्य-काल में पड़ती हैं। तरह-तरह के विषयों पर इन्होंने लिखा है—धर्म-तत्त्व, पुरातत्त्व, इतिहास, दर्शन, विज्ञान, साहित्य-

आलोचना, जीवनी, समसामयिक समस्या, सरस रचना (Bellens letters) आदि। विषय की दृष्टि से परवर्ती काल के लेखकों ने किसी नई वस्तु की अवतारणा नहीं की है। स्वयं रवींद्रनाथ ने भी नहीं। इन लेखकों में जो अधिक विख्यात थे उनके नाम एवं आलोच्य-काल में अगर उनकी कोई रचना पड़े, उनका संक्षिप्त विवरण ही देना यहाँ संभव है।

अक्षय कुमार दत्त ने अंग्रेजी के विज्ञान-ग्रंथों की निराडंबर भाषा के समान वैज्ञानिक सहज भाषा का प्रवर्तन किया। विज्ञान-विषयक रचना के भी ये आदि-प्रवर्तक थे। इनकी रचनाएँ यद्यपि आलोच्य-काल में नहीं पड़तीं तथापि विशेष धारा के प्रवर्तक के रूप में इनकी रचनाओं का उल्लेख किया जा सकता है।

बंकिमचंद्र, रवींद्रनाथ के पूर्ववर्ती प्रबंध-लेखकों में श्रेष्ठ हैं। प्रबंध के विषय-वैचित्र्य, उसकी विशिष्टता तथा परिमाण—सभी दृष्टियों से आगे बढ़े हुए थे। बंकिमचंद्र की एकमात्र रचना 'कृष्ण-चरित्र (द्वितीय संस्करण)' आलोच्यकाल में पड़ती है। यह बंकिम चंद्र की अंतिम और विशिष्ट रचना है।

महर्षि देवेंद्रनाथ ठाकुर (रवींद्रनाथ के पिता) की अन्य रचनाएँ इस काल में नहीं पड़तीं। आलोच्य-काल में उनकी आत्म-जीवनी' का उल्लेख किया जा सकता है। द्विजेंद्रनाथ ठाकुर (रवींद्र नाथ के सबसे बड़े भाई) की 'गीता पाठेर भूमिका' तथा सत्येंद्रनाथ ठाकुर (रवींद्रनाथ के मंझले भाई) का 'बौद्ध धर्म' काफी विख्यात हैं। राजकृष्ण मुखोपाध्याय, अक्षयचंद्र सरकार; हरप्रसाद शास्त्री नामी प्रबंध-लेखक थे। लेकिन उनके ग्रंथ आलोच्य-काल में नहीं पड़ते। योगेंद्रनाथ विद्याभूषण का 'गैरीबाल्डी जीवन चरित, अघोरनाथ चट्टोपाध्याय का 'भक्त-चरितामृत' तथा 'हरिदास ठाकुर' काली प्रसन्न घोष की 'निशीथ-चिंता; वीरेश्वर पांडे का 'उन्नीसवीं शताब्दी का महाभारत'। पांडे जी का लिखा हुआ ग्रंथ वास्तव में कवि नवीनचंद्र सेन के 'रैवतक' 'कुरुक्षेत्र' और 'प्रवास' ग्रंथों की आलोचना है।

रवींद्रनाथ प्रबंध के क्षेत्र में भी बंगला-साहित्य में अग्रणी हैं। सभी लेखकों की सभी रचनाएँ साहित्य की कोटि में नहीं आ सकतीं, लेकिन रवींद्रनाथ की सभी रचनाएँ साहित्य की कोटि में आ जातीं हैं। 'चिंतन और रसात्मकता का अद्भुत संयोग' रवींद्रनाथ के प्रबंधों में हुआ है। 'विषयवस्तु की दृष्टि से रवींद्रनाथ के प्रबंधों के ये कई विभाग किए जा सकते हैं।—(क) साहित्य-विचार (ख) विश्लेषण (ग) समाज और धर्म (घ) राजनीतिक (ङ) पर्यटन और आत्मकथा (च) कौतुक-जल्पना (हास्यरसात्मक प्रबंध)।'

रवींद्रनाथ की प्रबंध रचना का प्रारंभ ही साहित्य की आलोचना से हुआ है। जो साहित्यिक आलोचना उन्होंने लिखी है वह अपने आप एक सुंदर साहित्य हो गई है। विशुद्ध साहित्यिक आलोचना के आदर्श की उन्होंने प्रतिष्ठा की। वाल्मीकि, कालिदास आदि प्राचीन कवियों की आलोचना 'प्राचीन साहित्य'; बंकिमचंद्र आदि लेखकों की आलोचना 'आधुनिक साहित्य'; लोकसाहित्य की आलोचना 'लोक साहित्य' नामक ग्रंथों में प्रकाशित हुई है। साहित्य का तत्व, साहित्य की गति इत्यादि नाना विषयों को

लेकर उन्होंने नाना प्रबंध लिखे हैं, इन प्रबंधों में अधिकांश 'साहित्येर पथे', 'साहित्य' तथा 'साहित्येर स्वरूप' आदि ग्रंथों में प्रकाशित हुए हैं।

रवींद्रनाथ की प्रतिभा एक साथ ही संश्लेषणी और विश्लेषणी थी। उपर्युक्त श्रेणी के प्रबंध इसी कोटि के हैं। वैज्ञानिकों की तरह से अनुसंदिधित्सा और विचार-विश्लेषण, दार्शनिकों की तरह से चिंतनशीलता, तत्त्वानुसंधान और तत्त्व-विचार तथा उनके साथ ही उनकी संश्लेषणी रसात्मकता का परिचय अन्य प्रबंधों में मिलता है। बंगला-शब्द तत्त्व' 'विश्व परिचय' आदि ग्रंथों में इसी प्रकार के प्रबंध हैं।

धर्म और समाज श्रेणी के प्रबंधों में रवींद्रनाथ की चिंतनशीलता, अंतर्दृष्टि, उदारता, विचार-विश्लेषण, शक्ति और दूरदर्शिता का परिचय मिलता है। कवि की धर्म-विषयक रचनाएँ बुद्धिमूलक हैं। ये सम-सामयिक धर्मांदोलन-वाग्वितंडा में अंतर्भुक्त की जा सकती हैं। और कितनी ऐसी हैं जिनमें उनकी अपनी आध्यात्मिक अनुभूति का रसात्मक प्रकाश है। 'मानुषेर धर्म' नामक ग्रंथ में यह पूर्णतः स्पष्ट है। रवींद्रनाथ का धर्म मानव-धर्म है, जिसके मूल में उपनिषदों का धर्म है।

सामाजिक प्रबंधों में उन्होंने जहाँ समाज की नाना कुरीतियों, दोषों और त्रुटियों तथा दुर्बलताओं को दिखलाने की चेष्टा की है वहाँ उसके गौरव की बात को भी दृष्टि से ओझल नहीं होने दिया है।

राजनीति-विषयक प्रबंधों में रवींद्रनाथ ने विदेशी शासन द्वारा कृत अपमान और लांछना, अंग्रेजों और भारतवासियों के संबंध, राष्ट्रीय स्वाधीनता प्राप्त करने के उचित मार्ग आदि की बातों की चर्चा की है। रवींद्रनाथ की दृष्टि में स्वतंत्रता प्राप्ति के उपाय आत्म-निर्भरता, अपने घर की संभाल, अपने दोषों एवं त्रुटियों को दूर करना, जिस रंध्र से शनि का प्रवेश हो रहा है उसे बंद करना आदि थे। मनुष्य की तरह उन्होंने कर्म करने के लिए शक्ति के उत्स, गांवों को पुनर्जागरित करने की बात कही है। उन्होंने रचनात्मक कार्यों पर ही अधिक जोर दिया है, विध्वंसात्मक कार्यों पर नहीं।

बंगाली लेखकों में रवींद्रनाथ जैसा किसी ने भी संसार का इतना अधिक पर्यटन नहीं किया था। संसार के विभिन्न देशों में घूमकर कवि ने देवता-काव्य—विश्व-प्रकृति और मनुष्य का रूप—को अच्छी तरह से देखा है और उसके अंतर-सौंदर्य की उपलब्धि की है और जगत् तथा जीवन में अत्यधिक अभिज्ञता लाभ की है। परिणामस्वरूप उनके कवि-चित्त में नवीन-नवीन चिंताधाराओं का संचार हुआ है। उनका कवि-हृदय नवीन भावों से आंदोलित हुआ है। 'उनकी चिट्ठियों, डायरी तथा विभिन्न प्रबंधों में' उनके दर्शन होते हैं। चिट्ठी-पत्र किस प्रकार से साहित्य हो सकता है इसे रवींद्रनाथ ने संभव कर दिखाया है। उन्होंने पत्र-रचना को एक नवीन साहित्यिक पद्धति प्रदान की है।' इस प्रसंग में कवि के 'छिन्न पत्र' (पत्रों का पुस्तकाकार संग्रह) का उल्लेख किया जा सकता है।

रवींद्रनाथ के भ्रमण-वृत्तांत भ्रमण की साधारण कहानी मात्र नहीं हैं, उनमें कवि की अभिज्ञता और रसात्मकता का सुंदर योग हुआ है। बहुत बार ऐसा भी हुआ है कि कवि के भ्रमण वृत्तांत में भ्रमण संबंधी कोई बात नहीं है। भ्रमण के समय कवि के

हृदय में जो-जो भाव उत्पन्न हुए हैं उनका ही सुंदर सरस वर्णन कवि ने किया है। रवींद्रनाथ की अभिज्ञता के संबंध में मतभेद हो सकता है, लेकिन वर्णन की साहित्यिकता और रसात्मकता में किसी प्रकार का संदेह नहीं है। 'यात्री' 'एशियार चिट्ठी' 'जापानेर पार्श्वे' आदि ग्रंथों को देखने से यह बात स्पष्ट हो जायगी। कहा जाता है कि यौवन-काल की भ्रमण-कहानी में कवि के कर्म-चंचल, ज्ञान-निष्ठ मन का परिचय मिलता है लेकिन प्रौढ़ावस्था की डायरी तथा चिट्ठियों में उनके ध्याननिष्ठ, आत्म-उपलब्धि-शांति का परिचय पाया जाता है।'

रवींद्रनाथ की आत्मकथा-विषयक रचनाओं में सबसे अधिक विख्यात उनकी 'जीवन स्मृति' ग्रंथ है। गद्य रचना की दृष्टि से यह अत्यंत उत्कृष्ट है। इसके बाद 'आत्म-परिचय' ग्रंथ का उल्लेख किया जा सकता है। कवि-लिखित आत्म-चरित्रात्मक प्रबंधों में बाहर की बात नहीं है, उनके अंतर-जीवन की अपनी काव्याभिव्यक्ति की बात है। साधारणतः जिसे जीवनी कहते हैं उसे इन रचनाओं में नहीं पा सकते। पर अनेक चिट्ठी पत्रों में रवींद्रनाथ की जीवन-संबंधी बातें पाई जाती हैं तथा अन्य अन्य रचनाओं में भी वे देखने को मिल जाती हैं। आत्म-चिंतन-प्रधान ग्रंथों में 'पंच भूत' वा 'पंच भूतेर डायरी' है। इसमें भी उनकी सरस, बुद्धि-मूलक प्रतिभा का परिचय मिलता है। 'साहित्य, समाज, शिल्प और जीवन-संबंधी नाना बातों ने नाना रूपों में रवींद्रनाथ के मन को आलोड़ित किया था। उसी चिंता का परिचय पंच भूत के पन्ने पन्ने में मिलता है।

समालोचकों की धारणा है कि शुद्ध कौतुक-रस (Humour) बँगला-साहित्य में कम ही लेखकों की रचनाओं में पाया जाता है। स्थूल हास्य अथवा व्यंग-विद्रूप जो हास्यासात्मक कहे जाते हैं उसके लिखनेवाले अनेक हैं।

'स्थूलता, क्षुद्रता और रूढ़ व्यंग्य के संस्पर्श से अपने को बचाकर बंकिमचंद्र ने प्रथम बंगला-साहित्य में हास्यरस का प्रवर्तन किया। रवींद्रनाथ की रचनाओं में उसका सूक्ष्म और निपुणतम शिल्प-रूप देखने को मिलता है। हास्यरस की सूक्ष्मधारा रवींद्रनाथ के गद्य को अत्यंत रमणीय बनाती है। वक्रोक्ति, मृदु और रूढ़ व्यंग्य, व्याजस्तुति, श्लेष, दीपक आदि के निपुण प्रयोग द्वारा रवींद्रनाथ का गद्य सरस सुंदर हुआ है। रवींद्रनाथ का हास्य परिमार्जित रुचि का परिचायक है। कहीं भी असंयम अथवा ग्राम्यता का चिन्ह तक नहीं दीख पड़ता। रवींद्र नाथ के हास्यरस का उपयोग करने के लिए बुद्धि के साथ वैदग्ध्य की भी आवश्यकता पड़ती है। 'रवींद्रनाथ के जो विशुद्ध हास्यरसात्मक प्रबंध हैं उनकी तीन श्रेणियाँ हैं। (क) रूढ़ व्यंग्यात्मक (ख) मृदु व्यंग्यात्मक (ग) विश्रब्ध और सरस संलापात्मक।'

रूढ़ व्यंग्यात्मक (Satirical) प्रबंध उनकी आरंभिक रचनाओं में मिलते हैं और मृदु व्यंग्यात्मक प्रबंधों की संख्या अधिक नहीं है। विश्रब्ध और सरस संलापात्मक रचनाएँ बहुत हैं। केवल कथोपकथन के द्वारा बिना किसी आयोजन के हास्यरस की सृष्टि करने की उनकी सुदक्षता का पता रवींद्रनाथ के कई बड़े प्रहसनों तथा उनके 'हास्य-कौतुक' ग्रंथ में उद्धृत कई छोटे-छोटे प्रहसनों से लग जाता है। 'व्यंग-कौतुक' तथा 'लिपिका' नामक ग्रंथों में भी इस प्रकार की कई रचनाएँ हैं।'

रवींद्र साहित्य की बात शेष करने के पहले उनकी प्रतिभा की एक विशिष्ट दिशा का उल्लेख करना आवश्यक है। मेरा मतलब रवींद्रनाथ-रचित 'शिशु-साहित्य' से है। इस क्षेत्र में भी वे सर्वश्रेष्ठ हैं।

काव्य-क्षेत्र में रवींद्रनाथ के समवयस्क अथवा कनिष्ठ लेखकों में ऐसे लेखकों की संख्या नगण्य है जिनपर रवींद्रनाथ की सर्वग्रासी प्रतिभा का प्रभाव न पड़ा हो। बींसवीं शताब्दी के तृतीय दशक में रवींद्रनाथ के प्रायः पौत्र-तुल्य कवि ही व्यापक रूप से नवीन पथ पर अग्रसर हुए।

इन कवियों में देवेंद्र नाथ सेन की 'काव्य-कला में मधुसूदन हेमचंद्र की क्लासिक पद्धति के साथ बिहारीलाल की रोमांटिक पद्धति का मिलन हुआ है।' सानेट—रचना में इन्होंने असाधारण नैपुण्य दिखलाया है। 'उसमें भाषा में मधुसूदन का तथा भाव में रवींद्रनाथ का अनुसरण सुस्पष्ट है।' इनकी अपनी विशेष भंगी भी है। 'भाव की दृष्टि से देवेंद्रनाथ को गार्हस्थ्य (Domestic) कवि' कहा जा सकता है। प्रधानतः इन्होंने प्रेम-संबंधी ही कविताएँ लिखी हैं। 'पत्नी-प्रेम' उनका उपजीव्य है।

गोविंद्रचंद्र दास का विशेषतत्व कई दिशाओं में सुस्पष्ट हुआ है—ये ही प्रथम कवि हैं जिन्होंने शारीरिक प्रेम-संबंधी कविताएँ लिखी हैं। 'नारी का शारीरिक प्रेम ही कवि की साधना है।' उस काल के बंगाली कवियों में संभवतः ये ही ऐसे थे जो अंग्रेजी नहीं जानते थे। गोविंदचंद्र सभा-कवि के नाम से ही सुपरिचित हैं। वे पूर्वी-बंगाल के थे। 'पूर्व बंगाल का विशेष रूप—उसका Local Colour एवं Atmosphere—गोविंद-चंद्र की कविताओं में जिस प्रकार से रूपायित हुआ है, अन्य पूर्व बंगीय कवि में वैसा नहीं हुआ है। इनकी कविताओं का अन्यतम वैशिष्ट्य उनकी सरलता है।

अक्षयकुमार बडाल प्रेम-वैचित्र्य के कवि हैं। 'नारी-प्रेम इनके काव्य का एक मात्र उपजीव्य है।' यह प्रेम प्रत्यक्ष उपलब्धि की वस्तु है। 'वाक्-संयम, निपुण शब्द-चयन एवं पद-लालित्य के साथ भाव-गांभीर्य का मेल इनकी रचनाओं का विशेषत्व है। इनका सबसे अधिक प्रसिद्ध काव्य ग्रंथ 'एषा' है। पत्नी की मृत्यु के बाद यह ग्रंथ लिखा गया था। 'नितांत व्यक्तिगत शोक को इस प्रकार से काव्य का रूप देना बंगाल-साहित्य में कुछ अधिक देखने को नहीं मिलता।'

स्त्री-कवि कामिनी राय के काव्य का विशेषत्व दैव-विडंबित अथवा प्रियतम के औदासीन्य से आशंकित नारी-प्रेम की कुंठा तथा आत्मोत्सर्गकारी निस्वार्थता है।' इस प्रकार का (Impersonal) रूप वैष्णव-कविताओं में पाया गया है अवश्य, किंतु कामिनी राय की कविताओं में बिल्कुल (Personal) कवि रूप में यह उनके मर्म की बात है।' नारी के हृदय की इतनी सुंदर और सहज अभिव्यक्ति इनके पहले और किसी भी कवि में नहीं मिलती।

द्विजेंद्रलाल राय के नाटकों की चर्चा पहले की जा चुकी है। काव्य-क्षेत्र में हल्के ढंग की रचना तथा 'लघु-परिहास मंडित कविता' इनका विशेष दान है। 'द्विजेंद्रलाल की कविताओं ने बंगला-साहित्य के विशेष अभाव को दूर किया है।'

विशुद्ध हास्यरस की कविता और संगीत की रचना कांतकवि रजनीकांत सेन ने सफलतापूर्वक की है। स्वदेश-प्रेम तथा भक्ति मूलक उत्कृष्ट कविताएँ भी इन्होंने लिखी हैं।

गंभीर सौंदर्यानुभूति, वाग्विन्यास की सफाई तथा रचना का प्रसाद गुण, प्रियंवदा देवी के काव्य का वैशिष्ट्य है। प्रियम्वदा देवी की कविताओं में नारी के हृदय की व्याकुलता तथा करुणा की सुंदर अभिव्यक्ति हुई है।'

बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में रोमांटिक काव्य में किसी-किसी कवि ने एक नवीन धारा का प्रवर्तन किया। इस धारा के प्रथम कवि रवींद्रनाथ के साक्षात्-शिष्य सतीशचंद्र राय थे। इनके काव्य में 'रंगीन रोमांटिक कल्पना के साथ सतेज वैज्ञानिक वैदग्ध्य का समन्वय देखा जाता है। इनकी कवि-प्रकृति ने सत्येंद्र नाथ दत्त आदि प्रमुख कवियों को खूब प्रभावित किया है।'

इस धारा के कवियों की प्रधान विशिष्टता प्रकृति के रंगीन, सहृदय, सरस और सेंटिमेंटल रूप की कल्पना तथा लघुछंद और सरस भाषा का प्रयोग थी।

सत्येंद्रनाथ दत्त स्वभाव से ही कवि थे। रवींद्रनाथ के बाद नजरुल इस्लाम को छोड़कर सत्येंद्रनाथ दत्त के ऐसा कोई कवि नहीं हुआ जिसने इतनी अधिक और नाना प्रकार की कविताएँ लिखीं हों। इन पर रवींद्रनाथ का प्रभाव यथेष्ट था। एक समालोचक ने इसीलिये इनको रवींद्रनाथ का लोकप्रिय संस्करण (Popular Edition) कहा है।

सत्येंद्रनाथ स्वदेशी आंदोलन के समय में हुए, इसलिये देशभक्ति से ही उन्होंने अधिक प्रेरणा ग्रहण की। 'सत्येंद्र की कवि-प्रकृति में वैज्ञानिक बुद्धि प्रबल थी, इसीलिये उनकी कविताएँ जितनी तथ्य बहुल हैं उतनी भावगभीर नहीं हैं।' लेकिन सत्येंद्र छंदों के राजा थे। तरह तरह के इतने छंदों का इतना सुंदर व्यवहार किसी ने भी नहीं किया है। दूसरी भाषाओं से बहुत से सुंदर-सुंदर छंदों का प्रवर्तन उन्होंने बड़ी निपुणता से बंगला-भाषा में किया है। इनके छंदों और भाषा के माधुर्य से पाठक का मन मुग्ध हो जाता है।

शब्द का व्यवहार वे निर्बंध होकर करते। 'सर्वविध परिचित और अपरिचित शब्दों के व्यवहार में उन्होंने दुस्साहिक सार्थकता दिखलाई है जिसने परवर्ती कवियों को नूतन पथ दिखलाया है।'

देशी और विदेशी भाषा की अनेकानेक कविताओं का अनुवाद उन्होंने पद्य में बड़ी सफलता के साथ किया है। उदाहरण-स्वरूप 'कबीर' के पद्यांश का सत्येंद्रनाथ के अनुवाद के साथ उद्धरण नीचे दिया जाता है।

ग्रह चंद्र जोर बरत है—
घूरत राग निरत तार बजै
नौबतिया घूरत है रैन दिन सून्य में
कहैं कबीर पिऊ गगन गाजै ॥
सूर्य ग्रह चंद्र तारा रश्मि-धारा बर्षिछे

गाहिछे गृही प्रेमेर सुर बाजाय ताल बैरागी
शून्य-तले ध्वनिछे सदा ऐक्य-तान नौबते
कबीर कहे बंधु मम गगने सदा रय जागि ॥

समसामयिक और परवर्ती बहुत से कवि सत्येंद्रनाथ दत्त से प्रभावान्वित हुए हैं। करुणानिधान वंद्योपाध्याय, ज्योतींद्रमोहन बागची, काजी नजरुल इस्लाम, मोहितलाल मजुमदार तथा अति आधुनिक कवि जीवनानंद दास आदि के नाम विशेष उल्लेख योग्य हैं।

बहिःप्रकृति का वर्णन करुणानिधान बंद्योपाध्याय के काव्य की विशेषता है। किंतु एक समालोचक की उक्ति है—'करुणानिधान की काव्यकला चित्रकुशलता से ऊपर नहीं उठ सकती है।' ज्योतींद्र मोहन बागची की कविताओं में भी प्रकृति-वर्णन का ऐश्वर्य वर्तमान है। 'लेकिन इनकी कवि-कल्पना केवल बहिःप्रकृति के रूप के पर्दे में अवरुद्ध होकर नहीं रह गई है। वह ग्रामवासी बंगाली के गार्हस्थ्य के Emotion के Frame से ही बंधी हुई है।'

इन कवियों की चर्चा करते समय कवि कुमुदरंजन मल्लिक का नाम स्मरण हो आता है। ये भिन्न प्रकृति के कवि हैं। 'इनकी कविताओं में ग्रामहृदय का स्वच्छ प्रकाश सहज भाषा और मीठे सुर में दिखाई पड़ता है।' जसीमुद्दीन, बंदेअली मियाँ आदि ग्राम-जीवन-संबंधी कविता लिखनेवाले कवियों में यह धारा विशेष रूप से परिपुष्ट हो उठी है। कविशेखर कालिदास राय ने भाव-गभीर देशात्मबोधक गीति-कविता की रचना में प्रसिद्धि लाभ की है। निर्दोष भाषा और छंद इनकी कविताओं की विशेषता है।

मोहितलाल मजुमदार के काव्य में एक नये ढंग का सुर सुनाई पड़ता है। यह सुर देह-प्राधान्यवाद का है। मोहितलाल के काव्य में रवींद्रनाथ और सत्येंद्रनाथ दत्त का प्रभाव सुस्पष्ट है। लेकिन काव्य-मर्मज्ञों का कहना है कि उनके काव्य में जो देह-प्राधान्य-वाद दीख पड़ता है वह सत्येंद्रनाथ और रवींद्र की काव्य-परंपरा के विरोध में एक प्रतिक्रिया मात्र है।

मोहितलाल की कविता का उत्स बुद्धि है। इंद्रिय-ग्राह्यता मोहितलाल के काव्य में विशेष रूप से परिलक्षित होती है। उन्होंने 'नाशवान शरीर' के प्रेम की चर्चा की है। उनके काव्य में एक ऐसी वीर्यशालिता है जो विशुद्ध इंद्रिय-वासना को महिमान्वित बना देती है। समालोचक की दृष्टि में 'कवि Realist नहीं है Idealist ही है।'

कवि यतींद्रनाथ सेनगुप्त की विशिष्टता सहज ही दीख पड़ती है। बहुतों की राय में वे इस काल के श्रेष्ठ कवि हैं। 'उनके काव्य में जीवन-लीला में अदृष्ट के निष्ठुर प्रहार के कारण मानवात्मा का क्रंदन, हल्की भाषा, लघु छंद और मृदु व्यंग्य का नूतन रूप दीख पड़ता है।' 'सुख संन्यास गेरुआर विलासिता' पर उन्होंने तीव्र प्रहार किया है। यतींद्रनाथ के काव्य में दुःख-वेदना का सुर तीव्र हो उठा है।

रवींद्रनाथ द्वारा पूर्णरूप से प्रभावित कवियों में दो ख्यात कवि ऐसे हुए जिन्होंने बीसवीं शताब्दी के तीसरे दशक में 'रवींद्रनाथ की सर्वजयी प्रतिभा के एकच्छत्र साम्राज्य में विद्रोह की घोषणा की तथा दूसरे नये बंगाली कवियों में अपने को पहचानने तथा अपना परिचय देने का सुयोग" उपस्थित किया। उनमें एक तो यही यतींद्रनाथ थे और दूसरे थे क़ाज़ी नजरुल इस्लाम। विशिष्ट समालोचकों का मत है कि यतींद्रनाथ की कविताओं में जो दुःख और वेदना का स्वर सुनाई पड़ता है वह मोहितलाल के देह-प्राधान्यवाद की तरह रवींद्रनाथ की काव्य-परंपरा के विरुद्ध उपर्युक्त विद्रोह का अनिवार्य परिणाम था।

प्रथम महायुद्ध से लौटे हुए तरुण हवलदार क़ाज़ी नजरुल इस्लाम ने तलवार के बदले कलम को ग्रहण किया। बंगला साहित्य में उनका अविर्भाव जिस प्रकार से आकस्मिक है उसी प्रकार उनकी लोकप्रियता अद्‌भुत ढंग से अति शीघ्र प्रतिष्ठित हुई और उन्होंने उसी प्रकार से असाधारण ख्याति भी लाभ की।

इस महायुद्ध के फलस्वरूप मनुष्य के भीतर से भय का बहुत दूर तक अवसान हुआ। इतने दिनों तक लोग जो कुछ अच्छा, जो कुछ सुंदर और जो कुछ काव्य समझते आए थे और जिसके स्थायित्व के संबंध में निश्चिंत थे वह सभी अब भूआ सदृश मालूम होने लगा। जीवन का जो सुंदर और मधुर रूप उनकी कल्पना को उद्दीप्त करता हुआ आ रहा था, वह यथार्थ के कठोर आघात से न जाने कहाँ चला गया। सत्य, परिचित सुंदर वेश को छोड़कर जिस रूप में दिखाई पड़ा वह अनभ्यस्त दृष्टि को अच्छा नहीं लगा।

आर्थिक कठिनाइयाँ बढ़ गईं। बेकारी-समस्या प्रबल हो उठी। लड़कियों में अंग्रेजी शिक्षा और नौकरी की इच्छा का बड़े जोरों से प्रसार होने लगा। प्राचीन समाज-व्यवस्था बिखरने लगी। तीव्र असंतोष तथा विद्रोह के भाव दीख पड़ने लगे। देश-प्रेम की भावना तीव्र हो उठी। पहले तो वह असहयोग के अहिंसात्मक आंदोलन के रूप में दीख पड़ी, लेकिन इस आंदोलन की विफलता के कारण हिंसा के कुटिल पथ की ओर वह भावना मुड़ी। इसी निर्भीक देशभक्ति को विद्रोही कवि नजरुल इस्लाम की कविताओं में वाणी प्राप्त हुई। असहयोग आंदोलन के कवि नजरुल ही हैं, रवींद्रनाथ नहीं हैं। लेकिन आश्चर्य की बात यह है कि यह आंदोलन बंगला-साहित्य को उतना प्रभावान्वित नहीं कर सका। कुछ ही ऐसे बंगाली साहित्यक हैं जिनकी रचनाओं में इस आंदोलन का प्रभाव दीख पड़ता है। नजरुल की कविताओं में जो विद्रोह का स्वर सुनाई पड़ता है वह विद्रोह नूतन के आविर्भाव के लिये पुरातन को नष्ट करना चाहता है।

रवींद्रोत्तर "बंगला-काव्य के इतिहास में सत्येन्द्रनाथ के बाद सब से अधिक कवित्व-शक्ति नजरुल इस्लाम में ही पाई जाती है।" वे "एक ही साथ लोकप्रिय कवि भी हैं और अच्छे कवि भी हैं।" एक विख्यात समालोचक ने लिखा है 'अदम्य शत-स्फूर्तता नजरुल के काव्य का प्रधान गुण एवं प्रधान दोष, दोनों है। नजरुल की रचनाएँ प्रचुर हैं लेकिन उनमें क्रम-परिणति नहीं है। जीवन-दर्शन की गम्भीरता उनके काव्य को रूपलोक से उठाकर भाव-लोक में नहीं ले जा सकी।"

नजरुल इस्लाम बंगला-काव्य के पुराने और नये के बीच के सेतुबंध की तरह हैं।

काल की दृष्टि से प्रथम महायुद्ध के बाद की और भाव की दृष्टि से रवींद्रोत्तर कविताओं को ही साधारणतः बंगला साहित्य में आधुनिक की संज्ञा दी जाती है।

आधुनिक बंगला कविता पर आधुनिक अंग्रेजी-कविता का विशेष प्रभाव पड़ा है। जिस प्रकार अंग्रेजी-साहित्य में रोमांटिक काव्य-परंपरा के विरुद्ध आधुनिक कविता की यात्रा शुरू हुई वही बंगला साहित्य में भी हुआ है। विद्रोह के बीच ही बंगला साहित्य की भी यात्रा शुरू हुई। पहले ही कह चुके हैं कि यह विद्रोह रवींद्रनाथ की काव्य-परंपरा के विरुद्ध शुरू हुआ। उनके प्रभाव से मुक्त होने की चेष्टा इस विद्रोह में है।

आधुनिक कविता के संबंध में मेरे एक रसिक मित्र ने एक दिन मज़ाक करते हुए कहा कि 'आधुनिक कविता आधुनिक हो सकती है लेकिन कविता नहीं। रवींद्रनाथ के साथ ही साथ कविता का युग शेष हो गया। अब गद्य का युग चल रहा है। आप लोग जिसे आधुनिक कविता कहते हैं वह वास्तव में गद्य है। देख नहीं रहे हैं कि सभी आधुनिक कवि गद्य-कविता लिखने में व्यस्त हैं।' इस रसिकता में भी एक सोचने की बात है। रवींद्रनाथ ने जिस बृहत्, विचित्र, बाधाहीन लीला-जगत् को लेकर साहित्य-सृष्टि की है वह विश्वास का जगत् है। महायुद्ध ने उस विश्वास की जड़ हिला दी। विश्वास के लीला-जगत् के स्थान पर अविश्वास के अस्थिर-चंचल जिज्ञासु यथार्थ जगत् ने अधिकार जमाया। यही आधुनिक काव्य का जगत् है। अतएव इस काव्य में रवींद्र-काव्य का वस्तुभारहीन, निरवच्छिन्न सौंदर्य-माधुर्य एवं गंभीर अनुभूति स्थान नहीं पा सकता।

रवींद्रनाथ के काव्य का अनुकरण करना असंभव है और अनुसरण कठिन है। क्योंकि रवींद्रनाथ का काव्य उनकी आत्मिक साधना का वाणी-रूप है। इसीलिये "रवींद्र-नाथ के काव्यादर्श ने कई अन्यान्य कवियों में मुद्रा-दोष (mannerism) की सृष्टि की थी। पचीस, तीस वर्ष पहले के बंगाली-कवियों ने शैथिल्य और तरलता को ही बड़ा माना था। अकारण विशेषणों का प्रयोग, प्रकृति-वर्णन का दुरुपयोग तथा छंदों के प्रयोग के चातुर्य का ही उन दिनों बाज़ार गर्म था। सर्वोपरि उस काल के कवि आत्म-केन्द्रित (Subjective) थे। सुतरां उनकी उत्कृष्ट रचनाएँ भाव-विलास से उच्छ्वसित रहा करती थीं।"

इसके विरुद्ध आधुनिक कवियों ने विद्रोह किया। आधुनिक बंगला-काव्य में 'अस्थिहीन नमनीयता नहीं है। अकारण वाक्यभार नहीं है। अपने आप का अतिक्रम कर परिपार्श्विक जगत् को देखने की चेष्टा आज सुस्पष्ट है। आधुनिक कविता में एक ओर छंद-कौशल की यांत्रिकता से बचने की प्रवृत्ति और दूसरी ओर छंद-वैचित्र्य को लेकर दुस्साहसिक प्रयोग के परीक्षण की प्रचेष्टा है।" आधुनिक कवि वैदग्ध्य का भक्त है।" आधुनिक कविता का उत्स मस्तिष्क है। इस कविता का रस बुद्धि-ग्राह्य है।

आधुनिक कविता दुरूह और अस्पष्ट होती है इसे सभी स्वीकार करते हैं। आधुनिक मन की अप्रकृतिस्थ जटिलता ही इस दुरूहता का कारण कहा जाता है। आधुनिक कविता की परंपरा अभी सुप्रतिष्ठित नहीं हो पाई है, इसीलिये इसमें अस्पष्टता है।

आधुनिक कविता में एक हताश भाव, एक अनिश्चयता का स्वर स्पष्ट सुनाई पड़ता है। किंतु काव्य-मर्मज्ञों का कहना है कि यह भी ग्राह्य है। इसी स्वर की मूर्च्छना में नवयुग की आशा-वाणी ध्वनित हो रही है। अभ्यस्त कान के लिये वह स्पष्ट है।

आधुनिक कविता पर पाश्चात्य प्रभाव पड़ा है यह पहले ही कहा जा चुका है। यह हताश भाव और अनिश्चयता, जो आधुनिक कविता में दीख पड़ते हैं वह भी पाश्चात्य साहित्य के आदर्श पर ही प्रतिष्ठित है। एक प्रगतिशील आलोचक का कहना है "आधुनिक कविता की दुरूहता पाश्चात्य की प्रतिच्छाया है और पश्चिम की तरह ही उसमें शून्यता और अवसाद का भाव है—सब कुछ जैसे अनिश्चित है, सब कुछ जैसे निरर्थक है, आशा और छलना में अंतर नहीं है, प्रचेष्टा मानो अहमिका का रूपांतर है।"

अति-आधुनिक बंगाली कवियों में अधिकांश की रचनाओं में राजनीतिक मतवाद अत्यंत प्रबल हो उठा है। साहित्य-रसिकों का कहना है कि इससे केवल मतवाद का ही प्रचार हो रहा है, काव्य-सृष्टि नहीं हो रही है। पत्रकारिता ने कविता का ग्रास कर लिया है। अति-आधुनिक कवियों की भी संख्या काफी है; उनमें से कुछ ही की चर्चा करना यहाँ संभव है।

मोहितलाल मजुमदार की चर्चा करते समय हमने सुधींद्रनाथ दत्त का उल्लेख किया है। इन दोनों कवियों में कई बातों में समानता दीख पड़ती है। इनके काव्य के मूल में भी बौद्धिकता है और इंद्रिय-ग्राह्यता इनके काव्य में भी है। नश्वर देह-प्रेम इनके काव्य का भी उपजीव्य है। सुधींद्रनाथ के काव्य में पाण्डित्य का निदर्शन सुस्पष्ट है। इनके लिये काव्य-रचना बुद्धि-वृत्ति की चर्चा है। इसीलिये इन्होंने आभ्यासपूर्वक कविता लिखी है। इनकी भाषा दुरूह है। अप्रचलित, उत्कट, आभिधानिक संस्कृत शब्दों का व्यवहार, इनके काव्य में बहुलता के साथ किया गया है। संस्कृत की तरह इनका भी पद-विन्यास है। इनकी कविताओं को पढ़ते समय एक शब्द-कोश साथ में रखना आवश्यक प्रतीत होता है।

सुधींद्रनाथ का यही प्रधान वैशिष्ट्य है। आधुनिक बंगाली कवियों में "कई एक प्राणवान्, सक्रिय कवि हैं जिनका झुकाव बलशाली उच्चारण की ओर, कठिन उज्वलता की ओर तथा मितव्ययी शब्द-प्रयोग की ओर है। कविता को जटिल और दुर्गम, तथ्यवह एवं शास्त्रज्ञान-सापेक्ष और सर्वोपरि संस्कृत के नाना अप्रचलित शब्दों का प्रयोग करने में ये तनिक भी कुंठा का बोध नहीं करते।" सुधींद्रनाथ इनमें अन्यतम हैं। फिर भी शब्दार्थ और प्रसंग का पता पा लेने और धीरे-धीरे पढ़ने पर उनकी कविता सहज ही समझ में आ जाती है। दार्शनिकों की युक्ति के समान तथा ज्यामिति के प्रस्ताव जैसा उनकी कविता का अनुसरण किया जा सकता है। किंतु इनकी कविता में गीति-काव्य की स्फूर्ति नहीं है।" लेकिन सुधींद्रनाथ का "कला-कौशल तथा उनकी ठोस गठन-भंगी हमारे यहाँ की अति-शिथिल और अति-तरल कविता की दृष्टि से अत्यंत ही मूल्यवान् है।"

सुधींद्रनाथ की एक और विशेषता यह है कि आधुनिक होने पर भी उन्होंने गद्य-कविता नहीं लिखी है और रवींद्रनाथ के प्रभाव को अस्वीकार करने की चेष्टा ही नहीं की

है। रचना की दुरूहता की दृष्टि से सुधींद्रनाथ और विष्णु दे में समानता दीख पड़ती है। किंतु विष्णु दे की कविता केवल दुरूह ही नहीं होती दुर्बोध और जटिल भी होती है। इनकी कविताओं के संकेत दुर्बोध हैं, भाव असंलग्न हैं। अंग्रेजी में कहा जायगा कि विष्णु दे Obscure हैं। बहुतों का कहना है कि यह असंलग्नता मानो आधुनिक कवियों का एक साधारण लक्षण है। इनकी चिंता मण्डूक-गति से चलनेवाली होती है। भाव और चिंता की संलग्नता का दायित्व ये पाठकों के ऊपर छोड़ देते हैं।

आधुनिक अनेक कवियों में ध्वनि का प्राधान्य है। ध्वनि के ऊपर विष्णु दे का स्वाभाविक अधिकार है। इसके अतिरिक्त विष्णु दे ने बहुत कुछ लिखा है और विविध विषयों पर लिखा है। विष्णु दे की कविता के संबंध में एक समालोचक का कहना है "अर्थ-घनत्व का प्रयास और संयम का आतिशय्य विष्णु दे के काव्य में दीख पड़ता है। इस प्रयास में उन्होंने आश्चर्यजनक सफलता प्राप्त की है। लेकिन आज की इस क्रूर दुनिया में मनीषा और प्रज्ञा के योग्य स्थान का अभाव देखकर तथा आत्मसमाहिति-क्लांत मन के विचलित होने से उनकी कविता जैसे जीवन को खंड और क्षुद्र बनाकर देख रही है। उनकी व्याजोक्ति जैसे तिक्तता को मोहनीय करना चाहती है। समाज-व्याधि को उन्मूल करने का भाव उसमें नहीं दीख पड़ता।" विष्णु दे की कविता में उनके प्रकांड पांडित्य का परिचय मिलता है। वैसे उन्होंने हल्के ढंग की सहज कविताएँ भी लिखी हैं।

अन्यान्य कवियों से भिन्न प्रकृति के कवि जीवनानंद दास हैं। आधुनिक कवियों में "ये सब से अधिक निर्जन, सब से अधिक स्वतंत्र हैं।" "बंगला-काव्य की परंपरा से" ये एकदम विच्छिन्न हैं। समालोचकों का कहना है कि "जीवनानंद प्रकृत कवि हैं और प्रकृति के कवि हैं।" प्रकृति-कवि वही हैं जो प्रकृति के माध्यमसे समस्त जीवन को देखते हैं। इसी अर्थ में जीवनानंद प्रकृति के कवि हैं।

क्षणभंगुर परिवर्तनशील जीवन के सब कुछ का मृत्यु में अवसान हो जाता है, यही अनुभूति जीवनानंद के काव्य के मूल में है। यही आदिम वेदना जीवनानंद के काव्य की अन्यतम भित्ति है।

एक कवि-समालोचक की भाषा में "हमारे सभी कवियों में जीवनानंद सब से कम आध्यात्मिक तथा सबसे अधिक शारीरिक हैं। उनकी रचनाएं सबसे कम बुद्धिगत तथा सबसे अधिक इंद्रियगत हैं। उनकी रचनाओं में तत्त्व नहीं है, चिंताशीलता नहीं है और उपदेश नहीं है। वहाँ शत प्रतिशत स्फूर्त, विशुद्ध और सहज—इंद्रियगोचर और जीवंत अभिज्ञता की सृष्टि है। जीवनानंद की कविता की सबसे प्रधान वस्तु एकमात्र सुर है और कुछ नहीं। इनकी कविताओं की टेकनीक में भी नवीनता है। इनकी कविताओं में अपूर्व ध्वनि-वैशिष्ट्य है। नाम तथा विदेशी शब्दों का व्यवहार इन्होंने सभी कवियों से अधिक किया है। गद्य-कविता की रचना में भी इनकी प्रसिद्धि है। लेकिन जीवनानंद की कविताओं में विविधता की कमी है। इनके अनुकरण करनेवालों की संख्या कम है।

जीवनानंद के साथ बुद्धदेव वसु की कम से कम एक दृष्टि से समानता है। इनकी कविताएँ भी आवेग-प्रधान हैं, बुद्धि-प्रधान नहीं। अन्यान्य अधिकांश आधुनिक कवियों की

तरह इनकी कविताओं में भी विद्रोह का सुर अत्यंत तीव्र हो उठा है। किंतु यह विद्रोह व्यक्तिगत है। बुद्धदेव ने सौंदर्यानुभूति को अपनी नवयौवन की लिखी कविताओं की प्रेरणा बतलाई है। उनके काव्य में जो विद्रोह दीख पड़ता है वह वास्तव में इस सौंदर्यानुभूति के बाधा-स्वरूप ही उत्पन्न हुआ है। उन्होंने स्वयं लिखा है "सौंदर्य की उपलब्धि में अपने भीतर की जितनी बाधाएँ हैं, जितने मानसिक प्रलोभन और दुर्बलताएँ हैं, उनके विरुद्ध ही यह विद्रोह है। एक ओर महत् और रोमांचकर स्वप्न-संचार और दूसरी ओर क्षुद्र और पंकिल कामना—इन दोनों के परस्पर विरोध की तीव्र यंत्रणा है और इसी कारण स्रष्टा के प्रति आक्रोश है।" उनके प्रसिद्ध काव्य-ग्रंथ 'बंदीर वंदना' के मूल में यही भाव है।

आधुनिक कवि बड़ी सतर्कता के साथ पुरानी काव्य-परंपरा से परहेज रखते हैं। यही इनका फैशन है। पर इन्होंने प्राचीन के साथ योग रखा है और आधुनिक युग में भी रोमांटिक कविता लिखी है। अवश्य ही यह रोमांटिसिज्म बीसवीं सदी का रोमांटिसिज्म है। इस युग में भी उन्होंने प्रेम-काव्य लिखा है। उनका रस-तृषित चित्त रस के विचित्र आस्वादन तथा उसके प्रकाशन के लिये सदैव उन्मुख रहता है।

काल की दृष्टि से आधुनिक कवियों में अन्नदाशंकर राय, प्रभातमोहन बंद्योपाध्याय, अशोकविजय राहा, जसीमुद्दीन, हुमायूँ कबीर आदि अनेक कवियों में भाव, परंपरा और रूढ़ि (Convention) की दृष्टि से प्राचीन के साथ योग बना हुआ है। ग्राम-कवि जसीमुद्दीन को पूरा-पूरा प्राचीन धारा का कवि कहा जा सकता है। जसीमुद्दीन के अतिरिक्त और भी अनेक ने इस ग्राम-संबंधी काव्य-धारा का अनुसरण किया है। इनकी कविता सहृदयों के हृदय को आनंद देनेवाली है। वे विदग्ध-बुद्धि ग्राह्य नहीं हैं।

हल्के ढंग की कविताओं की रचना में अन्नदाशंकर राय सिद्धहस्त हैं। हास्य के साथ-साथ कवित्व का प्रकाश एक कठिन बात है। इस कठिन कार्य में अन्नदाशंकर की विशेष दक्षता है। इस दृष्टि से बंगला काव्य-क्षेत्र में इनका एक विशिष्ट स्थान है।

"पद्य के क्षेत्र में अन्नदाशंकर का मन आवेगमय नहीं बल्कि कौतुकमय है। कौतुक के क्षेत्र में उनका मन स्वच्छंदता के साथ विहरण कर सकता है। अन्नदाशंकर के लिये सहज होना ही सहज है। इसीलिये हल्की कविता के मर्म-स्थल तक वे सहज ही पाठकों को पहुँचा देते हैं।"

अन्नदाशंकर ने छड़ा (Nursery rhyme) तथा अन्यान्य शिशु-काव्य की रचना की हैं। लेकिन ये केवल शिशुओं के लिये ही सुपाठ्य नहीं हैं बल्कि वयस्क लोग भी इसमें आनंद पा सकते हैं।

अन्नदाशंकर की कविता में आधुनिक युग-सुलभ दुःख और निराशा का स्वर नहीं सुनाई पड़ता। एक सहज सुख और आनंद उनकी कविताओं में व्याप्त है। आधुनिक होने पर भी अन्नदाशंकर ने गद्य-कविता नहीं लिखी है।

काल और भाव की दृष्टि से समर सेन पूर्ण रूप से आधुनिक कवि हैं। पुरातन जगत् का जो कुछ भी जीर्ण, कुत्सित, निष्ठुर, अनुदार है उसी का विरोध समर सेन के

नवयौवन के काव्य में दीख पड़ता है। पुरातन को नष्ट कर नूतन की सृष्टि की उन्मादना ही इस विद्रोह की प्रधान विशेषता है। समरसेन का विद्रोह वैयक्तिक नहीं है। इनके विद्रोह के मूल सामाजिक विरोध और वर्ग-संघर्ष" है। काव्य के क्षेत्र में समाज-विप्लवी आंदोलन का श्रीगणेश समरसेन ने किया। आधुनिक युग के संशय, इसकी अनिश्चितता, और इसके अंधकारमय पक्ष का ही परिचय हमें समरसेन की कविताओं में मिलता है।

बंगला-काव्य में प्रधानतः बंगाल के ग्राम-जीवन का चित्रण है। अवश्य ही आधुनिक कवियों की किसी-किसी रचना में नागरिक जीवन के छोटे-छोटे चित्र भी दीख पड़ते हैं। लेकिन "समग्र भाव से आधुनिक शहरी जीवन समरसेन की कविता में ही सर्व-प्रथम प्रकाश पा सका है। समरसेन शहरी जीवन के कवि हैं। वे कलकत्ता के कवि हैं। हमारे आजकल के जीवन के समस्त विकार, विक्षोभ और क्लांति के कवि हैं।" समरसेन की रचनाओं में प्रथम से ही एक आत्म-विश्वास का भाव देखा जाता है। इसीलिये समर-सेन का प्रभाव टेकनीक और भाव, दोनों की दृष्टि से नवीन कवियों पर तो खूब ही पड़ा है और कभी-कभी लब्धप्रतिष्ठ कवियों पर भी वह प्रभाव परिलक्षित होता है।

समरसेन ने केवल गद्य-कविता ही लिखी है। "इनके गद्य-छंद बंगला भाषा में अभिनव हैं; रवींद्रनाथ अथवा अन्य बंगला-कवि के छंदों के ढाँचे में नहीं हैं।"

समरसेन की कविताओं में जिस विद्रोह और विप्लव का आभास पाया जाता है उसकी पूर्ण परिणति सुभाष मुखोपाध्याय के काव्य में हुई है। सुभाष मुखोपाध्याय का विद्रोह जिस मुक्ति के लिये है वह समग्र मानव जाति की मुक्ति है, वैयक्तिक नहीं। "बंगाली कवियों में वे ही एक मात्र कवि हैं जिनका जीवन-दर्शन केवल व्यक्ति-स्वातंत्र्य को ही लेकर नहीं है। उनकी मुक्ति-कामना किसी एक के लिये नहीं है, विधाता के प्रियपात्र किसी विशेष मनीषी के लिये नहीं है बल्कि समस्त मानव-जाति के लिये है। साम्य और संघ-बद्धता को छोड़कर मुक्ति की अन्य कोई कल्पना उनके मन में नहीं है।"

इनके पहले भी रवींद्रनाथ ने स्वयं ही कविता का उपयोग अस्त्र रूप में किया है। काजी नजरुल इस्लाम, ज्योतीन्द्रनाथ सेनगुप्त तथा प्रेमेन्द्र मिश्र ने भी इस रूप में कविता का व्यवहार किया है। लेकिन इनमें से कोई भी "प्रकृति की उदार मुक्ति के बाहर मनुष्यता की संकीर्णता में नहीं आया।"

पहले ही कहा चुका हूँ कि इस युग की कविताओं में निराशा और हताश-भाव का सुर अत्यंत स्पष्ट है, किंतु सुभाष मुखोपाध्याय इस हताश-भाव से मुक्त हैं। उनमें व्यंग्य-नैपुण्य है लेकिन वे आशावादी हैं। उनका दृढ़ विश्वास है कि सर्वनाश की चिता के भस्म से नूतन समाज का जन्म होगा। अवश्य ही उनकी धारणा है कि वह समाज, साम्यवादी समाज होगा।

आधुनिक कवियों में अमिय चक्रवर्ती का अपना एक वैशिष्टय है। दीर्घकाल तक रवींद्रनाथ के अति निकट संस्पर्श में रहने पर भी इन्होंने रवींद्र-परंपरा को नहीं ग्रहण किया। "अमिय बाबू का मन एक दम आधुनिक ढाँचे में ढला हुआ है। उनकी दृष्टि-भंगी बहिर्मुखी है।" लेकिन उन्होंने प्राचीन को अस्वीकार नहीं किया है। "अमिय बाबू

प्राचीन परंपरा को आत्मसात् कर नूतन के प्रवर्तन में अग्रसर हो रहे हैं।" वे "बंगाली कवियों में स्वभाव से ही सार्वदेशिक हैं। उनकी अनुभूति की व्याप्ति राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय है।" "उनके काव्य की समस्त उपमाएँ और रूपक आधुनिक मनुष्य के जीवन से संश्लिष्ट हैं। उनकी कल्पनाएँ, उनकी परिभाषाएँ सभी इस युग की हैं।" अमिय बाबू की कविताओं में भूगोल ने एक विशेष स्थान प्राप्त किया है। देश और विदेश के बाहर इन्होंने बहुत भ्रमण किया है। इसका परिचय उनके काव्य में पाया जाता है। इनकी कविताएँ विदग्ध-बुद्धि-प्रसूत हैं। इनकी कविताओं की टेकनीक में भी इनकी मननशीलता का परिचय मिलता है। सम-सामयिक पाश्चात्य कवियों का प्रभाव इनपर स्पष्ट है।

अरविन्द आश्रम में रहनेवाले निशिकांत राय चौधरी बंगाल के ख्यात कवि हैं। लेकिन "उनकी कवि-प्रकृति संन्यास की नहीं है, विलास की है। इंद्रिय-ग्राह्य रूपक और झंकृत वाक्यच्छटा में वे रमे रहते हैं।" उन्होंने कविता की प्राचीन परंपरा को अस्वीकार नहीं किया है। विशेष रूप से "श्री निशिकांत ने टेकनीक में पुरानी परंपरा को बराबर स्वीकार किया है। लेकिन उनकी कल्पना में तारतम्य नहीं है। राजपथ को छोड़कर टेढ़ी-मेढ़ी गलियों में घूमनेवाली वह कल्पना है।" निशिकांत शिल्पाचार्य श्री नंदलाल वसु के छात्र हैं। गुरु के पास उन्होंने जो शिक्षा पाई थी उसका सुंदर प्रयोग शब्दों के द्वारा चित्र-निर्माण में उन्होंने किया है।

संगीत के क्षेत्र में रवींद्रनाथ के बाद नजरुल इस्लाम और अतुलप्रसाद सेन का स्थान है। रवींद्र-संगीत के समान ही नजरुल - गीति और अतुलप्रसाद के गानों ने एक विशेष प्रतिष्ठा पाई है। नजरुल इस्लाम ने सब प्रकार के गीत लिखे हैं। लोगों का कहना है कि नजरुल ने जितने गीत लिखे हैं संभवतः संसार के किसी कवि ने उतने गीत नहीं लिखे हैं। इनके सभी गीत उत्कृष्ट नहीं हैं। स्वदेश-प्रेम के गीतों में इनका स्थान संभवतः रवींद्रनाथ के बाद ही है।

अतुलप्रसाद के गीत रवींद्रनाथ के समान ही भाव और भाषा की दृष्टि से मधुर हैं। बहुत बार उनकी रचना को रवींद्रनाथ की रचना समझने की लोग भूल कर देते हैं। प्रधानतः इन्होंने भक्तिमूलक गीत ही लिखे हैं। लेकिन रवींद्रनाथ और नजरुल की तरह इन्होंने भिन्न-भिन्न प्रकार के गीत नहीं लिखे हैं।

फिल्मों के कारण एक प्रकार के आधुनिक गीत बंगाल में खूब प्रचलित हैं। ये हिंदी की ही नाईं हैं। इन गीतों के सुरों को भी आधुनिक सुर कहा जाता है। नाना राग-रागिनियों की खिचड़ी इसमें पकाई गई है। भाव की दृष्टि से ये सभी गीत प्रधानतः प्रेम-गान हैं। प्रेम के भी हताश और निराश भाव ही इन गीतों के उपजीव्य हैं। इन सब गीतों में भाषा का लालित्य और कल्पना की बहार भी यथेष्ट है।

बंगला नाट्य-साहित्य की अवस्था वर्तमान में बहुत अच्छी नहीं है, क्योंकि नाटकों के चाहनेवालों की कमी है।

बीसवीं शताब्दी में कोई भी विख्यात कवि नाटक-रचना की ओर प्रवृत्त नहीं हुआ। रंगमंच की माँग के अनुसार ही नाटक लिखे जाते हैं। आज का बंगला-रंगमंच इस युग

के उपयुक्त नहीं है। उन्नीसवीं शताब्दी में उसकी जैसी अवस्था थी वही आज भी है। बंगला रंगमंच पर रवींद्रनाथ का भी कोई प्रभाव नहीं पड़ा। आज के रंगमंच की रुचि तथा लेखकों की रुचि एक ही नहीं है। विशेषज्ञों का कहना है कि इसीसे लेखक नाटक लिखने की ओर प्रवृत्त नहीं हुए। इसके अलावे फिल्मों की प्रतिद्वंद्विता भी इसके ह्रास का कारण है। जिनमें नाटक लिखने की प्रतिभा है वे फिल्म के लिये कहानी तथा सिनेरियो लिखने में लग गए हैं, वे नाटक लिखना नहीं चाहते, इससे उन्हें आर्थिक लाभ तो होता ही है साथ ही सामयिक यश कम प्राप्त नहीं होता। फलतः नाटकों का स्थान फिल्मी कहानियों और सिनेरियो ने ले लिया है। इसीसे समर्थ लेखक इस ओर झुक पड़े हैं।

इस काल के दो विख्यात लेखक—शचीन्द्रनाथ गुप्त और मन्मथराय ने गत शताब्दी के रंगमंच के उपयुक्त नाटक लिखे हैं। उनके नाटकों का अभिनय भी इसीलिये खूब होता हैं। और भी दो साहित्यिकों ने नाटक लिखने में ख्याति लाभ की है। प्रथम बलाई चंद्र मुखोपाध्याय 'वनफूल' हैं। इनके दो नाटक 'श्री मधुसूदन' और 'विद्यासागर' माइकेल मधुसूदन दत्त और विद्यासागर की जीवनी के आधार पर लिखे गए हैं। यह नये ढंग की चीज़ है। दूसरे प्रमथनाथ बिशि हैं। इनके दो कौतुक-नाटक 'ऋणं कृत्वा' तथा 'घृतं पिबेत्' रवींद्रनाथ की रचनाओं के बाद इस श्रेणी की सर्वोत्कृष्ट रचनाएँ हैं।

बहुतों का ख्याल है कि बंगला साहित्य में कविता और कहानियों का ही सर्वोच्च स्थान है। इन दोनों की तुलना में उपन्यास का स्थान नीचा है। इस में मतभेद हो सकता है किन्तु आधुनिक बंगला साहित्य कहानियों और उपन्यासों की दृष्टि से समृद्ध है इसमें संदेह नहीं। इसका प्रबन्ध-साहित्य भी नगण्य नहीं है।

गीति-कविता के समान ही छोटे गल्पों में बंगाली प्रतिभा का उत्कर्ष देखने को मिलता है। "बंगाली स्वभाव से ही घरेलू और भावुक होता है।" संभवतः इसीसे उसके लिए छोटे गल्पों की रचना सहज और स्वाभाविक है। इसीलिये प्रायः सभी बंगाली औपन्यासिकों ने छोटे गल्प भी लिखे हैं। और कभी कभी श्रेष्ठ बंगाली औपन्यासिक की श्रेष्ठ रचना छोटे गल्प ही हैं।

रवींद्रनाथ कहानियों के प्रथम तथा श्रेष्ठ लेखक हैं, यह हम पहले ही कह चुके हैं। उन्होंने छोटे गल्पों का जो विशुद्ध और उच्च आदर्श प्रतिष्ठित किया उसे आयत्त करना अत्यंत ही कठिन है। फिर भी "रवींद्रनाथ का अनुसरण कर छोटे गल्पों की रचना के क्षेत्र में कई उच्च कोटि के बंगाली लेखक हो गए हैं।"

बहुतों का मत है कि छोटे गल्पों के लेखक की दृष्टि से रवींद्रनाथ के बाद प्रभात-कुमार मुखोपाध्याय का नाम लिया जा सकता है। अल्प परिसर के भीतर कहानी कह लेने में वे बड़े प्रवीण हैं। उनकी कहानियों में घटना अथवा वर्णन का आडंबर नहीं है, उनमें कौतूहल अंत तक बना रहता है तथा उपसंहार में वह अप्रत्याशित भाव से परितृप्त होता है। कहानी के इस कौशल की दृष्टि से प्रभातकुमार संसार के श्रेष्ठ कहानी-लेखकों के समकक्ष हैं। कौतुक-रस की स्निग्ध धारा ने प्रभातकुमार की कहानियों में अपूर्व माधुर्य का संचार किया है। मध्यवित्त बंगाली भद्र-समाज को लेकर ही प्रभातकुमार ने

गल्पों की रचना की है। विशेष रूप से इस सम्प्रदाय के "शिक्षित और शिक्षार्थी नवयुवकों के वैचित्र्य-हीन जीवन का रस प्रभातकुमार के गल्पों में उपस्थित हुआ है।"

प्रभातकुमार ने बहुत से उपन्यास भी लिखे हैं। लेकिन उनकी प्रतिभा का क्षेत्र कहानी ही है। इसीलिये उनके उपन्यास का शिल्प-कौशल उतना सफल नहीं हो सका है। इनके उपन्यासों में मध्यवित्त समाज की ही कहानी कही गई है। फिर भी उनमें भूस्वामी अभिजातवर्ग का भी समावेश है। समाज के संस्कार भी उनके उपन्यासों में स्थान पाए हुए हैं। पाखण्ड-चरित्र-चित्रण में उन्होंने बड़ी कुशलता दिखाई है।

बंगला के छोटे गल्पों के क्षेत्र में अवनींद्रनाथ ठाकुर का एक विशेष स्थान है। भारत के इस श्रेष्ठ चित्रकार के छोटे गल्प भी मानों चित्र हैं। एक समालोचक का कहना है "इन गल्प-चित्रों में अद्भुत कौतुक-रस का, स्वप्न-जागरण का तथा संभव-असंभव का विचित्र इंद्रजाल बुना हुआ है।" चित्र-शिल्पी की सूक्ष्म दृष्टि, रसानुभूति और उसके साथ ही कविजनोचित कल्पना के ऐश्वर्य ने इन गल्पों को श्रेष्ठता प्रदान की है। यह विशिष्टता बहुत दूर तक अवनींद्रनाथ की भाषा तथा प्रकाशन-भंगी के कारण है। जोड़ासाँको के ठाकुर परिवार में चलती भाषा की विशेष भंगी ने अवनींद्रनाथ के गल्पों को अत्यंत हृदयग्राही बना दिया है। 'भूतपरीर देश' इनका विख्यात गल्प-ग्रंथ है।

बंगला कविता के क्षेत्र में जिस तरह से हमने देखा है कि ग्राम गीति की एक धारा प्रवाहित हो रही है उसी प्रकार छोटे गल्पों के क्षेत्र में भी ग्राम-जीवन की धारा प्रवाहित हो रही है।

रवींद्रनाथ के समवयस्क जलधर सेन के गल्पों में "गाँव की झोंपड़ी में वास करने वाले नर-नारी का idyllic और नीति-रसपूर्ण करुण चित्र अंकित हुआ है"। वे पूर्वोक्त ग्राम-जीवन संबंधी धारा के पोषक हैं। उपन्यास-क्षेत्र में भी इनकी ख्याति है। इनकी रचनाओं में एक और विशेषता है। इनके गल्प और उपन्यासों में समाज के उपेक्षित अज्ञात वर्ग का चित्रण हुआ है। "जलधर सेन में निर्यातित दुःखिनी नारी के प्रति एक सहानुभूति है"। इस दृष्टि से उन्होंने शरच्चंद्र के लिये रास्ता साफ कर दिया। जलधर सेन के भ्रमण वृत्तांत भी प्रसिद्धि लाभ किए हुए हैं।

बंकिम युग की रोमांटिक-उपन्यास-रचना-धारा रवींद्रनाथ के समय तक भी पूरी वेगवती थी। आगे चलकर स्वदेशी आंदोलन की लहर उपन्यासों में भी आई। प्राचीन काल के वीर पुरुष उपन्यासों के नायक होने लगे। "सनातनपंथी मार्ग से देशोद्धार, ग्रामोन्नति, तथा समाजसुधार के उद्देश्य से नीतिमूलक अथवा उपदेशात्मक कहानियाँ भी लिखी जाने लगीं।" बहुतों ने ऐतिहासिक उपन्यास लिखे। उनमें सुविख्यात पुरातत्त्वविद् राखालदास वंद्योपाध्याय का नाम विशेष उल्लेखनीय है। इन्होंने नए ढंग के ऐतिहासिक उपन्यास लिखे। राखालदास ने ऐतिहासिक तथ्यों का उपयोग उपन्यासों के लिये किया। इनके उपन्यासों में पुरातन युग संश्लिष्ट रूप में अंकित है।

बंगला साहित्य में डिटेक्टिव उपन्यासों की भी भरमार है। इस तरह के उपन्यास अंग्रेजी उपन्यासों के अनुकरण पर लिखे गए। डिटेक्टिव उपन्यास लिखने में पाँचकौड़ी

वंद्योपाध्याय ने विशेष ख्याति लाभ की। रोमांचकारी घटना की अवतारणा में इन्होंने विशेष दक्षता प्राप्त की। पाँचकौड़ी वंद्योपाध्याय के बाद इस तरह के उपन्यास लिखने वालों में दीनेन्द्रकुमार राय का नाम आता है। इन्होंने 'रहस्य लहरी सीरिज' के नाम से एक डिटेक्टिव उपन्यासों की सीरीज प्रकाशित की। ये अत्यंत ही लोकप्रिय हुए।

हेमेन्द्रकुमार राय और शरदिंदु वंद्योपाध्याय ने भी इस तरह के उपन्यास लिखने में ख्याति लाभ की। शरदिंदु के उपन्यासों में जासूस व्योमकेश की कहानी कही गई है। इस व्योमकेश को शरलाक होम्स का बंगला संस्करण कहा जा सकता है। शरदिंदु ने डिटेक्टिव उपन्यासों में भी कलात्मकता ला दी है।

डिटेक्टिव उपन्यासों की खूब माँग है। इसीलिये यथेष्ट परिमाण में ये प्रकाशित भी होते हैं। इधर शशधर दत्त का 'मोहनसीरिज', शरच्चन्द्र चक्रवर्ती का 'रहस्यचक्र सीरिज', मिहिर कुमार सिंह का 'विचित्र रहस्य सीरिज' तथा अमरेन्द्र मुखोपाध्याय का 'रहस्य रोमांच सीरिज' आदि कई जासूसी उपन्यासों के सीरिज हैं।

बंगाल में सबसे अधिक लोकप्रिय औपन्यासिक शरच्चंद्र थे। उन्होंने एक भी डिटेक्टिव उपन्यास नहीं लिखा है।

शरच्चंद्र की साहित्य-सृष्टि के मूल में उनकी मनुष्य के प्रति अकृत्रिम गंभीर सहानुभूति और सहृदयता थी। उनमें यह सहानुभूति उनके अपने निजी जीवन की अभिज्ञता के फलस्वरूप आई है। शरच्चंद्र का साहित्य-क्षेत्र अल्प-परिसर वाला है किन्तु उसमें अत्यधिक गंभीरता है। बंगाली मध्यवित्त समाज और उसमें भी निम्न मध्यवित्त समाज की ही कहानी उन्होंने कही है। समाज में निम्न श्रेणी का कहकर जिन का परिचय दिया जाता है उन्होंने भी उनके उपन्यासों में स्थान पाया है। ये सभी प्रधानतः ग्राम के रहने वाले ही हैं। शरत्-साहित्य में बंगाल के गाँवों का विशुद्ध चित्र है।

शरच्चंद्र की रचना का उत्स उनका सहानुभूतिपूर्ण हृदय है, इसीलिये उनके साहित्य में एक ऐसी आंतरिकता है जो सहज ही मनुष्य के हृदय का स्पर्श करती है। उनकी सहज सरल प्रांजल भाषा भी उनकी इस आंतरिकता का परिचय देती है। शरच्चंद्र के भाव और उनकी भाषा अत्यन्त सहज और सरल है। उसे समझने के लिये बड़े पांडित्य की आवश्यकता नहीं होती। रवींद्रनाथ की रस-दृष्टि में जिस प्रकार सीमा के बीच असीम प्रकाशित हो रहा है, खंड जीवन अखण्ड विश्व-जीवन की महिमा से उज्ज्वल हो उठा है, वैसे शरच्चंद्र की रस-दृष्टि में नहीं हुआ है। उस दृष्टि में जीवन का खण्ड-रूप ही प्रकाशित हुआ है। शरच्चंद्र ने जीवन के अतल समुद्र में डुबकी नहीं लगाई है। उन्होंने सुख-दुख, हँसी-क्रंदन, प्रकाश-अंधकार में उच्छ्वसित उसके ऊपर की तरंग-भंगिमा को ही रूपायित किया है। इसीलिये सभी शरच्चंद्र को समझते हैं और वे लोकप्रिय हैं।

शरच्चंद्र ने एक ओर तो बंकिमचंद्र द्वारा प्रवर्तित पुरानी धारा और दूसरी ओर रवींद्रनाथ द्वारा प्रवर्तित आधुनिक धारा का अनुसरण किया है।

उनकी रचनाओं को मोटे तौर पर दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। एक भाग में वे पुस्तकें रखी जा सकती हैं जिनमें उन्होंने बंगाली गार्हस्थ्य-जीवन के सुख-

दुःख, विरह-मिलन ईर्ष्या-विद्वेष, तथा निष्ठुरता-करुणा के चित्र अंकित किए हैं, समाज-अनुमोदित प्रेम की कहानी कही है। एक शब्द में जिनमें बंगाली-परिवार के जीवन के चित्र खींचे हैं। इसमें उन्होंने पुरानी धारा का ही अनुसरण किया है। उनकी अधिकांश रचनाएं इसी श्रेणी की हैं। दूसरे भाग में वे रचनाएँ हैं जिनमें उन्होंने समाज-निषिद्ध प्रेम की कहानी कही है एवं उसमें "विगर्हित प्रेम का विश्लेषण, सामाजिक रीति-नीति तथा चिरागत संस्कार की तीक्ष्ण, तीव्र आलोचना की है तथा स्त्री-पुरुष के पारस्परिक संबंध का निर्भीक भाव से विचार किया है।" यहाँ पर उन्होंने आधुनिक धारा का अनुसरण किया।

शरच्चंद्र की लोकप्रियता का एक प्रधान कारण यह है कि वे कहानी कहने के निपुण आचार्य हैं। शरच्चंद्र के गल्पों में प्लाट-रचना गौण है और वर्णन ही मुख्य है। उनकी प्रकाशन भंगी में ही उनके गल्पों का रस है। अच्छे कहानी कहनेवालों की तरह शरच्चंद्र की कल्पना, अभिज्ञता के सूत्र का सहारा लेकर ही चलती है। जहाँ केवल कल्पना पर ही निर्भर हैं वहाँ पर चित्र अनुज्ज्वल है।"

जिन कहानियों में शरच्चंद्र ने पारिवारिक जीवन को लिया है वहाँ वे चमक उठे हैं। यहाँ परिवार से मतलब समस्त ग्राम से है। परिवार का बंधन, भाव का बंधन है। इसीलिये शरच्चंद्र की कहानियों में भाव-प्रवणता का प्राधान्य है।

मध्यवित वैचित्र्यहीन बंगाली जीवन को लेकर उपन्यास लिखना एक अत्यंत ही कठिन कार्य है। इस कठिन कार्य में शरच्चंद्र ने अपनी पटुता दिखाई है। "सहज और सुरभित हृदय वृत्ति का उच्छ्वास प्रदर्शित करते हुए रोमांटिक वातावरण की सृष्टि करके स्नेह की वक्र-गति दिखलाकर" ही वे ऐसा कर पाए हैं। सौत के पुत्र के प्रति विमाता का प्रेम-प्रदर्शन स्नेह की वक्र-गति का एक उदाहरण है।

शरत्-साहित्य में जिस प्रकार के मनुष्य मिलते हैं वे किसी श्रेणी का प्रतिनिधित्व (टाइप) नहीं करते हैं, वे व्यक्ति मात्र हैं। मनुष्य सामाजिक प्राणी है। समाज मनुष्य के व्यक्तित्व पर एक गहरा प्रभाव डालता है। मनुष्य के व्यक्तित्व में सहायक होना समाज का काम है। मनुष्य का जीवन गतिशील है। परिपार्श्विक परिस्थितियों के कारण उसका रूप बदलता है। समाज अगर जीवन के साथ ताल मिलाकर नहीं चले और अगर वह गतिहीन हो जाय तो व्यक्तित्व के साथ उसका संघर्ष अनिवार्य है। समाज उस समय मनुष्य को उत्पीड़न, अत्याचार, लांछना के द्वारा मनुष्य को पीसना शुरू कर देता है। व्यक्ति के साथ समाज का यह संघर्ष शरत्-साहित्य में विशेष भाव से रूपायित हुआ है।

समाज का सबसे अधिक अत्याचार नारी को सहना पड़ता है। समाज के उत्पीड़न से उत्पीड़ित, व्यथित नारी हृदय के द्वंद्व का सुंदर चित्र शरच्चंद्र ने खींचा है। शरत्-साहित्य में ही पहले पहल नारी के व्यक्तित्व को प्राधान्य मिला। अकृत्रिम सहानुभूति के साथ शरच्चद्र ने नारी-चरित्रों की सृष्टि की है। जो समाज की दृष्टि में पतिता हैं तथा जिनका प्रेम समाज की दृष्टि में गर्हित है, विशेष रूप से उन स्त्रियों का चित्र ही उन्होंने अंकित किया है। इसीलिये साहित्य के नीति वागीशों के दल ने उन पर कम कीचड़ नहीं उछाला

है। उन्हें दुर्नीति और अश्लीलता का प्रचारक कहा है। परंतु समस्त शरत्-साहित्य में कहीं भी अश्लीलता और दुर्नीति-प्रचार का चिह्न भी नहीं है। शरच्चंद्र ने समाज-प्रचलित नीति-बोध पर उच्चतर आदर्श नीति-बोध के द्वारा आघात किया है। इसको दुर्नीति का प्रचार नहीं कहा जा सकता। अश्लीलता के संबंध में इतना ही कहा जा सकता है कि शरच्चंद्र को उससे स्वाभाविक वितृष्णा थी। उनकी रचना में सर्वत्र ही प्रकृत कलाकार की सुरुचि परिव्याप्त है।

प्रेम के संबंध में शरच्चंद्र की दृष्टि स्वच्छ, संस्कारमुक्त थी। प्रेम समाज-अनुमोदित नहीं होने से ही गर्हित होगा, यह वह नहीं मानते थे। प्रेम मनुष्य की महत्तम अनुभूति है, उसकी श्रेष्ठ सम्पत्ति है। वह अपने आप अपनी महिमा से महिमान्वित है। यही शरच्चंद्र की धारणा थी। प्रेमाकांक्षा मनुष्य की सहजात वृत्ति है। लेकिन प्रेम के संबंध में उनके संस्कार तथा धर्म-बुद्धि दोनों ही समाज से मिले थे। नारी के ऊपर समाज का उत्पीड़न तभी तीव्र हो उठता है जब यह संस्कार और यह धर्म-बुद्धि उसकी उस सहजात प्रणय-आकांक्षा को प्रतिहत करते हैं। इससे जिस द्वंद्व, जिस संघात की सृष्टि होती है उसी को शरच्चंद्र ने अपनी रचनाओं में रूप दिया है। समाज-शक्ति के बाह्य उत्पीड़न से भी अधिक इस अंतर-उत्पीड़न के चित्रण में ही शरच्चंद्र का सबसे अधिक कृतित्व है। शरच्चंद्र ने इसीलिये बड़े साहस के साथ समाज के निकट लांछित, अपमानित प्रेम के चित्र अंकित किए हैं। यही उनका प्रधान वैशिष्ट्य है। वे निरासक्त शिल्पी हैं। शिल्पी की रस-दृष्टि में जो रूप प्रकाशित हुआ है उसे ही उन्होंने अंकित किया है। सदाचार अथवा कदाचार का प्रचार उन्होंने नहीं किया है और न समाज-सुधार की चेष्टा की है। प्राणहीन समाज-व्यवस्था के उत्पीड़न और अत्याचार का विवरण उन्होंने उपस्थित किया है। उसकी अयौक्तिकता पर प्रकाश डाला है पर उसका उल्लंघन उन्होंने नहीं किया है और न उसके प्रतिकार का पथ-निर्देश ही किया है। **शरच्चंद्र के उपन्यासों में इसीलिये समस्या तो है लेकिन समाधान नहीं है।**

रवींद्रनाथ की तरह शरच्चंद्र भी मनुष्यता को सबसे ऊपर स्थान देते हैं। इसीलिये गिरे हुए पतित में भी वे मनुष्यत्व के महत्त्व को देख पाते हैं। इसीलिये उन्होंने पतिता नारी के भी नारीत्व की घोषणा उच्च स्वर से की है। शरत्-साहित्य में नारी-चरित्र, पुरुष-चरित्र से कहीं उज्ज्वल है। समस्त बंगला-साहित्य के लिये मोटे तौर पर यह बात कही जा सकती है। इसका कारण पुरुष के पौरुष-प्रकाश का क्षेत्र यहाँ बहुत काल से ही सीमित रहा है। लेकिन नारी के नारीत्व के विकास का क्षेत्र चरम दुर्दिन के क्षणों में भी अत्यंत प्रशस्त था।

स्नेह, प्रेम, सेवा का क्षेत्र नारी का अपना क्षेत्र है। शरत्-साहित्य में भी नारी का मूल उपादान प्रेम और स्नेह है। "जो नारी पुरुष की बराबरी का दावा करती है शरत्-साहित्य में वह देखने में नहीं आती। उनकी नारी केवल माया-ममता जानती है। उनके उपन्यास माया-ममता के क्षेत्र हैं। यहाँ पर नारी का अचल कर्तृत्त्व है।" शरच्चंद्र आदर्शवादी साहित्यिक थे। लेकिन उनके आदर्शवाद के यथार्थ की भित्ति दृढ़ है। मुख्य रूप में

सामाजिक समस्या के संबंध में उनके 'यथार्थ' की दृष्टि अत्यंत तीक्ष्ण थी। समालोचकों में इस बात को लेकर मतभेद है। एक विख्यात समालोचक ने लिखा है, "इनकी 'यथार्थ' दृष्टि सर्वदा जागरूक भी नहीं रहती थी और न गंभीर थी। वह दृष्टि सहज ही रोमांस की कुहेलिका में उलझ कर रह गई है। इनके चरित्र उसी परिमाण में ही यथार्थ हैं जिस परिमाण में वे जीवन की दीनता, और कदर्यता को रूपायित करते हैं। प्रधान पात्र-पात्री की रोमांटिक idealism कुश्री यथार्थ के साथ बुना हुआ नहीं है और इसी प्रकार से साहित्य उपभोग्य हो पाया है।"

साधारणतः उपन्यास का प्रधान अवलंबन प्रेम है। नर-नारी के प्रेम के लीला-वैचित्र्य को लेकर ही उपन्यास लिखें जाते हैं। पुरुष औपन्यासिक प्रेम को पुरुष की दृष्टि लेकर ही देखते हैं। इनकी सृष्ट नारियां भी इसीलिये प्रायः आधी मानवी हैं और आधी कल्पना हैं। स्त्री की दृष्टि में यह रूप कैसा आकार धारण करता है समस्त जगत्-व्यापार नारी की दृष्टि में कैसा प्रतीत होता है और नारीत्व के रंगीन चश्मे से अनुरंजित होकर किस प्रकार वर्णित होता है" स्त्री-औपन्यासिक के उपन्यास में उसका परिचय पाया जा सकता है। बंगाली औपन्यासिकों में कई विशिष्ट महिलाएँ भी हैं। उनमें जिनकी दृष्टि-भंगी में मौलिकता है उन महिलाओं की रचनाओं में हम स्त्री द्वारा देखे हुए संसार का परिचय पाते हैं। इनमें स्वर्ण कुमारी देवी की चर्चा हम पहले ही कर चुके हैं। स्वर्ण कुमारी के बाद की महिला-औपन्यासिकों की दो धाराएँ दीख पड़ती हैं (१) बंकिम प्रवर्तित पुरानी धारा—हिन्दू समाज के सनातन विधि-निषेध और मूलभूत आदर्श का समर्थन इस धारा का प्रधान वैशिष्ठ्य है। इस धारा की प्रधान लेखिकाएँ अनुरूपा देवी और निरुपमा देवी हैं। निरुपमा देवी का सर्वोत्कृष्ट उपन्यास 'दीदी' है और अनुरूपा देवी का उपन्यास 'मंत्र-शक्ति' है। अनुरूपा देवी का सबसे अधिक लोकप्रिय उसन्यास 'माँ' है।

इंदिरा देवी, कुसुमकुमारी देवी और प्रभावती देवी सरस्वती भी इसी धारा की लेखिका हैं। शैलबाला घोषजामा भी इसी धारा की लेखिका हैं वैसे उनकी रचनाओं में एक नया सुर दिखायी पड़ता है। उन्होंने अपने उपन्यासों द्वारा हिंदू-मुसलमान में एकता करने की चेष्टा की है। द्वितीव धारा को मोटे तौर पर रवींद्रनाथ प्रवर्तित आधुनिक धारा कहा जा सकता है। इस धारा की प्रतिनिधि-लेखिकाएँ सीता देवी और शांता देवी हैं। "इन लेखिकाओं के उपन्यासों में विशेष रूप से नारी-समाज की आधुनिक वृत्ति प्रतिफलित हुई है। पाश्चात्य शिक्षा संस्कार के विविध-मुखी आलोड़न ने नारी-हृदय में किस प्रकार की प्रतिक्रिया की सृष्टि की है तथा नारी की भाव-गंभीरता के बीच उस परिवर्तन का तरंग-चांचल्य कितनी दूर तक स्थिर हो सक्ता है—इसी की कहानी इन उपन्यासों का प्रधान विषय है।" सीता देवी का सर्वोत्कृष्ट उपन्यास 'रजनीगंधा' है और शांता देवी का 'चिरंतनी' है।

इसी धारा का अनुसरण आशालता सिंह, आशालता देवी तथा आशापूर्णा देवी ने किया है। इनमें आशापूर्णा देवी की रचनाओं में स्त्री से अधिक पुरुष के मनोभाव को अंकित करने की चेष्टा है। इस धारा की लेखिकाओं में प्रतिभा वसु का एक विशेष स्थान है।

सहज भाषा में अत्यन्त साधारण विषय के बारे में वे लिखती हैं। साधारण बंगाली परिवार में विशेष रूप से स्त्रियों के जीवन की जो आधुनिक समस्याएँ हैं उसे उन्हीं नारी की दृष्टि से देखा है। स्त्रियों को ही विशेष रूप से ध्यान में उन्होंने रखा है। यही उनकी विशेषता है।

बंगाली महिला-औपन्यासिकों ने भी छोटे गल्प लिखे हैं। इनमें किसी किसी के गल्प प्रथम श्रेणी के हैं। ऐसी भी महिला-लेखिकाएँ हैं जिन्होंने केवल कहानियाँ ही लिखी हैं, उपन्यास नहीं लिखा है। उनमें विदुषी वाणी राय का नाम विशेष उल्लेखनीय है। इन्होंने ईर्ष्या और नैराश्य संबंधी सुंदर कहानियाँ लिखी हैं। पर इनकी रचना अनेक बार पांडित्य-कंटकित हो उठती है।

विशुद्ध हास्यरस—जिसे अंग्रेजी में 'ह्यूमर' कहते हैं—धारा बंगला साहित्य में उतनी प्रबल नहीं है यह हम पहले ही कह चुके हैं। औपन्यासिकों में विशुद्ध हास्यरस लिखने वालों की संख्या कम है। बंकिमचंद्र रवींद्रनाथ और शरच्चंद्र के उपन्यासों में "ह्यूमर के प्रति विशेष प्रवणता" परिलक्षित नहीं होती। वैसे बंकिमचंद्र और रवींद्रनाथ प्रथम श्रेणी के हास्य-लेखक हैं। बंकिमचंद्र का 'कमलाकांतेर दप्तर' अथवा रवींद्रनाथ के हास्य-कौतुक, व्यंग्य-कौतुक आदि इस के श्रेष्ठ उदाहरण हैं।

बंकिमचंद्र के बाद के लेखकों में हास्यरस-मूलक उपन्यास लिखने में योगेशचंद्र वसु ने विशेष ख्याति लाभ की। "इनके लिखे हुए उपन्यासों में व्यंग्यात्मक अतिरंजन की सहायता से हास्यरस और वीभत्सरस (grotesque) सृष्ट हुआ है।"

इनके बाद प्रमथनाथ चौधुरी का नाम लिया जा सकता है। "प्रमथ बाबू की हास्य-रस-सृष्टि-प्रणाली बिल्कुल नई है।" प्रमथ बाबू 'बीरबल' के छद्म नाम से लिखा करते थे। अकबर बादशाह के इस विख्यात सभासद की नाई प्रमथ बाबू के हास्यरस का प्रधान आधार उनकी तीक्ष्ण बुद्धि थी। उनके व्यंग्य और वक्रोक्ति उनकी परिमार्जित रुचि, वैदग्ध्य और भाषा के प्रयोग के असाधारण निदर्शन हैं। चौधुरी महोदय के हास्यरस का आनंद लेने के लिये विद्या-बुद्धि की आवश्यकता होती है। इनकी रचनाओं में wit का प्राधान्य है। छोटे गल्पों के लिखने में ही प्रमथ बाबू की अधिक दक्षता है।

प्रमथबाबू के समान ही राजशेखर वसु ने भी "परशुराम" के छद्म नाम से रचनाएँ की हैं। राजशेखर बाबू का हास्यरस निर्झर की तरह निर्मल, उज्ज्वल और स्वतःस्फूर्त है। वह बुद्धि के ऊपर एकदम निर्भर नहीं है। इनके हास्यरस अत्यंत परिमार्जित रुचि के परिचायक हैं और अत्यंत ही संयत हैं। उसमें हास्यरस-प्रधान मौलिक परिकल्पना के उद्भावक की दृष्टि से राजशेखर बाबू अतुलनीय हैं। उनकी उद्भट परिकल्पना ही उनके हास्यरस की प्राण है। किसी किसी समालोचक का कहना है कि जिसे अंग्रेजी में Comic रचना कहते हैं वह बंगला-साहित्य में राजशेखर बाबू की रचनाओं में प्रायः ही रूपायित हुई है।

इनके 'गड्डालिका' और 'कज्जली' नामक ग्रंथ बंगला-साहित्य में और नहीं हैं। राजशेखर बाबू ने उपन्यास नहीं लिखा है लेकिन गंभीर विषय पर निबंध लिखने में सिद्धहस्त हैं।

बहुतों का ख्याल है कि औपन्यासिकों में सर्वश्रेष्ठ हास्यरस लेखक केदारनाथ वन्द्योपाध्याय थे। केदारबाबू के हास्यरस का प्रधान गुण है कि हास्य के साथ करुणरस का समावेश। कहीं कहीं उन्होंने हास्य और करुण का सुंदर समन्वय किया है। चाहे छोटे गल्प में चाहे बड़े उपन्यास में सर्वत्र ही यह कारुण्य-प्रवाह उनकी हँसी के भीतर भाव गंभीरता और अर्थ-गौरव का संचार करता रहता है। पर केदारबाबू का श्रेष्ठ उपन्यास 'कोष्ठिर फलाफल' है। इसके साथ ही प्रेमांकुर आतर्थी, रवींद्र मैत्र, विभूति भूषण मुखोपाध्याय, अन्नदाशंकर राय, वनफूल, प्रमथ विशि, सजनी कांत दास और शिवराम चक्रवर्ती का नाम लिया जा सकता है। ये प्रधानतः व्यंग्य लिखने वाले हैं। राजशेखर बाबू अथवा केदारबाबू की तरह इन लोगों की रचना में हास्यरस की अभिव्यक्ति नहीं हो पाई है। फिर भी किसी किसी ने वनफूल और प्रमथ विशि को वास्तव में 'ह्यूमरिस्ट' माना है।

रवींद्रनाथ प्रवर्तित बंगला उपन्यास की जिस आधुनिक धारा ने शरच्चंद्र में परिपुष्टि लाभ की वही नाना उपधाराओं में बह निकली। रवींद्रनाथ और शरच्चंद्र का समाज-निषिद्ध प्रेम शारीरिक नहीं है। उस प्रेम में भी हृदय को स्थान है।

बंगला कविता की तरह बंगला उपन्यासों में भी प्रेम के शारीरिक अंश को प्रधानता मिलने लगी। नरेशचंद्र सेन गुप्त और चारुचंद्र वन्द्योपाध्याय इस क्षेत्र में आगे आने वालों में हैं। नरेशचंद्र ने "विवाहित नारी के वक्र प्रेम और यौवन-क्षुधा को गल्पों और उपन्यासों का विषय बनाकर" एक नई दिशा की सूचना दी। उनके उपन्यासों की परिकल्पना और उद्देश्य में भी नूतनत्व है। नरेशचंद्र ने कितने उपन्यासों में "यौन और अपराध तत्त्व-विश्लेषण को ही मुख्य उद्देश्य बनाया है।" इस उद्देश्य मूलकता के कारण ही वे उपन्यास कला की दृष्टि से सफल नहीं हो सके। लेकिन उनके सभी उपन्यास इस तरह के नहीं है और उनमें कलात्मकता है।

नरेशचंद्र रोमान्स के प्रभाव से मुक्त नहीं हैं। उनकी रचनाओं में 'यथार्थ' के विश्लेषण पर रोमान्स की छाया पड़ी है। अतएव उनमें आदर्शवाद के भी दर्शन हो जाते हैं। नरेशचंद्र की रचनाओं में गंभीर मननशीलता का परिचय पाया जाता है लेकिन उनमें अनुभव की तीव्रता और गंभीरता नहीं हैं। इन्होंने पचास से भी अधिक उपन्यास लिखे हैं। उनमें बहुतों के मन से 'अग्नि संस्कार' और 'विपर्यय' श्रेष्ठ हैं।

चारुचंद्र वंद्योपाध्याय के उपन्यास भिन्न प्रकार के हैं। उन्होंने बहुत से विदेशी उपन्यासों के सुंदर अनुवाद किए हैं। मौलिक रचना के क्षेत्र में उनका सबसे विख्यात अथवा कुख्यात उपन्यास 'पंक तिलक' है। उसमें उन्होंने यौन-क्षुधा का नग्न रूप दिखलाया है। इस प्रकार से ये अति-आधुनिकों के इस क्षेत्र में पथ-प्रदर्शक कहे जा सकते हैं। चारुचंद्र की रचनाओं में अनुभव की तीव्रता सबसे पहले दृष्टि में पड़ती है। पर वह भी रोमांस के प्रभाव से मुक्त नहीं है। उसमें भी आदर्शवाद है। लेकिन यह आदर्शवाद यथार्थ से विच्छिन्न नहीं है। समाज-सुधार की प्रचेष्टा उनमें पाई जाती है। यह सुधार की प्रचेष्टा हेमेंद्रकुमार राय के कथा-साहित्य में भी पाई जाती है। कहानी कहने की कला तथा इनका रचना-कौशल प्रशंसनीय हैं। कहानी कहने की उत्कृष्ट कला प्रेमांकुर

आतर्थी की भी है। यथार्थ की अभिज्ञता के साथ-साथ रससृष्टि की सहायता से आतर्थी कथा-साहित्य निर्मित हुआ है। व्यंग्य और हास्यरस के मिश्रण से इनकी रचनाएँ बड़ी मनोरंजक हुई हैं। प्रेमांकुर की प्रसिद्ध पुस्तक 'महास्थविर जातक' है।

सौरींद्रमोहन मुखोपाध्याय भी कहानी कहने की कला में पारंगत हैं। इन्होंने बहुत कुछ लिखा है। कविता, उपन्यास, गल्प, नाटक, गीत आदि सभी कुछ इन्होंने लिखे हैं। इनके उपन्यासों की संख्या एक सौ से भी अधिक है। इनकी रचनाओं में किसी प्रकार की समस्या नहीं है। इन्होंने साधारण सुख-दुःख की ही कहानी कही है। इन लोगों के साथ ही उपेंद्रनाथ गंगोपाध्याय का नाम भी आता है। इनकी रचनाओं में रचना-कौशल, संयम, तीक्ष्णबुद्धि मननशीलता और परिमार्जित रुचि का परिचय पाया जाता है। उपेंद्रनाथ के कथोपकथनों की भाषा सरस है और उसमें एक प्रवाह है। लेकिन इनकी रचनाओं में भाव-गंभीरता नहीं है। इनके किसी-किसी उपन्यास में सामयिक घटनाओं का प्रभाव दीख पड़ता है। जैसे 'राजपथ' नामक पुस्तक असहयोग-आंदोलन का आश्रय लेकर लिखी गई है। उनके किसी-किसी उपन्यास में यौन-प्राधान्य दीख पड़ता है। ये भी रोमांस के प्रभाव से मुक्त नहीं हैं।

शरच्चंद्र के सम-सामयिक औपन्यासिकों में अनेक लेखकों की रचनाओं में यथार्थ के साथ रोमांस के समन्वय की चेष्टा दीख पड़ती है। अनेक क्षेत्रों में रोमांस की ही प्रधानता है और इसीलिये 'यथार्थ' भी आदर्शवाद की ओर झुका है और किसी-किसी की रचना में सुधार मनोवृत्ति ही प्रधान हो उठी है। समालोचकों में किसी-किसी ने इन लेखकों को लक्ष्य कर इन्हें 'नव-रोमांटिक' कहा है। दृष्टिभंगी के पार्थक्य के अनुसार इनके भी दो विभाग किए जाते हैं। एक तो वे हैं जिनकी दृष्टि प्रधानतः रोमांटिक है। दूसरे वे हैं जो यथार्थवादी तो हैं लेकिन आदर्श-प्रवण भी हैं। प्रथम वर्ग में मुख्यतः मणिलाल गंगोपाध्याय तथा दूसरे दल में चारुचंद्र बंद्योपाध्याय हैं। यह पहले ही कहा जा चुका है। मणिलाल सिद्धहस्त हैं। इनकी भाषा सहज, आडंबरशून्य और कवित्वमयी है। "सूक्ष्म रोमांटिक अनुभूति इनकी रचना में वर्णन-सौंदर्य के रूप में प्रकट हुई है।" छोटे गल्प लिखने में ये पटु हैं। समालोचकों का कहना है कि इनकी 'मुक्ति' कहानी ने बहुत से लेखकों को "तथाकथित यथार्थ उपन्यास और गल्पों की निर्माण-प्रेरणा दी है।"

नवीन रोमांटिक लेखकों के अग्रणी मणींद्रलाल वसु हैं। अंग्रेजी-शिक्षा-प्राप्त, शहरी, पैसावाला, फैशनेबुल बंगाली समाज का रोमांटिक जीवन मणिलाल की रचनाओं में चित्रित हुआ है। उन दिनों के शिक्षाभिमानी बंगाली की Cosmopolitan संस्कृति पूर्व-पश्चिम की खिचड़ी थी। उसमें नीत्से, शापेनहावर, हैवलाक एलिस, फ्रायड, होमर, शेली, कीट्स, गेटे, वेद, उपनिषद्, कालिदास, वात्सायन, कन्टिनेन्टल साहित्यिक, फ्रांसीसी कवि—सभी की प्रेरणाएँ और छायाभास वर्त्तमान है। ऐसे शिक्षाभिमानी बंगाली की कहानी मणीन्द्रलाल के 'रमला' उपन्यास में है। यह पुस्तक अत्यंत लोकप्रिय है। उस काल के तरुण लेखकों पर इस पुस्तक का प्रभाव भी खूब पड़ा है। यह प्रभाव कहीं प्रत्यक्ष है और कहीं अप्रत्यक्ष। तरुण-लेखकों में मणींद्रलाल ने ही प्रथम शरच्चंद्र के पथ को छोड़कर नया मार्ग ग्रहण किया। बहुतों की दृष्टि में मणींद्रलाल की रचना में

परिपार्श्व की प्रधानता है। अलस, मधुर, अवकाशमय परिपार्श्व की रचना में ही जैसे मणींद्रलाल को आनंद आता है। इनके गल्प-उपन्यासों के चरित्र विशुद्ध रोमांसराज्य के निवासी होते हुए भी यथार्थ से एकदम विच्छिन्न नहीं है।

बंगला-कविता के समान ही उपन्यासों में भी कुछ को साधारण पाठक आधुनिक उपन्यास कहते हैं। यह 'आधुनिक' शब्द काल के विचार से उतना आधुनिक नहीं है जितना भाव की दृष्टि से है। यदि और भी स्पष्ट कर कहा जाय तो विषय-वस्तु की दृष्टि से यह नाम दिया गया है। भोगात्मक, देह-सर्वस्व प्रेम जिन उपन्यासों का प्रधान उपजीव्य है, दूसरे शब्दों में, जिन उपन्यासों में यौन-जीवन का विश्लेषण और प्रकाश प्रधान लक्ष्य है—जिस लक्ष्य-साधन में नीति और धर्म की कोई परवाह नहीं की जाती, वे सभी उपन्यास साधारण लोगों की दृष्टि से आधुनिक हैं। काल की दृष्टि से बीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक में चारुचंद्र वंध्योपाध्याय और नरेशचंद्र सेन की रचनाओं में इस श्रेणी के उसन्यासों की सूचना होने पर भी इस तरह के उपन्यास वास्तव में तृतीय दशक में ही बहुल परिमाण में लिखे गए। जो आधुनिक कविता के रचयिता हैं, वे ही साधारणतः उपन्यास-लेखक भी हैं।

आलोचना-योग्य आधुनिक उपन्यास अंग्रेजी-साहित्य तथा अंग्रेजी-साहित्य के माध्यम से कंटिनेंटल साहित्य के अनुकरण पर उन्हीं से अनुप्रेरित होकर लिखे जा रहे हैं। अवश्य ही इनमें हैवलाक, एलिस और फ्रायड आदि के यौन-विज्ञान और मानवविज्ञान का कुछ कम प्रभाव नहीं है। उस काल के तरुण विद्रोही लेखकगण मानते हैं कि जो कुछ पुराना है, वही प्रगति-विरोधी है। इसी धारणा को लेकर पुरातन के विरुद्ध विद्रोह की घोषणा की। पुरातन को चूर्ण-विचूर्ण कर प्रगति का नूतन पथ बनाने में ये प्रवृत्त हुए। उनके उपन्यास भी इसी नूतन उत्साह के परिचायक हैं। कल्पना के कल्पलोक की सृष्टि के बदले यथार्थ को बिना किसी पर्दे के इन्होंने रूप देने की चेष्टा की है। लगता है जैसे ये जीवन के सौंदर्य की अपेक्षा जीवन की कुरूपता को ही अधिक यथार्थ समझते हैं। इसीलिये दरिद्र, अशिक्षित, वंचित, नीतिपीड़ित, शिश्नोदर-परायण मनुष्य के यौन-आकर्षण-प्रधान कदर्यता की ओर ही इनकी विशेष दृष्टि गई है। एक विख्यात समालोचक का कहना है "अंग्रेज़ी रोमांटिक युग के Byronism के समान आधुनिक औपन्यासिकों का भी यह एक Pose या बाह्याडंबर है।"

इन आधुनिकों की अधिकांश रचनाओं में जिस यथार्थ के दर्शन होते हैं वह पाश्चात्य के अनुकरण पर कल्पना प्रसूत यथार्थ के सिवा और कुछ नहीं है; क्योंकि बंगला में इस प्रकार के यथार्थ के दर्शन नहीं होते। इस संबंध में एक विख्यात समालोचक ने लिखा है "आधुनिक उपन्यासों की एक ऐसी श्रेणी है जिसमें रास्ते-रास्ते, गलियों-गलियों, कर्जन-पार्क, यहाँ तक कि शिक्षालयों के दरवाजे पर जो निर्लज्ज और अहैतुक प्रणय-लीला, रास्ते के किनारे तृण-गुल्मों की भाँति, फैली हुई रहती है, वह नीति की दृष्टि से चाहे जो हो, लेकिन 'यथार्थ' की दृष्टि से समर्थन-योग्य नहीं है। तरुण-तरुणियों साक्षात्मात्र से ही जो दैहिक लोलुपता जग उठेगी वह मनोविज्ञान और कला की दृष्टि से स्वाभाविक नहीं समझी

जा सकती। यद्यपि यह कहा जा सकता है कि हमारे जीवन में ऐसा होता है तथापि जीवन में जो केवल आकस्मिक अथवा सहज-प्रवृत्ति-प्रणोदित है वह उच्च कला का विषय नहीं हो सकता।" तब यहाँ यह कह रखना आवश्यक है कि उच्च कोटि की कला की दृष्टि से इनमें किसी-किसी की ही रचना यथार्थ साहित्य हो उठी है।

इसके अलावे इन आधुनिकों ने गौण रूप से भी एक काम किया है। 'यौन-आक.्ण के संबंध में खुले तौर पर यह आलोचना कर सत्य के संबंध में हमारी असहिष्णुता और दुर्बल नीति-संकोच को इन्होंने बहुत हद तक दूर किया है।" इनके ही कारण बहुत कुछ हम लोगों ने नीति-भय-ग्रस्त शैशव को अतिक्रम कर स्वाधीन चिंता के यौवन में पदार्पण किया है। इस प्रकार का दावा एकदम असंगत नहीं कहा जा सकता।

लेकिन साहित्य-समालोचकगण 'आधुनिक' शब्द का व्यवहार इतने संकीर्ण अर्थ में नहीं करते। पहले ही हम कह चुके हैं कि उनकी दृष्टि में बंगला उपन्यास की आधुनिक धारा का प्रवर्तन रवींद्रनाथ ने किया। एक और बात यह है कि यौन-जीवन-चित्र-मूलक उपन्यासों को छोड़कर काल की दृष्टि से आधुनिक उपन्यासों में आधुनिक जीवन की नाना जटिलताएँ, नाना समस्याएँ भी रूपायित हुई हैं। पुरानी धारा का प्रवाह अव्याहत है, अथवा वह नई-नई धाराओं में बह रहा है। ये सभी धाराएँ एक साथ ही प्रभावित हो रहीं हैं, यह कहने की आवश्यकता नहीं है। सब की गति एक असीम रस-समुद्र की ओर है।

बंगला के आधुनिक उपन्यास तथा आधुनिक साहित्य के संबंध में एक बात विशेष रूप से कहने की है। अतएव वह परीक्षामूलक (experimental) है। पुराने दिन चले गए हैं, उन्हें लेकर अग्रसर नहीं हुआ जा सकता। इसीलिये विभिन्न दिशाओं में नूतन का अनुसंधान हो रहा है। अधिकांश रचनाओं में इसका परिचय है। यह कहना बेकार है कि यह अवस्था क्षण स्थायी है। समाज और जीवन में नूतन की प्रतिष्ठा होने के साथ ही साथ साहित्य में भी उसका स्थान सुनिर्दिष्ट होगा।

आधुनिक उपन्यास-लेखकों में बुद्धदेव वसु और अचिंत्य कुमार सेन हैं। प्रेमेंद्र मित्र इसी गोष्ठी के हैं। नूतन दृष्टिभंगी, मौलिक परिकल्पना और रचना-नीति ने बुद्धदेव और अचिंत्य कुमार की रचनाओ को विशिष्टता प्रदान की है। बंगला-उपन्यास के क्षेत्र में वैशिष्ट्य की सृष्टि की है। ये दोनों ही कवि भी हैं। इनके उपन्यासों में कवि की दृष्टिभंगी ने प्राधान्य लाभ किया है। इनकी विश्लेषण-प्रणाली भी कविजनोचित है। सहज ढंग से अगर कहा जाय तो इनके उपन्यास एकांतभाव से काव्यधर्मी हैं। इस दृष्टि से पुरानी धारा के साथ भी इनका एक संबंध है।

इनकी कवि-प्रतिभा ने जैसे उपन्यासों की कठोर वास्तविकता के ऊपर एक स्निग्ध छाया की है। इनके उपन्यासों में तीव्र इंद्रियानुभूति ने रह-रह कर अतींद्रिय अनुभूति के अपरिमेय रहस्य में डुबकी लगाई है। इनका यथार्थ-वर्णन बीच-बीच में सांकेतिकता के रहस्य से घनीभूत हो उठता है। मनुष्य के बाह्य परिचय के अंतराल में उसकी आत्मा का परिचय जिस रहस्य से ढका हुआ है, उसे ही ये प्रकाश में लाना चाहते हैं। जगत् के बाह्य

रूप के अंतराल में जो रूप-प्रवाह अविच्छिन्न है, उसकी ओर ही भाषा के कौशलपूर्ण प्रयोग द्वारा उँगली निर्देश करते हैं।

इस भाषा के ऊपर बुद्धदेव वसु का अधिकार असाधारण है। कवि बुद्धदेव बंगला-गद्य के भी कुशल शिल्पी हैं। काव्य-धर्मी होने की वजह से इनके उपन्यासों में तीव्र अनुभूति का मनोहर वर्णन ही इनका अन्यतम विशेषत्व हो गया है। बुद्धदेव के उपन्यास का विषय देह-सर्वस्व-प्रेम है। इसीलिये यौन-जीवन के रहस्य का उद्‌घाटन ही इनका उद्देश्य है। बुद्धदेव ने मुख्यतः मध्यवित्त बंगाली समाज को लेकर ही उपन्यासों की रचना की है। इन्होंने बहुत से उपन्यास लिखे हैं। उनमें "रजनी होलो उतला" ने एक समय बंगला-साहित्य में आलोड़न पैदा कर दिया था। अचिंत्य कुमार सेन गुप्त के ऊपर नुट हैमसन (Knut Hamsun) का प्रभाव पड़ा है। उसके 'पैन' का अनुवाद इन्होंने बंगला में किया है। हैमसन की रचना-शैली का इनके ऊपर बहुत ही प्रभाव है। बाद में ये रूसी साहित्य से भी प्रभावान्वित हुए हैं। इनके तथाकथित गण-साहित्य में उसका परिचय मिलता है। अर्थात् उन उपन्यासों में उन्होंने प्रधानतः किसानों, मजदूरों की चर्चा की है।

अचिंत्यकुमार के उपन्यास का भी प्रधान उपजीव्य यौन-जीवन ही है। इनकी काव्यधर्मी रचना की भित्ति बुद्धदेव से अधिक सुदृढ़ है। इन्होंने सरकारी नौकरी करते हुए बंगाल के भिन्न-भिन्न स्थानों में भ्रमण किया और नाना प्रकार के लोगों से मिलने का इन्हें मौका मिला है। इसका परिचय इनके साहित्य में मिलता है। नाना प्रकार के लोग इनके उपन्यासों में वर्तमान हैं। अचिंत्यकुमार के उपन्यासों ने बंगला-साहित्य में एक समय विप्लव की सृष्टि कर दी थी। इनकी पुस्तक 'बेदे' के प्रकाशित होने पर समालोचकों के बीच प्रशंसा और निंदा की एक प्रबल आँधी आ गई थी। इसमें Bohemianism अथवा उच्छृंखल या यायावरत्व का जो चित्र अंकित हुआ है वह बंगला-साहित्य में पहले कभी देखने में नहीं आया।

इसी श्रेणी के लेखक प्रेमेंद्र मित्र की रचना अन्य प्रकार की है। उनमें काव्य-प्रवणता एकदम नहीं है। उनमें मननशीलता है। आवेग-शून्य भावुकता को छोड़कर बुद्धि-दीप्त पर्यवेक्षण और विश्लेषण एवं भाषा और भाव का संयम प्रेमेंद्र मित्र का विशेषत्व है। इनकी रचनाओं में एक तीक्ष्ण व्यंग्यप्रियता भी है। छोटे गल्पों में उन्होंने विशेष दक्षता का परिचय दिया है।

प्रेमेंद्र मित्र के गल्पों और उपन्यासों में यथार्थवाद सुस्पष्ट और सुदृढ़ है। उन्होंने केवल जीवन की यौन संबंधी बातों पर ही ध्यान नहीं दिया है वह उनकी रचनाओं में गौण है। उन्होंने जीवन की अन्यान्य समस्याओं की आलोचना भी की है। उनकी रचनाओं में मार्क्स का समाज-तत्त्व और फ्रायड का मनसतत्त्व भी है और सुधार की चेष्टा भी है। प्रेमेंद्र का उपन्यास-क्षेत्र अत्यंत विस्तृत है। समाज के उच्च वर्ग से लेकर निम्न वर्ग तक, सभी का समावेश उनके उपन्यासों में है। विशेष रूप से समाज-परित्यक्त अपराधी आत्मज की बात उन्होंने सहृदयतापूर्वक कही है। इस दृष्टि से शैलजानंद मुखोपाध्याय के साथ उनकी समानता है।

गांधीजी के असहयोग आंदोलन के कुछ पहले से ही चिंतननायक और जन-नायकों की दृष्टि जन-साधारण की ओर, गाँवों की ओर और कारखानों की ओर गई। साहित्य में भी इसी लिये जन-साधारण का स्थान व्यापक होता गया। जन साधारण के संबंध में रचित साहित्य का वर्तमान में प्रचलित नाम गणसाहित्य है। यह गण-साहित्य मध्यवित्त श्रेणी के बुद्धिजीवियों की रचना है। अतएव इसकी प्रेरणा के मूल में आदर्शवाद ही है। प्रेमेंद्र मित्र ने गण-साहित्य की भी रचना की है। इसके अलावे इन्होंने वैज्ञानिक रहस्य-मूलक रचनाओं में भी कृतित्व प्रदर्शित किया है। इस प्रकार की रचनाएँ अल्प-वयस्कों के लिये ही हैं। इनके उपन्यासों में 'पाँक' ने ही संभवतः सबसे अधिक आलोचकों के बीच आलोड़न पैदा किया था। अविमिश्र दुरात्मा-चित्र, शैलजानंद मुखोपाध्याय की रचना के पहले, कुछ वैसा नहीं दीख पड़ता। समालोचकों का कहना है कि बंगाली साहित्यिकों में एकमात्र शैलजानंद ने ही पक्के दुष्ट का चित्र खींचा है। इन दुष्टों की दुष्कृति के लिये किसी दैहिक अथवा मानसिक दण्ड की भी उन्होंने व्यवस्था नहीं की है। शैलजानंद का साहित्य-क्षेत्र सीमित और क्षुद्र परिसर वाला है। यह क्षेत्र राढ़ देश तक ही (वीरभूम, वर्दवान और बाँकुड़ा जिले) सीमित है। इस साहित्य को आंचलिक साहित्य कह सकते हैं। शैलजानंद की रचनाओं में यथार्थ का विशुद्ध चित्र पाया जाता है। इनका 'यथार्थ' कवित्व अथवा बुद्धि द्वारा अनुरंजित नहीं है। इसीलिये यह तीव्र है, कठोर है। शैलजानंद ने जीवन को, जगत् को जैसा देखा है ठीक वैसा ही चित्रित किया है। औप-न्यासिकों में ये सबसे अधिक निरपेक्ष हैं। नाटककार की तरह बराबर नेपथ्य में रहते हैं।

शैलजानंद की प्रतिभा का श्रेष्ठ विकास उनके छोटे गल्पों में हुआ है। पहले के लिखे हुए गल्पों में रोमांटिकता है। लेकिन शीघ्र ही इनकी रचना रोमांटिक-प्रभाव-मुक्त होकर पूर्ण रूप से यथार्थानुगामिनी हो उठी है। 'कयला-कुठी' गल्प-संग्रह इसी प्रकार का है। इन गल्पों में इन्होंने संथाल, बाउरी आदि मजदूर श्रेणी की जातियों का जीवन चित्रित कर गण-साहित्य को प्रसारित कर दिया है। शैलजानंद की आंचलिक भाषा के व्यवहार से यथार्थ-रस निबिड़ हो उठा है। जीवन का यथार्थ चित्र अंकित करते समय शैलजानंद ने यौन-आकर्षण की भी चर्चा की है। लेकिन यह उनका प्रधान आलोच्य विषय नहीं है।

आंचलिक उपन्यास - लेखकों में ताराशङ्कर वंद्योपाध्याय विख्यात हैं। बंगला-उपन्यास लेखकों में दो ताराशङ्कर वंद्योपाध्याय हैं। उपर्युक्त ताराशङ्कर वीरभूमि जिला के हैं। इनके साहित्य का क्षेत्र राढ़ अंचल है और विशेष रूप से वीरभूमि जिले के ग्राम हैं। इनके गल्प-उपन्यास के परिपार्श्व, पात्र-पात्री का चरित्र-चित्रण और उनके कथोपकथन स्थानीयता का पुट (local colour) अत्यंत सुस्पष्ट है। ताराशंकर के साहित्य-जगत् में लुप्त गौरव अथवा ह्रासमान गौरव वाले जमींदार, व्यापार और उद्योग धंधा पर निर्भर करने वाले धनी, भूमि पर निर्भर करने वाला मध्यवित्त समाज तथा अन्यान्य ग्रामवासी जैसे—किसान, लुहार, वैरागी (एक जाति), कहार, वाग्दी (डोम की तरह की जाति) वंशानुक्रम से होनेवाले डाकू, उडायन, शव-साधक, बेदे (एक घुमक्कड जाति) आदि सभी हैं। ताराशंकर के गल्प-उपन्यासों में बेदे का स्थान बंगला-साहित्य में प्रथम-प्रथम

पाया जाता है। शरच्चंद्र और अचिंत्य कुमार ने भी घुमक्कड़ जातियों की चर्चा की है, लेकिन ताराशंकर के बेदे बिल्कुल भिन्न श्रेणी के हैं। इनके जीवन में अनाविष्कृत रहस्य को लेकर बंगला-साहित्य में वैचित्र्य की सृष्टि हुई है।

आंचलिक होने पर भी ताराशंकर के गल्प-उपन्यासों के विषय-वस्तु विचित्र हैं। समसामयिक घटना और विविध आंदोलन इनकी रचनाओं के उपादान हैं। सन् १९४२ ४३ ई० का बंगाल का अकाल, असहयोग आंदोलन, आतंकवाद—ये सभी इनकी रचनाओं में स्थान पाए हुए हैं। व्यापार और उद्योग-धंधा पर निर्भर कांचन-कौलिन्य के आघात से भूमि-निर्भर पुराने आभिजात्य के टूटकर बिखरने की भी कहानी उन्होंने कही है। जन-आंदोलन की भी कहानी कही है। सामाजिक जीर्णता के विरुद्ध उनकी रचनाओं में विद्रोह की अग्नि भी प्रज्वलित हो उठी है। इसके अलावे उन्होंने रोमांटिक प्रेम और समाज के निम्नस्तर के व्यक्तियों की भी चर्चा की है। ताराशंकर को प्रधानतः रोमांटिक धारा का लेखक कहा जा सकता है।

समालोचकों का मत हैं कि ताराशंकर की श्रेष्ठ रचनाएँ उनकी कहानियाँ ही हैं। उपन्यासों में कहानियों की तरह उनकी दक्षता नहीं दीख पड़ती है। लेकिन कई वर्ष पहले समसामयिक उपन्यासों में उनका उपन्यास 'हंसुली बाँकेर उपकथा' श्रेष्ठ समझा गया और उसके लिये उन्हें शरच्चंद्र-स्मृति-पुरस्कार मिला। लेकिन बहुतों की दृष्टि में ताराशंकर श्रेष्ठ उपन्यास 'कवि' है। समालोचकों का कहना है कि बंगला-उपन्यास के क्षेत्र में शरच्चंद्र के साक्षात् उत्तर साधक दो व्यक्ति हैं। उनमें एक ताराशंकर हैं दूसरे मानिक वंद्योपाध्याय हैं। कई दृष्टियों से यह बात विचारणीय है। लोकप्रियता की दृष्टि से शरच्चंद्र के बाद इन्हीं दोनों का स्थान है।

समालोचक की दृष्टि में उत्कृष्ट गल्प-उपन्यास लिखने के सभी गुण मानिक वंद्योपाध्याय में मौजूद थे। कम से कम उनके प्रथम के लिखे हुए उपन्यासों को पढ़ने से यही धारणा होती है। ये समाज के सभी तरह के लोगों की बात कह सकते हैं। मनस्तत्त्व के विचार से जो विभिन्न श्रेणी अथवा टाइप समझे जाते हैं उनके चित्र ये सहज ही अंकित कर सकते हैं। इनके साहित्य का क्षेत्र अत्यंत विस्तृत है। लेकिन इनकी रचनाओं में विषय-वैचित्र्य नहीं है। मानिक वंद्योपाध्याय पूर्व बंगाल के निवासी हैं। इनकी रचनाओं में पूर्व बंगाल की नदी, ग्राम, मांझी, मल्लाह आदि की विशुद्ध तस्वीर पाई जाती है। इस विषय की चर्चा करने वालों का कहना है कि मानिक बाबू के साहित्य में निम्न श्रेणी के गरीब अपनी विशेषता लिए हुए हैं। इनकी चिंता-भावना भी इनकी अपनी है। साहित्यिक की कल्पना का रंग इन पर नहीं चढ़ा है। मानिक वंद्योपाध्याय की पुस्तक "पद्मा नदीर मांझि" में स्थानीय भाषा का विशुद्ध और साहित्यिक प्रयोग हुआ है। यह इनका विशेष प्रसिद्धि-प्राप्त उपन्यास है।

उपन्यास के गठन और उपजीव्य विषय को लेकर जो आधुनिक लेखक नये-नये प्रयोग कर रहे थे उनमें मानिक वंद्योपाध्याय का स्थान विशिष्ट है। फ्रायड का यौन-मनोविज्ञान मानिक बाबू की रचनाओं का मूल आधार है। फ्रायड के मत से मनुष्य की सभी

प्रचेष्टाओं, सभी प्रवृत्तियों के मूल में यौन-प्रवृत्ति है जो अवचेतन मन में लुक्कायित रहती है। मानिक बाबू ने वैज्ञानिक की तरह अवचेतन मन की गोपन गुहा में प्रवेश कर उसके रहस्योद्‌घाटन की चेष्टा की है। लेकिन विज्ञान, साहित्य नहीं है और समालोचक मानिक बाबू में वह शक्ति भी नहीं जिसके द्वारा वे विज्ञान को साहित्य का रूप दे सकें। इसीलिये इनके अनेक उपन्यास यौन-विकार के निपुण तथ्य-विश्लेषण द्वारा एक श्रेणी के लोगों के निकट चित्ताकर्षक हुए हैं अवश्य लेकिन साहित्य नहीं हो सके हैं। साहित्य की दृष्टि से इनकी अधिकांश रचनाओं में रस-साहित्य की सृष्टि नहीं हो सकी है। मानिक बंद्योपाध्याय इस समय साम्यवादी साहित्यिक हैं। इसलिये नवयुवक-समाज में आज भी इनकी ख्याति आसन्न है।

प्रबोधकुमार सान्याल के उपन्यासों में यौन-आकर्षण की चर्चा है। यौन-ज्ञान का स्वरूप उन्होंने भी चित्रित किया है। किंतु मानिक बंद्योपाध्याय की तरह इनकी रचनाओ में यौन-ज्ञान संबंधी तत्वानुसंधान नहीं है। इनके उपन्यासों में यौन-प्रवृत्ति प्राण-लीला में स्पंदित हुई है। जीवन के आवेग से उच्छ्वसित हुई है। अक्लांत परिव्राजक प्रबोध कुमार ने घुमक्कड़ों की दृष्टि से संसार को देखा है। इसीलिये इस दृष्टि के सामने मनुष्य के विचित्र रूप को प्रकाश मिला है जैसे—सुंदर, कुत्सित, प्रेम में निर्मल, लालसा से क्लिन्न, महत्व से उज्ज्वल, नीचता से कलंकित। छोटे-बड़े, नीच-ऊँच किसी की भी इस दृष्टि ने उपेक्षा नहीं की है। भ्रमण-वृतांत किस प्रकार से उत्कृष्ट कथा - साहित्य की रसात्मकता को प्राप्त कर सकता है, इसका उज्ज्वल दृष्टांत अपनी पुस्तक 'महाप्रस्थानेर पथे' में प्रबोध कुमार ने उपस्थित किया है। प्रबोध कुमार प्रथम श्रेणी के गद्य-लेखक हैं। इनकी तीक्ष्ण-व्यंग्यता प्रथम चौधुरी की याद दिला देती है। प्रबोध कुमार के जैसे ही सुमथनाथ घोष भी हैं। इन्होंने भी भ्रमण-वृत्तांत को कथा-साहित्य की रस-समृद्धि से पूर्ण करने की चेष्टा की है।

बंगाल-ग्राम-जीवन और ग्राम के सौंदर्य एवं माधुर्य, जिनकी रचनाओं में बड़ी सफलता से प्रस्फुटित हुए हैं, उन औपन्यासिकों में विभूतिभूषण बंद्योपाध्याय सब से आगे हैं। ये रोमांटिक धारा के लेखक हैं। इनकी रचनाओं में कविता का स्पर्श लगा है और प्राण-लीला का चांचल्य जग उठा है। विभूतिभूषण का श्रेष्ठ उपन्यास 'पथेर पांचाली' है। इस पुस्तक की मौलिकता चमत्कृत कर देती है। ग्रामीण प्रकृति के स्निग्ध मधुर परिपार्श्व में चिरंतन शिशु-मन की रहस्यमयता को इतने सुंदर ढंग से रस-रूप देने का दूसरा उदाहरण बंगला-साहित्य में नहीं मिलता।

प्रकृति का अपूर्व रूप विभूतिभूषण के कई उपन्यासों में उद्‌घाटित हुआ है। उनमें 'अरण्यक' और 'इच्छामती' विशेष रूप से उल्लेख योग्य हैं। 'इच्छामती' अपनी श्रेष्ठता के कारण रवींद्र-पुरस्कार से पुरस्कृत हुई है। (पश्चिम बंग सरकार प्रति वर्ष श्रेष्ठ उपन्यास-रचना के लिये यह पुरस्कार देती है)। विभूतिभूषण का ज्ञान प्रकृति से मनुष्य तक और मनुष्य से आध्यात्मिकता तक जा पहुँचा है। किंतु इनकी प्रतिभा का चरमोत्कर्ष प्रकृति के रहस्योद्‌घाटन में ही है।

प्रमथनाथ विशि के उपन्यासों में प्रकृति का एक प्रधान स्थान हैं। लेकिन यहाँ प्रकृति का केवल मधुर रूप ही नहीं देखने को मिलता वरन् उसका क्रूर रूप भी चित्रित हुआ है। मनुष्य के सुख-सौभाग्य को लेकर इसका निष्ठुर व्यंग नाना ध्वंस-लीलाओं में प्रकट होता है। व्यंग-लेखक विशि की कल्पना में प्रकृति परिहासपरायण हो उठी है। संस्कृत-नाटकों की तरह प्रकृति ने विशि के उपन्यासों में व्यक्तित्व लाभ किया है। विशि प्रकृति को गोपन अंतराल में अति-प्राकृत का संधान पाया है। विशि की रचनाएँ उनके सरस, मननशील मन का परिचय कराती है।

सरोजकुमार राय चौधरी ने बंगाल की ग्राम-प्रकृति का यथार्थ चित्र खींचा है। ग्राम-प्रकृति के साथ गांव के मनुष्य भी मिल गए हैं। बंगला के वैरागी और उनके अखाड़ों का चित्रण सरोजकुमार के उपन्यासों में हुआ है। रोमांस की पृष्ठभूमि में रस की सृष्टि उन्होंने की है। शरच्चंद्र और ताराशंकर के उपन्यासों में भी यह पाया जाता है। सम-सामयिक आंदोलनों ने भी इनकी रचनाओं में स्थान पाया है। सरोजकुमार की भाषा बहुत दूर तक काव्यधर्मी है लेकिन उनका कृतित्व प्रकृति का यथार्थ चित्र खींचने में ही है।

शरदिंदु बंद्योपाध्याय ने उपन्यास की अपेक्षा कहानी लिखने में ही अधिक दक्षता का परिचय दिया है। प्रकृति तथा वस्तु के अंतर में अति-प्राकृत का रहस्य है। वैज्ञानिक युग के तीव्र प्रकाश में भी शरदिंदु की कल्पना ने इस रहस्य का इंद्रजाल बुना है। यही इनका वैशिष्ट्य है। पाश्चात्य शिक्षा और संस्कृति के प्रभाव से अंग्रेजी शिक्षित मध्यवित्त बंगाली के समाज में जिस संस्कृति की प्रतिष्ठा हुई उसमें जहाँ शुद्धता है वहाँ तो विदेशी साहेबी का अनुकरण नहीं है और स्वदेश के अंध-अनुकरण द्वारा हिंदुओं का अंधविश्वास भी नहीं है। यह निस्संदेह भारतीय है, लेकिन अपनी उदारता में यह विश्वजनीन है। रवींद्रनाथ की रचनाओं में इसका गंभीर आध्यात्मिक रूप देखने को मिलता है।

रवींद्रोत्तर कई लेखकों की रचनाओं में इस संस्कृति का परिचय पाया जाता है। यद्यपि रवींद्र साहित्य में जैसा यह गंभीर और जैसा आध्यात्मिक है वैसा इन लोगों की रचनाओं में नहीं है। इनमें इस संस्कृति का विशेषत्व विज्ञान-सुलभ सत्यानुसंधान की चिंता-स्वाधीनता में है तथा आधुनिक जीवन की जटिलताओं की निर्भीक आलोचना में है। इस श्रेणी के लेखकों में सबसे पहले अन्नदाशंकर राय का नाम स्मरण हो आता है। मणींद्रलाल बसु की रोमांटिक रचनाओं में भी इस संस्कृति का कुछ परिचय पाया जाता है, इस संबंध में हम पहले ही कह चुके हैं। अन्नदाशंकर अंग्रेजी-साहित्य के सुपंडित हैं। यूरोप जीवन-यात्रा का उन्हें प्रत्यक्ष अनुभव है। गांधीजी और रवींद्रनाथ के ये यथार्थ भक्त हैं। वैष्णव धर्म और साहित्य के प्रति तथा बंगाल के बाउलों के प्रति इन्हें सच्चमुच का अनुराग है। बाउल एक प्रकार के ऐसे साधु हैं जिनकी धर्म-साधना गीतों द्वारा रूपायित होती है। इनमें कुछ गृही भी हैं जो विवाहादि करते हैं और कुछ ऐसे हैं और कुछ ऐसे हैं जो विवाह आदि नहीं करते और जो गृह-त्यागी हैं। अन्नदाशंकर यूरोपीय संस्कृति के प्रति भी यथेष्ट श्रद्धावान् हैं। अन्नदाशंकर का मन यूरोपीय और हृदय भारतीय है।

इसका फल यह हुआ है कि इनकी रचनाओं में एक उदारता, एक वैचित्र्य देखा जाता है जो अन्य सम-सामयिक औपन्यासिकों में दुर्लभ हैं। उनकी रचनाओं में प्राच्य और प्रतीच्य का व्यवधान दूर हो गया है और उनके आंतरिक मिलन की चेष्टा सुस्पष्ट है। इसके अलावे अन्नदाशंकर की रचनाओं में एक ओर यूरोपीय मन के युक्तिवाद, विचार-विश्लेषण, तथा चिंतन-स्वातंत्र्य हैं तथा दूसरी ओर भारतीय हृदय का आवेग, स्पंदन और अनुभूति की स्निग्धता प्रकट हुई है। कविताओं की नाईं इनके गल्प-उपन्यासों में भी आधुनिक बंगाली-सुलभ हताश और व्यर्थता का स्वर नहीं सुनाई पड़ता। उसके बदले एक आशा और आनंद की हास्यमधुर गुंजन-ध्वनि सुनाई पड़ती है।

अन्नदाशंकर की अद्वितीय कृति उनका छः खण्डों में लिखा हुआ उपन्यास 'सत्यासत्य' है। इसके जैसा वृहदाकार उपन्यास बंगला-साहित्य में नहीं है। 'अन्नदाशंकर की सृजनी-शक्ति का यह उत्कृष्ट उदाहरण है।' ऐसा बहुत से समालोचकों का मत है। आकार की वजह से ही इस उपन्यास की ख्याति नहीं है बल्कि उपन्यास-कला की दृष्टि से ही यह प्रसिद्धि लाभ किए हुए है। संपूर्ण ग्रंथ में जैसे जीवन का एक आवेगमय चांचल्य तरंगित होता हुआ चला है। जाँ क्रिस्टोफर की याद इस ग्रंथ के कारण हो आती है। अन्नदाशंकर ने छोटे गल्प और छोटे आकार के उपन्यास भी लिखे हैं। इनमें भी उनकी प्रतिभा प्रस्फुटित हुई है। अन्नदाशंकर कवि हैं तथा प्रथम श्रेणी के गद्य-लेखक हैं। उनके गद्य में बुद्धि-दीप्त, प्रांजल भाषा है और वह भाषा Wit और Humour के सुंदर व्यवहार से रसोज्ज्वल और काव्य-सुषमा से मंडित है।

प्राच्य और पाश्चात्य के मिलन की प्रचेष्टा दिलीपकुमार राय की रचनाओं का अन्यतम वैशिष्ट्य है। यह मिलन संस्कृति और भाव का मिलन है। श्री अरविंद के शिष्य पांडिचेरी के शिल्पी साधक दिलीपकुमार राय ने बंगला-साहित्य के विभिन्न क्षेत्र में अपनी लेखनी चलाई है। कविता, गीत, उपन्यास, प्रबंध सभी कुछ उन्होंने लिखा है। योगी की अनासक्ति और भोगी का आवेग लेकर इन्होंने साहित्य-सृष्टि की है। इसीलिए इनके साहित्य में भोगात्मकता और आध्यामिकता की धारा एक साथ ही बह रही है। उनका साहित्य तांत्रिकों के भोग द्वारा योग और संसार के मध्य से होकर मोक्ष-प्राप्ति की याद दिला देता है

तीक्ष्ण बुद्धि की उज्ज्वलता, मनन की गंभीरता और रसोपलब्धि की निबिड़ता इनकी रचनाओं के वैशिष्ट्य हैं। समालोचक का कहना है "चिंताशीलता और निबिड़ रसोपलब्धि का युगपद् मिलन ने उनकी रचनाओं को एक अपूर्व आकर्षण प्रदान किया है। संभवतः विशुद्ध Culture की दृष्टि से उपन्यास के क्षेत्र में उनका कोई प्रतिद्वंद्वी है या नहीं इसमें संदेह है। और यह Culture उनके उपन्यासों का बाह्य-सौष्ठव नहीं है। यह उनके उपन्यासों का केंद्रीभूत सार अंश है और उन उपन्यासों के आवेदन के मूल में है।

दिलीपकुमार की सब रचनाओं का रसास्वादन साधारण पाठक के लिए संभव नहीं है। Joyce आदि यूरोपीय लेखकों ने मनस्तत्त्व - मूलक एवं मनस्तत्त्व-प्रधान

'विशुद्ध' उपन्यास-रचना का एक नूतन आदर्श स्थापित किया। इन सब उपन्यासों में गल्पांश सामान्य है। मनोविज्ञान के द्वारा ही चरित्र-चित्रण हुआ है। बंगला भाषा में इस प्रकार के उपन्यास लिखने का प्रथम गौरव धूर्जटि मुखोपाध्याय को है। उस विख्यात अध्यापक के उपन्यासों का रस ग्रहण करने के लिए पांडित्य और तीक्ष्ण बुद्धिका नियोजन होता है।

बंगला-साहित्य के क्षेत्र में बलाइचंद्र मुखोपाध्याय के 'बनफूल' को एक विशिष्ट स्थान प्राप्त है। ये जीविकोपार्जन के लिए डाक्टरी करते हैं और अन्तःप्रेरणा से परिचालित होकर साहित्य-रचना करते हैं। कविता, नाटक, उपन्यास, प्रबंध, गल्प—सभी कुछ इन्होंने लिखा है। इनका पेशा ही इनके साहित्य को समृद्ध किए हुए है तथा उसे एक विशेषत्व प्राप्त है। डाक्टरी का व्यवसाय करते हुए उन्हें नाना प्रकार के लोगों से, नाना श्रेणी के लोगों से, उनका परिचय हुआ है। उनकी दृष्टि स्वभाव से ही वैज्ञानिक दृष्टि है इसलिये उनका वह परिचय अत्यंत निबिड़ हुआ है। उनकी इस अमूल्य अभिज्ञता का परिचय उनके साहित्य से मिल जाता है। उस परिचय में उनकी डाक्टरी विद्या का स्थान भी गौण नहीं है। रूप को लेकर ही विज्ञान का कारबार है, उसे अरूप से कुछ लेना-देना नहीं है। वैज्ञानिक का संस्कार-मुक्त, निरपेक्ष, सत्य को खो जाने वाली दृष्टि में वस्तु का जो रूप-वैचित्र्य प्रकट होता है उसी का साहित्यिक प्रकाश प्रथम 'बनफूल' की रचनाओं में दीख पड़ा।

विज्ञान गतिशील है। परीक्षण-निरीक्षण का पथ ग्रहण कर अन्वेषण के प्रकाश को फेंकता हुआ विज्ञान चलता है। उसी प्रकाश में संसार के न जाने कितने विस्मय प्रकाशित हो उठते हैं। विज्ञान की दृष्टि में भी वस्तु का रूप बदल-बदल जाता है। वस्तु भी चलमान है। 'बनफूल' के उपन्यासों में भी इस अविरत, अविराम चलने का परिचय है। इसीलिये इनकी रचना की विषय-वस्तु विचित्र है। उपन्यास की टेकनीक को लेकर भी उन्होंने नाना प्रकार के परीक्षण किए हैं। इस क्षेत्र में भी उनकी विशिष्टता दीख पड़ती है। वैज्ञानिक-विश्लेषण-प्रवणता की वजह से इनकी सभी रचनाएँ रसात्मक नहीं हुई हैं। छोटी-छोटी घटनाओं के वर्णन में ही इनका कृतित्व है। 'बनफूल' में प्रधानतः मध्यवित्त समाज का चित्र अंकित किया है।

द्वितीय महायुद्ध के समय से ही ऐसी कितनी घटनाएँ घटीं जिनका परिणाम सुदूर-प्रसारी हुआ। विश्वयुद्ध के बाद सन् ४२ का गांधी जी का 'भारत छोड़ो' आंदोलन आया। सन् १९४२-४३ ई० में बंगाल में जबर्दस्त अकाल पड़ा। कलकत्ता, नोआखाली और बिहार में सांप्रदायिक दंगे हुए। देश की स्वाधीनता प्राप्त हुई और देश का विभाजन हुआ। फलस्वरूप लाखों लोगों को पैतृक संपत्ति, घरबार छोड़ कर पथ का भिखारी होना पड़ा। इनमें से प्रत्येक के तरंगाघात से बंगाली समाज की नींव हिल गई है। विशेष रूप से देश-विभाजन का आघात उस पर बहुत ही कठोर रहा है। इससे उसके सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक जीवन में विपर्यय हुआ है।

इन सब घटनाओं की साहित्यिक अभिव्यक्ति यथेष्ट हुई है ऐसा नहीं कहा जा सकता। इसके बहुत से कारण हैं। इन सबों का संमिलित फल यह हुआ है कि एक अनिश्चयता, हताश और उदासीनता के भाव बंगाली-जीवन और साहित्य में दीख पड़ते हैं। इस नैराश्य का प्रतिवाद किसी-किसी लेखक की रचना में है। उदाहरणस्वरूप मनोज वसु और नारायण गंगोपाध्याय का नाम लिया जा सकता है। ये आशावादी हैं। प्रधानतः राजनैतिक आंदोलन लेकर ही इन लोगों ने उपन्यास लिखे हैं। सतीनाथ भादुड़ी, नवेंदु घोष और सुबोध घोष के उपन्यासों में भी इस राजनैतिक आंदोलन ने विशेष स्थान ग्रहण किया है। तरुण-दल में सब से अधिक ख्याति नारायण गंगोपाध्याय की है। यथार्थवाद के साथ कवित्व के मिश्रण ने इनकी रचनाओं को चित्ताकर्षक बना दिया है। छोटे गल्प लिखने में सुबोध घोष सिद्धहस्त हैं।

सतीनाथ भादुड़ी की 'जागरी' पुस्तक भी रवींद्र-पुरस्कार द्वारा पुरस्कृत हुई है। संजय भट्टाचार्य की रचना में नैराश्य का स्वर सुनाई पड़ता है। आशा का भी स्वर इनके किसी-किसी उपन्यास में है। 'बनफूल' की तरह संजय की रचनाओं में भी वैज्ञानिक विचार-विश्लेषण के साथ कवि-हृदय की अनुभूति का माधुर्य है। बिजन भट्टाचार्य और ज्योतिर्मय राय ने भी आशा की वाणी सुनाई है। ज्योतिर्मय का 'उदयेर पथे' को उपन्यास फिल्म की दृष्टि से विशेष ख्याति लाभ हुआ है। लेकिन उपन्यास की दृष्टि से वैसा कुछ महत्त्व इसको नहीं मिला। बिजन भट्टाचार्य साम्यवादी लेखक हैं। साम्यवादी लेखकों में गोपाल हालदार और हीरेंद्र नारायण मुखोपाध्याय ने विशेष कीर्ति अर्जन की है।

सम-सामयिक घटनाओं का साहित्यिक रूप विशेष रूप से गोपाल हालदार की रचनाओं में पाया जाता है। राजनीतिक आंदोलन, सन् ४२-४३ का अकाल आदि से मध्यवित्त समाज के टूटने का सुंदर चित्रण गोपाल हालदार ने किया है। सब कुछ को उन्होंने पहले समाजवादी (Socialist) दृष्टि से देखा है और बाद में साम्यवादी दृष्टि से। राजनैतिक मतवाद को लेकर लिखा हुआ उनका उपन्यास 'एकदा' इस श्रेणी के उपन्यासों में विशिष्ट हैं। लेखक की व्यक्तिगत अभिज्ञता इस विशेषत्व का कारण है। राजनैतिक बंदी के रूप में जेल में रहते हुए उन्होंने यह पुस्तक लिखी है। इस पुस्तक की टेकनीक में भी नूतनत्व है। एक दिन को लेकर यह उपन्यास लिखा गया है। इस टेकनीक का आदर्श उन्होंने जेम्स ज्वायस, वर्जिनिया वुल्फ आदि विदेशी लेखकों से संग्रह किया है।

नवेंदु घोष का नाम भी इस सिलसिले में लिया जा सकता है। इस प्रकार के टेकनीक के व्यवहार और राजनीतिक आंदोलन की चित्ताकर्षक तस्वीर के चित्रण में उन्होंने कृतीत्व लाभ किया है। मुट्ठीभर धनियों का बढ़ा हुआ लोभ तथा पौरुषहीन विलास की सामग्री जुटाने में मनुष्य पंद्रह आना निर्धन हो गया। वह लांछित हुआ, अपमानित हुआ। मनुष्यत्व तथा जीवन को नष्ट करने वाली, दरिद्रता का दुःख दुःसह हो उठा। इस अविचार के विरुद्ध हीरेंद्र नारायण मुखोपाध्याय की लेखनी आग उगलनेवाली है। इनकी विख्यात पुस्तक 'मुमूर्षु पृथ्वी' है।

बंगला का कथा-साहित्य बहुत विशाल है और लेखकों की संख्या भी अत्यधिक है। इस समय उपन्यास और गल्प ही अधिक लिखे जा रहे हैं। अतएव इसके एक अत्यंत संक्षिप्त परिचय की चेष्टा में हमने अपने को सीमित रखा है।

रवींद्रनाथ के समय से लेकर आज तक बंगला भाषा में अनेक लेखकों ने अनेक प्रबंध लिखे हैं। स्थानाभाव के कारण उनमें से कुछ लब्ध-प्रतिष्ठ प्रबंध-लेखकों के संबंध में कुछ कहने का यहाँ प्रयास कर रहा हूँ। एक बात का उल्लेख हम पहले ही कर चुके हैं कि बंगाली-लेखक एक साथ ही उपन्यास, नाटक, कविता, गल्प, प्रबंध लिखते रहे हैं। एक ही लेखक इन सभी क्षेत्रों में अपनी लेखनी चलाता रहा है। अतएव जिनके संबंध में कवि अथवा उपन्यास-लेखक अथवा नाटककार आदि की हैसियत से पहले कहा जा चुका है कि उनके नामोल्लेख मात्र से ही यहाँ हम संतोष करेंगे। रवींद्रनाथ के सम-वयसी अथवा उनसे छोटी उम्रवाले प्रबंध-लेखकों में सबसे पहले प्रातः स्मरणीय स्वामी विवेकानंदका स्मरण किया जा सकता है। स्वामीजी के प्रबंधों में उनकी गंभीर मनस्विता और देश-प्रेम का परिचय मिलता है। सहज, सरल भाषा में इतना ओजस्वी प्राणवान् अथच युक्ति-युक्त रचनाएँ बंगला-भाषा में अधिक नहीं हैं। इनकी सुप्रसिद्ध पुस्तकें 'प्राच्य ओ पाश्चात्य', 'वर्तमान भारत' और 'परिव्राजक' हैं। इसी प्रसंग में रामकृष्ण मिशन के अन्य संन्यासियों का भी उल्लेख किया जा सकता है। ये लोग साधारणतः धर्म तथा दर्शन-विषयक और विशेषरूप से परमहंसदेव अथवा उनसे संबंधित व्यक्तियों के संबंध में ही लिखा है।

रामकृष्ण के भक्तों में 'श्री म' लिखित 'श्री रामकृष्ण कथामृत' के समान पुस्तक बंगला भाषा में अन्य नहीं है। साधारण लोगों को सहज भाषा में जिन गंभीर आध्यात्मिक तत्त्वों की चर्चा परमहंसदेव ने समय-समय पर भक्तों से की है उन्हें 'श्री म' ने अपनी पुस्तक में हू-ब-हू उसी प्रकार से प्रकाशित किया है।

संप्रति परमहंसदेव के संबंध में लिखी हुई पुस्तक 'परमपुरुष श्री रामकृष्ण' ने अत्यधिक प्रसिद्धि-लाभ की। लेखक अचिंत्यकुमार के रचना कौशल के कारण साधु की जीवनी साहित्य बन गई है।

रामेंद्रसुंदर त्रिवेदी के प्रबंधों में दार्शनिकों की मननशीलता, वैज्ञानिकों का विचार-विश्लेषण और भौतिकता तथा साहित्य की रसानुभूति का अपूर्व समन्वय हुआ है। दुरूह विषय को सहज सरल भाषा में सरल बनाकर लिखने की असाधारण क्षमता श्री त्रिवेदी में थी। विज्ञान के अध्यापक इस मनीषी ने विभिन्न विषयों पर प्रबंध लिखे हैं। उनमें दर्शन, विज्ञान, साहित्य, आलोचना, भाषा-तत्त्व, जीवन चरित सभी कुछ हैं। योगेशचंद्र राय विद्यानिधि भी रामेंद्रसुंदर की तरह ही विज्ञान के अध्यापक थे। इन्होंने भी अनेक विषयों पर लिखा है। इनकी रचना में विज्ञान तो है ही उसके अलावे भाषा-तत्त्व, साहित्य और इतिहास भी है। विजयचंद्र मजुमदार का नाम भी इस प्रसंग में उल्लेख योग्य है। भाषा-तत्त्व के अलावे नृतत्त्व के संबंध में भी इन्होंने पांडित्यपूर्ण आलोचना की है।

भाषातत्त्व के सबसे बड़े पंडित श्री सुनीतिकुमार चट्टोपाध्याय हैं। लेकिन बंगला भाषा में अपने विषय पर कम ही लिखा है। लेकिन उन्होंने जो कुछ भी लिखा है वह उनके योग्य

हीं है। भाषातत्त्व को छोड़कर भी इन्होंने संस्कृति संबंधी नाना विषयों पर लिखा है। भ्रमण-वृत्तांत भी इन्होंने लिखे हैं। प्राचीन भारतीय संस्कृति के प्रति यथार्थ श्रद्धावान् इस विख्यात अध्यापक की रचना में उनके असाधारण वैदग्ध्य का परिचय पाया जाता है। बंगला भाषा-तत्व संबंध में लिखनेवालों में श्री सुकुमार सेन ने भी काफी ख्याति लाभ की है। इनकी प्रधान कृति इनका 'बंगला साहित्येर इतिहास' है।

बंगला साहित्य के एक और विख्यात ऐतिहासिक दीनेशचंद्र सेन थे। वास्तव में ये बंगला-साहित्य के प्रथम ऐतिहासिक लेखक कहे जा सकते हैं। समालोचक की हैसियत से भी ये साहित्य में परिचित है। विशेष रूप से इनकी इस तरह की रचनाएँ 'रामायणी कथा' तथा 'बिहुला' उल्लेख योग्य हैं। रामेंद्र सुंदर त्रिवेदी ने वैज्ञानिक प्रबंध-रचना में जिस आदर्श की प्रतिष्ठा की उसी आदर्श का अनुसरण जगदानंद राय ने किया। विज्ञान को लोकप्रिय बनाने में इनका बहुत बड़ा हाथ है। जगदानंद राय के बाद अनेक प्रतिष्ठित वैज्ञानिकों ने बंगला भाषा में वैज्ञानिक प्रबंध लिखे हैं और आज भी लिख रहें हैं।

स्वदेश-प्रेम जिस प्रकार से बंगला-रस-साहित्य की प्रधान प्रेरणा रहा है उसी प्रकार से उसने बंगाली मनीषा को स्वदेश का यथार्थ परिचय जानने के लिए अनुप्रेरित किया है। फलस्वरूप इतिहास, पुरातत्त्व आदि भारतीय संस्कृति के विभिन्न अंगों से संबंधित अनेक गवेषणामूलक प्रबंध रचे गए। आलोच्य-काल में इस दिशा में जिन्होंने प्रयास किया उनमें अक्षयकुमार मैत्र, रमाप्रसाद चंद, नागेंद्रनाथ वसु आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। इनके दिखलाए मार्ग का अनुसरण कर बाद में राखालदास वन्द्योपाध्याय, रमेशचंद्र मजुमदार आदि अनेक सुयोग्य पंडित इस ओर प्रवृत्त हुए। एक ऐसा समय था जब अंग्रेजी-शिक्षा-प्राप्त व्यक्ति अपनी-अपनी गवेषणा का फल अंग्रेजी भाषा में प्रकाशित करते। यहाँ तक कि बंगला भाषा और साहित्य की चर्चा भी अंग्रेजी के माध्यम से ही होती। आज भी उसमें आमूल परिवर्तन हुआ है ऐसा नहीं कहा जा सकता। फिर भी अनेक परिवर्तन हुए हैं और स्थिति बदली है इसमें भी कोई संदेह नहीं। इस समय विशेषज्ञ लोग भी अपने-अपने विषयों पर बंगला भाषा में लिख रहे हैं।

इसमें एक सुयोग्य पंडित का नाम विशेष रूप से उल्लेख योग्य है। निहार रंजन राय का 'बंगालीर इतिहास' बंगला भाषा का एक अद्वितीय ग्रंथ है। यह बंगाली-संस्कृति का इतिहास है। इसके पहले बंगाली-संस्कृति का इस धारावाहिक रूप में अध्ययन नहीं प्रकाशित हुआ है। स्वदेशी-युग के विपिनचंद्र पाल असाधारण वाक्पटुता के लिये विख्यात थे। उन्होंने अनेक विषयों पर प्रबंध भी लिखा है। उनमें कई प्रबंध सचमुच 'साहित्य' हो गए हैं। सरस प्रबंधकार और साहित्य समालोचक के रूप में एक समय ललितकुमार वंद्योपाध्याय का खूब नाम था। इनका 'फोआरा', 'पागला झोरा' आदि पुस्तकें प्रसिद्ध हैं। योगींद्रनाथ चट्टोपाध्याय भी एक विख्यात प्रबंध-लेखक हैं। इनकी रामप्रसाद' 'बामा खेपा' आदि साधकों की जीवनी अधिक प्रसिद्ध हैं।

इस प्रसंग में एक और विख्यात ग्रंथ का नाम लिया जा सका है। यह प्रमोद चट्टोपाध्याय-लिखित 'तंत्राभिलाषीर साधु संग' है। उपन्यास के समान चित्ताकर्षक ढंग से

इस ग्रंथ में कई तांत्रिक साधकों तथा तंत्र के गंभीर तत्त्व की बात सहज भाषा में कही गई है।

शिल्प के संबंध में श्रेष्ठ मौलिक रचनाओं में शिल्पगुरु अवनींद्रनाथ की रचनाएँ हैं। उनकी 'बागीश्वरी शिल्प-प्रबन्धावली' में उनके गंभीर ज्ञान का परिचय मिलता है। अवनींद्र के रचना-कौशल के कारण इस टेकनिकल-विषयक रचना ने भी साहित्य की मर्यादा लाभ की है। इनके प्रधान शिष्य नंदलाल बोस की रचना भी उनकी असाधारण प्रतिभा की परिचायक है। इस क्षेत्र में अक्षय कुमार मैत्र, गिरीशचंद्र वेदांततीर्थ अर्धेंदु कुमार गंगोपाध्याय, असित कुमार हालदार तथा यामिनी कुमार राय ने भी कम प्रसिद्धि नहीं पाई। नीहाररंजन राय का नाम भी इस प्रसंग में लिया जा सकता है।

बंगला-प्रबंध के क्षेत्र में अपनी विशेषता लिए हुए प्रमथ चौधरी (बीरबल) आए। उनकी विशेषता 'बीरबली' ढंग से परिचित है। 'बीरबल' की रचना व्यंग-विद्रूप के कुशल व्यवहार से सरल और 'झांझलो' है। इनकी रचनाएँ तीक्ष्ण बुद्धि की दीप्ति से उज्ज्वल तथा वैदग्ध्य और चिंता से समृद्ध हैं। 'बीरबल' ने नाना विषयों को लेकर प्रबंध लिखा है। लेकिन लिखने का हल्का ढंग होने को वजह से गंभीर विषयों की विवेचना में वे उतने सफल नहीं हो सके हैं।

साहित्य-समालोचक की हैसियत से अतुल गुप्त का नाम भी प्रसिद्ध है। इनमें पांडित्य है और इनकी प्रकाशन-भंगी सुंदर है। अतुल गुप्त की भाषा प्रांजल है और wit की वजह से झांझलो है। धूर्जटिप्रसाद मुखोपाध्याय ने साहित्य-समालोचना के अलावे समाज-विज्ञान-विषयक प्रबंध भी लिखे हैं। इनकी रचनाओं में पांडित्य का असंदिग्ध निदर्शन है लेकिन वह बौद्धिक बुझौवल की तरह का हो गया है। धूर्जटिप्रसाद की रचना सहज ही समझ में आने वाली नहीं है।

प्राचीन-पंथी पंडितों में समालोचना के क्षेत्र में राजेंद्र विद्याभूषण का नाम प्रसिद्ध है। इनकी शकुंतला नाटक की भूमिका उनकी रसज्ञता और पांडित्य का पूरा-पूरा परिचय देती है। अंग्रेजी-शिक्षा-प्राप्त व्यक्तियों में साहित्य-समालोचना के क्षेत्र में अजितकुमार चक्रवर्ती, मोहित कुमार मजुमदार, बुद्धदेव वसु, अन्नदाशंकर राय, प्रमथनाथ विशि, निहाररंजन राय, उपेंद्रनाथ भट्टाचार्य, विश्वपति राय चौधरी, शशिभूषणदास गुप्त, सुरेश चक्रवर्ती, श्रीकुमार बंद्योपाध्याय, हुमायूँ कबीर, सुबोध सेन गुप्त, काज़ी अब्दुल वदूद, आशुतोष भट्टाचार्य, इंदिरा देवी, राधारानी देवी आदि के नाम विशेष उल्लेख योग्य हैं।

इस समय के साहित्यिकों पर अधिकांश रवींद्रनाथ का अथवा बीरबल की परंपरा का प्रभाव है। केवल सुधींद्रनाथ दत्त इस प्रभाव के बाहर हैं। कविता लिखने में जिस प्रकार से दुर्बोध शब्दों का प्रयोग किया है वैसा ही गद्य लिखने में भी। लेकिन गंभीर चिंतामूलक रचना-क्षेत्र में इन्होंने बंगला-भाषा की शक्तिपूर्ण-वृद्धि की है। चिंतामूलक प्रबंध और साहित्य-समालोचना के क्षेत्र में पांडिचेरी के नलिनीकांत गुप्त काफी विख्यात हैं।

पांडित्य और रसज्ञता इनकी विशेषता है। इनकी भाषा भी सहज है। दिलीपकुमार राय की भ्रमण-कहानी विशेष रूप से उल्लेख योग्य है। रचना-कौशल की विशिष्टता से यह अत्यंत मनोहारी हुई है—वैसे इसमें मस्तिष्क के लिये काफी सामग्री वर्तमान है।

श्री अरविंद ने बंगला में बहुत ही कम लिखा है, लेकिन जो कुछ उन्होंने लिखा है उसीसे पता चलता है कि इस ऋषि की साहित्यिक प्रतिभा भी असाधारण थी।

धर्म और दर्शन संबंधी संभवतः सबसे अधिक प्रबंध बंगला-भाषा में लिखे गए हैं। इसका कारण यह है कि इन दोनों की ओर बंगाली-प्रकृति का ही विशेष झुकाव है।

द्विजेंद्रनाथ ठाकुर, चंद्रकांत तर्कालंकार (इनकी श्री गोपाल वसु मल्लिक फेलोशिप-वक्तृता बंगला-भाषा में षड्दर्शनों के ऊपर सर्वोत्तम है) कामाक्षानाथ तर्कवागीश, फणिभूषण तर्कवागीश, प्रमथनाथ तर्कभूषण, पँचकौड़ी बंद्योपाध्याय, शिवचंद्र विद्यापति, सतीशचंद्र सिद्धांतभूषण, रसिक विद्याभूषण, गोपीनाथ कविराज, कृष्णचंद्र भट्टाचार्य, क्षितिमोहन सेन, हीरेंद्रनाथ दत्त, प्रमथनाथ मुखोपाध्याय, वसंतकुमार चट्टोपाध्याय आदि मनीषियों का नाम इस क्षेत्र में विशेष रूप से उल्लेख योग्य है।

बंगला भाषा में मध्ययुगीन संतों के संबंध में प्रथम लिखने वालों में आचार्य क्षितिमोहन सेन हैं। इस क्षेत्र के ये अग्रणी और पथ-प्रदर्शक हैं।

समाज-विज्ञान, अर्थशास्त्र, राजनीति आदि विषयों के ऊपर भी अधिक से अधिक लिखा जा रहा है। इस क्षेत्र में सबसे पहले विनय मोहन सरकार का नाम स्मरण होता है। इन्होंने अनेक विषयों को लेकर प्रबंध रचना की है। पांडित्य, दूरदृष्टि, सबल चिंता की मौलिकता ने इनकी रचनाओं को समृद्ध किया है।

इसके अलावे सतीशचंद्र दास गुप्त, निर्मलचंद्र वसु, गोपाल हालदार, देवज्योति बर्मन, विजयलाल चट्टोपाध्याय, आदि दक्षिण और वाम-पंथी लेखक राजनीति-विषयक प्रबंध लिख रहे हैं।

नृतत्त्व के संबंध में मौलिक रचना भूपेंद्रनाथ दत्त, शरच्चंद्र राय, बिरजाशंकर गुह आदि विद्वानों की है। इनमें भूपेंद्रनाथ दत्त का पांडित्य अति-गंभीर और बहुमुखी है। उन्होंने नाना विषयों पर प्रबंध लिखे हैं।

मनोविज्ञान की मौलिक रचना गिरींद्रशेखर वसु की है। इनके अलावे हरिपद मैती तथा सुहृद मित्र की रचनाएँ भी इस क्षेत्र में प्रसिद्धि-लाभ कर चुकी हैं।

शिक्षा-समस्या के विभिन्न अंगों को लेकर भी नाना प्रकार के प्रबंध लिखे जा रहें हैं।

समालोचकों में किसी-किसी का कहना है कि मांग के अभाव में आत्म-चरित, जीवनी, स्मृति-कथा, भ्रमण-वृत्तांत, Belles letters आदि संबंधी पुस्तकों की संख्या कम है। ये सभी आज कल उपन्यासों में स्थान पा रहे हैं।

यह मत एकबारगी उड़ा देने लायक नहीं है।

इस युग का सर्वश्रेष्ठ Belles letters यायावर-लिखित 'दृष्टिपात' है। गत कई वर्षों के बीच इतनी लोकप्रिय पुस्तक प्रकाशित नहीं हुई। सुसंस्कृत शिक्षितों में सम्मान-

प्राप्त यह पुस्तक प्रकाशित होने के एक वर्ष के भीतर ही इसके चार संस्करण हुए। इसीसे इसकी लोकप्रियता का पता चल जाता है।

भ्रमण-कहानी-संबंधी सैयद मुजतबा अली की लिखी हुई पुस्तक 'देशे-विदेशे' अत्यंत विख्यात है। यह मामूली भ्रमण-कहानी नहीं है। इसमें सहृदय मनुष्य को प्राधान्य दिया गया है। इसका यही प्रधान वैशिष्ट्य है। इसकी दूसरी विशेषता इसका रचना-कौशल है। रस-मर्मज्ञ मुजतबा अली की सरस शैली अत्यंत हृदयग्राही है। बंगाली-साहित्य की समृद्धि इस पुस्तक से बढ़ी है।

जीवन की दृष्टि से विख्यात पुस्तक प्रभातकुमार मुखोपाध्याय लिखित 'रवींद्र-जीवनी' है। रवींद्रनाथ के संबंध में यह एकमात्र प्रामाणिक जीवनी है। कवि के जीवन के तथ्यों पर अपूर्व प्रकाश डालने वाला यह ग्रंथ महत्वपूर्ण है। सत्येंद्रनाथ मजुमदार की लिखी हुई पुस्तक 'स्वामी विवेकानंद' विवेकानंद की सुंदर जीवनी है।

वक्तव्य पूरा करने के पहले बंगला-साहित्य के एक प्रधान वैशिष्ट्य की ओर ध्यान आकृष्ट करना आवश्यक समझता हूँ। बंगला का अनुवाद-साहित्य भी तुच्छ नहीं है। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारंभ से ही नाना-विषयक ग्रंथों के अनुवाद हो रहे हैं। संप्रति इस ओर विशेष ध्यान गया है। भारतीय और अभारतीय श्रेष्ठ ग्रंथों का अनुवाद खूब जोरों से हो रहा है। अनेक हिंदी मौलिक ग्रंथों का अनुवाद हुआ है। उनमें विशेष रूप से प्रेमचंद के ग्रंथों का नाम लिया जा सकता है।

शिशु-साहित्य की कुछ चर्चा कर हम इस वक्तव्य को शेष कर रहे हैं। बंगला का शिशु-साहित्य बहुत ही समृद्ध है। ईश्वरचंद्र विद्यासागर से इसका प्रारंभ होता है। रवींद्रनाथ ने इसे विशेष समृद्ध किया है। कविता के अलावे गल्प, उपन्यास, नाटक, कौतुक-रचना, पाठ्य-पुस्तक सभी कुछ उन्होंने शिशुओं के लिये लिखा है। किसी-किसी रचना के साथ उन्होंने अपने हाथों चित्र भी बना दिए हैं। रवींद्रनाथ ही शिशु-साहित्य का एक मान दंड स्थिर कर दिया है। शिशुओं के लिये लिखने वाले अपना श्रेष्ठ ही देंगे। शिशु होने की वजह से जैसे-तैसे जो कुछ लिख देने से नहीं होगा। वास्तव में उन्हें अच्छी चीज़ देनी होगी जिससे उनकी रुचि का संस्कार हो। यही रवींद्रनाथ का मत था। इसीलिये रवींद्रनाथ का शिशु-साहित्य छोटे बड़े सभी को आनंद देने वाला है। इन सब रचना का ऊपर-ऊपर से तो शिशु उपभोग कर सकते हैं लेकिन अंतर बड़ों के उपभोग योग्य है। शिशु-साहित्य की रचना करने वाले दूसरे-दूसरे लेखकों ने भी अपने सामने यही आदर्श रखा है।

योगींद्रनाथ सरकार ने समस्त जीवन शिशुओं के लिये पुस्तकें लिखीं हैं। इनकी 'हासी खुशी' के छड़ा इस समय बराबर प्रचलित बच्चों को भुलाने वाले छड़ा के साथ एक हो गए हैं। आज पचास वर्षों से शिशुओं के लिये इनके पाठ्य ग्रंथ समान भाव से चले आ रहे हैं। यह एक असाधारण कृती है।

ऐसे ही एक असाधारण कृति दक्षिणारंजन मित्र मजुमदार की है। जो रूप-कथाएँ बंगाल में दादा-दादी, नाना-नानी के मुख से युग-युग से चली आ रही थीं उन्हें दक्षिणा-

रंजन ने अपनी पुस्तकें 'ठाकुर मांर झुलि' तथा 'ठाकुर दादार झुलि' आदि में संग्रह किया है। ये ठीक उसी तरह हैं जैसे ये कही जाती हैं। ये पुस्तकें पचास-साठ वर्षों से शिशु-वृद्ध सभी को आनंद देती चली आ रही हैं।

शिल्पगुरु अवनींद्रनाथ प्रकृत कहानी कहने वाले हैं। कहानी कहने का इनका ढंग अद्भुत है। ये जिस प्रकार कहानी कहते हैं ठीक उसी प्रकार लिखते भी हैं। शब्दों के द्वारा चित्र अंकित करते जाते हैं। कहने के ढंग के कारण कहानी जम उठती है। इनकी रचना शिशु की अपेक्षा वयस्कों के लिये अधिक उपयुक्त हैं। सुकुमार राय शिशु-साहित्य के विशेष जनप्रिय लेखक हैं। इनकी पुस्तक 'आबोल ताबोल' अतुलनीय है। 'आबोल ताबोल' का मतलब असंबद्ध बात, प्रलाप है। शिशुओं के निकट यह पुस्तक प्रलाप-सी ही है लेकिन वयस्कों के लिये वैसी नहीं है। उसमें असंबंद्ध प्रलाप की ओर से एक चिंताधारा दीख पड़ती है।

बंगला के बहुत से प्रसिद्ध लेखक शिशुओं के लिये भी लिखते हैं। इनमें प्रेमेंद्र मित्र तथा हेमेंद्रकुमार राय की रचना विशेष रूप से रोमांचक है। सुनिर्मल बसु और शिवराम चक्रवर्ती प्रधानतः शिशु-साहित्य ही लिखते हैं। उन्होंने कविता, छड़ा, गल्प आदि बच्चों के लिये लिखा है। इन्होंने लिखा बहुत अधिक है।

विषय-वस्तु की व्यापकता की तुलना में यह अध्ययन स्थानाभाव के कारण अत्यंत संक्षिप्त हुआ है। इसीलिये ऐसे बहुत लोगों का उल्लेख नहीं हो पाया है, जिनका उल्लेख मैं करना चाहता था। इस असंपूर्णता का क्षोभ मन में रखते हुए समाप्ति की रेखा खींचनी पड़ रही है।

—श्री उपेंद्रकुमार दास (लेखक)
—प्रो० रामपूजन तिवारी (अनुवादक)

———

गुजराती साहित्य के साठ वर्ष : एक दृष्टिपात

सन् १८५७ में भारत में अंग्रेजी-राज्य के विरुद्ध एक बहुत बड़ा विद्रोह हुआ। इसी वर्ष बम्बई विश्वविद्यालय की स्थापना हुई। अंग्रेजी-राज्य ने भारत में जिस शिक्षा का प्रसार किया व जिन शिक्षण-संस्थाओं की स्थापना की, वह सब भारत को मिलनेवाला एक मिश्रित उत्तराधिकार है। यही कारण है कि इससे एक ओर कुछ हानि हुई तो दूसरी ओर कुछ लाभ भी हुआ। अभी तो हाल ही में भारत से अंग्रेजी-राज्य की समाप्ति हुई है। अतः शिक्षा के उत्तराधिकार का वास्तविक एवं पूर्ण मूल्यांकन आगे आनेवाली पीढ़ियां ही कर सकेंगी। देश के अन्य विश्वविद्यालयों की भांति बम्बई विश्वविद्यालय द्वारा किया गया माध्यमिक एवं उच्च शिक्षा का प्रचार गुजराती-साहित्य के विकास के लिए उपादान कारण सिद्ध हुआ है, इसमें कोई संशय नहीं। यह विकास-काल प्रकट रूप में लगभग अंतिम साठ वर्ष का है। गुजराती भाषा के पूर्ण विकास के लिए यदि हम लगभग तीन सौ वर्ष का अनुमान लगाएँ तो ढाई सौ वर्ष के काल में इस भाषा के साहित्य में जितनी विविधता नहीं मिलती उससे भी कहीं अधिक विविधता इस साठ वर्ष के अल्पकाल में दिखाई देती है। इससे इस काल को उसका समृद्धि-काल कहा जाय तो कोई अत्युक्ति नहीं।

गुजराती साहित्य पर अंग्रेजी शिक्षा और सभ्यता का प्रभाव बहुत पहले से प्रारंभ हो जाता है। यह प्रभाव पहले कविता पर पड़ा फिर गद्य पर। इस समय के मुख्य कवि दलपत, नर्मद और नवलराय हैं। इन लोगों ने गद्य की रचना भी की और उसे विकसित किया। इनके बाद के गद्य-पद्य के लेखक मनसुखराम, दौलतराम कृपाराम, मणिलाल नभुभाई, झवेरीलाल, गोवर्धनराम त्रिपाठी आदि हैं जिनके गद्य-पद्य में अंग्रेजी-शिक्षा द्वारा मिली हुई साहित्य-संस्कार की दृष्टि तथा स्कूल-कालेज की संस्कृत-शिक्षा द्वारा प्राप्त विशुद्ध भाषा-शक्ति का स्पष्ट दर्शन होता है। सन् १८८० और १८६५ में नई शिक्षा से प्रभावित जो गद्य-पद्य लिखे गए उनमें से नमूने के रूप में 'कांता' नाटक, 'कादंबरी' तथा 'उत्तरराम-चरित' के अनुवाद और 'हिंद अने ब्रिटानिया' मुख्य कृतियां हैं। सन् १८९७ में गोवर्धन-राम त्रिपाठी का उपन्यास 'सरस्वती चंद्र' का प्रथम भाग तथा नरसिंह राव दीवेटिया की कविताओं का प्रथम संग्रह 'कुसुममाला' प्रकाशित हुए। ये नई शिक्षा के प्रकाश से प्रकाशित होने वाले नए साहित्य, युग की प्रथम कृतियां हैं। इसके बाद प्रवाहित होनेवाले गुजराती साहित्य के प्रवाह पर एक स्थूल दृष्टिपात करना यही लेखक का संकल्प है।*

कविता

मुख्य रूप से धर्म और वैराग्य के झूले में झूलती रहनेवाली गुजराती कविता दलपत-नर्मद के समय में नागरिकों के मंडल में प्रविष्ट हुई। इन कवियों की कविता

* दृष्टिपात की मर्यादा के कारण सभी लेखकों अथवा उनकी सभी कृतियों का नाम-निर्देश करना अशक्य है। मुख्य धाराओं पर ही दृष्टि डाली जा सकती है।

सांप्रदायिक धर्म का परित्याग कर विशुद्ध धर्म, नागरिक कर्तव्य, लौकिक नीति, सदाचार, देशभक्ति आदि विषयों को स्पर्श करती हुई प्रवाहित होने लगी। यहीं से गुजराती कविता ने नूतन भूमि में प्रवेश किया। इस भूमि में उसकी गंभीरता व व्यापकता का विस्तार हुआ। उसका कला-तत्त्व विकसित हुआ और शब्दाडंबर घटने लगा। पहले पद, रास, गरबी तथा अन्य लोक-गीतों में जिसका जन्म व पोषण होता था वह अब तात्त्विक, मार्मिक अर्थसंभृत एवं सुहावनी वाणी से युक्त होकर विचरने लगी। गुजराती कविता ने इस समृद्ध भूमिका पर पहुँचकर छः सात दशकों में अभिनव स्फूर्ति का दर्शन कराया है।

अंग्रेजी-संस्कृत के अभ्यास से कविता के उपासकों की दृष्टि में जो नवीनता एवं विशालता आई उससे नई कविता का जन्म हुआ। नरसिंह राव की कविताओं के प्रथम संग्रह 'कुसुममाला' का उस समय बहुत सम्मान हुआ था। उन कविताओं पर अंग्रेजी ऊर्मि-कविताओं का प्रभाव था। उनमें चिंतन ऊर्मियों, और प्राकृतिक दृश्यों का निरूपण करने-वाली अनेक कविताएँ हैं। कवि के चिंतन तथा ऊर्मि-वेदन में प्रकृति का पूर्ण सहयोग है। वहां प्रकृति की रमणीयता का तो कहना ही क्या? नरसिंह राव की कविताओं के अन्य संग्रह हैं 'हृदयवीणा', 'नूपुरझंकार', तथा 'स्मरणसंहिता'।

नयी कविता का यह दर्शन अत्यंत अपरिचित हो, ऐसी बात नहीं है। इससे पहले 'क्लांतकवि' के रचयिता बाला-शंकर की कविताओं में भी अंग्रेजी ऊर्मि-काव्य की चारुता का दर्शन होता है। ये संस्कृत, व्रज और फारसी के भी विद्वान् थे अतः इन भाषाओं की मस्ती भी उनकी कविताओं में नज़र आती है। उस काल में अन्य मस्त कवि भी थे, जिनकी वाणी पर नवीन कविता का रंग चढ़ने लगा था; उनमें से एक थे मणिलाल नभुभाई, जिनके 'आत्मनिमज्जन' में आत्मलक्षी ऊर्मि-काव्य विशेषरूप से द्रष्टव्य हैं। 'कलापी' की कविताओं का मुख्य संग्रह 'कलापी नो केकारव', इस काल की नवीन कविताओं का लोकप्रिय संकलन है। इनकी आत्मलक्षी ऊर्मि-काव्यों की वेधकता को इनके स्नेह-जीवन की रोमांचक कथा ने घनीभूत बनाया है।

हर्ष शुं जिंदगीमां ने हर्ष शुं होत मृत्युमां,
प्रेमना रंग थी जो ना रंगायुं विश्व होत तो।

यह उक्ति कवि के गहरे हृदय और संक्षिप्त जीवन की समग्र अनुभूति से ओत-प्रोत है। 'कलापी' की मस्ती के उपासक और दो कवि थे। 'विभावरी स्वप्न' और 'कलापी नो विरह' के कर्ता 'मस्त कवि' त्रिभुवन प्रेमशंकर और 'दीवाने सागर' के कर्ता 'सागर' जगन्नाथ त्रिपाठी। 'मस्त कवि' ने कलापी के सहृदय मित्र के रूप में 'कलापी नो विरह' में करुण विरह-गान गाया है।

संस्कृत भाषा का रंग जिनकी वाणी में विशेष था उस प्रकार के नये कवियों की नई कविता भी इसी काल में जन्म लेकर आगे बढ़ती रही। दौलतराम कृपाराम ने महाकाव्य की शैली में 'इंद्रजितबध' लिखा। गोवर्धनराम त्रिपाठी ने 'स्नेहमुद्रा' की रचना की। भीमराम भोलानाथ ने 'पृथुराजरासो' और 'कुसुमांजलि' की रचना की। हरिलाल ध्रुव ने 'कुंज विहार' बनाया। इस शैली के सीमास्तम्भ के समान थे मणिशंकर रत्न जी भट्ट

'कांत' । पश्चिम के प्रभाव के कारण कविता में जो नवीन भावतंत्र पैदा हुआ था उसके अनुरूप शिष्ट तथा समर्थ शैली का पूर्ण दर्शन 'कांत' की कविताओं में होता था। 'कांत' की जीवन-दृष्टि में नया मंथन, सत्यशोधन की वृत्ति, न्याय का आग्रह तथा सौंदर्य की उपासना थी। छंद, भाषा और कविता के प्रकारों में भी इन्होंने उस समय की प्रचलित पद्धति से पृथक् दिशा में अपनी एक अद्भुत शैली को प्रवर्त्तित किया था। कलोन्मेष 'कांत' का सबसे बड़ा गुण था।

गुजरात की कविता-वाटिका में यदि 'कांत' से वसंत का आगमन माना जाय तो कवि नानालाल से वसंत का उत्सव अवश्य माना जा सकता है। ('वसंत विजय' 'कांत' का सुंदर खंड काव्य है और 'वसंतोत्सव' कवि नानालाल का सुंदर काव्य है।) कवि नानालाल ने छंदोबद्ध कविता, गेय कविता और अपनी अनोखी डोलन शैली में अपद्या-गद्य खूब लिखा है। कवि नानालाल का जीवन-दर्शन प्राचीन आर्षद्रष्टाओं का अनुसरण करनेवाला था। यही कारण है कि उनकी रचनाओं में वर्णित जीवन-भावनाएं विशेष रूप से प्राचीन हैं। इतना होते हुए भी उनमें अर्वाचीनता का मिश्रण अवश्य है। वैयक्तिक जीवन को संकलित करने के लिए उनकी भावना में मंथन था।

ऊर्मियों से लगा कर विश्व की सम्पूर्ण मानवता को एक तत्त्व के रूप में महाभारत काल से लेकर अनागत भविष्यत् का उद्घाटन करने के लिए उनकी बुद्धि लालायित रहती थी। जीवन की निकृष्टतम अवस्था से लगा कर ब्रह्म पर्यंत की जीवन-स्थिति, जड़-प्रकृति, मानव प्रकृति और दैविक प्रकृति की शक्तियां, सौंदर्य तथा उनकी रुद्र-ललित अवस्थाएं—यह सब उनकी कविताओं का विषय था। उनकी छंदोबद्ध कविता में और उसी प्रकार उनके अपद्यागद्य में शब्द-सौष्ठव का प्रमुख भाग है। इन शब्दों से उत्पन्न होने वाले औचित्य, अर्थ और रस चित्त को आकृष्ट करने वाले हैं। लोकभाषा से लेकर शिष्ट-शैली तक के वाणी-व्यापार में रस तथा सौंदर्य के प्रतीक तत्त्वों को उन्होंने इस प्रकार की छटायुक्त वाणी में उपस्थित किया है कि उनकी प्रतिभा के कारण ही यह रूप जीवित रह सका है। उसका अनुकरण करने वाले इसमें असफल रहे हैं। उनके मुख्य काव्यग्रंथ हैं—'केटलांक काव्यो' (तीन भाग), 'इंदुकुमार' (तीन अंक), 'नाना नाना रास' (तीन भाग) 'जया—जयंत', 'राजर्षि भरत', 'प्रेमकुंज', 'कुरुक्षेत्र' (महा काव्य), 'विश्वगीता', 'जहांगीर—नूरजहान', 'अकबर शाह', 'ओज अने अगर', पुण्यकथा', 'पानेतर', 'संघमित्रा', 'द्वारिकाप्रलय', 'जगतप्रेरणा', आदि।

कवि अरदेशर फरामजी खबरदार (अदल) की देन भी गुजराती कविता के क्षेत्र में अभिनव व महत्वपूर्ण है। पारसी कवि बहुत कम हुए हैं। जो कुछ हुए हैं उनमें इनका स्थान सर्वोपरि है। 'काव्य रसिका', 'विलासिका', 'प्रकाशिका', 'भारत नो टंकार', 'संदेशिका', 'कलिका', भजनिका', "रासचंद्रिका', 'दर्शनिका', राष्ट्रिका', और 'नंदनिका'—ये सब काव्यग्रंथ इनकी कृतियाँ हैं। दलपत-शैली द्वारा आगे बढ़कर उन्होंने ऊर्मि-काव्य, प्रेम-काव्य, राष्ट्र-काव्य, भजन, तत्त्वचिंतन आदि अनेक काव्य-ग्रंथ लिखे हैं। कविता-रचना में ये उतरोत्तर प्रगतिशील रहे हैं। विषय, छंद तथा रस की अनेक भूमिकाएं पार की हैं। इनकी अधिकांश कृतियों में प्रभु-परायणता का राग है। छंद के प्रयोग अनेक प्रकार के हैं। महा-

काव्य के लिए उपयुक्त एक धारावाही छंद भ्रमरावली को अक्षरमेल के रूप में गढ़ा और उसका 'महाछंद' नाम रखा, किंतु उसका उपयोग किसी दूसरे कवि ने नहीं किया।

प्रयत्नतत्त्व (एक्सेंट) पर अवलंबित 'मुक्तधारा' छंद अन्य कवियों को आकर्षित कर सका है। कवि खबरदार ने अपना प्रेमकाव्य 'कलिका' इसी छंद में लिखा है।

गुजराती कविता में जैसे 'डोलन-शैली' का एक युग चला उसी प्रकार दूसरा युग 'अर्थघन कविता' का भी चला। इस युग के चालक हैं बलवंतराय क० ठाकोर। उनकी कविता के दो मुख्य ग्रंथ हैं 'भणकार' के दो भाग। कविता में रहनेवाले शब्दाडंबर और गेयता के कारण उत्पन्न होने वाली शिथिलता को दूर करने के लिए उन्होंने युद्ध शुरू किया था। उनके मतानुसार कविता-वाणी में अर्थघनता और शब्दौचित्य परम आवश्यक वस्तुएँ हैं। वे भार देते थे प्रवाहयुक्त पद्यरचना पर। इसी के लिए उन्होंने 'शुद्ध अगेय पद्य' पर निबंध लिखा जिसमें पद्य के गेयत्व को गौण सिद्ध किया और उसके प्रवाह के उत्कर्ष पर विशेष भार दिया। अगेयप्रवाही पद्य के लिए उन्होंने मुख्यतः पृथ्वीछंद ग्रहण किया और इसमें चौदह पंक्तियों के सोनेट के ऐसे प्रयोग करके दिखाए जिनका तत्कालीन कवियों के चित्त पर बहुत प्रभाव पड़ा और वे आकर्षित हुए। अनेक नए-पुराने कवि इसी प्रकार के सोनेट लिखने लगे, यद्यपि सोनेट का आंतरिक सौंदर्य बहुत कम कवियों की रचनाओं में आ पाया। पद्य की अगेयता और प्रवाहिता के आग्रह के कारण उन्होंने छंद में अर्थसंवादी यति-योजना सूचित की। गुरु-लघुकी परंपरा का संयोजन करके अनियमित रचना वाले 'गुरुबंकी' छंद की जो रचना उन्होंने की वह भी पद्य की प्रवाहिता के लिए ही थी। कविता के अर्थ-देह के तथा अर्थ द्योतक शब्द-योजना के अति आग्रह के कारण उनकी कविताएँ कर्ण-रंजक होने के बजाय कर्ण-कठोर लगने लगीं। किंतु जिस प्रकार नारियल के ऊपर के कठोर छिलकों की अपेक्षा उसका आंतरिक भाग कोमल और अधिक मीठा होता है वैसे ही ब० क० ठा० की कविता का अंतरंग बहुत मधुर था। उनकी कविताओं में मुख्य रूप से प्रकृति-दर्शन, मैत्री-वर्णन और चिंतन की धाराएँ बहती थीं। इनके सोनेट का एक अंश यहां उद्धृत करता हूं:—

प्रभो, द्युति अखंड ? आ लथडती फजळती झणी
शिखा अहह, दाखवे रची रहे ज ओळा बधे !
भरु छ डग जेम तेम, पथ जोऊंना, तो पछी
निशान ध्रुव नो महाकिरण क्यांथी हिणायली
नकाती पडती ज आ दग झीली प्रमाणी शके !
दीसे पथ नहीं, नहीं ज दिक्, नहीं धुनि, ध्रुव नहीं,
भरु दय न छूटके।

'भणकार' की दो धाराएँ १६१७-२७ के बीच प्रकाशित हुईं और १६३५ में ब० क० ठा० का 'मारां सोनेट' नामक संग्रह निकला। इस काल में गुजराती कविता ने एक नई राह पकड़ी। प्रवाही पद्य-रचना के लिये नानालाल का अपद्यागद्य दूसरे कवियों को अच्छा नहीं लगा तथा जिन्होंने उसका प्रयोग किया भी वे उसे आकर्षक न बना सके

इस समय अर्थघन और अगेय पद्य मुख्य रूप से पृथ्वी छंद में लिखे जाने लगे। युवक कवियों ने अखंड प्रवाही पद्य के लिये इसका उपयोग खूब अच्छी तरह से करना प्रारंभ किया। काव्यदेह में नवीनता लाने के उपरांत शब्दाडंबर को मिटा देने के लिये ब० क० ठा० ने अर्थघनता का जो आग्रह रखा उसका प्रभाव कविता पर पड़े बिना न रहा। अर्थ-हीन शब्दों की कर्णरंजकता तथा भावुकता, जिसे नानालाल का अनुकरण करने वालों ने कविता-रास आदि में प्रतिबिंबित किया था वह, अब समाप्त होने लगी और अर्थ-वाहकता का विशेष संचार होने लगा। १९३० के बाद जो कविताएं रची गई उनमें नरसिंह से लगाकर दलपत-नर्मद-कांत-कलापी-नानालाल-ब० क० ठा० आदि की रीति-शैली के कवि हुए हैं और हो रहे हैं। पद से लेकर सोनेट तक के सभी प्रकार न्यूनाधिक मात्रा में चलते आ रहे हैं। अर्थघन कविता के प्रवाह को कुछ अंश में शांत कर जो नवीन कविता का नया प्रवाह आ रहा है उसमें कुछ पूर्वकालीन सरस अंश स्थिरता धारण कर रहे हैं।

'कुसुममाला' से लेकर 'भणकार' तक के काल में कविता के नए-पुराने सब प्रकार चालू रहे हैं और उनके उपासक भी मिलते रहे हैं। डाह्या भाई देरासरी का संग्रह 'बुलबुल', नर्मदाशंकर भट्ट का संग्रह 'शापसंभ्रम', मणिलाला छबाराम के 'अनिलदूत' और 'काव्य-पीयूष', वसंत विनोदी का 'टङ्कार', भाईशंकर कु० शुक्ल के 'हृदय रंग' के तीन भाग, कहान चकु के 'श्री कृष्ण' और 'काव्यपंचामृत', मगनभाई अ० पटेल की 'कुसुमांजलि', मूलजी दुर्लभजी वेद का 'निजकुंज', वल्लभजी भाणजी के 'अंतरना अर्मी' और 'कुंजवेणुक', सत्येंद्र भीमराव की 'कीर्तिमाला', 'ललित' (जन्म शंकर बुच) के 'ललितनां काव्यो' के दो भाग और 'वडोदराने वडले'—ये सब कवि और उनके कविता-संग्रह कुछ पुराने मालूम होते हैं, फिर भी ये कविता-रसिकों के हृदय-पटल पर अंकित हैं। दामोदर बोटादकर की कविताओं के 'कल्लोलिनी' आदि पांच संग्रह हैं। उनकी कविताओं ने सौकुमार्य, माधुर्य, लोकभाषा के भणकार, अर्थ की विशदता, प्रसाद आदि गुणों के कारण लोकप्रियता प्राप्त की है। लग्न, संसार और ग्राम्य जीवन से संबंधित कविताओं में रही हुई भावुकता हृदय-स्पर्शी है। केशव ह० शेठ की कविताएं छोटी-मोटी दस-बारह पुस्तकों में निकली हैं। ये कवि नानालाल की शैली के उपासक थे। त्रिभुवन प्रेमशंकर के गीतों के दो भाग हैं। इनकी वाणी में सरलता, मधुरता और चमत्कार दिखाई देता है। जनार्दन नानाभाई प्रभास्कर के चार कविता-संग्रह हैं। गजेंद्रराम के कविता-संग्रह का नाम 'गजेंद्रमौक्तिक', देशलजी परमार की कविताओं के तीन संग्रह हैं। जहांगीर माणेकजी देसाई की कविताएँ तीन पुस्तकों में निकली हैं। इस सम्पूर्ण काव्य-साहित्य को नवीनतर कविता का पूर्वकालीन कविता-साहित्य कहा जा सकता है।

कविता के चलते हुए प्रवाह में से नयी-नयी धाराएं फूटती हैं और अलग-अलग दिशाओं में बहने लगती हैं। इसका यह अर्थ नहीं कि पुराना प्रवाह सर्वथा बंद हो जाता है अथवा एकदम नई चाल ले लेता है। वह बराबर बहता रहता है और ज्यों-ज्यों नयी धाराओं का जोर बढ़ता जाता है त्यों-त्यों उसकी कृशता में वृद्धि होती रहती है। जिस प्रकार कविता के रूपमें अर्थघनता के कारण नवीनता का प्रवेश हुआ उसी प्रकार नयी जागर्ति के वातावरण ने नयी कविताओं को नवीन सामग्री दी। राष्ट्रीय जागर्ति ने जोर

पकड़ा। दलित वर्ग की पुकार बलवती हुई। उपेक्षित वर्ग जाग्रत हो धनिकों का सामना करने के लिए तैयार हुआ। इस प्रकार राष्ट्रीय जागर्ति के साथ शोषित वर्ग का स्वर भी कविता में गूँजने लगा। गांधीजी का तत्त्वज्ञान और उपदेश राजनीति में ही सीमित न रह कर अन्य क्षेत्रों में बढ़ने लगा। साहित्य का क्षेत्र भी उससे अछूता न रहा। शेष, मेघाणी, सुंदरम्, उमाशंकर, स्नेहरश्मि, पूजालाल, पतील, चंद्रवदन, मनसुखलाल, करसनदास माणेक, जुगतराम, बादरायण, स्वप्नस्थ, इंदुलाल गांधी, सुंदरजी बेटाई, रमणिकलाल अरालवाला, गोविंद पटेल, दुर्गेश शुक्ल, गोविंद स्वामी, नाथालाल दवे, पाराशर्य, प्रह्लाद पारेख, नंदकुमार पाठक आदि कवियों ने कविता की नई धारा में अपनी कविता बहाई। ये कवि अर्थघनता तथा यथार्थवादी लक्ष्य के साथ स्थिर हो गए हों, ऐसी बात नहीं है। इन्होंने नवीन प्रयोगों एवं नवीन क्षेत्रों में अपनी प्रतिभा का विकास किया तथा कविता-समृद्धि में वृद्धि की। किसी का एक तो किसी के दो, किसी के तीन तो किसी के इससे भी अधिक कविता-संग्रह प्रकाशित हुए हैं। मुख्यतः मेघाणी, शेष, सुंदरम्, उमाशंकर, मनसुखलाल, स्नेहरश्मि, इंदुलाल और करसनदास माणेक की काव्योपासना की समीक्षकों ने बहुत प्रशंसा की है।

जागर्तिकाल के बाद के स्वातंत्र्य-प्राप्ति काल में कविता की चाल प्रायः यही रही है, यद्यपि विषयों में परिवर्तन अवश्य होता रहा है। इतिहास में अपूर्व स्थान रखनेवाला यह स्वातंत्र्य-काल कवियों के लिए रोमांचक सिद्ध न हुआ। विपरीत इसके जागर्तिकाल की गांधीनीति से प्रेरित कविता प्रकृति, प्रणय और भक्ति की ओर मुड़ी है। इन विषयों की कविताओं में भी कवियों का लक्ष्य सौंदर्य तथा यथार्थताभिमुख रहा है। अलंकार, कल्पनोद्भयन, शब्दसौष्ठव, आदि में सरलता और रम्यता के प्रति पक्षपात दिखाई देता है। कवि का चिंतन और स्वानुभूति प्रकृति के साथ मिलकर कविता में उतरते हैं। प्रणय की कविता में प्रसन्न दांपत्य घटता जा रहा है व प्रेम की निष्फलता का दर्द बढ़ता जा रहा है, ऐसा प्रतीत होता है। छंदों में लिखी जाने वाली कविताएँ कम हो रही हैं और गेय पदावलि की ओर बहने वाले ऊर्मिकाव्य बढ़ते जा रहे हैं।

महाकाव्य के पुराने प्रयत्न 'इंद्रजितवध' और 'पृथुराज रासो' आकर्षक सिद्ध न हुए। 'कुरुक्षेत्र' के कवि नानालाल का महाकाव्य अपद्यागद्य में था अतः उससे भी सन्तोष न हुआ। गोविंद भाई पटेल का 'गुरु गोविंदसिंह' महाकाव्य की दिशा में ही एक प्रयत्न है। सब होने पर भी हिंदी 'कामायनी' की कोटि में रखने योग्य एक भी महाकाव्य गुजराती में नहीं मिलता। खंडकाव्य और सुदीर्घकाव्य लिखे जाते रहे हैं किन्तु बहुत कम परिमाण में। 'कांत' के खंडकाव्यों को कविता-रसिकों का जितना प्रेम प्राप्त हुआ उतना अन्य खंडकाव्यों को नहीं। उमाशंकर के 'प्राचीना' काव्यों ने हाल ही में अच्छा आकर्षण उत्पन्न किया है।

लंबे काव्य और महाकाव्य के लिए 'ब्लैंक वर्स' का लगभग पिछले पचास वर्ष से कवियों को परिचय है किन्तु अभीतक सर्वमान्य 'ब्लैंक वर्स' का निर्णय नहीं हुआ। इस दिशा में एक प्रयत्न के० ह० ध्रुव की 'वनवेली' का था। उसमें मनहर अथवा घनाक्षर छंद का रूपांतर था। ऐसा माना जाता था कि अनुप्रास तथा छन्दोबंधन-रहित कविता

'ब्लैंक वर्स' का काम करती है। कुछ लोग ऐसा भी मानते थे कि कवि नानालाल की 'डोलन शैली' 'ब्लैंक वर्स' ही है, किन्तु उसमें पद्यत्व नहीं था। ब० क० ठा० ने पृथ्वी छंद को 'ब्लैंक वर्स' के लिए उपयोगी माना था क्योंकि वह पद्य था। उससे दीर्घकाव्य के लिए आवश्यक धारावाहिता एवं अखंडता निभ सकती थी और अगेय रूप में उसका उपयोग शक्य था, यह बात उन्होंने प्रयोगों द्वारा सिद्ध की थी। इतना होते हुए भी 'सोनेट' के थोड़े से प्रयोग के सिवाय पृथ्वी छन्द का उपयोग अधिक न हो सका। खबरदार का 'मुक्तधारा' छन्द 'ब्लैंक वर्स' हो सकता है, यह उन्होंने 'कलिका' सरीखे सुदीर्घ काव्य की रचना से सिद्ध किया था। खबरदार की कुछ पंक्तियां देखिए :

चली जती रजनीना केशमांथी सरी पडी
क्षितिजना आंगणामां चंद्र पड्यो होय,
प्रिया केरी वेणीमांथी खरीने पडेलुं अेवु
भोगरानुं फूल देखी मन मारुं मोह

किंतु अब कवि ऐसा मानने लगे हैं कि 'ब्लैंक वर्स' का अभाव गुजराती के लिए हानिकर नहीं है। उमाशंकर ने 'प्राचीना' में 'अनुष्टुप्' का अच्छा उपयोग किया है और 'ब्लेंक वर्स' की कमी का कोई अनुभव नहीं होने दिया।

गुजराती कविता में हास्य और कटाक्ष का रंग प्रेमानंद की कविता के समय से न्यूनाधिक मात्रा में चमकता आ रहा है। शामल ने हास्य के छींटे अच्छी तरह बिखेर दिए हैं और ब्रह्मानंद ने तो कटाक्ष में बहुत कटु वचन सुनाए हैं। दलपत ने अपनी कविता में प्रसंगवश हास्य-रस का सहारा लिया है। नवीन कविता के काल में अब हास्य-कटाक्ष की कविता का गुंफन चला तो है किन्तु न्यून प्रमाण में। अपद्यागद्य-काव्य की विडंबना के रूप में खबरदार ने 'प्रयात नो तपस्वी' और 'कुक्कुट दीक्षा' लिखे। 'कोयाभगत नी कडवी वाणी' (सुन्दरम्) एक अनोखी कटाक्ष-वाणी है। इसके बाद जनजीवन और विविध प्रसंगोंपर कविता में कटाक्ष करने के प्रयोग पत्र-पत्रिकाओं में बराबर होते रहे हैं और थोड़े-बहुत ग्रंथ भी निकले हैं—'वैशंपायन नी वाणी' (करसनदास माणेक), नारद वाणी (रमणलाल भट्ट), 'कटाक्षकाव्यों' (देवकृष्ण जोशी)।

गुजरात-सौराष्ट्र में कंठस्थ लोक-साहित्य का अधिकांश दोहा, सोरठा, छंद, गीत, रास आदि पद्यों में तथा कथा-वार्ता आदि गद्य रूप में थे। उनका समुद्धार मुख्य रूप से जागर्ति-काल के वर्षों में हुआ है। यह काम विशेषकर स्व० झवेरचंद मेघाणी तथा स्व० गोकुलदास रायचुरा ने किया है। भाट, चारण, भांड, भवाया-आदि जातियों के लोगों में कंठोपकंठ से जो साहित्य बचा हुआ था उसे उन्होंने हरेक गांव में घूम-घूमकर, मेलों में जाकर, उसे लिख कर, संपादन कर, संशोधित रूप में लोगों के सामने रखा। खासकर स्व० मेघाणी के 'सौराष्ट्र नीरसधार' के चार भाग, 'रढियाली रात', 'कंकावटी', 'चुंदड़ी' और व्रतगीत, ऋतुगीत, लग्नगीत आदि के संग्रहों में यह साहित्य सुन्दर ढंग से संपादित होकर निकला है। सामान्य जन-समुदाय ने तो इस साहित्य का नयी कविताओं से भी अधिक आदर किया है। इस साहित्य की प्रेरणा से नयी कविता में भी प्राचीन तत्त्व कुछ अंश में प्रविष्ट हुए हैं। माता

के गर्भ में रहे हुए बालक से लगाकर मृत्यु के द्वारपर खड़े हुए वृद्ध तक, शिक्षित, सभ्य और ग्रामीण—आदि के भेदोपभेद का बिना विचार किए सर्व लोगों की ऊर्मियों को रसात्मक ढंग से प्रस्तुत करनेवाला यह साहित्य आज के गुजरात को मिली हुई मूल्यवान् निधि है।

कविता के काव्यालोचन-संबंधी बहुत थोड़े ग्रंथ प्रकाशित हुए हैं, किंतु जो हैं वे उच्च कोटि के हैं। रणछोड़भाई के 'रणपिंगल', के बाद के. ह. ध्रुव की 'पद्यरचनाना प्रकार' और 'पद्यरचनानी ऐतिहासिक समालोचना' उत्तम कृतियां हैं। खबरदार कृत 'गुजराती कवितानी रचना-कला' एक अच्छा ग्रंथ है जिसमें इस विषय पर नयी सामग्री मिलती है। रामनारायण पाठक का ग्रंथ 'प्राचीन गुजराती छंदो' पिंगल-संबंधी संशोधन तथा विवेचन का महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। वे 'नवु गुजराती पिंगल' लिख रहे हैं। एक अन्य ग्रंथ 'स्वच्छंद पिंगल' नाम से प्रकाशित हुआ है।

आज के गुजराती कविता-आकाश में अनेक नव कवि चमकते हुए आगे आ रहे हैं। राजेंद्रशाह, बालमुकुंद दवे, निरंजन भगत, पिनाकिन ठाकोर, वेणीभाई पुरोहित, उशनस्, रतिलाल छाया, जयंत पाठक, हसित बुच, अनामी, उपेंद्र पंड्या, प्रजाराम, शयदा गनी दरीवाला, रतिलाल छाया, अमीन आजाद, शेखादम आबूवाला, कोलक, हरिश्चंद्र भट्ट, प्रबोध, मिनु देसाई आदि कवि अपनी रचनाओं द्वारा आगे बढ़ रहे हैं। इनमें से कुछ की कविताएँ पत्रों में प्रकाशित होती रहती हैं और रेडियो पर भी सुनने को मिलती हैं। किसी-किसी के संग्रह भी छपे हैं। इस प्रकार नए कवियों की रचनाओं की नई फसल आ रही है। उनकी प्रतिभा उन्हें पूर्वकालीन कवियों की श्रेणी में ला रखेगी, ऐसी आशा की जा सकती है। नई कविता के इस युग के तीस-चालीस ग्रंथ ऐसे हैं जो कविता-प्रवाह की सजीवता का दर्शन कराने में समर्थ हैं। उमाशंकर के 'गंगोत्री', 'निशीथ', और 'प्राचीना' स्नेहरश्मि के 'पनघट', और 'अर्घ्य', सुंदरम् के 'काव्यमंगला, 'वसुधा' और 'यात्रा' करसनदास माणेक के 'आलबेल' और 'महोबत ने मांडवे', मनसुखलाल के 'आराधना' और 'अभिसार', पूजालाल का 'पारिजात', बोटाद्द का 'इंद्रधनु', गोविंदस्वामी का 'प्रतिपदा', चंद्रवदन का 'इलाकाव्यो अने रतन', निरंजन भगतका 'छंदोलेख', अन्य कवियों के 'प्रतीक्षा' 'स्वाति', संसृति', 'कालिंदी', 'आकाशनां फूल', उन्मेष', प्रत्यूष', 'संवेदना', 'कोडियां' आदि कविता ग्रंथ नयी कविता का तत्त्व है। तात्त्विक दृष्टि से नयीं कविताओं का मूल्य अवश्य ऊंचा है किंतु ये कविताएं मूक वाचक अथवा अभ्यास में ही विशिष्ट रही हैं। इनका वाचन अथवा गान क्वचित् ही होता है; कविता-गान का मान तो बहुधा दलपत-नर्मदनानालाल खबरदार-मेघाणी की शैली को ही मिलता है।

नाटक

गुजराती साहित्य का नाटक अंग कविता-उपन्यास जितना पुष्ट नहीं हुआ। इसके मुख्य दो कारण हैं। एक तो यह कि नाटक का सर्जन कलाकार की विशिष्ट शक्ति की अपेक्षा रखता है और दूसरा यह है कि नाटक में पढ़ने की अपेक्षा देखने का विशेष आकर्षण होता है अतः, उसके पाठक कम होते हैं। यही कारण है कि इसे पूरी उत्तेजना नहीं मिलती। खेलेजाने वाले नाटकों को देखने वाले बहुत लोग होते हैं किंतु चित्रपटों के कारण रंगभूमि का विकास जैसा होना चाहिए वैसा नहीं हो सका।

साठ वर्ष पहले गुजराती में 'ललिता-दुःख-दर्शक'' 'कांता', 'भरथरी', 'राणकदेवी रा खेंगार' सरीखे नाटक लिखे गये। ये खेलने और पढ़ने के काम में आते हैं। 'मिथ्याभिमान नाटक', 'हिंमत विजय' आदि कुछ नाटक रंगभूमि पर न आकर केवल पठन तक ही सीमित रहे। उसके बाद खेले जाने वाले नाटकों का पुस्तकाकार प्रकाशित होना बंद हुआ और साहित्य केवल रंगभूमि द्वारा ही प्रकाशित होता रहा। इससे नाटक-लेखन में साहित्यिक गुण उत्तरोत्तर घटता गया। 'भट्ट नुं भोपाळुं' नवलराम का हास्यरसपूर्ण नाटक है। गणपत राय का 'प्रताप', मणिलाल छबाराम का 'सीताहरण', रमणभाई का 'राई नो पर्वत' आदि वाचनयोग्य रसिक नाटक हैं। 'राईनो पर्वत' रंगभूमि पर पूरी तरह सफल न हुआ। प्रेमानंद के कहे जाने वाले नाटक 'सुभद्राहरण', 'शेष दर्शिका', 'सत्यभामा आख्यान' और 'पांचाली प्रसन्नाख्यान' इसी समय प्रसिद्ध हुए और अपनी वाचन-क्षमता और रसिकता के कारण उनका उचित आदर होने लगा। कवि नानालाल के नाटक 'इंदुकुमार', 'जया-जयंत', 'पुण्य कन्या', 'अकबर शाह' आदि अपद्यागद्य में लिखे हुए हैं। ये रंगभूमि पर जाने लायक नहीं हैं। 'इंदुकुमार' और जया जयंत अपनी आत्मलग्नता और प्रेमलग्नता की भावना के कारण आकर्षक सिद्ध हुए।

वाचनयोग्य नाटकों का संबंध रंगभूमि पर खेले जाने वाले नाटकों के साथ लंबे समय तक विछिन्न रहा। बाद की जागर्तिकाल की नाटक रचनाएं जब से अवेतन रंगभूमि पर तथा स्कूल-कालेज के रंगमंच पर दिखाई जाने लगीं तब से नाटक-लेखन कुछ-कुछ पनपने लगा है और एकांकी नाटक बड़ी मात्रा में लिखे और खेले जाने लगे हैं। खेलने के लिये लिखे गये ऐसे अनेक नाटक पठन के साधन बने और इस प्रकार नाटक-साहित्य का उचित विकास हुआ। बीच में कुछ त्रि-अंकी नाटक भी लिखे गए और आज भी लिखे जाते हैं किंतु उनमें से बहुत कम किसी सार्वजनिक अवसर पर अवेतन रंगभूमि में खेले जाते हैं।

इस प्रकार अन्तिम तीस वर्ष में छोटे-बड़े लगभग डेढ़ सौ नाटक प्रकाशित हुए हैं, यद्यपि उनमें से महत्त्वपूर्ण एवं दीर्घकालजीवी कृतियों की संख्या कम है। अर्थघन कविता के प्रणेता बलवन्तराय क० ठाकोर ने कुछ नाटक लिखे हैं: 'ऊगती जुवानी', 'सोविएट नवजुवानी', 'मालविकाग्निमित्र' और 'अभिज्ञान शाकुंतल'। प्रथम दो को लेखक ने रंगमंच के योग्य बताया किन्तु वे खेले नहीं गए। अन्तिम दो संस्कृत नाटकों के अनुवाद हैं। क० मा० मुंशी ने नाटक, नाटिकाएं, प्रहसन आदि कुल मिलाकर लगभग पन्द्रह कृतियां दी हैं। उनके नाटक पुराण, समाज और विविध लौकिक विषयों पर हैं। पौराणिक नाटकों में गंभीरता की मात्रा अधिक है जब कि सामाजिक नाटकों पर तीक्ष्ण कटाक्ष और हास्य की परंपरा का प्रभाव है। उनकी मुख्य कृतियां हैं: 'लोपामुद्रा, 'पौराणिक नाटको', 'ध्रुवस्वामिनी देवी', 'सामाजिक नाटको', 'काकानी शशी', 'डो० मधुरिका', 'ब्रह्मचर्याश्रम', पीडाग्रस्त प्रोफेसर', 'छीओ तेज ठीक' आदि। लीलावती मुंशी ने एक नाटक लिखा है—'कुमारदेवी'। र० व० देसाई के लगभग पांच नाटक-नाटिका-संग्रह हैं:—'अंजनी','शंकित हृदय','संयुक्ता', 'तपअने रूप' तथा 'पुष्पोनी सृष्टियां'। 'वैशालीनी वनिता' (प्र० अं० दिवानजी) और 'छेल्लो पावापति' (ग० ला० बुच) ऐतिहासिक नाटक हैं। इंदुलाल गांधी के नाटक-संग्रह

'अंधकार बच्चे', 'पलटानां तेज', 'अपंग मानवता', 'पंथरना पारेवां' और 'चित्रादेवी' हैं। चंद्रवदन मेहता की नाट्य कृतियां अधिकांश रंगमंच के योग्य हैं। लगभग सभी कृतियां रंगमंच पर आ चुकी हैं और रसप्रद सिद्ध हुई हैं। इन कृतियों के नाम हैं: 'धरागुर्जरी', 'नागाबावा', 'आगगाडी', 'पांजरापोल', 'प्रेमनुं मोती', 'अखो' और 'शिखरिणी'। 'राखनां रमकडां' (भास्कर वरोरा), 'हिमालय स्वरूप' (हंसा मेहता), 'ठंडीक्रूरता' (धूमकेतु), 'अल्लाबेल' (गुणवंतराय आचार्य), 'रूपियानुं झाड' (रसिकलाल छो० परीख), 'ईश्वरनुं खून' (दिव्यानंद), 'राजनंदिनी' (केशव ह० सेठ), 'वहेमनां वमल' (कुलीनचंद्र देसाई), 'कुंवराज सारा' दामुशुक्ल, 'गीत होरी' (सुरेश गांधी), 'जमाइराज' (पन्नालाल पटेल), 'बटुभाईना नाटको' (बटु उमर वाडिया)—ये सारी नाट्य कृतियां ऐसे लेखकों की हैं जिन्होंने नाट्यलेखन की अपेक्षा अन्य प्रकार के लेखन में विशेष रुचि दिखाई है। इतना होते हुए भी ये कृतियां नाटक-साहित्य में विशेष स्थान रखती हैं, इसमें संदेह नहीं। धनसुखलाल मेहता नाट्यलेखन में विशेष रस लेते हैं। गुलाबदास ब्रोकर के साथ इन्होंने 'धूम्रसेर' नाटक लिखा है। यशोधर मेहता के नाटक हैं:—'रणछोड़लाल अने बीजां नाटकों' तथा 'घेलो बबल'। 'दर्शक' के नाटक '१८५७ अने जलियांवाला' वर्तमान युग की दो बड़ी घटनाओं का दिग्दर्शन कराते हैं। जयंती दलाल नाट्यलेखन और नाट्य-कला के अभ्यासी और अनुभवी हैं। इन्होंने कुछ अच्छे नाटक लिखे हैं: 'अंधार पर', 'जवनिका', 'पशुराज्य', 'बीजो प्रवेश', 'जीवनदीप', 'सोयनुं नाकुं' आदि। कृष्णलाल श्रीधरा-जी के दो नाटक हैं: 'वडालों' और 'पीओ गोरी'। दुर्गेश शुक्ल के नाटक हैं: 'हैयेभार' और 'पृथ्वीनां आंसु'। 'सापना मारी', 'शहीद' उमाशंकर जोशी के नाटक हैं। पुष्कर चंदर-वरकर के नाटक संग्रह हैं 'पिपरनो पडोशी' और 'यज्ञ'। चुनीलाल मडिया कहानी और नाटक के सफल गिने जानेवाले लेखक हैं। उनके नाटकों की दो पुस्तकें हैं: 'रंगदा' और 'हुँने मारी बहु'। झवेरचंद मेघाणी की नाट्यसाहित्य की देन भी महत्त्वपूर्ण है। उनके चार ग्रन्थों में से 'प्रताप राणो' और 'शाहजहां' अनूदित हैं और 'राजाराणी' और 'वंठेला' मौलिक हैं।

'अभिज्ञान शाकुंतल' के तीन चार अनुवाद हुए हैं। 'उत्तररामचरित' के तीन अनुवाद हैं। 'कलिदास नां त्रढा नाटको' नामक एक संग्रह भी निकाला है। इनके सिवाय 'मालविकाग्निमित्र', 'मुद्राराक्षस', 'मृच्छकटिक', 'मध्यमव्यायोग' आदि नाटकों का संस्कृत से किया गया अनुवाद नाट्य साहित्य की समृद्धि में सहायक हुआ है। बंगाली, मराठी, हिंदी, अंग्रेजी आदि से भी कुछ नाटक लिए गए हैं। द्विजेंद्रलाल राय का 'शाह जहां', प्रो० अत्रे के 'घरा बाहेर' और 'ऊंबर बहार', शरद्बाबू की 'अलका', जेम्स बेरी के 'Admirable Crichton' के आधार पर लिया गया 'संभावित सुंदरलाल', 'विल्हेय टेल', 'वीनीसनो वेपारी', 'मेझर फोर मेकर', 'हरींद्रनां बे नाटकों', 'अंडा अंधारेथी', 'पनुनी नाशी', 'ढींगली' आदि कुछ मुख्य अनूदित कृतियां हैं।

नाटकों में ऐतिहासिक सामग्री बहुत थोड़ी कृतियों में हैं। भावनात्मक तथा सांसरिक सामग्री विशेष रूप से पसंद की गई है। खेले जाने वाले एकांकी तथा लम्बे नाटकों में प्रेक्षकोंको प्रहसन विशेष रुचिकर लगते हैं, ऐसा मालूम होता है। गंभीर सामग्री

का अपेक्षाकृत अभाव दिखाई पड़ता है। एकांकी पत्रिका में निकलने वाले एकांकी नाटक इस कमी को कुछ हद तक दूर करते थे किंतु यह पत्रिका एक-दो वर्ष से अधिक न चल सकी। अंतिम कुछ वर्षों से रेडियो के लिये एकांकी और लम्बे नाटक लिखे जा रहे हैं, किंतु उनमें ध्वनि-प्रधानता के कारण वाचनक्षमता कम होती है। चित्रपट के उद्योग द्वारा रंगभूमि के नाट्यलेखन का उत्साह हत होने के बाद अवेतन रंगभूमि और रेडियो द्वारा नाटक-साहित्य पुनः चमकने लगा है, यह प्रसन्नता की बात है।

कहानी

गुजराती-साहित्य में कहानी का कला-स्वरूप कुछ देर से आया। वैसे तो 'बृहत्कथा', 'पंचतंत्र', 'कथासरित्सागर', 'ईसपनी बातो', 'अरेबियन नाइट्सनी वार्ताओ', भोज और कालिदास की तथा अकबर-बीरबल की कहानियां, ऐतिहासिक प्रबंध तथा लोक-कथाओं के आधार पर लिखी हुई कहानियों का साहित्य हमारे यहां था ही। दलपतराम ने 'तार्किक बोध' के नाम से कहानियों की एक पुस्तक १८७० में तथा 'गुजरात-कठियावाड देशनी वार्ताओं' नामक दूसरी पुस्तक एक पारसी ने १८७२ में प्रकाशित की। बं० क० ठाकोर ने साहित्य-परिषद् की ओर से काठियावाड़ की लोक-कथाओं का हरगोविंद प्रेमशंकर से सम्पादन करा के प्रकाशन किया। 'रत्नमाल' और 'रासमाला' के आधार पर अनेक ऐतिहासिक कथाएं निकलीं। ये सब कथाएं धर्म, नीति और इतिहास को स्पर्श करती थीं, जिनका मुख्य आशय धर्म, नीति और वीरत्व या बलिदान की प्रेरणा देना था। इनकी शैली सादी लोक-कथा की शैली थी। जिसे आधुनिक परिभाषा में कहानी कहा जाता है उसका रूप तो आज से लगभग चालीस वर्ष पूर्व ही हमारे संमुख आया था। 'मलयानिल' की (१९१३) एक कहानी ने इस नये रूप की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट किया और फिर यह रूप बराबर निखरता गया। अंग्रेजी-कथाओं ने कभी उसकी कला-देह की रेखाओं का निर्माण किया तो कभी कथा-बीज दिया; कभी शैली दी तो कभी रचना-कला में नवीनता प्रदान की। इन सभी के सहयोग से आज गुजराती कहानियां अच्छी तरह लिखी जाती हैं और उनकी रचना करने वालों की काफी संख्या हैं। दो-तीन वर्ष से अंतर्प्रांतीय कहानी प्रतियोगिता में गुजराती कहानियों को अच्छा स्थान मिल रहा है।

कविता, नाटक और उपन्यास के अधिकांश लेखकों ने कहानी-कला की न्यूनाधिक अंश में आराधना की है। परिणाम-स्वरूप गुजरात के बहुत से साहित्यकारों में कविता-नवलिका (कहानी) नाटक-नवलिका और नवलकथा (उपन्यास) नवलिका (कहानी) का संगम हुआ है। 'शेष' (रा० वि० पाठक) की कहानियों का संग्रह 'द्विरेफनी वार्ताओं' के नाम से प्रकाशित हुआ है। उमाशंकर जोशी की कथाओं के संग्रह हैं: 'श्रावणी मेळो', और 'अंतराय'। 'धूमकेतु' की कहानियों के संग्रह 'तणखा' के चार भाग, 'आकाश दीप' 'परिशेष', 'वनछाया' आदि हैं। लोक-साहित्य के उपासक स्व० मेघाणी के कहानी-संग्रह 'माणसाइना दीवा', 'विलोपन' आदि हैं। उपन्यासकार रमणलाल व० देसाई के 'कांचन अने गेरु', 'रसबिंदु' आदि संग्रह हैं। सुंदरम् के 'पियासी', 'उन्नयन' आदि लगभग चार संग्रह हैं। चुनीलाल व शाह के 'रूपानो घंट' आदि तीन संग्रह हैं। गुणवंतराय आचार्य के

संग्रह 'तरंग', 'ओखा पाणी' आदि, क० मा० मुंशी का 'नवलिकाओ', लीलावती मुंशी का जीवनमाथी जडेली', ब० क० ठा० का 'दर्शनियुं', सोपान के 'त्रण पगलां' और 'अखंड-ज्योति', पन्नालाल पटेल के 'जीवोदांड', 'लखचोरासी' आदि; ईश्वर पटेलीकर का 'लोहीनी सगाई', चुनीलाल मडिया के 'घुघवतां पूर' और 'चंपो अने केळ', जयभिक्खु का 'कांचन अने कामिनी', गणेश मावलंकर का 'मानवतान' झरणा' इत्यादि कहानी-संग्रह ऐसे लेखकों के हैं जो साहित्य की अन्य शाखाओं की उपासना भी करते हैं। कुछ लेखक विशेषरूप से कहानियों में सिद्धहस्त हैं। रणजीतराम बाबाभाई की कहानियां 'रणजीत कृतिसंग्रह' में संगृहीत हैं। स्व० मट्टुभाई कांटावाला का कहानी-संग्रह 'संसार लीला' है। हाजी महमद ने 'नूरजहां' और 'रशीदा' नामक दो कहानियां लिखी हैं। वर्तमान लेखकों में गुलाबदास ब्रोकर के 'ऊभी बाटे', 'लता अने बीजी बातो' आदि लगभग पांच संग्रह हैं। 'जीवननां वहेणो' रसिकलाल छो० परीख का कहानी-संग्रह है। विनोदराम भट्ट के दो संग्रह हैं। ताराचंद्र अडालजा के लगभग तीन संग्रह हैं। कहानी-लेखन में कुशल और भी अनेक ऐसे लेखक हैं जिनमें से कुछ के कहानी-संग्रह पुस्तकाकार निकले हैं और कुछ अभी पत्र-पत्रिकाओं में ही लिखते रहते हैं। स्व० योगींद्रराव दीवेटिया, स्व० बटुभाई ऊमरवाडिया, स्व० हरजीवन सोमैया के कहानी-संग्रह प्रकाशित हुए हैं। इसके अतिरिक्त इस क्षेत्र में विशेष लेखक जिलुभाई मेहता, करसनदास माणेक, चंद्रवदन मेहता, ज्योत्स्ना खंडेरिया, विनोदिनी नीलकंठ, कुंदनिका कापडिया, सरोजिनी महेता, बाबुभाई वैद्य, उमेदभाई मणियार, मुरली ठाकुर, चंदुलाल पटेल, दर्शक, रमणलाल सोनी, हरिकृष्ण व्यास, जयंती दलाल, मनुभाई जोधाणी, जयभिक्खु, सत्यम्, इंद्र वसावडा, अशोक हर्ष, जयंत खत्री, नीरु देसाई, बकुलेश, प्रशान्त, पूर्णानंद भट्ट, देवशंकर मेहता, प्रह्लाद ब्रह्मभट, निरंजन वर्मा, मकनजी परमार, कान्तिलाल परीख, ब्रजलाल मेघाणी, पीतांबर पटेल, नाथालाल दबे, सारंग बारोट, स्वप्नस्थ, सुरेन्द्र त्रिपाठी, किशनसिंह चावडा, उमेश कवि, भूपत वडोदरिया, सुरेश जोशी, श्रीकांत इत्यादि हैं।

कहानियों की सामग्री में ऐतिहासिक वीरत्व की घटनाएं, आध्यात्मिक प्रेम की भावनाएं, सांसारिक मनोवासनाएं, वैवाहिक विषमता के कुफल, जागतिकाल के बलिदान, मानवहृदय की उदात्तता, अभिलाषाओं की उत्कटता, जीवन के यथार्थ रोमाञ्चक अनुभव, मांगल्य-सूचक चित्रण आदि मुख्य हैं। कविता-रचना की अपेक्षा कहानी-लेखन में भावना-मयत्व विशेष तेजी से मिटता जा रहा है। मनोविज्ञान के बढ़ते हुये सिद्धांतों की अभिव्यक्ति और वास्तविकता तेजी से जोर पकड़ती जा रही है। अध्ययन ने लेखकों पर विशेष अधिकार जमाया है। व्यक्ति को केन्द्र में रखकर उसका मानसिक चित्रण करने की ओर बढ़ती हुई सहानुभूति के इस युग में मानव-बुद्धि का आकर्षण यथार्थ की ओर है। परिमाणतः ऐसी कहानियां भी लिखी जा रही हैं जिनमें समष्टि, राष्ट्र अथवा जगत् के प्रति स्थापित व्यक्ति के उत्तरदायित्व का मान लुप्त हो जाता है और व्यक्ति, केवल व्यक्ति की ही अहंता अथवा अस्तित्व-लोलुपता स्फुरित होती जाती है।

कहानी के विभिन्न रूप अंग्रेजी कथा-साहित्य की प्रेरणा से विकसित होते रहे हैं। सामाजिक अथवा ऐतिहासिक सामग्री का यथावस्थित रूप में निरूपण करने की कला में

निष्णात लेखक इस क्षेत्र में आगे रहे हैं और उन्हें पाठकों का प्रेम भी प्राप्त हुआ है। मोपासा और चेखोव की कहानी-कला का प्रभाव किसी न किसी रूप में कहानीकारों पर अवश्य पड़ा है। अभी-अभी सारोयान और हेमिंगवे की कला की ओर कुछ लेखक झुक रहे हैं।

जितनी कहानियां लिखी जाती हैं सभी पुस्तकाकार नहीं निकलती। अनेक कहानियाँ तो पत्र-पत्रिकाओं के कुछ विशेषांकों में ही रह जाती हैं। कभी-कभी इनमें से चुनी हुई कहानियां संग्रह के रूप में भी निकलती हैं। राष्ट्रभाषा का प्रचार बढ़ने पर कुछ युवक लेखक हिंदी से अनुवाद कर के कहानियां लिखने लगे हैं जिनमें से अधिकांश पत्र-पत्रिकाओं में निकलती हैं। इसी प्रकार अंग्रेजी, मराठी, बंगाली, उर्दू, तामिल आदि से अनूदित कहानियां भी निकलती रहती हैं। प्रकाशकों का कहना है कि कहानी-संग्रहों का पाठकों में अपेक्षाकृत कम सम्मान है, क्योंकि गुजराती पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होनेवाली कहानियों से ही पाठकों की कथा-पिपासा शान्त हो जाती है।

उपन्यास

कहानी की ही भांति उपन्यास-कला का बीज भी अंग्रेजी उपन्यास द्वारा निक्षिप्त हुआ है। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, प्राचीन गुजराती और उसी प्रकार फारसी-अरबी भाषा के साहित्य में गद्य और पद्य-दोनों में छोटी-मोटी कहानियां थीं किंतु इन कहानियों का ढाँचा वर्तमान उपन्यास की उत्पत्ति का कारण नहीं हुआ।

गुजराती में सर्वप्रथम उपन्यास १८६६ में 'करणघेलो' (नंदशंकर मेहता) लिखा गया। यह एक ऐतिहासिक उपन्यास था। बंगाली में भी इसी समय प्रथम ऐतिहासिक उपन्यास 'बंगाधिप पराजय' लिखा गया। इससे पहले बंगाली में अंग्रेजी उपन्यासों के अनुवाद होते थे किन्तु गुजराती में ऐसा नहीं हुआ। बंगला 'बंगाधिप पराजय' लिखा गया। इसके पहले बंगाली में अंग्रेजी उपन्यासों के अनुवाद होते थे किंतु गुजराती में ऐसा नहीं हुआ। 'बंगाधिप पराजय' और 'करणघेलो' दोनों पर वॉल्टर स्कॉट के उपन्यास 'आइवेन हो' की छाप है।

उपन्यास के मुख्य दो प्रकार हैं—ऐतिहासिक और सामाजिक। मनोरंजक, रोमांचक आदि उपभेद इन्हीं के अंतर्गत हैं।

ऐतिहासिक

'करणघेलो' से लेकर ईसा की १६वीं सदी पूरी होने तक गुजराती ऐतिहासिक उपन्यासों की संख्या लगभग पचीस थी। 'करणघेलो' के बाद अनंतप्रसाद वैष्णव ने 'राणकदेवी' (१८७९) और महीपतराम ने 'वनराज-चावडा' तथा 'सधरा जेसंग' (१८८०-८१) लिखे। ये सभी उपन्यास विशेषरूप से चरित्रात्मक थे। बाद में भी इसी शैली का अनुकरण होता रहा। 'सोरठी सोमनाथ' (कवि भवानीशंकरः १८६३), 'पृथ्वीराज चहुआण' (आत्माराम त्रिवेदीः १८६६), 'झांसीनी राणी' (मणिलाल छबाराम १८६७) 'महाराजानोंधण' (अमृतलाल कृपाशंकर और डाह्याभाई प्रभुरामः १८६७)—ये सब ऐतिहासिक उपन्यास के प्रारंभिक प्रयत्न थे। इस सदी के अंतिम बीस वर्ष में

अनूदित ऐतिहासिक उपन्यासों से साहित्य की संतोषप्रद समृद्धि हुई, ऐसा कहा जा सकता है। 'ताराबाई' रज० बे० (मर्झबान), 'ईरावती' (छगनलाल मोदी), 'लालन वेरागण' (गिरजाशंकर द्विवेदी), 'दुर्गेशनंदिनी', 'जीवन प्रभात' और 'जीवनसंध्या (नारायण हेमचंद्र), 'टीपुसुलतान' (अरदेशर कुंवरजी), 'चांदबीबी' (पेस्तनजी संथा), 'दिल्ली पर हल्लो' (इच्छाराम देसाई), 'औरंगजेब अने राजपूतों' (कृष्णलाल झवेरी), 'हेस्टिंग्सनी सोटी' (प्राणजीवन शास्त्री)—ये सब अंग्रेजी-बंगाली से लिए हुए ऐतिहासिक उपन्यास हैं। १८६१ से बम्बई के 'गुजराती' पत्र ने तथा १९१० से अहमदाबाद के 'प्रजाबंधु' पत्र ने ग्राहकों को ऐतिहासिक उपन्यास भेट देना शुरू किया। इससे मौलिक और अनूदित ऐतिहासिक उपन्यासों को बल मिला। इन उपन्यासों के पीछे आंदोलन काम कर रहा था जिसका 'करणघेलो' से लेकर 'औरंगजेब अने राजपूतों' तक अभाव था। 'हिंद अने ब्रिटानिया' (इच्छाराम सू० देसाई) के पठन-पाठन से गुजरात में स्वातंत्र्य-प्रेम का आंदोलन जगा। जिस समय कवियों के वाणी में ब्रिटेन द्वारा हिंद पर किए गए उपकारों के स्तोत्र रहा करते थे, कथाओं में देशी-राज्य की हीनता और अंग्रेजी-राज्य की महत्ता पर प्रकाश डाला जाता था उस समय 'हिंद अने ब्रिटानिया' ने गुजरात को अंग्रेजी राज्य की वास्तविकता का दर्शन कराया। उस समय से गुजराती में ऐसे ऐतिहासिक उपन्यास लिखे जाने लगे जिनमें पूर्वोक्त कविस्तोत्र और महिमा-वर्णन से विपरीत स्वर निकलने लगा। इनमें निकट भूत का इतिहास था। राजसत्ता को अप्रिय लगने वाली ये कथाएं कला और रस की दृष्टि से कुछ शिथिल होने पर भी पाठकों में खूब लोकप्रिय हुई। 'हेस्टिंग्सनी सोटी' और 'बेगम साहेब' (प्राणजीवन शास्त्री), 'नंदनवननो नाश' (छगनलाल मेश्री), 'अयोध्या अने अंग्रेज' (डाह्याभाई मेहता), 'बहादुरशाह जफर', 'जयंती' और 'नाना साहेब' (ठक्कुर नारायण) आदि में अंग्रेजों द्वारा हुए मुगल तथा राजवंशों के पतन की कहानी थी। बाद में 'हिंद अने ब्रिटानिया' सरकार द्वारा जब्त कर ली गई। इसके बाद यह प्रवाह सूखने लग गया। इसी प्रणाली का स्पर्श करते हुए दो उपन्यास बीसवीं सदी के चौथे दशक में 'भारेलो अग्नि' (र० व० देसाई) और 'बंधन ने मुक्ति' (दर्शक) निकले। इनमें एक विशेषता थी। अंग्रेजी राज्य का ऐकांतिक विरोध नहीं किया गया था। भारत में गांधी जी द्वारा चलाए गए अहिंसा-आंदोलन के प्रभाव से नवजागर्ति के काल में एक नई विवेकदृष्टि का जन्म हुआ। इस दृष्टि का प्रभाव उस समय के अनेक सामाजिक उपन्यासों पर पड़ा।

ऐतिहासिक उपन्यासों पर बीसवीं सदी के प्रारंभिक बीस वर्ष तक मेडोझ टेलर और स्कॉट की मिश्र शैली का प्रभाव रहा। टेलर की कथाएँ ऐतिहासिक घटनाओं की उस सूक्ष्मता तक नहीं पहुँच पातीं जिस सूक्ष्मता तक स्कॉट की कथाएं पहुँचती हैं। पात्रों के चरित्र-चित्रण तथा घटनाक्रम की दृष्टि से टेलर की कथाएं विशेष सफल हैं। जो गुजराती उपन्यास दूसरी भाषा से अनूदित होते उनमें मानों स्कॉट ऐतिहासिक भूमिका प्रदान करता था और टेलर पात्रों के चरित्र-चित्रण की भूमिका।

अब हम उस काल के प्रमुख लेखकों पर दिष्टिपात करें। ठाकुर नारायण ने मौलिक तथा अनूदित सब मिलाकर बीस-पचीस 'ऐतिहासिक उपन्यास लिखे हैं। उनकी मुख्य

लोकप्रिय कृतियां 'प्लसीनुं युद्ध' 'रझिया बेगम', 'पद्मिनी' और 'अनारकली' हैं। चुनीलाल व० शाह की इस काल की मुख्य कृतियां 'धारानगरीनो मुंज', 'सिंह ऊपर सवारी', 'सोमनाथनुं शिवलिंग' और 'मूलराज सोलंकी' हैं। डाह्याभाई रा० मेहता की मुख्य कृतियां 'अयोध्या अने अंग्रेज', 'पतिव्रता बेगम' और 'उमाजी नायक' हैं। ललुभाई भीमभाई के उपन्यास 'बलहठ बंका देवडा' और 'परमार धारा वर्ष देव' 'करणघेलो' की शैली पर हैं। इस काल की अन्य महत्त्वपूर्ण कृतियां 'वीर दुर्गादास' (विट्ठल दास धनजी भाई), 'मोगल संध्या' (राजेंद्र दलाल), 'सिराजउद्दौला' (महाशंकर इंद्रजी), 'संभाजी' (द्वारकादास मो०), 'विमलमंत्रीनो विजय' (जगजीवन कपासी), आदि हैं।

इतिहास का अर्थ क्या है? उसकी क्या-क्या मर्यादाएं हैं? इतिहास और कथा का क्या संबंध है? पात्रों का व्यक्तित्व कैसा होना चाहिए? इतिहास और कथारस में प्राधान्य किसका रहना चाहिए? ऐतिहासिक सचाई कहां तक निभानी चाहिए? कल्पना की क्या मर्यादा होनी चाहिए? इन विषयों की चर्चा उस समय के ग्रंथों में नहीं मिलती। १६१६ में कन्हैयालाल मा० मुंशी के ऐतिहासिक उपन्यास 'पाटणनी प्रभुता' को लेकर यह चर्चा छिड़ी।

क० मा० मुंशी के इस उपन्यास और इसके बाद के उपन्यास 'गुजरातनो नाथ' तथा 'राजाधिराज' के कारण उपर्युक्त प्रश्न साहित्य-चर्चा में आ गए। इन कृतियों पर ऐतिहासिक विकृति और ऐतिहासिक व्यक्तियों के प्रति द्रोह का आरोप लगाया गया। चर्चा इतनी उग्र हो गई थी कि मुंशी द्वारा चित्रित मिनल देवी के चरित्र का प्रत्युत्तर देने के लिए ठक्कुर नारायण ने 'महाराणी मयणल्ला (१९२४) नामक स्वतंत्र कृति की रचना की। मुंशी ने अपनी कृतियों में फ्रेंच उपन्यास-लेखक ड्यूमा की शैली और सर्जनकला का अनुकरण किया। आगे जाकर यह शैली इतनी प्रभावक एवं रोचक हुई कि इसके बाद के ऐतिहासिक उपन्यासों पर उसका प्रभाव पड़ने लगा। मुंशी के उस काल के अन्य ऐतिहासिक उपन्यास 'पृथिवीवल्लभ' और 'भगवान कौटिल्य' भी काफी लोकप्रिय सिद्ध हुए।

बीसवीं सदी के बीस से चालीस वर्ष के बीच की ऐसी ऐतिहासिक कृतियां, जिनमें कथा-शैली की कुशलता, चरित्र-चित्रण की चतुरता, कथारस की प्रवाहशीलता और ऐतिहासिक पृष्ठभूमि की सुरक्षा—ये सब तत्त्व सन्निहित हों, चालीस-पचास हैं। उनमें से कुछ के नाम ये हैं: 'सोरठना सितारा' (धनशंकर), 'पाटणनो पुनरुद्धार' (जेठालाल त्रिवेदी) 'पीरमनो पादशाह', 'देश दिवान' और 'दरियालाल' (गुणवंतराय), 'सोरठनो मुत्सद्दी वीर' (चंदुलाल जे० व्यास), 'कर्मयोगी राजेश्वर', 'रारूहत्या', 'अवंतीनाथ' और 'रूपमती' (चुनीलाल व० शाह), 'समरांगणा', 'रागंगात जलियो' और 'सोरठ तारां वहेतां पाणी' (झवेरचंद मेघाणी), 'महीपाल देव', 'सोरठाणी', 'ग्रहराज' और 'नगाधिराज' (गोकुलदास रायचुरा), 'महाराजा खारवेल' और 'कलिंगनुं युद्ध' (सुशील), 'चरच अने सुहँघी' (ठक्कुर नारायण), 'चंबलनुं युद्ध' (तरलिका जोशी), 'आम्रपाली' (रामचंद्र ठकुर), 'दीपनिर्वाण' (दर्शक), 'मत्स्य गलागल' (जयभिक्खु)।

अंतिम पंद्रह वर्ष के ऐतिहासिक उपन्यासों से एक बात प्रकट होती है। इस काल में गुजराती इतिहास से संबंधित अपेक्षाकृत अधिक लिखे गए। क० मा० मुंशी ने उपर्युक्त

उपन्यासों के अतिरिक्त 'जयसोमनाथ' लिखा। चु० व० शाह ने 'एकलवीर', 'गुर्जरेश्वर', 'नीलकंठनुं बाण', 'परम आर्हत' लिखे। धूमकेतु (गौरीशंकर गो० जोशी) ने 'चौलादेवी' से लगाकर 'नायिकादेवी' तक की केवल चौलुक्य-वंश की ही प्रायः दस कृतियां तैयार कीं। मेघाणी ने 'गुजरातनो जय' लिखा। गुणवंतराय ने 'गिरनारने खोले', 'सेनापति', 'जाम तमाची' आदि लिखे। धीरजलाल शाह ने 'लाटनो दंडनायक' लिखा। ये सभी गुजरात के इतिहास की कथाएँ हैं। इनके अलावा र० व० देसाई ने 'कालभोज' 'पहाडनां पुष्पो' और 'क्षितिज' लिखे। सुशील ने 'जगतसेठ' लिखा। जयभिक्खु ने 'नरकेसरी', 'विक्रमादित्य हेमु' आदि लिखे। इन सभी आख्यानों में मध्ययुग की सामंतशाही, राजाओं का चक्रवर्ती पद, क्षत्रियों का पराक्रम, मुत्सद्दियों की खटपट और महत्वाकांक्षा आदि के चित्र ही खींचे गए थे। नवजागृति, स्वातंत्र्य-संग्राम और स्वातंत्र्य-प्राप्ति-द्वारा जिस नई दृष्टि का निर्माण हुआ था उसका क्या स्थान है? राजशाही की ऐतिहासिक कथाओं से आज के युग को क्या प्रेरणा मिल सकती है? ये प्रश्न केवल पाठकों तक ही सीमित नहीं हैं। लेखक भी इन प्रश्नों से प्रभावित हैं। अंतिम बीस वर्ष की घटनाएं जिनकी कथा का विषय है, ऐसे उपन्यास भी लिखे गए हैं। उदाहरण के रूप में 'बंदीघर' (दर्शक), 'अणखूटं धारा' (अश्विनीकुमार), 'प्रभु पधार्या' और 'कालचक्र' (मेघाणी), 'झंझावात' (र० व० देसाई), 'काजल कोटडी' (पेटलीकर), 'पादरनां तीरथ' (जयंत दलाल), 'घुवड बोल्युं' (नीरु देसाई), 'भभूकती ज्वाला' (रामु अमीन), 'देशद्रोही (प्र०), 'सरिताथी सागर' (शिवशंकर शुक्ल) आदि कृतियां हैं।

ऐतिहासिक उपन्यासों की प्रगति सन्तोषजनक है। वीर, करुण, अद्भुत और शृंगार रसों के मिश्रण के साथ देश, काल और पात्रों की विविधता द्वारा कथावस्तु के निर्माण की कला में अच्छी प्रगति हुई है। कुछ लेखक ऐसे भी हैं जो अभी मुंशी-प्ररूपित शैली के चारों ओर ही चक्कर लगा रहे हैं। कथा-लेखन के लिए जब तक प्राचीन राजकीय इतिहास पर ही लेखकों की दृष्टि जमी हुई रहेगी तब तक इस घेरे से छूटना कठिन है। इतिहास की अनेक शाखाएं उपन्यास-लेखन के लिए आवश्यक सामग्री जुटाने में सहायक बन सकती हैं।

सामाजिक : सांसारिक

उपन्यास-लेखन का प्रारंभ ऐतिहासिक उपन्यासों से हुआ था (१८६६) किंतु उस समय ऐतिहासिक भूमिका पर तथा अन्य रूप में भी सामाजिक कथाएं लिखने के कुछ प्रयत्न हुए थे। 'करणघेलो' के साथ सामाजिक 'सासु-वहुनी लडाई' (महीपतराम) प्रकाशित हुआ था। १८८४ में जहांगीरजी तालीयारखानने 'मुद्रा अने कुलिन' तथा १८६७ में इच्छाराम देसाई ने 'शिवाजीनी सूरतनी लूंट' लिखे। वस्तुतः ये दोनों सामाजिक उपन्यास थे। 'गंगाः गुर्जरवार्ता' भी सामाजिक कृति थी। वास्तविक कलायुक्त सामाजिक उपन्यास का जन्म हुआ गोवर्धनराम त्रिपाठी के 'सरस्वतीचंद्र' से। यह उपन्यास १८८७ से १९०१ के बीच चार भागों में निकला। इसमें कथावस्तु कम और तत्त्व चर्चा अधिक है अतः इसे पुराण के नाम से भी पुकारा जाता है। इस कोटि का कोई भी ग्रंथ उसके बाद न निकला। साठ-सत्तर वर्ष के गुजराती उपन्यासों में यह शिरोमणि है।

'गुलाबसिंह' जिसका लेखन कार्य 'सरस्वतीचंद्र' के प्रकाशित होने के पूर्व ही प्रारंभ हो चुका था किंतु जिसका प्रकाशन १८९७ में हुआ, मणिलाल नभुभाई ने झेनोमी की एक अंग्रेजी कथा के आधार पर लिखा। उसमें भी कथा की अपेक्षा तत्त्वचर्चा अधिक थी। इस प्रकार प्रारंभिक उपन्यासों का उद्देश्य परंपरागत साहित्य-ध्येय के अनुरूप था। कथा में रस के साथ-साथ उपदेश की सामग्री परोस कर पाठकों में संस्कारिता उत्पन्न करना-यही इन कृतियों का ध्येय था। इसी उद्देश्य से कवि नानालाल ने 'उषा' और 'सारथि' लिखे। उसके बाद ज्यों ज्यों उपन्यास बढ़ने लगे त्यों त्यों उपदेश तत्त्व प्रकटरूप में न रहकर प्रच्छन्न रूप में रहने लगा। राममोहनराय जसवंतराय के उपन्यास 'योगिनी' और 'बाला', योगींद्रराव के 'मोहिनी', 'मृदुला', 'उषाकांत', 'अजामिल', 'आसिस्टंट कलेक्टर' 'चमेली' आदि और शिवुभाई के 'अलक्ष्य ज्योति' इत्यादि में इस प्रच्छन्न बोधके दर्शन होते हैं। ये कथाएं समाज की कुरीतियां दूर करना, स्त्री-शिक्षा का प्रसार करना, भावनामय शुद्ध जीवन जीना, समाजसेवा का व्रत ग्रहण करना-आदि प्रेरक तत्त्वों से भरी हुई थीं। इसी समय गोपालजी देल्वाडाकर का 'निलम अने माणेक', रणछोडलाल कवि का 'कुंदन अने कुसुम' केखुशरु काबराजी के 'दुख्यारी बचु', 'भोलो दोलो' आदि और अन्य लेखकों के 'नटवर', 'कंचन', 'मदनचंद्र' आदि उपन्यास निकले किंतु वे दीर्घजीवी न हो सके।

सामाजिक उपन्यासों में उत्तरोत्तर नूतनता का प्रवेश होता जा रहा था। अमृत केशव नायक का उपन्यास 'एम० ए० बना के क्युं मेरी मिट्टी खराब की ?' बहुत आकर्षक सिद्ध हुआ। इसके अतिरिक्त ठक्कुर नारायण के 'आजकाल नो सुधारो', 'चूडेलनो वांसो' आदि उपन्यास जो 'गुजराती' में क्रमशः प्रकाशित होने के बाद पुस्तकाकार में निकले थे, उनके प्रति भी पाठकों का विशेष आकर्षण था। दूसरे लेखकों ने उनका अनुकरण भी किया। भोगीन्द्रराव का 'अजामिल' और क० मा० मुंशी का 'वेरनी वसुलात' (१९१४) इसी पत्र में क्रमशः प्रकाशित होकर पुस्तकाकार में निकले।

सामाजिक उपन्यास-लेखन ज्यों-ज्यों आगे बढ़ता गया त्यों त्यों उसमें विविधता का प्रवेश होता गया। जो प्रश्न पहले समाज अथवा वयोवृद्धों के विचार की कोटि के गिने जाते थे वे अब युवक-युवती की अपनी विचार-धारा की कोटि में आ चुके थे। 'सरस्वतीचंद्र' में जिस विचारधारा के बीज पनपते हैं वे ही भोगीन्द्रराव तथा शिवुभाई के उपन्यासों में रूपांतर ग्रहण करते हैं। मुंशी के प्रथम सामाजिक उपन्यास 'वेरनी वसुलात' में भी ग्राम-योजना, देशी राज्यों की खटपट, देह का पति और आत्मा का पति आदि देखने को मिलते हैं जो 'सरस्वतीचंद्र' से मिलते-जुलते हैं। एक ओर भोगीन्द्रराव की मृत्यु के बाद निकलने वाला 'लग्न : धर्म के करार ?' लें और दूसरी ओर झवेरचंद मेघाणी का 'वेविशाल' लें। इससे सामाजिक उपन्यासों के दो प्रकारों के बीच में रहने वाला अंतर हमारी समझ में आ सकेगा। प्रथम महायुद्ध के बाद जो क्रान्तिकारी विचारों का आंदोलन आया उसने समाज में भी हलचल पैदा की। वैसे तो नए विचारों का निर्माण महायुद्ध से पूर्व ही होने लग गया था किंतु संघर्ष का अवसर आया महायुद्ध के बाद में। इस संघर्ष ने सामाजिक उपन्यासों को एक नया रूप प्रदान किया। आज गुजराती जगत् में जो साक्षात् क्रान्ति की

घटनाएं घट रही हैं और जिनसे कई कुटुम्बों में खलबली भी मच गई है उनके बीज १६१५ के बाद के सामाजिक उपन्यासों में मिल सकेंगे। लग्न की प्राचीन भावनाओं को नष्ट-भ्रष्ट करके उनके स्थान पर नवीन भावनाओं को जन्म देने में इन उपन्यासों का बहुत बड़ा हाथ है। कुमारिकाओं, परिणिताओं, त्यक्ताओं और विधवाओं के प्रति जो सहानुभूति इन उपन्यासों में चित्रित की गई है उसका प्रतिबिंब बाद के सामाजिक जीवन में स्पष्टरूप से झलकता हुआ दिखाई देता है। हमारे उपन्यासों पर जिस प्रकार पश्चिम की साहित्यिक कला का प्रभाव है उसी प्रकार वहां के सामाजिक जीवन और लौकिक विचारधारा का भी पूरा प्रभाव है। इन सबका हमारी कथाओं में प्रवेश हुआ और न्यूनाधिक अंश में हमारे लौकिक जीवन पर भी असर हुआ। देहलग्न और आत्म-लग्न की पति-पत्नी की विचारधारा का हमारे सामाजिक जीवन पर भी व्यापक प्रभाव पड़ा है।

विवाह, प्रेम और दांपत्य संबंधित उपन्यासों के साथ ही साथ सामाजिक जीवन की अन्य समस्याओं से संबंध रखनेवाले उपन्यास भी लिखे गए। इन पर १६३० के आस-पास की नवजाग्रति से पैदा हुई उदात्तता का प्रभाव दिखाई देता है। इनके अलावा तीसरे प्रकार के उपन्यास वे हैं जिनमें राष्ट्रिय भावनाएं व्यक्त एवं उत्तेजित हुई हैं। उनमें सामा-जिक भूमिका पर राष्ट्रिय विचारधारा की स्थापना की गई है। ग्रामोद्धार और ग्रामीण समाज से संबंधित कुछ उपन्यास इसी कोटि के हैं। राष्ट्रिय जाग्रति ने जिस नवसमाज-रचना और आदर्श-मानवता की स्थापना के बीज बोए उनसे प्रेरित एवं सिंचित अनेक उपन्यास १६२७ और १९५० के बीज लिखे गए। १६५१ के आसपास के उपन्यासों में युद्धोत्तर जीवन की विषमताओं और सामाजिक-नैतिक जीवनस्तर के निर्माण के लिए मंथन होता हुआ नजर आता है।

सामाजिक उपन्यास एक समय ऐसी कथाएँ मानी जाती थीं जिनमें लेखक को अपनी मनस्वी तरंगलीला करने की पूरी छूट थी। इस प्रकार की कृतियां प्रतिवर्ष काफी संख्या में निकलती और पाठकों के हृदयों में सामाजिक उपन्यासों के प्रति प्रतिष्ठा कम होती जाती। लेखक की तरंगों को वह स्थान नहीं मिल सकता जो जीवन की यथार्थता को मिलता है, इसका भान होते ही 'कालरात्रिनुं खूनी खंजर' की कोटि के अनेक उपन्यास अंधकार में विलीन हो गए। उनके स्थान पर जीवन की वास्तविकता को स्पर्श करने वाली कृतियां निर्मित हुईं।

अन्तिम तीस वर्ष के उपन्यासकार और उनकी कृतियों का संक्षेप में उल्लेख करने से गुजराती सामाजिक उपन्यास-साहित्य की समृद्धि की ठीक ठीक कल्पना हो सकेगी।

क० मा० मुंशी के सामाजिक उपन्यासों में मुख्य हैं: 'वेरनी वसुलात', 'कोने वांक ?' और 'स्वप्नद्रष्टा'। 'स्वप्न द्रष्टा' में बंगभंग के समय के गुजरात का चित्रण है उसके ही अनुसंधान में है—'शिशु अने सखी'।

रमणलाल व० देसाई ने १६२५ के बाद बीस वर्ष में सामाजिक उपन्यास की समृद्धि में अच्छा योग दिया है। 'जयंत', 'शिरीष', 'कोकिला', 'हृदयनाथ', 'स्नेहयज्ञ', 'पूर्णिमा', 'दिव्यचक्षु', 'बंसरी', 'ग्रामलक्ष्मी', 'हृदयविभूति', 'छायानट', 'झंझावात', 'सौंदर्य ज्योत'

आदि इनकी कृतियां हैं। वर्तमान काल प्रवाह को स्पर्श करने वाली समस्याओं को कथारूप में परिणत कर लेने की क्षमता के कारण कुछ समीक्षक उन्हें 'युगमूर्ति उपन्यासकार' भी कहते हैं।

स्व० झवेरचंद मेघाणी का लोक-साहित्य का सम्पादन और कुछ काव्य-लेखन उनकी साहित्याराधना का सिरमौर है। यही कारण है कि गुजराती जनता ने उन्हें 'राष्ट्रिय शायर' के रूप में माना है। उनके सामाजिक उपन्यासों में मुख्य हैं: 'सत्यनी शोधमां', 'निरंजन', 'वसुंधरानां वहाल:—दवलां', 'वेविशाल', 'तुलसीक्यारो', 'अपराधी' आदि। जनता के मानस का, उसके व्यक्ताव्यक्त भावों का, आशा-निराशा का, सद्‌गुण-दुर्गुण का प्रतिबिंब जैसा अपने समभावशील हृदय पर पड़े वैसा ही उपन्यास में चित्रित करना, यह उनकी यथार्थवादी कला की आत्मा थी।

चुनीलाल व० शाह के उपन्यासों में लगभग आधे ऐतिहासिक उपन्यास हैं और आधे सामाजिक। इनके उपन्यास बहुधा प्रश्नप्रधान होते हैं। एक कथा में एक प्रश्न की सारी बाजुओं को पात्रों अथवा घटनाओं द्वारा प्रस्तुत करके कथा की अंतर्ध्वनि की अभिव्यक्ति की जाती है। इनकी कृतियां मुख्य रूप से विवाह-प्रेम और प्रेम-विवाह, नवीन नारीत्व, संयुक्त कुटुम्ब, यथार्थ जीवन, जीवन-नवनीत पर लिखी गई हैं। 'तपोवन', 'जिगर अने अमी', 'प्रणय अने परिणय', 'विषचक्र', 'विकास', 'भस्मरेखा', 'वर के पर ?', 'छाश अने माखण' आदि उनकी मुख्य सामाजिक कृतियां हैं।

'धूमकेतु' (गौरीशंकर गो० जोशी) का ऐतिहासिक उपन्यास-लेखन और कहानी लेखन विशाल है। उनका सामाजिक उपन्यास-लेखन सीमित है। 'पृथ्वीश', 'राजमुगट' 'पराजय' और 'अजिता' इनकी मुख्य कृतियाँ हैं। उनके मुख्य पात्र बहुधा भावनाशील और मस्त प्रकृति के होते हैं।

गुणवंतराय आचार्य के सामाजिक उपन्यास बहुधा प्रश्नावलंबी होते हैं। इनका प्रश्न किसी विलक्षण क्रांति को स्पर्श करने वाला होता है। उनकी मुख्य कृतियाँ हैं:— 'गोरख आया', 'कोरी किताब', 'पुत्रजन्म', 'माटीना पत्र', 'शायर', 'कोण गुन्हेगार ?' आदि।

ईश्वर पेटलीकर को जैसी सफलता कहानी-लेखन में मिली है वैसी ही सफलता उपन्यास कलामें भी प्राप्त हुई है। उनकी कृतियाँ मुख्य रूप से ग्राम्य-जीवन और नागरिक जीवन से संबंधित हैं। उनके मुख्य उपन्यास हैं:—'जनमटीप' 'धरतीनो अवतार', पंखीनों मेळो', 'पाताल कूवो' 'भवसागर', 'मारी हैया सगडी' 'मधलाळ', 'आशापंखी' इत्यादि।

चुनीलाल मडिया कहानी और नाटक-लेखन में तीव्रगति से आगे बढ़े हैं। उनका उपन्यास लेखन भी आशास्पद है। उनकी कृतियां हैं; 'व्याजनो वारस', 'पावक ज्वाला', 'इंधण ओछां पड्यां' और 'उजडेलो बाग'।

'सोपान' (मोहनलाल महेता) के उपन्यास यथार्थ मानव-जीवन को स्पर्श करते हुए तथा समाज की समस्याओं का समाधान करने वाले हैं। उनकी मुख्य कृतियां हैं: 'जागता रहेजो', 'प्रायश्चित्त', 'फूटेला सुवर्णपात्रो', 'प्रेम अने पुरुषार्थ', 'कन्यारत्न' आदि।

'दर्शक' (मनुभाई पंचोली) ने मानव-जीवन के मौलिक प्रश्नों को संशोधन-दृष्टि से देखकर उन पर अपनी कथा का आधार रखा है। उनके पात्र बहुधा भावनाशील होते हैं किंतु वे वास्तविकता की धरती पर पैर रख कर ही चलते हैं। उनकी मुख्य कृतियां हैं: 'प्रेम ने पूजा', 'झेर तो पीधां छे जाणी जाणी'।

रामनारायण ना० पाठक के सामाजिक उपन्यासों में मुख्य हैं: 'पचास वर्ष पछी', 'आवती काल', 'जगतनो तात', 'खांडानी धार' 'मातवताना मूल', 'साथी' आदि।

ठक्कुर नारायण विसनजी के सामाजिक उपन्यास प्राचीन शैली के तथा बहुधा क्लिष्ट भाषा वाले हैं। उनकी मुख्य कृतियां हैं; 'आजकालनो सुधारो', 'वीसमी सदीनी वसंत सेना,, 'आजकालनुं हिंदुस्तान', 'बालविधवा कल्याणी'।

हरजीवन सोमैया एक होनहार लेखक थे। उनके जीवन का असमय में अंत हो गया। उनकी मुख्य कृतियां हैं; 'जीवननुं झेर', पृथ्वीनो पहेलो पुत्र' और 'पुनरागमन'।

सामाजिक उपन्यास का क्षेत्र बहुत विस्तृत है। इस कला पर अन्य अनेक लेखकों ने अपना हाथ अजमाया है और न्यूनाधिक सफलता प्राप्त की है। उनमें से मुख्य लेखक और उनकी कृतियां ये हैं: 'खंडित कलेवरो' (निरंजन वर्मा), 'विभंगकथा' (दुर्गेश शुक्ल), 'माते मा' और 'लयला' (शयदा), 'अधूरु स्वप्न' (बचुभाई शुक्ल), 'सुभगा' (सीताराम शर्मा), 'पारकां जण्यां' (उमाशंकर जोशी), 'शोभा' (इंद्र वसावडा), 'आत्मानां तेज' (धनशंकर त्रिपाठी), 'क्रांति ने किनारे' (सनत्वीण), 'काठियावाडी राजरमत' (उछ-रंगराम ओझा), 'त्रण पाँखडीओ' (नीरु देसाई), 'मेघपंथ' (जयंती दलाल), 'दावानल' (छेलशंकर व्यास), 'अंधकार पर प्रकाश' 'लोहीनो वेपार' और 'धीकतो ज्वालामुखी' (साकरलाल कापडिया), 'भाई बीज' (धीरजलाल ध० शाह), 'उपमा' (बाबुभाई वैद्य), 'घरनो मोल' (पीतांबर पटेल), 'मालधारी' (रघुनाथ कदंब), 'हींचको' (चंदुलाल पटेल), 'लग्न प्रेम' (अंबालाल नृ० शाह), 'बीजल' (प्रेमशंकर भट्ट), 'सरी जती रेती' (यशोधर महेता); 'भणेली वहु' (दामुभाई शुक्ल)।

अनूदित सामाजिक उपन्यासों का प्रवाह पिछले बीस वर्ष से खूब जोरों से चल रहा है। बंगाली, मराठी, हिंदी और अंग्रेजी से अनेक उपन्यास अनूदित हुए हैं। किसी ने एक-दो तो किसी ने दस-बारह उपन्यासों का गुजराती में अनुवाद किया है। खासकर शरद्बाबू और रवींद्रनाथ टेगोर के कुछ उपन्यासों का नगीनदास पारेख ने अनुवाद किया है। रमणीकलाल दलाल ने सीतादेवी, शांतादेवी, बंकिम और टेगोर की कुछ कृतियों का अनुवाद किया है। माणेकलाल जोशी ने मुख्यरूप से टोल्स्टोय और प्रेमचंद के उपन्यासों का अनुवाद किया है।

सौरींद्र मोहन के उपन्यासों का मोहनलाल धामी ने रूपांतर किया है। शैलजानंद के उपन्यासों का नटवरलाल मालवी ने अनुवाद किया है। खांडेकर के उपन्यासों का रूपांतर करनेवाले गोपालराव विद्वांस हैं। साने गुरुजी के उपन्यासों का रूपांतर जयंत परमार ने किया है। बनफूल के उपन्यासों का अनुवाद करनेवाले श्रीकांत हैं। भोगीलाल गांधी ने साम्यवादी साहित्य में से चुनकर कुछ उपन्यासों का अनुवाद किया

है। विश्वनाथ भट्ट ने नथेनियल होथोर्न के एक उपन्यास का रूपान्तर किया है। इनके अलावा शरद्बाबू, टेगोर, बंकिम, टोल्स्टोय, जिब्रान, चेखोव, सारोयान, पर्लबक, आदि की कृतियों के अलग अलग लेखकों द्वारा अनुवाद किये गये हैं। ऐसा भी हुआ है कि किसी एक कृति का अनुवाद एक से अधिक बार भी अलग अलग लेखकों द्वारा हुआ है। उर्दू से अनूदित उपन्यास गुजराती में बहुत कम हैं।

उपन्यासों के बारे में एक विशेष बात यह है कि उनका पठन-वाचन बढ़ता जाता है और पाठक नई कृतियों की मांग करते जाते हैं। कहानी-लेखकों की अपेक्षा उपन्यास-लेखक कम हैं और उपन्यास के पाठकों की मांग अधिक है। इसका एक परिणाम यह हुआ है कि प्रकाशक इतर भाषाओं से अनुवाद करा के इस मांग की पूर्ति करते हैं। इससे उपन्यास का क्षेत्र समृद्ध होता जाता है, यद्यपि मौलिक और उच्चकोटि में आनेवाली कृतियों की संख्या सीमित ही रहती है।

मनोविनोद—हास्यरस

कविता और नाटक में रहे हुए हास्य-कटाक्ष से भिन्न प्रकार के हास्यरस का विकास भी गुजराती साहित्य में देखने को मिलता है। बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में प्रकाशित होने वाले 'भद्रंभद्र' (रमणभाई) का लक्ष्य पुरानी परंपरा की धार्मिकता, रूढ जीवन की कमियों तथा रूढ़ि के अंधे अनुयायियों पर कटाक्ष करना था। इनके 'हास्यमंदिर' में हास्य-प्रेरक कथाएं एवं प्रहसन थे। नरसिंह राव का 'उत्तर भद्रंभद्र' इसी दिशा में एक असफल प्रयत्न था। 'शोधमां' 'भद्रंभद्र' की पूर्ति रूप में एक कथानक मात्र है। स्थूल हास्य में परिणत होने वाले इस प्रकार के कुछ प्रयत्न इसके बाद भी हुए थे। सहचरीनी शोधमां' पात्रों तथा घटनाओं को अनुलक्षित करके लिखा गया स्थूल हास्य-निष्पत्ति का एक उपन्यास था। 'तात्यारावनुं तावीज' (सनत्कुमार वीण) चमत्कारिक हास्य उत्पन्न करता है। इसी प्रकार हास्य पैदा करने वाली, कुछ अन्य छोटी-मोटी कहानियां तथा घटनाचित्र लिखे गए हैं। मस्त-फकीर, बेकार, जदुराय खंधाडिया, जागीरदार, दालचीवडा (गोकुलदास रायचुरा), हरि-प्रसाद व्यास, बलदेव मोलिया, ओलिया जोशी, विनोद; अग्निकुमार आदि लेखकों का हास्यरसपूर्ण लेखन इसी कोटिका है। मस्तफकीर के 'हास्यरत्नों', 'हास्यविलास', आदि संग्रह, खंधाडिया के 'हास्यप्रकाश' आदि संग्रह ओलिया जोशी के 'आनंदनां ओघ', 'गांडानो गवारो' आदि संग्रह, 'दालचीवड़ा नो डायरो' आदि के अतिरिक्त इस प्रकारके दूसरे लेखकों के छोटे-बड़े संग्रह भी प्रकाशित हुए हैं।

दंशहीन तथा कटाक्ष से मुक्त मार्मिक लेखन द्वारा हास्य उत्पन्न करनेवाला साहित्य अन्तिम बीस वर्ष में ठीक ठीक मात्रा में प्रकाशित हुआ है। इसकी ओर रसिक पाठकों का आकर्षण भी अच्छा रहा है। इसकी मार्मिकता पात्र की मूर्खता अथवा त्रुटियों का स्पर्श किए बिना मानव की वृत्तिविशेष को अपने विनोद का विषय बनाती है। घटनाओं की अवास्तविकता अथवा कृत्रिमता के रहित, बिना किसी प्रकार की अतिशयोक्ति के निर्दोष हास्यरस उत्पन्न करना कुछ लेखकों की विशेषता है।

स्वैरविहारी (रा० वि० पाठक), ज्योतींद्र दवे, धनसुखलाल महेता, गगनविहारी महेता, धूमकेतु, नवलराम त्रिवेदी, निरंजन वर्मा, मूलराज अंजारिया, विनोदकान्त, मुनिकुमार भट्ट, चीनुभाई पटवा, बकुल त्रिपाठी, नकीर आदि लेखकों ने हास्यरस के साहित्य में अच्छा योगदान दिया है। स्वैरबिहारी 'स्वैविहार' में तर्कपटुता द्वारा हास्यरस पैदा करते हैं। उन्होंने कविता, भाषा और व्युत्पत्ति में भी स्वैरविहार करके बुद्धिप्रधान विनोद के प्रयोग किए हैं। ज्योतींद्र दवे के 'रंग तरंग' के पांच भाग, 'पानना बीडां', 'मारी नोंधपोथी', 'अल्पात्मानुं आत्मपुराण', 'रेतीनी रोटली' आदि संग्रहों में मुख्यतया निबंध के रूप में हास्यरस पैदा हुआ है। वे 'धर्म' से लगाकर 'चुनाव' तक के किसी भी विषय पर और अधिकतर 'मैं' को लक्ष्य करके विनोद की धाराएं बहाते हैं। उनका हास्य मार्मिक एवं बुद्धिप्रधान होता है। इसी प्रकार का बौद्धिक विनोद धनसुखलाल महेता की कृतियों में भी है। 'हुं सरला ने मित्र मंडल', पहेलो फाल' आदि इनके लेख-संग्रह हैं। जयेंद्रराव दूरकाल के 'अमी' आदि संग्रहों में छोटे छोटे रोचक निबंध हैं। विनोदकांत (विजयराम वैद्य) की 'नाजुक सवारी' में आत्मलक्षी विनोद भरा है। गगनविहारी महेता 'आकाशनां पुष्पों' में, धूमकेतु 'पाठगोष्ठि' में, नवलराम त्रिवेदी 'केतकीनां पुष्पो' और 'परिहास' में, निरंजन वर्मा 'सांबेलाना सूर' में, चीनुभाई पटवा 'पानसोपारी' में, नकीर 'हसताराम' में, मुनिकुमार भट्ट 'ठंडे पहोरे' में, मूलराज अंजारिमा 'टूंकुं ने टच' में मार्मिक विनोद की सामग्री उपस्थित करते हैं। स्थूल और मार्मिक-दोनों प्रकार के हास्य-विनोद के प्रयोग आज गुजराती पत्रों में हो रहे हैं। उनमें से कुछ पुस्तकाकार में परिवर्तित होकर इस प्रकार के दीर्घजीवी साहित्य में वृद्धि कर रहे हैं।

जीवनचरित्र

जीवनचरित्र में समाविष्ट होनेवाले साहित्य के अनेक प्रकार हैं: शुद्ध जीवन-चरित्र, जीवन-वृतांत, आत्मकथा, डायरी-पत्र-साहित्य आदि। जीवनचरित्र और आत्मकथा का साहित्य मुख्यतया अंतिम तीस वर्ष में समृद्ध हुआ है, ऐसा कहा जा सकता है। फिर भी इस प्रकार के लेखन का प्रारंभ तो दलपत-नर्मद युग से ही हो गया था। नर्मद ने खुद 'मारी हकीकत' लिखी। उसका प्रकाशन देर से हुआ किंतु वह वस्तुतः आत्मकथा ही थी। उसी प्रकार नवलराम कृत 'कवि-जीवन' कवि नर्मद का पहले लिखा हुआ जीवनचरित्र था। इस समय अपने अनुभवों का वृत्तांत ही आत्मकथा समझी जाती और जीवन की घटनाओं के वर्णन के साथ उनपर विशेष प्रकाश डालने वाले चरित्र-नायक के व्यक्तित्व का निदर्शन जीवनचरित्र कहा जाता। जैसे जैसे अंग्रेजी जीवन चरित्रों का अध्ययन बढ़ता गया वैसे वैसे गुजराती में इस प्रकार के साहित्य का विकास होता गया और चरित्र-लेखन की विविध शैलियाँ भी प्रचलित होती गयीं।

एक तरह से देखा जाय तो गुजराती में यह साहित्य विपुल है। दूसरी तरह से देखा जाय तो जीवनचरित्र का वास्तविक साहित्य मर्यादित है। इस की विपुलता का कारण यह है कि धर्म-संस्थापकों, संतों, भक्तों, पंडितों, साहित्यकारों, कलाकारों, वैज्ञानिकों, वीरों, ऐतिहासिक व्यक्तियों, दानवीरों, उद्योगपतियों, नेताओं, अग्रगण्य व्यक्तियों आदि अनेक

नर-नारियों के जीवन से संबंधित छोटी-बड़ी अनेक पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। उनमें से किसी में भावी पीढ़ी को मार्ग दर्शन कराने का शुद्ध आशय होता है तो किसी में अहंभाव दिखलाने का अथवा प्रशस्ति-कथा कहने का हेतु रहता है। कोई रेखाचित्र होता है तो कोई रस-कथा होती है। जीवनचरित्र में ही गिने जाने वाले ढेर के ढेर ग्रन्थों में से कुछ ही ग्रंथ जीवनचरित्र के साहित्य की कोटि में आने योग्य होते हैं, फिर भी चरित्र-लेखन के लिये कच्ची सामग्री की योग्यता रखनेवाले कुछ ऐसे वृत्तान्त अथवा विवरण भी होते हैं जिन्हें इस कोटि में लिया जा सकता है।

अर्वाचीन गद्य-साहित्य नर्मद से प्रारंभ होता है। नर्मद ने 'मारी हकीकत' लिखी थी किंतु दलपत ने तो अपने जीवन की कुछ बातें पद्य में गूँथी थीं। दलपत ने 'फार्बस विलास' लिखा, 'फार्बस विरह' लिखा किंतु फार्बस का जीवनचरित्र उनकी कलम से न लिखा जाकर मनसुख राम सूर्यराम की लेखनी से लिखा गया (१८६६)। नवलराम ने नर्मद का 'कविजीवन' लिखा, उसके बाद बीसवीं सदी के तीस वर्ष बीतने पर क. म. मुंशी ने 'नर्मदः अर्वाचीनों मां आद्य' और विश्वनाथ भट्ट ने 'वीर नर्मद' लिखे। 'करणघेलो' के कर्ता नंदशंकर का जीवनचरित्र उनके पुत्र विनायकनंदशंकर ने लिखा। 'सुज्ञ गोकुल जी' का चरित्र मनसुखराम सूर्यराम ने लिखा। 'दलपतरामनुं जीवनचरित्र' पहले काशी शंकर मूलशंकर ने लिखा और बाद में उनके पुत्र कवि नानालाल ने चार भागों में लिखा। नवलराम का जीवनचरित्र 'शुक्र तारक' नाम से विजयराम वैद्य ने थोड़े वर्ष बाद ही लिखा। गोवर्धनराम त्रिपाठी का जीवनचरित्र 'श्रीयुत गोवर्धनराम' उनके भागिनेय (भानजे) कांतिलाल पंड्या ने लिखा। 'भोलानाथ चरित्र' उनके पुत्र कृष्णराव ने लिखा। इस प्रकार जीवनचरित्रों के लेखन का प्रारंभ तो बहुधा कवियों—साहित्यकारों के जीवन-लेखन से हुआ था। इस काल से लगाकर गांधी जी के जीवन से संबंधित पुस्तकें लिखना प्रारंभ हुई तब तक जीवनचरित्र की अनेक पुस्तकें लिखी गई थीं। वे सभी गुण की दृष्टि से समान नहीं हैं तथापि सामग्री की दृष्टि से ध्यान देने योग्य हैं।

'दी० बा० अंबालालभाई' बलवंतराम क० ठाकोर ने लिखा है। 'वनस्पतिशास्त्री जयकृष्ण भाई' एक अच्छा प्रयत्न है। 'सर विट्ठलदास ठाकरसी' (कल्याणराय जोशी) 'करसनदास मूलजी', 'राजा छबीलाराम बहादुर', 'आशाराम दलीचंद', 'गोपालकृष्ण गोखले', 'महाराणी विक्टोरियानुं जीवनचरित्र' आदि गणनीय ग्रन्थ हैं। 'दयाराम नो अक्षरदेह' गोवर्धनराम त्रिपाठी की कृति है। 'स्व० सर रमणभाई' (सं० सुश्रुत नीलकंठ) चरित्रनायक के जीवनचरित्र की कच्ची सामग्री वाला एक लेख-संग्रह है। 'योगींद्र राव दीवेटिया' (शांतिलाल तोलाट) में इनके जीवन तथा अनुभव की अच्छी सामग्री है। 'लीलावती जीवनकला' (गोवर्धनराम त्रिपाठी) पुत्री के जीवन के निर्माण के लिए एक पिता द्वारा किए गए प्रयोगों की कथा है। 'श्रीमद राजचंद्र जीवनकला' (गोवर्धनभाई पटेल) और 'श्रीमदनी जीवनयात्रा' (गोपालदास जीवाभाई) श्रीमद् राजचंद्र के निष्ठापूर्वक लिखे गए जीवनचरित्र हैं। 'रामकृष्ण परमहंस' और 'स्वामी विवेकानंद' (डाह्याभाई रा० महेता) बंगाली से संपादित की हुई जीवन-कथाएं हैं। 'झंडु भटजी' (दुर्गाशंकर के० शास्त्री)

और 'नानभट्ट बापा' (डो० रसिकलाल) में प्रसिद्ध वैद्यशास्त्रियों की जीवन-कथाएँ हैं। 'पं० भगवान लाल इंद्रजी' एक प्रखर पुरातत्त्वविद् की जीवन कथा है। श्री 'स्वामी नारायण' 'स्वामी रामतीर्थ', 'श्री नृसिंहाचार्य जी' और 'दयानंद सरस्वती' सुप्रसिद्ध और तेजस्वी धर्माचार्यों की जीवन-कथाएँ हैं। 'दुर्लभ-जीवन' (शान्तिलाल व० शेठ) एक स्वावलंबी जैन नागरिक की कथा है। 'रत्न-जीवन-ज्योत' (चुनीलाल व० शाह) शतावधानी पं० मुनि रत्नचंद्रजी की जीवनकथा है। 'राजनगरनां रत्नो' अहमदाबाद के अग्रगण्य नागरिकों की संक्षिप्त जीवनकथाओं का संग्रह है। 'परशराम शेठ' सौराष्ट्र में पोटरी के उद्योग की नींव डालनेवाले उद्योगपति की जीवन-कथा है।

गांधीजी की आत्मकथा (१९२८–२९) के अतिरिक्त गांधीजी के जीवन पर छोटी-बड़ी अनेक पुस्तकें गुजराती में लिखी गई हैं तथा हिंदी-अंग्रेजी से अनूदित भी हुई हैं। 'गुफानुं कमल' गांधीजी के जीवन तथा जीवनकार्य से संबंधित विभिन्न गुजराती विद्वानों द्वारा लिखे गए निबंधों का संग्रह १९३० में प्रकाशित हुआ। एक हंगेरियन पत्रकार के लिखे हुए गांधीजी के जीवनचरित्र का अनुवाद भी इसी वर्ष 'तारणहार' के नाम से निकला। इसके बाद प्रकाशित होनेवाले 'गांधीजीनी साधना' (रावजीभाई मणीभाई) और 'बापु' (घनश्यामदास बिडला) ग्रन्थ गांधीजी के जीवनचरित्र के लिए एक दूसरे के पूरक हैं। 'जीवननुं परोढ' (प्रभुदास गांधी) में गांधीजी की विकास-कथा सुंदर ढंग से लिखी गई है। इनके अतिरिक्त 'गांधीजी : एक अध्ययन', 'बापुनी झांखी', 'बापुनी प्रसादी', 'गांधीजी नी सान्निध्यमां', गांधी अने ईशु' आदि अनेक पुस्तकें गांधीजी के जीवन तथा उनकी प्रवृत्तियों पर लिखी गईं।

जागृतिकाल और उसके बाद के काल में जीवनचरित्र के साहित्य का विकास काफी वेग से हुआ है। विशेषरूप से राष्ट्रनायकों के जीवन की ओर लेखकों तथा पाठकों—दोनों का ध्यान समान रूप से आकृष्ट हुआ है। इस प्रकार की कुछ कृतियों पर दृष्टिपात करें। 'बे खुदाई खीदमतगार' (महादेव देसाई), 'भारतसेवक गोखले' (जुगतराम दवे), 'नवजुवान सुभाष' (गुणवंतराय आचार्य), 'काठियावाडना घडवैया' (निरंजन वर्मा और जयमल्ल परमार), 'महासभाना प्रमुखो' (सोमाभाई पटेल), 'मो० महमदअली' (गरीब), 'सरदार वल्लभभाई' (नरहरि परीख), 'कीमियागरो' (यशोधर महेता), 'लोकमान्य तीलक, 'रविशंकर महाराजा', 'महाराज थया पहेलां', 'अमारां बा' (कस्तुरबा'), 'महादेव भाई नुं पूर्व चरित', 'मोतीलाल अमीन : जीवन अने कार्य', 'श्रीमंत सयाजीराव गायकवाड', 'सरदार पृथ्वीसिंहनुं जीवन चरित्र', 'देशभक्त भूलाभाई', 'केमीलो केवूर', 'वीर गेरीबाल्डी', 'प्रिन्स बीस्मार्क', 'वीर गार्फील्ड', 'मुस्तफा कमाल', 'अेडोल्फ हिटलर', 'अमानुल्लाह', 'पं० मोतीलाल नेहरू', 'मालवियाजी'; अंबालाल जोशीकृत 'राजाजी', 'महादेव भाई', 'राजेंद्रप्रसाद', 'टंडनजी' और 'डॉ० पटाभि'; 'आचार्य प्रफुल्ल चंद्र राय', 'अमर महाजनो', 'क्रोपोटकीननी आत्मकथा', 'बेरीस्टर सावरकर', 'केपटन लक्ष्मी', 'अरुणा आसफअली', 'विजयालक्ष्मी पंडित' आदि इस प्रकार की कृतियाँ हैं।

जीवनचरित्र के ग्रंथों का एक भाग ऐसा होता है जो विशेषतया साहित्य से संबंध रखता है। दूसरा विज्ञान-संबंधी होता है और तीसरा इतिहास से संबंध रखता है। ऐसे

जीवनचरित्र व्यक्तियों के होते हुए भी उनके जीवन-कार्यों के ही अंश-रूप होते हैं। पहले साहित्य-संबंधी जीवनचरित्रों की ओर दृष्टि डालें। 'कविचरित' और 'आपणा कविओ' (केशवराम के० शास्त्री) में अपभ्रंश-काल से लगाकर प्राचीन गुजराती-काल तक के कवियों के जीवनचरित्र हैं। 'आपणा साक्षररत्नो' में अर्वाचीन युग के विद्वानों की संक्षिप्त जीवनी है। 'ग्रंथ अने ग्रंथकार' के दस ग्रंथों में पांचसौ से अधिक मृत और विद्यमान गुजराती ग्रंथकारों का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। यह कृति जीवनचरित्र के साहित्य की गुजरात विद्यासभा कृत उत्कृष्ट उपासना है। इसके अतिरिक्त 'साहित्य ने ओवारेथी' (शं० गं० शास्त्री), 'हेमचंद्राचार्य' (धूमकेतु), 'कविवर रवींद्रनाथ' (कांतिलाल शाह), 'अमारा गुरुदेव : विजयधर्म सूरि' (सुशील), 'सागर : जीवन अने कवन' (योगेंद्र त्रिपाठी), 'मणिभाई नभुभाई' (अम्बालाल पुराणी) 'रमणभाई' (बिपिन झवेरी), 'आचार्य आनंदशंकर भाई' (रतिलाल मो० त्रिवेदी), 'भालण, उद्धव अने भीम' (रामलाल मोदी), 'कवि शामळ' आदि चरित्र-ग्रंथ साहित्य-क्षेत्र को स्पर्श करते हैं।

'भारतना वैज्ञानिको' (रेवाशंकर सोमपुरा) में चरक-सुश्रुत से लगाकर रमण तक के वैज्ञानिकों के जीवनचरित्र हैं। 'आपणा विज्ञानवेत्ताओ' (कांतिलाल छ० पंड्या) में वर्तमान भारत के महान् वैज्ञानिकों के जीवनचरित्र हैं। 'विज्ञानना विधायको' (छोटालाल पुराणी) में अरिस्टोटल से लगाकर केल्वीन तक के वैज्ञानिकों की जीवन कथाएँ हैं। 'विभूति मंदिर' (अशोक हर्ष) में न्यूटन आदि आठ विदेशी और स्वदेशी मह नुभावों की जीवनकथाएँ हैं। 'वैज्ञानिक जगत', 'महान वैज्ञानिकों', 'मेडम क्यूरी', 'लुई पाश्चर' आदि वैज्ञानिकों की छोटी-बड़ी जीवन रेखाएँ प्रस्तुत करते है।

'छत्रपति शिवाजी' (वामन मुकादम), 'हझरत मुहम्मद' (इमाम साहेब), 'झांसीनी राणी' 'साहसिक सोदागरो' आदि अनेक चरित्रग्रंथ इतिहास से संबंध रखते हैं।

नर्मद ने 'मारी हकीकत' लिखकर गुजराती साहित्य में आत्मकथा-लेखन का प्रारंभ किया और नारायण हेमचंद्र ने 'हुं पोते' लिखकर उसे चालू रखा किन्तु उसके बाद किसी साहित्यकार की आत्मकथा नहीं निकली। मणिभाई नत्रुभाई ने आत्मकथा लिखी किन्तु वह प्रकाशित नहीं हुई। गांधीजी की आत्मकथा 'सत्यना प्रयोगो' दो भागों में निकली उसके बाद इस प्रकार के लेखन को विशेष बल मिला, ऐसा कह सकते हैं। विशेषकर अन्तिम दस वर्ष में इसमें विशेष वृद्धि हुई है। 'स्मरणयात्रा' काका कालेलकर के जीवनस्मरण हैं जिनका जीवनकथा से भी अधिक महत्त्व है। क० मा० मुंशी ने 'अडधे रस्ते', 'सीधां चढ़ाण' और 'स्वप्नसिद्धिनी शोधमां' में आत्मकथा लिखी हैं। इसके बाद दूसरी आत्मकथाएं लिखी गई वे भी साहित्यकारों की ही थीं। 'आथमते अजवाले' (धनसुखलाल महेता), 'जीवनपंथ' (धूमकेतु) 'गइकाल' (र० व० देसाई), 'पंचोतेरमे' (ब० क० ठा०), 'में पांखो फफडावी' (तनसुख भट्ट), 'बांध गठरियां' (चंद्रवदन महेता) ये सब साहित्यकारों की ही आत्मकथाएं हैं। साहित्यकारों में दृष्टि और लेखनी की शक्ति दोनों का सुन्दर समन्वय होता है। इसलिए इन कृतियों में विशेषता नजर आती है। 'जीवनना झरणां' रावजीभाई पटेल की आत्मकथा है। यह 'सत्यना प्रयोगो' की शैली पर है जब कि दूसरी आत्मकथाएं विशेषकर कथारस का पोषण करनेवाली हैं।

अंग्रेजी और हिंदी से अनूदित दो सुन्दर आत्मकथाएं हैं: पं० जवाहरलाल की 'मारी जीवनकथा' और बाबू राजेंद्रप्रसाद की 'आत्मकथा'।

'डायरी' अथवा 'दैनंदिनी' आत्मकथा का ही एक अंग है। यह साहित्य का कितना महत्त्वपूर्ण अंग बन सकती है यह 'महादेव भाईनी डायरी' के प्रकाशित भागों से जाना जा सकता है। इस डायरी का पठन-वाचन रसप्रद सिद्ध हुआ है। यह डायरी एक तरह से गांधीजी के विचारों का सुंदर संग्रह है। 'दिल्ही डायरी' में गांधीजी के अंतिम जीवनकाल के १३६ प्रार्थना-प्रवचन हैं। 'नरसिंहरावनी रोजनिशी' पर उनके साहित्य और संस्कृत जीवन की गहरी छाप है।

डायरी की भांति पत्र-साहित्य भी लेखक के जीवन दर्शन की अपरिपक्व सामग्री के रूप में हमारे सामने आता है। 'कलापीनी पत्रधारा' वर्षों पहले निकली किंतु कलापी के संपूर्ण निष्पक्ष जीवन के लिखने में उसका उपयोग नहीं हुआ। 'कांतनी पत्रधारा', 'कलांत कवि' और 'सागर' के पत्र भी प्रकाशित हुए हैं। अंतिम कुछ वर्षों में 'आश्रमनी बहनोने' (गांधीजी), 'श्री नेत्रमणि भाईने' (कालेलकर), 'भिक्षु अखंडानंदजीना पत्रो', 'मेघाणीना पत्रो' और 'अंबुभाईना पत्रो' पुस्तकाकार में प्रकाशित हुए हैं।

निबंध और लेखसंग्रह

व्यवस्थित गुजराती गद्य साहित्य नर्मद के समय से शुरू हुआ। इसके पूर्व पद्य साहित्य ही विशेष-रूप से ग्रंथबद्ध होता था। उनके पहले भी मासिक पत्र आदि निकलते थे इसलिए गद्य का लेखन तो था ही किंतु साहित्यगुणोपेत गद्य का प्रारंभ मुख्यरूप से नर्मद ने ही किया, ऐसा मालूम होता है। उन्होंने अनेक विषयों पर निबंध-लेख लिखे। इनका संग्रह 'नर्म गद्य' के नाम से सर्वप्रथम ई० १८६५ में प्रकाशित हुआ। इस काल से लगाकर बीसवीं सदी के प्रारंभिक तीस वर्षतक गुजराती गद्य और निबंध-लेखन कितना विकसित हुआ है इसकी कल्पना विश्वनाथ भट्ट द्वारा संपादित 'निबंधमाला' और नवलराम त्रिवेदी तथा अनंतराय रावल द्वारा संपादित 'बुद्धिप्रकाश-लेखसंग्रह' देखकर की जा सकती है। 'मणिलालनी विचारधारा' और 'मणिलालना त्रण लेखो' से भी इसका अनुमान लगाया जा सकता है। इन ग्रंथों में साहित्य-विवेचन, समाज-विवेचन, इतिहास-शिक्षण, लोक-जीवन, धर्म-तत्त्वज्ञान, विज्ञान आदि सभी विषयों के प्रतिनिधिरूप निबंधों का संग्रह किया गया है।

जिस प्रकार गद्यलेखन के प्रारंभ के पूर्व साहित्य में काव्य का प्राधान्य था उसी प्रकार गद्य के प्रारंभ के पश्चात् कल्पना-प्रधान साहित्य का प्राबल्य था। इसीलिए गद्यलेखन की रुचिवाले लेखक कहानी, नाटक, उपन्यास लिखने की ओर विशेष झुके। दूसरा लेखक-वर्ग पौराणिक कथा-आख्यान लिखने में तथा तत्त्वज्ञान के ग्रंथों का सरल गुजराती में रूपांतर करने में लगा हुआ था। अंग्रेजी शिक्षा से प्रभावित नव-विचारक लोगों को पुरानी रूढ़ियों से मुक्त करना चाहते थे। वे अंधविश्वास दूर करने के विषय में, भूत-प्रेत की मिथ्या मान्यता मिटाने के विषय में, कन्या-विक्रय—वर-विक्रम के विरोध में, मृत्युभोज के विरोध में,

स्त्री-शिक्षा के प्रचार के विषय में उपदेशप्रद निबंध लिखते। उनकी छोटी छोटी पुस्तिकाएँ निकलतीं। लोग उन्हें बड़े चाव से पढ़ते। मनसुखराम सूर्यराम के 'अस्तोदय' और 'स्वाश्रय' इस काल के सरस निबंध थे। इसी प्रकार के अन्य महत्त्व के निबंध 'सुदर्शन गद्यावलि' और 'नवल ग्रंथावलि' संग्रहों में दिखाई देते हैं। मणिशंकर रत्नजी का 'शिक्षणनो इतिहास' इस काल का उत्तम निबंध है। इसके बाद लगभग बीस वर्ष बीतने पर गोवर्धनराम त्रिपाठी का उच्चकोटि का निबंध ग्रंथ 'साक्षर जीवन' निकला (१९१९)। बाद में अध्ययन के निष्कर्ष के रूप में तथा अध्ययन के योग्य छोटे-बड़े निबंध, विवेचन, व्याख्यान, आदि विशेष रूप से निकलने लगे, ऐसा प्रतीत होता है। इस समय पत्र-पत्रिकाओं में विवेचन और विद्वत्तापूर्ण लेख निकलते; किंतु इस प्रकार के लेख-संग्रह उस समय प्रकाशित नहीं हुए।

'साहित्यमंथन' तथा 'संबोधन' (कवि नानालाल), 'मध्य कालनो साहित्यप्रवाह' (साहित्य संसद), 'घरमां मोंटेसोरी' तथा 'डोल्टन पद्धति' (दक्षिणामूर्ति), 'स्वराज्य अने संस्कृति' तथा 'पोयणां' (प्रो० जयेंद्रराय दूरकाल), 'अनेकांतवादनी मर्यादा' तथा 'जैनदृष्टिए ब्रह्मचर्य विचार' (पं० सुखलाल जी), 'केलवणीना पाया' (किशोरलाल मशरूवाला)—इस प्रकार के कुछ निबंध १९२० से १९३० के बीच के काल में प्रकाशित हुए। उसके बाद इस प्रकार के लेखन तथा अध्ययन को विशेष प्रोत्साहन मिला। इस निबंध-लेखन के वर्गीकरण में विषय - वैविध्य बहुत दिखाई देता है। अपनी सुविधा के लिये हम इसके तीन विभाग करते हैं : विवेचन-अध्ययन, प्रवासलेखन और अन्य लेख।

विवेचन—अध्ययन

स्व० नरसिंहराव भोलानाथ के लेख-संग्रह मौलिक विचारों के लेखों से पूर्ण हैं। 'मनोमुकुर', 'स्मरण मुकुर', 'विवर्तलीला'—ये लेख-संग्रह आज के युग के साहित्य के अभ्यासियों के लिये महत्त्वपूर्ण हैं। इसी प्रकार के बहुमूल्य लेख हैं स्व० आनंदशंकर ध्रुव के 'साहित्य विचार', 'काव्यतत्त्व-विचार', 'विचार-माधुरी' और 'दिग्दर्शन' इनके लेख-संग्रह हैं। के० ह० ध्रुव के साहित्य संबंधी लेख-संग्रह का नाम 'साहित्य विवेचन' है।

ब० क० ठाकोर के विशेषकर कविता विषयक व्याख्यान और अध्ययन - विवेचन उनकी तीन पुस्तकों में संगृहीत हैं : 'नवीन कविता विषे व्याख्यानो', 'आपणी कविता समृद्धि' और 'विविध व्याख्यान'। रा० वि० पाठक के लेख-संग्रह हैं : 'काव्यनी शक्ति', 'साहित्य-विमर्श', 'अर्वाचीन काव्य साहित्यनां वहेणो' और 'आलोचना'। निबंध साहित्य में काका कालेलकर की देन विविध विषयों को स्पर्श करनेवाली एवं महत्वपूर्ण है। उसमें चिंतन की प्रधानता के साथ ही साथ रसमयता भी है। मुख्य रूप से साहित्य और अध्ययन को स्पर्श करनेवाले इनके लेख संग्रह है : 'जीवनसंस्कृति', 'जीवनभारती', 'जीवन विकास', 'जीवता तहेवारो', 'जीवननो आनंद'। इस महाराष्ट्रीय विद्वान् का गुजराती गद्य भी ओजस्वी है। धूमकेतु के गद्यमुक्तक तथा निबंध शैली के छोटे लेखों के संग्रह हैं : 'सर्जन अने चिंतन', 'रजकण', तुषारबिंदु', 'जलबिंदु' आदि। रमणलाल व० देसाई के अधि-

कांश साहित्य विषयक लेख-संग्रह हैं : 'साहित्य अने चिंतन', 'जीवन अने साहित्य' और 'गुजरातनुं घडतर' में से पांच व्याख्यान। अनंतराम रावल के विवेचन के लेख-संग्रह हैं : 'साहित्य विचार' और 'गंधाक्षत'; सुंदरम् का महत्त्वपूर्ण महानिबंध का ग्रंथ है 'अर्वाचीन कविता'। विश्वनाथ भट्ट के विवेचन-लेखों के संग्रह हैं : 'साहित्य-समीक्षा', 'विवेचन मुकुर' और 'निकषरेखा'। विष्णुप्रसाद त्रिवेदी के विवेचन-लेखों के दो संग्रह हैं : 'विवेचना' और 'परिशीलन'। इनका 'अर्वाचीन चिंतनात्मक गद्य' एक महत्त्व का अध्ययन है। स्व० झवेरचंद मेघाणी का लेख-संग्रह 'परिभ्रमण' हैं और अध्ययन हैं 'लोक-साहित्यनुं समालोचन' 'धरतीनुं धावण', 'चारणी-साहित्य' और 'पगदंडीने पंथे'। डोलरराय मांकड के 'काव्य-विवेचन' और 'ध्वनि-विचार' नामक दो ग्रंथ हैं। उमाशंकर जोशी का लेख-संग्रह है 'सम-संवेदन' और अध्ययन हैं : 'कलांत कवि' तथा 'अखो'। विजयराम वैद्य के दो ग्रंथ हैं : 'जूइ अने केतकी' और 'गुजराती साहित्यनी रूपरेखा'। मोहनलाल पा० दवे के संग्रह हैं : 'साहित्यकला', 'काव्यकला अने विवेचन' तथा 'रसपान'। व्योमेशचंद्र पाठकजी का संग्रह है 'पराग'। शंकरलाल गं० शास्त्री का संग्रह 'साहित्यदृष्टाने', मनसुखलाल झवेरी का 'थोडां विवेचनो', धनसुखलाल का संग्रह 'आरामखुरशीएथी', नवलराम त्रिवेदी के 'केटलांक विवेचन', 'नवां विवेचनो', 'शेष विवेचनो' और 'शामलनी वार्ता' विषयक अध्ययन; हीरा महेता का 'आपणुं विवेचन साहित्य', अतिसुखशंकर का 'आत्म विनोद', 'साहित्यप्रिय' (चु० व० शाह) का 'वघेकाशाई बनावट', प्रेमशंकर भट का 'मधुपर्क', पं० बेचनदास का महानिबंध 'गुजराती भाषानी उत्क्रांति' और गुजरात साहित्य सभा की कार्यवाही के १९२९ से १९५० तक के ग्रंथ वार्षिक साहित्य-समीक्षक के रूप में बहुमूल्य विवेचन-संग्रह है। केशव राम का० शास्त्री के अध्ययन तथा लेख हैं : 'भारतीय भाषासमीक्षा', 'अनुशीलन', 'अक्षर अने शब्द' तथा 'गुजराती भाषा अने लेखन'। 'हिमांशुविजयजीना लेखो' (विद्याविजयजी), 'साठीना साहित्यनुं दिग्दर्शन (डाह्याभाई देरासरी), 'भारतीय आर्यभाषा-हिंदी' (सुनीतिकुमार चटर्जी और भोगीलाल सांडेसरा), 'अर्धशताब्दीना अनुभव बोल' और 'मणिमहोत्सना साहित्यबोल' (कवि नानालाल), 'प्राचीन गुजराती साहित्यमां वृत्तरचना' (भोगीलाल सांडेसरा), 'गुजरातनी अस्मिता अने बीजा लेखो' (क० मा० मुंशी), 'साहित्य परामर्श', 'ग्रंथकार संमेलन व्याख्यानमाला', 'विद्या-विस्तार व्याख्यानमाला', 'साहित्य अने संस्कार', 'साहित्य अने प्रगति', 'जयंती व्याख्यानो', 'गुजराती साहित्यः तेनुं मनन अने विवेचन' (रामचंद्र शुक्ल), 'कलाचिंतन' (रविशंकर रावल), 'ललितकला अने बीजा साहित्य लेखो' (चैतन्य बाला मजूमदार), 'फार्बस सभा महोत्सव ग्रंथ', 'हेमसारस्वत सत्र', 'महावीर जैन विद्यालय महोत्सव ग्रंथ' और 'गुजराती साहित्य संमेलनेना अहेवालो'—यह सब गुजराती साहित्य की निबंध-विवेचन-अध्ययन-समृद्धि है।

प्रवास लेखन

प्रवास और तीर्थयात्रा करनेवालों के लिए कुछ उपयोगी संग्रह प्रकाशित हुए हैं। 'भारतनी तीर्थयात्रा', 'भारतनो भोमियो', 'हिंद पर्यटन', 'भूवैकुंठगमन', 'उत्तरयात्रा', 'उत्तर-ध्रुवथी', इंग्लेण्डनो प्रवास' आदि इसी प्रकार की पुस्तकें हैं। इनमें अधिकतर रेलमार्ग, मोटर-

मार्ग, पादमार्ग, स्थान विशेष की जानकारी, धर्मशालाओं की सुविधा, दर्शनीय स्थानों और देवालयों का परिचय आदि दिया हुआ होता है। निबन्धात्मक प्रवास-साहित्य का अंतिम पचीस-तीस वर्षों में विशेष विकास हुआ है। इसमें प्रवासोपयोगी बातों का विवरण नहीं होता अपितु प्रवासी के हृदय पर प्रवास की क्या छाप पड़ी है, इसका वर्णन रहता है। इस प्रकार के साहित्य का मूल्यांकन स्वाभाविक तौर पर उच्चतर है। इसमें दी हुई घटनाएं शुष्क न होते हुए रसप्रद होती हैं।

इस प्रकार के प्रवास-लेखों में कलापी का 'काश्मीरनो प्रवास' वीसवीं सदी के प्रारंभ में आकर्षक रहा। उसके बाद के प्रवास-लेखन में काका कालेलकर की रसप्रद कृतियां विशेष महत्त्व की हैं। उनकी कृतियां हैं: 'ओतराती दिवालो', 'ब्रह्मदेशनो प्रवास', 'लोकमाता', 'पूर्व आफ्रिकामां', 'रखडवानो आनंद', हिमालय की यात्रा की कुछ अच्छी पुस्तकें निकली हैं: 'हिमालयनो प्रदेश अने दार्जिलिंग' और 'स्मृति अने दर्शन' (रतिलाल मो० त्रिवेदी), 'हिमालयना पुण्य प्रदेशमां' (डुंगरशी संपट); 'पवित्र हिमालय नो प्रवास', 'हिमालयनुं पर्यटन' (हिंमतलाल तुनारा) 'मारी बिनजवाबदार कहाणी' क० मा० मुंशी की प्रवास-कथा है, 'कलाकारनी संस्कारयात्रा' चित्रकार रविशंकर रावल की प्रवास-कहानी है। 'दक्षिणायन' (सुंदरम्), 'दक्षिणयात्रा' (सुमति लल्लुभाई), 'काठियावाड थी कन्याकुमारी' (सुरगवाळा)-ये दक्षिण भारत की प्रवास-कथाएं हैं। 'पगदंडी', धूमकेतु की प्रवास-कथा है। इनके सिवाय अन्य महत्त्वपूर्ण प्रवास-कथाएं हैं: 'पावागढनो प्रवास अने अचलराज आबु' (धीरजलाल टो० शाह), कलाना धाममा बीस दिवस', 'पेशावर थी मोस्को' (महाजरीन) 'नेपाल तथा आसामभ्रमण', 'टूंके खर्चे युरोप केम जशो ?' (रतनशाह अचारीआ), 'आफ्रिकामां अगीयारमास' (नारायणजी डोसाणी), 'काला पाणी ने पेले पार' (रामनारायण ना० पाठक), 'दक्षिण भारतनां तीर्थधामो' (शान्तिलाल गांधी), 'भ्रमण' (रमेशनाथ गौतम), 'जय गिरनार' (चुनीलाल मडिया), 'रसदर्शन' (हरिप्रसाद देसाई), 'ईश्वरनी शोधमां' (स्वामी रामदास), 'नदीओ अने नगरो' (यशोधर महेता), 'सोरठ ने तीरे तीरे' और 'सोरठनां खंडेरोमां' (मेघाणी), 'गांधीजीनी युरोपयात्रा' (चंद्रशंकर शुक्ल), 'कैलास मान सरोवर दर्शन', 'गिरिराज आबु' (शंकरलाल परीख)।

अन्य लेखन

साहित्य और प्रवास के लेखों के सिवाय विविध विषयों को स्पर्श करने वाले अन्य निबंध हैं। इस प्रकार के मुख्य निबंध-ग्रंथों और लेख-संग्रहों की नामावली से इस वैविध्य का अनुमान किया जा सकता है।

'हिंदना सामाजिक जीवनमां स्त्रीनुं स्थान' (विद्यागौरी नीलकंठ और शारदा महेता), 'गुजरातनी लग्न व्यवस्था अने कुटुंब संस्था' (सरोजिनी महेता), 'समाज सुधारानुं रेखादर्शन (नवलराम त्रिवेदी); 'अहिंसा', 'गोसेवा' वर्णव्यवस्था' और 'सो टका स्वदेशी' (गांधीजी), 'गोसंवर्धन' (चंद्रशंकर जोशी), 'सत्याग्रहनी मीमांसा' (मगनभाई देसाई) 'जीवन चर्चा' (गुजरात विद्यापीठ), 'राज्य अने राजकरण' (हरकांत शुक्ल), 'शिक्षण

अने संस्कृति' तथा 'ग्रामरचना' (रविशंकर महाराज), 'समाजवाद अने सहकार द्वारा सर्वोदय' (जगन्नाथ देसाई), 'लग्न के प्रपंच ?' (नरसिंह भाई पटेल), 'गुजरात मां संगीत नु ं पुनरुज्जीवन' (पुरुषोत्तम गांधी), 'केलवणी नी पगदंडी' (नानाभाई भट्ट), 'आत्म रचना' (जुगत राम दवे), 'जगतनी धर्मशाळामां' (जयसुखलाल कृ० महेता), 'साबरमती' (गांधीजी, के० ह० ध्रुव आदि), 'सौरभ' (पुरुषोत्तम चौहाण), 'पथिकना पुष्पो' (अंबालाल पुराणी), 'नवो आचार नवो विचार' (हरभाई त्रिवेदी), 'सहशिक्षण' (रणजीत भाई पटेल), 'जीवनप्रवाह' (ईश्वरभाई दे० पटेल), 'यंत्रनी मर्यादा' (नरहरि परीख) 'दृष्टि परिवर्तन', 'लग्न सुख' आदि।

चिंतन और दर्शन

चिंतन और तत्वज्ञान से पूर्ण गुजराती साहित्य विपुल है। धर्मप्राण भारत में वेद-काल से लगाकर उपनिषद तथा आगम पर्यंत चिंतन तथा तत्त्वदर्शन का प्रबल प्रवाह चल रहा था। उसकी धाराएँ गुजरातीभाषाभाषी जनता में भी बहती रही हों इसमें कोई आश्चर्य नहीं। फिर भी चिंतन तथा दर्शन का गुजराती साहित्य तो वही समझा जाएगा जो गुजराती लेखकों के गहरे अध्ययन और प्रतिभा का फल है। धर्म के परंपरागत ग्रंथ, भाष्य अनुवाद; टीकाएँ तो प्रत्येक भाषा में जिज्ञासुओं तथा मुमुक्षुओं के उपयोग के लिये प्रकाशित होते ही रहते हैं किंतु इनका अध्ययन करके उनके निष्कर्ष को नवीन रूप देनेवाले विद्वान् बहुत कम होते हैं और उनमें भी लेखन द्वारा उसे ग्रंथबद्ध करने की जिज्ञासावाले तो और भी कम हैं। इसलिये वैसी साहित्य-कृतियां भी सीमित ही होती हैं।

नरसिंह आदि प्राचीन कवि भक्त तथा चिंतक थे। उन्होंने अपने अपने दर्शन को कविता में उतारा है। वैसे ही पिछली सदी के कुछ कवियों ने कविता में और विद्वानों ने गद्य में भी तत्वज्ञान की चर्चा की है। अखो, भोजो, दयाराम के समान ही एकैश्वरवादी भोलानाथ साराभाई थे जिनकी ईश्वरनिष्ठा उनके प्रार्थना के पद्यों में दिखाई देती है। उसके बाद के काल में न्यायदर्शन का एकाध ग्रंथ व्रजलाल कालिदास शास्त्री द्वारा लिखा गया। उसके बाद दर्शन का पहला उत्तम ग्रंथ 'सिद्धांतसार' मणिलाल नभुभाई ने लिखा। गोवर्धनराम त्रिपाठी कृत 'दयाराम नो अक्षरदेह' जीवनचरित्र होते हुए भी तत्त्वचिंतन का एक सुंदर ग्रंथ है। नरसिंह राव की 'स्मरणसंहिता' इसी कोटि का काव्यग्रंथ है। इस काल के राजकीय पुरुष जैसे मनसुखराम सूर्यराम, रणछोड़ भाई उदयराम, दीवान रणछोड़जी, हरिदास विहारीदास, गगा ओझा, मोतीचंद तुलसीदास, पुरुषोत्तमराम झाला, अमृतलाल बक्षी, कल्याणराम बक्षी—ये सब देशी राज्यों के कार्यभार से दबे रहते हुए भी वेदांत और धर्म साहित्य का चिंतन करनेवाले विद्वान् थे। कोई इस विषय में लिखता, कोई नहीं लिखता, किसी के पत्र व्यवहार में तत्त्वचिंतन दिखाई पड़ता किंतु उनके जीवन में अपने व्यवसाय से भिन्न प्रकार की इस अध्ययन वृत्ति को स्थान अवश्य था। इस अध्ययन वृत्ति से निष्पन्न चिंतन के फलस्वरूप अनेक ग्रंथ भी विद्वानों ने लिखे हैं—बेरिस्टर मगनभाई चतुरभाई पटेल ने 'उपनिषद ज्योति' और 'गीता ज्योति' लिखे। नर्मदाशंकर देवशंकर महेता ने 'उपनिषद विचारणा' और 'शाक्त संप्रदाय' हिंद तत्त्वज्ञानना इतिहास' आदि लिखे। मोतीलाल

घोडा ने 'भक्तिरसायन' और 'ऋग्वेद संहिता' लिखे। उत्तमलाल के० त्रिवेदी ने लोकमान्य तिलक के 'गीतारहस्य' का गुजराती में अनुवाद किया। कमलाशंकर प्रा० त्रिवेदी ने 'शांकर भाष्य', आनंद शंकर ध्रुव ने 'श्रीभाष्य' और जेठालाल गो० शाहने 'अणुभाष्य' दिया। इस क्षेत्र के दूसरे विख्यात लेखक श्री नृसिंहाचार्यजी, छोटालाल जीवनलाल, जे० जे० कणिया, कौशिकराम महेता, वाड़ीलाल मोतीलाल शाह थे। गुजराती साहित्य के चिंतन-दर्शन के लेखकों द्वारा स्थापित इस परंपरा के फलस्वरूव आज भी इस विषय के ग्रंथ ऐसे विद्वान् लिख रहे हैं जिनके व्यवसाय क्षेत्र और अध्ययन–चिंतन क्षेत्र के बीच भारी अंतर दिखाई देता हैं।

बीसवीं सदी ज्यों-ज्यों आगे बढ़ने लगी और विदेशी ज्ञान-विज्ञान का संपर्क बढ़ने लगा त्यों-त्यों चिंतन तथा दर्शन का क्षेत्र बढ़ता गया। धर्म और तत्त्वज्ञान ही दर्शन के विषय न रहे अपितु विविध विषय उसकी कसौटी पर चढ़ने लगे और नवविचार का प्रवाह छोटी-बड़ी पुस्तकों के रूप में बहने लगा। चिंतन–दर्शन संबंधी महत्त्वपूर्ण पुस्तकों तथा लेखकों की नामावली से ही इस बात का पता लग सकता है—

'आपणो धर्म (आनंदशंकर ध्रुव), 'धर्म अने समाज' (रमणभाई महीपतराम), 'नीतिशास्त्र प्रवेश' (गोरधनदास अमीन); 'जीवन शोधन', 'समूली क्रांति', और 'संसार अने धर्म' (किशोरलाल मशरूवाला), 'स्वदेशी समाज' (रवींद्रनाथ टेगोर: नगीनदास पारेख), 'कर्मयोग' (मथुरादास त्रीकमजी), 'विवेक अने साधना' (केदारनाथजी); 'अनासक्ति योग', 'धर्म मंथन' और गांधी विचारदोहन' (गांधीजी), 'मृत्युना म्होंमां' और 'मायानी छायामां' (वा० मो० शाह), 'अध्यात्मजीवन' और 'योगजीवन' (जिनराजदास), 'हिंदी संस्कृति अने अहिंसा' (धर्मानंद कोसंबी), 'कल्की' (डो० राधाकृष्णन्) 'पूर्णयोग-नवनीत (अरविंद: अंबालाल पुराणी), 'कर्मनो नियम' (हरजीवनदास महेता) 'उच्च जीवन' (नोशाकरी पीलां), 'शुद्धाद्वैत सिद्धांतप्रदीप' (स्व० मगनलाल शास्त्री), 'देश अने काल' (स्वामी माधवतीर्थ), 'ज्ञान अने कर्म' (स्वामी अद्वैतानंद), 'मोत पर मनन' (प्रो० दावर), 'ज्ञानयोगी चंदुभाई' (नारुशंकर भट्ट), 'थोडांक अर्थ-दर्नंनो' (रतिलाल मो० त्रिवेदी), 'योग अने तेनां लक्ष्यो' और 'जगन्नाथनो रथ' (अरविंद: सुंदरम्), 'जीवन दृष्टि' (विनोबा भावे), 'धर्मोनुं मिलन' (राधाकृष्णन्), 'ईश्वरनो इनकार' (नरसिंहभाई पटेल) आदि कुछ मुख्य दार्शनिक कृतियां हैं।

दर्शन के क्षेत्र में जैन विद्वानों का योगदान भी प्रशंसनीय है। आगमों का अनुवाद मध्यकाल के संस्कृत-प्राकृत ग्रन्थों का विवेचन और अनुवाद जैनमुनियों तथा पंडितों ने काफी मात्रा में किया है। अरूढ़ शैली का चिन्तन कम प्रमाण में है। इस क्षेत्र में पं० सुखलालजी 'तत्त्वार्थ सूत्र', 'अध्यात्मिक विकासक्रम' इत्यादि), अमरविजयजी (तत्वत्रयी मीमांसा), गोपाळदास जीवाभाई (मुख्यतया आगमों के आधार पर लिखे गए 'महावीर कथा', 'भगवतीसार', पाप-पुण्य-संयम' आदि), दलसुख मालवणिया ('गणधरवाद'), मनसुखलाल की. महेता ('दानधर्म पंचाचार'), पं० रत्नचंद्र जी ('कारण संवाद', 'सृष्टिवाद अने ईश्वर' आदि), भोगीलाल सांडेसरा ('वस्तुपालनु विद्यामण्डल') आदि लेखक मुख्यरूप से

उल्लेखनीय हैं। सांप्रदायिक दृष्टि को एक ओर रखकर स्वतन्त्र चिंतन का अनुगमन जैन विद्वानों में अभी खिलती हुई कली के रूप में है।

संशोधन

शिलालेख, ताम्रपत्र, दानपत्र, चारण-भाट की बहियों में लिखा हुआ इतिहास, पुरातत्त्व की अन्य सामग्री, कण्ठस्थ साहित्य, प्राचीन हस्तलिखित साहित्य—इन सबका संशोधन एवं सुव्यवस्थित सम्पादन करके लोकोपयागी ग्रंथाकार के रूप में प्रकाशित करने का रस गुजरात के विद्वानों में बहुत देर से पैदा हुआ। फार्बस ने कवि दलपतराम को साथ रखकर गुजरात का इतिहास लिखने की कच्ची सामग्री एकत्र करके 'रासमाला' के दो ग्रंथ तैयार किए। इसी प्रकार कर्नल टोड ने 'राजस्थान' का इतिहास तैयार किया। उन्नीसवीं सदी के अन्तिम वर्षों में दीवान रणछोड़जी अमरजी ने 'सोरठी तवारीख' पुस्तक फारसी में लिखी जिसके अंग्रेजी तथा गुजराती अनुवाद भी निकले। इसके बाद 'सौराष्ट्रनो इतिहास' नामक पुस्तक भगवानदास संपतराम ने लिखी।

इतिहास-संशोधन और लेखन का वास्तविक रस तो गुजरात में गांधीजी के आगमन के बाद अहमदाबाद में 'पुरातत्त्वमंदिर' की स्थापना होने पर ही उत्पन्न हुआ, ऐसा कहा जा सकता है। इसके पूर्व कवि दलपतराम ने 'रत्नमाला' का संशोधन-संपादन किया और 'गुजरातनी जूनी वार्ताओ' लिखकर प्रकाशित की। इसी प्रकार भगवानलाल इंद्रजी ने ठीक प्रमाण में पुरातत्त्व-संशोधन किया। किंतु इस प्रकार का संशोधन रस तो विशिष्ट व्यक्तियों तक ही सीमित रहा। इस प्रकार का कार्य राज्याश्रय के बिना नहीं हो सकता क्योंकि इसके पीछे काफी खर्च रहता है। दूसरी बात प्राचीन वस्तुएं अथवा प्राचीन हस्तलिखित साहित्य जिनके पास होता है वे राज्याधिकारियों के सिवाय दूसरों को देते भी नहीं हैं। ऐसी स्थिति में संशोधन-कार्य में स्वाभाविक रस रखनेवाले भी हतोत्साह हो जाते हैं।

ऐसी परिस्थिति में अंग्रेजों द्वारा किए गए संशोधन ही गुजराती इतिहास-लेखन के मुख्य साधन बने। पाठशालाओं के लिए लिखी गईं इतिहास की पाठ्यपुस्तकें भी इसी प्रकार के इतिहास के आधार पर निर्मित हुईं। नर्मद ने 'राज्यरंग' के दो भाग लिखकर सीमित इतिहास का निर्माण किया किंतु उसमें संशोधन का विशिष्ट रस न था। वह केवल देशोन्नति का उत्साह था।

संशोधन और संपादन द्वारा गुजराती साहित्य में इतिहास-पुरातत्त्व के साहित्य का प्रवेश हुआ है और उसी प्रकार कुछ प्राचीन हस्तलिखित और कंठस्थ साहित्य भी हमारे सामने आया है। इन दोनों शाखाओं के कुछ ग्रंथ ऐसे हैं जो केवल संशोधन-संपादन के ही फल के रूप में नहीं हैं अपितु जिनमें लेखक की प्रतिभा को प्रकट करनेवाला नवसर्जन भी है। कुछ ग्रंथ ऐसे भो हैं जो केवल कच्ची सामग्री के रूप में हैं और जिनका भविष्य में अच्छा उपयोग हो सकता है।

इतिहास

गुजरात वर्नाक्युलर सोसाइटी (वर्तमान 'गुजरात विद्या-सभा') का इतिहास स्व० हीरालाल पारेख ने तीन भागों में लिखा। वह वस्तुतः ई० १८४८ से १०० वर्ष बाद तक के

गुजरात के इतिहास की कच्ची सामग्रीरूप है। गुजरात के सामाजिक इतिहास के लिए वह बहुत अच्छी सामग्री है।

'गुजरातनु' पाटनगर अहमदाबाद' रत्नमणिराव भीमराव का तैयार किया हुआ एक महाग्रंथ है। केवल राजनीतिक इतिहास की ही नहीं अपितु गुजरात के सांस्कृतिक इतिहास की भी उसमें अच्छी सामग्री है। इसी लेखक की अन्य कृतियाँ 'खंभातनो इतिहास', 'गुजरातनो सांस्कारिक इतिहास' और 'सोमनाथ' इस साहित्य की बहुमूल्य निधि है। गुजरात के इतिहास-लेखन के लिए विशेष उपयोगी संशोधन-संपादन हैं: 'गुजरातना सांस्कृतिक इतिहासनी साधन-सामग्री' (जिनविजयजी) और 'गुजरातनां ऐतिहासिक साधनों' तथा 'गुजरातना ऐतिहासिक लेखो' (गिरिजाशंकर वल्लभजी आचार्य)।

गुजरात के राजकीय तथा सामाजिक इतिहास का नवलेखन अत्यावश्यक था। इस आवश्यकता की पूर्ति स्व० दुर्गाशंकर के० शास्त्री के संशोधन तथा संतुलनपूर्वक लिखे गए 'गुजरातनो मध्यकालीन राजपूत इतिहास' के दो भागों से होती है। अबुजफर नदवी ने मुस्लिम साधनों के आधार से 'गुजरातनो इतिहास' दो भागों में लिखा है जो विवादास्पद है। 'पुरातन दक्षिण गुजरातनो इतिहास' (मणिभाई द्विवेदी) भी संशोधन का सुंदर ग्रंथ है। दुर्गाशंकर शास्त्री ने संशोधन एवं अध्ययन के फल के रूप में जो अन्य महत्वपूर्ण ग्रंथ लिखे हैं वे हैं: 'ऐतिहासिक लेख संग्रह', 'पुराण विवेचन', 'वैष्णवधर्मनो संक्षिप्त इतिहास' और 'शैव धर्मनो संक्षिप्त इतिहास'। सामाजिक इतिहास की एक विशेष कृति है 'वीर शैव संस्कृति' (शंकर सापरपेकर)।

'सरस्वती पुराण' पाटणवाड़ा के प्राचीन इतिहास का आधारभूत ग्रंथ है जिसका संशोधन-संपादन तथा अनुवाद कनैयालाल भाईशंकर ने किया है। गुजरात के प्राचीन इतिहास के साधनरूप प्राचीन ग्रंथ 'प्रबंध चिंतामणि' का अनुवाद दुर्गाशंकर शास्त्री ने तथा 'चतुर्विंशति प्रबंध' का अनुवाद हीरालाल कापडिया ने किया है। मुनि जयंतविजयजीने 'तीर्थराज आबु' में शिलालेखों के साथ काफी सामग्री जुटाई है। 'नाभिनंदन जिनोद्धार प्रबंध', 'प्रभावक चरित्र' 'मध्यकालिन गुजरातनी सामाजिक स्थिति'—ये सब गुजरात के इतिहास के संशोधन के लिए उपयोगी कृतियाँ हैं। इतिहास-लेखन में उपयोगी कुछ मुस्लिम साधन भी गुजराती में उपलब्ध हैं: 'मिराते अहमदी' (कृष्णलाल मो० झवेरी) 'दरबारे अकबरी' आदि।

भारतीय इतिहास के संशोधन तथा संपादन का एक प्रबल प्रयत्न स्व० डो० त्रिभुवनदास लहेरचंद ने किया है। उन्होंने 'प्राचीन भारतवर्ष' के पाँच बृहत्काय ग्रंथ लिखे जिनमें इसवी सन् के पूर्व ९०० से लगाकर ईस्वी सन् १०० तक का भारत का इतिहास दिया है। इस लेखन में प्राचीन जैन साहित्य का विशेष उपयोग हुआ है। उनकी कुछ मान्यताएँ विवादास्पद भी हैं।

'स्वाध्याय' के दो भागों तथा 'इतिहास दिग्दर्शन' में प्रो० केशवलाल कामदार के गहरे अध्ययन का निचोड़ है। 'इतिहासनी केडी' में इतिहास-संशोधन संबंधी लेख, 'ज्येष्ठिमल्लज्ञाति अथवा मल्लपुराण' में विशिष्ट सामाजिक संशोधन का निबंध, 'वाघेलानुं गुजरात' और 'आगमोमां गुजरात' प्रो० भोगीलाल सांडेसरा के ग्रंथ हैं। 'अप्सरा' के पाँच भागों में

रमणलाल व० देसाई ने जगत् की वेश्यावृत्ति का इतिहास दिया है। 'वेपार अने वाणिज्य' में डुंगरशी संपट ने भारत के व्यापार का इतिहास प्रस्तुत किया है। अन्य महत्त्वपूर्ण इतिहास-संशोधन संबंधी कृतियाँ हैं : 'पश्चिमना क्षत्रपो' (डोलरराय मांकड), 'पुराणोमां गुजरात' (उमाशंकर जोशी), 'इतिहास-लेखन' (रामलाल मोदी), 'हिंदना विद्यापीठो' (रतिलाल मो० त्रिवेदी), 'इतिहास-संमेलननो निबंधसंग्रह' (गुजरात साहित्य सभा), 'काठियावाडना मुमना' (भगवानलाल मांकड , 'हिंदनी अंग्रेज वेपारशाही' (मगनभाई देसाई), 'पारसी शूरातन' (पोंचाजी पालीशवाला), 'अेक बृद्धनी विचारपोथीमांथी' (प्रभाशंकर पट्टणी : जयंतीलाल महेता), 'सत्याग्रहाश्रमनो इतिहास' (नवजीवन), 'बार डोली सत्याग्रहनो इतिहास' (महादेव देसाई ,'दक्षिण आफ्रिकानो सत्याग्रह' (नवजीवन), 'गुजराती पत्रकारत्व' (रतनजी मार्शल), 'केटलांक ऐतिहासिक हथियारो', 'अशोकना शिलालेखो' इत्यादि ।

इतिहास की कुछ महत्वपूर्ण पुस्तकें अनूदित रूप में गुजराती साहित्य में आई हैं। उदाहरण के लिए 'हिंदुस्ताननो अर्वाचीन इतिहास' (सरदेसाई), 'भारतमां अंग्रेजी राज्य' (पं० सुंदरलाल : भास्करराव विद्वांस), 'तवारीखनी तेजछाया' (जवाहरलाल नेहरू : वेणीलाल बुच), 'रंगद्वेषनो दुर्ग' (प्राणशंकर जोशी), 'सोवियेट रशिया' (मोगीलाल गांधी), 'मुघल राज्य वहीवट' (सावरकर), 'क्रांतिनां परिबलो' और 'जगतक्रांतिना इतिहासनुं रेखा-दर्शन' (चंद्रभाई भट्ट) आदि ।

प्राचीन साहित्य

प्राचीन और मध्यकालीन गुजराती साहित्य बहुधा काव्यरूप में ही मिलता है। इस प्रकार के हस्तलिखित साहित्य को संशोधित करके शुद्ध रूप में प्रकाशित करने का प्रबंध उन्नीसवीं सदी के अंतिम वर्षों में बड़ोदा नरेश की ओर से हरगोविंददास कांटावाला की देख-रेख में किया गया था। इस प्रकार 'प्राचीन काव्यमाला' में कुछ कविता ग्रंथ प्रकाशित हुए थे। इसी माला में प्रमानंद के गिने जानेवाले 'प्रेमानंद नां नाटको' निकले। इसके बाद ऐसा साहित्य इच्छाराम देसाई ने अपने गुजराती प्रेम के कारण 'बृहत् काव्य दोहन' के नाम से कुछ पुस्तकों में प्रकाशित किया। हस्तलिखित जैन काव्य-साहित्य को संशोधित करके प्रकाशित करने का प्रबंध दे० ला० जैत ग्रंथोद्धार संस्था (सूरत) द्वारा किया गया। इस संस्था की ओर से 'आनंदकाव्य महोदधि' के लगभग दस भाग प्रकाशित हुए किंतु संपादन में पूरी सावधानी नहीं रखी गई। भावनगर की आत्मानंद सभा और जैन धर्म प्रसारक सभा की ओर से भी बहुत सा प्राचीन जैन साहित्य संशोधितरूप में प्रकाशित हुआ।

प्राचीन साहित्य प्रकाशित करने का दूसरा सबल प्रयत्न फार्बस सभा (बंबई) की ओर से हुआ है। प्राचीन गुजराती कविता में महाभारत के अलग अलग पर्व अनेक कवियों द्वारा लिखे हुए मिलते हैं। इन सब काव्यों का संपादन केशवराम का० शास्त्री से कराकर इस संस्था ने सात ग्रंथ प्रकाशित किये हैं। सभी पर्वों का यथावस्थित चुनाव करके पाठशुद्धिपूर्वक संग्रह किया गया है। इस प्रकार का कुछ संशोधन-संपादन गुजरात विद्यासभा (अहमदाबाद) की ओर से भी हुआ है और कुछ ग्रंथ प्रकाशित हुए हैं।

प्राचीन संशोधित गुजराती साहित्य की कुछ महत्त्वपूर्ण पुस्तकों के नाम ये हैं : 'पौराणिक कथा' (डाह्याभाई देरासरी), 'जैन गुर्जर कविओ' (मोहनलाल दलीचंद देसाई), 'हंसाउली' और 'संशोधन ने मार्गे' (के० का० शास्त्री), वसुदेवहिंडी', 'पंच-तंत्र', 'कर्पूरमंजरी' और 'रूपसुंदर कथा' (प्रो० भोगीलाल सांडेसरा), 'अपभ्रंश पाठावलि' (मधुसूदन मोदी), 'प्राचीन कविओ अने तेमनी कृतिओ' (रमणीकलाल देसाई), 'वसंतविलास' (कांतिलाल व्यास) ।

कोष

गुजराती भाषा का प्रथम शब्दकोश है 'नर्मकोश' । कवि नर्मद ने साहित्य की अनेक नई दिशाओं में प्रस्थान किया था । उसने अकेले ही 'नर्मकोश' लिखकर प्रकाशित किया था (१८७३) । उसके बाद प्रकाशित होनेवाले छोटे-मोटे शब्दकोश उसी आधार पर बने थे । उन्नीसवीं सदी के अंत में गोकुलदास पटेल ने 'गुजराती शब्दकोश' प्रकाशित किया था । बीसवीं सदी के प्रारंभ में गुजरात विद्यासभा ने संपूर्ण गुजराती शब्दकोश तैयार करने की योजना बनाई और कुछ वर्षों में प्राथमिक शब्दसंग्रह के भाग प्रकाशित किए । स्व० केशवलाल ह० ध्रुव द्वारा अेक 'प' अक्षर का संपूर्ण शब्दकोश तैयार कराके नमूने के रूप में प्रकाशित भी किया गया । उसका इसी रूप में सभी शब्दों का संग्रह कराने का संकल्प था किंतु उसके प्रकाशित होने के पूर्व 'गुजरात विद्यापीठ' का 'सार्थ जोडणी कोश' प्रकाशित हुआ और उसे सम्मान प्राप्त हुआ । उत्तरोत्तर नई आवृत्तियों में इस कोष में सुधार होते रहे और अब वह ठीक रूप में पहुँच गया है । इसलिए विद्यासभा ने कोश का अपना प्रयत्न बंद किया है । विद्यापीठ की संपूर्ण शब्दकोश के लिए तैयारी चलती रहती है । साधारण व्यवहार के लिए 'सार्थ जोडणी कोश' काफी उपयोगी सिद्ध हुआ है ।

और भी अनेक कोश प्रकाशित हुए हैं, उदाहरण के लिए-'शब्दार्थ चिंतामणि,' 'गुजराती लघु शब्दकोश', 'गुजराती शब्दकोश' आदि । इन सब के मूल में है विद्यासभा का शब्दसंग्रह और विद्यापीठ का 'सार्थ जोडणी कोश' ।

'भगवद् गोमंडल' स्व० गोंडल नरेश भगवतसिंह जी की प्रेरणा से तैयार किया गया बृहत् शब्दकोश है । इसके पांच भाग निकले हैं और प्रत्येक भाग में लगभग डेढ़ हजार पृष्ठ हैं । इसमें 'अ' से 'नि' तक लगभग डेढ़ लाख शब्द और दस हजार रूढ़ प्रयोगों का समावेश है । इसमें शुद्धि और शास्त्रीयता की कुछ त्रुटियाँ हैं, फिर भी इस भगीरथ प्रयत्न की एक बार की सफलता पर आगे के लिए विशुद्ध कोष की प्राप्ति की संभावना अवश्य हो सकती है ।

वैज्ञानिक परिभाषा के कुछ कोष प्रकाशित हुए हैं: 'वैज्ञानिक शब्दसंग्रह' (पोपटलाल गो० शाह), 'पदार्थविज्ञान अने रसायणनो पारिभाषिक कोश' (यशवंत गु० नायक), 'अर्थशास्त्रनी परिभाषा' (विट्ठलदास कोठारी),'दार्शनिक शब्दावलि' (अरविंद कार्यालय), 'दार्शनिक शब्दकोश' (छोटालाल भट्ट), 'पारिभाषिक शब्दकोश' (विश्वनाथ भट्ट), 'हिंदी-गुजराती शब्द कोश' (गुजरात विद्यापीठ) आदि ।

'इनसाइक्लोपीडिया' सरीखा ज्ञानसंग्रह तैयार करने के दो प्रयत्न हुए हैं: एक रतनजी शेठना 'ज्ञानचक्र' और दूसरा डॉ० केलकर का 'ज्ञानकोश' जो अपूर्ण है ।

गुजराती कहावतें संग्रह करने के भी प्रयत्न हुए हैं। उनमें से श्रेष्ठ ग्रंथ आशाराम दलीचंद का 'गुजराती कहेवतो' है। उन्होंने २५०० कहावतें उत्पत्ति सहित एकत्र की हैं। इसी के आधार पर शान्तिलाल ठाकर ने एक छोटा 'कहेवत संग्रह' तैयार किया है।

विज्ञान

विज्ञान की अनेक शाखाएं हैं और इन सभी शाखाओं का भारतीय एवं पाश्चात्य साहित्य उपलब्ध है। जैसे पश्चिमी अनुसंधान से विज्ञान की शाखाएं बढ़ी हैं वैसे ही उनके शोधक, विचारक और लेखक भी बढ़े हैं। गुजराती में पाश्चात्य विज्ञान-साहित्य पर लिखे जानेवाले ग्रंथ विशेषतया अंतिम बीस तीस वर्षों से बढ़ने लगे हैं। इसके पहले योग, आयुर्वेद, वनस्पति, ज्योतिष, सामुद्रिक शास्त्र, भूगोल, खगोल, भूगर्भ, पदार्थ, रसायन, उद्योग, संगीत-नृत्य-चित्र आदि कलाएँ आदि विषयों पर इनी गिनी पुस्तकें लिखी जातीं थीं। विशेषकर के पाठशालाओं की दृष्टि से ही पुस्तिकाए तैयार होती थीं। वैद्यक, ज्योतिष और योग संबंधी पुस्तकें बहुधा परंपरागत आचार्यों के ग्रंथों के अनुवाद के रूप में ही निकलतीं। गुजरात विद्यासभा इलेक्ट्रो-प्लेटिंग, सुथारी आदि कलाओं की छोटी छोटी पुस्तकें प्रकाशित करती और दूसरे प्रकाशक कलासंग्रह, छोटे-मोटे उद्योगों से संबंधित पुस्तकें प्रकाशित करते। अब तो विज्ञान की शाखाएं बढ़ी हैं और उसका क्षेत्र भी अधिक व्यापक हुआ है। पुस्तकों की विविधता और संख्या में भी वृद्धि हुई है।

विज्ञान विषयक पुस्तकों के लेखन में नये संशोधन अथवा शास्त्रीय विचारणा पर बिशेष ध्यान देने का प्रयत्न बहुत कम किया जाता है। विशेष करके अनुभूत प्रयोगों के संग्रह ही अधिक तैयार होते हैं। उदाहरण के तौर पर शरीर-शास्त्र और आरोग्य-विज्ञान का समग्र दृष्टि से विचार करने की अपेक्षा वैद्यक के प्रयोगों, उपचारों और नुस्खों के संग्रह खूब निकलते हैं। आकाश के ग्रहों की गति तथा उनका नाम बतानेवाली इनी गिनी पुस्तकें हैं जब कि कुंडलियों और राशियों के आधार से भविष्य के फल की घोषणा करने वाली पुस्तकें बहुत बड़ी संख्या में प्रकाशित होती रहती हैं। यही हाल विज्ञान की दूसरी शाखाओं का भी है। शास्त्रीय परिभाषावाले प्राचीन भारतीय विज्ञान-ग्रंथों का अध्ययन कम होने लगा है और पाश्चात्य विज्ञान के अनूदित ग्रंथों का प्रकाशन बढ़ने लगा हैं।

गुजराती साहित्य में विज्ञान की कौन कौन सी शाखाओं की पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं यह नीचे दी हुई पुस्तक-सूची से ज्ञात हो सकेगा।

सामान्य विज्ञान—'स्वाध्याय', 'विज्ञाननां व्यापक स्वरूपो', 'विज्ञान मंदिर' 'विज्ञाननी वाटे' आदि।

योग—'हठयोग प्रदीपिका', 'योगप्रवेशिका', 'चोरासी आसन', 'आसनो अने आरोग्य', 'सूर्य नमस्कार', 'प्राणविनिमय' आदि।

मनोविज्ञान—'नूतनमानस विज्ञान', 'शाभाटे ?', 'हालतां चालतां', 'स्वयं प्रेरणा', 'बुद्धिकौशल्य विद्या', 'हिप्नोटिझम', 'मेस्मेरिझम', 'मानस संदेश' आदि।

मानव-विज्ञान—'मानव-जीवननो ऊषःकाल', 'नृवंश विद्या', 'मुखलक्षण शास्त्र', 'मस्तक विद्या', 'मानव-जीवन-विज्ञान' आदि।

खगोल--'खगोल प्रवेश', 'आकाश-दर्शन', 'विश्वदर्शन' 'खगोल गणित', 'भारतीय प्रत्यक्ष पंचांग' आदि।

भूगोल-भूगर्भ--'भूस्तर विद्या', 'भूविधानां मूलतत्त्वो', 'आइनस्टाइन अने तेनो सापेक्षवाद', 'प्राकृतिक भूगोल'; 'भूस्त अने गुजरातनी भूरचना' इत्यादि।

आयुर्वेद--'शारीर शास्त्र' 'चरकसंहिता', 'सुश्रुत', 'आयुर्वेदनो इतिहास', 'आहार अने पोषणं', 'आरोग्यसाधन', 'क्षयरोग चिकित्सा', 'जीवनचर्या' आदि।

विविध वैद्यक--'मानवदेह मंदिर', 'अखंड यौवन', 'ब्रह्मचर्य मीमांसा', 'शरीर विज्ञान', 'दंत विद्या', 'कायाकल्प विज्ञान', 'पुत्रदा अने पारणु'। 'होमीओपथी वैदकसार', 'बायोकेमिक प्रवेशिका', 'मेटीरीया मेडिका', 'संतति नियमन', 'विषतंत्र', 'पशु चिकित्सा', 'बिजलीनो आंचको अने कृत्रिम श्वासोच्छ्वासनो उपचार', इत्यादि।

प्राकृतिक चिकित्सा--'दर्दो, दवाओ अने डाक्टर,' 'निसर्गोपचार अने जलोपचार', 'व्यायाम ज्ञानकोश', 'मानस रोग विज्ञान', 'मातृपद', 'उपवास केम अने क्यारे ?' 'निसर्गोपचार सर्वसंग्रह' इत्यादि।

पाकविज्ञान--'रसोईनुं रसायण', 'बीसमी सदीनुं पाकशास्त्र', 'आपणो आहार', 'दक्षिणी रांधणकला', 'सुरती रसथाल', 'शाक, पाक, पकवानशास्त्र', 'खोराकना गुणदोष' आदि।

उद्योग--'खेतीना मूल तत्त्वो', 'खेतीनी जमीन', 'फलबाग सर्जन', 'प्लाइवुड', 'हुन्नर उद्योग अने वेपार', 'धनप्राप्ति', 'खादी विद्या प्रवेशिका', 'नफाकारक हुन्नरो', 'कापडनी कहाणी', 'गुजरातनी वनस्पति', 'भौतिक रासायणिक विज्ञान', 'खनिज तेल संबंधी', 'कागळ', 'एक दिवसमा दरजण,' 'केश शृंगार', भातभातनु भरतकाम', 'मोतीनां तोरण' इत्यादि।

जीवविज्ञान--'जीवविज्ञान', 'जंतुशास्त्र प्रवेशिका,' 'उधईनु जीवन', 'आर्य आंग्ल जंतुशास्त्र', 'पक्षीओ', 'आपणे आगणे ऊडनारॉं' आदि।

विविध कलाएँ--'प्राचीन अने अर्वाचीन गुजरातनी ग्रंथस्थ चित्रकला', 'अंजताना कलामंडपो', 'रंगोली', 'नवा साथिया', 'संगीत साहित्य', 'अभिनव संगीत', 'संगीतकीर्तन पद्धति', 'भारतीय संगीत कला', 'मुद्रण कला', 'कोम्पोझीटर', 'झबूकियां', 'आधुनिक 'आकाशवाणी', 'एकटिंगना हुन्नरनु वहेवारु शिक्षण', 'शिल्परत्नाकर', 'शिल्प परिचय', 'गृह विधान', 'मणिपुरी नर्तन' आदि।

कामविज्ञान--'वात्स्यायन कामसूत्र', 'प्रेमोपचार अने आसनो', 'परण्या पहेलां', 'नूतन काम विज्ञान', 'दंपतीशास्त्र', 'स्त्री अने पुरुष' आदि।

अर्थशास्त्र--'भारतीय अर्थशास्त्र', 'मानव अर्थशास्त्र', 'हिंदुनु-प्रजाकीय अर्थशास्त्र', 'हिंदुनु नाणांतंत्र', 'अर्थशास्त्र', 'अर्थशास्त्रनां मूलतत्त्वो', 'आपणा आर्थिक प्रश्नो' इत्यादि।

इस प्रकार वैज्ञानिक साहित्य की इतनी विविधता होते हुए भी आज साहित्य की इस शाखा में पुस्तकों की सबसे अधिक कमी है। साहित्यकारों की दृष्टि इस ओर अवश्य

है कि इस कमी की शीघ्र ही पूर्ति की जाए। भारतीय प्राचीन विज्ञान की व्यावहारिक उपयोगिता आज बहुत कम हो गई है और पाश्चात्य विज्ञान की उपयोगिता बढ़ी है। यह प्राचीन विज्ञान में नव अनुसंधान तथा विकास चालू न रहने का परिणाम है। आज आयुर्वेद जैसी विज्ञान-शाखा में नव संशोधन की अत्यंत आवश्यकता है। पाश्चात्य चिकित्सा पद्धति का खूब प्रचार हुआ है और आयुर्वेदिक उपचार-पद्धति का ह्रास हो रहा है। विज्ञान की अन्य शाखाओं में भी पाश्चात्य संशोधन इतने अधिक व्यापक हो गए हैं कि भारतीय विज्ञान के शिक्षण की देश को पूरी जरूरत है किंतु अपनी भारतीय परिभाषा की न्यूनता के कारण यह विज्ञान देशी भाषाओं में अच्छी तरह न उतर सका। यही कारण है कि विज्ञान की शिक्षा अधिकांश अंग्रेजी द्वारा ही होती है। भारत-सरकार, विश्वविद्यालयों और अन्य विद्यासंबंधी संस्थाओं में जागृति आई है। देशी भाषाओं द्वारा पाश्चात्य विज्ञान के शिक्षण की आवश्यकता की पूर्ति से लिए गुजराती भाषा में भी विज्ञान की विशेष पुस्तकें तैयार होंगी ऐसी आशा है। भारतीय पारिभाषिक शब्दों के निर्णय में विलंब होने के कारण अंग्रेजी पारिभाषिक शब्दों द्वारा भी उद्योग की पुस्तकें तो प्रकाशित होती ही रहती हैं। ऐसी पुस्तकों में सिविल और मेकेनिकल इंजीनियरिंग, रसायन, रंग-उद्योग, मील-उद्योग आदि व्यवसाय मुख्यरूप से हैं।

बाल-साहित्य

गुजराती साहित्य में बाल-साहित्य का विशेष विकास अंतिम पचीस-तीस वर्षों में हुआ है। इसके पहले पाठ्य पुस्तकों के अतिरिक्त अन्य प्रकार की पठन-सामग्री की बालकों के लिए आवश्यकता ही महसूस नहीं की जाती थी। पाठ्यपुस्तकों में भी सरकारी पाठमाला के सिवाय दूसरी कोई पाठमाला अस्तित्व में ही नहीं आई। जूनागढ़ और गोंडल राज्यों की ओर से अलग पाठमालाएँ प्रकाशित हुईं। इनमें से गोंडल की पाठमाला उच्च कोटि की थी किंतु उसका गोंडल राज्य के सिवाय अन्यत्र प्रचार न हो सका।

भावनगर में 'दक्षिणामूर्ति' संस्था तथा उसकी ओर से बालमंदिर की स्थापना हुई। गिजुभाई तथा नानाभाई जैसे बाल मानस के विशिष्ट अभ्यासी उसके संचालक बने। उन्होंने बालकों के अध्ययन और इतर पठन के लिए पुस्तिकाएं तैयार करके प्रकाशित कीं। इनकी ओर पाठशालाओं, शिक्षकों तथा बालकों के अभिभावकों का ध्यान आकृष्ट हुआ। धीरे धीरे इस प्रकार के साहित्य का खूब प्रचार होने लगा। इस प्रकार बाल-साहित्य का बीजारोपण हुआ और धीरे धीरे अनेक रूपों में बाल-साहित्य का प्रकाशन होने लगा।

दक्षिणामूर्ति से बाल-साहित्य के अतिरिक्त बाल-शिक्षण के लिए शिक्षकों के अभ्यास के योग्य कुछ शिक्षण-शास्त्र की भी पुस्तकें प्रकाशित हुईं। बालकों को कहानियां पढ़ना बहुत अच्छा लगता है किंतु वे कहानियां कैसी होनी चाहिएं, उनके लिए कविताएं कैसी होनी चाहिए, इस विषय में भी कुछ लिखा गया और कहानियों और कविताओं के नमूने भी प्रकाशित हुए। बाल-साहित्य की ओर जो आकर्षण उत्पन्न हुआ उसे देखकर बाल-साहित्य के दूसरे लेखक और प्रकाशक सदसद्विवेक से रहित हो यह मानने लगे कि बड़े अक्षरों में छपी हुई और चित्रों से भरी हुई कोई भी कहानियों की पुस्तिका बाल-साहित्य में समा

सकती हैं। इसका परिणाम यह हुआ कि अनेक पुस्तिकाएं ऐसी भी प्रकाशित हुई जो बाल-साहित्य के लिए निरुपयोगी थी। अनेक आदर्शहीन ग्रंथावलियां और कथामालाएं निकलने लगीं।

आज बाल-साहित्य अनेक संस्थाओं और प्रकाशकों की ओर से निकल रहा है। उत्तरोत्तर पुस्तक-संख्या बढ़ती जा रही है। समय समय पर इसमें सुधार भी होता रहा है। सुंदर आकर्षक मुखपृष्ठ और रंगीन चित्रों से सुसज्जित कोई कोई पुस्तक तो अंग्रेजी बाल-साहित्य के साथ प्रतियोगिता भी करने लगी है। फिर भी वस्तुतः यह साहित्य अभी बहुत पीछे है।

कविताएं, नाटक, कहानियां, जीवनचरित्र हास्यरस की कहानियां, धर्मकथाएं, देश-विदेश की कथाएं, साहस-कथाएं, ऐतिहासिक कहानियां, प्रवास-कथाएं, विज्ञान की कहानियां, पशु-पक्षी की कथाएं, परियों की कहानियां—इस तरह विविध प्रकार का साहित्य प्रकाशित हुआ है। रामायण, महाभारत, उपनिषद् पुराण, जातक आदि साहित्य से भी बाल-बोधक शैली में अनेक कहानियां लिखी गई हैं। ईसप की कहानियां, शेक्सपियर के नाटक, गुलीवर की यात्रा, अरेबियन नाइट्स, कुरान और हदीस की कथाएं यह सब अंग्रेजी से बालरोचक शैली में लिखा गया है। चार वर्ष से लेकर सोलह वर्ष तक के कुमार-कुमारियों के लिए अनेक पुस्तकमालाएं प्रकाशित होती रहती हैं। इनमें से कुछ के नाम ये हैं: अरुण पुस्तकमाला, गुर्जर बालग्रंथावलि, बाल-विनोदमाला, अशोक बाल पुस्तकमाला, गांडीव बालोद्यान माला, दक्षिणामूर्ति बाल साहित्य माला, ग्राम दक्षिणामूर्ति प्रकाशन, विद्यार्थी वाचनमाला, आपणी बालग्रंथमाला, बालविज्ञानमाला, बाल-जीवनमाला, सयाजी बाल ज्ञानमाला, सस्तु साहित्य बाल वाचनमाला, बाल जैन ग्रंथावलि, किशोर चरित्रमाला, शिशु भारती ग्रंथावलि, बालबंधु ग्रंथमाला, बालजीवन किशोरमाला, हास्य विनोद पुस्तक-माला आदि।

बाल-साहित्य के प्रति बाल पाठकों को और उनके अभिभावकों को जैसा आकर्षण हुआ है वैसा ही कुछ प्रथम श्रेणी के साहित्यकारों को भी हुआ है। इसी के फलस्वरूप सुन्दरम्, पूजालाल, स्नेहरश्मि, रमणिक अरालवाला, चंद्रकांत ओझा, त्रिभुवन व्यास; जयंत जोशी, जयमनगौरी पाठक जी आदि ने बालकों के लिए कविताएँ लिखी हैं और गांधीजी, बालजी देसाई, धूमकेतु, विनोदिनी नीलकंठ, जयभिक्खु, रमणलाल सोनी, रामनारायण ना० पाठक, मस्त फकीर, पुरातन बुच, हरजीवन सोमैय्या, हरराम देसाई, निरंजन वर्मा, आदि साहित्य के अन्य क्षेत्रों के लेखकों ने भी बाल साहित्य की विविध सेवाएँ की हैं।

बालकों के लिए पुस्तकें लिखने के लिए कुछ सुप्रसिद्ध लेखक हैं: नागरदास पटेल, रमणलाल ना० शाह, रसूल भाई वहोरा, जीवराम जोशी, दिनेश ठाकोर, खंडेराव पवार, सोमाभाई भावसार, पोपटलाल अंबाणी, हरिप्रसाद व्यास, भानुप्रसाद व्यास, इंदुप्रसाद भट्ट, नवलकांत भावसार, मोहन ठक्कर, शांतिलाल ओझा, बालकृष्ण जोशी, भीमभाई देसाई, नटवरलाल मालवी, शारदाप्रसाद वर्मा, किशोर गांधी, कीर्तिदा दिवानजी, माधवराव कर्णिक, कमला ठाकोर, रत्नलाल दयाल, लभुबेन महेता, सुमति पटेल, मनुभाई जोधाणी,

प्रियवदन बक्षी, अभयकुमार, धीरजलाल टो० शाह, पद्मकांत शाह, लाला मजमुदार, मोहनलाल पाठक, केशवलाल, धनंजय शाह, शांतिकुमार पंड्या, धीरजलाल पंड्या, गोविंद राव भावगत इत्यादि।

इस समय बाल-साहित्य के वेगपूर्ण प्रवाह को बाल-जगत् उत्साह से देख रहा है। इस साहित्य का आकर्षक रूपरंग क्रीडाप्रिय बालकों को अच्छा लगता है। तथापि आज जो कुछ बाल-साहित्य के नाम से प्रकाशित हो रहा है वह सब सच्चा बाल-साहित्य नहीं है। इसकी भाषा संपूर्णतया बालबोधक होती भी नहीं। विनोदपूर्ण कहानियां खूब होती हैं किंतु उनमें सच्चे और निर्दोष विनोद का अभाव होता है। लेखकों और प्रकाशकों को इस साहित्य के लेखन और प्रकाशन में विवेक रखने की आवश्यकता है।

—चुनीलाल वर्धमान शाह (लेखक)
—मोहनलाल मेहता, एम० ए० (अनुवादक)

पंजाबी साहित्य के गत साठ वर्ष

भारत के विभिन्न क्षेत्रों में विस्तृत अन्यान्य भाषाओं की तरह भारतके पश्चिमी प्रदेश पंजाब में पंजाबी भाषा एवं गुरुमुखी लिपि का प्रचार तथा प्रसार है। वहाँ के जन-जीवन की भावनाएं इसी भाषा और इस लिपि के द्वारा व्यक्त होती हैं। इस भाषा की उत्पत्ति या उसके आदिकाल के इतिहास की विवेचना न कर इसके केवल पिछले ६० वर्षों की प्रगति का ही सिंहावलोकन करने का प्रयत्न इस निबन्ध में किया जायगा। पंजाबी-भाषा-भाषियों का क्षेत्र छोटा नहीं। करोड़ों की संख्या में इसके बोलने वाले हैं। इनकी प्रगति और विकास पर किस जाति या किस समुदाय का प्रभाव पड़ा—यह सब एक अलग आलोचनीय विषय है। इस भाषाके साहित्य में किन-किन विषयों का समावेश हुआ यह विचारणीय बात है। परन्तु उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम समय का पंजाबी साहित्य प्रायः काव्यात्मक ही कहा जा सकता है। इस पंजाबी साहित्य की काव्य-धारा में हिंदू, सिख तथा मुसलमान कवियों की कृतियों का सम्मिलित विकास देखने को मिलता है। उपर्युक्त सभी जातियों के मान्य कवि पंजाबी में अपनी भावना व्यक्त करने में सफल हुये हैं। जहाँ बाबा फरीद शकरगंज, बुल्लेशाह और शाह हुसेन जैसे मुसलमान सूफी कवियों ने ईश्वरीय प्रेम की कविताएं पंजाबी में लिखी हैं, वहाँ सिख गुरु साहबान, भक्त कबीर, भक्त रविदास, महात्मा नामदेव और पीपा जैसे संतों ने आध्यात्मिक कविता उपर्युक्त बोली में लिख कर पंजाबी साहित्य में चार चांद लगाये हैं। सिखों के आदि गुरु ग्रंथ साहब में बाबा फरीद, भक्त कबीर और रविदास आदि की वाणी विद्यमान है। कविवर श्री वारीश शाह की 'हीर' पंजाबी साहित्य का एक अमूल्य अमर रत्न है, जिसने श्री वारीश शाह और 'हीर' दोनों को ही अमरता प्रदान की है। इस समय तक पंजाबी साहित्य में गद्य काव्य का सुलझा हुआ कोई भी स्पष्ट रूप विकसित नहीं हुआ था। इसका क्षेत्र जन्म-साखियाँ, किस्से-कहानी तथा गोष्ठी तक ही सीमित था जिनकी बोली में कविता का ही अंश अधिक था, गद्य का कम। अंग्रेजों के आने के बाद पंजाबी साहित्य पर अंग्रेजी भाषा और साहित्य का प्रभाव पड़ने लगा जिसके फलस्वरूप पंजाबी साहित्य में छोटी-छोटी कहानियां, उपन्यास, लेख तथा आलोचनाओं के जन्म हुए।

जिस तेजी के साथ पंजाबी साहित्य ने पिछले ६०-७०वर्षों में साहित्य के अलग-अलग रूपों में उन्नति की है, वह इसके उज्ज्वल भविष्य का द्योतक है। इसके साहित्यिक विभिन्न अंगों के सामूहिक विकास को देखने से यह कहा जा सकता है कि निकट भविष्य में यह साहित्य दुनियां के परदे पर उच्च कोटि के साहित्यों में गणना करने के योग्य हो जायगा।

काव्य

आइये! पंजाबी साहित्य के पिछले ६० वर्षों की काव्यात्मक प्रवृत्ति का अवगाहन करें। नवीन पंजाबी कविता के आदि-प्रवर्तक कवि भाई वीर सिंह जी माने जाते हैं। आपका विकासकाल १८७२ ई० कहा जाता है। आपने पंजाबी कविता की भावधारा को किस्से आदि के चक्कर से निकालकर नये वायुमण्डल में फैलने एवं विस्तृत होने का अवसर प्रदान

किया है। इनके लिखे अनेक काव्य-संग्रह छप चुके हैं, जिसे पढ़ने और देखने से उनकी रस-प्रस्रविणी लेखनी का चमत्कार मालूम होने लगता है। आपके लिखे—लहरां दे हार—१ बीजलियां दें हार—२, मटक हो लारे—३, प्रीत वीणा—४, कम्ब दी कलाई—५। इसके अतिरिक्त एक निबंधात्मक काव्य 'राजा सूरत सिंह' के नाम पर भी इनका लिखा है जिसे पंजाबी साहित्य का महाकाव्य होने का गौरव प्राप्त है। भाई वीर सिंह जी की साहित्यिक कविता वस्तु के पक्ष में सिख-गुरुओं की वाणी से प्रभावित मालूम होती है। उसमें ईश्वर-संबंधी प्रेम और स्मृति की चर्चा के अलावे भी प्रकृति की हरेक वस्तुओं का वर्णन मिलता है। उन्होंने लिखा है—परमात्मा से दूर रहने वाले इन्सान के मन में दोषों की कालिमा छा जाती है जो केवल उस परमात्मा के मिलाप से ही दूर हो सकती है, ठीक उसी तरह, जैसे कोयले की कालिमा अग्नि में पड़ने से दूर हो जाती है—

बिछड़ के कालिख सी आई,
बिन मिलयां नहीं लहरी।
अंग अग्ग दे ला के देखो,
चढदा रूप सवाया ॥

परन्तु आप की कविता विशुद्ध धार्मिक विषयों को ही प्रकट नहीं करती बल्कि उसमें देश-प्रेम, देश-वासियों के प्रति हमदर्दी तथा अंग्रेजों की गुलामी के विरुद्ध बातें भी मिलती हैं। कुतुबमीनार, अटक, अवंतिकापुर के खँडहर की बातें उनकी कविता में आती हैं, जिसमें भाई साहब का अटूट देशप्यार दिखलाई पड़ता है। देश के दर्दीले दिल को आप अच्छी तरह झाँककर देखते हैं। कश्मीर की सौंदर्यपूर्ण छटा-विषयक कविता में भी दीन-हीन लोगों की दुःखमयी हालत प्रकट करते देखे जाते हैं। कश्मीर की सुंदरता में आप इस तरह लिखते हैं—

जिकुर खलदे सेव ते नाशपातियां।
बीच गीरा कश्मीर वीकर रूल रही ॥
सुंदरता बीच खाक लीरां पाटियां,

भटक हुलारे में कश्मीर के प्राकृतिक दृश्यों का हूबहू बयान है, आंखों के सामने तस्वीर आकर खड़ी हो जाती है। प्रकृति के हर सौंदर्य में आप कर्ता का जलवा देखकर मुग्ध हो जाते हैं। जैसे चांदनी पड़ने पर ही आईने में सूरत दिखलाई देती है अंधकार में नहीं, उसी तरह सुंदर का सौंदर्य ईश्वरीय सौंदर्य का प्रतिबिंब है।

चानन जिसे आकाशो आवे,
शीश्यां ते पै दमके।
तिये सुंदरता अर्थो आवे,
सोहन्या ते पै चमके।

रूप-सौंदर्य की भावना में भी भाई साहब की कविता बहुत सफल है। आप की बहुतेरी कविताएं छोटी-छोटी ही हैं जो आमतौर पर रुबाई-कोरड़ा या तुरयाइं छंद में व्यक्त। हैं वाणी पर गुरु ग्रंथ साहब जी का बहुत प्रभाव है। फारसी-संस्कृत शब्द भी

कहीं-कहीं प्रयोग में लाये गये हैं। कविता की रचना में पाद-पूर्त्यर्थ शब्दों की योजना में न्यूनाधिक्य भी किया गया है। भाई गुरुदास जी की तरह, रहस्यमयी भावनाओं को प्रकट करने के लिये लौकिक संकेत भी व्यवहार में लाये गये हैं। परंतु भाई गुरुदास के संकेत जहाँ जन-साधारण के अनुभव के अनुकूल ही हैं वहाँ भाई वीर सिंह को अनेक जगहों पर सामान्य मानवता की कल्पना से अलग और ऊंचे संकेत व्यवहार में लाते देखा जाता है। 'राजा सूरत' सिंह शिखण्डी छन्द में लिखा गया एक रानी (राजकौर) का जीवन वृत्तांत है। कहानी यद्यपि सारी कल्पित है, तथापि कहने का ढंग निराला है, प्रभावशाली है। सच्ची कहानी होने का भ्रम होता है। इसके संगीतात्मक लय, समयानुकूल शब्द-चयन और विषय-वर्णन, इस काव्य की सुंदरता और महत्ता को बढ़ाते हैं।

भाई वीर सिंह के बाद प्रोफेसर पूर्ण सिंह का नाम १८६१ से १८८१ ई० तक पंजाबी कविता में शिरोमणि माना जाता है। आपने अमेरिकन कवि वालटेन पिटमैन जैसी पंजाबी में खुली कविता लिखी जिसका पादान्त तुक नहीं मिलता। गद्य की तरह आपकी कविता छंद-बंधन से मुक्त दिखाई देती है। परंतु जोश-खरोश सोच-विचार, उड़ान एवं प्रवाह की धारा आश्चर्यजनक दीख पड़ती है। छंदहीन, अतुकांत होनेपर भी कविता में स्वाद है, रस हैं और है अनुभूति का उभार। प्रोफेसर पूर्ण सिंह प्राकृत कवि हैं, वह कुदरत की शिल्पकारी देख कर झूम उठते हैं, मयूर की तरह नाच उठते हैं। उनका दिल गाने लगता है, कलम नाचने लगती है। वसन्त ऋतु के मनमोहक नजारे और दिलपसंद बहार तथा पंजाब के दरियाई पानी उसे जीते-जागते दिखाई देते हैं—

हवा वां नशे पीते,
भर भर प्यालियां।
झूम दियां नशिलियां,
टंगा उना दिआ
खड़ खड़ा दिआ।
फूलां ने चूम चूम,
छोह छोह छूटन।
इधर उधर आप मुहारियां
अलबेलियां
ते प्यार दी कुचीच बीच,
ओ फूलां दीयां पंखरियां।
नूं खोह खोह,
भर भर झोलियां
इधर उधर बिन
मतलब खदेर दियां—

प्रोफेसर पूर्णसिंह जनता के कवि हैं। लोक जीवन के तत्वों को लेकर लोगों के लिए कविता लिखते हैं। उनकी कविता का विषय है—'बाजार की रौनक', 'पंजाब के मजूर', 'पंजाब दी अहिरिन एक गोहे थपदी', आदि। उनकी कविता की भाषा ठेठ पर विषय के

अनुकूल है। उनके ख्याल सीधे-सादे और वर्णन करने का ढंग बहुत अच्छा है।

उनकी कविता के लिए पंजाब के कण-कण से प्यार के उमंग उठते हैं। वे पंजाब के ऊंचे-लंबे जट्टों और पंजाब के हरे-भरे खेतों और चलते हरहटे (कुंए) का बहुत मान करते हैं, प्यार करते हैं। वे पंजाब के सहज, स्वच्छंद, उन्मुक्त स्वभावों के बहुत बड़े उपासक हैं। वे लिखते हैं—

मैं तो पढन पढान सारा छड्या।
जट बूट मेरे प्यार हैं यों हे ॥

प्रोफेसर पूर्णसिंह की कविता में रोमांस बहुत है, अत्यधिक है। वह 'शशीपूनूं', 'हीर राझा', 'सोनी' और 'पूर्णनाथ' आदि विषय ही लेते हैं जिनमें रोमांस की भावना का स्पर्श कराकर एक प्रकार की नवीनता भर देते हैं। उनकी कविता का अपना रंग है, उनकी हर लाइन पर उनका अपना मोहर लगा है जो पंजाबी के अन्य कवियों की कविता से अलग और निराला है।

श्री धनीराम चातरिक १८७६ ई० में पंजाबी साहित्य के एक वृद्ध कवि हैं जो गत ३० वर्षों से पंजाबी कविता की सेवा कर रहे हैं। आपने 'चंदन वारी', 'केशर क्यारी', 'नवा जहान', 'सूफी खाना', आदि काव्य-संग्रहों में विभिन्न विषयों पर कविताएं लिखी हैं, जैसे नलदमयन्ती आदि। आप की कविता प्रौढ़, परिपक्व, सरस होती है। कविता की दृष्टि से उनकी रचना-शैली भी ठीक है। कहीं भी कोई शब्द अधिक और व्यर्थ नहीं। कोई भी लाईन उनकी हल्की नहीं है, पंजाबी भाषा पर उनका पूरा अधिकार है। पंजाबी मुहावरे, लोकोक्तियां, पंजाबी शब्द-भंडार उन्हें अपने माता के दूध के साथ प्राप्त मालूम होते हैं। बोली बड़ी ही मधुर, सरल तथा समयानुसार होती है। कई प्रकार के नपे-तुले शब्द सफलता के साथ चुने गये हैं। असीम भावनाओं की तरंगें दीखती हैं। रस-भंग कहीं भी नहीं है। अलंकार बड़े भाव-पूरित और यथोचित हैं। चातरिक की कविता अपने विषय को कहते हुये अन्यान्य विषयों पर प्रकाश डालती है, जिसके घेरे के बीच सामाजिक समस्याएँ, राजनीतिक आवश्यकताएँ, प्राकृतिक दृश्य, प्रेमी-प्रेमिकाओं की प्रेमकथाएँ, ग्रामीण जीवन के दृश्य, देश की दुर्दशा के दिल दहलाने वाले वर्णन—सभी आ गये हैं। उत्कटेच्छा और स्वतंत्रता की बेचैनी बड़ी बेगवती है। यह आश्चर्य की बात है कि कवि जिस भी विषय का वर्णन करता है उसे बहुत निकट से देखता है। ऐसा मालूम होता है कि कवि अपना अनुभव ही व्यक्त कर रहा है। कवि दूसरा विवाह कर लेता है तो उसकी मरी हुई स्त्री स्वप्न में आकर कहती है—

तेरे परख लै कबल करार साईयां,
नाले तकेया तेरा प्यार चन्ना।
बुलबुल बाग उडारिया मारियां नी,
मेरा उजड्या वेष गुलजार चन्ना।
वे तो नवी अली वेह आन वण्डी,
मेरे ठण्डे न होये अंग्यार चन्ना।
मेरे राह वी अजे न होये मैले,
तेनू कुद्या सजरा प्यार चन्ना।

मोहन सिंह ने 'सोमेंपत्र', 'कुसु हड़ा' में सामाजिक कविता भी लिखी है। उसमें भी वे बहुत सफल रहे हैं। यह ठीक है कि इनके बीच के अनुभवों को वे प्यार की अनुभवों की तरह अपना नहीं सके। मोहन सिंह की सामाजिक सूझ 'अघवारें' के बाद 'कचसच' में पूर्ण रूप से जागृत है। जब उन्होंने अपने कंगाल भाइयों को रोटी खाने में भी आतुर देखा, तब वे व्यग्र हो उठे। उन्होंने देखा कि संसार के दूसरे देशवासी जब आगे बढ़ चुके हैं तब ऐसी अवस्था में प्रेमगीत गाना उचित नहीं। उन्होंने अपने प्रेम के भावगान बन्द कर दिये। जनता के कवि की तरह मैदान में निकल पड़े। उनको इस बात का ज्ञान हो गया कि इतिहास जब करामात बन जाता है, तब वहाँ के लोग कुछ नहीं कर सकते। वह कौम मर जाती है या नयी परंपरा को प्रारंभ करती है—

सारे जगते खुशहाली,
हिस्से तेरे कंगाली।
नंगे बुत्त ढीढ खाली,
कद तक मनसे तू भाजा।
एनियाँ मंदिर मसितां,
एनिया रव नाल प्रीतां।
एनियां रसमा ते रीतां,
फिर भी भूखा तूँ भाजा।

पर फिर भी कवि स्वयं ही कहता है, अभी भी कुछ बिगड़ा नहीं है—

तेरे हथ्था दें छाले, अजकल चमकन वाले।
पर जे वख्त नू सम्हाले कोई युवको दा ढाना॥

कवि जान गया है कि देश जब तक आर्थिक दृष्टि से आजाद न होगा तब तक स्वतन्त्रता का कोई मूल्य नहीं, कोई लाभ नहीं। 'कचसच' में सामाजिक सूझ बहुत प्रौढ़ और सूक्ष्म है। सरमायेदारी की लूट के विरुद्ध क्रांतिकारी शब्दों में कहता है—

सोने चांदी नाल तू मुर्दा बनाया जग तूँ,
रज के तूं मून्यां आले ते भोले बग्ग नू।
उठना सी आते मजदूरा ने अपनी पग नू,
गल्ल आखीर चल दीये होये ते अनहोये दीं।
सोने मिट्टी सुट्टना जद छत पैनी लोहे दी।

उसको इस बात की जानकारी हो गयी कि जब जनता खड़ी होगी तब जनता के दुश्मनों के लिए कोई रास्ता नहीं रह सकता। ऐसे समय में वह किसी सुनहले समय की ओर हमारी दृष्टि खींचता है। सामाजिक सूझ-बूझ एवं विचारों के प्रवाह बढ़ जाने से उनकी कविता में भावना की मौलिक तरंगों की जगह बौद्धिक अंश अधिक बढ़ गये हैं।

इसके पश्चात् पंजाबी की प्रसिद्ध कवयित्री श्री अमृता प्रीतम का सन् १९१९ में नाम आता है। अमृता की पहली रचना 'अमृत लहरां' छपने के समय उनकी उम्र

केवल १७ वर्ष की थी। इस कृति में विचार पक्के एवं पुष्ट नहीं हैं न काव्य-नियमों की निपुणता ही व्यक्त होती है। परंतु बाद की सभी पुस्तकों में उनकी लेखनी में बल और सप्राणता आती गयी है। अब तक की उनकी रचनाओं के ये नाम है—अमृतलहरां—१, जीवदें जीव—२, गीता वालेयां—३ वदलां दे पल्लेवीच—४, पत्थर—५, गीइ—६, कंघिया—७, वांटातें—८, सगीं वेलां—९।

अमृत लहरां की कविताओं के वर्ण्य साधारणतः वे दबी-कुचली अनाथ भारतीय महिलाएं हैं जो नर के पैरों से दबाई जा रही हैं। उनके हृदय की आवाज को अमृता ने बुलंद किया है। कवयित्री अमृता का नारी हृदय स्त्रियों के ऊपर होने वाले नरकृत अत्याचार को देखकर कांप उठा। उनकी कलम ने अपने देश की सभी स्त्रियों के दुःख-दर्द को अपनी कविताओं के द्वारा उद्‌घाटित कर रख दिया है। भारतीय लड़कियों की शादी को कन्यादान कहा जाता है। देखो! 'अमृता' इस कन्यादान पर व्यंगात्मक शब्दों में चोट करती है—

किड्डे कर्म कमान,
जेड़ही लोकी तक्कन।
ओ हो ही परवान,
कन्यादान कन्यादान।
होवे कल्याण,
हीरा कदे न कुये।
गउ कदे न बोले,
कन्या बेजबान॥

और जब अमृता देखती है कि पूंजीवादी समाज में स्त्रियां पैसे की जोर से खरीदी जाती हैं, नर की पाशविक वृत्तियों को पूरा करने के लिए उनका उपयोग किया जाता है तब उनका स्त्री-हृदय टुकड़े-टुकड़े होकर पुकार उठता है।

मैं चम दी गुड्डी खेलै खेडलै,
लहू दा प्याला पीलै पीला लै।
ला बीच लपेट लै कदमाते खड़ेहा,
वाहवांच समेट लै चूस ले चट लै।
ते फिर रखदां खूं दा उस दाबी कुच वट लै
मेरी जवान ने इन्कार किवे हो सकदां हां प्यार।
ये तेरे मतलब दी सै नहीं।

अमृता ने रोमाञ्चक कविताएँ भी लिखी हैं। इसमें भी वह काफी सफल हैं। वह प्यार को अधिकार नहीं समझती हैं बल्कि पहचान समझती हैं। प्यार एक अवस्था है जिसमें शिकवा-शिकायत की गुंजाइश नहीं। ज्यों-ज्यों अमृता की समाजिक सूझ बढ़ रही है त्यों त्यों उनकी कविता का मीनार ऊंचा उठता जाता है।

इसके बाद प्रीतम सिंह सफीर जी की कविता आती है। प्रीतम सिंह सफीर की कविता प्रेम की होती है। प्रोफेसर मोहन सिंह की तरह अपने प्रेम की अनुभूतियां भी इनकी कविता में मिलती हैं। कवि वेवफा प्रेम करनेवाली बढ़-चढ़कर चलने वाली स्त्रियों की

ज्यादती का भी जिक्र करता है। प्रेमी को एक सच्चा आशिक देखता है। उसकी कविता में कुछ क्रांति का गंध भी मिलता है। पर क्रांति के विषय में कवि कुछ बतलाता नहीं। प्रीतमसिंह सफीर की कविता में पुराने हिन्दुओं के इतिहास मिलते हैं। इनकी कविता में उर्दू-फारसी के शब्द और संस्कृत का प्रभाव भी मिलता है।

उपर्युक्त कवियों को छोड़ कर पंजाबी के सैकड़ों और कवि हैं जो समय-समय पर पंजाबी कविता में अपना परिचय देते रहे हैं या दे रहे हैं। इनमें प्रसिद्ध ये हैं—

प्यारा सिंह सहराई, बाबा वलवंत, प्रेम ज्योति कौर, नरदयाल सिंह आदि। प्यारा सिंह सहराई, एक अग्रगामी कवि हैं, जो पहले-पहले प्यार की कविता लिखते थे। परंतु जल्दी ही उन्होंने अपनी कलम को मार्क्सवादी विचार प्रकट करने की ओर मोड़ दिया। उनकी नीचे लिखे संग्रह प्रकाशित हैं—सहराई पण्डी—१ तारयां हीलो—२ समय दी वाग—३ धरती दे गीत—४ और शकुंतला—५। पहली दो कृतियों में सहराई जी एक क्रांतिकारी कवि की तरह काव्य-क्षेत्र में प्रकट होते हैं। बाबा बलवंत शुरू से ही एक समाजवादी कवि हैं—जो किसान-मजदूर की भावनाओं को व्यक्त करने में सफल दीखते हैं। वह आर्थिक समता के लिए अपनी कलम का व्यवहार करते हैं। उनकी कृतियों के ये नाम हैं—महानाच, अमरगीत और बन्दरगाहां। प्रेम ज्योति कौर की कविता का विषय अमृता प्रीतम की तरह बहुत विशाल नहीं है। वह अपने प्यार की बातें कविता में कहती हैं, प्रेम के नजारे का चित्र खींचने में उनकी कल्पना विचरण करती है और मेल-मिलाप की सुखद घड़ियों में ही जा पड़ती है। प्रेम ज्योति कौर और नरेंद्रपाल—दोनों स्त्री-पुरुष कविता लिखते हैं। उनकी कृतियाँ—'स्वप्न', 'सदरा', 'अजल' काफी प्रसिद्ध हैं। नरेंद्रपाल सिंह प्रोफेसर पूर्ण सिंह की तरह स्वच्छंद कविता लिखते हैं। परंतु उनकी कविता की तरह भावनाओं को ये नहीं भर सकें हैं, न उसमें संगीत ही दे सके, न रस ही, फिर भी उनकी काव्य-कला शिखरस्पर्श अवश्य करती है। पंजाबी कविता की एक पुरानी परंपरा कवि-दरबारों की कविता की चली आ रही है। इसको आज भी पंजाब के स्टेजी कवि उसी शान के साथ पूरा कर रहें हैं। वे कवि-दरबारों में अपना जौहर दिखलाते हुये अपनी प्रसिद्धि पैदा कर रहे हैं। उनमें विधाता सिंह वीर, फीरोजदीन सर्फ, नंदलाल नूर पुरी, कर्तार सिंह वलबन, काश्मीरा सिंह पारस, उत्तम सिंह, तेजा सिंह सावर, गुरुवचन सिंह मीहिया और दर्शन सिंह आवारा विशेष प्रसिद्ध हैं। इनके अलावे पंजाबी कविता के नवयुवक कवि हैं जो नये ख्यालों एवं नये विचारों से प्रभावित होकर कविता लिख रहे हैं। इनमें अनेक की लेखनी में ऊँचे कवि होने की आशा दिखलाई पड़ती है। हरनाम सिंह नाज, संतोष सिंह धीर, गुरूचरण रामपुरी, सजनसिंह सज्जन, सुरजीत रामपुरी, अजैब चित्रकार आदि इन्हीं में हैं।

छोटी कहानी

नवीन पंजाबी की छोटी कहानी के आदि लेखक सरदार नानक सिंह हैं। आप ने पंजाबी में छोटी कहानियों की परंपरा चलायी है। श्री सरदार नानक सिंह एक उपन्यासकार की तरह भी पंजाबी साहित्य में सुप्रसिद्ध हैं। पर छोटी कहानी के क्षेत्र में उनका नाम कम महत्व नहीं रखता। आप की कहानियों के संग्रह ये हैं–सधरां दे हार, हजुआं दे तारे, भिद्दे

होये फूल, ठण्डियां छांवा, ४ तस्वीर दे दोवें पासे, और उलझना। आपके उपन्यासों की तरह आपकी छोटी कहानियों के विषय भी अधिकतर सामाजिक ही हैं। आपने समाज की बहुतेरी कुरीतियों को दिखाया है। छूत-छात, जात-पाँत, बेरोजगारी, विधवा-समस्या, आदि आपके कुछ विषय हैं। नानक सिंह ने बच्चों की मनोवैज्ञानिक अवस्था को अपनी कहानी में चित्रित किया है। उनकी कुछ कहानियां, हास्यरस से पूर्ण भी हैं। नानक सिंह ने नवीन कहानियों में समाज के आर्थिक पहलू की ओर भी अपना दृष्टि-पात किया है। समाज की रूढ़ियाँ और उनसे उपजी समस्याएं ही उनकी कहानियों के विषय बने हैं। नानक सिंह ने पुरानी कहानियों में टेकनिक भी पुरानी बरती है, परन्तु नवीन कहानियों में उनकी शैली नवीन हो गई है। उनके अपने मासिक पत्र—लोकसाहित्य—में छपी कहानियों में उनकी उत्कृष्ट कला देखी जा सकती है।

श्री गुरुबक्श सिंह सम्पादक 'प्रीत लड़ी' भी पंजाबी में गत बीस वर्षों से कहानियां लिख रहे हैं। उनकी कृतियों के नाम हैं—प्रीत कहानियाँ, अनोखे ते अकल्ले, नाग प्रीत दा जादू, भावी मैना, आदि। आपकी कहानियों के भी दो पक्ष हैं। एक नया और दूसरा पुराना। पहली कहानियों की कृतियों में जीवन के बहुतेरे भावों की अभिव्यक्ति होती है, परंतु पिछली कृतियों में उन्होंने अपना शिल्प बदल लिया है। गुरु बक्शसिंह का विषय है प्यार। उनकी कहानियों का चक्कर प्यार के चारों ओर ही लगा करता है। प्यार का बहुत सूक्ष्म अनुभव उन्हें होता है, उनमें न केवल शरीर की गर्मी है न आत्मा की निरी ठंढक ही है। उनका विचार है कि प्यार प्रिय की प्राप्ति में नहीं वरन् उसकी पहचान में है। काम में आकंठ मग्न वस्तु-प्यार को वे प्यार नहीं समझते। गुरुवक्श सिंह के विचारों पर पश्चिमी विचारों का प्रभाव अधिक है। उनके बहुतेरे पात्र अंग्रेज हैं। पर इन दिनों उनकी कलम पर रूसी विचारों का प्रभाव पड़ा है। उन्होंने मार्क्सवादी विचारों की ओर अपनी कलम को मोड़ दिया है। मजदूरों और किसानों के दुःख-दर्द को दूर करने के लिए अपनी लेखनी का प्रयोग वे करने लगे हैं। पर पुराने अमेरिकन प्रभाव के संस्कार उन्हें कई बार अपनी ओर खींच लेते है। इन दो कहानीकारों के बाद पंजाबी कहानी-कला का दूसरा अध्याय शुरू होता है।

प्रोफेसर संत सिंह, शेखों कर्तार सिंह दुग्गल और सुजान सिंह—इस समय के प्रतिनिधि कहानी-लेखक हैं। प्रोफेसर संत सिंह शेखों किसानों की श्रेणी से आये हैं। इसलिए इनका वर्ण्य विषय भी किसान ही है। ये किसानों के आर्थिक पहलू एवं समस्याओं की ओर विशेष ध्यान देते हैं। यह कलाकार किसानों की कठिनाइयों एवं समस्याओं को बड़ी बारीकी के साथ प्रकट करता है। कलाकार को उनका अनुभव पूरी तरह से है, इसलिए वे किसी जगह उनके भावों, उनकी जरूरियातों एवं मसलों को कहने में भूल नहीं करते। टेक निक के विचार से पंजाबी के कहानी-साहित्य में शेखो ने नयी धारा चलायी है। वे यूनानी टेकनिक के अनुसार अपनी कहानी लिखते हैं। 'समाचार', 'कामेते योधे'—उनकी दो रचनाएँ पंजाबी-कहानी-साहित्य में विशेष स्थान रखती हैं। संख्या की दृष्टि से कर्तारसिंह दुग्गल ने पंजाबी में सबसे अधिक कहानियां लिखी हैं। उनकी अब तक की छपी कृतियों के कुछ नाम ये हैं—'सबेरे सार', 'पीपल पत्तियां', 'कुड़ी कहानी कर दी गई', 'अग्ग खान वाले', 'डुग्गर',

'नया आदमी', 'नवाघर'। ये अपनी कहानी में कला कला के लिये है—इस सिद्धांत का अनुसरण करते हैं। कलाको जीवन के लिए वे नहीं मानते। इससे उनकी कहानियां कई बार दिल बहलाने तथा शारीरिक कामना की पूर्ति का एकमात्र साधन बन कर रह जाती हैं। उनकी कहानियों की बहुत सी अपील वस्तुपरक है। कई जगह वे अश्लीलता की सीमा तक पहुँच जाते हैं। इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि दुग्गल एक बहुत निपुण कहानीकार हैं। वे जिस विषय को लेते हैं, उसके गहराई तक पहुँच जाते हैं। छोटी सी छोटी बातों को भी वे कलात्मक ढंग से अंकित करते हैं। उनकी कहानियाँ बहुमुखी हैं। वे जीवन के प्रत्येक क्षेत्र से अपनी कहानी का मसाला ढूंढ लेते हैं। साधारण से साधारण विषय को अपनी पैनी सूझ की तूलिका से छू कर ही कहानी का रूप दे डालते हैं। सुजान सिंह के कहानी संग्रह छप चुके हैं—'दुःख-सुख', 'दुःख-सुख तो पीछों', 'मनुष्य ते पशु', 'नरका दे देवते',। सुजान सिंह स्कूल के एक अध्यापक हैं इस लिए उनकी कहानियों के प्रायः अनेक कथानक अध्यापकों के जीवन के आर्थिक पहलू को लेकर आगे बढ़ते हैं। इसके साथ ही साथ मजदूरों के जीवन की बातों को भी उनकी कहानियाँ प्रगट करती हैं। पूंजीपतियों के दुराचरण पूर्ण जीवन का भी वहाँ नग्न चित्रण हुआ है। वे वर्तमान शासन से पीड़ित होकर नयी सरकार की अभिलाषा करते हैं। अपनी आरंभिक कहानियों में उन्होंने समाज का यथार्थ चित्रमात्र ही अंकित किया है। परन्तु अब सामाजिक बुराइयों के निवारण के उपायों का निरूपण उनकी कहानियों में मिलता है। उनके विचार में देश के सभी समाज-रोगों की चिकित्सा साम्यवादी व्यवस्था द्वारा ही हो सकती है। देवेन्द्र सत्यार्थी ने भी पंजाबी में कहानियाँ लिखी हैं। उनकी दो कृतियाँ—'भंगपोश', 'सोना गाड़ी'—छपी हैं। सत्यार्थीजी की कहानियों में कथावस्तु अनहोनी ही होती है। प्रायः उनकी कहानियाँ कहानी-लेख की तरह हो गई हैं। सत्यार्थीजी गीतकार भी हैं, इस लिए उनकी कहानियों में भावनाओं की प्रधानता है, कविता की भाँति उनकी कहानिया हलकी-फुलकी होती हैं।

श्री गुरुमुख सिंह मुसाफिर के—'बखरी दुनियाँ', 'सस्ता तमाशा', दो कहानी-संग्रह छपे हैं। उनकी कहानियों में नाना अनुभूतियाँ और नाना जीवन-विज्ञान मिलता है। डा० मोहन सिंह दिवाना ने बुढापे में आ कर कहानियां लिखी हैं। फिर भी कहानीकार के रूपमें पंजाबी के कलाकारों में उन्होंने अपना विशेष स्थान बना लिया है। उनकी रचनाएँ 'देवेन्द्र बत्तीसी', 'रंग तमाशे'—छपी हैं, जिनमें उन्होंने नित्य के जीवन के अनेक पहलुओं का चित्र खींचा है। वे कला को कला के लिए बरतते हैं, पर नैतिकता एवं सभ्याचार का उपदेश भी उनकी कहानी में मिलता है। प्रोफेसर मोहन सिंह, अमृता प्रीतम और नौरंग सिंह ने भी पंजाबी कला का अभिवर्द्धन किया है। प्रोफेसर मोहन सिंह ने 'नीकी नीकी वासना' नाम की पुस्तक लिख कर यह घोषणा कर दी है कि जहाँ वे कवि हैं, वहीं उच्च कोटि के कहानीकार भी हैं। 'अमृता प्रीतम' ने 'छब्वी बडे बाद' और 'कुंजियां'—दो कहानी-संग्रह दिये हैं।

इनमें उपभावुकता और भावना कविता जैसी ही है। कविता की भाँति उनकी कहानियाँ उतनी सफलता नहीं प्राप्त कर सकीं। नौरंग सिंह एक सुलझे हुये अच्छे विचार

के अनुभवी कहानीकार हैं। उन्होंने गावों के जीवन से अपनी कहानियों का मसाला लिया है। 'बोझल पंड', उनकी कहानियों का संग्रह है। बहुत दिनों से नौरंग सिंह ने कोई नई कहानी नहीं लिखी है।

इसके अनंतर पंजाबी कहानी का तीसरा अध्याय प्रारम्भ होता है। इस अध्याय में महेन्द्र सिंह सूरजा, नभ तेज, कर्तार सिंह सूरी, कुलवन्त सिंह बी० ए०, सन्तोष सिंह धीर, यशवन्त सिंह कमल, और सुरेन्द्र सिंह नरूला आदि प्रसिद्ध कहानीकार हैं। महेन्द्र सिंह सरजा की पुस्तक—'संगना भड़ी सबेर',—छप चुकी है। इसमें भावी कहानीकार की आशा है। कहीं-कहीं मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के कारण उनकी कला ऊर्ध्वगामिनी हो गई है। 'नभ तेज' ने अब तक कोई कहानी—संग्रह नहीं दिया है, फिर भी वे पंजाबी के एक सफल कहानी लेखक हैं। 'प्रीत लड़ी' में छपी उनकी कहानियाँ काफी ऊंचे स्वर की होती हैं। 'मनुष्य दे पैरो', और 'जलयांवाला बाग', उनकी प्रसिद्ध कहानियां हैं। नभतेज मार्क्स-वादी विचारों के प्रचारक हैं और समाज को नये सिरे से बनाने की कामना करते हैं। कर्तार सिंह सूरी के दो कहानी-संग्रह छप चुके हैं—'प्रभात किरण', और 'अर्श के फर्श'। अर्श के फर्श में उनके अग्रगामी विचारों का पता लगता है। 'हातो', 'अन्न दाता', 'बद किस्मत' आदि कहानियों में उन्हें बड़ी सफलता मिली है। कुलवन्त सिंह वारिक 'छाह बेला' के लेखक हैं। सन्तोष सिंह धीर ने 'सिहियांदी छांह' का निर्माण किया है। ये तरुण कहानीकार हैं जो पंजाबी के कथा-साहित्य की अभिवृद्धि में योग दे रहे हैं। यशवन्त सिंह मिल की कहानियाँ बहुत सफल हैं। वे ग्रामीण जीवन की झांकियां अपनी कहानियों में दिखाते हैं। किसानों की कठिनाइयों के साथ-साथ उनके निराकरण की बातें भी बताते हैं। कई जगहों में वे सरमायेदारों के विरुद्ध व्यङ्ग भरी बातों से चोट भी करते हैं। 'कंडे' उनकी सुप्रसिद्ध रचना है। सुरेन्द्र सिंह नरूला की कृति, 'लोक-परलोक', काफी अच्छी कहानियों का संग्रह है। इनके अलावे भी बहुत से कहानीकार पंजाबी कहानी को समृद्ध बनाने में लगे हैं।

उपन्यास

पंजाबी उपन्यास को तीन युग में बाँट सकते हैं। पहला युग भाई वीर सिंह से प्रारंभ होता है। भाई वीर सिंह का पहले का लिखा उपन्यास 'सुन्दरी' १८९७ ई० का है, "सत-वन्त कौर" १९०० और 'विजय सिंह' १८९६। तीन उपन्यास इन्होंने लिखे। इन तीनों के विषय केवल धार्मिक हैं। इन कहानियों के चित्र की रेखा इतिहास से ली गई है। पर समस्त आंतरिक रंगसाजी उपन्यासकार की अपनी कल्पना से प्रसूत है। इन कृतियों में सिक्खों के आदर्श को सामने रखकर उनकी महत्ता दर्शायी गयी है। सिक्ख लड़कियों द्वारा कठिन से कठिन विपत्ति झेलकर भी अपने सत्कर्त्तव्य पर अटल रहने का आदर्श दिखाया गया है। समालोचनात्मक दृष्टि से देखा जाय तो इस उपन्यास का गुम्फन एक आदर्श को सामने रख कर किया गया है। उस आदर्श की सिद्धि के लिये उचित-अनुचित सम्भव-असंभव सभी विधियाँ कलाकार अपने व्यवहार में लाता है। यही कारण है कि इनके पात्र केवल कल्पना की धुंधली छाया बनकर रह गये हैं, जो वास्तविकता से बहुत दूर हैं। भाई साहब

ने सतवन्त कौर की नायिका—सतवन्त का चित्र त्रुटि-रहित दोष-रहित एवं पूर्ण आदर्श बनाया है। वह मुसलमानों के प्रान्त में ले जाई गई, वेची गई है और इसी भाँति के अनेक संकटों की शिकार हुई है। फिर भी उसका धर्म ज्यों का त्यों सुरक्षित रहा। बाबा नौद सिंह, भाई वीर सिंह के पहले के उपन्यासों की अपेक्षा अधिक सफल उपन्यास हैं। इसे आप ने १६२१ में लिखा है। इसमें भाई साहब ने पहली बार धार्मिक एवं सामाजिक समस्याओं को एकत्र करके जनता के सामने पेश किया है। इसका आदर्श भी यद्यपि सिक्खी-प्रचार ही है, तथापि इसमें सुन्दरी, विजय सिंह, सतवन्त कौर की तरह कट्टरता या संकीर्णता नहीं है। बाबा नौदसिंह उनका सर्वश्रेष्ठ उपन्यास है। इसमें हिन्दू-मुसलमान, दोनों के प्रति एक सी हमदर्दी और मेहरबानी दिखाई गयी है। वे धार्मिक प्रचार भी करते हैं और सामाजिक बुराइयों को निकाल कर अच्छा बनाने की कोशिश भी करते हैं। वे सत्य और न्याय के लिए लड़ते हैं। इस उपन्यास की विशेषता यह है कि इसमें नाटकीय भावों का वर्णन है। दूसरे पात्रों के साथ बाबा नौदसिंह की बात-चीत इतनी नपी-तुली है कि पाठकों की आँखों के सामने वेगसे चलते हुए छाया-चित्रों की तहर पास हो जाती हैं, और पाठक एक विचित्र रसका अनुभव करता है। परन्तु यह वार्तालाप लम्बे व्याख्यानों में बदल जाता है, जिससे कहानी की गति में रुकावट पैदा हो जाती है। इससे उपन्यास एक बोझिल एवं अनावश्यक वस्तु बन जाता है। ये दोष इस उपन्यास में बहुत जगह पाये जाते हैं, खास कर इस उपन्यास का दूसरा भाग नीरस एवं उबानेवाला बन जाता है। इस भाग में मूल कहानी तो समाप्त हो जाती है, पर केवल सैद्धान्तिक विचारों का अधिक विस्तार ही दीखता है। फलतः उपन्यास उपन्यास न रह कर सिद्धान्त-विवेचन हो जाता है।

इस उपन्यास की भाषा सुलझी एवं रसाप्लावित है। शब्दावली गुरु ग्रन्थ साहब से ली गई है। भाई मोहन सिंह वैद्य ने तरण-तारण (अमृतसर) १८८१–१९३१ में भाई वीर सिंह के दिखलाये हुये रास्ते पर चलते हुये कुछ सामाजिक एवं धार्मिक उपन्यास लिखे। इनमें बहुत से उपन्यास दूसरी भाषाओं के आधार पर लिखे गये हैं। 'एक सिख घराना', 'सम्पत्ति प्यार', 'सुभाग कौर', 'सुशीला विधवा' आदि उपन्यास आप के प्रसिद्ध हैं। भले ही मोहन सिंह वैद्य के उपर्युक्त उपन्यास नियमों के अनुसार बहुत ऊँची कृतियाँ नहीं हैं, फिर भी यह मानने से इन्कार नहीं किया जा सकता कि क्या उस समय के सामाजिक, धार्मिक, समस्याओं को उन्होंने सही तरीके से हल नहीं किया ? उन्होंने पंजाबी लोगों के मन में उपन्यास पढ़ने का शौक काफी हद तक उत्पन्न किया। एस. एस. चरण सिंह शहीद ने १८९१ से लेकर १६३५ तक में 'रणजीत कौर', 'दलेर कौर', 'चंचल मूर्ति', 'दो बहुरियाँ', नाम के सामाजिक एवं ऐतिहासिक उपन्यास लिखे। 'शहीद' के उपन्यासों की बड़ाई इसलिए है कि उन्होंने धार्मिक एवं सामाजिक विषयों को एक ही जगह मिश्रित नहीं होने दिया। दोनों को अलग अलग दिखाया है। जहाँ 'रणजीत कौर' धार्मिक एवं ऐतिहासिक उपन्यास है वहाँ 'दो बहुरियाँ' सामाजिक सुधार के लिए लिखा गया है। भाई वीर सिंह जी की लेखनी में आदर्श की रुचि महान है, पर शहीद की रचना में आदर्श और यथार्थवादिता प्रधान है। इसके पश्चात् 'मीरा बक्स मिनहास' ने १६२७ में ग्राम-सुधार के विषय को मुख्य रखकर एक उपन्यास लिखा था। ग्रामीण रीति-रिवाजों

के चक्कर में पड़कर जो लोग] बेहद कर्ज लेते हैं उनके विरुद्ध यह उपन्यास एक करारी चोट है। भाषा बड़ी शान्त एवं पात्रों के अनुकूल है। स्थानीय रंग बहुत स्वाभाविक हैं।

पंजाबी उपन्यास के दूसरे युग में वस्तुतः पंजाबी के मौलिक उपन्यासों ने जन्म लिया। वह नानक सिंह से १९१७ में आरंभ होता है। सबसे अधिक मौलिक उपन्यासों की रचना का श्रेय नानक सिंह को ही प्राप्त हुआ है। आपने अब तक ढाई दर्जन उपन्यास लिखे, इनमें नीचे लिखे अत्यधिक प्रसिद्ध हैं—'चिट्टा लहू'—१९२२; कागजा दी बेड़ी–१९३३, 'फौलादी फूल'—१९३५, प्यार दी दुनिया—१९३८, गरीब दी दुनिया—१९४८, अधखिल्या फूल्ल—१९४०, पवित्र पापी—१९४१, जीवन संग्राम—१९४२, धुंधले परछावें—१९४३, 'दूर किनारा'—१९४६, अग्ग दी खेड—१९४६, खूंन दे सोहले—१९४९, 'मझधार'—१९४६, 'चित्रकार'—१९५०, कटी हुई पतंग—१९५२, आदम खोर—१९५३, नासूर—१९५३ इत्यादि।

नानक सिंह से पहले के लेखकों ने जहाँ धर्म या इतिहास को ही उपन्यासों के विषय बनाये थे, वहाँ नानक सिंह ने पहली बार पंजाबी पाठकों की रुचि को मोड़कर जीवन की सही आवश्यकताओं की ओर खींच लिया। 'चिट्टा लहू' में सामाजिक कमजोरियों के सारे पहलू आये हैं। उन सारी बातों को एकत्र करके उपन्यासकार ने इस एक ही उपन्यास द्वारा समाज की अनेक कुरीतियों का एक बार ही सुधार करने का प्रयत्न किया है। ये उपन्यास-लेखक के तारुण्य की कृतियाँ हैं। उनकी उमंगें भावुक होने की सूचक हैं। प्रिन्सपल तेजा सिंह के जैसे साहित्य-पारखी ने नानक सिंह के इस उपन्यास को मास्टर पीस माना है। वे नानक सिंह की उपन्यास-कला को 'चार लेश' ब्रिकनेश के बराबर समझते हैं। नानक सिंह के उपन्यासों में सबसे अधिक बल कहानी रस पर दिया गया है। उनका विचार है कि उपन्यास में सबसे अधिक महत्व कहानी में दिया जाना चाहिये। वे अपने प्लाट में घटनाओं की लड़ी का ख्याल रखते हैं कहीं भी किसी प्रकार के तंतु को ढीला नहीं होने देते। किसी भी पात्र या घटना को बीच में अधूरा नहीं छोड़ते। सारी छोटी-छोटी घटनाओं को बड़ी के अधीन और उससे संबद्ध करके सब तंतुओं को एक-एक करके खोल देते हैं। कहानी का रस कहीं भी कम नहीं होने पाता। इससे पाठक जानने के लिए उत्सुक रहता है कि आगे क्या होगा।

नानक सिंह के उपन्यासों की बनावट दो तरह की है। पहली में अनेक तरह की घटनाओं का समावेश है, मालूम होता कि घटनाओं की भरमार हो गयी है। एक घटना दूसरी घटना से ही उत्पन्न हो पड़ती है। ऐसे उपन्यासों—चिट्टालहू, कागजां दी बेड़ी, फूल्लां दी फूल्ल, प्यार की दुनियां, गरीब की दुनियाँ आदि—में घटनाओं की बहुलता होने के कारण वे उपन्यास में आगत पात्रों के चित्रण में अधिक ध्यान नहीं दे सके हैं। इसलिये पात्रों के चुनाव में कमजोरी रह गई है। असल में जिन उपन्यासों में लेखक का लक्ष्य समाज सुधार करना था, उनमें उन्होंने अपना सारा बल सामाजिक अवगुणों के नग्न चित्रण में लगा दिया है। समाज में स्त्रियों का स्थान, विधवा - विवाह का प्रचार, स्त्रियों की पुरुषों के साथ समानता, अछूत–उद्धार, मजहबी ठेकेदारों के पोल खोलना, हिंदू-मुसलिम एकता आदि में उनका कृतित्व दिखाई देता है। दूसरे प्रकार में वे उपन्यास

आते हैं जिनकी गुम्फनायां तो एकहरी है अथवा सादी है, उलझनदार नहीं, जैसे—जीवन-संग्राम, पवित्र पापी, अधखिल्या फूल्ल, धुंधले परछावे, खून दे सोहले, अग्ग दी खेड, मझधार आदि। इनकी सादी और एकहरी गुम्फना के कारण ये उपन्यास पात्रों के गुण में न केवल पूरे ही उतरते हैं, बल्कि इनमें कुछ पात्र मनोवैज्ञानिक बनकर महान हो गये हैं, जैसे—केदार (पवित्र पापी), बक्शी धर्मचंद, पूर्णचंद (जीवन संग्राम), कुलदीप तथा वरयाम सिंह (अधखिल्या फूल्ल), बाबा भाणा (अग्ग दी खेड) इत्यादि । ये नानक सिंह के जीते-जागते पात्र हैं, जिनकी रचना लेखक ने बड़ी मनोवैज्ञानिक दृष्टि और परिश्रम से की है । वार्तालाप प्रस्तुत करने में पंजाबी का कोई भी लेखक नानक सिंह की समता नहीं कर सकता। वे हर पात्र की भाषा उसके स्वभाव के अनुसार, उसकी श्रेणी के अनुकूल उपस्थित करते हैं। ग्रन्थी दसौंधा सिंह, राधा कृष्ण, पाला सिंह (चिट्टालहूं), रसियां (अधखिल्या फूल्ल), चम्बेली (कटी हुई पतंग)—इन सबकी भाषा पृथक् पृथक् है, जो इन सबकी प्रकृति को अलग-अलग करती है । उनके मुसलमान पात्र उर्दू-फारसी के शब्दों का व्यवहार करते हैं। उनके मजदूर पात्रों के वार्तालाप में अपठितता, गरीबी, अनाथता और भोलापन टपकता है। उनके सरमायेदारों की भाषा में, ऐंठ, रोब और अमीरी का घमण्ड झलकता दिखाई देता है। जितनी लोकोक्तियाँ अकेले नानक सिंह ने बरती हैं उतनी शायद पंजाबी के सब लेखकों ने मिलकर भी नहीं बरती होंगी। नानक सिंह की कला उनकी पकी उम्र के साथ-साथ बढ़ती जा रही है। अपने अन्तिम नाटक में वे समाज-सुधार के मानसिक भावों के नारों को त्याग कर असली सामाजिक मूल को हमारे सामने ले आ रहे हैं। यही कारण है कि उनके अन्तिम उपन्यास मानसिक भावों की अपील की जगह परिपक्व यथार्थ रुचियों के द्योतक हैं। वे आर्थिक असाम्य के स्तरों निरीक्षण करते हुए उनके भावों को प्राप्त करने में वे बताते हैं कि हमारे समाज में स्त्री एक कटी हुई पतंग है जिसको प्राप्त करने के लिए प्रत्येक मनुष्य दौड़ता है। या तो वह बहुतों के हाथ आकर फट जाती है, या किसी एक की कामनाओं की शिकार होकर रह जाती है। यह सब कुछ इस लिए है कि स्त्री आर्थिक दृष्टि से मनुष्य के बराबर नहीं है। इसी तरह 'आदम खोर' और 'नासूर' में बतलाया गया है कि सरमायेदार-आदमखोर गरीब जनता का खून चूसकर अपने महल खड़े कर रहे हैं। और सरमायेदारी हमारे समाज के शरीर पर एक ऐसा भयानक नासूर (फोड़ा) बन गया है जो समाज में अपना विष फैलाकर इसमें दुर्गंध एवं गन्दगी फैला रहा है। नानक सिंह अभी भी उपन्यास लिखते जा रहे हैं। पंजाबी पाठकों को उनसे और भी अच्छी आशाएँ हैं।

मास्टर तारा सिंह ने १९३४ प्रेम-लगन नाम का उपन्यास लिखा , जिनमें कहानी का आधार अकाली लहर को मानकर उपन्यास की रचना की गई है। उन्होंने अकाली लहर का अनुभव कर बड़ी वास्तविकता से उसका चित्रण किया है। शायद इसीलिए लहर के साथ उनका आत्मीय-सा सम्बन्ध है। इस उपन्यास की कहानी काफी दिलचस्प है, पर कहीं-कहीं अधिक विस्तार भी हो गया है। पात्र-रचना की दृष्टि से यह कृति बहुत सफल नहीं कही जा सकती।

प्रिन्सपल निरञ्जन सिंह की प्रेमकली, ईश्वर चन्दर नन्देदा, मुराद और तेज

कुँवर, सर योगेन्द्र सिंह की कमला और कामिनी इस समय के कुछ और उपन्यास हैं। आई. सी. नन्दे के उपन्यासों में न तो नाटकों की तरह कलामयी गुम्फना है, न पात्रों के व्यक्तित्व का विकास ही है।

पंजाबी उपन्यास की तीसरी अवस्था प्रोफेसर सन्तसिंह शेखो के उपन्यास 'लहू मिट्टी', से शुरू होती है। 'लहू मिट्टी' एक पात्र-प्रधान उपन्यास है, जिसमें किसान के जीवन के संघर्ष एवं आर्थिक अड़चनों को अंकित किया गया है। उपन्यास की कहानी का विषय बौद्धिक होने के कारण कहानी बहुत बोझिल एवं गतिहीन हो गई है। पर टेकनिक की दृष्टि से यह एक सफल उपन्यास है। पात्र-रचना बहुत अच्छी है। यथार्थवादी दृष्टि से सफल बनाने के लिए लेखक ने अनेक जगहों बहुत अश्लीलता के शब्द व्यवहार किये हैं। प्रोफेसर सुरेन्द्र सिंह नरूला ने अब तक पाँच उपन्यास लिखे हैं जिनके नाम इस प्रकार हैं—प्यो पुतर, रंग महल, जगराता, दीन वे दुनिया और नीबीवार। इनमें 'प्यो पुतर' उनका सफल उपन्यास है। शेखों के उपन्यास की तरह प्रकृतिवादी अंश जहाँ इस उपन्यास को जहाँ यथार्थ रंग देता है, वहाँ अश्लीलता और कामोत्तेजक रुचियों को जगाने का दोष भी इसमें उत्पन्न करता है। वार्तालाप इस उपन्यास का नाटकीय और वास्तविक है। पर कथानक का प्रवाह मन्द और रुक-रुक कर चलता है। काण्डों के सम्बन्ध जोड़ने में भी ध्यान नहीं दिया गया है। बाकी चार उपन्यास साहित्यिक महत्ता नहीं रखते।

कर्तार सिंह दुग्गल ने 'आन्दरा' और 'नौहते मास'—दो उपन्यास लिखे हैं। 'आन्दरा' उपन्यास का प्लाट पौठोहार की जागीरदारी के समय का चित्रण करता है। पौठो-हारी भाषा का इसमें प्रयोग हुआ है, केन्द्रीय पंजाबी नहीं। यह इस कृति का एक बड़ा दोष है। क्योंकि उप-भाषाओं में साहित्यिक रचना करने से न तो हर पाठक समझ सकता है, और न इस प्रकार केन्द्रीय बोली की उन्नति और विकास ही हो सकता है। ये उपन्यास टेकनिक, विषय और वास्तविकता की दृष्टि से अप्रौढ़ एवं असफल रचनाएँ हैं। जागीरदारी के अवगुणों की जगह पर एक विशेष जागीरदार के अवगुणों की निन्दा की गई है। जागीदारी खत्म करने की जगह उस खास जागीरदार को खत्म करने की शिक्षा दी गई है। जगह-जगह पर लेखक फ्रायडियन सिद्धान्तों का पक्ष लेकर कामोत्तेजक रुचियों का प्रचारक बनता दिखाई देता है। चरित्र-चित्रण की ओर कोई ध्यान नहीं दिया गया है। 'नौहतें मास' दुग्गल की आन्दरा की अपेक्षा बहुत सफल उपन्यास है। इसमें चरित्र-चित्रण की ओर काफी ध्यान दिया है। कहानी भी अधिक रुचिकर और औत्सुक्य-उद्बोधक है।

इसके बाद यशवन्त सिंह 'कमल' पंजाबी के एक नवयुवक साहित्यकार उपन्यास के क्षेत्र में आते हैं। उन्होंने अब तक तीन उपन्यास लिखे हैं। सच नू फाँसी, पाली और पूर्णमासी। इनमें से 'पाली' चरित्र-चित्रण की दृष्टि से बहुत सफल उपन्यास है। 'पाली' उपन्यास की नायिका का स्वाभाविक चित्र लेखक ने अत्यन्त बुद्धिपूर्वक, सूक्ष्म तूलिका से खींची है। 'पूर्णमासी', ग्रामीण जीवन की एक यथार्थवादी प्रतिमा है। इसकी

कहानी—'पाली' उपन्यास से अधिक रुचिकर है। इसमें 'पाली' उपन्यास की तरह शुष्क शब्द-चयन ही नहीं, बल्कि ग्रामीणों के रस्मो-रिवाज, उनकी कुरीतियाँ, उनके प्यार और उनकी दुश्मनी आदि के चित्र बहुत सुन्दर ढंग से पेश किये गये हैं। इसके बाद नरेन्द्र पाल सिंह के तीन ऐतिहासिक उपन्यास आते हैं—सेनापति मल्लाह, उन्नताई और बड़े वाद। धार्मिक इतिहास ही उनके उपन्यास का विषय रहा है। पर भारतीय इतिहास को इससे पूर्व किसी ने विषय नहीं बनाया था। नरेन्द्रपाल सिंह एक सुलझे हुए विचारों के नवयुवक कलाकार हैं जिन्हें उपन्यास-कला का पर्याप्त ज्ञान है। वे अपने उपन्यास में गुम्फना, चरित्र-चित्रण और वार्तालाप—प्रत्येक अंग को योग्य स्थान देते हैं। नानक सिंह की तरह कहानी-रस को नहीं भी नहीं छोड़ते। अमृता प्रीतम ने कविता के साथ-साथ पंजाबी-उपन्यास क्षेत्र में भी प्रवेश किया है। उनके उपन्यास—डाक्टर देव, पींजर और आलहना—छप चुके हैं। इनके उपन्यासों के प्लाट भी इनकी कविताओं की तरह स्त्रियों की दबी-दबायी उमंगों, इच्छाओं तथा प्रेम-प्यार प्रकट करने तक ही सीमित रह जाते हैं। शायद स्त्री होने के कारण अमृता स्त्री-अनुभव ही अंकित करती हैं। उनके उपन्यासों में भावुकता और मानसिक सन्तुलन इतना कम रह जाता है कि उनकी रचना में केवल भावनाओं की अपील मात्र रह जाती है। इसके अतिरिक्त उपन्यास के टेकनीक को अमृता ने आंखों से बिलकुल ओझल कर दिआ है। इन तीनों उपन्यासों के प्लाट, एक प्लाट के तीन भाग कहे जा सकते हैं। महेन्द्र सिंह शरजा के—पीड़ा, मल्लेराह, कामयाब—उपन्यास हैं। गुरूदयाल सिंह फूल ने 'राजेन्द्र मास्टर जी' नाम का उपन्यास लिखा है। मोहन सिंह प्रेम ने 'दिल टोटे टोटे और नव जीवन—नाम के दो उपन्यास लिखे हैं। सोहन सिंह शितल ने भुल्लवा मांस और वियोगिन, महेन्द्र कुंवर ने ज्वारभाठा और पतझड़, त्रिलोक सिंह 'तूफान', ने तीन ऐतिहासिक उपन्यास—'महारानी जिन्दा', 'महारानी चन्दकौर' और 'गुरू दास नंगल दे शहीद' लिखे हैं। उपर्युक्त मौलिक उपन्यासों के अतिरिक्ति बहुतेरे उपन्यास अन्य भाषाओं से अनूदित होकर भी पंजाबी में आये हैं।

नाटक

पहले-पहल भाई वीर सिंह ने १६०८ में 'राजा लखदाता सिंह नाम का नाटक लिखा। उस समय नाटक का कोई विशेष टेकनीक नहीं था। इसी लिये यह नाटक चरित्र-चित्रण आदि के गुणों से रिक्त है। लाला कृपा सागर ने दो नाटक लिखे—महाराजा रणजीत सिंह (दो भाग), डीडो जमवाला। ये दोनों ऐतिहासिक नाटक हैं, जिनमें महाराणा रणजीत सिंह की विजयों की कहानी को ढांचा बनाया गया है। चरित्र-चित्रण की दृष्टि से इनमें अधिक सफलता नहीं मिली है। आपके बाद ब्रज लाल शास्त्री ने धार्मिक नाटक लिखे हैं जिनके नाम ये हैं—पूर्ण नाटक—१९१९ सुकनियां—१९२५ और सावित्री—१६२६। नाटकों की कहानी ऐतिहासिक घटना के आधार से रची गई है। बाबा बुद्ध सिंह (१६१६।१९३१) ने चार नाटक लिखे—मुन्दरी छल्ले, नार नवेली, दामिनी और चन्द्रहरि। ये चारो नाटक किसी प्रौढ़ टेकनीक में नहीं लिखे गये, फिर भी अपने समयानुसार ये काफी सफल-प्रयत्न हैं।

अब नवीन पंजाबी नाटक का युग प्रारम्भ होता है, जिसके आदि-प्रवर्तक प्रोफेसर ईश्वरचन्द्र नन्दा को कहा जा सकता है। आपने १६२० में सुभद्रा नाटक लिखा। उसके १० वर्षों बाद १९३० में दूसरा नाटक –'वर-घर'– रचा। यह दोनों बहु-अंगी नाटक अपने समय की सामाजिक बुराइयों के विरुद्ध आवाज उठाते हैं। 'सुभद्रा' में विधवा-विवाह की समस्या ली गई है। इसमें विधवा सुभद्रा का विवाह करा कर लेखक ने अपनी अग्रगामिता का प्रमाण दिया है। आज से ३३ साल पहले ऐसे विचारों का प्रकट करना निस्संदेह एक महान् साहसपूर्ण कदम उठाना था। 'वर घर' में प्रेम-विवाह की समस्या को पेश किया गया है। इसमें प्राचीन और नवीन विचारों का संघर्ष दिखलाया गया है। पचासों जीते-जागते नये विचार हैं। प्रोफेसर नन्दा चरित्र-चित्रण में बुद्धिमान हैं। चाहे पात्र ग्रामीण हों या शहरी—दोनों ही प्रकार के चरित्र-चित्रण में उन्होंने बड़ी स्वाभाविक सफलता का ढंग अपनाया है। ये नाटक स्टेज पर कई बार खेले जा चुके हैं। और प्रत्येक बार लोग सफल रहे। आई० सी० नन्दा ने एकांकी नाटक की दो पुस्तकें लिखी हैं—झलकारे और लिसकारे। ये दोनों पुस्तकें उन्हें एकांकी नाटक के लेखक के रूप में भी सफल प्रमाणित करती हैं। आपके बाद हरिचरण सिंह का नाम आता है। उन्होंने पंजाबी में बड़े सफल नाटक लिखे हैं, जिनके नाम इस प्रकार हैं—अनजोड़, दोष और राजा पोरस। उनके एकांकी-संग्रह हैं—सतऋषि और जीवन-लीला। हरिचरण सिंह समाज की कुरीतियों को अपने नाटक का विषय बनाते हैं। 'अनजोड़' में बेमेल विवाह के मसले को लिया गया है कि कैसे हमारे समाज में हजारों-लाखों विवाहित अनमेल विवाह के कारण दुःखित हो रहे हैं। ऐसा केवल इसलिये है कि समाज उन दोनों के परस्पर विचारों, स्वभावों एवं योग्यताओं से अपरिचित रहते हुए भी दोनों को एक साथ जोड़ देता है, जीवन भर के लिये। 'दोष' नाटक में स्त्री पर पुरुष की ओर से हो रहे अत्याचारों का चित्र खींचा गया है। 'राजा पोरस' एक ऐतिहासिक नाटक है। हरिचरण सिंह समाज के कोढ़ों का दिग्दर्शन कराते हैं, परन्तु उनका कोई इलाज नहीं बताते। वे यह तो बतला देते हैं कि बेमेल विवाह बुरे हैं, पर यह बीमारी कैसे दूर हो सकती है—इसका उत्तर उनकी लेखनी नहीं देती। हरिचरण सिंह एकांकी नाटककार के व्यक्तित्व में बहुत सफल हैं। वे अपने नाटकों के प्लाट की ओर विशेष ध्यान देते हैं तथा घटनाओं को उलझनपूर्ण बनाते हुए भी कथानक को सरस और आकर्षक बनाए रखने में विशेष प्रयत्नशील रहते हैं।

नानक सिंह उपन्यासकार ने 'बी० ए० पास' नाम का एक नाटक लिखा, जिसमें पाश्चात्य सभ्यता की कुरीतियों की नग्न तस्वीर खींची है। इसमें हास्य रस एवं दुःखान्त भावनाओं का उल्लेख भी है। गुरू बकस सिंह का नाटक 'राम कुमारी लतिका' एक प्रसिद्ध रचना है। कहानी का प्लाट मनःकल्पित है, पर ऐतिहासिक होने का भ्रम होता है। इसमें सहज एवं स्वच्छन्द प्यार का विषय लिया गया है। 'लतिका' नाम की एक कुमारी के एक इन्कलाबी किसान नौजवान (मनधीर) से प्यार की कहानी है। प्रोफेसर 'सन्तसिंह शेखो' नाटककार के रूप में पंजाबी साहित्य के बड़े ही प्रसिद्ध कलाकार हैं। कहानीकार की अपेक्षा उनका यह रूप अधिक विख्यात है।

उन्होंने बहुअंकी और एकांकी—दोनों प्रकार के नाटकों की रचना की है, और दोनों में उन्हें सफलता मिली है। उनके लम्बे नाटक हैं—'कलाकार', 'नारकी' और एकांकी नाटकों के दो संग्रह हैं—'छ घर', 'और तपया क्यों खप्या'। कलाकार में उन्होंने हिन्दू इतिहास के गौतम ऋषि और अहिल्या की कहानी लेकर उसको आधुनिक समय के अनुकूल बनाकर यथोचित रंग देने का प्रयत्न किया है। 'इन्दर' नामक एक कलाकार इस नाटक का नायक है जो अहिल्या पर मोहित हो जाता है। पर वह अपनी इच्छा को कला का रूप देकर सन्तुष्टि प्राप्त करता है। वह अहिल्या का नग्न चित्र बनाता है। जब उसके पति गौतम को इस बात का पता लगता है तो वह क्रोध में अहिल्या को भला-बुरा कहता है। पर यहाँ गौतम का क्रोध गौतम के कोप की तरह नहीं है। अहिल्या की सचाई पर वह विश्वास कर लेता है। इस तरह यह नाटक सुखान्त होता है। इस नाटक का वर्ण्य विषय प्रसिद्ध होने के कारण पाठकों को सरस नहीं लगता। कला के सिद्धान्तों की विस्तृत बातों और लम्बी-चौड़ी बहस के कारण इस नाटक से पाठकों या दर्शकों का जी ऊबने लगता है। पात्रों का व्यक्तित्व बड़ी मनोवैज्ञानिकता से प्रदर्शित किया गया है। प्रोफेसर शेखो की रचना में हमको बौद्धिक और रोमांटिक, दोनों ही चेतना के तत्त्व मिलते हैं। शायद इसलिये कि वे प्रोफेसर भी हैं और जाट भी हैं। पर विचार उनके समाजवादी ही हैं। वे वर्तमान समाज की गतिविधि से सन्तुष्ट नहीं जान पड़ते। 'कलाकार' बहु-अंकी नाटक है। 'हड़ताल' एकांकी है। उनके एक अन्य एकांकी में हमें उनके अग्रगामी विचार दिखाई देते हैं।

इसके बाद पंजाबी नाटक-कला में बलवन्त गार्गी का नाम आता है। उनके नाटकों के नाम ये हैं—लोहाकुट्ट, शैल पत्थर, नवा मूढ्ढ, और घुग्धी; और एकांकी नाटक-संग्रह है—बे बे पत्तन दी बेड़ी। बलवन्त गार्गी भी एक समाजवादी कलाकार हैं जो पूँजीपतियों की लूट-खसोट का यथार्थ चित्र सामने रखते हैं। साथ-साथ पददलित जनता के दुःख-दर्दों को प्रकट करते हैं और किसी हद तक उसका इलाज भी बतलाते हैं। 'लोहाकुट्ट' का विषय भारतीय नारी की, उस सामाजिक कानून के विरुद्ध बगावत है जिसने सदियों से नारी को गुलामी में जकड़ रखा है। यह नाटक दुःखान्त है। 'शैल पत्थर' में कला के सिद्धांतों की चर्चा करनेवाली एक रुचिकर कहानी है। उसमें बताया गया है कि समाजवादी कला क्या है, और कैसे समाजवादी कलाकार देश की हालत को अपने कला-कौशल से बदल सकता है। इसमें नायक जयदेव और नायिका सबीड़ा के कला-विषयक विचारों से टक्कर होती है। पर अन्त में जयदेव को सबीड़ा के समाजवादी विचारों के आगे नत-मस्तक होना पड़ता है। बलवन्त गार्गी की भाषा पात्रों के स्वभाव के अनुकूल होती है। ग्रामीण जीवन की भाषा और चित्र अंकित करने में उन्हें सफल-प्रयत्न कहना अनुचित न होगा। फिर भी आई० सी० नंदा की ग्रामीण माली का मुकाबला गार्गी नहीं कर सकी। नागरिक पात्रों की बोली में गार्गी ने बहुत स्वाभाविकता नहीं दिखलाई है। गुरु दयालघोष ने 'बुहे वैरीधी' बहु-अंकी नाटक लिखा है और 'बेघड़े' नाम का एकांकी-संग्रह लिखा है। प्लाट यद्यपि बहुत उत्तम नहीं, पर स्टेज की दृष्टि से इनके नाटक काफी सफल समझे जाते हैं। 'बेघड़े' एकांकी में भारत के बँटवारे से बेघर हुए लोगों की समस्याएँ हैं। इसके अतिरिक्त

इन्द्रसिंह चक्रवर्ती ने 'प्रीत पैगम्बर', डा० गोपालसिंह ने 'लाली', बलवीरसिंह ने 'उदींते हुण' (तब से अब), गुरू दयाल फूल्ल ने 'डोल दी लाट', कर्तारसिंह दुग्गल ने एकांकी-संग्रह 'एक सिहर सिचर', 'सन्तरेण सिंह वन्तो' आदि नाटक लिखे। आजकल पंजाबी मासिक पत्रों में बहुतेरे तरुण नाटककार अपनी कला का प्रदर्शन कर रहे हैं।

गद्य, लेख, जीवनी और समालोचनाएँ

पंजाबी गद्य के प्रवर्तक भाई दित्तासिंह, ज्ञानी ज्ञानसिंह, भाई मोहनसिंह वैद्य और भाई वीरसिंह हैं। आप सबने सिंह सभा-लहर के नीचे धार्मिक भावों को मुख्य रखकर गद्य रचना की। भाई वीरसिंह की रचना का बहुतसा हिस्सा गुरुसिखी साहित्य है। आपने अपने लेखों द्वारा सिखी की मिठास, सिखी का सिद्धान्त, सिक्खों का इतिहास लोगों में प्रचारित किया है। आपके लिखने का ढंग बड़ा सरल और प्रभावपूर्ण है। रहस्यमय दार्शनिक सिद्धान्तों को तर्कपूर्ण रीति से एवं भावनात्मक शैली में आप अभिव्यक्त करते हैं। प्रोफेसर पूर्णसिंह के गद्य के ऊपर भाई वीरसिंह का प्रभाव प्रकट दीख पड़ता है। पूर्णसिंह उतने सैद्धांतिक नहीं हैं जितने काव्यात्मक हैं, सिद्धान्त के उतने विस्तारक नहीं हैं जितने आलंकारिक हैं। मुक्त लेखों में आपकी गद्य-रचना का नमूना उच्च कोटि का है। आपके गद्य का प्रधान विषय प्यार है। आपका विचार है कि प्यार के बिना न कविता उत्पन्न होती है, न धर्म, न मित्रता, न कीर्ति और न हुनर। आपके काव्य में ये विचार-चित्र छोटी-छोटी बातों में निहित हैं। वे ऐसे संकेत हैं जिनके अर्थ अनुभूति-गम्य तो हो सकते हैं, समझाने से समझाए नहीं जा सकते। इसलिये पूर्णसिंह के गद्य में और लेखकों से धुँधलापन अधिक है।

पूर्ण सिंह पंजाबी में विशुद्ध साहित्यिक निबंध के प्रथम लेखक हैं। वे किसी खास सिद्धान्त को समझाने के लिये रचना नहीं करते। वे केवल अपनी व्यक्तिगत अनुभूतियों वा भावनाओं को प्रकट करने के लिये ही लिखते हैं। उनकी बोली पुरानी पंजाबी पोठोहारी, हिन्दी-फारसी शब्दों की मिली-जुली है। चरणसिंह शहीद का गद्य भी उनकी कविता की तरह हास्यरस से भरा हुआ है। 'बाबे बरयाम' शीर्षक लेख में उन्होंने कई सौ लेख हास्यरस के लिखे। उनके बाद बाबा प्रेमसिंह ने भी पंजाबी गद्य की उन्नति में महत्त्वपूर्ण योग दिया है। उन्होंने सिख इतिहास का आधार लेकर 'रणजीत सिंह', 'खालसा राज्य के विदेशी कारिन्दे', 'खालसा राज्य के उसरैये', 'हरिसिंह नलवा' आदि ग्रंथ लिखे हैं। ज्ञानी लालसिंह कमला अकाली ने 'मेरा विलायती सफरनामा' 'मौत रानी दा घुन्ड'—दो किताबें लिखीं हैं। पहली में आपने अपने पश्चिमी सफर का वर्णन बड़े अच्छे ढंग से लिखा है। दूसरी किताब में मृत्यु को एक अवश्यंभावी और बड़ी आवश्यक वस्तु सिद्ध किया है। डा० शेरसिंह ने 'प्रदेशवाडर' नाम की किताब लिखी है, जिसमें आपने पश्चिमी यात्रा का हाल लिखा है।

इनके बाद प्रिंसपल तेजासिंह का नाम आता है, जिन्होंने पंजाबी गद्य की महान् सेवा की है। आपके विषय सभ्याचारक या साहित्यिक होते हैं। वर्ण्य विषय चाहे गंभीर हों या हँसानेवाले, आपकी कथा का एक आदर्श होता है। आपकी लिखी पुस्तकों के

नाम हैं नवीं सोच्यां, सभ्याचार, सहज स्वभाव, साहित्य दर्शनी। तेजासिंह एक तीव्र-बुद्धि कलाकार हैं। इसलिये उनकी लेखनी बड़ी न्यायपूर्ण है। उसमें विचारों का संयोजन बड़ा उत्कृष्ट होता है। आप लम्बी-चौड़ी भूमिकाएँ नहीं बाँधते। आपका पहला वाक्य ही विषय के आवश्यक अंग का स्पर्श कर जाता है। हर पैरा में, छोटे-छोटे वाक्य, सहज रीति से बँधी हुई पंक्तियों में स्वाभाविक गति से आते चलते हैं। कहीं कोई अनावश्यक प्रयत्न या खींच-तान नहीं प्रतीत होती।

इनके बाद गुरुबक्शसिंह का नाम लिया जाता है। आपने पंजाबी गद्य को बहुत संपन्न बनाया है। आपकी कृतियों के नाम ये हैं—सावी पद्धरी, जिन्दगी, सुखां दी सुधरी, प्रसन्न लम्बी उमर, चंगेरी दुनिया, नवा शिवाला, एक दिनाया दे तेरह सुपने, और साते बारस आदि। गुरुबक्श सिंह ने विचार की नवीनता के साथ-साथ लिखने का सुन्दर ढंग भी पंजाबी को दिया है। गुरुबख्श सिंह के ऊपर पश्चिमी सभ्यता और संस्कृति का प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ा है। न केवल उनके विचारों में वरन् लिखने के ढंग में भी पाश्चात्य प्रभाव दिखाई देता है। एमर्सन का प्रभाव साफ देखा जा सकता है। गुरुबक्श सिंह को शब्दों का जादूगर कहा जा सकता है। शब्दों का समर्थ और सफल उपयोग उनकी विशिष्टता है। इसमें वे पंजाबी के बहुतेरे साहित्यकारों से आगे हैं। उनके विचार नवीन हैं। पंजाबी साहित्य में ऐसे विचार, जिनमें पच्छिमी सभ्यता की छाप हो, पहली बार गुरुबक्श सिंह ने प्रकट किए हैं।

उनकी भाषा भी उनकी विचारधारा को प्रकट करने में निपुण है। पहलेपहल गुरुबक्शसिंह पर अमेरिकन विचारों का प्रभाव था, जो उनकी रचनाओं में स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। पर धीरे धीरे अमेरिकन प्रभाव को त्याग कर वे रूसी विचारों के प्रभाव को अपनाते दिखाई पड़ते हैं। आजकल उनका गद्य केवल साम्यवादी विचारों का ही प्रचार करता है। पर अब भी उनके लेखों में अमेरिकन संस्कारों का जड़ से उन्मूलन नहीं हो पाया है। उनकी आरंभिक रचनाओं की सीमा भारत के बँटवारे से पहले की कह सकते हैं। उनकी जीवन-दृष्टि या दार्शनिक भित्ति फ्रायड और बर्नार्डशा की भाँति पूँजीवादी संस्कारों से उद्भूत होने के कारण धुँधली सी रह जाती है। आज के युग का प्रभाव उनको मार्क्सवादी विचारों की ओर खींचता है। प्राचीन संस्कार उनको पीछे की ओर ले जाते हैं। फिर भी वे वैयक्तिक आदर्शों से सामाजिक आदर्शों की ओर जा रहे हैं।

इनके अतिरिक्त प्रिंसपल योधसिंह ने गुरुमत निर्णय, मास्टर सुजानसिंह ने बिजली दे चमत्कार, प्रोफेसर जगदीशसिंह ने बच्चे दे पहले साल, गुनझलदार बच्चे और सारे बच्चे आदि पुस्तकें लिखीं। देवेन्द्र सत्यार्थी ने लोकगीत-सम्बन्धी 'दीवा बले सारी रात' और 'गीद्दा' नाम की पुस्तकें रची हैं। उण हरदत्तसिंह ने पूर्व पश्चिम और गरीब हिन्दुस्तान, करनल भोलानाथ, काजी फजलहक, जो सुया फजलदीन, ज्ञानी हीरासिंह दर्द और अवतारसिंह आजाद ने पंजाबी गद्य की रचना में समुचित सहयोग दिया है। प्रोफेसर साहबसिंह ने गुरुवाणी व्याकरण, धार्मिक लेख और टीके प्रकाशित किए हैं। रामसिंह ने शब्द-चमत्कार और भाई काहनसिंह नाभा ने महान् कोश की रचना की है।

इसके अनन्तर पंजाबी साहित्य में खोज और समालोचना का स्थान है। बाबा बुद्ध-सिंह, डा० मोहनसिंह दीवाना, डा० सन्तसिंह शेखो, गोपालसिंह दर्दी और प्रोफेसर सुरेन्द्रसिंह कोहली इस क्षेत्र में बड़े प्रसिद्ध हैं। आज के नवयुवक समालोचक भी खोज और समालोचना की ओर ध्यान दे रहे हैं; जैसे कृपालसिंह कसेल, कर्तारसिंह सूरी, गुरुदयालसिंह फूल्ल, बलबीरसिंह दिल्ल और गुरुबचनसिंह आदि।

इस तरह पंजाबी साहित्य की साठ वर्षों की प्रवृत्ति एवं प्रगति का आलोचन करने से ज्ञात होता है कि पंजाबी साहित्य भी एक जीवित एवं गतिशील साहित्य है।

भविष्य की ओर एक दृष्टि

प्रत्येक स हित्य का उस देश के सामाजिक जीवन के साथ गहरा सम्बन्ध होता है जिसमें वह उत्पन्न एवं विकसित होता है। अतः भविष्य में पंजाबी साहित्य कौन रुख लेगा, इसका उत्तर हमको पंजाबी जनता के दिलों की धड़कन को टटोलने से ही मिल सकता है।

पंजाब बड़े दुःखों की घड़ियों से गुजरा है, और अब भी गुजर रहा है। अंग्रेजों की भेद-नीति का ही नतीजा है कि आज पंजाब दो हिस्सों में बँटा हुआ है। पंजाब की धरती अनाथ जनता के खून से लथपथ हुई है। अंग्रेजी साम्राज्य की फूट डालनेवाली कुटिल नीति ने पंजाबियों को इस हद तक गुमराह कर दिया कि वे अपनी उस सम्मिलित भाषा और साहित्य को भूल से गए जिसको आज से १००० वर्ष पहले से सब पंजाबियों ने सुरक्षित किया था और उसको चोटी का साहित्य बनाया था। उस भेद-नीति का विष पंजाब के सामाजिक जीवन में अब तक समाप्त नहीं हुआ। पश्चिमी पंजाब की मुसलमान जनता उर्दू को अपनाए बैठी है। पूर्वी पंजाब की हिंदू जनता हिंदी का ढोल बजाती है। पंजाबी सिर्फ सिक्खों की ही जबान की चीज होकर रह गई है।

इस समय हिंदी और उर्दू के प्रसिद्ध लेखक, हिंदुस्तान और पाकिस्तान में भी, अनेक पंजाबी नौजवान हैं। इन्होंने पंजाब और पंजाबी दोनों को, यदि दोनों को नहीं तो कम से कम एक को तो जरूर ही, छोड़ रखा है। इन पंक्तियों का लेखक स्वयं अपने जीवन में बहुत समय तक इसी भ्रम का शिकार रहा कि पंजाबी नाम की कोई भाषा नहीं, पंजाबी केवल हिंदी की उपभाषा है, पंजाबी लिपि केवल नागरी लिपि को तोड़-मरोड़कर बनाई गई है, इत्यादि। पर मुझे प्रसन्नता है कि शान्ति-निकेतन में कवींद्र रवींद्रनाथ ठाकुर और श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी जैसे सज्जनों से उसका संपर्क हुआ और असलियत सामने आई। नवीन और प्राचीन साहित्य का अध्ययन करने से पता लगा कि पंजाबी लिपि और पंजाबी साहित्य को अपने विशुद्ध और परंपरा-पक्क अस्तित्व की घोषणा करने का उतना ही अधिकार है जितना बंगला, मराठी या हिंदुस्तान के किसी भी प्रांतीय साहित्य को।

प्रसन्नता की बात यह है कि पाकिस्तानी और हिंदुस्तानी, पंजाब के दोनों भागों में अपनी सभ्यता की एकता का भाव अब जग रहा है। हिंदी और उर्दू, दोनों क्षेत्रों में पैर रखनेवाले पंजाबी लेखक धीरे-धीरे इस बात का अनुभव करने लगे हैं कि उनका पहला

कर्तव्य अपनी मातृभाषा की ओर ध्यान देना है। लाहौर में शादत महसन मारो, दिल्ली में देवेन्द्र सत्यार्थी, बंबई में कृष्णचंद्र और मुल्कराज आनंद, अब बिना किसी हिचकिचाहट के, अपनी मातृभाषा और उसके गौरवशाली साहित्य के संमुख नतमस्तक हैं। दोनों पंजाबों में अपने शिष्टाचार की रक्षा करनेवालों की संख्या दिन-प्रतिदिन बढ़ रही है और जातीय पक्षपात की दीवारें टूट रही हैं। उदाहरणार्थ एक लेख का छोटा सा टुकड़ा उद्धृत किया जाता है, जो जनवरी १९५४ के 'लोक साहित्य' (संपादक सरदार नानकसिंह, उपन्यासकार, अमृतसर) में छपा है। यह लेख पंजाबी के प्रसिद्ध लेखक ज्ञानी अबादुल्ला ने पाकिस्तान से भेजा है। इस लेख में कुछ लोकगीतों का वर्णन है जो बिवाह के अवसर पर लेखक ने सुने हैं। वे लिखते है—विवाह से दो दिन पहले कुछ देवियों के गीत सुने, वे नीचे दिए जाते हैं—

चनन चनन दे ओहले धिये क्यों खड़ी मैं तां
खड़ी सा वावल जी दे कोल।
बावल वर लोडिये चन्ना बीचो चन्न तारा बीच्यों
तारा काना बीचों कान कन्हैया वर लोड़िये ॥

इस गीत को बीरा, चाचा और मामा आदि पदों से पुनः गाया गया, और प्रत्येक बार अन्त में 'कन्हैया वर लोड़िये' को दोहराया गया। पाकिस्तान बनने के बाद मुसलमान ललनाओं के मुख से 'कन्हैया वर लोड़िये' पद सुनकर मेरे शरीर में विद्युत् की लहर-सी मानो झनझना उठी। आज मैं इस बात पर हैरान हो रहा था कि ये गानेवालियाँ उन पंजाबियों की माताएँ और बहने हैं, जिन्होंने बिना सोचे-विचारे १९४७ के झंगड़ों में कन्हैया के श्रद्धालुओं के खून में हाथ रंगे थे। मुझे यह गीत हिंदू मुसलिम एकता की पुरानी याद दिला रही है। मैं बारबार यह सोचता रहा कि आह! हम लोग किस स्थान पर पहुँच चुके हैं। आज दो जगह विभक्त हुए पंजाबियों की स्त्रियाँ एकता, मित्रता और प्यार के सार्वजनिक गीत गाकर हम लोगो को यह बतला रही हैं कि तुमलोगों ने झगड़ा मचाया था और उस झगड़े में हमारी इज्जत को मिट्टी में मिलाया था। पर हमलोग आज भी संधि के, मेल-मिलाप के गीत गा रही हैं और तुमको शिक्षा दे रही हैं कि शान्ति ही असल वस्तु है। तुम झगड़ते हो। पर हम पंजाबिनियों ने परस्पर कहीं भी झगड़ा नहीं किया। हम एकता का झंडा लहराकर पंजाब की एकता का वास्तविक रहस्य बतलायेंगी। ज्ञानी अबादुल्ला साहब के ये शब्द पंजाबी भाषा और साहित्य के उज्ज्वल भविष्य की ओर बड़े मार्मिक रूप से संकेत कर रहे हैं।

अधिक विस्तार की आवश्यकता नहीं।

'पंजाबी साहित्य के गत साठ वर्ष' के मूल लेखक—प्रोफेसर कर्त्तारसिंह
'भविष्य की ओर एक दृष्टि' के मूल लेखक—श्री बलराज साहनी
अनुवादक—श्री सूर्यदत्त शास्त्री, निर्मल संस्कृत विद्यालय, लाहौरीटोला, बनारस,

———

गत साठ वर्षों का उड़िया साहित्य का इतिहास

आधुनिक युग की भूमिका (सन् १८०३ ई से लेकर १८७० तक)

पाश्चात्य जातियों ने विगत १५० वर्षों में भारत में केवल राजनीतिक अधिकार ही प्राप्त नहीं किए थे बल्कि हमारे साहित्य और संस्कृति के क्षेत्र में भी एक महान् परिवर्तन उपस्थित किया था। इसी परिवर्तन के फलस्वरूप आधुनिक साहित्य वर्त्तमान स्थिति में पहुँचा। आधुनिक उड़िया साहित्य का जन्म और विकास इसी परिवर्तित धारा से संबद्ध है।

उड़ीसा में अंग्रेजी शासन

१८०३ ई० में अंग्रेजों ने उड़ीसा पर अधिकार कर लिया। अंग्रेजों का शासन उड़ीसा के लिये भी वरदान लेकर नहीं आया वरन् यह शासन जातीय धर्म और सम्मान के लिये धूमकेतु और आर्थिक व्यवस्था के लिये भग्नदूत सिद्ध हुआ। तत्कालीन सामंतों धार्मिक नेताओं और पाइक सेना (देशी सेना) के प्रति अंग्रेजों ने उचित व्यवहार नहीं किया। आर्थिक लाभ की दृष्टि से उन्होंने तीर्थ-यात्रियों पर कर लगाया जिससे राष्ट्रीय सम्मान को धक्का लगा। उड़ीसा के दो मुख्य उद्योग करघा और नमक—को ध्वस्त कर उन्होंने देश की आर्थिक व्यवस्था को क्षति पहुँचाई और सारा देश खेती करने के लिये वाध्य किया गया; जिसके परिणाम स्वरूप दुर्भिक्ष और महामारी के लिये रास्ता साफ हो गया। १८०३ ई० से १८६६ तक नौ अंक दुर्भिक्ष पर्यंत ? प्रायः दस बार बड़े-बड़े अकाल पड़े। केवल नौ अंक दुर्भिक्ष में ही उड़ीसा के चतुर्थांश (लगभग २० लाख) लोग काल के गाल में समा गये। उस समय शक्तिशाली और विजयी अंग्रेजों की सहायता के अतिरिक्त कोई अन्य उपाय नहीं था और न उत्कलवासियों को कोई दूसरी बात सूझती थी। फिर भी वे साहसपूर्वक अंग्रेजों के विरुद्ध सशस्त्र प्रतिरोध के लिये उठ खड़े हुये। जिसके कारण खुर्दा का पाइक (सेना)-विद्रोह और घुमसर, अंगुल, सिंहभूम, संबलपुर आदि स्थानों में अनेक छोटे-बड़े विद्रोह उठ खड़े हुए। इसका फल यह हुआ कि अंग्रेज बहुत दिनों तक उत्कल-निवासियों का विश्वास नहीं कर सके। उन्होंने न तो वहाँ के निवासियों की शिक्षा का प्रबंध किया, न कभी उन्हें शासन के क्षेत्र में लेने का यत्न किया। इसके विपरीत उड़िया-भाषा-भाषी क्षेत्रों को खंड-खंड कर दिया गया, जिससे उनका राष्ट्रीय जीवन अंग्रेजी शासन के आरंभ से ही अधोगति की ओर बढ़ता गया।

उड़ीसा पर अधिकार हो जाने के तीस वर्ष बाद तक अंग्रेजों ने आधुनिक शिक्षा के प्रसार के लिये किसी विद्यालय की स्थापना नहीं की। केवल अंग्रेज अधिकारियों के लिये

कलकत्ते के फोर्ट-विलियम कॉलेज में उड़िया भाषा की सामान्य शिक्षा-व्यवस्था से ही वे संतुष्ट थे। उनके लिये श्री मोहनप्रसाद ठाकुर ने १८०७ ई० में उड़िया-अंग्रेजी कोष प्रकाशित किया। १८२२ ई० में मिशनरियों ने उड़ीसा पहुँचकर स्कूल स्थापित करने का सर्वप्रथम प्रयास किया। १८३५ ई० में पुरी में प्रथम सरकारी स्कूल की स्थापना के समय मिशनरियों के प्रयत्न से पंद्रह स्कूल स्थापित हो चुके थे। किंतु जनसाधारण में लोकप्रिय न होने के कारण इन मिशनरी स्कूलों में छात्रों की संख्या बहुत कम थी।

उड़िया भाषा के विकास में छपी पुस्तकों के अभाव के कारण बहुत बाधा पहुँची। इसके पूर्व ग्रामीण पाठशालाओं में दी जानेवाली शिक्षा के लिये छपी पुस्तकों की आवश्यकता नहीं होती थी। विद्यार्थी तालपत्रों पर पढ़ना-लिखना सीखते थे। प्रत्येक ग्राम में 'पोथीगादी' (तालपत्रीय पुस्तक-संग्रहालय) होते थे, जो ग्राम की सांस्कृतिक व्यवस्था के विकास में ग्रंथागार के रूप में व्यवहृत होते थे। किंतु नई शिक्षा-प्रणाली में इनका कोई उपयोग नहीं था। नई शिक्षा-प्रणाली के क्षेत्र में बंगालियों का आधिपत्य था। उन्होंने विद्यालयों में उड़िया-शिक्षण की नाममात्र की व्यवस्था कर बंगला भाषा की मुद्रित पुस्तकों को ही प्रचारित किया। उड़ीसा के शासनतंत्र और शिक्षा-क्षेत्र में भी उड़िया भाषा के स्थान पर बंगला के प्रचलन के लिये आंदोलन चल रहे थे। १८६५ ई० में विख्यात इतिहासज्ञ राजेंद्रलाल मित्र ने बंगला के प्रचलन के पक्ष में 'कटक डिबेटिंग सोसाइटी' के अपने तर्कपूर्वक भाषण में कहा था—""जब उत्कल प्रांत में बँगला भाषा का प्रचलन होगा तभी बंगाल की पुस्तकें यहाँ चल सकेंगी एवं यहाँ के लोग अनायास ही उत्तमोत्तम पुस्तकें पा सकेंगे।..."

आगे उन्होंने दृष्टांत देते हुए कहा था—"इन तीन मासों में प्रायः तीन सौ पुस्तकें बंगाल में मुद्रित हुई हैं, किंतु उड़ीसा में केवल तीन या चार। इससे प्रमाणित होता है कि उड़िया भाषा कदापि उन्नति नहीं कर सकती।"

उन दिनों कलकत्ता से प्रकाशित 'इंडियन मिरर' के समान प्रभावशाली पत्र ने भी उपर्युक्त युक्ति का समर्थन किया था। 'उड़िया स्वतंत्र भाषा नय' नामक पुस्तक का बंगालियों द्वारा खूब प्रचार किया गया। किंतु जॉन बीम्स सरीखे बहुभाषाविज्ञ पाश्चात्य पंडित ने इस युक्ति की निस्सारता को समझकर इसका विरोध किया। उड़ीसा में भी इस आंदो-के विरुद्ध जनमत संघटित हुआ। कटक के कृतविद्य पत्रकार गौरीशंकर राय, मनीषी फकीरमोहन सेनापति प्रभृति ने इसका नेतृत्व किया। जनमत को जाग्रत करने के लिये, एवं बंगालियों की युक्ति की निस्सारता प्रमाणित करने के लिये गौरीशंकर राय ने कटक से 'उत्कल दीपिका' और फकीरमोहन ने बालेश्वर से 'बालेश्वर संवाद वाहिका' नामक पत्र प्रकाशित किए।

उस समय उड़ीसा के कमिश्नर उदारचेता रेवेनशॉ थे जिन्होंने कर्मचारियों की शिथिलता और सरकार की असावधानी स्वीकार करते हुए उड़ीसा के शासन को सुसंघटित और जनप्रिय बनाने के लिये हर संभव प्रयास किए। उड़िया भाषा के पक्ष में जनसाधारण का आग्रह वे भली भाँति समझते थे। अतः उनके समर्थन के कारण और शासन

के क्षेत्र में उड़िया भाषा के प्रचलन का रास्ता साफ हो गया। शिक्षाविभाग में उन्होंने नवशिक्षित उड़िया-भाषा-भाषियों को नियुक्त किया। आधुनिक शिक्षा के प्रसार के लिये उन्होंने अनेक स्कूल और कालेजों की स्थापना की; उड़िया भाषा की पाठ्य पुस्तकों के निर्माण तथा इतिहास और साहित्य-संकलन के निमित्त आवश्यक सरकारी सहायता भी उन्होंने दी। फलतः आधुनिक उड़िया साहित्य के विकास का मार्ग सुगम हो गया।

नया साहित्यिक संगठन

पाश्चात्य शिक्षा के प्रभाव के कारण आधुनिक उड़िया साहित्य अपने विराट् प्राचीन साहित्य से विच्छिन्न हो गया। प्राचीन साहित्य राजाओं के अनुग्रह से परिपुष्ट और समृद्ध होकर दरबारियों द्वारा आयोजित रसिक-गोष्ठियों में मनोरंजन का साधन था। कविगण राजाओं से प्राप्त जागीर और आनुतोषिक (ग्रैचुइटी) पर ही निर्भर करते थे। प्राचीन साहित्य के प्रसार के लिये कोई प्रचारात्मक संगठन नहीं था। यह संपूर्ण साहित्य काव्यप्रेमियों और धर्मोत्साही लोगों द्वारा तालपत्र पर लिखा गया था। उस समय साहित्य-चर्चा एक प्रकार का सामाजिक अनुष्ठान था। 'पालावाला' और 'गाऊणी' (गायक) एकत्रित जनता को संगीतमय प्राचीन (काव्य) साहित्य गाकर सुनाते थे। इसके विपरीत आधुनिक साहित्य कतिपय लोगों के निजी प्रयासों का परिणाम है। प्रेस की सुविधा के कारण हजारों की संख्या में पुस्तकें प्रकाशित होने लगीं। इन पुस्तकों के प्रसार के लिये शिक्षित मध्यम श्रेणी के लोगों की आर्थिक सहायता आवश्यक हो गई। इस नवीन परिस्थिति में पथप्रदर्शनार्थ नगरों में विभिन्न उद्देश्यों को लेकर साहित्यिक-सांस्कृतिक संघों का संघटन हुआ। यहाँ धर्म, साहित्य, राजनीति आदि तत्कालीन समस्त विषयों पर निबंध पढ़े जाते और तर्क, वादविवाद और आलोचना होती। इन संस्थाओं के मुखपत्र के रूप में सामयिक पत्र भी प्रकाशित होते थे। इनकी रुचि के अनुसार स्वतंत्र प्रकाशन-समितियाँ भी स्थापित हुईं। वास्तव में आधुनिक साहित्य का प्रारंभिक इतिहास उस युग में स्थापित संघों और सामयिक पत्रों का इतिहास है।

साहित्यिक संघ

उस युग में छोटी-बड़ी अनेक सांस्कृतिक सभाएँ स्थापित हुईं। इनका उद्देश्य बहुमुखी था। ये धर्म, साहित्य, नीति, कुलाचार आदि सभी विषयों के संबंध में अपने विचार प्रकट करती थीं। इन सांस्कृतिक सभाओं का सुसंबद्ध इतिहास लिखने का प्रयास अभी तक नहीं हुआ है। संभवतः कविसूर्य बलदेव रथ द्वारा जलंतर में स्थापित 'उत्कलाचार सभा' सर्वप्रथम संस्था थी। गत शताब्दी में कविसूर्य बलदेव दक्षिण उड़ीसा के एक श्रेष्ठ पुरुष थे। उन्होंने अनेक जागीरों में मंत्री के पद पर कार्य किया था एवं सार्वजनिक कार्यों में प्रमुख रूप से भाग लेते थे। उड़िया साहित्य के लिये कविसूर्य की देन महान् है। उन्होंने प्राचीन ढंग की साहित्य-रचना करते हुए भी आधुनिक विचारधारा का उत्साहपूर्वक समर्थन किया। तत्कालीन पुराणपंथी ब्राह्मणों द्वारा कटक में १८६९ ई० में 'उत्कलोल्लासिनी सभा' नामक एक संस्था की स्थापना हुई थी। उसी समय आधुनिक विचारधारा के प्रचारार्थ 'कटक सोसाइटी' नामक एक अन्य संस्था भी स्थापित हुई।

पुरी और खुर्दा में सोसाइटी की शाखाएँ स्थापित हुईं। इस संस्था की ओर से 'उत्कल हितैषिणी' नामक एक सामयिक पत्र प्रकाशित हुआ। विशेष रूप से आधुनिक साहित्य की चर्चा के लिये 'कटक युवजन साहित्य संघ' स्थापित हुआ। उड़िया भाषा और साहित्य की उन्नति के निमित्त 'उत्कल भाषोद्दीपिनी सभा' ने भी प्रयास किया था। प्रकाशित और अप्रकाशित उड़िया पुस्तकों की सूची का तथा विद्यालयों के लिये पाठ्य पुस्तकों का प्रकाशन इसका उद्देश्य था। कटक प्रिंटिंग कं०, पुराण प्रकाशिका कं० आदि प्रकाशकों द्वारा उड़िया प्रेस के विकास और प्राचीन पुस्तकों के प्रकाशन की दिशा में प्रशंसनीय उद्योग हुआ।

सामयिक पत्र

वस्तुतः आधुनिक साहित्य का जन्म सामयिक पत्रों से ही हुआ। इन सामयिक पत्रों का प्रकाशन विशुद्ध साहित्य के प्रचार की दृष्टि से नहीं हुआ था। आरंभ में इनके मूल में धार्मिक, सामाजिक और शासन नीति संबंधी विचार काम करते थे। यह सत्य है कि ईसाई धर्मप्रचारकों ने ही धर्मप्रचार के लिये संगठित रूप से उड़िया के सामयिक पत्रों का प्रकाशन आरंभ किया था किंतु प्रथम उड़िया सामयिक पत्र की स्थापना साधु सुंदर-दास नामक एक उत्कल-वासी ने ही की थी। इस पत्र का नाम 'कुजिवर पत्रिका' था। उड़िया में जब तक छपाई की व्यवस्था नहीं थी, यह पत्रिका तालपत्र पर निकलती रही। बाद में यह कागज पर निकलने लगी। सभी शिक्षित व्यक्तियों में इसका प्रचार संगठित रूप से किया जाता था। इस पत्रिका के आरंभ होने की तिथि निश्चित रूप से अभी तक ज्ञात नहीं हो सकी है, केवल इतना ही पता चलता है कि यह मरहठों के शासन-काल में आरंभ हो गई थी। उपनिषद् और वेदांत की चर्चा के द्वारा यह पत्रिका समाज-सुधार की चेष्टा किया करती थी। ईसाई धर्म की दार्शनिक भित्ति और उसकी असारता के संबंध में तथ्यपूर्ण आलोचनाएँ भी इसमें रहा करती थीं। इस कारण उड़ीसा में जो ईसाई धर्मप्रचारक आए उनका ध्यान इस ओर आकर्षित हुआ। इस पत्रिका में प्रकाशित निबंधों के कुछ अंशों का अनुवाद करके वे लंदन भेज दिया करते थे जो 'बैपटिस्ट मिशनरी रिपोर्टस् एंड जरनल' में छपते थे। प्रेस की प्रतियोगिता के उपयुक्त संगठन के अभाव में यह पत्रिका टिक न सकी और १८३८ ई० में बंद हो गई।

ईसाई धर्मप्रचारकों ने सर्वप्रथम प्रेस स्थापित कर उड़िया भाषा में बायबिल और ईसाई धर्म संबंधी पत्रिका प्रकाशित करने का उद्योग किया। इन्होंने १८४९ ई० में 'ज्ञाना-रुण' और १८६१ में 'अरुणोदय' नामक पत्रिकाएँ प्रकाशित कीं। प्रायः ये पत्रिकाएँ उड़िया और अंग्रेजी में प्रकाशित होती थीं। नाना कारणों से इस प्रकार की पत्रिकाएँ लोकप्रिय नहीं हो पाती थीं जिससे असमय में ही इनका प्रकाशन बंद कर देना पड़ता था।

शीघ्र ही उड़ीसा में सामयिक पत्रों के प्रचार के लिये यथेष्ट अनुकूल स्थिति दिखाई पड़ी। उड़िया-बँगला-भाषा-विषयक संघर्ष ने भी इसी समय पत्रकारिता के लिये अनुकूल पृष्ठभूमि तैयार कर दी। इस संकटपूर्ण स्थिति में देश की सेवा के निमित्त १८६६ ई० में

'उत्कल दीपिका' नामक पत्रिका कटक से प्रकाशित हुई। दीर्घकाल तक प्रकाशित होकर इस पत्रिका ने उड़ीसा के सांस्कृतिक जीवन में हृत्पिंड का कार्य किया था।

आधुनिक शिक्षा के क्रमिक विकास तथा मध्यवित्त शिक्षित श्रेणी की निरंतर संख्यावृद्धि के कारण क्रमशः बहुत सी साहित्यिक पत्र-पत्रिकाएँ प्रकाशित होने लगीं। १८७३ ई० में बालेश्वर से 'उत्कल दर्पण' नामक पत्र विशुद्ध साहित्यिक उद्देश्य लेकर निकला जिसे नवशिक्षित राजा वैकुंठदेव बहादुर की पूर्ण सहायता और सहयोग प्राप्त था। उड़िया साहित्य के तीन आदिनिर्माता फकीर मोहन, राधानाथ और मधुसूदन की रचनावली इसी पत्रिका में प्रकाशित हुई थी।

उन दिनों जब आधुनिक साहित्य प्रकाशित हुआ तब प्राचीन पंथियों में स्वाभाविक प्रतिक्रिया दिखाई देने लगी। प्राचीन और नवीन साहित्य के इस द्वंद्व ने देश के सांस्कृतिक वातारण में उथल-पुथल मचा दी। नवीन और प्राचीन साहित्य के समर्थक सामयिक पत्रों में प्रायः आलोचना प्रत्यालोचना भी हुआ करती थी। गत शताब्दी के अंत में प्रकाशित 'बिजुली' और 'इंद्रधनु' में इसी प्रकार की समालोचनाएँ प्रकाशित होती थीं।

पाश्चात्य शिक्षा प्राप्त एवं नवीन दृष्टिकोण से प्रभावित कतिपय देशी राजाओं की सहायता से भी अनेक साहित्यिक पत्र प्रकाशित हुए। इस दिशा में मयूरभंज के आदर्श नरपति श्री रामचंद्र भंज और बामंडा के शासक सार सुढल देव का नाम उल्लेखनीय है। इनके प्रयत्न से मयूरभंज से 'मयूरभंज' और 'उत्कल प्रभा' एवं बामंडा से 'संबलपुर-हितैषिणी' आदि पत्रिकाएँ प्रकाशित हुई। साहित्यिकों के निजी प्रयत्न से इन दिनों जो साहित्यिक पत्र प्रकाशित हुए उनमें ब्रजसुंदरदास का 'मुकुर' और विश्वनाथ कर द्वारा संपादित 'उत्कल साहित्य' प्रमुख हैं। सन् १८८६ ई० में प्रथम बार प्रकाशित होकर प्रायः ४० वर्षों तक उड़िया साहित्य की पत्रिकाओं में 'उत्कल साहित्य' को सर्वोच्च स्थान मिला। आधुनिक उड़िया साहित्य की अभिवृद्धि और ऐतिहासिक विकासक्रम का परिचायक यदि इसी पत्र को कहा जाय तो कोई अत्युक्ति न होगी।

गद्य का विकास

इस परिवर्तनशील युग में आकर समाज के साथ साहित्य का नवीन संबंध स्थापित हुआ। पूर्वकाल में वास्तविक जीवन के साथ साहित्य का अत्यंत अल्प संबंध था। जन-जीवन के सुख-दुःख के प्रति विशेष ध्यान न देकर कविगण अपने आप में मग्न रहते थे। प्राचीन उड़िया साहित्य धर्मजिज्ञासा से परिपूर्ण है। धर्मजिज्ञासा के अतिरिक्त साहित्य के संमुख जो दूसरी परंपरा चली आ रही थी वह रस-सृष्टि की थी। किंतु परवर्ती साहित्य किसी संकुचित सीमा में आबद्ध नहीं रह सका। वह आरंभ से ही जीवन के विस्तृत धरातल पर गतिमान था। इसी से काव्य के कृत्रिम बंधन उसे बाँधने में असमर्थ रहे। जन समुदाय में प्रचलित गद्य इस साहित्य का स्वाभाविक माध्यम बना। इस प्रकार साहित्य निरंतर समाज में ही फूलता फलता रहा है।

साहित्य के इतिहास की दृष्टि से देखने पर प्राचीन उड़िया साहित्य गद्यहीन नहीं है। भुवनेश्वर के मंदिर में गंगावंश के राजा नरसिंह देव का १३ वीं शती का शिलालेख उड़िया गद्य में है। इसके बाद १६ वीं शती के मध्य के अनेक ताम्रपत्रों और दानपत्रों आदि में उड़िया गद्य लेख पुरी मंदिर में पाए गए हैं। पुरी मंदिर में सुरक्षित 'मादला पंजी' प्राचीन उड़िया गद्य का सुंदर नमूना है। इसके अतिरिक्त १६ वीं शती के कवि बलरामदास और जगन्नाथदास की 'ब्रह्मगीता' और 'तुलावीणा' आदि दार्शनिक कृतियों में पद्य के साथ समान रूप से गद्य का भी प्रयोग किया गया है। 'बत्तीस सिंहासन कथा' तथा 'सोमनाथ व्रतकथा' की भाँति अनेक व्रतकथाओं एवं १८ वीं शती के कवि ब्रजनाथ बड़-जना के 'चतुरविनोद' में प्राचीन उड़िया गद्य का नमूना देखने को मिलता है।

किंतु आधुनिक गद्य साहित्य उस प्राचीन गद्य की परंपरा को लेकर विकसित नहीं हुआ। आधुनिक गद्य साहित्य को अनेकांश में अंग्रेजी और कुछ अंशों में संस्कृत साहित्य से प्रेरणा मिली। आधुनिक उड़िया गद्य लिखने का सर्वप्रथम प्रयास यद्यपि ईसाई पादरियों ने किया, तथापि उसमें गद्य की स्वाभाविक स्फूर्ति नहीं थी। इनका विषय-विन्यास अत्यंत विशृंखल और हास्यास्पद था। उधर संस्कृत के आदर्श पर उड़िया में गद्य रचना का जो प्रयास हुआ वह भी पूर्ण नहीं था। समासयुक्त क्लिष्ट पदों के कारण यह गद्य प्रवाहपूर्ण नहीं था अतएव आधुनिक विचारधारा का वाहन होने में यह समर्थ नहीं हुआ। इन दो धाराओं में विभक्त गद्य की विफलता के कारण शिक्षित और आधुनिक रुचि के नागरिकों की बोलचाल के आधार पर ही आधुनिक गद्य का विकास हुआ। १६ वीं शती के अंतिम चरण में गौरीशंकर की कथनोपकथन शैली तथा राधानाथ और मधुसूदन के प्रबंधों में एवं फकीरमोहन सेनापति के कथा साहित्य में आधुनिक गद्य का प्रकृत रूप दिखाई पड़ा। इससे उड़िया साहित्य में यथार्थ रूप में गद्य के नवीन युग का आरँभ हुआ।

आधुनिक उड़िया साहित्य की विकास धारा

१८७० ई० के बाद उड़िया साहित्य में परिवर्तन युग की समाप्ति और विकास युग का प्रारंभ होता है। इस विकास युग के आरंभ से लेकर आज तक उड़िया साहित्य की रचना शैली और भावधारा में स्पष्ट रूप से अनेक प्रकार की प्रवृत्तियों का समावेश हुआ जिसके फलस्वरूप इस दीर्घ कालखंड में अनेक स्वतंत्र युग देखे जा सकते हैं। वास्तव में आधुनिक उड़िया साहित्य का इतिहास परस्पर संबद्ध अनेक चिंता-प्रवाहों का इतिहास है। घटनाओं का इतिहास लिखते समय स्थान और काल का निर्णय करना सहज होता है, किंतु चिंता-प्रवाहों का इतिहास लिखते समय उनके स्थान और काल का निश्चय करना अत्यंत कठिन है। इसलिये उड़िया साहित्य में किसी युग की सीमा निश्चित करने में एक न एक प्रकार की अपूर्णता या असंगति की संभावना रह जाती है।

आधुनिक उड़िया साहित्य अनेक प्रतिभावान साहित्यसेवियों की साधना से तथा साहित्यिक संघों या गोष्ठियों की अमूल्य देन से संवलित एवं संवर्द्धित हुआ है। अतः विभिन्न युगों का नाम किसी न किसी प्रमुख साहित्यकार अथवा साहित्यिक संघ के आधार पर ही रखा गया है।

राधानाथ युग –(सन् १८७० ई० से १९१४ ई० तक)

आधुनिक उड़िया साहित्य का प्रथम विकास युग राधानाथ के नाम से अभिहित है, जो इस युग के श्रेष्ठ साहित्यकारों में थे। इस युग को एक प्रकार से अभ्युदय या 'रिनेसाँ' काल कहा जा सकता है। १९ वीं शताब्दी में सारे भारत में जो सांस्कृतिक और धार्मिक पुनर्जागर्ति हुई वही इस युग की पृष्ठभूमि है। इस अभ्युदय काल में ब्रह्मसमाज और आर्यसमाज के जो आंदोलन चले उनका भारत के विभिन्न भागों पर अत्यधिक प्रभाव पड़ा। इस काल में यूरोपीय संशयवाद तथा वितर्कवाद और भारतीय उपनिषदों के दर्शन का बहुत प्रभाव पड़ा। साहित्य भी उनके प्रभाव से अछूता नहीं रह सका। साथ ही यूरोपीय साहित्य से भी उड़िया साहित्य यथेष्ट रूप से प्रभावित हुआ। उस देश के साहित्य तथा चिंता-धारा में स्वच्छंदतावाद (रोमैंटिसिज्म) और फ्रांसीसी राज्यक्रांति ने विचारों का एक नया द्वार खोल दिया था।

समता, मित्रता और स्वतंत्रता की भावना से उद्बुद्ध होकर यूरोप ने जिस समय नई शक्ति अर्जित की थी उस समय भारत अपने जातीयतावाद में उलझा हुआ था। भारतीय अपने प्राचीन गौरवशाली दर्शन एवं इतिहास की परंपरा को भुला चुके थे। अशिक्षा, दारिद्र्य, कुसंस्कार, सामंतशाही तथा अंग्रेज वणिकों के साम्राज्यवादी शोषण आदि ने देश की अवस्था को बिलकुल दयनीय बना दिया था। उस दुर्दिन में पाश्चात्य शिक्षा देश की सामूहिक उन्नति की दृष्टि से एक वरदान सिद्ध हुई। इस शिक्षा के प्रभाव से देश के चिंतकों तथा सुधी नेताओं का ध्यान अपने देश की सामूहिक उन्नति तथा स्वाधीनता की भावना की ओर आकृष्ट हुआ। यह राष्ट्रीय भावना हमें राधानाथ राय और मधुसूदन राव की काव्य रचना में, फकीरमोहन सेनापति के कथा-साहित्य में, मधुसूदन और विश्वनाथ कर आदि के निबंधों में एवं रामशंकर राय के नाटकों और प्रहसनों में स्पष्ट रूप से लक्षित होती है। किसी अधःपतित जाति को नैतिक बल प्रदान करने के लिये जिस भावना की आवश्यकता होती है वही भावना एक विशेष प्रवृत्ति के रूप में इस युग के साहित्य में अभिव्यक्त हुई। इस युग के साहित्य ने स्वदेश के गौरवशाली अतीत वैभव के वर्णन द्वारा देश में व्याप्त तत्कालीन आत्मग्लानि को दूर कर नए आत्मविश्वास की प्रतिष्ठा की। तत्कालीन समाज में प्रचलित अंधविश्वासों और कुसंस्कारों को दूर भगाने का सतत प्रयत्न इसमें परिलक्षित होता है। सर्वधर्म-समन्वय तथा भारतीय धर्मों में अंतर्निहित तत्वों के प्रचार द्वारा मानव-एकता का स्वप्न उस युग के साहित्यकार देखने लगे थे। केवल भाव-संपत्ति में नहीं अपितु रचना-विन्यास में भी इस युग के साहित्य में अनेक नूतन प्रयोग होने लगे थे। प्राचीन संस्कृत साहित्य तथा पाश्चात्य साहित्य के काव्य और नाटकों की शैलियों के आधार पर नूतन काव्य और नाटकों के लिखने की ओर लेखकों का ध्यान गया। धर्म, स्वदेश-प्रेम, तथा प्रकृति-वर्णन को प्रधानता देते हुए अनेक काव्यों, खंडकाव्यों, तथा गीतिकाव्यों की रचना हुई। निबंध और कथा–साहित्य में भी नवीन विषयों और शैलियों के प्रयोग होने लगे।

राधानाथ राय, फकीरमोहन सेनापति तथा मधुसूदन राव, ये तीनों राधानाथ युग के आदि निर्माता माने जाते हैं। साहित्यिक तथा सांस्कृतिक कार्यों में जिन लोगों ने मुख्य रूप से भाग लिया था उनमें कर्मयोगी गौरीशंकर, कुलवृद्ध मधुसूदनदास, रामशंकर राय, विश्वनाथ कर तथा व्रजदास प्रभृति के नाम उल्लेखनीय हैं।

सत्यवादी युग (सन् १९१५ ई० से १९२५ ई० तक)

प्रथम विश्वयुद्ध का आरंभ ही सत्यवादी युग का प्रारंभ कहा जा सकता है। इस काल में भारतीय स्वाधीनता आंदोलन गांधी जी के नेतृत्व में स्वरूप धारण कर चुका था। उत्कलमणि गोपबंधु दास जैसे महान् व्यक्तित्व के आदर्श नेतृत्व में उत्कल में भी इस आंदोलन की नींव पड़ी। अतएव राष्ट्रचेतना सत्यवादी युग के साहित्य की आधारभूत चेतना कही जा सकती है।

उत्कलमणि ने उस काल की शिक्षा, संस्कृति तथा जातीय जीवन में फैली हुई दुर्गति से व्यथित होकर पुरी जिले के साखीगोपाल नामक गांव के एक बकुल और छुरियना से घिरे निकुंज में, प्राचीन ऋषियों के आश्रम का आदर्श ध्यान में रखते हुए 'सत्यवादी राष्ट्रीय विद्यालय' की स्थापना की। धीरे धीरे यह राष्ट्रीय विद्यापीठ उत्कल की संस्कृति, साहित्य, राजनीति, ग्रामसुधार तथा समाचार-साहित्य की साधना का एक केंद्र बन गया। साथ ही इसने वहाँ के अनेक बुद्धिजीवियों का ध्यान आकृष्ट किया जिन्होंने संमिलित रूप से उत्कल साहित्य को समयोपयोगी बनाने के लिये राष्ट्रीय भावना से अनुप्राणित होकर लिखना आरंभ किया जो आगे चलकर उस युग के साहित्य के लिये मार्गदर्शक सिद्ध हुआ।

श्री गोपबंधु दास ने सत्यवादी राष्ट्रीय विद्यालय के साहित्यिक मुखपत्र के रूप में १९१५ ई० में सर्वप्रथम 'सत्यवादी' मासिक पत्रिका का प्रकाशन प्रारंभ किया। यहीं से आधुनिक उत्कल साहित्य में एक अत्यंत प्रभावशाली युग का समारंभ होता है। राधानाथ युग में गद्य और पद्य का साहित्य नूतन रूप धारण कर यों तो एक सुदृढ़ भित्ति पर स्थित हो ही चुका था, किंतु उसे नूतन आदर्श से अनुप्राणित करने तथा नूतन संयोजना द्वारा जनप्रिय करने का श्रेय सत्यवादी युग को प्राप्त हुआ। भारत के ऐतिह्य एवं संस्कृति में मानवता, स्वाधीनता तथा आध्यात्मिकता के जितने बीज निहित थे उन्हें इस युग के साहित्य ने अंकुरित एवं विकसित करने तथा उनकी ओर जनसाधारण की अभिरुचि आकर्षित करने का मुख्य लक्ष्य बनाया। राष्ट्रीय जीवन को सत्य और अहिंसा की भित्ति पर प्रतिष्ठित करने के लिये गांधी जी ने देश के सामने जो आदर्श रखा उसका पूर्ण आभास इस साहित्य में दृष्टिगत होता है। सामंतों के शोषण, अंग्रेजी शासन की त्रुटियों, बाढ़ तथा दुर्भिक्ष से प्रपीड़ित एवं अश्रुसिक्त उड़िया प्राण अंतःसलिला फल्गु की भाँति प्रच्छन्न रूप से इस युग के साहित्य में प्रवाहित है।

रचना-विन्यास की दृष्टि से इस युग के साहित्य में कोई विशिष्ट शिल्प-प्रतिभा लक्षित नहीं होती, तथापि साहित्य को सर्वसुलभ एवं बोधगम्य बनाने के लिये सरल भाषा तथा

स्थानीय बोलियों की भाषा का प्रयोग जिस ढंग से किया गया वह इस युग की विशेष सफलता है ।

उड़ीसा के राजनीतिक, साहित्यिक एवं सांस्कृतिक क्षेत्र में उत्कलमणि गोपबंधु के दो घनिष्ठ सहकर्मी नीलकंठ दास एवं पं० गोदावरीश मिश्र उस युग के दो अन्यतम व्यक्तित्व थे। स्वर्गीया कवयित्री कुंतलाकुमारी की प्रतिभा भी उस युग के काव्य-क्षेत्र में अत्यंत विख्यात थी। इसके अतिरिक्त उस युग के आदर्श से अनुप्राणित अनेक तरुण प्रतिभावान् लेखक साहित्य-सेवा का व्रत ले चुके थे। सन् १६२१ के असहयोग आंदोलन के बाद देश की अव्यवस्थित राजनीति में संलग्न रहने के कारण सत्यवादी युग के साहित्य-स्रष्टा अपनी साहित्य-साधना को अप्रतिहत गति से नहीं चला सके। इधर इसी युग के साहित्य में नूतन आदर्श तथा नूतन प्रतिभाएँ दिखाई पड़ने लगीं जिससे भावी सबुज युग का सूत्रपात होता है।

सबुज युग (सन् १९२५ ई० से १९३५ ई० तक)

प्रथम एवं द्वितीय महायुद्ध के मध्यवर्ती काल में साहित्य के क्षेत्र में जितने संघबद्ध प्रयास हुए उनमें तत्कालीन तरुण लेखकों के प्रयत्न अपेक्षाकृत अधिक थे। इसमें भी 'सबुज साहित्य समिति' का कार्य सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसलिये इस युग को 'सबुज साहित्य युग' कहा जाता है। सब्ज या श्यामल वर्ण तारुण्य का प्रतीक माना जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि तरुण प्रेमी जीवन की उद्दाम क्रांतिकारी भावधारा से अनुप्राणित होकर तरुण लेखकों ने इस गोष्ठी का नाम 'सबुज साहित्य समिति' रखा था। सन् १६२१ के बाद उड़िया साहित्य के क्षेत्र में एक प्रकार की अराजकता सी दिखाई पड़ती है। जिन दिनों सत्यवादी युग के प्रतिष्ठित साहित्यिकों ने राजनीति में संलग्न रहने के कारण साहित्य-साधना से अपने को विरत कर लिया था उन दिनों साहित्य क्षेत्र में नेतृत्व करने के लिये तत्कालीन उड़िया साहित्य निर्माताओं में से (राधानाथ, फकीर मोहन आदि) कोई भी जीवित नहीं रहा। इसलिये तरुण साहित्यकारों के सामने आदर्श प्रस्तुत करनेवाला कोई रह नहीं गया था। उसी समय उत्तर से कवींद्र रवींद्र का प्रभाव धीरे धीरे पड़ने लगा। अभिनव भाव-संभार, छंद-वैचित्र्य एवं भाषा-विन्यास आदि सभी दिशाओं में रवींद्र साहित्य ने इन तरुणों के मन को नूतन प्रेरणा से उद्बुद्ध करना प्रारंभ किया। नवीन साज-सज्जा और सामग्री से उड़िया साहित्य को समृद्ध करने का संकल्प लेकर सन् १६२५ ई० तक सबुज साहित्य समिति एक दृढ़ भित्ति पर खड़ी हो चुकी थी। सबुज साहित्य के लेखकों की रचना में जो नवीन दृष्टिकोण और शैली प्रचलित हो रही थी उसका समर्थन प्रौढ़ साहित्यकारों द्वारा नहीं हुआ, फिर भी कुछ दूरदर्शी साहित्यकारों ने उस नवीन शैली का उचित समर्थन और समादर किया। उस काल की सर्वश्रेष्ठ मासिक पत्रिका 'उत्कल साहित्य' के संपादक विश्वनाथ कर की पृष्ठपोषकता में तरुण साहित्यकारों की रचनाओं का प्रकाशन प्रारंभ हुआ। नवीन लेखकों की रचना के लिये 'उत्कल साहित्य' का द्वार सदैव खुला रहता था। किंचित् प्रतिष्ठित हो जाने के बाद सबुज समिति के मुखपत्र के रूप में 'युग वीणा' नाम की एक मासिक पत्रिका प्रकाशित की गई। बाद में इस समिति का एक

अलग प्रकाशन विभाग खोला गया। सर्वप्रथम इस समिति की ओर से 'सबुज कविता' नाम का एक कविता संकलन प्रकाशित हुआ। इस संकलन में पाँच तरुण कवियों—अन्नदाशंकर राय, वैकुंठनाथ पटनायक, कालीचरण पाणिग्राही, हरिहर महापात्र, शरच्चंद्र मुखर्जी—की कविताओं को स्थान मिला था। इस समिति के अन्य साहित्यकारों ने एक साथ मिलकर 'वासंती' नामक एक बृहत् उपन्यास प्रकाशित किया। इसके अतिरिक्त अनेक गल्प, उपन्यास, नाटक, निबंध और आलोचनात्मक ग्रंथों का प्रकाशन समिति की ओर से निरंतर होता रहा। सबुज साहित्य के संगठन में जिन साहित्यकारों ने योग दिया था उनमें सबकी साहित्य-साधना अंत तक अक्षुण्ण नहीं रह सकी। उनमें केवल कालीचरण पाणिग्राही ने एक विख्यात कथाकार, निबंधकार तथा कवि के रूप में, एवं वैकुंठनाथ पटनायक ने एक सुकवि के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त की।

राष्ट्रीय आंदोलन के प्रति सबुज साहित्यिकों की विचार-धारा किसी कट्टर राष्ट्रीय भावना पर आश्रित नहीं थीं। राष्ट्रीय भावना से अनुप्राणित होते हुए भी उन्होंने अन्तःराष्ट्रीय भावना की अवहेलना नहीं की। एक ओर जब सारी दुनियाँ युद्ध की ज्वाला में जल रही थी, ये अपनी साहित्यिक साधना के द्वारा एक शांतिपूर्ण एवं समृद्ध विश्व की कल्पना कर रहे थे। प्रेम और प्रकृति के क्षेत्र में इन्होंने उमर खैयाम की रुबाइयों के समान रोमांटिक शैली में साहित्य को समृद्ध करने का उद्योग किया। अध्यात्म-जड़ित मानवता के चरित्र-चित्रण द्वारा इस युग की प्रतिभा एक नई दिशा की ओर इंगित कर रही थी। आगे चलकर सबुज युग के प्रमुख कवि वैकुंठनाथ पटनायक की कविताओं में हम इसकी पूर्ण अभिव्यक्ति पाते हैं।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, राधानाथ युग के काव्य, छंद और रचना शैली में नवीनता लाने के लिये इन लोगों ने अनेक प्रयत्न किए थे। सबुज युग के पूर्व की उड़िया कविता में मुख्यतः हम वर्णवृत्तों का अधिक प्रचलन देखते हैं, किंतु सबुज युग के कवियों ने मात्रावृत्त का अधिकाधिक प्रयोग करना प्रारंभ किया। नए नए छंदों के प्रयोग में इनकी प्रवृत्ति अधिक अग्रसर होती हुई दिखाई पड़ती है। उड़िया भाषा को अभिव्यक्ति में सशक्त तथा सुकोमल बनाने का इन्होंने भरपूर प्रयत्न किया, जिसका फल यह हुआ कि उड़िया भाषा बँगला के अनुचित प्रभाव से भाराक्रांत हो गई जिसकी अन्य लोगों ने पर्याप्त आलोचना की। 'सबुज साहित्य समिति' का यह संघबद्ध कार्य कुछ दिनों के बाद मंद पड़ गया। अंत में यह समिति भंग हो गई। इसका कारण यह जान पड़ता है कि १९३५ ई० के लगभग मार्क्सवाद के प्रभाव से तरुण साहित्यकारों ने सबुज साहित्य के आदर्शों के प्रतिकूल एक नूतन आदर्श को अपनाने का प्रयास किया। द्वितीय महायुद्ध के ठीक पूर्व देश की अव्यवस्थित अवस्था तथा किसानों, मजदूरों और छात्रों के आंदोलन की भूमिका का आश्रय लेकर साहित्य-जगत् में एक नई भाव-धारा की सृष्टि हुई। इस भाव-धारा का स्वागत करते हुए जिन साहित्यकारों ने नई रचनाएँ कीं उनको कुछ लोग प्रगतिवादी कुछ वस्तुवादी तथा कुछ अभ्युदयवादी आदि नामों से अभिहित करने लगे।

प्रगति युग (सन् १९३५ ई० के बाद)

१६३५ ई० के बाद गांधी जी के आदर्शों में कोई वैसी प्रेरणा नहीं रह गई जो तरुण साहित्यकारों को संतुष्ट कर सके। दारिद्रय-पीड़ित, अशिक्षित तथा कुसंस्काराच्छन्न रूस में मार्क्सवाद की सफलता और उसके प्रति संसार के भिन्न भिन्न देशों के चिंतकों की आदर-भावना देखकर हमारे देश के तरुण भी उस ओर आकृष्ट हुए। मार्क्सवादी दर्शन के प्रभाव से भारत में साम्यवादी दल का संगठन हुआ जिसका प्रभाव उड़ीसा के तरुण लेखकों पर भी पड़ा। साम्यवादी दर्शन से प्रभावित अनेक तरुण साहित्यकारों में स्वर्गीय भगवतीचरण पाणिग्राही अत्यंत प्रसिद्ध हुए। इस नूतन आदर्श से प्रभावित होकर इन्होंने 'आधुनिक' नाम की एक पत्रिका का प्रकाशन आरंभ किया। उन्हीं दिनों 'नवयुग साहित्य संसद्' नामक एक संस्था की स्थापना की गई। पाणिग्राही जी स्वयं किसानों के बीच संगठन का काम करते थे। उड़ीसा के सरल और दरिद्र कृषकों में केवल भारतवर्ष की ही नहीं अपितु समस्त विश्व की शोषित जनता के अभ्युत्थान की जो कामना तथा शक्ति निहित थी, उसका आविष्कार करने का प्रथम प्रयास पाणिग्राही जी की लेखनी द्वारा उड़िया साहित्य में हुआ था। उनके 'शिकारी' नामक गल्प ने समाज को पूर्ण रूप से उद्वेलित किया था। खेद है कि अल्पायु के कारण साहित्य क्षेत्र में अधिकाधिक सेवा करने और अपने आदर्श को राष्ट्रीय जीवन में प्रतिष्ठित करने का विशेष अवसर उन्हें नहीं मिला।

कवि सच्चिदानंद राउत राय की लेखनी ही इस युग में सर्वाधिक सफल सिद्ध हुई। काव्य-क्षमता तथा अभिव्यक्ति की दक्षता के कारण कविता के क्षेत्र में इनकी अपनी विशिष्टता है। सन् १६३६ ई० वाले देशी राज्य संबंधी आंदोलन के सिलसिले में इनका 'बाजी राउत' खंड काव्य विशेष रूप से समादृत हुआ था। यह खंड काव्य इतना लोकप्रिय हुआ कि इसका अनुवाद बँगला तथा आगे चलकर अंग्रेजी में भी हुआ जिसके फलस्वरूप उड़िया साहित्य का आदर तथा उसकी ख्याति देशांतरों में भी हुई।

प्रगति युग के तरुण लेखक निम्न मध्यवर्ग में जन्म लेकर अपने छात्र जीवन में मार्क्सवादी दर्शन से विशेष परिचित और प्रभावित हुए। उनकी विचारधारा पर भारत के अग्रगामी युवक आंदोलन, रूस की शोषित जनता की सफल क्रांति और यूरोपीय फासिस्ट विरोधी गणतंत्रों के संघर्ष आदि का प्रभाव भी यथेष्ट मात्रा में पड़ा था। इन लोगों ने अपने पूर्ववर्ती साहित्यकारों की कृतियों में परिलक्षित आदर्शवाद, संस्कारमूलक मनोवृत्ति, यथार्थ की अवहेलना तथा आध्यात्मिकता आदि को आभिजात्य या सामंतवादी कहकर उनकी कठोर आलोचना की। वर्त्तमान समाज की असंगति के विरोध में क्रांतिकारी भावना एवं भविष्य में दृढ़ विश्वास ही इनके साहित्य का मूल मंत्र रहा।

प्रगति युग की साहित्य-रचना में हमें थोड़ी नवीनता अवश्य मिलती है किंतु कोई युगांतरकारी परिवर्तन करनेवाली रचना नहीं दिखाई पड़ती। यतः ये लोग 'कला कला के लिये' के सिद्धांत के समर्थक नहीं थे बल्कि एक आदर्श विशेष के प्रति निष्ठावान थे इसलिये साहित्य को यथासंभव सरल और बोधगम्य बनाने का प्रयास करते हुए भी ये साहित्य

को युगांतरकारी बनाने में सफल नहीं हो सके। इनका ध्यान जितना भाववस्तु की ओर था उतना रूपविधान की ओर नहीं। ये लोग अपनी कविताओं में मुक्त तथा गद्य छंदों का प्रयोग बहुत अधिक मात्रा में करते थे। नवीन प्रतीकों और उपमाओं की उद्भावना इनकी प्रमुख विशेषता रही है। इस युग की कथा-कहानियों में स्थानीय और जनपदीय भाषाओं के प्रयोग अधिक मिलते हैं। निबंध-लेखन में इन लोगों ने अधिकतर व्याख्यात्मक शैली अपनाई। तरुण छात्रवर्ग तथा कृषक और श्रमिकों के बीच साहित्य को लोकप्रिय बनाने का जो प्रयत्न इन लोगों ने किया वह पर्याप्त रूप से सफल हुआ।

प्रगति साहित्य का उत्तरकाल

प्रगति युगीन समाज में एक ओर तो क्रांति की भावना व्याप्त हो रही थी, दूसरी ओर घोर नैराश्य छाया हुआ था। जिन लोगों ने पीड़ित समाज के लिये शीघ्र परिवर्तन का कोई स्वप्न नहीं देखा था, उन लोगों ने यथार्थता के अवसादपूर्ण वातावरण से दूर रहकर, भविष्य को सुख स्वप्न की कल्पना में रँगकर देखना चाहा। ये लोग अपने देश के नगर और ग्राम तथा नर-नारियों को भुलाकर सुदूर के कल्पित 'लवंगवन' की सुगंध से अधिक उन्मत्त हुए, फलतः 'इलायची द्वीप' के बंदरगाह की ओर जानेवाले जलपोत का जयगान इनका एकमात्र उद्देश्य हो गया।

अनेक आलोचकों के मतानुसार यह आदर्शविहीन साहित्य उतना ही दुर्बल, अशक्त एवं निष्प्रभ था जितना मनुष्य का प्राणहीन शरीर। इस प्रकार की रचनाओं में वर्तमान के प्रति असंतोष और अधैर्य की मात्रा अधिक दिखाई पड़ती है। भविष्य के प्रति इनमें कोई रचनात्मक दृष्टिकोण नहीं मिलता। ऐसी कविताओं में सदैव नई नई अभिव्यक्तियों का प्रयोग करने में ही अधिक रुचि दिखलाई जाती थी। इस दिशा में कवि विनोद नायक ने इनका नेतृत्व किया।

इस युग के साहित्य में दूसरी ओर अरुचिकर एवं अश्लील साहित्य की भी सृष्टि हुई जो एक प्रकार की दुर्बलता ही कही जा सकती है। एक ओर तो यथार्थता के नाम पर नग्न यौन चित्रण के द्वारा साहित्य को कलुषित किया गया और दूसरी ओर जासूसी उपन्यासों के प्राचुर्य से साहित्य के व्यापक उद्देश्य की उपेक्षा की गई। इस कोटि के साहित्य का प्रचार अर्द्धशिक्षित, अल्पशिक्षित एवं पारिवारिक सुखों से वंचित और नैराश्यपूर्ण जीवन व्यतीत करनेवाले लोगों के बीच अधिक हुआ।

आजकल लोगों की रुचि में कुछ परिवर्त्तन होना प्रारंभ हुआ है। स्वाधीन भारत के नागरिकों में निर्वाचन के समानाधिकार ने यथेष्ट जाग्रति उत्पन्न की है एवं उज्ज्वल भविष्य के प्रति इनकी उत्कंठा में उत्तरोत्तर वृद्धि हो रही है। इसके परिणाम स्वरूप आजकल सुरुचि एवं सदुद्देश्य-विहीन साहित्य का आदर कुछ घटता हुआ प्रतीत होता है और उपर्युक्त गुणों से युक्त साहित्य की माँग बढ़ती जा रही है। यह प्रवृत्ति निश्चय ही देश के भावी विकास के लिये अत्यंत अनुकूल और आशाजनक है।

आधुनिक साहित्य की रचनात्मकता और उसका भविष्य

विगत अर्द्धशताब्दी में उड़िया साहित्य-भांडार को सभी ओर से समृद्ध और संपन्न बनाने में जितने व्यक्तिगत एवं सामूहिक प्रयत्न किए गए उनके ऐतिहासिक अनुशीलन की ओर अभी तक ध्यान नहीं दिया गया है। इस प्रकार का ऐतिहासिक अध्ययन उड़िया साहित्य के अतीत, वर्तमान तथा भविष्य को समझने में अत्यंत उपयोगी सिद्ध हो सकता है।

उड़िया साहित्य का समुचित अनुशीलन और आधुनिक साहित्यकारों के पारस्परिक विचार-विनिमय और विवेचन के तथा आधुनिक साहित्य को जनप्रिय करने के निमित्त सन् १६०४ ई० में 'उत्कल साहित्य समाज' नामक एक परिषद् की स्थापना हुई। कवि मधुसूदन राव इस परिषद् के प्रथम पुरोधा (सभापति) हुए। इस परिषद् के पुस्तकालय के निमित्त मयूरभंज के नवशिक्षित संस्कृति-प्रेमी तथा उदारमना महाराज राना रामचंद्र भंज ने कटक में एक सुंदर भवन बनवा दिया। परिषद् का नेतृत्व उड़िया लेखक वर्ग को बहुत दिनों तक प्राप्त रहा।

उन्हीं दिनों प्राचीन उड़िया साहित्य के अनुशीलन, पांडुलिपि-संग्रह तथा संपादन एवं प्रकाशन के उद्देश्य से 'प्राचीन समिति' नाम की एक और संस्था स्थापित की गई। कुशल अध्यापक आर्त्तवल्लभ महांति तथा स्वर्गीय अध्यापक लक्ष्मीकांत चौधरी प्रभृति के निर्देशन में इस संस्था ने उड़िया साहित्य की शोध-समृद्धि में बहुत योग दिया। इस समिति के द्वारा अनेक प्राचीन उड़िया ग्रंथों का संपादन और प्रकाशन हुआ। उड़िया साहित्य के इन प्राचीन गौरवपूर्ण ग्रंथों को सर्वप्रथम प्रकाश में लाने का श्रेय इसी समिति को प्राप्त है।

इस प्रकार उड़िया साहित्य की समृद्धि में अनेक संस्थाओं ने अपना योग प्रदान किया। इनमें 'उड़िया साहित्य प्रचार संघ', 'कोशल कला मंडल', 'उड़िया लेखक सहयोग समिति' प्रभृति विशेष उल्लेखनीय हैं। श्री लक्ष्मीनारायण पटनायक के संपादकत्व में लगभग २५ वर्ष पहले कटक में 'उड़िया साहित्य प्रचार संघ' की स्थापना हुई थी। इस संघ के उद्देश्य निम्नलिखित थे—

(क) प्रकाशित करने योग्य नवीन और प्राचीन पुस्तकों का संग्रह और मुद्रण (ख) अन्यान्य उपयोगी ग्रंथों का अनुवाद (ग) प्राचीन कृतियों में निहित तथ्यों का अन्वेषण (घ) साहित्य का संग्रह (च) ऐतिहासिक वीर पुरुषों की गाथाओं का प्रचार (छ) विज्ञान, नीति और धर्म सम्बंधी पुस्तकों का प्रकाशन। यद्यपि आजकल इस संघ का कार्य बंद हो गया है तथापि इसके पूर्व के कार्य-विवरणों से यह प्रतीत होता है कि यह उपयुक्त व्यक्तियों का संघ था। इस संघ के द्वारा अंग्रेजी, बँगला और मराठी की धर्म तथा संस्कृति संबंधी अनेक विख्यात पुस्तकों के उड़िया अनुवाद तथा देश के अनेक महान् पुरुषों की जीवनियाँ प्रकाशित हुईं।

'कोशल कला मंडल' अनुष्ठान की स्थापना पटना के महाराज के संरक्षण में हुई थी। इसकी ओर से अंग्रेजी में एक गवेषणा-पत्रिका का प्रकाशन भी कुछ दिनों तक हुआ था।

इसी संस्था की ओर से 'चतुरंग' नाम की एक उच्च कोटि की साहित्यिक पत्रिका देश के गण्यमान्य साहित्यिकों के सहयोग से प्रकाशित हुई थी।

'उड़िया लेखक सहयोग समिति' का संगठन उड़ीसा के सहकारी विभाग के सहायक मंत्री श्री अनंतप्रसाद पंडा की कल्पना की उपज थी। उड़िया साहित्य की समृद्धि के साथ साथ लेखक-लेखिकाओं को आत्मनिर्भर और परस्पर सहयोगी बनने के लिये उत्साहित करना इस समिति का मुख्य उद्देश्य रहा। उन लेखक-लेखिकाओं को इस समिति का सदस्य बनने का अधिकार मिला जो १८ वर्ष से ऊपर के थे। पहले केवल दस हजार रुपयों की पूँजी से इस समिति का कार्य आरंभ हुआ। इसकी ओर से 'उदय' नाम की एक उच्च कोटि की पत्रिका का प्रकाशन आरंभ किया गया जिसका लक्ष्य उत्तम कोटि की कविताओं, कहानियों और गल्पों को प्रकाश में लाना था। इसके अतिरिक्त अनेक मौलिक ग्रंथ इस संस्था की ओर से प्रकाशित हुए।

प्राचीन उड़िया साहित्य को विकसित करने के लिये श्री विच्छन्दचरण पटनायक के नेतृत्व में 'कलिंग भारती' नाम की एक संस्था की स्थापना हुई जो आजकल भी सुचारु रूप से कार्य कर रही है। श्री हरेकृष्ण महताब के संरक्षण में प्रतिष्ठित 'प्रजातंत्र प्रचार समिति' की ओर से 'झंकार' नाम की मासिक पत्रिका प्रकाशित की गई। उड़िया साहित्य की समृद्धि में इसका कार्य भी प्रशंसनीय है।

उपर्युक्त कार्यों में विशेषकर सामूहिक प्रयत्नों का उल्लेख किया गया है। इसके अतिरिक्त व्यक्तिगत प्रयत्नों का भी इस विकास में कम महत्त्व नहीं है। अभी तक व्यक्तिगत रूप से जितने प्रयत्न हुए हैं उनमें पंडित गोपीनाथ नंदशर्मा कृत 'उड़िया भाषातत्त्व' और स्वर्गीय गोपालचंद्र प्रहराज द्वारा संकलित 'पूर्णचंद्र उड़िया भाषाकोश' उल्लेख-योग्य हैं। जब आधुनिक भारतीय भाषाओं पर की गई भाषातात्त्विक गवेषणा शैशव अवस्था में थी, उस समय स्वर्गीय नंदशर्मा ने अनेक वर्षों की साधना के फलस्वरूप 'उड़िया भाषातत्त्व' नामक विशाल ग्रंथ का प्रणयन किया जो उड़िया भाषा के क्षेत्र में अभूतपूर्व देन है। 'पूर्णचंद्र उड़िया भाषाकोश' भी बहुत काल की साधना का ही प्रतिफल है। स्वर्गीय गोपालचंद्र प्रहराज ने इस ग्रंथ का लेखन कार्य १९१६ ई० में आरंभ करके १९२७ में समाप्त किया। सन् १९३१ में इस ग्रंथ का प्रकाशन सात खंडों में किया गया। पहले इसमें एक लाख चौरासी हजार शब्दों को संकलित किया गया था। बाद में इसमें कई हजार नए शब्दों को पुनः संकलित करने की योजना बनाई गई थी। प्राचीन उड़िया साहित्य तथा वर्तमान युग में प्रचलित स्थानीय एवं अंचलीय भाषा के शब्द-समूहों के संकलन के लिये स्वर्गीय प्रहराज का यह महान् कार्य न केवल उड़िया साहित्य में अपितु समस्त भारतीय साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान रखता है।

उड़िया साहित्य के यथार्थ अनुशीलन तथा एम० ए० इत्यादि उच्च कक्षाओं में अध्ययन और अध्यापन का प्रयत्न कलकत्ता विश्वविद्यालय की ओर से किया गया था। आजकल इस दिशा में उत्कल विश्वविद्यालय एवं विश्वभारती विश्वविद्यालय के गवेषणा विभाग की ओर से प्रयास हो रहा है। विश्वभारती के उड़िया विभाग के अध्यापक श्री कुंजविहारी दास

कृत 'उड़िया लोकसाहित्य' नाम का एक आलोचनात्मक संकलन आधुनिक उड़िया साहित्य भांडार के लिये बहुत बड़ी देन है। अध्यापक दास ने जिस दिशा में काम किया है उसी दिशा में श्री गोपालचंद्र प्रहराज एवं भारतीय लोकगीत संग्राहक श्री देवेंद्र सत्यार्थी से उत्साह तथा प्रेरणा लेकर श्री चंद्रधर महापात्र ने वैसा ही कार्य आरंभ किया था। अध्यापक कुंजबिहारी दास द्वारा संगृहीत साठ हजार लोकगीतों के 'पल्ली गीति संचयन' नामक ग्रंथ का प्रथम भाग अब तक प्रकाशित हो चुका है। इसके अतिरिक्त सैकड़ों लोककथाएँ इनके द्वारा संगृहीत हुई हैं।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है अपने विशाल प्राचीन साहित्य की भित्ति पर आधुनिक उड़िया साहित्य का विशाल सौध बन रहा है। उड़िया साहित्य के यथार्थ परिशीलन और मूल्यांकन के क्षेत्र में कार्यारंभ हो चुका है। निश्चय ही अभी तक जो कुछ हुआ है वह पर्याप्त नहीं है। अतएव इस महान् कार्य को संपन्न करने के लिये अनेक गवेषकों तथा विद्वानों की बहुत दिनों तक की जानेवाली साधना एवं अध्यवसाय तथा राज्य की सहायता अपेक्षित है। यदि उपर्युक्त ढंग से इस कार्य को परिचालित किया जाय तो इससे दो करोड़ उड़िया जनता की आशा तथा आकांक्षा की पूर्ति तो होगी ही, स्वाधीन भारतवर्ष के सांस्कृतिक संगठन को दृढ़ एवं समृद्ध बनाने में भी इससे पर्याप्त सहायता मिलेगी।

विशिष्ट साहित्यकारों का परिचय

जिन साधकों की आजीवन साधना से उड़िया साहित्य इस स्थान तक पहुँच चुका है उनका परिचय संक्षेप में दे देना अप्रासंगिक न होगा। इन लोगों का जीवनकाल गत शताब्दी का अंतिम भाग तथा वर्त्तमान शताब्दी के प्रारंभ तक माना जाता है। ये ये देश की सांस्कृतिक चेतना के आधारस्वरूप थे। इन्हें शिक्षा तो पाश्चात्य प्रणाली की मिली थी फिर भी देश के ऐतिह्य, सांस्कृतिक अध्ययन और अनुशीलन में इनकी रुचि कम नहीं थी। साहित्य-सेवा के द्वारा देश में शिक्षा का प्रचार, राजनीतिक चेतना की जाग्रति एवं समाज-सुधार आदि को इन लोगों ने अपने जीवन का व्रत बना लिया था।

कर्मयोगी गौरीशंकर (सन् १८३८–१९१७ ई०)—१९ वीं शताब्दी के अंतिम भाग में देश में पाश्चात्य शिक्षा के प्रभाव से जो नवजागरण दिखाई पड़ा उसके प्रथम प्रतीक कर्मयोगी गौरीशंकर थे। उड़िया साहित्य और भाषा को सर्वप्रथम प्रकाश में लाने का श्रेय इन्हीं को है। उस समय समस्त उड़िया साहित्य ताड़पत्र पर पांडुलिपि में आबद्ध था। इसके फलस्वरूप अंग्रेजी शासकों का परिचय उड़िया साहित्य से नहीं हो सका था अतः शासन और शिक्षा के क्षेत्र में उड़िया भाषा के अस्तित्व को स्वीकार करने के लिये ये लोग तैयार नहीं थे। उन दिनों उड़ीसा के अंग्रेजी शासन के अधीन जो बंगाली पदाधिकारी कार्य कर रहे थे वे शासन और शिक्षा-क्षेत्र में उड़िया के स्थान पर बँगला को प्रतिष्ठित करने के लिये उद्यत थे। इस संकट की घड़ी में गौरीशंकर का उड़िया साहित्य में आना उड़िया के लिये वरदान सिद्ध हुआ। १८६६ ई० में इन्होंने 'उत्कल दीपिका' नाम की एक साम-

यिक पत्रिका प्रकाशित कर समस्त उड़िया भाषी अंचल के शासन और शिक्षा दोनों क्षेत्रों में उड़िया भाषा के प्रचार का आंदोलन आरंभ किया। ये अपने प्रयत्न में बहुत सफल हुए। सन् १८६५ ई० में इन्होंने कटक प्रिंटिंग कंपनी की स्थापना की जिसका उद्देश्य प्राचीन उड़िया साहित्य का उद्धार तथा आधुनिक उड़िया साहित्य का प्रकाशन था। गौरीशंकर जी राष्ट्रीय आंदोलन के भी समर्थक थे। सन् १८८५ ई० की राष्ट्रीय कांग्रेस में इन्होंने उड़ीसा का प्रतिनिधित्व किया था। पत्रकार के रूप में इनकी लेखनी से निःसृत गद्य द्वारा वर्त्तमान उड़िया गद्य का श्रीगणेश होता है।

व्यासकवि फकीरमोहन सेनापति (सन् १८४३ ई० से १९१८ ई० तक)— फकीरमोहन सेनापति की साहित्य-साधना से आधुनिक उड़िया साहित्य की नींव पड़ी। इन्होंने पुरानी रीति से शिक्षा प्राप्त की थी। इनकी स्कूल की शिक्षा यद्यपि बहुत कम थी फिर भी अपने परिश्रम से संस्कृत तथा प्राचीन उड़िया साहित्य का इन्होंने गंभीर अध्ययन किया था। व्यक्तिगत परिश्रम से इन्होंने अंग्रेजी का भी अच्छा ज्ञान प्राप्त किया था। भारतीय इतिहास, दर्शन, धर्म के अध्ययन में इनकी पर्याप्त रुचि थी फलतः वेदांत, उपनिषद्, रामायण, महाभारत आदि के अध्ययन के साथ साथ उनका उड़िया में अनुवाद करने का इन्होंने स्तुत्य प्रयत्न किया।

उड़िया भाषा को प्रतिष्ठित करने के लिये जो आंदोलन उन दिनों चल रहा था उसमें फकीरमोहन ने अपने को पूर्ण रूप से संलग्न कर दिया। सन् १८६८ ई० में बालेश्वर में सहकारिता के आधार पर एक उड़िया मुद्रणालय स्थापित कर इन्होंने समाचार-पत्रों का प्रकाशन आरंभ किया तथा विद्यालयों के लिये अनेक पाठ्य पुस्तकों की रचना की। इन्होंने उड़िया भाषा में भारतवर्ष का प्रथम इतिहास लिखा जिसपर इन्हें एक सहस्र रुपए का सरकारी पुरस्कार मिला। बालेश्वर के तत्कालीन जिलाधीश एवं भाषाविद् जान बीम्स को 'आर्यभाषा का तुलनात्मक व्याकरण' के प्रणयन में सहायता देकर फकीरमोहन उनके अंतरंग मित्र बन गए। जीविकोपार्जन के लिये इन्होंने आरंभ में कुछ दिनों तक शिक्षक और सरकारी लेखक के रूप में कार्य किया था। प्रौढ़ावस्था में इनका अधिकांश समय उड़ीसा के विभिन्न देशी राजाओं के यहाँ दीवान के रूप में कार्य करने में व्यतीत हुआ। अपने कार्यव्यस्त जीवन में इनको जो अवसर मिलता था उसे ये रामायण, महाभारत एवं उपनिषदों का अनुवाद करने में लगाते थे और स्वयं प्रकाशित भी करते थे। इनके द्वारा रचित 'पुष्पमाला', 'उपहार' और 'उत्कल भ्रमण' आदि अनेक छोटी छोटी कविता-पुस्तकों का प्रकाशन इसी समय हुआ था। ५३ वर्ष की अवस्था में इन्होंने अपने व्यस्त जीवन से अवकाश ग्रहण कर अपने को पूर्ण रूप से साहित्य सेवा में नियोजित कर दिया। उसी समय से इन्होंने कथा-कहानी, उपन्यास आदि लिखना आरंभ किया जिसके फलस्वरूप आगे चलकर ये उड़िया कथा-साहित्य के जनक के रूप में विख्यात हुए। इनकी लघुकथाओं का संग्रह दो खंडों में 'गल्प शल्प' नाम से प्रकाशित हुआ है। उपन्यास के क्षेत्र में इनके लिखे हुए 'छमाण आठगुंठ', 'मामू' और 'प्रायश्चित्त' नामक तीन सामाजिक उपन्यास एवं 'लछमा' नामक ऐतिहासिक उपन्यास पर्याप्त रूप से प्रसिद्ध

हुए। अंतिम काल में फकीरमोहन ने अपनी आत्मकथा लिखी जिसमें इन्होंने तत्कालीन सामाजिक जीवन पर अनेक दृष्टियों से प्रकाश डाला है। अपने अवकाश काल में इन्होंने 'अवसर वासरे' नामक लघु कविताओं का संग्रह एवं 'बौद्धावतार' काव्य लिखा जो उड़िया काव्य-जगत् में आदर की दृष्टि से देखे जाते हैं।

कुलवृद्ध मधुसूदन दास (सन् १८४८–१९३४ ई०)—आधुनिक उड़ीसा के सार्वजनिक जीवन में मधुसूदन दास सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति थे। अपनी वृद्धावस्था में ये उड़ीसा के कुलवृद्ध कहलाते थे। एक अच्छे वकील के रूप में भी ये बहुत विख्यात थे। वंग विधान-सभा के ये बहुत दिनों तक सदस्य रहे। सन् १९२१ ई० में ये बिहार उड़ीसा के स्वायत्त-शासन विभाग के मंत्री हुए। अंत में इस पद को अवैतनिक करने के प्रश्न पर मतभेद हो जाने के कारण इन्होंने मंत्रिपद से त्यागपत्र दे दिया। इन्होंने समस्त उड़िया भाषी अंचलों को एक शासन के अंतर्गत करने के लिये आंदोलन आरंभ किया था। अपने जीवनकाल में भारत तथा यूरोप के विभिन्न भागों में भ्रमण करके इन्होंने पर्याप्त जानकारी प्राप्त की थी। उड़ीसा के कुटीर उद्योग और चित्र एवं मूर्तिकला की अभिवृद्धि के लिये इनका प्रयत्न उल्लेखनीय है। गांधी जी के पहले ही इन्होंने उड़ीसा में चरखा आंदोलन का सूत्रपात किया था जिसके कारण ये उनके श्रद्धाभाजन हो गए थे। इनके पत्रों में लिखे गए निबंध एवं यत्र तत्र दिए हुए भाषण उड़िया साहित्य की मूल्यवान संपत्ति हैं। इनकी अनेक कविताएँ राष्ट्रीय भावना से ओतप्रोत हैं। उन कविताओं के द्वारा उत्कल-वाणी-मंदिर की समृद्धि में पर्याप्त वृद्धि हुई।

कविवर राधानाथ राय (सन् १८४८ से १९०८ ई० तक)—आधुनिक उड़िया साहित्य के आदि निर्माताओं में कविवर राधानाथ राय का प्रमुख स्थान है। ये अपने समसामयिक साहित्यकारों में बहुत बड़े विद्वान् माने जाते थे। प्राचीन उड़िया साहित्य, संस्कृत और अंग्रेजी साहित्य में इन्होंने प्रगाढ़ पांडित्य प्राप्त किया था। साथ ही हिंदी, मराठी और बँगला का भी इन्हें अच्छा ज्ञान था। अपने जीवन का अधिकांश भाग इन्होंने शिक्षक तथा शिक्षा विभाग के निरीक्षक के रूप में व्यतीत किया। ये पहले उड़िया में पाठ्य पुस्तकें लिखा करते थे। बाद में संस्कृत और अंग्रेजी साहित्य की पुस्तकों के अनुवाद के साथ साथ इनका साहित्यिक जीवन आरंभ हुआ। इनके द्वारा अँग्रेजी से अनूदित गल्प 'इटालीय जुवा' और 'विवेकी' नामक मौलिक निबंध तत्कालीन उड़िया गद्य साहित्य में एक नई दिशा की ओर संकेत करते हैं। किंतु राधानाथ मुख्यतः कवि के ही रूप में अधिक प्रसिद्ध हुए। इनकी कविताओं में दस ऐसी मौलिक रचनाएँ हैं जिनके द्वारा उड़िया साहित्य भांडार में विशेष योगदान हुआ है। इनकी काव्यरचना में प्राच्य और पाश्चात्य दोनों शैलियों का सफल और स्वाभाविक प्रयोग मिलता है। इनका प्रकृतिवर्णन संबंधी काव्य 'चिलिका', सामाजिक व्यंगात्मक काव्य 'दरबार' और भारतीय इतिहास की प्रवहमान धारा पर आधारित एवं अमित्राक्षर छंदों में रचित अपूर्ण महाकाव्य 'महायात्रा' विश्व-साहित्य में स्थान पाने योग्य मौलिक कृतियाँ हैं।

भक्तकवि मधुसूदन राव (सन् १८५३ से १९१२ ई० तक)—उड़ीसा में मराठों के शासनकाल में कुछ मराठी परिवार उड़ीसा में बस गए थे। उन्हीं परिवारों में से एक में मधुसूदन राव का जन्म हुआ था। कविवर राधानाथ की भाँति मधुसूदन के जीवन का भी अधिकांश समय शिक्षक और शिक्षा विभाग के निरीक्षक के रूप में बीता। ये ब्रह्मसमाज के प्रमुख समर्थकों में थे। ब्रह्मसमाज का विशेष प्रभाव इनकी रचनाओं में दृष्टिगत होता है। इसलिये कुछ लोग इनको भक्तकवि कहा करते थे। अंग्रेजी साहित्य के ग्रंथों का उड़िया में अनुवाद करने के साथ इनका साहित्यिक जीवन आरंभ होता है। इन्होंने कुछ अंग्रेजी कविताओं और निबंधों का ऐसा अनुवाद किया है जो इनकी मौलिक रचनाएँ प्रतीत होती हैं। इन्होंने भवभूति के उत्तररामचरित को भी उड़िया में अनूदित किया। गीतिकाव्यों की रचना के द्वारा इन्होंने उड़िया साहित्य में नवीन युग का प्रवर्त्तन किया था। इनकी प्रगीतात्मक कविताओं में आध्यात्मिकता, ईशप्रेम तथा प्रकृति-चित्रण मुख्य रूप में परिलक्षित होते हैं। इनकी काव्य-कृतियों में 'कुसुमांजली', 'उत्कल गाथा', 'बसंत गाथा' आदि अमूल्य रचनाएँ हैं। 'छंदमाला' नामक इनकी बालोपयोगी कविता बहुत जनप्रिय है। 'कुसुमांजली' में संगृहीत 'ऋषिप्राणी देवावतरण' और 'हिमाचले उदयोत्सव' नामक दो कविताएँ बँगला में भी अनूदित हुई हैं जिनकी प्रशंसा रवींद्रनाथ ठाकुर ने अत्यंत आह्लादित होकर की थी। उड़िया में निबंधों तथा समालोचनात्मक कृतियों की रचना मधुसूदन जी के द्वारा बहुत अधिक मात्रा में हुई थी। इनके नेतृत्व में सन् १६०४ ई० में उड़िया लेखकों के बीच विचार-विनिमय तथा उड़िया साहित्य के उपयुक्त परिशीलन के लिये 'उत्कल साहित्य समाज' की स्थापना की गई थी।

नाटककार रामशंकर राय (सन् १८५७ से १९३१ तक)—ये कर्मयोगी गौरीशंकर के कनिष्ठ भ्राता थे। इनके जीवन का कुछ अंश तो शिक्षक और सरकारी कर्मचारी के रूप में बीता किंतु अधिकांश इन्होंने वकील के रूप में बिताया। ये नैतिक उत्थान एवं अन्य प्रकार के समाजसुधार के पक्षपाती थे। २३ वर्ष की अवस्था में इन्होंने उड़िया साहित्य का प्रथम नाटक 'कांची कावेरी' लिखा था। इनका 'विवासिनी' उपन्यास फ़कीरमोहन सेनापति के उपन्यासों के पूर्व ही प्रकाशित हो चुका था। इन्होंने अपना साहित्यिक जीवन नाटक-रचना में ही लगाया। समाज सुधार का उद्देश्य ध्यान में रखकर धर्मशास्त्र, पौराणिक उपाख्यान और सामाजिक कथाओं के आधार पर इन्होंने जो १४ नाटक लिखे उनके द्वारा उड़िया नाटक साहित्य के भांडार में पर्याप्त वृद्धि हुई। धर्म और संस्कृति संबंधी इनके अनेक निबंध उस काल की भिन्न भिन्न पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए थे। हिंदू धर्म और भारतीय दर्शन के प्रति इनकी जो असीम श्रद्धा थी उसके प्रभाव से इन्होंने वेदों और उपनिषदों के अनेक स्थलों का उड़िया में अनुवाद किया था। इनका भगवद्गीता का एक पद्यबद्ध अनुवाद भी है।

श्री गंगाधर मेहर (सन् १८६२ से १९२५ ई० तक)—इनका जन्म संबलपुर जिले के एक छोटे से गाँव में जुलाहा परिवार में हुआ था। गाँव की पाठशाला में इनकी शिक्षा का आरंभ हुआ। उसके पश्चात् इन्होंने एक सरकारी प्राथमिक विद्यालय में कुछ

दिनों तक शिक्षा ग्रहण की। उच्च शिक्षा पाने का अवसर इन्हें नहीं मिल सका, फिर भी स्वाध्याय द्वारा संस्कृत साहित्य में इन्होंने अच्छा पांडित्य प्राप्त किया। इन्होंने जीवन का कुछ अंश अपने वंशगत व्यवसाय में लगाया, तत्पश्चात् एक जमींदार के यहाँ अमीन और मुहर्रिर के रूप में काम किया। गंगाधर पहले प्राचीन शैली में कविताएँ किया करते थे किंतु आगे चलकर इन्होंने राधानाथ की शैली को अपना आदर्श बनाया। इनकी रचनाओं में भाषा की गठन, छंद-रचना, चरित्र-चित्रण, प्रकृति-वर्णन आदि सभी दिशाओं में वैशिष्ट्य परिलक्षित होता है। इनकी काव्य-कृतियों में 'इंदुमती', 'कीचकवध', 'प्रणयवल्लरी', 'तपस्विनी' एवं 'उत्कल लक्ष्मी' आदि अत्यंत लोकप्रिय हैं। 'प्रणयवल्लरी' काव्य में कालिदास की शकुंतला का तथा 'तपस्विनी' में भवभूति के 'उत्तररामचरित' का आभास मिलता है। फिर भी इनमें मेहेर की मौलिकता ही अधिक दिखाई पड़ती है। इनकी उत्कृष्ट गीतिकविता के संग्रहों में 'कविता कल्लोल' एवं 'अर्घ्य थाली' बहुत प्रसिद्ध हैं। अपने व्यक्तिगत जीवन में गंगाधर मेहेर सत्यनिष्ठ, सुधार-प्रेमी, आदर्शवादी तथा भारत के राष्ट्रीय आंदोलन के प्रबल समर्थकों में थे। इन्होंने अपनी 'भारती भावना' नाम की कविता-पुस्तक में अंग्रेजों के दुष्कर्मों की निंदा की थी इस कारण वह पुस्तक सरकार ने जब्त कर ली।

श्री विश्वनाथ कर (सन् १८६४ से १९३४ तक)—स्वर्गीय विश्वनाथ कर अत्यंत भावुक तथा क्रांतिकारी व्यक्ति थे। ब्रह्मसमाज में दीक्षित हो जाने के कारण इन्हें अपने धर्मांध समाज के विरोध का सामना करना पड़ा। यों तो कुछ दिनों तक इन्होंने शिक्षक के रूप में कार्य किया परंतु इनका अधिकांश समय पत्रकार, संपादक तथा समाज-सुधारक के रूप में बीता। कार्लायल, इमर्सन, बर्क आदि पाश्चात्य विचारकों की विचारधारा से ये बहुत प्रभावित हुए थे। राजनीति में ये उदारपंथी थे। सन् १८९६ में इन्होंने 'उत्कल साहित्य' नाम की पत्रिका प्रकाशित की और जीवन भर स्वयं उसका संपादन करते रहे। इसी पत्रिका के द्वारा इन्होंने अपनी मौलिक प्रतिभा विकसित की। इनका 'विविध प्रबंध' नामक निबंध-संग्रह उड़िया साहित्य में मौलिक विचारों का उद्रेक करनेवाला प्रसिद्ध है।

कविशेखर चिंतामणि महांति (सन् १८६७–१९४२ तक)—आधुनिक उड़िया साहित्य का प्रसार करने में कविशेखर चिंतामणि महांति का बहुत बड़ा हाथ है। ये वर्नाक्युलर स्कूल से अध्ययन समाप्त कर प्राथमिक विद्यालय के शिक्षक के रूप में बीस वर्षों तक कार्य करते रहे। अपने प्रयत्न से इन्होंने संस्कृत, बँगला, हिंदी आदि का पर्याप्त अध्ययन किया। जब ये शिक्षक थे तब एक दिन कविवर राधानाथ राय इनके स्कूल का निरीक्षण करने गए। अकस्मात् वहाँ उन्होंने कविवर चिंतामणि की कविता की हस्तलिखित पुस्तक देखी और सर्वप्रथम उनके कविरूप को पहचाना। उसी दिन से कविशेखर चिंतामणि ने कविवर राधानाथ को अपना काव्यगुरु मान लिया। साहित्य में कुछ ख्याति प्राप्त कर लेने के बाद इन्होंने शिक्षक का कार्य छोड़कर 'उत्कलवासी', 'ज्ञानदर्पण' तथा 'मनोरमा' आदि पत्रों का संपादन किया। इनके पंद्रह वर्णनात्मक काव्य, विक्रमादित्य, शिशुपाल-बध,

भारत-ललना आदि दस ऐतिहासिक और पौराणिक काव्य तथा अठारह खंडकाव्यों का एक संग्रह प्रकाशित हो चुका है। इसके अतिरिक्त इन्होंने अनेक भ्रमण-वृत्तांत, निबंध, आलोचना तथा जीवनी-ग्रंथों की रचना की। इनके 'टंका गछ', 'त्रिवेणी' और 'शनि सता' उपन्यासों तथा सैकड़ों कहानियों को पढ़कर प्रतीत होता है कि ये पद्य की अपेक्षा गद्य लेखन में अधिक निपुण थे। इनकी सभी रचनाओं की लगभग ३००० पृष्ठों की ग्रंथावली चार खंडों में प्रकाशित हुई है।

पं० गोपीनाथ नंदशर्मा—(सन् १८६९ से १९२४ ई० तक)—पंडित गोपीनाथ नंदशर्मा प्राचीन उड़िया साहित्य, पाली, संस्कृत आदि के बहुत बड़े पंडित थे। साथ ही बँगला, हिंदी, मराठी और तेलुगु का भी इनका अच्छा अध्ययन था। व्याकरण और भाषाविज्ञान से इन्हें बहुत प्रेम था। इनके द्वारा प्रणीत 'उड़िया शब्दतत्त्व बोध', 'अभिधान' एवं 'उड़िया भाषातत्त्व' आदि उड़िया भाषा की अक्षय निधि हैं। सर्वप्रथम इन्होंने ही उड़िया भाषा की भाषावैज्ञानिक समीक्षा की। जिन दिनों इनका आठ सौ पृष्ठों का विशाल भाषातत्त्व संबंधी ग्रंथ छप रहा था उन्हीं दिनों इनकी असामयिक मृत्यु हो गई। ये उच्च कोटि के समालोचक भी थे। १४ वीं शताब्दी में कवि सरला दास द्वारा लिखित 'महाभारत काव्य' के संबंध में इन्होंने 'भारत दर्पण' नामक जो आलोचनात्मक ग्रंथ लिखा उससे इनकी गवेषणात्मक प्रतिभा का पूर्ण परिचय मिलता है। इसके अतिरिक्त इन्होंने उड़िया में कतिपय नाटक और संस्कृत छंदों में कुछ कविताएँ भी लिखी हैं।

पल्ली (ग्राम) कवि नंदकिशोर (सन् १८७५ से १९२८ ई० तक)—नंदकिशोर ने उच्च शिक्षा पाने के उपरांत अपने जीवन का अधिकांश भाग शिक्षक तथा शिक्षा विभाग के निरीक्षक पद पर रहकर सरकारी सेवा में बिताया था। नंदकिशोर की वृत्ति ग्रामीण जीवन की ओर अधिक उन्मुख हुई। ग्रामीण भाषा और भाव को इन्होंने अपने काव्य के मूल उपादान के रूप में ग्रहण किया था। पहले पहल राधानाथ के आदर्श से अनुप्रणित होकर इन्होंने 'कृष्णाकुमारी', 'शर्मिष्ठा' आदि काव्यों की रचना की थी। परंतु इनकी विशिष्टता ग्रामचित्र 'निर्झरिणी', 'वसंत कोकिल', 'प्रभात चित्र' इत्यादि ग्रामीण जीवन प्रधान गीति कविताओं में प्रकट हुई है। ये कवि होने के साथ ही बाल-साहित्य के भी स्रष्टा थे। इनका लिखा हुआ 'नाना बाया गीत' बालोपयोगी कविताओं का अच्छा संग्रह है। इनका एकमात्र उपन्यास 'कनकलता' ग्राम्य जीवन के चित्रण के कारण विशेष रूप से आदृत हुआ था।

उत्कलमणि गोपबंधु दास (सन् १८७७ से १९२८ तक)—ये केवल कवि और लेखक के रूप में ही नहीं, आधुनिक उड़ीसा के सर्वश्रेष्ठ जननेता के रूप में भी विख्यात थे। ये अपनी बहुमुखी प्रतिभा के कारण अपने आप में एक संस्था थे। इन्हीं के द्वारा उड़ीसा में सर्वप्रथम कांग्रेस आंदोलन का सूत्रपात हुआ। शिक्षा, साहित्य और संस्कृति को राष्ट्रीय आवश्यकता के अनुरूप पुनर्गठित करने में इन्होंने भगीरथ प्रयत्न किया। 'सत्यवादी' में 'राष्ट्रीय वन विद्यालय' की योजना इन्हीं के उद्योग का फल थी।

इनके व्यक्तिगत अध्यवसाय और सेवा से जो विशाल साहित्य निर्मित हुआ वह 'सत्यवादी युग' का साहित्य कहा जाता है। दीर्घ कारावास ने इन्हें साहित्य-सेवा का अच्छा अवसर प्रदान किया। इनके बंदी जीवन में लिखी गई 'बंदी की आत्मा' और 'काराकविता' आदि लघु कविताओं की पुस्तकें प्रसिद्ध हैं। इनकी पहले की लिखी हुई कविताएँ 'अवकाश चिंता' नाम से प्रकाशित हुई हैं। कोणार्क के सूर्यमंदिर के निर्माण के संबंध में प्रचलित एक किंवदंती के आधार पर रचित इनका 'धर्मपद' काव्य तथा लोकशिक्षा के उद्देश्य से उपनिषदों की लघु कथाओं के आधार पर रचित 'नचिकेता काव्य' यथेष्ट ख्याति प्राप्त कर चुके हैं। इनकी अपनी लिखी हुई रचनाएँ यद्यपि थोड़ी हैं, तथापि उनकी प्रेरणा और भावादर्श ने तत्कालीन अनेक लेखकों और कवियों को अनुप्राणित किया है। साहित्य में अपने आदर्श के प्रसार के लिये गोपबंधु ने 'सत्यवादी' नामक एक मासिक पत्रिका तथा राजनीतिक जाग्रति और सामाजिक चेतना के विकास के लिये 'समाज' नामक दैनिक पत्र की स्थापना की। पत्रकार कला के क्षेत्र में इनकी उच्च कोटि की भाषा आजकल भी उड़िया गद्य का आदर्श समझी जाती है।

वाणीभूषण मृत्युंजय रथ (सन् १८८२ से १९२४ तक)–ये संस्कृत अलंकार और साहित्य के गंभीर विद्वान् थे। अपने जीवन का अधिकांश समय इन्होंने अध्यापन में बिताया था। इनकी विशेष ख्याति समालोचक और अनुवादक के रूप में है। अभीतक इनकी रचनाओं का जितना अंश संगृहीत हुआ है उसमें संस्कृत से अनूदित 'मुद्रा राक्षस' तथा 'विक्रमोर्वशी' बहुत प्रसिद्ध हैं। जीवनी-लेखक के रूप में भी इनका परिचय 'सरला दास' और 'कर्मयोगी गौरीशंकर' नामक दो जीवनचरितों से मिलता है। इनका 'प्रबंध-पाठ' नामक निबंधों का संग्रह भाषा-शैली तथा मौलिक भावधारा की दृष्टि से उड़िया साहित्य में विशिष्ट स्थान रखता है।

कांतकवि लक्ष्मीकांत महापात्र (सन् १८८८ से १९५३ तक)—व्यंजना और रस-सृष्टि दोनों दृष्टियों से उड़िया साहित्य को शाश्वत सौंदर्य से विभूषित करनेवाले स्वर्गीय लक्ष्मीकांत महापात्र कांतकवि के रूप में अत्यंत प्रसिद्ध हैं। साहित्य-क्षेत्र में इनका अवतरण राधानाथ-युग में हुआ किंतु इस युग की मान्यताओं और पाश्चात्य शैली के अनुकरण से ये सतुष्ट नहीं थे। उड़ीसा के लोकचरित, पाला (एक प्रकार की गानमंडली), कीर्त्तन आदि लोकप्रिय साहित्य के आधार पर आधुनिक साहित्य को एक नूतन रूप देने का जो प्रयास इन्होंने किया उसमें इन्हें यथेष्ट सफलता मिली। साहित्य के संबंध में इनकी जो मान्यताएँ थीं उसके प्रवर्त्तक और साधक ये स्वयं ही थे। अनेकानेक गीतों, कीर्त्तनों, पदावलियों और नाटकों द्वारा इन्होंने उड़िया साहित्य के भांडार की अभिवृद्धि की। शिशु साहित्य में भी इनकी देन उल्लेख योग्य है। आधुनिक उड़िया साहित्य में हास्य और व्यंग की रचनाओं का समावेश करने का सर्वप्रथम श्रेय भी इन्हीं को है। सन् १९२६ में इन्होंने 'डगर' नाम की हास्य-प्रधान पत्रिका प्रकाशित की थी। अभी तक इस पत्रिका ने उड़िया साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान सुरक्षित रखा है। इसके अतिरिक्त इन्होंने बहुत से निबंध और आलोचनात्मक लेख लिखे। लघुकथा और उपन्यास लिखन के क्षेत्र में

भी इनकी स्वतंत्र शैली लक्षित होती है। इनकी समस्त रचनाओं का संग्रह एक ग्रंथावली के रूप में प्रकाशित करने का आयोजन किया गया है।

नारीकवि कुंतलाकुमारी सावत (सन् १९०० से १९३८ ई० तक)—कुंतला-कुमारी उड़ीसा में नारी-जाग्रति की प्रतीक थीं। मद्रास के बस्तर स्टेट में एक ईसाई परिवार में इनका जन्म हुआ था। इनका बचपन ब्रह्मदेश में व्यतीत हुआ जहाँ इनको आरंभिक शिक्षा-दीक्षा अंग्रेजी माध्यम से हुई। उड़ीसा आने के बाद इनकी रुचि उड़िया साहित्य की ओर बढ़ी। चिकित्सा शास्त्र में उच्च उपाधि लेने के बाद कुछ दिनों तक इन्होंने 'रेडक्रास' में कार्य किया था। इनके जीवन का अधिकांश भाग दिल्ली में एक स्वतंत्र नारी चिकित्सक के रूप में बीता था। ये वहीं ईसाई धर्म छोड़कर आर्यसमाज में दीक्षित हो गईं। इनका विवाह प्रसिद्ध आर्यसमाजी श्री कृष्णप्रसाद ब्रह्मचारी से हुआ था। अपने चिकित्सा व्यवसाय के साथ साथ ये साहित्य साधना में भी लगी रहती थीं। राष्ट्रीय और नारी-आंदोलन में भी इनकी वैसी ही रुचि थी। सन् १९३० में ये 'निखिल भारत युवक संघ' की सभानेत्री, सन् १९३१ में 'निखिल उत्कल नारी समिति' की सभानेत्री और सन् १९३५ में दिल्ली में मनाई जानेवाली 'झाँसी की रानी' की जयंती में प्रमुख रूप से भाग लेनेवाली थीं। दिल्ली में रहते समय इनका हिंदी साहित्य के साथ भली भाँति परिचय हुआ और इन्होंने हिंदी में मौलिक रचनाएँ तथा उड़िया की कतिपय श्रेष्ठ कृतियों का हिंदी अनुवाद प्रस्तुत किया। 'वरमाला' के नाम से इनकी हिंदी कविताओं का एक संग्रह भी प्रकाशित हुआ था। दिल्ली से प्रकाशित 'महावीर', 'जीवन', 'नारी' तथा 'भारती' आदि राष्ट्रीय भावापन्न एवं नारी-जाग्रति-मूलक विभिन्न हिंदी पत्रिकाओं का संपादन इन्होंने किया था। जीवन के अंतिम दिनों तक इनकी लेखनी चलती रही। कुंतला मुख्यतः प्रगीत-प्रधान कवयित्री थीं। स्वदेश-प्रेम, प्रकृति-सौंदर्य तथा आध्यात्मिकता इनकी कविताओं के मूल उपादान हैं। 'अंजलि', 'अर्चना', 'स्फुलिंग', आदि कविता संग्रह और 'प्रेम चिंतामणि' नामक काव्य इनकी रचनाओं में अत्यंत उच्च कोटि के हैं। राष्ट्रीयता का उद्दीपक होने के कारण 'स्फुलिंग' विदेशी शासनकाल में जब्त कर लिया गया था। गल्प तथा उपन्यास लेखन में ये प्रवीण थीं। इनके उपन्यासों में अधिकतर सभ्य समाज या नागरिक जीवन का चित्रण हुआ है। शिक्षित मध्यवर्गीय उड़िया परिवार का चित्रण सर्वप्रथम इन्हीं के उपन्यासों में सजीव रूप में दिखाई पड़ता है। इनके उपन्यासों में 'भ्रांति', 'कालि बोहू', 'परशमणि', 'नअ्रतुंडी' एवं 'रघु अरक्षित' आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। दुर्भाग्यवश इस विदुषी नारी को अपनी प्रतिभा का उपयोग करने का अधिक अवसर नहीं मिला तथा केवल ३८ वर्ष की अवस्था में देहांत हो गया।

अन्य साहित्यकार

उड़िया साहित्य को जिन बहुसंख्यक साहित्यिकों ने अपनी कृतियों से समृद्ध किया है उन सभी का परिचय देना इस निबंध में शक्य नहीं है। यहाँ केवल उन्हीं का उल्लेख किया जा रहा है जो अपनी विशिष्ट कृतियों के कारण साहित्य क्षेत्र में विशेष रूप से प्रसिद्ध हुए हैं। इनमें स्वर्गीय राजकवि विक्रमदेव वर्मा, स्वर्गीय गोपालचंद्र प्रहराज,

श्यामसुंदर राजगुरु, जलंधर देव, शशिभूषण राय और रामचंद्र आचार्य आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। स्वर्गीय विक्रमदेव वर्मा अनेक काव्यों के प्रणेता तथा साहित्य के सहृदय साधक थे। इनकी सभी रचनाओं की एक स्वतंत्र ग्रंथावली प्रकाशित हो चुकी है। उड़िया-भाषा-कोश के संपादक स्वर्गीय गोपालचंद्र प्रहराज उड़िया लोक-साहित्य-संग्रह में अग्रणी थे। निबंध साहित्य में उनकी देन महत्त्वपूर्ण है। राजगुरु, जलंधर देव, शशिभूषण आदि ने आलोचनात्मक एवं विभिन्न विषयों पर निबंध तथा भ्रमण वृत्तांत आदि लिखकर एवं स्व० रामचंद्र आचार्य ने उच्च कोटि के उपन्यासों की रचना द्वारा आधुनिक उड़िया गद्य साहित्य को बहुत उन्नत किया है।

वर्तमान जीवित कवियों और लेखकों में पद्मचरण पटनायक अन्यतम हैं। राधानाथ युग से इन्होंने साहित्य सेवा आरंभ की किंतु सत्यवादी युग में आकर ये विशेष जनप्रिय हुए। इनकी रचनाओं में 'पद्म पाखुड़ा', 'सूर्यमुखी' आदि मानवता तथा स्वदेश प्रेम संबंधी कविताएँ अधिक लोकप्रिय हैं। उत्कलमणि गोपबंधु के सहकर्मी के रूप में 'सत्यवादी युग' में सुप्रसिद्ध पंडित नीलकंठ जी अपनी समालोचना और निबंधों के लिये विशेष रूप से प्रसिद्ध हैं। पं० गोदावरीश मिश्र, जो गोपबंधु के अन्य मुख्य सहकर्मियों में थे, अपने मौलिक काव्य एवं गल्प, उपन्यास आदि के कारण अत्यंत विख्यात हैं। इन दोनों की लेखनी आजकल भी निरंतर प्रवहमान है।

सबुज युग के जिन लेखकों द्वारा आधुनिक उड़िया साहित्य समृद्ध हुआ उनमें कवि वैकुंठनाथ पटनायक तथा कालिंदीचरण पाणिग्राही विशेष प्रसिद्ध हैं। उसी युग के लेखक डा० मायाधर मानसिंह अबतक कविता और निबंध लिखते जा रहे हैं।

आधुनिक उड़िया साहित्य में प्रगतिशील साहित्य की सृष्टि करनेवालों में श्री सच्चिदानंद राउतराय अग्रणी हैं। अन्य साहित्यकारों में श्री राधामोहन गड़नायक, अध्यापक कुंजबिहारी दास, विनोद नायक, अनंत पटनायक आदि विशेष परिचित हैं। गल्प तथा उपन्यास लेखक के रूप में श्री कान्हुचरण महांति, गोपीनाथ महांति, नित्यानंद महापात्र, चंद्रमणि दास, कमलाकांत दास आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। नाटककार के रूप में अश्विनीकुमार घोष और कालीचरण पटनायक विशेष परिचित हैं। इस प्रकार उड़िया साहित्य के विभिन्न अंगों को नूतन प्रयोग, नवीन उद्भावना तथा अपनी विशिष्ट शैली द्वारा समृद्ध करने में अनेक साहित्यकार लगे हुए हैं।

उड़िया साहित्य की सामान्य प्रवृत्तियाँ

काव्य

आधुनिक उड़िया के प्रथम काव्य 'चंद्रकला' की रचना राधानाथ के पूर्व १८६० ई० में कविसूर्य बलदेव रथ द्वारा हुई थी। राधानाथ के प्रथम काव्य 'केदार गौरी' के रचनाकाल और 'चंद्रकला' में लगभग २० वर्षों का अंतर पड़ता है। ऐतिहासिक दृष्टि से यह अंतर अधिक नहीं है, फिर भी जहाँ तक काव्य की मूल प्रवृत्ति का संबंध है, दोनों कवि स्वतंत्र क्षेत्र के प्रतीत होते हैं। प्रत्यय (विश्वास) ही राधानाथ के 'केदार

गौरी' और कविसूर्य के 'चंद्रकला' का प्रधान उपजीव्य है। किंतु रचनाकौशल, भाव-संपत्ति, वर्णनशैली, भाषा, छंदयोजना, आदि सभी दृष्टियों से इन दोनों काव्यों में बहुत अंतर दिखाई पड़ता है। अठारहवीं शताब्दी के कवि उपेंद्र भंज के काल से उड़िया काव्य-रचना की जो श्रृंखला चली आ रही थी, कविसूर्य की 'चंद्रकला' उसी की अंतिम कड़ी है। इस काव्य में चित्रित चरित्रों का ढाँचा संस्कृत आलंकारिकों के अनुशासन से प्रभावित तथा कथावस्तु परंपरा के भार से बोझिल है। छंदों में संगीत की मूर्छना अवश्य है, किंतु वह शब्दालंकारों की गुरुता तथा अर्थालंकारों की अतिरंजना से दबी हुई है।

दूसरी ओर राधानाथ के 'केदार गौरी' की नवीनता उसके कथानक से ही स्पष्ट होने लगती है। इनके काव्य के पात्र राजकुमार या राजकुमारी न होकर साधारण प्रेमी और प्रेमिका हैं। 'केदार गौरी' की कथावस्तु 'वीभिड' रचित 'मेटामारफसिस' के 'पिरामस' और थिस्बी' की कथा पर आश्रित है। किंतु उड़िया किंवदंती, पौराणिक वातावरण और प्राकृतिक पीठिका के द्वारा कवि ने उसपर अपनी छाप लगा दी है। इस काव्य की कथावस्तु इस प्रकार है—

उड़ीसा के प्राचीन नगर भुवनेश्वर में केदार और गौरी नाम के दो किशोर किशोरी पड़ोसी थे। परस्पर प्रेमपाश में आबद्ध होने पर दीवार के एक छिद्र में से दोनों अपनी अपनी आँखों में आँसू भरकर एक दूसरे से प्रेम निवेदन किया करते थे। एक बार दोनों प्रेमी एक निर्जन स्थान में मिलने के लिये गए। पहले गौरी निश्चित स्थान पर पहुँची। उसके पहुँचते ही एक शेर की आवाज सुनाई पड़ी। आत्मरक्षा के लिये जब वह एक निकटवर्ती गुफा में जा रही थी, उसका उत्तरीय गिर गया। शेर रक्त लगे अपने दाँतों से वह उत्तरीय फाड़-चीथकर चला गया। फटे-चिथे उत्तरीय में रक्त लगा देखकर केदार ने समझा कि शेर गौरी को खा गया इसलिये उसने अपने कृपाण से आत्महत्या कर ली। गौरी ने केदार को मृत अवस्था में देख उसी कृपाण से अपनी भी हत्या कर ली। आखेट के लिये निकले हुए उस काल के उत्कल-नरेश ललारेंदु केशरी ने दोनों को मृत देख उनका शव-संस्कार कराया और उसी स्थान पर उनकी स्मृति में 'केदार-गौरी-मंदिर' का निर्माण कराया।

देश विदेश की पौराणिक कहानियों को उड़ीसा के स्वाभाविक वातावरण के अनुरूप बनाकर काव्य-रचना करने में राधानाथ अत्यंत दक्ष थे। उनके 'चंद्रभागा', 'ऊषा', 'नंदिकेशरी' आदि काव्यों की गठन और रचनातंत्र भी 'केदार-गौरी' काव्य के सदृश हैं। इन सभी काव्यों पर बायरन की पद्यबद्ध कथाओं का जो प्रभाव पड़ा है वह स्पष्ट है। 'चंद्रभागा' में 'डफनी और अपोलो' की तथा 'ऊषा' में 'ऐटलांटाज रेस' की छाया दृष्टिगत होती है। वैसे ही 'नंदिकेशरी' पर बायरन के 'सीज आफ कोरिंथ' का प्रभाव स्पष्ट है। किंतु यह सब कुछ राधानाथ की प्रतिभा का केवल एक पक्ष है। दूसरी ओर उन्होंने भारतीय पुराण और इतिहास का भी अनुसरण किया है। उनके 'वेणी संहार', 'दशरथ वियोग', 'दुर्योधन का रक्त नदी संतरण', 'बाण हरण' आदि काव्य रामायण और महाभारत के आख्यानों पर आधारित हैं। अपूर्ण होते हुए भी इनका 'महायात्रा' काव्य बहुत श्रेष्ठ माना जाता है। इसमें पांडवों के महाप्रयाण की कथा है।

परंतु काव्य में पौराणिकता के स्थान पर घटनाओं की ऐतिहासिकता प्रमाणित करने की ओर अधिक ध्यान दिया गया है।

इस काव्य की कल्पना और रचनाशैली पर मिल्टन के 'पैराडाइज लास्ट' का प्रभाव लक्षित होता है। मिल्टन के देवदूत की भाँति अग्निदेवता द्वारा प्रदत्त दिव्य आँजन की शक्ति से युधिष्ठिर ने भारत के भावी अधःपतन का चित्र देखकर अश्रुपात किया है। 'महायात्रा' की एक प्रमुख विशेषता यह है कि उसमें पुराण-प्रसिद्ध भारत के ऐतिहासिक वर्णन के साथ साथ उसके नदों, नदियों, अरण्यों, पर्वतों, तीर्थों और नगरों के तथा भिन्न भिन्न जातियों और प्रांतों के निवासियों के जीवंत चित्र उपस्थित किए गए हैं। इस प्रकार इस काव्य में राधानाथ का प्रकृति-प्रेमी कवि अत्यंत सजग हो उठा है। समस्त भारतवर्ष की एवं विशेष रूप से उत्कल की प्राकृतिक छटा का आलेखन इन्होंने अपनी मनोरम भाषा में इतने सजीव रूप से अंकित किया है जितना किसी कुशल शिल्पी के लिये अपनी तूलिका और रंगों के प्रयोग से करना संभव है। प्राकृतिक चित्रण का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण उनके 'चिलिका' काव्य में मिलता है। यह काव्य उड़ीसा की अपूर्व सुषमा और अत्यंत मनोरम प्राकृतिक झील 'चिलिका' पर आधारित है। इनके काव्यों के ऐतिहासिक और भौगोलिक वर्णन में इनकी राष्ट्र के प्रति अपूर्व संमान और प्रेम की भावना का परिचय मिलता है। अपनी रचनाओं में इन्होंने भारतीय समाज के वास्तविक स्वरूप का अपूर्व विश्लेषण किया है। विदेशी शासकों से प्रशंसित होने के लिये सचेष्ट उस काल के देशी राजाओं, जमींदारों, शासकों, उपाधिधारियों तथा अंग्रेजी शिक्षा का अभिमान करनेवाले व्यक्तियों के प्रति राधानाथ ने अपने 'दरबार' नामक काव्य में पर्याप्त व्यंग किया है।

उड़िया भाषा में छंद एवं शब्द योजना को भी राधानाथ की काव्य-प्रतिभा ने एक नई दिशा प्रदान की थी। प्राचीन उड़िया काव्य संगीतमय था। विभिन्न राग-रागिनियों और अलंकारों के द्वारा उसको इतना कृत्रिम बनाया गया था कि आधुनिक युग में उसका चलना ही मुश्किल था, किंतु राधानाथ आधुनिक जीवन की गति के प्रति सचेत थे। वे अच्छी तरह जानते थे कि आजकल जब कि समय का मूल्य बढ़ गया है, नए काव्यों की शैली में संगीत के समावेश से रसोद्रेक संभव नहीं हो सकता क्योंकि तत्कालीन युग में प्राचीन काव्यों में रस लेनेवाले पाठकों को एक निपुण गायक के ऊपर निर्भर करना पड़ता था। इसी से आधुनिक काव्यों में इस पद्धति का लोप होता गया और आगे चलकर एक ऐसी नई शैली का आविर्भाव हुआ जो एकांत में पढ़नेवाले पाठकों को भी रुचिकर और आनंदप्रद लग सके। इन सभी बातों को ध्यान में रखते हुए राधानाथ ने अपने छंदों को प्राचीन संगीत के जटिल स्वर-विन्यास से मुक्त कर सरल और साधारण करने का प्रयास किया। फिर भी संगीतप्राण जाति के काव्य से संगीत को एकदम निकाल फेंकने का साहस इन्हें नहीं हुआ। अपने काव्यों में इन्होंने इस प्रकार की स्वराभिव्यक्ति का ध्यान रखा जिसका उपयोग स्वर-साधना से अनभिज्ञ पाठक भी कर सकते थे। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए इन्होंने प्राचीन उड़िया साहित्य से 'नटवाणी', 'चक्रकेलि',

'खंड', 'कुंभ', 'कामोदी' तथा 'बँगला श्री' आदि सरल छंदों का ही अपेक्षाकृत अधिक प्रयोग किया। इसके अतिरिक्त काव्यों में 'अमित्राक्षर' छंदों के सर्वप्रथम प्रयोग का श्रेय भी इन्हीं को मिला। इनका 'महायात्रा' काव्य 'अमित्राक्षर' छंदों में ही लिखा गया है। आरंभ में ये लालित्यपूर्ण संस्कृत शब्दों का अधिक प्रयोग किया करते थे, किंतु आगे चलकर बोल-चाल की भाषा और उसके शब्द-भांडार की भी ये उपेक्षा नहीं कर सके। इनका 'दरबार' काव्य इसका ज्वलंत उदाहरण है।

राधानाथ ने अपनी लेखनी से जिस काव्यधारा को विस्तृत किया था वह उस युग के अनेक प्रतिभाशाली कवियों द्वारा प्रवाहित की गई धारा थी। इनमें कवि गंगाधर, चिंतामणि आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। यों तो स्वर्गीय कवि गंगाधर मेहेर ने राधानाथ को अपने आदर्श के रूप में ग्रहण किया था फिर भी उनकी मौलिक प्रतिभा को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। पुराण, प्राचीन काव्य और आख्यायिका ग्रंथ उनके काव्यों के मूल उपादान हैं। उदाहरण स्वरूप इनके 'कीचकवध' और 'इंदुमती' पद्म पुराण की कथाओं पर आश्रित हैं और अपूर्ण काव्य 'पद्मिनी' को कथा टाड लिखित राजस्थान के इतिहास से ली गई है। गंगाधर के सर्वश्रेष्ठ काव्य 'तपस्विनी' पर भवभूति के उत्तररामचरित का प्रभाव प्रच्छन्न है किंतु वनवासिनी सीता के चरित्र-चित्रण में उनकी स्वच्छंदता और मौलिकता स्पष्ट दिखाई पड़ती है। उनके श्रेष्ठ काव्य 'प्रणयवल्लरी' की कथावस्तु कालिदास की शकुंतला की कथा के सदृश है। किंतु फिर भी इसे शकुंतला नाटक का भाषानुवाद या भावानुवाद नहीं कहा जा सकता। कालिदास को इन्होंने अल्पांश में अपनाया अवश्य है, किंतु अपनी मौलिक विशेषता के द्वारा ही। इस काव्य को मनोरंजक और चित्ताकर्षक बनाने में इनकी मौलिकता स्पष्ट प्रतीत होती है। 'प्रणयवल्लरी' की भूमिका में इन्होंने अपने आदर्श का उल्लेख करते हुए लिखा है—

किसी हाथी के पदांक का अनुसरण करने के लिये यदि कोई दूसरा हाथी चलता है तो उसकी गति सुंदर नहीं प्रतीत होती। किंतु उन्हीं पदांकों पर यदि कोई मराल चलता है तो उसकी चाल अत्यंत स्वाभाविक तथा दर्शनीय होती है।"

इस आदर्श का कवि ने अपनी कृतियों में यथोचित रूप से पालन किया है।

गंगाधर कवि के प्रकृति-वर्णन में राधानाथ से भी अधिक स्वच्छंदता का परिचय मिलता है। 'उत्कल लक्ष्मी' के अतिरिक्त इनकी अन्य कविताओं में राधानाथ के समान प्रकृति के यथातथ्य वर्णन पर विशेष ध्यान नहीं दिया गया है, इन्होंने प्रकृति को एक जीवित प्राणी के रूप में अभिव्यक्त किया है। प्रकृति इनकी कविताओं में अंतरंग सखा या सहचर के रूप में आई है। वह दुःख में संवेदनशील और सुख में आनंद एवं उल्लासदायिनी है। पाश्चात्य साहित्य से आहरण करके अपने साहित्य को समृद्ध करने के भी यद्यपि ये पक्षपाती थे तथापि उद्देश्यहीन या अनुचित अनुकरण के ये घोर विरोधी थे। ये पाश्चात्य भावधारा या शैली को निर्दिष्ट सीमा तक ही लेने के पक्ष में थे। इनके ये भाव १९१५ ई० में रचित 'उत्कल भारती की उक्ति' नामक कविता में दृष्टिगत होते हैं—

पाइ थिले दिअ बिलाती प्रसून,
थाए यदि तहिं किछि सौरभ।
सौरभ न थिले कांतिरे निऊन,
नथिले बढिब सिना गौरव।
मस्तके मो टोपी . न देब बाबा रे,
न काढ़िब मोर करु कंकण।
सिंदूर विंदुमों भाले लिखिबा रे,
निरंतर जन्हे थिब स्मरण।

भावार्थ—उत्कल भारती अपने सेवकों (साहित्यकारों) से कहती है कि यदि तुम मेरे सिर पर विलायती फूल चढ़ाना चाहते हो तो उसमें कुछ सौरभ होना चाहिए, यदि वह सौरभहीन है तो भी सौंदर्य तो उसमें होना ही चाहिए जिसके द्वारा मेरा गौरव बढ़े। लेकिन मेरे प्रति यदि तुममें श्रद्धा हो तो मेरे सिर पर विलायती टोपी मत देना, न मेरे हाथ से कंकण निकालना और न मेरे ललाट से सिंदूर विंदु पोंछना।

राधानाथ को अपना काव्यगुरु मानकर स्वर्गीय श्री चिंतामणि महांति ने सबसे अधिक परिमाण में काव्यों की रचना की। इतिहास की घटनाएँ, पुराणों की कथाएँ और प्रकृति की पीठिका इनकी काव्यसृष्टि के मुख्य आधार हैं।

अपने ऐतिहासिक काव्यों की मान्यताओं के प्रसंग में इन्होंने लिखा है—"इतिहास के साथ जबतक कल्पना का संयोग नहीं होगा, काव्य की सृष्टि नहीं होगी। इसलिये मुझे कल्पना की यथेष्ट सहायता लेनी पड़ी; लेकिन उसके चलते न तो इतिहास की सत्यता ध्वस्त हुई, न उसकी कोई अधिक क्षति हुई।" (भूमिका, 'मुकुंद देव')।

उड़ीसा के अंतिम स्वाधीन नरेश मुकुंददेव के चरित को लेकर जो काव्य इन्होंने लिखा है उसमें 'मादला पांजी' नामक एक प्राचीन इतिहास ग्रंथ से सामग्री ली है, जो अब तक इतिहासकारों की दृष्टि से परे थी। इन्होंने अपने ऐतिहासिक काव्यों में ऐसी अनेक घटनाओं को संयोजित किया है जिनमें ऐतिहासिक तथ्य न होकर अनुमान ही अधिक है। इतिहास में गुप्त सम्राट् विक्रमादित्य और तत्कालीन उत्कल अधिपति ययाति केशरी इन दोनों में यद्यपि किसी संपर्क का आभास नहीं मिलता है, फिर भी चिंतामणि ने अपने 'विक्रमादित्य' काव्य में दोनों का मैत्रीपूर्ण संबंध, विक्रमादित्य का उत्कल में आना और तीर्थों में घूमने की घटनाओं का वर्णन किया है।

पौराणिक चरित्रों का महत्त्व प्रकट करने के लिये इन्होंने अनेक पौराणिक काव्यों की रचना की है जिनमें 'सुभद्रा', 'शिशुपाल वध', 'सप्तरथी', 'सप्तसती', 'आर्यबाला' आदि मुख्य हैं। प्रकृति-वर्णन के आधार पर इन्होंने 'धरा कोट दर्शन', 'सुरंगी काव्य', 'घुमुघर काव्य', 'महेंद्र', 'मेघासन' आदि रचनाएँ की हैं। राधानाथ के पदचिह्नों पर चलते हुए इन्होंने अमित्राक्षर छंदों में अनेक काव्य लिखे हैं। उड़िया में चिंतामणि के लिखने का क्षेत्र बहुत व्यापक है, किंतु सौंदर्य-विधान की दृष्टि से ये राधानाथ और गंगाधर मेहेर के पीछे हैं।

सत्यवादी युग के प्रारंभ में उड़िया साहित्य में नवीन शैली और काव्य की भावधारा का आविर्भाव हुआ। प्राचीन उत्कल में गणतंत्र का जो आदर्श प्रचलित था उसको पुनः प्रकाश में लाने के लिये सत्यवादी युग के प्रतिष्ठाता उत्कलमणि गोपबंधु ने 'धर्मपद' काव्य लिखा। इसका संक्षिप्त रूप इस प्रकार है—'कोणार्क में सूर्यमंदिर के निर्माण के लिये उत्कल नरेश लांगुला नरसिंह देव ने विशु महाराणा के नेतृत्व में बारह सौ बढ़इयों को नियुक्त किया। इन लोगों ने बारह वर्षों में मंदिर को पूरा करने का वचन दिया था। बारह वर्ष पूरा होने में केवल एक दिन शेष था किंतु अभी मंदिर का शिखर नहीं बैठ पाया था। इससे सबके सब बहुत चिंतित दिखाई पड़ते थे। सौभाग्यवश विशु का एक बारह वर्षीय पुत्र धर्मा उस समय अपने पिता से मिलने आया था। उसने अपनी कुशलता से मंदिर का शिखर बैठा दिया। अगर यह घटना नरेश को मालूम हो जाती तो वह बढ़इयों का सिर कटवा लेता। अतः अपने भाइयों को बचाने के लिये धर्मा ने मंदिर के शिखर से चंद्रभागा नदी में कूदकर अपने प्राणों की आहुति दे दी। पुत्र के वियोग की व्यथा को दबाकर विशु ने बारह सौ बढ़इयों के जीवन को अपने पुत्र के जीवन से मूल्यवान समझकर उसके इस उत्सर्ग का विरोध नहीं किया। इस प्रकार प्राचीन उत्कल की संस्कृति में छिपी हुई मानवता, स्वदेश-प्रेम एवं समता तथा मैत्री की भावना को अभिव्यक्त करना सत्यवादी युग का प्रधान लक्ष्य था।

गोपबंधु के आदर्श से प्रभावित उनके अंतरंग सहयोगी पंडित नीलकंठ दास ने 'कोणार्क' की रचना करके बहुत ख्याति प्राप्त की। वस्तुतः इस एक ही काव्य में दो काव्यों का समावेश हुआ है। इसका पहला अंश 'राम चंडी' में 'रात्रि' और 'ऊषा' और दूसरा अंश 'मायादेवी' नाम से प्रसिद्ध है। प्रथमांश में कवि ने स्वदेशी नरेश द्वारा शासित स्वाधीन उत्कल का मनोरम चित्र देने का प्रयास किया है। द्वितीयांश में कवि ने उत्कल-राजकुमार नरसिंह तथा दरिद्र सामंत कन्या मायादेवी की प्रेम-कहानी का वर्णन किया है जिसे उसने एक चारण से सुना था। इसमें दोनों के प्रणय का जो चित्र है उसमें पवित्रता, पौरुष और दृढ़ता की मौलिक अभिव्यक्ति हुई है। इसी काव्य में कवि ने प्राचीन उत्कल के शासन, वास्तुकला, मंदिर, नगर, युद्ध, नौयात्रा आदि का ऐसा सजीव वर्णन किया है जिससे उस युग का स्पष्ट रूप सामने उतर आता है। इस काव्य ने उड़ीसा में स्वाधीनता और स्वदेश-प्रेम की भावना उत्पन्न करने में बीजमंत्र का काम किया था।

प्राचीन काल में बड़े बड़े काव्य लिखने की जो परंपरा दिखाई पड़ती है, आधुनिक काल में उसका बहुत कुछ ह्रास हो गया है। आधुनिक साहित्य की प्रवृत्ति लघु कविताओं की ओर है। वर्तमान युग के प्रतिष्ठित कवियों में वैसे कवि बहुत कम हैं। इनमें जिन लोगों ने काव्य-रचना का प्रयास किया है उनमें डा० मायाधर मानसिंह उल्लेखयोग्य हैं। प्राचीन किंवदंती और लोककथाओं के आधार पर रचित उनका काव्य 'साधव झिय', गीतिनाट्य 'पुजारिणी' तथा प्रबंधकाव्य 'जेमा' और 'कमलायन' बहुत प्रसिद्ध हैं। इनके प्रबंधकाव्य आधुनिक उपन्यास की भाँति सामाजिक जीवन की वास्तविक यथार्थता पर आधारित हैं। 'जेमा' काव्य की भूमिका में कवि ने कहा है—"प्राचीन काव्यों में नायक-नायिकाओं को लेकर लिखने की जो रीति

थी उसको छोड़कर वर्तमान समाज की आँखों देखी घटनाओं के आधार पर भी काव्य लिखा जा सकता है। 'जेमा' काव्य इसी का उदाहरण है।" इस प्रयोग में कवि अत्यंत सफल रहा है। इस काव्य में एक निरक्षर ग्रामवासिनी बालिका की मार्मिक कथा है जिसमें प्राचीन उड़िया काव्य के छंदों का तथा बोलचाल की भाषा का प्रयोग हुआ है।

राजनीतिक तथा सामाजिक कारणों से भारत के शिक्षित मध्यवर्गीय परिवारों के जीवन में जो परिवर्तन हो रहा है, इन लोगों की जो समस्याएँ तथा जो समाधान हैं, इन सभी पर दृष्टि रखते हुए 'कमलायन' की कथावस्तु की कल्पना की गई है। काव्य की भूमिका में कवि ने स्पष्ट रूप से लिखा है—"जिस युग में मेरा जन्म हुआ है तथा जिस युग के जीवन-प्रवाह के साथ मेरा चाक्षुष परिचय है, उसकी स्मृति में इस काव्य को लिखने की कल्पना बहुत दिनों से मेरे मन में थी। इसी नवीन सामग्री से निर्मित 'कमलायन' पाठकों के समक्ष प्रस्तुत है। इस काव्य के नायक-नायिका हम्हीं लोगों की भाँति सुख-दुःख भोगनेवाले हमारे समाज के साधारण जन हैं। कठोर जीवन-संग्राम और विघ्न-बाधाओं के बीच उनमें प्रेम, मैत्री, सहयोग आदि मानवीय गुणों का उद्भव एवं विकास होता है। जीवन के कठोर घात-प्रतिघातों के बीच वे औचित्य तथा अपनी मान्यताओं से तिल भर भी नहीं डिगते। उन दोनों की जो समस्या है वही आज के अधिकांश तरुण-तरुणियों की भी है और 'कमलायन' में चित्रित समाधान हमारी वास्तविक समस्याओं का भी समाधान हो सकता है।"

यह आदर्श किस प्रकार प्रतिफलित हुआ, यह उसकी संक्षिप्त कथावस्तु से स्पष्ट होता है—काव्य का नायक कमललोचन महापात्र एक दरिद्र शिक्षक का पुत्र है। उच्च अंग्रेजी विद्यालय में पढ़ते समय वह एक दुर्भिक्ष-ग्रस्त गाँव में जाता है। वहाँ उसे गोपबंधु के निकट संपर्क में आने का अवसर मिलता है। पराधीन और विपन्न मातृभूमि के भविष्य की चिंता उसके मन में देशसेवा और मानव-प्रेम की भावना अंकुरित करती है। कालेज में शिक्षा प्राप्त करते समय एक अध्यापक की कन्या करुणा के साथ उसका प्रेम हो जाता है। करुणा आतंकवाद का समर्थन करती है। कमल की कालेज की शिक्षा समाप्त होने के पहले ही करुणा उच्च शिक्षा के लिये कलकत्ता जाती है और वहाँ आतंकवादी कार्यों में लिप्त होने के कारण उसे दस वर्ष की सजा भोगनी पड़ती है। इधर जीवन के उत्थान और पतन के बीच अग्रसर होता हुआ कमल सन् १९३१ के सत्याग्रह आंदोलन में भाग लेता है। एक सत्याग्रही कैंप में सेविका के रूप में आई हुई करुणा की भेंट बीमार कमल के साथ होती है। सन् १९३६ में देश में कांग्रेस शासन की स्थापना होती है। सत्ता हाथ में आते ही त्यागी कांग्रेसियों में नाना प्रकार की बेईमानी, स्वार्थपरता आदि दुर्गुण आ जाते हैं। यह देखकर कमल कांग्रेस से अलग हो जाता है। उसके बाद वह एक समाचारपत्र के संवाददाता के रूप में करुणा के साथ अमेरिका जाता है। वहाँ वह विश्व में व्याप्त तत्कालीन विचारधारा से अनुप्राणित होकर द्वितीय महायुद्ध के प्रति भारतीय कांग्रेस के असहयोग का पूर्ण समर्थन नहीं करता, बल्कि अपनी पत्नी (करुणा) के साथ युद्ध के घायलों की सेवा में लग जाता है। युद्ध समाप्त होने के बाद ये नवदंपति मानव-

सेवा का उच्च आदर्श लेकर अपने देश में लौट आते हैं और एक पिछड़े गाँव में बसकर ग्राम संगठन आरंभ करते हैं। उसी गाँव में करुणा के नाम पर एक 'करुणा कालोनी' की स्थापना होती है। इसकी स्थापना से इस दंपति को व्यापक ख्याति प्राप्त होती है। मानव-सेवा में अपना तन, मन, धन तीनों अर्पित कर अपने जीवन के अंतिम क्षण वे वहीं बिताते हैं।

कोई सार्वभौम या शाश्वत आदर्श इस गतिशील समाज में स्थापित करना अत्यंत कठिन है। इसी से प्रायः प्रत्येक युग का अपना आदर्श होता है। फलतः अगला युग प्रगतिशील युग के रूप में युगस्रष्टा सच्चिदानंद राउतराय की लेखनी में प्रगट हुआ। इन्होंने आधुनिक उड़िया काव्यधारा को एक भिन्न दिशा की ओर मोड़ा। सन् १९३६ ई० में उड़ीसा के देशीराज्य आंदोलन के शहीद बाजी राउत नाम के एक निरक्षर देहाती मल्लाह युवक की चिता के संमुख खड़े कवि के मन में जो भावनाएँ आई थीं उनकी अभिव्यक्ति 'बाजी राउत' काव्य में हुई है। उस समय साम्य और स्वाभाविकता की भावना ने देश की साधारण जनता में क्रांति की जो भावना भर दी थी उसका भरपूर प्रभाव इस काव्य में लक्षित है। भारत के शांत-सुप्त गाँवों में क्रांति के फलस्वरूप एक नवीन संघर्षमय जीवन का सूत्रपात हुआ। इसका चित्रण उनके 'भानुमतिर देश' काव्य में हुआ है। इस काव्य का नायक तरंग नगर के कोलाहलमय जीवन से क्षुब्ध होकर सुदूर गाँवों में जाकर रहना पसंद करता है। किंतु काव्य की नायिका विनता, जो नगर के वातावरण में रह चुकी है, गाँवों में जाने की संमति नहीं देती। वह आधुनिक जीवन की स्वच्छंदता और संघर्ष दोनों चाहती है। वर्तमान संघर्ष से पराभूत और श्रांत उस ग्रामोन्मुख नायक को लक्ष्य करके कहती है—

जगत मोर भिन्न,
मो जगतर धूसर मानचित्र
तमे बोध हुए देखिन।
कर्मतत्पर, स्रोत चंचल, अग्रगामी;
जीवनर उच्छवासइ
मो जगतर प्राणशक्ति।
विछिन्न बाणप्रस्थ जीबनर
शांतिर परिकल्पना
किंवा अतितर मृत जठर भीतर कु
क्लांतिर नेतितरे पलाइ जिवार
वृथा चेष्टारे
मू सार्थकतार धारण करि पारे ना।
बन्धु!
प्रतिक्रियार निर्जीव जामितिर छक
मो मनर तीव्र सूर्याग्निरे
दग्ध, भस्मीभूत।

संक्षेपार्थ—मेरा जगत् भिन्न प्रकार का है। मेरे उस संसार का अस्पष्ट मानचित्र शायद तुमने नहीं देखा है। कर्म में लीन, प्रवाह के समान तीव्र गति से अग्रसर होनेवाले जीवन का उच्छ्वास ही मेरे जगत् की प्राणशक्ति है। विच्छिन्न वाणप्रस्थ जीवन में प्राप्त होनेवाली शांति की कल्पना में, या 'नेति नेति' की भावना से युक्त होकर अतीत के गर्भ में पैठने में कोई सार्थकता नहीं दिखाई देती। हे बंधु, मेरे मन की तीव्र सूर्याग्नि से तुम्हारी इस विपरीत बुद्धि का निर्जीव पुतला (जामितिर छक) जलकर भस्मीभूत हो जाय।

अध्यापक कुंजविहारी दास ने इतिहास तथा किंवदंती के आधार पर स्वदेश-प्रेम और मानवता की भावना से युक्त 'पाषाण चरणे रक्त', 'चारणिक', 'आग्रा', 'डुडुमा' आदि काव्यों की सृष्टि की है। उड़ीसा के जलप्लावन और महामारी का भयंकर रूप उनके 'कंकालर लुह' काव्य में चित्रित है। ये सभी काव्य अत्यंत लोकप्रिय हैं। आधुनिक राजनीति तथा समाज की पृष्ठभूमि पर निर्मित इनके 'माटी ओ लाठी' काव्य का कुछ अंश भी प्रकाशित हो चुका है।

इस युग के अन्यतम कवि राधामोहन गड़नायक ने 'नूतन द्रौपदी' काव्य की रचना की है।

लंबी कविता या बृहद् काव्यों की रचना करने की अपेक्षा एक साँस में पढ़ी जाने लायक छोटी कविता लिखने की प्रवृत्ति आजकल अधिक दिखाई पड़ती है। इस प्रकार की कविताएँ राधानाथ युग में ही लिखी जाने लगी थीं। फकीरमोहन, मधुसूदन, गंगाधर मेहेर आदि इस क्षेत्र में अग्रणी थे। देश की पुनर्जाग्रति, आध्यात्मिकता, प्रकृति आदि इनकी लघु कविताओं के मुख्य उपादान थे। इन गीतों में मुख्यतः व्यक्तित्व, व्यक्तिगत मनोभावों और स्वानुभूतियों की प्रधानता है। उड़िया के 'प्रगीत' लिखनेवाले कवियों में ग्रामीण कवि नंदकिशोर की प्रतिभा सर्वमान्य है। उड़िया काव्य को ग्रामोन्मुख करने का सफल प्रयास इन्होंने किया है। कवि पद्मचरण, पं० गोदावरीश, कुंतलाकुमारी आदि ने गांधी जी तथा गोपबंधु के आदर्श से अनुप्राणित होकर, गीतिकाव्य में स्वदेश-प्रेम और मानवप्रेम की नवीन भावधारा प्रवाहित की थी। सबुज युग के कवि कालिंदी चरण; वैकुंठनाथ आदि की कविता में उड़िया लघु गीतों के छंद और भाव तथा उनकी शैली इत्यादि में नवीनता परिलक्षित होती है। आधुनिक विश्व के श्रेष्ठ गीति कवि रवींद्रनाथ का प्रभाव इन कवियों की रचनाओं पर स्पष्ट लक्षित होता है। डा० मायाधर मानसिंह के प्रेम-प्रधान गीतों के अतिरिक्त राधामोहन गड़नायक, अनंत पटनायक, विनोद नायक और अध्यापक कुंजविहारी दास आदि कवियों की रचनाओं में आधुनिक भावधारा के विभिन्न रूप देखे जा सकते हैं।

आधुनिक उड़िया कविता की भाव-संपत्ति तथा अभिव्यक्ति का क्षेत्र बहुत व्यापक है। 'पैयार छंद', 'कथा छंद', 'मुक्त छंद,' 'गद्य छंद', आदि के सरल और स्वाभाविक प्रयोग द्वारा आधुनिक छंदयोजना में नवीनता लाई गई है। वर्त्तमान विचारधारा के दुरूह और विस्तृत भावों को अभिव्यक्त करने के लिये नए प्रतीक, नए शब्द, नये उपमानों

तथा नए रूपकों या रूप-विधानों से अभिव्यंजना में भी नया चमत्कार उत्पन्न करने की चेष्टा की जा रही है। फिर भी आधुनिक कविता प्राचीन उड़िया काव्य की भाँति व्यापक रूप में लोकप्रिय नहीं हो सकी है। शिक्षित तथा आधुनिक विचारधारा के मुट्ठी भर लोगों तक ही वह सीमित है। सचमुच साधारण जीवन से इन काव्यों का अछूता रहना ठीक नहीं लगता। यह नहीं कहा जा सकता कि उड़िया कवियों ने इस ओर ध्यान नहीं दिया है; फिर भी इस दिशा में सफलता के लक्षण अभी तक नहीं दिखाई पड़ते।

नाट्य साहित्य

आधुनिक अर्थ में जिसको 'नाटक' कहा जाता है, प्राचीन उड़िया साहित्य में उसके विकास का परिचय नहीं मिलता। यों उड़ीसा में प्रचलित पुराण-पाठों में नाटकों के मूल स्रोत खोजे जा सकते हैं। उड़िया गाँवों और पुरों में पुराण-पाठ का बहुत व्यापक प्रचार होने के कारण उसी से सर्वप्रथम लोकनाट्य, लीला, राहास या रास आदि का विकास हुआ। इस साहित्य में काव्य-रचना का विकास होने के साथ संभवतः पाला, दास-काठिया आदि ग्रामीण 'अनुष्ठानों' का विकास हुआ है। उड़िया साहित्य के मध्ययुग में वैश्य सदाशिव दास को रामलीला और कविसूर्य के चंपू में नाटक के तत्त्व वर्त्तमान हैं। आधुनिक युग में प्राचीन धारा के अवशेष के रूप में साधु श्री वैष्णवचरण दास की कुछ रचनाओं का गाँवों में प्रचार है। ये हैं—मानभंजन, बाललीला और ब्रजलीला। ये सभी नाटक राधाकृष्ण विषयक हैं।

आधुनिक उड़िया नाटकों का विकास उस प्राचीन परंपरा में न होकर संस्कृत और अंग्रेजी के आदर्शों पर हुआ। इस दृष्टि से स्वर्गीय रामशंकर राय सर्वप्रथम उड़िया नाटककार माने जाते हैं। उनके प्रथम नाटक 'कांची कावेरी' या 'पद्मावती' सन् १८८० ई० में लिखे गए थे। रामशंकर के नाटकों में अंग्रेजी 'ऐक्ट' के स्थान पर 'अभिनय' और 'सीन' के स्थान पर 'दृश्य' का प्रयोग हुआ है। अब उसी अभिनय के स्थान पर 'अंक' का प्रयोग होने लगा है। इनके उक्त प्रथम नाटकों में कथनोपकथन गद्य में न होकर पद्य में हैं। ये पद्य साधारणतः अमित्राक्षर छंदों में हैं। नाटक के मध्य में यत्र-तत्र प्रकृति, नारी-सौंदर्य, युद्ध, सेना, राजपुरुषों के यश, गौरव तथा देवताओं के रूप-गुण-महिमा आदि का वर्णन आवश्यक समझा गया है। किंतु यथार्थवादी या यथातथ्यवादी नाटकों के उपादान और वास्तविक जीवन में प्रयुक्त वार्त्तालाप की भाषा पद्य न रखकर गद्य ही रखना उचित है। अंत में इस तथ्य को रामशंकर ने समझा। फलतः सन् १९१७ ई० में लिखे हुए उनके अंतिम नाटक 'रामाभिषेक' में सर्वत्र वार्तालाप गद्य में ही रखा गया। इस प्रकार आगे चलकर इन्होंने नाटक की स्वाभाविकता की ओर ध्यान दिया।

रामशंकर ने विभिन्न स्थानों में नाटक, प्रहसन, यात्रा और गीतिनाट्य आदि का उल्लेख किया है। यों उनकी रचनाओं में नाटक, गीतिनाट्य, प्रहसन की स्वतंत्र प्रवृत्ति तो लक्षित होती है, किंतु 'यात्रा' में वैसी कोई विशेषता नहीं दिखाई पड़ती। गाँवों में बिना किसी रंगमंच के खुले मैदानों में जो अभिनय होते हैं उन्हें यात्रा कहते हैं।

रामशंकर ने जिसको 'यात्रा' के नाम से अभिहित किया है उसमें दृश्यपट का भी संकेत है। उन्होंने लगभग दस नाटक, दो प्रहसन, एक यात्रा और गीति नाट्य लिखा है। मुख्यतः धर्म और समाज-सुधार की भावना इनके नाटकों में अभिव्यक्त हुई है। इतिहास और पुराणों की कहानियों के आधार पर भी इनके द्वारा नाटक लिखे गए हैं। उनमें ऐतिहासिक नाटक 'कांची कावेरी' और पौराणिक नाटक 'रामाभिषेक' प्रसिद्ध हैं। नाटक रचना के आदर्श के प्रति अपनी ग्रंथावली की भूमिका में उन्होंने लिखा है—"उपयोगी शिक्षा देना मेरा प्रधान उद्देश्य है। इसलिये वेद, श्रुति, रामायण, महाभारत, भागवत, चैतन्यचरितामृत, गीतगोविंद और इतिहास आदि का अध्ययन करके मैं देशवासियों के सामने उनका स्वाद नाटक के रूप में वितरित करता हूँ।" गत शताब्दी के शेष भाग में इनका समसामयिक अन्य लेखकों ने भी नाटक लिखने का प्रयत्न किया था। किंतु स्थायी रंगमंच का अभाव होने से आधुनिक नाटकों के विकास में बहुत बाधा पहुँची। कटक में एक स्थायी रंगमंच स्थापित करने के लिये रामशंकर का प्रयत्न सफल नहीं हुआ। उस समय के अन्य नाटककारों में जगमोहन लाला, भिखारीचरण पटनायक आदि उल्लेखनीय हैं। भिखारीचरण ने पौराणिक और ऐतिहासिक दोनों प्रकार के नाटक लिखे। पौराणिक सीता के चरित्र को आधुनिक रुचि के अनुकूल चित्रित करने के कारण उस समय इसकी बहुत प्रशंसा हुई थी। उन्होंने 'सीता-विवाह', 'वसंतलतिका', 'हरिश्चंद्र', 'दुर्गाशवरी' आदि नाटक लिखा है। पौराणिक नाटकों के समान ऐतिहासिक नाटकों को भी इन्होंने लोकप्रिय बनाने का प्रयत्न किया, यह उनके नाटकों की भूमिका से विदित होता है। ऐतिहासिक सत्यता, यथार्थता और स्वदेश-प्रेम उनकी दृष्टि के सामने थे।

सत्यवादी युग के पं० गोदावरीश मिश्र अत्यंत कुशल नाटककारों में हैं। इनका सुप्रसिद्ध नाटक 'पुरुषोत्तम देव' स० १९१७ ई० में प्रकाशित हुआ था। ऐतिहासिक तथ्यों को अपनी मौलिक कल्पना से मूर्त्त रूप देकर इन्होंने उड़िया साहित्य में अद्वितीय उदाहरण उपस्थित किया है। इस नाटक के वार्तालाप तो स्वाभाविक गद्य में हैं, किंतु कहीं कहीं पुरुषोत्तम देव के स्वगत भाषण लंबे होने से नाटक का सौंदर्य कुछ कम हो गया है। अन्यथा इनका यह नाटक निःसंदेह अत्यंत उच्च कोटि का है। नायक पुरुषोत्तम देव के मानसिक द्वंद्वों के साथ साथ नाटकीय द्वंद्वों का भी अत्यंत मार्मिक एवं हृदयग्राही वर्णन हुआ है। सत्यवादी युग में राष्ट्रीयता का जो तूफान चला था उसका स्पष्ट निदर्शन इन नाटकों में होने के कारण इनकी लोकप्रियता बहुत बढ़ गई थी। सत्यवादी युग के बाद सबुज युग के जिन लेखकों ने उपन्यास, कविता, निबंध आदि साहित्य के भिन्न भिन्न अंगों में नए प्रयोग या नवीन सृजन का प्रयास किया था, उनमें प्रायः बहुतों ने नाटक रचना के क्षेत्र में भी अपनी रुचि दिखाई। इनमें कवि वैकुंठनाथ पटनायक, कालिंदीचरण, मायाधर मानसिंह और हरिश्चंद्र बड़ाल आदि विशेष ख्यातिप्राप्त हैं। इनके नाटकों में निर्माण-कौशल के साथ एक स्वतंत्र भावधारा का परिचय भी मिलता है। इस युग के नाटकों की रचना किसी न किसी आदर्श को लेकर हुई। जिस नाटक का जो आदर्श होता है, उसको पहले एक विस्तृत भूमिका में स्पष्ट कर दिया

जाता है। सामाजिक जीवन, प्रेम, राष्ट्रीयता तथा अंतर्राष्ट्रीयता प्रभृति विषय इन नाटकों के मुख्य उपकरण हैं। हरिश्चंद्र बड़ाल द्वारा रचित 'देशर डाक' नाटक सबुज साहित्य समिति की ओर से सन् १९३२ ई० में प्रकाशित हुआ था। राष्ट्रीयता तथा अंतर्राष्ट्रीयता की व्याख्या करते हुए नाटक की भूमिका में लेखक ने लिखा है—

"संप्रति हमारे देश में जिस राष्ट्रीय चेतना का उदय हुआ उसकी दो मुख्य धाराओं पर 'देशर डाक' की मनोवैज्ञानिक भित्ति स्थापित है। पहली धारा स्वदेश की उन्नति की है जो बृहत्तर जगत् की आवश्यकता के संबंध में पूर्णतः उदासीन है। द्वितीय धारा स्वदेश को बृहत्तर जगत् का एक अंश मानकर समष्टि की प्रगति को ध्यान में रखते हुए अपने अंश मात्र की प्रगति की कामना करती है। इसके फलस्वरूप नाना जातियों और अनेक राष्ट्रों में जो स्वार्थ-संघर्ष अवश्यंभावी मालूम पड़ता है उसका एक संतोषजनक समाधान निकाला जा सकता है। आधुनिक समाज में प्रचलित युवक-युवतियों के प्रेम एवं वैवाहिक आदर्श के संबंध में लिखित वैकुंठनाथ का 'मुक्तिपथे' तथा मायाधर का 'नष्टनीड़' नारी-पुरुष की समानता, प्राचीन पद्धति की असारता तथा वर्त्तमान समाज की असंगतियों पर स्पष्ट रूप से प्रकाश डालते हैं। इस युग के प्रसिद्ध नाटककारों ने जितने भी उच्च कोटि के नाटक लिखे उनमें पाठक और दर्शक दोनों के उपयोग का ध्यान रखा गया है। ये जितने उपयुक्त रंगमंच के लिये हैं उतने ही पाठकों के लिये भी। इधर कुछ वर्षों में उड़ीसा के छोटे बड़े नगरों में अनेक व्यवसायी रंगमंचों की स्थापना हुई हैं। इनमें व्यक्तिगत और सामूहिक दोनों प्रकार के रंगमंच हैं। इन रंगमंचों के लिये जिन नाटकों की रचना हुई है उनमें विशिष्ट अभिनेताओं, नाटक-निर्देशकों की रुचि, जनप्रियता तथा आर्थिक लाभ हानि आदि सभी बातों पर संचालकों का प्रभाव रहता है। फिर भी आशा है कि उड़ीसा के नाटक और रंगमंच आगे बढ़कर भविष्य में देवालय और विद्यालय का स्थान ग्रहण करेंगे।

कथा साहित्य

आधुनिक उड़िया कथा-साहित्य प्राचीन भारतीय कथा-साहित्य या लोककथा की धारा से पृथक् आधार पर खड़ा हुआ है। इसके विकास के मूल में पाश्चात्य साहित्य की प्रेरणा स्पष्ट है। गत शताब्दी के अंतिम भाग में कुछ लेखकों ने कविता और नाटकों के साथ साथ उपन्यास, गल्प आदि लिखने का भी प्रयास किया था। कविवर राधानाथ और भक्तकवि मधुसूदन ने पहले पहल अंग्रेजी से उपन्यासों और कहानियों का अनुवाद उड़िया में किया था। किंतु आधुनिक उड़िया कथा-साहित्य का वास्तविक विकास फकीरमोहन की लेखनी से आरंभ हुआ। उनके गल्पों तथा उपन्यासों के प्रकाशन के पहले जो कतिपय उपन्यास प्रकाशित हुए थे उनसे तत्कालीन उड़िया साहित्य के स्वरूप का परिचय मिलता है।

उड़िया साहित्य का प्रथम उपन्यास 'पद्ममाली' सन् १८८८ ई० में स्वर्गीय रमेशचंद्र सरकार द्वारा लिखा गया था। इसके बाद १८९१ ई० में लिखित स्वर्गीय रामशंकर राय की 'विवासिनी' का स्थान है। 'पद्ममाली' उपन्यास में पद्ममाली नाम की एक

सुंदर युवती के कारण नीलगिरि और पंचगड़ के सामंतों में जो कलह और संघर्ष हुए, उसी का विस्तृत वर्णन है। जैसा लेखक ने लिखा है, उपन्यास की कथा एक वास्तविक घटना पर आधारित है। अनेक प्रकार की जटिलताओं के आरोप द्वारा इस उपन्यास की कहानी को अधिक आकर्षक बनाया गया है। इस उपन्यास से तत्कालीन अंधविश्वासों और अन्य सामाजिक कुरीतियों का अच्छा परिचय मिलता है। लेखक ने नायक दुर्योधन को एक खल, दुष्ट और क्रूर व्यक्ति के रूप में चित्रित किया है। नारी-चित्रण में लेखक की कुशलता अधिक नहीं दिखाई पड़ती। विशेषतः पुरुष और स्त्री पात्रों में जो कथोपकथन हुए हैं, वे बहुत अस्वाभाविक हैं।

रामशंकर का 'विवासिनी' भी ऐतिहासिक उपन्यास है। मराठा राजाओं के पतन काल में उड़ीसा की जो दुर्दशा हुई थी उसी का वर्णन इसमें है। जिन उड़िआ पाइक (सेना) और सैनिक सरदारों को मराठों ने दस्यु कहकर अपना शासन सुरक्षित रखा था, उन्हीं दस्युओं ने अकाल पीड़ित उड़ीसा की किस प्रकार सेवा की थी उसका वर्णन इस उपन्यास में मिलता है। इस कृति में लेखक का दृष्टिकोण आदर्शवादी है। 'सत्य की जय और अधर्म की पराजय' को लक्ष्य करनेवाला इसका नैतिक उद्देश्य स्पष्ट है। अपने दुष्कर्मों के लिये इस उपन्यास के विभिन्न पात्रों—जैसे मराठा सूबेदार, उनके प्रियपात्र राधागोविंद चौधरी, अत्याचारी गोवर्धनदास आदि—को उचित दंड मिला है। इन सभी दुष्कर्मों के होते हुए भी लेखक को मानवीय गुणों और श्रेष्ठ आचरण पर आस्था है। उसका विश्वास है कि परिस्थिति ही मनुष्य को असाधु बना देती है। इस आदर्शवाद और मानवतावाद के अतिरिक्त लेखक में वर्त्तमान के प्रति असंतोष और अतीत के प्रति आदर की भावना प्रतीत होती है। उपन्यास कला के दृष्टिकोण से 'विवासिनी' 'पद्ममाली' से अधिक उच्च कोटि की है। फिर भी कथा साहित्य के आदर्श की सीमा का यहीं अंत नहीं होता।

उड़िया कथा साहित्य के जनक फकीरमोहन सेनापति ने कथा साहित्य में स्वर्ण युग का आरंभ किया था। 'उत्कल साहित्य' में 'धूर्जटी' के नाम से 'छ माण आठ गुंठ' नामक उपन्यास प्रकाशित हुआ था। सन् १६०१ ई० में वह पुनः पुस्तकाकार छपा। इस उपन्यास का नायक रामचंद्र मंगराज लोभी और अत्याचारी जमींदार है। भगिया और सरिया नामक सीधे साधे जुलाहों की जमीन, जो केवल छ माण आठ गुंठ (पाँच-छः एकड़) थी, इस जमींदार के द्वारा छीन ली गयी। जमींदार ने इन्हें दरिद्र बनाकर बहुत कष्ट पहुँचाया। उपन्यास का अंत अत्यंत करुण है। अंग्रेज उपन्यासकार डिकेंस की भाँति फकीरमोहन ने भी कचहरी, पुलिस आदि के कार्यों का मार्मिक चित्रण किया है। इस उपन्यास के प्रकाशित होने के बहुत दिन बाद इनका 'मामू' नामक एक पारिवारिक उपन्यास प्रकाशित हुआ था। इस उपन्यास का मुख्य पात्र नटवर अत्यंत विश्वासघाती तथा कुचक्री है। इसका भांजा अपने परिवार की सारी जमीन और जायदाद का मालिक होता है। किंतु अल्पवयस्क होने के कारण उसकी

सारी संपत्ति का प्रबंध नटवर करता है। वह किसी न किसी उपाय से सारा धन स्वयं हड़प लेने की ताक में रहता है। इन दोनों उपन्यासों को यदि तुलनात्मक रूप से देखा जाय तो नटवर और रामचंद्र मंगराज के चरित्र में बहुत कुछ साम्य है। दोनों निम्न स्तर से ऊपर उठकर धनी बन जाते हैं। अनेक अनुचित उपायों के द्वारा वे अपना उल्लू सीधा करते हैं। जिस तरह रामचंद्र को उसकी रक्षिता स्त्री चंपा कुपरामर्श देकर उसकी सहायता करती है, वैसे ही नटवर की स्त्री चित्रा भी। फकीरमोहन का ऐतिहासिक उपन्यास 'लछमा' 'मामू' के बाद प्रकाशित हुआ था। मराठा शासन में उड़ीसा की दुर्दशा एवं मराठों के साथ वंग देश के नवाब अलीवर्दी खाँ के संघर्ष की घटना इस उपन्यास का आधार है। सन् १९१५ ई० में प्रकाशित 'प्रायश्चित्त' फकीरमोहन का अंतिम उपन्यास है। इस उपन्यास के नायक गोविंदचंद्र को शिक्षित, सुधार-प्रेमी और उच्च विचार वाला व्यक्ति चित्रित किया गया है। उनके अन्य उपन्यासों में मुख्य पात्र प्रायः दुष्ट प्रकृति के ही हैं, जो अपने दुष्कर्म का दंड स्वयं भोगते हैं। किंतु 'प्रायश्चित्त' का मुख्य पात्र गोविंदचंद्र अपनी भावप्रवणता और सरल विश्वास के कारण अपने मित्रों के धोखे में आता है, इसलिये उसे प्रायश्चित्त की आवश्यकता पड़ती है।

सभी दृष्टियों से देखने पर यह कहा जा सकता है कि यथार्थता ही इनके उपन्यासों का मूल आधार है। समाज और जीवन का स्वाभाविक अंकन, व्यक्ति-स्वातंत्र्य और मानव-चरित्र का मनोविश्लेषण, सुधारवादी और क्रांतिकारी मनोवृत्तियों का एकत्र समावेश इन उपन्यासों में मिलता है। अहंवादी व्यक्ति की दुर्बलताओं को दिखाने की पर्याप्त चेष्टा इन्होंने की है। ऐसे व्यक्ति समाज के स्वाभाविक नियम का उपहास करते हैं और समाज को अंधा समझते हैं। किंतु यथार्थतः वे ही हास्यास्पद कार्य किया करते हैं। समाज के लिये उपयोगी कार्य करना तो दूर रहा उल्टा ये ऐसा काम करते हैं कि उसका दुष्परिणाम इन्हें स्वयं भोगना पड़ता है। यद्यपि फकीरमोहन घोर आदर्शवादी परंपरा की अनुपयुक्तता समझते हुए आंशिक रूप से सचेत थे फिर भी आदर्शवाद के प्रभाव से वे बिल्कुल दूर नहीं रह सके क्योंकि अपने कुकर्म के फलस्वरूप उनके पात्रों को दंड भोगना पड़ता है। ध्यान देने की बात यह है कि जो भी परिणाम वे भोगते हैं वह यथार्थता के अधिक निकट है। इनके उपन्यासों में समाज के विभिन्न अंगों का चित्र प्रस्तुत हुआ है। जमींदार और सामंत, अंग्रेजी पढ़े लिखे तथा गँवार और साधारण ग्रामीण नर-नारी आदि सभी को उपयुक्त स्थान मिले हैं। इनके उच्च-वर्ग के पात्र तो स्वेच्छाचारी, अहंकारी तथा घोर स्वार्थी हैं किंतु गाँव के कृषक निस्पृह, विश्वासपरायण, मिलनसार और धार्मिक हैं।

उपन्यासों की गठन के दृष्टिकोण से इनके उपन्यास चरित्र-प्रधान हैं। इनके कथानक बहुत संक्षिप्त और साधारण हैं इसलिये इन्हें कथानक-प्रधान नहीं कहा जा सकता। प्रत्येक चरित्र के चित्रण में फकीरमोहन ने देशकाल और पात्र का उचित ध्यान रखा है। यही कारण है कि उपर्युक्त परिस्थितियों को स्पष्ट करने के लिये इन्हें अनेक पात्रों की सृष्टि करनी पड़ी है। लेखक का पर्यवेक्षण अत्यंत सूक्ष्म और व्यापक होने के कारण चरित्रांकन सर्वत्र

सजीव और स्वाभाविक हुआ है। इनकी व्यंगभरी रचना पाठकों को क्षुब्ध नहीं करती बल्कि गुदगुदी उत्पन्न करती रहती है और कथावस्तु के प्रति पाठक की रुचि बनी रहती है। इनकी मँजी हुई प्रवाहपूर्ण भाषा ने उड़िया गद्य साहित्य में एक नवीन धारा प्रवाहित की है। सरलता, स्वच्छता अभिव्यंजकता और ग्राम्य भाषाओं के यथास्थान अनूठे प्रयोग इनकी भाषा की विशेषताएँ हैं।

युगस्रष्टा फकीरमोहन ने जिन दिनों लिखना शुरू किया उस समय तक उड़िया गद्य साहित्य का पूर्ण विकास नहीं हुआ था। कथा साहित्य का जन्म तो हो चुका था किंतु वह अभी शैशवावस्था में था। ऐसे समय में फकीरमोहन के साहित्य क्षेत्र में अवतीर्ण होने से उड़िया गद्य साहित्य में नवीन शक्ति का संचार हुआ। इन्होंने अपनी विशिष्ट प्रतिभा से भाषा और शैली दोनों को अच्छी तरह सँवारा। फकीरमोहन ने केवल चार उपन्यास और लगभग बीस कहानियाँ लिखकर उड़िया साहित्य में वह स्थान प्राप्त किया जो हिंदी साहित्य में प्रेमचंद का है।

फकीरमोहन नंदकिशोर बल, चिंतामणि महांति आदि उपन्यासकारों के लिये आदर्श थे। उनके पदचिह्नों पर चलनेवाले इन उपन्यासकारों की रचनाओं में कोई विशिष्ट नवीनता नहीं मिलती। किंतु कुंतलाकुमारी सावत इसकी अपवाद हैं। इन्होंने उपन्यास और कहानी के क्षेत्र में एक नई धारा प्रवाहित की। इनकी 'भ्रांति', 'कालीबोहू', 'रघु अरक्षित' आदि रचनाएँ उस युग में विशेष रूप से पढ़ी जाती थीं। फकीरमोहन के उपन्यासों में गाँव के धनी जमींदार, सामंत और दरिद्र जन साधारण के विशद चित्र देखने को मिलते हैं। फकीरमोहन की मृत्यु तथा कुंतलाकुमारी के आविर्भाव में जो दस वर्षों का अंतर पड़ता है उसमें अंग्रेजी पढ़े लिखे मध्यवर्ग का प्राधान्य होता जा रहा था। संभवतः इसी से कुंतलाकुमारी ने जमींदारों और किसानों की ओर उतना ध्यान न देकर मध्यवर्ग का चित्रण किया है। मध्यवर्ग सर्वप्रथम इन्हीं के उपन्यासों में दिखाई पड़ता है। अचानक दिवंगत हो जाने के कारण कुंतलाकुमारी इस धारा को आगे नहीं बढ़ा सकीं।

जो लेखक कुंतलाकुमारी के समसामयिक या किंचित् पश्चात् हुए वे आजकल भी लिखने में लगे हुए हैं। गांधी जी के आदर्शों से प्रभावित होकर ये लोग शासक और धनी वर्ग का हृदय-परिवर्तन करने के लिये गाँवों के साधारण लोगों की सामाजिक चेतना को उपन्यासों में अंकित करते थे। इस आदर्श को लेकर सन् १९३१ ई० में लिखित कालिंदीचरण का 'माटिर मणिष' अधिक लोकप्रिय हुआ था। इसके अतिरिक्त उनके 'अमर चिता', 'मुक्तागडर क्षुधा' आदि उपन्यास भी उल्लेखयोग्य हैं। 'माटिर मणिष' की रचना के सोलह वर्ष बाद उनका 'लोहार मणिष' प्रकाशित हुआ। 'माटिर मणिष' के नायक बरजू को सन् १९३६ ई० के कांग्रेस शासन और सन् १९४२ की क्रांति की पृष्ठभूमि पर चित्रित किया गया है। किंतु लेखक का विश्वास है कि देश का भविष्य साधारण जनता की सामाजिक चेतना, उसके संगठन और क्रांतिकारी उपायों के द्वारा ही उज्ज्वल हो सकता है, शासकों के हृदय-परिवर्तन से नहीं। इन्हीं विचारों का परिपोषण इन उपन्यासों में हुआ

है। लेखक के इस सिद्धांत पर मार्क्सवाद का प्रभाव है जो आगे चलकर अन्य उपन्यासकारों में भी दिखाई पड़ता है। आधुनिक दुर्दशाग्रस्त समाज की व्याख्या इन उपन्यासों में विशेष दृष्टिकोण से की जाती है। आर्थिक अव्यवस्था और उत्कट वर्गसंघर्ष का मुख्य कारण शिक्षित-अशिक्षित का भेद समझा जाता है। श्री नित्यानंद महापात्र ने अपने 'हिड़माटी' उपन्यास के उपक्रम में लिखा है कि "शिक्षित अभिजात वर्ग केवल गरीब अशिक्षितों का शोषण ही नहीं करता अपितु उसके बदले में जो देता है वह और भी असहनीय है; लेकिन इसकी प्रतिक्रिया अवश्य किसी न किसी दिन दिखाई पड़ेगी। संभव है शिक्षित शोषक और अशिक्षित उत्पादक के बीच संघर्ष खड़ा हो जाय।"

ये उपन्यासकार यदि एक ओर सामाजिक अवस्था और राजनीतिक चेतना को लेते हैं तो दूसरी ओर मनोविश्लेषणात्मक और तर्क-संमत तथ्यों की भी उपेक्षा नहीं करते। उदाहरण स्वरूप इन प्रवृत्तियों को नित्यांद महापात्र के 'जीयंता मणिष', कान्हुचरण के 'अदेखा हात', 'परकीया', 'तुइंवाथिद', गोपीनाथ महांति के 'राहुर छाया' आदि उपन्यासों में देखा जा सकता है। वर्त्तमान उन्यासकारों में कान्हुचरण ने अपेक्षाकृत अधिक लिखा है। इन्होंने मनोविश्लेषणात्मक, राष्ट्रीय जाग्रति संबंधी, सामाजिक चेतना मूलक और ऐतिहासिक घटनाओं का आधार लेकर लगभग पचीस उपन्यास लिखे हैं। इनमें से उनके ऐतिहासिक उपन्यास 'बलिराजा' और 'हा अन्न' एवं सामाजिक उपन्यास 'शासित' अधिक जनप्रिय हैं। आधुनिक नृतत्त्व और प्रत्नतत्त्व के दृष्टिकोण से मानव के विकास-क्रम का परिचय देने के लिये इन्होंने एक बृहद् उपन्यास की रचना में हाथ लगाया है। इसका प्रथम भाग 'शवरी' नाम से हाल ही में प्रकाशित हुआ है। वर्त्तमान उड़ीसा के निवासियों में आदिवासियों की संख्या लगभग चतुर्थांश है। उनके सामाजिक जीवन का चित्रण उड़िया कथा साहित्य में गोपीनाथ महांति के पहले किसी ने नहीं किया था। आदिवासियों की भाषा और उनके सामाजिक रहन-सहन का गंभीर अध्ययन करके उड़िया कथा साहित्य में स्थान देने का श्रेय उपन्यासकार गोपीनाथ महांति को प्राप्त है। इसका परिचय इनके 'अमृत संतान', 'दादी बुढ़ा', 'परजा' आदि उपन्यासों से मिलता है। आधुनिक सभ्यता से दूर रहनेवाले आदिवासियों के सामाजिक संगठन और जीवनयापन की प्रणालियों को साहित्य में स्थान देकर इन्होंने उत्कल साहित्य में नवीन प्रेरणा की सृष्टि की। ऐसे अनेक प्रतिभासंपन्न लेखकों की साधना से उड़िया कथा-साहित्य के विविध अंग क्रमशः पुष्ट और समृद्ध होते जा रहे हैं। उपर्युक्त साहित्यकारों के अतिरिक्त पं० गोदावरीश मिश्र, रामचंद्राचार्य, गोदावरीश महापात्र, हरेकृष्ण महताब, कमलाकांत दास, चंद्रमणि दास, अनंतप्रसाद पंडा और लक्ष्मीनारायण महांति आदि के कार्य सराहनीय हैं।

उपन्यास की भाँति लघु कथाओं का विकास भी अत्यंत मनोरंजक है। आधुनिक उड़िया की लघु कथाओं में जितने प्रकार के प्रयोग दिखाई पड़ रहे हैं उतने शायद उच्च कोटि के उपन्यास, नाटक, या काव्य में भी नहीं हो रहे हैं। लगभग आधी शताब्दी के पहिले फकीरमोहन ने सर्वप्रथम कहानी लिखना आरंभ किया था। लोक-शिक्षा

का प्रसार उनकी कहानियों का प्रधान लक्ष्य था। एक कहानी में फकीरमोहन ने स्वतः लिखा है—'पुरा कहिए, उपन्यास कहिए या गल्प कहिए इन सब का उद्देश्य लोक शिक्षा ही रहा है।'' (गल्प स्वल्प, द्वितीय भाग, पृ० ६)

इनकी पहली कहानी 'रेवती' तथा उसके बाद की लिखी हुई 'पाठोई बोहू', 'पेटेंट मेडिसिन', माधो महांति की 'कन्या सुना' आदि सुधारवादी कहानियाँ हैं। 'ब्रिरेइ विशाल', 'डाक मुंशी' आदि कहानियों में मानवता और समाज की यथार्थता का संकेत मिलता है। उनकी 'कालिकाप्रसाद गोराए', 'कमलाप्रसाद गोराए', 'बालेश्वरी पंगालुण' प्रभृति में अंग्रेजी शासन से पहले के उत्कल नौवाणिज्य तथा नमक-उद्योग आदि के ऐतिहासिक चित्र अत्यंत मार्मिक और सजीव रूप में प्रस्तुत किए गए हैं। 'मौनामौनी' और 'धूलिया बाबा' में धर्म के नाम पर होनेवाले ढोंगों और पाखंडों की ओर, 'अजानाति' में प्राचीन और आधुनिक सामाजिक अंतर्द्वंद्वों की ओर और 'पुनर्मूषिकोभव' कहानी में साधारण मनुष्य की दुर्बलता की ओर फकीरमोहन ने पाठकों की दृष्टि आकृष्ट की है।

फकीरमोहन ने उड़िया लघुकथा की जो नींव डाली उसका आगे चलकर अनेक लेखकों ने विस्तार किया। कांतकवि लक्ष्मीकांत महापात्र, स्वर्गीय दिव्यसिंह पाणिग्राही आदि कहानीकारों ने कहानी साहित्य में स्वतंत्र अभिव्यक्ति और विशिष्ट कथाशिल्प का परिचय दिया है। ख्यातिप्राप्त लेखकों के अतिरिक्त आजकल अनेक नए लेखक नाना प्रकार से कहानी साहित्य को समृद्ध कर रहे हैं। देश विदेश के अनेक विख्यात कथाकारों के गल्प-उपन्यासों का उड़िया में अनुवाद हो रहा है। भारतीय लेखकों में प्रेमचंद और रवींद्रनाथ तथा पाश्चात्य लेखकों में मोपासाँ, चेखव, गोर्की प्रभृति की कहानियों का उड़िया अनुवाद प्रकाशित हो चुका है।

लघुकथाओं की लोकप्रियता ने पत्र-पत्रिकाओं के प्रसार के लिये अनुकूल परिस्थिति की सृष्टि की है। इन सभी कार्यों को देखते हुए उड़िया कथा साहित्य का भविष्य बहुत उज्ज्वल प्रतीत होता है।

निबंध, समालोचना और अन्य गद्य साहित्य

आधुनिक जीवन का संपर्क विचार और तर्क से अधिक है। तर्क ही निबंध का मूल उपादान है। इसलिये आधुनिक साहित्य में निबंध का मुख्य स्थान है। किसी निर्दिष्ट विषय पर एकत्र विचार-विमर्श करके उसे साहित्य में प्रकट करने के लिये प्राचीन साहित्य में एक परंपरागत शैली या पद्धति थी। इसी पद्धति में निबंध का बीज परिलक्षित होता है। आधुनिक युग में निबंध का विकास गद्य के विकास के साथ संबद्ध है। गत शताब्दी के शेष भाग में जब पत्र-पत्रिकाओं का प्रचार बढ़ने लगा तब विचार और विमर्श संबंधी निबंध भी अधिक लिखे जाने लगे। गौरीशंकर, फकीरमोहन, राधानाथ

मधुसूदन आदि विख्यात साहित्यकार और अनेक पत्रकार बराबर नए नए निबंध लिखा करते थे। अंग्रेजी साहित्य में एलिजाबेथ युग से विक्टोरिया युग तक निबंध लेखन में जिन शैलियों का आविर्भाव हुआ था, उन सभी शैलियों के कुछ न कुछ प्रयोग उड़िया निबंधों में मिलते हैं।

उस युग में समयोपयोगी विचारधारा को मूर्त्त रूप देने के लिये गौरीशंकर ने जो निबंध लिखे वे 'उत्कल दीपिका' नाम की पत्रिका में प्रकाशित हुए हैं। काव्य-रचना में अधिक तत्पर राधानाथ भी निबंध लिखा करते थे। उनके निबंधों में 'विवेकी', और 'भ्रमणकारीर पत्र' अत्यंत उत्कृष्ट रचनाएँ हैं। भावुक और चिंताशील व्यक्ति के नाते राधानाथ ने समाज की रीति नीति, नव शिक्षित व्यक्तियों के चरित्र और विद्याभिमानी व्यक्तियों पर अपने विचार व्यक्त किए हैं। कुछ निर्मल चरित्रवाले व्यक्तियों के प्रति उत्पन्न उनकी भावनाओं ने उनके आदर्शवादी चित्त को आलोड़ित किया था। उनके ये विचार कविताओं की अपेक्षा निबंधों में अधिक सजीव रूप में अभिव्यक्त हैं। 'विवेकी' निबंध में इस प्रत्यक्ष-दर्शन और अनुभूति का आभास स्पष्ट प्रतीत होता है। इसमें कल्पना, चिंतन और कवित्वपूर्ण अभिव्यक्तियों का अद्भुत मिश्रण है। अनेक स्थलों पर अपने वक्तव्यों और मंतव्यों को पुष्ट करने के लिये इन्होंने ऐतिहासिक व्यक्तियों के सद्गुणों का दृष्टांत दिया है। यों तो राधानाथ ने सर्वत्र प्रत्यक्ष वर्णन शैली को ही अपनाया है, किंतु अनेक स्थलों पर काल्पनिक व्यक्ति के रूप में भी, अप्रत्यक्ष होकर, कुछ कहने का प्रयास किया है। उनका वह कल्पना-प्रसूत व्यक्ति कहीं 'सुभगमन्य व्यक्ति', कहीं 'मिथ्याबंधु' और कहीं 'जनैक व्यक्ति' के रूप में आया है।

राधानाथ के समसामयिक मधुसूदन वर्णनात्मक, विचारात्मक और ऐतिहासिक निबंध, जीवनी, साहित्यिक समालोचना आदि लिखने में अत्यंत कुशल थे। उनके निबंधों का संग्रह 'प्रबंध माला' नाम से गत शताब्दी के अंत में प्रकाशित हुआ था। विद्यालयों में पाठ्य पुस्तकों के रूप में इसका बहुत प्रचार हुआ। निबंध लिखने में मधुसूदन शिल्प-चातुर्य की अपेक्षा विशुद्ध मार्जित भाषा के प्रयोग और पांडित्यपूर्ण तथ्य-संयोजन के प्रति अधिक सजग थे।

राधानाथ और मधुसूदन के पश्चात् उड़िया निबंध क्षेत्र में विश्वनाथ कर और चिंतामणि महांति ने प्रवेश किया। निबंध रचना में विश्वनाथ कर की निष्ठा अधिक दिखाई पड़ती है। वे ब्रह्मसमाजी और उदारपंथी तो थे ही, 'कार्लायल', 'बर्क' आदि पाश्चात्य लेखकों की कृतियों के मननशील पाठक भी थे। अतएव उक्त सभी प्रभाव उनके निबंधों में संपृक्त हैं। इनके सभी निबंध 'विविध प्रबंध' नाम के संग्रह में प्रकाशित हुए हैं। विश्वनाथ कर ने अधिकतर अपने निबंधों में धार्मिक, नैतिक एवं सामाजिक विषयों को लिया है। कवि चिंतामणि महांति ने अनेक भ्रमण संबंधी और अनुभूतिपूर्ण व्यक्तिगत निबंधों द्वारा उड़िया साहित्य को समृद्ध किया है।

अंग्रेजी के 'पर्सनल एसे' या व्यक्तिप्रधान निबंधों के ढंग की उत्कृष्ट रचनाओं की सृष्टि में स्वर्गीय गोपालचंद्र प्रहराज अग्रणी थे। 'ननांक बस्तानी', 'बाइ

महांति पांजि', 'भागवत टुंगी रे संध्या' इसके ज्वलंत उदाहरण हैं। इन निबंधों में यद्यपि उपादान सामान्य हैं फिर भी रचनाकुशलता में असाधारण विशिष्टता लक्षित होती है। लेखक के व्यक्तित्व तथा मौलिक विचारों से पुष्ट ये निबंध अत्यंत उच्च कोटि के हुए हैं। इनके निबंधों की भाषा में उड़िया ग्राम्य शब्दों तथा बोलचाल की भाषा में प्रचलित कहावतों के प्रयोग भी मिलते हैं। अपने सम-सामयिक समाज के विभिन्न वर्गों में उन्होंने जीवन की जो दुर्दशा, अभाव और असंगतियाँ देखीं और स्वयं जैसा अनुभव किया, उसकी पूर्ण अभिव्यक्ति उनके निबंधों में हुई है। उन अनुभूतियों में समाविष्ट व्यंग और विद्रूप प्रहराज के निबंधों में और अधिक आकर्षण भर देते हैं।

स्वर्गीय गोपालचंद्र प्रहराज के समसामयिक लेखकों में स्वर्गीय जलंधरदेव और शशिभूषण राय उल्लेख योग्य हैं। दोनों ने साहित्यिक समालोचना, भ्रमण-वृत्तांत, सांस्कृतिक तथा वैषयिक (कृषि, उद्योग संबंधी) निबंध लिखा है। शशि भूषण के प्रकृति चित्रण संबंधी निबंधों में गीति और काव्य तत्वों की प्रधानता है। उनके काव्यात्मक शैली के निबंधों में 'उत्कल ऋतुचित्र' और 'दाक्षिणात्य भ्रमण' अत्यंत सुंदर हैं।

वर्त्तमान उड़िया निबंध साहित्य के विकास का विश्लेषण करने पर दो प्रकार की मुख्य प्रवृत्तियाँ लक्षित होती हैं। एक के अंतर्गत विशुद्ध साहित्यिक एवं कलात्मक निबंध आते हैं और दूसरी प्रवृत्ति में विभिन्न विचारधारा संबंधी निबंध लिए जा सकते हैं। दर्शन, समाजशास्त्र, राजनीति इन निबंधों के विशेष अंग हैं। सत्यवादी युग के निबंधों में राष्ट्रीय चेतना और मानवता का बहुत अधिक प्रतिपादन हुआ। इस युग के लेखक पंडित नीलकंठ ने धर्म, दर्शन, संस्कृति आदि विभिन्न विषयों पर निबंध लिखा। उच्च कोटि की साहित्यिक समालोचनाएँ भी इन्होंने लिखी हैं जैसे—'संस्कृत ओ संस्कृति', 'उड़िया साहित्य क्रम परिणाम' इत्यादि। अत्यंत गंभीर और जटिल विषयों को भी बोधगम्य भाषा में अभिव्यक्त करना इनकी विशेषता है।

अन्य सुपरिचित निबंधकारों में अध्यापक विपिनविहारी राय, रत्नाकरपति, कालिंदीचरण पाणिग्राही, मायाधर मानसिंह के नाम उल्लेखनीय हैं। कालिंदीचरण के निबंधों की भाषा व्यंजनापूर्ण और गंभीर भाव संपन्न है। मौलिक विचार, संयत व्यंग्य, संतुलित आलोचना तथा भविष्य के प्रति संगठनात्मक दृष्टिकोण के कारण उनके निबंधों का स्वतंत्र मूल्य आँका जाता है। मानसिंह ने ललित भाषा में अपने जो विचार प्रकट किए हैं उनमें जीवन के सुख, दुःख, प्रेम, विवाह आदि के चित्रण तरुण पाठकों में बहुत लोकप्रिय हैं। आधुनिक सामयिक पत्र-पत्रिकाओं में जीवन के विभिन्न अंगों पर बहुत से निबंध लिखे जाते हैं। अनेक लेखकों के संग्रह प्रति वर्ष प्रकाशित हुआ करते हैं। इन प्रयत्नों के होते हुए भी निबंध साहित्य से पाठक जितनी बहुमुखी जानकारी की आशा करता है, उसकी अभी तक यथार्थ पूर्ति नहीं हो रही है। फिर भी निबंध साहित्य की वर्तमान गति को लक्ष्य करते हुए भविष्य में इस आशा-पूर्ति की संभावना की जा सकती है।

रस और अलंकार की दृष्टि से पूर्वकालीन संस्कृत साहित्य में अथवा विश्लेषणात्मक आलोचना की दृष्टि से आधुनिक पाश्चात्य साहित्य में साहित्यिक समीक्षा का जो विकास

देखने को मिलता है, वैसा कोई क्रमिक विकास उड़िया साहित्य में नहीं हुआ है। वस्तुतः उड़िया का समालोचना साहित्य अभी तक अपनी शैशव अवस्था को पार नहीं कर सका है। समीक्षा के क्षेत्र में प्रथम प्रयास संस्कृत और अंग्रेजी साहित्य की पद्धति से करने का किया गया है। जो कुछ थोड़ा बहुत कार्य हुआ है उसका भी एक इतिहास है। पहले पहल आधुनिक कविताओं के प्रकाश में आने पर प्राचीन साहित्य के अनुरागियों एवं लेखकों ने उनकी तीव्र आलोचना की। दूसरी ओर आधुनिक रुचि संपन्न साहित्यकारों ने उनकी कविताओं का स्वागत किया। इसी द्वंद्वात्मक परिस्थिति में उड़िया समीक्षा साहित्य का सूत्रपात हुआ था। प्राचीन साहित्य के समर्थक आधुनिक कवियों में अलंकार-प्रयोग, छंद-योजना, आदि की त्रुटियाँ दिखलाते थे। उधर आधुनिक साहित्य के समर्थक आलोचकों की भी समयानुकूल यथार्थ आलोचना नहीं मिलती थी। यथावसर वे प्रायः अपने प्रिय लेखकों की प्रशंसा किया करते थे।

उड़िया साहित्य समीक्षा के इस उन्मेष काल में कवि मधुसूदन ने ही पहले पहल पथ प्रदर्शन किया था। उन्होंने राधानाथ की 'महायात्रा' की आलोचना करते हुए उसमें समाविष्ट प्राच्य और पाश्चात्य दोनों तथ्यों का निष्पक्ष होकर विश्लेषण किया था। इसके पश्चात् आलोचकों का ध्यान उड़िया की भाषागत प्रकृति की ओर गया। चौदहवीं शताब्दी के उड़िया महाकवि सारलादास के महाभारत की आलोचना अपने 'श्री भारत दर्पण' ग्रंथ में करके पंडित गोपीनाथ नंदशर्मा के असाधारण पांडित्य और सूक्ष्मदर्शिता का परिचय दिया है। इस ग्रंथ में प्राचीन तथा आधुनिक कवियों और साहित्यकारों के जीवन संबंधी तथ्य संग्रह, इतिहास और समाज से संपर्क तथा रस और रचना-सौकर्य की दृष्टि से रचनाओं का मूल्यांकन करने में समालोचकों ने गंभीर मननशीलता का परिचय दिया है। उड़िया समालोचना को जिन आलोचकों ने अपनी लेखनी से समृद्ध किया है, उनमें स्वर्गीय तारिणी रथ, विजयचंद्र मजुमदार, लक्ष्मीकांत चौधरी, पं० मृत्युंजय रथ आदि के नाम स्मरणीय हैं।

जीवित आलोचकों में आर्त्तवल्लभ महांति ने प्राचीन उड़िया साहित्य की समीक्षा में सारा जीवन लगा दिया है। भारतीय संस्कृति को उड़िया साहित्य की जो महान देन है उसपर पंडित नीलकंठ दास ने पर्याप्त प्रकाश डाला है। अध्यापक गिरिजाशंकर राय पाश्चात्य समालोचना पद्धति के समर्थक हैं। इन्होंने 'ओड़िया नाट्यकला' और 'ओड़िया रचना विचार' आदि आलोचनात्मक पुस्तकें लिखी हैं। कालिंदीचरण पाणिग्राही और डा० मायाधर मानसिंह भी अपनी आलोचनाओं में आधुनिक साहित्य का मूल्यांकन किया करते हैं। उड़िया साहित्य का क्रमबद्ध इतिहास लिखने में पंडित विनायक मिश्र और पंडित सूर्यनारायण दास लगे हुए हैं। इस प्रकार उड़िया साहित्य के सर्वतोमुखी विकास के लिये अनेक नवीन और प्रतिभासंपन्न लेखक कटिबद्ध हैं।

आधुनिक गद्य साहित्य मानव जीवन के विभिन्न अंगों के साथ संपर्क रखते हुए क्रमिक विकास के पथ पर अग्रसर है। यह केवल मननशील साहित्य-समालोचना या साधारण निबंधों तक सीमित नहीं है अपितु आधुनिक विचारधारा तथा ज्ञान विज्ञान के वाहक

के रूप में भी संप्रसारित होने की प्रवृत्ति इसमें स्पष्ट है। इतिहास, राजनीति और दर्शन इत्यादि के अतिरिक्त विज्ञान और मनोविज्ञान आदि विषयों में उच्च कोटि का निबंध प्रस्तुत करने का प्रयास बराबर दिखाई पड़ रहा है। मायाधर मानसिंह के नेतृत्व में एक 'विश्व ज्ञान कोश' प्रकाशित करने का प्रयत्न हो रहा है। समस्त भारतीय भाषाओं के सामने आज परिभाषिक शब्दों की जो समस्या है, उसके हल हो जाने पर वैषयिक (कृषि, उद्योग आदि के) साहित्य की अभिवृद्धि निस्संदेह यथेष्ट मात्रा में हो सकती है। उड़ीसा सरकार द्वारा स्थापित 'प्रशासन कमिटी' एवं उत्कल विश्वविद्यालय के 'ज्ञान विज्ञान-परिषद्' इस दिशा में कार्य कर रहे हैं।

लेखक—श्री नरेंद्रनाथ मिश्र
अनुवादक—श्री कपिलदेव पांडेय

आसामी साहित्य

डा० ग्रियर्सन के अनुसार आसामी साहित्य सर्वांश में राष्ट्रीय है। और यह ऐतिहासिक सत्य भी है कि यद्यपि आसाम समय समय पर अनेक जातियों द्वारा शासित हुआ, तथापि आसामी संस्कृति, भाषा और साहित्य ने उन विजेताओं को भी विजित किया। आसाम के वर्तमान निवासियों में शुद्ध आर्य, शुद्ध अनार्य तथा अनेक मिश्रित जातियों के लोग हैं। उनकी विभिन्न जातिगत एवं संस्कृति संबंधी विशेषताएँ आसामी भाषा और साहित्य में प्रतिबिंबित हैं। आसामी साहित्य को यह श्रेय है कि उसने बहुत से असमान तत्वों को एकता के सूत्र में बाँधकर एक समान आसामी संस्कृति के विकास में सहायता पहुँचाई है।

आसामी भारत की पूर्वतम विकसित भाषाओं में से है। सोलहवीं शताब्दी तक तो इसके गद्य का भी पर्याप्त विकास हो चुका था। 'कथा गीता' को देखकर यह स्पष्ट हो जाता है कि आसामी साहित्य जिस स्तर तक सोलहवीं शताब्दी में ही पहुँच चुका था, वहाँ तक बँगला साहित्य ईश्वरचंद्र और बंकिमचंद्र के समय (उन्नीसवीं शताब्दी) से पहले नहीं पहुँच सका। सातवीं शताब्दी के प्रारंभ में ह्वेन त्सांग ने कामरूप की भाषा को मागधी प्राकृत से कुछ भिन्न पाया। संभवतः उस समय तक अपनी मूल भाषा से पृथक् होकर आसामी एक निश्चित स्वरूप ग्रहण कर चुकी थी।

आसामियों की काव्य-प्रतिभा छठी और सातवीं शताब्दियों में ही उनके वात्सल्य-प्रेम तथा भ्रमण आदि संबंधी लोकगीतों में अभिव्यक्त हो चुकी थी। तेरहवीं शताब्दी के हेम सरस्वती जैसे कवियों की रचनाओं के काव्यात्मक प्रवाह और साहित्यिक सौंदर्य के अनुष्ठान को देखकर यह सहज ही विश्वास किया जा सकता है कि आसामी कविता दसवीं या ग्यारहवीं शताब्दी तक सुसंस्कृत साहित्य के रूप में विकसित हो चुकी थी। आसामी भाषा और साहित्य सोलहवीं शताब्दी में अपने चरम विकास पर पहुँचा। उस समय के सर्वश्रेष्ठ वैष्णव सुधारक श्री शंकरदेव तथा उनके शिष्य श्री माधवदेव ने वैष्णव साहित्य और कला की एक ऐसी धारा प्रवाहित की जैसी तत्कालीन भारत के और किसी भाग में न हो सकी। सत्रहवीं शताब्दी तक नरनारायण तथा अन्य कोच राजाओं के संरक्षण में इस धारा में अनेक शाखा-प्रशाखाएँ विकसित हुईं। श्री शंकरदेव तथा श्री माधवदेव की प्रतिभा ने उच्च कोटि की प्राचीन साहित्यिक रचनाओं के अनुवाद द्वारा श्रेष्ठ आसामी साहित्य के निर्माण का मार्ग प्रशस्त किया। ये अनुवाद भी अपनी श्रेष्ठता के कारण आधुनिक आसामी लेखकों के लिये प्राचीन आदर्श रचनाओं के समान हैं।

जिस प्रकार कोच राजाओं के संरक्षण में वैष्णव साहित्य पल्लवित होकर पुष्ट हुआ, उसी प्रकार अहोम राजाओं की प्रेरणा से पौराणिक एवं तांत्रिक साहित्य का विकास हुआ। इस साहित्य ने आधुनिक आसामी गद्य-साहित्य के विकास में बहुत सहायता दी। ऐतिहासिक नाटकों तथा उपन्यासों को एवं जीवनियों तथा आलोचनात्मक रचनाओं को इसी साहित्य से सामग्री प्राप्त हुई।

मुसलमान शासकों ने बँगला साहित्य को संरक्षण दिया तथा अँगरेजों ने भी स्कूलों एवं अदालतों में बँगला को ही स्थान दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि १६०० ई० में लिखित 'कथा गीता' की गद्य शैली का प्रयोग बालकों की आरंभिक पाठ्य पुस्तकों में भी १८७३ ई० से पहले संभव न हो सका और इसके लिये आनंदराम धेकियल फूकन, बैपटिस्ट मिशन तथा अन्य लोगों को पचास वर्षों तक आंदोलन करना पड़ा था।

स्वर्ण युग के परवर्ती अवनति-काल के बाद १८८६ ई० में 'जोनकी' नामक मासिक पत्रिका के प्रकाशन के साथ आसामी साहित्य के आधुनिक युग का आरंभ हुआ। पाश्चात्य संस्कृति और विज्ञान से हमारे संपर्क ने इस पुनर्जागरण में सहायता तो अवश्य दी, पर साथ ही इससे हमारी आध्यात्मिक शक्ति क्षीण हो चली। जो भी हो, हमारा बौद्धिक क्षितिज इससे व्यापक बना। अपने धर्म को फैलाने के उद्देश्य से ईसाई मिशनरियों ने 'अरुणोदय' नामक पत्र का प्रकाशन प्रारंभ किया, अँगरेजी-आसामी कोश का निर्माण किया, प्रारंभिक पाठशालाएँ खोलीं, बाइबिल का अनुवाद छापा; और इस प्रकार आसामी भाषा तथा साहित्य के विकास के लिये विस्तृत क्षेत्र तैयार किया। आनंदराम धेकियल फूकन ने, जिन्हें ठीक ही आसाम का राजा राममोहन राय कहा जाता है, ईसाइयों के इन प्रयत्नों का लाभ उठाकर उस आंदोलन को एक नई प्रेरणा और गति दी जिसके फल के रूप में आधुनिक आसामी भाषा और साहित्य हमारे सामने है।

इसी समय अँगरेजी साहित्य के रोमांटिक पुनर्जागरण का प्रभाव बंगाली लेखकों पर पड़ रहा था। उससे प्रभावित होकर कलकत्ते में पढ़नेवाले कुछ आसामी नवयुवकों ने 'जोनकी' नामक पत्रिका का प्रकाशन प्रारंभ किया तथा आसामी भाषा एवं साहित्य के विकास के लिये एक समिति की स्थापना की। पाश्चात्य संस्कृति की लहर ने आसामी साहित्य को उसके परंपरागत मार्ग से हटाकर एक अनजाने प्रदेश में पहुँचा दिया, और इस प्रकार उसे जीवन की एक नई अवधि मिली। सदैव प्राचीन साहित्य से ही प्रेरणा लेते रहने के स्थान पर आदर्शवाद के चिर-रसमय स्रोत से रस ग्रहण किया गया। इस रस की मादकता ने भूत को विस्मृति के गर्भ में डालकर नवीन स्वप्नों की सृष्टि की। उत्साह और उमंगों से भरे मन ने सब दिशाओं में अपने पर फैलाए। यद्यपि कभी कभी उसे अपना मार्ग अंधकार में भी खोजना पड़ा, किंतु समग्र जीवन उसके दृष्टिपथ से कभी ओझल नहीं हुआ। इस काल के लेखकों ने नवीन मानवीय संबंधों को स्थापित करने का तथा पूर्व और पश्चिम की संस्कृतियों को मिलाने का प्रयास किया। पश्चिम के साहित्य ने, जो प्रत्येक प्रकार की दासता से मन को स्वतंत्र बनाने का पक्षपाती था, रचनाओं को प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों रूपों में प्रभावित किया। संभव है, अनजाने मार्ग में किए गए प्रयोगों से बहुत सी शक्ति व्यर्थ नष्ट हुई हो, किंतु बीसवीं शताब्दी के आसामी साहित्य के विकास में इस हानि का भी महत्त्वपूर्ण योग है।

उन्नीसवीं शताब्दी के आसामी लेखकों को वैष्णव एवं खिष्टीय साहित्य-धाराओं के बीच में से अपने लिये मार्ग खोजना था। उन्होंने धर्म-निरपेक्षता को साहित्य के लिये

आवश्यक माना। सामाजिक एवं राजनीतिक क्रांति लानेवाले पाश्चात्य साहित्य का उनके ऊपर अमिट प्रभाव पड़ा। आसामी साहित्य को धर्म-निरपेक्ष बनाने में यद्यपि इन लेखकों को पूर्ण सफलता प्राप्त नहीं हुई, फिर भी उनका साहित्य में नवीन प्रवृत्तियों की सृष्टि करने का कार्य निश्चय ही बहुत महत्त्वपूर्ण था। इस दृष्टि से देखने पर इस काल में आसामी साहित्य की प्रगति निराशाजनक नहीं कही जा सकती। पूर्ववर्ती अवनति काल की मानसिक जड़ता से मुक्ति दिलाकर चेतनता की प्राप्ति कराने में यह साहित्य बहुत सहायक हुआ।

आसामी लेखकों को अपना कुछ समय और शक्ति आसामी भाषा और साहित्य की सेवा के लिये देने की प्रेरणा देने का श्रेय 'जोनकी' की तीन विभूतियों को था—लक्ष्मीनाथ बेज बरुआ, चंद्रकुमार अग्रवाल तथा हेमचंद्र गोस्वामी। इन अग्रगामी मार्ग-दर्शकों ने, जिनमें लक्ष्मीनाथ सर्वप्रमुख थे, युग की माँग को पहचाना, नए विचारों को जन्म दिया और काव्य, नाटक, उपन्यास, कहानी, वीरगीत, अनुवाद, निबंध, पाठ्य पुस्तक समाचारपत्र, साहित्यिक पत्र आदि विभिन्न रूपों के साहित्य की सृष्टि की ओर करने की प्रेरणा दी। इस समय तक कुछ प्रेसों की भी स्थापना हो चुकी थी, और कुछ लोगों ने पुस्तक-प्रकाशन का व्यवसाय भी आरंभ कर दिया था।

इस काल की रचनाएँ मुख्यतः रोमांटिक शैली में लिखी गई थीं। उपदेश प्रधान कविता का स्थान गीतों ने लिया। रघुनाथ चौधरी जैसे कवियों ने प्रथम बार वन में भी चेतनता का दर्शन किया। अपने प्रदेश की वनस्पतियों में उन्हें एक संदेश मिला, उन्होंने उनसे भावनाओं का पारस्परिक आदान-प्रदान किया एवं वैयक्तिक स्पर्श एवं मानवीय कामनाओं की अभिव्यक्ति की गई। लक्ष्मीनाथ, सत्यनाथ, पद्मनाथ तथा हेमचंद्र आदि के द्वारा गद्य का स्वरूप भी इसी समय स्थिर हुआ।

लक्ष्मीनाथ की बहुमुखी प्रतिभा ने आसामी साहित्य में नवजीवन का संचार किया। शायद ही कोई ऐसा विषय होगा जिसे उन्होंने अपनी लेखनी के स्पर्श से सुंदर न बनाया हो। उनके पास हास्य का असाधारण भांडार था। आसामी साहित्य की प्रत्येक प्रवृत्ति उनकी रचनाओं में प्रतिबिंबित है और उनके प्रभावशाली व्यक्तित्व की छाप उनकी प्रत्येक रचना पर है। उन्होंने छोटे और बड़े, ग्रामीण और सुसंस्कृत सभी के लिये लिखा है। उन्होंने सामाजिक मूर्खताओं का उद्घाटन किया है और हमारे राष्ट्रीय चरित्र के उत्तम गुणों की प्रशंसा भी की है। देश-प्रेम और मानव-प्रेम की ज्योति उनकी रचनाओं के बीच से झलकती रहती है। कोई विषय उनके लिये तुच्छ नहीं था। उनकी कविता, ऐतिहासिक उपन्यास, कहानी, नाटक, आलोचना, हास्यपूर्ण रेखाचित्र, व्यंग्य सबका आसामी साहित्य की आधुनिक धारा को प्रवाहित करने में विशेष योग है। इस प्रकार यद्यपि उन्हें आधुनिक आसामी का पुरोहित कहा जा सकता है, तो भी उनके समान किसी दूसरे व्यक्ति ने आधुनिक साहित्य को एक जीवंत प्रेरणा देने के उद्देश्य से सोलहवीं शताब्दी के वैष्णव साहित्य का इतना प्रपूर्ण मंथन नहीं किया। इसके साथ ही उन्होंने उस प्राचीन साहित्य को आलोचनात्मक दृष्टि से भी देखा।

चंद्रकुमार अग्रवाल 'जोनकी' विचार-धारा को संचालित करनेवाली शक्ति थे। वे मुख्य रूप से रोमांटिक कवि थे। उनके विचार गंभीर तथा रहस्यमय थे। उनकी अभिव्यंजना-शैली सरल एवं व्यावहारिक होते हुए भी आकर्षक थी, और पाठक को सहज ही शब्दों से उनके गूढ़ तथा अर्थगर्भित भाव तक ले जाती थी। वे मनुष्य के और प्रकृति के अंदर छिपी हुई चेतन शक्ति के पुजारी थे। वे अपने भावों को एक ऐसी आदर्श भूमि पर आधारित करते थे कि उन्हें समझने के लिये साधारण दृष्टि अपर्याप्त थी। उनके साहित्यिक जीवन में विस्तार के स्थान पर गंभीरता का महत्त्व था।

हेमचंद्र गोस्वामी आसामी भाषा और साहित्य के आजीवन भक्त रहे। आसामी साहित्य को उनकी देन असाधारण है। हृदय की धड़कन से युक्त उनकी गीतात्मक कविताएँ पाठक के हृदय में भी सहज ही प्रतिध्वनित हो उठती हैं। उनकी आसामी चतुर्दशिकाएँ (सानेट) बहुत ऊँचे स्तर की रचनाएँ हैं। उनकी गद्य कृतियों में हमें आकर्षक एवं अमिश्रित आसामी का आदर्श स्वरूप मिलता है। परिमाण में भी उनकी रचना अत्यधिक है। यद्यपि प्रारंभ में वे रोमांटिक काव्यधारा के प्रमुख उन्नायकों में से थे, पर बाद में उन्होंने आसामी साहित्य के विकास के लिये कुछ ठोस कार्य करने की ओर ध्यान दिया। हेमचंद्र बरुआ द्वारा लिखित हेमकोश का उन्होंने विद्वत्ता के साथ संपादन किया। 'आसामी-साहित्य-चयनिका' नाम का महत्त्वपूर्ण ग्रंथ संकलित करके कलकत्ता विश्वविद्यालय से कई खंडों में उन्होंने प्रकाशित कराया। इसके बाद उन्होंने प्राचीन पांडुलिपियों के शोध का कार्य अपने हाथ में लिया, और कामरूप-अनुसंधान-समिति के लिये उनका एक अच्छा संग्रह करके उसका वर्णनात्मक सूचीपत्र भी तैयार किया।

इस त्रयी द्वारा दिए गए पुनर्जागरण के संदेश से आसाम के उदीयमान साहित्यकारों को साहित्य और कला की सेवा के लिये भक्तिमय उत्साह प्राप्त हुआ। यद्यपि इस त्रयी के समकालीन और पूर्ववर्ती आसामी साहित्य के पुनर्जागरण में योग देनेवाले अनेक अन्य लेखक भी थे, पर यह त्रयी तो त्रिवेणी के समान थी जिसमें सरस्वती के सभी उपासकों ने श्रद्धा के साथ डुबकी लगाई।

कमलाकांत और अंबिकागिरि की देशप्रेम संबंधी कविताएँ एक ऐसी ज्योति से प्रज्वलित हैं जिसे कभी बुझाया नहीं जा सकता। दूसरों ने भी इस प्रकार की कविताएँ लिखी हैं, पर उनमें भावना की इतनी प्रगाढ़ता नहीं है। हितेश्वर ने प्रायः ओज और पुरुषत्व से पूर्ण चतुर्दशिकाएँ लिखी हैं। नलिनीबाला देवी की कविताएँ रहस्यात्मक और करुणरस-पूर्ण हैं। आसामी काव्य-साहित्य के निर्माण में योग देनेवाले इस पीढ़ी के अन्य सब कवियों का नामोल्लेख करना यहाँ संभव नहीं है। पर ये लोग अपने पूर्ववर्ती लेखकों के आदर्शवाद को छोड़कर जीवन के यथार्थ को अपने काव्य की मुख्य संवेदना के रूप में ग्रहण करने में समर्थ न हो सके। तो भी इस दिशा में प्रयत्न जारी है, और संभव है कि निकट भविष्य में इसका कुछ निश्चित परिणाम दृष्टिगोचर हो।

रजनीकांत ने सामाजिक जीवन का चित्रण करते हुए उपन्यास लिखे। उनके पात्र हाड़ और मांस के बने हैं तथा स्वाभाविक वातावरण में विचरण करते हुए दिखाई देते हैं।

पद्मनाथ ने भी श्रेष्ठ सामाजिक उपन्यासों की रचना की है। इनके अतिरिक्त नवयुवक लेखकों में से भी कुछ प्रथम श्रेणी के उपन्यासकार निकलेंगे, ऐसा विश्वास किया जा सकता है।

लक्ष्मीनाथ के अतिरिक्त पद्मनाथ, हितेश्वर, दुर्गाप्रसाद, चंद्रधर, सरतचंद्र, अतुलचंद्र, नकुलचंद्र, पजीरुद्दीन तथा अन्य अनेक लेखकों ने सामाजिक, ऐतिहासिक तथा पौराणिक नाटकों की रचना की है, और इस प्रकार बीसवीं शताब्दी के आसामी साहित्य को समृद्ध बनाया है। निबंध लेखन का कार्य सत्यनाथ बोरा द्वारा आरंभ किया गया, और उसके बाद इस तरह की बहुत सी रचनाएँ प्रकाश में आई हैं।

'बन्ही' के जन्म के बाद लगभग तीस पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन हुआ, यद्यपि उनमें से बहुत सी कुछ समय तक चलकर बंद हो चुकी हैं। आसामी साहित्य के प्रति जनता की भक्ति भावना को जगाने में इनमें से प्रत्येक का कुछ न कुछ हाथ रहा है। 'आलोचनी', 'असानिया', 'दैनिक बटोरी', और 'आवाहन' कुछ प्रमुख पत्र-पत्रिकाएँ हैं। विद्यालयों से निकलनेवाले पत्रों ने तथा आसाम छात्र-समिलन ने विद्यार्थियों में साहित्यिक अभिरुचि उत्पन्न की है। मुस्लिम स्टूडेंट्स कानफरेंस के मुखपत्र 'साधना' ने मुस्लिम विद्यार्थियों को आसामी साहित्य के प्रति आकर्षित किया है। मौलवी मफीजुद्दीन की 'ज्ञानमालिनी', खानबहादुर अतररहमान का कुरान का अनुवाद और खानबहादुर फैजुद्दीन की 'इस्लाम ज्योति' आसामी साहित्य की श्रेष्ठ रचनाएँ हैं। डा० मोहिदुल इस्लाम बोरा ने अपने शोध-निबंध में आसामी का फारसी साहित्य के साथ ऐतिहासिक संबंध दिखाया है।

कनकलाल बरुआ और हेमचंद्र गोस्वामी के अथक प्रयास से कामरूप-अनुसंधान-समिति एक महत्त्वपूर्ण संस्था बन गई है। सरकार ने भी एक ऐतिहासिक शोध-समिति की स्थापना की है। गौहाटी के कला-भवन ने शोध करनेवाले विद्वानों के लिये विचार-सामग्री प्रस्तुत की है। आसाम-साहित्य-सभा ने महत्त्वपूर्ण पुस्तकों के प्रकाशन का कार्य उठाया है। डा० भूयान तथा डा० काकोटी ने आसाम के इतिहास और आसामी भाषा तथा साहित्य पर शोध-निबंध प्रस्तुत किए हैं। कालीराम मेहदी ने आसामी का एक विशाल व्याकरण तैयार किया है। इसके अतिरिक्त अन्य कई लोग आसामी में अनुसंधान-कार्य कर रहे हैं।

इस प्रकार बीसवीं शताब्दी में हुई आसामी साहित्य की प्रगति को निराशापूर्ण नहीं कहा जा सकता। नई पीढ़ी के लेखकों का ध्यान विज्ञान, अर्थशास्त्र, राजनीति आदि विभिन्न विषयों की ओर भी आकृष्ट हो रहा है, तथा बाल साहित्य एवं जन-साहित्य के निर्माण का कार्य भी आरंभ किया जा रहा है।*

---

* पी० ई० एन० के तत्त्वावधान में जयपुर में हुए अखिल भारतीय लेखक संमेलन में श्री नीलमणि फूकन द्वारा पढ़े गए अँगरेजी निबंध के आधार पर डा० राकेश गुप्त द्वारा प्रस्तुत।

गत साठ वर्षों में नेपाली साहित्य

(१)

विश्व के लिये विगत साठ वर्ष न केवल महत्त्वपूर्ण वरञ्च विशेष रूप से क्रांतिकारी समय रहे। आधुनिक विचार धारा, जिसका प्रारंभ सत्रहवीं शती में हुआ था, अपनी चरम उत्कृष्टता पर इन्हीं षट् दशकों में उत्तरोत्तर पहुँचती गई। विज्ञान की महती शक्ति द्वारा मनुष्य ने अपने वैभव तथा अपने ही नाश के उपायों तथा साधनों को ढूँढ़ निकालने में कुछ भी उठा नहीं रखा। विश्व के दो-दो महायुद्ध भी इसी काल की देन रहे। अनेक संपन्न राजतंत्र-शक्तियों का अवसान भी इसी काल में हुआ तथा हो रहा है; पददलित आक्रांत निम्न वर्ग के उत्थान का समय भी यही रहा। थोड़े में, जिस प्रकार प्राचीन परंपरा का इन साठ सालों में विनाश हुआ वैसा जगत् के प्राचीन किसी दो चार शतकों में भी नहीं हुआ था। संसार इन साठ सालों में एक नई दिशा की ओर परिचालित होता रहा है, और जहाँ विज्ञान के कारण मनुष्यों की रहन सहन में महान् परिवर्तन हो चुके हैं वहीं उनके आचार-विचार में एक नई बौद्धिक क्रांति भी उत्पन्न हो गई है। इन सब परिवर्तनों का प्रभाव इस समय के साहित्य में स्पष्ट ही परिलक्षित होता है, और विश्व के साहित्य में, विशेषकर पाश्चात्य जगत् के साहित्य में, विचार सरिता एक नूतन दिशा की ओर असाधारण तीव्रता के साथ प्रवाहित होती रही है।

नेपाल हिमालय के क्रोड में संनिविष्ट होते हुए भी इस क्रांतिकारी काल के प्रभाव से अपने को पृथक् न रख सका। उसके पिछले शासकों के सब प्रकार के रक्षात्मक प्रयत्न करने पर भी क्रांति का उदय वहाँ भी उसी प्रकार हुआ जिस प्रकार अन्य अनेक एशियाई देशों में हो चुका है अथवा हो रहा है। और उस पार्वत्य देश में भी, जो कई अर्थों में पिछड़ा हुआ समझा जाता रहा है, और है भी, सुदृढ़ राणाशाही का देखते देखते पर्यवसान हो गया। संसार का वायुमंडल प्रत्येक देश के लिये न्यूनाधिक रूप से प्रभावकारी ही सिद्ध हुआ और पिछले साठ साल नेपाल के लिये कम महत्त्वपूर्ण नहीं रहे तथा एक अर्थ में तो वे विशेष रूप से नेपाल के लिये प्रभावोत्पादक ही सिद्ध हुये।

प्राचीन देश होते हुए भी नेपाल का वर्तमान रूप आधुनिक ही है। जिसे हम नेपाल कहते हैं, वर्त्तमान राजवंश के पूर्व वह अनेक स्वतंत्र राजखंडों में विभक्त रहा। उसका एकीकरण पृथ्वीनारायण शाह द्वारा संपन्न हुआ और इस प्रकार एक सुदृढ़ राष्ट्र का पुनर्जन्म आज के दो शताब्दी पूर्व ही हुआ। जहाँ इस बात को ध्यान में रखने की आवश्यकता है, वहाँ इस तथ्य को भी नहीं विस्मृत कर देना चाहिए कि नेपाल अभारतीय होते हुए भी सभ्यता तथा संस्कृति की दृष्टि से विशाल भारत का ही एक अंग है। वहाँ भी मुख्य रूप से आर्य संस्कृति ही है, और वहाँ का साहित्य भी आर्य साहित्य-वृक्ष की ही एक शाखा है। नेपाली भाषा मूलतः संस्कृत-प्रधान प्राकृत भाषा है तथा इस भाषा का

प्रयोग करनेवाले धर्मतः तथा विचारतः भारतीयों से किसी प्रकार भी भिन्न नहीं हैं। इस कथन से केवल इतना ही अभिप्रेत है कि उनकी साहित्यिक कृति का उदय, क्रम, तथा विकास अन्य भारतीय भाषाओं के समान ही हुआ तथा हो सकता था। साहित्य तथा भाषा का अभेद्य संबंध होता है। साथ ही साहित्य का प्रारंभ सामाजिक स्थिरता के पश्चात् ही संभव है। किसी भी देश में साहित्य तथा कला का आविर्भाव वहाँ के निवासियों में सामाजिक दृढ़ता तथा आत्मविश्वास प्राप्त कर लेने के अनंतर ही होता है। जैसा ऊपर कहा जा चुका है, नेपाल में वर्त्तमान राजवंश अठारहवीं शती के उत्तरार्ध में पदारूढ़ हुआ और तभी वहाँ साहित्य के उपक्रम का यथानुकूल वातावरण सामाजिक स्थिरता के कारण उपस्थित हो सका। इस दृष्टि से नेपाली साहित्य अभी अत्यंत शैशवावस्था में है। उसके आदिकाल (भानुभक्त काल : जो १८१४–१८६८ ई० निश्चित किया जाता है) को छोड़ दिया जाय तो नेपाली साहित्य इन्हीं साठ सालों में ही पल्लवित हुआ है। एतावता यह साहित्य बहुत स्वल्प तथा लघुकाय तो है ही अभी इसकी गति भी बहुत धीमी तथा अस्पष्ट है। शिक्षा का अभाव, अज्ञान, तथा निर्धनता नेपाल के तीन प्रबल शत्रु रहे। इनके कारण साहित्यिक प्रगति वांछित रूप से नहीं हो सकी। फिर भी देश में इन साठ सालों में अनेक कवि हुए, और अनेक गद्य तथा नाटक के लेखक।

साहित्य जीवन का ही प्रकट रूप होता है। अतः किसी भी देश का साहित्य सहज रूप से उस देश की अंतरात्मा का प्रतिबिंब होता है। नेपाली भाषा में जो भी गद्य-पद्य रूप में लिखा जाता रहा, वह प्रायः पौराणिक कथाओं का ही आधार लेकर था अथवा रामायण या महाभारत या भागवत् का रूपांतर। नेपाल के हिंदू-प्रधान देश होने के कारण साहित्य में भक्ति तथा वैराग्य मूलक प्रवृत्तियों का प्रचुर समावेश है और लेखकों की सहज प्रवृत्ति भगवान् की (कृष्ण या राम रूप में) लीला का वर्णन करने में संलग्न रही है। नेपाली साहित्य का एक बहुत बड़ा भाग इसी रूप का है। पर कालगत प्रभाव भी स्पष्ट दृष्टिगोचर हो सकता है। विशेषकर उसके नवयुवक लेखकों पर जिन्हें आधुनिक विचार-धारा से प्रेरणा मिला करती है। साहित्य में प्रेरणा ही काम करती है। प्राचीन प्रेरणा धर्म-मूलक है। इसमें संसार की असारता तथा ईश्वर में आस्था तथा भक्ति का ही उपदेश है। काव्य द्वारा इस भक्ति भावना को जाग्रत करना कवि अपना कर्तव्य समझता है। इसी प्रकार आधुनिकतम प्रेरणा प्राचीन परंपरा का अवसान कर नूतन समाज-सृष्टि की भावना से ओत-प्रोत हुआ करती है। नेपाली साहित्य में अभी इस नवीन धारा का उदय कतिपय छात्र लेखकों की कृतियों में किंवा युवक विचारकों के भाषणों में दृष्टिगोचर हो रहा है; फिर भी सामाजिक सुधार की भावना के निमित्त साहित्य की ओर सब की दृष्टि है। इसमें समाज की दुर्दशा का चित्रण कर एक नूतन व्यवस्था का उपक्रम प्रस्तुत किया जाता है। जहाँ प्राचीन भावयुक्त कवि अपनी आस्था तथा भक्ति का ही प्रदर्शन करके संतोष करता है, वहीं नूतन कवि अपनी शक्ति को दूसरे रूप में व्यवहृत करता है। वह यथार्थवादी निर्माणकर्त्ता के रूप में अग्रसर होता है। नेपाली साहित्य में इन दोनों प्रवृत्तियों का संघर्ष दिखलाई पड़ता है।

नेपाली साहित्य की नींव महाराज वीर शमशेर के शासनारूढ़ होने के अनंतर दृढ़ हुई। महाराज जंगबहादुर ने नेपाल में न केवल अपने (राणा) परिवार को ही पदारूढ़ किया प्रत्युत उन्होंने परिस्थिति के अनुरूप एक सुदृढ़ व्यवस्था भी की। जंगबहादुर का काल देश की प्रारंभिक अवस्था का काल था। महाराज वीर शमशेर के पदारूढ़ होने के पश्चात् नव जाग्रति दृष्टिगोचर होती है तथा बीसवीं शदी के आरंभ में, जब महाराज चंद्र शमशेर पदासीन हुए, इस जाग्रति में और अभिवृद्धि हुई। जब प्रथम महायुद्ध छिड़ा तब नेपाल में भी उसी प्रकार राष्ट्रीयता की भावना उत्पन्न हुई जैसे अन्य देशों में। प्रथम महायुद्ध स्वेच्छाचारी शासन से त्रस्त देशों में देशभक्ति तथा राजतंत्र के प्रति विद्रोह उत्पन्न करने में विशेष रूप से सहायक हुआ।

नेपाल का साहित्य गत साठ साल का ही है। वि० सं० १९४७ के लगभग एक नए युग का आरंभ होता है। इसमें देशभक्ति की एक नई चेतना जाग्रत हुई। यद्यपि मोतीराम भट्ट को इस चेतना का अनन्य प्रवर्त्तक कहना उपयुक्त न जान पड़े, पर इसमें संदेह नहीं कि भानुभक्त के बाद यदि कोई नेपाली साहित्य का अग्रदूत कहा जा सकता है, तो वे भट्ट जी ही हैं। इन्होंने भानुभक्त की जीवनी लिखी, भानुभक्त का रामायण प्रकाशित किया, नेपाल में मुद्रणालय स्थापित किया, और उस साहित्य-वृक्ष का आरोपण किया जो अब क्रमशः पल्लवित तथा पुष्पित होता जा रहा है। इनकी प्रतिभा तीक्ष्ण थी, पर असमय मृत्यु के कारण इनका पूर्ण विकास नहीं हो पाया।

वि० सं० १९६० में महाराज चंद्र शमशेर सत्तारूढ़ हुए। इनका राज्यकाल दीर्घ था और इन्हीं के समय में प्रथम यूरोपीय महायुद्ध हुआ। बीसवीं शती का आरंभ हो चुका था और कठोर शासन से अभिभूत नेपाल के अंतस्तल में भी नवचेतना जाग्रत हो रही थी। नेपाल के बाहर नेपाली समुदाय में, विशेषतः काशी में, इस चेतना का प्राबल्य था। चंद्र शमशेर महाराज के समय में ही काठमांडू में नेपाली भाषा प्रचार समिति की स्थापना हुई और साहित्य-सृजन को राज्य की सहायता भी प्राप्त हुई। आरंभ में विशेषतः संस्कृतज्ञ अथवा संस्कृत साहित्य से अनुप्राणित लेखकों का प्राधान्य रहा। इस समय अपनी विद्वत्ता के कारण ख्याति पानेवालों में प्रधान थे श्री हेमराज गुरुजी, पं० सोमनाथ सिग्धाल, पं० कुलचंद्र गौतम तथा राममणि आदि। हेमराज जी की अभी हाल में ही काशी में मृत्यु हुई है। ये तीनों संस्कृत के विद्वान् तथा भिन्न भिन्न रूप से नेपाली भाषा के पोषक रहे। हेमराज जी ने नेपाली भाषा का प्रामाणिक व्याकरण बनाया जिससे भाषा के परिष्कार में यथेष्ट सहायता मिली। उसी के आधार पर संप्रति नेपाली का विकास हो रहा है। इन विद्वानों के ग्रंथ तथा विचार शास्त्रीय ही रहे। मौलिक किंवा स्वकीय कल्पनायुक्त सरस रचनाकारों में प्रथम स्थान कवि लेखनाथ को ही प्राप्त है। जितनी सरसता तथा विचार-सूक्ष्मता इनके ललित पदों में हैं, उतनी दूसरा कोई अपनी भाषा में समाविष्ट नहीं कर पाया। लेखनाथ जी की भाषा में ओज के साथ साथ ऐसी स्निग्धता है जो उसे अत्यंत मनोहर बना देती है। इनकी लेखनी से प्रसूत अनेक ग्रंथ हैं जिनमें

मुख्य लक्ष्मीपूजा (नाटक), ऋतुविचार, सलकली संवाद तथा तरुण तपस्वी हैं। नेपाल के अन्य कवियों में उल्लेखयोग्य लक्ष्मीप्रसाद देवकोटा हैं। इनकी काव्य-रचना हृदयोत्थित-वेदना-प्रसूत होती है एवं उसमें कल्पना तथा रचना का सुंदर संयोग रहता है इनका सबसे लोकप्रिय ग्रंथ 'गुनमदन' खंड काव्य है। इनके दो महाकाव्य विशेष प्रसिद्ध हैं—'सुलोचना' तथा 'शाकुंतल'। इनका "सत्यवान सावित्री" नाटक भी प्रसिद्ध है।

नेपाली साहित्य की विचारधारा का विश्लेषण करने पर लेखकों को दो श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है—प्राचीन संस्कृतज्ञ तथा अर्वाचीन पाश्चात्य शिक्षायुक्त। द्वितीय वर्ग में नेपाल के वर्त्तमान लेखक समाविष्ट हैं जिनमें लक्ष्मीप्रसाद प्रमुख हैं। प्रौढ़ लोगों का झुकाव तथा आस्था परंपरागत विचारों के प्रति अधिक है। साहित्य इनके लिये क्रांति का मार्ग नहीं, वरंच आत्मोन्नति अथवा समाज सुधार का साधन है। इस कोटि के जिन समर्थ लेखकों का हम उल्लेख कर सकते हैं उनमें नाटककारों में अग्रणी बालकृष्ण राम तथा उपन्यासकारों में रुद्रराज पांडे हैं। इन दोनों की रचनाओं में इनकी पाश्चात्य शिक्षा विशेष रूप से सहायक है। दोनों की रचनाओं का मुख्य उद्देश्य है समाज की समीक्षा। रुद्रराज जी की रचनाएँ विशेष सुधारवादी हैं। नेपाली समाज का चित्र अपने ग्रंथों इन्होंने मार्मिकता के साथ उपस्थित किया है। नारी शिक्षा, आदर्श पत्नी, कौटुंबिक कलह, अनमेल विवाह आदि अनेक समस्याओं को लेकर इनके उपन्यासों की रचना हुई है। प्रत्येक में कुछ न कुछ नवीन प्रसंग है और चरित्र चित्रण तथा घटना व्यूहन की दृष्टि से ये विशेष आकर्षक हैं।

गद्य तथा पद्य के अनेक विज्ञ लेखक नेपाल में तो हैं ही, नेपाल के बाहर काशी तथा दार्जिलिंग भी नेपाली साहित्य के विशेष केंद्र हैं। दार्जिलिंग नेपाली-बहुल प्रदेश है। नेपाल के बाहर यदि कहीं नेपाली साहित्य को स्फूर्ति मिल रही है अथवा उसका संवर्धन हो रहा है तो दार्जिलिंग में ही। सन् १६२४ ई० से नेपाली साहित्य के प्रकाशन का कार्य यहाँ का नेपाली साहित्य संमेलन कर रहा है। महत्त्वपूर्ण जीवनचरितों में श्री सूर्य्यविक्रमज्ञ द्वारा प्रणीत 'पृथ्वीनारायण शाह' अपने ढंग का अनूठा ग्रंथ है! गद्य के रूप में इसकी विशेषता तो है ही, यह नेपाली भाषा में शोधपूर्ण ऐतिहासिक ढंग की प्रथम जीवनी है। विक्रम बाबू नेपाली साहित्य सेवियों में अग्रणी हैं। दार्जिलिंग का साहित्यिक वायुमंडल इनके और पारसनाथ प्रधान तथा पं० धरणीधर जी के कारण ही है। इन तीनों ने अपने अपने क्षेत्र में नेपाली साहित्य की बहुमूल्य सेवा की है। धरणीधर जी के 'नैवेद्य' तथा 'स्पंदन' स्फुट कविताओं के दो संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। काशी में नेपाली पुस्तकों का प्रकाशन बहुत पहिले से होता रहा है पर इनमें धार्मिक ग्रंथ ही अधिक रहते हैं। सोमनाथ तथा केदारनाथ जी ने रामाश्वमेध तथा महाभारत का पद्यात्मक अनुवाद नेपाली में किया है। इधर गल्प लिखने की प्रवृत्ति भी दृष्टिगोचर हुई है, और अनेक उदीयमान लेखक इस क्षेत्र में अवतीर्ण हो रहे हैं। नेपाली साहित्य में जो नूतन विचारधारा काम कर रही है उसकी अभिव्यक्ति इसी माध्यम द्वारा हो रही है।

वर्तमान युग में साहित्य को समाचारपत्रों से सर्वथा पृथक् नहीं किया जा सकता। वस्तुतः समाचारपत्र भाषा की समृद्धि में विशेष सहायक तो होते ही हैं, वे प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रूप से साहित्य-निर्माण में भी योग देते रहते हैं। इन साठ वर्षों में नेपाली भाषा ने जो स्थिरता तथा स्वरूप प्राप्त किया है, उसका श्रेय बहुत अंशों में इन समाचारपत्रों को है। ये पत्र नेपाल में काठमांडू से तो निकलते ही रहे, काशी, दार्जिलिंग, पटना से भी निकले या निकल रहे हैं। इनमें काशी से सं० १६८४ में निकलनेवाला 'गोर्खाली' विशेष युगकारी रहा। काठमांडू से प्रकाशित होनेवाली पत्रिकाओं में 'शारदा' मासिक पत्रिका का विशेष स्थान रहा है। इसके द्वारा साहित्य की विभिन्न प्रवृत्तियों को जितनी अधिक सुविधा प्राप्त हुई उतनी संभवतः किसी अन्य पत्र द्वारा नहीं। अनेक अच्छे लेखक इस पत्रिका के माध्यम से साहित्य में अवतीर्ण हुए। इसके प्रथम संपादक प्रेमराज रहे। उनके 'भूणे पंडित' के उपनाम से लिखे हुए व्यंग्यात्मक लेखों की चुभती हुई भाषा और सामाजिक तथा राजनीतिक विषयों की समीक्षा बड़ी आकर्षक हुआ करती थी। उनके प्रयत्नों से अनेक नवीन गल्प तथा गद्य लेखक अवतीर्ण हुए। हेमचंद्र सिंह का 'पाँच रुपया को नोट', तथा डा० भवानीप्रसाद की 'यौवन को आँधी' सुंदर रचनाएँ हैं। विश्वेश्वरप्रसाद जी भी गल्प लेखन में दक्ष हैं और इनकी शैली में स्वाभाविक मिठास है। अन्य कवियों में गोपालदास, सिद्धिचरण, मधुकांत प्रभृति उल्लेखनीय हैं। नई भावना को लेकर आगे बढ़नेवाले इन कवियों में नैसर्गिक प्रतिभा है और समय के साथ इनकी कला का तादात्म्य है। गद्य के लेखकों में पुष्कर शमशेर जी का भी प्रमुख स्थान है।

काशी विश्वविद्यालय में अध्ययन के हेतु नेपाल का छात्रवर्ग आता रहता है। इनकी ओर से विगत दो वर्षों से एक वार्षिक पत्रिका 'छात्र' नाम से निकल रही है। इनमें भी अनेक प्रतिभावान् लेखक हैं। इसी प्रकार काशी से कई अन्य पत्र समय समय पर निकले। आर्थिक कष्ट के कारण अनेक पत्र शीघ्र बंद भी हो गए पर साहित्य की पर्याप्त सेवा इनके द्वारा हुई, इसमें संदेह नहीं। गद्य के लिये जितना प्रशस्त मार्ग इन पत्रों ने प्रस्तुत किया उतना अन्य उपायों से होना कठिन था। इस प्रसंग में काशी से प्रकाशित 'गोर्खाली' का उल्लेख तथा उसके संपादक स्व० देवीप्रसाद सापकोटा का स्मरण उचित ही है। इस पत्र ने नेपाली गद्य शैली को उन्नत करने में पर्याप्त सहायता दी। जहाँ इस पत्र द्वारा राजनीतिक चेतना जाग्रत होती गई, वहीं इसने नेपाली भाषा के स्वरूप को स्थिर करने में भी महत्वपूर्ण योग दिया। कालांतर में आर्थिक कठिनाई के कारण यह साप्ताहिक बंद हो गया। पिछले चार वर्षों में हुई क्रांति के साथ साथ अनेक स्थानों से कई पत्र निकले जिनमें काशी की 'युगवाणी' नेपाली कांग्रेस की नीति की समर्थक होने के कारण प्रमुख थी। यहीं से निकलनेवाला 'उदय' भी उल्लेखनीय है। इसी प्रकार पटना, दार्जिलिंग, वीरगंज, कलकत्ता इलाहाबाद से भी पत्र निकलने लगे। उक्त पत्रों द्वारा अनेक प्रतिभाशाली लेखक साहित्य में अवतीर्ण हो चुके हैं। नेपाली साहित्य के संवर्धन में इनका आगे चलकर विशेष योगदान होगा इसमें संदेह नहीं।

ज्यों ज्यों समाज बौद्धिक क्षेत्र में अग्रसर होता जाता है, साहित्य द्वारा उसकी आत्मा की अभिव्यक्ति होती जाती है। नेपाल निरंकुशता से उन्मुक्त होकर प्रजातांत्रिक

राजतंत्र के सहारे राष्ट्रीय जीवन के विकास की ओर अग्रसर हो रहा है, और इसमें संदेह नहीं कि साहित्य इस स्थिति में पूर्वापेक्षा अत्यधिक द्रुतगति से परिपुष्ट होता जायगा। साहित्य सृजन में राष्ट्रीय चेतना का बड़ा बल रहता है। देश का साहित्य वहाँ के निवासियों के बीच पारस्परिक सामाजिक दृढ़ता के अनंतर अधिक विकसित हुआ करता है। नेपाली साहित्य के विकास के लिये जिस स्फूर्ति तथा प्रोत्साहन की अपेक्षा है वह अब सहज ही प्राप्त होगा और साहित्य का निर्माण पूर्वापेक्षा शीघ्रता से होगा इससे संदेह नहीं।

ऐतिहासिक दृष्टि से पृथ्वीनारायण शाह द्वारा काठमांडू विजय के पश्चात् ही नेपाल का एकीकरण हुआ, और उसी समय से नेपाल में साहित्यिक चेतना का आविर्भाव हुआ। भानुभक्त इसके आदि प्रतीक थे। उनका 'रामायण' नेपाल के साहित्य का बीज रूप है। इसके पूर्व रघुनाथ रचित सुंदरकांड रामायण लिखा जा चुका था। फिर भी भानुभक्त के पूर्व साहित्य क्षेत्र प्रायः शून्य ही था। काव्य दृष्टि से भी भानुभक्त का रामायण सरस पदावलीयुक्त मनोहर काव्य है। राणाशाही का समय जनता के अनुकूल न था। राजनीतिक जाग्रति तो थी ही नहीं और यदा कदा यदि इसकी कहीं गंध भी मिल गई तो उसके दमन में कुछ उठा नहीं रखा जाता था। ऐसी अवस्था में साहित्य केवल काव्यरचना तक सीमित था। विद्वानों के लिये काव्यरचना एक चमत्कार होती है। नेपाली की पूर्वस्थिति कुछ ऐसी ही थी। प्राचीन कवि इसी भावनावश काव्यरचना करते थे। शब्दों का माधुर्य, अलंकारों की प्रचुरता, छंदों की विशेषता, रचना की कुशलता इत्यादि गुणों का प्रदर्शन ही उन्हें इष्ट था। विषय या तो स्फुट समस्यापूर्ति अथवा पौराणिक क्षेत्र का हुआ करता था। संस्कृत के आधार पर रचना होती थी। प्रथम महायुद्ध तक नेपाल एक प्रकार से शेष जगत् से पृथक् रहा। प्रथम महायुद्ध के पूर्वापर काल में वहाँ का शासन कुशल तथा कूटज्ञ राणा चंद्रशमशेर के हाथ में था। साहित्यिक प्रगति के लिये न प्रोत्साहन था और न आकर्षण। इन्हीं के समय में एक साधारण सी पुस्तिका 'मकई की खेती' के प्रकाशन ने तहलका मचा दिया था। इसके लेखक को कठोर कारावास हुआ तथा पुस्तक जब्त हो गई। साहित्य के मार्ग में ३५ या ४० वर्ष पूर्व नेपाल में क्या कठिनाई थी, इसका संकेत इसी एक घटना से मिल सकता है। पर चेतना का प्रवाह रुकता नहीं। प्रथम महायुद्ध में सहस्रों की संख्या में गोरखा सिपाही विदेशों में गए और जो स्वदेश लौटकर आए वे अपने साथ कुछ नई स्मृतियाँ तथा कुछ नए अनुभव लेकर लौटे। भारत में तदनंतर होनेवाले आंदोलनों से भी नेपाल को प्रेरणा मिलती रही। नेपाली साहित्य की दूसरी प्रगति प्रथम महायुद्ध के पश्चात् प्रारंभ होती है और इसकी समाप्ति दो वर्ष पूर्व हुए जनक्रांति के साथ होती है। इस दृष्टि से साहित्यिक विकास को तीन खंडों में बाँटा जा सकता है।

(१) भानुभक्त से लेकर वीर शमशेर के शासनारुढ़ होने तक—१८१४-१८९० ई०

(२) वीर शमशेर से प्रथम महायुद्ध तक—१८९०-१९१९ ई०

(३) १९१९ ई० के अनंतर

इनमें प्रथम तो केवल कविता का काल है जिसमें विनोद तथा उपदेश की प्रधानता थी। कविता का संपर्क राज-दरबार से अधिक था। कवि का गुण शीघ्र रचना

शक्ति समझी जाती रही। चंद्र शमशेर के समय में शंभुप्रसाद ऐसे ही आशु कवि थे। कविता द्वारा शिष्ट समाज में ख्याति प्राप्त करना ही उनका उद्देश्य था। इस दृष्टि से कविता करनेवालों की कमी न थी। मरीचमान काजी प्रभृति समृद्ध तथा कुशल राजसेवी केवल प्रतिष्ठाप्राप्ति के लिये इधर अग्रसर होते थे।

धीरे धीरे इस भाव में परिवर्तन हुआ। ज्यों ज्यों जाग्रति बढ़ती गई और नेपाल का संपर्क आधुनिक जगत् से बढ़ता गया, साहित्यिक चेतना में वृद्धि होती गई। इसका प्रत्यक्ष परिणाम पत्रों का आविर्भाव है जिससे गद्य को प्रोत्साहन मिला। ऊपर गद्य लेखकों का उल्लेख हो चुका है। गद्य की अपनी विशेषता होती है। वह जनता की भाषा है और उसके द्वारा जनता से न केवल संपर्क ही बनाया जाता है, अपितु जनता के विचार तथा भाव उसी के द्वारा बनाए बिगाड़े भी जा सकते हैं। नेपाल में काठमांडू तथा भारत में काशी तथा दार्जिलिंग में नेपालियों ने पत्र-प्रकाशन आरंभ किया और इस प्रकार साहित्यिक प्रगति का दूसरा अध्याय प्रारंभ हुआ। चक्रपाणि, शिवप्रताप शमशेर, ऋद्धि बहादुर, पुष्कर शमशेर, बाबूराम आचार्य, गुरुप्रसाद कैनाली प्रभृति इस प्रसंग में स्मरणीय हैं। इस प्रकार काव्य, आख्यायिका, गल्प, निबंध, अर्थात् प्रायः प्रत्येक क्षेत्र में गत तीस वर्षों में नेपाली साहित्य शनैः शनैः गतिमान होता जा रहा है। भाषा की दृष्टि से नेपाली में एक सहज मधुरिमा है। इसमें व्यंजना शक्ति विशेष रूप से है; न शब्दों की कमी है और न मुहावरों का अभाव। संस्कृत का भांडार इसका अपना तो है ही, इसमें सहस्रों फारसी तथा अन्य भाषाओं के शब्द भी हैं। आधुनिक विचारों का विस्तार, बौद्धिक उन्नति, जीवनस्तर की वृद्धि, शिक्षा का प्रसार नेपाली साहित्य के उत्थान में सहायक हो रहे हैं। नेपाल में जनतंत्र का प्रारंभ एक नए युग का संदेश साहित्य में व्यक्त कर रहा है। इस संदेश में नव नेपाल के लिये प्रेरणात्मक आह्वान है। नेपाल का साधारण नागरिक निरक्षरता तथा दारिद्र्य से आक्रांत है। ऐसी परिस्थिति में यह स्वाभाविक है कि लेखकों का ध्यान इस ओर आकृष्ट हो और वे इससे प्रभावित होकर समाज को नूतन दिशा की ओर ले जाने की चेष्टा करें। इस प्रकार का प्रयत्न वैसे लेखकों में अधिक दृष्टिगोचर होता है जिनका दृष्टिकोण साम्यवादी है। इस प्रकार नेपाली साहित्य की नवीनतम प्रवृत्ति की एक धारा साम्यवाद की ओर स्पष्ट रूप से अग्रसर हो रही है। नेपाल और चीन का सान्निध्य भी इस प्रवृत्ति को पुष्ट करता है। वाङ् क्षेत्र के उपन्यासों को यदि नेपाली साहित्य का आधुनिकतम रूप कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी। इनमें आदर्शोन्मुख सुधार की अपेक्षा सामाजिक विषमता तथा अन्याय के प्रति विद्रोह की भावना अधिक है और साहित्य का उद्देश्य ही क्रांतिमूलक है। इस प्रकार नेपाली साहित्य का क्षेत्र सीमित होते हुए भी पूर्वापर प्राचीन तथा नवीन दोनों प्रवृत्तियों को स्पर्श कर रहा है। इस नवीन प्रवृत्ति का साक्षात्कार उदीयमान साहित्यकार गोविंदप्रसाद मोहिनी तथा कृष्णचंद्र की रचनाओं में स्पष्ट रूप से किया जा सकता है।

—गणेशदत्त शास्त्री

आधुनिक यूरोपीय साहित्य

यूरोपीय महाद्वीप का विशाल भूभाग अनेक देशों में विभक्त है। इन देशों की अपनी अलग-अलग राजनीतिक सत्ता और शासन-व्यवस्था है तथा इतिहास इनके पृथक् अस्तित्व का सूचक है। पूर्व से पश्चिम तक अथवा उत्तर से दक्षिण तक यूरप की यात्रा करने पर विविधता का आभास सरलतापूर्वक मिल जाता है। भौगोलिक विशेषताओं के अतिरिक्त लोगों की रहन-सहन, उनकी बोली तथा उनकी सभ्यता के स्तर में अंतर दिखाई पड़ता है। ये देश प्राचीन काल से लेकर आज तक कभी आपस में लड़ते और कभी मैत्री के सूत्र में बँधकर संगठित होते रहे हैं। इससे भी इनकी पृथक् और स्वतंत्र सत्ता ही सिद्ध होती है। आधुनिक युग में देश-प्रेम से प्रभावित होकर प्रत्येक देश के निवासी अपने को एक राष्ट्र-विशेष के सदस्य मानकर दूसरों से अपना विभेद करते हैं। विभिन्न राष्ट्रों के हितों में विरोध और संघर्ष के कारण ही यूरोपीय इतिहास के पिछले चालीस वर्षों में दो महासमर हो चुके हैं। किंतु इस प्रकार के विरोध और विविधता के होते हुए भी यूरोपीय जीवन और विचार-पद्धति में एक छिपी हुई एकता विद्यमान है। सभी देशों की सभ्यता के मूल-स्रोत एक हैं। एक सिरे से दूसरे सिरे तक यूरोपीय संस्कृति ग्रीस और रोम के प्राचीन दार्शनिक तथा सांस्कृतिक आदर्शों पर आधारित है। मध्य-युग की धर्म-परायणता ने प्रायः समान रूप से सभी देशों को प्रभावित किया है। इसी प्रकार पंद्रहवीं और सोलहवीं शताब्दी के नवजागरण और अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी में होनेवाली फ्रांस की क्रांति ने लगभग समस्त योरोप की विचार-परंपरा में आमूल परिवर्तन उत्पन्न करके उसे एक नवीन गति तथा दिशा प्रदान किया। अतीत काल में यूरोप में ऐसे विस्तृत साम्राज्य हो चुके हैं जिनके अंतर्गत अनेक देशों का समावेश था और एक ही शासन-व्यवस्था में अनेक शताब्दियों तक रहने के कारण उनके जीवन में गहरे साम्य का आविर्भाव हुआ। अतः यूरोपीय जीवन और संस्कृति पर विचार करते हुए एकता तथा वैविध्य एवं साम्य तथा विरोध की कल्पना साथ ही साथ करनी पड़ती है।

यूरोपीय राष्ट्रों में आपसी झगड़े होने पर भी परस्पर सांस्कृतिक साम्य तथा संबंध बना हुआ है, यह बात आधुनिक यूरोपीय साहित्य की गतिविधि का निरीक्षण करने पर सहज ही स्पष्ट हो जाती है। पिछले एक सौ पचास वर्षों में साहित्य के जो आंदोलन यूरोप में प्रकट हुए हैं उनका प्रभाव एक ही साथ प्रायः सभी प्रमुख देशों में लक्षित हुआ है। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारंभ की रोमांटिक विचार-धारा ने इंग्लैंड, फ्रांस, जर्मनी, स्पेन, इटली इत्यादि सभी देशों में एक प्रबल साहित्यिक क्रांति उत्पन्न कर दी। इस शताब्दी के उत्तरार्द्ध में यथार्थवाद तथा प्रतीकवाद ने क्रमशः कुछ न कुछ यूरोप के प्रायः सभी देशों में साहित्य का एक नवीन रूप प्रस्तुत किया। आज भी प्रायः सभी देशों में यथार्थवादी लेखक तथा प्रतीकवादी कवि मौजूद हैं। बीसवीं शताब्दी के साहित्यिक आंदोलनों का विस्तार भी प्रायः उतना ही विशद रहा है। उदाहरण के लिये हम नवीन मनोविज्ञान

अथवा मार्क्सवाद के प्रभाव को ले सकते हैं। सभी देशों में उपन्यास और कहानी लिखने की कला पर नवीन मनोविज्ञान की स्थापनाओं का असर पड़ा है। कथाकार जीवन के बाह्य उपकरणों के निरूपण मात्र से संतुष्ट न होकर अब चेतन मन की गहराई में प्रविष्ट होना चाहता है। साम्यवादी यथार्थवाद ने कथा-साहित्य और आंशिक रूप में कविता को भी प्रभावित किया है। इनके अतिरिक्त अन्य आंदोलनों के भी कुछ न कुछ लक्षण साथ ही साथ अनेक देशों में प्रकट हुए हैं। अभिव्यंजनावाद की विशेषताएँ फ्रांस, जर्मनी, इटली इंगलैंड आदि की कला, नाटक तथा काव्य में किसी न किसी अंश में प्रायः एक ही युग में परिलक्षित हुईं। लगभग यही स्थिति सर-रियलिज्म अर्थात् अति-यथार्थवाद तथा एग्जिस्टेंशियलिज्म अर्थात् अस्तित्ववाद की भी है।

इस साम्य को ध्यान में रखते हुए यूरोप के अनेक देशों के आधुनिक साहित्य का अवलोकन हम एक साथ कर सकते हैं। बिना ऐसा किए वर्त्तमान काल के किसी भी साहित्यिक आंदोलन का सम्यक् मूल्यांकन सरल नहीं होगा। इसी अर्थ में हम यूरोपीय साहित्य की चर्चा करते हैं। प्रत्येक देश का अपना निजी साहित्य है किंतु जब हम इन साहित्यों का निरीक्षण सामूहिक रूप से करते हैं तब हम अनेकता से कुछ ऊपर उठकर एकता की खोज करते हैं। जैसा हम पहले कह चुके हैं, एकता के सूत्र निहित हैं, अतः उनका ढूँढ़ निकालना बहुत कठिन नहीं है। आवश्यकता इस बात की है कि हम विभिन्न देशों की साहित्यिक विशेषताओं को तुलनात्मक ढंग से ग्रहण करें। अध्ययन और विवेचन की यह पद्धति सिद्ध कर देगी कि यूरोपीय साहित्य की कल्पना सम्यक् तथा समीचीन है। इसी दृष्टिकोण से अब हम आधुनिक युग में यूरोप के प्रमुख देशों के साहित्यिक विकास का दिग्दर्शन कराने का प्रयास करेंगे। कोई ऐसी एक तिथि नहीं है जिससे हम यूरोप के सभी देशों में आधुनिक युग का प्रारंभ मानें। इटली का एकीकरण सन् १८६१ ई० में हुआ और तभी से उस देश में आधुनिकता का प्रारंभ मान सकते हैं। फ्रांस और जर्मनी में आधुनिक युग का प्रारंभ सन् १८७० ई० में फ्रांको-प्रसन युद्ध की परिसमाप्ति से मानना पड़ेगा। तात्पर्य यह है कि किसी एक तिथि का ढूँढ़ निकालना संभव नहीं है। तब भी यह माना जा सकता है कि उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य के उपरांत, कुछ आगे अथवा कुछ पीछे, सभी देशों में नवीन युग का प्रारंभ हो गया। इस नवीनता की परिपाटी आज तक अविच्छिन्न रूप से चली आ रही है, यद्यपि नित्य नवीन प्रभावों के कारण नवीनता की रूपरेखा भी बदलती जा रही है। हम इस लेख में इन प्रभावों तथा परिवर्तनों का उल्लेख यथास्थान करेंगे।

(१)

उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में फ्रांसीसी साहित्य पूर्ण रूप से रोमांटिक विचारधारा से प्रभावित हुआ। अतः कविता, नाटक, उपन्यास सभी कल्पना और भावना से ओतप्रोत थे। इस शताब्दी के मध्य में रोमांटिक साहित्य के विरुद्ध प्रतिक्रिया प्रारंभ हो गई। बालज़ाक ने अपनी महत्वपूर्ण कृतियों में सामाजिक जीवन तथा उसकी समस्याओं का यथार्थ

निरूपण किया। मध्य युग में दांते ने 'डिवाइन कमेडी' नामक महान् काव्य रचकर स्वर्ग और नरक का चित्र उपस्थित किया था। उन्नीसवीं शताब्दी में परिस्थिति बदल गई थी और देवताओं की अपेक्षा मानव-प्राणियों का महत्व बहुत बढ़ गया था। अतएव बालज़ाक ने 'ह्यूमन कमेडी' लिखा तथा अपने अन्य उपन्यासों में मानव जीवन का विराट् चित्र अंकित किया। कल्पना का सहारा छोड़कर बालज़ाक यथार्थ की ओर अधिकाधिक आकृष्ट हुए। तब भी उनकी कला में कल्पना और आदर्श का एक हलका पुट सदा छिपा हुआ मौजूद रहता है। फ्लाबर्ट भी एक प्रसिद्ध कलाकार थे जिनके मन में यथार्थ के प्रति स्वाभाविक आग्रह प्रारंभ से अंत तक सदा विद्यमान था किंतु कल्पना का एक हल्का रंग उनकी कहानियों में भी निरंतर दिखाई देता है। यथार्थवाद का शुद्ध स्वरूप १८७० के उपरांत ही आविर्भूत हुआ। यह तिथि फ्रांसीसी इतिहास में अपना विशेष महत्व रखती है। बिस्मार्क की कूटनीति के प्रभाव से फ्रांस जर्मनी द्वारा युद्ध में पराजित हुआ। किंतु इतने पर भी साहित्य और कला के क्षेत्र में उसकी प्रमुखता कम नहीं हुई और वह यूरोप के अन्य देशों को अपने साहित्य तथा सभ्यता द्वारा प्रेरणा प्रदान करता रहा। इसी तिथि से हम आधुनिक फ्रांसीसी साहित्य का प्रारंभ मान सकते हैं। इस प्रारंभिक काल में भौतिक दर्शन तथा वैज्ञानिक विचार सर्वग्राह्य हुए। डारविन का विकासवाद, कांटे का वैज्ञानिक दर्शन तथा टेन का निश्चयवाद सभी मिलकर फ्रांसीसी विचार-परंपरा को एक ही दिशा में मोड़ रहे थे। रिनान ने आदर्श-मूलक विचार-पद्धति को बल प्रदान करने का प्रयत्न किया किंतु वह केवल सीमित सफलता प्राप्त कर सका। अतः लोगों का ध्यान जीवन और कला में परोक्ष की जगह प्रत्यक्ष तथा कल्पना की जगह यथार्थ की ओर अधिकाधिक खिंचने लगा। इस नवीन प्रवृत्ति का पर्यवसान साहित्य के क्षेत्र में ज़ोला और उसके अनुयायियों के उपन्यासों द्वारा हुआ। किंतु इसका प्रभाव कविता के क्षेत्र में भी देखा जा सकता है। इस युग के प्रमुख कवि अपने को प्रारनेसियन्स की उपाधि देते थे और उनके नेता थे लिस्ली महोदय। ये लोग कल्पना का सहारा छोड़कर निष्पक्ष तथा निरपेक्ष रूप से वस्तुओं का शब्दों द्वारा अंकन करते थे, मानो कोई चित्रकार लकीरों द्वारा किसी पदार्थ का रूप खड़ा कर रहा है। ज़ोला ने यथार्थवाद की प्रवृत्ति को पराकाष्ठा तक पहुँचाया और उसको प्रकृतिवाद की नवीन संज्ञा मिली। ज़ोला को नवीन वैज्ञानिक विचारधारा तथा वैज्ञानिक प्रयोगों से प्रेरणा मिली और उसने घोषित किया कि कथाकार सूक्ष्म तत्वों की उसी तरह खोज करता है जैसे वैज्ञानिक। इन तत्वों को एकत्र करके ही वह किसी वस्तु अथवा परिस्थिति का यथार्थ रूप प्रस्तुत करता है। वह यथार्थ चित्रण का बहुत बड़ा हिमायती था और यह मानता था कि लेखक को यथार्थ का स्वरूप उसी तरह बिना परिवर्तन के उपस्थित करना चाहिए जैसे कैमरा द्वारा लकीरें खींची जाती हैं। ज़ोला के प्रयोगात्मक उपन्यासों में यथार्थ के नाम पर सामाजिक बुराइयों, कुरीतियों तथा जीवन की गंदगी का नग्न स्वरूप दिखाई देता है क्योंकि उनका विश्वास था कि वैयक्तिक और सामाजिक जीवन में यही सचाई का सबसे प्रमुख अंश है। ज़ोला के सहकारी और अनुयायी गोनकर्ट, डाडेट, मोपाँसा प्रभृति कथाकार इसी विचार-पद्धति से प्रेरित थे। अतः उनकी कृतियाँ भी यथार्थवाद और प्रकृतिवाद से स्पष्टरूपेण प्रभावित

थीं। ड्यूमास के सुखांत नाटक भी यथार्थवादी प्रवृत्ति के ही द्योतक हैं क्योंकि उनमें फ्रांस के सुसंस्कृत तथा संपन्न वर्ग के सामाजिक जीवन का वास्तविक निरूपण मिलता है।

सन् १८८५ के उपरांत परिवर्तन के चिह्न दृष्टिगोचर होने लगे। विज्ञान के प्रति लोगों के मन में जो आस्था उत्पन्न हो गई थी उसमें कमी आ गई क्योंकि यह स्पष्ट हो गया कि विज्ञान तथा वैज्ञानिक विचारों की सत्ता भी केवल सापेक्ष है। विज्ञान ने बहुत बड़े कार्य किए थे किंतु अब यह अवगत होने लगा कि वह किसी समस्या का अंतिम हल नहीं प्रदान कर सकता और उसके निष्कर्ष भी बदलते रहते हैं। साथ ही साथ हेगेल तथा शापेनहावर के आदर्शमूलक दर्शन का प्रचलन बढ़ने लगा। इसी काल में प्रसिद्ध फ्रांसीसी दार्शनिक बर्गसाँ के विचार का प्रकाशन प्रारंभ हुआ और इससे जर्मन दार्शनिकों की विचार-परंपरा का ही बहुत कुछ समर्थन हुआ। कविता, जो रोमांटिक युग के बाद फ्रांस में बहुत कुछ तिरस्कृत थी, फिर नवीन सौंदर्य और महत्त्व के साथ उच्चतम पद पर आसीन हुई। हम कह सकते हैं कि जिस प्रकार यथार्थवाद का युग मुख्यतः कथा-साहित्य का युग था उसी प्रकार सन् १८८५ ई० के पश्चात् प्रारंभ होनेवाला प्रतीकवाद का युग मुख्यतः कविता के प्राधान्य का काल था। प्रतीकवाद का प्रारंभ बहुत पहले ही वाडेलियर की कविता में हो चुका था। रिंबाड, जिरर्ड डी नर्वल आदि प्रतीकवादियों ने १८८५ के पूर्व ही महत्वपूर्ण काव्य निर्माण का कार्य किया था। उन्होंने अपनी रहस्यमूलक भावनाओं को नवीन प्रतीकों द्वारा व्यक्त करने का सफल प्रयास किया और इस भाँति अपने बाद होनेवाले प्रतीकवादियों के लिये राह तैयार की। सन् १८८५ के पश्चात् इस आंदोलन ने जोर पकड़ा और वर्लेन तथा मलार्न के नेतृत्व में यह देशव्यापी हो गया। वर्लेन की कविता में प्रतीकों के होते हुए भी सरलता और मिठास थी। अतएव उसकी तुलना कभी कभी विहंगों के कलरव से की जाती है। मेलार्न की कला अधिक जटिल और सूक्ष्म थी। उसने कविता को संगीत के अधिकाधिक निकट लाने का प्रयत्न किया। उसके लिये काव्य-सृजन संगीतमय आराधना का ही एक रूप था। प्रतीकों के प्रचुर प्रयोग तथा आध्यात्मिक अनुभवों की रहस्यात्मकता के कारण प्रतीकवादियों की कविता कहीं कहीं अत्यंत क्लिष्ट हो गई है, किंतु तब भी उसमें एक विशेष प्रकार का चमत्कार है। २० वीं शताब्दी में भी कई उच्च कोटि के प्रतीकवादी कवि फ्रांस में हुए हैं। उनमें से कुछ का उल्लेख हम आगे चलकर करेंगे। नाटकों में भी प्रतीकत्व का समावेश हुआ। इस प्रकार के नाटकों का सबसे अच्छा उदाहरण मेटरलिंक की रचनाओं में मिला है। इस काल के सबसे बड़े उपन्यासकार अनातोले फ्रांस और पियरेलोटी ने मनोविश्लेषण की नवीन परिपाटी स्वीकार करके यथार्थवाद की प्रचलित परंपरा को बहुत कुछ बदल दिया। २०वीं शताब्दी में विकसित होनेवाली उपन्यास निर्माण की मनोवैज्ञानिक शैली का प्रारंभ हम यहीं से मान सकते हैं। आलोचना के क्षेत्र में बुनेटियर ने क्लासिकल सिद्धांतों के अभ्युदय के लिये अथक प्रयत्न किया और सार्सी ने नाटकों की साफ और सुंदर बनावट के लिये अनेक नियमों का प्रतिपादन किया। १६ वीं शताब्दी का अंत होने के पूर्व ही पेरिस में उन प्रसिद्ध नाट्यगृहों का निर्माण हुआ जिनमें पहले पहल इब्सेन और हाफमन के यथार्थवादी नाटकों तथा मेटरलिंक के प्रतीकवादी नाटकों का अभिनय सफलतापूर्वक हो सका।

वर्तमान शताब्दी के प्रथम वर्षों में ड्रेफस के प्रसिद्ध मामले को लेकर फ्रांसीसी साहित्यिकों में आपस में घोर मतभेद उत्पन्न हुआ। एक समुदाय उदार राजनीतिक विचारों का समर्थक था और दूसरा अपरिवर्तनशील। इन विरोधी समुदायों का संघर्ष साहित्य में भी प्रकट हुआ। लेखकों का एक दल समाजवाद की ओर भी झुका। इस संप्रदाय के सबसे बड़े प्रतिनिधि थे जार्ज सारेल, जिन्होंने बर्गसाँ और मार्क्स के दार्शनिक विचारों में समन्वय उपस्थित करते हुए क्रांति को अत्यंत वांछनीय बताया। प्रथम यूरोपीय महायुद्ध के पूर्व के वर्षों में फ्रांसीसी विचार और साहित्य बर्गसाँ के दर्शन से प्रभावित था। बर्गसाँ ने मन की क्रियात्मक शक्ति और सहज ज्ञान के महत्व को गंभीरतापूर्वक प्रतिपादित किया और इस प्रकार वैज्ञानिक तथा तर्क-प्रधान विचारों की बाढ़ का अपने चिंतन द्वारा अवरोध किया। उसके विचारों की छाप इस काल के फ्रांसीसी साहित्य में अमिट रूप से वर्तमान है। प्रतीकवादियों के विरोध में कई विचारधाराओं के लोगों ने अपनी आवाज उठाई। क्लासीसिज्म के समर्थक प्रतीकवादियों की अस्पष्टता से असंतुष्ट होकर सफाई और सादगी की आवश्यकता पर बल दे रहे थे। पार्निसियन कवियों की कविता के प्रेमी भी सादगी की ही आकांक्षा करते थे और यथार्थवादी वास्तविक तथ्यों के महत्व को घोषित करने में संलग्न थे। इनमें से किसी को भी पूरी सफलता नहीं मिली और फ्रांसीसी कविता में प्रतीकों का प्रयोग बराबर होता रहा। इस युग के सबसे प्रसिद्ध कवि थे क्लाडेल और एपालिनेयर। क्लाडेल रोमन कैथोलिक था। उसकी कविता में शक्ति और सौंदर्य का विचित्र मिश्रण है। उसने गंभीर विषयों पर लिखा है और उसके काव्य का स्वर भी उतना ही गंभीर और उच्च है। एपालिनेयर ने छंद और लय के संबंध में नवीन प्रयोग किए। उसकी शैली में सफाई की अपेक्षा चमत्कार का ही अंश अधिक है। उसकी अनेक कविताओं में एक छिपा हुआ दर्द मौजूद रहता है जिससे एक विचित्र कोमलता और मिठास का आभास मिलता है। २० वीं शताब्दी के पहले दस बारह वर्षों में बहुसंख्यक उपन्यास और नाटक लिखे गए किंतु प्रतिभासंपन्न लेखकों के अभाव के कारण इन कृतियों का कुछ विशेष महत्व नहीं है। रोम्यारोलाँ के उपन्यासों का विदेश में अधिक स्वागत हुआ किंतु फ्रांस में उनको विशेष महत्व नहीं मिला। १९१२ के लगभग प्राउस्ट ने साहित्य के क्षेत्र में प्रवेश किया और उसी समय पाल वेलरी की प्रारंभिक कविताएँ सर्वप्रथम प्रकाशित हुईं। उपन्यास और कविता के क्षेत्र में आगे चलकर इन दो महान साहित्यिकों ने अपार यश अर्जित किया। उनके आगमन के साथ साथ फ्रांस में एक नवीन साहित्यिक जाग्रति का अनुभव होने लगा किंतु महासमर छिड़ जाने से उसके विकास में विघ्न उत्पन्न हुआ। युद्ध-काल में देश घोर संकट का सामना कर रहा था अतः साहित्य-निर्माण के लिये न किसी को अवकाश था और न परिस्थिति ही अनुकूल थी।

प्रथम महासमर के उपरांत भी बर्गसाँ के दार्शनिक विचारों का प्रभाव अक्षुण्ण बना रहा और साहित्य को प्रभावित करता रहा। उसके साथ ही साथ एक दूसरे दार्शनिक मेरिटेन का नाम भी उल्लेखनीय है। मेरिटेन के मानवतावादी दर्शन का प्रभाव भी युद्ध के बाद के वर्षों में अत्यंत विस्तृत था। युद्धोत्तर काल में कथा-साहित्य का अप्रत्याशित विकास हुआ। प्राउस्ट और उसके अनुयायिओं ने मन की क्रियाओं और अवस्थाओं के

निरूपण के अभिप्राय से उपन्यासों का सफल निर्माण किया। यह एक नवीन आंदोलन था जिसका प्रभाव यूरोप के अन्य देशों के कथा-साहित्य पर भी यथासमय पड़ा। अतः प्रायः २० वर्ष तक यूरोपीय उपन्यास बाह्य तत्वों से हटकर मुख्यरूपेण अंतर्मुखी हो गया। कुछ अन्य लेखकों ने बालज़क के समाजवादी उपन्यासों के आदर्श पर अपनी रचनाओं का निर्माण किया। जीड इस युग के एक प्रमुख साहित्यकार थे। यद्यपि इन्होंने कुछ उपन्यास और नाटक भी लिखे हैं तथापि उनकी प्रतिभा निबंधों तथा छोटी कहानियों में ही सबसे अधिक विकसित हुई और प्रधानतः हम उनको विचारक के रूप में ही आदर प्रदान कर सकते हैं। मनोविज्ञान से नाटक भी प्रभावित हुए। इस काल के प्रमुख नाटककार क्लाडेल और काक्टू ने प्राचीन दुःखांत नाटकों की कथाओं को लेकर मनोविज्ञान तथा मनोविश्लेषण के सहारे उनका नवीन रूप प्रस्तुत किया। नाटकों और नाट्यशालाओं दोनों के लिये यह नवीन प्रयोग का युग था। कोपू ने अंग्रेजी, जर्मन, तथा रूसी नाट्यशालाओं की नवीन शैलियों से प्रभावित होकर फ्रांसीसी नाट्यशाला में भी नवीन विधान की व्यवस्था की। काक्टू के नाटक अत्यंत प्रयोगात्मक हैं। सुखांत नाटकों में कोई विशेष नवीनता प्रादुर्भूत नहीं हुई। उनका चरम उद्देश्य हँसना-हँसाना ही बना रहा। कविता के क्षेत्र में सबसे उल्लेखनीय नाम पालवेलरी का है। वह आधुनिक युग के सबसे बड़े फ्रांसीसी कवि माने जाते हैं। और उनका यश अमर है। वेलरी ने अपनी कविता में क्लासिकल, पारनेसियन तथा प्रतीकवादी शैलियों को मिलाकर प्रभाव उत्पन्न करने की एक आश्चर्यजनक शक्ति उत्पन्न कर दी है। उनकी कविता रहस्योन्मुख है और उनके प्रतीक नवीनता और सौंदर्य से समन्वित होते हैं। क्लाडेल ने भी नाटकों के अतिरिक्त कविताएँ लिखी हैं। सेंट जे पर्सी की छोटी छोटी सुंदर कविताएँ अपने निर्माण काल में ही अत्यंत लोकप्रिय हो गईं। सन् १९२४ में ब्रिटेन और उसके साथियों ने काव्य और कला में अतियथार्थवाद नामक नवीन आंदोलन का प्रारंभ किया। अतियथार्थवाद के सिद्धांतों में हिगेल, मार्क्स, फ्रायड इत्यादि विचारकों के मतों का मिश्रण मिलता है, किंतु स्वप्नों तथा मन की अवचेतन क्रियाओं पर विशेष आग्रह रहता है। इस नवीन पद्धति का प्रभाव आगे आनेवाले वर्षों में न केवल कविता वरन् उपन्यास, नाटक आदि पर भी पड़ा। अतियथार्थवाद के प्रवर्त्तक ब्रिटन, इलुयर्ड एरागान प्रभृति कवियों की प्रारंभिक रचनाएँ सन् १९३० ई० के पूर्व ही लिखी गई थीं, यद्यपि इस आंदोलन का प्रभाव क्षेत्र आगे चलकर अत्यंत विस्तृत हो गया।

सन् १९३० ई० के लगभग प्रचलित साहित्य के विरुद्ध पुनः प्रतिक्रिया उत्पन्न हुई और क्लासिकल पुनरुत्थान, मनोवैज्ञानिक निरूपण तथा प्रतीकत्व के प्रति मोह का परित्याग कर दिया गया। तत्कालीन आर्थिक तथा राजनीतिक समस्याओं की ओर अधिकाधिक ध्यान दिया जाने लगा। साहित्य में इस नवीन दृष्टिकोण के सबसे बड़े प्रवर्त्तक थे जीड महोदय और उनका नेतृत्व अधिकांश लेखकों ने स्वीकार किया। उपन्यास-साहित्य की प्रमुखता बनी रही किंतु मनोविज्ञान का आधार छोड़कर एक नवीन रचना-प्रणाली का सूत्रपात हुआ। सेलीन के उपन्यासों में शक्ति तथा व्यंग्य साथ मिलकर प्रभाव उत्पन्न करते हैं। गायनों ने अपने उपन्यासों का निर्माण कल्पना, कवित्व तथा विस्तृत चित्रण के आधार पर

किया है तथा मालरा के उपन्यास निराशा का भयावह स्वरूप उपस्थित करते हुए ध्वंस और पराजय का वातारण उपस्थित करते हैं। द्वितीय महासमर के पूर्व के वर्षों में फ्रांसीसी नाटकों में कोई नवीन विशेषता लक्षित नहीं हुई। अधिकांश कविता अतियथार्थवादियों की विचारधारा से ही प्रभावित रही। अतियथार्थवाद का प्रभाव दिन पर दिन अधिक विस्तृत होता गया किंतु तब भी इस काल में कुछ प्रतीकवादी कवि और कुछ मधुर और सरल प्रगीत मुक्तकों के कवि भी रचना करते रहे।

द्वितीय महासमर प्रारंभ होने पर कुछ दिनों के लिये फ्रांस की साहित्यिक प्रगति क्षीण हो गई किंतु १९४५ में फ्रांस के मुक्त हो जाने पर फिर उसका क्रम आगे बढ़ा। युद्धोत्तर काल में उपन्यास, नाटक, कविता सभी पर गहरा प्रभाव डालनेवाला एक नवीन आंदोलन आया, जिसका नाम है अस्तित्ववाद। इस नवीन विचार-प्रणाली के प्रवर्त्तकों का अपना एक विशेष दर्शन है जिसके अनुसार मानव जीवन के साथ निराशा और ध्वंस सदा लगे रहते हैं। मनुष्य जड़वत् प्राकृतिक शक्तियों का शिकार बना हुआ है और उसकी इच्छा और आकांक्षाओं का कोई विशेष महत्व नहीं है। अस्तित्ववादियों ने इस निराशामय मानव जीवन में प्रगति और उत्थान के बीज ढूँढ़ निकालने का प्रयत्न किया है। अस्तित्ववादियों के नेता हैं सार्त्रे महोदय जिन्होंने पिछले वर्षों में अपनी सर्वतोमुखी प्रतिभा के बल से बहुत बड़ी ख्याति प्राप्त की है। कैमस, मालरा प्रभृति लेखक भी इसी संप्रदाय के अनुयायी हैं और आज का फ्रांसीसी साहित्य बहुत कुछ अस्तित्ववादी साहित्यिकों और कवियों द्वारा चालित है।

(२)

१९ वीं शताब्दी के मध्य में जर्मनी के प्रमुख रोमांटिक कवि हाइने का देहावसान हुआ और उसके उपरांत प्रायः २० वर्षों तक जर्मन साहित्य ने संतोषप्रद विकास नहीं किया। उसकी प्रगति अवरुद्ध हो गई थी और किसी नवीन शक्ति और विचारधारा का अभ्युदय अभी नहीं हुआ था। फलतः केवल ढर्रे की रचनाएँ होती रहीं और अधिकांश गद्य लेखक राजनीतिक प्रश्नों पर लेख तथा पुस्तकें लिखने में संलग्न थे। सन् १८७० ई० में फ्रांस पर विजय प्राप्त करने के उपरांत जर्मनी में एक नवीन आत्मविश्वास का जन्म हुआ। देश-प्रेम ने जोर पकड़ा और अपने साहित्य को समृद्ध करने की आकांक्षा बलवती हुई। सबसे महत्व की बात यह है कि इस देश-प्रेम में संकीर्णता नहीं थी। अतः जर्मन लोगों ने निस्संकोच बाह्य प्रभावों का स्वागत किया। हम पहले ही बता आए हैं कि यद्यपि फ्रांस युद्ध में पराजित हो गया था तब भी उसकी कला और उसका साहित्य जर्मन विचारकों और लेखकों को प्रभावित करते रहे। यह उदारता बहुत कुछ नीत्से के प्रभाव से ही संभव हो सकी। जर्मनी के उस महान दार्शनिक की विचार-पद्धति के दो पक्ष हैं। एक ओर तो वह प्रबल देश-प्रेम से प्रभावित है और दूसरी ओर विचारों की सार्वभौम सत्ता को स्वीकार करता है। अतएव उसमें एकदेशीयता और व्यापकता का समावेश साथ साथ मिलता है। नीत्से की यह विशेषता तत्कालीन जर्मन साहित्य में प्रकट हुई। तब भी १८७० के उपरांत दस पंद्रह वर्षों तक साहित्यिकों को महत्वपूर्ण सफलता नहीं मिली, यद्यपि प्रत्येक

दिशा में नवीन प्रयास हो रहा था। उपन्यास विशेष रूप से स्थानीय और प्रांतीय जीवन के चित्रण में ही उलझे हुए थे और नाटक तथा कविता में वैगनर का प्रभाव प्राचीन रोमांटिक प्रभाव के साथ मिलकर प्रकट हो रहा था। इस काल के सबसे प्रसिद्ध उपन्यास-कार तथा कहानीकार थे थियोडोर फांटेन, विलहेल्म रव्वी, गाटफ्रीड केलर तथा थियोडोर स्टार्म। फांटेन और रव्वी के उपन्यास प्रांतीय जीवन को व्यक्त करते हैं तथा केलर और स्टार्म की कहानियाँ बहुत कुछ यथार्थवादी हैं।

सन् १८८० के लगभग जर्मन साहित्य आध्यात्मिक और नवीन वैज्ञानिक दर्शन के द्वंद्व से प्रभावित हुआ। आध्यात्मिक विचारों की आदर्शवादी परंपरा कांट, हिगेल और शापेनहावर के समय से चली आ रही थी। नीत्से शापनहावर का आदर गुरु के समान करता था और उसके अपने विचार भिन्न होते हुए भी शापनहावर के विचारों से मिलते जुलते हैं। इसके विपरीत डारविन, मार्क्स, टेन आदि के भौतिकतावादी विचार थे जो उस समय यूरोप को प्लावित कर रहे थे। इब्सेन, ज़ोला आदि साहित्यकारों का प्रभाव भी इसी दूसरी विचार-प्रणाली को सहारा देता था। विचार के इस संघर्ष में कुछ दिन के लिये भौतिकवाद तथा यथार्थवाद की जीत हुई किंतु तब भी जर्मनी में यथार्थवाद के साथ साथ भावना और कल्पना का एक हल्का रंग सदा बना रहा। यह बात सूडरमन के उपन्यासों और नाटकों में स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। सारा ढाँचा यथार्थ की आधार भूमि पर खड़ा किया जाता है परंतु लेखक तीव्र भावना के आवेग को कभी भी अलग नहीं कर सका। यथार्थवाद की सबसे बड़ी विजय इस युग के नाट्य-साहित्य में हुई। हाफमन के इस काल में लिखे हुए नाटक इब्सेन के नाटकों के समान ही सामाजिक जीवन और उसकी समस्याओं की अभिव्यक्ति के लिये ही लिखे गए हैं। इस प्रकार इस प्रसिद्ध नाटक-कार ने वैगनर के प्रभाव को निर्मूल करने का प्रयास किया यद्यपि आगे चलकर वह स्वयं काव्य-प्रवण तथा प्रतीकवादी नाटक लिखने लगा। राइनहार्ट के प्रयत्न से इस समय जर्मन नाट्यशाला में नवीन सुधार हुए और इससे नाटकों के उत्थान को सहारा मिला।

कविता में वैगनर का रोमांटिक प्रभाव बलवान बना रहा और साथ ही साथ वाल्ट ह्विटमन तथा फ्रांसीसी प्रतीकवादियों की कविता का प्रभाव भी पड़ा। फलतः इस काल में जर्मन कविता यथार्थवाद से अछूती रही और उसमें प्रभाववाद और प्रतीकवाद का आधि-पत्य रहा। डेहमेल और आरनोहोल्त्स की कविता के अध्ययन से यह बात स्पष्ट हो जाती है।

प्रायः सन् १८९० के आसपास प्रभाववाद तथा प्रतीकवाद की शक्तियाँ मिल जुलकर कविता के क्षेत्र में यथार्थवाद के विरुद्ध पूर्ण रूप से विजयी हुईं। वैगनर तथा फ्रांसीसी प्रतीकवादियों के अतिरिक्त नीत्से का प्रभाव भी उनके लिये इस संघर्ष में सहायक हुआ। एक अत्यंत गंभीर परिस्थिति उत्पन्न हो गई थी क्योंकि इस युग का कवि अपनी प्रतिभा तथा जाग्रति की भावना के सहारे वातावरण के विरुद्ध अपनी रचनाओं को एक विशिष्ट स्वरूप दे रहा था। इस काल में वह साहस और शक्ति के द्वारा ही सफल हुआ। टामसमन ने अपने उपन्यासों में इस द्वंद्व का सफल चित्रण किया है। उसी समय वियना में कवियों

का एक समुदाय कल्पना तथा संगीत-प्रधान सुंदर रचनाएँ करने में संलग्न था। होफ्मन-स्थाल इनमें अग्रगण्य थे। उनकी कविता में मधुर संगीत की मिठास तथा भावों की सूक्ष्मता भली भाँति घुल-मिलकर व्यक्त हुई। साथ ही साथ विषाद का एक हल्का आवरण उनकी कविता में हर जगह मौजूद है इसलिये वह विशेष प्रभावोत्पादक हो गई है। जार्ज वीस भी रोमांटिक और प्रतीकवादी कवि थे। उनकी कविता में रोचक वैविध्य का आभास मिलता है। कवि ने प्राच्य तथा पाश्चात्य प्रभावों को सहृदयतापूर्वक ग्रहण करके उनका समावेश कविता में किया है।

२० वीं शताब्दी के प्रारंभ से लेकर सन् १९१४ ई० तक का समय जर्मन साहित्य की दृष्टि से अत्यंत अस्पष्ट तथा उलझनों से भरा हुआ है। पूर्ववर्ती काल की आदर्शमूलक तथा यथार्थवादी दोनों ही प्रकार की प्रवृत्तियों के विरुद्ध प्रतिक्रिया उठ खड़ी हुई। नीत्से ने भविष्य के प्रति जो संशय प्रकट किया था उसने साहित्यिकों को सचेत कर दिया और साहित्य द्वारा उन्होंने जर्मन राष्ट्र को सबल बनाने का प्रयत्न आरंभ कर दिया। सामाजिक व्यवस्था के प्रति असंतोष के लक्षण साहित्य, व्यंग्य तथा आलोचना के रूप में दृष्टिगोचर हुए। प्रभाववाद ने निश्चयवाद तथा वैज्ञानिक विचारों के साथ मिलकर एक बिल्कुल नया साहित्यिक दृष्टिकोण उपलब्ध कर दिया। इसके अतिरिक्त अनेक जीवंत प्रभाव बाहर से आकर तत्कालीन साहित्यिक चेतना में प्रविष्ट हुए और उन्हीं के मेल जोल से आगे चलकर अभिव्यंजनावाद का उत्थान हुआ जिसने कला, काव्य, नाटक, उपन्यास इत्यादि को समान रूप से प्रभावित किया। इन नवीन प्रभावों में कुछ उल्लेखनीय हैं। फ्रांसीसी चित्रकार सिज़ाने के चित्रों तथा डाडा संप्रदाय की विचार-पद्धति का असर सीधे और इटालियन भविष्यवाद के माध्यम से होता हुआ जर्मनी में पहुँचा। भविष्यवाद में नवीनता और विकास के प्रति जो नवीन आस्था संनिहित थी उसको जर्मन अभिव्यंजनावाद ने ग्रहण किया। इसी प्रकार फ्रायड के नवीन विचार सीधे और स्वीडन के प्रसिद्ध लेखक स्ट्रिंडवर्ग की कृतियों के माध्यम द्वारा जर्मन साहित्य में प्रविष्ट हुए। इन नवीन प्रभावों के संकलन तथा घात-प्रतिघात से इस काल के जर्मन साहित्य में आश्चर्यजनक नवीनता तथा चमत्कार का प्रादुर्भाव हुआ। अनेक प्रवृत्तियाँ एक ही साथ अपना काम कर रही थीं और यह कहना कठिन है कि उनमें से किसकी प्रधानता थी। इस युग के सबसे प्रसिद्ध उपन्यासकार टामसमन की रचनाएँ सारे यूरोप में उत्सुकतापूर्वक पढ़ी गईं। टामसमन ही जर्मनी के सर्व-प्रथम सफल उपन्यासकार थे जिनकी महानता सारे यूरोप ने स्वीकार की। उनके काव्यों तथा उपन्यासों में १९ वीं शताब्दी के अंत में प्रचलित प्रभाववाद के चिह्न साफ साफ दिखाई देते हैं। किंतु बाद के उपन्यासों में दृष्टिकोण मुख्यतः मानवतावादी हो गया है। इस काल के सबसे प्रसिद्ध कवि थे स्टिफिन जार्ज जिनकी गणना यूरोप के प्रमुख प्रतीकवादी कवियों में की जाती है। प्रारंभिक जीवन में इनका संबंध प्रतीकवाद के फ्रांसीसी प्रवर्त्तकों के साथ रह चुका था और इस काल में आस्ट्रियन कवि होफमनस्थाल के साथ उनकी घनिष्ट मैत्री थी। अतः इन दोनों कवियों की रचनाओं में साम्य देखा जा सकता है। प्रथम महासमर प्रारंभ होने के पूर्व ही परिवर्तन के चिह्न प्रकट हो रहे थे किंतु युद्ध ने कई वर्षों के लिये साहित्यिक विकास के क्रम में बाधा उपस्थित कर दी।

प्रथम महायुद्ध के पश्चात् प्रायः सन् १९२४ ई० तक जर्मन कला तथा साहित्य में व्यापक रूप से अभिव्यंजनावाद का आधिपत्य बना रहा। जैसा पहले ही लिखा जा चुका है, अभिव्यंजनावाद के उद्भव और विकास की तह में मनोविश्लेषण के नवीन सिद्धांत, नवीन फ्रांसीसी चित्रकला, इटालियन भविष्यवाद इत्यादि सभी के प्रभाव प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष ढंग से विद्यमान थे और इन्हीं के मिश्रण से इस नवीन सिद्धांत का स्वरूप निश्चित हुआ था। इसके अतिरिक्त मार्क्स का प्रभाव भी कुछ न कुछ अपना काम कर रहा था। अभिव्यंजनावाद की नवीन प्रणाली के नाटकों में औद्योगीकरण तथा पूँजीपतियों द्वारा जनता के शोषण के कुप्रभाव का निरूपण अत्यंत प्रभावोत्पादक ढंग से किया गया। चित्रकला और मूर्तिकला में सर्वप्रथम प्रकाशन की यह नवीन शैली अपनाई गई जो प्राचीन परिपाटी के एकदम विपरीत थी। आंतरिक भावों तथा मानसिक उलझनों को बिल्कुल सीधे ढंग से व्यक्त करना ही इसे अभीष्ट था। अतः प्रकाशन के माध्यम और उसके परिष्कार का प्रश्न एकदम गौण हो गया। इस नवीन कला में मानों मन के आवेग आप से आप मुखरित हो उठते हैं और तीव्रता के कारण उनका प्रकाशन अत्यंत निराडंबर होता है। साहित्य के क्षेत्र में सर्वप्रथम इस नवीन मत का प्रभाव जर्मन कविता पर पड़ा। किंतु यह प्रभाव अपने सबसे अधिक व्यापक रूप में इस काल के जर्मन नाटकों में प्रकट हुआ। काइज़र, टालर प्रभृति लेखकों की नाट्य कृतियाँ नवीनता से ओतप्रोत थीं और उनका प्रभाव यूरोप तथा अमेरिका के अनेक परवर्ती नाटककारों पर पड़ा। जर्मन रंगशाला में भी नवीनता का समावेश हुआ और उनमें इन नाटकों के अभिनय के नवीन साधन एकत्र किए गए। उपन्यासों में भी अभिव्यंजनावाद कुछ परिवर्तित रूप में लक्षित हुआ तथा इस प्रकार समाज का एक नवीन चित्र सामने आया। इस समय के सबसे प्रमुख उपन्यासकार थे काफ्का और वेरफेल और इन दोनों के नाटकों में सामाजिक विघटन और ध्वंस की सूचना मिलती है। काफ्का के उपन्यासों का नायक विरोधी परिस्थितिया तथा मानसिक उलझनों का शिकार बनकर अपने को एकाकी पाता तथा निराशा के वशीभूत होता है। स्टिफिन जार्ज की युद्धोत्तर कविताओं का स्वरूप उनकी प्रतीकवादी कविताओं की तुलना में बहुत कुछ नया है। उनमें पहले तो क्लासिकल सफाई और प्राच्य रंगीनी का समावेश होता है और बाद में कवि युद्ध से उत्पन्न नवीन समस्याओं पर गंभीर दार्शनिक ढंग से विचार करता है। रिल्के भी एक प्रसिद्ध प्रतीकवादी कवि थे। इनकी कविताएँ कुछ युद्ध के पूर्व तथा अधिकांश युद्ध के बाद लिखी गईं। रिल्के आधुनिक जर्मन साहित्य में निराशा, सौंदर्य और रहस्यवाद के सबसे बड़े कवि माने जाते हैं। उनके व्यक्तित्व तथा कविता दोनों में ही विचित्र आकर्षण था।

सन् १९२४ ई० के बाद जर्मन साहित्य ने एक नवीन दिशा पकड़ी। पराजयजनित निराशा और क्षोभ छोड़कर जर्मन विचारकों ने अब हार के कारणों पर गंभीर विचार करना आरंभ कर दिया और इसके साथ ही नव-निर्माण की आकांक्षा भी जाग उठी। इतिहास से प्रेरणा प्राप्त करने की चेष्टा के फलस्वरूप अनेक ऐतिहासिक पुस्तकें तथा महापुरुषों के जीवन-चरित्र इस काल में लिखे गए। टामसमन के अंतिम उपन्यासों में

भी गंभीर विचार तथा उत्थान के लिये दृढ़ संकल्प की झलक मिलती है और रिल्के की अंतिम कविताओं का स्वर भी उसी ओर संकेत करता है। वस्तुतः फ्रांसीसी अस्तित्ववादियों का दर्शन तथा उनकी विचार परिपाटी इस काल के जर्मन साहित्यिकों की मानसिक अवस्था की भी द्योतक हैं और कदाचित इसीलिये रिल्के की भी गणना अस्तित्ववादी अपनी ही श्रेणी में करते हैं। जर्मन साहित्यकार भी अब जीवन की पहेली हल करने में लगे हुए थे और उनका विश्वास था कि वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवन में निराशा और ध्वंस के खंडहरों के ऊपर ही भावी जीवन का निर्माण संभव हो सकता है। व्यापार और राजनीति में जर्मनी का नवीन संगठन इस समय किया जा रहा था। साहित्यिकों ने भी उसी दिशा में प्रयास किया किंतु उनके प्रयत्नों में संकीर्णता न थी। उनका दृष्टिकोण दार्शनिक था और वे मानव अस्तित्व की विराट् समस्या को सामने रखकर ही अपने चिंतन में तत्पर थे। सन् १९३९ ई० में द्वितीय महासमर प्रारंभ हो गया और उसके समाप्त होने पर जर्मनी टुकड़ों में बँट गया। वह आज भी राजनीतिक आपदा का सामना कर रहा है और कुछ दिनों के बाद ही पुनः अपनी विशिष्ट महानता प्राप्त कर सकेगा। तभी जर्मन साहित्य में नवीन विशेषताओं का जन्म होगा।

(३)

सन् १८६० ई० के पूर्व इटली कई राज्यों में बँटा हुआ था जिनके आपसी कलह के कारण देश का उत्थान असंभव हो गया था। इन राज्यों के एकीकरण और इटली के नवीन राज्य संगठन के उपरांत देश की संस्कृति तथा साहित्य में राजनीति की भाँति ही नवीन विकास प्रारंभ हुआ। अभी तक इटालियन साहित्य पूर्ववर्ती युग के रोमांटिक प्रभाव से पूरी तरह मुक्त नहीं हो पाया था किंतु अब प्रेस के ऊपर से प्रतिबंध हट गए तथा यूरोप के अन्य देशों से वैज्ञानिक तथा यथार्थवादी विचारों का प्रवेश देश में तेजी से होने लगा। थोड़े समय में इटालियन विचार-पद्धति बदलकर अन्य देशों की नवीन विचारधारा की समानता करने लगी और दर्शन तथा विज्ञान में निश्चयवाद, साहित्य में यथार्थवाद तथा आलोचना के क्षेत्र में ऐतिहासिक प्रणाली का आधिपत्य स्थापित हो गया। एकीकरण के बाद के ३० वर्ष का साहित्य अधिकांश रूप में इसी नवीनता से प्रभावित है किंतु साथ ही साथ आदर्शवादियों ने इसका विरोध करना बंद नहीं किया। हेगेल के दार्शनिक विचार इटली में अत्यंत लोकप्रिय थे तथा इस युग के इटालियन दार्शनिकों की सबसे बड़ी महत्वाकांक्षा यह थी कि वे हेगेल के विचारों को नए ढंग से प्रस्तुत करने में समर्थ हों। कला-जगत् में सैंक्टिस के विचारों के फलस्वरूप आदर्शवादी तथा प्रभाववादी प्रवृत्तियों को बल मिला। इस युग के महान् साहित्यिक तथा विद्वान् कार्ड्यूसी ने यथार्थवाद की बाढ़ को रोकने के लिये भगीरथ प्रयत्न किया। यह अपनी विद्या तथा रचनात्मक प्रतिभा के लिये अपने देश में अत्यंत संमान्य था और उसके विचारों का सब जगह आदर हुआ। उसने यथार्थवाद की जगह आदर्शवाद का समर्थन करते हुए साहित्य पर धार्मिक आधिपत्य का भी विरोध किया। इटालियन साहित्य के इतिहास को उसने नए ढंग से लिखकर उसकी प्रमुख विशेषताओं की ओर संकेत किया। सब मिलाकर इन ३० वर्षों का साहित्य

वैशिष्ट्य-विहीन कहा जा सकता है। क्योंकि यह प्रयास का युग था, सफलता का नहीं। प्रारंभिक वर्षों में नैराश्य की भावना प्रबल थी तथा आत्मविश्वास की कमी के कारण लेखक और कवि किसी महत्त्वपूर्ण रचना की कल्पना नहीं कर सकते थे। भाषा का भी नव निर्माण हो रहा था। अभी तक उसका रूप स्थानीय बोलियों के प्रभाव से मुक्त होकर निखर नहीं पाया था। इटली में पहली बार सार्वजनिक शिक्षा की नवीन व्यवस्था कार्यान्वित हो रही थी और उसका पूरा असर अभी नहीं पड़ पाया था। साहित्य भी स्थानीयता के मोह में उलझा हुआ था। कवि और कहानीकार अपने प्रांत तथा नगर के जीवन तथा उसकी समस्याओं की अभिव्यक्ति में लगे हुए थे और अधिकतर स्थानीय बोलियों ही में लिखने का प्रयास करते थे। अतः मिलन, पालेनो, सिसिली इत्यादि के अपने अलग अलग साहित्य थे।

सन् १८९० ई० के बाद इटली में वैज्ञानिक निश्चयवाद तथा यथार्थवाद के विरोध में जो आंदोलन उठ खड़ा हुआ उसके नेता थे प्रसिद्ध कवि, लेखक तथा उपन्यासकार डी० आनजिओ। अपने दीर्घ जीवन काल में प्रायः ५० वर्ष तक अपने व्यक्तित्व तथा अपनी रचनाओं से इस प्रतिभा-संपन्न साहित्यकार ने न केवल इटालियन साहित्य वरन् सारे इटालियन जीवन को गहराई तक प्रभावित किया। डी० आनजिओ की विचार-पद्धति पूर्णरूपेण रोमांटिक तथा सौंदर्य-परक थी। उसकी ऐहिकता तथा भोग की भावना ने १९१० तक इटालियन साहित्य को एक नवीन रंग में रँग दिया। डी० आनजिओ ने विदेशी प्रभावों को आत्मसात् करके बदले में यूरोप के सभी प्रमुख देशों के साहित्य को अपनी विशेषताएँ प्रदान कीं। १९१० के बाद कुछ दिन फ्रांस में निवास करने के उपरांत आनज़िओ ने अपने देश में लौटकर सन् १९३८ ई० में अपने मृत्युकाल तक राजनीतिक क्षेत्र में कार्य किया और साथ ही साथ महत्वपूर्ण रचनाएँ भी करता रहा। सन् १९१० ई० के आसपास इटली के नवयुवकों पर समाजवादी विचारधारा का प्रभाव पड़ने लगा, विशेष कर सारेल के विप्लववाद का। इटली में अब नवीन उत्साह और देश के उत्थान के लिये नवीन आकांक्षा का उदय हो रहा था। पैपेनी की आत्मकथा से इस बात का साफ साफ पता लगता है। पैपेनी के मन में जीवित सौंदर्य और कोमलता के प्रति जो खिंचाव मिलता है वह नवीन जाग्रति का सूचक है। किंतु इटली को समृद्ध तथा सशक्त बनाने के ध्येय से जो नवीन आंदोलन सबसे अधिक स्पष्ट रूप में चालित था वह था एफ० टी० मारिनेटी का भविष्यवाद। भविष्यवादियों ने इटली के अतःपतन के कारणों का विश्लेषण करते हुए यह बताया कि देश के विकास के मार्ग में सबसे अधिक बाधा उत्पन्न करनेवाला है उसके अतीत के प्रति देशवासियों का मोह। उनकी दृष्टि में तत्कालीन इटली अतीत के शव पर कीड़े की भाँति बैठकर अपना जीवन व्यतीत कर रहा था। अतः भूत को भुलाकर भविष्य की ओर दृष्टिपात करने का आदेश दिया गया और यह मान लिया गया कि भावी प्रगति के लिये विज्ञान द्वारा प्रस्तुत किए हुए नवीन साधनों का उपयोग अनिवार्य रूप से आवश्यक था। मारिनेटी और उनके सहयोगी युद्ध के समर्थक थे और उन्होंने अपनी रचनाओं में मशीनों, फैक्टरियों, वायुयानों, टंकों इत्यादि के आकर्षण को बड़े चाव से व्यक्त किया है। वोचे नाम का एक दूसरा समाज भी था जिसके सदस्य जीवन को अपनी समष्टि में न देखकर

उसके छोटे छोटे टुकड़ों के अध्ययन एवं निरूपण में संलग्न थे। युद्ध के पूर्व ही पिरांडेलो ने अपनी कहानियों एवं नाटकों का लिखना प्रारंभ किया। बोलचाल की भाषा पर आधारित उसकी शैली एकदम नवीन थी। उसने इटली की क्लासिकल परंपरा को छोड़कर मन की आंतरिक क्रियाओं को ही अपनी रचनाओं का विषय बनाया। इस शताब्दी के प्रारंभ से ही क्रोचे के दार्शनिक विचारों का प्रभाव पड़ रहा था और युद्धोत्तर काल में भी यह प्रभाव पड़ता रहा।

प्रथम महासमर ने इटालियन साहित्य को छिन्न भिन्न करके कुछ दिन के लिये उसकी गति में अवरोध उत्पन्न कर दिया। युद्ध के बाद फासिस्ट शासन-काल में राष्ट्र की ओर से साहित्यिकों के प्रोत्साहन के लिये पर्याप्त सुविधाएँ प्रदान की गईं। प्रमुख लेखकों तथा विचारकों का संमान हुआ और उनको आर्थिक सहायता भी दी गई। तब भी तानाशाही का निरंकुश शासन विचार-स्वातंत्र्य के लिये घातक सिद्ध हुआ। अतः देश की रचनात्मक क्षमता पर भी इसका बुरा असर पड़ा। पुराने कवि और लेखक अपना कार्य करते रहे किंतु किसी सशक्त नवीन साहित्यिक प्रतिभा का प्रादुर्भाव नहीं हुआ। डी० आनजिओ की नवीन कृतियों में थोड़ा बहुत परिवर्तन अवश्य आ गया था किंतु तब भी उसमें ऐहिक तत्वों का ही प्राधान्य था तथा मन के प्रबल आवेगों के निरूपण की चेष्टा अब भी बनी हुई थी। पिरांडेलो ने अपनी कहानियों तथा नाटकों से समस्त यूरोप में ख्याति प्राप्त की। उसकी कृतियाँ नवीन मनोवैज्ञानिकता की आधारशिला पर निर्मित हैं तथा उनका स्वरूप बहुत कुछ अभिव्यंजनावाद की विशेषताओं से समन्वित है। आधुनिक युग की गति और लय मानो पिरांडेलो की रचनाओं में सहज ही व्यक्त हो उठे हैं। क्रोचे की प्रतिभा सर्वतोमुखी थी। अध्यात्म, सौंदर्यशास्त्र, समाजशास्त्र, न्यायशास्त्र तथा साहित्यिक आलोचना सभी विषयों पर उसके विचार अत्यंत गहन तथा मौलिक सिद्ध हुए हैं। क्रोचे विचारों के क्षेत्र में इटली की प्राचीन महानता के नवीन प्रतिनिधि माने जा सकते हैं और उनके विचारों का महत्व सब जगह स्वीकार किया जाता है। सन् १९४० ई० के बाद कुछ इटालियन कवियों ने सुंदर प्रगीत मुक्तक लिखे हैं जिनपर १९ वीं शताब्दी के रोमांटिक तथा प्रतीकवादी कवियों का प्रभाव स्पष्ट रूप से पड़ा है। द्वितीय महायुद्ध में पराजय के बाद इटली अभी तक पुनः अपने पैरों पर खड़ा नहीं हो पाया है और उसकी नवीनतम रचनाओं के संबंध में भविष्य में ही कुछ कहा जा सकेगा।

(४)

अन्य देशों की भाँति १९वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में स्पेन में भी रोमांटिक विचारधारा का आधिपत्य था, किंतु १८५० तक परिवर्तन प्रारंभ हो गया था और लेखकों का झुकाव यथार्थवाद की ओर दिखाई देने लगा। सर्वप्रथम लेखकों ने लिखित वर्णनों तथा कथानकों से सामग्री एकत्र करके अपने उपन्यासों और कहानियों में उसका उपयोग किया। जीवन के स्वतंत्र निरीक्षण की चेष्टा भी बलवती होने लगी और वास्तविक तथ्यों के आधार पर फर्नन, कैबेलेरो, एलार्किन प्रभृति उपन्यासकारों की महत्वपूर्ण रचनाएँ प्रकाशित हुईं।

यथार्थवाद की यह प्रक्रिया सन् १८७५ तक केवल प्रयोगात्मक थी किंतु १८७५-८५ के दशक में उसका विशेष विस्तार तथा विकास हुआ। इन्हीं वर्षों में बाह्य प्रभाव स्पेन के साहित्य में प्रविष्ट हुए और वैज्ञानिक विचार तथा निश्चयवादी दर्शन के प्रभाव से यथार्थ-वादी प्रवृत्ति सुदृढ़ तथा स्पष्ट रूप में प्रकट हुई। अन्य देशों से आनेवाले नवीन विचारों का स्पेनी साहित्य पर उतना अधिक प्रभाव नहीं पड़ा जितना अन्य देशों के साहित्य पर। स्पेनी साहित्य की अपनी निजी यथार्थवादी परंपरा थी जो १७ वीं शताब्दी से प्रायः अविच्छिन्न चली आ रही थी। नवीन उपन्यासकारों पर इसका भी प्रभाव पड़ रहा था। दूसरी बात यह थी कि यथार्थवाद के प्रभाव के साथ स्पेनी साहित्य में धार्मिक वाद-विवाद का अंत नहीं हुआ। रोमन कैथोलिक मत के महत्व और प्रभाव में कभी भी कमी नहीं आई तथा धार्मिक तथ्यों और आदर्शों का समावेश साहित्य में निरंतर होता रहा। यह बात यूरोप के अन्य देशों में प्रचलित यथार्थवाद की परिपाटी के विरुद्ध थी। देशीय परंपरा तथा धर्म के प्रति सभी लेखकों के मन में मोह बना रहा, अतः पैरेडो नामक लेखक को जब यूरोपीय यथार्थवादी कहा गया तब वह अप्रसन्न हुआ। ज़ोला को इस बात का आश्चर्य था कि प्रसिद्ध यथार्थवादी बाज़ान अपने को रोमन कैथोलिक घोषित करता था। इस काल के प्रसिद्ध उपन्यासकार थे अलार्कन, पैरेडो, बाज़ान इत्यादि। यथार्थवाद का प्रवेश काव्य में भी हुआ और इस नवीन प्रकार की कविता के सबसे प्रसिद्ध लेखक थे कैंपोआमर और नुनेज़ डी आर्सी जिन्होंने काव्य में यथार्थ वर्णन की परंपरा स्थापित की तथा गद्य और पद्य के भेद को किसी अंश तक मिटा दिया। नाटकों के क्षेत्र में प्राचीन रोमांटिक तथा भाववादी परंपरा का उन्मूलन नहीं हो पाया फलतः इस काल के स्पेनी नाटक काव्यात्मक ही बने रहे। उनका विशेष महत्त्व है, क्योंकि भविष्य में स्पेनी काव्य का जो अभ्युदय होनेवाला था उसके लिये उन्होंने संभावना उपस्थित की और पूर्ववर्ती रोमांटिक काव्य से उसका संबंध बनाए रखा।

१८८५ से लेकर १९०० ई० तक स्पेनी साहित्य में यथार्थवाद के विरुद्ध प्रबल प्रतिक्रिया के लक्षण दिखाई देने लगे। यथार्थ निरूपण से असंतुष्ट होकर कवि और लेखक रहस्योन्मुख हुए तथा कविता और रोमांस का आह्वान करने लगे। अलास ने अपने निबंधों में मस्तिष्क के खिड़कियों-दरवाजों को खोलकर नवीन प्रेरणा ग्रहण करने के लिये आदेश दिया और कोसियो के आध्यात्मिक दृष्टिकोण का प्रभाव कथा-साहित्य पर स्पष्ट रूप से पड़ा। अतः उपन्यासकार और कहानी लेखक यथार्थ की कोरी अभिव्यक्ति से हटकर काव्यमय सौंदर्य की ओर आकृष्ट हुए। कविता का स्वरूप भी बदला और कांपोआमर की यथार्थवादी कविता का प्रायः पूर्ण परित्याग हो गया। इस परिवर्तन में बाह्य प्रभावों का भी हाथ अवश्य था क्योंकि हम देख चुके हैं कि इन्हीं वर्षों में फ्रांस में प्रतीकवादी कविता का प्रचार हुआ था। नाटकों में तो काव्यात्मक परंपरा पहले ही से चली आ रही थी। इस काल में इब्सेन का प्रभाव स्पेन के नाट्य साहित्य पर भी पड़ा किंतु तब भी उसका स्वरूप किसी विशेष अंश तक न बदलकर कवित्व तथा भाव-प्रधान ही बना रहा। स्पेनी साहित्य के लिये यह संधिकाल था जब वैज्ञानिक और यथार्थमूलक परिपाटी को छोड़कर

साहित्य सौंदर्य तथा आदर्शवादिता की ओर अधिकाधिक खिंच रहा था। २० वीं शताब्दी में अनेक परिवर्तनों के होते हुए भी इस नवीन प्रवृत्ति का भी सतत विकास होता रहा।

सन् १८९८ ई० में स्पेन अमेरिका द्वारा पराजित हुआ और उसके उपनिवेश उससे ले लिए गए। इस घटना से स्पेन निवासियों के आत्मसंमान को बहुत बड़ा धक्का लगा और स्पेनी लेखकों और कवियों में देश-प्रेम की नवीन भावना जाग्रत हो उठी। साहित्य द्वारा स्पेन की सोई हुई आत्मा को पुनः जाग्रत करने का प्रयास होने लगा। इस अभिप्राय से प्रेरित होकर देश के प्राचीन इतिहास और काव्य का अध्ययन हुआ और उसकी विशेषताओं पर प्रकाश डाला गया। स्पेन की प्राचीन महत्ता से प्रेरणा और उत्साह प्राप्त करके विचारक और लेखक पुनरुत्थान के कार्य में तत्परतापूर्वक लग गए। पराजय की पहली प्रतिक्रिया तो क्षोभ और निराशा उत्पन्न करनेवाली थी किंतु देश की यह मानसिक अवस्था दो चार वर्षों के बाद ही बदल गई और उसकी जगह नव निर्माण के दृढ़ संकल्प ने ले ली। देश-प्रेम से उद्भूत इस नवीन साहित्यिक आंदोलन को 'सन् १८९८ की पीढ़ी' की संज्ञा दी जाती है। इसके प्रमुख नेता थे एज़ोरिन, यूनामन्नो, आटेगा डी गैसेट इत्यादि। २० वीं शताब्दी के स्पेनी साहित्य को समझने के लिये इस आंदोलन की विशेषताओं की जानकारी अपेक्षित है क्योंकि आधुनिकता की प्रवृत्ति ने इसमें अंतर्भूत होकर अंततोगत्वा स्पेनी साहित्य की आधुनिक विशेषताओं को निर्धारित किया। आधुनिकता का अर्थ इस संदर्भ में यूरोप की विशिष्ट विचार-पद्धति की छाप से है। २० वीं शताब्दी में स्पेन निवासियों ने प्रत्यक्ष रूप से यह अनुभव करने का प्रयास किया कि वे भी यूरोपीय हैं और उनका जीवन भी यूरोपीय जीवन का एक अविच्छेद्य अंग है। अतः आधुनिकता तथा सन् १८९८ की पीढ़ी द्वारा प्रवर्तित पुनरुत्थान की प्रक्रिया के मेल जोल से वर्तमान काल में स्पेन में एक विशिष्ट प्रकार का साहित्य विकसित हुआ है। जहाँ अन्य देशों में उपन्यास, नाटक को सबसे अधिक महत्व दिया गया है वहाँ स्पेन में सबसे अधिक विकास निबंध-लेखन के क्षेत्र में लक्षित हुआ। यूरोप के किसी भी अन्य देश में निबंध इतनी प्रचुर मात्रा में और इतने सफलतापूर्वक कदाचित् नहीं लिखे गए हैं। एज़ोरिन, युनामन्नो, गैसेट प्रभृति सभी प्रमुख लेखकों ने निबंध लिखे और उनमें प्रत्येक की अपनी अलग-अलग विशेषताएँ हैं। तब भी हम कह सकते हैं कि अधिकांश निबंध काव्यात्मक थे और उनकी तुलना प्रगीत मुक्तकों से कर सकते हैं। विचार-प्रधान गंभीर निबंधों की भी कमी नहीं थी और अनेक लेखकों की कृतियों में चिंतन और विश्लेषण की चेष्टा स्पष्ट-रूपेण दिखाई देती है। निबंधों के अतिरिक्त प्रगीत मुक्तकों का भी प्रचुर निर्माण हुआ और उनकी लोकप्रियता बढ़ गई। इन मुक्तकों में कल्पना तथा रोमांस और रहस्यात्मकता का ही बाहुल्य था और इस तरह वे पूर्ववर्ती काल की कविताओं से एकदम भिन्न थीं।

आधुनिकता के संबंध में हम लिख आए हैं किंतु कुछ अन्य बातों का उल्लेख भी आवश्यक है। स्पेन अब यूरोप के अन्य देशों से अपनी एकता का अनुभव करने लगा था और बाह्य प्रभावों के स्वागत के लिये तत्पर था। अतः फ्रांस, जर्मनी, इटली इत्यादि देशों से नए साहित्यिक आदर्श स्पेन में आने लगे और उनकी विशेषताओं से

स्पेनी साहित्य प्रभावित होने लगा। यह कार्य धीरे धीरे स्वाभाविक रूप से हो रहा था किंतु इसी समय हिस्पेनिया से यूरोपीयता प्रबल वेग के साथ आकर स्पेनी साहित्य में प्रविष्ट हुई। हिस्पेनिया अमेरिका में स्पेन के संयुक्त उपनिवेशों को कहते हैं। दक्षिणी अमेरिका के महाद्वीप के एक विस्तृत क्षेत्र में स्पेनी जाति के अथवा स्पेनी भाषा भाषी लोग निवास करते हैं। इन लोगों ने १९ वीं शताब्दी के अंतिम वर्षों में अत्यंत उदारतापूर्वक यूरोप के सभी देशों के साहित्य का अध्ययन करके उनकी विशेषताओं का अपने साहित्य में समावेश किया। सबसे अधिक प्रभाव फ्रांसीसी साहित्य का पड़ा किंतु अन्य देशों के साहित्य की विशेषताएँ भी निस्संकोच ग्रहण की गईं। फलतः हिस्पेनिया का साहित्य अत्यंत समृद्ध हो गया। सबसे अधिक उन्नति कविता की हुई। काव्य में प्रतीकत्व, सौंदर्य भावना, दार्शनिकता तथा ऐहिकता का चमत्कारपूर्ण संमिश्रण हुआ। यह नवीन कविता स्पष्टरूपेण अंतर्राष्ट्रीय विशेषताओं से समन्वित थी। हिस्पेनिया से आकर इसका प्रचलन स्पेन में हुआ, विशेषतः सन् १९०० से १९१० के मध्य में। हिस्पेनिया के प्रसिद्ध कवि रूबेन डोरियो ने जब स्पेन की यात्रा की तब उसका सब जगह स्वागत हुआ और उसके प्रवचन तथा कविताएँ चाव से सुनी गईं। स्पेनी साहित्य में नवीनता का एक प्रधान स्रोत था और आज तक इसका प्रभाव अपना कार्य कर रहा है। साधारणतः कहा जा सकता है कि वर्तमान शताब्दी का स्पेनी साहित्य कवित्व-प्रधान है और उसके गद्य साहित्य में भी काव्य के ही लक्षण प्रकट हुए हैं। निबंध अधिकांश गद्य में लिखे हुए मुक्तक प्रतीत होते हैं और नाटक तो १९०० ई० से बराबर काव्य के ही गुणों से अलंकृत हैं। कथा साहित्य की अवहेलना हुई है और जो कुछ उपन्यास पिछले वर्षों में लिखे गए हैं उनमें भी काव्य के आदर्श किसी न किसी रूप में समाविष्ट हैं। सन् १९३६ ई० में स्पेन का गृहयुद्ध छिड़ गया और सारा देश आंदोलित हो उठा। युद्ध समाप्त होने पर स्पेन में पुनः शांति स्थापित हुई और साहित्य-निर्माण का कार्य प्रारंभ हुआ। नवीनतम काल में या तो प्राचीन परंपरा का निर्वाह हो रहा है अथवा कुछ लेखकों और कवियों की कृतियों में अतियथार्थवाद और प्रगतिवाद इत्यादि नवीन विचार-पद्धतियों का प्रभाव पड़ रहा है तथा स्पेनी साहित्य यूरोप के अन्य देशों के साहित्य के समकक्ष स्थान पाने का अधिकारी हो रहा है।

(५)

नारवे के आधुनिक साहित्य का उत्थान सन् १८७० ई० से माना जा सकता है। इस समय डेनमार्क के साहित्य के प्रभाव के कारण नारवीय साहित्य में नवीन जाग्रति के लक्षण दिखाई पड़ने लगे और सौभाग्यवश इसी काल में नारवे के चार प्रमुख साहित्य-निर्माताओं का प्रादुर्भाव हुआ जिन्होंने अपनी रचनाओं द्वारा अपने देश के साहित्य को महानता प्रदान की। जानसन और इब्सेन के यथार्थवादी नाटकों का अभिनय और प्रकाशन १८७० के उपरांत ही हुआ और इसी के लगभग जोनास ली और कीलैंड के यथार्थवादी उपन्यास लिखे गए। निश्चय ही इब्सेन नारवीय साहित्य के सबसे महान

कलाकार थे। उनके नाटकों का अपूर्व स्वागत केवल अपने देश ही में नहीं वरन् सारे यूरोप में हुआ और उनकी विशेषताओं से यूरोप के सभी देशों का तत्कालीन नाट्य साहित्य किसी न किसी अंश तक प्रभावित हुआ। इब्सेन के प्रारंभिक उपन्यास शक्ति तथा नैतिक सुधार की प्रेरणा से परिपूर्ण हैं। इनके उपरांत उन्होंने अपने यथार्थवादी नाटकों द्वारा सामाजिक कुरीतियों की कड़ी आलोचना प्रस्तुत की और तत्कालीन सामाजिक समस्याओं की ओर जनता का ध्यान आकृष्ट किया। इन नाटकों की तह में वैज्ञानिक तथा समाजशास्त्रीय चिंतन की गंभीरता विद्यमान है और विश्लेषण और व्यंग्य के कारण अत्यधिक रोचकता उत्पन्न हुई है। इब्सेन के अंतिम नाटक में कवित्व और प्रतीकों का प्रयोग हुआ है। निस्संदेह जीवन के अंतिम वर्षों में उनका दृष्टिकोण अत्यंत दार्शनिक हो गया था। जानसन के नाटक भी यथार्थवादी हैं और उनमें सामाजिक द्वंद्व तथा उलझनों का अत्यंत प्रभावोत्पादक निरूपण मिलता है। ली और कीलैंड ने सामुद्रिक जीवन के उपन्यासों में यथार्थ जीवन को अंकित किया। इनपर भी डारविन के वैज्ञानिक विचारों का प्रभाव पड़ा था। इस युग का एकमात्र उल्लेखनीय कवि था नित्स कालेट वाट। उसने प्रकृति और देश-प्रेम को अपनी कविता का प्रधान विषय बनाया और सुंदर मुक्तकों का निर्माण किया। गुनार हीबर्ग के नाटकों में उसकी व्यंगात्मक तथा आलोचनात्मक शक्ति का अच्छा परिचय मिलता है। अनियंत्रित यथार्थ निरूपण का सबसे प्रमुख उदाहरण हैंस जेगर के उपन्यासों में प्राप्त है। इस युग के नाटककार तथा उपन्यासकार मुख्यतः सामाजिक समस्याओं को हल करने के उद्देश्य से प्रभावित थे और उपन्यास में उस समय की सबसे बड़ी समस्या यह थी कि सामाजिक जीवन में नारियों का क्या स्थान होना चाहिए। अनेक विचारकों और लेखकों ने स्त्री को स्वतंत्रता और समान अधिकार देने का समर्थन किया किंतु परंपरावादियों ने इसका घोर विरोध किया। सन् १६०० ई० के पूर्ववर्ती नारवीय साहित्य में इस जटिल समस्या को लेकर अन्य जगह नाटक तथा उपन्यास लिखे गए।

२० वीं शताब्दी के प्रारंभ होते होते नारवीय साहित्य में रोमांटिक भावना बलवती होने लगी तथा नट हैम्सन के नेतृत्व में यथार्थवाद के विरुद्ध विद्रोह उठ खड़ा हुआ। इस संबंध में हैम्सन की प्रसिद्ध रचना 'थुंगर' उल्लेखनीय है। यह एक कथा है जिसका नायक मानसिक प्रेरणा के कारण भ्रमण तथा दुस्साहस के कार्य करता है। उसकी कठिनाई और पीड़ा की उत्पत्ति सामाजिक कारणों से नहीं होती वरन् उनका मूल स्रोत मन की उलझनों और हृदय की पिपासा में मिलता है। हैंस ईकिंक के उपन्यासों में खेतिहरों के जीवन में प्राचीन काल से निहित रोमांटिक भावना का निरूपण किया गया है। इस काल में सबसे महत्वपूर्ण प्रश्न भाषा का था। जिस भाषा को स्वीकृति प्राप्त थी उसका विकास डैनिश भाषा के आदर्श पर हो रहा था अतः उसमें एक विदेशीपन था। इसके विपरीत देशी बोलियों के आधार पर एक नवीन भाषा का प्रचलन हुआ जिसको 'लैंड स्माल' कहते हैं। अधिकांश लेखकों ने इसी जीवंत भाषा को अपनाया और उसमें साधारण जनों के जीवन से संबंधित कथाओं की रचना की। सबसे महत्वपूर्ण कृतियाँ ओलाव डून की थीं जिनकी महान् रचना 'द पीपुल आव जुविक' छः खंडों में एक ग्रामीण परिवार का १०० वर्षों का

क्रमबद्ध इतिहास अंकित करती है। वर्तमान शताब्दी के नारवीय साहित्य में स्थानीय जीवन के निरूपण की प्रवृत्ति अत्यंत प्रबल रूप में विद्यमान है और उसका प्रकाशन विशेष रूप से इस शताब्दी के प्रथम २० वर्षों में हुआ। लेखकों ने नारवे के विभिन्न भागों और विशिष्ट स्थलों के जन-जीवन को आधार बनाकर कभी यथार्थवादी किंतु अधिकांश रोमांटिक पद्धति के उपन्यास लिखे। ऐसे उपन्यासों और कहानियों की संख्या बहुत बड़ी है। कुछ लेखकों ने सामाजिक और मनोवैज्ञानिक समस्याओं को लेकर ही कथा साहित्य का निर्माण किया। इस प्रकार के प्रमुख लेखक थे वोज़र क्रिस्चियांसेन तथा फाजेन। वर्तमान नारवीय साहित्य में सबसे बड़ा महत्व सिग्रिड उडसेट का है। इस प्रतिभा-संपन्न लेखिका की रचनाएँ समस्त संसार में प्रख्यात हैं। इनमें कल्पना और यथार्थ का चमत्कारपूर्ण मिश्रण मिलता है। इन्होंने १४वीं शताब्दी के जीवन पर आधारित तीन खंडों में एक प्रसिद्ध उपन्यास की रचना की है। ये सभी रचनाएँ एक विशिष्ट आकर्षण तथा आध्यात्मिक अभिप्राय से ओतप्रोत हैं। नारवे में पिछले अनेक वर्षों से नाट्य साहित्य का विशेष विकास नहीं हुआ है किंतु सुंदर मुक्तकों की रचना प्रचुर मात्रा में हुई है। आजकल नारवीय साहित्य किसी अंश में मार्क्सवाद तथा अतियथार्थवाद से प्रभावित हो रहा है।

(६)

स्वेडीय साहित्य १६ वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में ही उदार और प्रजातांत्रिक विचारों से प्रेरित हो रहा था और यह उदार प्रवृत्ति प्रायः सन् १८८० ई० तक निर्विरोध अपना कार्य करती रही। सन् १८८० ई० के लगभग यूरोप के नवीन भौतिक दर्शन का प्रभाव स्वेडीय साहित्य पर पड़ने लगा और साथ ही साथ यथार्थवाद का अभ्युदय प्रारंभ हुआ। यह यथार्थवाद दिन पर दिन गहरा होता गया और इसका विशेष प्रकाशन तत्कालीन उपन्यासों और कहानियों में हुआ। फ्लावर्ट और गोनकोर्ट्‌स का प्रभाव पहले पड़ा और उसके उपरांत ज़ोला के अनुकरण से कथा-साहित्य में यथार्थवाद अपनी परिणति तक पहुँच गया। तब भी कविता का स्वर न बदला और उसमें आदर्शवाद तथा मानवतावाद का ही प्राधान्य बना रहा। नाट्य साहित्य का भी झुकाव ऐतिहासिकता और कवित्व की ओर अधिक था। सन् १८७० ई० से लगाकर १६१२ ई० में अपनी मृत्यु के समय तक स्वेडीय साहित्य पर स्ट्रिंडबर्ग का अखंड प्रभाव बना रहा। इस महान् कवि, नाटककार तथा कथाकार की प्रतिभा अत्यंत सशक्त तथा सर्वतोमुखी थी और उसकी विशेषताओं को थोड़े से शब्दों में व्यक्त करना बड़ा ही कठिन है। उसने प्रचुर साहित्य का निर्माण किया जिसमें आश्चर्यजनक वैविध्य देखने में आता है। उसके नाटकों की संख्या बहुत बड़ी है और उनमें विभिन्न प्रकार की विशेषताएँ मिलती हैं। तब भी साधारणतः कहा जा सकता है कि वे अधिकांश कल्पना-प्रधान तथा ऐतिहासिक हैं। प्रतीकों का भी प्रयोग हुआ है और लेखक ने सफलतापूर्वक मन की परिवर्त्तनशील चेष्टाओं की बड़ी ही सुंदर अभिव्यक्ति की है। उपन्यास और कहानियाँ अधिकांश यथार्थवादी हैं किंतु स्ट्रिंडबर्ग की प्रतिभा के बल से उनमें एक विशिष्ट मौलिकता का समावेश हुआ है। निबंधों में लेखक के गंभीर चिंतन का प्रमाण मिलता है। स्ट्रिंडबर्ग की कला की सीमाएँ इतनी प्रशस्त हैं कि उनके

अंतर्गत १९ वीं शताब्दी के अंत से लेकर आज तक प्रकट होनेवाली सभी कला-पद्धतियों के चिह्न बीज रूप में विद्यमान हैं। यथार्थवाद, प्रकृतिवाद, प्रतीकवाद, अभिव्यंजनावाद, मनोवैज्ञानिक निरूपण की नवीन शैली इत्यादि सभी का पूर्व रूप उनके नाटकों, उपन्यासों तथा कहानियों में देखने को मिलता है। निराशा, मानसिक उच्चाट तथा मन के छिपे हुए भावों को व्यक्त करने की प्रबल आकांक्षा आदि मानसिक अवस्थाओं के बहुत ही सजीव चित्र इस महान् साहित्यकार ने प्रस्तुत किए हैं। इस युग का दूसरा महान् लेखक था टार हेडवर्ग। उसकी प्रतिभा भी बहुमुखी थी और उसकी कविताओं, नाटकों, उपन्यासों आदि का स्वेडीय साहित्य में बड़ा महत्व है। नारवे की भाँति ही स्वीडन में भी इस समय अधिकांश लेखक पारिवारिक जीवन तथा स्त्रियों के सामाजिक अधिकार की समस्याओं को ध्यान में रखकर रचना कर रहे थे। इन समस्याओं का महत्व २० वीं शताब्दी में भी बना हुआ है।

स्वेडीय साहित्य का स्वभाव मुख्यतः रोमांटिक और काव्यपरक है अतः उसमें शीघ्र ही यथार्थवाद के विरुद्ध प्रबल प्रतिक्रिया उठ खड़ी हुई। इस नवीन रोमांटिक उत्कर्ष के प्रमुख प्रवर्तक थे ओला हैंसोन। किंतु इसका प्रभाव स्ट्रिंडबर्ग की कृतियों में भी देखा जा सकता है। वर्तमान शताब्दी के प्रारंभ से लेकर सन् १९३० ई० तक का काल स्वेडीय साहित्य के लिये अत्यंत समृद्धि का समय था। यथार्थवाद का परित्याग हो जाने पर किसी नवीन प्रेरक शक्ति का स्वरूप उतना साफ साफ नहीं दिखाई देता। तब भी यूरोप के सभी नवीन साहित्यिक प्रयोगों का कुछ न कुछ असर स्वीडन के साहित्य पर पड़े बिना नहीं रहा। इस काल के चार प्रमुख साहित्यिक महारथी थे लेगर लाफ, हीडन स्टाम, कार्लफेल्ट, फ्रोडिंग। इनमें अंतिम दो ने विशुद्ध काव्य का निर्माण किया और प्रथम तीन की साहित्यिक सफलता के उपलक्ष्य में नोबेल पुरस्कार प्रदान किया गया। लेगर लाफ के रोमांटिक और आदर्शवादी उपन्यासों का उनके देश में स्वागत तथा संमान हुआ और वे अपने समय की सबसे प्रसिद्ध उपन्यास-लेखिका मानी जाती हैं। इनके लिखे हुए स्वेडीय और इटालियन जीवन की कथाएँ अत्यंत लोकप्रिय हुई हैं। हीडन स्टाम कवि तथा कथाकार हैं। उनकी रचनाओं का वातावरण भी रोमांटिक है और उनमें प्राच्य जीवन की झलक मिलती है। कार्लफेल्ट ने गंभीर तथा रोचक काव्य लिखे हैं तथा फ्रोडिंग ने भाषा और छंदों में नवीन प्रयोग का प्रयास अपनी कविताओं में प्रस्तुत किया है। वर्तमान काल में सोडरबर्ग ने उपन्यास-लेखन के क्षेत्र में सबसे बड़ी ख्याति पाई है। इनके उपन्यासों की तुलना अनातोले फ्रांस के उपन्यासों से की जा सकती है। हैंस लारसान की रचनाओं में जन जीवन के चित्रण का सफल प्रयास मिलता है। स्वीडन के अतिरिक्त फिनलैंड में भी महत्वपूर्ण साहित्य निर्माण का कार्य हो रहा है।

(७)

सन् १८८१ ई० में ज़ार अलेक्जेंडर द्वितीय की हत्या के साथ ही रूसी साहित्य में एक नवीन युग का प्रारंभ हुआ। इसका पूर्ववर्ती काल कथा-साहित्य की दृष्टि से अत्यंत संपन्न था। डास्टोवेस्की, तुर्गनेव और टालस्टाय ने अपनी कृतियों में समाज का एक

विस्तृत चित्र प्रस्तुत करते हुए उसकी आर्थिक तथा सांस्कृतिक समस्याओं की ओर संकेत किया था। अब इस सामाजिक एवं सुधारवादी कथा-साहित्य का विकास अवरुद्ध हो गया और लेखकों का ध्यान जीवन की सार्वभौम समस्याओं तथा साहित्यिक शिल्पकारी की ओर अधिक आकृष्ट हुआ। इस काल की प्रवृत्तियाँ मुख्यतः प्रतिगामी थीं। 'कला कला के लिये' वाले फ्रांसीसी दर्शन का प्रभाव रूस में भी पड़ा और कविता में सौंदर्य और संगीत को ही सबसे अधिक महत्व दिया जाने लगा। पुश्किन के देहावसान के उपरांत इस काल में कोई उच्च कोटि का कवि नहीं बचा। कथा-साहित्य के क्षेत्र में गार्शिन ने भावना-प्रधान उपन्यास लिखे। किंतु कोलोवेको के उपन्यासों में दलितों और निर्धनों के प्रति वास्तविक सहानुभूति दिखाई गई है। इसी काल में चेकाव ने भी अपनी कहानियों में यथार्थ-निरूपण के साथ साथ शोषित वर्ग के प्रति सहानुभूति का समावेश किया है। चेकाव में उच्च कोटि की प्रतिभा थी और कुछ दिनों तक वह रूस के उपन्यासकारों एवं नाटककारों में अग्रगण्य गिने जाते रहे।

सन् १८९० के बाद दमन तथा निरंकुश शासन के प्रभाव स्वरूप विद्रोही शक्तियाँ मार्क्सवाद से मिलजुलकर साहित्य में परिलक्षित हुईं। राजनीति के क्षेत्र में विद्रोहियों को १९०५ की क्रांति के विफल हो जाने पर कदम पीछे हटाना पड़ा और साहित्य में भी प्रतिगामी प्रवृत्तियाँ प्रकट हुईं। क्रांति के काल में सबसे सशक्त साहित्यिक प्रतिभा मैक्सिम गोर्की की थी जिन्होंने रूस में एक नवीन यथार्थवादी परंपरा का प्रारंभ किया। उनकी कला चेकाव की रचनाओं से प्रभावित थी। मार्क्स के जीवन-दर्शन को अपनाकर गोर्की ने परंपरागत यथार्थवाद को नवीन स्वरूप दिया। उनके हृदय में दलितों तथा शोषितों के प्रति अपार सहानुभूति थी और यही उनकी कहानियों और उपन्यासों में व्यक्त हुई है। १९०५ तक वह मुख्यतः कहानियाँ लिखते रहे। उसके उपरांत १९१७ तक अनेक उपन्यासों की रचना सफलतापूर्वक की। १९२० के पश्चात् उन्होंने आत्मकथा, व्यक्तिगत अनुभव तथा दार्शनिक विचारों पर निबंध और पुस्तकें लिखीं। गोर्की रूसी साहित्य की महान् विभूतियों में गिने जाते हैं। उन्होंने अपने दीर्घ जीवन-काल में रूस के क्रांतिपूर्ण इतिहास के निर्माण में अपनी रचनाओं तथा विचारों द्वारा महत्वपूर्ण योग प्रदान किया। १९०५ की असफल क्रांति के उपरांत रूसी साहित्य से उदार तथा प्रगतिशील चेष्टाओं का महत्व कुछ लुप्त होने लगा, यद्यपि कूप्रिन और बूनिन सदृश कथाकार चेकाव और गोर्की के आदर्शों पर रचना करते रहे। प्रतिगामी प्रवृत्तियाँ सबसे अधिक कविता के क्षेत्र में लक्षित हुईं। कुछ कवियों ने प्राचीन ग्रीस की ऐहिक तथा मध्ययुग की धार्मिक प्रेरणा को संकलित तथा समन्वित करके एक नवीन मानवतावादी दर्शन प्रस्तुत करने का प्रयास किया तथा उसके आधार पर काव्य निर्माण भी किया। फ्रांस से नवीन प्रभाव आकर रूसी साहित्य में प्रवेश कर रहे थे। कुछ लोगों ने 'कला कला के लिये' वाले सिद्धांत को ग्रहण किया और कुछ अन्य साहित्यकारों ने प्रतीकवाद को अपनाया। फलतः इस समय के रूसी काव्य में एक सौंदर्य-प्रवण प्रतीकवादी आंदोलन सबल हो उठा। रूसी प्रतीकवादी कवियों में सबसे प्रधान थे ब्लाक, जिनकी रचनाओं में उत्कट सौंदर्य-प्रेम के साथ रहस्य-भावना

तथा प्रतीकत्व का अद्भुत मिश्रण मिलता है। इसी काल में इटालियन भविष्यवाद तथा क्यूबिज्म का प्रभाव भी रूसी साहित्य पर पड़ा।

सन् १९१७ से लगातार १९२० तक रूस में राजनीतिक उथल पुथल के कारण साहित्यिक विकास का क्रम छिन्न भिन्न हो गया। क्रांति के प्रभाव ने जीवन को इतना अस्थिर तथा परिवर्त्तनशील बना दिया था कि किसी भी स्थायी साहित्य के निर्माण की संभावना कुछ दिन के लिये शेष नहीं बची थी। जो कविता लिखते थे वे केवल क्रांति के गाने गाते थे और सर्वहारा समुदाय की जाग्रति के लिये उत्तेजना प्रदान करना ही उनका उद्देश्य था। इस प्रकार के अनेक छोटे बड़े कवि थे किंतु उनमें मायोवस्की ने सबसे अधिक ख्याति प्राप्त की। उनकी सशक्त वाणी ने जनता को प्रोत्साहित करते हुए नवीन क्रांति का समर्थन किया। १९२० तक क्रांति समाप्त हो चुकी थी और उसके उपरांत साहित्य का निर्माण पुनः प्रारंभ हुआ। साहित्य के नवीन आदर्शों के संबंध में कुछ तत्कालीन विचारकों तथा लेखकों में पर्याप्त मतभेद उपस्थित हुआ। एक ओर ट्राटस्की के नेतृत्व में साहित्य में उदारता के समर्थक थे जो प्राचीन परंपरा के उन्मूलन के विरुद्ध अपना स्वर उठा रहे थे। वे यह नहीं चाहते थे कि साहित्य पर राजकीय सत्ता का अधिकार रहे। दूसरी ओर लेफ्ट फ्रंट अथवा लेफ् समुदाय के लोग थे जिनके नेता थे मायोवस्की। ये लोग साहित्य को कम्युनिस्ट शासन के अंतर्गत मानते थे और उसकी अधीनता पूर्णरूपेण स्वीकार करने को तैयार थे। इन दलों की मान्यताओं में तात्विक भेद था तथा इनके विरोध के कारण कुछ दिन के लिये यह अनिश्चित हो गया कि रूसी साहित्य का भावी विकास किस दिशा में होगा। इन दोनों दलों के अतिरिक्त फेलोट्रावेलर्स भी थे जो कम्युनिस्ट न होते हुए भी क्रांति की नवीन शक्ति से प्रेरणा ग्रहण कर रहे थे। कुछ वर्षों तक क्रांति तथा सैनिक संघर्ष को ही विषय बनाकर कवि तथा कथाकार रचना करते रहे। किंतु थोड़े ही दिन के बाद कुछ ऐसे लेखकों ने साहित्य क्षेत्र में प्रवेश किया जो टालस्टाय, डास्टोवास्की इत्यादि की कला से प्रभावित थे। फेडिन, लियोनाफ ए० एन०, प्रभृति लेखकों के उपन्यासों में टालस्टाय का प्रभाव सरलता से देखा जा सकता है, यद्यपि उनकी पृष्ठभूमि नवीन है और उनमें सामयिक समस्याओं का उल्लेख मिलता है।

१९२८ में कवियों और लेखकों की आर० ए० पी० नामक एक नवीन संस्था स्थापित हुई। इसकी स्थापना मुख्यतः सरकारी प्रेरणा से हुई थी। इसका प्रधान उद्देश्य था प्रथम पंचवर्षीय योजना की सफलता में योगदान। इस संस्था के सदस्य मुख्यतः नव-निर्माण संबंधी रचनाएँ करते रहे जिनका कोई विशिष्ट साहित्यिक मूल्य नहीं था। १९३२ में गोर्की के प्रयत्न से इस संस्था का अंत हुआ और रूसी साहित्यिकों को पुनः रचनात्मक स्वतंत्रता वापस मिली। तब भी अनेक वर्षों तक प्रमुखता नवनिर्माण के विषयों की ही रही। कहानियों तथा उपन्यासों में बार बार यही दिखाया जाता था कि फैक्टरियों और फार्मों की उत्पत्ति किस प्रकार बढ़ाई जा सकती है और नवीन योजनाओं में बाधा उपस्थित करनेवाला किस प्रकार दंडनीय होता है। मायोवस्की ने कविता की प्रतीकवादी तथा भविष्यवादी परंपरा का अंत करके उसे यथार्थ जीवन से संबद्ध करने का प्रयत्न किया है। उनकी

रचनाएँ शक्ति और उत्तेजना से परिपूर्ण हैं। रूसी नाटकों में कई प्रकार की परंपराओं का समन्वय हुआ, जैसे—यथार्थवादी, प्रतीकवादी, तथा मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की प्रवृत्तियों का। इस मिश्रण का सबसे अच्छा उदाहरण ए० एन० टालस्टाय के नाटकों में दिखाई पड़ता है। अंत में यथार्थ निरूपण की ही प्रवृत्ति सबसे प्रमुख दिखाई देती है। रूसी थिएटर अत्यंत संपन्न और नवीन साधनों से परिपूर्ण हैं किंतु रूसी नाटक उसके अनुरूप वैशिष्ट्य नहीं प्राप्त कर सके हैं। अतः हम कह सकते हैं कि आधुनिक युग का रूसी नाट्य साहित्य बहुत उच्च कोटि का नहीं है। चेखव के बाद उस कोटि की दूसरी प्रतिभा रूसी नाटकों के क्षेत्र में उत्पन्न नहीं हुई। इस काल के उपन्यासकारों में सोलोकोफ का उल्लेख अत्यंत आवश्यक है। इन्होंने अपने उपन्यासों में कसाकों तथा साइबेरिया के अन्य निवासियों के जीवन का अत्यंत सफल चित्रण किया।

आज के रूसी साहित्य में सर्वमान्य प्रभाव साम्यवादी यथार्थवाद का ही है। इस नवीन विचार-पद्धति की बुनियाद ऐतिहासिक तथा द्वंद्वात्मक भौतिकवाद पर पड़ी है और साहित्य में इसने यथार्थवाद की प्रणाली को अपनाया है। अपने साहित्यिक प्रभाव के लिये यह सामाजिक जीवन और संघर्ष से ही मसाला एकत्र करता है। दलितों और शोषितों के प्रति इसमें दया और सहानुभूति प्रचुर मात्रा में संनिहित है किंतु यह भविष्य के प्रति आशावादी दृष्टिकोण रखता है। साम्यवादी यथार्थवाद का विश्वास है कि प्रगतिवादी शक्तियों के सहारे एक ऐसे भविष्य का निर्माण किया जा सकता है जिसमें आज की आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था से भिन्न एक ऐसी व्यवस्था होगी जो सर्वजनहिताय होगी। रूसी साहित्य में नवीन विचार और प्रयोग के चिह्न पग पग पर दिखाई देते हैं किंतु यह कहना कि अतीत से एकदम संबंध विच्छेद हो गया है, ठीक नहीं होगा। पिछले ३०-३५ वर्षों में रूसी जीवन और काव्य दोनों ही ऊपरी सतह पर उद्वेलित और आंदोलित हो उठे हैं किंतु तह में प्राचीन संस्कृति की धारा निर्विरोध बह रही है। इस तथ्य का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि रूस में आज फिर प्राचीन साहित्य के अनुशीलन और ग्रहण की आकांक्षा बलवती हो रही है। एक दूसरा प्रमाण यह है कि पिछले दस वर्षों में रूस में ऐतिहासिक नाटकों का प्रचलन बहुत बढ़ गया है। यह भी अतीत से अपने संबंध को फिर से देखने का ही एक प्रयास है।

(८)

अंग्रेजी साहित्य के अंतर्गत सन् १८३० ई० तक रोमांटिक प्रणाली का आधिपत्य था और उसके उपरांत ५८ वर्षों तक तर्क और कल्पना, बौद्धिकता और भावना की विरोधी शक्तियाँ साथ साथ अपना कार्य करती रहीं। इन विरोधी शक्तियों का बहुत कुछ समाहार भी होता रहा और कम से कम कुछ वर्षों के लिये अंग्रेजी साहित्य के क्षेत्र में एक संतुलित व्यवस्था की स्थापना हो सकी। टेनीसन की कविता में सामंजस्य की झलक दिखाई पड़ती है। परिस्थिति में निरंतर परिवर्तन होता रहा और सन् १८८० के लगभग नवीन विचार-धारा के प्रबल आघात के कारण महारानी विक्टोरिया के राज्य-काल का यह संतुलन नष्ट होने लगा। वैज्ञानिक विचार तथा जड़ दर्शन के सिद्धांत तत्कालीन जीवन को प्रबल वेग

से प्लावित कर रहे थे। अतः उनका साहित्य पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही था। आस्था और विश्वास के स्थान पर तर्क और अनुसंधान को महत्व मिला और अंग्रेज जाति के जीवन दर्शन ने एक नवीन दिशा और गति प्राप्त की। अंग्रेज बाह्य प्रभावों को ग्रहण करने में तब तक संकोच करते थे किंतु इस नवीन युग में फ्रांसीसी यथार्थवाद का अनुकरण करने में अंग्रेजी उपन्यासकारों ने तनिक भी संकोच नहीं किया। इसी भाँति अंग्रेजी कविता पर फ्रांसीसी, पारनीसियन तथा प्रतीकवादी कविता का और अंग्रेजी नाटकों पर इब्सन के यथार्थवादी नाटकों का प्रभाव विशेष रूप से पड़ा। फलतः अब अंग्रेजी साहित्य में सार्वभौमिकता की नवीन विशेषता का आविर्भाव हुआ। अमरीकन कवियों और कहानी लेखकों के प्रभाव से भी इसी प्रवृत्ति को बल मिला। २० वीं शताब्दी में यह विशेषता और भी स्पष्ट तथा बलवती हो गई है। इसी संबंध में नवीन साहित्य में वैयक्तिकता की प्रबल चेष्टा का उल्लेख भी समीचीन होगा। पूर्ववर्ती काल में साहित्यिक आंदोलनों का रूप निर्धारित करना अत्यंत सरल था किंतु आज स्थिति इतनी जटिल हो गई है कि लेखकों और कवियों को विभिन्न समुदायों में बाँटना आसान नहीं है। अतएव उनकी व्यक्तिगत विशेषताओं का अध्ययन ही अधिक वांछनीय है। जीवन इतना परिवर्तनशील और साहित्यिक विकास-क्रम इतना तीव्र हो गया है कि प्रगति की परिधि और दिशा को स्पष्ट रूप से ग्रहण करना कठिन प्रतीत होता है। अतः जानने की उत्कंठा और परिस्थिति का अनिश्चित ज्ञान एक साथ ही उपस्थित होकर असंतोष को जन्म दे देते हैं। पिछले चालीस वर्षों के भीतर दो महासमर हुए जिन्होंने यूरोपीय जीवन को तह तक हिलाकर दीर्घकालीन विश्वासों का विध्वंस कर दिया। जीवन और साहित्य के मूल्य अनिश्चित हो गए तथा प्रत्येक महासमर के बाद निराशा और शोक ने यूरोप के प्रायः सभी देशों में जनता के जीवन को मलिन और विषाक्त बना दिया। दोनों ही महायुद्धों का गहरा प्रभाव अंग्रेजी साहित्य पर पड़ा और इनके फलस्वरूप जिन विशेषताओं का प्रादुर्भाव हुआ उनका उल्लेख यथास्थान किया जायगा। सामाजिक जीवन में भी क्रांति के चिह्न दिखाई पड़ते हैं। अंग्रेज स्त्रियों को चुनाव में मत देने का अधिकार मिल गया और जीवन के प्रत्येक विभाग में वे पुरुषों की बराबरी करने लगीं। महासमर के बाद अमरीकी स्त्रियों के समान ही अंग्रेज स्त्रियों ने भी शृंगार और आमोद प्रमोद के ढंग सीख लिए। जीवन में सुविधा के नवीन साधन उपलब्ध हो गए और उसमें एक नई रंगीनी आ गई। इन सभी बातों का प्रभाव साहित्य पर पड़ा। अतः सन् १८८० से आज तक का साहित्य पूर्ववर्ती युगों के साहित्य से बहुत कुछ भिन्न है।

१९ वीं शताब्दी में अंग्रेज़ी उपन्यास का अभूतपूर्व विकास हुआ। जेन आस्टेन, वाल्टर स्काट, डिकेंस, थैकरे, ट्रालोप, गिसिंग, जार्ज ईलियट, ब्रांटीज़ प्रभृति उपन्यासकारों ने अपनी अपनी रचनाओं से अंग्रेज़ी कथा-साहित्य के भांडार को भरा-पूरा बनाया। सन् १८८० तक विविध प्रकार के उपन्यास लिखे जा रहे थे और अनेक विशिष्ट प्रतिभा के लेखक कथा-साहित्य की रोचकता तथा उसके विस्तार की वृद्धि अप्रत्याशित रूप में कर रहे थे। अमरीकन कथाकार हेनरी जेम्स के विश्लेषणात्मक उपन्यास अत्यंत कलात्मक ढंग से मानसिक चेष्टाओं के यथार्थ चित्र प्रस्तुत करने में सफल हुए। उनकी निर्माण-कला तथा

वस्तु-विन्यास एकदम नए ढंग के थे। अतः उन्होंने कला की दृष्टि से एक नवीन आदर्श उपस्थित किया। मेरेडिथ तथा टामस हार्डी दोनों ही सामयिक यांत्रिक जीवन-दर्शन से प्रभावित थे किंतु दोनों के उपन्यासों में विभिन्न प्रकार के वातावरण का निर्माण हुआ है। मेरेडिथ आशावादी थे तथा उन्होंने अपनी कथाओं में नववयस्कों की आशाओं और आकांक्षाओं का भावना-प्रधान चित्रण किया है। कहीं कहीं उनका सौंदर्य-प्रेम इतना उत्कट हो गया है कि उनके वर्णनों में काव्य का आनंद आने लगता है। टामस हार्डी के अधिकांश उपन्यास दुःखांत तथा घोर निराशा की भावना पर आधारित हैं। उनमें प्रबल शक्तियों का शिकार बनकर मनुष्य निश्चित रूप से ध्वंस की ओर अग्रसर होता दिखाई पड़ता है। इसी काल में राबर्ट लुई स्टीवेन्सन ने अपने रोमांटिक तथा साहसिक उपन्यासों द्वारा प्रचुर ख्याति अर्जित की। कहानी कहने की सफाई और रोचकता तथा भाषा-शैली की दृष्टि से स्टीवेन्सन की रचनाओं का विशेष महत्व है। बटलर ने अपने व्यंग्यपूर्ण उपन्यासों द्वारा १९ वीं शताब्दी की भौतिक तथा व्यापारिक सभ्यता पर कड़ा प्रहार किया।

वर्त्तमान शताब्दी के प्रारंभिक वर्षों में किपलिंग की कहानियों और उपन्यासों का सबसे अधिक प्रचलन था क्योंकि इनमें नवीनता का चमत्कार था। स्टीवेन्सन की भाँति ही किपलिंग कहानी कहने में अत्यंत कुशल थे अतः उनकी रचनाओं द्वारा लोगों का मनोविनोद हुआ। इसके अतिरिक्त इन उपन्यासों की पूर्वीय पृष्ठभूमि अंग्रेज पाठकों के लिये एक नई चीज थी। किपलिंग की शैली भी कथानक के अनुकूल ही नवीन आकर्षण से परिपूर्ण थी। प्रकाशन के ढंग में अपूर्व शक्ति तथा बाइबिल के वाक्यों की सादगी का आश्चर्यजनक मिश्रण मिलता था तथा अप्रचलित शब्दों के संयत प्रयोग से एक नवीन चमत्कार का आविर्भाव होता था। किपलिंग ने ब्रिटिश साम्राज्य की गरिमा और श्वेत जातियों की महान् जिम्मेदारी को मानकर ही अपने साहित्य का निर्माण किया है, अतः उसमें एक संकीर्णता आ गई है। तथापि नवीन उपकरण प्रस्तुत करने के कारण उसका स्वागत हुआ। गाल्सवर्दी ने भी इस शताब्दी के प्रथम वर्षों में ही उपन्यास लिखना प्रारंभ किया। उनकी प्रमुख रचना 'फार साइट सागा' में सौंदर्य भावना तथा स्वार्थ-परायणता का पारस्परिक द्वंद्व अत्यंत सफलतापूर्वक अंकित किया गया है। गाल्सवर्दी के उपन्यासों में एक ओर तो विचारों की प्रधानता है और दूसरी ओर सामाजिक परिस्थितियों के चित्रण की प्रवृत्ति। एक दूसरे महत्वपूर्ण उपन्यासकार थे आर्नल्ड बेनेट, जिनकी कहानियों और उपन्यासों में फाइव टाउंस नामक जनपद के मिट्टी के बर्तन बनानेवाले कारीगरों के सामाजिक तथा वैयक्तिक जीवन की अत्यंत सूक्ष्म तथा यथार्थ अभिव्यक्ति हुई है। ज़ोला और मोपासा के आदर्श पर कार्य करनेवाले अंग्रेज कलाकारों में आर्नल्ड बेनेट की परिगणना सर्वप्रथम की जाती है। एच० जी० वेल्स शिक्षा-दीक्षा की दृष्टि से वैज्ञानिक तथा सहानुभूति की दृष्टि से समाजवादी थे। अपने दीर्घ जीवन-काल में उन्होंने कई तरह के उपन्यास लिखे। १६ वीं शताब्दी के अंतिम दशक में उनकी वैज्ञानिक कहानियाँ और उपन्यास अत्यंत लोकप्रिय हुए। प्रथम महायुद्ध के पहलेवाले वर्षों में उन्होंने तीन चार अत्यंत रोचक तथा सफल उपन्यासों की रचना की जिनमें लंदन और उसके आसपास के रहनेवाले लोगों के जीवन का विस्तृत एवं

विनोदपूर्ण निरूपण है। १६२० के बाद का लिखा हुआ उनका एक बहुत बड़ा उपन्यास समाजवाद का विवेचन मात्र है जो कथानक की दृष्टि से अत्यंत असफल है। प्रथम और द्वितीय महायुद्ध के बीचवाले वर्षों में अंग्रेजी उपन्यास के क्षेत्र में साधारणतः तीन मुख्य प्रवृत्तियाँ लक्षित हुईं। सबसे अधिक प्राधान्य था मनोवैज्ञानिक उपन्यासों का, जिनके कथानक की चेष्टा अंतर्मुखी थी। वर्जिनिया उल्फ के पाँच-छः उपन्यासों में मानसिक क्रियाओं, उलझनों, ग्रंथियों इत्यादि के आधार पर कथानक का निर्माण हुआ है। इनमें बाह्य वस्तु-विन्यास अत्यंत सरल होता है किंतु पाठक अधिकांश आंतरिक व्यापार ग्रहण करके ही आनंद प्राप्त करता है। जेम्स ज्वायस ने अपने प्रथम उपन्यास 'यूलिसीज़' में २४ घंटे के अंतर्गत मन में उठनेवाले भावों और विचारों का विस्तृत वर्णन किया है। कामवासना को इस उपन्यास में इतना महत्व दिया गया है कि प्रकाशित होने पर लोगों ने इसकी अश्लीलता के कारण इसकी बड़ी कड़ी आलोचना की। १७ वर्ष तक चुप रहने के उपरांत ज्वायस ने सन् १९३९ ई० में 'फिनिगन्स वेक' नामक दूसरा उपन्यास प्रकाशित किया जो मनोवैज्ञानिक निरूपण और शैली की दृष्टि से कहीं अधिक जटिल है। डी० एच० लारेंस तथा आल्डस हक्सले के उपन्यासों की तह में भी मनोवैज्ञानिक तथ्य रहते हैं किंतु प्रत्यक्ष रूप से दोनों ही विचारक के रूप में हमारे सामने आते हैं। इन दोनों लेखकों ने जीवन और समाज की समस्याओं पर गंभीरतापूर्वक विचार किया है और उनके विचारों का समावेश उनके उपन्यासों में हुआ है। डी० एच० लारेंस ने सामाजिक व्यवस्था की कटु आलोचना प्रस्तुत की। हक्सले ने सामाजिक समस्याओं के अतिरिक्त आध्यात्मिक समस्याओं पर भी अपने विचार व्यक्त किए हैं। कला की दृष्टि से हक्सले का स्थान लारेंस से कहीं ऊँचा है। इन दो श्रेणियों के अतिरिक्त तीसरी कोटि उन उपन्यासकारों की है जिन्होंने परंपरा से अपना संबंध विच्छेद न करके जीवन के रोचक चित्र प्रस्तुत करना ही अपना ध्येय बनाया है। यद्यपि इनकी कृतियों में विचार मिलते हैं और मनोविज्ञान का पुट भी मौजूद रहता है तथापि उनका प्रथम उद्देश्य कथा कहते हुए समाज का रूप सामने प्रस्तुत करना ही है। ऐसे लेखकों में सर्वप्रमुख हैं समरसेट माघम, जो इस शताब्दी के प्रारंभ से आज तक अनवरत रीति से साहित्य-निर्माण कर रहे हैं। फारस्टर के उपन्यासों में मनोवैज्ञानिक चेष्टा तथा यथार्थ निरूपण का मिश्रण रहता है और एवीलिन वा की रचनाओं में कल्पना, यथार्थ और तीखे व्यंग्य का सूक्ष्म समन्वय मिलता है। जे० बी० प्रिस्टले भी मुख्यतः कहानी कहनेवाले ही हैं, क्योंकि किसी मत विशेष को लेकर वे कभी अपने रास्ते से अलग नहीं होते।

सन् १९३९ में द्वितीय महासमर प्रारंभ हुआ और इसके फलस्वरूप लेखकों ने युद्ध की समस्याओं तथा युद्धकालीन जीवन पर आधारित रचनाएँ कीं। एलिज़ाबेथ बोवेन का 'हीट आव द डे' नामक उपन्यास इस कोटि का सबसे प्रसिद्ध उपन्यास है, यद्यपि इसकी रचना युद्ध समाप्त होने के बाद हुई थी। एलिज़ाबेथ बोवेन अत्यंत समर्थ लेखिका हैं। इन्होंने कई सुंदर उपन्यास युद्ध के पूर्व लिखे थे और अब भी सफलतापूर्वक साहित्य-निर्माण में संलग्न हैं। इनकी कला पर वैसे तो इनके विस्तृत अध्ययन की छाप अनायास ही दिखाई पड़ती है, तब भी इनपर विशेष प्रभाव हेनरी जेम्स की रचनाओं का पड़ा है। नाद और सौंदर्य व्यक्त करने की इनमें

अपूर्व क्षमता है और इनकी शैली सुसंस्कृत और परिमार्जित है। आल्डस हक्सले, एवलिन वा इत्यादि के युद्धकाल तथा उसके बाद के काल में भी कई उपन्यास प्रकाशित हुए हैं जिनमें व्यंगात्मक परिपाटी का ही प्रयोग हुआ है, यद्यपि आल्डस हक्सले के नवीन उपन्यासों में विचार-पद्धति बदल गई है तथा कला अधिक सूक्ष्म हो गई है। समरसेट माघम का सर्वोत्तम उपन्यास 'केक एंड एल' युद्धोत्तर काल में प्रकाशित हुआ है। इसका भी आकर्षण इसके व्यंग्य में संनिविष्ट है। ई० वी० कांप्टन बरनेट महोदया सन् १९११ से ही उपन्यास लिखती आ रही हैं किंतु इनकी विशेष ख्याति १९२६ के बाद इनके पारिवारिक उपन्यासों के कारण हुई है। इनकी रचनाओं में कथोपकथन का विशिष्ट सौंदर्य मिलता है। हेनरी ग्रीन की प्रतिभा व्यक्तित्व-प्रधान है और उपन्यासों का आकर्षण खासकर उनमें निर्मित सुंदर वातारण के कारण है। कैथोलिक उपन्यासकार ग्राहम ग्रीन की रचनाएँ आज सर्वाधिक प्रचलित तथा लोकप्रिय हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि वे उलझनों में न पड़कर सीधे सादे ढंग से कहानी कहना चाहते हैं। यही प्रवृत्ति कैरी, हार्टले इत्यादि के उपन्यासों में दिखाई पड़ती है। सामान्य रूप से कहा जा सकता है कि आज का अंग्रेजी उपन्यास दुरूह मानसिक चित्रण और चरित्र-विश्लेषण से थककर सरल और स्पष्ट वस्तु-विन्यास की ओर अधिकाधिक झुक रहा है। इसका अर्थ यह है कि हेनरी जेम्स, वर्जिनिया उल्फ तथा जेम्स ज्वायस के आदर्शों का परित्याग करके अंग्रेजी उपन्यास स्टीवेंसन और किपलिंग की परिपाटी को फिर से अपना रहा है।

सन् १८८० ई० तक अंग्रेजी कविता में उस परंपरा का अंत हो चुका था जिसकी स्थापना सन् १८३० के लगभग रोमांटिक आंदोलन समाप्त होने पर हुई थी। टेनीसन, ब्राउनिंग, रासेटी, स्विनबर्न, मैथ्यू आर्नल्ड इत्यादि विक्टोरिया-कालीन प्रमुख कवि अभी जीवित थे किंतु उनके सर्वोत्तम काव्य का रचना-काल बीत चुका था। नवीन युग में कवियों का अभाव नहीं था किंतु इन बहुसंख्यक काव्य-निर्माताओं में कोई भी टेनीसन अथवा ब्राउनिंग की तुलना में खड़ा होने योग्य न था। राष्ट्रीय साहित्यिक प्रतिभा का उपयोग अब कविता की अपेक्षा उपन्यास और नाटक लिखने में अधिक हो रहा था और सभी उल्लेखनीय कवि कविता के अतिरिक्त नाटक अथवा उपन्यास भी लिखते थे। मेरेडिथ और हार्डी यशस्वी उपन्यासकार थे किंतु दोनों ने पर्याप्त मात्रा में काव्य-रचना भी की। मेरेडिथ की कविताओं में कहीं प्राकृतिक सौंदर्य के प्रति सहज आकर्षण और कहीं गंभीर चिंतन के प्रमाण मिलते हैं। टामस हार्डी समय समय पर सुंदर मुक्तक लिखते रहे और सन् १९०४-०८ के बीच में उन्होंने नेपोलियन के युद्धों के विषय में एक विराट् नाट्य-काव्य 'द डाइनेस्ट्स' रचा, जो अभिनय के लिये अयोग्य होने पर भी कवित्व की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण है। विराट् काव्यों का प्रचलन चल पड़ा और डाउटी तथा अन्य कवियों ने लंबे कथा-काव्यों की रचना वर्तमान शताब्दी के प्रारंभ में की। प्रथम महायुद्ध के समाप्त होने के कई वर्ष बाद राबर्ट ब्रिजेज़ ने अपनी लंबी दार्शनिक कविता 'द टेस्टामेंट आव ब्यूटी' प्रकाशित करके विशेष यश प्राप्त किया। इस कविता का छंद-विन्यास एकदम नवीन है और जटिल होते हुए भी इसमें सौंदर्य और तर्क के प्रभाव का सुंदर निरूपण मिलता

है। १९ वीं शताब्दी के अंतिम दशक में सबसे अधिक चकित करनेवाली कविता रुडयार्ड किपलिंग की थी क्योंकि इसके विषय, शैली, लय, भाषा सभी अपरिचित थे। अतः अपनी नवीनता से इसने बहुसंख्यक पाठकों को लुब्ध कर लिया। 'शापशायर लैंड' के रचयिता ए० ई० हाउसमन लैटिन के प्रख्यात विद्वान् थे। अतः साधारण विषयों पर लिखी उनकी कविता में एक निखरी हुई सादगी मिलती है। शुद्ध सौंदर्यवादी कवियों में आस्कर वाइल्ड का नाम सर्वप्रथम उल्लेखनीय है, यद्यपि उनका महत्व कविता की अपेक्षा नाटकों के क्षेत्र में अधिक स्वीकार किया गया। डाउसन के काव्य में सौंदर्य-प्रेम की पृष्ठभूमि में घोर निराशा झलकती है। धार्मिक कवियों में फ्रांसिस टांपसन तथा एलिस मेनेल ने सबसे अधिक यश प्राप्त किया। टांपसन रहस्यवादी थे और उनकी प्रमुख कविता में सौंदर्य-प्रेम, रहस्य-भावना तथा धार्मिक आस्था का अभूतपूर्व मिश्रण विद्यमान है। १९१४-१८ वाले महायुद्ध के पूर्व के वर्षों में जार्जियन कवियों का एक प्रसिद्ध समुदाय था जिसके सदस्य अनेक प्रतिभा-संपन्न नवयुवक कवि थे। इस दल के नेता थे रूपर्ट ब्रुक जिन्होंने अपने अल्प जीवन में अत्यंत सुंदर काव्य लिखा जो देश-प्रेम और यौवन की मस्ती से ओतप्रोत है। एक दूसरे उल्लेखनीय जार्जियन कवि वाल्टर डी० ला० मेयर थे। इनकी कविता में नैसर्गिक सौंदर्य और प्राकृतिक अनुभवों की रोचक अभिव्यक्ति हुई है। डब्ल्यू० एच० डेविस की कविताएँ अपने प्रभाव और अपनी सादगी के लिये बेजोड़ हैं। जार्जियन दल के बहुत से कवियों ने प्रथम महायुद्ध में भाग लिया और युद्ध के अनुभवों ने उनकी कविता के स्वर को बहुत कुछ बदल दिया। प्रथम युद्ध के पूर्व ही आयरलैंड में नवीन साहित्यिक जाग्रति प्रारंभ हो गई थी और ए० ई० तथा डब्ल्यू० बी० एट्स प्रभृति कवि-कल्पना और माधुर्य से पूर्ण सुंदर कविताएँ लिखने में समर्थ हुए। एट्स प्रथम महासमर के बाद भी जीवित रहे यद्यपि बाद में उनके काव्य का स्वरूप कुछ बदल गया।

प्रथम महायुद्ध समाप्त होने पर अंग्रेजी कविता में जो प्रतिक्रिया सर्वप्रथम लक्षित हुई, वह थी युद्ध के प्रति घृणा और शांति के प्रति आकर्षण। जिन कवियों ने युद्ध में भाग लिया था और ध्वंस तथा यातना के दृश्य स्वयं देखे थे उनके मन में उचाट पैदा हो गया था और उन्होंने हिंसा तथा विनाश को समाप्त करके संसार में स्थायी शांति स्थापित करने का आग्रह अपनी कविता में व्यक्त किया है। ओवेन, सिसून, वलंडन प्रभृति कवियों की रचनाएँ उस मानसिक अवस्था से प्रेरित हैं जिससे राष्ट्रसंघ की उत्पत्ति हुई थी। इन सिपाही कवियों के अतिरिक्त तत्कालीन काव्य-क्षेत्र में वे कवि थे जो युद्ध के पूर्व ही प्रसिद्ध हो चुके थे। टामस हार्डी के नवीन छोटे मुक्तकों में सौंदर्य भावना तथा निराशा का वही पुराना योग प्रस्तुत है। डब्ल्यू० बी० एट्स की कविता निर्विकास-क्रम में अपनी अंतिम अवस्था को प्राप्त कर चुकी थी जिसमें कवि की वाणी गंभीर हो जाती है। लारेंस बिनयांड ने युद्धोत्तर काल में अपने प्रसिद्ध 'ओड्स' की रचना की जिनमें नवीन विषयों पर परंपरागत शैली में सुंदर भावों का प्रकाशन हुआ है। जार्जियन कवियों में भी कुछ सक्रिय थे। वाल्टर डी लारमेयर ने इस काल में बच्चों के लिये बड़ी ही सुंदर कविताएँ लिखीं। उनकी अन्य कविताएँ पुरानी परिपाटी का निर्वाह करती हैं। जान नेसफील्ड ने चासर की प्राचीन

शैली में कथा-काव्य का निर्माण किया है और 'रिनरर्ड द फ़ाक्स' नाम की उनकी कविता कुछ दिन के लिये अत्यंत लोकप्रिय हुई। इन पुरानी पद्धति के कवियों से अधिक महत्व-पूर्ण थे ऐसे काव्य-रचयिता जो अंग्रेजी काव्य में नवीनता का आवाहन कर रहे थे। इस संबंध में दो प्रभाव उल्लेखनीय हैं। १९१८ में राबर्ट ब्रिजेज ने जिरर्ड, मैनली, हापकिंस की कविताओं का संग्रह सर्वप्रथम प्रकाशित करवाया, यद्यपि हापकिंस का रचनाकाल १९ वीं शताब्दी में था। ये कविताएँ एकदम नई थीं क्योंकि हापकिंस ने अपने दार्शनिक और धार्मिक विचारों के प्रकाशन के लिये परंपरागत छंदों का परित्याग करके एक नवीन तथा अद्भुत् माध्यम का उपयोग किया है। उसके काव्य की लय बोलचाल की भाषा से मिलती जुलती है क्योंकि हापकिंस की धारणा थी कि प्रचलित छंदों में बँधी कविता कृत्रिम हो जाती है। अतः इन नवीन कविताओं के प्रकाशन से काव्य-निर्माण का नवीन आदर्श सामने आया जिसको १७ वीं शताब्दी के आध्यात्मिक कवि डान की कविताओं के प्रचलन से समर्थन मिला। १९१२ में डान की कविताओं का एक विश्वसनीय संस्करण निकला और उसके उपरांत अंग्रेजी के अनेक आधुनिक कवि उससे प्रभावित हुए। साथ ही साथ कुछ ऐसे कवि थे जो नवीन काव्यात्मक प्रयोगों में तत्परतापूर्वक संलग्न थे। इन लोगों में प्रमुख थे एडिथ सिथवेल, आसवर्ट सिथवेल इत्यादि। इस समुदाय पर अमेरिकन इमैजिस्ट, फ्रांसीसी प्रतीकवादियों, वाल्ट ह्विटमैन इत्यादि का प्रभाव साथ साथ पड़ रहा था।

सन् १९२२ ई० में ईलियट का प्रसिद्ध काव्य 'द वेस्ट लैंड' प्रकाशित हुआ जिसने अंग्रेजी कविता के क्षेत्र में क्रांति उत्पन्न कर दी। ईलियट अपने युग की नवीन परिस्थिति और काव्य के अंतर्गत होनेवाले प्रयोगों से पूर्ण रूप से प्रभावित थे। उनकी प्रतिभा अत्यंत सशक्त तथा उनकी उद्भावनाएँ एकदम नवीन हैं। फलतः 'द वेस्ट लैंड' में अद्भुत विशेषता मिलती है। इस काव्य में युद्धोत्तर काल का नैराश्य मुखरित हो उठा है। चारों ओर विनाश के दृश्य दिखाई देते हैं—ऊसर भूमि, पत्थरों के ढेर और टूटी हुई इमारतें। इस उजड़े संसार में मनुष्य भावी आशा और नवनिर्माण की खोज करता है किंतु सफलता के कोई चिह्न दृष्टिगोचर नहीं होते हैं। ईलियट का काव्य, १९२२ के पहले और बाद का भी, अत्यंत जटिल और अस्पष्ट है। कवि की व्यक्तिगत भावनाओं का अनियमित तथा असंबद्ध प्रकाशन पाठक के लिये अर्थ-ग्रहण करना अत्यंत दुष्कर बना देता है। अनेक प्राचीन ग्रंथों, सिद्धांतों एवं स्थलों इत्यादि का जिक्र निरंतर मिलता है जिसके कारण अर्थ से अवगत होना और भी कठिन हो जाता है। छंद के प्राचीन नियमों और सिद्धांतों की अवहेलना की गई है और काव्य-रचना आद्योपांत आंतरिक लय के आधार पर ही हुई है। १९२२ के पश्चात् ईलियट ने कई काव्य-नाटकों तथा अनेक अन्य कविताओं की रचना की। दो एक तो अपेक्षाकृत सरल हैं। अतः कुछ दिनों तक यह आशा होने लगी थी कि टी० एस० ईलियट का काव्य सरलता की ओर विकसित हो रहा है किंतु दुरूहता अब भी बनी हुई है। फलतः टी० एस० ईलियट की कविता का भाव पूर्णरूपेण ग्रहण करना सरल कार्य नहीं। इसके लिये कवि के जीवन-दर्शन और काव्य-दर्शन से परिचित होना भी अपेक्षित है।

सन् १६२६ और १९३६ के बीच के वर्षों में कविता में अनेक नवीन प्रवृत्तियों का प्रादुर्भाव हुआ। यह मंदी और बेकारी का काल था। अतः कवियों का मन सहानुभूति से द्रवित हुआ। मार्क्स के दर्शन का प्रभाव सारे यूरोप में फैल रहा था, अतः अंग्रेज़ कवियों ने भी सामयिक परिस्थिति से विशेष रूप से प्रेरित होकर इसे अपनाया। इसके अतिरिक्त नवीन मनोविज्ञान के सिद्धांतों का भी प्रभाव पड़ा और कविता उससे अछूती न रही। इन दस वर्षों की कविता के मूल्यांकन के लिये इन तीन तथ्यों—मंदी, मार्क्सवाद और विज्ञान—का ध्यान रखना अनिवार्य है। १६२६ के उपरांत नई पीढ़ी के कवि अपनी रचनाओं से यश प्राप्त करने लगे। सबसे प्रमुख कवि थे डी० लिविस, आउडरिन, स्पेंडर तथा मैकनीस। इनमें प्रथम तीन कम्युनिस्ट विचारों से स्पष्टरूपेण प्रभावित थे और चौथे में दलितों के प्रति स्वाभाविक सहानुभूति विद्यमान थी। इन चारों पर टी० एस० ईलियट का प्रभाव पड़ा था। किंतु इन लोगों ने ईलियट की शैली को ग्रहण किया था, उनके परंपरावादी दर्शन को नहीं। डी० लिविस की कविता मार्क्सवादी विचारों से क्रमशः अधिकाधिक प्रभावित हुई और स्पेन के युद्ध में फ्रांको की विजय ने कवि के मन में प्रचलित आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्था के प्रति घोर विरोध उत्पन्न कर दिया। आउडरिन की स्पेन संबंधी कविता अत्यंत प्रख्यात हुई। उसमें अद्भुत शक्ति और व्यंग्य का समावेश हुआ। आउडरिन में अपने साथियों की अपेक्षा अधिक नवीनता है। इनके काव्य पर मार्क्स और फ्रायड का संमिलित प्रभाव पड़ा है तथा इनकी शैली नवीनता तथा व्यंग्य से परिपूर्ण है। स्पेंडर के मन में वर्तमान सामाजिक व्यवस्था के प्रति क्रोध कम किंतु दलितों के प्रति दया अधिक है। मैकनीस व्यक्तिवादी कवि हैं और उनकी भाषा संयत तथा शैली परिष्कृत है। कवित्व की दृष्टि से यह अन्य कवियों से अधिक महत्व रखते हैं। इन सुविख्यात कवियों के अतिरिक्त अतियथार्थवादियों का एक दल था जिनमें हरवर्ड रीड, एडविन म्योर, डाइरिन टामस इत्यादि की गणना की जा सकती है। हरवर्ड रीड और म्योर ने काव्य को एक प्रकार का स्वप्न मानकर एक नए ढंग की कविता प्रचलित की। डाइरिन टामस, जिनका देहांत हाल में हुआ है, प्रतीकों के प्रेमी थे। उनकी कविता में अपरिचित रूपकों, प्रतीकों, अलंकारों इत्यादि का प्रचुर प्रयोग हुआ है। द्वितीय महासमर के प्रारंभ के पहले ही अंग्रेज़ी कविता का क्षेत्र तेजी से विस्तृत हो रहा था और उसपर नवीन विज्ञान का प्रभाव पड़ रहा था। इससे उसमें नवीनता और रोचकता का प्रादुर्भाव साथ ही साथ हो रहा था।

नवीनतम अंग्रेज़ी कविता बहुत कुछ बदल गई है। आउडन अब अमेरिका में निवास करते हैं और अंग्रेज़ी काव्यधारा से उनका सीधा संबंध नहीं रह गया है। डी० लेविस, स्पेंडर तथा मैकनीस की सामाजिक और समाजवादी भावना युद्ध के प्रभाव से बहुत अंशों में बदल गई है। सामाजिक चेतना का स्थान अब वैयक्तिक भावना ने ले लिया है और वे कविता में अपनी निजी आशाओं, आकांक्षाओं तथा कल्पना की अभिव्यक्ति में ही संतोष का अनुभव करते हैं। इसके बिलकुल विपरीत एडिथ सिटवेल की नवीन कविता में सामाजिक चेतना विद्यमान है। इनकी पूर्वकालीन कविता में चमत्कार, प्रयोगवादिता तथा व्यक्तिगत वैशिष्ट्य लक्षित होते थे किंतु अब इस कवयित्री की भावना सार्वभौम हो गई है और

इनकी रचनाएँ सामाजिक परिवर्तन से प्रभावित होती हैं। एडविन म्योर ने प्राचीन कथानकों के आधार पर मनोवैज्ञानिक चित्रण उपस्थित किए हैं। वह स्वप्नों तथा अवचेतन मन के कवि हैं। कैंपबेल नामक साउथ अफ्रीकन कवि ने व्यंग्य तथा शक्ति से परिपूर्ण कविताएँ लिखी हैं जिनमें से अधिकांश का संबंध उनके स्वदेश से है। एलेक्स कंफर्ट और रायफुलर मार्क्सवाद से प्रभावित प्रगतिवादी कवि हैं। युद्धकाल में अनेक भावुक अंग्रेज़ दूर देशों में निवास करने के लिये बाध्य हुए और अपने नवीन वातावरण से प्रभावित होकर उन्होंने सुंदर रचनाएँ कीं। ऐसे कवियों में सबसे अग्रगण्य हैं लारेंस ड्युरेल, बर्नार्ड स्पेंसर और टेरेंस टिलर जिन्होंने मेडीटरेनियन सागर के तट पर स्थित देशों के प्राकृतिक सौंदर्य को अपने काव्य में अंकित किया है। युद्ध के संबंध में कविता लिखनेवाले अनेक कवि हुए हैं किंतु उनकी रचनाओं का विशेष महत्व नहीं है क्योंकि द्वितीय महासमर इतना भयंकर था और उसकी गति इतनी तीव्र थी कि सुंदर काव्य निर्माण के लिये अवसर ही नहीं मिला। अंग्रेज़ी में आज बहुसंख्यक उदीयमान कवि काव्य-रचना कर रहे हैं किंतु उनकी कृतियों का समुचित मूल्यांकन भविष्य में ही हो सकेगा।

सन् १८६० के आसपास अंग्रेज़ी नाटकों के नवोत्थान का युग प्रारंभ हुआ। प्रायः दो सौ वर्षों तक इंगलैंड में नाट्य साहित्य अविकसित तथा तिरस्कृत बना हुआ था। उपन्यासों के बढ़ते प्रचलन ने नाटकों के विकास को भारी धक्का पहुँचाया और रंगशाला की दुर्व्यवस्था से भी उसकी लोकप्रियता कम हुई। फल यह हुआ कि १६ वीं शताब्दी में लिखे अनेक नाटक काव्य की दृष्टि से उत्तम किंतु अभिनेयता का दृष्टि से अनुपयुक्त सिद्ध हुए। वर्ड्स-वर्थ से लेकर स्विनबर्न तक प्रायः सभी प्रमुख कवियों ने नाटकों की रचना की किंतु वे सभी पढ़ने के लिये ही लिखे गए थे। रंगमंच पर वे सफल होने की संभावना नहीं रखते थे। उस शती का अंतिम दशक प्रारंभ होते होते अनायास नाट्य साहित्य में नवीन जाग्रति के लक्षण दिखलाई देने लगे। यद्यपि नवीन नाटक रचयिताओं पर कुछ न कुछ प्रभाव फ्रांसीसी नाटककार ड्यूमा का अवश्य पड़ा था तब भी उनमें मौलिकता की मात्रा पर्याप्त अंश में विद्यमान थी। जोन्स और पिनेरो ने अपनी रचनाओं में चिंतन तथा यथार्थ चित्रण की परिपाटी को अपनाया। जीवन के वास्तविक चित्र प्रस्तुत करते हुए उन्होंने कतिपय नवीन विचारों और आदर्शों का प्रतिपादन किया। आस्कर वाइल्ड में अधिक उच्च कोटि की कृतित्व शक्ति थी और उन्होंने १७ वीं शताब्दी के सुखांत नाटकों की शैली पर समाज के उच्च स्तरों के जीवन का निरूपण अपने सफल नाटकों में किया है। इनकी रचनाओं में भाषा का परिष्कृत रूप, कथोपकथन की विशेषता तथा उच्च सामाजिक जीवन की मनोविनोदी चेष्टाओं की अभिव्यक्ति, ये सभी तत्व इथरीज़ और कांग्रीव की याद दिलाते हैं। जिस समय नवजागरण के ये लक्षण स्वतः प्रकट हो रहे थे उसी समय नारवे के सुप्रसिद्ध विचारक तथा नाटक-प्रणेता इब्सन का प्रभाव अंग्रेज़ी नाट्य साहित्य में प्रविष्ट हुआ। एडमंड गास, आरचर, बरनार्ड शा आदि ने अनुवाद और अध्ययन द्वारा अंग्रेज़ पाठकों को इब्सेन की विशेषताओं से अवगत कराया। फलतः यथार्थवादी समस्या-नाटकों का प्रचलन प्रारंभ हुआ जिनको रंगशाला के नवीन सुधारों से भी बहुत बल मिला। सन् १९०४ में ग्रैंडविल बारकर ने 'कोर्ट थिएटर' स्थापित करके नवीन नाटकों के अभिनय के लिये समुचित व्यवस्था

उपलब्ध की और स्वयं सफलतापूर्वक उनका निर्देशन करते रहे। समरसेट माघम के प्रारंभिक नाटकों तथा हैनकिन आदि के नाटकों का अभिनय सफलतापूर्वक हुआ किंतु जनता का ध्यान पहले पहल बरनार्ड शा के नाटकों ने ही भली प्रकार आकृष्ट किया। आदि से अंत तक समस्या-नाटकों के इस नवीन आंदोलन को बरनार्ड शा की सफलताओं से ही सबसे अधिक यश प्राप्त हुआ और सब प्रकार से वही अपने सहयोगियों के अगुआ थे। अतः इन्हीं को इस आंदोलन का नेता मान लेना उचित प्रतीत होता है।

शा का जन्म आयरलैंड में हुआ था। उन्होंने मरण पर्यंत अपने व्यंग्य और हास्य द्वारा इंगलैंड निवासियों में प्रचलित भ्रम तथा निराधार विश्वासों के निवारण के लिये बहुसंख्यक नाटकों की रचना की। उनकी रचनाएँ बौद्धिकता पर आधारित हैं और यथार्थ-निरूपण की निर्माण-पद्धति को ही उन्होंने अंगीकार किया है। नाटकों में कथानक नाम मात्र को मिलता है किंतु कथोपकथन की विशेषता के कारण रोचकता में कमी नहीं आती। दो चार पात्र विभिन्न दृष्टिकोणों का प्रतिनिधित्व करते हुए कथोपकथन द्वारा वास्तविकता तक पहुँचने का प्रयास करते हैं। इस भाँति शा ने एक नवीन जीवन-दर्शन अपने देश-वासियों के समक्ष उपस्थित किया है और प्रत्येक प्रश्न का एक नवीन पक्ष उद्घाटित कर चमत्कार उत्पन्न कर दिया है। इनका व्यंग्य तीखा है और हास्य विस्तृत ढंग से नाटकों में आद्योपांत मिलता है। अपने बाद के नाटकों में शा ने व्यंग्य के अतिरिक्त सूक्ष्म विचारों तथा भावों की सुंदर अभिव्यक्ति की है और कुछ नाटकों में इब्सेन के साथ ही साथ चेखव का प्रभाव भी लक्षित हुआ है। विचारों की प्रौढ़ता, कथोपकथन की सफलता, व्यंग्य और हास्य के सफल उपयोग इत्यादि गुणों के कारण शा की गणना अंग्रेजी के उच्चतम श्रेणी के नाटककारों में होती है। समस्या नाटकों के एक दूसरे सफल लेखक थे गाल्सवर्दी। इनके नाटकों में संयत विचारों का महत्व अधिक तथा व्यंग्य का अंश शा की अपेक्षा न्यून है। इन्होंने सामयिक प्रश्नों पर समुचित प्रकाश डाला है और किसी एक समस्या के अनेक पक्षों के निरूपण में अत्यंत सफल हुए हैं। आधुनिक जीवन में निहित द्वंद्व, विरोध, अन्याय आदि का सुंदर चित्रण इनके नाटकों में मिलता है। इनकी भाषा बड़ी साफ और नाट्य-निर्माण-कला प्रशंसनीय है। जेम्स बेरी भी शा और गाल्सवर्दी के समसामयिक नाटककार थे किंतु उनके नाटकों में कल्पना और भावना का अधिक समावेश हुआ है। अतः उनको प्रचलित आंदोलन से अलग मानना ही अधिक उपयुक्त है।

इसी काल में आयरलैंड में भी नाटकों का प्रचलन निश्चित रूप से बढ़ने लगा। डबलिन में ए० वी० थियेटर की स्थापना हुई जिसने आयरलैंड की राष्ट्रीय रंगशाला का रूप ग्रहण किया। प्रारंभ से ही इस नवीन कलात्मक आंदोलन को डब्ल्यू० वी० एट्स का बहुमूल्य सहयोग प्राप्त हुआ। नाटकों के अभिनय की व्यवस्था के साथ उनकी रचना भी होने लगी। एट्स ने स्वयं आठ दस नाटकों की रचना की जो आकार में लघु किंतु कवित्व से ओतप्रोत थे। आयरलैंड के प्राचीन इतिहास और जनजीवन को लेकर ही इन नवीन नाटकों की रचना हो रही थी और उनमें देशभक्ति और अदम्य उत्साह के चिह्न स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ते थे। एट्स के नाटक पद्य और गद्य दोनों में लिखे गए थे किंतु

सभी काव्यात्मक तथा कल्पना-प्रवण थे। आयरलैंड के दूसरे यशस्वी नाट्य प्रणेता जे० एम० सिंग थे जिनका अल्पायु में ही देहावसान हो गया। अपने छोटे से जीवन में उन्होंने पाँच छः सुंदर नाटकों की रचना की जिनके आधार पर उनका यश अमर हो गया। आरांग द्वीप के किसानों और मछुओं के जीवन से ही उन्होंने मसाला प्राप्त किया है और उसमें छिपी हुई शोक और हास्य की क्षमता को उन्होंने मानो वाणी प्रदान कर दी है। इनकी शैली प्राचीन स्थानीय भाषा तथा साधु भाषा के मिश्रण द्वारा निर्मित हुई है और उसमें नैसर्गिक कवित्व तथा लोच का समावेश हुआ है। लेडी ग्रेगरी ने अनेक छोटे छोटे नाटकों की रचना की। इनमें भी आयरलैंड के निवासियों और विश्वासों तथा उनकी आकांक्षाओं की ही अभिव्यक्ति हुई है। प्रथम महासमर के आसपास और उसके उपरांत लिखनेवाले आयरलैंड के सबसे प्रसिद्ध नाट्य रचयिता सीन ओ कासी महोदय हैं। इनके नवीनतम नाटकों में अभिव्यंजनावाद द्वारा प्रस्तुत किए हुए नवीन साहित्यिक उपकरणों का बड़ा सुंदर उपयोग हुआ है। सीन ओ कासी पर अमेरिकन तथा यूरोपीय नाटककारों का प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई देता है और उनकी कला राष्ट्रीय की अपेक्षा अंतर्राष्ट्रीय ही अधिक कही जा सकती है। आयरलैंड के कुछ अन्य लेखकों ने भी अभी हाल में ऐसे ही नाटक लिखे हैं जिनमें अनेक देशों से प्राप्त किए प्रभाव संकलित हो गए हैं।

वर्तमान शताब्दी के प्रारंभ से प्रथम महायुद्ध के शुरू होने तक यद्यपि यथार्थवादी नाटकों का ही प्राधान्य था तब भी छंदों में लिखे काव्य-नाटकों का एकदम अभाव न था। स्टिफिन फिलिप महोदय का 'पावलोएड फ्रांसिसका' नामक छंदोबद्ध नाटक रंगमंच पर अत्यंत सफल सिद्ध हुआ और तभी से ऐसे नाटकों का क्रम अविच्छिन्न रूप से चला आया है। लासेल्स एबरक्रांबी के नाटकों में निर्माण-सौष्ठव के साथ विचार-गांभीर्य का मेल मिलता है। गार्डेन बाटन ली के नाटकों में प्राचीन ग्रीस की सौंदर्य-भावना और दार्शनिकता मानो फिर से जाग उठी है। इन्होंने अनेक नाटकों की रचना की है और काव्य-नाटकों की परंपरा को जीवित रखने में इनका सहयोग श्लाघनीय है। जान नेसफील्ड का पहिला नाटक तो गद्य में लिखा गया है किंतु उसके बाद उन्होंने प्राचीन रोमांटिक कथाओं को लेकर कई काव्य नाटकों का प्रणयन किया। इस कोटि के नाटकों में सबसे अधिक महत्व जान ड्रिंकवाटर के नाटकों को दिया जाता है। ऐतिहासिक महापुरुषों के जीवन-वृत्तांत के आधार पर रचित जान ड्रिंकवाटर के छंदोबद्ध नाटकों को रंगशाला में प्रभूत सफलता मिली है और पाठकों ने उनका समुचित स्वागत किया है। दोनों महायुद्धों के बीच के युग में सबसे प्रसिद्ध काव्य-नाटक टी० एस० ईलियट द्वारा प्रस्तुत किए गए। ईलियट महोदय के काव्य की सभी विशेषताएँ उनके नाटकों में विद्यमान हैं अतः अभिनय की अपेक्षा वे अध्ययन के अधिक उपयुक्त हैं। उनका हाल में प्रकाशित नाटक 'द काकटेल पार्टी' अभिनेयता की दृष्टि से अधिक सफल है। आउडन और इशरउड के नाटक काव्य-प्रधान होने के अतिरिक्त नवीन मनोविज्ञान और अभिव्यंजनावाद से प्रभावित हैं। आउडन के अन्य सहयोगियों ने भी काव्य-नाट्य लिखे हैं। संभावना यह है कि अंग्रेज़ी में काव्य नाटकों की परंपरा भविष्य में और भी बलवती होती जायगी। सिनेमा की प्रतिद्वंद्विता से बचने के लिये नाट्य-साहित्य के लिये यही एक रास्ता खुला हुआ है।

काव्य-नाटकों के अतिरिक्त दोनों महायुद्धों के बीच के काल में सबसे अधिक प्रचलन उन यथार्थवादी नाटकों का था जिनका निर्माण समाज के उच्च वर्ग के दैनिक जीवन के चित्रण के प्रयोजन से किया गया था। उच्च वर्ग के आमोद-प्रमोद तथा शृंगारिकता का इनमें यथार्थ अंकन मिलता है। इस समुदाय के अग्रगण्य लेखक हैं समरसेट माघम, नोवल कावर्ड तथा लांग्सटेल। अंग्रेज़ी साहित्य में सन् १६६० के बाद जिस प्रकार के सुखांत नाटकों का प्रचुर प्रचार हुआ था उसी प्रकार उन्हीं से मिलते जुलते ये यथार्थवादी नाटक कुछ दिनों के लिये फिर अत्यंत लोकप्रिय हो गए। प्रथम महायुद्ध के बाद के वर्षों में यूरोपीय महाद्वीप से अनेक बाह्य प्रभावों का अंग्रेज़ी नाट्य साहित्य में आगमन हुआ जिनमें सबसे महत्वपूर्ण था मनोवैज्ञानिक तथा अभिव्यंजनावादी नाटकों का प्रभाव। जर्मनी और फ्रांस में लिखे गए नाटकों का अनुवाद हुआ और विभिन्न स्थानों पर उनका अभिनय भी किया गया। इन्हीं नवीन आदर्शों पर कुछ नाटक अंग्रेज़ी में भी लिखे गए। इस संबंध में सी० के० मुनरो की कृतियाँ उल्लेखनीय हैं। सिनेमा की बढ़ती हुई प्रतियोगिता के कारण नाट्य साहित्य को अब प्रबल आघात पहुँच रहा था। तब भी विविध प्रकार के नाटक लिखे जा रहे थे तथा रंगशालाओं को नवीन साधनों द्वारा समृद्ध बनाया जा रहा था।

आधुनिक काल में अंग्रेज़ी गद्य साहित्य में अभूतपूर्व वृद्धि हुई है और उसके संबंध में संक्षेप में लिखना अत्यंत कठिन कार्य है। १९ वीं शती के अंतिम दो दशकों में डारविन और हक्सले के वैज्ञानिक लेख अत्यंत चाव से पढ़े जाते थे। मैथ्यू आर्नल्ड के विद्वत्ता-पूर्ण निबंध अपनी नई सूझ, क्रांतिकारी भावना तथा गंभीर विचार के लिये समान रूप से संमान्य थे। वाल्टर पेटर ने गद्य शैली में सौंदर्य तथा सफाई का नवीन समावेश करके गद्य-लेखन के स्तर को एकदम ऊँचा उठा दिया और यही बात आस्कर वाइल्ड के संबंध में भी सत्य है। २० वीं शताब्दी में गद्य साहित्य का विस्तार और भी अधिक बढ़ गया है। पहले २५ वर्षों में निबंध-लेखन का विशेष प्रचलन था। चार्ल्स लैंब, हैज़लिट तथा स्टीवेंसन के निबंधों से प्रेरणा प्राप्त करके अनेक सफल निबंध-लेखकों ने अपनी कृतियों द्वारा पाठकों का अत्यधिक मनोरंजन किया। पत्रकारिता के क्षेत्र में कुछ नवीन विकास हुए जिससे निबंध लेखकों को प्रोत्साहन मिला। इसके पूर्व पत्र-पत्रिकाओं में टिप्पणियाँ बिना लेखक के हस्ताक्षर के प्रकाशित होती थीं किंतु २० वीं शताब्दी के प्रारंभ से लेखकों के नाम के साथ उनके प्रकाशन की प्रथा चली। ये टिप्पणियाँ अनेक अर्थों में निबंध कही जा सकती हैं। उदाहरणार्थ टाइम्स का द्वितीय संपादकीय सदा एक सुंदर लघु निबंध के रूप में लिखी जाता है। चार्ल्स लैंब की परंपरा के सबसे बड़े प्रवर्तक ई० वी० ल्यूकस ने बहुसंख्यक निबंधों के अतिरिक्त लैंब का जीवन-वृत्तांत लिखकर अंग्रेज़ी साहित्य की बहुत बड़ी सेवा की। मैक्स बीयरबोन के निबंधों की तुलना १८ वीं शताब्दी के निबंधों से की जा सकती है। उनमें सादगी, सफाई तथा व्यंग्य का मेल रहता है। रावर्डलिन पर हैज़लिट और स्टीवेंसन के निबंधों का प्रभाव पड़ा है और उन्होंने विविध विषयों पर अत्यंत सुंदर निबंध बड़ी संख्या में लिखे हैं। जी० के० चेस्टरटन की भाषा का एक विशेष स्वरूप है और उनके कथनों में पग पग पर विरोधाभास का प्रयोग किया गया है। इनके साथी हिलयर

विशेष प्रयत्न भी किए तथापि इसका प्रधान कार्य **साहित्यिक** और **सांस्कृतिक** पुनरुत्थान के व्यापक क्षेत्र में होता रहा। इसकी पुष्टि के लिये सभा के प्रधान कार्यों में से कुछ का उल्लेख कर देना आवश्यक प्रतीत होता है। सभा के प्रधान कार्य इस प्रकार हैं—

१. **एक लिपि** विस्तार सभा का आयोजन : न्यायाधीश श्री शारदाचरण मित्र की अध्यक्षता में एक लिपि विस्तार सभा का आयोजन।

२. उत्तरप्रदेश की अदालतों में **नागरी लिपि** के प्रवेश का आंदोलन और १९०० के पश्चात् नागरी के प्रचार का प्रयत्न।

३. **हस्तलिखित पुस्तकों** की खोज तथा खोज की सामग्री के विवरण प्रस्तुत और प्रकाशित करना।

४. **हिंदी शब्द-सागर** का निर्माण : बाईस वर्षों के प्रयत्न के पश्चात् प्रस्तुत लगभग ४३०० पृष्ठों के इस बृहत् कोश में लगभग १ लाख शब्द हैं और इसके निर्माण में १ लाख रुपए से ऊपर द्रव्य लगा। इसकी भूमिका के रूप में हिंदी साहित्य का एक इतिहास भी प्रस्तुत किया गया जो पीछे अलग पुस्तकाकार प्रकाशित हुआ।

५. **वैज्ञानिक शब्द-कोश** तथा कचहरी हिंदी-कोश।

६. **हिंदी व्याकरण** का निर्माण।

७. हिंदी साहित्य के **प्राचीन ग्रंथों का संपादन और प्रकाशन।**

कुछ प्रमुख प्रकाशन इस प्रकार हैं—

क. पृथ्वीराज रासो।

ख. ढोला मारू रा दूहा।

ग. बीसलदेव रासो

घ. सूरसागर

ङ. तुलसी ग्रंथावली

च. कबीर ग्रंथावली

छ. जायसी ग्रंथावली

इसके अतिरिक्त विभिन्न पुस्तकमालाओं का प्रकाशन सभा के द्वारा निरंतर चल रहा है।

संघर्ष और सफलता

हिंदी को अपने उदय काल से ही निरंतर संघर्ष करना पड़ा है। हिंदी का प्रारंभ ही प्रायः उस समय हुआ जब उत्तर भारत विदेशियों द्वारा आक्रांत होने लगा था। मध्यकाल के अंत तक यद्यपि हिंदी का विकास कभी अवरुद्ध नहीं हुआ तथापि शासकों की ओर से उसे सर्वदा उपेक्षा और कभी कभी दमन भी मिलता रहा है। परंतु उन्नीसवीं शताब्दी हिंदी के लिये सबसे अधिक संकटपूर्ण रही जब कि अदालतों में हिंदी के स्थान पर उर्दू का प्रभुत्व बलपूर्वक स्थापित कर दिया गया। उस समय हिंदी एक ओर देशी नरेशों की संरक्षकता से वंचित होती जा रही थी, दूसरी ओर देश के प्रशासन और

शिक्षापद्धति में इसकी पूर्ण अवहेलना हो रही थी। जनता में भी संस्कृत पराभव का भाव बढ़ता जा रहा था और लोग अपने प्राचीन गौरव, अपनी भाषा और सभ्यता को भूलकर विदेशियों के अंधानुकरण में ही अपनी कृतकृत्यता समझने लगे थे। भारतीयता की अंधकारपूर्ण रात्रि में भारतेंदु हरिश्चंद्र का उदय हुआ और उन्होंने 'निज भाषा उन्नति अहै सब उन्नति को मूल' का उद्घोष कर सोई जनता को जगाया। तब से आज तक हिंदी को कितने ही संघर्षों का सामना करना पड़ा है। चारों ओर से इसे दबाने का प्रयत्न किया गया, परंतु नागरीप्रचारिणी सभा तथा उसी के प्रयत्नों से आविर्भूत हिंदी साहित्य संमेलन, प्रयाग तथा अन्य अनेक संस्थाओं के संमिलित प्रयास से हिंदी को क्षति नहीं पहुँची।

राष्ट्रभाषा और उसका उद्घोष

भारतीय स्वतंत्रता के अनंतर नवनिर्मित प्रथम संविधान ने हिंदी को राष्ट्रभाषा और नागरी को राष्ट्रलिपि के पद पर आसीन करा दिया है। अब एक ओर हिंदी का उत्तरदायित्व बहुत अधिक बढ़ गया है, जिसके कारण हिंदी को बहुत बड़े बड़े कार्य अल्पकाल में पूरा करना है और दूसरी ओर उन संघर्षों का भी सामना करना है जो सांप्रदायिक अथवा हिंदी-विरोधी भावना या विदेशी भाषा-प्रेम के कारण हिंदी के मार्ग में रोड़े अटका रहे हैं। कुछ विशेष स्वार्थों से प्रेरित लोग इस प्रकार का भ्रम फैला रहे हैं कि हिंदी अंग्रेजी की स्थानापन्न होकर प्रांतीय भाषाओं का गला दबाना चाहती है। नागरीप्रचारिणी सभा स्पष्ट शब्दों में घोषित कर देना चाहती है कि उसका हिंदी का प्रचार दृढ़ राष्ट्रीय एकता के द्वारा सबल राष्ट्र के निर्माण की भावना से प्रेरित है और वह प्रांतीय भाषाओं के विकास के साथ साथ ही अपना विकास सर्वांगीण समझती है।

हीरक जयंती का उद्देश्य

ऐसे संक्रांतिकाल में हम नागरीप्रचारिणी सभा की हीरक जयंती मनाने जा रहे हैं जब कि हमें संपूर्ण राष्ट्र की साहित्यिक और सांस्कृतिक आवश्यकताओं को दृष्टि में रखते हुए हिंदी भाषा के माध्यम से राष्ट्र के नवनिर्माण का प्रारंभ करना है। सभा की हीरक जयंती के इस पुण्यपर्व पर हम निम्नलिखित योजना प्रस्तुत करते हैं जिससे प्राप्त प्रेरणा से सभा उक्त उद्देश्यों की पूर्ति में यथाशक्ति स्वयं अग्रसर होना चाहती है और आशा करती है कि सभी साहित्यिक तथा राष्ट्रप्रेमी संस्थाएँ और व्यक्ति इसकी पूर्ति में पूर्ण सहयोग देंगे।

योजना

हीरक जयंती के अवसर पर हमारी योजना के कुछ प्रमुख अंग इस प्रकार हैं--

१. जयंती ग्रंथ का प्रकाशन

क. पिछले साठ वर्षों में भारतीय साहित्य की प्रगति जिसमें हिंदी तथा अन्य प्रमुख भारतीय भाषाओं की साहित्यिक प्रगति का सिंहावलोकन होगा।

ख. विश्व साहित्य की पिछले साठ वर्षों की प्रमुख प्रवृत्तियों का परिचय।

२. नागरीप्रचारिणी पत्रिका का विशेषांक प्रकाशन

क. नागरीप्रचारिणी सभा का इतिहास, उसके द्वारा संपादित कार्यों का परिचय।

ख. शोध संबंधी गवेषणापूर्ण लेख ।

३. आर्यभाषा पुस्तकालय का विस्तार और संवर्द्धन

हिंदी में प्रकाशित समस्त साहित्य के संकलन और अनुशीलन के लिये सभी सुविधाओं को एकत्र करने का प्रयास किया जायगा।

४. नागरी मुद्रण

हिंदी के उच्चतम प्रकाशन में समर्थ एक सुसंपन्न और सुव्यवस्थित मुद्रणालय (प्रेस) के अनुरूप नागरी मुद्रण का संघटन और विकास ।

५. अतिथि-भवन का निर्माण

देश के भिन्न भिन्न भागों से खोज के लिये आनेवाले छात्रों तथा साहित्यसेवियों की सुविधा के लिये एक अतिथि-भवन बनाया जायगा ।

६. जयंती सप्ताह

वसंत पंचमी के शुभ अवसर पर सभा की हीरक जयंती मनाने का आयोजन ।

धन की आवश्यकता तथा अभ्यर्थना

उपर्युक्त योजनाओं की पूर्ति तथा सभा के समुचित विकास के लिये इस समय कम से कम पाँच लाख रुपयों की अपेक्षा है। यह साधन जनता तथा हमारी राष्ट्रीय सरकारों के सहयोग तथा शुभ कामना से ही सुलभ हो सकता है। अतः सभा केंद्रीय सरकार, प्रांतीय सरकारों, धनीमानी श्रीमंतों, नगरपालिकाओं, जिला बोर्डों, शिक्षण, साहित्यिक तथा सांस्कृतिक संस्थाओं, साहित्यप्रेमी व्यक्तियों तथा राष्ट्रसेवियों से अपील करती है कि वे इस पुण्य यज्ञ में सभा को अधिक से अधिक सहायता तथा अन्य प्रकार के सहयोग प्रदान करें और हमारे उद्देश्यों की पूर्ति में हाथ बटावें। सभी प्रकार की सहायता **प्रधान मंत्री, नागरीप्रचारिणी सभा, काशी।** के पते से भेजी जा सकती है ।

नागरीप्रचारिणी सभा, काशी
हीरक जयंती
[संवत् १९५०–२०१० वि]

कार्यक्रम

शनिवार सौर २२ फाल्गुन (६ मार्च)

सभापति : पं० अमरनाथ झा

प्रातःकाल ११ बजे से : स्थान सभाभवन के पीछे

(१) मंगलगान
(२) स्वागत-संरक्षक काशीनरेश महाराजा श्री विभूतिनारायण सिंह जी का भाषण।
(३) स्वागताध्यक्ष श्री डॉ० संपूर्णानंद का स्वागत-भाषण
(४) उद्घाटन : राष्ट्रपति डॉ० राजेंद्रप्रसाद
(५) शुभाशंसा : श्री पं० गोविंदवल्लभ पंत
(६) सभा का ६० वर्षों का विवरण : प्रधान मंत्री
(७) पुरस्कार-पदक-वितरण तथा साहित्यिकों का संमान : राष्ट्रपति डा० राजेंद्रप्रसाद
(८) धन्यवाद : सभापति द्वारा
(९) राष्ट्रगान

रात्रि में ८॥ बजे : गीतनाट्य

(१) उद्घाटन : श्री हरगोविंद सिंह जी, शिक्षा मंत्री, उत्तर प्रदेश।
(२) कामायनी : संगीतमार्तंड पं० ओंकारनाथ ठाकुर
(३) कथक नृत्य : सुखदेव महाराज
(४) धन्यवाद : महाराजा श्री विभूतिनारायण सिंह जी, काशीनरेश।

रविवार सौर २३ फाल्गुन (७ मार्च)

प्रातःकाल ९ बजे से

(१) साहित्य-प्रदर्शनी : उद्घाटन पं० रामनरेश त्रिपाठी
(२) राष्ट्रभाषा-संमेलन तथा विचार-गोष्ठी :
सभापति : श्री रंगनाथ दिवाकर
उद्घाटन : श्री पं० रविशंकर शुक्ल
(क) आवश्यक समस्याओं पर विचार

(ख) प्रस्ताव

(ग) धन्यवाद : पं० चंद्रबली पांडेय

रात्रि में ८ बजे से : कविगोष्ठी

उद्घाटन : डॉ० रामप्रसाद त्रिपाठी

सभापति : श्री 'दिनकर' जी

स्वागतभाषण : श्री पं० श्रीनारायण चतुर्वेदी

कविगण : 'दिनकर', श्यामनारायण पांडेय, शिवमंगल सिंह 'सुमन', आदि

धन्यवाद : डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी

सोमवार सौर २४ फाल्गुन (८ मार्च)

प्रातःकाल ९ बजे से : एशियाई भाषा संमेलन

सभापति : डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या

उद्घाटन : आचार्य नरेंद्रदेव जी

(क) विचारणीय प्रश्न

(ख) प्रस्ताव

(ग) धन्यवाद

अपराह्न २ बजे से : पत्रकार-संमेलन

सभापति : श्री पं० कमलापति त्रिपाठी

उद्घाटन : श्री बाबूराव विष्णु पराड़कर

(क) सामयिक समस्याओं पर विचार

(ख) प्रस्ताव

(ग) धन्यवाद : श्री रामचंद्र रघुनाथ खाडिलकर

सायंकाल ४ बजे से : साहित्य-गोष्ठी

सभापति : श्री पं० नंददुलारे वाजपेयी

उद्घाटन : श्री पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी

(क) साहित्य की प्रमुख समस्याएँ

(ख) धन्यवाद : डॉ० जगन्नाथप्रसाद शर्मा

रात्रि में ८ बजे से : संगीत

संगीत परिषद् द्वारा आयोजित

मंगलवार सौर २५ फाल्गुन (९ मार्च)

प्रातःकाल ९ बजे से : साहित्य विमर्श

सभापति : श्री लक्ष्मीनारायण सिंह 'सुधांशु'

उद्घाटन : आचार्य बदरीनाथ वर्मा

(क) साहित्य की प्रमुख धाराएँ

(ख) धन्यवाद : डॉ० जगन्नाथप्रसाद शर्मा

सायंकाल ४ बजे से : सांस्कृतिक संमेलन

सभापति : डॉ० भगवानदास

उद्घाटन : आचार्य नरेंद्रदेव

(क) भाषण : आचार्य क्षितिमोहन सेन

श्री डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या

श्री पं० देवनायकाचार्य

श्री स्वामी भगवदाचार्य

श्री पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी

(ख) धन्यवाद : डॉ० राजबली पांडेय

रात्रि में ८ बजे से : हिंदी नाटक 'उद्धार'

(नागरी नाटक मंडली द्वारा)

सूत्रधार : श्री पुरुषोत्तमदास खत्री

धन्यवाद : श्री सुधाकर पांडेय

विसर्जन और धन्यवाद : डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी

: डॉ० राजबली पांडेय

हीरक जयंती महोत्सव

संक्षिप्त कार्य-विवरण

अपनी अर्धशताब्दी के बाद ही सभा ने संवत् २०१० में हीरक जयंती का आयोजन करने का निश्चय किया था। सं० २०१० के आरंभ से ही उसकी चिंता होने लगी थी और जयंती के विभिन्न आयोजनों की तैयारी आरंभ कर दी गई थी। जिस प्रकार अर्धशताब्दी महोत्सव पर सभा ने रचनात्मक कार्यों का अनुष्ठान किया था, उसी प्रकार हीरक जयंती पर भी विभिन्न विभागों की संपुष्टि और चालू कार्यों की सम्यक् पूर्ति के अतिरिक्त नवीन योजनाओं के अनुसार रचनात्मक कार्यक्रम स्थिर किया गया था।

इन संकल्पों के अनुसार व्यवस्था करने के लिये वर्ष के आरंभ में ही एक उपसमिति का संघटन करके कार्यारंभ कर दिया गया। हीरक जयंती उपसमिति में निम्नलिखित सज्जन रहे —

डा० अमरनाथ झा
पं० गुरुसेवक उपाध्याय
ठा० शिवकुमार सिंह
डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी (कार्याध्यक्ष)
श्री करुणापति त्रिपाठी (सहायक कार्याध्यक्ष)
श्री बलराम उपाध्याय
डा० श्रीकृष्ण लाल
डा० राकेश गुप्त
श्री ठाकुरप्रसाद सिंह
श्री कृष्णानंद जी
श्री बचन सिंह जी (सहा० कार्याध्यक्ष)
श्री गोविंदप्रसाद केजरीवाल (सहा० कार्याध्यक्ष)
पं० चंद्रबली पांडेय,
श्री गोपालचंद्र सिंह
बाबा राघवदास
श्री सुधाकर पांडेय (सहा० कार्याध्यक्ष)
श्री विश्वनाथ राय
श्री पद्मनारायण आचार्य
श्री उदयशंकर शास्त्री (सहा० कार्याध्यक्ष)
श्री विशुद्धानंद पाठक
श्री मंगलनाथ सिंह

श्री मुरारीलाल केडिया
श्री नारायणदास बाजोरिया
श्री बैजनाथसिंह 'विनोद'
श्री डा० राजबली पांडेय (संयोजक)

अपनी उपर्युक्त योजनाओं को कार्यान्वित करने के लिये सभा को सबसे बड़ी आवश्यकता धन की थी। एतदर्थ पत्रों में अपील प्रकाशित की गई, शिक्षा संस्थाओं से अनुरोध किया गया कि कम से कम ५) अपनी अपनी संस्थाओं की ओर से भेजें तथा सभा के सदस्यों और अन्य संबद्ध सज्जनों से आग्रह किया गया कि कम से कम अपनी एक दिन की आय इस कार्य के लिये प्रदान करें। यह भी निश्चय किया गया कि सभा का शिष्टमंडल प्रमुख नगरों में जाकर धन एकत्र करे। तदनुसार कलकत्ता, पटना, लखनऊ तथा दिल्ली नगरों में शिष्ट मंडल ने दौरा किया। मंडल को अर्थसंग्रह के कार्य में यथेष्ट सफलता मिली। उक्त मंडल में डा० अमरनाथ झा, पं० गुरुसेवक उपाध्याय, डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, श्री मुरारीलाल केडिया, श्री गोविंदप्रसाद केजरीवाल, श्री बैजनाथसिंह 'विनोद' और डा० राजबली पांडेय थे। शिष्टमंडल को कलकत्ते में श्री सीताराम जी सेकसरिया, श्री भागीरथ जी कानोडिया, श्री मूलचंद जी अग्रवाल (संचालक, 'विश्वमित्र'), पं० सूर्यनाथ पांडेय (संपादक, सन्मार्ग), दिल्ली में पं० बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' और पं० बनारसीदास जी चतुर्वेदी तथा पटना में श्री लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु' जी से विशेष सहायता मिली। जिन श्रीमंतों ने सभा को विशेष सहायता प्रदान की उनके नाम निम्नलिखित हैं—

प्राप्त

दाता	द्रव्य	प्रयोजन
श्री राष्ट्रपति	२०००)	
श्री महाराज विभूतिनारायण सिंह, काशी नरेश	५००)	
श्री राज्यपाल, उत्तर प्रदेश	५००)	
श्री राज्यपाल, मद्रास	५००)	
उत्तर प्रदेशीय शासन	४००००)	प्रकाशन
बिहार सरकार	६०००)	पुस्तकालय
मध्य प्रांतीय शासन	५०००)	हीरक जयंती ग्रंथ
विंध्य प्रदेशीय शासन	१०००)	खोज
श्री सेठ घनश्यामदास बिड़ला, दिल्ली	५०००)	प्रकाशन
श्री सेठ रामकुमार भुवालका, कलकत्ता	५०००)	अतिथिशाला
अशोक मार्केटिंग कं०, कलकत्ता	५०००)	
श्री विश्वनाथ मोर, कलकत्ता	२०००)	
जेनरल फाइबर्स डीलर्स लिमिटेड, कलकत्ता	१५००)	
श्री रामकुमार केजरीवाल, कलकत्ता	११०१)	
श्री सेठ जयदयाल डालमिया, दिल्ली	५००)	

दाता	द्रव्य	प्रयोजन
श्री सोहनलाल दूगड़, कलकत्ता	५००)	
फुटकर तथा स्वागत समिति का चंदा	३६०४)	
संभावित		
भारत सरकार	१२५०००)	प्रकाशन
उत्तर प्रदेशीय शासन	१००००)	,,
श्री सेठ घनश्यामदास बिड़ला, दिल्ली	२००००)	,,
श्री सेठ रामकुमार भुवालका, कलकत्ता	१००००)	अतिथि-शाला
	२४५००५)	

हीरक जयंती के अवसर पर संपन्न होनेवाले कार्यों के निमित्त धन से सहायता करने के लिये प्रायः समस्त प्रादेशिक सरकारों तथा केंद्रीय सरकार से भी अनुरोध किया गया था। इसमें से ५,०००) मध्यप्रदेश की सरकार ने सभा के जयंती ग्रंथ के लिये, १०००) विंध्यप्रदेश की सरकार ने अपने प्रांत में हस्तलिखित ग्रंथों की खोज के लिये तथा ५०००) उत्तर प्रदेश की सरकार ने प्रदान किए। उत्तर प्रदेश की सरकार ने अपना ३५,०००) का ऋण भी हिंदी साहित्य के इतिहास के प्रणयन-प्रकाशन के निमित्त अनुदान के रूप में परिवर्तित कर दिया, उसका ब्याज क्षमा कर दिया तथा १००००) की और सहायता प्रदान की।

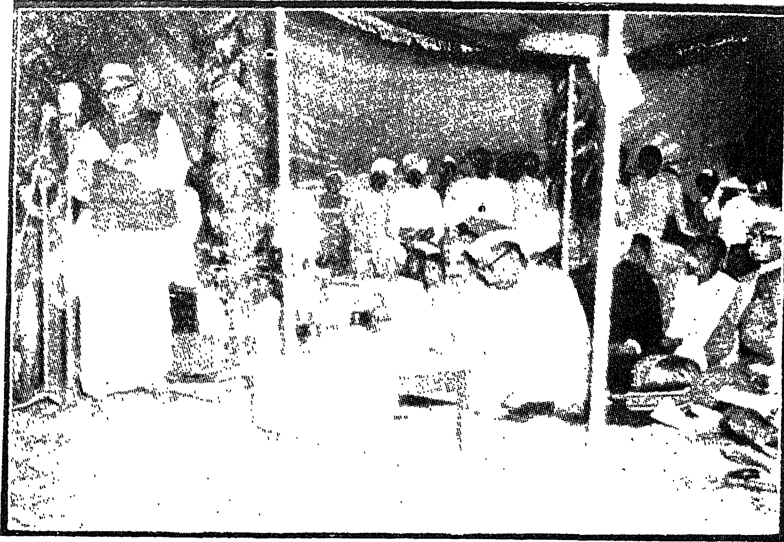
केंद्रीय सरकार से जयंती आयोजन में आर्थिक सहायता देने के अतिरिक्त हिंदी भाषा का एक बृहत् प्रामाणिक कोश तैयार करने तथा अन्य प्रकाशनों के लिये सहायता माँगी गई थी एवं स्थायी अनुदान की भी प्रार्थना की गई थी। शिष्टमंडल ने इस संबंध में राष्ट्रपति डा० राजेंद्रप्रसाद जी तथा केंद्र के शिक्षामंत्री से मिलकर कोश की प्रस्तावित योजना के संबंध में आवश्यक बातें उनके समक्ष रखीं थीं जिनपर उन लोगों ने सहानुभूतिपूर्वक विचार किया तथा यथोचित सहायता देने का आश्वासन दिया। हिंदी के बृहत् प्रामाणिक कोश तथा आकर ग्रंथों के प्रकाशन की योजनाएँ केंद्रीय सरकार ने स्वीकार कर ली तथा एतदर्थ एक लाख पचीस हजार रुपये भी स्वीकृत हुए।

मुख्य उत्सव

नागरीप्रचारिणी सभा का हीरक जयंती उत्सव शनिवार २२ फाल्गुन को ११ बजे दिन से सभाभवन के मैदान में बड़े सुसज्जित पंडाल में डा० अमरनाथ झा के सभापतित्व में बड़े ही समारोहपूर्वक प्रारंभ हुआ। कार्यारंभ वेदमूर्ति श्री नारायण पालंदे तथा वेदमूर्ति श्री माधव सप्रे के वेदपाठ से हुआ। इसके पश्चात् छात्राओं ने 'यं ब्रह्मा' ईश-तुति की। तदनंतर हीरक जयंती के स्वागत संरक्षक काशीनरेश महाराजा श्रीविभूति नारायणसिंहजी ने समवेत सज्जनों का स्वागत किया। अपने भाषण में उन्होंने कहा—"हिंदी के परम भक्त माननीय राष्ट्रपति महोदय के हम आभारी हैं जिन्होंने न जाने किन किन कठिनाइयों और असुविधाओं का सामना करते हुए यहाँ उपस्थित होने का कष्ट किया है। नागरी लिपि और भाषा के प्रचार का भार सरकार पर भी आ पड़ा है। इसलिये कहा जा सकता है कि अब नागरी के प्रचार की पूर्व-

वत् आवश्यकता नहीं है। परंतु हमें यह न भूलना चाहिए कि अभी भारत के विभिन्न प्रांतों में हिंदी भाषा और नागरी लिपि के प्रचार की अत्यंत आवश्यकता है। आज समस्त भारत इसका कार्यक्षेत्र है। भारत के विभिन्न प्रांतों में इस समय इस बात की प्रबल आवश्यकता है कि तत्तत्प्रांतीय भाषाओं और लिपियों को माध्यम बनाकर सारे भारत में हिंदी भाषा और नागरी लिपि का प्रचार किया जाय। राष्ट्रभाषा के नाते अब इसके अंतर्राष्ट्रीय प्रचार की आवश्यकता है। इसके लिये अधिक तत्परता से भरपूर प्रयत्न अपेक्षित है। इस लक्ष्य की सिद्धि तभी मानी जायगी जब राष्ट्रसंघ में कम से कम भारत के प्रतिनिधियों द्वारा नागरी भाषा का प्रयोग होगा और नागरी लिपि में भी वहाँ से प्रकाशन होने लगेगा। इस महोत्सव की सांगोपांगता मैं तभी मानूँगा जब भारत की राजधानी दिल्ली में इस सभा की एक विशिष्ट शाखा का हमारे राष्ट्रपति द्वारा उद्घाटन होगा। इससे विभिन्न राष्ट्रों के दूतावासों द्वारा उसका विदेशों में प्रचार सुंदर हो जायगा।"

इसके पश्चात् हीरक जयंती उत्सव के स्वागताध्यक्ष डा० संपूर्णानंद ने राष्ट्रपति, मान्य नेताओं एवं साहित्यिकों का स्वागत किया। उन्होंने कहा—"आज आप लोगों का स्वागत करने में हमको जिस आनंद का अनुभव हो रहा है उसकी यथार्थ अभिव्यक्ति शब्दों द्वारा नहीं हो सकती। किसी भी संस्था के लिये हीरक जयंती मनाने का अवसर गौरव और आनंद का विषय हो सकता है परंतु इस अवसर पर स्वतंत्र भारत के प्रथम राष्ट्रपति की उपस्थिति सोने में सुगंधवाली लोकोक्ति को चरितार्थ करती है।" राष्ट्रपति के प्रति श्रद्धा प्रकट करते हुए उन्होंने कहा—"आप राष्ट्रपति होने के नाते समस्त भारत के लिये आदरणीय हैं। आपके उदात्त व्यक्तित्व ने आपको महात्मा जी के अनन्य अनुयायियों और सहयोगियों की उस रत्नमाला के मुकुटमणि का स्थान दिया है जिससे समस्त मानव समाज शांति और सौहार्द के सक्रिय संदेश की आशा रखता है। परंतु इन बातों के अतिरिक्त हमारे लिये तो आप वही 'राजेंद्रबाबू' हैं जिनको हिंदी सदा प्यारी रही है, जो हिंदी के अग्रगण्य समर्थकों में रहे हैं, जिन्होंने स्वयं साहित्य का सर्जन करके हिंदी की सेवा की है। नागरीप्रचारिणी सभा के साथ आपका संबंध नया नहीं है। अपने अनेक कार्यों के बीच में आपने उस संबंध का स्मरण करके इस अवसर पर आने का जो कष्ट किया है उससे वह पुराना संबंध और भी पुष्ट हो गया है। हमारा यह विश्वास है कि आपका यहाँ पधारना हिंदी जगत् केवल एक संस्था की हीरक जयंती में संमिलित होना न समझेगा प्रत्युत् उसको हिंदी के प्रति आपका जो प्रगाढ़ स्नेह है और उसके भविष्य के लिये आपकी जो भावनाएँ हैं उनके प्रतीक के रूप में देखेगा। जैसा कि मैं पहले निवेदन कर चुका हूँ, सभा से आपका संबंध बहुत पुराना है, इसलिये इस बात की आवश्यकता नहीं है कि मैं उसके बारे में आपको लंबा परिचय दूँ। आज से ६० वर्ष पहले तीन व्यक्तियों के मस्तिष्क में विचार रूप से इसका उदय हुआ था। उनमें से दो, श्री श्यामसुंदर दास और पंडित रामनारायण मिश्र की इहलीला संवृत्त हो चुकी है परंतु हमारे सौभाग्य से संस्थापकों में से ठाकुर शिवकुमार सिंह जी के सत्परामर्श का अवसर हमको अब भी मिलता रहता है। उनको उस छोटे से वट बीज के विस्तार को देखकर जो प्रसन्नता और परितोष होता होगा उसका अनुमान आप स्वयं कर सकते हैं।" इसके अनंतर उन्होंने भारतीय साहित्य और संस्कृति



स्वागताध्यक्ष माननीय श्री संपूर्णानंद जी, गृहमंत्री, उत्तर प्रदेश, स्वागत भाषण देते हुए

(परिशिष्ट, पृष्ठ १४)



तत्रभवान् राष्ट्रपति जी, हीरक जयंती का उद्घाटन करते हुए।

(परिशिष्ट, पृ० १५)

(फोटो—श्री उदयशंकर शास्त्री)

को काशी के महत्त्वपूर्ण देन की चर्चा करते हुए कहा—"सभा के ६० वर्षों का इतिहास वस्तुतः वर्तमान हिंदी का इतिहास है और अनेक विघ्न बाधाओं के आघात होने पर भी वह इतिहास आशा और विजयोल्लास का इतिहास है।" उन्होंने हिंदी के बढ़े हुए दायित्व को देखते हुए सभा की प्रगति को और तीव्र करने की आवश्यकता बताई और कहा—"यदि ऐसा नहीं होगा तो १० वर्ष पश्चात् राष्ट्रभाषा पद पर आरूढ़ होकर वह क्षमता के साथ अपना काम न कर सकेगी।"

इसके पश्चात् राष्ट्रपति ने हीरक जयंती महोत्सव का उद्घाटन किया। उन्होंने अपने उद्घाटन भाषण में कहा—"हिंदी चिरकाल से ऐसी भाषा रही है जिसने शब्दों का, उनके भिन्न देश अथवा भाषा में उद्गम होने के कारण, बहिष्कार नहीं किया और सच पूछिए तो सभी जीती जागती भाषाओं का यह एक गुण है कि वे अपने शब्दभंडार को बढ़ाने में नहीं हिचकतीं, चाहे शब्द किसी भी उद्गम के हों। हिंदी सच्चे अर्थ में राष्ट्रीय भाषा तभी होगी जब भारत के सभी निवासी उस भाषा के साथ प्रेम करने लगेंगे। यह भावना तभी उत्पन्न और परिपुष्ट हो सकती है जब वे यह समझने लगेंगे कि हिंदी में उनकी भी कुछ अपनी देन है और हिंदी पर उनका भी कुछ अधिकार है। मैं समझता हूँ कि इस भावना का भी हमको स्वागत करना चाहिए और इससे डरना नहीं चाहिए कि हिंदी का रूप विकृत हो जायगा।"

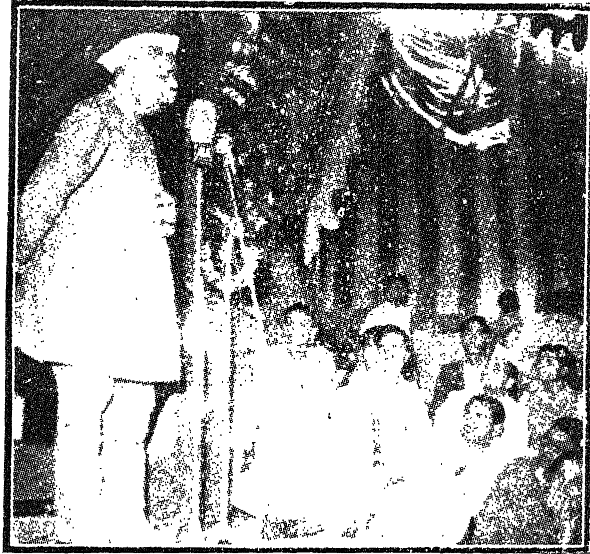
इसके पश्चात् उत्तर प्रदेश के मुख्य मंत्री माननीय श्री गोविंद वल्लभ पंत जी ने जयंयी महोत्सव के प्रति शुभाशंसा प्रकट की। अपने संक्षिप्त किंतु सारगर्भित भाषण में पंत जी ने कहा—"६० वर्ष पूर्व जिस संस्था का बीजवपन डा० श्यामसुंदरदास, पं० रामनारायण मिश्र तथा ठाकुर शिवकुमारसिंह ने किया था वह आज सुंदर वृक्ष के रूप में सुफल दे रही है। हिंदी को उसका वर्त्तमान स्थान दिलाने एवं इसके साहित्यिक विकास में सभा ने अद्वितीय काम किया है। आज हिंदी राष्ट्रभाषा है। यह गौरवमय स्थान प्राप्त कराने में सभा ने जिन जिन कठिनाइयों पर विजय पाकर सफलता पाई उनका उल्लेख हिंदी और राष्ट्र के इतिहास में अमिट रहेगा। राष्ट्रीय भावना का पोषण करने में भी सभा ने महत्वपूर्ण योग दिया। इस संबंध में महामना मदनमोहन मालवीय जी की प्रेरणा तथा आशीर्वाद, जिनके फलस्वरूप यह सभा फली-फूली और विकसित हुई, उल्लेखनीय है।"

आगे आपने कहा—"राजदूत विदेशों में हिंदी में प्रमाणपत्र देते हैं, इससे हिंदी का मान बढ़ता है।" अंत में आपने उत्तर प्रदेश सरकार की ओर से सभा को ५० हजार रुपए दान देने की घोषणा की। आपने कहा—"४० हजार देने की बात थी। ३५ हजार कर्ज की माफी में तथा ५ हजार नगद, पर डॉ० संपूर्णानंद जी का कहना है कि वह तो ५० हजार होना ही चाहिए और मैं इसे स्वीकार करता हूँ। सभा के संपूर्ण कार्यों का विवरण देना कठिन होगा। हिंदी की लिपि और शैली के विकास, पुरातन साहित्य की खोज, नवीन और प्रेरणात्मक साहित्य का सृजन, उसके प्रत्येक अंग का सुव्यवस्थित गठन, प्रामाणिक व्याकरण की रचना, बृहत् कोश का संकलन, साहित्य के अधिकारपूर्ण इतिहास की व्याख्या इन सब में सभा ने महत्व-

पूर्ण कार्य किया है। हिंदी प्रचार कार्य को भी सभा ने प्रशंसनीय ढंग से किया है। अखिल भारतीय हिंदी साहित्य संमेलन की, जो आज देश में सुंदर काम कर रहा है, यह जन्मदात्री है। सभा को अभी बहुत काम करना है। हिंदी ने राष्ट्रभाषा के सिंहासनारूढ़ होने पर अपने ऊपर एक गौरवमय वरन् गुरुतर दायित्व लिया है। उसे पूरी तरह निभाने के लिये अभी अथक प्रयत्न करने हैं। इसे प्रत्येक देशवासी को प्रेमपूर्वक ग्राह्य करवाना तथा ज्ञान-विज्ञान और हस्तकौशल के प्रत्येक अंग की हिंदी साहित्य में पूर्ण रूप से अभिव्यक्ति कर सकने की क्षमता प्राप्त करवाना, ललित तथा सुंदर साहित्य की रचना को प्रोत्साहित करना और इसकी कमियों और त्रुटियों को दूर कर लेना, ये कठिन कार्य अभी सामने हैं। मुझे विश्वास है कि सभा इन कार्यों को करने में पूरा प्रयत्न करेगी और सफलता प्राप्त करेगी। मैं इस शुभ अवसर पर सभा के प्रति अपनी शुभकामनाएँ प्रकट करता हूँ।"

पंत जी के भाषण के बाद सभा के प्रधान मंत्री डा० राजबली पांडेय ने सभा का ६० वर्षों का विवरण-पाठ किया। अंत में उन्होंने कहा—"सभा की सफलताएँ और विफलताएँ देश और समाज की सफलताएँ और विफलताएँ हैं। अपने स्वल्प साधनों से अनेक कठिनाइयों का सामना करते करते सभा ने अपना वर्तमान रूप धारण किया है। नागरी और हिंदी राज्य तथा जीविकार्थी वर्ग से तिरस्कृत एवं उपेक्षित थी। पर इसके पीछे कोटि कोटि जनता का बल तथा आशीर्वाद था और थी तपस्वी साहित्यिकों की साधना। इसी शक्ति और संबल को लेकर सभा अपने पथ पर आगे चलती रही। हम सभा की साहित्यिक परंपरा की रक्षा करने तथा उसके भावी संवर्द्धन और विकास के लिये कृतसंकल्प हैं। सभा के ६० वर्षों के इतिहास के सिंहावलोकन में सभा की स्थापना, विकास तथा अब तक किए गए कार्यों का विवरण उपस्थित किया गया है। अर्थसंग्रह के सिलसिले में विवरण में बताया गया है कि हीरक जयंती के सिलसिले में कुल २ लाख ४१ हजार ११६ रुपयों की आय हुई है। उत्तर प्रदेश सरकार ने सभा को ५० हजार दिया है जिसमें ३५ हजार पिछले कर्ज की माफी है। मध्य प्रदेश सरकार ने पत्रिका के विशेषांक के लिये ५००) तथा विंध्य प्रदेश सरकार ने अपने प्रांत में हस्तलिखित ग्रंथों की खोज के लिये १०००) की सहायता दी है। भारत सरकार ने १ लाख २५ हजार रुपए की सहायता हिंदी के बृहत् प्रामाणिक कोश तथा अन्य ग्रंथों के प्रकाशनों के लिये दी है। बिहार सरकार ने ६०००) की सहायता दी है। सेठ धनश्यामदास बिड़ला ने २५०००) की सहायता दी है।"

तदनंतर राष्ट्रपति द्वारा श्रेष्ठ ग्रंथों के रचयिताओं को पुरस्कार और पदक वितरित किए गए। जो पुरस्कार और पदक दिए गए उनका विवरण इस प्रकार है—



माननीय पं० गोविंदवल्लभ पंत, मुख्य मंत्री, उत्तर प्रदेश
हीरक जयंती के प्रति शुभाशंसा प्रकट करते हुए
(परिशिष्ट, पृ० १५)



तत्रभवान् राष्ट्रपति जी द्वारा श्री रामधारी सिंह दिनकर
को द्विवेदी-स्वर्णपदक-अर्पण
(परिशिष्ट, पृ० १७)

	पुरस्कार तथा पदक	राशि	संवत्	ग्रंथ का नाम	लेखक का नाम जिन्हें दिया गया
१	श्री डा० श्यामसुंदरदास पुरस्कार	१०००)	२०१०		* श्री अंबिकाप्रसाद वाजपेयी
२	रत्नाकर पुरस्कार (१) तथा राधाकृष्णदास रजत पदक	२००)	२००३ से २००६	व्रजलोक संस्कृति व्रज की लोक कहानियाँ	श्री डा० सत्येंद्र
३	बिड़ला पुरस्कार तथा रेडिचे पदक	२००)	२००४ से ०६ तक	मनोविज्ञान और जीवन	श्री लालजी राम शुक्ल
४	रत्नाकर पुरस्कार (२) तथा बलदेवदास रजत पदक	२००)	२००४ से ०९ तक	भोजपुरी लोक गीत	* श्री कृष्णदेव उपाध्याय
५	डा० छन्नूलाल पुरस्कार तथा ग्रीव्ज रजत पदक	२००)	२००१ से ०४ तक	औपसर्गिक रोग	श्री डा० घाणेकर
६	,, ,, ,,	२००)	२००५ से ०८ तक	धातु विज्ञान	* श्री डा० दयास्वरूप
७	मेहता जोधसिंह पुरस्कार तथा गुलेरी पदक	२००)	२००६ से ०६ तक	भारतीय व्यापार का इतिहास	श्री कृष्णदत्त वाजपेयी
८	माधवी देवी महिला पुरस्कार तथा वसुमति रजत पदक	१००)	२००४ से ०६ तक	आप का मुन्ना	श्री सावित्री वर्मा
६	डा० हीरालाल स्वर्ण पदक		२००२ से ०४ तक	भारतीय वास्तुकला	श्री परमेश्वरीलाल गुप्त
१०	,, ,, ,,		२००५से२००७तक	भारतीय सिक्के	श्री वासुदेव उपाध्याय
११	आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी स्वर्ण पदक		२००६ से ०७ तक	मृगनैनी	*श्री वृंदावनलाल वर्मा
१२	,, ,, ,,		२००८ से ०६ तक	रश्मिरथी	श्री रामधारी सिंह 'दिनकर

इनमें से *चिह्नित सज्जन समारोह में उपस्थित नहीं हो सके अतएव उनके पुरस्कार पदक उत्सव के अनंतर डाक द्वारा उनके पास भेज दिए गए।

पुरस्कार-पदक-वितरण के पश्चात् श्री राष्ट्रपति जी ने 'श्री सेठ रामकुमार भुवालका अतिथिभवन' का शिलान्यास किया। यह अतिथिभवन सभाभवन के पीछे उत्तर-पूरब की ओर बनेगा जिसके लिये कलकत्ते के विद्यानुरागी श्रीमंत सेठ रामकुमार भुवालका जी ने ११,०००) प्रदान किया है। शिलान्यास संबंधी वास्तु-पूजन पूर्णतः वैदिक कर्मकांड के अनुसार वेदमूर्ति श्री नारायण शास्त्री पालंदे, श्री वेणीमाधव सप्रे, श्री माधव भट्ट तथा श्री प्रेममूर्ति ने संपन्न कराया जिसमें यजमान का कृत्य सभा के संस्थापक श्री ठाकुर शिवकुमार सिंह जी ने संपादित किया। शिलान्यास के अनंतर राष्ट्रपति जी मंच पर वापस आ गए एवं उत्सव के सभापति श्री डा० अमरनाथ जी झा ने समवेत अभ्यागतों को धन्यवाद दिया। उन्होंने डा० राजेंद्रप्रसाद के प्रति श्रद्धा प्रकट करते हुए कहा—"आप हिंदी भाषा के अनन्य भक्त हैं और हमें विश्वास है कि आपकी छत्रच्छाया में हिंदी फूले-फलेगी। राष्ट्रभाषा हिंदी के उपासकों का यह पहला कर्तव्य होना चाहिए कि अन्य प्रदेशों के रहनेवालों के मन में यह आशंका कभी न होने पावे कि राष्ट्रभाषा की उन्नति से उनकी मातृभाषा की क्षति या हानि होगी। यदि आंध्र प्रदेश की भाषाएँ नागरी लिपि में लिखी जाने लगें तो राष्ट्रभाषा का जो प्रश्न आज जटिल है वह सुलझ जाय। सुना है कि उर्दू को संरक्षण देने के संबंध में कुछ लोगों ने राष्ट्रपति के समक्ष माँग रखी है। मैं उर्दू का हितैषी हूँ। मैं चाहता हूँ कि वह फूले-फले और भविष्य में भी जीवित रहे पर मैं उर्दू प्रेमियों से अनुरोध करूँगा कि वे समझें कि उर्दू इस देश में उसी स्थिति में जीवित रहेगी या टिक सकेगी यदि वे उर्दू नागरी लिपि में लिखना प्रारंभ करेंगे। यदि उर्दू नागरी लिपि में लिखी जाने लगेगी तो हिंदी-उर्दू में बहुत कम अंतर रह जायगा और लोग रुचि भी लेने लगेंगे। बँगला, गुजराती मराठी भाषाएँ भी यदि देवनागरी लिपि में लिखी जायँ तो उनका साहित्य तो समृद्धिशाली होगा ही, हिंदी साहित्य का भी उपकार होगा।"

बैंड पर 'वंदे मातरम्' गान के बाद अधिवेशन के पहले दिन की मुख्य काररवाई समाप्त हुई।

गीतनाट्य

रात में ८॥ बजे से काशीनरेश महाराज विभूतिनारायण सिंह के सभापतित्व में प्रारंभ हुआ। उत्तर प्रदेश के शिक्षामंत्री श्री हरगोविंद सिंह ने इस आयोजन का उद्घाटन किया।

उद्घाटन भाषण के बाद इंदु महिला संगीतालय की छात्राओं द्वारा 'गाइए गणपति जगवंदन' मंगलगान और छोटी छोटी बच्चियों के समवेत स्वागतगान से नृत्य-संगीत का भव्य आयोजन प्रारंभ हुआ जिसके अंतर्गत दशवर्षीया कुमारी प्रभा ने दोनों हथेलियों पर दीप शिखाओं की अजस्र ज्योति वहन करते हुए कलापूर्ण 'आरती नृत्य' किया। इसके बाद अन्य कुमारियों ने भक्ति-भावनापूर्ण 'पुजारिन' नृत्य किया। तदनंतर



तत्रभवान् राष्ट्रपति जी द्वारा श्री रामकुमार भुवालका
अतिथि-भवन का शिलान्यास
(परिशिष्ट, पृष्ठ १८)
(फोटो—श्री उदयशंकर शास्त्री)



अतिथि-भवन-वास्तुपूजन के यजमान
नागरीप्रचारिणी सभा के अनन्य संस्थापक
श्री ठाकुर शिवकुमार सिंह

झाँसी की रानी का भाव-नृत्य और शिवतांडव नृत्य तथा 'ध्रुपद गान' एवं 'कृष्ण भगवान का आगमन' के सुंदर कार्यक्रम प्रस्तुत किए गए।

संगीत का दूसरा कार्यक्रम संगीत मंडल की ओर से प्रस्तुत किया गया जिसमें श्री सुरेंद्र मोहन मिश्र का बहुत सुंदर सितार वादन हुआ। तत्पश्चात् कुमारी लक्ष्मीदेवी ने शास्त्रीय कथक नृत्य प्रस्तुत किया जो अत्यंत हृदयग्राही था; फिर श्री सुखदेव मिश्र के निर्देशन में श्री माधवकृष्ण तथा श्री बालकृष्ण ने शिवतांडव एवं लास्य का मोहक कार्यक्रम प्रस्तुत किया। कार्यक्रम बारह बजे रात तक पूर्ण सफलता के साथ चलता रहा।

श्री सुधाकर पांडेय तथा श्री रामलोचन पांडेय ने आयोजन को सफल बनाने में प्रशंसनीय परिश्रम किया। अंत में श्री सुधाकर पांडेय (सांस्कृतिक आयोजन के संयोजक) ने कलाकारों को धन्यवाद दिया।

राष्ट्रभाषा संमेलन

रविवार २३ फाल्गुन को प्रातः राष्ट्रभाषा संमेलन और गोष्ठी बिहार के राज्यपाल श्री रंगनाथ दिवाकर के सभापतित्व में हुई। इसका उद्घाटन मध्य प्रदेश के मुख्य मंत्री श्री पं० रविशंकर शुक्ल ने किया। हीरक जयंती के राष्ट्रभाषा संमेलन के संयोजक श्री चंद्रबली पांडेय ने अपने भाषण में कहा—"अपढ़ लोग भी अँगूठे के बल पर उर्दू को उत्तर प्रदेश की क्षेत्रीय भाषा घोषित कराना चाहते हैं। उर्दू को सदा से राजबल प्राप्त रहा है। वह शाहजहानाबाद के किला मुअल्ला की भाषा रही है। उसको उर्दू की जबान या उर्दू-ए-मुअल्ला यों ही नहीं कहा गया है। वह सचमुच 'लालकिला' की शाही जबान रही है। अवध के बादशाह तो उसको अपनी राजभाषा ही घोषित कर चुके थे, किंतु वह कभी किसी प्रदेश की क्षेत्रीय भाषा नहीं रही। कभी कोई भी हिंदुस्तानी, चाहे वह मुसलमान और फारसी-अरबी का प्रगाढ़ पंडित ही क्यों न हो, उसमें प्रमाण न माना गया। मुगल सम्राट् न रहे तो भारत-सम्राट् ने उसे पाला। सब कुछ हुआ, पर कभी वह क्षेत्रीय भाषा घोषित न हुई। यह पद सदा नागरी हिंदी को ही प्राप्त रहा। अंग्रेजी कूटनीति को नागरी से द्रोह हुआ तो उसने उर्दू के हित के विचार से हिंदुस्तानी को सराहा। कारण यह था कि नागरी को महत्त्व मिलता तो नागरिक सहसा जागरूक हो उठते और फिर उनपर शासन करना कठिन हो जाता।"

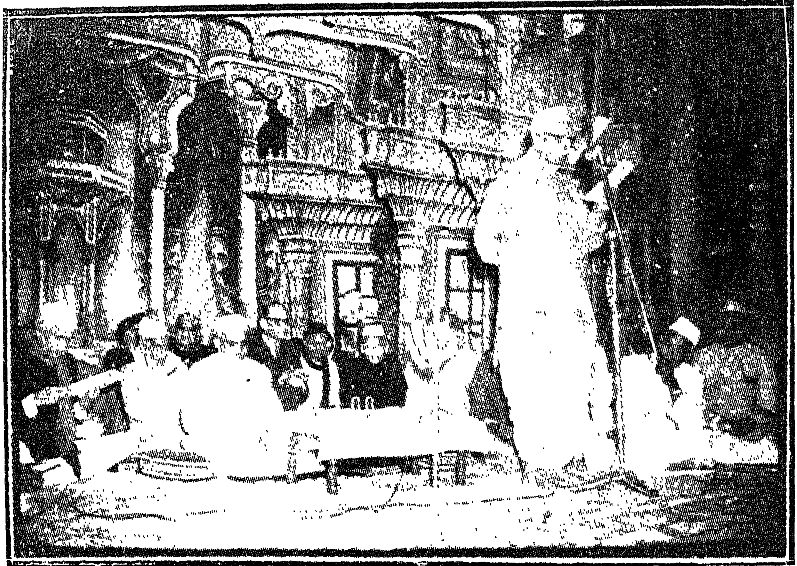
श्री पं० रविशंकर शुक्ल ने अपने उद्घाटन-भाषण में कहा—"सभा के हीरक-जयंती उत्सवों में राष्ट्रभाषा संमेलन का विशेष स्थान है। सच में तो सभा का इतिहास ही राष्ट्रभाषा के गौरव का इतिहास है। सभा की आज की यह जयंती केवल नागरीप्रचारिणी सभा की नहीं, साहित्य की एकांत साधना की जयंती है। हिंदी के राजभाषा घोषित होने का वास्तविक अर्थ तो यही है कि निश्चित अवधि में हिंदी भारतीय संघ के समस्त सरकारी कारबार की तथा अहिंदी भाषी प्रांतों में भी अखिल भारतीय संबंध वाले सरकारी कार्यों की भाषा हो जाय। आज युग के विज्ञान, कानून, शासन, व्यवसाय और अन्य क्षेत्रों की नित्य नई आवश्यकताओं के लिये उसे भरपूर उतरना होगा। अखिल भारतीय स्तर का निर्वाह

कर सकने के लिये उसे सुसज्जित होना होगा। अंग्रेजी का स्थान पूरी तरह लेने के लिये उसे अंग्रेजी की चुस्ती, गठन और गति भी पानी होगी। अंग्रेजी से हमारा विद्वेष नहीं। किंतु अपने प्रजातंत्र में उसका सारा कारोबार प्रजा की भाषा में न होकर एक विदेशी भाषा में हो, इस विडंबना को तो हमें मिटाना ही होगा।

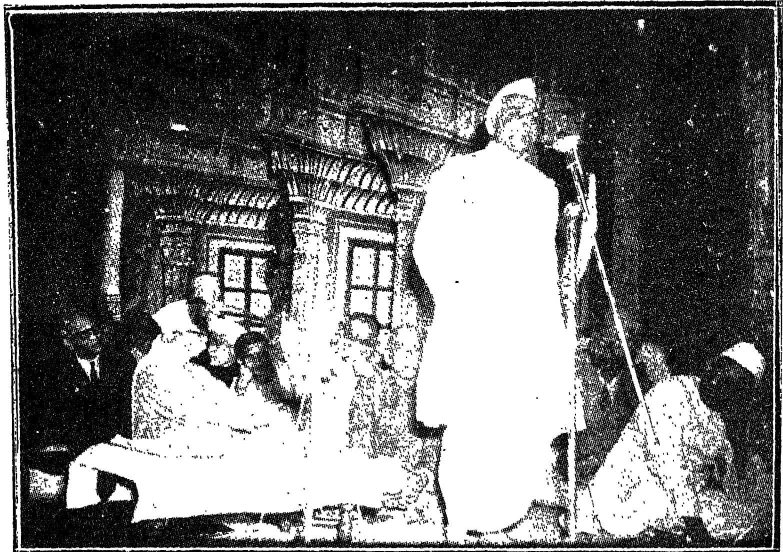
"यदि राष्ट्रभाषा को निश्चित अवधि में अपने मनोनीत स्थान पर अधिष्ठित करना है, तो केंद्रीय शासन को कदम उठाना ही होगा। अंग्रेजी की बिदाई के साथ ही रोमन लिपि भी बिदा हो चलेगी। देवनागरी को उसका स्थान लेना होगा। यह सच है कि देवनागरी ध्वनिशास्त्र की दृष्टि से एक अत्यंत वैज्ञानिक लिपि है, फिर भी नागरी आज के युग की गति, सुगमता और यांत्रिक आवश्यकताओं के अनुरूप रोमन की तरह ही पूरी उतरे, यह हमें सुनिश्चित करना होगा। उत्तर प्रदेश सरकार ने पिछले नवंबर में लखनऊ में लिपि-सुधार संमेलन का आयोजन कर एक प्रशंसनीय कार्य किया। लखनऊ संमेलन के निश्चयों के फलस्वरूप नागरी लिपि को इस दिशा में गति मिलेगी और आशा है कि शीघ्र ही नागरी भी रोमन की तरह टाइपराइटर, मोनोटाइप, लिनोटाइप, तार, टेलीप्रिंटर इत्यादि के लिये उपयुक्त होगी। राष्ट्रभाषा का प्रचारयुग समाप्त हो गया, आज उसका निर्माण युग है। हमारे सामने केवल १० वर्ष की अवधि शेष है। यह एक चुनौती है और अवसर भी।"

राष्ट्रभाषा-संमेलन और विचार-गोष्ठी में सभापति पद से मौखिक भाषण करते हुए बिहार के राज्यपाल श्री रंगनाथ दिवाकर ने इस बात की आवश्यकता पर अधिक बल दिया कि हिंदी में एकरूपता लाने के लिये हिंदी संवाद-समिति का संघटन किया जाय। उन्होंने कहा—"यदि यह कार्य वर्तमान संवाद-समिति प्रेस ट्रस्ट आव इंडिया स्वयं कर ले तो उत्तम बात होगी। हिंदी की एकरूपता एक महत्वपूर्ण प्रश्न है, इसपर राज्य सरकारों को ध्यान चाहिए। विधायक कार्य अधिक आवश्यक है। परदेशीय भाषा के द्वेष से या बहिष्कार से हमारी भाषा बढ़नेवाली नहीं है। उसमें उत्तमोत्तम साहित्य का निर्माण आवश्यक है। राष्ट्रभाषा संबंधी जो विधायक कार्य हैं उनमें से सबसे मुख्य स्थान मैं अति श्रेष्ठ और उपयुक्त ग्रंथों के निर्माण को देता हूँ। शिक्षा प्रणाली का बदलना भी आवश्यक है। आज हमारी प्रचलित शिक्षा प्रणाली के बारे में जहाँ तहाँ टीका टिप्पणियाँ हो रही है। उसको बदलना आवश्यक है। खास कर माध्यम के बारे में यह बात साफ है कि परदेशीय भाषा के माध्यम से सीखना यह स्वीकृत शिक्षा विज्ञान के विरुद्ध और बहुत कष्टप्रद है, और यदि यही प्रणाली चालू रहेगी तो बहुत कम लोग, जैसा कि आज है, सच्चा ज्ञानप्राप्ति में प्रगति कर सकेंगे। भारतवर्ष में रहनेवाले जो हम ३६ करोड़ लोग हैं उनका हित संबंध एक है, सुख दुःख एक है, साध्य साधन एक है, हमारा भविष्य एक है। राष्ट्रभाषा को भी हम इसी दृष्टि से देखें और इसका उपयोग इसी उद्देश्य से करें, तभी हमारा मूल उद्देश्य सफल होगा।"

गोष्ठी में निम्नलिखित प्रस्ताव सर्वसंमति से स्वीकृत किए गए—



माननीय पं० रविशंकर जी शुक्ल, मुख्य मंत्री, मध्य प्रदेश
राष्ट्रभाषा-संमेलन का उद्‌घाटन करते हुए
(परिशिष्ट, पृ० १९)



राष्ट्रभाषा-संमेलन तथा विचारगोष्ठी के सभापति-पद से भाषण देते हुए
बिहार के राज्यपाल माननीय श्री रंगनाथ जी दिवाकर
(परिशिष्ट, पृ० २०)

(फोटो--श्री उदयशंकर शास्त्री)

(१) सभा की दृष्टि में हिंदी के राष्ट्रभाषा घोषित हो जाने के पश्चात् संघ शासन ने उसके निर्माण में जो योग दिया है वह अत्यंत अल्प और किसी स्वतंत्र राष्ट्र के लिये अनुपयुक्त है। सभा इसका कारण केंद्र में स्वतंत्र व्यवस्था का अभाव समझती है। अतएव संघ शासन से सभा का साग्रह अनुरोध है कि वह केंद्र में अविलंब राष्ट्रभाषा मंत्रालय स्थापित करे जो राष्ट्रभाषा के संबंध में संविधान की ३५१वीं धारा में उल्लिखित संघ शासन के कर्तव्यों को पूरा करने का पूर्ण उद्योग करे।

(२) यह सभा मुक्त कंठ से घोषित करती है कि वह उर्दू को हिंदी से कोई भिन्न भाषा नहीं मानती। यदि उसका साहित्य देवनागरी लिपि में प्रकाशित कर दिया जायगा तो लिपि भेद मिट जाते ही भाषा-भेद भी मिट जायगा।

नागरीप्रचारिणी सभा उर्दू के कुछ हिमायतियों के इस प्रयत्न और आंदोलन का कि सरकार उर्दू को एक क्षेत्रीय भाषा मानकर उसे किसी विश्वविद्यालय की शिक्षा का माध्यम बना दे और उसके साहित्य की रक्षा और उन्नति पर विशेष ध्यान दे, स्पष्ट शब्दों में विरोध करती है और इस माँग को अत्यंत अनुचित, अहितकर और बिलगाव की नीति का पोषक समझती है।

सभा राष्ट्रपति से साग्रह अनुरोध करती है कि वे उपर्युक्त माँग को महत्व न दें। सभा की राय में नागरी लिपि का व्यवहार ही जिसे उर्दू का साहित्य कहा जाता है, उसके विकास में सहायक होगा।"

(३) सभा यह अनुभव करती है कि अहिंदी भाषी क्षेत्रों में इन दिनों एक प्रकार का ऐसा भ्रम फैल रहा है कि जो लोग हिंदी को देश की राष्ट्रभाषा बनाने का प्रयत्न कर रहे हैं वे अन्य प्रादेशिक भाषाओं का विकासावरोध करना चाहते हैं। सभा के मत से यह विशुद्ध भ्रम है। हिंदी के प्रामाणिक विद्वानों और संस्थाओं ने कभी ऐसी बात नहीं कही।

सभा सभी प्रांतीय भाषाओं की उन्नति चाहती है और यदि किसी के मन में कोई भ्रम हो तो उसे दूर करने के उद्देश्य से घोषणा करती है कि हिंदी का आंदोलन भारतीयकरण का आंदोलन है। यह सभी भाषाओं की उन्नति और संरक्षण का आंदोलन है। सभा का विश्वास है कि किसी भी भारतीय भाषा की उन्नति से सभी भारतीय भाषाएँ समृद्ध होती हैं। इसलिये सभा बिना किसी दुविधा और संकोच के घोषित करती है कि वह सभी प्रांतीय भाषाओं की उन्नति, समृद्धि और संरक्षण चाहती है।

साहित्य-कला-प्रदर्शनी

हीरक जयंती के अवसर पर सभा में साहित्य प्रदर्शनी का भी आयोजन किया गया था जिसका उद्घाटन २३ फाल्गुन को प्रातःकाल श्री पं० रामनरेश त्रिपाठी ने किया। प्रदर्शनी का उद्घाटन राजर्षि टंडन जी करनेवाले थे किंतु अस्वस्थतावश वे नहीं आ सके। प्रदर्शनी में प्राचीन पत्र-पत्रिकाओं, हस्तलिखित ग्रंथों, सभा द्वारा प्रकाशित पुस्तकों तथा प्रमुख साहित्यकारों की हस्तलिपियों के अतिरिक्त श्री कांजीलाल द्वारा बनाए गए १७ रेखा-चित्र भी थे जिनमें सभा की उत्तरोत्तर प्रगति का चित्रण किया गया था।

कविगोष्ठी

रविवार २३ फाल्गुन की रात में कवि गोष्ठी संसद-सदस्य श्री रामधारी सिंह 'दिनकर' के सभापतित्व में हुई। सागर विश्वविद्यालय के कुलपति श्री डा० रामप्रसाद त्रिपाठी ने इस गोष्ठी का उद्घाटन किया। श्री श्रीनारायण चतुर्वेदी 'श्रीवर' ने आगत कवियों एवं साहित्यिकों का स्वागत किया। उन्होंने कहा—"सभा हिंदी भाषा और नागरी प्रचार के साठ वर्षों के निःस्वार्थ, सतत और श्रद्धापूर्ण प्रयत्नों की प्रतीक है। पद्य की महत्ता पर प्रकाश डालते हुए आपने कहा कि अनादि काल से भावों की अभिव्यक्ति के लिये काव्य सर्वोत्तम साधन माना गया है। सभी देशों के प्राचीनतम साहित्य में गद्य की अपेक्षा पद्य को ही प्रधानता दी गई है। यह स्पष्ट है कि कवि-संमेलन हिंदी-प्रचार का बहुत उपयोगी साधन है। आज जब अहिंदी प्रांतों में हिंदी का प्रचार करने और वहाँ के बुद्धिजीवी वर्ग में हिंदी के प्रति सहानुभूति उत्पन्न करने की आवश्यकता है, उचित होगा कि हमारे दस-पाँच चुने हुए कवियों की सहायता से अहिंदी प्रांतों में ऐसी गोष्ठियों या संमेलनों का योजनाबद्ध आयोजन किया जाय। हिंदी प्रांतों में प्रचार के लिये कवि-संमेलनों की अब आवश्यकता नहीं है।"

गोष्ठी में निम्नलिखित कवियों ने भाग लिया—श्री शिवमंगल सिंह 'सुमन', श्री शंभुनाथ सिंह, श्री श्यामनारायण पांडेय, श्री रवींद्रनाथ 'भ्रमर', श्री श्रीपालसिंह 'क्षेम', श्री ठाकुरप्रसाद सिंह, श्री रामदरश मिश्र, श्री सत्येंद्रनाथ 'शिव', श्री रविमोहन वर्मा, श्री 'शिव', श्री राजेंद्र प्रसाद सिंह, श्री गुरुभक्त सिंह तथा श्री 'बेढब' जी। यह कार्यक्रम रेडियो से भी सुनाया गया।

एशियाई भाषा संमेलन

इसके मनोनीत सभापति डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या की अनुपस्थिति में डॉ० उदयनारायण तिवारी की अध्यक्षता में सोमवार २४ फाल्गुन को प्रातःकाल एशियाई भाषा संमेलन हुआ। इस संमेलन में दो महत्वपूर्ण प्रस्ताव स्वीकृत हुए—

(१) एशियाई देशों की भाषाओं एवं साहित्यों का अध्ययन संसार के कल्याण के लिये परम आवश्यक है। बहुत प्राचीन काल से ही एशिया के देशों का सांस्कृतिक मिलन का कार्य चलता आ रहा है। पिछली कुछ शताब्दियों में यह संबध विशेष ऐतिहासिक कारणों से शिथिल हो गया। परंतु अब बहुत सी बाधाएँ दूर हो गई हैं। अब हमें सुसंगठित रूप में एशियाई भाषाओं और उनके साहित्य को समझने का प्रयत्न करना चाहिए। भारत में यह प्रयत्न आरंभ भी हो गया है। विश्वभारती का चीन भवन, कुशीनगर का एशियाई भाषा विद्यालय तथा विभिन्न विश्वविद्यालयों में चीनी, जापानी, अरबी, फारसी आदि के विभाग इस दिशा में शुभ प्रयत्न हैं। संमेलन उनके आयोजकों को धन्यवाद देता है और विश्वविद्यालयों तथा राज्य सरकारों से अनुरोध करता है कि एशिया के सभी छोटे बड़े देशों की भाषाओं और उनके साहित्य के अध्ययन के लिये अधिकाधिक प्रोत्साहन दे। एशिया के जिन देशों में इस प्रकार के प्रयत्न हो रहे

हैं उनके आयोजकों को संमेलन प्रेमपूर्वक स्मरण करता है और इस देश के साहित्यकारों की ओर से उन्हें सब प्रकार के सहयोग और मैत्री का आश्वासन देता है।

(२) द्वितीय प्रस्ताव द्वारा एक ऐसी संस्था का संघटन करने का निश्चय किया गया जो एशियाई भाषाओं और साहित्यों के परस्पर अध्ययन, आदान प्रदान तथा संवर्धन के साधनों को बढ़ाने और एशिया में ऐक्य, सौहार्द और शांति स्थापित करने की चेष्टा करती है।

इस संबंध में आचार्य नरेंद्रदेव की अध्यक्षता में सर्वश्री डॉ० उदयनारायण तिवारी, मोहनलाल भट्ट, वासुदेवशरण अग्रवाल, प्रो०शिवले, भदंत आनंद कौशल्यायन, डॉ०हजारी-प्रसाद द्विवेदी तथा डॉ० राजबली पांडेय (संयोजक) की एक अस्थायी समिति भी बनाई गई।

संमेलन के मनोनीत सभापति डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या के न आ सकने के कारण प्रयाग विश्वविद्यालय के डा० उदयनारायण तिवारी ने सभापतित्व किया तथा मनोनीत सभापति का भाषण पढ़कर सुनाया।

इस एशियाई भाषा संमेलन के लिये प्रस्तुत भाषण में डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने कहा—'एशिया मानवता का पालना, सभ्यताओं की जन्मभूमि और धर्मों का पीठस्थल रहा है। यूरोप न केवल भौगोलिक दृष्टि से अपितु सांस्कृतिक और आध्यात्मिक दृष्टि से भी एशिया का प्रक्षेप है। मानवता का सांस्कृतिक इतिहास इस बात का द्योतक है कि मनुष्य बौद्धिक और आध्यात्मिक दृष्टियों से भी एक है। भाषा और विचारगत रुचियों की विभिन्नताओं के बावजूद वे एक तरह के संवेगों से समान रूप से प्रभावित होते हैं और उनकी बुद्धि और भावना की प्रतिक्रियाएँ भी एक सी ही रहती हैं।'

संमेलन में जापान के प्रो० दहि, बर्मा के भदंत अग्गसमाधि, डा० हरदेव बाहरी आदि के भी भाषण हुए। अंत में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अभ्यागतों को धन्यवाद दिया। रूस, अमेरिका, कनाडा, नेपाल, तुर्की, अफगानिस्तान, हिंदेशिया तथा चीन के दूतावासों की ओर से इस अवसर पर शुभकामना के संदेश प्राप्त हुए थे।

पत्रकार संमेलन

सोमवार २४ फाल्गुन को अपराह्न २ बजे श्री पंडित कमलापति त्रिपाठी की अध्यक्षता में पत्रकार संमेलन हुआ। इसका उद्घाटन श्री पं० बाबूराव विष्णु पराडकर ने किया। इसमें नागरी टेलिप्रिंटर, हिंदी प्रचार समिति, नागरी तार का न्यूनतम मूल्य घटाकर आठ आना करने तथा सभा में पत्रकार कला के लिये स्वतंत्र खोज विभाग खोलने के लिये प्रस्ताव स्वीकृत हुए।

त्रिपाठी जी ने अपने भाषण में कहा—"जब हम किसान को उसके मौलिक अधि-कारों में स्थिरता दिलाना चाहते हैं, मजदूरों के लिये स्थिरता चाहते हैं, सरकारी कर्मचारी के रूप में कार्य करनेवाले व्यक्तियों के लिये स्थिरता आवश्यक समझी जाती है तो कोई कारण नहीं है कि लाखों रुपए की पूँजी से व्यवसाय का रूप ग्रहण करके निकलनेवाले पत्रों में कार्य

करनेवालों की स्थिति अस्थिर बनी रहे। पत्रकार ने जनहित को सदैव पवित्र धरोहर समझा है और उसका संरक्षक होने के नाते उसकी रक्षा करना अपना पुनीत कर्तव्य माना है। यही कारण है कि व्यापक मानव-समाज पर आज उसका असाधारण प्रभाव है। विविध कठिनाइयों और बाधाओं का सामना करते हुए तथा अपनी साधनहीनता और अभाव को लादे हुए भी हिंदी भाषा के पत्रों और पत्रकारों ने अविचल भाव से राष्ट्रीय संघर्ष में सदा आगे बढ़कर भाग लिया है। आज इस देश के पत्र और पत्रकारों के ऊपर दायित्व आ पड़ा है। भारतीय राष्ट्र ने शताब्दियों के पश्चात् स्वतंत्रता प्राप्त की है। उसके संमुख अपने निर्माण का महान् कार्य उपस्थित है और इस कार्य को सफल बनाने का सबसे अधिक भार पत्रकारों पर ही है। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि सन् १९५०-५१ के बाद हिंदी पत्रकारिता के क्षेत्र में चतुर्दिक् एक अवरोध की सी स्थिति उत्पन्न हो गई है। जिस तीव्र गति से पत्रों का विस्तार आरंभ हुआ उसी गति से उनका संकोच होने लगा। अनेक पत्र इस बीच बंद हो गए हैं और बहुत से ऐसे हैं जो चल तो रहे हैं परंतु उनकी स्थिति संतोषजनक नहीं है। सब पत्रों का स्तर भी ऐसा नहीं है जिसकी स्वतंत्र देश के उत्तरदायी पत्रों से अपेक्षा की जाती है। राष्ट्रभाषा हिंदी घोषित हो जाने के बाद भी हमारे व्यक्तिगत और सार्वजनिक जीवन पर विदेशी भाषा का प्रभुत्व बना हुआ है। मंच पर से अपनी भाषा का गुणगान करते हुए भी व्यवहार में अभी हमने उसकी प्रतिष्ठा नहीं की। हिंदी पत्रकारिता की उन्नति राष्ट्रभाषा की उन्नति का अभिन्न अंग है और प्रत्येक वर्ग और समूह का इस कार्य में योगदान आवश्यक है। इतने विशाल देश की राष्ट्रभाषा की अपनी संवाद समिति का न होना एक ऐसा अभाव है जिसकी पूर्ति के लिये इस क्षेत्र में कार्य करनेवाले व्यक्ति और संघटनों को जितनी शीघ्रता से संभव हो, कदम उठाना चाहिए। देवनागरी लिपि में टेलिप्रिंटर का बनना आज हिंदी पत्रकारिता के विकास की एक अनिवार्य आवश्यकता है। हिंदी पत्रों की संपूर्ण परंपरा बड़ी उज्ज्वल रही है। मैं चाहता हूँ, कि वे लोग जो पत्रकार-जगत् से संबंधित हैं और इस शक्तिशाली साधन के महत्व को समझते हैं, इस स्थिति पर विचार करें। सरकारी हस्तक्षेप अवांछनीय होता है। पत्रकारों को ही अपने संघटन के द्वारा यह चेष्टा करनी चाहिए कि जहाँ उनकी आर्थिक स्थिति सुदृढ़ हो वहीं उनके आदर्शों और परंपराओं की भी रक्षा हो और उनका स्तर गिरने के बदले उनके गौरव के अनुकूल ऊँचा उठ सके।"

साहित्यगोष्ठी

इसी दिन सायंकाल ५ बजे श्री नंददुलारे वाजपेयी की अध्यक्षता में साहित्यगोष्ठी हुई। उद्घाटन भाषण के बाद महामहोपाध्याय श्री गिरधर शर्मा चतुर्वेदी ने 'साहित्य' शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए देशकाल के अनुसार कर्तव्य मार्ग का निर्देश करना ही साहित्य का लक्ष्य बताया। आपने कहा—"साहित्य क्रोध, करुणा, श्रृंगार, हास्य आदि स्थायी भावों को जगाकर चित्त को रसोद्रिक्त कर देता है। इस स्थिति में मन संस्कारों को सहज ही ग्रहण कर लेता है। अतः साहित्य प्रणेता को औचित्य की सीमा का कभी भी उल्लंघन नहीं करना चाहिए।"

श्री शिवदान सिंह चौहान ने कहा—"युग की परिस्थितियों के अनुसार साहित्य के मानदंड (औचित्य) भी बदलते रहते हैं। आधुनिक वैज्ञानिक युग ने मानव जाति को विकासवाद और सापेक्षवाद के दो उपयोगी सिद्धांत दिए हैं। साहित्य का मानदंड प्रत्येक व्यक्ति के लिये अलग अलग होगा। हीगल और बर्गशा जैसे विचारकों द्वारा प्रतिपादित 'कला कला के लिये' वाला सिद्धांत ग्राह्य नहीं हैं। रचना किन परिस्थितियों में लिखी गई, उसकी विवेचना करना इतिहास का काम है। हमें यह देखना होगा कि वह कहाँ तक युग-सत्य को प्रतिबिंबित करती है।"

डा० केशरीनारायण शुक्ल ने कहा-"साहित्य के मानदंड का प्रश्न आलोचना के मानदंड का प्रश्न बन जाता है। जिस युग और जिस जीवन में हम चल रहे हैं उसका कोई मानदंड स्थिर किए बिना हम साहित्य का मानदंड स्थिर नहीं कर सकते। मानव के व्यक्तित्व और मानवीय गुणों का पक्ष साहित्य का शाश्वत पक्ष है। इस शाश्वत पक्ष और सामयिक सत्य का संतुलन आवश्यक है। मानवीयता, रमणीयता, रचना कौशल का समन्वित रूप ही साहित्य का मानदंड हो सकता है।" डा० नगेंद्र ने कहा—"भारतीय साहित्यशास्त्र ने रस द्वारा अनुभूति और ध्वनि द्वारा कल्पना की विवेचना की है। उन्होंने आनंद को ही काव्य की आत्मा और लक्ष्य माना है। दृष्टियाँ दो प्रकार की होती हैं—स्थूल तथ्यपरक और सूक्ष्म तत्वपरक। भारत में दूसरी दृष्टि को ही प्रधानता रही। साहित्य का चरम मान 'रस' ही हो सकता है जिसमें उपयोगिता और आनंद का समन्वय हो जाता है।" श्री सीताराम चतुर्वेदी ने मनुष्य की तीन मुख्य वृत्तियों चयन, अहं और जिज्ञासा की चर्चा करते हुए कहा कि सौंदर्य तत्व मोह को, अद्‌भुत तत्व कौतूहल को और असाधारण तत्व श्रद्धा को जगाता है।" श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने साहित्य में सजातीय, विजातीय और स्वगत भेदों की चर्चा करते हुए कहा कि हिंदी साहित्य में आदि काल से लेकर आजतक कभी भी शब्द और अर्थ का यथावत् सहभाव नहीं रहा। कभी शब्द की प्रधानता रही तो कभी अर्थ की। मेरा विश्वास है कि आज भी रस सिद्धांत को थोड़ा व्यापक बनाकर साहित्य का मानदंड बनाया जा सकता है। इसके लिये 'तस्माच्छास्त्र प्रमाणन्ते' वाली वृत्ति ठीक नहीं है। हमें नए ज्ञान-विज्ञान की भी जो सही बातें हों उन्हें स्वीकार करना चाहिए।

श्री डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने 'मा निषाद प्रतिष्ठा त्वमगमः शाश्वतीः समा' की चर्चा करते हुए कहा कि इस आदि श्लोक का जन्म सात्विक रोष से हुआ है। क्रौंच मिथुन में एक के बध को देखकर पास में बैठे हुए किसी भैंसे को यह रोष नहीं हो सकता था क्योंकि उसमें मनुष्यता नहीं है। साहित्य का चरम लक्ष्य मनुष्यत्व ही है और सारे वाद विवाद व्यर्थ हैं। साहित्य का एकमात्र लक्ष्य है—'नहि मनुष्यात् परतरं हि किंचित्'। मनुष्य को मनुष्य बनाना ही साहित्य का मानदंड है।

अंत में अध्यक्ष श्री नंददुलारे वाजपेयी ने सारे विचार-विमर्श का निष्कर्ष निकालते हुए कहा कि इस गोष्ठी में यह बताया गया कि महान् साहित्य की रचना के लिये हमें स्वयं महान् बनना चाहिए। साहित्य का मानदंड महत्ता है किंतु यह जरूरी नहीं है कि महान् व्यक्ति साहित्यकार भी हो। वाजपेयी जी ने उदात्तता (क्लैसिसिज्म) और

स्वच्छंदता (रोमांटिसिज्म) की चर्चा करते हुए कहा कि व्यक्तिगत भावना और उसके सामूहिक प्रभाव में साधारणीकरण सेतु का काम करता है। मैं राष्ट्रीय मानदंडों का समर्थक हूँ। नए ज्ञान के प्रकाश में रस, ध्वनि और अलंकार का पुनर्विधान (री-ओरिएंटेशन) होना चाहिए। हमें बराबर यह ध्यान रखना होगा कि हमारे साहित्यिक मान राष्ट्रीय परंपराओं के अनुकूल हों। अंत में डा० जगन्नाथप्रसाद शर्मा ने आगत विद्वानों को धन्यवाद दिया।

नृत्य, संगीत

रात्रि में संगीत परिषद् के तत्वावधान में नृत्य, संगीत एवं वादन का कार्यक्रम प्रस्तुत किया गया। भारत प्रसिद्ध तबलावादक श्री कंठे महाराज, सारंगी के प्रसिद्ध कलाकार श्री बैजनाथप्रसाद मिश्र, उदीयमान नृत्य-कलाकार कुमारी रूबी चटर्जी, श्री सदानंद दास, श्री तारकनाथ नाग और श्री डी० के० चटर्जी आदि ने उसमें भाग लिया।

साहित्य विमर्श

मंगलवार २५ फाल्गुन को प्रातःकाल साहित्य विमर्श श्री लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु' की अध्यक्षता में हुआ। इसका उद्‌घाटन आचार्य बदरीनाथ वर्मा ने किया। उन्होंने अपने उद्‌घाटन भाषण में कहा—"हमें जनता के लिये साहित्य तो चाहिए ही किंतु उसमें प्रतिफलित होनी चाहिए, जनता की अंतर्निहित भावना और प्रतिनिधित होनी चाहिए उसकी अंतश्चेतना। वह केवल जनता के लिये न हो, बल्कि जनता का भी हो। भारतेंदु ने जो व्यापकता और प्रसाद ने जो गांभीर्य दिया था उस परंपरा से विच्छिन्न हो हमने हिंदी साहित्य को वादों की संकुचित सीमा में घेर दिया है। संकीर्णताएँ हमारे लिए मापदंड बन गई हैं। संकीर्णता और संकुचित मनोभाव स्वस्थ साहित्य के सबसे प्रबल विघातक होते हैं। विज्ञान के असंख्य अन्वेषणों ने मानव-जीवन को अधिकाधिक सुख-साधन संपन्न बनाने की चेष्टा की है किंतु इतना स्वीकार करना ही पड़ेगा कि इसकी यांत्रिकता ने आत्मा का हनन भी किया है। हमें आध्यात्मिक आत्म-तत्वोपलब्धि की अपेक्षा है, जिसकी अखंडित धारा भारतीय धर्म-साधना और साहित्योपासना में उपलब्ध होती रही है। अतीत की परंपरा से विच्छिन्न साहित्य आकाशलता की भाँति निराधार हो जाता है। अतीत विच्छिन्न वर्तमान की कल्पना मोहावेश है। राष्ट्रभाषा हिंदी को इसके योग्य बनाना होगा जिसके कारण वह अनायास ही भारतीय संस्कृति की रक्तवाहिनी धमनी बनने में समर्थ हो सके। यशःप्रार्थी साहित्यिकों का ध्यान प्रचार की ओर रहता है, अतः सस्ते प्रकार के साहित्य की रचना आज अधिक हो रही है। केवल ऐसी रचनाओं के द्वारा हिंदी की गौरव वृद्धि नहीं हो सकेगी। राष्ट्रभाषा हिंदी को हमें इतना समृद्ध बनाना पड़ेगा कि इसके माध्यम से अन्वेषण और अनुसंधान संभव हो सके। विशाल भारतीय राष्ट्र की राष्ट्रभाषा होने के कारण हिंदी को आज अंतर्राष्ट्रीय महत्व उपलब्ध है। समग्र संसार के मनुष्य और राष्ट्र अब हिंदी के माध्यम से ही भारतवर्ष से परिचित होंगे। हिंदी भारतीय राष्ट्र, जीवन और विचार-धारा का प्रतीक होगी। हिंदी का अब वही स्थान नहीं

रहा जो अभी तक था। अतः इसे अधिकाधिक व्यापक बनाना होगा, जिसमें सांस्कृतिक संपत्ति की विशालता, विविधता और चेतना का वैभव पुंजीभूत हो।"

दिल्ली विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग के अध्यक्ष डा० नगेंद्र ने फ्रायड दर्शन का तुलानात्मक विश्लेषण किया। उन्होंने कहा कि हिंदी साहित्य में फ्रायड दर्शन आज से कोई १५ वर्ष पूर्व आया और उसने धीरे धीरे अपनी विचारधारा से हिंदी साहित्य को प्रभावित किया। आपने सविस्तर रूप से फ्रायड दर्शन की अंतर्निहित भावनाओं का विश्लेषण किया। अनंतर श्री शंभूनाथ सिंह ने साहित्य निर्माण की प्रक्रिया पर अपने विचार प्रकट किए। इस संबध में उन्होंने अपनी अनुभूति, संवेदनशीलता का अनुभव सुनाया। बिहार के कवि श्री रामदयाल पांडेय, छपरा के राजेंद्र कालेज के प्रोफेसर श्री मुरलीधर श्रीवास्तव, कलकत्ता के 'नया समाज' के संपादक श्री मोहनसिंह सेंगर, श्री शिवमंगल सिंह 'सुमन' तथा हिंदी के प्रसिद्ध नाटककार श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र ने भी अपने विचार प्रकट किए।

अंत में साहित्य विमर्श के सभापति श्री लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु' का अभिभाषण हुआ। उन्होंने कहा—"भारतीय संस्कृति के कारण भारतीय साहित्य में मानव जीवन को संतुलित रूप से समाविष्ट करने की चेष्टा की गई है। भारतीय जीवन के चार पुरुषार्थ— अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष हैं। चारों के संतुलन पर ही जीवन की पूर्णता मानी जाती है। जिस नैतिक भावना ने भारतीय साहित्य में दुःखांत काव्य को समुचित स्थान देने में कृपणता की उसी ने साहित्य क्षेत्र में एक सिद्धांत का निरूपण किया कि जीवन में हम जैसा कुछ देखते हैं साहित्य में उसका अविकल चित्रण निषिद्ध माना जाय। पाप का पर्यवसान दुःख में होना चाहिए और पुण्य की परिणति सुख में। यदि जीवन में सामान्यतः ऐसा नहीं होता है तो कम से कम साहित्य में ऐसा होना चाहिए, आदर्शवादी साहित्य की ऐसी मान्यता है। यथार्थवादी दृष्टिकोण से इसपर विचार किया जाय तो जीवन की वस्तुस्थिति के समान साहित्य में भी निर्दोष तथा पुण्यात्मा मात्र के लिये यह कोई आवश्यक नहीं कि वे अंततः अपने दुःखों से मुक्त ही चित्रित किए जायँ। पश्चिमी साहित्य शास्त्रियों ने भी इस संबंध में जो नियम बनाए उनका ठीक ठीक परिपालन सर्वत्र नहीं किया। पूर्वीय साहित्य के दृष्टिकोण ने साहित्य को नैतिकता का प्रधान आधार मानकर इस प्रकार का विपरीत तथा पूर्वापर विरोधी परिणाम दिखलाने की अनुमति नहीं दी। इसमें मूल में कौन सा दार्शनिक रहस्य है, इसपर हमें विचार करना चाहिए। आदर्शवाद भारतीय जीवन के सदा अनुकूल रहा। प्रत्येक व्यक्ति का आदर्श उसके संस्कार के अनुकूल रहता है। यही बात व्यक्ति से आगे बढ़कर जाति या राष्ट्र के संबंध में कही जा सकती है। आदर्श के साथ साहित्य का संबंध इसी सीमा पर आरंभ होता है। व्यक्ति-कल्याण, समाज-कल्याण, विश्व-कल्याण ही भारतीय साहित्य का मूल मंत्र है। जगत् और जीवन में जो क्रांति होती है उसकी प्रतिक्रिया का प्रभाव साहित्य पर भी पड़ता है। बहुधा यह होता है कि जीवन संक्रांति को सफल बनाने के लिये हम साहित्य को माध्यम के रूप में ले लेते हैं और साहित्य के द्वारा भी जीवन में क्रांति की चेष्टा करते हैं। जीवन का कितना और कैसा प्रभाव साहित्य पर

पड़ता है और साहित्य का कितना और कैसा प्रभाव जीवन पर पड़ता है यह एक विचारणीय प्रश्न है। मानसिक क्षुधा के लिये आध्यात्मिक भोजन की आवश्यकता पड़ती है और उसके परितोष के लिये साहित्य है। स्वाद का आनंद मूल खाद्य पदार्थ में नहीं, बल्कि उसके विधिवत् पाक कौशल में हैं। उसी प्रकार रस का आनंद मूल कथावस्तु में नहीं, उसके वर्णन-कौशल में है। यह आनंद साहित्य ही दे सकता है, जगत् और जीवन की दूसरी कोई वस्तु नहीं।"

सांस्कृतिक संमेलन

२५ फाल्गुन को सायंकाल ४ बजे से आचार्य नरेंद्रदेव जी की अध्यक्षता में सांस्कृतिक संमेलन हुआ। संमेलन का उद्घाटन सभा के उपसभापति श्री पं० गुरुसेवक उपाध्याय जी ने किया। उन्होंने अपने सारगर्भित भाषण में बताया—"मनुष्य की इंद्रियों, मन, बुद्धि और जीव के शक्ति-संवर्धन और संस्कार-संपन्नता से मानव का अतिमानव बनना, द्विज कहलाने योग्य होना संस्कृति का ध्येय है। अतः वैदिक संस्कृति स्वभावतः प्रगतिशील है क्योंकि यह ईश्वरी नियमों पर आधृत है। संप्रदायों का अस्तित्व स्वाभाविक है। पर उनमें विद्वेष की भावना अक्षम्य है। सांप्रदायिक नेताओं की स्वार्थबुद्धि और धर्मांधता या असहिष्णुता के कारण संप्रदायों का वातावरण दूषित, संघर्षमय और विशाक्त हो जाता है जिसके अनेक प्रमाण हमारे सांप्रदायिक पुराणों में पाए जाते हैं। शैव वैष्णव को, वैष्णव शैव को भला बुरा कहते हैं। उन संप्रदायों के संस्थापकों में ऐसी असहिष्णुता नहीं पाई जाती है। उनके उत्कृष्ट साहित्य का अध्ययन, उनके महापुरुषों का समादर वांछनीय है। रामायण, महाभारत आदि उत्कृष्ट साहित्यों में भी समन्वय का भाव दिखाई देता है। वेदमंत्रों में तो वह है ही। धर्म का काम लोकसंग्रह का है, लोक-विग्रह का नहीं। धर्म के नाम पर सांप्रदादिक प्रतिद्वंद्विता हमारे वर्तमान सामाजिक जीवन में विषैले रूप में व्याप्त है। संप्रदायवादी अपने ग्रंथों में मौलिक अभिप्राय को समझे बिना, संकुचित बुद्धि से, चेतनाहीन यांत्रिक दृष्टि से उनका अनुसरण करते हैं। इस अर्थ में धार्मिक होना असंस्कृत होना है। भारतीय संस्कृति समन्वयात्मक है, उसके नाते से संप्रदायों का परस्पर संबंध सौहार्दपूर्ण हो सकता है, पर जैसा महात्मा जी ने कहा है कि जहाँ दुराग्रह पुराना है और अयथार्थ धार्मिक प्रमाणों पर आधृत मान लिया गया है वहाँ केवल बुद्धिवाद काम नहीं दे सकता। बुद्धिवाद को दृढ़ बनाने के लिये दुःख झेलना पड़ता है तब दुःख झेलना बुद्धि या समझ की आँखें खोल देता है। भावविशुद्धता से ही संस्कृति संभव है और तभी कल्याण हो सकता है।'

मद्रास के राज्यपाल महामहिम श्री श्रीप्रकाश जी ने कहा कि मैं तो संस्कृति इसी को मानता हूँ कि कोई मनुष्य दूसरे के भावों का आदर करते हुए संताप न पहुँचानेवाली भावना से कार्य करे। जब तक पुरुष स्त्री के साथ समान व्यवहार न करेगा तब तक समाज का उत्थान संभव नहीं। हममें आज भी संकीर्णता है, बुराइयाँ हैं। जब तक हम इन्हें दूर नहीं करते, हम संसार के उन्नत राष्ट्रों की पंक्ति में नहीं आ सकते। हमें तो कभी कभी यह

चिंता होती है कि कहीं मिली हुई स्वतंत्रता हम खो न दें। सांस्कृतिक जीवनस्तर ऊँचा उठाकर व्यवहार में व्यक्तिवाद को तिलांजलि दे समष्टिवाद के आधार पर कार्य कर ही हम देश की स्वतंत्रता की रक्षा कर सकते हैं तथा नवभारत का निर्माण कर सकते हैं। अंत में आपने दक्षिण में द्रविड़िस्तान बनाने के आंदोलन की भी चर्चा की और कहा कि इस आंदोलन के प्रवर्तक उत्तर से बड़े ही सशंक हैं। नागरीप्रचारिणी सभा का प्रमुख कर्तव्य है कि वह ऐसा कार्य करे ताकि देश की एकता और स्वतंत्रता सुरक्षित रहे।

इस अवसर पर श्रद्धेय डा० भगवानदास जी ने निम्नलिखित संदेश भेजा था—

"उत्तर भारत की सभी अन्य भाषाएँ संस्कृत से निकली हैं और संस्कृत ही वह आकर है जिसमें से नए शब्द नए भावों को प्रकट करने के लिये निकाले और बनाए जा सकते हैं। धर्मशास्त्र का जो मुख्य ग्रंथ मनुस्मृति है उसके कई अनुवाद हिंदी में हो चुके हैं किंतु वर्तमान समयोचित भाष्य उसका अभी तक हिंदी में नहीं बना। इसकी बहुत आवश्यकता है। अर्थ-शास्त्र और तदंतर्गत राजशास्त्र, समाजशास्त्र, आदि के जो ग्रंथ हिंदी में विद्वानों ने लिखे हैं और छपाए हैं, प्रायः अंग्रेजी ग्रंथों के आधार पर लिखे गए हैं किंतु इनके भाव उन भावों से बहुत भिन्न हैं जो मनुस्मृति में वैश्य वर्ण के धर्म कर्म के संबंध में बहुत थोड़े से श्लोकों में कहे गए हैं। दोनों भावों और दृष्टियों का संप्रधारण, गुण दोष मीमांसन करनेवाला ग्रंथ भी हिंदी में बनना चाहिए। इस प्रकार से चतुःपुरुषार्थ साधक चतुःशास्त्रों पर यदि अच्छे ग्रंथ हिंदी में लिखे जायँ, नए समय की नई आवश्यकताओं को दृष्टि में रखकर, तब हिंदी वाङ्मय जनतोपकारी हो। नागरी साहित्य का घनिष्ठ संबंध नागरी लिपि से है। यदि नागरी लिपि में बँगला, गुजराती तथा उर्दू के चुने चुने उत्तम ग्रथ छपें तो उनका प्रचार हिंदी भाषी सभी प्रांतों में बहुत अधिक हो और बँगला तथा गुजराती ग्रंथों के समझने में हिंदी जाननेवालों को कुछ भी कठिनाई न हो। आशा है कि नागरीप्रचारिणी सभा का कार्य इस हीरक जयंती से आरंभ करके, अधिकाधिक वेग से चलेगा।"

अध्यक्षपद से भाषण करते हुए आचार्य नरेंद्रदेव ने कहा—"हमें अपनी संस्कृति का गर्व है। पर इसका यह अर्थ नहीं कि हम अपने उन विचारों को पकड़े रहें जो हमें बजाय आगे बढ़ने के पीछे ले जाते हैं। जो संस्कृति भेदभाव रखती हो, मनुष्य को मनुष्य रूप में देखना नहीं चाहती हो, उस संस्कृति से आज हम अपनी स्वतंत्रता की रक्षा नहीं कर सकते। हमें अपने आचार विचार और मनोवृत्ति को बदलना होगा। जीवन के नए उद्देश्यों को रखना होगा। जो लोग भेद-भाव रखते हैं, मनुष्य को मनुष्य के रूप में नहीं बल्कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के रूप में देखना चाहते हैं वे आज के युग में नागरिक होने के पात्र नहीं हैं। संस्कृति एक व्यापक शब्द है और सभ्यता, शालीनता आदि इसी के अंतर्गत आते हैं। संस्कृति का सकल जीवन और सकल समाज से अटूट संबंध है। व्यक्ति के विकास और समाज के उन्नयन में कोई भेद नहीं होता। आवश्यकता इस बात की है कि हम उनके विद्वेष और विरोध को नहीं बल्कि उनके सामंजस्य को समझें। समाज से पृथक् व्यक्ति का विकास नहीं हो सकता। उसी प्रकार व्यक्ति को समाज मिटा नहीं

सकता। समाज की उन्नति के लिये उत्कृष्ट मानव चाहिए। जब करोड़ों व्यक्ति शिक्षित और सुसंस्कृत हो जायँगे तो उनके विचार भी बदलेंगे और उनमें कितने ही ऐसे प्रतिभाशाली होंगे जो मानव समाज का कल्याण कर सकेंगे।"

नाटक, नृत्य

रात में नागरी नाटक मंडली की ओर से दो एकांकी नाटक अभिनीत हुए जिनमें आजाद जी का 'नादान' अभिनय की दृष्टि से बड़ा ही सफल रहा। छोटी छोटी बालिकाओं का सामूहिक नृत्य भी हुआ जो पसंद किया गया।

हिंदी टेलिप्रिंटर का प्रदर्शन

हीरक जयंती के अवसर पर सभा के संकेत लिपि विद्यालय में हिंदी टेलिप्रिंटर का प्रदर्शन भारत सरकार के डाक-तार विभाग की ओर से किया गया था जो पर्याप्त सफल रहा।

इसी अवसर पर श्रीमुरारीलाल केडिया के प्रयत्न से सेठ कन्हैयालाल पोद्दार (मथुरा) तथा स्वर्गीय सेठ अर्जुनदास केडिया के तैलचित्र सभा को कलकत्ता के श्री कृष्णलाल पोद्दार द्वारा प्राप्त हुए। इनका अनावरण डा० रामप्रसाद त्रिपाठी के कर कमलों से संपन्न हुआ।

सफलता

हीरक जयंती उत्सव सभी दृष्टियों से पूर्णतः सफल रहा। सभा को संपूर्ण देश का, साहित्यकार, जनता और सरकार का सहयोग और आशीर्वाद प्राप्त हुआ। सभा का मुख्य ध्येय साहित्य की संवर्द्धना है। इसके लिये कई सुयोग इस अवसर पर जुटे जिनमें (१) हिंदी कोश (२) आकर ग्रंथमाला (३) राजा बलदेवदास बिड़ला ग्रंथमाला तथा (४) हिंदी साहित्य का इतिहास प्रमुख हैं। कोश तथा आकर ग्रंथमाला के लिये भारत सरकार आर्थिक सहायता दे रही है। बिड़ला ग्रंथमाला के निमित्त श्री सेठ घनश्यामदास बिड़ला से आर्थिक सहायता मिल रही है। इतिहास की योजना उत्तर प्रदेश सरकार के आग्रह पर प्रस्तुत हुई थी जो उसे पसंद आई है और जिसकी पूर्ति के लिये उसने आर्थिक संरक्षण देना स्वीकार किया है।

संपूर्ण भाषण, संदेश आदि आगे दिए जा रहे हैं।

स्वागताध्यक्ष

माननीय श्री संपूर्णानंद जी

गृह तथा श्रम मंत्री, उत्तर प्रदेश

का

स्वागत-भाषण

तत्रभवान् राष्ट्रपति,

आपका स्वागत करने में हमको जिस आनंद का अनुभव हो रहा है उसकी यथार्थ अभिव्यक्ति शब्दों द्वारा नहीं हो सकती। किसी भी संस्था के लिये हीरक जयंती मनाने का अवसर गौरव और आनंद का विषय हो सकता है परंतु उस अवसर पर स्वतंत्र भारत के प्रथम राष्ट्रपति की उपस्थिति सोने में सुगंध वाली लोकोक्ति को चरितार्थ करती है।

आप राष्ट्रपति होने के नाते समस्त भारत के लिये आदरणीय हैं। आपके उदात्त व्यक्तित्व ने आपको महात्मा जी के अनन्य अनुयायियों और सहयोगियों की उस रत्नमाला की मुकुटमणि का स्थान दिया है जिससे समस्त मानव समाज शांति और सौहार्द के सक्रिय संदेश की आशा रखता है; परंतु इन बातों के अतिरिक्त हमारे लिये तो आप वही राजेंद्र बाबू हैं जिनको हिंदी सदा प्यारी रही है, जो हिंदी के अग्रगण्य समर्थकों में रहे हैं, जिन्होंने स्वयं साहित्य का सर्जन करके हिंदी की सेवा की है। नागरीप्रचारिणी सभा के साथ आपका संबंध नया नहीं है। अपने अनेक कार्यों के बीच में आपने उस संबंध का स्मरण करके इस अवसर पर आने का जो कष्ट किया है उससे वह पुराना संबंध और भी पुष्ट हो गया है।

हमारा यह विश्वास है कि आप का यहाँ पधारना हिंदी जगत् केवल एक संस्था की हीरक जयंती में संमिलित होना न समझेगा प्रत्युत उसको हिंदी के प्रति आपका जो प्रगाढ़ स्नेह है और उसके भविष्य के लिये आपकी जो भावनाएँ हैं उनके प्रतीक के रूप में देखेगा।

जैसा कि मैं पहिले निवेदन कर चुका हूँ, सभा से आपका संबंध बहुत पुराना है, इसलिये इस बात की आवश्यकता नहीं है कि मैं उसके बारे में आपको लंबा परिचय दूँ। आज से ६० वर्ष पहिले तीन व्यक्तियों के मस्तिष्क में विचार रूप से इसका उदय हुआ था। उनमें से दो, श्री श्यामसुंदर दास और पं० रामनारायण मिश्र की इहलीला संवृत्त हो चुकी है परंतु हमारे सौभाग्य से संस्थापकों में से ठाकुर शिवकुमार सिंह जी के सत्परामर्श का

अवसर हमको अब भी मिलता रहता है। उनको उस छोटे से बट-बीज के विस्तार को देखकर जो प्रसन्नता और परितोष होता होगा उसका अनुमान आप स्वयं कर सकते हैं।

सभा का काशी में स्थापित होना भले ही देखने में आकस्मिक घटना सा प्रतीत हो परंतु ऐसा कहना स्यात् अयुक्त न होगा कि इस आकस्मिक घटना के पीछे उस अज्ञात शक्ति की प्रेरणा थी जो राष्ट्रों और समुदायों के भविष्य का नियंत्रण करती है। यों तो हिंदी का संबंध मातृभाषा रूप से उत्तर भारत के बहुत बड़े भूभाग से है और उत्तर प्रदेश उसका विशेष रूप से क्रीड़ा-प्रांगण रहा है, परंतु वाराणसी का हिंदी और उस संस्कृति के, जिसका कि हिंदी प्रतीक है, विकास में विशेष स्थान रहा है। एक तो यह नगर संस्कृत का प्रधान केंद्र है। आज भी यह संस्कृत का महा विद्यापीठ है जिसमें कई सहस्र विद्यार्थी संस्कृत पढ़ते हैं। संस्कृत का हिंदी तथा दूसरी भारतीय भाषाओं से जो संबंध है उसे बतलाने की आवश्यकता नहीं है। इस प्रदेश को बुद्धदेव द्वारा धर्म्मचक्र-प्रवर्तन और जैन तीर्थंकरों द्वारा धर्म्म के उपदेश सुनने और देखने का अवसर मिला है। आदि शंकराचार्य को यहाँ अपने वेदांत ज्ञान की परीक्षा देनी पड़ी थी। यहीं कबीर, तुलसी और रैदास ने अपने अमर साहित्य की सृष्टि की थी। वह धारा आज भी अक्षुण्ण रूप से प्रवाहित हो रही है। भारतेंदु हरिश्चंद्र; रामचंद्र शुक्ल, श्री जगन्नाथदास 'रत्नाकर', जयशंकर 'प्रसाद' और प्रेमचंद्र ने उस परंपरा को सजीव रखा और हमको विश्वास है कि आगे भी इस नगरी के द्वारा हिंदी की वैसी ही सेवा होती रहेगी। ऐसे वातावरण में पलने से निश्चय ही सभा को बल मिला। उसके ६० वर्षों का इतिहास वस्तुतः वर्तमान हिंदी का इतिहास है और अनेक विघ्न बाधाओं के आघात होने पर भी वह इतिहास आशा और विजयोल्लास का इतिहास है।

यह समय वह था जब कि हिंदी और उसके पोषकों को न केवल उपेक्षा प्रत्युत संदेह की दृष्टि से देखा जाता था। वे राजनीति में प्रत्यक्ष भाग भले ही न लें परंतु राष्ट्रभाषा का प्रेम भी निश्चय ही राष्ट्र प्रेम का स्वरूप था। इस बात को तत्कालीन शासक भी पहचानते थे। राष्ट्र के भीतर भी ऐसी शक्तियाँ थीं जो हिंदी का विरोध करती थीं। हिंदी के समर्थन में उनको सांप्रदायिकता दीख पड़ती थी। महात्मा जी जैसी महान् विभूति का समर्थन प्राप्त करने पर कुछ अड़चनें कम हुईं, फिर भी सारी बाधाएँ निर्मूल नहीं हुईं। उस संघर्ष को दोहराना इस समय अनावश्यक है। सभा के लिये यह संतोष का विषय है कि उस परीक्षा काल में उसने दृढ़ता के साथ अपने कर्तव्य का पालन किया।

सभा के नाम से तो उसका मुख्य उद्देश्य नागरी लिपि का प्रचार ही प्रतीत होता है। यह भी कोई छोटा काम नहीं था परंतु सभा ने आरंभ से ही अपने क्षेत्र को विस्तीर्ण रखा। नागरी लिपि के साथ साथ उसने हिंदी भाषा के प्रचार और प्रसार को अपनी कार्यावली में प्रमुख स्थान दिया और अपने सामने सतत यह लक्ष्य रखा कि हिंदी का वाङ्मय इस प्रकार सर्वांगपूर्ण बन जाय कि एक दिन यह भाषा देश की राष्ट्रभाषा बन सके। आप जैसे राष्ट्रनायकों के प्रयत्न से आज वह उद्देश्य सिद्ध हुआ है और देवनागरी में लिखी हुई भाषा देश की राष्ट्रभाषा मान ली गई है। सभा ने अपने को राजनीति से सर्वथा

अलग रखा इसलिये उसको सभी विचारों के माननेवालों का सहयोग प्राप्त हुआ है और न केवल उत्तर प्रदेश वरन् उत्तर भारत के सभी प्रांतों और राज्यों में उसने लोकप्रियता प्राप्त की। आज देश में कई ऐसी संस्थाएँ हैं जो विभिन्न क्षेत्रों में हिंदी की सेवा कर रही हैं। इन सबका किसी न किसी रूप में सभा से संबंध रहा है और सभा के कार्यकर्ताओं की तपस्या ने उसके कामों को सफल बनाया है। यह सभा के लिये बड़े ही संतोष की बात है।

यों तो हिंदी साहित्य का इतिहास आज से कई सौ वर्ष पीछे तक जाता है परंतु यह बात तो निर्विवाद रूप से कही जा सकती है कि अभी इस विशाल वाङ्मय का बहुत थोड़ा अंश प्रकाश में आया है। बहुत सी पुस्तकें राजाओं, रईसों और विद्वानों के निजी पुस्तकालयों में पड़ी हैं। ये तो किसी प्रकार सुरक्षित भी हैं परंतु ऐसी पुस्तकों की भी बहुत बड़ी संख्या है जिनका अस्तित्व तक आज संकट में है। जिन लोगों की वे संपत्ति हैं वे उनके महत्व को नहीं जानते और इस बात का डर है कि वे सदा के लिये विलुप्त और विनष्ट हो जायँगी। सभा ने उत्तर प्रदेश की सरकार की सहायता से खोज का जो कार्य अपने ऊपर लिया था उसके द्वारा बहुत उपयोगी काम अब तक हुआ है परंतु जितना काम करना है उसके अंचल का अब तक स्पर्श भी नहीं हो पाया है!

हिंदी के राष्ट्रभाषा घोषित हो जाने से सभा का दायित्व बहुत बढ़ गया है। उसके कार्य की दिशा तो वही है परंतु प्रगति और तीव्र हो जानी चाहिए, अन्यथा आज से १० वर्ष पश्चात् राष्ट्रभाषा पद पर आरूढ़ होकर वह क्षमता के साथ अपना काम न कर सकेगी। उसके वाङ्मय को सभी शास्त्रों के उच्च कोटि के ग्रंथों से भरना है और उसको ऐसा विस्तीर्ण शब्दकोश देना है जिससे गंभीर वैज्ञानिक और दार्शनिक विचारों की व्यंजना की जा सके और प्रशासकीय कार्यों में किसी भी रुकावट का अनुभव न हो। इस काम की उपादेयता तो सर्वसंमत है। हमको इसमें कोई संदेह नहीं है कि इसका संपादन सफलता के साथ हो सकता है। हिंदी की आत्मा ने कभी भी ऐसे शब्दों का बहिष्कार नहीं किया जिनको लोकवाणी ने अपना लिया है, चाहे उन शब्दों का उद्गम कहीं भी हुआ हो। प्राचीन भारत के साहित्य से ऐसे बहुत से शब्द लिए जा सकते हैं जिनका व्यवहार आज से मिलती जुलती अवस्था में होता था। दूसरे प्रदेशों से उपयुक्त शब्द लेने में हमको कोई सैद्धांतिक आपत्ति नहीं और नए शब्दों की रचना करने के लिये हमको संस्कृत का प्रबल आश्रय प्राप्त है। आवश्यकता केवल इस बात की है कि इस काम के लिये पर्याप्त धन व्यय किया जाय और केंद्रिय तथा प्रादेशिक सरकारों का सहारा मिलता रहे। हमको विश्वास है कि आपके नेतृत्व में इस ओर पूरा ध्यान दिया जायगा।

हिंदी में एक अच्छे कोश और व्याकरण की कमी बहुत खटकती है। सभा ने आज से कई वर्ष पहिले जो हिंदी शब्दसागर प्रकाशित किया था उसका बहुत विस्तृत संस्करण निकालने की आवश्यकता है। व्याकरण की आवश्यकता भी कम नहीं है। कोई जीवित और प्रगतिशील भाषा व्याकरण से बँधी नहीं जा सकती परंतु ऐसी भाषा, जिसके विकास का इतिहास कई सौ वर्षों तक गया हो और जिसमें रचे गए ग्रंथरत्नों ने अंतर्राष्ट्रीय ख्याति

प्राप्त की हो, उच्छृंखल भी नहीं छोड़ी जा सकती है। इस बात की आवश्यकता है कि उदीयमान लेखकों को, जिनमें से कितने ही स्वभावतः ऐसे प्रदेशों के रहनेवाले होंगे जहाँ हिंदी का अभी थोड़े ही दिनों से प्रचार हुआ है, व्याकरण की सहायता दी जाय ताकि उनकी रचनाएँ इस भाषा की परंपरा से दूर न जा पड़ें। आज व्याकरण की जो कुछ पुस्तकें देख पड़ती हैं वे अंग्रेजी व्याकरण के अनुरूप लिखी गई हैं। जिस देश ने पाणिनि, पतंजलि और कात्यायन को जन्म दिया हो जिनकी रचना मनुष्य के व्याकरण साहित्य में अद्वितीय मानी जाती हो उस देश की राष्ट्रभाषा का व्याकरण प्राचीन परंपरा पर ही ढलना चाहिए।

अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिये सभा का भवन सर्वथा अपर्याप्त है। उसका जो मुद्रणालय है वह भी बहुत छोटा है। हम अपने पुस्तकालय में हिंदी की सभी मुद्रित पुस्तकों को भी अब तक नहीं रख सके हैं। शोध के लिये संस्कृत और अन्य प्रादेशिक भाषाओं की जिन पुस्तकों की आवश्यकता है उनके संग्रह का तो हम अभी तक प्रयास भी नहीं कर सके हैं।

मैंने हिंदी की आवश्यकताओं की ओर थोड़ा सा संकेत किया है। जो हिंदी भाषा की आवश्यकताएँ हैं वे सभा की आवश्यकताएँ हैं। नागरी लिपि के संस्कार की ओर तो देश के प्रशासकों का ध्यान गया है। अभी लखनऊ में उत्तर प्रदेशीय सरकार के प्रयत्न से जो लिपि सुधार संमेलन हुआ था उसका कार्य प्रत्येक हिंदी प्रेमी के लिये और विशेषतः सभा के लिये, बड़े ही हर्ष का विषय है। हमारा ६० वर्षों का प्रयत्न सफलता के पास पहुँचा है। हम आशा करते हैं कि लिपि में जो थोड़ी सी और कमियाँ रह गई हैं उनकी ओर भी शीघ्र ध्यान दिया जायगा और जो लिपि सर्वसंमति से निश्चित होगी वह न केवल हिंदी लिखने के लिये प्रत्युत अन्य भारतीय भाषाओं के लिखने के लिये भी स्वीकृत होगी।

जहाँ तक भाषा और उसके वाङ्मय को परिपूर्ण करने की बात है सभा इस काम के लिये पूर्णरूपेण तत्पर है। उसके सारे साधन इस कार्य के लिये राष्ट्र की सेवा में अर्पित हैं। हमारा आप से विनम्र अनुरोध है कि आप हमारी इस भेंट को स्वीकार करें। हमको विश्वास है कि आपके इस ओर दृष्टिपात करने से राष्ट्र के सभी कर्णधारों का ध्यान सभा की ओर जायगा और वह उस प्रकार की सेवा करने का निर्बाध अवसर प्राप्त कर सकेगी जो पिछले ६० वर्षों में उसका एक मात्र ध्येय रहा है।

आज से कुछ महीनों पहिले उत्तर प्रदेश के राज्यपाल श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी ने कहा था कि सभा ने जो काम उठाया था उससे दूसरी भारतीय भाषाओं के कार्यकर्ताओं को भी स्फूर्ति मिली थी। हमारा ऐसा दृढ़ विश्वास है कि सभा के द्वारा भविष्य में भी हिंदी की जो सेवा होगी उससे दूसरी प्रादेशिक भाषाओं को भी लाभ होगा। हमारा ऐसा दृढ़ मत है कि राष्ट्रभाषा की उन्नति प्रादेशिक भाषाओं की पुष्टि का भी साधन होगी।

महा मान्यवर, आप हमसे, हमारे कामों से और हिंदी की आवश्यकताओं से पूर्णतया परिचित हैं, हिंदी साहित्य सेवियों की आकांक्षाएँ और कठिनाइयाँ आपको भली-

भाँति अवगत हैं, कभी कभी हिंदी की जिस उपेक्षा का कटु अनुभव करना पड़ता है वह आपसे अविदित नहीं है, इसलिये अलमिति विस्तरेण मानकर मैं इस गाथा को यहीं समाप्त करता हूँ। हम सब लोगों को ऐसी आशा तथा विश्वास है कि हिंदी का भविष्य उज्ज्वल है और आप जैसे महानुभावों के वरद हाथों की छत्रच्छाया में वह भारत के गौरव को बढ़ाने और मनुष्य समाज तक भारतीय संस्कृति के सनातन संदेश को पहुँचाने में समर्थ होगी।

मैं फिर इस अवसर पर यहाँ पधारने के लिये आपके प्रति काशी नागरीप्रचारिणी सभा, काशी की जनता तथा समस्त हिंदी जगत् की कृतज्ञता प्रकट करना चाहता हूँ और आपका हृदय से स्वागत करता हूँ।

२२ फाल्गुन, २०१० वि०]

राष्ट्रपति डा० राजेंद्रप्रसाद जी का उद्घाटन भाषण

विद्वज्जन, बहिनो और भाइयो,

नागरीप्रचारिणी सभा, काशी के हीरक जयंती समारोह के उद्घाटनार्थ आपने मुझे निमंत्रित किया है, इसके लिये मैं आप लोगों का आभारी हूँ। मेरे संबंध में श्री संपूर्णानंद जी ने जो शुभ विचार प्रकट किए हैं वे उनकी उदारता के सूचक हैं। इसके लिये मैं उनका कृतज्ञ हूँ। मैं अपने आप को हिंदी का विद्वान् नहीं मानता, अपितु हिंदी भाषा का प्रेमी और सेवक अवश्य हूँ और इसी नाते इस संस्था के हीरक जयंती समारोह में आपके साथ शरीक होने आया हूँ।

देवनागरी लिपि के प्रचार और हिंदी साहित्य की श्रीवृद्धि के लिये नागरीप्रचारिणी सभा ने गत साठ वर्षों में जो कुछ किया है वह किसी से छिपा नहीं, तो भी इसके इतिहास पर एक विहंगम दृष्टि डालना अनुचित नहीं होगा।

१. काशी नागरी प्रचारिणी सभा की स्थापना १० मार्च, १८९३ को स्कूल में पढ़ने वाले कतिपय उत्साही छात्रों द्वारा हुई थी। इन छात्रों में सर्वश्री ठाकुर शिवकुमार सिंह, बाबू श्यामसुंदर दास और श्री रामनारायण मिश्र के नाम उल्लेखनीय हैं। यही त्रिमूर्त्ति सभा की स्थापना से लेकर लगभग ५० वर्ष तक निरंतर किसी न किसी रूप में सभा की सेवा में लीन रही और यह सौभाग्य की बात है कि ठाकुर शिवकुमार सिंह के सत्परामर्श आज भी हमें उपलब्ध हैं।

२. सभा के पहले मंत्री श्री श्यामसुंदर दास हुए। दो आना मासिक चंदा से कार्य प्रारंभ हुआ और स्थापना के प्रथम वर्ष में ही इन मेधावी छात्रों के उद्योग से प्रभावित होकर सर्वश्री राजा रामपाल सिंह, महामना मदनमोहन मालवीय, काँकरौली नरेश बालकृष्ण लाल, अंबिकाप्रसाद व्यास, बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', श्रीधर पाठक, डा० ग्रियर्सन आदि जैसे लब्धप्रतिष्ठ विद्वानों ने इस सभा का सदस्य होना स्वीकार किया।

३. सभा ने अपने शैशव में ही नागरी लिपि और हिंदी भाषा को सरकारी अदालतों में स्थान दिलाने का आंदोलन खड़ा किया और महामना पं० मदनमोहन मालवीय के सक्रिय सहयोग से सन् १९०० में तत्कालीन उत्तर प्रदेश के सरकारी दफ्तरों और अदालतों में हिंदी भाषा और नागरी लिपि स्वीकृत हुई। इस कार्य के संपादन में जो प्रयत्न सभा के सदस्यों ने किया वह अध्यवसाय, लगन, उत्साह और राष्ट्रभाषा प्रेम का अनुकरणीय आदर्श है।

४. हिंदी साहित्य को समृद्ध बनाने के लिये दूसरा कार्य सभा ने हिंदी पुस्तकों की खोज का किया। सन् १८९४ में ही सभा के कार्यकर्ताओं का इस ओर ध्यान गया और उन्हों ने देश की अन्य संस्थाओं तथा व्यक्तियों से संबंध स्थापित करके कई सहस्र पुस्तकें एकत्र कीं। इनमें अनेक नवीन पुस्तकें भी थीं जो हस्तलिखित रूप में उपेक्षित पड़ी थीं।

बाद में युक्त प्रांत की सरकार से आर्थिक सहायता भी खोज संबंधी कार्य के लिये सभा को मिली और सन् १९०० से एक समिति बा० श्यामसुंदरदास के मंत्रित्व में बना दी गई। इस समिति के तत्वावधान में ८ वर्ष तक खोज संबंधी रिपोर्ट प्रकाशित होती रही जिसमें हस्तलिखित पुस्तकों का विवरण रहता था।

५. हिंदी पुस्तकों के संग्रह के लिये आर्य-भाषा पुस्तकालय की स्थापना सभा का एक महत्वपूर्ण कार्य है। इस समय भारतवर्ष में हिंदी पुस्तकों का इतना समृद्ध दूसरा पुस्तकालय नहीं है। लगभग ४० हजार पुस्तकें इसमें उपस्थित हैं। खोज संबंधी कार्य के लिये प्रति वर्ष सैकड़ों अनुसंधानकर्ता यहाँ आते हैं।

६. सभा के प्रकाशन चार कोटि के हैं। **वैज्ञानिक तथा पारिभाषिक शब्दकोश** सभा का महत्वपूर्ण प्रकाशन है। दूसरा प्रकाशन **हिंदी शब्द सागर है** जिसके निर्माण में सभा ने लगभग एक लाख रुपया व्यय किया। तीसरा **हस्तलिखित** तथा दुर्लभ पुस्तकों का प्रकाशन है जो साहित्य की अभिवृद्धि में अमित योग देता है। चौथा प्रकाशन मौलिक पुस्तकों का है, जिसमें आचार्य रामचंद्र शुक्ल, भगवानदीन, श्यामसुंदरदास आदि विद्वानों की पुस्तकें निकली हैं। दो ग्रंथमालाएँ सभा के तत्वावधान में चल रही हैं। इतिहास और पुरातत्व संबंधी पुस्तकों का इन मालाओं में प्रकाशन हुआ है।

७. 'नागरीप्रचारिणी पत्रिका' सभा का प्रमुख पत्र है जिसमें गंभीर विषयों पर अनुसंधान तथा विवेचनापूर्ण शैली के निबंध तथा लेख छपते हैं। यह पत्रिका आर्थिक घाटा सहती हुई भी विगत पचपन वर्ष से साहित्य की अभिवृद्धि में योग दे रही है।

८. हिंदी भाषा और साहित्य का देशव्यापी प्रचार तथा नवयुवकों में हिंदी के प्रति अनुराग उत्पन्न करने का जो कार्य प्रारंभिक पचीस-तीस वर्षों में सभा द्वारा संपन्न हुआ वह इस देश की अन्य कोई संस्था नहीं कर सकी। इस सभा की सेवा करनेवाले व्यक्तियों में एक ओर जहाँ भारतेंदु युग से प्रभावित राधाकृष्णदास, राधाचरण गोस्वामी, बदरीनारायण चौधरी आदि थे वहाँ द्विवेदी युग के प्रतिष्ठित लेखक सर्वश्री आचार्य रामचंद्र शुक्ल, मिश्रबंधु, भगवानदीन अयोध्यासिंह उपाध्याय, मदनमोहन मालवीय, गिरिधर शर्मा आदि विद्वानों ने सभा की पूर्ण मनोयोग से सेवा की।

सभा ने ऐसे समय कार्य आरंभ किया था जब हिंदी प्रचार के लिये अनुकूल वातावरण नहीं था। उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम वर्षों में और २० वीं शताब्दी के आरंभ में हिंदी प्रचार का अर्थ अधिकारियों से संघर्ष और विपरीत परिस्थितियों से जूझना था। उस समय प्रोत्साहन के पूर्ण अभाव में नागरीप्रचारिणी सभा साहित्य सेवा और प्रचार का कार्य तत्परता से करती रही और इसकी सेवाओं का इतिहास अत्यंत उज्ज्वल और प्रशंसनीय रहा है।

मैंने कई बार पहले भी कहा है, जहाँ अहिंदी भाषा भाषियों का यह कर्तव्य है कि राष्ट्रीय कार्य के लिये वे हिंदी सीखें, वहाँ हिंदी भाषियों पर भी कम से कम एक क्षेत्रीय भाषा सीखने का दायित्व आता है। इससे केवल अदला-बदली की भावना से अभिप्राय नहीं। ऐसा करने से ही हिंदी तथा दूसरी भारतीय भाषाएँ एक दूसरे के निकट आ सकती हैं। इन भाषाओं और हिंदी के बीच प्रतिस्पर्धा न पहले थी और न अब है।

हिंदी के लिये यह अवश्य गौरव का विषय है कि उसे भारतीय संविधान ने अखिल भारतीय भाषा का स्थान दिया है। इससे हिंदी भाषियों और हिंदी से संबंध रखनेवाली सभी संस्थाओं का दायित्व बहुत बढ़ गया है। संविधान में हिंदी को यह ऊँचा स्थान दिए जाने का विशेष कारण यह था कि इसके जानने और बोलनेवालों की संख्या भारत की दूसरी भाषाओं के जाननेवालों और बोलनेवालों से कहीं अधिक है। उन भाषाओं का भी अपना गौरवपूर्ण साहित्य है और उनके बोलनेवाले अपनी भाषाओं के साथ प्रेम रखते हैं और उनपर गौरव करते हैं। इसलिये सभी ने हिंदी को जब यह स्थान दिया है तो यह समझकर नहीं कि उनकी अपनी भाषा किसी बात में कम है पर यह समझकर कि राष्ट्रीय काम के लिये हिंदी का ही प्रचार और प्रसार सुगम और सुलभ होगा। हिंदी को अखिल भारतीय कामों के लिये प्रधानता देते हुए प्रांतीय भाषाओं को वहाँ के कामों के लिये प्रधानता दी गई है। इसलिये यह अनिवार्य है कि जहाँ हिंदी का प्रचार हो, साथ ही साथ प्रांतीय कामों के लिये वहाँ की स्थानीय भाषाओं को प्रोत्साहन दिया जाय और वे अपने सीमित क्षेत्र में अपना काम सुचारू रूप से करें। यह कहना भी शायद अनुचित न होगा कि हिंदी का हिंदी भाषी प्रांतों में तो वही स्थान होगा जो किसी भी प्रांतीय भाषा का अपने प्रांत में, पर अन्य भाषा-भाषी प्रांतों में सीमित काम और अखिल भारतीय क्षेत्र में प्रायः सभी काम हिंदी द्वारा ही किए जायँगे।

हिंदी भाषियों का यह प्रयत्न होना चाहिए कि जिस सद्भावना से अहिंदी भाषियों ने हिंदी को राष्ट्रीय कामों के लिये स्थान दिया है उसी सद्भावना के साथ वे हिंदी के प्रचार में तत्पर हों। हिंदी की किसी भी प्रांतीय भाषा से होड़ नहीं है। सच पूछिए तो हिंदी भाषियों को अन्य प्रादेशिक भाषाओं का पोषक और समर्थक होना चाहिए जिस तरह अहिंदी भाषी हिंदी के पोषक और समर्थक होना चाहते हैं। यदि कहीं भूल से भी हम हिंदी भाषियों के बर्ताव और भाषण से यह आभासित हुआ कि हिंदी अन्य सभी भाषाओं से अधिक समृद्ध, अधिक परिपुष्ट साहित्यवाली या प्राचीन तथा नवीन विचारों और भावों को व्यक्त करने में अधिक शक्तिशाली भाषा है और इसलिये इसको अधिकार है कि अखिल भारतीय राष्ट्रीय कामों के लिये यह राष्ट्रीय भाषा मानी जाय तो इसका फल यह होगा कि कि अन्य भाषा-भाषी हिंदी के प्रति ईर्ष्या करने लगेंगे और जो संविधान चाहता है वह काम पूरा नहीं हो सकेगा तथा हिंदी उस स्थान को प्राप्त नहीं कर सकेगी जो संविधान ने उसे देने का निश्चय किया है। दूसरे शब्दों में, हमें हिंदी का प्रचार नम्रतापूर्वक करना चाहिए।

मुझे यह कहते हुए बड़ा हर्ष होता है कि इस दिशा में नागरीप्रचारिणी सभा का दृष्टिकोण सदा से व्यापक और उदार रहा है। सभा के पदाधिकारियों तथा कार्यकर्त्ताओं ने सदा ही अन्य भारतीय भाषाओं का समुचित आदर किया है। यह सभा की परंपराओं के अनुकूल ही है कि हीरक जयंती के उपलक्ष्य में जो प्रकाशन की योजना बनाई गई है, उसमें अन्य भारतीय भाषाओं की साहित्यिक प्रगति के सिंहावलोकन को भी स्थान दिया गया है।

हिंदी चिरकाल से ऐसी भाषा रही है जिसने शब्दों का उनके भिन्न देश अथवा भाषा में उद्गम होने के कारण बहिष्कार नहीं किया और सच पूछिए तो सभी जीती जागती भाषाओं का यह एक गुण है कि वे अपने शब्द भंडार को बढ़ाने में नहीं हिचकतीं, चाहे शब्द किसी भी उद्गम के हों। अन्य भाषाओं का उनपर प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सकता क्योंकि सभी जीती जागती भाषाओं में आदान प्रदान होता ही रहता है। इसलिये जब हिंदी को हम भारत के लिये एक सार्वभौम भाषा बनाना चाहते हैं तो प्रांतीय भाषाओं के शब्दों और मुहावरों के लिये दरवाजा खुला रखना चाहिए। मैंने कई ऐसे लोगों के लेख देखे हैं जो हिंदीभाषी नहीं हैं और जिन्होंने हिंदी का अभ्यास राष्ट्रीय कामों के लिये ही किया है और उनके लेखों में कुछ ऐसे शब्द और मुहावरे देखने में आए हैं जो अर्थ स्पष्ट कर देते हैं पर जो आधुनिक हिंदी में प्रचलित नहीं हैं। ऐसे शब्दों और मुहावरों को अन्य भाषा-भाषी अकसर व्यवहार में लाया करेंगे और हम हिंदी भाषियों को उनका स्वागत करना चाहिए न कि बहिष्कार। हिंदी सच्चे अर्थ में राष्ट्रीय भाषी तभी होगी जब भारत के सभी निवासी उस भाषा के साथ प्रेम करने लगेंगे और उसकी उन्नति में अपना गौरव मानने लगेंगे। यह भावना तभी उत्पन्न और परिपुष्ट हो सकती है जब वे यह समझने लगेंगे कि हिंदी में उनकी भी कुछ अपनी देन है और हिंदी पर उनका भी कुछ अधिकार है। मैं समझता हूँ कि इस भावना का भी हमको स्वागत करना चाहिए और इससे नहीं डरना चाहिए कि हिंदी का रूप विकृत हो जायगा। मैं तो यह भी मानता हूँ कि कहीं कहीं हमारे व्याकरण पर भी अहिंदी भाषियों का प्रभाव पड़ेगा और हमको उससे भी नहीं डरना चाहिए। इसलिये मैं चाहता हूँ कि हिंदी भाषी और हिंदी संस्थाएँ निस्पृह भाव से हिंदी की श्रीवृद्धि में लग जायँ जिससे अन्य भाषा-भाषी भी उसके विभिन्न प्रकार के साहित्य से परिचय पाने के लिये उसे सीखना आवश्यक समझें जिस तरह आज कोई भी विद्वान् आधुनिक विज्ञान से परिचय प्राप्त करने के लिये यूरोपीय भाषाओं का अध्ययन करना आवश्यक समझता है। यदि केवल काव्य अथवा ललित कला संबंधी ग्रंथ ही यूरोपीय भाषाओं में होते तो हमको उन भाषाओं को सीखने की शायद आवश्यकता न भी होती, पर विज्ञान से परिचय के लिये उन भाषाओं का जानना अनिवार्य हो गया है। उसी तरह हिंदी भी इतनी समृद्ध होनी चाहिए कि आधुनिक विद्याओं को प्राप्त करने के लिये उसका जानना केवल पर्याप्त ही नहीं आवश्यक भी हो जाय तथा इस भाषा में मौलिक ग्रंथ भी लिखे जायँ जिनको पढ़ने के लिये हिंदी सीखना अहिंदी भाषियों के लिये आवश्यक हो जाय। जितनी बड़ी संख्या हिंदी जानने और बोलनेवालों की है उतनी बड़ी संख्या संसार की दो ही तीन भाषाओं के बोलनेवालों की है। इसलिये यदि इतने लोगों में यह भावना उत्पन्न हो जाय कि वे हिंदी को वही स्थान संसार की भाषाओं में उपलब्ध कराना चाहते हैं जो किसी भी भाषा को प्राप्त है और उस उद्देश्य से हिंदी भाषी विभिन्न प्रकार की विद्याओं की प्राप्ति के लिये लग जायँ और हिंदी में विभिन्न विषयों पर मौलिक ग्रंथ लिखने लग जायँ, तो केवल भारतवर्ष के ही अहिंदी भाषी नहीं, समस्त संसार के अहिंदी भाषी हिंदी सीखना आवश्यक समझेंगे। पर यदि हिंदी में इस तरह के साहित्य का निर्माण नहीं हुआ तो विदेशों की कौन कहे, इस देश में भी सब लोगों की दृष्टि में

हिंदी को वह ऊँचा स्थान नहीं मिल सकेगा, चाहे संविधान के कारण सार्वदेशिक कामों में उसका उपयोग होने भी लग जाय। इसलिये मैं चाहता हूँ कि इस ऊँचे आदर्श को सामने रखकर हिंदी भाषी हिंदी का भंडार भरपूर करने में लग जायँ और जितनी तेजी के साथ और जितनी ऊच्च कोटि की पुस्तकें हिंदी में लिखी जायँगी उतनी ही उसकी प्रतिष्ठा और सर्वमान्यता बढ़ती जायगी।

हिंदी साहित्य के बहुतेरे ग्रंथ लुप्त होते जा रहे हैं। प्रचलित ग्रंथों के भी अधिकार-युक्त शुद्ध संस्करण हमेशा नहीं मिलते। आपने ऐसे ग्रंथों के शुद्ध संस्करण के प्रकाशन में बहुत काम किया है पर अभी भी बहुत काम बाकी है। मैं चाहूँगा कि इसके अलावा आधुनिक ढंग की पुस्तकें या ऐसी पुस्तकें भी लिखी जायँ जो अपने अपने विषय में प्रामाणिक समझी जा सकें। विभिन्न विषयों के ज्ञाता और लेखक जो यहाँ मौजूद हैं उनसे मेरी प्रार्थना है कि अपने मौलिक विचारों को वे यथासाध्य हिंदी में ही प्रकाशित किया करें और यदि प्रचारार्थ वे यह आवश्यक समझें कि उनका अन्य भाषाओं में भी प्रकाशित होना आवश्यक है तो वे उनका अनुवाद भी प्रकाशित करें। जो मौलिक ग्रंथ अन्य भाषाओं में किसी भी विषय पर निकलते हैं उनमें से भी चुनकर अच्छे से अच्छे मौलिक ग्रंथों का अनुवाद प्रकाशित होना चाहिए। अंग्रेजी साहित्य का भंडार बहुत भरपूर है तो भी शायद ही कोई मौलिक ग्रंथ किसी भी यूरोपीय भाषा में ऐसा निकलता हो जिसका अनुवाद चंद महीनों के अंदर ही अंग्रेजी में प्रकाशित न होता हो। इस तरह अंग्रेजी भाषियों के लिये किसी दूसरी भाषा का जानना अनिवार्य नहीं है। पर वे अपने ज्ञान को और विस्तृत करने के लिये अन्य भाषाओं को भी सीखते हैं। उसी तरह हिंदी का स्थान भी ऐसा हो जाना चाहिए कि केवल हिंदी जानकर ही हम संसार के विचारों से और गतिविधि से पूरी तरह परिचित हो सकें और इस परिचय प्राप्ति के लिये सभी अन्य भाषाओं के महत्वपूर्ण ग्रंथ हिंदी में सुलभ हो जाने चाहिए। जिस तरह से नागरीप्रचारिणी सभा ने हिंदी की सेवा आज तक की है उससे ऐसी आशा करना कि वह इस प्रकार के साहित्य के सृजन में महत्वपूर्ण काम करेगी, स्वाभाविक है, और मैं चाहूँगा कि विद्वान् तत्परता के साथ इस काम में लग जायँ। संविधान ने जो भार केंद्रीय और प्रांतीय सरकारों पर हिंदी के संबंध में डाला है, सरकार उसे निभाएगी। विद्वानों का काम इस झगड़े में पड़ना नहीं है। जो लोग राजनीतिक क्षेत्र में काम कर रहे हैं वे जब जैसी आवश्यकता होगी सरकार के साथ मिल जुलकर अथवा दबाव डालकर हिंदी के लिये जो कुछ भी आवश्यक होगा करते और कराते रहेंगे। पर उनका काम तब तक अपूर्ण और अधूरा रहेगा जब तक कि हिंदी का भंडार अपूर्ण और अधूरा रहता है। इसलिये एक प्रकार से हिंदी के प्रेमियों को अपने कामों का बटवारा कर लेना चाहिए। साहित्यिक लोगों के कामों में राजनीतिक लोगों का दखल देना बेकार ही नहीं, हानिकर भी हो सकता है पर उनकी सहायता और सहानुभूति तो आवश्यक है ही।

आपने कई प्रकार के काम अपने हाथ में लेने का निश्चय किया है। मेरी ईश्वर से प्रार्थया है कि उसमें आप सफल हों। दो विषयों के संबंध में मैं आपको सूचना देना चाहता हूँ। आपने शब्दसागर का नया संस्करण निकालने का निश्चय किया है। जब से

पहला संस्करण छपा, हिंदी में बहुत बातों में और हिंदी के अलावा संसार में बहुत बातों में बड़ी प्रगति हुई है। हिंदी भाषा भी इस प्रगति से अपने को वंचित नहीं रख सकती। इसलिये शब्दसागर का रूप भी ऐसा होना चाहिए जो यह प्रगति प्रतिबिंबित कर सके और वैज्ञानिक युग के विद्यार्थी के लिये भी साधारणतः पर्याप्त हो। आपका यह भी निश्चय है कि प्राचीन ग्रंथों के संशोधित संस्करण प्रकाशित किए जायँ। मैं आपके निश्चयों का, विशेषकर इन दो का, स्वागत करता हूँ। भारत सरकार की ओर से शब्दसागर का नया संस्करण तैयार करने के सहायतार्थ एक लाख रुपए की सहायता, जो पाँच वर्षों में बीस बीस हजार करके दिए जायँगे, देने का निश्चय हुआ है। इसी तरह से मौलिक प्राचीन ग्रंथों के प्रकाशन के लिये २५ हजार रुपए की, पाँच वर्षों में, पाँच पाँच हजार करके, सहायता दी जायगी। मैं आशा करता हूँ कि इस सहायता से आपका काम कुछ सुगम हो जायगा और आप इस काम में अग्रसर होंगे।

सप्रति सभा के सामने प्रमुख कार्य ये हैं —

क. प्रामाणिक पारिभाषिक शब्दकोश।

ख. विश्वविद्यालयों के उपयुक्त उच्च कोटि के साहित्य का सृजन।

ग. खोज द्वारा प्राचीन पुस्तकों को प्राप्त करके प्रकाशित करना।

घ. प्रांतीय भाषाओं के गंभीर साहित्य को हिंदी में अनुवाद करके प्रकाशित करना।

ङ. एक अनुसंधान-विभाग स्थापित करके साहित्य, राजनीति, इतिहास आदि के ग्रंथों का पुनरुद्धार और विभिन्न स्थानों पर जो शोधकार्य हो रहा है उसका केंद्रीकरण और समन्वय।

९. लिपि सुधार के लिये जो समिति बनी है उसके सुझावों को दृष्टि में रखकर नागरी लिपि को सुव्यवस्थित करने का कार्य नागरीप्रचारिणी सभा के द्वारा करना।

मुद्रण तथा टाइपिंग की आवश्यकताओं को देखते हुए नागरी लिपि में सुधार की ओर जनता और सरकार दोनों का ध्यान गया है। मुझे खेद है कि इस महत्वपूर्ण कार्य के संपन्न होने में विलंब हो रहा है। मैं आशा करता हूँ कि केंद्रीय तथा उत्तर प्रदेशीय सरकारों के प्रयत्नों के फलस्वरूप हिंदी लिपि में जो कमियाँ हैं उनको यथाशीघ्र दूर कर दिया जायगा। इस प्रश्न पर विस्तृत रूप से विचार करने का और विभिन्न क्षेत्रों में रहनेवाले लोगों से विचार-विमर्श कर लेने का यह फल अवश्य होगा कि संशोधित लिपि सर्वसंमति से निश्चित हो सकेगी और वह सभी के लिये मान्य होगी। मेरा विचार है कि अन्य भारतीय भाषाओं के बोलनेवाले भी इन सुधारों से लाभ उठा सकेंगे।

हीरक जयंती के शुभ अवसर पर मैं नागरीप्रचारिणी सभा को हृदय से बधाई देता हूँ। किसी भी सार्वजनिक संस्था के लिये ६० वर्ष का व्यस्त तथा सचेष्ट जीवन गौरवपूर्ण समझना चाहिए। आपकी संस्था ने इस ६० वर्ष की अवधि में बहुत उथल पुथल देखी है। यद्यपि आपकी संस्था पूर्ण रूप से साहित्यिक है, फिर भी इसकी कार्यप्रणाली पर देश की राजनीति का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही था। प्रतिकूल परिस्थितियों के होते हुए भी

यदि आप भाषा प्रचार और अनुसंधान का कार्य सुचारु रूप से कर सके, इसका प्रमुख कारण सभा के कार्यकर्त्ताओं का भाषा प्रेम और साहित्य के प्रति अनुराग ही कहा जा सकता है। यह सभी स्वीकार करते हैं कि हिंदी भाषा के विकास तथा निर्माण में आपकी सभा ने गौरवपूर्ण भाग लिया है। मुझे पूरी आशा है कि अब परिस्थितियों के अनुकूल हो जाने पर, जब कि हिंदी प्रचार का कार्य राष्ट्रीय महत्व का कार्य बन गया है, नागरी-प्रचारिणी सभा और भी उत्साह के साथ कार्य कर सकेगी। हिंदी राष्ट्रभाषा घोषित हो चुकी है, परंतु उसे अभी जनता द्वारा पालन-पोषण और साहित्यिकों द्वारा सेवा की अपेक्षा है। मैं आशा करता हूँ कि नागरीप्रचारिणी सभा तथा अन्य साहित्यिक संस्थाओं की चेष्टा से हिंदी भाषा और साहित्य का भंडार शीघ्र ही बहुत विपुल तथा व्यापक हो सकेगा, जैसा कि इस महान् तथा प्राचीन देश की राष्ट्रभाषा का होना चाहिए।

आपने जो मेरा संमान किया है, उसके लिये एक बार फिर मैं आप लोगों के प्रति आभार प्रकट करना चाहता हूँ। मेरी शुभकामनाएँ तथा सद्भावनाएँ आप लोगों के साथ हैं और मुझे विश्वास है कि भाषा-प्रचार और साहित्य-निर्माण के क्षेत्र में आप के सत्प्रयास सफल होंगे।

२२ फाल्गुन, २०१० वि०]

———

माननीय पं० गोविंदवल्लभ पंत

मुख्य मंत्री, उत्तर प्रदेश

की

शुभाशंसा

यह अतीव प्रसन्नता की बात है कि आज काशी नागरीप्रचारिणी सभा के हीरक जयंती उत्सव में स्वयं राष्ट्रपति जी उपस्थित हैं। ६० वर्ष पूर्व जिस संस्था का बीजारोपण डा० श्यामसुंदरदास, पं० रामनारायण मिश्र व ठा० शिवकुमार सिंह ने किया था वह आज सुंदर वृक्ष के रूप में सुफल दे रही है। हिंदी को उसका वर्तमान स्थान दिलाने व इसके साहित्यिक विकास में सभा ने अद्वितीय काम किया। आज हिंदी राष्ट्रभाषा है। यह गौरवमय स्थान प्राप्त कराने में सभा ने जिन जिन कठिनाइयों पर विजय पाकर सफलता पाई उनका उल्लेख हिंदी व राष्ट्र के इतिहास में अमिट रहेगा। राष्ट्रीय भावना का पोषण करने में भी सभा ने महत्वपूर्ण योग दिया। इस संबंध में महामना मदनमोहन मालवीय जी की प्रेरणा तथा आशीर्वाद, जिनके फलस्वरूप यह सभा फली फूली व विकसित हुई, उल्लेखनीय है।

सभा के संपूर्ण कार्यों का विवरण देना कठिन होगा। हिंदी की लिपि व शैली के विकास, पुरातन साहित्य की खोज, नवीन व प्रेरणात्मक साहित्य का सृजन, उसके प्रत्येक अंग का सुव्यवस्थित गठन, प्रामाणिक व्याकरण की रचना, बृहत् कोश का संकलन, साहित्य के अधिकारपूर्ण इतिहास की व्याख्या, इन सब में सभा ने महत्वपूर्ण काम किया है। हिंदी प्रचार कार्य को भी सभा ने सराहनीय ढंग से किया है। अखिल भारतीय हिंदी साहित्य संमेलन की, जो आज देश में सुंदर काम कर रहा है, यह जन्मदात्री है।

सभा को अभी बहुत काम करना है। हिंदी ने राष्ट्रभाषा के सिंहासनारूढ़ होने पर अपने ऊपर एक गौरवमय वरन् गुरुतर दायित्व लिया है। उसे पूरी तरह निभाने के लिये सभी अथक प्रयत्न करने हैं। इसे प्रत्येक देशवासी को प्रेमपूर्वक ग्राह्य करवाना तथा ज्ञान विज्ञान व हस्तकौशल के प्रत्येक अंग की हिंदी साहित्य में पूर्ण रूप से अभिव्यक्ति कर सकने की क्षमता प्राप्त करवाना, व ललित व सुंदर साहित्य की रचना को प्रोत्साहित करना व इसकी कमियों व त्रुटियों को दूर कर लेना ये कठिन कार्य अभी सामने हैं। मुझे विश्वास है कि सभा इन कार्यों को करने में पूरा प्रयत्न करेगी और सफलता प्राप्त करेगी। मैं इस शुभ अवसर पर सभा के प्रति अपनी शुभ कामनाएँ प्रकट करता हूँ।

२२ फाल्गुन, २०१० वि०]

काशी नागरीप्रचारिणी सभा के ६० वर्ष

[श्री डा० राजबली पांडेय, प्रधान मंत्री]

आज हीरक जयंती के इस शुभ अवसर पर सभा के गत साठ वर्षों के इतिहास का सिंहावलोकन करने में विशेष प्रकार के आनंद का अनुभव हो रहा है। एक छोटे प्रारंभ से क्रमशः सभा के वर्तमान विस्तार तक एक शिक्षाप्रद और मनोरंजक कहानी है। सभा का बीज-वपन आज से साठ वर्ष पूर्व क्वींस कालीजिएट स्कूल की पाँचवीं कक्षा में पढ़नेवाले कतिपय उत्साही छात्रों ने किया था जिनका मूल उद्देश्य एक वाद-समिति की स्थापना करना था। उन्होंने स्थिर किया था कि नागरीप्रचार को उद्देश्य बनाकर एक सभा की स्थापना की जाय। इस निश्चय के अनुसार २७ फाल्गुन १९४९ (१० मार्च, १८९३) को सभा की स्थापना हुई जिसका नाम नागरीप्रचारिणी सभा रखा गया। उस समय सर्वश्री गोपालप्रसाद खत्री, रामसूरत मिश्र, उमराव सिंह, शिवकुमार सिंह तथा रामनारायण मिश्र उसके प्रमुख कार्यकर्ता थे। थोड़े ही समय पश्चात् श्री श्यामसुंदर दास भी इसमें संमिलित हो गए और वही मंत्री हुए।

प्रारंभ में उसे बाल-सभा मात्र समझकर बड़े बूढ़े उसमें आने से संकोच करते थे। पर कार्यकर्ताओं के सतत उद्योग से शीघ्र ही सर्वश्री राधाकृष्णदास, महामहोपाध्याय सुधाकर द्विवेदी, रायबहादुर लक्ष्मीशंकर मिश्र, डा० छुन्नूलाल और रायबहादुर प्रमदादास मित्र जैसे हिंदी हितैषी प्रतिष्ठित विद्वान् पथ प्रदर्शक के रूप में प्राप्त हो गए। धीरे धीरे सभा अपनी ओर भारत भर के हिंदी प्रेमियों का ध्यान खींचने लगी। सर्वश्री महामना पं० मदनमोहन मालवीय, कालाकाँकर नरेश राजा रामपाल सिंह, राजा शशिशेखर राय, काँकरौली-नरेश, महाराज बालकृष्णलाल, अंबिकादत्त व्यास, बदरीनारायण चौधरी, राधाचरण गोस्वामी, श्रीधर पाठक, ज्वालादत्त शर्मा (लाहौर), नंदकिशोरदेव शर्मा (अमृतसर), कुँवर जोधसिंह मेहता (उदयपुर), समर्थदान (अजमेर), डा० ग्रियर्सन जैसे लब्धप्रतिष्ठ विद्वानों ने पहले ही वर्ष सभा की संरक्षकता और सदस्यता स्वीकार कर ली।

सभा ने आरंभ से ही ठोस रचनात्मक कामों को अपने हाथ में लिया। हिंदी की प्राचीन हस्तलिखित पुस्तकों की खोज कराना, हिंदी के बृहत् कोश का निर्माण कराना, हिंदी भाषा और साहित्य का इतिहास तैयार कराना, शोध कार्य कराना, नागरी लिपि का प्रचार आदि सभा के प्रमुख काम थे।

सन् १८३७ में अंग्रेजी सरकार ने फारसी को सर्व-साधारण के लिये दुरूह मानकर देशी भाषा को अदालतों में जारी करने की आज्ञा दी। परिणामस्वरूप बंगाल, उड़ीसा, गुजरात, महाराष्ट्र आदि प्रदेशों में वहाँ की प्रचलित देशी भाषा का चलन हो गया। पर उत्तर प्रदेश, बिहार और मध्य प्रदेश में अदालती अमलों की कृपा से हिंदुस्तानी के नाम पर उर्दू ही जारी रही। प्रयत्न करने पर बिहार और मध्य प्रदेश की सरकारों ने सन् १८८१ में

इस भ्रम को समझा और अपने यहाँ उर्दू के स्थान पर हिंदी प्रचलित की। पर उत्तर प्रदेश की सरकार ने इस ओर विशेष ध्यान नहीं दिया। सभा ने इस ओर उद्योग किया। सन् १८८२ में प्रांतीय बोर्ड आव् रेवेन्यू का ध्यान इस ओर आकृष्ट किया कि सन् १८७५ और १८८१ के क्रमशः ६६ वें और १२वें विधानों के अनुसार 'समन' आदि हिंदी और उर्दू दोनों में भरे जाने चाहिए। इन्हीं दिनों रोमन लिपि को दफ्तर की लिपि बनाने का भी कुछ प्रयत्न हुआ था। पर सभा ने १५ अगस्त, १८९५ के निश्चय के अनुसार नागरी लिपि और रोमन अक्षरों के विषय में एक पुस्तिका तैयार करके अंग्रेजी में प्रकाशित की और सरकारी पदाधिकारियों तथा जनता में इसकी कई सौ प्रतियाँ वितरित कराईं। बोर्ड आव रेवेन्यू विषयक सभा की प्रार्थना को सरकार ने स्वीकार कर लिया। इसके अनुसार सब जिलों में सूचना दे दी गई कि बोर्ड आव रेवेन्यू के समन आदि सब कागज हिंदी में भी जारी किए जायँ। ३ अगस्त, सन् १८९६ को सभा ने निश्चय किया कि प्रांतीय गवर्नर की सेवा में प्रतिनिधि मंडल भेजकर निवेदन-पत्र (मेमोरियल) उपस्थित किया जाय कि संयुक्त प्रांत (उत्तर प्रदेश) के राजकीय कार्यालयों में देवनागरी लिपि को स्थान दिया जाय। इसी काल में महामना पं० मदनमोहन मालवीय जी ने 'कोर्ट कैरेक्टर ऐंड प्राइमरी एज्यूकेशन' नामक एक बड़ा और महत्त्वपूर्ण निबंध तैयार किया। सभा ने आंदोलन करके निवेदन-पत्र पर साठ हजार हस्ताक्षर करवाए। सभा का प्रतिनिधि मंडल २ मार्च, १८९८ को इलाहाबाद के गवर्नमेंट हाउस में प्रांत के गवर्नर सर ऐंटानी मैकडानेल से मिला और उनके संमुख साठ हजार हस्ताक्षरों की सोलह जिल्दों तथा मालवीय जी के 'कोर्ट कैरेक्टर ऐंड प्राइमरी एज्यूकेशन' की एक प्रति के साथ निवेदन-पत्र उपस्थित किया। सभा का आंदोलन तेजी से बढ़ने लगा। परिणाम स्वरूप युक्त प्रांत सरकार को बाध्य होकर १८ अप्रैल, सन् १९०० को यह आज्ञा निकालनी पड़ी कि—

१. सभी अपनी इच्छा के अनुसार नागरी वा फारसी में लिखकर प्रार्थनापत्र दे सकते हैं। २. सरकारी आदेश और सूचनाएँ नागरी और फारसी दोनों लिपियों में निकलेंगी। ३. सरकारी कर्मचारियों के लिये नागरी और फारसी दोनों लिपियों का ज्ञान लेना आवश्यक होगा।

सभा ने नागरी लिपि और हिंदी भाषा को प्रचलित कराने के लिये 'कचहरी हिंदी कोश' भी तैयार करवाकर प्रकाशित किया। यही नहीं, नागरी लिपि में सुधार के लिये भी सभा ने उद्योग किया।

इस प्रकार नागरीप्रचारिणी सभा ने प्रारंभ से ही हिंदी भाषा और नागरी लिपि के प्रचार, प्रसार और संस्कार के कामों को किया और उसे करने की लोगों में प्रवृत्ति पैदा की तथा नेतृत्व भी किया।

प्रारंभ से ही सभा ने हिंदी का पुस्तकालय स्थापित करने का विचार किया। प्रारंभ में सभा के पुस्तकालय का नाम नागरी भंडार था। २७ अगस्त, १८९४ को सभा ने श्री गदाधर सिंह जी से अनुरोध किया कि वह कृपाकर अपना आर्यभाषा पुस्तकालय सभा को

दे दें। श्री गदाधर सिंह जी सभा की व्यवस्था से बहुत प्रसन्न थे। उन्होंने इस शर्त पर अपना पुस्तकालय सभा को दे दिया कि सभा के संग्रह और उक्त पुस्तकालय में संगृहीत सभी पुस्तकों के संग्रह का संमिलित नाम 'आर्यभाषा पुस्तकालय' रखा जाय। सभा ने इसे स्वीकार कर लिया और तभी से यह आर्यभाषा पुस्तकालय है। आर्यभाषा पुस्तकालय में हिंदी ग्रंथों का बहुत सुंदर संग्रह है। अनेक सुप्रसिद्ध विद्वानों ने इस पुस्तकालय को अपना महत्वपूर्ण संग्रह दिया है। पुस्तकालय में इस समय २७०० हस्तलिखित तथा ३६००० मुद्रित ग्रंथ हैं। प्राचीन पत्र-पत्रिकाओं का संग्रह भी पुस्तकालय में है। इस प्रकार आर्यभाषा पुस्तकालय में हिंदी का बहुत व्यापक संग्रह है। हिंदी में शोध कार्य करनेवाले विद्यार्थियों की दृष्टि से तो यह पुस्तकालय अपूर्व है। अनेक विश्वविद्यालयों से हिंदी में डि० फिल०, पी०-एच० डी०, और डी० लिट० के कुछ न कुछ विद्यार्थी बराबर सभा के इस पुस्तकालय में अध्ययन के लिये आते हैं और यहाँ टिककर अध्ययन करते हैं। किंतु पुस्तकालय को हम और भी बड़ा और व्यापक बनाना चाहते हैं।

हस्तलिखित हिंदी ग्रंथों की खोज का काम भी सभा ने एशियाटिक सोसायटी (बंगाल) के द्वारा आरंभ करवाया। इसके परिणाम स्वरूप सं० १६८५ तक ६०० महत्वपूर्ण ग्रंथ मिले थे। इन ग्रंथों में हिंदी साहित्य के इतिहास की बहुत सामग्री मिली। सन् १६०० के बाद हस्तलिखित हिंदी ग्रंथों की खोज का काम सभा ने स्वतंत्र रूप से करवाना प्रारंभ किया। सभा के खोज के कामों में अपने अपने समय के सभी महत्वपूर्ण विद्वानों का सहयोग प्राप्त था। डा० काशीप्रसाद जायसवाल, रा० ब० डा० हीरालाल और रा० ब० गौरीशंकर हीराचंद ओझा का सहयोग सभा के खोज विभाग को बराबर मिलता रहा। सभा के खोज विभाग का क्षेत्र संपूर्ण हिंदी भाषी क्षेत्र है। इतने बड़े क्षेत्र में और इतने महत्वपूर्ण काम में जितने आदमियों को लगाने की जरूरत है, उतने आदमियों को सभा इस काम में नहीं लगा पा रही है क्योंकि सभा के पास द्रव्य की कमी है। यदि सभी हिंदी प्रदेश की सरकारें सभा की सहायता करें तभी सभा इस महत्वपूर्ण कार्य को और तेजी से चला सकती है।

सभा के प्रकाशनों में 'नागरीप्रचारिणी पत्रिका' इस युग की संपूर्ण पत्र पत्रिकाओं से प्राचीन पत्रिका है। इसका मुख्य उद्देश्य है नागरी लिपि और हिंदी भाषा का संरक्षण तथा प्रसार, हिंदी साहित्य के विविध अंगों का विवेचन और भारतीय संस्कृति का अनुसंधान। यह एक शोध पत्रिका है और इसी ने हिंदी में शोध के मान को कायम किया है। आज भी पत्रिका अपने गौरव के अनुकूल चल रही है।

सभा के प्रकाशनों में सबसे महत्वपूर्ण प्रकाशन है 'हिंदी शब्दसागर'। वस्तुतः यह हिंदी जगत् के लिये गौरवमय प्रकाशन था। सभा के इस महत्वपूर्ण कार्य में उस युग के अनेक मनीषी विद्वानों ने बड़ी लगन और साधुभाव से काम किया। अनेक स्थानों पर जाकर, अनेक विद्वानों से सलाह करके हिंदी शब्दसागर को पूर्ण बनाया गया। हिंदी शब्दसागर में सब मिलाकर ६३११५ शब्द और ४२८१ पृष्ठ हैं। इस बृहत् कोश की तैयारी में सन् १६०८ से १६२९ तक लगभग २२ वर्ष लगे और १०८७१९ रु० १४ आ० ६ पा० व्यय हुए।

जिस समय यह हिंदी शब्दसागर प्रकाशित हुआ उस समय इसने हिंदी की आवश्यकता की पूर्ति की। पर इस कोश को प्रकाशित हुए अब २५ वर्ष हो गए। अब इसके पुनः संशोधन की, परिवर्धन की, तथा प्रकाशन की जरूरत है। सभा के सामने इसकी योजना है। द्रव्य मिल जाने की भी आशा है।

हिंदी शब्दसागर के अलावा हिंदी वैज्ञानिक शब्दावली भी सभा का एक महत्वपूर्ण प्रकाशन है। सच तो यह है कि भारतीय भाषाओं में वैज्ञानिक कोश होने का सर्वप्रथम सौभाग्य नागरीप्रचारिणी सभा के उद्योग से हिंदी को ही प्राप्त है। इस कोश में ज्योतिष, रसायन, भौतिक विज्ञान, गणित, वेदांत, भूगोल, अर्थशास्त्र आदि विषयों के शब्द एकत्र किए गए। एक विद्वन्मंडल ने लगातार उन्नीस दिनों तक इसकी परीक्षा की थी। सं० १९६२ में यह कोश छपकर तैयार हुआ। अब इस कोश में भी पुनः संशोधन, परिवर्धन और संपादन करके प्रकाशन की आवश्यकता है। पर द्रव्याभाव के कारण सभा इस काम को अभी हाथ में नहीं ले रही है।

राजकीय शब्दकोश का काम भी सभा ने अपने हाथ में लिया था। देश के विभिन्न विद्वानों के सहयोग से सभा ने इस कार्य को व्यापक योजना के साथ आगे बढ़ाया। प्रारंभ में उत्तर प्रदेश की सरकार का कुछ सहयोग भी सभा को मिला। सभा ने बहुत दूर तक इस कोश को तैयार भी करा लिया। उसके कुछ फर्मे छपने भी लगे थे। पर पुनः सरकार ने सहायता नहीं दी और द्रव्याभाव के कारण, इस दिशा में अपेक्षाकृत यह सबसे ज्यादा महत्वपूर्ण कार्य स्थगित कर दिया गया।

हिंदी में व्याकरण का अभाव एक बहुत बड़ी कमी है। सभा ने इस अभाव को भी दूर करने का प्रयत्न किया। संवत् १९६० में उसने हिंदी व्याकरण प्रस्तुत करने की सामग्री एकत्र करवाई। सभा की प्रेरणा से सं० १९७६ में हिंदी का एक प्रामाणिक व्याकरण प्रकाशित हुआ। इस दिशा में सभा आगे भी काम करना चाहती है। अवसर मिलते ही इसका कार्य प्रारंभ कर दिया जायगा। सभा की ओर से तीन महत्वपूर्ण अभिनंदन ग्रंथ भी प्रकाशित किए गए—१. कोशोत्सव स्मारक संग्रह, २. द्विवेदी अभिनंदन ग्रंथ और ३. संपूर्णानंद अभिनंदन ग्रंथ।

हिंदी में महत्वपूर्ण ग्रंथों को प्रस्तुत करने के लिये सभा ने समय समय पर अनेक श्रीमंतों की सहायता से अनेक पुस्तक-मालाओं के प्रकाशन का आयोजन किया। इनमें मनोरंजन पुस्तकमाला, देवीप्रसाद ऐतिहासिक पुस्तकमाला, सूर्यकुमारी पुस्तकमाला, बालाबक्ष राजपूत चारण पुस्तकमाला, देव पुरस्कार ग्रंथावली, रुक्मिणी तिवारी पुस्तकमाला, रामविलास पोद्दार स्मारक ग्रंथमाला, महेंदुलाल गर्ग विज्ञान ग्रंथावली, नवभारत ग्रंथमाला और महिला पुस्तकमाला आदि प्रमुख प्रकाशन हैं। इन ग्रंथमालाओं में अनेक महत्वपूर्ण ग्रंथों का प्रकाशन हुआ है। किंतु फिर भी हिंदी के आकर ग्रंथों की दृष्टि से सभा के प्रकाशनों में कमी थी। हिंदी के सभी आकर ग्रंथ सुसंपादित रूप में अभी नहीं प्रकाशित हो पाए हैं। सभा का ध्यान इस कमी की ओर गया। सभा के एक प्रतिनिधिमंडल ने इस हीरक जयंती के अवसर पर दिल्ली जाकर श्रीमंत सेठ घनश्यामदास जी बिड़ला का ध्यान इस कमी की ओर आकर्षित किया। यह कहते हुए हमें बड़ी प्रसन्नता हो रही है

कि श्री घनश्यामदास जी ने इस कमी को दूर करने के लिये सभा को पचीस हजार रुपए का दान दिया; जिससे इस वर्ष राजा बलदेवदास बिड़ला पुस्तकमाला की स्थापना की गई है।

इन महत्वपूर्ण कार्यों के अतिरिक्त सभा ने एक राष्ट्रीय अभाव की पूर्ति के लिये सं० १६५१ में हिंदी संकेतलिपि का निर्माण करवाया। उसे उत्तरोत्तर परिष्कृत करवाया। संकेत लिपि की शिक्षा के लिये सभा ने विद्यालय भी खोला। सभा के उद्योग से ही आज अनेक प्रदेशों की सरकारों में हिंदी संकेतलिपि का व्यवहार होने लगा है।

सभा के सहयोग और राय कृष्णदास जी के उद्योग से भारतीय संस्कृति और कला की विपुल सामग्री का संग्रह भारत-कला-भवन में हुआ था। यह संग्रह अब बहुत ज्यादा बढ़ गया है। हर्ष की बात है कि अब यह कला-भवन काशी विश्वविद्यालय में चला गया है जहाँ उसके अध्ययन और सुरक्षा की अच्छी व्यवस्था है।

नागरीप्रचारिणी सभा आधुनिक भारत के राष्ट्रीय जागरण-काल की संस्था है और हमारे लिये यह बड़े गौरव की बात है कि सभा ने अपने अब तक के काल में राष्ट्र की साहित्यिक आवश्यकता की पूर्ति का रचनात्मक काम किया है। आज हिंदी और नागरी को जो महत्व प्राप्त है उसका बहुत कुछ श्रेय सभा को ही है। एक अति अल्प आरंभ से उसने आज एक विशाल संस्था का रूप धारण कर लिया है। आज उसका रूप विराट् हो गया है और उसकी आवश्यकताएँ महान् हो गई हैं। सभा का यह विशाल भवन उसकी आवश्यकता के सामने बहुत छोटा पड़ गया है। यह हर्ष की बात है कि कलकत्ते के सेठ श्री रामकुमार जी भुवालका सभा के लिये अतिथि-भवन बनवा रहे हैं। किंतु सभा की आवश्यकताएँ और भी हैं। सभा के प्रेस का अपना भवन होना आवश्यक है और प्रेस को और सामग्रियों से पूर्ण करने की भी जरूरत है। खोज, अनुसंधान, संपादन और प्रकाशन के कामों को संगठित, व्यवस्थित और बढ़ाने की आवश्यकता है। वैज्ञानिक कोश तथा अन्य महत्वपूर्ण साहित्य के प्रकाशन की व्यवस्था भी हम करना चाहते हैं। किंतु हमारे पास द्रव्य की बहुत कमी है।

सभा ने जैसे बड़े बड़े कार्य किए हैं और सभा का जितना नाम है, आर्थिक दृष्टि से उसकी वैसी स्थिति नहीं है। विगत साठ वर्षों में उसके द्वारा हुई हिंदी की ठोस सेवाओं, हिंदी भाषी जनता और हिंदी प्रेमियों की संस्था को देखते हुए यह आशा करना स्वाभाविक है कि सभा के स्थायी कोश में २०-२५ लाख रुपए अवश्य होंगे किंतु यहाँ १॥ लाख भी नहीं हैं। अब यह हिंदी प्रेमी जनता ही नहीं, संपूर्ण राष्ट्र का कर्तव्य है कि वह राष्ट्र की आवश्यकता की पूर्ति रचनात्मक कामों द्वारा करनेवाली संस्था नागरीप्रचारिणी सभा की आवश्यकताओं की पूर्ति करे।

२२ फाल्गुन, २०१० वि०]

———

गीतिनाट्य

के

उद्घाटनकर्त्ता

माननीय श्री हरगोविंद सिंह जी

शिक्षा मंत्री, उत्तर प्रदेश

का

अभिभाषण

गीतिनाट्य की परंपरा हिंदी में लुप्तप्राय हो रही है। वस्तुतः समय का यही तकाजा भी है। हम जिस युग में रह रहे हैं वह संभवतः गद्य रचनाओं को ही प्रेरणा देता है। यद्यपि देश आज स्वतंत्र है और वह सब उपादान भी हैं जिनमें काव्य की ऊँची भूमिकाएँ प्रस्तुत होती हैं फिर भी साधारण संवेदनाओं और ज्ञान विज्ञान की विस्तृत अनुभूतियों को गद्य में सुकरता से अभिव्यक्त किया जा सकता है। आर्थिक और सामाजिक दृष्टि से देखा जाय तो जिस भौतिकता पर हमारा समाज उतर आया है और जीवन की कठिनाइयाँ पदे पदे जिस प्रकार के साहस और धैर्य की अपेक्षा करती हैं उन परिस्थितियों में आज के बुद्धिवादी मानव का जीवन निश्चय ही गद्यात्मक रहेगा। फिर साधारण व्यवहार की दृष्टि से देखा जाय तो भी हमारे जीवन में गद्य अधिक समा गया है। जनसंकुल नगरों एवं कृषि प्रधान ग्रामीण क्षेत्रों से भी प्रकृति अपने सौंदर्य को समेटकर दूर जाती दिखाई पड़ रही है। जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये हम प्रकृति को अपने स्वभाविक रूप में निखरने का, विकसित होने का, और विहँसने का अवसर ही नहीं देते। उलटे उसमें जबर्दस्ती करते हैं और काट-छाँट लाते हैं। ऐसा लगता है कि इन सब कारणों से वह हमें अब कविता के लिये प्रेरणा नहीं देती। निदान कुल मिलाकर, जैसा मैंने अभी कहा है, जीवन को अभिव्यक्त करने में गद्य अधिक उपयोगी और सरल हो रहा है। फलतः नाटकों में भी गद्य की प्रधानता हो गई है। मैं यह नहीं कह सकता कि जिस प्रकार के गीतिनाट्य का आयोजन किया गया है वह यहाँ एकत्र सामाजिकों को जीवन की वास्तविकता में उतार सकेगा या नहीं। लेकिन काव्य परंपरा की दृष्टि से उसमें निश्चय ही रोचकता होगी और काशी जैसी नगरी में, विशेषकर इस अवसर पर जब कि देश के सभी प्रमुख साहित्यिक एकत्र हैं उन्हें निश्चय ही उसमें रस मिलेगा। आज के नाटक तो

प्रायः गद्य में लिखे ही जाते हैं। हमारे यहाँ की जो पुरानी परिपाटी थी, जिसमें गद्य में लिखे नाटकों में भी संगीत का समावेश यथास्थान होता था, वह प्रायः क्षीण होती जा रही है। ठीक भी है, मौके-बे-मौके सब जगह गाना अच्छा भी नहीं लगता। लेकिन जीवन में संगीत का नितांत अभाव हो ऐसा नहीं माना जा सकता। अतः यह कहना पड़ेगा कि समय समय पर गीति-नाट्यों द्वारा जीवन की अभिव्यक्ति अनुपयुक्त नहीं है।

इस अवसर पर मैं हिंदी में रंगमंच की स्थापना की ओर भी आपका ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ। हमसे पहले भी आपका ध्यान इस ओर गया है। किंतु जिस बात का आश्चर्य है वह यह कि काशी जैसे स्थान में भी और यहाँ की कतिपय प्रतिष्ठित संस्थाओं के रहते हुए भी अभी तक हिंदी की यह आवश्यकता पूरी नहीं की जा सकी। मैं यहाँ की उन संस्थाओं को जानता हूँ जिनसे किसी न किसी प्रकार का सरकारी संबंध है और उनके कार्यक्रम का कुछ थोड़ा बहुत परिचय मुझको मिला करता है। उसको देखते हुए मुझे ऐसा लगता है कि यह उनके लिये नितांत असंभव अथवा अनपेक्षित भी नहीं है। फिर भी या तो संगठन की कमी अथवा आवश्यक धन के अभाव में यह कार्य अभी तक रुका पड़ा है। सहसा इस बात का विश्वास नहीं होता कि हिंदी जगत् अब तक केवल इन दो कठिनाइयों के कारण ही रंगमंच के अभाव को सहन करता जा रहा है। आज दिन जब विदेशों से सांस्कृतिक और साहित्यिक प्रतिनिधि-मंडल आए दिन आ रहे हैं और यहाँ की विभिन्न साहित्यिक प्रवृत्तियों एवं सांस्कृतिक कार्यक्रमों को प्रत्यक्ष देख-सुनकर उनका अध्ययन कर रहे हैं तो ऐसी दशा में हिंदी के लिये यह स्थिति न केवल अशोभनीय है वरन् अहितकर भी। जो लोग यहाँ आते हैं उनके सामने हिंदी रंगमंच का न तो कोई परिष्कृत रूप रखा जा सकता है और न उन्हें हिंदी नाटकों का अभिनय देखने का सुअवसर ही मिलता है। आज भी विदेशों में रंगमंच और नाटक को वहाँ के सांस्कृतिक जीवन में एक बहुत ही आदर का स्थान प्राप्त है। देश की संस्कृति और उसकी साहित्यिक चेतना का उदाहरण सिनेमा के चलचित्रों द्वारा नहीं प्रस्तुत किया जा सकता। व्यावहारिक जीवन में सिनेमा ने निश्चय ही एक व्यापक स्थान ले लिया है किंतु वह हमारी परिष्कृत साहित्यिक मनोवृत्ति का परिचायक नहीं है और न उसके द्वारा हम किसी उत्कृष्ट अभिनय का प्रदर्शन कर सकते हैं। जिस देश में, नाटक और अभिनय कला का विकास कई शताब्दियों पहले प्रारंभ हुआ हो वहाँ इस प्रकार की हीनता असहनीय होनी चाहिए।

नाटक का सभी जगह, क्या भारत में और क्या विदेशों में, साहित्य में ऊँचा स्थान है। इसमें जो प्रभावोत्पादकता होती है वह अन्य प्रकार के काव्यों में नहीं पाई जाती। न केवल दृश्य-काव्य होने के नाते नाटक अधिक प्रभाव उत्पन्न करते हैं वरन् दृश्य और श्रव्य होने के अतिरिक्त इन्हें जो सामाजिकों का सहयोग मिलता है उससे बहुत बड़ी सहायता मिलती है। वस्तुतः रंगशाला के सामाजिकों पर नाटकों के विकास का बहुत बड़ा उत्तरदायित्व है। सामाजिकों की अपनी भौतिक, सामाजिक और साहित्यिक चेतना नाटकों के विकास के लिये सर्वप्रथम उत्तरदायी ठहराई जानी चाहिए। यदि किसी

साहित्य में नाटकों और रंगमंच का विकास नहीं होता तो इसका सारा दोष उस साहित्य के पाठकों और सामाजिकों पर होना चाहिए। नाटकों के लिये केवल पाठक नहीं चाहिए वरन् सामाजिकों का सक्रिय सहयोग भी। जिस समाज में नाटक का आदर नहीं होता अथवा नाटक देखनेवाले सुसंस्कृत व्यक्ति कम होते हैं उसके नाटक केवल पठनपाठन का विषय होकर रह जाते हैं। यह दशा प्रायः हिंदी में अब भी बनी हुई है और यह हिंदी के ऊपर एक अशुभ धब्बा लगाती है।• इससे केवल एक ही बात का पता चलता है कि हिंदी भाषा-भाषियों का सांस्कृतिक स्तर अभी बहुत ऊँचा नहीं उठा है, उनके समाज में जीवन की उदात्त प्रवृत्तियों के लिये विशेष स्थान नहीं हो पाया है और प्राचीन संस्कृति की दुहाई देनेवाले होकर भी वे अपने संस्कारों को परिष्कृत नहीं कर पाए हैं। केवल कविता, कहानी और उपन्यास पढ़नेवाले लोग अपने को सुसंस्कृत नहीं कह सकते। सच्ची बात तो यह है कि हिंदी में पाठकों की भी बहुत बड़ी कमी है और आज हिंदी में जिस ढंग का प्रकाशन हो रहा है उसको देखते हुए यह बात किसी से छिपी हुई नहीं है लेकिन इस प्रसंग में मैं उसकी चर्चा नहीं करूँगा। भारतीय नाटकों में नृत्य, संगीत और कला का, जिसमें अभिनय विशेष रूप से आता था, बड़ा ही मोहक संमिश्रण किया गया था। उसे भूलकर हमने अपने जीवन को नीरस बना दिया है और इस बात को विशेष अवसर दिया है कि हमारा जीवन भौतिकता से अभिभूत हो जाय। भारतीय नाटकों की नींव जीवन में मंगलाशा पर आधारित थी और हम अपने नाटकों से जगत् को इस बात का संदेश देते थे कि सांसारिक जीवन में परिस्थितिवश घोर कष्ट सहन करते हुए भी मनुष्य अंत में सत्य को देख पाता है और उसे शिव की उपलब्धि होती है। कर्म-सिद्धांत में विश्वास करने के नाते हमारे नाटक सुखांत होते थे और हमें इस बात का संदेश देते थे कि आततायी को दंड मिलता ही है और परिस्थितियों वश जीवन में यदि कोई हमें कितना ही कष्ट क्यों न दे किंतु हम अंत में उन सब पर विजय प्राप्त करते हैं और सुख की प्राप्ति होती है। इस प्रकार की आशा का संचार करनेवाले नाटकों ने हमारे जीवन को व्यवस्थित कर रखा था और वे हमें अपने कर्त्तव्य पथ पर अविचलित ढंग से चलने की प्रेरणा देते थे। मेरा अपना ऐसा विश्वास है कि हिंदी नाटकों के अभाव में हमारा जीवन अव्यवस्थित रहेगा।

मैं आशा करता हूँ कि नागरीप्रचारिणी सभा अपने हिंदी प्रचार और उसकी संवर्धना के उद्देश्यों में अधिकाधिक सफल होगी और उस मार्ग पर चलकर जिसे हिंदी के पूर्ववर्त्ती मनीषियों ने प्रशस्त किया है, भविष्य के कार्यकर्त्ताओं के लिये और भी सरल बनाएगी। मैं इस अवसर पर पुनः आपको, मुझे यह सुयोग देने के लिये, धन्यवाद देता हूँ। परमात्मा से प्रार्थना है कि हिंदी का मार्ग निष्कंटक हो।

२२ फाल्गुन, २०१० वि०]

राष्ट्रभाषा संमेलन के संयोजक

आचार्य पं० चंद्रबली पांडेय का

अभिभाषण

निज भाषा उन्नति अहै सब उन्नति कौ मूल।

महानुभावो !

राष्ट्र जिस विकट परिस्थिति में पड़कर अपना मार्ग निकाल आगे बढ़ रहा है उसके दिग्दर्शन से कोई लाभ नहीं। उसका थोड़ा बहुत पता सभी को है। आज सभी अपनी उन्नति में लीन हैं और रह रहकर इस बात का अनुभव कर रहे हैं कि अपनी भाषा के बिना अपना कल्याण नहीं। किंतु उनमें से कितने जीव ऐसे हैं जो वास्तव में इस अपनेपन को पहचान रहे हैं? कहते हैं, राष्ट्रभाषा का प्रश्न सुलझ गया। सच कहते हैं। राष्ट्रभाषा हिंदी घोषित जो हो गई। किंतु यह भाषा ही तो है जिसके लिये मनुष्य को आज अपने 'नुकसान' के 'अधिकार' की सूझ रही है? निश्चय ही हमारे देश की भावना इतनी बिगड़ चुकी है कि उससे सहसा कुछ बनते दिखाई नहीं देता। तो भी हमारा पावन कर्तव्य है कि हम उसे ठीक करें। राजनीति के अखाड़े को गरम करने से मानव का काम नहीं बनता। नहीं; इससे तो इंसान का डंस मारा जाता और मानव झट दानव बन जाता है। फिर तो किसी से कुछ करते धरते नहीं बनता। निदान राजनीति के तनाव को नरम करने की माँग होती और प्राणी प्राण की पुकार पर कान देता है।

आज से साठ वर्ष पहले राष्ट्र के बालहृदय ने देख लिया कि 'नागरी' से उसका कितना लगाव है। 'नागरीप्रचारिणी सभा' 'छात्र' सभा का नाम है कुछ 'ज्ञात्र' सभा का नहीं। काट छाँट से उसका नाता नहीं, हाट बाट से उसका लगाव अवश्य है। घर बार से पोथी पत्र तक जिसका प्रसार हो उसी की शिक्षा विद्यार्थी को न मिले और मिले भी तो किसी 'विद्या' की दृष्टि से नहीं, किसी बहाने मात्र से, भला कब यह संभव था? फलतः विद्यार्थी का बिगुल बजा और 'काशी नागरीप्रचारिणी' की स्थापना हो गई। धीरे धीरे उसकी प्रतिष्ठा इतनी बढ़ी कि उसकी बात समर्थ कान से सुनी गई और जनमत के प्रसाद से जनवाणी नागरी-हिंदी का संस्कार हुआ? सब के सहयोग नहीं तो बहुतों के उद्योग से भारत की राष्ट्रभाषा हिंदी घोषित हुई। राष्ट्र ने राष्ट्रभाषा के व्यवहार का व्रत लिया और सोचा कि पंद्रह वर्ष के भीतर वह भी अपनी राष्ट्रभाषा का जौहर विश्व को दिखा सकेगा। कितने वर्ष में उसने कितना कार्य किया इसका विचार संताप का कारण हो सकता है, संतोष का विषय नहीं। निदान उसकी चर्चा न कर कहा यह जाता है कि अब इस अवसर पर एकत्र हो कुछ यज्ञ का अनुष्ठान करना चाहिए और राष्ट्रभाषा के इस महायज्ञ में कुछ ऐसी

आहुति का विधान करना चाहिए जिससे उसके प्रकाश में विश्व का कोना कोना ही नहीं ब्रह्मांड का कण कण आभासित हो उठे और उसकी प्रशस्त छाया में हमारी सभी देशभाषाएँ चमक उठें। उनकी वृद्धि और समृद्धि भी किसी से पीछे न रहे। हाँ, यज्ञ के अनुष्ठान और आहुति के विधान में हमें धूम का भी सामना करना होगा और अपने संकल्प के फलस्वरूप इसे अंजन के रूप में दिव्य ज्योति का दाता समझा जायगा। अन्यथा धूमरहित यज्ञ कैसा? किसी विकार से भयभीत होने की आवश्यकता क्या?

भय है, आशंका है, डर है, सभी कुछ तो है। किस किस का उल्लेख किया जाय? अभी कुछ होने भी न पाया कि बयार फिर हिंदी के प्रतिकूल बही। उसके बड़े बड़े सरकारी नेता पीछे खसकने लगे और उर्दू ने फिर उसके घर में जोर मारा। बड़ा तूमार बँध रहा है। हानि-लाभ का विचार छोड़ प्रतिष्ठित एवं विख्यात शिक्षाचार्य 'नुकसान' करने का 'अधिकार' चाहते हैं। अपढ़ लोग भी अँगूठे के बल पर उर्दू को उत्तर प्रदेश की 'क्षेत्रीय भाषा' घोषित कराना चाहते हैं। उर्दू को सदा से राजबल रहा है। वह शाहजहाँनाबाद के किला-मुअल्ला की भाषा रही है। उसको 'उर्दू की जबान' या 'उर्दू-ए मुअल्ला' यों ही नहीं कहा गया है। वह सचमुच 'लालकिला' की शाही जबान रही है। अवध के बादशाह तो उसको अपनी राजभाषा ही घोषित कर चुके थे। किंतु वह किसी प्रदेश की क्षेत्रीय भाषा नहीं रही। कभी कोई भी हिंदुस्तानी, चाहे वह मुसलमान और फारसी-अरबी का प्रगाढ़ पंडित ही क्यों न हो, उसमें प्रमाण न माना गया। मुगल सम्राट् न रहे तो भारत-सम्राट् ने उसे पाला। सब कुछ हुआ पर कभी वह 'क्षेत्रीय भाषा' घोषित न हुई। यह पद सदा नागरी-हिंदी को ही प्राप्त रहा। अँगरेजी कूटनीति को 'नागरी' से द्रोह हुआ तो उसने उर्दू के हित के विचार से 'हिंदुस्तानी' को सराहा। कारण यह था कि 'नागरी' को महत्त्व मिलता तो नागरिक सहसा जागरूक हो उठते और फिर उनपर शासन करना कठिन हो जाता। जो हो, इतिहास बताता है कि उर्दू सदा तूरानी विचारधारा की भाषा रही और 'मुगल का 'तूरानी दल' ही इसका नेता था। बादशाही जबान के नाते 'हिंदुस्तानी दल' भी इसका सत्कार करता था और राजाश्रय के कारण इसकी पूछ भी अधिक थी। फलतः समय पाकर वह पाकिस्तान की राष्ट्रभाषा घोषित हुई। विधि की विडंबना वा हठ का प्रताप तो देखिए कि आज उसे कहा नहीं, 'राष्ट्रपति' से कहाया जा रहा है, 'पाकिस्तान' के किसी भूभाग की नहीं, उत्तर प्रदेश जैसे प्रसिद्ध नागरी-राज्य की 'क्षेत्रीय भाषा'। जी, राष्ट्रपति उर्दू की माँग के कारण उर्दू को घोषित कर दें उत्तर प्रदेश की 'क्षेत्रीय भाषा' और उर्दू के लोग झट बोल पड़ें कि हिंदी तो कहीं की भाषा नहीं, उत्तर प्रदेश की 'क्षेत्रीय भाषा' तो उर्दू है। निदान उर्दू की इस माँग से सबको सजग करना चाहिए और स्पष्ट कह देना चाहिए कि 'भारत' में 'पाकिस्तान' के 'उपनिवेश' की आवश्यकता नहीं। हाँ, उर्दू के रक्षण का प्रश्न अवश्य है। उस उर्दू के रक्षण का जो 'पाकिस्तानी' नहीं 'हिंदुस्तानी' है। सो हिंदी के साहित्यकार देशकाल के विचार से पात्रानुसार उसका भी व्यवहार करते हैं और उसे भी हिंदी की एक शैली समझते हैं, परंतु उक्त शैली को महत्त्व इसलिये नहीं देते कि उसका यहाँ की किसी भी भाषा की किसी शैली से मेल नहीं, उसका तो नाता विदेश से है न?

राजबल से उर्दू को किस क्षेत्र का राज्य मिलेगा, इसकी मीमांसा से लाभ क्या?

उसकी उचित माँग पर उचित ध्यान दिया जायगा, इसमें संदेह नहीं, उसका दिल दुखाना हमको इष्ट नहीं। यदि कुछ लोगों को उसके अध्ययन का आग्रह हो और उनकी संख्या पर्याप्त हो तो यह अधिकार उन्हें प्राप्त हो सकता है और वही स्थान प्राप्त हो सकता है जो किसी भाषा को दूसरी भाषा के क्षेत्र में प्राप्त होता। रही राष्ट्रभाषा की स्थिति। सो हमारी समझ में तो यही आता है कि इस पद्धति और इस गति से हमारा उद्धार नहीं। उलटे क्षति की आशंका अधिक है। इससे राष्ट्रभाषा की शक्ति और क्षमता में संदेह उत्पन्न होता है और राष्ट्रभाषा के सरकारी अगुआ पीछे खिसकते दिखाई देते हैं। इसलिये होना यह चाहिए कि केंद्र में एक अलग राष्ट्रभाषा मंत्रालय की स्वतंत्र स्थापना हो और उसका संचालन एक अनुभवी, योग्य और साहित्य-मर्मज्ञ मंत्री के हाथ में हो जिससे वह भाषा की प्रकृति और प्रवृत्ति को देखकर ही उसके विकास का प्रबंध करे। प्रकृति की दृष्टि से भारत की भाषाओं में चाहे जितनी विभिन्नता हो किंतु प्रवृत्ति की दृष्टि से उनमें गहरी एकता को परखे बिना किसी राष्ट्रभाषा के द्वारा राष्ट्रनिर्माण का कार्य संभव नहीं। नागरी-हिंदी का सत्कार इसी से राष्ट्र में इतना रहा है कि कभी उसके सामने किसी फारसी, उर्दू या हिंदुस्तानी की नहीं चली और न इतना उद्योग होने पर भी उसका स्थान किसी अन्य भाषा को मिला। यहाँ तक कि अंग्रेजी का रंग भी बराबर फीका रहा और वह लोक-हृदय को न छू सकी। राजा रघुराजसिंह ने इसी व्यापक एकसूत्रता को देखकर इसी से तो कभी स्पष्ट कहा था—

हरि को प्रिय अति द्राविड़ भाखा, संमत वेद शास्त्र श्रुति शाखा।
द्राविड़ भाषा संतन काहीं, उचित अवशि पढ़िबो जग माहीं।

भाव यह कि किसी भी क्षेत्र में इस देश के बाहरी भेदभाव को देखकर उसकी भीतरी भाव-धारा को भूल जाना ठीक नहीं। उसकी सच्ची जानकारी और पक्की पहिचान के बिना राष्ट्र का निर्माण कैसा? निदान हिंदी मंत्रालय की स्वतंत्र और सुव्यवस्थित व्यवस्था केंद्र में होना चाहिए जिसका कार्य हो केवल शासन और व्यवहार को हिंदीमय बना देना ही नहीं अपितु यह देखना भी कि राष्ट्रभाषा के साथ ही सभी देशभाओं में परस्पर आदान-प्रदान के द्वारा एक ही भाव का उदय और एक ही हृदय का प्रसार हो रहा है। अँगरेजी की राजनीति से मुक्ति पाने का यही एक सरल और सुबोध उपाय है। कूट शासन के कुप्रभाव के रहते सच्चे राष्ट्र का निर्माण कैसा? केंद्र के साथ ही सभी राज्यों को अपने अपने ढंग से साहित्य के इस अनुष्ठान में योग देना चाहिए और उत्तम तथा उपयोगी पुस्तकों के रूपांतर को महत्त्व दे सभी भाषाओं की प्रगति की परंपरा का बोध कराना चाहिए। आशय है यह कि वर्तमान के कुसंस्कार से लोकहृदय को मुक्त कर उसे फिर संस्कृति के मूलस्रोत में मग्न कर देना चाहिए जिसके अवगाहन से वह तृप्त और प्रसन्न हो जग को आह्लाद का पाठ पढ़ा सके।

हिंदी मंत्रालय के साथ ही हमारा ध्यान लोकसेवा आयोग पर भी आप ही जाता है और हम सबसे पहले अपने लोकसेवक को अपने मेल में देखना चाहते हैं। सो तुरंत होना तो यह चाहिए कि परीक्षा का माध्यम विकल्प रूप से हिंदी कर दी जाय और परीक्षार्थी को यह छूट दी जाय कि वह चाहे हिंदी में प्रश्न का उत्तर लिखे चाहे अंग्रेजी में,

साथ ही हिंदी में उत्तीर्ण होना सभी के लिये अनिवार्य कर दिया जाय। हिंदी राज्यों में तो हिंदी को और भी शीघ्र महत्त्व मिलना चाहिए और उसको माध्यम के रूप में स्वीकार कर लेना चाहिए।

शिक्षा विशारदों का ध्यान शिक्षा प्रणाली के दोषों को देखने में मग्न है। कभी वह कुछ विशेष पद्धति के प्रचलन में सफल होगा, ऐसा विश्वास किया जा सकता है। किंतु यह तो प्रायः सर्वमान्य सिद्धांत स्वीकृत हो चुका है कि शिक्षा का माध्यम स्वभाषा ही हो। प्राथमिक शिक्षा में किसी अन्य भाषा का बोध कराना कठिन होता है, अतएव माध्यमिक शिक्षा की स्थिति में राष्ट्रभाषा का प्रवेश हो जाना चाहिए। हिंदी प्रदेशों में उच्च शिक्षा का माध्यम हिंदी ही हो। जो लोग आज भी इनके लिये अंग्रेजी का ही राग अलापते हैं वे भूल करते हैं। इस प्रकार की हीन भावना से राष्ट्र का कल्याण नहीं हो सकता। निश्चय ही उच्च शिक्षा का माध्यम भी स्वभाषा वा राष्ट्रभाषा ही होगा। इसका निर्णय राज्य कर लेगा कि उसकी किस भाषा को कितना महत्त्व मिले। संभव है कि इसके लिये राष्ट्रभाषा-पड़ताल फिर से हो और फिर से हो राज्य निर्माण भी।

अभी तक प्रमुख रूप से हमारे सामने शासन ही रहा है, अब कुछ साहित्यकार से भी कह लेना है, परंतु उससे कुछ कह लेने के पहले निवेदन कर देना है 'राष्ट्रपति' से यह कि कृपया एक अभ्यादेश इस आशय का निकाल दें कि यदि कोई प्रकाशन वा ग्रंथ लेखक के कलमी निजी हस्ताक्षर के बिना बिक्री के रूप में पाया गया तो विक्रेता तथा प्रकाशक दंड के भागी होंगे। इससे साहित्यकार को एक प्रकार का अभयदान मिल जायगा और प्रकाशक लेखक को पुस्तक की संख्या में धोखा न दे सकेगा, दोनों का व्यापार साधु और विश्वासपूर्ण होगा।

सभा की दृष्टि में हिंदी की वर्तनी और उसके व्याकरण पर फिर से विचार करने की आवश्यकता है। आशा है इस कार्य में भी विद्वानों की सहायता उसे प्राप्त होगी और लोग अपने सुझाव देने में संकोच न करेंगे।

पराधीनता का अभ्यास अत्यधिक हो गया है; इसका परिणाम यह होता है कि हम स्वयं कार्य करते नहीं, हाँ, कराने पर कर अवश्य देते हैं। आत्मविश्वास का भी हममें अभाव हो गया है। इसका दुष्परिणाम यह हो रहा है कि हम उतना भी 'नागरी' को नहीं अपना रहे हैं जितना अपनाने में कोई क्षति नहीं, कोई बाधा नहीं। नागरी में तार दिया जा सकता है पर प्रतिदिन दिया जाता है कितना? नागरी में पता लिखा जा सकता है पर समझा जाता है कि पत्र ठीक से पहुँचता है अंग्रेजी पते में ही। भाव यह कि सजग, सावधान और सचेष्ट होने की आवश्यकता है। आत्मचेतन के अभाव में राष्ट्र का उद्धार कहाँ? लोक का मंगल कहाँ? स्वराज्य का प्रपंच अवश्य है। फलतः इस अवसर का पूरा उपयोग कर आगे का प्रशस्त मार्ग बनाना चाहिए जिससे सभी को लोक-यात्रा सुखद जान पड़े।

२३ फाल्गुन, २०१० वि०]

राष्ट्रभाषा संमेलन और विचारगोष्ठी

के

सभापति

महामहिम श्री रंगनाथ दिवाकर

राज्यपाल, बिहार

का

अभिभाषण

राष्ट्रप्रेमी तथा राष्ट्रभाषाप्रेमी भाइयो और बहनो,

नागरीप्रचारिणी सभा के हीरक जयंती के अंतर्गत इस राष्ट्रभाषा संमेलन का अधिवेशन होना अत्यंत अन्वर्थक तथा क्रमप्राप्त था। इस अधिवेशन का सभापतित्व मुझे देकर मुझको नागरीप्रचारिणी सभा ने उपकृत किया है। यह अवसर मैं बहुत महत्त्व का समझता हूँ। आज नागरीप्रचारिणी सभा को ६० वर्ष पूरे हुए और उसका काम आज तक जो हुआ वह राष्ट्र के लिये अत्यंत उपयुक्त प्रतीत हुआ है। दशाब्दियों से दूर दृष्टि से ऐसे प्रयत्न करनेवाली राष्ट्रीय संस्थाओं में यह सभा एक खास स्थान रखती है। संवत् १९५० में राष्ट्रीय महासभा का जन्म भी नहीं हुआ था। राजकीय जाग्रति तथा स्वातंत्र्य के आंदोलन के पहले ही सांस्कृतिक जाग्रति और स्वभाषा की प्रगति के संबंध में आंदोलन होना यह एक इतिहाससिद्ध बात है। आयरलैंड तथा इटली में ऐसा ही हुआ। उसी प्रकार इस देश में एक नवजीवन की धारा राजकीय आंदोलन से भी पहले शुरू हो गई। विस्मृत राष्ट्रजीवन का और राष्ट्रीयत्व का दर्शन, धुँधला ही क्यों न हो, भारतीय सुपुत्रों को होने लगा। इस दर्शन की अंगभूत हर बातों में राष्ट्रीय दृष्टि का उदय हुआ। यदि हम एक राष्ट्र हैं, तो हमें एक राष्ट्रीय भाषा आवश्यक है, ऐसी प्रबल आकांक्षा उन दिनों के नेताओं में उदित हुई। उसके फलस्वरूप नागरीप्रचारिणी सभा तथा अन्य संस्थाओं का निर्माण हुआ और राष्ट्रभाषा के पुनरुज्जीवन और प्रचार की दृष्टि से काम होने लगा।

गांधी युग के प्रारंभ से, याने सन् १९२० से, और राष्ट्रीय सभा ने हिंदी को राष्ट्रभाषा के रूप में जब से अपना लिया तब से, हिंदी आंदोलन में एक नए चैतन्य का प्रवेश हुआ। छोटे मोटे मतभेद आदि तो पहले भी थे, लेकिन आम तौर पर यह बात मानी

गई और सर्वसंमत हुई कि हमारे राष्ट्र को आसेतु-हिमाचल एक राष्ट्रभाषा की आवश्यकता है, और उसका पालन-पोषण, समर्थन और संवर्धन करने की जिम्मेदारी हरेक राष्ट्रप्रेमी के कंधे पर है।

आगे चलकर ई० स० १९५० में जब हमारा भारत का संविधान अमल में आया तब इस राष्ट्रभाषा के इतिहास में हमने तीसरी मंजिल हासिल की। आज हमारे संविधान के भाग १० में ३४३ से ३५१ धाराओं तक राजभाषा के संबंध में जो विधान लिखित है, और अष्टम अनुसूची में जो दूसरी भाषाएँ सूचित की गई हैं, वे ही बातें हमारे लिये मार्ग-दर्शक हो सकती हैं। देवनागरी लिपि में लिखित हिंदी भाषा और उसका स्थान हमारे राष्ट्रीय जीवन में अभी एक दृढ़ और कायम बुनियाद पर स्थापित किया गया है। इस विषय के संबंध में कुछ छोटे-मोटे मतभेद व्यक्त करना या संविधान सभा की संमति से निर्धारित विधान में कुछ तबदीली करने का प्रयत्न करना, मेरी दृष्टि से राष्ट्रभाषा को हानि पहुँचाना है। यदि हम उसमें तबदीली करने का आज प्रयत्न करें तो फिर से हमें वही झगड़े लड़ने पड़ेंगे जिन्हें झगड़कर हम अभी इस बात पर संविधान सभा के द्वारा स्थिर हुए हैं।

इस बात को बीते हुए भी चार वर्ष हो गए। सब राज्यों में और केंद्रीय सरकार में भी कुछ न कुछ प्रगति राष्ट्रभाषा के इस कार्य में हुई है। अधिक प्रगति होनी चाहिए, इसमें कोई संदेह नहीं, लेकिन उस दिशा में अंतःकरण पूर्वक अधिकारी वर्ग तथा मंत्री गण काम कर रहे हैं, इसमें तनिक भी संशय नहीं है। जनता की ओर से भी जहाँ तहाँ और हर राज्य में प्रचार का काम चला है। संविधान बनने के पहले जो एक अनिश्चितता और अस्पष्टता थी वह अब हट गई है। राष्ट्रभाषा को अधिकाधिक अपनाना है और इस क्षेत्र में प्रगति करनी है, इस बात में किसी को अब कोई भी शंका नहीं रही। जब मैदान इतना साफ हो गया है, तो ऐसे समय पर राष्ट्रप्रेमी और राष्ट्रभाषा-प्रेमियों का एकमेवा-द्वितीयम् कर्तव्य यही है कि हम व्यवहार में जल्दी से जल्दी और अच्छे तरीके से इस राष्ट्रभाषा को लाएँ। संविधान के विधिविधानों को कार्यान्वित करने के लिये अभी आंदोलन की अपेक्षा विधायक कार्य अधिक आवश्यक है।

यहाँ मैं इस बात को स्पष्ट करना चाहता हूँ कि परदेशीय भाषा के द्वेष से या बहिष्कार से हमारी भाषा बढ़नेवाली नहीं है। हमारे देश की जो राष्ट्रभाषा है उसके पोषण से, और उसकी प्रगति में लगातार लगे रहने से ही, वह बढ़ सकती है। आर्थिक विषयों में गांधी जी से पुरस्कृत स्वदेशी का जो तत्व है उसका उपयोग इस राष्ट्रभाषा के विकास के विषय में भी लागू हो सकता है। आसेतु-हिमाचल हमारे लिये एक देशीय भाषा की नितांत आवश्यकता है। इस दृढ़ भाव से प्रेरित होकर ही, देवनागरी में लिखी हुई हिंदी हमारी सामान्य भाषा हो सकती है, यह हमने तय किया है। इस निश्चय को अमल में लाने के लिये परदेशीय भाषाओं से द्वेष करने की या उनका बहिष्कार करने की कुछ आवश्यकता नहीं है।

दूसरी महत्व की बात यह है कि जो १४ भाषाएँ संविधान की अष्टम अनुसूची में बताई गई हैं और दूसरी अनेक भाषाएँ जो ग्रंथस्थ न होने पर भी हमारे यहाँ लाखों लोग

बोलते हैं, उनके बारे में हमारी एक निश्चित सहानुभूतिपूर्ण नीति हो। ऐसी भाषाओं के संबंध में हमारी नीति क्या होनी चाहिए? जाहिर है कि ये सब भाषाएँ अपने अपने क्षेत्र में तथा राज्यों में अच्छी तरह से काम करती हैं और अपना प्रभाव विकसित करती हैं। इन भाषाओं के संबंध में केवल शुभकामना नहीं, प्रत्युत उनको विकसित करने का कुछ न कुछ प्रयत्न भी करना चाहिए। राष्ट्रजीवन के प्रवाह के लिये शायद ये भाषाएँ छोटी मोटी नदियों के समान हैं। लेकिन जहाँ तक अंतर्प्रांतीय, अखिल भारतीय तथा केंद्रीय व्यवहार का संबंध है, हमें हिंदी भाषा आवश्यक है। उस भाषा को अपनाना इन सब भाषा-भाषियों के लिये अत्यंत आवश्यक और उपयुक्त बात है। आखिर में भाषा एक साधन मात्र है। वह साधन राष्ट्रीय दृष्टि से सबके लिये सामान्य होना अपरिहार्य है। इसीलिये तो हिंदी को वह स्थान दिया गया है। किसी परदेशीय भाषा को यह स्थान देना अशक्यप्राय है। इसी दृष्टि से हिंदी राष्ट्रभाषा का विचार स्थिर किया गया है।

मैंने कहा है कि कोई भी भाषा क्यों न हो, वह एक साधन है। हमारा साध्य तो यह है कि आपस में अखिल भारतीय व्यवहार उत्तम तरह से चले, राष्ट्र की एक जबान हो और दुनिया को भी मालूम हो कि यह हमारी राष्ट्रभाषा है। हमारा देश हर क्षण एक कदम आगे बढ़ रहा है और अनेक विषयों में हमारे राष्ट्र के भिन्न भिन्न राज्य के लोग एकत्रित होकर विचार-विनिमय, चर्चा आदि एक ही मंच पर करने की आवश्यकता दिन प्रति दिन अधिक अनुभव कर रहे हैं। इस मंच पर बैठनेवाले, बोलनेवाले, विचार विनिमय करनेवाले जो लोग हैं, वे भिन्न भिन्न राज्यों के भिन्न भिन्न भाषाभाषी होते हैं। इसलिये ऐसे एक साधन की खोज हमने की है कि जिससे हम एक दूसरे के भाव और विचार अच्छी तरह से जान सकें और तत्पश्चात् एक सुदृढ़ बुनियाद पर हम आगे बढ़ सकें।

हमारे भाग्यवश भारत में आज भी दो चार भाषाएँ ऐसी हैं जिनकी प्रगति काफी हुई है और जिनका ग्रंथ-भंडार अप्रतिम है। उनसे हमें जरूर लाभ लेना होगा और उनसे हमारी और हमारे राष्ट्र की इज्जत अधिक बढ़ती जायगी, उनका जो साहित्य है उसके साथ आदान प्रदान करने से हिंदी को भी लाभ पहुँचेगा। इस दृष्टि से ऐसी भाषाओं का विकास एक इष्ट और स्वागतार्ह बात है। लेकिन उन भाषाओं से सामान्य राष्ट्रभाषा का वह कार्य नहीं होगा जो आज हिंदी से हो सकता है। इसलिये केवल भाषा-विकास ही नहीं, साथ ही साथ भाषा की आज की व्याप्ति, सुलभता, अपनाने में सुविधा, लोगों में उसकी लोकप्रियता इत्यादि राष्ट्रभाषा हिंदी के पक्ष में हैं। इसलिये उसके विकास और उसमें उत्तमोत्तम साहित्य के भी निर्माण की आज बड़ी आवश्यकता है।

राष्ट्रभाषा संबंधी जो विधायक कार्य हैं उनमें से सबसे मुख्य स्थान मैं श्रेष्ठ और उपयुक्त ग्रंथों के निर्माण को देता हूँ। आज जो हमें बार बार परदेशीय भाषाओं के प्रति अवलंबन भाव से देखना पड़ता है, उसका मुख्य कारण यह है कि उन भाषाओं में भाषा-भंडार जमा है। आखिर हमें भी वही करना होगा और केवल भारतीयों का नहीं, विश्व का भी चित्त आकर्षित करना होगा जैसा कि संस्कृत साहित्य ने किया है। अधिकार से लिखा हुआ सुंदर, सस्ता, बहुविध तथा बहुमुख और मौलिक साहित्य राष्ट्र की सबसे बड़ी पूँजी हो सकती है, ऐसा मैं मानता हूँ। जैसे मधुमक्खी फूल में भरे हुए मधु के पीछे पड़ती

है, उसी तरह ज्ञान से भरे हुए ग्रंथों की तरफ लोगों का दिल आकर्षित होता है। साथ साथ लिखनेवालों को यह भी ध्यान में रखना होगा कि कभी हिंदी को एक गंगा-प्रवाह का बड़ा और पावन स्रोत बनाना चाहिए कि जिसमें सब लोग आनंद से नहा सकते हैं और खुद को धन्य मान सकते हैं। हमारे भारत में नदियाँ तो बहुत हैं लेकिन गंगा तो एक ही है और एक ही हो सकती है। वही एक मार्ग है राष्ट्रभाषा को भी अत्यंत लोकप्रिय और ग्राह्य बनाने का। इस विषय में, खासकर हिंदी भाषाभाषी राज्य जो हैं उनपर, अधिक जिम्मेदारी है, ऐसा प्रतीत होता है। मैं हिंदी लेखक की हैसियत से कहीं बैठकर हिंदी लिखूँ तो भी मेरे सामने केवल हिंदी भाषा भाषी जनता नहीं आनी चाहिए, प्रत्युत अखिल भारतवर्ष की जनता मेरे सामने है इस भाव से मेरा लिखना आवश्यक है। हिंदी भारत के हृदय की बोली होनी चाहिए। इसी दिशा में आज बहुत कुछ काम करना है। इंगलैंड, फ्रांस, अमेरिका, रूस इन देशों का जो प्रचलित साहित्य-साहस हम देखते हैं और उसके साथ अपने प्रयत्नों की तुलना करते हैं तो हमें यह मानना पड़ता है कि हम अभी बहुत पीछे हैं। हमारा संस्कृत ज्ञान भंडार बहुत बड़ा है, हमारी परंपरा श्रेष्ठ है, हमारी संस्कृति उज्ज्वल है, लेकिन आज साहित्य के क्षेत्र में हमारा जो कार्य है वह बहुत पीछे पड़ा हुआ है। इसलिये एक नए जोश से, नई प्रेरणा लेकर, अखिल भारत का विशाल क्षेत्र अपने सामने रखकर हमें काम करना है।

भाषा का अधिक प्रसार और तुरंत छपाई इत्यादि कामों के लिये भी आधुनिक यंत्र-युग के अनुसार हमें बहुत यांत्रिक सुधार करना है। लघुलिपि, टाइपराइटर, लिनोटाइप, टेलीप्रिंटर, हिंदी समाचार प्रसारक मंडली और वैज्ञानिक परिभाषा इत्यादि इत्यादि की आज हमें जरूरत है। इन बातों में हमारी प्रगति बहुत ही अधूरी और नहीं जैसी है।

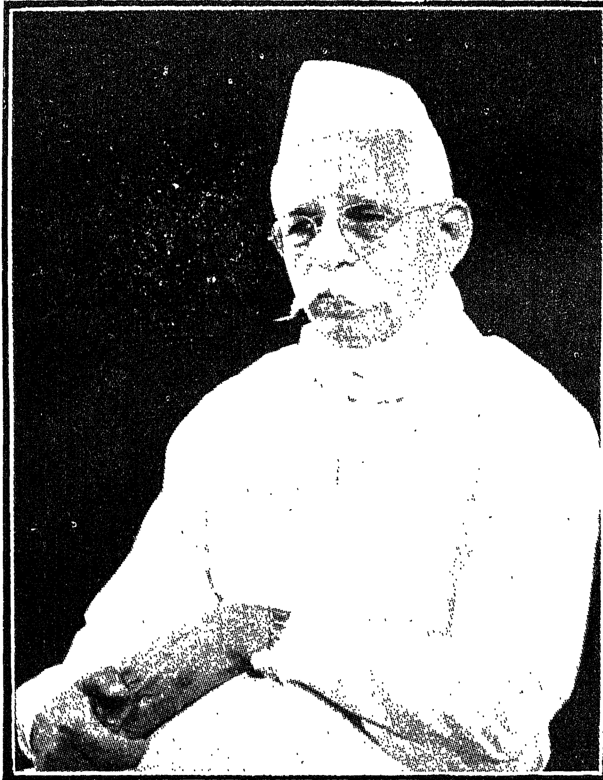
आज हमारी प्रचलित शिक्षा-प्रणाली के बारे में जहाँ तहाँ टीका-टिप्पणियाँ हो रही हैं। उसको बदलना आवश्यक है। हममें किसी को भी इस बारे में कुछ शक नहीं है। खासकर माध्यम के बारे में यह बात साफ है कि परदेशीय भाषा के माध्यम से सीखना स्वीकृत शिक्षा-विज्ञान के विरुद्ध और बहुत कष्टप्रद है, और यदि यही प्रणाली चालू रहेगी तो बहुत कम लोग, जैसा कि आज है, सच्ची ज्ञान-प्राप्ति में प्रगति कर सकेंगे। कुछ परदेशीय भाषाओं को पूर्णतया सीखना कुछ लोगों के लिये आवश्यक हो सकता है। दूसरे दूसरे देशों में और भाषाओं में कौन से विचार प्रकट हो रहे हैं, और खास करके विज्ञान में कितनी और कैसी प्रगति हुई है, यह समझ लेने के उद्देश्य से, और उनका लाभ हमारे देशवासियों को देने के वास्ते, इसकी जरूरत है। लेकिन बाल्यावस्था से लेकर बीस पचीस वर्ष तक किसी परदेशीय भाषा को सीखने के लिए लाखों रुपए खर्च करना राष्ट्र-शक्ति का दुरुपयोग ही है। इस दृष्टि से अगर हम देखें, तो हिंदी भाषाभाषी राज्यों में शिक्षा का माध्यम हिंदी होना चाहिए। दूसरे राज्यों में शिक्षा में हिंदी को खास स्थान होना चाहिए जिससे अहिंदी भाषाभाषी हिंदी को अच्छी तरह से समझ लें और अखिल भारतीय मंच पर आने का उन्हें जब मौका मिले तब हिंदी में

अपना विचार अच्छी तरह से रख सकें। इस विषय में पीछे रहना किसी अहिंदी भाषा-भाषी के लिये अनिष्ट बात है।

और एक बात मुझे कहनी है जो सबसे उपयुक्त और महत्व की है। केवल एक भाषा से एकता या राष्ट्रीयता स्थापित हो सकती है, इस बात पर मेरा विश्वास नहीं है। यदि अन्य कारणों से राष्ट्र एक है, और एक राष्ट्र की भावना स्थापित हो गई है, तो एक भाषा अवश्य सहायक हो सकती है। लेकिन केवल एक भाषा, एक धर्म, एक वंश, एकता का एकमात्र साधन नहीं हो सकता। क्या यादवों का कुल, वंश, धर्म, भाषा आदि एक नहीं थे। फिर भी उनमें जितना झगड़ा हुआ उतना किसी दूसरे लोगों में आपस में नहीं हुआ। क्या मध्यपूर्व के राज्यों का धर्म इसलाम एक नहीं है। लेकिन उनमें एकता कहाँ है। एक भाषा होने पर भी क्या अमेरिका इंग्लैंड के साथ नहीं झगड़ता रहा और उसने अपना संबंध नहीं तोड़ा। क्या यूरोप में एक ही धर्म क्रिश्चिऐनिटी प्रचलित नहीं है। लेकिन वहाँ एकता कहाँ है? यह सब कहने का मेरा उद्देश्य यह है कि सच्ची एकता स्थापित करने के लिये हमें एक भाषा आदि चीजों के परे जाना आवश्यक है। हमें यह प्रतीत होना चाहिए कि भारतवर्ष में रहनेवाले जो हम ३६ करोड़ लोग हैं उनका हित-संबंध एक है, सुख-दुख एक है, साध्य-साधन एक है, हमारा भविष्य एक है। इस अनुभूति के बिना हमें सच्ची एकता प्राप्त होना मुश्किल है। इसलिये जो कुछ साधन हमारे पास हैं, उन सब साधनों का उपयोग हमें आज इसलिये करना चाहिए जिससे निजी एकता सब भारतीयों को प्रतीत और अनुभूत हो। राष्ट्रभाषा को भी हम इसी दृष्टि से देखें और इसका उपयोग इसी उद्देश्य से करें, तभी हमारा मूल उद्देश्य सफल होगा, भारत फलेगा फूलेगा और वह अनुपम तरह से दुनिया की सेवा कर सकेगा।

॥ जय हिंद, जय भारत ॥

२३ फाल्गुन, २०१० वि०]



राष्ट्रभाषा-संमेलन के उद्घाटनकर्त्ता माननीय पं० रविशंकर जी शुक्ल, मुख्य मंत्री, मध्य प्रदेश

(परिशिष्ट, पृ० १९)

राष्ट्रभाषा संमेलन और गोष्ठी के उद्घाटन के अवसर पर मध्य प्रदेश के मुख्य मंत्री श्री पं० रविशंकर शुक्लजी का

भाषण

आदरणीय सभापति महोदय और सहयोगी बंधुओ,

नागरीप्रचारिणी सभा के हीरक जयंती उत्सवों में राष्ट्रभाषा संमेलन का एक विशेष स्थान है। सच में तो सभा का इतिहास ही राष्ट्रभाषा के गौरव का इतिहास है। इस अवसर पर संमेलन का उद्घाटन करने के लिये निमंत्रित कर आपने जो मेरा संमान किया है, उसके लिये मैं आभारी हूँ। मैं तो राष्ट्रभाषा का एक नम्र सेवक मात्र हूँ। राष्ट्रभाषा प्रेम के सिवा मेरा और कोई दावा नहीं।

इसके पहिले कि मैं कुछ कहूँ, हिंदी के प्रति नागरीप्रचारिणी सभा की अमूल्य सेवाओं के लिये अपनी श्रद्धांजलि अर्पित कर देना चाहूँगा। आजकी यह जयंती केवल नागरीप्रचारिणी सभा की नहीं, साहित्य की एकांत साधना की जयंती है। हिंदी के भावी भवन की नींव के पत्थरों में नागरीप्रचारिणी सभा का नाम अंकित होगा। और सेवाओं का उल्लेख न भी किया जाय तो उसके अपने केवल 'हिंदी शब्दसागर" से ही उसे हिंदी प्रेमियों के हृदय में सदा के लिये स्थान प्राप्त हो गया है। मेरी कामना है कि सभा निरंतर इसी तरह हिंदी की सेवा करती रहे और राष्ट्रभाषा का और देश का मस्तक उज्ज्वल करे।

हजारों वर्ष प्राचीन इस देश में भाषा की कहानी भी अत्यंत प्राचीन है। समय के धूमिल क्षितिज में हमें इसके ओर छोर का पता नहीं लगता। किंतु हमारे उत्कर्ष काल में संस्कृत ने देश भर में एकसूत्रता पिरोई थी। संस्कृत हमारी सांस्कृतिक और वैचारिक एकता का प्रतीक थी। फिर प्राकृत इत्यादि जन-भाषाओं का विकास हुआ। मुस्लिम काल में फारसी-अरबी ने यहाँ की देशी भाषाओं को प्रभावित किया पर वे जन-साधारण तक न पहुँच पाईं। फिर अंग्रेजी का युग आया। अंग्रेजों ने अपनी सुविधा के लिये अंग्रेजी का प्रचार शुरू किया, उसे आफिसों की भाषा बनाई, फिर शिक्षा का माध्यम बनाया, और शासन का सारा कारबार अंग्रेजी में होने लगा। यहाँ तक कि लगभग १५० वर्षों में अंग्रेजी ही अंतर्प्रांतीय और हमारे शिक्षित समाज के व्यवहार का माध्यम बन गई। अंग्रेजी ने शासकों को जनता से दूर तो रखा, किंतु उसने देश भर में एक नई एकता भी स्थापित कर दी थी। इस देश के अनेक भाषा-भाषी लोगों को उसने प्राचीन काल की संस्कृत की नाईं एक सूत्र में बाँध दिया और भारतीय राष्ट्रीयता की भावना से सारे देश को परिपूरित किया। अंग्रेजी राज्य गया। साथ अंग्रेजी भाषा भी जाती थी। किंतु देश भर की एकता बनाए रखने के लिये किसी एक माध्यम की आवश्यकता

थी। महात्मा गांधी ने यह बात बहुत पहिले समझी थी और इसीलिये स्वराज्य की लड़ाई के साथ साथ उन्होंने राष्ट्रभाषा को भी इतना महत्व दिया था। राजकीय छत्रछाया में जहाँ एक ओर अंग्रेजी का प्रभुत्व था, देश की करोड़ों जनता ने हिंदी को ही अपनी बोलचाल की भाषा मान राष्ट्रभाषा अंगीकृत कर लिया था। स्वराज्य के बाद जब देश की एक राजभाषा का प्रश्न सामने आया, तो दो तरह की विचार-धाराओं में संघर्ष चल रहा था। एक तो यह चाहती थी कि अंग्रेजी अधिक से अधिक दिनोंतक बनी रहे, दूसरी यह कि अंग्रेजी शीघ्र से शीघ्र बिदा हो जाय। अंत में संविधान सभा ने जनता की ही इच्छा का संमान किया और संघ की राजभाषा हिंदी और लिपि देवनागरी घोषित की। यह संकल्प हुआ, कि २६ जनवरी १९५० से १५ वर्ष की कालावधि में राजभाषा हिंदी की पूर्ण रूप से प्राण-प्रतिष्ठा हो जाय। इस बीच, पाँचवें और दसवें वर्ष में एक एक आयोग की रचना भी की जानेवाली है जो राजभाषा के रूप में हिंदी की प्रगति का माप करेगी। संविधान के अनुसार आगामी वर्ष प्रथम आयोग की घोषणा हो जायगी, तब हमें हिसाब देना होगा कि हिंदी अपनी यात्रा में कहाँ तक पहुँची है। इस राष्ट्रभाषा संमेलन का आयोजन कर जयंती के संयोजकों ने राष्ट्रभाषा प्रेमियों और हिंदी सेवियों को आत्म-निरीक्षण का एक सुयोग भी प्रदान किया है।

राष्ट्रभाषा के अनेक पहलू

हमें विचार करना है कि जिस दिन हिंदी के माथे तिलक हुआ, उस दिन क्या हमने अपने नए दायित्व को समझ लिया था? क्या हमने पूरी तरह सोच लिया था कि राजभाषा के अनेक पहलू क्या हैं? हिंदी के राजभाषा घोषित होने का वास्तविक अर्थ क्या है, राजभाषा घोषित होने और प्रतिष्ठित होने के बीच की दूरी कब और कैसे पूरी की जाय, इसमें कहाँ और कौन सी कठिनाइयाँ हैं, तथा उन्हें किस तरह दूर किया जाय? राजभाषा और प्रांतीय भाषाओं का पारस्परिक संबंध क्या हो, राजभाषा का स्वरूप क्या हो और इस संबंध में हमारे कर्तव्य क्या हैं? ये ऐसे महत्वपूर्ण प्रश्न हैं जिनका उत्तर हमें अब तक ढूँढ़ निकालना चाहिए था।

हिंदी के राजभाषा घोषित होने का वास्तविक अर्थ तो यही है कि निश्चित अवधि में हिंदी भारतीय संघ के समस्त सरकारी कारबार की तथा अहिंदी-भाषी प्रांतों में भी अखिल भारतीय संबंधवाले सरकारी कार्यों की भाषा हो जाय। प्रांत और केंद्र दोनों में, जहाँ तक भाषा का संबंध है, सरकारी व्यवहार जिनमें होता है वे हैं—संसदों की भाषा, न्यायालयों की भाषा, केंद्र और प्रांत के बीच की तथा अंतर्प्रांतीय व्यवहार की भाषा, केंद्रीय नौकरियों की परीक्षा की भाषा, सरकारी दफ्तरों की भाषा, अनुसंधान और गवेषणा की भाषा, तथा शाला, महाविद्यालय और विश्वविद्यालयों में शिक्षा-माध्यम की भाषा। इनमें प्रांत और केंद्र के अधिकार-क्षेत्र स्पष्ट रूप से निर्धारित करना होगा। भाषा का प्रश्न लाख-लाख जनता की भावना से संबंधित होता है, इसलिये यहाँ हर कदम सतर्कता से उठाना आवश्यक होता है। पर हिंदी और अन्य प्रांतीय भाषाओं या एक प्रांतीय भाषा और दूसरी के बीच किसी विरोध

की आवश्यकता ही नहीं। हर एक का अपना अपना निर्दिष्ट अलग क्षेत्र होगा। हिंदी केंद्र की भाषा होगी, किंतु प्रांतों में तो प्रांतीय भाषा या भाषाओं को ही एकछत्र अधिकार होगा—वहाँ के संसद, सरकारी दफ्तर, हाईकोर्ट के अतिरिक्त अन्य अदालतों और शिक्षा का माध्यम इन सबकी भाषा उस प्रांत की एक या अनेक भाषाएँ होंगी। कहीं कहीं अहिंदी भाषा-भाषी भाइयों के मन में यह संदेह हो गया है कि हिंदी प्रांतीय भाषाओं को पदच्युत कर देगी। यह संदेह निराधार है। भारत की सारी प्रांतीय भाषाओं का समान दर्जा है। हिंदी का जो स्थान है, वह केवल समान दर्जे-वालियों में पहली (Prime Inter Pares) के सिवा कुछ नहीं। आखिर, आज तक लगभग १५० वर्षों से, अंग्रेजी हम पर लदी रही, तो क्या उससे हमारी प्रांतीय भाषाएँ कुंठित हो रहीं? अंग्रेजी ने तो केवल हमारी भाषा, वरन् हमारी संस्कृति पर भी आघात किया और बुद्धि-भेद तक उत्पन्न करने में कोई कसर न उठा रखी। पर क्या इस दुर्दम आघात को हमारी भाषा और संस्कृति का उदधि-गभीर मानस पी न गया? क्या धुँआधार अंग्रेजी चकाचौंध तुलसी और कबीर, चंडीदास और चैतन्य, नरसिंह मेहता और तुकाराम के बोल धूमिल कर सकी? मैं यह कभी मानने को तैयार नहीं कि हमारी प्रांतीय भाषाओं को, जो ऐसे प्राणघाती विदेशी प्रहारों को सह सकीं अपनी ही सहोदरा हिंदी से किसी प्रकार का भय हो सकता है। अखिल भारतीय क्षेत्रों और संबंधों में अवश्य हिंदी को, उसपर जो दायित्व सौंपा गया है, उसका निर्वाह तो करना ही होगा, किंतु प्रांतीय भाषाओं से उनके क्षेत्रों में उसकी कोई स्पर्धा नहीं, कोई संघर्ष नहीं। तो फिर विद्वेष का प्रश्न उठता ही कहाँ है? जो हो, इतर भाषा-भाषियों के मन में बसे अकारण भय को हमें अपनी उदार भावना, संयत वाणी, और सहनशील वृत्ति के द्वारा निर्मूल करना होगा। हमें याद रखना होगा कि देश भर की सद्भावना और स्नेह पाकर ही राष्ट्रभाषा का पौधा किसी दिन लहलहा सकेगा।

किंतु साथ ही, राजभाषा और प्रांतीय भाषाओं के विभिन्न क्षेत्रों और उनके पारस्परिक संबंधों की एक स्पष्ट भूमिका भी सदा ध्यान में रखनी होगी। अंततः केंद्रीय संसद और सुप्रीम और हाईकोर्टों में राष्ट्रभाषा प्रस्थापित होगी ही—देश भर के कानून और न्याय की भाषा हिंदी होगी। केंद्र और प्रांत और प्रांत और प्रांत के व्यवहारों का वह माध्यम होगी। केंद्रीय दफ्तरों की वह भाषा होगी। केंद्रीय नौकरियों की परीक्षाओं की वह भाषा होगी और देश की बौद्धिक इकाई अक्षुण्ण बनी रहे, इसलिये उच्च शिक्षा और अनुसंधान का भी वह माध्यम हो जायगी। संघीय राजभाषा का तो यही गौरव और गुरुतर दायित्व होता है। पर क्या हिंदी इस दायित्व के लिये तैयार है? क्या समय आने पर देश के कारबार को बिना ठेस पहुँचाए वह अंग्रेजी का स्थान ले लेगी? शायद ये आशंकाएँ उठतीं ही नहीं, यदि अंग्रेजी का प्रभुत्व हमपर इस तरह न छाया होता। आखिर अंग्रेज और अंग्रेजी आने के पहिले देश का कारबार तो चलता ही था और तब हमारी अपनी भाषाओं के सिवा और कौन सी भाषा थी? अभी अभी विलीनीकरण के पहिले तक मध्य-भारत और राजस्थान की देशी रियासतों में हाईकोर्ट तक की भाषा हिंदी ही तो थी।

किंतु इसका यह अर्थ नहीं, कि हिंदी को किसी तरह की तैयारी की कोई आवश्यकता नहीं। आज के युग के विज्ञान, कानून, शासन, व्यवसाय और अन्य क्षेत्रों की नित नई आवश्यकताओं के लिये उसे भरपूर उतरना होगा। अखिल भारतीय स्तर का निर्वाह कर सकने के लिये उसे सुसज्जित होना होगा। अंग्रेजी का स्थान पूरी तरह लेने के लिये उसे अंग्रेजी की चुस्ती, गठन और गति भी पानी होगी।

परिवर्तन की कठिनाइयाँ

अंग्रेजी से राष्ट्रभाषा के परिवर्तन में अवश्य अनेक व्यावहारिक कठिनाइयाँ आएँगी। कोई सरल यात्रा नहीं। शताब्दियों से अंग्रेजी के पाश में हम ऐसे बँधे हैं कि हमें अपनी बेड़ियों से ही मोह हो गया है। इसीलिये, यहाँ वहाँ अनाहूत क्षेत्रों से, कभी कभी अंग्रेजी के विछोह की चीख भी सहसा सुन पड़ जाती है। अंग्रेजी से हमारा विद्वेष नहीं। उसके हम कई तरह से ऋणी रहेंगे। वह एक महान् भाषा है और अपने अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में हमें बहुत कुछ उसका सहारा लेना होगा। किंतु अपने प्रजातंत्र में उसका सारा कारोबार प्रजा की भाषा में न होकर, एक विदेशी भाषा में हो, इस विडंबना को तो हमें मिटाना ही होगा। जब तक यह स्थिति रहेगी, दुनिया के सामने हमपर एक तरह से लांछन बना रहेगा। हमारे प्रजातंत्र की नींव भी तब तक अधूरी ही रहेगी। हिंदी के राजभाषा घोषित होने के पश्चात् सच में तो, यह विवाद उठता ही नहीं। फिर भी जब तक अंग्रेजी के बंधन शिथिल नहीं होते, हर बार यह बात दुहरा देना श्रेयस्कर ही होगा। पैर पीछे लौटाने की कोई बात ही नहीं। अंग्रेजी से हिंदी के परिवर्तन-काल की व्यावहारिक कठिनाइयों का हमें सामना करना ही होगा—साहस से, सूझबूझ से और दृढ़तापूर्वक। यह एक दिन का या एकबारगी करने का काम नहीं। बड़ी तैयारी के बाद, कई चरणों में ही यह संपन्न हो सकेगा। पर तैयारी तो आज ही से करनी पड़ेगी। नहीं तो, अगले १० वर्षों में हिंदी अपना स्थान कैसे लेगी। मध्य प्रदेश में हमने यह प्रयोग शुरू कर दिया है। १ सितंबर १९५३ से, कुछ बातों को छोड़, समस्त सरकारी कारबार, सेक्रेटेरियट से लेकर गाँव-गाँव तक, वहाँ की प्रांतीय भाषाओं–हिंदी और मराठी–में होने लगा है। जनता और शासन के बीच अंग्रेजी अब भेद की दीवार बनकर खड़ी नहीं है। इस थोड़े ही काल में, हमें बहुमूल्य अनुभव प्राप्त हुए हैं। हमें यह भी जान पड़ा, कि गौरव का दायित्व कितना कठिन होता है। पर, इस प्रयोग के मनोवैज्ञानिक परिणामों ने हमारी आँखें खोल दीं और आज तक की झिझक भी सदा के लिये दूर कर दी। अब हमें इसमें कोई संदेह न रहा कि यह मार्ग देश के लिये कल्याण का ही मार्ग है। इस कार्य में किस तरह की अनेक व्यावहारिक कठिनाइयाँ सामने आईं और प्रत्येक का किस तरह सफलतापूर्वक हल ढूँढ़ा गया, इसका विवरण आप मध्य प्रदेश में भाषा संबंधी शासकीय कार्यों का लेखा देनेवाली वितरित की गई पुस्तिका में पाएँगे। इस संबंध में नीति यह थी कि जब इस शुभ कार्य का प्रारंभ करना ही था, तो इसमें देर क्यों? पानी में उतरे बिना तैरना सीखना संभव नहीं, इसीलिये तैरना सीखने की प्रतीक्षा नहीं की गई। कठिनाइयाँ तो जब भी प्रारंभ करते, वही

होतीं। अपने प्रयासों का हमें यथोचित पुरस्कार भी मिला है। यह आशंका, कि अंग्रेजी के बिना सारे कारबार में अव्यवस्था हो जायगी, निर्मूल कर दी गई है। मरीचिका की सी अंग्रेजी के पीछे की दौड़ समाप्त हो गई है और छोटे-छोटे कर्मचारी भी अब अपनी बात सहूलियत से और अधिक स्पष्टता से कह पाते हैं। क्या यह निरी व्यावहारिक दृष्टि से भी महत्वपूर्ण बात नहीं ?

मध्य प्रदेश का प्रयोग अवश्य प्रांतीय ही है। यह मार्ग-सूचक हो सकता है। इन अनुभवों से लाभ उठाया जा सकता है। पर राष्ट्रभाषा संबंधी उठे सारे प्रश्नों का वह समाधान नहीं। ऐसे उपक्रमों द्वारा विभिन्न प्रांत—कम से कम हिंदी भाषी प्रांत—केंद्र के हाथ मजबूत कर सकते हैं। किंतु यदि राष्ट्रभाषा को निश्चित अवधि में अपने मनोनीत स्थान पर अधिष्ठित करना है, तो केंद्रीय शासन को कदम उठाना ही होगा। और यह जितने शीघ्र हो, उतना ही अच्छा। हमारी अवधि के चार बहुमूल्य वर्ष तो बीच चुके। इस बीच हम कौन सा ठोस कार्य कर सके हैं ? हिंदी और अहिंदी-भाषी प्रांतों में तथा केंद्र में कौन से प्रयास हुए जिनसे राष्ट्रभाषा को अपनी निश्चित अवधि में लक्ष्य तक पहुँचने में गति मिली हो ? यह प्रश्न विचारणीय है। इसके लिये एक लंबी और बड़े पैमाने की तैयारी की आवश्यकता है। तैयारी अभी से प्रारंभ न कर दी गई, तो यह आशा, कि सन् १९६५ में सुप्रीम और हाईकोर्टों की भाषा, केंद्रीय दफ्तरों की भाषा, अंतर्प्रांतीय व्यवहारों की भाषा और उच्च अनुसंधान की भाषा हिंदी होगी—स्वप्न-मात्र रहेगी। प्रांतीय क्षेत्रों में भी यदि प्रांतीय भाषाएँ अपना स्थान क्रमशः नहीं लेने लग जातीं, तो अंग्रेजी से कभी मुक्ति मिल सकेगी इसमें संदेह ही है। मैं यहाँ हिंदी और अहिंदी-भाषी प्रांतों का ध्यान विशेष रूप से संविधान के अनुच्छेद ३४३ के खंड ३ की ओर आकर्षित कर देना चाहता हूँ। इसमें कहा गया है कि —

"इस अनुच्छेद में किसी बात के होते हुए भी संसद उक्त पंद्रह साल की कालावधि के पश्चात् विधि द्वारा—

(क) अंग्रेजी भाषा का अथवा

(ख) अंकों के देवनागरी रूप का।

ऐसे प्रयोजनों के लिये प्रयोग उपबंधित कर सकेगी जैसे कि ऐसी विधि में उल्लिखित हों।' यह खंड उन दो विचार-धाराओं का असल समझौता था जिनका उल्लेख मैंने अभी किया है। राष्ट्रभाषा के लिये यह खंड एक खतरे का सूचक है। इससे हिंदी-भाषी प्रांतों को ही सतर्क रहने की आवश्यकता नहीं, वरन् सारे देश को इस राष्ट्रीय खतरे का ध्यान रखना होगा। यह वह पीछे का दरवाजा है, जिसके द्वारा अंग्रेजी १५ वर्ष की कालावधि के बाद भी हमारे घर घुसी रह सकती है। इसके फेर से हम सबको बचना होगा, क्योंकि यदि राष्ट्रभाषा प्रस्थापित न हो सकी तो उससे केवल एक विदेशी ही भाषा को पुनः गति मिलेगी इसके सिवा कुछ नहीं। यह हमारे राष्ट्रीय स्वाभिमान को एक चुनौती होगी। आज जब भाषावार प्रांतों की रचना की आवाजें उठ रही हैं, यदि देश सबको एक सूत्र में बाँधनेवाली राष्ट्रभाषा के बिना ही रहा, तो हमारी राष्ट्रीय एकता संकट

में पड़ सकती है और यहाँ तक कि विदेशी राष्ट्र इसका लाभ उठाकर हमारी स्वतंत्रता को भी खतरे में डाल सकते हैं। हिंदी और अहिंदी-भाषी प्रांतों की जनता और लोकप्रिय सरकारों से मैं नम्रतापूर्वक अनुरोध करूँगा कि वे इस खतरे की ओर पूरा पूरा ध्यान दें और ऐसी तैयारी करें कि ५ वें और १० वें वर्ष में नियुक्त होनेवाले कमीशनों को यही सिफारिश करनी पड़े कि १५ वर्ष पश्चात् देश में अंग्रेजी की आवश्यकता नहीं।

संविधान के प्रारंभ से ५ तथा १० वर्ष की समाप्ति पर, एक एक आयोग की नियुक्ति होगी जिसका संघ के राजकीय प्रयोजनों के लिये हिंदी भाषा के उत्तरोत्तर प्रयोग के बारे में सिफारिश करने का भी कर्त्तव्य होगा। मेरी आशा है कि पहिला आयोग जो शीघ्र नियुक्त होगा केंद्र और राज्यों के लिये अगले १० वर्ष का एक निश्चित कार्यक्रम निर्धारित करेगा, कि जिससे १५ वर्ष की अवधि के भीतर हिंदी आप से आप अपना स्थान ग्रहण कर ले। यदि हम चाहते हैं कि हिंदी देश भर में विचार-विनिमय का माध्यम बन जाय, तो यह आवश्यक है कि उसकी अखिल भारतीय प्रतिष्ठा भी स्थापित की जाय। यदि केंद्रीय नौकरियों की परीक्षाओं में ३ या ४ वर्ष की अवधि देकर हिंदी का एक अनिवार्य परचा, चाहे वह थोड़े ही नम्बरों का क्यों न हो, रख दिया जाय, तो इसमें संदेह नहीं कि हिंदी का भारत भर में शीघ्र प्रचार होने लगेगा। जब तक ऐसे कदम न उठाए जायँगे, तब तक इसकी कोई संभावना नहीं कि राष्ट्रभाषा १५ वर्ष में अखिल भारतीय कारबार में, व्यवहार में आने लगेगी।

राष्ट्रभाषा के विकास का एक महत्त्वपूर्ण किंतु जटिल पहलू है टेकनिकल और पारिभाषिक शब्दावली। इसमें तो कोई दो मत नहीं कि बौद्धिक इकाई बनाए रखने के लिये देश भर में ऐसी एक ही शब्दावली का उपयोग होना चाहिए। अभी इस दिशा में भिन्न भिन्न प्रांतों में अलग अलग प्रयोग हो रहे हैं। समय आ गया है कि केंद्रीय सरकार यह कार्य स्वयं अपने हाथों में ले और एक अखिल भारतीय शब्दकोश का निर्माण करे जो सर्वमान्य हो। यह एक बड़े पैमाने का और अत्यंत महत्त्वपूर्ण कार्य है जिसका देश के भविष्य से गहरा संबंध है। अभी हाल ही में केंद्रीय सरकार ने एक इंडियन एकेडेमी ऑव लेटर्स की स्थापना की है जिसमें प्रांतीय सरकारों का तथा देश के प्रत्येक साहित्य का प्रतिनिधित्व है। यद्यपि हिंदी भाषा के उत्तरोत्तर प्रयोग का केंद्र पर विशेष उत्तरदायित्व है तथापि इस एकेडेमी के उद्देश्यों में इसके लिये कोई स्थान नहीं। राष्ट्रभाषा के बृहत् पारिभाषिक शब्दकोश का कार्य तो वास्तव में इसी एकेडेमी को सौंपना चाहिए। अभी तक केंद्रीय सरकार द्वारा नियुक्त की गई भाषाविदों और वैज्ञानिकों की एक छोटी सी समिति ने माध्यमिक शालाओं के लिये कुछ पारिभाषिक शब्दावली तैयार की है। इससे हमारी आवश्यकता पूरी नहीं होती। इस समिति ने स्वयं यह स्वीकार किया है कि यह बृहत् कार्य उसकी शक्ति और अधिकार के बाहर की बात है। फिर अब तक जो अनुवाद हुए हैं उनमें तो कहीं कहीं विधान के हिंदी अनुवाद में अधिकृत पर्यायों तक को बदल दिया गया है। जहाँ तक मैं समझता हूँ, इस प्रकार बदलना उस समिति की अनधिकार चेष्टा है। अब जान पड़ा है कि पारिभाषिक शब्दावली का यह कार्य केंद्रीय सरकार किसी गैर सरकारी संस्था को सौंपने जा रही है। उचित तो यही था कि नवनिमर्ति

एकेडमी के साथ उनका अनुसंधान-विभाग स्थापित कर उन्हें ही यह काम सौंपा जाता। एकेडेमी के रहते किसी गैर सरकारी संस्था का यह कार्य नहीं। और यदि गैर-सरकारी संस्थाओं के ही ऊपर यह भार सौंपा जानेवाला है, तो उसी प्रकार की एक समिति निर्मित होनी चाहिए जैसी कि संविधान के अनुवाद के लिये बनाई गई थी। यदि यह संभव न हो, तो नागरीप्रचारिणी सभा जैसी संस्था जिसने "शब्दसागर" सा बृहत् कोश संकलित किया उसे ही यह कार्य सौंपा जा सकता है।

फिर इस शब्दावली की किस सिद्धांत पर रचना हो, यह भी एक उलझा हुआ प्रश्न है। इसका संबंध तो राष्ट्रभाषा के भावी स्वरूप के प्रश्न से गुँथा हुआ है। संविधान में स्पष्ट कहा गया है कि हिंदी के शब्द-भंडार के लिये मुख्यतः संस्कृत से, तथा गौणतः विधान द्वारा मान्य भाषाओं से शब्द ग्रहण करते हुए उसकी समृद्धि सुनिश्चित करना संघ का कर्त्तव्य होगा।

सच में तो संस्कृत ही भारत की प्रमुख भाषाओं का आदि-स्रोत रही। उसी के अक्षय भंडार से प्रांतीय भाषाओं का पोषण हुआ है। संस्कृत के लगभग ४०–५० सहस्र शब्द भारत की लगभग सभी भाषाओं के साहित्य में उत्तर से दक्षिण और पूर्व से पश्चिम तक प्रचलित हैं। इसलिये संस्कृत-प्रधान शब्दावली ही सर्वमान्य हो सकती है। हमारा यह आशय नहीं कि प्रचलित शब्दों का उन्मूलन किया जाय। भाषा यदि जीवित रहना चाहे, तो यह संभव नहीं। यहाँ तो हमें एक उदार नीति अपनाना होगी और जहाँ से हमारा भंडार समृद्ध हो सके उसका स्वागत करना चाहिए। किंतु निश्चितता के लिये जहाँ अधिकृत पारिभाषिक शब्दों की आवश्यकता हो और प्रचलित उपयुक्त शब्द न हों, वहाँ संविधान के निर्देशानुसार मुख्यतः संस्कृत का ही सहारा लेना होगा।

राष्ट्रभाषा के विकास और अंतर्भाषीय सद्भावना की वृद्धि में अनुवादों का एक महत्त्वपूर्ण हिस्सा होता है। मेरी आशा है कि केंद्रीय एकेडेमी ऑव लेटर्स अन्य भारतीय और विदेशीय भाषाओं के हर विषय के मान्यताप्राप्त ग्रंथों का हिंदी में अनुवाद-कार्य हाथ में ले लेगा। राष्ट्रभाषा को समृद्ध और अपने नए दायित्व के अनुरूप बनाने का यही सबसे ठोस उपाय हो सकता है। हिंदी के प्रमुख ग्रंथों का भी अन्य भारतीय भाषाओं में अनुवाद किया जाय।

इसी तरह, विभिन्न भाषाओं के लिये एक देवनागरी लिपि का प्रचार कर हम एक दूसरे के संनिकट आ सकते हैं। मुझे यह जानकर हर्ष है कि एकेडेमी ऑव लेटर्स अन्य भाषाओं के ग्रंथ देवनागरी में प्रकाशित कर इस दिशा में प्रयत्नशील होगा।

एक और महत्त्वपूर्ण पहलू है जिसे हम भुला नहीं सकते। अंग्रेजी की विदा के साथ ही रोमन लिपि भी विदा हो चलेगी और देवनागरी को उसका स्थान लेना होगा। यह सच है, कि देवनागरी ध्वनिशास्त्र की दृष्टि से एक अत्यंत वैज्ञानिक लिपि है। फिर भी, नागरी आज के युग की गति, सुगमता और यांत्रिक आवश्यकताओं के अनुरूप रोमन की तरह ही पूरी उतरे यह हमें सुनिश्चित करना होगा। उत्तर प्रदेश सरकार ने पिछले नवंबर में लखनऊ में लिपि सुधार संमेलन का आयोजन कर एक प्रशंसनीय कार्य किया। लखनऊ

संमेलन के निश्चयों के फलस्वरूप नागरी लिपि को इस दिशा में गति मिलेगी और आशा है कि शीघ्र ही नागरी भी रोमन की तरह टाइपराइटर, मोनोटाइप, लिनोटाइप, तार, टेलीप्रिंटर इत्यादि के लिये उपयुक्त सिद्ध होगी। इन निश्चयों में एक ही बात, जो हिंदी प्रेमियों के गले नहीं उतर पाई, वह है ह्रस्व 'इ' के स्वरूप के संबंध में निर्णय। यह अत्यंत छोटा सा प्रश्न है। तथापि लोगों की भावना से संबंधित है। व्यावहारिक दृष्टि से भी उसमें कोई बहुत लाभ नहीं। एक दोष को दूर करने के लिये वह एक दूसरे दोष की स्थापना करता है। मुझे आशा है कि इस एक ही प्रश्न पर अभी भी पुनर्विचार हो सकेगा।

राष्ट्रभाषा के लगभग सभी पहलू मैंने आपके समक्ष रख दिए। सच में तो लंबे भाषणों का यह समय नहीं। राष्ट्रभाषा का प्रचार-युग समाप्त हो गया—आज उसका निर्माण-युग है। हमारे सामने केवल १० वर्ष की अवधि शेष है। यह एक चुनौती है और अवसर भी। प्रांतीय और केंद्रीय सरकार तो अपना दायित्व पूरा करेंगी। उनमें कहीं कभी भी रह सकती है। राष्ट्रभाषा प्रेमी जनता का कर्तव्य है कि वह जागरूक रहे और अपनी सरकार से उसके हिस्से का कार्य पूरा करा ले। किंतु भाषा सरकारी दफ्तरों में नहीं बनती। सरकार तो सिर्फ सहायक हो सकती है, कठिनाइयाँ दूर कर सकती है। यह तो सरस्वती के वरद पुत्रों, कवि, लेखक, गायक, कलाकार और विचारकों का क्षेत्र है। सन् १६४९ में, हैदराबाद में हुए अखिल भारतीय हिंदी साहित्य संमेलन के सैंतीसवें अधिवेशन का उद्घाटन करते हुए मैंने कहा था—"समय आ गया है, कि हिंदी-माँ के सारे लाल जुट जाँय और अपने आराध्य को राष्ट्र मंदिर की प्रतिमा के योग्य बना दें...इन १५ वर्षों में उसके सारे अभावों की पूर्ति कर दें...माँ-भारती का भंडार इस तरह लबालब भर दें कि वह सर्वोच्च शिक्षा, अनुसंधान, ज्ञान-विज्ञान, कानून, इत्यादि संपूर्ण राष्ट्रीय और सामाजिक जीवन की विविध और जटिलतम आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके...हिंदी हितों की रक्षा के लिये सच्चा आंदोलन आज यही हो सकता है। और हिंदी के लिये—तुलसी और सूर, कबीर और नानक, दयानंद और गांधी की हिंदी के लिये—यह कार्य दुस्तर नहीं।" मेरा यह आह्वान केवल हिंदी-भाषियों के लिये नहीं, समस्त भारतीयों के लिये है, क्योंकि अब हिंदी ही माँ-भारती हो गई है। वह सबकी आराध्य है—सबकी संपत्ति है। इन शब्दों के साथ मैं इस संमेलन का सहर्ष उद्घाटन करता हूँ।

जय हिंदी ! जय हिंद !!

२३ फाल्गुन, २०१० वि०]

कविगोष्ठी के स्वागताध्यक्ष

श्री श्रीनारायण चतुर्वेदी जी का भाषण

महिलाओ और सज्जनो,

सभा की हीरक जयंती के ऐतिहासिक अवसर पर आयोजित इस कविगोष्ठी में मैं आपका सादर और सप्रेम स्वागत तथा अभिनंदन करता हूँ। यह सभा हिंदी भाषा और नागरी प्रचार के साठ वर्षों के निःस्वार्थ, सतत और श्रद्धापूर्ण प्रयत्नों की प्रतीक है। अतएव इसकी हीरक जयंती में पधारकर अपने हिंदी की पुरानी संस्था के प्रति जो अपनी सद्भावना व्यक्त की है, उसके लिये मैं हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापन करता हूँ।

अनादि काल से भावों की अभिव्यक्ति के लिये काव्य सर्वोत्तम साधन माना गया है। सभी देशों के प्राचीनतम साहित्य में गद्य की अपेक्षा पद्य को ही प्रधानता दी गई है। शायद कल्पना और सरस भावों के प्रकाशन के लिये रात दिन उपयोग में आनेवाला गद्य उपयुक्त नहीं समझा गया। असाधारण बात कहने के लिये साधारण भाषा को छोड़कर पद्य का ही सहारा लिया जाता रहा। चाहे वेद हो, चाहे जेंदावस्ता और चाहे कुरान, सभी को पद्य का सहारा लेना पड़ा। मनुष्य में जो उल्लास की क्षमता है वह पद्य में ही प्रकट होती है क्योंकि उसमें संगीत का पुट होता है। संसार के प्राचीन साहित्य में शायद ग्रीक साहित्य ही ऐसा है जिसमें गद्य का भी प्रचुर मात्रा में प्रयोग किया गया, किंतु वह अपवाद है और उसके कारणों का विश्लेषण करने की यहाँ आवश्यकता भी नहीं है। जापान में नव वर्ष के दिन सम्राट् से लेकर छोटे से छोटा सामंत भी पद्य रचना करके नव वर्ष के दरबार में सुनाता है। जिस देश में गुलाब और शीराजी की प्रचुरता हो, उस ईरान में काव्य की प्रधानता कैसे कम हो सकती है। किंतु हमारे भारतवर्ष में पद्य ने जो पद प्राप्त किया वह असाधारण है। ज्योतिष, आयुर्वेद, गणित और कोश ऐसे शुष्क और नीरस विषय भी पद्य में लिखे गए। ऐसा अनुमान होता है कि यहाँ की वायु में आक्सीजन और हाइड्रोजन के अतिरिक्त कविता का भी कोई तत्त्व मिला हुआ है जिसके कारण यहाँ के लोगों में काव्य के प्रति इतना असाधारण अनुराग और काव्य करने की इतनी अधिक शक्ति है। आज भी हिंदी में गद्य लेखकों की अपेक्षा कवियों की ही संख्या अधिक है। हिंदी में पिछले पचास वर्षों में जितनी पुस्तकें प्रकाशित हुईं उनमें कविता का ही बाहुल्य है। जो गद्य लेखक हैं उनमें अधिकांश ने कुछ न कुछ काव्य रचना भी की है। मुझे यह जानकर अत्यंत आश्चर्य हुआ कि माननीय श्री संपूर्णानंद जी सरीखे गंभीर और शुष्क व्यक्ति पर भी यहाँ की जलवायु का ऐसा प्रतिकूल प्रभाव पड़ा कि किन्हीं निर्बल क्षणों में उन्होंने भी कविता लिख डाली थी। आदरणीय भाई बनारसीदास जी को देखकर कभी भ्रम भी नहीं हो सकता कि उनसे और कविता से किसी भी प्रकार का उचित संबंध होगा। किंतु आप यह जानकर आश्चर्य न करें कि वे भी

इस प्रलोभन में पड़ गए। जलवायु के इस कुप्रभाव का वर्णन कहाँ तक करूँ। राजर्षि पुरुषोत्तमदास जी टंडन सरीखे संत व्यक्ति को भी उसने नहीं छोड़ा। मुझे आश्चर्य न होगा यदि हमारे मित्र सूफी संत चंद्रबली पांडेय जी के बारे में कोई यह शोध कर डाले कि उन्हें भी कविता ने परास्त कर दिया है।

प्रायः तीस चालीस वर्ष पहिले उत्तर प्रदेश में भी हिंदी प्रचार की आवश्यकता थी, और यहाँ के हिंदी भाषियों को यह बतलाना पड़ता था कि जिस भाषा को वे बोलते हैं वह हिंदी है, और उसके प्रति उनका कुछ कर्तव्य भी है। इस देश के लोगों के इस नैसर्गिक काव्य प्रेम को देखकर उन्हें हिंदी से परिचित कराने, तथा उसकी शक्ति का उन्हें आभास कराने और हिंदी के प्रति अनुराग उत्पन्न कराने के लिये तत्कालीन हिंदी सेवकों ने कवि संमेलनों का उपयोग करने का विचार किया। मैं भी उन लोगों में था। प्रायः १५, २० वर्ष गोरखपुर से दिल्ली तथा देहरादून से बाँदा तक मैंने कितने कवि संमेलनों में भाग लिया इसका लेखा जोखा देना कठिन है। किंतु उनकी लोकप्रियता तथा सफलता में जो उन्नति हुई तथा उनके द्वारा जो हिंदी का प्रचार हुआ उसका मैं साक्षी हूँ। उन जिलों में जहाँ लोग हिंदी से अपरिचित थे कवि ने अपनी रसप्लाविनी कविताओं, मधुर वाणी और कंठ के द्वारा हिंदी के प्रति अनुराग उत्पन्न किया। छोटे और सुदूर जिलों और स्थान में, जहाँ के अकिंचन इने गिने हिंदी प्रेमी उनका आयोजन करते थे, सौ दो सौ व्यक्ति कुतूहलवश हिंदी शायरी सुनने के लिये एकत्र हो जाते थे। तीसरे दर्जे का टिकट मिल जाने तथा साधारण आतिथ्य सत्कार से ही कविगण संतुष्ट हो जाते थे। किराया बहुधा मिलता भी न था। किंतु हिंदी प्रेम के कारण उन दिनों कविगण उसकी अधिक चिंता भी न करते थे। श्रोतागणों की अल्पसंख्या से वे हतोत्साह नहीं होते थे। हिंदी प्रचार में सहायता करने का संतोष ही उनका पर्याप्त पारिश्रमिक था। उनमें मिशनरी लोगों के समान उत्साह, लगन, स्वार्थ-त्याग, मानापमान की ओर से उदासीनता आदि गुण थे। मैं उस अवसर पर आरंभिक कवि संमेलनों को सफल और लोकप्रिय बनानेवाले असंख्य और ज्ञात तथा अज्ञात कवियों को अपनी श्रद्धांजलि अर्पण करता हूँ।

उन्होंने अपना कार्य इतनी सफलता से किया कि कवि संमेलन अत्यंत लोकप्रिय हो गए। उनकी लोकप्रियता देखकर प्रचार के लिये अन्य वर्ग भी उनका उपयोग करने लगे। स्वस्थ और शिष्ट मनोरंजन के वे साधन समझे जाने लगे। परिणाम यह हुआ कि अब राजनैतिक संमेलनों, अल्प बचत सरीखी योजनाओं और धार्मिक, सामाजिक तथा साहित्यिक समारोहों, प्रदर्शनियों आदि के साथ कवि संमेलनों का आयोजन एक आवश्यक कार्य हो गया है। जब से महफिलों का फैशन हटा, तब से विवाह आदि अवसरों पर भी कहीं कहीं कवि संमेलन होते देखे गए हैं। आज पढ़े लिखे लोगों, विशेषकर छात्रों को आकर्षित करने के लिये ये सर्वोत्तम साधन हैं। किसी ने कहा कि अतिसर्वत्र वर्जयेत्। कवि संमेलनों की भी इस प्रांत में अति हो गई है और इस कारण उसमें दोष भी आ गए हैं। सभी जगह काशी के समान साहित्य प्रेमी तथा परिष्कृत रुचि की जनता नहीं मिलती। अतएव बहुधा कवि संमेलनों में कवियों को बरबस ऐसी कविता सुनानी पड़ती है जो स्थानीय जनता के

अनुरूप हो। ऐसी कविता साहित्यक दृष्टि से सदैव उच्च कोटि की नहीं होती। अतएव अब बहुधा कवि संमेलनों में उच्च साहित्यिक रुचिवालों को विशेष आनंद नहीं आता।

उच्च साहित्यिक स्तर की कविताएँ कवि तभी पढ़ता है जब उसे विश्वास हो कि श्रोता उसे समझ रहे और उनकी कद्र कर रहे हैं। इसी कारण छोटी छोटी गोष्ठियों में जहाँ चुने हुए श्रोता रहते हैं, उच्च स्तर की कविताएँ सुनने को मिलती हैं। मुझे हर्ष है कि इस समारोह के आयोजकों ने इसे गोष्ठी का नाम दिया है। आशा है कि आज आप लोगों को गोष्ठी के अनुरूप ही उच्च स्तर की कविताएँ सुनने को मिलेंगी।

यह स्पष्ट है कि कवि संमेलन हिंदी प्रचार के बहुत उपयोगी साधन हैं। आज जब अहिंदी प्रांतों में हिंदी का प्रचार करने, और वहाँ के बुद्धिवादी वर्ग में हिंदी के प्रति सहानुभूति उत्पन्न करने की आवश्यकता है, यह उचित होगा कि हमारे दस पाँच चुने हुए कवियों की सहायता से अहिंदी प्रांतों में ऐसी गोष्ठियों या संमेलनों का योजनाबद्ध आयोजन किया गया। अब हिंदी प्रांतों में प्रचार के लिये कवि संमेलनों की आवश्यकता नहीं है। अब यहाँ के कविता प्रेमी अपने मनोरंजन के लिये टिकट लेकर हिंदी कविता सुन सकते हैं।

२३ फाल्गुन, २०१० वि०]

एशियाई भाषा-संमेलन के सभापति

श्री डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या का भाषण

एशिया की भाषाएँ

[डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, एम० ए०, डी० लिट्०, ई० ए० एस; भाषाचार्य; साहित्यवाचस्पति; कलकत्ता विश्वविद्यालय के तुलनात्मक भाषा विज्ञान के अवैतनिक प्रोफेसर तथा ललित कला और संगीत विभाग के डीन; एशियाटिक सोसायटी, कलकत्ता के अध्यक्ष; पश्चिमी बंगाल विधान परिषद् के अध्यक्ष तथा काशी नागरीप्रचारिणी सभा के वाचस्पत्य सदस्य।]

एशिया मानवता का पालना रहा है; सभ्यताओं की जन्मभूमि तथा धर्मों का उद्गम भी यहीं रहा है। मानवता के प्रमुख नमूने, विशेषतया उस मानवता के जो अति प्राचीन काल में सभ्यता के क्षेत्र में पुरोगामी हुए, एशिया की भूमि पर विकसित हुए। विश्व के सभी महान् धर्मों का जन्म एशिया में हुआ। यूरोप भौगोलिक दृष्टि से ही नहीं, अपितु सांस्कृतिक और धार्मिक दृष्टि से भी एशिया का प्रक्षेप ही है। एशिया के विस्तृत भूखंड में विश्व की सबसे बड़ी जन-संख्या निवास करती है। मानवता के इतिहास में एशिया के राष्ट्रों की सहस्राब्दियों तक प्रबलता के अनंतर—सो भी बहुत बाद में—यूरोप की प्रधानता होती है, तथा यूनान के स्वर्णयुग तथा साम्राजी रोम के २५०० से १५०० वर्ष के अनंतर यूरोप निद्रा की गोद में चला जाता है, और तब ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में पश्चिमी एशिया के युवक राष्ट्र उसका लालन पालन करते हैं। किंतु यूरोप में 'पुनर्जागरण' होता है और संप्रति ऐसा प्रतीत होता है कि पिछले ५०० वर्षों में यूरोप प्रगति के क्षेत्र में एशिया से बाजी मार ले गया है। किंतु फिर भी एशिया की आत्मा पूर्णतया लुप्त नहीं हो गई है। विश्व के क्रिया - कलापों में उसकी विशाल संभावनाएँ पुनः स्पष्ट होने लग गई हैं।

मानवता एक है; रंग और आकृति में विभिन्नताओं के होते हुए भी मानव एक है। यह तथ्य शरीर-विज्ञान से भी सिद्ध हो चुका है। मानव की इस स्थूल एकता के अतिरिक्त मानव-इतिहास में यह बात विदित है कि बुद्धि और आत्मा से भी मनुष्य एक ही है। सुस्पष्ट विभिन्नताओं के परे भी इस एकता का दर्शन हम कर लेते हैं और कभी कभी तो ये विभिन्नताएँ अलंघ्य होती हैं। उदाहरणार्थ एक ठेठ हबशी तथा एक ठेठ नार्डिक-काकेसायड या एक हबशी और मंगोल, या एक ठेठ नार्डिक-काकेसायड और मंगोल की शारीरिक आकृति में कितना अंतर है? किंतु सत्य यह है कि ये परस्पर संतानोत्पत्ति कर सकते हैं और भाषा और विचार-सरणि में विभेदों के होते हुए भी ये समान प्रवृत्तियों से गतिमान होते हैं एवं बुद्धि और भावना जगत् में इनका समान प्रत्याघात कराया जा सकता है।

भारत के विभिन्न खंडों में निवास करनेवाली विभिन्न जातियों की आकृति में जितना विभेद है उतना यूरोप की विभिन्न जातियों में नहीं। यूरोप में आधुनिक काल में काकेशियों की विभिन्न जातियाँ रहती हैं जिनमें भाषा-भेद भी है किंतु न्यूनाधिक मात्रा में वे एक ही परिवार की हैं। ये सभी श्वेत हैं। 'श्वेतांग' यूरोप की नार्डिक, अल्पाइन दिनारिक, और भूमध्यसागरीय जातियों के लिये एक ही शब्द है। इन जातियों की शारीरिक आकृति में कतिपय विभेद होते हुए भी इनमें कतिपय सुस्पष्ट ऐक्य हैं। इसके अतिरिक्त रोम की संघटन क्षमता, यूनान के विचार, मानसिक सुस्पष्टता तथा सौंदर्यानुभूति, इन सबसे मिलकर जो खमीर बना है उसे 'यूरोपवाद' कहा जा सकता है। इसने यूरोप की विभिन्न जातियों के मन और आत्मा में प्रवेश कर यूरोपीय संसार में कतिपय समता ला दी है। यद्यपि यूरोप की कतिपय जातियाँ काकेशीन नहीं हैं, उनमें कुछ मंगोल भी हैं, किंतु अब यूरोपीय संसार में उन्हें भी स्थान मिल गया है। यूरोपवाद के इस संमिलित उत्तराधिकार से यूरोप की जातियों में एक आबद्धता वा समता प्रतीत होती है जिसके विपरीत एशिया की जनता में एक अंतर है, एक संश्लिष्टता का अभाव है। एशिया में चार सुस्पष्ट सांस्कृतिक और जाति-परिवार हैं जिनमें प्रत्येक की एक अपनी न्यूनाधिक विशेष प्रकार की जनता है। कोई आवश्यक नहीं है कि सर्वत्र उनकी उत्पत्ति किसी एक ही मूल नस्ल से हुई हो, किंतु सहस्राब्दियों से वे एक ही क्षेत्र में निरंतर प्रजनन कर रहे हैं जिसके फलस्वरूप उनका आधुनिक रूप निखरा है। इस प्रकार मुख्यतया मंगोल जाति के क्षेत्र हैं, हिंदेशियनों के क्षेत्र हैं, भारत - पाकिस्तान - लंका का विशेष क्षेत्र है और अंत में पश्चिमी एशिया का क्षेत्र है जो निश्चय ही अरब नस्ल और संस्कृति का क्षेत्र है। इनके मध्य में और भी बहुत से लघु क्षेत्र हैं जिनके अपने विशेष गुण हैं। वे अपने पड़ोस के क्षेत्रों के बीच एक प्रकार से कड़ी का कार्य करते हैं, जैसे हिंदचीनी जातियों का दक्षिणी-पूर्वी मंडल है जो मंगोल और आग्नेय जातियों का संमिश्रण है। इसी प्रकार ईरान को लीजिए—इसमें अफगानिस्तान भी संमिलित है—जहाँ भारोपीय बोली बोलनेवाली जातियाँ रहती हैं, जो अरब संस्कृति के आधिपत्य में भी आ चुकी हैं: यद्यपि इनमें कुछ अब उससे मुक्त होने का प्रयत्न कर रही हैं। तातार संसार को ही लें; पिछले १००० वर्षों में खानाबदोश मंगोलों ने इस्लाम के तत्वावधान में अपनी एक अलग संस्कृति और विचार-पद्धति विकसित कर ली है। और फिर संपूर्ण साइबेरिया ही है जहाँ भारोपीय भाषी रूसी स्लावों और विभिन्न आदिवासी मंगोलों का ऐसा संमिश्रण हो गया है जिसे हम रूस के स्लाविस्तान का विस्तार कह सकते हैं।

एशिया के इस विशाल क्षेत्र में, जहाँ कम से कम आधे दर्जन प्रकार के मनुष्य रहते हैं, 'यूरोपवाद' की भाँति किसी 'एशियावाद' का दर्शन न तो सुलभ प्रतीत होता है और न इसके उद्भव की ही संभावना है। चीन देश का वह निवासी जिसकी नस्ल खालिस मंगोल है, और जो अपनी व्यावहारिक बुद्धि, प्रकृति और कला-प्रेम के लिये प्रसिद्ध है, उस भारतीय हिंदू से बहुत भिन्न है जिसमें आर्य, द्रविड़ और आग्नेय नस्लों का संमिश्रण है और जो सर्वप्रथम अपनी बुद्धि और भावना से प्रेरित होता है तथा जिसका समन्वय वह अपने दर्शन और

जीवन के प्रति दृष्टिकोण से करता है और जो जीवन की गंभीरताओं में अपने ही ढंग से सौंदर्यशील है।

ईरान और भारत की सभ्यताओं में इस्लाम ने एक तेज खमीर का कार्य किया है। यद्यपि इस धर्म का जन्म अरबों में ही हुआ पर इसने अपनी छाप से अरबों के चरित्र में प्रचुर सुधार कर दिया है। जहाँ इसका प्रभाव गहरा है वहाँ ईरानियों, भारतीयों और तातारों के मस्तिष्क में अपने विश्वासों के प्रति कट्टरता तथा धार्मिक और सांस्कृतिक एकता की दिशा में इसने प्रायः परिवर्त्तन कर दिया है। प्रश्न यह है कि इस खमीर ने अरबेतर संसार की जातियों की प्रकृति में किस सीमा तक परिवर्तन किया है, क्योंकि प्रतिघातों के दर्शन तो प्रायः प्राचीन काल से ही होते हैं और यद्यपि पाकिस्तान के नेता तो इस खमीर में नस्ल की संपूर्ण प्रकृति को ही परिवर्त्तित कर देने की उच्चतम क्षमता की घोषणा करते हैं, पर प्रतिघातों के दर्शन और प्रचुर मात्रा में ईरान तथा अन्य देशों में हो रहे हैं।

येल विश्वविद्यालय के डॉ० फिल्मर नार्थ्रोप ने संपूर्ण मानव जाति को दो स्थूल भागों में विभाजित किया है। प्रथम भाग भारत और चीन के दार्शनिक आदर्शों में विश्वास करता है जो परम सत्य को मानवीय शब्दों में अव्यक्तव्य और काल, देश और व्यक्ति से आवृत नैतिक आदर्शों और भावनाओं से परे मानता है। दूसरा भाग वह है जो यहूदी धर्म, ईसाई धर्म और इस्लाम का मतानुयायी है जो एक व्यक्तिगत देवता को, जो सुनिर्धारित और सुस्पष्ट होता है, परम सत्य मानते हैं। नैतिकता के प्रति इसका दृष्टिकोण भी सुस्पष्ट होता है। उनका देवता ऐसा होता है जिसके समाज और नैतिकता के स्वरूप के संबंध में अपने विचार होते हैं, जिसका प्रचार इन मतों के अनुयायियों में होता है। इनमें दूसरे समूहवाले कट्टर और दृढ़ होते हैं। धार्मिक सत्यता के संबंध में उन्हें संदेह नहीं रहता तथा वे उत्साह और एकाग्रतापूर्वक कार्य करते हैं। इसके विपरीत प्रथम समूहवालों में इनके विश्वासों के अनुरूप उस शक्ति और लक्ष्य के प्रति एकाग्रता का अभाव रहता है जो विश्व में किसी जाति के निजत्व की स्थापना करती है। संपूर्ण मानव जाति का इस प्रकार स्थूल विभाजन और स्वभाव-कथन मतभेदपूर्ण है पर मनोरंजक बात यह है कि डा० नार्थ्रोप चीन देश की विचार - पद्धति को—कनफूसियसवाद भी उसी का प्रतिफल है—भारतीय विचार-पद्धति के समान समझते हैं; और दोनों को अल्प-कल्पनाशील और अल्प-अंतरावलोकी किंतु अधिक व्यवहार-कुशल सेमेटिक विचार-पद्धति से भिन्न मानते हैं जैसा तीनों सेमेटिक धर्मों से स्पष्ट है। सच तो यह है कि भारत और चीन एक ही सभ्यता के दो किरण-केंद्र हैं। यह सभ्यता न्यूनाधिक मात्रा में संपूर्ण एशिया की सभ्यता है। यह बात तो प्रोफेसर नार्थ्रोप भी स्वीकार करते हैं कि संसार और परम सत्य के संबंध में इनका दृष्टिकोण समान है। यद्यपि इस परम सत्य के संबंध में यहूदी, ईसाई और मुसलमान धर्मों में कट्टरता है पर इस संबंध में कोई अंतिम राय नहीं दी जा सकती क्योंकि ईसाई रहस्यवाद, या सूफीवाद वा मुसलिम-रहस्यवाद, में भी बहुधा भारतीय रहस्यवाद वेदांत या चीनी रहस्यवाद (विशेषतया उच्च ताओवाद) की प्रतिध्वनि मिलती है।

आधुनिक युग में एशिया का सबसे बड़ा विचारक जापान का ओकाकुरा ककुजा था। इसे भारत के चोटी के कलाकारों और विचारकों के संपर्क में आने का अवसर प्राप्त हुआ था। 'आइडियाज आव दि ईस्ट' (१८९५) में उसके विचारों का संकलन है। यह पुस्तक एशिया की एक सभ्यता और एक दर्शन का घोषणापत्र है। लेखक ने इस पुस्तक में इसका इतिहास दिया है और इस स्थापना का प्रतिपादन किया है। ओकाकुरा कलकत्ते में 'ठाकुरों' और भगिनी निवेदिता से मिला था जो स्वामी विवेकानंद की शिष्या थीं और अंग्रेजी माध्यम से भारतीय कला और सभ्यता तथा भारतीय विचारों की शिक्षा पाए भारतीय हिंदुओं के विचारों में पुनर्जागरण की प्रेरणा दे रही थीं। मेरी इच्छा इस प्रश्न पर विस्तृत विचार करने की नहीं है किंतु मैं उपरिकथित एशिया के प्रमुख विभिन्न क्षेत्रों की जातियों के साहित्य का विहंगावलोकन इसलिये करा देता हूँ कि यह प्रकट हो जाय कि उनकी मुख्य विशेषताएँ क्या हैं और कहाँ तक हम उनमें एक ही मौलिक आत्मा के दर्शन पाते हैं जो नस्ल और भाषा के भेद को पृथक् कर देने पर दिख जाती हैं।

आधुनिक काल में विश्व में सभ्यता के चार प्रकार दृष्टिगत होते हैं। ये हैं यूरोपीय, मुस्लिम वा अरब, भारतीय और चीनी। इन चारों का जन्म वास्तव में एशिया में ही हुआ। विभिन्न राष्ट्रों के इतिहास की विभिन्न परिस्थितियों में इनका जन्म हुआ। अपने विकास-क्रम में आंतरिक परिवर्त्तनों और बाह्य संपर्कों के कारण इनमें अनेक सुधार हुए। यूरोपीय सभ्यता आज सबसे प्रभावशाली है। यूरोपीय (या इसे यूरोपी-अमेरिकी कहें) रहन-सहन लगभग संपूर्ण विश्व में, जहाँ जीवन का स्तर ऊपर उठ रहा है, ग्राह्य हो रहा है। यूरोपीय विचार-पद्धति और सभ्यता का मूल यूनान की प्राचीन सभ्यता में है जिसका आंशिक विकास आज से २५०० वर्ष पूर्व अंतिक प्राच्य के उन यूनानियों में हुआ था जो आयूनी शाखा के थे। इस सभ्यता की महत्ता बुद्धि को महत्त्व देने में है और प्राचीन यूनानी साहित्य तथा कला में हमें यूनानी विचार-पद्धति—जिसमें हमें सुलझी हुई बुद्धि के दर्शन होते हैं—मिलती है। यूनानी साहित्य का प्रारंभ होमर की कविताओं से होता है। विद्वानों का मत यह है कि सबसे पहिले इनकी रचना पश्चिमी एशिया (माइनर) में आयूनी बोली में हुई थी। रोमवालों ने यूनानी सभ्यता को आत्मसात् करने का प्रयत्न किया। यूरोप में शांति और व्यवस्था की स्थापना में इनका बड़ा हाथ रहा है। इन्होंने आज से २००० वर्ष पूर्व यूरोप को एकता के सूत्र में बद्ध किया था। यूरोप की सभ्यता मूलतः यही रूमी-यूनानी सभ्यता है। ईसाई धर्म एक ओर यहूदी कथाओं और एक देवता में विश्वास से प्रेरणा लेता है—यह देवता भी बड़ा ईर्ष्यालु है जो किसी दूसरे देवता का अस्तित्व सहन नहीं करता—दूसरी ओर वह यूनानी दर्शन से भी प्रेरणा लेता है। इस धर्म ने यूरोप की मध्यकालीन तथा उससे अधिक आधुनिक सभ्यता को एक विशेष साँचे में ढाल दिया है। यद्यपि यूनानी साहित्य का प्रारंभ एशिया में मिलता है फिर भी हम संपूर्ण यूनानी सभ्यता को भौगोलिक दृष्टि से एशिया की उपज नहीं कह सकते। अंतिक-प्राच्य और भारत के विचारों से इसका संपर्क निरंतर बना रहा है। तर्क और मानवता यूनान के धर्म का मूल है, और यूनान के प्राचीनतम साहित्य में—अर्थात् होमर की

कविताओं में हमें इनके दर्शन होते हैं। पुनर्जागरण काल से यूनानी साहित्य यूरोपीय साहित्य का मूल प्रेरणा-स्रोत रहा है। तीन महान् दुःखांतवादियों—एस्चाइलस, सोफोडीज़ और यूरिपिडीज—की महान् कृतियाँ इलियड और ओडिसी, सैफो और अन्य कवियों के मुक्त-गीत, सुकरात, अरस्तू, एपिक्यूरस और एपिक्टेटस आदि यूनानी दार्शनिकों के विचार इन सबका यूरोपीय सभ्यता से विशेष संबंध है किंतु एक प्रकार से ये विश्वजनीन ही हैं। यूनानी साहित्य में तर्क और मानववाद का रहस्यवाद और प्रज्ञा से विरोध नहीं है। यूनानी साहित्य का भारतीय साहित्य से संपर्क और मतैक्य भी है तथा प्राचीन मानववाद की प्रतिध्वनि चीन में भी हुई है।

इसलाम-संस्कृति अरबों के नेतृत्व में अंतिक प्राच्य की संमिलित कृति है। इस संस्कृति के निर्माण में अरबों, सीरियों और बाद में ईरानियों, मिश्रियों और पूर्वी अफरीका की अन्य जातियों तथा स्पेन के निवासियों ने हाथ बँटाया है। एक प्रकार से यह पिछले काँटे की यूनानी संस्कृति का प्रतिबिंब है, किंतु अरबों ने, विशेषतया इनके देवदूत हजरत मुहम्मद के व्यक्तित्व, उनके दृढ़ विश्वासों और उनकी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि ने, इसमें पर्याप्त सुधार किए हैं। ईरानियों ने इसमें कतिपय मानवतावादी तत्वों का समावेश किया है। इसलाम के सूफीवाद के कतिपय गंभीर स्थलों में भारत ने भी इसे अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित किया है। अरबी भाषा इस्लाम की मान्य भाषा मूलतः इसलिये हुई कि कुरान की रचना इसी भाषा में हुई है। प्रारंभिक इसलाम की गौरवपूर्ण शताब्दियों में फारसी, सीरियन, कोप्टिक और स्पेनी भाषाभाषी अन्य जातियों ने भी इसलाम की श्रीवृद्धि की है। अरबी भाषा का साहित्य अंतिक-प्राच्य की जनता का मध्यकाल का महत्वपूर्ण कृतित्व है। इसके दो स्वरूप हैं। प्रथम तो वह साहित्य है जो मरुभूमि के निवासी उन अरबों का है जो इसलाम-पूर्व काल में अरब संसार में रहते थे। ये मूर्त्तिपूजक थे। मरुभूमि के निवासी इन अरबों ने मुहम्मद से पूर्व अपने जिस साहित्य का विकास किया था उसमें उनके तत्कालीन जीवन और उसकी आलोचना के श्रेष्ठ चित्र मिलते हैं। मुहम्मद का कुरान आदिम अरब संसार की विचार-धारा का अगला कदम है जिसमें उससे भेद भी सुस्पष्ट है। यहूदियों के ईर्ष्यालु देवता की कल्पना इस्लाम ने भी ग्रहण कर ली। इस्लाम धार्मिक क्षेत्र में एकेश्वरवाद में विश्वास करता है और उन सभी की ओर वक्र-दृष्टि से देखता है जो द्वैतवाद या बहुदेववाद का सुझाव देते हैं। मुहम्मद के पश्चात् इस्लाम ने प्राचीन अरब या अरबी साहित्य की बद्दू-परंपरा में कुछ परिवर्त्तन अवश्य किया किंतु यह परंपरा मरी नहीं अपितु अरबों की वीरता की कथाओं में जीवित रही। जैसे अंतार की प्रेम-गाथा को ही ले लें। इसमें अरब का मरु-जीवन तथा अरब योद्धाओं के प्रेम और संघर्ष और उनकी वीरता के कार्यों का वर्णन है। किंतु जिस जीवन का वर्णन इसमें हुआ था वह संकुचित और सीमित था अतः जब अरब संस्कृति के साथ—जिसमें फारस, सीरिया, यूनान, मिश्र और इटली की संस्कृतियों के तत्व मिले थे—अरबी भाषा में भी एक ऐसे नवीन साहित्य का विकास हुआ

जिसका अंतर्राष्ट्रीय आकर्षण था तो उस प्राचीन साहित्य का कोई आकर्षण न रहा। नया अरबी साहित्य मुख्यतया विज्ञान, दर्शन और विविध कलाओं का साहित्य था। फलस्वरूप इसलाम के झंडे में आनेवाली बहुत सी जातियों के लिये विज्ञान और कला की भाषा अरबी ही हो गई। इब्न सिना, अल-ग़ज़ली, इब्नरशीद आदि दार्शनिक, इब्न-अल-अरबी, अबु-ल अल-अल्मकरी, जैसे कवियों ने इस भाषा में जीवन के प्रति अपने विचार व्यक्त किए हैं और अरबी साहित्य को सचमुच महान् बना दिया है। अरबी साहित्य ने दो ऐसी पुस्तकें दी हैं जिनका प्रचार अरबी साहित्य के क्षेत्र के बाहर भी है। ये हैं—कुरान और किताब-अलिफ-लैला अर्थात् "सहस्र रजनी चरित्र" या अरेबियन नाइट्स। कुरान तो इस्लाम मतावलंबियों के लिये ईश्वर-वाक्य ही है और यह संसार की सबसे महत्वपूर्ण पुस्तक है। कुरान पर करोड़ों जीते हैं और मर सकते हैं। किंतु मुख्यतया मुसलमानों के लिये ही इसका आकर्षण है। जो लोग कुरान का शब्दशः पालन करवाना चाहते हैं और उसके लिये कट्टरता भी बरतते हैं उनका संकुचित मार्ग इस विश्व में कम लोगों के लिये आकर्षण की वस्तु होगा। इस्लामावलंबी जनों का ही मन अपने मजहब और कुरान का सूफीवादी अर्थ करने में अधिक शांति का अनुभव करता है। कुरान मुख्यतया धर्म-ग्रंथ है और धर्मशास्त्र कभी सार्वजनिक आकर्षण की वस्तु नहीं रहा। किंतु दूसरी पुस्तक सहस्र-रजनी-चरित्र संभवतः अरबी भाषा का सबसे महत्त्वपूर्ण लेख है। इस संग्रह की कहानियों की पूर्णाहुति में लगभग ८०० वर्ष लगे हैं। प्रारंभ में फारसी से अनुवाद के रूप में इसका प्रारंभ हुआ—वैसे इसका मूल-प्रेरणा-स्रोत तो भारत ही था। यह ऐसी कथाओं का संग्रह है जिनमें रोमांस और यथार्थ, अलौकिकता और सत्याभास, भाव और हास्य का अद्भुत संगम है। फिर इनमें इतिहास के विभिन्न युगों में नागर अरबों वा अरबी भाषी विभिन्न जातियों द्वारा, जो बगदाद, दमिश्क और काहिरा जैसे इस्लाम के केंद्रों में रहती थीं, विभिन्न तत्व संमिलित हुए। यह विश्व की महान् और लोकप्रिय पुस्तकों में एक है। अरब संसार का यह महाभारत है जिसमें अरबी इस्लाम के सभी रूप हैं। अंतिक-प्राच्य के अरब-प्रभावित जीवन के ८०० वर्षों की (८००—१६०० ई०) विभिन्न रंगीनियों को दिखलानेवाली यह बच्चों की रंगीन दूरबीन के समान है। विश्व की लगभग सभी महत्वपूर्ण भाषाओं में इसके अनुवाद हुए हैं। हलाकू के नेतृत्व में मंगोलों ने जब १२५८ ई० में बगदाद पर अधिकार कर लिया तो अरब-इसलाम को बड़ा धक्का लगा और फिर उसने अपना पुराना गौरव कभी वापस नहीं पाया। ७५० ई० में दमिश्क से जब अरब संस्कृति का केंद्र बगदाद आया तो अरबों का मस्तिष्क ज्ञान-विज्ञान के ग्रहण में बड़ा सक्रिय था। भारतीय विज्ञान और यूनानी दर्शन दोनों ने अरब साहित्य का विकास किया। पिछली शताब्दियों में अरबों की पतनशील मध्यकालीन परंपरा १२५८ ई० के पूर्व के महान् अरबी साहित्य की तुलना में कोई साहित्य नहीं उत्पन्न कर सकी। किंतु भारत की भाँति आधुनिक काल में यूरोप के संपर्क से अरबी साहित्य का भी पुनर्जन्म हुआ है। विशेषतया मिस्र (काहिरा), सीरिया, और लेबनान (दमिश्क, और बेरूत) में। अब रचनाकार सामने आ रहे हैं और अरबों के बौद्धिक जीवन के सभी केंद्रों में यूरोपीय विज्ञान आत्मसात् किया जा रहा है। पिछले कुछ वर्षों में भारत की आवाज भी अरबी साहित्य में सुनी

गई है। अंग्रेजी से रवींद्रनाथ ठाकुर की रचनाओं का अरबी में अनुवाद हुआ है। हाल ही में समाचारपत्रों में पढ़ा था कि बेरूत के बस्तानी परिवार—जो अपनी विद्वानों की परंपरा के लिये प्रसिद्ध है—के वादी-अल्-बस्तानी नामक अरबी साहित्यकार ने संपूर्ण महाभारत का संस्कृत से अरबी में अनुवाद किया है। इन्होंने कालिदास की शकुंतला का अनुवाद इसके पूर्व ही कर लिया था। देखना यह है कि गंभीर धार्मिक विचारों और भारतीय संस्कृति का अरब मस्तिष्क पर क्या प्रभाव पड़ता है? भारत पर इस्लाम का प्रतिघात हुआ ही है और उसकी प्रतिक्रिया भी सूफीवाद के रचनात्मक तत्त्वों में एक प्रकार से अभिव्यक्त हो गई है। चाहे जो भी हो, यदि मानस स्वतंत्र है और महान् वस्तुओं को ग्रहण करने के लिये प्रस्तुत है—चाहे वे कहीं से आएँ, जैसा तब था जब अरब उन्नति के चरम शिखर पर थे—तब तो अरब और भारत के बीच भावनाओं का आदान-प्रदान सुखप्रद होगा ही।

एक अन्य महान् साहित्य, जिसक. एशिया की भूमि पर ही जन्म हुआ पर जो सही अर्थों में अंतर्राष्ट्रीय बन गया, यहूदी साहित्य है। इसे हम यहूदियों के धर्म-ग्रंथों में पाते हैं जिनमें संपूर्ण यहूदी धर्म की कथाओं और पुराण-गाथाओं, इतिहास, कानून, धर्म-क्रियाओं, भक्ति के गीतों, भविष्य-कथनों, प्रेम-गीतों, मुहावरों आदि का संकलन हुआ है। ईसाई धर्म में भी 'ओल्ड टेस्टामेंट' में इनका संग्रह हुआ है और ये ईसाई धर्म-साहित्य में संमिलित कर ली गई हैं। पश्चिमी एशिया के इन अल्पसंख्यक निवासियों की दंतकथाओं, इतिहास और धार्मिक तथा अन्य साहित्य का संपर्क ईसाई धर्म से होने पर ये उसके आधार-भूत तत्त्व के रूप में गृहीत हुए और संपूर्ण विश्व में ईसाई धर्म के ही अंग मान लिए गए। इसी प्रकार 'न्यू टेस्टामेंट' तथा अन्य यहूदी साहित्य भी, जिसमें ईसा के जीवन की घटनाओं और उपदेशों का वर्णन है, ईसाई मिशनरियों द्वारा विश्व की सभी छोटी बड़ी भाषाओं में अनूदित हो चुका है। विश्व के बहुत से साहित्यों का प्रारंभ इन्हीं ईसाई मिशनरियों द्वारा किए गए बाइबिल के अनुवादों से होता है जिसमें यहूदी साहित्य भी संमिलित है। अधिकांश भारतीय भाषाओं में ये अनुवाद हो चुके हैं। ईसाई धर्म ग्रंथ यूनानी भाषा में तथा यहूदी यहूदी भाषा में हैं जो अरबी की ही एक बहिन है। मानव के कतिपय गहन धार्मिक विश्वास, जैसे ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास तथा उसके संमुख सदाचरण की आवश्यकता—यहूदी भाषा में हैं। 'इसैया' जैसे देवदूतों की अतिशय शक्तिशाली कविताओं, विशुद्ध कवित्वपूर्ण 'इडिल्स' जैसी ओल्ड टेस्टामेंट की रूमानी और अन्य कथाओं तथा 'बुक आफ साम्स' जैसी भगवद्भक्ति के अतिरिक्त यहूदी साहित्य ने पिछले २००० वर्षों में विश्व की एक विशाल जनसंख्या का नेतृत्व किया है। इस साहित्य की महत्ता, जिसमें अतिशय मेधावी यहूदी साहित्य का पिछले एक सहस्र वर्ष का संपूर्ण कृतित्व है, एशिया के गौरव में चार चाँद लगाती है।

अरबी और यहूदी साहित्य की परंपरा तो पश्चिमी एशिया में अभी जीवित है। किंतु और भी अनेक साहित्य थे जिनका जन्म एशिया की भूमि पर हुआ पर

जो अब एशिया से लुप्त हो चुके हैं। जिन प्राचीन भाषाओं में उनकी रचना हुई थी वे या तो मृत हो चुकी हैं या ऐसी विभाषाओं में घुलमिल गई हैं जो आज प्रचलित हैं। बैबीलोन और असीरिया का साहित्य ऐसा ही था जो अब विश्व से लुप्त हो चुका है। पिछले १५०० वर्षों में इसका कोई चिह्न नहीं मिला था। पिछली शताब्दी में भाषा-शास्त्रियों, इतिहास और पुरातत्वविदों द्वारा उन लेखों का उद्धार हुआ है जिनमें यह साहित्य लिखा गया था। इनसे क्लासिक-युग से लेकर ईसा से सहस्राब्दियों पूर्व तक का संपूर्ण इतिहास प्रकाश में आ गया है। विद्वानों की चार चार पीढ़ियों के अथक परिश्रम से बैबीलोन और असीरिया का साहित्य, जिसमें उसकी दंत-कहानियाँ और महाकाव्य-कथाएँ हैं (यथा वीर गिल्गमेश तथा बैबीलोन के अन्य देवी-देवताओं की कथा) आज फिर हमें उपलब्ध हो गई हैं। इस पुनर्जीवित सुमेरी और असीरी - बैबीलोनी, फोनेशी और हिटाइट तथा अन्य एशियाई साहित्य की तालिका देना आवश्यक नहीं। सच तो यह है कि ये साहित्य मरे नहीं बल्कि यूनानी, यहूदी और अरबी साहित्य में प्रविष्ट होकर इनके प्रभाव हम तक चले आ रहे हैं।

अंतिक-प्राच्य से हम मध्यपूर्वी एशिया की ओर आते हैं जहाँ आर्य बोली करोड़ों के जीवन और विचारों की वाहन है। आर्य बोली ईरान होकर १५०० ई० पू० में भारत आई। यूराल पर्वत के दक्षिण के मैदानों में प्रागैतिहासिक काल में इसका जन्म भारोपीय भाषा से हुआ। ऐसा विश्वास किया जाता है कि यहाँ से आर्य या हिंदी-आर्य-भाषी काकेशश पर्वत पार कर मेसोपोटामिया में आए जहाँ शताब्दियों तक ये बने रहे तथा स्थानीय जातियों में घुले-मिले। दोनों ने परस्पर एक दूसर को प्रभावित किया। इनके कुछ कबीले यहाँ से ईरान गए। मेसोपोटामिया और ईरान में इन्होंने उस साहित्य को जन्म दिया जो ईरान के अग्निपूजकों की धर्मपुस्तक अवेस्ता के पिछले रूप में तथा पूर्व वैदिक साहित्य में मिलता है। इस आर्य साहित्य की विशेष वर्णना आवश्यक नहीं जिसमें वैदिक साहित्य, संस्कृत साहित्य तथा अन्य पूर्वकालीन प्राकृत साहित्य तथा उत्तर तथा दक्षिण भारत की अन्य आधुनिक भाषाएँ संमिलित हैं। इसी प्रकार द्रविड़ परिवार की तेलुगु, कन्नड, तमिल और मलयालम् भाषाओं के साहित्य तथा आग्नेय (कोल) भाषाओं यथा संताली, मुंडा, होकुर्कु, इत्यादि भाषाओं तथा आसाम की खासी भाषा (जो आग्नेय परिवार की शाखा मान-ख्मेर से संबद्ध है) इत्यादि आर्येतर भारतीय भाषाओं के लोक-साहित्य और लोक-कथाओं की चर्चा भी आवश्यक नहीं। तिब्बती-बर्मी भाषा-परिवार की भाषाएँ भी भारत में हैं जिनका एक ओर तो तिब्बती और बर्मी भाषाओं से संबंध है, दूसरी ओर स्यामी और चीनी भाषाओं से भी है, किंतु इनका साहित्यिक उत्पादन अल्प है। अपवाद-स्वरूप केवल दो भाषाएँ हैं, नेपाल की नेवारी और मणिपुर की मेथी जिनमें कुछ महत्वपूर्ण साहित्य है किंतु ये भाषाएँ भारत की आर्य और द्रविड़-भाषाओं के प्रभाव में आ गई हैं और ये संस्कृत का प्रभाव और आदर्श ग्रहण करती हैं।

ईरान की आर्यभाषा का इतिहास लंबा है और प्राचीन काल में इसका भारत से सर्वदा संबंध रहा है। जरथुष्ट्र के दैवी-संगीत तथा प्राचीन ईरानी धर्म-साहित्य (जिसकी

तुलना वैदिक साहित्य से कर सकते हैं) की रचना के अनंतर अवेस्ता की सहेली प्राचीन फारसी जब फारस के बादशाहों की राज-भाषा बन गई तब ईरानी भाषा विशेषतया अपने प्राचीन मध्यकालीन फारसी रूप में अपनी पड़ोसिन भारतीय बहिन अर्थात् हिंदी आर्य बोली को प्रभावित करने में समर्थ हुई। अत्यंत प्राचीन काल से कतिपय ईरानी शब्द भारत में स्वीकृत हो चुके थे। इस दिशा में लेन-देन दोनों हुआ—ईरान में भी भारतीय प्रभाव पहुँचे। फारस के सासानी साम्राज्य में अवेस्ता और प्राचीन फारसी का कनिष्ठ रूप पहलवी—जिसका साहित्य ईरान में खूब बढ़ा—दोनों का विकास हुआ। पहलवी और भारतीय भाषाएँ भी संपर्क में आईं। दोनों ने शब्दों का आदान-प्रदान किया। पहलवी आधुनिक फारसी में परिवर्त्तित हो गई जिसने मुसलिम काल में ८०० ई० के पश्चात् अपना आधुनिक रूप ही नहीं धारण किया अपितु जो एशिया की एक महत्वपूर्ण भाषा हो गई। आधुनिक फारसी ने बिना हिचक के अरबी शब्द लिए। इस प्रकार वह अरबी के पश्चात् इसलाम की सबसे महत्वपूर्ण भाषा हुई। भारत में यह इसलाम संस्कृति और धर्म के वाहन के रूप में आई। अपने साथ यह फारसी संस्कृति भी लाई जिसमें सशक्त अरबी और कुछ तुर्की प्रभाव भी थे। सात शताब्दियों पश्चात् भारत की भाषाओं पर इसका जबर्दस्त प्रभाव दीखता है। हिंदी के एक रूप ने १८ वीं शताब्दी में उत्तर भारत में फारसी की लिपि और शब्द लेकर एक नई भाषा उर्दू—हिंदी के मुसलिम रूप—को जन्म दिया। फारसी साहित्य कई दृष्टियों से महान् है। काव्य के लिये तो यह दैवी भाषा है—चाहे वह विवरणात्मक हो वा वीरकाव्य (उदाहरणार्थ ११ वीं शताब्दी में रचित फिरदौसी कृत शाहनामा या निजामी के विवरणात्मक काव्य हैं) या सूफियों की रहस्यवादी कविताएँ हों जिनमें प्रेमी अपनी प्रेमिका में परमात्मा की प्राप्ति का अनुपम अनुभव करता है। यह सूफी काव्य विश्व को इस्लामी फारस की सबसे बड़ी देन है। उर्दू के अतिरिक्त भारतीय रहस्यवादी साहित्य पर भी इसका प्रभाव पड़ा है। फारसी के कई अच्छे ग्रंथों का अनुवाद भारतीय भाषाओं में हुआ है किंतु अभी इस दिशा में संघटित प्रयास की अपेक्षा है। एशिया के अन्य देशों की भाँति ईरान के साहित्य में भी नवजीवन के दर्शन होते हैं, विशेषतया ईरानियों द्वारा इस्लाम-पूर्व काल में उनकी सांस्कृतिक महत्ता सिद्ध होने के अनंतर। अब उन्होंने जाना है कि उनके पूर्वजों ने भारोपीयों में सर्व-प्रथम एक ऐसे साम्राज्य की स्थापना की थी जो ५०० ई० पू० में एक ओर एजियन सागर से लीबिया और न्यूबिया तक और दूसरी ओर मध्य एशिया से पंजाब तक फैला हुआ था। ईरानियों ने ही विश्व में सबसे पहिले इस कल्पना का प्रचार किया कि विश्व में दो शक्तियाँ हैं—एक सत्य की जिसके नेता अहुर-मज्दा हैं, दूसरी असत्य की जिसके नेता सैटन-अंग्र-मैन्यू हैं। मानव का कर्त्तव्य सत्य के पक्ष में असत्य से लड़ना है। इस नैतिक सिद्धांत का प्रचार ईरान से हुआ है। यहूदी भी इसमें विश्वास करते हैं—यहूदियों से ईसाइयों और इस्लाम मजहब वालों में भी इसका प्रचार हुआ है। प्राचीन ईरान के धर्म का इन तीनों धर्मों पर प्रत्यक्ष प्रभाव है।

अब हम पूर्वी एशिया की ओर आ रहे हैं। चीन के महान् साहित्य की ओर ध्यान दें। यह साहित्य उपरिलिखित तीनों संस्कृतियों से मूलतः भिन्न

है। जिन तीनों संस्कृतियों की चर्चा हुई है, उनके प्रतिनिधि साहित्य हैं—प्राचीन यूनानी साहित्य तथा इस्लाम साहित्य, जिसका प्रतिनिधित्व कुरान और सहस्र-रजनी-चरित्र करते हैं और भारतीय साहित्य जिसमें संस्कृत और अन्य भारतीय भाषाओं का साहित्य, विशेषतया संस्कृत महाकाव्य महाभारत है।

चीनी साहित्य पिछले ३००० वर्षों से अविच्छिन्न चला आ रहा है। इस साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता इसकी लिपि है। यह लिपि अंशतः चित्र-लिपि, अंशतः संकेत और अंशतः स्वर-लिपि है। कतिपय मुख्य अक्षर हैं, जिनके संयोग से अक्षर बनते हैं। इन अक्षरों की संख्या चीनी भाषा के एक बृहत् शब्द-कोश में लगभग ५०००० है। इन्हीं शब्दों के माध्यम से भावों की अभिव्यक्ति होती है। स्वर-संकेत प्रायः गौण हैं। इन ३००० वर्षों में भाषा का रूप परिवर्त्तित हो गया है। १५०० या २००० या ३००० वर्ष पूर्व लिखे गए लेखों में जिन अक्षरों का प्रयोग हुआ है उनसे वही भाव आज भी अभिव्यक्त होता है परंतु उनसे यह नहीं पता चलता कि अक्षरों के प्राचीन उच्चारण क्या थे। किंतु फ्रांसीसी विद्वान् सैवेंट मैस्पिरो तथा स्वीडिश विद्वान् कार्लग्रीन जैसे अध्येताओं के अथक परिश्रम से हम अब यह बता सकते हैं कि आज से १५०० या २००० वर्ष पूर्व चीनी अक्षरों का उच्चारण क्या था ? चीनी साहित्य की अविच्छिन्नता इन अक्षरों में ही केंद्रित है। चीनी भाषा की आज अनेक बोलियाँ हैं। हर एक के अपने उच्चारण हैं और दूसरी दूसरी प्रवृत्तियाँ हैं। किंतु चीन की लगभग दो तिहाई जनता की अपनी एक बोली है जो चीनी भाषा के एक उत्तरी स्वरूप से निकली है और यही चीन की राष्ट्रीय बोली 'खुआन-हुआ' वा 'खू-यू' है।

चीनी भाषा की सबसे पुरानी पुस्तकें प्रसिद्ध दार्शनिक खुङ्-फू-त्से (इटालियन मिशनरियों ने १७ वीं शताब्दी में जिसे कनफूसियस कर दिया) की कही जाती हैं। खुङ्-फू-त्से भगवान् बुद्ध के समकालीन थे। ये एक महान् विचारक थे, इनका दर्शन भी व्यवहारवादी था जिसका उद्देश्य अच्छे नागरिक तैयार करना था जो अपने माता-पिता, परिवार, राजा और जाति के प्रति अपने कर्त्तव्य पूरे कर सकें। इनके दर्शन में गंभीर आध्यात्मिकता नहीं है। ये देवताओं में थे और उनकी तुष्टि के लिये प्राचीन चीनी यज्ञ-हवन आदि में भी विश्वास करते थे। चीनी अपने देवताओं की तुष्टि के लिये फल-मूल, मदिरा-मांस आदि की बलि चढ़ाते थे। कनफ्यूसियस का जन्म तब हुआ था जब चीन की सभ्यता अपने चरम उत्कर्ष पर थी। उन्होंने अपने समय की जिन धार्मिक और ऐतिहासिक पोथियों का संग्रह किया था वे हैं—'शिह-किङ्' अर्थात् 'कविता की पुस्तक', शू-किङ् अर्थात् 'इतिहास की पुस्तक' तथा चुन-त्स्यू अर्थात् 'बसंत और हेमंत की कथाएँ'। चीनी सभ्यता की नींव २००० ई० पू० में शान राजाओं के काल में पड़ी। इसका प्रथम महान् युग प्रथम सहस्राब्दी था। शिह-किङ् में लोक-कविताओं का संग्रह है—इसकी तुलना ऋग्वेद और अथर्ववेद से कर सकते हैं जिसमें २५००—३००० वर्ष पूर्व के चीनी जीवन और रहन-सहन तथा रीति रिवाजों का स्पष्ट अंकन है। इस पुस्तक का महत्त्व कनफ्यूसियस या अन्य लेखकों के ग्रंथों से अधिक है। अंग्रेजी और यूरोप की अन्य

भाषाओं में इसके कई अनुवाद हुए हैं। चीनी सभ्यता के इस प्राचीन लेख का अनुवाद भारतीय भाषाओं में भी होना चाहिए। चीन में भी प्राचीन काल में कवियों की एक महान् परंपरा रही है। १९११ ई० में मंचू वंश की समाप्ति और चीन में जनतंत्र की स्थापना से पूर्व तक विद्वानों का समाज में बड़ा आदर था। सरकारी नौकरियों की परीक्षा 'क्लासिकल चीनी' में ही होती थी।

लाओ-त्से कनफ्यूसियस से ज्येष्ठ किंतु उसका समकालीन था। इसके विचार कनफ्यूसियस की व्यावहारिकता के विपरीत थे। वह रहस्यवादी था। उसने जीवन से परे जो सत्य है उसका दर्शन किया था। स्थूल संसार से परे इस चक्र को वह 'ताओ' अथवा 'मार्ग' कहता था। उसकी यह कल्पना भारत की ब्रह्म या ऋत् या धर्म की कल्पना के अनुरूप ही है। इस प्रकार भारतीय उपनिषदों—वेदांत दर्शन और चीनी लाओ-त्से के दर्शनों में वही एकता है जो एक परिवार के व्यक्तियों में होती है। कनफ्यूसियस के विचारों ने चीन के समाज और सामाजिक जीवन का ढाँचा खड़ा किया जब कि लाओ-त्से ने चीनी मानस के गंभीर चिंतन को वाणी दी। किंतु जहाँ कनफ्यूसियस के मतानुयायी सर्वदा गंभीर और जीवन और विचारों में व्यावहारिक ज्ञान के पक्षपाती रहे लाओ-त्से के मतानुयायी अपने प्रवर्त्तक के दार्शनिक विचारों से डिग गए और उन्होंने एक ऐसे धर्म को जन्म दिया जो जादू टोना और सभी प्रकार के अतिमानवीय देवी देवताओं और रसायनों के बल पर जीवन को अमर बना दे।

चीन के लोगों का मस्तिष्क व्यवहार-कुशल है पर साथ ही उसमें सौंदर्यानुभूति भी है जो दृश्य जगत् के सौंदर्य पर मुग्ध होता है। फलस्वरूप चीनी काव्य में हम प्रकृति-चित्रण की बहुलता पाते हैं, ठीक उसी प्रकार जैसे चीनी चित्रकला में हमें सबसे पहिले प्रकृति-चित्रण (लैंडस्केप) का विकास मिलता है। चीनी प्रकृति चित्रण के चित्र और चीन की प्रकृति-चित्रण की कविताएँ मानव आत्मा की दो महान् सिद्धियाँ हैं। चीनी कविता की श्रेष्ठता इस बात में है कि शिह-किङ् से अबतक उसमें प्रकृति का चित्रण खूब और श्रेष्ठ हुआ है। इस प्रकार की कविता का सबसे महान् काल प्रथम सहस्राब्दी रहा है। विशेष रूप से ताङ् वंश के काल में (प्रथम सहस्राब्दी का उत्तरार्ध) जब ली-ताइ-पो और पो-चू-ई, स्सू-रङ्-तू और अन्य महान् चीनी कवि हुए थे।

ईसा की इस प्रथम सहस्राब्दी में चीन और भारत के संबंध बौद्ध धर्म के माध्यम से बड़े घनिष्ठ थे। बौद्ध धर्म ने जीवन की गंभीर वस्तुओं और व्यावहारिक सदाचार के संबंध में जिन श्रेष्ठ विचारों का संदेश चीनी जनता को दिया उसकी छत्र छाया में चीनी आत्मा का विकास हुआ। बौद्ध धर्म ने गंभीर दार्शनिक चिंतन और तर्कपूर्ण विचारों तथा जीवन के प्रति मानववादी दृष्टिकोण को बल दिया जो चीन में पहिले से ही वर्त्तमान था। उन चीनी विद्वानों ने जिन्होंने संस्कृत सीखी और उन भारतीय विद्वानों ने जिन्होंने चीन जाकर चीनी भाषा सीखी भारतीय बौद्ध साहित्य का चीनी भाषा में अनुवाद कर डाला। इस प्रकार चीनी भाषा की बड़ी अभिवृद्धि हुई। यद्यपि चीन ने बौद्ध धर्म से बहुत कुछ लिया तथापि उसने अपनी आत्मा का समर्पण नहीं किया। चीनी-बौद्ध धर्म एक प्रकार से चीन के वातावरण के अनुकूल मूल बौद्ध धर्म का पृथक् संस्करण है।

प्रकृति-चित्रण की कविताओं की इस महती परंपरा के अतिरिक्त चीनी भाषा में और भी दो प्रकार की कविताएँ मिलती हैं जो पूर्णतः चीनी हैं। इनमें एक है राजघरानों की प्रेमगाथा जिसमें सान-रुओ-चिह-येन-इ अर्थात् तीन राज्यों का इतिहास प्रमुख है। ईसा की प्रारंभिक शताब्दियों के चीन के युद्धों आदि का इसमें वर्णन है। इस पुस्तक की रचना संभवतः १२ वीं शताब्दी के बाद हुई थी। इस पुस्तक में प्रेम और युद्ध के वर्णन पर्याप्त हैं। यह पुस्तक उच्च वर्ग और योद्धाओं के जीवन का चित्रण करती है। दूसरे प्रकार का साहित्य वह है जिसमें लघुकथाएँ और सामाजिक उपन्यास हैं। लघुकथाओं में वे कथाएँ भी संमिलित हैं जिनमें आश्चर्य और जादू की घटनाएँ हैं। चीन का वास्तविक लोक-साहित्य यही है। इस साहित्य में चीन के मध्यवर्ग और जनता दोनों का सजीव चित्रण हुआ है। इन आश्चर्य कथाओं और प्रेम उपन्यासों के संग्रह पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हुए हैं। इनमें दो का उल्लेख आवश्यक है; एक है—लियाओ-चाइ-चिह-इ जिसका लेखन और संग्रह पाओ-सुङ-लिङ् ने १७ वीं शताब्दी में किया था। दूसरी पुस्तक है हुङ्-लू-मेङ्ग अर्थात् 'रक्त भवन के स्वप्न' जिसमें एक संभ्रांत चीनी परिवार के एक युवक की कथा है जिसकी दो प्रेमिकाएँ थीं किंतु वह स्वयं उनमें एक से ही प्रेम करता था। हुङ्-लू-मेङ् एक विशाल पुस्तक है। इसका रचयिता अज्ञात है। ऐसा प्रतीत होता है कि १६ वीं-१७ वीं शताब्दी में चीनी जनता के हृदय और मस्तिष्क में इसकी सृष्टि हुई थी। इन सभी पुस्तकों में चीनी जनता के मानवीय रूप के दर्शन होते हैं। इन पुस्तकों की लोकप्रियता सर्वत्र बढ़ रही है। अंग्रेजी और अन्य यूरोपीय भाषाओं में इनके अनुवाद हुए हैं।

चीनी भाषा में दर्शन-साहित्य भी है जिसमें चीन के तीनों धर्मों, कनफ्यूसियस, ताओ और बौद्ध का साहित्य है। मध्यकालीन ढंग का चिकित्सा और अन्य शास्त्र भी है। चीन का महत्वपूर्ण नाटक-साहित्य भी है। चीन के रंगमंच की अपनी कारीगरी और सौंदर्य है।

चीन के संपूर्ण साहित्य का रेखाचित्र उपस्थित करना आवश्यक और संभव भी नहीं है। चीनी विद्यानुरागी रहे हैं। उन्होंने कई ऐतिहासिक ग्रंथ और विश्वकोश तैयार किए हैं। कुछ तो आश्चर्यजनक रूप में विशाल हैं। चीन के हाल के साहित्य में चीन की वही पुरानी आत्मा जो इसके तीनों धर्मों और संस्कृति में जिसने ईसा की प्रथम सहस्राब्दि के अंत में अपना वर्त्तमान रूप लिया, वर्त्तमान थी।

अपने वर्त्तमान राजनीतिक ढाँचे में चीन ने कैसे साहित्य को जन्म दिया है मालूम नहीं, यद्यपि चीन की जनतांत्रिक सरकार ने बहुत से चीनी लेखकों के उपन्यास, कविताएँ और कहानियाँ प्रकाशित की हैं। कला कृतियों—जिनमें साहित्य भी संमिलित है—के संबंध में मत देने के पूर्व देखना यह होता है कि उन्होंने काल के व्यवधान को कहाँ तक पार किया है। किंतु विश्वास है कि चीन का सतर्क और भावुक मन और चीनी जनता की सुंदर आत्मा जिसकी विशाल और उद्दीप्त सांस्कृतिक परंपरा है अपने वर्त्तमान ढाँचे में चित्रण का अवसर अवश्य पाएगी।

जापान के साहित्य पर चीनी साहित्य का बड़ा प्रभाव रहा है किंतु इसकी अपनी विशेषता भी रही है। कोजिकी और निहोंगी जापान की दो सबसे प्राचीन पुस्तकें हैं, इनमें गल्प और पुराण कथाओं तथा अर्ध ऐतिहासिक आख्यायिकाओं का संग्रह है। इनका संग्रह ८ वीं शताब्दि के प्रारंभ में हुआ था। नोरितो एक अन्य पुस्तक है जिसमें गद्य में शिंतो-प्रार्थनाओं का संग्रह है। यह संग्रह १० वीं शताब्दी में तैयार हुआ था। अन्य महान् राष्ट्रों की भाँति जापानी भी मिश्र जातियों के हैं। मुख्य रूप से एक ओर उत्तरी जापान के ऐनस, कोरियाई और पूर्वी साइबेरिया की अन्य जातियाँ तथा दूसरी ओर दक्षिण की मलय जाति का मिश्रण मुख्य है। जापानियों के चरित्र में इन दोनों समूहों की प्रमुख विशेषताएँ हैं—उत्तरी पूर्वी एशिया के मंगोलों की व्यावहारिकता और दक्षिण के मलय द्वीप के निवासियों की साहसिकता और कल्पनाशीलता सभी है। जापानी संस्कृति को चीनी संस्कृति ने बल दिया है किंतु मूल जापानी ही है। जापान का शिंतो धर्म, और कोजिकी और निहोंगी, जिनकी चर्चा ऊपर कर चुके हैं, सब में जापान का निजत्व सुरक्षित है। चीन में कनफ्यूसियस प्रभाव से होता हुआ बौद्ध धर्म कोरिया पहुँचा—कोरिया से बौद्ध धर्म की पुस्तकें जापान पहुँचीं जहाँ उसने प्रचुर मात्रा में श्रेष्ठ कविताओं और कहानियों को जन्म दिया जो जापान के आदि-कालीन साहित्य की निधियाँ हैं। मन्यो—श्यू, को किंशिङ्, ह्याकु-निन-इश्यू आदि में ऐसी छोटी छोटी कविताओं का संग्रह है जो चार पाँच पंक्तियों में ही मानव-स्वभाव का बड़ा मार्मिक चित्रण करती हैं। जापानी साहित्य की महत्वपूर्ण पुस्तकों में इनका स्थान है। इन पुस्तकों की रचना क्रमशः ६ वीं—१० वीं और १३ वीं शताब्दी में हुई थी।

ईसा की आरंभिक शताब्दियों में समूरई अर्थात् योद्धा-वर्ण की उत्पत्ति के साथ जापान में शौर्य का भी प्रचुर विकास हुआ। बौद्ध धर्म की कई शाखाओं का, विशेषतया चीन से आए ज़ेन अर्थात् समाधिवादी और जोदो अर्थात् निर्मलदेशवादी (प्योर लैंड स्कूल) बौद्धों का जापान के मस्तिष्क पर बड़ा प्रभाव पड़ा था। इस आदि काल में जापान ने कई लेखिकाओं को भी जन्म दिया जिन्होंने रोमांस और रेखा-चित्रों में जापान के सामाजिक और दरबारी जीवन का, प्रेम और कूटनीति का श्रेष्ठ चित्रण किया है। मुरासकि-नो—शिकिबु नामक लेखिका ने गोन्जि-मोनोगतरि नामक पुस्तक की कई जिल्दों में एक प्रेम कथा लिखी है। सेई-शोन्जेन् नामक अन्य लेखिका ने अपनी मकुरा-नो-सोशी नामक पुस्तक में दरबारी जीवन के रेखा-चित्र खींचे हैं। दोनों लेखिकाएँ १००० ई० के आस पास वर्त्तमान थीं। चीन की भाँति जापानी साहित्य में भी बहुत सी आश्चर्य और प्रेमकथाएँ हैं, पिछली शताब्दी के उत्तरार्ध में जब जापान अमेरिकी आक्रमण से आक्रांत हो अपनी ऐकांतिकता का परित्याग कर दुनिया के राष्ट्रों की पंक्ति में आया तो इनमें से बहुत सी कथाएँ तो आधुनिक उपन्यासों में बदल गईं। विज्ञान और संस्कृति के क्षेत्र में जापान आज यूरोप के भी बहुत से देशों से आगे है। साहित्य के क्षेत्र में भी उसने आशानुकूल प्रगति की है। आधुनिक जापान के कथा-साहित्य से कुछ थोड़े ही ग्रंथों का अंग्रेजी में अनुवाद हुआ है, भारतीय भाषाओं में शायद ही कोई अनुवाद हुआ हो। कुछ बंगाली लेखक जापान गए थे और वहाँ उन्होंने जापानी भाषा सीखी थी। उन्होंने दो एक जापानी कहानियों के अनुवाद किए थे किंतु इससे अधिक कुछ भारत में उपलब्ध

नहीं। उधर जापानियों ने चीन और भारत से गए बौद्ध ग्रंथों के अतिरिक्त संपूर्ण उपनिषदों, भगवद्‌गीता और भारतीय साहित्य के अन्य कई श्रेष्ठ ग्रंथों का जापानी भाषा में अनुवाद कर डाला है।

एशिया के अन्य देशों का साहित्य या तो चीन से या भारत से प्रेरित है। कोरिया और वीतनाम का साहित्य एक प्रकार से चीनी साहित्य का प्रतिबिंब ही है; हिंदेशिया के साहित्य (जापानी, बाली, सूदानी, मदुरी और मलय भाषाओं में), हिंद चीन के साहित्य (कंबोडिया या ख्मेर, मोन या तलैंग, थाई या स्यामी और बर्मी भाषाओं में) की प्रेरणा का मूल स्रोत भारतीय साहित्य रहा है। कुछ मनोरंजक जन-साहित्य और लघु नाटिकाओं को छोड़कर—हिंदेशिया की कुछ प्रेमकथाओं को भी—इन देशों ने किसी महत्वपूर्ण साहित्य को जन्म नहीं दिया। अब हिंदेशिया और बर्मा के स्वतंत्र हो जाने पर इस क्षेत्र के साहित्य को, विशेषतया बर्मी स्यामी और हिंदेशिया (ब.हास हिंदेशिया) के साहित्य को नई प्रेरणा मिली है। मलय साहित्य की अपनी विशेषता है। इनके लघु-गीत जापान की तंक और उत कविताओं की याद दिलाते हैं।

सिंहल की दो भाषाएँ हैं तमिल और आर्य सिंहली। सिंहल का साहित्य भारतीय साहित्य की ही पंक्ति में है और संस्कृत और पालि पर आधृत है।

अंत में हम तिब्बत और मध्य एशिया के साहित्य पर आते हैं। तिब्बत का साहित्यिक जीवन ७वीं शताब्दि से प्रारंभ होता है जब बौद्ध ग्रंथों का तिब्बती में अनुवाद प्रारंभ हुआ। अधिकांश तिब्बती साहित्य धार्मिक है और इसमें लामा बौद्धधर्म, जो तिब्बत का राष्ट्रीय धर्म है, की पुस्तकें हैं। बौद्ध ग्रंथों के अनुवाद, जिन्हें ब्स्तान् हजूर कहते हैं और इनपर टीकाएँ, जिनका या तो भारतीय भाषाओं से अनुवाद हुआ है या तिब्बती भाषा में ही जिनकी रचना हुई है और जिन्हें ब्कप हजूर कहते हैं, इन्हीं में तिब्बती साहित्य का अधिकांश आ जाता है। इनकी रचना १३०० ई० में समाप्त हो चुकी थी। मध्यकालीन यूरोपीय रहस्यवादी या नैतिक नाटकों की भाँति मिलारेपा जैसे संतों ने तिब्बती में भी बहुत सी भक्तिपूर्ण धार्मिक नाटिकाएँ लिखी हैं। ये सभी धर्म-साहित्य के अंतर्गत ही आती हैं। तिब्बत ने एक विशाल प्रेम-गाथा 'सम्राट् जेसर या केसर और उसकी रानी हिब्रग-मो' की सृष्टि की है। मध्य एशिया की यह सबसे बड़ी काल्पनिक रचना है। इसके कई संस्करण हैं—लघु-प्राचीन और दूसरे नए-विशाल। नए संस्करणों में इस शूर-कथा की तुलना रामायण से कर सकते हैं क्योंकि लामा धर्म और पुराण कथाओं के अनुरूप ही अब इसका रूप हो गया है। चाहे जो हो यह महान् कथा है जिसका संपूर्ण विश्व में प्रचार होना चाहिए। तिब्बत के आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियों से हम परिचित नहीं हैं। संभवतः इनका प्रारंभ अभी अभी हुआ है।

मध्य एशिया की अनेक अस्तंगत भाषाओं में भी साहित्य थे जिनकी मूल प्रेरणा भारतीय (बौद्ध) तथा कुछ अंशों में ईरानी थी। ईरानी, सग्डियानी, खोतनी और लुप्त तोखारी तथा प्राचीन तुर्की भाषाओं का यह सब साहित्य अब धीरे-धीरे मध्य एशिया की मरुभूमि के खंडहरों से प्राप्त हो रहा है। तुर्कों ने भी मध्य एशिया में विशाल साहित्य की सृष्टि की थी जो प्रेरणा में कुछ तो चीनी तथा कुछ भारतीय था।

इस भाषा में कई महान् काव्यों की सृष्टि हुई है। तुर्की भाषा में सबसे प्राचीन साहित्य मंगोलिया में प्राप्त आर्खोन अभिलेख हैं। इनमें दो राजकुमारों द्वारा चीनी आधिपत्य से अपने देश को मुक्त करने का वर्णन है। कुदथू—बिलिक (१०६७ ई०) में नीति के पद्यों का संग्रह है जिसका प्रेरणा स्रोत भी बौद्ध है। तुर्कों द्वारा इसलाम ग्रहण करने के अनंतर उनकी प्राचीन परंपराएँ—राष्ट्रीय और बौद्ध दोनों—नष्ट हो गईं। पश्चिमी एशिया (माइनर) में जब तुर्क फारसी सूफियों के संपर्क में आए तो प्रचुर साहित्य सृजन हुआ था किंतु उस्मानी या पश्चिमी तुर्क साहित्य का इतिहास एकदम दूसरा ही है।

मंगोल-साहित्य का भी पर्याप्त अध्ययन नहीं हुआ है। इसमें सनङ्से त्ज़ेन की कथाओं की भाँति साहित्य है। अन्य प्रेमकथाएँ और तिब्बती में बौद्ध अनुवाद और सम्राट् जेसर की कहानी का मंगोल रूप भी है। रूस के नेतृत्व में तुर्की-मंगोल (रूसी) साहित्य में भी नई प्रवृत्तियाँ मुखर हुई हैं।

अफगानिस्तान की पश्तो हिंदी-आर्य-परिवार की भाषा है जो उत्तर भारत की भाषाओं की सगी-संबंधिनी है। इसकी सबसे प्राचीन पुस्तक का पता अभी हाल में मिला है जो १४ वीं शताब्दी में लिखी गई थी। इस पुस्तक के अध्ययन से विदित होता है कि फारसी की बहिन पश्तो में भी अत्यंत प्राचीन काल में पर्याप्त समृद्ध साहित्य था। १६ वीं शताब्दी में पश्तो में एक महान् कवि हो गए हैं जिनका नाम खुशहाल खाँ खट्टक था। प्रेम की इनकी गजलें आज भी जनता की जबान पर हैं। फारसी, फ्रेंच, अंग्रेजी और उर्दू के माध्यम से भारतीय प्रेरणा से प्रेरित होकर अफगान साहित्य युग के साथ आ रहा है। आशा है पश्तो में शीघ्र ही विशाल साहित्य हो जायगा।

ऊपर की पंक्तियों में एशिया के साहित्यों की संक्षेप में स्थिति बतलाने की चेष्टा की गई है, विशेषकर उनके प्राचीन रूपों की जिनका प्रभाव आज भी है या हाल तक था। भाषा चाहे जो भी हो, संपूर्ण एशिया के साहित्य को हम कतिपय समूहों में रख सकते हैं। मोटे तौर पर मुसलिम, भारतीय और चीनी समूह हैं। यत्र तत्र इनसे स्वतंत्र कुछ छोटे मोटे समूह और हो सकते हैं जिन्होंने इनमें से किसी एक के साथ सपिंडीकरण कर लिया है। मानवता का मौलिक तत्त्व तो है ही और इन सबसे ऊपर विभिन्न धार्मिक वातावरणों में तीन प्रकार की संस्कृतियों के भी आदर्श क्रियाशील हैं, ये हैं उत्तरी-पूर्वी, मध्य-पूर्वी और सुदूर-पूर्वी। अभी तक बौद्धदर्शन, वेदांत और सूफीवाद ने इन तीनों समूहों में सबसे महत्त्वपूर्ण धार्मिक और अंतर्राष्ट्रीय प्रभाव का कार्य किया है। कतिपय मौलिक धार्मिक अभिलाषाओं और अनुभवों में ये एक ही हैं। जितने ही ये निकट आकर परस्पर प्रभावित करेंगे उतनी ही एशिया की एकता बढ़ेगी। संस्कृत का उत्तराधिकार वहन करनेवाली तथा भारतीय गणतंत्र के राजभाषा-पद पर अधिष्ठित होनेवाली हिंदी भाषा को एवं आधुनिक भारत की अन्यान्य भाषाओं को भारतीय जनता तथा संपूर्ण मानवता के लिये सचमुच बहुत बड़ा उत्तरदायित्व सँभालना एवं सफलतापूर्वक उस दायित्व का निर्वाह करना है।

२४ फाल्गुन, सं० २०१० वि०]

एशियाई भाषा संमेलन के लिये

विश्व भारती, शांति निकेतन के चीन भवन के अध्यक्ष

प्रो० तानं युन शान का संदेश

नागरीप्रचारिणी सभा, काशी की हीरक जयंती के पावन अवसर पर होनेवाले एशियाई भाषा संमेलन में उपस्थित न हो सकने का मुझे बड़ा खेद है। अपने आदर्शों और कृतियों द्वारा भाषा, साहित्य और संस्कृति के क्षेत्र में एकता-विस्तार के कारण यह संमानित संस्था महान् भारत में अद्वितीय प्रमुखता और महत्ता रखती है। मेरे लिये सचमुच बड़े अभाग्य की बात है कि ऐसे अमूल्य हीरक अवसर पर अनुपस्थित रहूँगा, केवल इसलिये नहीं कि मैं संमेलन में भाग न ले सकूँगा, वरन् इसलिये भी कि बड़े बड़े विद्वज्जनों और पुराने मित्रों के समागम से वंचित रहूँगा।

प्राचीन काल में इस एशिया महाद्वीप के सभी देशों के प्रायः सभी लोगों का अकसर इस महान् पुरातन देश, महान् भारत में समागम हुआ करता था। वे परस्पर एक दूसरे की भाषा बोल सकते थे और एक दूसरे की भावना और संस्कृति पूरी तौर से समझ सकते थे। फलतः उन सबके बीच, पर्याप्त स्नेह, शांति, एकस्वरता, सद्भाव और एकता रहती थी। उदाहरण के लिये प्राचीन चीनी यात्री फाहियन, ह्वेनसांग, इत्सिंग तथा अन्य के नाम लिए जा सकते हैं जो भारत आए थे। इसी प्रकार के उपदेशक कश्यप मातंग, कुमारजीवन अमोघवर्ष आदि भी थे जो चीन गए थे। उन सब लोगों ने दोनों देशों की भाषाओं पर केवल अधिकार ही नहीं प्राप्त किया वरन् मध्य एशिया की भाषाओं को सीखा जब कि सभी प्रकार की कठिनाइयाँ, विशेषतः यातायात की बड़ी बड़ी कठिनाइयाँ थीं।

आज विश्व अत्यंत परिमित हो गया है और समस्त एशिया एक विशाल परिवार मात्र है। एक देश से दूसरे देश जाना तो ऐसा हो गया है जैसे एक कमरे से निकल कर दूसरे कमरे में जाना। हमें तो अपने पूर्वजों की अपेक्षा पारस्परिक भाषाओं को और अच्छी तरह से बोलना एवं पारस्परिक मनोवृत्ति तथा संस्कृति को और अच्छी तरह समझ सकना चाहिए। परंतु खेद की बात है कि हम वैसे नहीं हैं। वस्तुतः हम पहले की अपेक्षा आज गए बीते हैं। अतः एशियाई भाषा संमेलन जैसे संमेलन अतीव आवश्यक और चिरकांक्षित हैं। मेरी यह आंतरिक आशा है कि यह संमेलन आरंभिक प्रथम संमेलन हो, अंतिम नहीं। मैं प्रार्थना करता हूँ कि यह संमेलन सफलता के मुकुट से मंडित हो, इसका भविष्य अतीव महान् एवं दीप्तिमान हो।

पत्रकार संमेलन

के

सभापति

माननीय श्री पं० कमलापति जी त्रिपाठी

का

अभिभाषण

बंधुओ,

काशी नागरीप्रचारिणी सभा की हीरक जयंती के महत्वपूर्ण अवसर पर होनेवाले इस पत्रकार संमेलन की अध्यक्षता के लिये आमंत्रित करके आपने मेरा जो संमान किया है उसके लिये मैं हृदय से आभारी हूँ। नागरीप्रचारिणी सभा न केवल काशी की, न केवल हिंदी जगत् की और न केवल इस देश की वरन् अंतर्राष्ट्रीय ख्याति की संस्था है। हिंदी के उत्थान के लिये, उसके प्राचीन साहित्य के उद्धार के लिये, नवीन साहित्य की रचना के लिये और इस प्रकार भाषा को उसके उपयुक्त संमानपूर्ण आसन पर आसीन कराने के लिये सभा ने जो कार्य अब तक किया है वह असाधारण है। मेरे इस कथन में किंचिन्मात्र भी अतिशयोक्ति नहीं कि सभा ने अपने कार्यों के द्वारा वह नींव रखी है जिसके ऊपर राष्ट्रभाषा के भव्य भवन का उत्तरोत्तर निर्माण हम निश्चिंतता के साथ करते जायँगे।

अतः ऐसी संस्था की हीरक जयंती कोई साधारण अवसर नहीं है और उसके अंतर्गत होनेवाले पत्रकार संमेलन का भी अपना विशेष महत्व है। यदि काशी में पत्रकारिता के संबंध में, विशेष रूप से हिंदी पत्रकारिता के संबंध में कुछ कहा जाय तो उसकी महत्ता बहुत बढ़ जाती है। हिंदी पत्रकारिता के विकास और निर्माण में इस नगरी की अपनी किंचित् देन है। पराड़कर जी के समान उन पत्रकारों को उत्पन्न करने का इसे श्रेय प्राप्त हुआ है जो आज हिंदी पत्रकार जगत् में पितामह के स्थान पर प्रतिष्ठित हैं। उपयुक्त तो यह होता कि हम किन्हीं वयोवृद्ध को इस आसन पर आसीन करते और पत्रकारों को उनके अनुभव तथा ज्ञान से लाभन्वित होने का अवसर प्राप्त होता। किंतु फिर भी जब आपका स्नेहपूर्ण आदेश है तो उसका पालन तो मुझे करना ही पड़ेगा।

पत्र और पत्रकारों का महत्व

यद्यपि इस समय मैं सक्रिय पत्रकारिता के क्षेत्र से कुछ पृथक् हो गया हूँ परंतु विगत २० वर्षों में पत्रकार कला की साधना मेरे जीवन का प्रमुख लक्ष्य रही है। इसके द्वारा

मैंने न केवल अपने अंतर की भावनाओं के व्यक्तीकरण से उद्भूत संतोष प्राप्त किया, प्रत्युत इसके माध्यम से मातृभूमि की सेवा करने का अवसर मिला और उस समय जब दलित भारतीय महाराष्ट्र अपने उत्थान के लिये प्रचंड विप्लव में संलग्न था, मुझे भी अपनी शक्ति भर उसमें भाग लेने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। पत्रकार कला में जो आकर्षण है, जो स्पंदन है, भावुकता के उद्बोधन की जो शक्ति है, अनुभूति के लिये अग्रसर करने की जो उत्प्रेरणा है, उसने मुझे सदा प्रभावित-संमोहित किया है। यह कला है जो हृदय के अंतरतम प्रदेश का स्पर्श करने में समर्थ और जीवन के विकास में सहायिका होती है। यह वह कला है जिसमें प्रखरता है, तेजस्विता है और जिसमें वह सजीवता है जो अपने उपासक को जीवन के मूल तथा उसके प्रकृत स्वरूप का साक्षात्कार करने की शक्ति प्रदान करती है। जीवन के व्यूह का, उससे प्रवाहित उसकी धाराओं का सापेक्ष और निरपेक्ष भाव से, सब्जेक्टिव और आब्जेक्टिव रूप में, दर्शन करने में पत्रकार समर्थ होता है। यही कारण है कि समाचारपत्रों ने संपूर्ण मानव जीवन के ऊपर अपना असाधारण प्रभाव स्थापित कर लिया है। जीवन का कोई अंग नहीं है, कोई पहलू नहीं है, कोई समस्या नहीं है जो आधुनिक समाचारपत्र की सीमा के बाहर हो। सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन में पत्रों का वह स्थान हो गया है कि सब उसकी मित्रता के इच्छुक रहते हैं और बहुधा उससे प्रकाश, पथ-प्रदर्शन तथा सहायता प्राप्त करते हैं। आज की पत्रकारिता के द्वारा सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और धार्मिक जीवन की प्रतिच्छाया ही हमें नहीं मिलती वरन् वह एक महान् दर्पण के समान है जिसमें सारा विश्व प्रतिबिंबित होता रहता है। आधुनिक जगत् में तो ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई है, जब व्यक्तिगत अथवा सामाजिक किसी भी दृष्टि से, ऐसे सुसंस्कृत जीवन की कल्पना करना तक संभव नहीं जिसके साथ दैनिक समाचारपत्र अभिन्न रूप से संबद्ध न हों।

पत्रों का जन्म चाहे जिस उद्देश्य को लेकर हुआ हो और चाहे जिन परिस्थितियों में हुआ हो, विकास-क्रम ने शीघ्र ही उनको ऐसी स्थिति में लाकर रख दिया जिसमें जनता उनसे रंजन ही नहीं, समाचार-ज्ञान ही नहीं वरन् पथ-प्रदर्शन की भी अपेक्षा करने लगी। उनसे यह आशा की जाने लगी कि वे जनता को उसके अधिकारों का बोध कराएँगे, उनकी प्राप्ति के लिये युक्ति बताएँगे, उन अधिकारों का हनन करनेवालों से युद्ध ठानेंगे और इस प्रकार जन-जीवन के प्रहरी का कार्य संपन्न करेंगे। क्रमशः यह भी माना जाने लगा कि वे व्यक्ति और समाज के पारस्परिक कर्तव्यों की सरणी का निर्माण करेंगे, कर्तव्य और अधिकार की शृंखला में सामंजस्य स्थापित करेंगे तथा उनपर आधारित उन नैतिक भावों को आकार प्रदान करेंगे जिनके द्वारा जीवन का मूल्यांकन करना संभव होगा। इतिहास साक्षी है कि इस उत्तरदायित्व की पूर्ति के लिये पत्र और पत्रकारों ने सतत संघर्ष किया है और पग पग पर उन्हें उत्सर्ग भी करना पड़ा है। पत्रकार ने जनहित को सदैव पवित्र धरोहर समझा है और उसका संरक्षक होने के नाते उसकी रक्षा करना अपना पुनीत कर्तव्य माना है। हम सदा से यह मानते आए हैं कि समाचार पत्र न केवल समाचार बेचने का एक उपाय है और न व्यवसायियों तथा व्यापारियों के उद्योग और व्यापार के प्रकाशन क

एक साधन मात्र। वह सहयोग के सिद्धांत पर आश्रित वह महान् उद्योग है जिसमें एक हिस्सेदार जनता जनार्दन है। पत्रकार कला की विशेषता यह है कि उसने जन-जीवन में जान डाल दी है और स्वतः सजीव जनता के हृदय के निकट आकर स्वयं भी सप्राण हो गई है। अन्याय का प्रतिरोध करने में, नव विचारों और कल्पनाओं का वाहन बनने में और नव रचना के संदेश का अग्रदूत होने में आज पत्रकार कला का स्थान अन्य कोई ले नहीं सकता। यही कारण है कि व्यापक मानव समाज पर आज उसका असाधारण प्रभाव है और जब तक पत्र और पत्रकार अपनी इस त्यागमयी, आदर्शमयी और जनसेवा से ओतप्रोत परंपरा का निष्ठापूर्वक निर्वाह करेंगे तब तक जनता के हृदयों पर उनकी यह सत्ता अक्षुण्ण बनी रहेगी।

भारतीय संघर्ष को पत्रों की देन

पत्र और पत्रकारों के उत्तरदायित्व तथा उनकी त्यागमयी परंपरा का उल्लेख करते हुए मुझे अनायास उन परिस्थितियों का स्मरण हो आता है जो इस देश के पत्रकारों के संमुख कुछ वर्ष पूर्व तक उपस्थित थीं। हम पराधीन थे और भारत के वक्ष पर विदेशी निरंकुशता नृत्य कर रही थी। वह हमारे इतिहास का कृष्णयुग था जब न तो मनुष्य जीवन का कोई मूल्य था और न उसके अधिकारों का कोई आदर। यहाँ के मनुष्य की वाणी पर नियंत्रण था। उसकी लेखनी की गति भी अवरुद्ध थी। जब समस्त देश का जीवन ही मुरझाया हुआ था और उसका भविष्य अंधकाराच्छन्न था तो उस समय स्वभावतः भारत के पत्र और पत्रकारों का भविष्य भी संकटापन्न ही था। वह समय था जब यहाँ का प्रत्येक व्यक्ति स्वतंत्र वातावरण में साँस लेने के लिये आकुल था। उस समय जन-समाज के विनम्र किंतु सजग सेवक होने के नाते हम पत्रकारों का भी यह कर्तव्य था कि आत्ममुक्ति के लिये संघर्ष-रत जनता की भावना को वाणी प्रदान करने का प्रयत्न करें। और, हमें इस बात पर संतोष करने का अधिकार है कि अपने इस दायित्व का निर्वाह हमारे पत्र और पत्रकारों ने अदमनीय दृढ़ता के साथ किया। हमारे सभी भाषाओं के पत्रों ने राष्ट्र की विप्लवात्मक शक्तियों के मार्ग की समस्त विघ्नबाधाओं और विदेशी शक्ति के दुर्दांत क्रोध का सामना करते हुए भी इस कार्य में अपनी सहायता प्रदान की। यदि हम यह कहें कि राष्ट्रीय उद्बोधन, जागरण और संघर्ष में सर्वतोधिक साहाय्य, बल और सचेष्टता प्रदान करने का श्रेय इस देश के पत्रकारों को प्राप्त है तो कुछ अनुचित न होगा। हम हिंदी के पत्रकारों को तो अपने कतिपय दशकों के जीवन पर परम संतोष है। इस कथन में अत्युक्ति नहीं कि विविध कठिनाइयों और बाधाओं का सामना करते हुए तथा अपनी साधनहीनता और अभाव को लादे हुए भी हिंदी भाषा के पत्रों और पत्रकारों ने अविचल भाव से राष्ट्रीय संघर्ष में सदा आगे बढ़कर भाग लिया है। वे एक ओर अपने ही लोगों से उपेक्षित होते रहे हैं तो दूसरी ओर विदेशी सरकार से आहत और प्रताड़ित होते रहे हैं। फिर भी निश्चल भाव से वे अपने पथ पर डटे रहे और गाँव की झोपड़ियों से लेकर महाप्रासादों तक राष्ट्र की विप्लवात्मक शक्ति के उद्घोष, आह्वान और संदेश को पहुँचाते रहे हैं। संघर्ष-युग का यह इतिहास हमारे लिये गौरव की वस्तु है और इससे हमारे भावी पत्रकार बंधुओं को भी सदैव प्रेरणा प्राप्त होती रहेगी।

स्वतंत्रता के बाद की स्थिति

आज हमारी परिस्थितियों में पूर्ण रूप से परिवर्तन हो गया है। हम भाग्यशाली हैं कि हमने अपने देश को सफल होते देखा और राष्ट्र की तपस्या के फलस्वरूप नवीन भारतीय गणतंत्र की उत्पत्ति और स्थापना हमारे संमुख हुई। देश की स्वतंत्रता के साथ साथ जहाँ हमारी परिस्थितियाँ बदली हैं वहीं हमारी आवश्यकताओं का रूप भी बदल गया है और हमारे कर्तव्य एवं अधिकारों ने दूसरी दिशा ग्रहण कर ली है। आज इस देश के पत्र और पत्रकारों के ऊपर महान् दायित्व आ पड़ा है। भारतीय राष्ट्र ने शताब्दियों के पश्चात् स्वतंत्रता प्राप्त की है। उसके संमुख अपने निर्माण का महान् कार्य उपस्थित है और इस कार्य को सफल बनाने का सबसे अधिक भार पत्रकारों पर ही है। पत्रकार की लेखनी से निकली भावनाएँ जीवन के अंग प्रत्यंग को ओत-प्रोत करती हैं। हमारे पत्र देश के कोने कोने में पहुँचते हैं, गाँवों की झोपड़ियों में जाते हैं, निर्जन वन-पर्वतों के अंक में बसे हुए लोगों के हाथों में पहुँचने से लेकर जन-संकीर्ण महान् नगरों के निवासियों तक पहुँचते हैं। पूरा जन-समुदाय आज अपने मानसिक आहार के लिये पत्र और पत्रकारों का मुखापेक्षी बना हुआ है। हमारे पत्र समाज के अधिकतर लोगों के लिये न केवल दिन प्रति दिन का साहित्य निर्मित करते हैं प्रत्युत उनके विचारों, भावों, दृष्टियों, आदर्श और व्यवहार की रचना भी करते हैं। ऐसी स्थिति में एक राष्ट्र के समस्त सामाजिक जीवन को वांछित दिशा की ओर उन्मुख करने का दायित्व सिवा पत्रकारों के और किसपर हो सकता है। पत्रकारों को अपना यह उत्तरदायित्व अनुभव करना है और तदनुरूप अपने कर्तव्य की पूर्ति करनी है। देश स्वतंत्र तो हुआ पर हमें अभी उसे स्वतंत्रता के अनुरूप निर्मित करना है जिससे स्वतंत्रता की रक्षा संभव हो और जन-समाज उसका उपभोग कर सके।

हमें यह स्मरण रखना है कि हमारी स्वतंत्रता ने जहाँ हमें संमान और मुक्ति प्रदान की है वहाँ इस देश के शताब्दियों के इतिहास के भले बुरे संस्कारों को लिए हुए भी वह उदित हुई है। जहाँ हमें अपने अतीत की शुभ्रता का उत्तराधिकार प्राप्त हुआ है वहीं गत एक सहस्र वर्ष के काले युग ने जिस कालिमा की सृष्टि की थी उसकी कलुषमयी छाया भी प्राप्त हुई है। नव-भारत के निर्माण के लिये इसी कारण अत्यंत सावधान होने की आवश्यकता है। इस देश को जहाँ अपने अतीत के उज्ज्वल संस्कारों से स्फूर्ति प्राप्त करनी है वहीं उसकी कालिमा से अपने को बचाना भी है। इतने प्राचीन और विशाल भारतीय राष्ट्र का अधःपतन अकारण नहीं हुआ था। उसके जीवन में जड़ता, अंधानुगमन, अपनी श्रेष्ठता का मिथ्या दंभ, संसार की गति के प्रति उदासीनता और उपेक्षा तथा पारस्परिक राग-द्वेष और जातीयता-मूलक सामाजिक विभेद भावना ने प्रवेश करके उसका विनाश किया था। आज जब हम नवीन स्वतंत्र भारतीय गणतंत्र की भित्ति रख चुके हैं और जनतंत्रात्मक आधार पर समाज की नव-रचना के लिये बद्धपरिकर हो रहे हैं, यह आवश्यक है कि उन विकारों से राष्ट्र को निर्मुक्त करें जिनके परिहार बिना एक सशक्त और प्रौढ़ भारतीय समाज की रचना संभव न होगी। वर्तमान भारत को इसी कारण आज ऐसे वाता-

वरण की आवश्यकता है जिसमें न पारस्परिक विद्वेष हो, न जाति-पाँति के झगड़े हों, न जन्म और धन के आधार पर छोटे बड़े का भेद भाव हो।

हमारा नवीन दायित्व

मैं विनय किंतु दृढ़तापूर्वक यह निवेदन करना चाहता हूँ कि इस वातावरण को उत्पन्न करने का पुनीत दायित्व पत्रकारों के ऊपर ही है। इस महत्तम कार्य में समर्थ भी वही हो सकते हैं। अन्य कोई माध्यम ऐसा नहीं जिसका जन-जीवन के ऊपर इतना प्रभाव हो और जिससे जनता सहायता की, पथ-प्रदर्शन की, अपने अधिकारों के संरक्षण की और मैत्री की इतनी आशा करती हो। मानव समाज के विश्वास की इतनी बड़ी पूँजी का भागीदार बनना साधारण बात नहीं है और इस दृष्टि से पत्रकार बड़ा भाग्यशाली है। परंतु इस विश्वास के कारण हमारे उत्तरदायित्व में जो वृद्धि होती है उसकी भी अनुभूति हमें होनी चाहिए। राष्ट्रभाषा हिंदी और अन्य भारतीय भाषाओं के पत्रकारों के ऊपर तो आज और भी अधिक भार है। हमारा संबंध इस देश की उस जनता से है जो बौद्धिक विकास की दृष्टि से पिछड़ी हुई स्थिति में है। वह न केवल प्राचीन रूढ़ियों और परंपराओं से ग्रस्त है प्रत्युत उसका मानस अभी इतना अस्थिर है कि सरलतापूर्वक उसे प्रभावित किया जा सकता है। फिर पत्रों से उसका प्रभावित होना तो और भी निश्चित है क्योंकि पत्रों के प्रति जनता के हृदय में असाधारण आस्था उत्पन्न हो गई है। आज आप अपने पत्रों के स्तंभों में जो कुछ भी प्रकाशित करते हैं, जो समाचार देते हैं, जो विचार व्यक्त करते हैं और उन्हें जिस रूप में जनता के समक्ष रखते हैं, उसकी व्यापक प्रतिक्रिया होना अनिवार्य है।

अपने इस प्रभाव का बोध और परिवर्तित परिस्थितियों की कल्पना हमें स्पष्ट रूप से होनी चाहिए। जन-जीवन से आधुनिक पत्रों का इतना घनिष्ठ संबंध, अथवा यों कहिए कि, एक बड़ी सीमा तक उनका यह तादात्म्य ही उनकी अपरिमेय शक्ति का स्रोत है। लोकतंत्र में (जहाँ लेखनी और विचाराभिव्यक्ति की इतनी स्वतंत्रता उपलब्ध हो) अपनी इस सशक्तता के कारण पत्र-जगत् 'चतुर्थ सत्ता' की संज्ञा से विभूषित होता है। स्मरण रखना चाहिए कि लोकतांत्रिक व्यवस्था की मूल भित्ति यह है कि 'सत्ता' जहाँ कहीं हो, सशक्त होते हुए भी अपनी शक्ति का दुरुपयोग न करे। लोकतंत्र की कल्पना में जहाँ एक ओर सत्ता की सार्वभौमता और शक्ति तथा अधिकार की अक्षुण्णता निहित है वहीं कर्तव्यों की परिधि की रचना करके उस सुंदर संतुलन की सृष्टि भी की गई है जिसके बिना कदाचित् लोकतंत्र नाम की किसी वस्तु का जीवित रहना संभव ही नहीं हो सकता था। यह संतुलन ही लोकतांत्रिक व्यवस्था का प्राण है। वही उसे संसार की समस्त दूसरी विचार-धाराओं की अपेक्षा अधिक मोहकता तथा विशिष्टता प्रदान करता है।

फलतः लोकतंत्र में शासन-सत्ता हो या जन-सत्ता अथवा 'चतुर्थ सत्ता', सबके अधिकार जहाँ एक ओर अक्षुण्ण हैं वहीं दूसरी ओर कर्तव्यों की शृंखला से आबद्ध हैं। शक्ति के भरोसे अधिकार का भोग और अधिकार के भरोसे शक्ति का मनमाना उपयोग लोकतंत्र के मूलोच्छेदन का ही नाम है। यही शक्ति और अधिकार का दुरुपयोग है। इस उच्छृंखल और अमानवीय भावना के प्रतिरोध स्वरूप ही लोकतंत्र की कल्पना उद्भूत हुई

थी। आज इस देश में स्वाधीनता की उपलब्धि के बाद हम उसी लोकतंत्र की बुनियाद रख चुके हैं। आज के पत्रकार को ऐसे वैयक्तिक और सामाजिक जीवन के निर्माण का नेतृत्व ग्रहण करना है जो देश के लिये और उसके स्वतंत्र लोकतंत्रात्मक जीवन के लिये सहायक हो सके। उसकी अपरिमित शक्ति और अधिकार-सत्ता की यह माँग है कि वह देश में ऐसे व्यक्ति और समाज की रचना करे जो अधिकारानुभूति करते हुए कर्तव्य के बोध से प्रबुद्ध हो। पत्रकार पर ही यह उत्तरदायित्व है कि वह जन-समाज के लिये यदि एक ओर अधिकार-शिखर की प्रतिष्ठा करे तो दूसरी ओर वहाँ तक पहुँचने के लिये कर्तव्य-सोपान का भी निर्माण करें। उन्हीं सीढ़ियों से ऊपर चढ़ने की शिक्षा इस देश के मानव को देने का काम उनके ऊपर है। जिन पत्रकारों ने दलित भारतीय राष्ट्र के विद्रोह का नेतृत्व किया था क्या उन्हीं पर आज यह भार नहीं है कि वे जनतांत्रिक नव भारत की रचना का कार्य संपादित करें ?

यह सत्य है कि आज पत्रों की स्थिति ऐसी है कि वे राजनीतिक विचार-धारा और आदर्शों से अपने को पृथक् नहीं रख सकते। विचारों का भेद वर्तमान है और वह सदैव बना रहेगा। इसके आधार पर विभिन्न संस्थाओं और दलों का निर्माण भी अनिवार्य है। व्यक्ति समूह जब विभिन्न दलों में संघटित हो जाते हैं तो यह सर्वथा स्वाभाविक है कि हमारे पत्र और पत्रकारों का झुकाव भी इस या उस विचारधारा की ओर न्यून या अधिक रूप में हो जाय। इस प्रकार की मत-विभिन्नता के लिये हमारी जनतंत्रवादी व्यवस्था में पूरा पूरा स्थान है। फिर भी कुछ मौलिक बातें ऐसी हैं जिनमें मूलतः हम सबका विश्वास होना ही चाहिए। देश की स्वतंत्रता को, उसकी सुरक्षा को, लोकतांत्रिक व्यवस्था को, भारतीय राष्ट्र की शक्ति की दृढ़ता को, आंतरिक शांति और व्यवस्था की रक्षा को और अपने संविधान के प्रति निष्ठा को हमें प्रत्येक दशा में विचार-भेद के ऊपर स्थान देना ही पड़ेगा।

किसी देश या राष्ट्र का विकास शून्यता में नहीं हुआ करता। हमें अपने संमुख आदर्श को, लक्ष्य को प्रतिष्ठित करके ही चलना होगा। हमारी कुछ मौलिक मान्यताएँ होनी ही चाहिए और उस संबंध में हमारे विचार स्पष्ट और निर्धूम होने चाहिए। मुझे क्षमा करें आप यदि मैं नम्रतापूर्वक यह निवेदन करूँ कि मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे हम किसी लक्ष्य को लेकर आगे नहीं बढ़ रहे हैं। यदि हम वर्तमान के प्रति विशुद्ध क्षोभ और घृणा उत्पन्न करने में अपनी शक्ति, अधिकार और प्रतिभा का उपयोग करें, यदि हमारी नीति से हमारा लक्ष्य, हमारा भविष्य और हमारी गतिविधि धूमिल तथा पथ-भ्रष्ट हो जाय, यदि जन-मन में हम राष्ट्र की शक्ति और चेतना के प्रति अनास्था, निराशा और अविश्वास उत्पन्न करने में लग जायँ और यदि हम परस्पर तेज-वध करने की क्रिया में संलग्न हो जायँ तो क्या वह स्थिति हमारे लिये वांछनीय और संतोषजनक हो सकती है ? मैं सविनय यह निवेदन करने की धृष्टता करता हूँ कि अब वह क्षण आ गया है जब हमें निमिष मात्र रुककर अपनी ओर दृष्टिपात करना चाहिए। पत्रकार, जगत् के रूप की ओर देखता है, गुण दोषों की विवेचना भी करता है। क्षण भर के लिये

उसे आज अपनी ओर भी देख लेना चाहिए। देख लेना चाहिए इसलिये कि वह आज राष्ट्र-जीवन के उस युग से यात्रा कर रहा है जब उसके ऊपर बड़ा भारी उत्तरदायित्व है, जब देश उससे महती आशा करता है और जब उसके ऊपर बड़ा भरोसा रखता है।

पत्र-व्यवसाय और पत्रकार

इतना निवेदन करने के बाद मैं यहाँ पर पत्रकारिता की वर्तमान स्थिति और उसके संमुख उपस्थित समस्याओं के संबंध में भी अपने भाव व्यक्त कर देना चाहता हूँ। अब वह युग आ गया है जब प्रेस और पत्रों ने उद्योग और व्यवसाय का रूप धारण कर लिया है। पत्रों की माँग और खपत दिन प्रति दिन बढ़ती जा रही है और बढ़ती जायगी। छपाई की कला में विज्ञान ने जो उन्नति की है उसके फलस्वरूप पत्रों की रचना और उनके उत्पादन में आश्चर्यजनक व्यापकता और परिवर्तन संभव हो गया है। ऐसी स्थिति में उद्योगपतियों और पूँजीपति व्यवस्थापकों के लिये पत्र-व्यवसाय की ओर आकृष्ट हो जाना सर्वथा स्वाभाविक है। परिस्थितियों के परिवर्तन ने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि किसी पत्र का उत्पादन और संचालन आधुनिक युग में बिना पूँजी के संभव नहीं है। फलतः पत्र-व्यवसाय पूँजीपतियों के हाथ में चला जा रहा है। संसार के अन्य देशों में प्रेस के संचालन का सूत्र प्रायः पूँजीपतियों के हाथों में पहुँच चुका है और इस देश में भी हम उसी दिशा में बढ़ते चले जा रहे हैं। यह स्थिति वांछनीय भले ही न हो तथापि ऐसा लगता है कि यह अनिवार्य है और इस युग में इसे रोकना संभव नहीं है।

स्थिति के इस परिवर्तन ने पत्रकारों को दूसरी दिशा में सोचने के लिये बाध्य किया है। जब पत्र का प्रकाशन उसके धन-स्वामी प्रकाशक के लिये सेवा का माध्यम न होकर अर्थ-संचय का एक साधन बन गया है तो पत्रकार से भी अब पहले की तरह केवल कष्टसहन और त्याग की आशा नहीं की जा सकती। इस अर्थ में पत्रकारिता ने आज पत्रकार के लिये सेवा-कार्य या मिशन न रहकर वृत्ति अथवा प्रोफेशन का रूप धारण कर लिया है। यह वस्तुस्थिति है और इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। आज का पत्रकार अपने कार्य के प्रतिदान के रूप में मानवोचित जीवनयापन के लिये अपेक्षित पारिश्रमिक की आशा करे तो यह सर्वथा उचित ही है। उसे यह माँग करने का पूरा पूरा अधिकार है कि उसकी कलात्मक प्रवृत्ति, उसकी प्रतिभा और उसकी कल्पना-शक्ति से धनार्जन करनेवाले पत्र-स्वामी पत्रकार को भी अपने उद्योग का अनिवार्य अंग और साझीदार समझें।

इस प्रकार पत्रों के क्षेत्र में पूँजी के प्रवेश ने पत्रकारों के एक वर्गहित को जन्म दे दिया है। आज पत्रकार सजग हैं और नई परिस्थितियों में अपने अधिकारों की रक्षा के लिये सचेष्ट हैं तथा इस उद्देश्य से संघटित भी हो रहे हैं। पत्रकारों के सुदृढ़ संघटन की आवश्यकता का मैंने सदा से अनुभव किया है। संघटन के द्वारा हम न केवल अपने अधिकारों की प्राप्ति में सफल होंगे अपितु अपने आदर्श की ओर अभिमुख होने के लिये भी हमें संघटन की शक्ति से बल प्राप्त होगा। परंतु मैं इस संबंध में एक निवेदन अवश्य करना चाहता हूँ। 'श्रमजीवी' पत्रकार की जो व्याख्या हमारे सामने आ रही है उससे पत्रकारों के

संघटन को कितना बल प्राप्त होगा यह विचारणीय विषय है। आज तो इस व्याख्या के कारण पत्रकारों की दो श्रेणियाँ उत्पन्न कर दी जाती हैं। एक तो संपादक अथवा सूत्र-संचालन की श्रेणी और दूसरी उनके अधीनस्थों की श्रेणी। मेरी समझ में इस प्रकार का विभाजन उचित नहीं है और वेतनभोगी संपादक भी पत्र-व्यवसाय से जीविका अर्जित करनेवाले अन्य व्यक्तियों की भाँति श्रमजीवी हैं। कल तक जो व्यक्ति सहायक संपादक था और इस नाते एक पंक्ति में था, आज यदि संयोग से संपादक के पद पर पहुँच जाता है तो उसे पंक्ति से विच्छिन्न हुआ मान लेना अथवा विच्छिन्न कर देना कदाचित् लाभदायक न होगा। मेरी समझ में तो श्रमजीवी विशेषण लगाना ही उचित नहीं है। पत्रकार, जो वेतन-भोगी हैं, चाहे वे संपादक हों अथवा और कोई, सभी एक श्रेणी के व्यक्ति हैं और उनकी समस्याएँ भी बहुत कुछ समान हैं। पत्र-संचालन में सबका समान दायित्व भी रहता है। ऐसी स्थिति में जहाँ तक हो सके, श्रेणी-विभाजन न करके हम संघटित रहें तो कदाचित् इससे अधिक शक्ति प्राप्त होगी।

कानूनी संरक्षण आवश्यक

इस संबंध में यह प्रश्न सहज ही उत्पन्न हो जाता है कि ट्रेड यूनियनवाद के आधार पर पत्रकारों को कानूनी संरक्षण प्रदान करना चाहिए, अथवा नहीं। यदि हम यह स्वीकार भी कर लें कि पत्रकारिता के क्षेत्र में ट्रेड यूनियनवाद का प्रवेश वांछनीय नहीं है तो भी इस बात को पूर्ण रूप से स्वीकार करना ही होगा कि पत्रकारों की वर्तमान आर्थिक स्थिति किसी प्रकार अपेक्षणीय नहीं है और न वे परिस्थितियाँ ही संतोषजनक हैं जिनके अंदर आज के पत्रकार को कार्य करना पड़ता है। पत्र-व्यवसाय से संबंधित व्यक्तियों को आज जिस अस्थिर वातावरण में कार्य करना पड़ रहा है उसे कभी भी उचित नहीं ठहराया जा सकता। जब हम किसान को उसके मौलिक अधिकारों में स्थिरता दिलाना चाहते हैं, मजदूरों के लिये स्थिरता चाहते हैं, सरकारी कर्मचारी के रूप में कार्य करनेवाले व्यक्ति के लिये स्थिरता आवश्यक समझी जाती है, तो कोई कारण नहीं है कि लाखों रुपए की पूँजी से व्यवसाय का रूप ग्रहण करके निकलनेवाले पत्रों में काम करनेवालों की स्थिति अस्थिर बनी रहे। इसलिये मैं इस बात को न केवल उचित अपितु आवश्यक समझता हूँ कि कोई न कोई ऐसा कानून बनना चाहिए जिससे पत्रकारों को सुरक्षा प्राप्त हो। भारत सरकार द्वारा नियुक्त प्रेस कमीशन इस समय पत्र और पत्रकारों से संबंधित सब बातों की जाँच पड़ताल कर रहा है। मैं समझता हूँ, कमीशन के प्रयत्न से कोई न कोई ऐसी व्यवस्था खोज निकालना अवश्य संभव होगा जिससे पत्रकारों की वर्तमान स्थिति में सुधार होगा और उन्हें स्थिरता और सुरक्षा प्राप्त हो सकेगी।

आप जानते हैं कि उत्तर प्रदेश की सरकार ने भी अपने यहाँ पत्रकारिता की स्थिति की जाँच के लिये एक समिति नियुक्त की थी। उसकी रिपोर्ट भी आप लोगों ने देखी होगी। इस संबंध में आगे कोई कारवाई करना प्रदेश की सरकार ने इसलिये आवश्यक नहीं समझा क्योंकि प्रेस आयोग ने देशव्यापी आधार पर समस्या की जाँच का काम अपने हाथ में ले लिया है। उत्तर-प्रदेशीय समाचारपत्र उद्योग जाँच समिति की रिपोर्ट भी

प्रदेशीय सरकार ने प्रेस आयोग के पास भेज दी है और स्वभावतः आयोग किसी निश्चय पर पहुँचने से पूर्व उसके प्रतिवेदनों पर भी विचार करेगा। यद्यपि ऐसा कोई कानून बनाने में, जो सब पत्रकारों पर समान रूप से लागू हो, अनेक व्यावहारिक कठिनाइयाँ सामने आएँगी तथापि मुझे आशा है कि कमीशन प्रत्येक दृष्टि से समस्या पर विचार करके कोई न कोई ऐसा मार्ग सुझाएगा जिससे पत्रकारों के हितों की भी रक्षा होगी और पत्रोद्योग को भी विकसित होने का अवसर प्राप्त रहेगा।

हिंदी पत्रकारिता

जहाँ तक हिंदी पत्रकारिता का संबंध है, स्वतंत्रता के पश्चात् उसका पथ प्रशस्त हुआ है। राष्ट्रभाषा हिंदी हो जाने के बाद से स्वभावतः हमारे पत्रों के गौरव और प्रभाव में वृद्धि हुई है। द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् हिंदी पत्रकारिता के क्षेत्र में जो प्रगति आरंभ हुई थी, वह पर्याप्त उत्साहवर्धक थी। ऐसा प्रतीत होता था कि शीघ्र ही हमारे पत्र भी प्रत्येक दृष्टि से विकास की वह अवस्था प्राप्त कर लेंगे जो अन्य भाषाओं के उच्च कोटि के पत्रों को प्राप्त है। परंतु मुझे भय है कि निकट भविष्य में यह आशा पूर्ण होने के लक्षण नहीं दिखाई देते। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि सन् १९५०–५१ के बाद हिंदी पत्रकारिता के क्षेत्र में चतुर्दिक् एक अवरोध की सी स्थिति उत्पन्न हो गई है। जिस तीव्र गति से पत्रों का विस्तार आरंभ हुआ था उसी गति से उनका संकोच होने लगा। अनेक पत्र इस बीच बंद हो गए हैं और बहुत से ऐसे हैं जो चल तो रहे हैं परंतु उनकी स्थिति संतोषजनक नहीं है। सब पत्रों का स्तर भी ऐसा नहीं है जिसकी स्वतंत्र देश के उत्तरदायी पत्रों से अपेक्षा की जाती है।

राष्ट्रभाषा हिंदी घोषित हो जाने के बाद भी हमारे व्यक्तिगत और सार्वजनिक जीवन पर विदेशी भाषा का प्रभुत्व बना हुआ है। मंच पर से अपनी भाषा का गुणगान करते हुए भी व्यवहार में अभी हमने उसकी प्रतिष्ठा नहीं की। इस देश का पठित समाज आज भी अंग्रेजी भाषा के व्यामोह में पड़ा हुआ है। हिंदी पत्रकारिता के विकास के लिये इस स्थिति में अविलंब परिवर्तन होना चाहिए। जब तक सब दिशाओं से हिंदी के पत्रों को प्रोत्साहन नहीं मिलेगा, हिंदी पत्रकारिता के समुचित विकास के मार्ग की बाधाएँ बनी रहेंगी। यह सही है कि हमारी भाषा के पत्रों में अभी पूर्णता नहीं आ पाई। उनमें स्थानाभाव रहता है, टाइप अपेक्षाकृत मोटा होने के कारण हम हम अपने स्तंभों में अधिक समाचार नहीं दे सकते। हिंदी के पत्रों को अंग्रेजी के पत्रों के बराबर विज्ञापन नहीं मिलता, जो मिलता भी है तो उसकी दर बहुत कम होती है। इन सबका परिणाम यह है कि हिंदी पत्रों की आय अन्य भाषाओं के पत्रों के तुल्य नहीं हो पाती और अपने कलेवर को सजाने के लिये अधिक व्यय करने में वे असमर्थ रहते हैं। यह स्थिति बदलनी चाहिए। सभी संबंधित व्यक्तियों को यह सोचना है कि हिंदी पत्रकारिता की उन्नति राष्ट्रभाषा की उन्नति का अभिन्न अंग है और प्रत्येक वर्ग और समूह का इस कार्य में योगदान आवश्यक है।

हिंदी संवाद समिति और टेलीप्रिंटर

हिंदी पत्रों के विकास के मार्ग की एक बहुत बड़ी बाधा यह है कि आज भी समाचारों का संकलन अंग्रेजी भाषा की संवाद समितियाँ करती हैं। इससे हमें न केवल बहुधा समाचार और वक्तव्य विकृत रूप में प्राप्त होते हैं अपितु हिंदी के पत्रकारों की अधिकांश शक्ति अनुवाद-कार्य में नष्ट हो जाती है। इतने विशाल देश की राष्ट्रभाषा की अपनी संवाद समिति का न होना एक ऐसा अभाव है जिसकी पूर्ति के लिये इस क्षेत्र में कार्य करनेवाले व्यक्ति और संघटनों को जितनी शीघ्रता से संभव हो, कदम उठाना चाहिए। यदि हिंदी के पत्र और पत्रकार संमिलित रूप से इसके लिये सचेष्ट हों तो वर्तमान संवाद समितियों को ही संप्रति इस प्रकार की व्यवस्था करने के लिये तैयार कर लेना कठिन नहीं होगा।

इसी से संबंधित प्रश्न टेलीप्रिंटर का है। संवादों का संकलन हिंदी में होने पर भी यदि उनके प्रेषण के लिये टेलीप्रिंटर की व्यवस्था न हुई तो हम यथास्थान ही बने रहेंगे। इस दृष्टि से देवनागरी लिपि में टेलीप्रिंटर का बनना आज हिंदी पत्रकारिता के विकास की एक अनिवार्य आवश्यकता है। भारत सरकार ने इस दिशा में कुछ कार्य किया भी है। उत्तर प्रदेश की सरकार भी इस संबंध में भारत सरकार से आग्रह करती रही है और उससे उसका पत्रव्यवहार हुआ है। प्रदेशीय सरकार इस बात के लिये उत्सुक है कि हिंदी टेलीप्रिंटर न केवल बनें प्रत्युत उनका उपयोग हो और समाचार पत्र इसके द्वारा समाचार प्राप्त करने लगें। हमें आशा है कि शीघ्र ही यह कार्य संपन्न होगा। नागरी लिपि सुधार के संबंध में अभी हाल में जो संमेलन प्रदेशीय सरकार के प्रयत्न से लखनऊ में हुआ था उसने लिपि में एकरूपता लाने की दिशा में सफल प्रयास किया है। मुझे आशा है कि हिंदी टेलिप्रिंटर और टाइपराइटर बनाने का तथा हिंदी की कंपोजिंग और कंपोजिंग की आधुनिक मशीनों को बना लेने का काम गति पकड़ेगा। मुद्रण के क्षेत्र में यदि सुविधाएँ उत्पन्न की जा सकीं तो उससे हिंदी पत्रकारिता के विकास का पथ प्रशस्त होगा। नए आविष्कारों की हमारी माँग तो उचित है ही, साथ ही हमें इस ओर भी ध्यान देना चाहिए कि हर क्षेत्र में हिंदी का अधिकाधिक उपयोग हो। आज अनेक शहरों में हिंदी में समाचार भेजने, पाने की सुविधा हो गई है, पर इससे लाभ उठाने की दिशा में अभी जो प्रगति हुई वह संतोषजनक नहीं है। जहाँ सुविधा हो, हिंदी पत्रों को चाहिए कि वह अपने संवाददाताओं से हिंदी में तार भेजने के लिये कहें और जनता को भी इस सुविधा से लाभ उठाने के लिये प्रेरित करते रहें।

अंतिम निवेदन

मैंने आपका बहुत सा समय ले लिया। अंत में केवल इतना ही निवेदन करना चाहता हूँ कि हिंदी के पत्रों की संपूर्ण परंपरा बड़ी उज्ज्वल रही है। आशा यह की जाती थी कि देश की स्वतंत्रता से उपलब्ध सुयोग के कारण उनका स्तर और भी ऊँचा उठेगा। पर हमारी यह आशा पूरी नहीं हुई है। इसके अनेक कारण हो सकते हैं। मुख्य कारण मेरी

समझ में यह है कि जिलों और छोटे बड़े स्थानों से अनेक पत्र पत्रकारिता के आदर्श और परंपरा के आधार पर नहीं वरन् राजनीतिक अथवा अन्य किन्हीं कारणों से निकलने लगे हैं। अपने व्यक्तिगत अथवा वर्गगत द्वेष और क्षोभ की भावना को तुष्ट करने के लिये अथवा सामाजिक जीवन में अपनी सत्ता स्थापित करने के अवांछनीय उद्देश्य से जो पत्र अस्तित्व में आएँगे उनसे उस आत्म संयम और आत्म-नियंत्रण की आशा नहीं की जा सकती जो पत्रकार-वृत्ति का मूलाधार है। वे निकल रहे हैं, बिना किसी नियंत्रण के और बिना समुचित आर्थिक आधार के। इसका परिणाम यह हुआ कि हमारे सार्वजनिक जीवन में पत्रों से जिस परिष्कार की आशा की जाती है उसके स्थान पर वे वातावरण को विषाक्त करने का ही कारण बन रहे हैं। मैं चाहता हूँ कि वे लोग जो पत्रकार-जगत् से संबंधित हैं और इस शक्तिशाली साधन के महत्व को समझते हैं तथा यह स्वीकार करते हैं कि स्वच्छंदता और स्वतंत्रता में अंतर होता है, इस स्थिति पर विचार करें। सरकारी हस्तक्षेप अवांछनीय होता है। ऐसी स्थिति में मेरा सुझाव है कि पत्रकारों को ही अपने संघटन के द्वारा यह चेष्टा करनी चाहिए कि जहाँ उनकी आर्थिक स्थिति सुदृढ़ हो वहीं उनके आदर्शों और परंपराओं की भी रक्षा हो और उनका स्तर गिरने के बदले उनके गौरव के अनुकूल ऊँचा उठ सके। लेखनी और वाणी की स्वतंत्रता अनिवार्य है, पर वह स्वच्छंदता की सीमा में पहुँचकर समाज के लिये अहितकर न हो जाय, इसका हमें ध्यान रखना होगा।

मेरा दृढ़ विश्वास है कि आज पत्रकारिता के विकास के मार्ग में जो असुविधाएँ हैं उनका अंत शीघ्र ही होगा। मुझे पत्रकारों के भविष्य पर पूरी आस्था है क्योंकि इस देश का भविष्य उज्ज्वल है। मेरी हृदय से कामना है कि हमारे पत्रकार इस पुरातन राष्ट्र के नव-निर्माण में सहायक हों और इस प्रकार अपने उत्तरदायित्व को पूर्ण करने का श्रेय और संतोष अर्जित करें।

२४ फाल्गुन, २०१० वि०]

साहित्य-गोष्ठी के अध्यक्ष

श्री पं० नंददुलारे वाजपेयी का भाषण

स्वागताध्यक्ष महोदय, तथा समागत साहित्यिक बंधुओ,

काशी नागरीप्रचारिणी सभा की हीरक जयंती के पुण्य-पर्व पर हिंदी के विशाल क्षेत्र से समवेत तथा अन्य विविध क्षेत्रों से समाहूत प्रथितयश साहित्यिकों की इस भव्य मंडली में आपने मुझे जो संमान प्रदान किया है, उसके लिये मैं आपका अशेष उपकृत हूँ। विद्या और संस्कृति की राजधानी काशी नगरी में राजरानी की भाँति शोभनीय 'नागरी' की प्रथम प्रतिष्ठा यहीं के तीन नागरिकों ने की थी, जिनमें अन्यतम थे मेरे संपूज्य आचार्य और गुरुदेव 'शुभ सौम्य मूर्ति निवान बाबू श्यामसुंदरदास'। आज जब हम राष्ट्रीय स्वतंत्रता की इस प्रभात-वेला में उनकी उस अनन्यवत्सला नागरी का हीरक अभिषेक कर रहे हैं, हमारी प्रथम प्रणति उन आचार्यदेव को ही समर्पित है, जिन्होंने आत्मजा कन्या की प्रीतिसंकुला भावना से नागरी की सेवा-संवर्धना की थी और जो इस सेवा को ही राष्ट्र-सेवा तथा ईश्वर-सेवा का पर्याय मानने का नया निदर्शन दे गए हैं। हमारी दूसरी प्रणति उन समस्त साधकों के प्रति है, जिन्होंने कठिन परिस्थितियों में हिंदी-साधना का व्रत अपनाया था तथा अपनी संपूर्ण शक्ति और सामर्थ्य से उसका निर्वाह किया था। हमारी तीसरी और अंतिम प्रणति उन असंख्य अज्ञात सहृदय-जनों के प्रति है, जिनके सचेतन हृदयों में अनेक या एक बार भी हिंदी-हित-कामना की सक्रिय तरंगें उद्वेलित हुई हैं।

उत्सव की पृष्ठभूमि में आप कुछ कार्य भी करना चाहते हैं। आपका आदेश है कि साहित्य की सामयिक समस्याओं पर कुछ विचार-विनिमय किया जाय। मेरे गुरुदेव भी कहा करते थे कि हमें औपचारिक चर्चा में अधिक समय नहीं लगाना चाहिए। उत्सवों का विनियोग भी विशेष प्रयोजन के लिये कर लेने में कोई हानि नहीं। मुझे भी उनका यह उपयोगितावादी मत मान्य रहा है और मैं देखता हूँ कि आपका आज का आदेश भी उन्हीं के मत की आवृत्ति या अनुसरण पर आश्रित है। परंतु न जाने क्यों आपके आज के आदेश में मुझे विपर्यय दिखाई देता है। मैं मानता हूँ कि यह मेरा ही मतिभ्रम होगा, परंतु आज मैं आपसे इस मतिभ्रम को भी छिपाना नहीं चाहता। मैं पूछता हूँ, उत्सव उत्सव है और कार्य कार्य, और दोनों को एक में मिलाया कैसे जा सकता है ? उत्सव का अर्थ है आमोद, प्रमोद, आनंद, उल्लास और कार्य का अर्थ है चिंतन, मनन, आयास, उपक्रम। क्या इन दोनों में कहीं समानता भी है ?

आप जब तक इस प्रश्न का उत्तर सोचते हैं, या मुझसे ही कोई प्रतिप्रश्न पूछते हैं, मैं आपको उत्सव की दिशा में कुछ और आगे ले चलता हूँ। सभा की स्थापना के आरंभिक दिन कैसे रहे होंगे? वे पुरुष कौन थे, वे परिस्थितियाँ क्या थीं? समय के विपरीत प्रवाह में उन्हें कितना तैरना पड़ा? फिर भी क्या उन्होंने हार मानी? विदेशी शासन का दुष्परिणाम जीवन के किसी एक क्षेत्र में न पड़कर सभी क्षेत्रों में पड़ा करता है। उन सभी क्षेत्रों में विद्रोह की शक्तियाँ भी जन्म लेती हैं और उभर कर सामने आती हैं। हम भूलते हैं, जब यह समझते हैं कि विद्रोह केवल राजनीति की वस्तु है और राजनीतिज्ञों का धर्म है। विद्रोह वास्तव में इतिहास की विकृत गतिविधि को रोकने का उत्कट प्रयास है। वह भाग्य की भ्रांत लिपियों को मिटा देने का अचूक आयोजन है। सभी देशों, समयों और समाजों में—जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में—विद्रोही होते हैं, विद्रोह की परंपरा होती है। आज का विद्रोह कल की वास्तविकता बन जाता है, और तब नए विद्रोह की आवश्यकता पड़ती है।

सभा की संस्थापना में भी विद्रोह की ऐसी ही चिनगारियाँ काम कर रही थीं। उन दिनों अंग्रेजी इस देश की राजभाषा बन रही थी और उर्दू उत्तर भारत की राष्ट्रभाषा बनने की तैयारी कर रही थी। भाषाएँ अपने आप में निर्दोष होती हैं, निर्दोष ही नहीं वे सांस्कृतिक विनिमय का साधन भी बन सकती हैं, पर तभी जब उनका प्रयोग सहज विधि से किया जाय। किंतु भाषाओं की एक वक्र या विपरीत गति भी हो सकती है और वे संस्कृतियों और राष्ट्रीय समूहों के विघटन या व्यपघात के काम में भी लाई जा सकती हैं। यह वह समय था जब कहा जाता था कि अंग्रेजी हमारे बहु-भाषा-भाषी महादेश में अन्विति और एकता स्थापित करेगी। वह उत्तर और दक्षिण, पूर्व और पश्चिम के भारतीय भूखंडों को एक में मिला रखेगी। किंतु वास्तव में यह सत्य का एक छिछला अंश था। वास्तविकता यह थी कि अंग्रेजी हमारे शिक्षित समाज में अहंभावना और पृथक्त्व-बुद्धि बढ़ाकर स्वदेश में ही एक विदेशी सांस्कृतिक वर्ग का निर्माण कर रही थी। और उर्दू? उर्दू किसी प्रदेश या समूह की भाषा कभी नहीं रही। वह व्यक्तियों की भाषा ही रही है। उसके शीन और क़ाफ़ उसे भारतीय परिवारों में प्रवेश करने नहीं देते। वह घरों में न रहकर बाज़ारों, दफ्तरों और दरबारों में ही रहती आई है। उसे किसी अल्पसंख्यक वर्ग या जाति की धार्मिक या सांस्कृतिक भाषा भी नहीं कहा जा सकता। किंतु उसी अज्ञात कुल-शील उर्दू को भारतीय जन-गण की व्यापक भाषा बनाने की तैयारियाँ की जा रही थीं।

इन्हीं अनर्थों के विरुद्ध नागरीप्रचारिणी सभा की स्थापना हुई थी। वह भाषा और संस्कृति के क्षेत्र में हमारे राष्ट्रीय विद्रोह की प्रथम प्रतीक थी। अपने प्राथमिक वर्षों में उसकी नीति आत्मरक्षात्मक अधिक थी। कदाचित् इसीलिये उसके नाम में हिंदी के स्थान पर नागरी शब्द रखा गया था। उन आरंभिक वर्षों में हिंदी प्रदेश की राष्ट्रीयता भाषा का केंद्र ग्रहण कर रही थी। हिंदी, नागरी और राष्ट्रीयता अन्योन्याश्रित वस्तुएँ समझी जाती थीं। हम यह मानते हैं कि हमारा यह दृष्टिकोण सीमित और संकुचित था,

किंतु हमें यह न भूलना चाहिए कि हम एक दुर्दमनीय विदेशी सत्ता की नृशंस नीति से टक्कर लेने जा रहे थे। वैसी स्थिति में हमारे भीतर कट्टर राष्ट्रीय प्रवृत्तियाँ काम कर रही हों, तो इसमें आश्चर्य क्या है !

उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम भाग में सभा के माध्यम से हिंदी में दो-तीन अन्य प्रवृत्तियाँ भी प्रचारित हुई। एक तो थी भाषा के प्रयोग में अतिशय पवित्रतावादी दृष्टि-कोण। उर्दू और फारसी के साथ बोलचाल के ठेठ हिंदी शब्दों का भी व्यवहार कम किया गया और एकदेशी प्रयोगों के बदले शब्दों के शिष्ट प्रतिमान काम में लाए जाने लगे। कहा जाता है कि शब्द प्रयोग और व्याकरण के नियमन से भाषा में परिष्कार व्यापकता और स्थायित्व आता है। किंतु शिष्ट प्रतिमान अतिवादी भी हो सकते हैं, जो भाषा में दूसरे प्रकार के दोष उत्पन्न करते हैं। हम स्वीकार करते हैं कि आधुनिक हिंदी की उस निर्माणावस्था में हमने भाषा संबंधी पवित्रतावादी दृष्टि को आवश्यकता से कुछ अधिक कठोर बना लिया था, परंतु वह भी ऐतिहासिक परिस्थितियों की प्रतिक्रिया थी, जिससे बच सकना आसानी से संभव न था।

दूसरी प्रवृत्ति थी नए लेखकों में देश के प्राचीन महत्व की बढ़ी-चढ़ी धारणा। इनमें से कुछ को तो नवनिर्मित आर्यसमाज से सीधी प्रेरणा मिल रही थी, परंतु कुछ अन्य लेखक दूसरे प्रकार के सांस्कृतिक और ऐतिहासिक अध्ययन से अनुप्रेरित हो रहे थे। तीसरे कुछ लेखक ऐसे थे जो आदर्शवादी भावुकतावश अतीत का गुण-गान करने लगे थे। परंतु संतोष की बात यह थी कि ये प्रवृत्तियाँ निरी एकांगी नहीं बन पाईं। प्राचीन उत्कर्ष के साथ के नए दर्शन और विज्ञान की भी पीठिका हमारे लेखकों के समक्ष आने लगी थी। सामयिक स्थितियों और आवश्यकताओं से भी वे परिचित होने लगे थे। इस प्रकार उनकी दृष्टि में बहुत कुछ संतुलन बना रहा।

बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ होते ही सभा का कार्यक्षेत्र बढ़ चला और क्रमशः उसके तीन विभाग हो गए। एक 'हिंदी साहित्य संमेलन' के रूप में हिंदी प्रचार और प्रसार के कार्यों में संलग्न हुआ। इसे सभा की राजनीतिक शाखा भी कह सकते हैं। दूसरी शाखा 'सरस्वती' पत्रिका के रूप में प्रयाग पहुँची और वहाँ सामयिक साहित्य-रचना का कार्य करने लगी। तीसरी शाखा काशी में ही रही जहाँ वह कोश और व्याकरण-निर्माण, प्राचीन साहित्यिक अनुशीलन और प्रकाशन तथा विभिन्न भाषाओं की श्रेष्ठ कृतियों के अनुवाद आदि का कार्य करती रही। यह संयोग की ही बात थी कि संमेलन ने नाम तो साहित्य का लिया किंतु काम अधिकतर किया असाहित्यिक प्रचार का और सभा 'प्रचारिणी' विशेषण के रहते हुए भी विशेषतः स्थायी साहित्यिक निर्माण और अनुशीलन में ही संलग्न रही। केवल 'सरस्वती' अपने नामानुरूप काम करती रही और सामयिक साहित्य की रचना और प्रवर्द्धना की प्रतिनिधि पत्रिका बनी।

अबतक हिंदी के लेखक संख्या में थोड़े थे और पाठकों की भी संख्या अधिक न थी। अतः क्रमशः हमारी हिंदी समाज-विशेष की भाषा से आगे बढ़कर सच्चे अर्थों में

जन-भाषा या राष्ट्रभाषा का स्थान ग्रहण करने जा रही थी। जन-भाषा या राष्ट्र-भाषा किसे कहते हैं ? मेरे विचार से जन-भाषा या राष्ट्र-भाषा वह है जो राष्ट्र के संपूर्ण जन समूह को सुलभ हो तथा उस जन-समूह की सारी जीवन-विधि तथा उसकी समस्त आशाओं और आंकांक्षाओं को प्रतिफलित करे। ऐसी भाषा या ऐसा साहित्य किसी एक व्यक्ति या संस्था के मान का नहीं रहता। वह अपनी भावना, विचारणा, रूप और शैली में अपने अनेक स्तरों और प्रतिमानों की योजना अपने आप ही करता है। मानों जीता जागता राष्ट्र ही साहित्य के ढाँचे में ढलकर अपने को व्यक्त कर रहा हो। ऐसी स्थिति में साहित्यिक संस्थाएँ नियमन और नियंत्रण का कार्य छोड़कर दिशा-निर्देश और योजना निर्माण का कार्य ही अपना सकती हैं।

सन् १६०० से १६३१ तक हिंदी साहित्य ने सभा के भीतर आचार्य द्विवेदी (महावीर प्रसाद) दास (श्याम सुंदर) तथा शुक्ल (रामचंद्र) जैसे व्यवस्थापकों और पंडितों की उद्भावना की तो सभा के बाहर मैथिलीशरण गुप्त, प्रेमचंद तथा प्रसाद जैसे साहित्यिकों का उत्सर्जन किया। ऊपरी दृष्टि से देखने पर आप कहेंगे कि भीतर और बाहर में कोई संबंध या तारतम्य नहीं। भीतर थे गद्य-लेखक, समीक्षक और शिक्षक तथा बाहर थे कवि, औपन्यासिक और नाटककार; दोनों की तुलना यदि की भी जाय तो अतिशय दूरान्वयी होगी। परंतु मैं इस स्थिति को एक दूसरी ही दृष्टि से देखता हूँ। मुझे भीतर और बाहर की गतिविधि में बड़ी हद तक साम्य और संबंध दिखाई देता है। रचनात्मक साहित्य और समीक्षा, पद्य और गद्य के नैसर्गिक अंतर को ध्यान में रखते हुए यदि हम तुलना करें, तो मेरे कथन में तथ्य दिखाई देगा। यह तो सर्व विदित और सर्वजन स्वीकृत है कि गुप्तजी पर आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी का अमित प्रभाव पड़ा है। कह तो यह सकते हैं कि यदि यह प्रभाव इतना प्रत्यक्ष और बलशाली न होता, तो गुप्त जी की प्रतिभा अधिक स्वच्छंद होकर विकसित होती और तब उनकी रचनात्मक क्षमता का अधिक मौलिक और यथार्थ रूप प्रस्फुटित हो पाता। यह जो कुछ हो, इससे कवि और मार्ग-द्रष्टा का संबंध तो प्रत्यक्ष हो जाता है। प्रसाद जी के काव्य और रचनात्मक साहित्य को निर्धारित करनेवाली शक्तियाँ अस्पष्ट अवश्य हैं, परंतु मुझे तो यह जान पड़ता है कि यदि आचार्य शुक्ल और आचार्य दास जैसे व्यक्ति क्षेत्र में होते तो प्रसाद जी की प्रतिभा का यह परिष्कार न होता है और वे कदाचित् 'आँसू' की वैयक्तिक और निराशामयी धारा में और दूर तक बह जाते। उनकी प्रौढ़ कृतियों में जो भाव-संतुलन है, विशेषतः उनकी 'कामायनी' में जो नैतिक अवस्था है, वह दास-शुक्ल के अस्तित्व की ही देन जान पड़ती है। आप कह सकते हैं, मुझे इस प्रकार का अनुमान लगाने का अधिकार क्या है। मेरा नम्र निवेदन यह है कि यह कोरा अनुमान ही नहीं है, इसमें उक्त महानुभावों के संपर्कजन्य मेरे निजी संस्मरण भी समाहित हैं। प्रेमचंद्र के संबंध में मैं केवल दो तीन बातों का संकेत करूँगा। वे उर्दू से हिंदी में आए किसकी प्रेरणा से? क्या 'सरस्वती' की छाया उनकी लेखनी में दिखाई नहीं देती? क्या सामाजिक सुधार और राष्ट्रीय नवनिर्माण के उनके आदर्श द्विवेदी जी और उनकी 'सरस्वती' द्वारा समर्थित नहीं थे? यदि इन प्रश्नों की छान-बीन की जायगी तो वास्तविक स्थिति का पता लगेगा। यह तो मैं आरंभ में ही कह चुका हूँ

विकासोन्मुख राष्ट्रीय साहित्य जन समाज की वस्तु होता है, वह किसी संस्था या उसके सदस्यों द्वारा नियमित और नियंत्रित नहीं हो सकता, चाहे वह संस्था या उसके सदस्य कितने ही महान् हों।

२

अब तक के वक्तव्य में मैंने हिंदी के आधुनिक विकास की परिस्थितियों का एक सामान्य रेखाचित्र उपस्थित किया है जिससे यह आभासित होता है कि हिंदी एक विद्रोहिनी राष्ट्रीय शक्ति के रूप में उदय हुई थी और उसकी क्रमिक प्रगति भी होती गई है। क्रमशः वह राष्ट्र-भाषा और राष्ट्रीय साहित्य का दायित्व ग्रहण करने की ओर अग्रसर हुई है और उसे इस दायित्व के योग्य बनाने में नागरीप्रचारिणी सभा का प्रमुख हाथ रहा है। इस प्रकार मेरे इस उत्सव-निबंध की भूमिका तैयार हो गई है और अब मैं आपको यह आश्वासन देने की स्थिति में हूँ कि यदि आप थोड़ा सा धैर्य और धारण करें तो मैं आपके उस आदेश का भी पालन करूँगा जो आपने मुझे आरंभ में दे रखा है। मुझे स्मरण है कि आप साहित्य की सामयिक समस्याओं के संबंध में विचार-विनिमय करना चाहते हैं। मैं आपको निराश नहीं करूँगा, परंतु कैसे, यह आप आगे देखेंगे। अभी तो मैं आपको आज के हीरक-उत्सव के संबंध में ही थोड़ा और संलग्न रखूँगा। अभी अभी मैंने सभा की छत्रच्छाया में होनेवाली हिंदी की प्रगति की जो चर्चा की है उसमें भाषा और विचारों के विकास का ही अधिक उल्लेख किया है। अब मैं हिंदी की इन वर्षों की साहित्यिक गतिविधि को भी संक्षेप में आपके समक्ष रखता हूँ।

सभा के जन्म के आरंभिक वर्षों में हमारी पुरानी साहित्यिक पूँजी ज्ञात कम थी, अज्ञात अधिक। 'रामचरितमानस', 'सूरसागर', 'बिहारी सतसई', रहीम और कबीर के दोहे और साखियाँ, गिरधर की कुंडलियाँ, हिंदी साहित्य की उन दिनों यही मुख्य पूँजी थी। इतने पर ही हमारा सारा व्यापार अवलंबित था। साहित्य की अनेक अमूल्य निधियाँ अज्ञात और अप्रकाशित पड़ी थीं। आवश्यकता थी, खोज की और प्रकाशन की। खोज का काम तो सभा द्वारा ही आरंभ और संचालित हुआ, किंतु प्रकाशन-कार्य में सभा की देखा-देखी दूसरे प्रकाशक भी प्रवृत्त हुए। पुस्तकों के छपते ही टीका-टिप्पणी का कार्य भी चल निकला और देखते ही देखते प्राचीन साहित्य का एक अच्छा भंडार हमारे संमुख उपस्थित हो गया। आगे चलकर इस भंडार में परिष्कार और परिमार्जन भी होता रहा और कितनी ही समृद्ध संस्थाओं ने इसमें हाथ बँटाया। आजकल उन्हीं प्राचीन प्रकाशनों के वैज्ञानिक संस्करणों की भरमार हो रही है।

इसी प्रकार उन पुराने ग्रंथों पर जो टीका-टिप्पणी आरंभ हुई थी, उसने कवियों की निंदा-स्तुति और आलोचना-प्रत्यालोचना का भी स्वरूप ग्रहण किया। कुछ और परिष्कृत होकर यह हिंदी के प्राचीन साहित्य की तुलनात्मक समीक्षा कहलाई। फिर उस समीक्षा में कवियों की कल्पित या वास्तविक जीवनी भी जुड़ी और तिथियाँ भी थोड़ी-बहुत निर्धारित हुईं। क्रमशः वह समय आया जब हिंदी के पुराने 'नव सर्वश्रेष्ठ' कवियों को लेकर 'हिंदी नवरत्न' प्रकाशित हुआ। अंत में बारी आई

उपर्युक्त सारी सामग्री का उपयोग करते हुए 'मिश्रबंधु विनोद' नामक इतिहास ग्रंथ लिखने की। खोज और इतिहास-लेखन का यह प्राथमिक कार्य 'मिश्रबंधु' नामधारी तीन प्रख्यात हिंदी सेवकों ने सभा के तत्वावधान में ही किया था।

किंतु यह सभा के विकास का प्रथम चरण था (जिसकी अवधि बीस वर्ष की थी)। उसके द्वितीय चरण में (सन् '१५ से '३५ के अंतर्गत) हिंदी के प्रशस्त लेखक और आचार्य रामचंद्र शुक्ल का आविर्भाव हुआ जिनकी महती साहित्य-चेतना में निर्माणात्मक प्रतिभा तो प्रवाहित थी ही; चिंतन, विवेचन, समीक्षण, अनुशीलन उद्भावना और आविष्करण, के अजस्र स्रोत भी समाहित थे, उनके संश्लिष्ट व्यक्तित्व में ये सभी तत्व इस प्रकार हो गए थे जैसे किसी कक्ष में प्रसाधान के अनेक बहुमूल्य द्रव्य यथास्थान सज्जित हों। कहना कठिन है कि शुक्ल जी साहित्य सिद्धांतों के विवेचक बड़े थे या कृतियों के समीक्षक बड़े। उनके समीक्षा-कार्य में ऐतिहासिक, सांस्कृतिक, दार्शनिक और साहित्यिक पक्षों का अपूर्व संगम उपस्थित हुआ है। एक ओर जहाँ वे 'भ्रमरगीत' के पदों की साहित्यिक सुषमा का मार्मिक उद्घाटन करते हैं, दूसरी ओर जायसी और कबीर की सांस्कृतिक परंपराओं का सूक्ष्म विवेचन करने में भी अचूक लाघव दिखाते हैं। रहस्यवाद की मीमांसा में वे भारतीय तथा सभी मजहबों के तुलनात्मक ज्ञान का अपूर्व निदर्शन देते हैं। इतिहास-संमत विवेचनों से तो उनके सभी समीक्षा ग्रंथ भरे पूरे हैं। भाषा-शास्त्र, साहित्य-शास्त्र तथा अन्य अनेक शास्त्रों के वे निष्णात पंडित थे। उनके जायसी, तुलसी और सूर के प्रशस्त साहित्यिक विवेचनों ने हिंदी साहित्य में समीक्षा की प्रौढ़ और समुन्नत परंपरा स्थापित की। 'साहित्य के इतिहास' और 'रस-मीमांसा' में उनका शोध और उनकी उद्भावना दोनों ही संनिहित हैं।

शुक्ल जी के पश्चात् शोध और समीक्षा के संमिलित मार्ग पर चलनेवाले लोगों की संख्या कम होने लगी है। यह समझा जाने लगा है कि ये दो अलग अलग सरणियाँ हैं। यह आवश्यक नहीं कि एक अच्छा शोधकर्त्ता एक उत्तम समीक्षक या साहित्य-चिंतक भी हो। समीक्षक के लिये आवश्यकता होती है साहित्य के विस्तृत अध्ययन, उसकी समस्त पार्श्वभूमियों के निरीक्षण और साहित्यिक संस्कार की। शोधकर्त्ता के लिये साहित्यिक संस्कार आवश्यक नहीं और उसका अध्ययन भी असाहित्यिक हो सकता है। इस संबंध की कुछ अधिक चर्चा मैं आगे चलकर करूँगा। यहाँ इतना ही कहना है कि आचार्य शुक्ल के पश्चात् प्राचीन शोध या अनुशीलन का कार्य काशी में डा० पीतांबर दत्त बडथ्वाल, पंडित चंद्रबली पांडे और पंडित विश्वनाथप्रसाद मिश्र तथा दूसरे स्थानों में दूसरे लोग चलाते रहे हैं।

हिंदी के पुराने साहित्य के पुनरुद्धार कार्य के साथ नवीन निर्माण की धाराएँ भी प्रवाहित हो रही थीं। सभा की स्थापना के दिन से लेकर १९३५ में कामायनी के प्रकाशन तक, चालीस वर्षों के अंतर्गत, हिंदी के कुछ समीक्षक दो युगों की कल्पना करते हैं। मुझे ऐसा जान पड़ता है कि सृजन के क्षेत्र में यह वस्तुतः एक ही युग था, तैयारी और निर्माण के दो यामों से समन्वित। इसे हम इस प्रकार भी देख सकते हैं कि भारतेंदु हरिश्चंद्र में

प्राचीन रीतिकविता की जो शैली और संस्कार शेष थे वे क्रमशः छूटते गए और उनके छूटने पर ही नई कविता का नया अभ्यास आरंभ हुआ। परंतु कविता निरे अभ्यास की वस्तु नहीं है, वह युग की रचनात्मक चेतना का सामूहिक प्रतिफलन भी है। कहा जा सकता है कि सभा के निर्माण-काल से नई युग-चेतना का आविर्भाव होने लगा था, परंतु काव्य रूप में उसके सम्यक् उत्सर्जन की तिथि १८९५ न होकर १९१९-२० ही मानी जायगी। कुछ समीक्षक पुनरुत्थानवादी, राष्ट्रीयतावादी और स्वच्छंदतावादी प्रवृत्तियों के आधार पर भारतेंदु युग, द्विवेदी युग और छायावादी युग जैसे हिंदी काव्य के तीन युगों का निर्देश करते हैं, परंतु तीनों प्रवृत्तियाँ न्यूनाधिक रूप में उक्त तीनों काव्य-यामों में पाई जाती हैं। इसके पृथक्करण का प्रयत्न मुझे समीचीन नहीं जान पड़ता। मेरी तो धारणा है कि भारतेंदु से आरंभ होनेवाली नई कविता की क्षीण धारा ही अनेक सहायक स्रोतों की संनिधि पाकर आधुनिक हिंदी काव्य के महानद में परिवर्तित और परिणत हुई है। इस एक और अविच्छिन्न धारा को तीन स्वतंत्र स्रोतस्विनियों में बाँटकर देखना सम्यक् दृष्टि का परिणाम नहीं कहा जा सकता।

भारतेंदु की युग-प्रवर्तक भावनाओं में जन्म लेकर, हरिऔध मैथिलीशरण की पाठशालाओं में पढ़ी हुई, श्रीधर पाठक और प्रसाद की आरंभिक कृतियों में नई अँगड़ाई लेती हुई तथा पंत और निराला के काव्य में अपनी किशोर और तरुण प्रगल्भ भावनाओं की व्यंजना करती हुई, 'कामायनी' में अपने यथार्थ यौवन का परिचय देनेवाली नवयुग की यह कविता-कामिनी चाहे जिस नाम से पुकारी जाय, इसका एक अविच्छेद्य व्यक्तित्व तो स्वीकार करना ही होगा। नई युग-चेतना को उसके समग्र रूप में ग्रहण करने की दृष्टि से भी यह आवश्यक है कि नए युगकाव्य की अनेक इकाइयाँ न बनाकर एक ही इकाई के रूप में हम इसके संपूर्ण विकास का अध्ययन करें। यह भी निश्चय है कि नवयुग की यह काव्यधारा अब भी अपने बहाव पर है और इसकी भविष्य की गतिविधि बहुत कुछ इस बात पर अवलंबित होगी कि आज हम इसके लिये कैसी पृष्ठभूमियों और प्रसारभूमियों का निर्माण करते हैं।

रचनाओं के साहित्यिक विन्यास या सौंदर्य के रूप-पक्ष में ही नहीं भावों, विचारों, संवेदनाओं और जीवन - दृष्टियों के वस्तुपक्ष में भी आधुनिक हिंदी कविता उल्लेखनीय ऊँचाइयों पर पहुँच चुकी है। इसे आप बिना किसी संकोच के राष्ट्रीय चेतना की प्रतिनिधि कला कह सकते हैं। समय होता तो मैं इसके विविध उन्नायकों की विशेषताओं का कुछ विवरण भी देता, किंतु उत्सव के अवसरों पर लोग विवरण नहीं सुनना चाहते। उन्हें तो सार - कथन या सामूहिक प्रशस्ति ही प्रिय होती है। इसी दृष्टि से मैं सार रूप में यह निवेदन करना चाहता हूँ कि नई हिंदी कविता पूर्णतः स्वस्थ है और आगामी समस्त संभावनाओं के लिये उसने यथेष्ट तैयारी कर ली है।

उपन्यासों और कथा-साहित्य के क्षेत्र में भी प्रायः काव्यक्षेत्र जैसी ही हलचल रही है। अनेक सजीव सृष्टियों के पश्चात् जैसे काव्य में 'कामायनी' प्रस्तुत की गई, वैसे ही अनेक मूल्यवान प्रयोगों के पश्चात् प्रेमचंद जी ने अपना 'गोदान' उपन्यास उपस्थित

किया। कामायनी और गोदान की निर्माण - तिथि प्रायः एक ही है। सच पूछिए तो सन् १९३५ या उसके आसपास आधुनिक हिंदी साहित्य के विकास का एक चरण अपनी पराकाष्ठा पर पहुँचा था। समीक्षा में आचार्य शुक्ल, कथा - साहित्य में प्रेमचंद और उनका गोदान तथा काव्य-कृतियों में प्रसाद की 'कामायनी' हिंदी साहित्य के तीन ऐसे शिखर हैं जो किसी भी महान् साहित्य को गौरव दे सकते हैं। हमें अपने आगामी साहित्य विकास को इन्हीं की तुला पर तौलकर देखना होगा।

प्रश्न होता है कि इन तीन शिखरों में हमें कभी-कभी इतना अंतर क्यों दिखाई पड़ता है! शुक्ल जी को लोग मर्यादावादी या रसवादी कहकर पुराणपंथी सिद्ध करना चाहते हैं। प्रसाद की 'कामायनी' को कल्पना - प्रधान और छायावादी सृष्टि कहकर तरह देना चाहते हैं। प्रेमचंद के 'गोदान' को ही यथार्थवादी कृति की संज्ञा देकर लोग एकमात्र काम की वस्तु समझते हैं। परंतु मेरे विचार से यह अतिशय ऊपरी और बहुत ही भ्रामक धारणा है। पहले तो हमें काव्य, उपन्यास और समीक्षा की पृथक्-पृथक् परंपराओं को देखना होगा और यह निश्चय करना होगा कि विकास की किस अवस्था से आरंभ कर किस स्थिति तक पहुँचाने का श्रेय इन महानुभावों को है। फिर हमें यह भी जानना और निर्णय करना होगा कि इन साहित्य रूपों की अपनी विशेष मर्यादाएँ और प्रवृत्तियाँ क्या हैं; और तब हमें गोदान, कामायनी और शुक्लजी की समीक्षा-कृतियों के तुलनात्मक महत्व का आकलन करना होगा। ऐसा न होने पर, हम जिस अधकचरी अभिज्ञता से साहित्यिक व्यक्तियों और कृतियों का मूल्य निर्धारण करने लगते हैं, वह किसी प्रकार मूल्यवान या उपयोगी नहीं बन पाता।

नाटकों और निबंधों के क्षेत्र में हमारे साहित्य में पर्याप्त प्रगति नहीं हुई है। भारतेंदु हरिश्चंद्र के नाटकों को देख लेने पर यह तो नहीं कहा जा सकता कि हमारे भीतर नाट्य-प्रतिभा की नैसर्गिक कमी है। वैसी स्थिति में हमें अपने नाटकीय अभाव के कारणों को कहीं और ही ढूँढना होगा। मुझे ऐसा जान पड़ता है कि हिंदी-भाषी समाज के अंतर्गत साहित्यिक विनोद-प्रियता की कुछ कमी है। हम या तो अत्यधिक गंभीर चिंतन करते हैं या फिर चिंतन करते ही नहीं, निरे अकर्मण्य बन जाते हैं। नाटक के लिये इन दोनों की मध्यवर्ती मनोवृत्ति की आवश्यकता होती है। अति गंभीरता और अति निष्क्रियता दोनों ही नाट्य-विकास के बाधक हैं। इधर सिनेमा ने हमारे लिये नेत्राकर्षण की प्रचुर सामग्री एकत्र कर साहित्यिक नाट्य-विकास की रही सही संभावना को भी चौपट कर दिया है। परंतु हमारे लिये न केवल मानसिक और कलात्मक उन्नयन की दृष्टि से, प्रत्युत सिनेमा के दुष्प्रभावों से बचने के लिये भी नाट्य-प्रदर्शनों की अवश्यकता है और जब हम राष्ट्रभाषा की दृष्टि से इस प्रश्न पर विचार करते हैं तो कम से कम एक राष्ट्रीय रंगमंच का होना हमारी न्यूनतम आवश्यकता प्रतीत होती है। वह साहित्य ही क्या, जिसका अपना रंगमंच न हो!

निबंध-साहित्य की भी करीब करीब यही दशा है। गंभीर निबंधों का तो हमारे यहाँ ढेर लगा है और दूसरी ओर हास्य रस के विनोद या परिहासमूलक निबंधों की भी

कमी नहीं है; परन्तु इन दोनों के बीच में निबंध की जो मध्यवर्तिनी भूमि है जिसमें ईषत् मनोरंजन, ईषत् व्यायाम, ईषत् अभिज्ञता और ईषत् आत्मीयता का चतुर्मुखी लालित्य अपेक्षित होता है—उसकी हमारे साहित्य में निहायत कमी है। यह भी सच है कि निबंधों की यह परंपरा पश्चिम की देन है और उसका एक प्रमुख उपकरण है लेखक के पक्ष में पूर्ण अवकाश की स्थिति और वातावरण। आज की भारतीय स्थिति में लेखकों के लिये अवकाश का यह वातावरण बनाना कितना कठिन है!

इस संपूर्ण रचनात्मक साहित्य के लिये जिस समीक्षात्मक साहित्य की आवश्यकता पड़ती है, उसके दो प्रमुख अंग हैं सिद्धांतों का परिचय और कृतियों की मीमांसा। जबतक हमें साहित्यिक सिद्धांतों और समीक्षा-विधियों का बोध नहीं होता, हमारी साहित्यिक चेतना अधूरी या अपंग ही रहती है; और दूसरी ओर जबतक हम कृतियों के वास्तविक संपर्क में नहीं आते, तब तक हमारा सैद्धांतिक ज्ञान केवल हमारी बुद्धि के बोझ को ही बढ़ाता है। यों तो शताब्दियों से चली आती हुई साहित्य की सैद्धांतिक परंपराएँ स्वतः अनुशीलन और शोध का विषय बन गई हैं, किंतु वस्तुतः साहित्य के सभी सिद्धांत और समीक्षा की सारी विधियाँ आत्मनिरपेक्ष नहीं हैं, वे कृति या रचना की सापेक्षता रखती हैं। अतएव सिद्धांतों और विधियों का प्रयोग साधन या उपादान के रूप में ही किया जा सकता है। अन्यथा यदि कृति की समीक्षा में किसी भी कला-सिद्धांत का अतिशायी प्रमुखता से प्रयोग किया जाय, तो वह समीक्षा भी रीतिबद्ध हो जायगी। आधुनिक साहित्य में ऐसी रीतिबद्ध समीक्षा अनपेक्षित मानी गई है और समीक्षकों को अत्यंत सतर्क होकर अपने सैद्धांतिक ज्ञान का उपयोग करना पड़ता है।

दूसरी बात यह है कि साहित्य के माध्यम से हमारे समक्ष कुछ विशिष्ट विचारधाराएँ और जीवनदृष्टियाँ भी रखी जाती हैं। उनके मूल्यांकन के लिये साहित्य के परंपरागत सिद्धांत किसी काम नहीं आ सकते। समीक्षक को अपनी प्रतिभा, अपने अनुभव और अपने ही विचारों की भूमिका पर उन्हें परखना पड़ता है। यह आज की समीक्षा का मौलिक अंग है। समीक्षा में तीसरा प्रश्न व्याख्या और मूल्यांकन का हुआ करता है। हमारे सामने चमत्कारक ढंग से वस्तुएँ रख दी जाती हैं और हमसे कहा जाता है कि हम उनकी व्याख्या करें और उनका मूल्य निरूपित करें। यह कार्य आज के साहित्य में विशेष कठिन है और इसमें पग-पग पर भ्रांति होने की संभावना रहती है।

आचार्य श्यामसुंदरदास ने पश्चिमी और पूर्वी साहित्यशास्त्रों के आधार पर आज के अनेक साहित्य रूपों और उनके विविध उपकरणों की जो व्याख्या अपने 'साहित्यालोचन' ग्रंथ में की है और आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने भारतीय साहित्य के विशाल अध्ययन के आधार पर हिंदी के नवीन और प्राचीन कवियों के संबंध में जो अंतरंग समीक्षाएँ लिखी हैं वे ही हमारे लिये आलोक-स्तंभ का काम दे रही हैं। विश्वविद्यालयों से अनवरत उच्च शिक्षा प्राप्त विद्यार्थी निकल रहे हैं जो या तो उन्हीं आचार्यों के शिष्य-प्रशिष्य हैं, अथवा उन्हीं के मार्ग-प्रदर्शन पर चलनेवाले अन्य अनुयायी। एक सुस्पष्ट साहित्यिक चेतना और एक निर्भ्रांत साहित्यिक दृष्टि हमारे शिक्षित समाज में परिव्याप्त है और यद्यपि हमारी साहित्यिक

गंगा में बहुत सा नया जल प्रति वर्ष प्रवाहित होता है, किंतु हमें यह आशंका नहीं है कि इसके कारण कोई नई बाढ़ या दूसरी विभीषिका हमारे हिंदी प्रदेश में अभी निकट भविष्य में आवेगी या आ सकती है।

यहाँ आकर मेरे वक्तव्य का दूसरा प्रकरण भी समाप्त हो जाता है और अब हम तीसरे और अंतिम प्रकरण में प्रवेश करते हैं। आप कहेंगे कि आपका वह आदेश जहाँ का तहाँ रहा, मैंने वचन देकर भी उसका पालन नहीं किया! किंतु मेरा निवेदन है कि मैं आपके आदेश का ही पालन करता आया हूँ और आगे भी करूँगा। आपने सामयिक साहित्य की समस्याओं का प्रश्न हमें दिया है। सच पूछिए तो मैंने आपके प्रश्न का उत्तर ही अब तक देने की चेष्टा की है। नागरीप्रचारिणी सभा के जन्म से लेकर १६३५ तक की भाषा और साहित्यगत प्रवृत्तियों की जो चर्चा की गई है, वह आवश्यक थी आज की स्थितियों और समस्याओं को समझने के लिये। यद्यपि मैंने सभा और उसके इस उत्सव के उपलक्ष में ही सारी बात कही है, किंतु आप मुझे एक पंथ दो कार्य करने का श्रेय भी दे ही सकते हैं। आपका प्रश्न है कि आज के साहित्य की समस्याएँ क्या हैं? मेरा उत्तर है कि आपने १६३५ तक के साहित्यिक विकास की चर्चा सुनकर क्या निष्कर्ष निकाला? मैं समझता हूँ कि हम और आप और सभी जानने सुननेवाले इसी निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि हमारी साहित्यिक नाड़ी ठीक चल रही है और मूलतः हमारे साहित्य की कोई समस्या नहीं है। स्वस्थ और प्रगतिशील राष्ट्र की कोई साहित्यिक समस्या नहीं होती।

फिर भी ऋतुएँ बदलती हैं, और उन्हीं के अनुकूल हमारा आहार-विहार बदलता है। यदि हमने ऋतुचर्या में कुछ गफलत की तो हमारे स्वास्थ्य पर उसका अनिष्ट प्रभाव पड़ सकता है। इस समय हमारे साहित्य में जो ऋतुपरिवर्तन हो रहा है, उसकी जानकारी हमें होनी चाहिए। तभी हम ऋतुसंमत उपचार कर सकेंगे। सन् ३५ या उसके आस-पास से हमारे साहित्य में जो नई ऋतु आरंभ हुई है, उसे समझने के लिये ही हमने यह पूरा प्रकरण छोड़ रखा है। वास्तव में हमारे साहित्य की सभी समस्याएँ इस नए ऋतु-परिवर्तन से ही संबद्ध हैं।

सन् ३५ से प्रारंभ हुई साहित्य की नई धारा को हमारे यहाँ प्रगतिवादी धारा कहा जाता है, यद्यपि ज्योतिष के ग्रहों की महादशा और अंतर्दशा की भाँति इस प्रगतिवाद की भी अनेक अंतर्दशाएँ दिखाई देती हैं। कभी-कभी तो मुख्यदशा और अंतर्दशा के बीच इतना अंतर्विरोध आ जाता है कि सारी स्थिति ही अस्पष्ट हो जाती है। इस प्रगतिवादी धारा का मुख्य दार्शनिक सूत्र है मार्क्सवाद; किंतु मार्क्सवादी गणित और हिंदी साहित्य में उसके फलित रूप में समानता ढूँढ़ निकालना कठिन कार्य हो गया है। इसके कई कारण हैं, जिनमें मुख्य यह है कि मार्क्सवाद के साथ दूसरे अनेक विज्ञानों का, जो पश्चिम से आए हैं, हमारे साहित्य में एक साथ ही प्रयोग होने लगा है। उदाहरण के लिये जीव-विज्ञान, प्राणि-विज्ञान, मानव-विज्ञान और मनोविज्ञान की अनेक प्रतिपत्तियाँ मार्क्सवादी समाज विज्ञान के साथ हमारे साहित्य में प्रविष्ट होने लगीं हैं। इन सभी विज्ञानों का तारतम्य साहित्य और साहित्यिकों के समक्ष स्पष्ट नहीं है। दूसरी बात यह है

कि हमारी साहित्यिक परंपरा भी इन वादों के आक्रमण से बुरी तरह झकझोर दी गई है, जिसके कारण हमारे साहित्यिक मान थोड़े समय के लिये विशृंखल हो गए हैं। इस अराजकता का लाभ उठाकर कुछ लोगों ने नग्न और अनैतिक चित्रणों को साहित्य में प्रधानता दे रखी है और यथार्थवाद अथवा वर्ग-विद्रोह के नाम पर उन्हें खपा रहे हैं। तीसरी बात यह है कि बहुत से लेखक जो साहित्य की प्रगतिशील परंपरा के साथ चलने में प्रकृत्या असमर्थ हैं, इसके मार्ग में अवरोध डाल रहे हैं और इस प्रकार एक अनिश्चित सी स्थिति को और भी अनिश्चयात्मक बना रहे हैं।

जहाँ तक मार्क्सवाद के इस मूल मंतव्य का प्रश्न है, कि हमारा साहित्य व्यक्तियों या वर्गों के हितों का संरक्षक न बनकर जनवादी बने और समाज की प्रगतिशील शक्तियों का साथ दे, मुझे निश्चय है कि प्रेमचंद और प्रसाद की परंपरा का कोई भी लेखक इस उद्देश्य से असहमत न होगा। परंतु प्रश्न केवल उद्देश्य का नहीं है, प्रश्न आज की स्थिति का भी है। प्रश्न जनवादी प्रगति के साधनों का भी है और अंत में प्रश्न साहित्य की अपनी आवश्यकताओं का भी है।

आज की भारतीय वस्तुस्थिति क्या है? हमारा राष्ट्र स्वतंत्र हो चुका है, किंतु उसका बृहत् अंश आज भी अशिक्षित और अर्धनग्न है और आधे पेट खाकर जीवन-यापन कर रहा है। उसके लिये हम क्या करें? आज का जनवादी लेखक क्या करे? मुझे तो एक ही सीधा रास्ता दिखाई देता है। आज के जनवादी लेखक को व्यक्तिगत त्याग और कष्ट-सहिष्णुता अपनानी होगी। उसे प्रेमचंद और टाल्सटाय के मार्ग पर चलना होगा। वह किसी मार्क्सवादी नुस्खे को लेकर काम नहीं कर सकता। उसके लिये मनोविज्ञान, प्राणिविज्ञान या दूसरी ऐसी ज्ञान की बातें काम नहीं दे सकतीं। उसे अब भी चरित्र और आचरण की आवश्यकता है। महान् आदर्शों के पीछे जीवन के क्षुद्र स्वार्थों को मिटा देने की साधना करनी होगी। तब जाकर कुछ नतीजा निकलेगा।

और यह बहु-विज्ञापित जनवादी परंपरा क्या है? मेरे विचार से केवल आर्थिक स्वतंत्रता की लड़ाई ही जनवादी लड़ाई नहीं है। हमें जनजीवन के सभी पहलुओं पर समान ध्यान देना होगा। हम जिस जनवादी राष्ट्र या मानव-समूह की कल्पना करते हैं, वह केवल आर्थिक दृष्टि से सुखी नहीं होगा, उसे पूर्णतः सांस्कृतिक और नैतिक मानव होना चाहिए। यहाँ भी मार्क्सवादी शिक्षाएँ और उपचार मुझे तो अधूरे दिखाई देते हैं। उनसे तो गांधी जी का सर्वोदय सिद्धांत मुझे भारतीय जीवन के अधिक अनुरूप जान पड़ता है। यदि तुलसी, सूर और मीरा का आत्मोन्मुखी काव्य; उपनिषदों का दिव्य ज्ञान; शंकर, कबीर और विवेकानंद का महान् दर्शन और उदात्त आदर्श हमारे तथाकथित जनवादी संघर्ष का अंग नहीं बन सकते, तो ऐसे जनवादी संघर्ष की सार्थकता ही मेरे लिये संदिग्ध होगी।

और साहित्य की वे अपनी आवश्यकताएँ क्या हैं जो इस जनवादी आंदोलन से खतरे में पड़ सकती हैं? मेरे विचार से एक भी नहीं। परंतु यदि जनवादी आंदोलन स्वयं ही गलत रास्ते पर जा रहा हो, तो वह साहित्य को भी विकृत कर देगा। एक खतरा और है। अब तक हमारे साहित्य की परंपरा यह रही है कि वह प्रतिभा के मार्ग में

बौद्धिक रुकावटें नहीं डालता रहा है। अब तक प्राचीन और नवीन साहित्य में वाद तो बहुत से आए, परंतु निर्माणात्मक प्रतिभा और अनुभूति ही सर्वोपरि मानी गई। आज हमारे साहित्य में ऐसी स्थिति आ रही है जब वाद तो ऊपर आ जायगा और प्रतिभा उसके नीचे दब जायगी। इस खतरे से हमें अपने साहित्य को सदैव बचाना होगा।

यहाँ मैं जनवादी साहित्य से भिन्न उस अपर साहित्य की भी थोड़ी चर्चा करूँगा जो हमारे नागरिक लेखकों द्वारा तैयार किया जा रहा है। इसकी सारी स्थितियाँ और समस्याएँ या तो वैयक्तिक होती हैं, या एक विशेष वर्ग या समूह की। ऐसे साहित्य के निर्माता उन सीमित स्थितियों के पारदर्शी पंडित होते हैं। वे अपनी इस विशेषता को अनेक नवीन विज्ञानों की सहायता से और चमका देते हैं और भाषा तथा रचना-सौष्ठव की दृष्टि से प्रथम श्रेणी की कृतियाँ प्रस्तुत करते हैं। उपन्यासों के क्षेत्र में डी० एच० लारेंस अथवा मार्सेल प्रूस्ट पश्चिम के ऐसे ही विशिष्ट लेखक हैं। किंतु विशिष्ट होते हुए भी क्या हम उन्हें टालस्टाय के समकक्ष रख सकते हैं? मेरे विचार से कदापि नहीं। कारण यह कि एक की रचनाएँ जनजीवन के महान् स्रोतों से अभिषिक्त और परिप्लावित हैं, लारेंस और प्रूस्ट की कृतियों में यह संजीवनी धारा उपस्थित नहीं है। अतएव अपनी समस्त विशिष्टताओं के साथ भी इस प्रकार की कृतियाँ महान् साहित्य की श्रेणी में परिगणित नहीं होंगी। आज के हिंदी साहित्य में भी जनवादी धारा के साथ साथ इस नागरिक या व्यक्तिवादी धारा के लेखक और रचनाकार काम करते रहे हैं। इन दोनों का सापेक्षिक मूल्य आँकने में हमें त्रुटि न करनी चाहिए।

हिंदी कविता में पिछले बीस वर्षों के भीतर क्या प्रगति हुई है? 'कामायनी' के निर्माण के पश्चात् हिंदी काव्य की स्वच्छंदतावादी परंपरा उतने मूल्य की कोई दूसरी वस्तु प्रस्तुत नहीं कर सकी है। महादेवी के गीत अब भी नवीन रचना के क्षेत्र में अप्रतिम हैं। परंतु किसी भी अर्थ में उन्हें प्रगतिवादी युग की देन नहीं कहा जा सकता। बच्चन, अंचल और नरेंद्र शर्मा जैसे कवि स्वतंत्र प्रवृत्तियों के प्रतिनिधि होते हुए भी आज की स्थिति में नव-निर्माण के सूत्रधार नहीं हैं। दिनकर के काव्य में राष्ट्रीय भावना का एक नूतन प्रतिवर्तन है। प्रगतिवाद के अन्य कवि अब तक आज से बीस वर्ष पहले के 'निराला'-काव्य की ओजस्विता, व्यंग्यात्मकता और प्रवाह की खोज करते जा रहे हैं, फिर भी वह वस्तु, उन्हें मिली नहीं। इधर 'अज्ञेय' जी और उनके तथाकथित अनुयायियों का 'प्रयोगवाद' चल रहा है जिसने प्रगतिवाद की भाव-संपत्ति को और भी क्षीण करने में सहायता दी है। उधर कुछ नए कवि अपनी नशीली भावनाओं में प्रगतिवादी विद्रोह का पुट देकर नवयुवकों को नए तरीके से आकृष्ट करने लगे हैं। इसे बच्चन जी का नया काव्य विकास ही कह सकते हैं। कुल मिलाकर हिंदी प्रदेशों के विशाल क्षेत्र से पिछले दो दशकों में ऐसे एक भी कवि का उत्सर्जन नहीं हुआ जिसे हम प्रसाद या निराला की समकक्षता का कहें।

उपन्यास और कथासाहित्य के क्षेत्र में प्रेमचंद जी के पश्चात् जैनेंद्र, भगवतीप्रसाद, भगवतीचरण, इलाचंद्र जोशी, अज्ञेय और अश्क जैसे विभूतिमान औपन्यासिक आए और

कार्य कर रहे हैं, जिनमें थोड़े बहुत अंतर के साथ नागरिक औपन्यासिकों की वे प्रवृत्तियाँ मिलती हैं जिनका उल्लेख मैंने ऊपर लारेंस और प्रूस्ट के सिलसिले में किया है। ये सभी हमारे साहित्य के प्रथम श्रेणी के कलाकार हैं, किंतु इन्होंने प्रेमचंद जी की जनवादी परंपरा को नहीं अपनाया है। आजकल कुछ लोग ऐसे लेखकों को मानवतावादी कहने लगे हैं, परंतु मेरी समझ में नहीं आता कि आज की स्थिति में जो जनवादी लेखक नहीं हैं, वे मानवतावादी कैसे कहे जायँगे! मुझे प्रतीत होता है कि मानवतावादी शब्द का आज बहुत काफी दुरुपयोग हो रहा है।

औपन्यासिक क्षेत्र में राहुल और यशपाल जैसे दो जनवादी या मानवतावादी लेखक अवश्य हैं, परंतु ये भी प्रेमचंद की स्वस्थ ऊँचाइयों पर अब तक नहीं पहुँचे हैं। इन दोनों में प्रेमचंद जी की महान् आस्था की कमी है जिसके कारण इनके उपन्यासों में एक अजीब सूखापन आ गया है। जान पड़ता है, उस सूखेपन को दूर करने के लिये इन दोनों लेखकों ने नारी और मदिरा का अपनी कृतियों में आवश्यकता से अधिक प्रयोग किया है। ये दोनों वस्तुएँ उन्हें प्रेमचंद जी से नीचे का कलाकार सिद्ध करती हैं, परंतु एक मुख्य अर्थ में इन्हें प्रेमचंद का उत्तराधिकारी अवश्य कहा जा सकता है। राहुल जी और यशपाल दोनों ही लेखकों की एक दूसरी त्रुटि यह है कि वे अपनी कृतियों में कलात्मक सज्जा लाने की चेष्टा नहीं करते जिसके कारण वे कृतियाँ बहुत कुछ ऊबड़-खाबड़ और कहीं-कहीं असाहित्यिक भी दिखाई देती हैं। फिर भी इन दोनों लेखकों के दूसरे महान् गुण उनके इन दोषों को बहुत कुछ दबा लेते हैं।

अब इस चर्चा को अधिक विस्तार न देकर, समाप्त करने के पूर्व, मैं एक ही अन्य समस्या का और उल्लेख करूँगा। वह है आज के साहित्य में समीक्षा और शोध की समस्या। साहित्य के अन्य क्षेत्रों की भाँति समीक्षा के क्षेत्र में भी—और विशेषतः समीक्षा के सैद्धांतिक क्षेत्र में—पश्चिम की नित्य नई उद्भावनाएँ हमारे समक्ष आ रही हैं। इनका समझदारी के साथ अध्ययन करना और इनके उपयोगी अंशों को आत्मसात् कर अपने साहित्य के कार्य में लाना हमारा कर्त्तव्य है। किंतु जैसा कि मैं अन्यत्र कह चुका हूँ, इन्हें उधार लेकर हम अपने साहित्य में आरोपित नहीं करना चाहते। यह यूरोप के लिये कम प्रशंसा की बात नहीं है कि इन नई नई साहित्यिक उद्भावनाओं और मतमतांतरों के रहते हुए भी वहाँ के साहित्यिक मान अब भी स्थिर हैं, जिसका मुख्य कारण है उनकी अखंड साहित्यिक परंपरा और उनके दीर्घकालीन साहित्यिक संस्कार। ऐसे ही संस्कारों और ऐसी ही परंपरा की योजना हमें अपने साहित्य में करनी है। हमारे समीक्षकों को इस क्षेत्र में प्रयत्नशील रहना होगा। समीक्षा की विभिन्न विधियों और शैलियों के रहते हुए भी यदि हमारी मूलवर्ती साहित्यिक चेतना अटूट रह सकी तो यह बहुत बड़ा लाभ होगा।

इस साहित्यिक चेतना को निरंतर परिवर्द्धित और परिष्कृत करने तथा साहित्य-संबंधी अनेकमुखी सैद्धांतिक उद्भावनाओं का सम्यक् अध्ययन और अनुशीलन करने की दृष्टि से यह आवश्यक प्रतीत होता है कि हम साहित्य-समीक्षा और साहित्यिक शोध-कार्य को दो स्वतंत्र और निरपेक्ष विभागों में रखकर चलें। ऐसा न करने पर दोनों ही कार्यों को क्षति पहुँच सकती है। आचार्य शुक्ल जी तथा उनके अनुसरणकर्ता साहित्यिक शोधकों

की थोड़ी चर्चा मैंने अभी अभी की थी। हमें यह देखकर प्रसन्नता होती है कि डाक्टर हजारीप्रसाद द्विवेदी तथा डा० माताप्रसाद गुप्त जैसे नए शोधकर्त्ताओं ने साहित्य-समीक्षा तथा शोधकार्य का अंतर समझकर दोनों के बीच चक्कर लगाने की आदत छोड़ दी है।

हिंदी के शोधकार्य के संबंध में मैं एक बात और भी कहना चाहता हूँ। अक्सर हमारी शोध-संबंधी दृष्टि भावुकतापूर्ण और राष्ट्रीय उत्कर्ष की अतिरंजित कल्पनाओं से समन्वित होती है। इस अतिरेकी दृष्टि से हम जितना ही शीघ्र विरत हो जायँ, उतना ही अच्छा होगा। कभी कभी हम यह भी देखते हैं कि अपने व्यक्तिगत जीवन में अत्यधिक प्रगतिशील और नवीनतावादी होकर भी हम प्राचीन जीवन के संबंध में अत्यधिक प्रशंसा-शील होते हैं। एक ही व्यक्ति में ये दो विरोधी पहलू स्वस्थ और संतुलित नहीं कहे जा सकते। शोध-संबंधी समस्त कार्य के लिये हमारी दृष्टि विशेष रूप से वस्तुमुखी, तुलनात्मक और अनतिरेकी होनी चाहिए। साथ ही इस क्षेत्र में आधुनिक समाज-विज्ञान तथा मानव-विकास-विज्ञान आदि द्वारा प्रवर्तित तथ्यों का पूर्ण उपयोग करने की भी आवश्यकता है। ऐसा न करने पर हमारा शोध-कार्य त्रुटिपूर्ण और असामयिक होगा।

संक्षेप में कुछ ये ही समस्याएँ हैं हमारे सामयिक साहित्य की। यह तो मैं पहले ही कह चुका हूँ कि इस स्थिति या इन समस्याओं से आशंकित या हतप्रभ होने की कोई आवश्यकता नहीं है। मूलतः हमारा राष्ट्रीय जीवन स्वस्थ और प्रगतिशील स्थिति में है और हमारे लिये कोई भी समस्या असाध्य या दुरतिगम्य नहीं है। जो भी समस्याएँ हमारे साहित्य में दिखाई देती हैं, उनका परिहार संभव ही नहीं अवश्यंभावी भी है। हमें केवल थोड़ी सी सतर्कता बरतनी होगी और राष्ट्र-प्रेम को (जो मानव-प्रेम का ही दूसरा नाम है) प्रमुखतः उज्जीवित रखना होगा। इतना ही पर्याप्त है। यदि मुझसे कोई व्यावहारिक सुझाव रखने को कहे तो मैं कहूँगा कि हमारी समस्त साहित्यिक समस्याओं के समाधान के लिये आवश्यकता है आज एक ऐसी सुव्यवस्थित संस्था की जो हमारे साहित्य को वैसा ही सक्रिय सहयोग और दिशा–निर्देश देती रहे जैसा नागरीप्रचारिणी सभा ने अपने प्रधान संस्थापक मेरे दिवंगत गुरुदेव आचार्य श्यामसुंदरदास के जीवन-काल में निरंतर दिया था।

एवमस्तु।

२४ फाल्गुन, २०१० वि०]

———

साहित्य-विमर्श

के

सभापति

श्री लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु' का अभिभाषण

देवियो और सज्जनो,

साहित्य-विमर्श के लिये आयोजित इस सभा की अध्यक्षता का भार मुझपर देकर मुझे जो अनुगृहीत किया गया है उसके लिये मैं काशी नागरीप्रचारिणी सभा के हीरक जयंती समारोह के प्रबंधकों को धन्यवाद देता हूँ। साहित्य-विमर्श एक ऐसा विषय है जिसपर विचार करने के लिये, मेरी समझ से, मानव-जीवन को ही आधार मानना होगा। जो लोग साहित्य या कला को जीवन से निरपेक्ष मानते हैं उनके तर्क पर यहाँ विचार-विमर्श करना निरर्थक श्रम है। यह एक स्वीकृत तथ्य है कि संसार में निरपेक्ष कुछ नहीं है, जो कुछ है वह सापेक्ष है। जगत् और जीवन से तटस्थ तथा निरपेक्ष रहकर हम अपने हृदय में भावों की सृष्टि भी नहीं कर सकते, जब कि मानव-जीवन और उसका हृदय ही काव्य या साहित्य का मुख्य विषय है। अतएव हम यह मानकर आगे बढ़ते हैं कि साहित्य-विमर्श मानव का हृदय-विमर्श ही है।

संसार में भाषाएँ विभिन्न प्रकार की हैं, किंतु सब भाषाओं का साहित्य मानव-हृदय की ओर ही इंगित करता है। भाषाओं की भिन्नता साहित्य के मूल की एकरूपता में कोई व्यवधान उपस्थित नहीं कर सकती। देश, जाति, संस्कृति तथा सभ्यता के कारण विश्वजीवन में जो कहीं-कहीं पार्थक्य का आभास दिखाई पड़ता है उससे वस्तुतः साहित्य की मौलिक एकता भंग नहीं होती। यदि ऐसा होता तो आज विश्व-साहित्य नाम की कोई वस्तु हमारे सामने नहीं आती। मानव-प्रकृति की समाहार शक्ति की यह एक विशेषता है कि भिन्न भाषागत और जातिगत साहित्य में भी उसे प्रायः समान रस की प्रतीति होती है। विश्व में आज बात बात के लिये संघर्ष छिड़ा हुआ है। एक देश या दल की राजनीति दूसरे देश या दल की राजनीति पर नित्य आक्रमण किया करती है। यह बात केवल राजनीति के ही क्षेत्र में नहीं, बल्कि जीवन के प्रायः सभी क्षेत्रों में पारस्परिक द्वंद्व के रूप में दिखाई पड़ती है। संसार में साहित्य का ही एकमात्र ऐसा मंच है जहाँ ऐसा कोई द्वंद्व या प्रतिस्पर्धा नहीं है। उसपर एक साथ बैठकर विभिन्न देशों और दलों के लोग समान रूप से जगत् और जीवन का आनंद प्राप्त कर सकते हैं। हृदय की वस्तु होने के कारण मानवमात्र की भावभूमि एक ही है जिसमें देशगत या दलगत कोई भिन्नता नहीं हो सकती। कौन नहीं देखता है कि रूस और अमेरिका की राजनीति संपूर्ण विपरीत दिशाओं में द्रुत वेग

से बढ़ती हुई एक दूसरे के बीच आकाश-पाताल का अंतर कर रही है, किंतु दोनों का साहित्य तो हर्ष और शोक, प्रेम और विराग तथा अन्य भावों के क्षेत्र में एक ही भूमि पर एक साथ बैठकर एक दूसरे के संपूर्ण संनिकट है, समरस और समभाव है। इस प्रकार समान रहने पर भी जिस किसी देश ने अपने साहित्य को राजनीति से लिप्त किया है उसका साहित्य अपनी मर्यादा से च्युत हो गया है और इसी कारण वह साहित्य के मंच पर बैठने का अधिकारी नहीं रह गया है।

भारतीय संस्कृति के कारण भारतीय साहित्य में मानव जीवन को संतुलित रूप से समाविष्ट करने की चेष्टा की गई है। भारतीय जीवन के चार पुरुषार्थ—अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष हैं। चारों के संतुलन पर ही जीवन की पूर्णता मानी जाती है। आज पश्चिमी साहित्य इस प्रकार संतुलन-प्रधान नहीं है। भौतिकवाद के प्रभाव से जीवन का रूप वहाँ कुछ इस प्रकार हो गया है कि पुरुषार्थ के किसी एक अंग—और वह भी विशेषकर अर्थ या काम—का आश्रय लेकर साहित्य को अर्थ-प्रधान या काम-प्रधान बना दिया है। भारतीय साहित्य-शास्त्र के विचार से ऐसा जीवन संतुलित नहीं माना जा सकता। भारतीय साहित्य मानव जीवन में अर्थ या काम की प्राप्ति का वर्जन नहीं करता, बल्कि उसको जीवन का आवश्यक अंग मानकर उसकी प्राप्ति की प्रेरणा देता है, किंतु उसके साथ-साथ पुरुषार्थ के अन्य अंगों—धर्म और मोक्ष—की पूर्णता के लिये भी प्रयत्न करते रहने का आग्रह करता है। यह ठीक है कि भारत की उस परंपरा का निर्वाह आधुनिक भारतीय साहित्य में भी पूर्ण रूप से परिलक्षित नहीं होता, और पश्चिमी साहित्य के प्रभाव से अपने यहाँ भो अर्थ को आराध्य मानकर मानव मानव में भेद खड़ा करने का उपक्रम किया गया है। उसमें साहित्य की मर्यादा का निर्वाह करने से बढ़कर राजनीति का प्रश्रय ग्रहण करना ही अभीष्ट है।

जीवन साहित्य के रूप में किस प्रकार परिणत होता है, यह एक ऐसा प्रश्न है जिसका उत्तर विज्ञान के माध्यम से ही दिया जा सकता है। यदि बाह्य जगत् में ही मानव अपने जीवन की संपूर्णता प्राप्त कर लेता तो साहित्य या काव्य की उद्‌भावना संदिग्ध ही बनी रहती। जगत् और जीवन में जो अपूर्ण तथा असुंदर है वह भी साहित्य में पूर्ण तथा सुंदर बन जाता है। मानव सृष्टि की यह विशेषता है कि जिसे हम स्थूल मानते हैं उसका भी कोई सूक्ष्म कारण होता है। जो शरीर का धर्म है वह आत्मा का भी धर्म है, अन्यथा स्थूल शरीर में स्वयं कोई विकार उत्पन्न नहीं हो सकता। आयुर्वेद के आध्यात्मिक तंत्र में इस बात का विश्लेषण किया गया है कि बिना आत्मिक विकार के शरीर में कोई रोग उत्पन्न नहीं हो सकता। सूक्ष्म मन पर प्रभाव डालने के लिये जगत् और जीवन को विज्ञान की रासायनिक प्रक्रिया से सूक्ष्म बनकर ही साहित्य में परिणत होना पड़ता है। जब तक स्थूल का सूक्ष्म में रूपांतर नहीं होता तब तक किसी प्रकार की सृष्टि संभव नहीं है। बीज जब तक अपने तत्त्व में परिघटित नहीं होता तब तक उसमें अंकुर उत्पन्न करने की योग्यता नहीं आती। बालू के कण पाकर जब तक सीप द्रवित-व्याकुल नहीं होता तब तक उससे मोती-जैसा पदार्थ नहीं पैदा हो सकता। जीवन भी भाव रूप में आए बिना साहित्य का विषय नहीं बन सकता।

प्रकृति नियमित है। उसके प्रत्येक कार्य-विधान के कुछ न कुछ नियम हैं। हम अपनी अज्ञानता के कारण उसके प्रत्येक नियम से परिचित नहीं रहते और इसी कारण कभी कभी अप्रत्याशित तथा आकस्मिक प्राकृतिक घटना में हम उसके नियम का व्यतिक्रमण मान लेते हैं। इसी अज्ञानता ने मानव-जीवन को परिचालित करने के लिये अनेक प्रकार के सिद्धांत बनाने में योग दिया है। जीवन में नैतिकता पर भारतीय साहित्य का एकाधिकार नहीं है, किंतु इतना मानना पड़ेगा कि भारतीय संस्कृति और भारतीय साहित्य में नैतिक जीवन को जो प्रतिष्ठा दी गई है वह अन्यत्र दुर्लभ है। भारतीय कला-भावना जीवन में जो कुछ है सबको यथावत् चित्रित करने की अनुमति नहीं देती, क्योंकि भारतीय साहित्य में नैतिकता का प्रधान स्थान है। इस नैतिकता के विकास के लिये साहित्य को जिन जिन मार्गों से जाना आवश्यक है उनका प्रतिपादन श्रेयस्कर माना गया है। कट्टर से कट्टर यथार्थ वादी भी जब जीवन को साहित्य में नियोजित करता है तब सर्वत्र वह अपने यथार्थवाद की भावना को अनुप्राणित नहीं रख सकता। यदि पुण्य का पर्यवसान सुख में परिणति होना निश्चित ही है तो इस नियम को अटल मान लेने पर संसार में कोई व्यक्ति पापी नहीं मिल सकता, क्योंकि जब प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन में सुख-समृद्धि ही चाहता है और सुख-समृद्धि को प्राप्त करने का अटल नियम पुण्यार्जन ही है तब पापी को अपने पाप की प्रेरणा कहीं से भी प्राप्त नहीं हो सकती। पुण्य और पाप के, सुख और दुख के, अपने नियम निश्चित हैं। किंतु केवल नियम के सहारे ही मनुष्य उनको प्राप्त नहीं कर सकता। महाभारत में इस भावना को अभिव्यक्त करने के संबंध में एक बड़ी मार्मिक कथा है। धर्मराज युधिष्ठिर को बार बार विपत्तिग्रस्त देखकर देवी द्रौपदी ने एक दिन उनसे पूछा—'महाराज, आप तो धर्मात्मा हैं, लेकिन आपपर ही यह विपत्ति बार बार क्यों आती है, और दुर्योधन, जो पापात्मा है वह क्यों सुख-संपत्ति का अधिकारी बना बैठा है?' धर्मराज युधिष्ठिर ने अविचलित तथा शांत मुद्रा से उत्तर दिया—'सुभगे, यदि धर्म से सुख प्राप्त करने का अटल नियम रहता तो संसार में अधर्म की स्थिति संभव नहीं थी। धर्म का उद्देश्य सुख-समृद्धि को प्राप्त करना नहीं, प्रत्युत वह मनुष्य के आत्मविकास का एक साधन मात्र है।' महाभारत की यह कथा इस बात को प्रमाणित करती है कि धर्म के साथ जीवन का कोई दूसरा सौदा नहीं किया जा सकता।

जिस नैतिक भावना ने भारतीय साहित्य में दुःखांत काव्य को समुचित स्थान देने में कृपणता की उसी ने साहित्य-क्षेत्र में एक सिद्धांत का निरूपण किया कि जीवन में हम जैसा कुछ देखते हैं साहित्य में उसका अविकल चित्रण निषिद्ध माना जाय। जिनका कुछ क्षेत्र नहीं, जिन्होंने कुछ पाप नहीं किया, ऐसे व्यक्ति यदि विपत्तिग्रस्त ही बने रहेंगे तो समाज के संमुख सद्भावना तथा सद्गुण को विकास की प्रेरणा नहीं मिल सकेगी। पाप का पर्यवसान दुःख में होना चाहिए और पुण्य की परिणति सुख में। यदि जीवन में सामान्यतः ऐसा नहीं होता है तो कम से कम साहित्य में ऐसा होना चाहिए। आदर्शवादी साहित्य की ऐसी मान्यता है। यह एक महत्वपूर्ण तथ्य है कि जीवन की बहुत-सी मार्मिक घटनाएँ भी हमारे चित्त पर उतना प्रभाव नहीं डाल सकतीं जितना वे ही घटनाएँ काव्य या साहित्य

के माध्यम से हमारे चित्त पर डालती हैं। मुख्यतः यह विषय साहित्य-शास्त्र का नहीं है और मानस-शास्त्र भी इसपर स्पष्ट नहीं है। काव्य या साहित्य के प्रति हमारी उन्मुख मनोदशा के विश्लेषण से इस रहस्य पर कुछ प्रकाश पड़ सकता है। अपने स्वार्थ या सुख-दुख की वैयक्तिक परिधि से बाहर जाने पर ही अहंकार का तिरोभाव होता है। जब तक अहं की सत्ता वर्त्तमान रहती है तब तक रसानुभूति के लिये अनुकूल मुक्तदशा की कल्पना ही नहीं की जा सकती। मुक्तदशा में हमारी वैयक्तिक सत्ता अपने अहं को लेकर डूब जाती है, हृदय एकांत रूप से स्वच्छ और निर्मल हो जाता है। यही अवस्था सत्वोद्रेक की है जिससे रस-दशा लाई जाती है। अपने क्रोध, घृणा, शोक, भय के अनुभव को रसानुभूति नहीं कहते। जो भाव वैयक्तिक परिधि से मुक्त होकर बृहत्तर रूप से समष्टिगत होता है उसी की निष्पत्ति साहित्य में रस के रूप में हो सकती है। जो अपना शोक नहीं है, जो अपना भय नहीं है, या जो कुछ अपना दुःखात्मक या सुखात्मक भाव नहीं है उसके प्रति हमारे हृदय में संवेदन की तीव्रता नहीं रहती, केवल लोक-सामान्य सहृदयता के कारण हृदय की सामान्य वृत्तियों को ग्रहण करने की क्षमता बनी रहती है। सुख और दुःख को उपाधि रूप से ग्रहण करना और तदनुकूल हृदय की वृत्तियों को संकुचित तथा विकसित करना अहं का धर्म है। जब अहं की सत्ता का तिरोभाव हो जाता है तभी हम अपनी व्यक्तिगत परिधि से बाहर समष्टि के सुख-दुःख को अनुभव करने की क्षमता प्राप्त करते हैं। अहं के प्राबल्य से हमारा हृदय जो एक ग्राहक-यंत्र की तरह है, बिगड़ा रहता है, और अपनी वैयक्तिक सत्ता के अतिरिक्त बाह्य जगत् को आत्मसात् नहीं कर सकता। इसीलिये प्रत्यक्ष जीवन की घटनाएँ, जिनके साथ अहं की सत्ता किसी न किसी रूप से रहती है हमारी चित्तवृत्ति पर विशेष प्रभाव नहीं डाल सकती।

आदर्शवादी मान्यता के विपरीत यदि यथार्थवादी दृष्टिकोण से इसपर विचार किया जाय तो जीवन की वस्तुस्थिति के समान साहित्य में भी निर्दोष तथा पुण्यात्मा मात्र के लिये कोई आवश्यक नहीं कि वे अंततः अपने दुःखों से मुक्त ही चित्रित किए जायँ। पश्चिमी साहित्य-शास्त्रियों ने भी इस संबंध में जो नियम बनाए उनका ठ क ठीक परिपालन सर्वत्र नहीं किया जा सका। सुखांत तथा दुःखांत काव्यों के द्वारा पाठकों तथा दर्शकों के हृदय में आनंद, उल्लास, शोक, चेतना, पीड़ा रोमांच का ही अनुभव करना अभिप्रेत रहता है, लेकिन एक ही निश्चित नियम का यदि सर्वत्र अनुगमन किया जाय तो रस-सिद्धांत की दृष्टि से उसकी उद्देश्य-सिद्धि संभव नहीं। यदि पुण्यात्मा व्यक्ति को अंत में सुखी और पापात्मा को दुःखी बनाने का नियम निश्चित मान लिया जाय तो उनके सुख दुःख के प्रति हमारे हृदय में उतनी अनुकंपा उत्पन्न नहीं हो सकती जितनी उनके सुख दुःख के अनिश्चय में हो सकती है। काव्य-साहित्य में असमंजस का भाव आकर्षण के लिये बहुत महत्त्वपूर्ण है। जब हम यह मान लेंगे कि पुण्यात्मा अंत में विजयी होगा ही तब फिर उसकी क्षणिक विपत्ति या उसके दुःख से छुटकारा पाने के प्रयत्न को आशंका या समवेदना की दृष्टि से देखने की स्वाभाविकता नहीं रह जायगी। रसोद्रेक के संबंध में भी हमारी भावना कुछ ऐसी शिथिल पड़ जायगी कि हम अपने भावों को सक्रियता का आनंद प्राप्त नहीं कर सकेंगे। प्रकृति का नियम, तर्क तथा अनुभव, इन सबसे भी यह प्रमाणित नहीं होता कि पुण्य से

सुख तथा पाप से दुख प्राप्त करने का परिणाम अटल है। इस दृष्टिकोण ने पश्चिमी साहित्य-कारों को यथार्थवाद की जैसी प्रेरणा दी उससे उनके साहित्य में निर्दोष तथा पुण्यात्मा पात्रों को भी अपनी विपत्ति से मुक्ति नहीं मिल सकी। पूर्वी साहित्य के दृष्टिकोण में साहित्य को नैतिकता का प्रधान आधार मानकर इस प्रकार का विपरीत तथा पूर्वापर विरोधी परिणाम दिखलाने की अनुमति नहीं दी। इसके मूल में कौन सा दार्शनिक रहस्य है, इसपर हमें विचार करना चाहिए।

आदर्शवाद भारतीय जीवन के सदा अनुकूल रहा है। इस संबंध में आदर्श की प्रकृति के संबंध में विचार कर लेना आवश्यक है। किसी व्यक्ति का आदर्श आरोपित नहीं रहता। व्यक्ति से पृथक् उसकी सत्ता भी नहीं है। हमारे हृदय में जो संस्कार हैं वे ही हमारे लिये अपना आदर्श चुनते हैं। हम अपने संस्कार से अन्यथा आदर्श को ग्रहण करने की प्रवृत्ति ही नहीं रखते। इसी कारण प्रत्येक व्यक्ति का आदर्श उसके संस्कार के अनुकूल रहता है। यही बात व्यक्ति से आगे बढ़कर जाति या राष्ट्र के संबंध में कही जा सकती है। आदर्श के साथ साहित्य का संबंध इसी सीमा पर आरंभ होता है। व्यक्ति-कल्याण, समाज-कल्याण विश्व-कल्याण ही भारतीय साहित्य का मूल मंत्र है। कुछ समीक्षक यह तर्क करते हैं कि भारतीय साहित्य ने भारतीय जीवन के स्वास्थ्य को पुष्ट करने का उद्देश्य तो रखा, किंतु उसके रोग को पहचानने की तरफ ध्यान नहीं दिया। इसी कारण भारतीय समाज में ऐसे कितने रोग हैं जिनकी चिकित्सा नहीं हो सकती। स्वस्थ साहित्य के ऊपर इसका उत्तरदायित्व होना चाहिए कि वह समाज के रोगों का निराकरण करे और ऐसे वातावरण की सृष्टि करे जिससे रोग को उत्पन्न होने का अवसर ही नहीं मिले। यह बहुत महत्वपूर्ण बात है, लेकिन इतना बड़ा उत्तरदायित्व केवल साहित्य के ऊपर लादना उचित नहीं माना जा सकता।

धर्मशास्त्र हमें काम, क्रोध, मद, लोभ से निर्लिप्त रहने का आदेश देता है। किंतु उस आदेश के साथ दंड-भय लगा रहता है। आदर्शवादी साहित्य प्रतीति के मार्ग से हमें बुरे भावों से विरत कर सद्भावों की ओर प्रेरित करता है। साहित्य का रस-सिद्धांत प्रधानतः भावों के व्यायाम का सिद्धांत है। शरीर को बढ़ाने के लिये हम जिस प्रकार शारीरिक या शरीर-श्रम करते हैं उसी प्रकार साहित्य के माध्यम से अपने हृदय के भावों का व्यायाम कर उन्हें विकसित करते हैं। यदि बुरे भावों का व्यायाम किया जायगा तो बुरे भाव ही विकसित होंगे। वास्तविक सहानुभूति में दुःखमूलक भावों से भी अलौकिक आनंद ही प्राप्त होता है, किंतु सर्वत्र भावों का हृदयंगम रसानुभूति के अलौकिक आनंद से नहीं होता। प्रत्येक भाव या विचार हमारे हृदय पर अपना एक संस्कार छोड़ जाता है और हमारे चित्त पर अपना एक—तदनुकूल विकार भी उत्पन्न करता है। जब हम अपने शत्रु पर क्रोध प्रदर्शित करते हैं तब हमारा क्रोध या हमारी घृणा अपने लक्ष्य पर पहुँचने के पहले हमारे हृदय का ही मंथन करती है। धनुष का वाण लक्ष्यभेद के पहले अपने मूलाधार प्रत्यंचा में ही तनाव उत्पन्न करता है। प्रत्यंचा में जितना ही अधिक तनाव होगा, वाण की गति भी उतनी ही अधिक होगी। इसी प्रकार हमारे हृदय के दुर्भाव दूसरों को पीड़ा

पहुँचाने के पहले हमारे अपने हृदय को व्यथित-पीड़ित कर देते हैं। जितना ही हम दूसरों को विरुद्ध करना चाहते हैं उतना ही हम पहले विरुद्ध होते हैं। किसी स्वच्छ पात्र में थोड़ी देर के लिये भी मदिरा रखकर यदि उसे किसी नाली में उड़ेलकर फेंक दिया जाय तो मदिरा तो नहीं रही किंतु उस पात्र में उसकी दुर्गंध का आभास अवश्य रह जायगा। दुर्गंध की इस वासना से भी अपने हृदय के पात्र को शुद्ध रखना आदर्शवादी भारतीय साहित्य का एक लक्ष्य रहा है। समाज-सुधार के नाम पर हम साहित्य में ऐसे अनेक दुर्गुणों से विगलित पात्रों की परिकल्पना करते हैं, पर वे पात्र अपने उद्देश्य की पूर्ति के पहले हमारे हृदय में अपनी सृष्टि के आवश्यक मूल उपादानों को उत्पन्न कर देते हैं जिसका परिणाम होता है कि हमारा हृदय, कुछ देर के लिये ही सही, उन दुर्गुणों के विकार को ग्रहण कर लेता है। क्योंकि जब तक हमारे हृदय में विकार गृहीत नहीं होते तब तक वैसे पात्रों की सृष्टि ही नहीं हो सकती। बहुत से सुधारवादी कलाकार समाज-सुधार के नाम पर अपनी ही कुत्सित वृत्तियों के साथ खिलवाड़ करते हैं। विकर्षण के बदले अपने साहित्य में वे आकर्षण ही पैदा करते हैं। छिद्रान्वेषण से अपने हृदय की मलीनता ही दूसरे के चरित्र की मलिनता को ग्रहण करती है। इसलिये केवल पाप से मुक्त रहने से ही काम नहीं चलता, पाप की चर्चा से भी मुक्त रहने की आवश्यकता है।

मानव जीवन के सुधार के लिये केवल पाप से विरत रहना ही पर्याप्त नहीं है। पुण्य की ओर आकर्षित होने के लिये भी कोई मनोरंजन और महत्वपूर्ण चित्र की आवश्यकता है। मनुष्य की भौतिक क्षुधापूर्ति के बाद उसकी आध्यात्मिक भूख जगती है। उसकी पारमार्थिक लालसा भी कोई वस्तु है। भीषण कष्ट, मृत्यु नरक के भय से ही मानव जीवन के सारे काम नहीं चल सकते। स्नेह, प्रेम, दया, दाक्षिण्य, करुणा, उत्साह, कृतज्ञता आदि के आलंबन बिना उसकी उच्चतर वृत्तियाँ विकसित नहीं हो सकतीं। यदि सद्वृत्तियों के पोषण तथा वृद्धि के लिये साहित्य में कुछ आधार न हो तो उसकी उपयोगिता का जीवन में कौन सा मूल्य रहेगा ?

आदर्श चरित्र के अध्ययन से मानव हृदय में जो आनंद, उत्साह, संतोष प्राप्त होता है क्या जीवन में उसका कुछ भी मूल्य आँका नहीं जा सकता ? पाप के साहचर्य से, उसकी सतत कल्पना से, उसकी भीषणता नष्ट हो जाती है। यदि हत्या, पाप, क्रूरता, आदि के वर्णन बराबर पढ़े जायँ तो ऐसे भावों के प्रति हृदय की घृणा धीरे धीरे नष्ट हो जाती है और जीवन पर इसका यह दुर्भाव पड़ता है कि प्रत्यक्ष जगत् में भी वैसी घटनाओं के प्रति हमारे हृदय में जितनी घृणा होनी चाहिए उतनी नहीं होती। साहचर्य का यह स्वाभाविक नियम है। पाप की भीषणता ही हमें उससे दूर रखती है, पर जब किसी कारण भीषणता नष्ट हो जाती है तब मनुष्य की उससे दूर रहने की शक्ति भी चली जाती है। पाप के आक्रमण की यही अवस्था है। सत्साहित्य का निर्माण ऐसी ही अवस्था से मनुष्य के उद्धार के लिये किया जाता है।

जगत् और जीवन परिवर्तनशील है। परिवर्तनशीलता जीवन का लक्षण है। इसी कारण जीवन में विभिन्न प्रवृत्तियों के दर्शन होते हैं। आज क्रांति की बड़ी पुकार है, बात बात में उसके नारे लगाए जाते हैं। परिवर्तन और क्रांति दोनों एक ही मूल के हैं। जगत् और जीवन में प्रकृति के शाश्वत नियम के अनुसार परिवर्तन होते रहते हैं, परिवर्तन का रुकना असंभव है। कम से कम समय में अधिक से अधिक परिवर्तन का नाम ही क्रांति है। परिवर्तन की गति नियमित है, पर जब वह गति हमारे हृदय के भाव तथा विचार के साथ चल नहीं सकती या चलती रहने पर भी वह मंद मालूम पड़ती है तब हम अपना धैर्य खोकर परिवर्तन की गति को तीव्र, तीव्रतर और अंत में तीव्रतम कर देते हैं। दूसरे शब्द में इसी को क्रांति कहते हैं। जगत् और जीवन में जो क्रांति होती है उसकी प्रतिक्रिया का प्रभाव साहित्य पर भी पड़ता है। बहुधा यह होता है कि जीवन में क्रांति को सफल बनाने के लिये हम साहित्य को माध्यम के रूप में ले लेते हैं और साहित्य के द्वारा भी जीवन में क्रांति की चेष्टा करते हैं। जीवन का कितना और कैसा प्रभाव साहित्य पर पड़ता है और साहित्य का कितना और कैसा प्रभाव जीवन पर पड़ता है, यह एक विचारणीय प्रश्न है। भोजन से हमारे शरीर को जो शक्ति मिलती है, भूख भी उसी शक्ति से पैदा होती है। भोजन से शक्ति प्राप्त करने का जो प्राकृतिक नियम है, भूख भी उसी नियम के अंतर्गत है। जिसको भोजन से शक्ति नहीं होती उसको भूख नहीं लगती। अधिकाधिक शक्ति को प्राप्त करने की आकांक्षा का लक्षण ही क्षुधा है। शारीरिक क्षुधा की तृप्ति खाद्य पदार्थों से होती है, पर मानसिक क्षुधा के लिये आध्यात्मिक भोजन की आवश्यकता पड़ती है और इसके परितोष के लिये साहित्य है। केवल अपनी क्षुधा-पूर्त्ति के लिये ही हम भोजन नहीं करते, भोजन करते समय हम स्वाद का भी आनंद लेना चाहते हैं। साहित्य के विविध भेदों तथा अंगों से हम अध्यात्मिक स्वाद का आनंद लेते हैं। महाकाव्य का एक स्वाद है तो रूपक का दूसरा, उपन्यास का एक स्वाद है तो कहानी का दूसरा, कविता का एक स्वाद है तो शब्द काव्य का दूसरा। यदि हममें विविध स्वादों का आनंद लेने की प्रवृत्ति नहीं रहती तो साहित्य या काव्य के इतने भेद नहीं होते। भौतिक षट्रस से काव्य के नवरस का आनंद कहीं अधिक बढ़ गया है। वस्तुतः स्वाद का आनंद मूल खाद्य पदार्थ में नहीं, बल्कि उसके विधिवत् पाक-कौशल में है। उसी प्रकार रस का आनंद मूल कथा-वस्तु में नहीं, उसके वर्णन-कौशल में है। अपने योग-क्षेम से अलग रहकर ही साहित्य का आनंद लिया जा सकता है, इसी कारण सुख-दुःख के साधारण काव्यगत आनंद से हमारी तृप्ति नहीं होती, हम रोमांच का आनंद लेना चाहते हैं, असमंजस तथा स्तब्धता में हृदय की धड़कन को बढ़ाकर, घटाकर, अनेक प्रकार से आनंद उपलब्ध करना चाहते हैं। जीवन में ऐसे क्षण बहुकाल-व्यापी होते हैं और अपने योग-क्षेम के साथ संबंध रखने के कारण वे अध्यात्मिक आनंद नहीं दे सकते। यह आनंद साहित्य ही दे सकता है, जगत् और जीवन की दूसरी कोई वस्तु नहीं।

२५ फाल्गुन, २०१० वि०]

साहित्य-विमर्श

के

उद्घाटनकर्त्ता

आचार्य बदरीनाथ जी वर्मा

शिक्षा-मंत्री, बिहार

का

उद्घाटन-भाषण

भारती के उपासक मित्रो,

अपने इस मंगलमय आयोजन का उद्घाटन करने के लिये आमंत्रित कर आपने मुझे जो गौरव प्रदान किया है और इसी बहाने अपनी सेवा में कुछ निवेदन करने का जो अवसर दिया है, उसके लिये मैं हृदय से आपका आभारी हूँ।

हमारा देश आज स्वतंत्र है। हमारा राष्ट्र आज अपने भाग्य का स्वयं विधायक है। शताब्दियों की परतंत्रता, तथा कठोर एवं उच्छृंखल शासन से हमें मुक्ति मिली है। इस राष्ट्र की प्रत्येक वस्तु को अपनी कहने का अधिकार आज हमें प्राप्त है। जिस दिन काशी नागरीप्रचारिणी सभा की स्थापना हुई थी उस दिन न तो भारतीय राष्ट्र स्वतंत्र था और न अपने भाग्य-निर्माण का ही हमें अधिकार था। इस देश की राजनीतिक प्रभुता उस राष्ट्र के हाथ में थी जिसका मूल उद्देश्य भारतीय वैभव का शोषण था, जिसकी नीति में कूट राजनीति थी, जिसकी उदारता स्वार्थ का बहिरावरण थी। भारत की राष्ट्रीय चेतना उस समय विमूर्छित थी। पुण्यश्लोक भारतेंदु हरिश्चंद्र ने मातृमंदिर में अर्चना के गीत गाए, जागरण का प्रभात-शंख फूँका। सुषुप्त भारती को चेतना का संदेश मिला। हिंदी यदि राजकुल की वधू रह चुकी थी तो उसने भक्तों से रसामृत भी पान किया था। अचेतन, मुमूर्षु भारत की मर्म-व्यथा कबीर की अमर वाणी बन इसी नागरी में प्रवाहित हुई जिसने जन जन में जीवन की चिरअभिलाषा और अमिट प्यास भर दी। सामाजिक रूढ़ियों और विषमताओं को कबीर ने विच्छिन्न किया और मानव को मानव की प्रतिष्ठा का बोध कराया। पुनः इसी नगरी में भारती के वरद पुत्र तुलसी ने रामभक्ति की वह पीयूष धारा बहाई, जिसमें समस्त उत्तरी भारत निमग्न हो गया था। उस महाकवि ने विलुप्त राष्ट्र-गौरव का स्मरण कराया एवं उसके काव्य की गरिमा में संपूर्ण राष्ट्र, समग्र देश

और संपूर्ण युग मुखरित हो उठे। सूर की सुधा ने आनंद, उल्लास और सौंदर्य की भावना जागरित की थी, तुलसी ने प्राणवंत चेतना, उल्लासमय उन्मेष एवं त्यागपूर्ण अनुराग का वरदान दिया। रीतिकालीन कवियों के कलाशिल्प में सौंदर्य का उन्मेष तो था, किंतु उनके काव्य में जीवन की चेतना न थी, प्राणदायक स्फूर्ति न थी। भारतेंदु हरिश्चंद्र ने नवजागरण का संदेश देकर सिद्ध कर दिया कि हिंदी भारतीय राष्ट्र की स्फूर्ति और चेतना का प्रतीक रही है और उसमें उद्बोधन की विपुल आशा और भविष्य की संभावनाओं का विशाल आयोजन है।

हिंदी साहित्य के इतिहास को मैं यहाँ दुहराना नहीं चाहता, केवल इतना ही स्पष्ट करना चाहता हूँ कि संकीर्णता और एक विशिष्ट वर्ग की सीमाओं में संकुचित साहित्य को भारतेंदु ने विस्तार तथा व्यापकता दी, जिनकी अनुभूतिमयी व्याप्ति सर्वश्री मैथिलीशरण गुप्त, माखनलाल चतुर्वेदी, नवीन और दिनकर के काव्य में मिलती है। प्रसाद जी की ऐतिहासिक चेतना ने अतीत गौरव के प्रकाश-स्तंभों की शतधा विकीर्ण होनेवाली रश्मियों का अन्वेषण किया, जिनके प्रकाश में वर्तमान को आलोकित करने की क्षमता है। अतीत के आलोक द्वारा यदि प्रसाद ने भविष्य के मार्ग का निर्देश किया तो प्रेमचंद ने वर्तमान की विषमताओं के चित्रों द्वारा उस कुरूपता की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया, जो हमारे जीवन के लिये अभिशाप है। प्रसाद और प्रेमचंद एक दूसरे के पूरक हैं और दोनों कलाकारों की प्रतिभा इसी काशी के वातावरण में चमकी। हिंदी आलोचना के दो सीमांतों ने भी आपकी काशी को ही अपना कार्यक्षेत्र बनाया और वे हैं पं० रामचंद्र शुक्ल और डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी।

पिछले युग की साहित्यिक गतिविधि पर विचार करते समय छायावाद की विविध रंगोंवाली चित्रमत्ता और अस्पष्ट झंकृति की ओर हमारा ध्यान चला जाता है। छायावाद की सूक्ष्म चित्रमत्ता ने सौंदर्य-भावना का नवीन विकास तो दिया किंतु जागरण का प्रभात संगीत नहीं। उसकी मोहकता में चंचल आकर्षण तो रहा, किंतु स्थैर्य का व्यापक प्रसार नहीं। उसके मोहक संगीत में तंद्रा की शिथिलता थी, जागरण का उद्वेग नहीं और, फिर चल पड़ा प्रगतिवाद, जो कला-चेतना से अधिक आंदोलन ही बना रह गया। प्रत्येक जीवित, प्राणवंत और चेतन साहित्य गतिमूलक होता है, उसमें जातीय जीवन अपना प्रतिबिंब और आदर्श उपलब्ध करता है, किंतु प्रगतिवाद बन गया एक राजनीतिक दल का साहित्यिक मोर्चा। हमें जनता के लिये साहित्य तो चाहिए ही, किंतु उसमें प्रतिफलित होनी चाहिए जनता की अंतर्निहित भावना और प्रतिध्वनित होनी चाहिए उसकी अंतश्चेतना। वह केवल जनता के लिये न हो, बल्कि जनता का भी हो। हिंदी साहित्य के इस गौरव से मैं अभिभूत तो हूँ, किंतु इसकी उपलब्धियों से पूर्ण संतुष्ट नहीं। हमारे बीच आज अनेकानेक कलाकार, विद्वान् और विचारक हैं, इनके कारण अन्य भारतीय भाषाओं के संमुख उपस्थित होने में हमें लज्जा का बोध नहीं होता, किंतु इतना तो हमें स्वीकार करना पड़ेगा कि भारतेंदु ने जो व्यापकता और प्रसाद ने जो गांभीर्य दिया था, उस परंपरा से विच्छिन्न हो हमने हिंदी साहित्य को वादों की संकुचित सीमा में घेर दिया। संकीर्णताएँ

हमारे लिये मापदंड बन गई हैं। साहित्य को उसकी पूर्णता में न देख हम वाद विशेष के मापदंड से उसे मापने लग गए हैं। संकीर्णता और संकुचित मनोभाव स्वस्थ साहित्य के सबसे प्रबल विघातक होते हैं और इतना कहने का अधिकार तो आप मुझे देंगे ही कि आधुनिक हिंदी साहित्य संकीर्णता की संकुचित सीमाओं में आबद्ध होता जा रहा है। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् जिस निर्मातृ प्रतिभा के उन्मेष की आशाएँ जागरित हो गई थीं, वे पूरी न हो सकीं, हम अपने उत्तरदायित्व के निर्वाह में असफल रहे।

हिंदी को राष्ट्रभाषा का मर्यादापूर्ण पद संविधान के द्वारा प्राप्त हुआ है, किंतु इस गौरव की प्राप्ति में हमारा अपना कोई श्रेय नहीं। हिंदी बहुसंख्यक भारतीयों की मुखरित वाणी है, इसमें विपुल जनता का आशा-उत्साह भरा है, अतः यह राष्ट्र की वाणी है। मैं मानता हूँ, हमने आंदोलन किया है, जनता की वाणी को देश के कोने कोने में पहुँचाया है, किंतु इतने में ही हमारी इतिकर्त्तव्यता तो निहित नहीं। केवल इसके आधार पर ही राष्ट्रभाषा बनाकर भी हम इसे राष्ट्रीय भावना और चेतना की वाणी नहीं बना सकेंगे। हमें सदा ध्यान रखना चाहिए कि हिंदी अब केवल हिंदी प्रांतों की भाषा, अथवा एक संकीर्ण और संकुचित समुदाय की साहित्यिक अभिव्यक्ति का माध्यम नहीं रही। इसपर समस्त राष्ट्र का पूर्ण अधिकार है, और वह दिन भी शायद दूर नहीं जब समग्र राष्ट्र की प्रतिभा इसमें प्रतिफलित होगी।

महत्ता सदा से उत्तरदायित्व की गोद में पलती आई है। हमारा गौरव हिंदी को राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकार करा लेने भर में नहीं बल्कि उस उत्तरदायित्व के निर्वाह में है, जो हिंदी भाषा-भाषियों पर आ पड़ा है। हिंदी राष्ट्रभाषा होकर रहती। इसके लिये हमें अधिक चिंता करने की अपेक्षा नहीं। हमें इस गौरव से अभिभूत होने की भी अपेक्षा नहीं कि हमारी भाषा को राष्ट्रभाषा का गौरवास्पद पद प्राप्त हुआ है, बल्कि उस विशाल उत्तरदायित्व को स्मरण रखने की हमें सबसे अधिक आवश्यकता है क्योंकि इसके द्वारा हमें अपने अभावों की ओर ध्यान रहेगा और उन्हें दूर करने की प्रेरणा मिलती रहेगी। हममें विजय का गर्व न हो, सद्भाव का माधुर्य हो, अपने अहं की तुष्टि न हो, व्यापकता की अनुप्रेरणा हो।

उत्तरदायित्वों के संबंध में चर्चा करते समय मैं इस तथ्य की ओर आपका ध्यान आकृष्ट करना चाहूँगा कि हिंदी उन समस्त ज्ञान-विज्ञान की उत्तराधिकारिणि है जो संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं में विकीर्ण है। प्राचीन काल में समस्त ज्ञान-विज्ञान के माध्यम एवं सांस्कृतिक चेतना की धारावाहिनी के रूप में संस्कृत की प्रतिष्ठा थी। भारतीयता के वास्तविक परिचय के लिये उस साहित्य का ज्ञान अनिवार्य है, जिसने एक दिन गौरीशंकर से लेकर कन्याकुमारी तक, एवं सुदूर गुजरात से लेकर आसाम तक को ऐक्य के सूत्र में आबद्ध कर दिया था। संस्कृत किसी दिन जन-साधारण की भाषा थी अथवा नहीं, इसके संबंध में पंडितों में मतभेद हो सकता है, किंतु इतना तो निर्विवाद है कि अति प्राचीन काल से ही संस्कृत सांस्कृतिक चेतना और ज्ञान-विज्ञान का माध्यम रही है। बौद्ध और जैन धर्मों के कारण जन-भाषा को जो प्रोत्साहन मिला वह पांडित्य-विधायक सिद्ध न हो सका, एवं सार्वभौम प्रचार के लिये उन्हें भी संस्कृत को ही माध्यम बनाना पड़ा

था। वेद, उपनिषद्, पुराण, काव्य में भारतीयता और भारतीय संस्कृति चित्रित-प्रतिफलित है। बौद्ध, जैन और तंत्र शास्त्रों में धर्म-साधना एवं जातीय जीवन का अविच्छिन्न प्रवाह प्रवाहित हैं। काव्य, नाटक, उपाख्यान में भारतीय आत्मा की सजीव अभिव्यक्ति हुई है। हिंदी सहज ही इस विशाल उत्तराधिकार की अधिकारिणी है। मैं मानता हूँ कि पश्चिम की यांत्रिक सभ्यता ने हमारे वर्तमान जीवन को उद्वेलित किया है। विज्ञान के असंख्य अन्वेषणों ने मानव जीवन को अधिकाधिक सुख-साधन-संपन्न बनाने की चेष्टा की है किंतु इतना स्वीकार करना पड़ेगा कि इसकी यांत्रिकता ने आत्मा का हनन भी किया है। हमें आध्यात्मिक आत्म-तत्त्वोपलब्धि की अपेक्षा है, जिसकी अखंडित धारा भारतीय धर्म-साधना और साहित्योपासना में उपलब्ध होती रही है। भारतीय राष्ट्रवादिता यूरोपीय नेशनलिज्म मात्र नहीं, भौगोलिक सीमाएँ, धर्म साधना का ऐक्य, भाषा की एकता, एक जाति अथवा वर्ग की धारणा से यह आध्यात्मिक तत्वानुभूति एवं ऐक्यानुभाव है जिसमें अतीत की प्रेरणा, वर्तमान का यथार्थ और भविष्य की संभावनाएँ ग्रथित हैं। अतीत की परंपरा से विच्छिन्न साहित्य आकाश-लता की भाँति निराधार हो जाता है। अतीत विच्छिन्न वर्तमान की कल्पना का मोहावेश है। राष्ट्रभाषा हिंदी को इसके योग्य बनाना होगा जिसके कारण वह अनायास ही भारतीय संस्कृति की रक्तवाहिनी धमनी बनने में समर्थ हो सके। एक ओर प्रसाद जैसे कलाकारों की अपेक्षा है, जो समस्त सारभूत तत्व को आत्मसात् कर नवीन चेतना को स्फूर्ति दे सकें और साथ ही साथ वैसे तत्वज्ञ पंडितों और विद्वानों की अपेक्षा है; जो इस विपुल साहित्य का सफल और प्रामाणिक अनुवाद दे सकें। जिस तपस्या, साधना और आयास की अपेक्षा प्राचीन काल में मानी जाती थी, उसका आज अभाव ही दीख पड़ता है। यह युग प्रचार और आंदोलन का है, प्रचार के साधन अति सुलभ हो गए हैं अतः अनायास ही प्रसिद्धि मिल जाती है। यशःप्रार्थी साहित्यिकों का ध्यान प्रचार की ओर रहता है, अतः सस्ते प्रकार के साहित्य की रचना आज अधिक हो रही है। केवल ऐसी रचनाओं के द्वारा हिंदी की गौरव-वृद्धि नहीं हो सकेगी। अतः आज वैसे साहित्य साधकों की हमें सबसे अधिक आवश्यकता है जो संस्कृत के आकर ग्रंथों का प्रामाणिक रूपांतर दे सकें। अनुवाद टीका और भाष्य का रूप धारण न करे, मूल का अन्वय, अक्षरशः अनुवाद और व्याख्याएँ दी जायँ, जिससे मूल लेखकों के भावों पर विचार करने का समुचित अवसर पाठक को प्राप्त हो। यहाँ यह उल्लेख अप्रासंगिक न होगा कि अंग्रेजी में एक ही ग्रंथ के अनेक अनुवाद हैं। प्रत्येक परवर्ती अनुवादक पूर्ववर्ती अनुवादों से लाभ उठाकर अपने अनुवाद को अधिकाधिक पूर्ण बनाने की चेष्टा करता है। यह कार्य सुगम नहीं, इसमें अधिक तत्परता और व्युत्पत्ति की अपेक्षा है। हिंदी के व्यापक प्रसार और अधिकाधिक पूर्णता के लिये ऐसे अनुवादों की हमें अपेक्षा है और तभी हमारी भाषा प्राचीन भारतीय साहित्य की स्थानापन्न हो सकेगी।

इसके साथ ही आधुनिक युग की वैज्ञानिक चेतना को भी हमें आत्मसात् करना पड़ेगा जिसके कारण मानवीय ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में अभूतपूर्व क्रांति हुई है। पश्चिम के वास्तविक मूल्यांकन और उसकी वास्तविकता से परिचय प्राप्त करने के लिये वहाँ के विपुल साहित्य से हमें परिचय प्राप्त करना होगा। हम विदेशी भाषाएँ सीखें। अधिका-

धिक भाषाओं का ज्ञान हमारी समुन्नति में सहायक होगा। किंतु अनुसंधित्सु भारतीय विद्यार्थी के लिये उन समग्र ग्रंथों का प्रामाणिक अनुवाद राष्ट्रभाषा में होना चाहिए, जिन्होंने अपने विशिष्ट क्षेत्र में कर्तृत्व का परिचय दिया है। इसी प्रकार राष्ट्रभाषा के भी उन श्रेष्ठ ग्रंथों के सुंदर अनुवाद विदेशी भाषाओं में तैयार किए जायँ, जो हमारे गौरव के आधार हैं और जिनके द्वारा संसार के लोग हमारे सांस्कृतिक और कलात्मक आदर्शों का परिचय प्राप्त कर सकें।

मैं आशा करता हूँ कि भारतीय विद्वान् अब अपने शोधों के फल भी राष्ट्रभाषा के माध्यम से उपस्थित करेंगे। राष्ट्रभाषा हिंदी को हमें इतना समृद्ध तो बनाना ही पड़ेगा कि इसके माध्यम से अन्वेषण और अनुसंधान का कार्य संभव हो सके। साधन संपन्न संस्थाओं को यह उत्तरदायित्व सम्हालना चाहिए। संभवतः आप इस कार्य में सरकार की अपेक्षा रखेंगे। पर शासन-व्यवस्था की अपनी प्रणाली होती है, इस कार्य को केवल सरकार के भरोसे छोड़ने का अर्थ होगा कि हम अपना दायित्व टालना चाहते हैं। मैं मानता हूँ कि सरकार को ऐसे कार्य में यथेष्ट सहायता देनी चाहिए, किंतु इन कार्यों को सरकारी अनुशासन में मुक्त ही रखना श्रेयस्कर होगा। संस्थाएँ यदि अपने ऊपर इस कार्य का भार ले लें और इसके विधिवत् संपादन के लिये कार्य-विभाजन कर लें तो थोड़े समय में ही हिंदी का यह अभाव दूर हो जायगा।

विशाल भारतीय राष्ट्र की राष्ट्रभाषा होने के कारण हिंदी को आज अंतर्राष्ट्रीय महत्त्व उपलब्ध है। समग्र संसार के मनुष्य और राष्ट्र, अब हिंदी के माध्यम से ही भारतवर्ष से परिचित होंगे। हिंदी भारतीय राष्ट्र-जीवन और विचारधारा का प्रतीक होगी। हिंदी का अब वही स्थान नहीं रहा जो अभी तक था। अतः इसे अधिकाधिक व्यापक बनाना होगा, जिसमें सांस्कृतिक संपत्ति की विशालता, विविधता और चेतना का वैभव पुंजीभूत हो।

हिंदी साहित्य के सम्यक् विकास और समुचित पुष्टि के लिये हिंदीतर भारतीय भाषाओं के साहित्य का सहयोग स्वास्थ्यकर सिद्ध होगा। भारतीय संस्कृति का व्यापक ऐक्य ही इन साहित्यिक धाराओं में अभिव्यक्त होता रहा है। अतः इन धाराओं और अंतर्धाराओं का परिचय अनिवार्य है। भारतीय चेतना की अखंडित धारा हिंदी के साथ ही साथ अन्य भारतीय भाषाओं में प्रवाहित होती रही है; इसका विच्छिन्न अध्ययन अपूर्णता और संकीर्णता का सूचक है। विच्छिन्न अध्ययन के आधार पर उपस्थित किए गए निष्कर्ष अधूरे और भ्रमोत्पादक होंगे। अतः अन्य भारतीय भाषाओं के ग्रंथों का भी प्रामाणिक अनुवाद हिंदी में होना चाहिए। किंतु इतना ही पर्याप्त नहीं। हम भारत की विभिन्न भाषाओं का गंभीर अध्ययन करें और उनके माध्यम से अपने साहित्य के बहु-मूल्य रत्नों को भी उनको संमुख उपस्थित करें। परिचय नहीं रहने के कारण ही हमारे साहित्य के संबंध में अनेक प्रकार के भ्रमों का प्रचार किया जाता है, इनका निवारण करना हमारे लिये अत्यंत आवश्यक है। दूसरों से ग्रहण करने में हमने कभी अनुदारता का परिचय नहीं दिया, यद्यपि हमारी इस उदारता को कुछ लोगों ने हमारी असमर्थता का पर्याय समझा। हमें स्पष्ट कर देना है कि प्रांतीय भाषाओं के साहित्य से हमारा कोई

विरोध नहीं है उनकी समृद्धि को हम अपनी समृद्धि समझें और उसमें हम भी अपना योग दें।

एक और तथ्य की ओर ध्यान आकृष्ट करने की आप मुझे अनुमति दें। आज का साहित्यकार अपने जैसे कुछ लोगों अथवा एक विशिष्ट वर्ग अथवा समुदाय के लिये रचना कर रहा है। अधिकांश जनता को यह साहित्य स्पर्श नहीं कर पाता। आज की सभ्यता ने केवल तथाकथित नागर जीवन को उद्वेलित किया है और साहित्य का श्रेय बन बैठा है तथाकथित नागर शिल्प-विधान। इसके द्वारा हम न तो साहित्य का ही कल्याण कर सकेंगे और न लोक का मंगल मार्ग ही प्रशस्त कर सकेंगे। मैं यह नहीं कहना चाहता कि केवल ग्रामीणों के लिये ही लिखा जाय अथवा केवल ग्राम्य साहित्य का सर्जन हो बल्कि यह संकेत करना चाहता हूँ कि साहित्य को एकांगिता से मुक्त कर व्यापक दृष्टि और सार्वभौम संवेदन देने की अपेक्षा है। साहित्य की शक्ति संवेदना की व्यापकता में निहित है, केवल शब्द-शिल्प के कला-नैपुण्य में नहीं। जीवन की गतिशील धारा से संबद्ध साहित्य ही चिरंजीवी बनने की सामर्थ्य रखता है। मैं मानता हूँ कि लोक-जीवन को उन्नत करने की आवश्यकता है, उस स्थिति तक पहुँचने की अपेक्षा है जिसमें वह साहित्य द्वारा प्रेरित संवेदना को ग्रहण कर सके। किंतु संवेदना के संस्कार का दायित्व साहित्यकार पर है। उसे आज हिंदी साहित्य को लोक-हृदय के सुख-दुःख, हर्ष, विषाद, आशाओं, अभिलाषाओं, अभावों और आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति का साधन बनाकर उसकी सार्थकता सिद्ध करनी होगी। लोक-जीवन, लोक-गाथा और लोक-भाषाओं के अध्ययन-विश्लेषण द्वारा हमारी भाषा में वैसी क्षमता आ सकेगी और अनायास ही संवेदना को व्यापकता और विस्तार मिल सकेगा।

हमारे साहित्य की वर्त्तमान स्थिति अपर्याप्त एवं लज्जाबोधक कदापि नहीं, किंतु इसे अधिकाधिक क्षमताशील बनाने का उपक्रम होना चाहिए। भारतीय साहित्य की अखंडित सांस्कृतिक परंपरा से मंडित समस्त देश के चिंतन और कलात्मक प्रेरणाओं के परिपुष्ट, आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की स्फूर्ति से गतिमान और लोक-जीवन की व्यापकता से संवेदनशील हिंदी साहित्य राष्ट्रीय जागरण और भावनाओं का प्रतीक एवं अंतर्राष्ट्रीय वाङ्मय का आधार होगा। हिंदी के चतुर्मुख विकास में हम अपनी पूर्ण शक्ति लगा दें। हिंदी साहित्य की वर्तमान गतिविधि के लिये समादर और भविष्य के प्रति आस्था प्रकट करते हुए मैं आपके इस समारोह का उद्घाटन करता हूँ।

२५ फाल्गुन, २०१० वि०]

सांस्कृतिक संमेलन

के लिये

श्रद्धेय डा० भगवानदास जी का संदेश

मुझे बहुत खेद है कि अस्वस्थता के कारण मैं नागरीप्रचारिणी सभा, काशी की हीरक जयंती के शुभोत्सव में स्वयं उपस्थित नहीं हो सकता, अतः संदेश भेजकर संतोष करता हूँ।

मुझे आश्चर्य है कि सांस्कृतिक संमेलन के सभापतित्व का कार्य मेरे ऊपर क्यों रखा गया। मैंने, न सभा की, न नागरी की, ऐसी कोई सेवा की, जिससे इस संमान के योग्य समझा जाऊँ। यह सत्य है कि सभा की स्थापना के थोड़े ही दिन पीछे, मेरे ज्येष्ठ भ्राता दिवंगत श्री गोविंददास जी और मैं सभा के सदस्य हो गए। मैं उन दिनों सरकारी नौकरी में था; सन् १८९८ में उसको छोड़कर सेंट्रल हिंदू कालेज के कार्य में लगा, तब श्यामसुंदरदास जी के अनुरोध से वैज्ञानिक कोश, 'सायंटिफिक् ग्लौसरी' के अध्यात्म विद्या 'साइकालोजी' के भाग का कार्य उठाया। उक्त कालेज के पुस्तकागार में ही काम होने लगा; पुस्तकों की सुविधा थी, और श्री रामअवतार जी, जो उन दिनों वहाँ अध्यापक थे, सहायता देने को आ जाते थे; म० म० श्री सुधाकर जी द्विवेदी भी कभी-कभी कृपा करते थे, यद्यपि उनको ज्योतिष संबंधी शब्दों ही का अंश सौंपा गया था; मुझे स्मरण है कि 'सेंट्रिपीटल्' और 'सेंट्रिफ्यूगल' शब्दों के हिंदी पर्याय ढूँढ़ रहा था, नहीं मिलते थे; उन्होंने बताया, 'केंद्रपाती वा केंद्रोन्मुख' और केंद्र 'पराङ्मुख।' इसके पश्चात् 'शब्द सागर' की बृहत् योजना की गई, ब्रिटिश सरकार ने भी और राजा-महाराजों तथा अन्य धनाढ्य प्रेमियों ने धन से सहायता की, और हिंदी के कई विद्वानों के बड़े परिश्रम से कई वर्ष में और कई लाख रुपए के व्यय से यह कोश बना। अब इसके आधार पर अन्य बहुत से छोटे मोटे कोश बने और बनते जा रहे हैं। कोशनिर्माण की एक निरीक्षक समिति भी बनाई गई, और उसमें मुझे भी एक सदस्य बना दिया गया; हिंदू कालेज के काम में व्यग्र रहता था, इसलिये यह सदस्यता छोड़नी पड़ी। हिंदी साहित्य की सेवा मुझसे इतनी ही बनी कि तीन ग्रंथ लिखे, जिनमें प्राचीन आर्ष उपदेशों का नए शब्दों में प्रतिपादन किया। मुझे बहुत संतोष है कि हिंदी प्रेमी जनता ने इन ग्रंथों को अपनाया और इनके कई कई संस्करण निकल चुके।

गत साठ वर्षों में हिंदी साहित्य का रूप सर्वथा बदल गया है; उसका मुख्य कारण अंग्रेजी साहित्य का परिशीलन है। यहाँ साहित्य का अर्थ केवल गद्य-पद्य, काव्य, दृश्य, श्रव्य, नाटक आदि ही नहीं, वरन् प्रज्ञान-विज्ञानात्मक समस्त वाङ्मय। भारत के ऋषियों ने इसको चार राशियों में बाँटा है, पुरुषार्थों के अनुसार, धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, कामशास्त्र

और मोक्षशास्त्र; इनका संबंध चार वर्णों और चार आश्रमों से है। मानव जीवन के सब अंशों, अंगों का परस्पर संग्रंथन ऋषियों ने कर दिया है; उसको भारत-जनता ने दो तीन सहस्र वर्षों से भुला दिया है, और 'कर्मणा वर्णः' तथा 'वयसा आश्रमः' के सत् सिद्धांतों पर प्रतिष्ठित समाज-व्यवस्था को बिगाड़ कर, 'जन्मना वर्णः' के अपसिद्धांत कुत्सनीय सिद्धांत पर स्थापित करके ढाई सहस्र जात्युपजातियाँ, परस्पर द्वेष-द्रोह करनेवाली उत्पन्न कर दिया, जिससे भारत का स्वराज खो गया, प्रायः बारह सौ वर्ष से, सम्राट् हर्षवर्धन के निधन के अनंतर, विदेशियों-विधर्मियों के अधीन हो गया। बुद्धदेव ने ढाई सहस्र वर्ष हुए, सनातन, आर्य मानव धर्म का, तथा वर्ण-व्यवस्था का जीर्णोद्धार किया, जिसका प्रभाव प्रायः बारह सौ वर्ष, अर्थात् हर्षवर्धन के समय तक रहा, और वह बौद्ध अर्थात् प्रतिसंस्कृत सनातन धर्म, तिब्बत, चीन, जापान, बर्मा, स्याम, सुमात्रा, जावा, बाली आदि देशों में दूर दूर तक फैला; पश्चिम के देशों पर भी इसका प्रभाव पड़ा। बौद्ध विद्वानों तथा वैदिक विद्वानों में सात्विक होड़ हुई, बहुत अच्छे-अच्छे ग्रंथ सब विषयों पर, दोनों ने लिखे, जिनमें से विशिष्ट ग्रंथों का आज तक पठन-पाठन होता है। आंध्रदेशीय नागार्जुन ने खनिज पारद, स्वर्ण रजत आदि धातुओं के भस्म वा पिष्ट से बने हुए औषधों से रस-चिकित्सा का नया उपज्ञान किया, जिसके आगे सुश्रुत-चरकादि-उपदिष्ट काष्ठौषधियों का प्रयोग कम हो गया है।

बुद्धदेव ने साधारण जनता को समझाने के लिये पाली में, और उनके समकालीन और ज्ञाति महावीर जिन ने प्राकृत में, उपदेश किया; पर दोनों के सौ-दो-सौ वर्ष पीछे ही, दोनों संप्रदायों के विद्वानों ने पुनः संस्कृत का ही आश्रय लिया। रामायण, महाभारत, पुराण, मनुस्मृति आदि के वर्तमान रूप, कई सहस्र वर्ष पुराने रूपों के नए 'एडिशन', 'प्रति संस्करण' हैं। बुद्धदेव से प्रायः दो सौ वर्ष पहिले पाणिनि हुए, ऐसा मानने के लिये हेतु हैं, किंतु विद्वानों में इस विषय पर मतभेद भी है। पतंजलि तो ईसापूर्व दूसरी शती के अंत और पहिली के आदि में हुए, यह प्रायः निर्विवाद है।

प्रस्तुत विषय नागरी का है, पर संस्कृत की चर्चा इस कारण की कि कश्मीर को छोड़, उत्तर भारत की सभी अन्य भाषाएँ संस्कृत से निकली हैं, और संस्कृत ही वह आकर है, जिसमें से नए शब्द नए भावों को प्रकट करने के लिये, निकाले और बनाए जा सकते हैं।

धर्मशास्त्र का जो मुख्य ग्रंथ मनुस्मृति है, उसके कई अनुवाद हिंदी में हो चुके हैं, किंतु वर्तमान समयोचित भाष्य उसका अभी तक हिंदी में नहीं बना; बनना चाहिए उसकी बहुत आवश्यकता है। मैंने 'मानव धर्म सार' नामक संस्कृत पद्यमय ग्रंथ में इसका यत्न किया है, और उसका हिंदी में अनुवाद भी हो गया है, पर छापने के लिये द्रव्य चाहिए, जिसे देने को अब तक कोई सज्जन संनद्ध नहीं हुए, यद्यपि अन्य कार्यों में, जो, मेरी दृष्टि से, इतने उपयोगी और आवश्यक नहीं हैं, लाखों रुपए व्यय कर रहे हैं। एवं, उसी का सार-भूत, बहुत संक्षिप्त ग्रंथ, अंग्रेज़ी में, 'सनातन-वैदिक-धर्म' के नाम से, मैंने छपाया है; उसका भी हिंदी में अनुवाद हो गया है, और उसका कु- अंश, काशी के 'शांति दूत' नामक मासिक में छपा भी है; किंतु संपूर्ण अनुवाद पृथक् ग्रंथ के रूप में नहीं छप

सका है। प्राचीन धर्म शास्त्र में सभी सद्ज्ञान, वेद, वेदांग, वेदोपांग, उपवेद का, आयुर्वेद, धनुर्वेद, गांधर्व वेद, स्थापत्य वा शिल्प वेद, इतिहास-पुराण, अर्थात् विज्ञान, 'सायंस' शब्द से व्यंजित सभी शास्त्रों का, अंतर्भाव है।

अर्थशास्त्र पर प्राचीन ग्रंथ चाणक्य-कौटल्य का, उसी नाम का मिलता है; इसका भी हिंदी में अनुवाद नहीं हुआ है; होना चाहिए; काशी विश्वविद्यालय के प्राध्यापक सज्जन, यदि विस्तृत टीका सहित ऐसा अनुवाद कर तो बहुत अच्छा हो। कौटल्य ने (कुटलस्य अपत्यं; कौटिल्य नहीं) अपने ग्रंथ का नाम 'अर्थशास्त्र' रखा, किंतु वस्तुतः वह राजधर्म का शास्त्र है। 'राज्य सप्तांगं उच्यते', राज्य के सात अंगों में से कोषांग ही चाणक्य-कौटल्य को अन्य सबसे अधिक आवश्यक जान पड़ा। आधुनिक साम्राज्यों की भी बुद्धि यही है, 'कोषो यस्य बलंतस्य'। युनाइटेड-स्टेट्स ऑव अमेरिका के प्रशासन (गवर्नमेंट) के पास सबसे बड़ी स्वर्णराशि, नितांत गुप्त स्थान में, सुरक्षित है; उससे घटकर रूस, उससे घटकर ब्रिटेन के पास है; ऐसा विश्वास किया जाता है, किंतु रूस के विषय में केवल अनुमान ही है। किसी समय में भारत के पास सबसे अधिक था, किंतु भारतीयों के पापों से रुष्ट होकर लक्ष्मी देवी पश्चिम को चली गईं।

अब, शिक्षा-संस्थाओं में, उत्तर प्रदेश और विहार में, हिंदी का प्रयोग होने के कारण, अर्थशास्त्र, और तदंतर्गत राजशास्त्र, समाजशास्त्र आदिक ग्रंथ हिंदी में, विद्वानों ने लिखे और छपाए हैं, प्रायः अंग्रेजी ग्रंथों के आधार पर लिखे गए हैं, किंतु इनके भाव, उन भावों से बहुत भिन्न हैं जो मनुस्मृति में वैश्यवर्ण के धर्म-कर्म के संबंध में, बहुत थोड़े से श्लोकों में कहे हैं, दोनों भावों और दृष्टियों का संप्रधारण, गुण-दोष-मीमांसन, करनेवाला ग्रंथ भी हिंदी में बनना चाहिए।

कामशास्त्र पर प्राचीन ग्रंथ अब एक ही मिलता है, वात्स्यायन कृत कामसूत्र और जयमंगल कृत उसकी टीका। ऐसा मानने के लिये कई हेतु हैं, यद्यपि यहाँ भी मतभेद है, कि चाणक्य-कौटल्य का ही एक नाम वात्स्यायन था, और इन्हीं ने गौतम के न्यायसूत्र पर भाष्य भी लिखा जो उनके नाम से प्रसिद्ध है। कौटल्य के आठ नाम कहे जाते हैं; अद्भुत विद्वान् थे; जगत्प्रसिद्ध पंचतंत्र नामक ग्रंथ भी इन्हीं ने विष्णुगुप्त के नाम से रचा। इस 'कामसूत्र' के कुछ अंश बहुत अच्छे हैं, कुछ बहुत निकृष्ट। हिंदी में अनुवाद हुआ है। अब इस विषय पर, जिसका ज्ञान प्रत्येक गृही और गृहिणी के लिये नितांत आवश्यक है, पश्चिम में, बहुत से, बहुत अच्छे अच्छे ग्रंथ लिखे गए हैं, उनसे हमलोगों को काम लेना चाहिए। 'पुरुषार्थ' नामक अपने हिंदी ग्रंथ में, इस विषय के पाश्चात्य साहित्य की कुछ थोड़ी सी सार-सार बातें, प्राचीन आर्यभावों से परिशोधित लिखने का प्रयत्न किया है।

मोक्ष-शास्त्र पर प्राचीन ग्रंथ षड्दर्शनों के नाम से प्रसिद्ध हैं; इनमें से पाँच, न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्व मीमांसा के सूत्र और भाष्य तो आर्ष कहे जा सकते हैं; ब्रह्म-सूत्र, बादरायण के नाम से प्रसिद्ध हैं, और पंडितों का विश्वास है कि कृष्ण द्वैपायन ही का दूसरा नाम बादरायण है; पर ऐसा मानने के लिये कोई पुष्ट हेतु नहीं मिलता है। भगवद्गीता में कहा है—

ऋषिभिर्बहुधा गीता छंदोभिर्विविधैः पृथक्,
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चतैः। (१३.४)

शंकराचार्य ने 'ब्रह्मणः सूचकानि पदानि' अर्थ कर दिया है और 'उपनिषद्-वाक्यानि' का संकेत किया है। पर यह मन में नहीं बैठता। कृष्ण के समकालीन व्यास, जिन्होंने गीता का समावेश 'महाभारत' में किया,

व्यासेन ग्रथितां पुराण मुनिना मध्ये महाभारत, उन्होंने अपने रचे सूत्रों का संकेत किया हो तो क्या आश्चर्य ? कृष्ण के पास ऋषि लोग बहुधा जाया करते थे, व्यास ने अपने रचे सूत्रों को कभी उन्हें सुनाया होगा, अस्तु। गीता के अनुवाद हिंदी गद्य पद्य में पचासों हुए और होते जाते हैं, और मानव जगत् की सभी सभ्य भाषाओं में भी हुए और हो रहे हैं; किंतु इसके दो श्लोकार्धों पर यथोचित ध्यान नहीं दिया गया है,

चातुर्वर्ण्यं मयासृष्टं गुण-कर्म-विभागशः;
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभाव प्रभवैः गुणैः।

इनपर बहुत ध्यान देना चाहिए; तथा इस द्वितीय श्लोकार्ध के आगे तीन श्लोकों पर जिनमें चारो वर्णों के स्वभाव-ज कर्म बतलाए हैं। ध्यान देना चाहिए कि 'कर्म विभागशः' कहा, 'जन्म-प्रभावतः' नहीं।

ब्रह्मसूत्रों के शंकर भाष्य का हिंदी अनुवाद हो गया है, और बहुत परिश्रम से बहुत अच्छा किया गया है। अन्य पाँच दर्शनों के सूत्रों और भाष्यों के अनुवाद हुए वा नहीं यह मुझे विदित नहीं है; होने चाहिए, क्योंकि इनमें परस्पर खंडन नहीं है प्रत्युत समर्थन और मंडन है, और सांसारिक दुःखों से खिन्न जीव को सचमुच शांति दे सकते हैं। विपरीत इसके, शांकर भाष्य के तर्कवाद में अन्य पाँचों का खंडन किया है, जो खंडन स्वयं खंडनीय है, और अध्येता को शांति न देकर भ्रम और संशय में डाल देता है।

वेदांत का एक अन्य ग्रंथ 'योगवासिष्ठ' नाम का है; इसके कई अनुवाद हिंदी में हुए हैं, और इसके पढ़ने-पढ़ाने की प्रथा बहुत है, विशेषकर उदासीनपंथ के साधुओं और किञ्चिद्विरक्त गृहस्थों तथा संन्यासियों में। ग्रंथ अच्छा है, रोचक आख्यानों द्वारा वेदांत के गूढ़ तत्वों को समझाने का प्रयत्न करता है।

प्रसिद्ध ही है कि हिंदी में, सरस पद्यों द्वारा, वैराग्य का उद्बोधन और परमात्म-ज्ञान का उपदेश कबीर ने, तथा भक्ति का तुलसी और सूर ने किया है; तुलसी रामायण में सब नौ रसों का समावेश किया है, और भक्ति प्रधान होते हुए भी, उत्तर कांड में शांत रस का और अद्वैत वेदांत का प्रतिपादन किया है। खेद है कि सूर के पांच छः सहस्र ही पद मिलते हैं और वे भी प्रायः भागवत की रासपंचाध्यायी के ही उपबृंहण हैं, अर्वाचीन कवियों ने शृंगार ही पर बल लगाया है; वीर रस के दो ही काव्य मिलते हैं; हम्मीर हठ और शिवाबावनी; ललित हास्यरस के भी नहीं हैं।

संस्कृत में जो नव्य न्याय, नव्य वेदांत, नव्य व्याकरणादि की प्रथा, कई शतियों से चली है, वह नितांत भ्रष्ट और तिरस्कार्य है; उससे जनता का कुछ उपकार नहीं, और अध्येताओं की शक्ति और समय का महान् अपव्यय।

इस प्रकार से चतुःपुरुषार्थ साधक चतुःशास्त्रों पर यदि अच्छे ग्रंथ हिंदी में लिखे जायँ, समय समय की नई आवश्यकताओं को दृष्टि में रखकर, तब हिंदी वाङ्मय जनतोपकारी हो। अब पचासों मासिक पत्रिकाएँ, अच्छी-अच्छी आयुर्वेदादि विविध विषयों पर निकल रही हैं, यह सब कार्य बहुत शुभ है।

इस अवसर पर दिवंगत श्री शिवप्रसाद गुप्त का स्मरण करना उचित है। उन्होंने धन से भी ना० प्र० सभा की सहायता की और हिंदी साहित्य की भी, दैनिक 'आज' चलाकर, जो तीस वर्ष से अच्छा काम कर रहा है और अन्य देशों में ब्रिटेन और रूस में भी, जिसकी प्रतियाँ जाती हैं तथा बहुत से मौलिक ग्रंथ, विविध विषयों पर, विद्वानों से बनवाए, और अपने ज्ञान-मंडल प्रेस में छपवाकर, लागत पर बिकवाए। शिवप्रसाद जी का स्वयं लिखा 'पृथ्वी प्रदक्षिणा' नामक ग्रंथ और श्री रामदास गौड़ का लिखा 'हिंदुत्व' यह दो विशेषतः उल्लेखनीय हैं। मैंने श्री शिवप्रसाद जी और श्री श्रीप्रकाश जी के डाँट घोंट से ही सन् १९२१ के पीछे राजनीतिक आंदोलन में पड़कर, हिंदी में कुछ लिखना-बोलना सीखा, उसके पहिले प्रायः अंग्रेजी ही का, पत्र व्यवहार में और ग्रंथ लिखने में प्रयोग करता था।

हिंदी प्रेम के कारण, शिवप्रसाद जी ने, काशी के दंडन्यायालय से कई बार अन्यायभूत धन-दंड भी पाया, क्योंकि अपनी घोड़ागाड़ी और मोटरों पर हिंदी अंकों में उनके 'नंबर' (संख्या) लिखवाए, जो उस समय के नगरपालिका के विधान के विरुद्ध था, पर शिवप्रसाद जी ने अपनी टेक नहीं छोड़ी और अंत में नगरपालिका को विवश होकर हिंदी अंक भी मानना पड़ा; एवं चेकों (धनादेशों, हुंडियाँ) पर भी नागरी में ही लिखते और हस्ताक्षर करते; बंकों को भी विवश होकर ही मानना पड़ा।

नागरी साहित्य का घनिष्ठ संबंध नागरी लिपि से है; यदि नागरी लिपि में, बँगला, गुजराती, तथा उर्दू के, चुने-चुने उत्तम ग्रंथ छपें, तो उनका प्रचार हिंदी भाषी सभी प्रांतों में बहुत अधिक हो, और बँगला तथा गुजराती ग्रंथों के समझने में हिंदी जाननेवालों को कुछ भी कठिनाई न हो; मराठी ग्रंथ नागरी लिपि में ही छपते हैं। प्रायः साठ वर्ष हुए, कलकत्ता के उच्च न्यायालय के एक प्राड्विवाक् न्यायधीश, श्रीशारदा चरण मित्र, ने 'एकलिपि विस्तार परिषत्' के नाम से एक संस्था बनाई, और एक त्रैमासिक पत्रिका भी चलाई जिसमें उत्तर भारत की और चार दक्षिण भारत की मुख्य भाषाओं के लेख नागरी लिपि में छपते थे; खेद है कि यह शुभ कार्य उनको थोड़े ही दिनों में बंद करना पड़ा, जनता की सहानुभूति नहीं मिली। अब यदि पुनः ऐसा कार्य आरंभ किया जाय तो आशा है कि सफल हो, क्योंकि नए संविधान में हिंदी राष्ट्रभाषा घोषित कर दी गई है, और पोस्ट कार्ड पर नागरी अक्षरों में ही पता लिखने के स्थान की सूचना की है जो पोस्टकार्ड समग्र भारत में चलता है। तार भी अब हिंदी में भेजे जाने लगे हैं। इन सब लक्षणों से आशा दृढ़ होती है कि ना० प्र० सभा का कार्य, इस हीरक जयंती से आरंभ करके, अधिकाधिक वेग से चलेगा।

२५ फाल्गुन, २०१० वि०]

संस्कृति-संमेलन

के

उद्घाटनकर्ता

श्री गुरुसेवक उपाध्याय जी

का

अभिभाषण

सभापति महोदय और दूसरे महानुभावो,

"संस्कृति" का शब्दार्थ

"संस्कृत" साहित्य में "संस्कृति" शब्द का प्रयोग देखने में नहीं आता है। वहाँ "संस्कार" या "संस्कार-संपन्नता" उसका समानार्थी पाया जाता है। अंग्रेजी के 'कल्चर' शब्द का भाव प्रकट करने के लिये 'संस्कृति' शब्द गढ़ा गया है। पर जहाँ अंग्रेजी में 'कल्चर' शब्द का अर्थ मुख्यतः मस्तिष्क का विकास (इन्टेलेक्चुअल डेवलपमेंट) होता है, वहाँ संस्कृति शब्द पर भारतीय संस्कार की छाप पड़ने से उसके अर्थ में नैतिक एवं आध्यात्मिक विकास का भी समावेश समझा जाता है। उसका संबंध मुख्यतः हृदय से, आत्मा से होता है। कोई कोई "कुलचर" को "कुल-आचार" से संबंधित करके उसको आचार का समानार्थी मानते हैं।

वैदिक संस्कृति

वैदिक काल में विविध धर्म संप्रदाय आदि जैसे अब हैं वैसे नहीं थे। बौद्ध, जैन, ईसाई, इस्लाम आदि धर्मों का जन्म नहीं हुआ था। ऋषि मुनियों ने 'मानव संस्कृति' कैसी हो सकती है, इसी पर विचार किया है। सर्व मानवों के लिये मन और इंद्रियों के संयमन का अनुष्ठान एक प्रकार से समान ही है। इसीलिये मनुष्य मात्र की संस्कार संपन्नता का ही विचार स्वाभाविक प्रतीत हुआ। मनुष्य की इंद्रियों, मन, बुद्धि और जीव के शक्ति-संवर्धन और संस्कार संपन्नता से मानव का अतिमानव बनना, द्विज कहलाने योग्य होना, यह संस्कृति का ध्येय है। "जन्मना जायते शूद्रः संस्कारात् द्विज उच्यते" जन्म से सभी शूद्र होते हैं, संस्कार संपन्न होने पर वे द्विज कहलाते हैं। जैसे सोना, चाँदी, लोहा आदि अपनी प्रकृतावस्था में जब खान से निकलते हैं, मिट्टी आदि से ढके होते हैं।

उन्हें साफ करने से, आग में तपाने से अर्थात् संस्कार करने से उनका वास्तविक रूप प्रकट होता है। उसी तरह विद्या, तप आदि के द्वारा मानव प्रकृति के प्राकृत उपकरणों को आध्यात्मिक या उच्च लक्ष्य के साधन बनाना, मनुष्य के भीतरी जौहर को खोलना, संस्कृति का ध्येय है। उसे अंग्रेजी में सब्लिमेशन कहते हैं। संस्कृति वह विंदु, केंद्र विंदु है जहाँ से जीवन की समस्याएँ देखी जाती हैं। संस्कृति अंतःकरण है, सभ्यता शरीर है। आध्यात्मिक या उच्च लक्ष्य से यह न समझना चाहिए कि विश्व या समाज किसी प्रकार अवहेलना की वस्तु है, जैसा आज कल कुछ अकर्मण्य हिंदू कह उठते हैं, इसलिये यह बतलाना जरूरी है कि वेदों और उत्कृष्ट शास्त्रों में वे त्याज्य नहीं संसेव्य कहे गए हैं। वे आध्यात्मिकता के साधन हैं। ईश्वर ही यह सब विश्व है "पुरुष एव इदं सर्वम्" निश्चय ही यह सब ब्रह्म है। "सर्वं खलु इदं ब्रह्म", वासुदेव ही यह सब है 'वासुदेवः सर्वम्" यह विश्व मंगलमय है क्योंकि परमेश्वर उसकी देखभाल करता है "विश्वं तद् भद्रं यदवन्ति देवाः"। बुराई हमारी दृष्टि में है, जैसी हमारी दृष्टि वैसी सृष्टि। समाज ईश्वर रूप है। यही बात इस प्रकार कही गई है—

"सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्"

महाभारतकार कहते हैं—

"मनुष्यलोके यच्छ्रेयः परं मन्ये युधिष्ठिर" (इसी मनुष्य लोक में जो कल्याण है उसे ही हम श्रेष्ठ समझते हैं)

"गुह्यब्रह्म तदिदं ब्रवीमि न मनुष्याच्छ्रेष्ठतरं हि किंचित्"

(यह अत्यंत रहस्यमय ज्ञान तुमसे कहता हूँ कि मनुष्य से बढ़कर और कुछ नहीं है) इत्यादि

"अहमस्मि महामहः" (मैं बड़े से बड़ा हूँ) यह न जपकर अब हम "पापोऽहं पापकर्माऽहं पापात्मा पापसंभवः") मैं पापी हूँ, पाप कर्मी हूँ; पाप मनवाला और पाप जन्मवाला हूँ) यह जपते हैं। मनुष्य का मन ऐसा है कि उसमें जो विचार आते रहते हैं वह उन्हीं के रूप का हो जाता है "क्रतुमयोऽयंपुरुषः"। इसलिये वेद कहता है कि "तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु" (मेरा मन उच्च, शुभ विचार करनेवाला हो)।

विश्व और कर्म

विश्व को त्याज्य मानना, कर्मों को बंधन समझना, स्रष्टा और उसकी सृष्टि के बीच द्वैत भाव पैदा करना है। उन दोनों को उसकी ठग-विद्या कहना है। गौडपादकारिका में भगवान् गौड पादाचार्य कहते हैं "देवस्यैष स्वभावोऽयमाप्तकामस्य का स्पृहा" परमेश्वर का स्वभाव ही सर्जन है। फिर सृष्टि परमेश्वर के शुभ संकल्प से भिन्न अशुभ कैसे हो सकती है। कर्म नही बाँधता है, बाँधता है कर्म के प्रति हमारा स्वार्थ भाव, स्वार्थ दृष्टिकोण। अविद्या के कारण हम समझते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति पृथक् पृथक् है और हम स्वार्थ के लिये कर्म करने को स्वतंत्र हैं। वास्तव में जाल में फँसी हुई चिड़िया के इतना ही हम अपने को स्वतंत्र कह सकते हैं। इसीलिये कृष्ण भगवान ने बार बार गीता में कहा है कि कर्मफल में असक्त होकर कर्म मत करो। अनासक्ति योग से लोक संग्रह रूपी

यज्ञ कर्म करने से नर लिप्त नहीं होता है। इसलिये हमारे कर्म का आधार सर्वात्मभाव होना चाहिए। वही वैदिक संस्कृति, भारतीय संस्कृति की नींव है। "मित्रस्य अहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे" सबको हम मित्र की नजर से देखें। "सर्व भूतस्थं आत्मानं सर्वभूतानि चात्मनि", अपने को सब जीवों में और सब जीवों को अपने में देखें। इसलिये "यद्यदात्मनि चेच्छेत तत्परस्यापि चिंतयेत्" जो हम अपने लिये चाहते हैं वही दूसरों के लिये चाहें। स्पष्टतः यह "मानव संस्कृति" की बात हुई।

पुनर्जन्म एवं मोक्ष

इसके साथ ही साथ पुनर्जन्म, जन्मांतरवाद के सिद्धांत को माननेवाले हिंदू अंत में अपने को ही अपने सुखदुःख का दायी मानते हैं। 'कर्म प्रधान विश्व करि राखा। जो जस करे सो तस फल चाखा।' जन्मांतरवाद के सच्चे विश्वासी को इस जन्म में ऐसा कोई काम न करना चाहिए जो इस जीवन में लाभदायक होते हुए भविष्य जीवन को बिगाड़ता हो। यही बात अध्यात्मवाद में देखनी पड़ती है। "यतोऽभ्युदय निश्रेयस-सिद्धिः स धर्मः" जिससे इस लोक में अभ्युदय और फिर मोक्ष की प्राप्ति भी हो वही धर्म है। इन दोनों की प्राप्ति के लिये बलपूर्ण होना आवश्यक है। "नायं आत्मा बलहीनेन लभ्यः" यह आत्मा बलहीन को प्राप्त नहीं हो सकता : प्रभवार्थाय भूतानां धर्मप्रवचनं कृतम्।

यः स्यात् प्रभव संयुक्तः स धर्म इति निश्चयः।

जीवों की शक्तिसंपन्नता के लिये धर्म की घोषणा हुई : जो शक्तिसंपन्न हो वही निश्चयेन धर्म है। पुनर्जन्म और मोक्ष (निर्वाण) भारत में उद्भूत सभी धर्मों में मान्य है।

सुख और दुःख

दूसरी बात यह कि सृष्टि आनंदमय है, क्योंकि स्रष्टा सच्चिदानंद है। "आनंदाद्ध्येव खलु इमानि भूतानि जायंते, आनंदेन जातानि जीवंति, आनंदं प्रत्यभिसंविशंति इति" आनंद से सब प्राणी उत्पन्न होते हैं, आनंद से जीवित रहते हैं, और अंत में आनंद में प्रविष्ट होते हैं। आनंद जीवन का तत्व है, वह अतीत की परवाह नहीं करता। दुःखी दलित अतीत का सुखद वर्णन करके मन को संतोष देते रहते हैं। अब प्रश्न यह होता है कि यह वैदिक विचारधारा कब और कैसे क्षीण हो गई। भगवान बुद्ध के समय में देखा जाता है कि यज्ञों में अहिंसा के स्थान पर हिंसा का प्रचार हो गया था, पशुबलि एक साधारण बात थी। परमेश्वर अपने ही जीवों के रक्त का पिपासित समझा जाने लगा था। सांसारिक राजाओं की तरह घूस से प्रसन्न होनेवाला वह हो गया था। जैसा महात्मा गांधी ने २४ नवंबर सन् १९२७ के "यंग इंडिया" में लिखा था—भगवान बुद्ध ने ऐसे वेद और ऐसे परमेश्वर के विरुद्ध अपनी आवाज उठाई थी। कहने का प्रयोजन यह कि अनार्यों के संपर्क और आर्यों की बलहीनता से शुद्ध वैदिक संस्कृति और धर्म कलुषित हो गया था और आडंबर का का प्राधान्य छा गया था। बुद्ध जी ने सुधार किया। पर साथ ही साथ यह विचारधारा भी प्रबल हुई कि जगत् दुःखमय और त्याज्य है। भिक्षु बनकर स्वनिर्वाण प्राप्त करो ऐसी धारणा कुछ लोगों के मन में हुई, अतः शुद्ध प्रवृत्ति मार्ग पुनः स्थापित न होकर निवृत्ति मार्ग का बोलबाला हुआ। प्रतिक्रिया की अवसान-भूमि दूसरे छोर पर ही होती है। श्रीमान्

सातवलेकर जी का कथन है कि चारों वेदों में एक मंत्र में भी विश्व की दुःखरूपता नहीं कही गई है और न उसके त्यागने का आदेश है। भगवान बुद्ध के कुछ अनुयायियों ने निर्वाण के अर्थ का अनर्थ कर दिया, ऐसा प्रतीत होता है। वह तो सबके दुःख की निवृत्ति की बात कहते थे, और जब तक समस्त जीव निर्वाण प्राप्त नहीं करते तब तक मैं उनका उपजीव्य बनूँ, ऐसी शिक्षा देते थे, "भवेयमुपजीव्योऽहं यावत् सर्वे न निर्वृताः।" उपनिषदों और पुराणों में भी ऐसी बातें कही गई पाई जाती हैं। भागवत में प्रह्लाद और रंतिदेव के कथन प्रसिद्ध ही हैं।

"नैतान् विहाय कृपणान् विमुमुक्षुरेको, नान्यंत्वदस्य शरणं भ्रमतोऽनुपश्ये। और आर्ति प्रपद्येऽखिलदेहभाजान् अंतःस्थितो येन भवन्त्यदुःखाः। (इन दुखियों को छोड़कर मैं अकेला मुक्ति का इच्छुक नहीं हूँ। और मैं सब जीवों के भीतर रहकर उनके दुख पाऊँ और वे दुःख से मुक्त हों)। महात्मा गांधी अपने उच्च लक्ष्य की प्राप्ति के लिये जन्म भर दुःख (जिसको हम दुःख समझते हैं) झेलते रहे, और उसे उन्होंने अपने आत्मिक विकास का एक मुख्य साधन समझा और आनंदप्रद। कहने का प्रयोजन यह है कि दुःख प्रकृति का वह उपकरण है जिसके द्वारा हमारा विकास निष्पन्न होता है। सभी महान् आत्माओं ने दुःख की आग में तपा करके ही अपने को कृतकार्य किया। उच्च लक्ष्य की प्राप्ति के लिये दुःख वास्तव में सुख है, वह जीव की चरितार्थता है। परमेश्वर का अस्तित्व मानने या न मानने से इस दृष्टिकोण में अंतर नहीं पड़ता है।

अनार्यों का प्रभाव

वेद में दस्युओं का उल्लेख है पर महाभारत काल में अनार्यों का प्राबल्य देखा जाता है। भीष्म पितामह युधिष्ठिर जी को उपदेश देते हैं कि दस्यु लोग सहज ही सैन्य संग्रह करके काम के हो सकते हैं, अतः उनके साथ जनचित्त प्रसादिनी मर्यादा स्थापन करनी चाहिए। "स्थापये देव मर्यादां जनचित्त प्रसादिनी"। फिर उन्होंने कायव्य दस्यु (क्षत्रिय पिता और निषादी माता) की प्रशंसा की जो धर्मज्ञ था। व्यास जी से लेकर कितने बड़ों छोटों का जन्म अनार्य माताओं के पेट से वर्णित है। तब आर्यों में शारीरिक, मानसिक आध्यात्मिक हर तरह का बल था, और उन्होंने अनार्यों को आत्मसात् कर लिया था। यदि हमारी पाचन शक्ति ठीक है, शरीर बलिष्ठ है तो हमको बाहर के कीटाणुओं (जर्म्स) से कोई डर नहीं, हम बलहीन हैं तो "दुर्बल कुत्ते को बहुत किलनियाँ लग जाती हैं" इस लोकोक्ति के अनुसार हमको सभी दुःख घेर लेंगे। बलहीन होनेपर हमने अपने को बाहरी आक्रामकों से बचाने के लिये एक सीमित लकीर खींची और उसके भीतर रहने लगे। वह बाहरी वस्तु भीतर आकर बैठ गई तो हमारी बंद कोठरी नाश का कारण हो गई। वह हमारा शक्तिपूर्ण सत्यपूर्ण समय था जब वेद भी सत्य को सबके, ब्राह्मण, क्षत्रिय, शूद्र के निकट प्रकट करने का उपदेश देते थे, "यथेमां वाणीं कल्याणी-मावदानि जनेभ्यो ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय च स्वाय चारणाय च"। क्योंकि ऋषि मुनि जानते थे कि संस्कृति जितनी ही किसी समाज में विकर्ण होगी उतनी ही उस समाज के व्यक्तियों

में मन और हृदय की समानता पाई जायगी और समाज उत्तरोत्तर उन्नत होगा। समाज-शरीर में एक भी दुर्बल अंग रहने से पूर्ण समाज को भय है। यह न समझने से हिंदू समाज का पतन हुआ। हमारी संस्कृति समष्टि आत्मक है, यह हम भूल गए।

ब्राह्मण और क्षत्रिय का पतन

ब्राह्मणों और क्षत्रियों ने जो ऊँचा स्थान समाज में प्राप्त किया था वह उनकी उच्च संस्कृति, उनके तप, त्याग और समाज-सेवा का फल था। वे समाज संचालक थे। उनके वंशजों ने उस गौरव को मुफ्त पाया और उसे अपनी निजी संपत्ति समझा। साधारण आदमियों को धर्म का, राज्य का स्वाभिमान नहीं सिखाया, और उनका सहयोग प्राप्त न होने से धर्म और राज्य खो बैठे। मेरे कहने का यह प्रयोजन नहीं है कि अब कोई ब्राह्मण या क्षत्रिय तपस्वी और त्यागी नहीं है; कुछ व्यक्ति अब भी हैं, सौ में एक, पर वे जातीय गुण नहीं रह गए।

प्रजातंत्र की स्थापना

भाग्य से अब 'प्रजातंत्र' 'गणतंत्र' की स्थापना हो गई है। प्रजातंत्रवाद का उदय मानव-विकास की प्रक्रिया में मनुष्य की अहिंसक प्रकृति की विजय है। पर लोकतंत्र को यांत्रिक न होने देना चाहिए। इसके द्वारा भारत के किसी विशिष्ट वर्ग या धर्मानुयायी को नहीं अपितु भारतीय जनता को मुक्ति प्राप्त हुई। भारतीय संस्कृति की नवीन विचारधारा भी सांस्कृतिक क्षेत्र में वैदिक भावना को लेकर प्रवृत्त हुई है। वह असांप्रदायिक है, और प्रगतिशील या कम से कम परिवर्तनशील रही है, स्थितिशील नहीं। विदेशों में संस्कृति का संदेश पहुँचाने में उसकी प्रगतिशीलता स्पष्ट है। उसका समष्टि दृष्टिकोण है, अतः उसका किसी से विरोध नहीं है।

असांप्रदायिक संस्कृति

किसी भी देश में संप्रदायों का पाया जाना स्वाभाविक है क्योंकि मनुष्यों की रुचि भिन्न भिन्न होती है और वे रुचि के अनुसार भिन्न भिन्न मार्ग पकड़ते हैं, यद्यपि गंतव्य स्थान एक ही होता है (रुचीनां वैचित्र्यात् ऋजु कुटिल नानापथजुषां, नृणां एको गम्यसि त्वमसि पयसां अर्णवमिव; मम वर्त्मानुवर्तते मनुष्याः पार्थ सर्वशः) इसे नहीं भूलना चाहिए। विभिन्न विश्वविद्यालयों में विद्या और ज्ञान के क्षेत्र में जैसी स्पर्धा पाई जाती है वैसी ही स्पर्धा किसी स्पृहणीय आदर्श को लेकर संप्रदायों में भी होनी चाहिए। किसी अवस्था में उनमें विद्वेष की भावना अक्षम्य है। एकांगी अनुभव से या असमग्र दर्शन से वाद खड़े होते हैं। सांप्रदायिक नेताओं की स्वार्थ बुद्धि और धर्मांधता या असहिष्णुता के कारण संप्रदायों का वातावरण दूषित, संघर्षमय और विषाक्त हो जाता है, जिसके अनेक प्रमाण हमारे सांप्रदायिक पुराणों में पाए जाते हैं जिनमें शैव वैष्णव को, वैष्णव शैव को भला बुरा कहते हैं। किसी संप्रदाय के संस्थापकों में ऐसी असहिष्णुता नहीं पाई जाती थी। उनके उत्कृष्ट साहित्य का अध्ययन, उनके महापुरुषों का समादर वांछनीय है। रामायण, महाभारत आदि उत्कृष्ट साहित्यों में भी समन्वय का भाव दिखाई देता है। वेद मंत्रों में तो वह है ही--

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चंद्रमा
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः (यजुः)
यो वै विष्णुः स वै रुद्रो यो रुद्रः स पितामहः
एकमूर्तिः त्रयो देवा रुद्र विष्णु पितामहः ।
यं शैवा समुपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदांतिनः
बौद्धा बुद्ध इति प्रमाणपटवः कर्तेति नैयायिकाः
अर्हन्नित्यथ जैनशासनरताः कर्मेति मीमांसकाः
सोऽयं वो विदधातु वांछितफलं त्रैलोक्यनाथो हरिः

धर्म का काम लोक-संग्रह का है लोक-विग्रह का नहीं। "धारणात् धर्म मित्याहुः धर्मो धारयति प्रजाः" धर्म के नाम पर सांप्रादायिक प्रतिद्वंद्विता हमारे वर्तमान सामाजिक जीवन में विषैले रूप में व्याप्त है। संप्रदायवादी अपने ग्रंथों के वचनों का, उनके मौलिक अभिप्राय को समझे बिना, संकुचित बुद्धि से, चेतनाहीन यांत्रिक दृष्टि से अनुसरण करते हैं। इस अर्थ में धार्मिक होना असंस्कृत होता है।

संस्कृति और वैज्ञानिक शिक्षा

परमेश्वर का "परम्-आराधन" क्या है? इस प्रश्न के उत्तर में एक स्थान में कहा गया है कि वह "अखिल-आत्मन्" है, सब में आत्मा के रूप में मौजूद है इसलिये सब की सेवा करना, उनके दुःखों को, अविद्या आदि को दूर करना ही उसकी परम पूजा है।

"तप्यंते लोकतापेन प्रायशः साधवो जनाः।
परम्-आराधनं तद् हि पुरुषस्य अखिल आत्मनः"।

सर्वात्म भाव, सब की सेवा, सब के साथ सहयोग-यह आरंभ से हमारे धर्म ने सिखाया है, किंतु हिंदुओं में जितना बिलगाव, ऊँच नीच का भाव पाया जाता है उतना कदाचित् ही और कहीं हो। इसने हमारा अधःपतन बुरी तरह किया है। ऐसे उच्च सिद्धांत के रहते फिर बिलगाव, और आपस की फूट क्यों, वह कैसे हटे और हम संस्कृति संपन्न हो जावें?

एक विदेशी विद्वान् ने, जो हिंदुओं के साथ सहानुभूति रखता है, इन कटु शब्दों में हमारी आलोचना की है—"यहाँ के लोग एक बड़े देश के अल्प निष्ठ पामर प्राणी हैं। एक उच्च संस्कृति के तुच्छ उत्तराधिकारी हैं। संकुचित मन से उच्च आदर्शों का अर्थ लगानेवाले भाष्यकार हैं।"

बात यह है कि जीव (या मनुष्य का मन) प्रत्येक जन्म में अपने ही पुरुषार्थ से विकास प्राप्त करता है। केवल शास्त्र का ज्ञान हो जाने से वह क्रियावान नहीं हो जाता।

"न शास्त्रैः नापि गुरुणा दृश्यते परमेश्वरः।
दृश्यते स्वात्मनैवात्मा स्वया सत्वस्थया धिया।"

प्रत्येक मनुष्य अपने मन, अपनी बुद्धि, अपने पौरुष के अनुसार ही शास्त्र के अर्थ को मन में बैठा सकता है, और शाश्वत नियमों की खोज करके उन्हें ग्रहण करता और

जीवन का अंग बना पाता है। गतिशील न रहकर मनुष्य जब गतिहीन हो जाता है और एक ढर्रे की रहन रहने लगता है तब आनंदपूर्ण वस्तुएँ भी उसके फीकी लगने लगती हैं। जीवन तो प्रवहमान गंगा की धारा है, परिवर्तनशील है। उसमें सड़न न होने पावे, इसीलिये ताजा पानी बराबर आता रहना चाहिए, वह निश्चेट न हो। "बेकार से बेगार भला" उसी सिद्धांत की बात है। परतंत्रता ने हमारे प्रवाह, विकास को रोककर हमारी प्रेरक शक्तियों को चेतनाहीन कर दिया है। स्वतंत्रता मिलने पर भी उसका आनंद हम नहीं उठा सक रहे हैं। कहीं विलासिता, कहीं धार्मिक जड़ता देखने में आती है। वैज्ञानिक शिक्षा और वैज्ञानिक मनोवृत्ति हममें ताजगी ला सकती है। हमारी संस्कृति का, हमारे धर्म का आधार वैज्ञानिक है, इसलिये उनका और विज्ञान का मेल ठीक बैठ सकता है। हममें "किस्मत" का विचार बुरा घुस गया है जो हमारी संस्कृति का अंग नहीं है। वैज्ञानिक मनोवृत्ति से, जो 'कर्म'-सिद्धांत की पोषक है, हम अपने भाग्य को अपने अधीन कर सकते हैं। जीव-विज्ञान कहता है-"समग्र सृष्टि एक ही प्रयोग है, हम सब सामूहिक रूप से जीव (प्राण) की शिक्षा और विकास में लगे हुए हैं"—(वेल्स का 'सायंस आव लाइफ़' देखिए ८३१ पृष्ठ) "प्राणो विराट्" का मन में बैठनेवाला जीता जागता भाव फिर ताजा हो, यह विज्ञान के द्वारा ही संभव प्रतीत होता है। वैज्ञानिक शिक्षा जो मनोविज्ञान पर आधृत है हमारी अनुचित निग्रह और दमन की, अधीनीकरण की मनोवृत्ति को उन्नयन के भाव में परिवर्तित कर देगी। इत्यादि।

महात्मा गांधी की इस बात को भी इस संबंध में याद रखना चाहिए—

"जहाँ दुराग्रह बहुत पुराना है और अयथार्थ धार्मिक प्रमाणों पर आधृत मान लिया गया है वहाँ केवल बहस से किसी को नहीं समझाया जा सकता। बहस को दृढ़ बनाने के लिये अपने को दुःखाग्नि में डालना पड़ता है तब पर दुःख समझ की आँखें खोल देता है।"

"अधिकारिभेदात् धर्मभेदः"

यह सिद्धांत कि अधिकारी भेद से धर्म भेद होना चाहिए पूर्णतः यथार्थ है। किंतु जब भावार्थ का अनर्थ किया जाता है तब वह अयथार्थ हो जाता है। किसी ब्राह्मण या क्षत्रिय के प्रति, जो असंस्कृत है, यह सिद्धांत उतना ही लागू है जितना किसी असंस्कृत शूद्र के प्रति। यह मान लेना कि कोई शूद्र संस्कृति-संपन्न नहीं हो सकता और इसलिये शूद्र जाति ही उच्च शिक्षा, उच्च धर्म की अधिकारी नहीं हो सकती, अनर्गल है। जिन शूद्रों, हरिजनों को स्वामी रामानंद अथवा दूसरे संतों से दीक्षा मिली, अथवा जिनको मुसलमानों और ईसाइयों ने मुसलमान या ईसाई बनाकर शिक्षा दी, वे सब अधिकारी सिद्ध हुए। इसका मतलब तो यह हुआ कि हिंदू धर्म या समाज में अपने ही एक अंग को, शूद्र को, उन्नत करने की शक्ति या गुण नहीं रहा है, तब तो हम्हीं अनधिकारी हुए। यही नहीं, हम द्विज लोग तो अपनी संतानों को भी सुसंस्कृत बनाने में असमर्थ सिद्ध हो रहे हैं, तब किस मुँह से शूद्रों को अनधिकारी कहें ? क्या ऐसा तो नहीं हो रहा है कि जन्मांतरवाद के अनुसार शूद्र ही बदला चुकाने के लिये द्विजों की संतान के रूप में जन्म ले रहे हैं ? जैसे

शिखंडी ने बदला चुकाने के लिये जन्म लिया था)। क्या महाभारत के इतने उपाख्यानों को पढ़ने के बाद भी (जैसे धर्म व्याध, तुलाधार आदि के) हम अधिकारी भेद का ठीक अर्थ नहीं लगा सकते हैं ? हमारे अन्यायपूर्ण विचारों का परावर्तन अपने ही ऊपर हो हो रहा है। कहीं दस ब्राह्मण या दस क्षत्रिय एकत्र होकर समरसता से कोई कार्य निष्पन्न नहीं कर सकते हैं—उनमें अहं का भाव इतनी खींचा-तानी पैदा करता है।

वेल्स साहब अपनी पुस्तक "आउटलाइन आव हिस्टरी" में लिखते हैं कि -'जन समूह पिछड़ा हुआ पर गति योग्य होता है, और दुराग्रही धर्माभिमानियों की अपेक्षा शीघ्र परिवर्तन-ग्राही होता है।" लोकतंत्र राज्य में शूद्रों को द्विजों के समान ही अपनी उन्नति का अवसर मिला है। पुस्तकें, छपी होने के कारण, सभी के हाथ में पहुँचती हैं। जो आकाशवाणी पहले कभी कभी उच्च वर्णों या भक्तों को ही सुनाई देती थी अब नित्य "आकाशवाणी", रेडियो की कृपा से, सब को सुनाई देती है। उसके और दूसरे साधनों द्वारा हर तरह की शिक्षा सब को प्राप्त हो रही है। ऐसे युग में समझदारों को विवेकपूर्ण कल्पना से काम लेना चाहिए।

अब यह वाद-विवाद कि "जन्मना" या "कर्मणा" तय करना चाहिए कि कौन किस वर्ण का है असंगत हो गया है। अब तो कसौटी "गुण" है। अब अगर उच्च जाति के लोग "गुण" पर जोर नहीं देते हैं तो उनकी वही अवस्था हो जायगी जो क्षुद्रों की थी। "गुण" सार्वभौम है, जाति नहीं। "संस्कृति" सार्वभौम है, सांप्रदायिकता नहीं। "असंस्कृताः तु संस्कार्याः भ्रातृभिः पूर्वसंस्कृतैः"—जो संस्कृत हैं वे असंकृतों को संस्कृत बनावें—यह उनका धर्म है। भेदभाव की संस्कृति से हम स्वतंत्रता की ठीक रक्षा नहीं कर सकेंगे। भारतीय संस्कृति पर उन सब जातियों की संस्कृति का प्रभाव प्रड़ा है जो भारतवर्ष में आईं। आज का राष्ट्रीय और सामाजिक जीवन जटिल हो गया है, वैदिक काल में बहुत कुछ सीधा सादा था। अहिंदू भी हमारे राष्ट्र के अंग हैं, उनसे भी राष्ट्र और संस्कृति के नाते भेदभाव करना देश के कल्याण का कारण नहीं हो सकता—"संघातवान् मर्त्यलोकः परस्परं उपाश्रितः"- क्योंकि हम एक दूसरे पर आश्रित हैं।

मीमांसा दर्शन के शूद्रस्थानाधिकार निरूपण के समय कहा गया है—"चातुर्वर्ण्य विशेषात्"—इसपर भाष्यकार शबरस्वामी कहते हैं कि वेद में तो चारो वर्णों के लिये "यज्ञ करें" 'आहुति दें' आदि विधान है, क्योंकि वेद में किसी वर्ण विशेष के अधिकार की तो कोई बात नहीं है, इसलिये शूद्र को भी इस अधिकार से निवृत्त नहीं किया गया।

स्वामी शंकराचार्य ने (जिन्हें उनके समय के कुछ लोग प्रच्छन्न बौद्ध कहते थे) संघों की स्थापना बौद्ध संघों के ढंग पर की। उनकी भारत की चारों दिशाओं में चार मठों की स्थापना सांस्कृतिक एकता को प्रोत्साहन देने के या ऐसी एकता प्रतिष्ठित रखने के विचार से ही थी। पर उन्होंने मठाधिपति और पुरोहित होने को हेय कहा—क्योंकि वे "धर्म वाणिजिक" हो जाते हैं। वह कहते हैं—

"पौरोहित्यं रजनिचरितं ग्रामणीत्वं नियोगो, माठापत्यं ह्यनृतवचनं साक्षिवादः परान्नम्। ब्रह्मद्वेषः खलजनरतिः प्राणिनां निर्दयत्वं, मा भूदेवं मम पशुपते जन्मजन्मांतरेषु॥"

(हे शिवजी, मुझे पुरोहित, मठाधिपति, गर्ववाला•••इत्यादि होने से बचाओ)। वह ब्राह्मण के गुण पर (ब्राह्मणत्व, जो शास्त्रों में अब भी आदर्श रूप में मौजूद है) आस्था रखते थे। भगवद्गीता के उपोद्‌घात में कहते हैं—"ब्राह्मणत्वस्यहि रक्षणेन रक्षितः स्यात् वैदिको धर्मः" ब्राह्मणत्व के रक्षण से वैदिक धर्म रक्षित हो सकता है। वे उन्मुक्त चिंतन और सत्यानुभूति पर बल देते थे।

परमेश्वर से प्रार्थना है कि हम सब सुसंस्कृत हों, समान अभिप्राय के हों, समान हृदय और मन के हों, जिससे हम सबका सुसाह्य (कल्याण) हो।

"समानीव आकूतिः समाना हृदयानि वः
समानमस्तु वो मनः यथा सुसहासति" ऋ०

इस प्रार्थना के साथ मैं संस्कृति संमेलन का उद्‌घाटन करता हूँ, और आप सब महानुभावों के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करता हूँ।

२५ फाल्गुन, २०१० वि०]